द्वादशस्कन्ध.

इति विषयसूची समाप्त.


गजेंद्र
हरि
चतुर्दशरत्न


दैत्य
मंदराचल
देव


मोहिनी
देव दैत्योंको
मोहिनी अमृत
बांटती है


कश्यप
वामन


बलि
वामन


मत्स्यावतार

नवम स्कंधः




कंस


वसुदेव
देवकी


देवकी


पूतना
कृष्ण


शकटभंजन


यशोदा
कृष्ण


यमलार्जुन
मणि
कृष्ण


बकासुर


अघासुर


ब्रह्मा


धेनुकासुर


कालिय मर्दन


गोवर्धन




कृष्ण



दशमस्कंध उत्तरार्धः























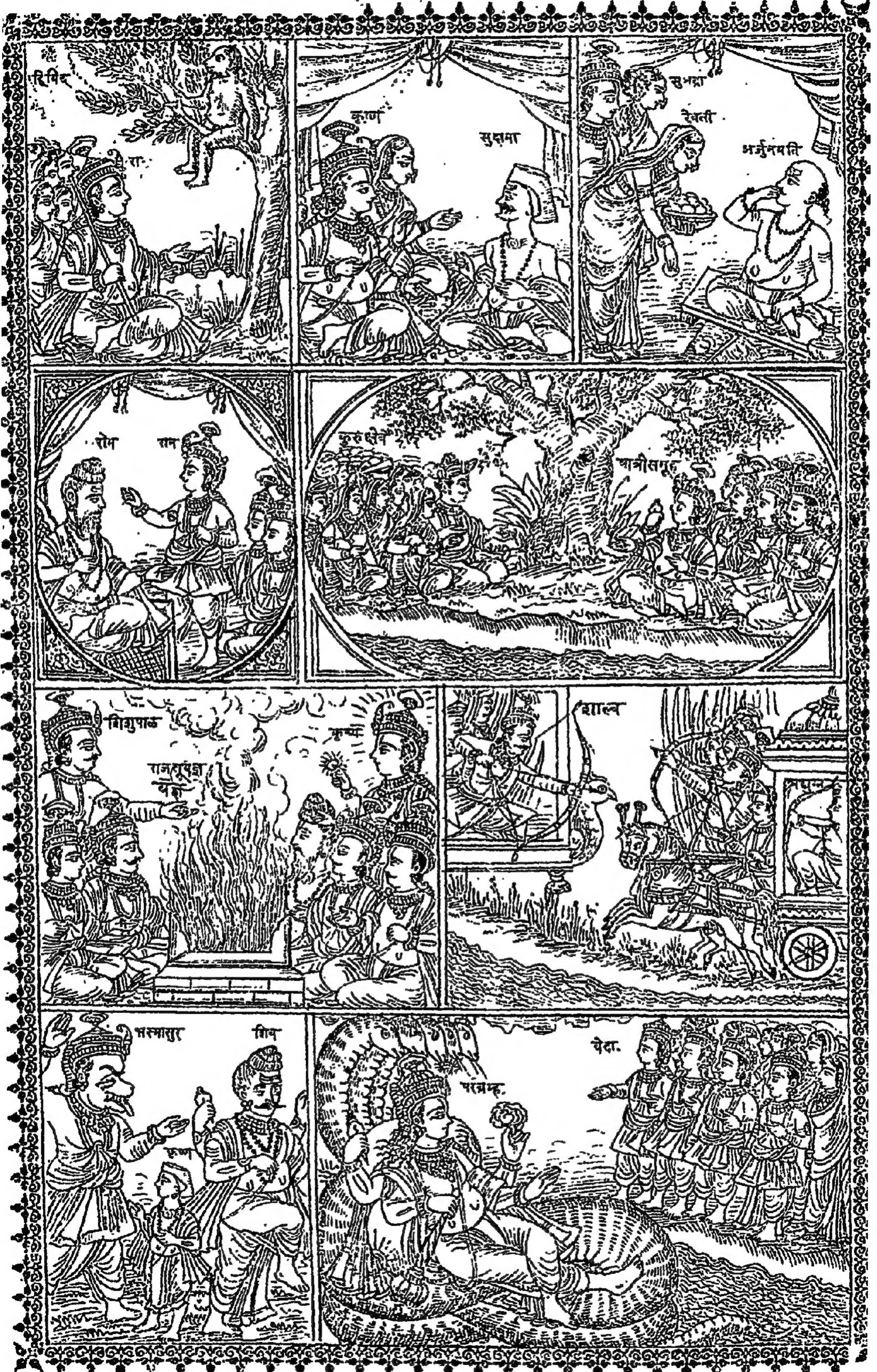








सु.उ.२.


रिविद
कृष्ण
सुदामा
सुभद्रा
रेवती
अर्जुनयति
कुरुक्षेत्र
यात्रीसमूह
शिशुपाल
कृष्ण
राजसूययज्ञ
शाल्व
भस्मासुर
शिव
कृष्ण
परब्रह्म
वेदा.

एकादशस्कन्धः


नारद
वसुदेव

जनकः
नवयोगिनः

श्रीकृष्ण

यदु
अवधूतदत्त

ऐलः
उर्वशी


ब्रह्मा
सनकादयः४



दारुकः
श्रीकृष्णः
व्याधः

द्वारकावासिनः
दारुक

यादवस्त्रियः

कृष्णपरिग्रह
अर्जुन

द्वादश स्कंध:


शुक
परीक्षित


शिष्यसमुदाय
व्यास


परीक्षित
ऋषिमंडळी


कश्यप
तक्षक


व्यास


नरनारायण
मार्कंडेय


बालमुकुंद


श्रीधरस्वामी

अथाष्टमस्कन्धः प्रारम्भः

ॐनमो भगवते वासुदेवाय ॥ राजोवाच ॥ स्वायंभुवस्येह गुरो वंशोऽयं-
विस्तराच्छ्रुतः ॥ यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः ॥ १ ॥ यत्र यत्र
हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः ॥ गृणंति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद गृण्वतां
॥ २ ॥ यद्यस्मिन्नंतरे ब्रह्मन् भगवान् विश्वभावनः ॥ कृतवान्कुरुते कर्ता ह्यती-
तेऽनागतेऽद्य वा ॥ ३ ॥ ऋषिरुवाच ॥ मनवोऽस्मिन् व्यतीताः षट् कल्पे
स्वायंभुवादयः ॥ आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनां च सम्भवः ॥ ४ ॥ आकू-
त्यां देवहूत्यां च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः ॥ धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान्पुत्रतां
गतः ॥ ५ ॥ कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम् ॥ आख्यास्ये भगवान्
यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह ॥ ६ ॥ विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः ॥
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत् ॥ ७ ॥ सुनंदायां वर्षशतं पदैकेन

॥ श्रीः ॥ राजाने कहा कि–हे गुरो ! जिस में मरीचि आदि जगत् के रचनेवाले
प्रजापतियों की, मनुकन्याओं के विषैं पुत्र पौत्र आदि सृष्टि हुई है ऐसा यह स्वायम्भुव
मनु का वंश आपसे मैंने विस्तारके साथ सुना अब और मनुओं का भी आप हम से
वर्णन करें ॥ १ ॥ हेब्रह्मन् ! जिस जिस मन्वन्तर में परमपूज्य श्रीहरि के अवतारों के
चरित्र, कवि, वर्णन करते हैं वह मन्वन्तर, सुनने की इच्छा करनेवाले हम से आप क-
हिये ॥ २ ॥ और हे ब्रह्मन् ! पहिले बीतेहुए, इस समय विद्यमान् तथा आगे को होने-
वाले मन्वन्तरों में विश्वपालक भगवान् ने जो चरित्र करे हैं, जो करते हैं और जो करेंगे
वह सब हम से कहिये ॥ ३ ॥ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसकल्प में
स्वायम्भुव आदि छः मनु होगये हैं, उन में से जिसमें देवादिकों की उत्पत्ति हुई है उस
पहिले स्वायम्भुव मनु का मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ ४ ॥ उस स्वायम्भुव मनुकी आ-
कूति और देवहूति कन्या के विषैं भगवान् श्रीहरिने क्रम से धर्मोपदेश करनेके निमित्त
यज्ञरूप से और ज्ञानोपदेश करने के निमित्त कपिलरूप से पुत्र होकर अवतार धारण
करा ॥ ५ ॥ उन में से हे कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् कपिलजी ने जो किया सो मैंने तुम से
पहिले ही वर्णन करा है अब भगवान् यज्ञरूप परमेश्वर ने जो चरित्र करा सो मैं तुम से
कहता हूँ ॥ ६ ॥ हेराजन् ! कामभोगों में विरक्तहुए शतरूपाके पति स्वायम्भुव मनु,
राज्य को त्यागकर तप करने के निमित्त, स्त्री के सहित वनको चलेगये ॥ ७ ॥ और

भुवं स्पृशन् ॥ तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत ॥ ८ ॥ मनुरुवाच ॥ येन
चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ॥ यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं
वेद वेद सः ॥ ९ ॥ आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत् ॥
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १० ॥ यं न पश्यति
पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ॥ तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥ ११ ॥
न यस्याद्यन्तौ मध्यं स्वः परो नान्तरं बहिः ॥ विश्वस्यामूनि यद्यस्मा-
द्विश्वं च तदृतं महत् ॥ १२ ॥ स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सत्यः स्वयं-
ज्योतिरजः पुराणः ॥ धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या तां विद्ययोदस्य नि-
रीह आस्ते ॥ १३ ॥ अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्ते कर्महेतवे ॥ ईहमानो हि

हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! तहाँ सुनन्दा नदी के तटपर सौवर्षपर्यन्त एकचरण से भूमि पर खड़े होकर घोर दुष्कर तप करतेहुए, अनुभव करीहुई वस्तु के विषयमें 'जैसे कोई सोते में वर्तावे तैसे' यह कहा ॥ ८ ॥ मनु ने कहा कि अहो जिससे यह विश्व सचेतन होता है; परन्तु यह विश्व जिस को सचेतन नहीं करसक्ता है, और इस विश्व के शयन करनेपर सुषुप्ति अवस्था में जो साक्षीरूपसे जागता रहता है, उस को यह लोक नहीं जानता है और वह इसलोक को जानता है यह कैसे आश्चर्य की बात है ? ॥
॥ ९ ॥ अब उसका ईश्वरत्व दिखाकर लोकों के हित का उपदेश करते हैं कि-हे प्राणियों ! ब्रह्माण्ड में जो कुछ चेतन अचेतन पदार्थ है वह सब ईश्वरसे व्याप्त हैं, इसकारण ईश्वरने ही जो कुछ धन आदि दिया हो उस से ही तू अपने भोगों का भोग, दूसरे किसी के भी धन की आकाङ्क्षा न कर ॥ १० ॥ कहो कि-यदि परमेश्वर सब विश्व में व्यापरहा है तो चक्षुइन्द्रिय के द्वारा वह दीखता क्यों नहीं है ! तहाँ कहते हैं कि-हे प्राणियों ! जिस देखनेवाले द्रष्टाको सबकी चक्षु इन्द्रियें नहीं देखती हैं, क्यों कि--जो नेत्र आदिकों का अगोचर है और जो कभी भी नष्ट नहीं होता है उस सर्वान्तर्यामी निःसङ्ग परमेश्वर का तुम भजन करो ॥ ११ ॥ अब उस ईश्वर के स्वरूप की नित्यता का वर्णन करते हैं कि-हे प्राणियों ! उत्पत्ति पालन, नाश, अपना, पराया, भीतर और बाहर, यह सब जिस के नहीं हैं, जिस से विश्व की उत्पत्ति, पालन और लय होते हैं और यह विश्व जिसका रूप है वह सत्यस्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म है ॥ १२ ॥ हे प्राणियों ! वह ईश्वर जन्म आदि विकाररहित त्रिकाल में एकरस, स्वयम्प्रकाश और अनादि होने के कारण यद्यपि यह विश्व उस परमेश्वर का स्वरूप है और यद्यपि वह अनेकों नामोंवाला है तथापि वह विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय अपनी माया के द्वारा करता है और नित्यसिद्ध विद्या के द्वारा उस माया को भी त्यागकर वह कर्मरहित ही रहता है ॥ १३ ॥ इसकारण ऋषि भी मोक्ष

पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥ १४ ॥ ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते ॥ आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम् ॥ १५ ॥ तमीहमानं निरहंकृतं बुधं निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् ॥ नॄन् शिक्षयंतं निजवर्त्मसंस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनं ॥ १६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति मंत्रोपनिषदं व्याहरंतं समाहितम् ॥ दृष्ट्वाऽसुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा ॥ १७ ॥ तांस्तथाऽवसितान्वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः ॥ यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाऽशासत्त्रिविष्टपम् ॥ १८ ॥ स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत् ॥ द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥ १९ ॥ तत्रेंद्रो रोचनस्त्वासीद्देवाश्च तुषितादयः ॥ ऊर्जस्तंभादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ २० ॥ ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् ॥ तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः

के निमित्त पहिले कर्म करते हैं, क्योंकि निष्काम कर्म करनेवाला पुरुष ही, प्रायः निरीह (किसी प्रकार की इच्छा न करने वाला) होता है ॥ १४ ॥ हे प्राणियो ! भगवान् ईश्वर कर्म करते हैं परन्तु आत्मलाभसे पूर्णमनोरथ होने के कारण उन कर्मों में आसक्त नहीं होते हैं, इतना ही नहीं किन्तु उन के अनुयायी होकर बरताव करनेवाले पुरुष भी, कर्मों में आसक्त नहीं होते हैं ॥ १५ ॥ हे प्राणियो ! जो सकल धर्मों को चलानेवाले होने के कारण, अपने आप उनका आचरण करके मनुष्यों को शिक्षा देने के निमित्त, अपने मनुष्य अवतार रूप मार्ग का उत्तमप्रकार से अवलम्बन करके कर्मों का आचरण करते हैं, जो ज्ञानी होने के कारण अहङ्काररहित हैं, जो परिपूर्ण होने के कारण निष्काम और स्वतन्त्र हैं उन परमेश्वर की मैं शरण जाता हूँ ॥ १६ ॥ श्री शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजन् परीक्षित् ! एकाग्र अन्तःकरणवाले होकर भी इसप्रकार मन्त्ररूप उपनिषद् का पाठ करतेहुए मनु को देखकर, यह कोई स्वप्न में बरबरानेवाले पुरुष की समान विक्षिप्त है, ऐसा माननेवाले असुर और राक्षस, क्षुधा से पीड़ित होकर उन को भक्षण करने के निमित्त शीघ्रतासे उन के समीप आये ॥ १७ ॥ इतनेही में मनु को भक्षण करने का निश्चय करे हुए उन असुर आदिकों को देखकर सर्वसाक्षी यज्ञ नाम वाले श्रीहरि ने अपने, याम नामवाले पुत्ररूप देवताओं के साथ तहां आकर उन का वध करा और स्वर्ग का पालन करा अर्थात् वह यज्ञरूपी श्रीहरि आप ही इन्द्र बने ॥ १८ ॥ हे राजन् ! अग्नि का स्वारोचिष नामवाला पुत्र दूसरा मनु हुआ और द्युमान्, सुषेण तथा सुरोचिष्मान् आदि उन के पुत्र हुए ॥ १९ ॥ उस मन्वन्तर में यज्ञ का पुत्र रोचन इन्द्र हुआ, तथा अन्य यज्ञ के पुत्र तुषिता आदि देवता हुए, ऊर्जस्तम्भ आदि सात ब्रह्मज्ञानी सप्तऋषि हुए ॥ २० ॥ तदनन्तर वेदशिरा नामक ऋषिकी तुषिता

॥ २१ ॥ अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः ॥ अन्वशिक्षन् व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥ २२ ॥ तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः ॥ पवनः सृंजयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥ २३ ॥ वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः ॥ सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥ २४ ॥ धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥ ॥ २५ ॥ सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान् ॥ भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत्सत्यजित्सखः ॥ २६ ॥ चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ॥ पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥२७॥ सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः ॥ ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥२८॥ देवा वैधृतयो नाम विधृते स्तनया नृप ॥ नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥२९॥ तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः ॥ हरिरित्याहृतो येन गजेंद्रो मोचितो ग्रहात् ॥ ३० ॥ राजोवाच ॥ बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयं ॥ हरिर्यथा गजे-

नामवाली स्त्री के विषैं विभु नाम से प्रसिद्ध भगवान् का अवतार हुआ ॥ ११ ॥ हेराजन् ! यम नियम आदि साधनोंवाले अट्ठासी सहस्र (८८०००) मुनियों ने, कुमार अवस्था में ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले उन विभु के आचरणरूप व्रत की शिक्षा ग्रहण करी ॥ २२ ॥ हेराजन् ! प्रियव्रत का उत्तम नामवाला पुत्र तीसरा मनु हुआ और पवन सृञ्जय तथा यज्ञहोत्र आदि उस के पुत्र हुए ॥ २३ ॥ तथा वशिष्ठ के पुत्र प्रमद आदि सप्तऋषि हुए; सत्य, वेदश्रुत और भद्र नामवाले देवता हुए और सत्यजित् नामवाला इन्द्र हुआ ॥ २४ ॥ तैसे ही धर्म की सूनृता नामवाली स्त्री के विषैं, भगवान् पुरुषोत्तम सत्यसेन नाम से प्रसिद्ध होकर सत्यव्रतों के साथ अवतीर्ण हुए ॥ २५ ॥ और इन्द्र के साथ मित्रता करके उन्हों ने, मिथ्या बोलना ही जिन का व्रत है, जो स्वभाव से दुष्ट हैं और जो प्राणीमात्र से द्रोह करनेवाले हैं ऐसे उन यक्ष राक्षस नामक भूतगणों का वध करा ॥२६॥ तदनन्तर इस उत्तम नामवाले तीसरे मनु का जो तामस नामवाला भ्राता था वह चौथा मनु हुआ; उस के पृथु, ख्याति, नर और केतु आदि दश पुत्रहुए ॥ २७ ॥ तथा सत्यक, हरि और वीर नामवाले देवता हुए और त्रिशिख नाम वाला रुद्र हुआ और उस तामस मन्वन्तर में ज्योतिर्धाम आदि सात ऋषि हुए ॥ २८ ॥ में एकरस, स्वधिप्रति के पुत्र और भी वैधृति नामवाले देवता उस समय हुए और उ क्षर का स्वरूप है ...ए वेदों को अपने तेज से धारण करा ॥ २९ ॥ और उस ही ग- पालन और प्रलय अ...ले ऋषि से हरिणी नामवाली स्त्री के विषैं भगवान् ने 'हरि' माया को भी त्यागकर व...ग करके ग्राह से गजराज को छुडाया ॥ ३० ॥ राजा ने

पतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत् ॥ ३१ ॥ तत्कथासु महत्पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम् । यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान् गीयते हरिः ॥ ३२ ॥ सूत उवाच ॥ परीक्षितैवं स तु बादरायणिः प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः ॥ उवाच विप्राः प्रतिनंद्य पार्थिवं मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥ ३३ ॥ इति भा० म० अ० मन्वंतरानुचरिते प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ आसीद्गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ॥ क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥ १ ॥ तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिं ॥ दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥ २ ॥ अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः ॥ नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३ ॥ स चावनिज्यमानांघ्रिः समंतात्पयऊर्मिभिः ॥ करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥ ४ ॥ सिद्धचारणगन्धर्वविद्याधरमहोरगैः ॥ किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकंदरः ॥ ५ ॥ यत्र

कहा कि हे व्यासपुत्र ! ग्राह से ग्रसे हुए गजराज को श्रीहरि ने किसप्रकार छुडाया, यह हम आप से सुनने की इच्छा करते है ॥ ३१ ॥ क्योंकि जहां जहां श्रेष्ठ कीर्त्ति भगवान् श्रीहरि का गान होता है, वह कथा सकल कथाओं में परम पुण्यरूप, धन की प्राप्ति करानेवाली, इच्छित फल देनेवाली और मोक्ष भी देनेवाली है ॥ ३२ ॥ सूत जी ने कहा कि—हे ब्राह्मणों ! इसप्रकार अन्न जल को छोड़ प्राण त्यागने का निश्चय करके बैठे हुए राजा परीक्षित् ने, व्यासपुत्र शुकदेव जी को, प्रश्न करके भगवान् की कथा कहने में प्रवृत्त करा तव उन्हों ने भी राजा की प्रशंसा करके उस सभा में सकल ऋषियों के सुनते हुए बड़े आनन्द से उस कथा के वर्णन करने का प्रारम्भ करा ॥३३॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में प्रथम अध्याय समाप्त ॥ ॥ श्री शुकदेव जी ने कहा कि—हे राजन् ! त्रिकूट नाम से प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ पर्वत है, वह क्षीरसमुद्र से घिरा हुआ रत्न आदि समृद्धियों की शोभा से युक्त, दशसहस्र योजन ऊँचा और चारों ओर से भी उतना ही दशसहस्र योजन फैला हुआ है और चांदी के लोहे के तथा सुवर्ण के ऐसे तीन शिखरों से क्षीरसमुद्र, दशों दिशा और आकाश को प्रकाशित कर रहाहै॥ १॥२॥ तैसे ही वह रत्न और धातुओं से चित्र विचित्र होकर, नानाप्रकार के लता वृक्षों के झुंडों से युक्त और शिखरों से तथा झरनों के जल के प्रवाह के द्वारा सकल दिशाओं को शोभा देरहा है ॥ ३ ॥ तथा उस पर्वत के मूलभाग (जड़) के चारोंओर उत्पन्न होनेवालीं क्षीरसमुद्र की तरङ्गों से धुलने के कारण हरे रङ्ग की मरकतमणियों से तहां की भूमि को श्यामल कररहा है ॥ ४ ॥ उस पर्वत की गुफाओं में सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, महोरग, किन्नर और अप्सराओं के समूह क्रीड़ा करते हैं ॥ ५ ॥ उस पर्वत के ऊपर

संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया ॥ अभि गर्जंति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६ ॥
नानारण्यपशुव्रातसंकुलद्रोण्यलंकृतः ॥ चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकंठविहंगमः ॥७॥
सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ॥ देवस्त्री मज्जनामोदसौरभांब्वनिलै-
र्युतः ॥ ८ ॥ तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ॥ उद्यानमृतुमन्नाम
आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९ ॥ सर्वतोऽलंकृतं दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः ॥ मं-
दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचंपकैः ॥ १० ॥ चूतैः प्रियालैः पनसैराम्रैरा-
म्रातकैरपि ॥ क्रमुकैर्नारिकेलैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥ ११ ॥ मधूकैः साल-
तालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ॥ अरिष्टोदुंबरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचंदनैः ॥ १२ ॥
पिचुमंदैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ॥ द्राक्षेक्षुरंभाजंबूभिर्बदर्यक्षाभयामल-
कैः ॥ १३ ॥ बिल्वैः कपित्थैर्जंबीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ॥ तस्मिन् सरः
सुविपुलं लसत्कांचनपंकजम् ॥ १४ ॥ कुमुदोत्पलकल्हारशतपत्रश्रियोर्जि-

---

किन्नर आदिकों के गाने के बड़ेभारी शब्द से जहाँ गुहा गुञ्जारती रहती हैं उधरको मुख करके अपनी प्रशंसा करनेवाले सिंह, उस शब्दके सहन न होने के कारण 'क्या यहाँ कोई दूसरा सिंह है ?' ऐसा सन्देह करके दहाड़ते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! वह पर्वत नानाप्रकार के वन के पशुओं से भरीहुई गुहाओं से भूषित और चित्र विचित्र वृक्षों से युक्त देवताओं के क्रीड़ा करने के वनों में मधुर शब्द करनेवाले पक्षियों से युक्त है ॥ ७ ॥ तथा वह निर्मल जल भरीं नदियें और सरोवरों से युक्त है, जिन में रत्नों की समान बालुका है ऐसे नदी के पुलिनों से युक्त और देवाङ्गनाओं के स्नान करने से उत्पन्नहुई अति उग्र सुगन्धि से वसेहुए जल तथा पवनों से युक्त है ॥ ८ ॥ उस पर्वत के ऊपर एक ओर ऐश्वर्यवान् महात्मा वरुण का ऋतुमत् नामवाला एक बगीचा है और वह निरन्तर पुष्प फलों से युक्त रहनेवाले दिव्य वृक्षों से सब ओर शोभायमान है और देवाङ्गनाओं के क्रीड़ा करने का स्थान है; तथा वह पर्वत मन्दार, पारिजात, पाटल, अशोक, चम्पक ॥ ९ ॥ १० ॥ एक प्रकार के आम, प्रियाल, पनस, आम्र, आम्रातक, सुपारी, नारियल, खजूर, बिजौरा, महुआ, साल, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन रीठे, गूलड़, पिलखन, बड़, ढाक, चन्दन ॥ ११ ॥ १२ ॥ पिचुमन्द कोविदार, सरल, देवदारु, दाख, ईख, केला जामुन, बेर, बहेड़े, हर, आंवले, बेल, कैथ जँबीरी, और भिलावा आदि वृक्षों से भरा हुआ है और उस पर्वत के ऊपर एक बड़ा चौड़ा सरोवर है, उस में सुवर्ण के कमल खिले हुए हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥ श्वेतकमल नीलकमल, सन्ध्या के समय खिलने वाले श्वेतकमल, और साधारण कमलों की शोभा

तम् ॥ मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥ १५ ॥ हंसकारण्डवाकीर्णं
चक्राह्वैः सारसैरपि ॥ जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६ ॥
मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः ॥ कदंबवेतसनलैर्नीपवंजुलकैर्वृतम् ॥ १७ ॥
कुन्दैः कुरवकाशोकैः शिरीषैः कुटजेंगुदैः ॥ कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नाग-
जातिभिः ॥ १८ ॥ मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ॥ शोभितं तीर-
जैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥ १९ ॥ तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः करेणु-
भिर्वारणयूथपश्चरन् ॥ सकंटकान्कीचकवेणुवेत्रवद्विशालगुल्मं प्ररुजन् वनस्पतीन्
॥ २० ॥ यद्गंधमात्राद्धरयो गजेंद्रा व्याघ्रादयो व्यालमृगाश्च खड्गाः ॥ म-
होरगाश्चापि भयाद्द्रवन्ति सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः ॥ २१ ॥ वृका वरा-
हा महिषर्क्षशल्या गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च ॥ अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥ २२ ॥ स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभिर्वृतो मदच्यु-
त्कलभैरनुद्रुतः ॥ गिरिं गरिम्णा परितः प्रकंपयन्निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदा-

से अतिसुन्दर है मदमत्त भ्रमरों से और शब्द करनेवाले पक्षियों से वह गुञ्जार रहा है ॥ १५ ॥ हंस, कारण्डव, चक्रवाक और सारस पक्षियों से वह अत्यन्त भरा हुआ है जलमुरग, पपहिया, और जलकाकों के समूहों से वह शब्दायमान हो रहा है ॥ १६ ॥ मच्छ कच्छों के इधर उधर को फिरने से चलायमान हुए कमलों के परागों से उसका जल मिला हुआ है; कदम्ब, बेत, नल, अशोक और स्थलपद्म (गुलाब आदि) इन वृक्षों से घिरा हुआ है ॥ १७ ॥ कुन्द, कुरवक, अशोक, शिरस, कुटज, हिंगोट, कुब्जक, पीलीजुही, नाग, पुन्नाग, जुही, मोगरा शतपत्र और बटमोगरा आदि पुष्पों की वेलों से तथा सदा फल पुष्पों से युक्त रहनेवाले और तट के वृक्षों से वह अत्यन्त शोभित है ॥ १८ ॥ १९ ॥ ऐसे उस चित्रकूट पर्वत के वन में रहनेवाला, गजों के समूहों का स्वामी एक गजराज, कि—जिस की केवल गन्ध से ही सिंह, बडे २ हाथी, व्याघ्र आदि वन के हिंसक जीव, सर्प, हरिण, गैंडे, बडे २ सांप, गोरे और काले शरभ और चमरी नामक वन की गौ यह सब, भयभीत होकर भागते हैं, जिस के अनुग्रह से, भेड़िये, शूकर, भैंसे, रीछ, सई, गोपुच्छ नामक बानर, श्वान, मर्कट, हरिण, खरगोश आदि छोटे २ प्राणी, दृष्टि की ओट में निर्भय होकर विचरते हैं, जो अपनी धांग में के हाथियों से और हथनियों से घिरा हुआ है, जिस के पीछे २ मद टपकानेवाले पाठे चले आरहे हैं, जो मद भक्षण करनेवाले भ्रमरों के समूहों से अत्यन्त सेवन करा हुआ है और जिस के नेत्र मद से धुँदले होरहे हैं वह हथिनियोंसहित विचरनेवाला गजराज, सूर्य के ताप से सन्तप्त हो कर पिलासे हाथियों के समूहों से घिरा हुआ; कमलों के पराग से व्याप्त सरोवर में

शनैः ॥ २३ ॥ सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं जिघ्रन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ॥
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्सरोवराभ्याशमथागमद्द्रुतम् ॥ २४ ॥ विगाह्य
तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ॥ पपौ निकामं निजपुष्क-
रोद्धृतमात्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः ॥ २५ ॥ स्वपुष्करेणोद्धृतसीकराम्बुभि-
र्निपाययन् संस्नपयन्यथा गृही ॥ घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो नाचष्ट
कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥ २६ ॥ तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो ग्राहो बली-
यांश्चरणे रुषाऽग्रहीत् ॥ यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो यथाबलं सोऽति-
बलो विचक्रमे ॥ २७ ॥ तथातुरं यूथपतिं करेणवो विकृष्यमाणं तरसा बली-
यसा ॥ विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥
॥ २८ ॥ नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोर्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः ॥ समाः सहस्रं
व्यगमन्महीपते सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥ २९ ॥ ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौ-

लगकर आनेवाले वायु को सूँघता २ अपने भारीपन से चलते में चारोंओर पर्वत को वारंवार कम्पायमान करता हुआ, खोकले वांस, ठोस वांस, कांटो के वृक्ष, लताओं के झड़ और वनस्पतियों को कड़ाकड़ तोड़ता हुआ उस सरोवर के समीप बड़ी शीघ्रता से आपहुँचा ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ उस ने तदनन्तर उस सरोवर में घुसकर अपने शरीर को जलों से स्नान कराते कराते श्रमरहित होनेपर, पीले और नीलकमलों के परागों की सुगन्धित से युक्त, अमृत की समान मधुर और सूँड के अग्रभागसे ऊपर को उछाले हुए निर्मल जल, को चित्त भरकर पिया ॥२५॥ तदनन्तर घर आदि में आसक्त हुए पुरुष की समान भगवान् की माया से मोहित हुआ वह दुर्मद और दयालु गजराज, अपनी सूँडके अग्रभागसे बाहर को निकाले हुए जलकी बिन्दुओं से हथनियों और पाठों की पिलास को दूरकरता हुआ उनको स्नान करा रहा था सो उस ने 'मुझे कौन सङ्कट घेरलेता है सो' नहीं जाना ॥ २६ ॥ इतने ही में हेराजन् ! दैव के प्रेरणा करेहुए किसी एक बलवान् नाके ने, क्रोध के साथ उस का चरण पकड़लिया ऐसे दैववश सङ्कट में पड़ाहुआ वह महाबली गजराज, उस सङ्कट से अपने को छुड़ाने के निमित्त यथाशक्ति उद्योग करने लगा ॥ २७ ॥ उस समय महाबली नाके करके बलपूर्वक भीतर को खेंचे जातेहुए और अत्यन्त वेवश हुए उस गजराज को देखकर मन में दुःखितहुई हथनियें केवल दीनबुद्धि होकर चिंघारने लगीं और उस के साथ के अन्य हाथियों में से भी उस को कोई नहीं छुटासका ॥ २८ ॥ हे भूपते ! इसप्रकार उन महाबली नाके और गजराज का परस्पर युद्ध होते हुए और एक को दूसरे के भीतर बाहर को खैंचते हुए सहस्र (१०००) वर्ष बीतगये तब देवताओं ने भी वह बड़ा आश्चर्य माना ॥ २९ ॥ सहस्र वर्ष के अनन्तर भी बहुत कालतक जल में

जसां कालेन दीर्घेण महानभूद्द्वयोः ॥ विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो विपर्यय-
योऽभूत्सकलं जलौकसः ॥ ३० ॥ इत्थं गजेंद्रः स यदाप संकटं प्राणस्य देही
विवशो यदृच्छया ॥ अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं दध्याविमां बुद्धिमथा-
भ्यपद्यत ॥ ३१ ॥ न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति
मोचितुम् ॥ ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोऽप्यहं च तं यामि परं परा-
यणम् ॥ ३२ ॥ यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृ-
शम् ॥ भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥
॥ ३३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने गजेंद्रोपा-
ख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं व्यवसितो बुद्ध्या स-
माधाय मनो हृदि ॥ जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ १ ॥ गजेंद्र
उवाच ॥ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ॥ पुरुषायादिबीजाय परेशा-

खैंचेजाने के कारण खेद पानेवाले उस गजराज को, भोजन न मिलने के कारण मन का उत्साह, शरीर की सामर्थ्य और इन्द्रियों का वल अत्यन्त क्षीण होने लगा और उस जलचारी नाके की उत्साहशक्ति, शरीर की शक्ति और इन्द्रियवल जल में आहार मिलते रहने के कारण बढ़ने लगा ॥ ३० ॥ हे राजन्! इसप्रकार दैवगति से नाके के वश में पड़कर, अपने को छुटाने में असमर्थ हुआ वह देहधारी गजराज, जब प्राणों का सङ्कट (प्राण बचने में भी सन्देह) हुआ तब, अपने छूटने के निमित्त बहुत काल तक विचार करते२ उसको एकाएकी ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि—॥ ३१ ॥ मैं नाकेरूप दैव के पाश से बँधा हुआ हूँ इसकारण मुझ विपत्ति में पड़ेहुए को, इस पाश में से छुटाने को यह जाति के हाथी समर्थ नहीं हैं और मैं भी समर्थ नहीं हूँ फिर यह हथनियें तौ कहां से समर्थ होंगी? इसकारण जब मैं ब्रह्मादिकों के भी आश्रय उन प्रसिद्ध परमेश्वर की ही शरण जाता हूँ ॥ ३२ ॥ क्योंकि असह्य वेगवाले, चारोंओर से आतेहुए और महाबली मृत्युरूप बड़े भारी सर्प से अत्यन्त भयभीत होकर शरण में आयेहुए प्राणी की जो कोई ईश्वर रक्षा करता है और जिसके भय से प्राणियों को मारने के निमित्त मृत्यु भी जिधर तिधर को भागता है उसकी ही हम शरण हैं ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में द्वितीयअध्याय समाप्त ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् परीक्षित्! इसप्रकार निश्चय करने वाले गजराज ने बुद्धि से अपने मनको हृदय में स्थिर करके, इन्द्रद्युम्न नामवाले पहिले जन्म में अभ्यास करे हुए सर्वोत्तम स्तोत्र का जप करा ॥ १ ॥ गजेन्द्र ने कहा कि—जिस चैतन्यरूप परमात्मा से यह देह आदि सचेतन होता है, उस कारणरूप से देह में प्रवेश करनेवाले

याभिधीमहि ॥ २ ॥ यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयं ॥ योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयंभुवं ॥ ३ ॥ यः स्वात्मनीदं निजमाययाऽर्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ॥ अविद्धदृक्साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ ४ ॥ कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ॥ तमस्तदा सीद्गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५ ॥ न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ॥ यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥ दिदृक्षवो यस्य पदं सुमंगलं विमुक्तसंगा मुनयः सुसाधवः ॥ चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥ ७ ॥ न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा न नामरूपे गुणदोष एव वा ॥ तथाऽपि लोकाप्ययसंभवाय

षड्गुण ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रकृतिपुरुषरूप परमेश्वर को हम केवल मन ही में नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ अब यहां से अध्याय की समाप्ति पर्यंत ईश्वरत्व को ही स्पष्टकरने के अभिप्राय से गजेन्द्र कहता है कि—यह विश्व जिस में स्थित है, जिस से उत्पन्न हुआ है, जिस ने रचा है, जो स्वयं ही यह है और जो इस कार्य से तथा महत्तत्व आदि कारणों से भिन्न है उस स्वयंसिद्ध परमेश्वर की मैं शरण जाता हूँ ॥ ३ ॥ इस प्रकार ईश्वर स्वतःसिद्ध और विश्व का कारण है ऐसा कहा अब वह स्वयंप्रकाश होकर जगत् का प्रकाशक है ऐसा कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि—जो साक्षीरूप भगवान् अपने में अपनी माया के रचेहुए और कभी २ सृष्टि के समय में प्रकट होनेवाले और कभी २ प्रलय के समय में लीन होनेवाले ऐसे दोनोंप्रकार के कार्यकारणरूप विश्व को अपनी, अलुप्तदृष्टि से देखते हैं वह दूसरे से प्रकाशित होनेवाले नेत्र आदि को प्रकाशित करनेवाले स्वयंप्रकाश परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥४॥ प्रलयके समय सब लोक, उन लोकोंके पालन करनेवाले और उनके सकल कारणों के काल के द्वारा नष्ट होने पर जिस में प्रवेश करना कठिनहै ऐसा अपार अन्धकार होताहै, उसके भी पार जो सर्वव्यापक प्रभु विराजमान होते हैं ॥५॥ जिनके स्वरूप को देवता और ऋषि भी नहीं जानते हैं फिर उस स्वरूपके जानने को वा वर्णन करनेको और कोई प्राणी कैसे समर्थ होसक्ता है ? इसकारण जैसे नानाप्रकार के वेष धारण करके रङ्गभूमिमें खेल करनेवाले नटके स्वरूपको लोक नहीं समझ सक्ते हैं तैसे ही जिनका चरित्र दुर्गमहै वह परमेश्वर मेरी रक्षाकरें ॥६॥ अत्यन्त श्रेष्ठ आचरणवाले, निःसङ्ग, प्राणियों में आत्मदृष्टि रखनेवाले और सबका हित करनेवाले मुनि, जिनका परममङ्गलकारी स्वरूप देखने की इच्छा से वनमें रहकर निरन्तर ब्रह्मचर्य आदि व्रतों को धारण करते हैं वही मेरी गति हैं ॥ ७ ॥ जिनका जन्म, कर्म, नाम, रूप, गुण वा दोष इन में से कोई भी नहीं है तथापि जो लोकों के जन्म मरण करने के

यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥ ८ ॥ तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥ ९ ॥ नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ॥ नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥ १० ॥ सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ॥ नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥ ११ ॥ नमः शांताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ॥ निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥ १२ ॥ क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ॥ पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥ १३ ॥ सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ॥ असता छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥ १४ ॥ नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय ॥ सर्वागमाम्नायमहार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥ १५ ॥ गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ॥

निमित्त अपनी माया के द्वारा उन जन्मकर्मादिकों को स्वीकार करते हैं, जो ब्रह्मस्वरूप होने के कारण रूपरहित हैं, जो अनन्तशक्ति होनेके कारण अनेकरूप हैं और जिनके कर्म आश्चर्यकारक हैं उन परमेश्वर को वारंवार नमस्कार हो ॥ ८ ॥ ९ ॥ तथा जो दूसरों से प्रकाशित न होकर सबके प्रकाशक हैं उन वाणी के, मन के और चित्त की वृत्तियों के अगोचर परमात्मा को वारंवार नमस्कार हो ॥ १० ॥ निपुण संन्याससे शुद्धचित्तहुए पुरुषों को जिसकी प्राप्ति होती है, तिस आनन्दानुभवरूप मोक्षके स्वामी परमेश्वर को नमस्कार हो ॥ ११ ॥ तथा शान्त, भयङ्कर और मूढ़ इन सत्व आदि गुणों के धर्मों का अनुकरण करनेवाले, भेदशून्य, सब स्थान में समानभाव से वर्त्ताव करनेवाले, ज्ञानस्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥ १२ ॥ तैसे ही, क्षेत्रज्ञ, सब के अध्यक्ष, सब के साक्षी, सकलजीवों के मूलकारण और सबसे पहिले ही विद्यमान होनेके कारण मायाकी भी उत्पत्ति के हेतु आप को नमस्कार हो ॥ १३ ॥ तथा जो सकल इन्द्रियों के विषयों को देखनेवाले हैं, विषयों में जिनका सत्रूप आभास है अर्थात् जो सकल विश्वासों के हेतु हैं, प्रतिविम्ब (परछाहीं) से सूचित होनेवाले विम्ब (जिसकी छाया पड़े उस) की समान, जो मिथ्यारूप अहङ्कार आदि प्रपञ्च से सूचित होते हैं और जिन का सकल इन्द्रियों की वृत्तियों से ज्ञान होता है ऐसे आप को नमस्कार है ॥ १४ ॥ जैसे महासमुद्र में सकल नद नदी आदिकोंके जल के प्रवाहों का अन्त होना है तैसे ही जिन में सकल शास्त्र और वेदों की समाप्ति होती है जो, सब के कारणरूप हैं और जिनका कोई कारण नहीं है, ऐसा होनेपर भी मृत्तिका आदि की समान विकार को प्राप्त न होनेके कारण जो अद्भुत कारणरूपहैं और मोक्षरूप होनेके कारण जो उत्तमजनों के आश्रय हैं तिन आपको नमस्कार हो ॥ १५ ॥ जो गुणरूप अरणी (काठ) में छुपेहुए ज्ञानाग्निरूप हैं, जिनका मन उन गुणों के क्षोभरूप कार्य में बहिर्वृ-

नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागमस्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥ १६ ॥ मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ॥ स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीतप्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ १७ ॥ आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैर्दुष्प्रापणाय गुणसंगविवर्जिताय ॥ मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥ १८ ॥ यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ॥ किंत्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥ १९ ॥ एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वांछन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥ ॥ २० ॥ तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ॥ अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरमनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥ २१ ॥ यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा

त्ति हुआ है और आत्मतत्त्वकी भावना से विधि निषेधरूप शास्त्रों का त्याग करनेवाले ज्ञानियों में जिनका स्वयं ही प्रकाश होरहा है उन को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥ जो परमदयालु होने के कारण भक्तों के सङ्कट को दूर करने में आलस्यरहित हैं, जो मुक्त होने के कारण मुझ समान शरणागत पशुओं की अज्ञानरूप फाँसी को समूल नष्ट करने को समर्थ हैं, जो अन्तर्यामीरूप से सकल देहधारी प्राणियों के मन में प्रसिद्ध भीतर के ज्ञानरूप होकर भी अपरिच्छिन्न हैं और जो सकल प्राणियों को वश में रखने को समर्थ हैं ऐसे आप को नमस्कार हो ॥ १७ ॥ जो गुणों के सङ्ग से रहित होनेके कारण अन्तःकरण में विद्यमान होकर भी देह, पुत्र, अपने सम्बन्धी, घर, धन और सेवकों में आसक्त रहनेवाले पुरुषों को प्राप्त नहीं होसक्ते हैं और इसकारण ही देह आदिकों में आसक्ति न करनेवाले ज्ञानी पुरुषों ने जिनका अपने हृदय में ज्ञानरूप, अचिन्तनीय ऐश्वर्यों से युक्त और सबके नियन्तारूप से निरन्तर चिन्तवन करा है उन परमेश्वर को नमस्कार हो ॥ ॥ १८ ॥ जिनकी सेवा करते हुए, धर्म, अर्थ काम अथवा मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुष, इच्छित फल पाते हैं इतनाही नहीं किन्तु जो भगवान् उनको, इच्छा न करेहुए भी भोग और दृढ़ शरीर देते हैं वह परमदयालु परमात्मा मुझे मुक्त करें ॥ १९ ॥ यह तो मैं भक्तिसुख के आनन्द को न जानने के कारण मांगता हूँ परन्तु जिन्हों ने सर्वज्ञ मुक्त पुरुषों की सेवा करी है ऐसे जिनके अनन्य भक्त, चार प्रकार के पुरुषार्थों में से किसी की भी इच्छा नहीं करते हैं और अति आश्चर्यकारी तथा मङ्गलकारी उन भगवान् के चरित्रों का गान करतेहुए आनन्दसागर में निमग्न होते हैं उन अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम, ब्रह्मादिकों को वश में रखनेवाले, अव्यक्त, आध्यात्मिक योग सेप्राप्त होनेवाले, सूक्ष्म होने के कारण अति दूर की वस्तुकी समान इन्द्रियगोचर होनेवाले, विनाशरहित, सब से प्रथम विद्यमान और परिपूर्ण परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २० ॥ २१ ॥ जिसके

लोकाश्चराचराः ॥ नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥ २२ ॥ यथा-
ऽर्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः ॥ तथा यतोऽयं
गुणसंप्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥ २३ ॥ स वै न देवा सुरम-
र्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षंढो न पुमान्न जन्तुः ॥ नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्नि-
षेधशेषो जयतादशेषः ॥ २४ ॥ जिजीविषे नाहमिहामुया किमन्तर्बहिश्चावृत-
येभयोन्या ॥ इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम्
॥ २५ ॥ सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ॥ विश्वात्मानमजं ब्रह्म
प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥ २६ ॥ योगरंधितकर्माणो हृदि योगविभाविते ॥
योगिनो यं प्रपश्यंति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥ नमो नमस्तुभ्यम-
सह्यवेगशक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ॥ प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिंद्रियाणा
मनवाप्यवर्त्मने ॥ २८ ॥ नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहंधिया हतम् ।

बहुत ही थोड़े अंश से ब्रह्मादि देवता, वेद और स्थावर-जङ्गमरूपलोक यह सब नामरूप भेद से उत्पन्न हुएहैं ॥ २२ ॥ जैसे अग्नि की ज्वाला वा सूर्य की किरणें, एक के अनन्तर दूसरी इसप्रकार प्रवाहरूप करके उत्पन्न होकर फिर उन में ही लीन होजाती हैं तैसे ही बुद्धि मन, इन्द्रियें और शरीर यह सब गुणों के प्रवाहरूप करके जिन स्वयम्प्रकाशरूप परमात्मा से उत्पन्न होते हैं. जो परमात्मा देवता नहीं, असुर नहीं, मनुष्य नहीं, पशु पक्षी नहीं, स्त्री नहीं, नपुंसक नहीं, पुरुष नहीं अथवा कोई भी प्राणी नहीं हैं; गुण, कर्म, कार्य और कारण इन में से भी कोई नहीं हैं, सब का निषेध होनेपर जो शेष रहते हैं और जो माया करके सर्वरूप हैं वह परमेश्वर मुझे मुक्त करने को प्रकट हों ॥ २३ ॥ २४ ॥ इस नाके से छूटकर मुझे जीवित रहने की इच्छा नहीं है; क्योंकि—भीतर और बाहर अज्ञान से भरीहुई इस हाथी की योनि से यहां क्या करना है ? सो जिस का काल से नाश नहीं होता है उस आत्मप्रकाश को ढकनेवाले अज्ञान के दूर होने की मुझे इच्छा है ॥ २५ ॥ ऐसा केवल मोक्ष की इच्छा करनेवाला मैं विश्व को उत्पन्न करनेवाले, जगन्मूर्त्ति, जगत् से निराले, जगत्रूप—क्रीड़ाकी सामग्री से युक्त, जगत् के आत्मारूप और जन्म आदि विकारशून्य, उत्तम पदरूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ ॥ २६ ॥ भगवद्धर्म से जिनके कर्म भुने हुए बीजों की समान दग्ध होगये हैं वह योगीपुरुष, योगके द्वारा शुद्धहुए हृदय में जिनका दर्शन करते हैं उन योगेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २७ ॥ जिनकी सत्व आदि तीनों शक्तियों का वेग असह्य है, जो सकल इन्द्रियें शब्द आदि विषयरूप करके बाहरी दृष्टि से प्रतीत होते हैं, जिन की इन्द्रियें विषयों में उत्कण्ठित है ऐसे पुरुषों को जिनका मार्ग नहीं मिलता है, जो शरणागतों का पालन करनेवाले हैं, जिन की शक्तियोंका अन्त नहीं है ऐसे आप को नमस्कार हो ॥ २८ ॥ जिन की माया से उत्पन्न हुए अहङ्कार

तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥ २९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
एवं गजेंद्रमुपवर्णितनिर्विशेषं ब्रह्मादयो विविधलिंगभिदाऽभिमानाः ॥ नैते
यदापससृपुर्निखिलात्मकत्वात्तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥ ३० ॥
तं तद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेंद्रः ॥ ३१ ॥
सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ॥ उ-
त्क्षिप्य सांबुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ३२ ॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ॥ ग्रा-
हाद्विपाटितमुखादरिणा गजेंद्रं सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणां ॥ ३३ ॥
इति श्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे गजेंद्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥७॥
श्रीशुक उवाच ॥ तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः ॥ मुमुचुः कुसुमासारं

के द्वारा ढकेहुए अपने स्वरूपभूत आत्मा को यह प्राणी नहीं जानता है और जिन के प्रभाव को कोई उल्लंघन नहीं करसक्ता है उन भगवान् का ही मुझे आश्रय है ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेव जी ने कहा कि—हे राजन् परीक्षित् ! इस प्रकार उस गजेन्द्रके भेदशून्य परमतत्त्वका वर्णन करने पर नानाप्रकारकी अपनी अपनी भिन्न२मूर्त्तियोंमें अभिमान रखनेवाले ब्रह्मादि देवताओं में से जब कोई भी उसके समीप नहीं आया तब सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि तहाँ प्रकट हुए ॥ ३० ॥ और उस गजेन्द्र को तैसा पीड़ित हुआ जानकर तथा उसके करेहुए स्तोत्र को सुनकर, वह जगन्निवास परमात्मा, वेदमय गरुड़जी के ऊपर चढ़ और हाथ में चक्ररूप आयुध को धारण कर, अपनी स्तुति करनेवाले देवतओं के साथ तहाँ गजराज के समीप आये ॥ ३१ ॥ हेराजन् ! उस समय सरोवर में महाबली नाके के चरण पकड़लेने के कारण पीड़ित हुए उस गजेन्द्र ने, हाथ में चक्रलेकर आकाश में गरुड़जी के ऊपर चढ़ेहुए श्रीहरि को देखकर, भगवान् के चरणों में समर्पण करने के निमित्त, अपनी सूंड़के अग्रभागसे कमल लेकर और उस कमलसहित सूंड़ को ऊपर को उठाकर " हे भगवन् ! हे नारायण ! हे जगद्गुरो ! आप को नमस्कार हो " बड़े सङ्कट के साथ ऐसी वाणी उच्चारण करी ॥ ३२ ॥ तब उस पीड़ित हुए गजेन्द्र को देखते ही गरुड़ भी मन्दगामी (धीरे चलने वाले) हैं ऐसा विचार तत्काल उन के ऊपर से नीचे उतरकर जन्म आदि विकाररहित श्रीहरिने, बड़ी कृपा करके नाके सहित उस गजेन्द्र को शीघ्रही सरोवरके बाहर निकाला और चक्रसे उस नक्र का मुख चीरकर सकल देवताओं के देखतेहुए गजराज छुड़ाया ॥ ३३ ॥ इति अष्टम स्कन्ध में तृतीय अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्री शुकदेव जी ने कहा कि-हे राजन् परीक्षित् ! उस गजेन्द्र को छुटाने के समय ब्रह्मा-

शंसंतः कर्म तद्धरेः ॥ १ ॥ नेदुर्दुंभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः ॥ ऋषयश्चा-
रणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥ योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्च-
र्यरूपधृक् ॥ मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गंधर्वसत्तमः ॥ ३ ॥ प्रणम्य शिरसाधीशमु-
त्तमश्लोकमव्ययम् ॥ अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम् ॥ ४ ॥ सोऽ-
नुकंपित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम् ॥ लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्त-
किल्विषः ॥ ५ ॥ गजेंद्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ॥ प्राप्तो भगवतो
रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ ६ ॥ स वै पूर्वमभूद्राजा पांड्यो द्रविडसत्तमः ॥
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः ॥ ७ ॥ स एकदाराधनकाल आत्म-
वान् गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम् ॥ जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं समर्चया-
मास कुलाचलाश्रमः ॥ ८ ॥ यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः समागमच्छिष्य-
गणैः परिश्रितः ॥ तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ॥

रुद्र आदि देवता, ऋषि और गन्धर्व, श्रीहरि के उस कर्म की प्रशंसा करतेहुए पुष्पों की वर्षा करनेलगे ॥ १ ॥ देवताओं की वजाई हुई दुन्दुभी वजने लगीं, गन्धर्व नृत्य और गान करने लगे और ऋषि, चारण तथा सिद्ध पुरुषोत्तम भगवान् की स्तुति करने लगे ॥ ॥ २ ॥ वह जो नाका था सो पहिले जन्म में हूहू नामक श्रेष्ठ गन्धर्व था और देवल मुनि के शाप से उसको नाके का जन्म मिला था, सो वह उस समय तत्काल शाप से छूटगया और आश्चर्यकारीरूप धारण करके अविनाशी, यश के स्थान, जिन के गुण वर्णन करने योग्य हैं, जिन की कथा पवित्र हैं ऐसे उत्तमकीर्त्ति परमेश्वर को मस्तकसे प्रणाम करके उनके माहात्म्य को गानेलगा ॥ ३ ॥ ४ । तदनन्तर परमेश्वर ने जिस के ऊपर कृपा करी है ऐसा वह हूहू नामक गन्धर्व, उन परमेश्वर को प्रदक्षिणा और नमस्कार करके सव लोकों के देखते हुए गन्धर्वलोक को चलागया ॥ ५ ॥ इधर वह गजेन्द्र भी, भगवान् का स्पर्श होने के कारण अज्ञानरूप बन्धन से मुक्त हुआ और भगवान् के सारूप्य को प्राप्त होकर पीताम्बरधारी चतुर्भुज हुआ ॥ ६ ॥ हेराजन् परीक्षित्! वह गजेन्द्र! पहिले जन्म में द्रविड़देशनिवासी लोकों में श्रेष्ठ और मुख्यता से विष्णुव्रत का ही आचरण करनेवाला इन्द्रद्युम्ननाम से प्रसिद्ध, पाण्ड्यदेश का राजाथा ॥ ७ ॥ हेराजन् परीक्षित्! एक समय मलय पर्वत के ऊपर अपने आश्रम में रहता हुआ वह जटाधारी तपस्या में तत्पर राजा इन्द्रद्युम्न, पूजा का समय होने पर स्नान करके अन्तःकरण का निग्रह कर मौनभाव धारण करे सकल दुःखनिवारक प्रभु अच्युत भगवान् का पूजन कर रहा था ॥ ८ ॥ उस समय चारों ओर शिष्यों से घिरेहुए परमयशस्वी अगस्त्य ऋषि, उस इन्द्रद्युम्न राजा के आश्रय में भगवान् की इच्छा से आपहुँचे; वह—राजा मेरा पूजन आदि न

हि ॥ ९ ॥ तस्मा इमं शापमदादसाधुरयं दुरात्माऽकृतबुद्धिरद्य ॥ विप्रावमन्ता
विशतां तमोऽन्धं यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥
एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान्नृप सानुगः ॥ इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं
तदुपधारयन् ॥ ११ ॥ आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीं ॥ हर्यर्च-
नानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ॥ १२ ॥ एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभस्ते
नापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः ॥ गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमानकर्माद्भुतं स्व-
भवनं गरुडासनोऽगात् ॥ १३ ॥ एतन्महाराज तवेरितो मया कृष्णानुभावो
गजराजमोक्षणम् ॥ स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मपापहं दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वतां
॥ १४ ॥ यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः ॥ शुचयः प्रातरुत्थाय दुः-
स्वप्नाद्युपशान्तये ॥ १५ ॥ इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम ॥ शृण्वतां स-

करके एकान्त में स्वस्थ बैठा हुआ है ऐसा देखकर क्रुद्ध हुए ॥ ९ ॥ और उन्हों ने उस इन्द्रद्युम्न राजा को यह शाप दिया कि-जैसे हाथी उद्धत बुद्धि होता है तैसे ही अशिक्षितबुद्धि यह दुष्ट दुरात्मा राजा, ब्राह्मणों का अपमान कर रहा है, इस कारण यह परम अज्ञानरूप हाथी की योनि को ही प्राप्त हो ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हेराजन् परीक्षित् ! इसप्रकार शापदेकर भगवान् अगस्त्य मुनि, अपने साथ के शिष्यों सहित तहां से चलेगये तब, इधर राजर्षि इन्द्रद्युम्नभी यह प्रारब्ध कर्म काही फल है ऐसा जानकर ॥ ११ ॥ आत्मस्वरूप के स्मरण का नाश करनेवाली हाथी की योनि को प्राप्त हुआ; परन्तु हरि पूजन के प्रभाव से उस हाथी की योनि में भी उसको फिर आत्मस्वरूप की स्मृति प्राप्त हुई ॥ १२ ॥ इसप्रकार कमलनाभ भगवान् ने गजेन्द्र को छुटाकर, पार्षद के स्वरूप को प्राप्त हुए उस गजेन्द्र से तथा और भी अपने पार्षदों से युक्त होकर, जिन के गजेन्द्रमोक्ष आदि कर्म का गन्धर्व, सिद्ध और देवताओं ने गानकरा है ऐसे वह पद्मनाभ भगवान् गरुडजी के ऊपर चढ़कर अपने अलौकिक वैकुण्ठ धाम को चले गये ॥ १३ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ महाराज ! यह गजेन्द्रमोक्षरूप श्रीकृष्ण का चरित्र मैंने तुम से कहा है; यह चरित्र, सुननेवाले पुरुषों को स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला, यश की वृद्धि करनेवाला, कलियुगी पापों का नाश करनेवाला और दुःखों का नाश करनेवाला है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार के इस पुण्यकारी आख्यान को धर्म आदि पुरुषार्थोंकी प्राप्ति की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण प्रातःकाल के समय उठकर, स्नानकर शुद्ध होतेहुए, खोटे स्वप्न आदि की शान्ति के निमित्त पढ़ते हैं ॥ १५ ॥ हे कौरवों में श्रेष्ठ ! गजेन्द्र की मुक्ति करने के अनन्तर

वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥ १६ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ ये मां त्वां च सर-
श्चेदं गिरिकन्दरकाननम् ॥ वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥ १७॥
शृंगाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च ॥ क्षीरोदं मे प्रियं
धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरं ॥ १८ ॥ श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं
मम ॥ सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १९ ॥ शेषं च मत्कलां
सूक्ष्मां श्रियं देवीं ममाश्रयां ॥ ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च
॥ २० ॥ मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे ॥ कर्माण्यनंतपुण्यानि सूर्यं
सोमं हुताशनम् ॥२१॥ प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान्धर्ममव्ययम् ॥ दाक्षा-
यणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि ॥ २२ ॥ गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिंदीं
सितवारणम् ॥ ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान् ॥२३॥ उत्थायापररा-
त्रांते प्रयताः सुसमाहिताः ॥ स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात्
॥ २४ ॥ ये मां स्तुवन्त्यनेनांग प्रतिबुध्य निशात्यये ॥ तेषां प्राणात्यये
चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥ २५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यादिश्य हृषी-

सकल भूतात्मक, सर्वव्यापी, श्रीहरि प्रसन्न होकर, सकल प्राणियों के सुनते हुएउस गजेन्द्र से कहने लगे ॥ १६ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि हे पुत्र ! जो पुरुष मुझे, तुझे, और इस सरोवर, त्रिकूट पर्वत, उस में की गुहा, वन, वेत, खोखले बांस, ठोस बांस, इन के झुंडे, देववृक्ष, इस चित्रकूट पर्वत के शिखर;ब्रह्मा जी के मेरे और शिव जी के निवासस्थान, क्षीरसागर और देदीप्यमान श्वेतद्वीप, यह दोनों मेरे प्रियस्थान, श्रीवत्सचिन्ह, कौस्तुभमणि,वैजयन्तीमाला, मेरी कौमोदकी नामक गदा, सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पक्षिराज गरुड, मेरी सूक्ष्मकला शेष, मेरे आश्रय से रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्माजी, नारदऋषि, शिवजी, प्रल्हाद; मत्स्य कूर्म और वाराह आदि अवतारों के द्वारा करेहुए मेरे परमपुण्यकारी कर्म, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि,प्रणव (ॐ), सत्यभाषण,माया, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी धर्म, दक्ष की कन्या जो धर्म, सोम और कश्यपकी स्त्री थीं; गंगा सरस्वती, नन्दा;यमुना ऐरावत, ध्रुव, सातब्रह्मर्षि और पवित्रकीर्त्ति धार्मिक मनुष्य तथा मेरी विभूतियों का जो पुरुष प्रभातकाल के समय उठकर और पवित्र होकर एकाग्र अन्तःकरण से स्मरण करतेहैं वह सकल पातकोंसे छूटजातेहैं॥१६॥१७॥१८॥१९॥२०॥ ॥२१॥२२॥२३॥२४॥ और हे राजन् ! प्रभातकाल के समय उठकर जो पुरुष इस तेरे कहेहुए स्तोत्रसे मेरी स्तुति करतेहैं उनको मैं अन्तकाल में निर्मल बुद्धि देताहूँ ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार उस गजेन्द्र से कहकर और अपने

केशः प्रध्माय जलजोत्तमम् ॥ हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ॥ २६ ॥
इति श्री भा०म०अ० गजेंद्रमोक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥छ॥ श्रीशुक उवाच॥
राजन्नुदितमेतत्ते हरेः कर्माघनाशनम् ॥ गजेंद्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं
शृणु ॥ १ ॥ पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः ॥ बलिविंध्यादयस्तस्य
सुता अर्जुनपूर्वकाः ॥ २ ॥ विभुरिंद्रः सुरगणा राजन् भूतरयादयः ॥ हिरण्य-
रोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ॥ ३ ॥ पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः
सुरसत्तमैः ॥ तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् ॥ ४ ॥ वैकुण्ठः क-
ल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ॥ रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया
॥ ५ ॥ तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः ॥ भौमान् रेणून्स विममे
यो विष्णोर्व- र्णयेद्गुणान् ॥ ६ ॥ षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः ॥
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥ ७ ॥ इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्या-
दयो गणाः ॥ मुनयस्तत्र वै राजन्हविष्मद्वीरकादयः ॥ ८ ॥ तत्रापि देवः

सब से उत्तम शंख को बजाकर देवताओं को आनन्द देनेवाले भगवान् हृषीकेश वैकुण्ठ लोकको जाने के लिये गरुड़ जी के ऊपर चढ़े ॥२६॥ इतिश्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा।कि हेराजन्! पुण्यकारी और पापनाशक यह श्रीहरिका गजेन्द्रमोक्षरूप कर्म मैंने तुम से कहा अब रैवत मन्वन्तरको सुनो ॥१॥ तामस नामक मनु का सगा भ्राता रैवत पांचवां मनु हुआ, और उस के जिन में अर्जुन पहिला है ऐसे बलि विन्ध्य आदि पुत्र हुए ॥ २ ॥ हेराजन्! विभु नामवाला इन्द्र हुआ, भूतरय आदि देवगण हुए, और हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु,देवबाहु,सुधामा पर्जन्य और महामुनि यह सात ऋषि हुए ॥ ३ ॥ शुभ्र नामक ऋषि और उन की विकुण्ठा नामक स्त्री इन दोनों से वैकुण्ठ नामवाले श्रेष्ठ देवताओं के साथ अपने अंश से स्वयं भगवान् अवतार धारण कर के वैकुण्ठ नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ४ ॥ हेराजन्! उन भगवान् ने रमा देवी की प्रार्थना से उस का प्रिय कार्य करने की इच्छा करके सकल लोकों के पूजनीय वैकुण्ठलोक को रचा है, उन वैकुण्ठ नामक श्रीहरिका पराक्रम,ब्राह्मण-भक्ति आदि गुण और परमसमृद्धि यह सब पहिले मैंने संक्षेपसे तुमसे कहे ही हैं क्योंकि - जो विष्णुभगवान् के सकल गुणों को वर्णन करेगा वह पृथ्वी की रज के कणों को भी गिन सकेगा ॥ ५॥ ६ ॥ चक्षु का पुत्र चाक्षुष छठा मनु हुआ और पूरु, पूरुष तथा सुद्युम्न यह जिन में मुख्य हैं ऐसे उस के पुत्र हुए ॥ ७ ॥ हेराजन्! उस मन्वन्तर में मन्त्रद्रुम नामक इन्द्र हुआ, आप्यादिक देवगण हुए, और हविष्मान्, वीरक, सुमेधा, उत्तम, मधु, अतिनामा और सहिष्णु यह सात मुनि हुए ॥ ८ ॥ तैसे ही उस मन्व-

संभूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः ॥ अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥
॥ ९ ॥ पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा ॥ भ्रममाणोऽम्भसि धृतः
कूर्मरूपेण मन्दरः ॥ १० ॥ राजोवाच ॥ यथा भगवता ब्रह्मन्मथितः क्षीरसा-
गरः । यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥ ११ ॥ यथाऽमृतं सुरैः
प्राप्तं किंचान्यद्भवत्ततः ॥ एतद्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥१२॥ त्वया
संकथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पते ॥ नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम्
॥१३॥ सूत उवाच ॥ संपृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः ॥ अभिनन्द्य हरेर्वी-
र्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे ॥१४॥ श्रीशुक उवाच ॥ यदा युद्धे सुरैर्देवा बाध्यमानाः
शितायुधैः ॥ गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन् स्म भूयशः ॥ १५॥ यदा दुर्वाससः

न्तर में भी वैराज और उस की स्त्री सम्भूति इन दोनों से, नानाप्रकार की क्रीड़ा करने वाले, जगत्पालक भगवान् पुत्ररूप से अपने अंश करके अवतार धारण करके अजित नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥ और हेराजन् ! उन्हों ही ने क्षीरसागर को मथकर देवताओं को अमृत प्राप्त करादिया और जल में घूमनेवाले मन्दर पर्वत को कूर्मरूप से अपनी पीठपर धारण करा ॥ १० राजा परीक्षित् ने कहा कि—हे ब्रह्मन् ! भगवान् ने जिस प्रकार क्षीरसागर को मथा और जिस के निमित्त मथा तथा जिस कारण से कूर्म रूप होकर मन्दराचल को धारण करा ॥ ११ ॥ तथा जिस प्रकार देवताओं ने अमृत पाया, और उस मन्थन से अमृत के सिवाय दूसरा कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ यह सब भगवान् का परम अद्भुत कर्म मुझ से कहो ॥ १२ ॥ क्योंकि—तुम्हारे उत्तम प्रकार से वर्णन करी हुई भक्तपालक भगवान् की महिमा से, बहुत काल पर्यन्त त्रिविधताप से दुःखित हुआ मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥ १३ ॥ सूतजी ने कहा कि—हे ब्राह्मणों ! इसप्रकार भगवान् व्यासपुत्र से, राजा के उत्तम प्रकार प्रश्न करनेपर, उन के प्रश्न को आनन्द पूर्वक स्वीकार करके उन्हों ने श्रीहरि का माहात्म्य कहने का प्रारम्भ करा ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! जब युद्ध में असुरों के छोड़े हुए तीखे आयुधों से घायल हुए और प्राणहीन होकर पडे हुए बहुत से देवता, फिर उठकर जीवित नहीं हुए ॥ १५ ॥ और हे राजन् ! जब दुर्वासा मुनि के शाप * से

* एक समय दुर्वासा मुनि ने मार्ग में ऐरावत के ऊपर अम्वारी में वैठकर जाते हुए इन्द्र को देखा, तव अपने कण्ठ में की माला प्रसादरूप से इन्द्र को समर्पण करी; तव ऐश्वर्य के मद से मत्तहुए उस इन्द्र ने, अनादर के साथ वह माला ऐरावत के मस्तक पर डालदी, सो मत्त ऐरावत ने उस माला को चरण से कुचलडाला, तव क्रुद्धहुए उन दुर्वासा ऋषि ने इन्द्र को शाप दिया कि-तू तीनों लोकों सहित सम्पत्ति रहित होजा ।

शापात्सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप॥ निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः १६
निशम्यैतत्सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः ॥ नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चयम्॥
॥ १७ ॥ ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्द्धनि सर्वशः ॥ सर्वं विज्ञापयांचक्रुः प्र-
णताः परमेष्ठिने ॥ १८ ॥ स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन्निःसत्त्वान्विगतप्रभान् ॥
लोकानमंगलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥ १९ ॥ समाहितेन मनसा संस्मरन्पु-
रुषं परं ॥ उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः ॥ २० ॥ अहं भवो यूय-
मथोऽसुरादयो मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः ॥ यस्यावतारांशकलाविसर्जिता व्र-
जाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥ २१ ॥ न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपे-
क्षणीयादरणीयपक्षः ॥ अथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं धत्ते रजःसत्त्वतमांसि
काले ॥ २२ ॥ अयं च तस्य स्थितिपालनक्षणः सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहि-
नाम् ॥ तस्माद्व्रजामः शरणं जगद्गुरुं स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः

इन्द्रसहित तीनों लोक लक्ष्मीरहित हुए, तब यज्ञ याग आदि कर्म नष्ट होगये, इन्द्र वरुण आदि देवताओं ने यह दशा देखकर नानाप्रकार की युक्तियों से अपने २ चित्त में विचारकरा तबभी जब उन को लक्ष्मी आदि प्राप्त होनेका कोई निश्चयपूर्वक उपाय नहीं सूझा तो वह सब मेरुपर्वत के मस्तक पर ब्रह्मा जी की सभा में गये और ब्रह्मा जी को प्रणाम करके बीता हुआ सब वृत्तान्त सुनाया ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ हे राजन्! तब उन ब्रह्मा जी ने निर्बल और निस्तेज हुए इन्द्र वायु आदि देवताओं को और अमङ्गलमय हुए लोकों को देखकर और उन से विपरीत तेज बल आदि से युक्तहुए असुरों को देखकर, एकाग्र मनसे पुरुषोत्तम भगवान्का स्मरण करतेहुए,श्रीहरिकी शरण जाने पर हमें पहिले की समान सकल सम्पत्तियें प्राप्त होंगी, ऐसा निश्चय करके प्रफुल्लितमुख हुए वह देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् ब्रह्मा जी उन देवताओं से कहने लगे कि—॥ १९ ॥ २० ॥ हे देवताओं! मैं, शिव, तुम और असुर आदि, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और स्वेदज (पसीने से उत्पन्न हुए जूँ आदि) प्राणी यह सब जिस पुरुषरूप अवतार के अंश के अंशों के (मरीचि आदिकों के) उत्पन्न करेहुए हैं उन ही अविनाशी परमात्मा की हम सब शरण जाते हैं ॥ २१ ॥ हे देवताओं! जिन को, किसी का वध, रक्षा, उपेक्षा वा आदर करने का पक्षपात नहीं है तथापि जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के निमित्त यथायोग्य समय पर क्रम से रजोगुण, सतोगुण वा तमोगुण को स्वीकार करते हैं ॥ २२ ॥ इससमय तो उन प्राणियों का पालन करने के निमित्त सतोगुण को स्वीकार करनेवाले भगवान् को मर्यादा का पालन करनाहै,इसकारण उन जगद्गुरुकी हमशरण जातेहैं सो वह देवताओंके प्रियपरमेश्वर हम जो अपने निजजन तिनका कल्याणकरेंगे।२३।

॥ २३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवैररिंदम ॥ अजि-
तस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परं ॥ २४ ॥ तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै
विभो ॥ स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेंद्रियः ॥ २५ ॥ ब्रह्मोवाच ॥ अवि-
क्रियं सत्यमनंतमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यं ॥ मनोऽग्रयानं वचसाऽनिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥ २६ ॥ विपश्चितं प्राणमनोधियात्मनामर्थेंद्रियाभास-
मनिद्रमव्रणं ॥ छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥२७॥
अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं मनोमयं पंचदशारमाशु ॥ त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टने-
मि यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥ २८ ॥ य एकवर्ण तमसः परं तदलोकमव्य-
क्तमनंतपारं ॥ आसांचकारोपसुपर्णमेनमुपासते योगरथेन धीराः ॥ २९ ॥
न यस्य कश्चातितितर्ति मायां यया जनो मुह्यति वेद नार्थं ॥ तं निर्जिता-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे शत्रुनाशक राजन् ! ब्रह्माजी इसप्रकार देवताओं से कह-
कर उन के साथ जिस क्षीरसमुद्र में श्रीहरि रहते हैं उस साक्षात् भगवान् के स्थान को
गये ॥ २४ ॥ और हे राजन् ! तहाँ पहिले सुनेहुए तथा दृष्टि न पड़नेवाले भगवान्
की प्राप्ति होने के निमित्त इन्द्रियों को स्थिर करके, लोक मे अप्रसिद्ध वेदवाणी के द्वारा
स्तुति करनेलगे ॥ २५ ॥ ब्रह्मा जी ने कहा कि—हे देव ! मन से भी अधिक वेगवान्,
वाणी के अविषय, अतर्क्य, उपाधिरहित, सर्वान्तर्यामी, अनन्त, आद्य, विकारशून्य,
सत्यस्वरूप, सब से श्रेष्ठ और सङ्कट के समय सब प्रकार रक्षक होने के कारण आश्रय
लेने योग्य आप को हम नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥ तिसी प्रकार प्राण, मन, बुद्धि और
अहङ्कार को जाननेवाले, शब्दादि विषय और इन्द्रिय इन दोनों के रूप से भासमान हो-
नेवाले,देहशून्य, स्वप्न देखनेवाले पुरुष की समान अज्ञानरहित, अक्षय, आकाश की समान
सर्वव्यापी तीनों युगों में प्रकट होनेवाले और जिनके विषैं जीवके पक्षपाती, अविद्या
और उसको दूर करनेवाली विद्या यह दोनों ही नहीं हैं ऐसे आपकी हम शरण आये हैं।२७।
हे परमेश्वर ! जिस में मन मुख्य है, जिस में दश इन्द्रियें और पञ्चप्राण यह पन्द्रह आरे
हैं, जिसकी गति शीघ्र है, जिसके मध्य में तीन गुणही नाभि हैं, जो बिजली की समान
चञ्चल है, जिसकी आठ प्रकृति हि धार की समानहैं, और जोमाया के द्वारा चलाया जाता
है ऐसा यह जीव का देहरूप चक्र जिसके आश्रय से रहता है ऐसे सत्यस्वरूप तुम प-
रमात्मा की मैं शरण आया हूँ ॥ २८ ॥ जो जीवों के समीप में नियन्तारूप से रहते हैं,
ज्ञान ही जिनका मुख्य स्वरूप है, जो प्रकृति से पर,अदृश्य, निर्विकल्प. और देश तथा
काल के परिच्छेद से रहित ब्रह्मस्वरूप हैं और जिन की उपासना विवेकीपुरुष, योगरूप
प्राप्ति के साधन से करते हैं ॥ २९ ॥ प्राणी जिससे मोहित होकर आत्मस्वरूप को नहीं
जानता है ऐसी माया का कोई भी उल्लंघन नहीं करसक्ता है, ऐसी मायारूप अपनी शक्ति

स्मात्मगुणं परेशं नमाम भूतेषु समं चरंतं ॥ ३० ॥ इमे वयं यत्प्रियययैव त-
न्वा सत्त्वेन सृष्टा बहिरंतराविः ॥ गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे कुतोऽसु-
राद्या इतरप्रधानाः ॥ ३१ ॥ पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि
भूतसर्गः ॥ स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥
अंभस्तु यद्रेत उदारवीर्यं सिद्ध्यंति जीवंत्युत वर्धमानाः ॥ लोकास्त्रयोऽथा-
खिललोकपालाः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३३ ॥ सोमं मनो यस्य स-
मामनंति दिवौकसां वै बलमंध आयुः ॥ ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां प्रसी-
दतां नः स महाविभूतिः ॥ ३४ ॥ अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रि-
याकाण्डनिमित्तजन्मा ॥ अन्तःसमुद्रेऽनुपचन्स्वधातून्प्रसीदतां नः स महावि-
भूतिः ॥ ३५ ॥ यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ॥

और उस के गुणोंको जिन्हों ने सर्वथा जीत लिया है और जो सकल प्राणियों में एक समान है, उन परमेश्वर को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३० ॥ जिन में रजोगुण और तमोगुण मुख्य है ऐसे असुरों की तो बात ही क्या, किन्तु उनके प्रियशरीर सत्व गुण से उत्पन्न हुए हम देवता और ऋषिभी, सत्ता और प्रकाश के द्वारा, भीतर और बाहर प्रकट भी जिनके निरुपाधिक स्वरूप को नहीं जानते हैं उनको हम नमस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥ जरायुज (झिल्ली में लिपटकर उत्पन्न हुए मनुष्य आदि), अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न हुए कबूतर आदि), स्वेदज (पसीने से उत्पन्न हुए जूं आदि) और उद्भिज्ज (फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष आदि) ऐसी चार प्रकार की प्राणियों की सृष्टि से युक्त उनकी ही उत्पन्न करीहुई यह पृथ्वी, जिनके चरणस्थान में है. और जो अचिन्त्य ऐश्वर्ययुक्त हैं वह ब्रह्म स्वतन्त्र भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३२ ॥ तथा जिस से तीनों लोक और सकल लोकपाल उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और वृद्धि पाते हैं वह महाशक्तियुक्त जल जिनका वीर्य है वह अचिन्तनीय ऐश्वर्य युक्त होने के कारण ब्रह्मस्वरूप परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥ जिसको देवताओं का अन्न, बल तथा आयु कहते हैं और जो प्रजाओं की वृद्धि करनेवाले और वृक्षों का स्वामी है वह चन्द्रमा जिनका मन है वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥ यज्ञ आदि कर्मों का अनुष्ठान करने के निमित्त जिनकी उत्पत्ति हुई है, जो पेट में पकने योग्य अन्न आदि को पकाता हुआ समुद्र में भी बड़वानलरूप से जल को सुखाता है और जिससे द्रव्य उत्पन्न हुए हैं वह अग्नि जिनका मुख हुआ है ऐसे अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥ तैसेही तीनों वेदों के स्वरूप, ब्रह्माजी के उपासनास्थान अर्चिरादि मार्गों के

द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३६॥ प्राणाद्भूद्य-
स्य चराचराणां प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ॥ अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३७ ॥ श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि प्रजज्ञि-
रे खं पुरुषस्य नाभ्याः ॥ प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं प्रसीदतां नः स महाविभू-
तिः ॥ ३८ ॥ बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादान्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिंचः ॥ खे-
भ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३९ ॥ श्री-
र्वक्षसः पितरश्छाययासन्धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ॥ द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽ-
प्सरसो विहारात्प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४० ॥ विप्रो मुखं ब्रह्म च
यस्य गुह्यं राजन्य आसीद्भुजयोर्बलं च ॥ ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ प्र-
सीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥ लोभोऽधरात्प्रीतिरुपर्यभूत् द्युतिर्नस्तः

अधिष्ठात्री देवता, मुक्ति के द्वार अमृतस्वरूप और कालात्मा होने के कारण मृत्युरूप यह सूर्य जिनकी दृष्टि हैं वह अचिन्त्य-ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ।३६। तथा जो चर अचर प्राणियों की मानसिक शक्ति, शरीर का बल और इन्द्रियों की शक्ति रूप धर्मों से युक्त है तथा जैसे सार्वभौम राजा के सेवक उस के अनुकूल रहते हैं तैसे ही हम जिस के अनुकूल हैं ऐसा यह प्राणरूप वायु जिन के प्राण से उत्पन्न हुआ है वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥ तथा जिन की श्रवण इन्द्रिय से दिशा उत्पन्न हुईं, जिन के हृदय से शरीर में के छिद्र उत्पन्न हुए और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण, इन्द्रियें, मन और शरीर का आश्रयभूत आकाश जिन पुरुष की नाभि से उत्पन्न हुआ है वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्नहों ॥ ३८ ॥ तथा जिन के बल से महेन्द्र, प्रसाद से सकल देवता, क्रोध से रुद्र, बुद्धि से ब्रह्मा, देह के छिद्रों से छन्द तथा ऋषि और शिश्न से प्रजापति उत्पन्न हुए हैं वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३९ ॥ तथा जिन के वक्षःस्थल से महालक्ष्मी छायासे पितर, स्तनों से धर्म, पीठ से अधर्म, मस्तक से स्वर्ग और क्रीड़ा से अप्सरा उत्पन्न हुई हैं वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्नहों ॥ ४० ॥ तथा जिनके मुख से ब्राह्मण और इन्द्रियों से समझ में न आनेवाले अर्थ का ज्ञान करानेवाला वेद; भुजाओं से क्षत्रिय और प्रजाओं का पालन करने की सामर्थ्य; जंघाओं से वैश्य और उन की वृत्ति (व्यापार की चतुराई) और चरणों से वेद के सिवाय सेवावृत्ति और उस से आजीविका करने वाले शूद्र उत्पन्न हुए हैं वह अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् परमात्मा हमारे ऊपर प्रसन्नहों ॥ ४१ ॥ तथा जिन के नीचे के

सर्वांगैरवनिं गतैः ॥ ७ ॥ ब्रह्मोवाच ॥ अजातजन्मस्थितिसंयमायागुणाय नि-
र्वाणसुखार्णवाय ॥ अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते
॥ ८ ॥ रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यं श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ॥ योगेन धातः सह
नस्त्रिलोकान्पश्याम्यमुष्मिन्नु ह ते विश्वमूर्तौ ॥ ९ ॥ त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य
आसीत्त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ॥ त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य
मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ १० ॥ त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं
तदनु प्रविष्टः ॥ पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः
॥ ११ ॥ यथाऽग्निमेधस्यमृतं च गोषु भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ॥ योगैर्म-
नुष्या अधियन्ति हि त्वां गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥ १२ ॥ तं त्वां
वयं नाथ समुज्जिहानं सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थं ॥ दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य

स्कार करने वाले सकल देवताओं के साथ वह ब्रह्माजी स्तुति करने लगे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ब्रह्माजी ने कहाकि–हेप्रभो ! निर्गुण, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयशून्य, अपार मोक्षसुख के समुद्र,परमाणुसे भी सूक्ष्म,अचिन्तनीय प्रभावयुक्त और जिनके स्वरूपका ओर छोर नहीं ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ८ ॥ हे पुरुष श्रेष्ठ विधातः ! तुम्हारा यह स्वरूप ही, वेद और तन्त्रों में कहे हुए उपायों के द्वारा, कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुषों के सदा पूजने योग्य है; अहो वास्तव में विश्वमूर्त्ति आप के स्वरूप में,हम सकल देवताओं सहित तीन लोकोंको मैं देखता हूँ इसकारण यह आपका स्वरूप अपरिछिन्न है ॥ ९ ॥ हे प-रमेश्वर ! जैसे मृत्तिका घड़े का आदि, अन्त और मध्य होती है तैसे ही तुम भी इस ज-गत् के आदि, अन्त और मध्य हो, और प्रकृति से पर हो इसकारण यह जगत् सृष्टि से पहले स्वतन्त्र आप के विषैं था, सृष्टि के समय में तुम्हारे विषैं ही है और सृष्टि के अन्त में भी तुम्हारे विषैं ही लय पावेगा ॥ १० ॥ हे देव ! तुम अपने वश में रहने वाली अ-पनी माया के द्वारा इस विश्व को रचकर तदनन्तर इस में ही प्रविष्ट हुए हो, इसकारण गुणों का परिणाम होने के समय भी सावधानचित्त,शास्त्र को जानने वाले विवेकी पुरुष नि-र्गुण आप को मन से देखते हैं ॥११॥ जैसे मनुष्य,काठमेंके अग्नि, गौ में के घृत, भूमि में के अन्न और जल तथा उद्योगमें की जीविकाको क्रमसे मथकर,दुहकर,हल जोतकर,खादे कर और व्यापार करके इत्यादि उपायों के द्वारा प्राप्त करलेते हैं तैसे ही गुणों के विषैं विद्यमान आपको बुद्धि के द्वारा विवेकी पुरुष प्राप्तकरलेते हैं और आप से सम्भाषण आदि करते हैं ॥ १२ ॥ तिस से हे प्रभो, पद्म नाभ ! जैसे वन की दौं से पीड़ित हुए हाथी गङ्गाजल को पाकर सुखी होते हैं तैसे ही बहुत काल पर्यन्त मन में रहने वाले, इससमय प्रकट हुए परमपुरुषार्थरूप आपका प्रत्यक्ष दर्शन करके आज हम सबों को परम आनन्द

सर्वे गजा दवार्ता इवं गाङ्गमंभः ॥ १३ ॥ स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ॥ समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्किंचान्यविज्ञाप्य
मशेषसाक्षिणः ॥ १४ ॥ अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये दक्षादयोऽग्नेरिव केतव-
स्ते ॥ किंवा विदामेश पृथग्विभाता विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥१५॥
श्रीशुक उवाच ॥ एवं विरिंचादिभिरीडितस्तद्विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव ॥ ज-
गाद जीमूतगभीरया गिरा बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान् ॥ १६ ॥ एक एवे-
श्वरस्तस्मिन्सुरकार्ये सुरेश्वरः ॥ विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः ॥ १७ ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ हन्त ब्रह्मन्नहो शंभो हे देवा मम भाषितम् ॥ शृणुतावहिताः
सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः ॥ १८ ॥ यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिं-
र्विधीयताम् ॥ कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद्वो भव आत्मनः ॥ १९ ॥ अरयोऽपि
हि संधेयाः सति कार्यार्थगौरवे ॥ अहिमूषकवद्देवा अर्थस्य पदवीं गतैः ॥ २० ॥

प्राप्त हुआहै॥१३॥हेबहिरन्तरात्मन्! हम सब लोकपाल जिस निमित्त तुम्हारे चरणों के समीप आयेहैं उस कार्यको तुम करो,क्योंकि अन्तर्यामी रूपसे सबके साक्षी रहनेवाले आप को दूसरों के समझाने योग्य बाहर की कौनसी वस्तु है ? ॥१४॥ हेईश्वर ! मैं, महादेव, अन्य देवता तथा दक्ष आदि प्रजापति यह सब, अग्नि से उत्पन्न हुए चिनगारियों की समान तुम से पृथक् प्रतीत होने के कारण क्या अपने सुख के साधन को जानते हैं ? इस कारण तुम ब्राह्मणों के और देवताओं के सुख का उपाय (कि–अमुक कार्य करो, सो–) हम से कहो ॥ १५ ॥श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हेराजन् ! इसप्रकार ब्रह्मादिकों ने जिन की स्तुति करी हैं ऐसे वह भगवान्, जैसा उन का अभिप्राय था उस को तैसे ही जानकर, सकल इन्द्रियों को वश में करके, अपने आगे हाथ जोड़े खड़े हुए उन देवताओं के प्रति मेघसमान गम्भीर वाणी से कहने लगे ॥ १६ ॥ शुकदेवजी कहते हैं कि–हेराजन् ! देवताओं के अधिपति भगवान् यद्यपि उस देवकार्य को इकले ही कर सक्ते थे तथापि वह आपही समुद्रमन्थन आदि के द्वारा क्रीड़ा करने की इच्छा करते हुए उन से कहने लगे ॥ १७ ॥ श्रीभगवान् बोले कि–हेब्रह्मन ! हे शम्भो ! हे देवताओं ! हेगन्धर्वादिकों ! तुम सब मन को एकाग्र करके मेरे कथनको सुनो तब तुम्हारा उत्तम प्रकार से कल्याण होगा ॥ १८ ॥हे देवताओं ! तुम पहिले दैत्यदानवों के समीप जाओ, और तुम्हारी अपनी जबतक वृद्धि होय तबतक, जिन के समय अनुकूल है ऐसे उन दैत्यदानवों के साथ मित्रता करो ॥ १९ ॥ क्योंकि–हे देवताओं ! कोई बड़ाभारी कार्य करना हो तो उस के सिद्ध करने के निमित्त शत्रुओं के साथ भी मित्रता

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलंबितम् ॥ यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥२१॥ क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः ॥ मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥ २२ ॥ सहायेन मया देवा निर्मथध्वमतन्द्रिताः ॥ क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥ २३ ॥ यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः ॥ न संरम्भेण सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा ॥२४॥ न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसंभवात् ॥ लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु ॥२५॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति देवान्समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ तेषामन्तर्दधे राजन् स्वच्छंदगतिरीश्वरः ॥२६॥ अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः ॥ भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः ॥२७॥ दृष्ट्वाऽरीनप्यसंयत्तान् जातक्षोभान् स्वनायकान् ॥ न्यषेधद्दैत्यराट् श्लोक्यः संधिविग्रहकालवित् ॥२८॥ ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपैः ॥ श्रियो परमया जुष्टं जितशेषमुपा-

करलेना चाहिये, सो तुम ऐसा करो और अपना कार्य होनेपर तुम सर्प मूषक × की समान बध्यघातकभाव से वर्त्ताव करना ॥ २० ॥ मित्रता करने के अनन्तर, जिस को पीनेपर मृत्यु का ग्रसा हुआ प्राणी अमर होजाता है ऐसे अमृत को उत्पन्न करने के निमित्त तुम उन के साथ शीघ्र ही यत्न करो ॥ २१ ॥ हे देवताओं ! पहिले क्षीरसागर में बेले, तृण और लताओं को डालकर मन्दर पर्वत की मथानी (रई) बनाकर और वासुकि की रस्सी बनाकर मेरी सहायता से तुम निरालस्य होकर मथो, ऐसे होने पर दैत्य केवल क्लेश के ही भागी होंगे और तुम फल पाओगे ॥ २२ ॥ २३ ॥ हे देवताओं ! असुर जो कुछ इच्छा करें उस को तुम स्वीकार करलेना, क्योंकि—शान्ति के साथ जैसे कार्य सिद्ध होते हैं वैसे क्रोध में भरकर नहीं होसक्ते हैं ॥ २४ ॥ और समुद्र में से उत्पन्न हुए कालकूट से तुम भय न करना, और भी मथने से जो वस्तुएं उत्पन्नहों उन के विषय में तुम काम, क्रोध वा लोभ कदापि न करना ॥२५॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार देवताओं से कहकर अपनी इच्छा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले श्रीभगवान् पुरुषोत्तम ईश्वर उनके सामनेही अन्तर्धान होगये ॥ २६ ॥ तदनन्तर उन भगवान् को नमस्कार करके ब्रह्माजी और रुद्र यह दोनों अपने अपने स्थान को चलेगये ॥२७॥ तब, सन्धि करने का कौन समय है और विग्रह करने का कौन समय है इस को ठीक २ जाननेवाले इसकारण ही प्रशंसा करने योग्य दैत्यराज बलि ने भी, देवताओं के युद्ध करने में उद्योगी न देखकर, युद्ध के निमित्त क्षोभ में भरे अपने सेनापतियों को निषेध करदिया ॥ २८ ॥ तदनन्तर वह देवता, सबों

× जैसे पिटारी में बन्द हुआ सर्प बाहर निकलने को द्वार करलेने के निमित्त पहिले चूहे के साथ मेल करता है, और बाहर निकालने पर उस चूहे को ही भक्षण करलेता है तिस प्रकार ।

गमन् ॥२९॥ महेंद्रः श्लक्ष्णया वाचा सांत्वयित्वा महामतिः ॥ अभ्यभाषत तं-
त्सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात् ॥ ३० ॥ तदरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधि-
पाः ॥ शंबरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः ॥ ३१ ॥ ततो देवासुराः
कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः ॥ उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परंतप ॥ ३२ ॥ ततस्ते
मंदरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ॥ नदंत उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः ॥
॥ ३३ ॥ दूरभारोद्वहश्रांताः शक्रवैरोचनादयः ॥ अपारयंतस्तं वोढुं विवशा
विजहुः पथि ॥ ३४ ॥ निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् ॥ चूर्णयामास
महता भारेण कनकाचलः ॥ ३५ ॥ तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकंधरान् ॥
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥ ३६ ॥ गिरिपातविनिष्पिष्टान् विलो-
क्यामरदानवान् ॥ ईक्षया जीवयामास निर्जरान्निर्व्रणान् यथा ॥ ३७ ॥ गिरिं
चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया ॥ आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ३८

को जीतने वाले, परम सम्पत्तियों से युक्त और असुरसेनापतियों से उत्तमप्रकार रक्षा करे हुए सिंहासन पर विराजमान उस विरोचन के पुत्र राजा बलि के समीप गये ॥ २९ ॥ तदनन्तर परम बुद्धिमान् इन्द्र ने, मधुर वाणी से उनको समझाकर पुरुषोत्तम भगवान् का कहाहुआ अमृतमन्थन आदि सकल वृत्तान्त कह सुनाया ॥३०॥ तब वह इन्द्रका कहाहुआ वृत्तान्त राजा बलि को और तहाँ बैठे हुए पौलोम, काल केय, शम्बरासुर और अरिष्टनेमि आदि दैत्यपति थे उन को और जो त्रिपुरवासी थे उन को भी उत्तम प्रतीत हुआ ।३१। तदनन्तर हे शत्रुतापन राजन्! देवता और असुरों ने परस्पर के कहने को स्वीकार करके आपस में मित्रता करली और अमृत पाने के निमित्त बड़े भारी उद्योग का प्रारम्भ करा ॥ ३२ ॥ तब परिघकी समान भुजा वाले, शक्तिमान् होने के कारण दुर्मद उन दैत्यों ने मन्दराचल को बलात्कार से उखाड़लिया और गर्जना करते हुए उस को समुद्र के समीप लेजाने लगे ॥ ३३ ॥ तब लेजाते में इन्द्रादिक देवता और बल आदिक दैत्य यह सब दूरतक उस पर्वत का भार उठाने के कारण थककर अत्यन्त विवश हो गये और आगे को लेजाने मे असमर्थ होकर उन्हों ने मार्ग में ही उस पर्वत को छोड़ दिया॥३४॥तहाँ गिरते २ उस कनकाचलने अपने बड़े भारीपन से बहुतसे देवता और दैत्यों का चूरा कर डाला ॥ ३५ ॥ इतने हीमें जिनकी बाहु, जंघा और भुजा टूट गई हैं और जिनके मन का उत्साह नष्ट होगया है, ऐसा उन देव दैत्यों को जान कर तहाँ साक्षात् गरुड़ध्वज भगवान् प्रकट हुए ॥ ३६ ॥ और पर्वतके गिरने से अत्यन्त चूर्ण हुए देव दैत्यों को देखकर उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे उनको जीवित करा और पहिलेकी समान शक्तियुक्त तथा व्रण(घाव) रहितकरा॥३७॥ तदनन्तर उन्होंने लीला में एक हाथ से ही उस पर्वत को उठाकर गरुड़जी के ऊपर रक्खा और आप भी उसके

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात्सुपर्णः पततां वरः ॥ ययौ जलांत उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥ ३९ ॥ इतिश्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे अमृतमथने मंदराचलानयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ ते नागराजमामंत्र्य फलभागेन वासुकिं ॥ परिवीय गिरौ तस्मिन्नेत्रमब्धिं मुदाऽन्विताः ॥ १ ॥ आरेभिरे सुसंयत्ता अमृतार्थं कुरूद्वह ॥ हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥ २ ॥ तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ॥ न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरंगममंगलम् ॥ ३ ॥ स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः ॥ इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान्विलोक्य पुरुषोत्तमः ॥ स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥ ४ ॥ कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः ॥ ममंथुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥ ५ ॥ मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपो विशत् ॥ ध्रियमाणोपि बलिभिर्गौरवात्पांडुनंदन ॥ ६ ॥ ते सुनि-

ऊपर चढ़कर देवदैत्यों के साथ समुद्र के समीप गमन करा ॥ ३८ ॥ तब पक्षियों में श्रेष्ठ जो गरुड़ जी उन्होंने, उस पर्वत को अपने कन्धेपर से नीचे उतारकर समुद्र के जल में रखदिया और श्रीहरि के जाने को * आज्ञा देने पर वह गरुड़जी तहाँ से चलेगये ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवत् के अष्टमस्कन्ध में षष्ठअध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हेराजन् ! तदनन्तर उन देवदैत्यों ने नाग राज वासुकि 'तुम्हें भी कुछ अमृत का भाग मिलेगा ' ऐसा कहकर, उनके शरीररूप रज्जु को उस पर्वतके चारों ओर लपेटकर अमृत की प्राप्ति के निमित्त यत्न के साथ बड़े हर्ष से समुद्र को मथने का प्रारम्भ करा, उस समय वासुकि को विष उगलनेवाला अतितीखा मुख, दैत्यों से पकड़वाने के निमित्त ही श्रीहरिने पहिले उस मुखको पकड़ा तब देवतामी उस मुखकी ओर ही लगे ॥ १ ॥ २ ॥ यह महापुरुष भगवान् का कार्य दैत्याधिपतियोंको अच्छानहीं प्रतीतहुआ इसकारण वह कहनेलगे कि-वेद शास्त्रोंको पढ़ेहुए और जन्म कर्मोंसे प्रसिद्ध हम, सर्पके पूँछरूप इस अमङ्गल अंगको नहीं ग्रहण करेंगे, ऐसा कहकर स्वस्थ बैठेहुए उन दैत्योंको देखकर पुरुषोत्तम भगवान् ने, हँसते२ उस मुखको छोड़कर देवताओं के साथ पूँछको पकड़ लिया इसप्रकार रज्जु के पकड़ने का स्थान बाँटकर वह कश्यप जी के पुत्र देवता और दैत्य, बड़े प्रयत्न से अमृत के निमित्त क्षीर समुद्र को मथनेलगे ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! जब क्षीरसागर मथाजाने लगा तब महाबली देवता और दैत्य, उस पर्वत को सम्हालकर धारण करते थे तथापि वह नीचे कुछ आधार न होने के कारण जल में डूबगया इसप्रकार परमबली दैवयोग से स-

* यदि यहाँ गरुड़ रहेंगे तो वासुकि सर्प नहीं आवेगा इसकारण भगवान् ने गरुड़ जी को तहाँ से चले जाने की आज्ञा दी ॥

विषण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः ॥ आसन्स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिवलीयसा ॥ ॥ ७ ॥ विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसंधिः ॥ कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ८ ॥ तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः समुत्थिता निर्मथितुं सुरासुराः ॥ दधार पृष्ठेन स लक्षयोजनप्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥ सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ॥ विभ्रत्तदावर्तनमादिकच्छपो मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥ १० ॥ तथाऽसुरानाविशदासुरेण रूपेण तेषां वलवीर्यमीरयन् ॥ उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णुर्दैवेन नागेन्द्रमवोधरूपतः ॥ ११ ॥ उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य आक्रम्य हस्तेन सहस्रवाहुः ॥ तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यैरभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥ १२ ॥ उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः परेण ते प्राविशता

मुद्रमन्थनरूप अपने पराक्रम को व्यर्थ हुआ जानकर वह देवता और दैत्य, मन में अत्यन्त खिन्नहुए और उनके मुख की कान्तिमलिन होगई ॥ ६ ॥ ७ ॥ उस समय जिन के पराक्रम का अन्तपाना कठिन है और जिनका सङ्कल्प कमी असत्य नहीं होता है ऐसे ईश्वर ने, विघ्नराज के करेहुए उस विघ्न को देख कर परम अद्भुत कूर्मरूप धारण करा और जलमें घुसेहुए मन्द्राचल को ऊपर को उभारा॥८॥हे पाण्डुनन्दन राजन् ! उस समय इधर फिर ऊपरको आयेहुये उस पर्वतको देखकर देवता और दैत्य फिर उस समुद्र के मथने को उठे; इधर मानों दूसराजम्बु द्वीपही है ऐसा बड़ा शरीर धारण करनेवाले कूर्मरूप श्री हरिने लाख योजन चौड़ी—अपनी पीठपर उस पर्वत को धारण करा ॥ ९ ॥ हे राजन ! तवदेव दैत्यों ने, अपने वाहुवल से कँपाये हुए और चारों ओर को घूमने वाले उस पर्वतको पीठपर धारण करने वाले,अपरिमित वलशक्ति युक्त उन कूर्मरूप भगवान् ने, उस पर्वतके घूमनेको अपने शरीर का खुजलानामाना॥१०॥इसप्रकार कूर्मरूप से विद्यमान भी वह विष्णुभगवान् मन्थन करते करते उनदेव दैत्योंको वड़ा परिश्रम होनेके कारण, उस पर्वत को घुमाने के कार्य को ठीक ठीक न देखकर असुरों में असुर कार रूपसे, देवताओं में देवाकार रूप से और नागराज में निद्रारूप से, उन के वल वीर्य को उत्तेजना देते देते प्रवेश करा ॥ ११ ॥ और उस पर्वत का मस्तक हिलने के कारण उस के ऊपर महापर्वत की समान दूसरा सहस्र भुजावाला शरीर धारण करके और एक हाथ से उस पर्वत को पकड़कर जब भगवान् स्थित हुए तव उन की स्तुति करनेवाले स्वर्गवासी देवताओं ने उन के ऊपर पुष्पों की वर्षा करी ॥ १२ ॥ इसप्रकार उस पर्वत के ऊपर सहस्र भुजावाले रूप से, नीचे कूर्मरूप से, देवदैत्यों के शरीरों में देवदैत्यरूप से, पर्वत में दृढरूप से और सर्परूप रज्जु में अमेद्य और अवोधरूप से प्रविष्ट हुए परमात्मा

समेधिताः ॥ ममंथुरब्धिं तरसा मदोत्कटा महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम् ॥१३॥
अहींद्रसाहस्रकठोरदृङ्मुखश्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः ॥ पौलोमकालेयबली-
ल्वलादयो दवाग्निदग्धाः सरला इवाभवन् ॥१४॥ देवांश्च तच्छ्वासशिखाहत-
प्रभान् धूम्रांबरस्रग्वरकंचुकाननान् ॥ समभ्यवर्षन् भगवद्वशा घना ववुः समु-
द्रोर्म्युपगूढवायवः ॥ १५ ॥ मथ्यमाने तथा सिंधौ देवासुरवरूथपैः । यदा सुधा
न जायेत निर्ममंथाजितः स्वयम् ॥ १६ ॥ मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णवि-
द्योतविद्युन्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः॥ जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभय-
दैर्दंदशूकं गृहीत्वा मथ्नन्मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः ॥ १७ ॥
निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ॥ संभ्रान्तमीनोन्मकरा-
हिकच्छपात्तिमिद्विपग्राहतिमिंगिलाकुलात् ॥१८॥ तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यवीर्यम् ॥ भीताः प्रजा दुद्रुवुरंग सेश्वरा अरक्ष्यमाणाः शरणं

के द्वारा, बल आदि की वृद्धि से युक्त और मदोन्मत्त हुए देवता और दैत्य, बडेभारी पर्वत से जिस में के नाकों के समूह को क्षोभ प्राप्त हुआ है ऐसे उस समुद्र को बडे वेग के साथ मथने लगे ॥ १३ ॥ उस समय तिस सर्पराज वासुकि के अपरिमित और कठोर, नेत्र, मुख तथा श्वासों से निकले हुए अग्नि और धुएं से जिन का तेज नष्ट होगया है ऐसे वह पौलोम, कालेय, बलि और इल्वल आदि असुर बन की दौं से भस्म हुए सरल के बृक्षकी समान दीखने लगे ॥१४॥ तथा उस वासुकि के श्वास की लपटों से निस्तेज होने के कारण धुमैले हुए हैं वस्त्र,माला उत्तम कवच और मुख जिन के ऐसे देवताओं के ऊपर मेघवान् अधीन रहने वाले मेघ वर्षा करने लगे और समुद्र की तरङ्गों से स्पर्श करेहुए गीले वायु चलने लगे ॥१५॥ इसप्रकार देव दैत्यों के अधिपतियों करके मथे हुए उस समुद्र में से जब अमृत उत्पन्न नहीं हुआ तब अजित भगवान् आप ही मथने लगे ॥ १६ ॥ हे राजन् ! उस समय मेघ की समान श्यामवर्ण, जिन्होंने पीला पीताम्बर पहिना है, जिन के कानों में कुण्डल रूप बिजली चमकरही है,जिनके मस्तक पर देदीप्यमान केश चञ्चल होरहे हैं,जिन्होंने वनमाला धारण करी है जिन के नेत्र लाल२ हैं और जिन्हों ने पर्वत को धारण करा है ऐसे वह भगवान्, अपनी जयशील भुजाओं के द्वारा सर्परूप रज्जु को ग्रहण करके पर्वतरूप मथनी से मथने लगे, उस समय दूसरे पर्वत की समान शोभित हुए॥ १७ ॥ इस प्रकार मथे हुए तिमि नामक मत्स्य, गज, नाके और तिमिङ्गिलों से (बड़े २मत्स्यों से) और जिस में मच्छियें खलबलागई हैं और मकर, सर्प तथा कछुए ऊपर को आगये हैं ऐसे उस क्षीरसागर से पहिले अत्यन्त दुःसह हलाहल नामवाला विष उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥ जिस भयङ्कर वेग वाले के सामने कोई भी उपाय नहीं चलता है हरएक दिशा २ में ऊपर को

सदाशिवम् ॥ १९ ॥ विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या भवाय देव्याऽभिमतं
मुनीनां ॥ आसीनमद्रावपवर्गहेतोस्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥ २० ॥ प-
जापतय ऊचुः ॥ देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन ॥ त्राहि नः शरणाप-
न्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ॥ २१ ॥ त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ॥
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥ २२ ॥ गुणमय्या स्वशक्त्याऽस्य
सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ॥ धत्से यदा स्वदृग्भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधां ॥ २३ ॥
त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः ॥ नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जग-
दीश्वरः ॥ २४ ॥ त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ॥
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्मस्त्वय्यक्षरं यत्त्रिवृदामनन्ति ॥ २५ ॥ अग्निर्मुखं
तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ कालं गतिं तेऽखिलदे-

उछलनेवाले और नीचेको गिरनेवाले उस असह्य विषको देखकर हे राजन्! भयभीत हुए पालन करनेवालों सहित सकल प्रजा, दूसरे किसी से रक्षा नहीं होयगी ऐसा विचारकर सदाशिव की शरण में गई॥१९॥ त्रिलोकी के कल्याण के निमित्त भवानी देवी के साथ कैलाश पर्वत पर बैठे हुए, मुनियों के माननीय और मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होने के निमित्त तपस्या करनेवाले उन देवताओं में श्रेष्ठ महादेवजी को देखकर वह नमस्कार करके स्तुति करने लगे।२०।प्रजापतिने कहा कि हे देवाधिदेव! हे महादेव! हे जगदात्मन्! हे भूतपालक! तुम हम शरणागतों की त्रिलोकी को भस्म करनेवाले इस विष से रक्षा करो ॥ २१ ॥ हे परमात्मन् सकल जगत् के प्राणियों के बन्धन और मोक्ष के अधिपति एक तुमही हो, इस कारण शरणागतों का दुःख दूर करनेवाले, जगद्गुरु, आपका, विवेकी पुरुष पूजन करते हैं ॥ २२ ॥ हे विभो! हे सर्वव्यापक! इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने की जब तुम्हें इच्छा होती है तब स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् तुम ही, अपनी गुणमयी शक्ति के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम को धारण करते हो ॥ २३ ॥ क्योंकि—अत्यन्त गुह्य जो ब्रह्म सो तुम ही हो, और देव तिर्यक् आदि प्राणियों के उत्पन्न करनेवाले भी तुम ही हो, नानाप्रकार की शक्तियों के द्वारा जगत् रूप से प्रतीत होनेवाले और जगत् के चलानेवाले भी तुम ही हो ॥ २४ ॥ हे प्रभो! तुम वेद के कारण हो, अतः स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् हो, तथा तुम महत्तत्त्वरूप हो और प्राण, इन्द्रियें तथा पृथिवी आदि द्रव्य, इन के कारणभूत गुणों करके युक्त तीनप्रकार के अहङ्कार, स्वभाव, काल तथा सङ्कल्परूप हो, और सत्य तथा ऋत यह दोप्रकारके धर्म भी तुम ही हो, क्योंकि-त्रिगुणात्मक माया तुम्हारे ही आश्रय से रहती है ऐसा वेदवेत्ताओं का कथन है ॥ २५ ॥ तैसे ही हे विश्व को उत्पन्न करने वाले सकल देवमय अग्नि तुम्हारा मुख, भूमि तुम्हारे चरणकमल, काल सकल देवतारूप

वतात्मनो दिशश्च कर्णौ रसने जलेशम् ॥ २६ ॥ नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभ-
स्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ॥ परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो
द्यौर्भगवन् शिरस्ते ॥ २७ ॥ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघा रोमाणि
सर्वौषधिवीरुधस्ते ॥ छन्दांसि साक्षात्तव सप्त धातवस्त्रयीमयात्मन् हृदयं स-
र्वधर्मः ॥ २८ ॥ मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ॥ यत्त-
च्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥ २९ ॥ छाया
त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो नेत्रत्रयं सत्वरजस्तमांसि ॥ सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्त-
वेक्षा छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥ ३० ॥ न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिंचवैकुंठसुरेंद्रगम्यम् ॥ ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च सत्त्वं न यद्ब्रह्म नि-
रस्तभेदं ॥ ३१ ॥ कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेकभूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न
तत्ते ॥ यस्त्वंतकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्रवह्निस्फुलिंगशिखया भसितं न वेद

तुम्हारा गमन, दिशा तुम्हारे कर्ण और वरुण तुम्हारी रसना इन्द्रिय है ऐसा कहते हैं ॥ २६ ॥ तथा हे भगवन्! आकाश तुम्हारी नाभि, वायु तुम्हारा श्वास, सूर्य तुम्हारा नेत्र, जल तुम्हारा वीर्य, उत्तम अधम जीवों का आश्रय तुम्हारा अहङ्कार, चन्द्रमा तुम्हारा मन और स्वर्ग तुम्हारा शिर है ॥ २७ ॥ हे तीन वेदरूप परमात्मन्! यह सात समुद्र तुम्हारी कोख, पर्वत तुम्हारी अस्थियों के समूह, सकल औषधि और लता तुम्हारे रोम, गायत्री आदि छन्द साक्षात् तुम्हारी सात धातु, और सब प्रकार का धर्म तुम्हारा हृदय है ॥ २८ ॥ तथा हे ईश्वर! तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान, यह उपनिषद्रूप पांच मन्त्र तुम्हारे पांच मुख हैं, उन पांच मंत्रों के द्वारा पदच्छेदरूप से ३८ मन्त्रोंका समूह होताहै; हे देव! जो शिव नामक स्वयंप्रकाश परमार्थतत्त्वहै वह तुम्हारी उपराम को प्राप्त हुई अवस्था है ॥ २९ ॥ हे देव! अधर्म की दम्भ लोभ आदिरूप जो लहरें सो तुम्हारी छाया है और जिन से नानाप्रकार की सृष्टि होती है ऐसे सत्व, रज और तम यह गुण तुम्हारे तीन नेत्र हैं और गायत्री आदि छन्दरूप सनातन वेद तुम्हारा सकल शास्त्रों को प्रवृत्त करनेवाला अवलोकन है ॥ ३० ॥ हे शङ्कर! जहाँ रज, तम और सत्त्व यह तीनों गुण नाममात्र भी नहीं है ऐसा तुम्हारा भेदशून्य और परं ज्योतिरूप ब्रह्मस्वरूप है; उसको सकल लोकपाल, ब्रह्मा, विष्णु और देवेन्द्र भी नहीं जान सक्ते हैं ॥ ३१ ॥ हे शङ्कर! कामदेव, दक्ष का यज्ञ, त्रिपुरासुर और कालकूट विष आदि अनेकों प्रकार के प्राणियों से द्रोह करनेवालों का नाश करनेवाले तुम्हारा वह कर्म अतिअल्प (थोड़ा) होने के कारण तुम्हारी स्तुति करने के योग्य नहीं है; क्योंकि- तुम संहार के समय अपने उत्पन्न करे हुए इस विश्व के, अपने नेत्रों में

॥ ३२ ॥ ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिंतितांघ्रिद्वन्द्वं चरंतमुमया तपसाभितप्तम् ॥
कत्थंत उग्रपरुषं निरतं श्मशाने ते नूनमूतिमविदं-स्तव हातलज्जाः ॥ ३३ ॥
तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य नांजः स्वरूपगमने प्रभवंति भूम्नः ॥
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रं ॥३४॥
एतत्परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ॥ मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्य-
क्तकर्मणः ॥ ३५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपी-
डितः ॥ सर्वभूतसुहृद्देव इदमाह सतीं प्रियां ॥ ३६ ॥ शिव उवाच ॥ अहो
वत भवान्येतत्प्रजानां पश्य वैशसम् ॥ क्षीरोदमंथनोद्भूतात्कालकूटादुपस्थितं ॥

से उत्पन्न हुए अग्नि के कणों की ज्वाला से भस्म होने पर उसकी ओर को देखते भी नहीं हो ॥ ३२ ॥ हे ईश्वर ! जगत् को हित का उपदेश करनेवाले और अपने स्वरूप में रमण करनेवाले पुरुष, जिन तुम्हारे दोनों चरणों का निरन्तर ध्यान करते हैं और जो तुम ऋषियों के सम्प्रदाय को चलाने के निमित्त तप करते हो, सो तुम उमादेवी के विषैं अत्यन्त आसक्त होकर उन के साथ विहार करते हो इसप्रकार जो तुम्हारी निन्दा करते हैं और तुम श्मशान में विचरनेवाले, क्रूर और हिंसा करनेवाले हो इसप्रकार जो निन्दा करते हैं निःसन्देह वह तुम्हारी लीला को नहीं जानते हैं; क्योंकि–आत्मा में रमण करने वाले योगियों ने जिन के चरणकमल का सेवन करा है ऐसे आप कामी कैसे होसक्ते हैं ? और तपके द्वारा शान्तरहेन के कारण उग्रता वा परुषता कैसे होसक्ती है ? इसकारण वह निन्दक निर्लज्जही हैं ॥३३॥ कार्य कारणसे परजो माया उससे भी पर, सर्वव्यापक तुम परमेश्वरके साक्षात् स्वरूप के जानने को पूर्वके ब्रह्मादिक भी समर्थ नहीं हुए फिर स्तुति करने को तो कहांसे समर्थ होते ? और उन ब्रह्मादिकों की सृष्टि में अत्यन्त समीप के हम तो तुम्हारी स्तुति करने को कैसे समर्थहोसक्ते हैं ! तथापि हमने यह जो स्तुति करी है सो केवल अपनी शक्तिके अनुसार करी है ॥ ३४ ॥ क्योंकि–हे महेश्वर ! केवल यह तुम्हारा दीखनेवाला रूपही देखरहे हैं इससे दूसरा जो तुम्हारा, सबका कारणरूप अतिसूक्ष्म स्वरूप है उसको हम नहीं देखते हैं तथापि तुम्हारादर्शन होनेके कारणही आज हम कृतार्थहुए हैं; क्योंकि–अव्यक्त है कर्म जिसका ऐसा यह तुम्हारा प्रकटपना केवल लोकोंके सुखके निमित्त ही है इसकारण तुम इस विषका नाशकरके हमें सुखी करो ॥ ३५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हेराजन् ! इसप्रकार उन प्रजाओं के विषकी उत्पत्ति से होनेवाले दुःखको देख कर महादेव जी कृपासे अत्यन्त व्याकुलहुए और सकल प्राणियों का हित चिन्तन करनेवाले वह महादेव जी अपनी प्रिया सती से इसप्रकार कहनेलगे कि– ॥ ३६ ॥ हे भामिनी ! क्षीर समुद्र को मथने से प्रकटहुए कालकूट विष से यह देख प्रजाओं को

॥ ३७ ॥ आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ॥ एतावान् हि प्रभो-
रर्थो यद्दीनपरिपालनम् ॥ ३८॥ प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभं-
गुरैः ॥ बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥३९॥ पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा
प्रीयते हरिः ॥ प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ॥ तस्मादिदं गरं
भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥ ४० ॥ एवमामंत्र्य भगवान् भवानीं विश्व-
भावनः ॥ तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञाऽन्वमोदत ॥ ४१ ॥ ततः करतलीकृत्य
व्यापि हालाहलं विषं ॥ अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥ ४२ ॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः ॥ यच्चकार गले नीलं तच्च सा-
धोर्विभूषणं ॥ ४३ ॥ तप्यंते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ॥ परमाराध-
नं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥४४॥ निशम्य कर्म तच्छंभोर्देवदेवस्य मीढुषः॥
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुंठश्च शशंसिरे ॥ ४५ ॥ प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्य-

कैसा दुःख प्राप्त हुआ है ॥ ३७ ॥ सो प्राणरक्षा की इच्छा करनेवाले इन प्रजाओं को, मुझे अभय देना ही चाहिये; क्योंकि--दीनों का परिपालन करना ही प्रभुओं का अवश्यकर्त्तव्य कार्य है ॥ ३८ ॥ इसकारण साधुपुरुष, अपने, क्षणभंगुर प्राणों के द्वारा अन्य प्राणियों की रक्षा करते हैं और हे भद्रे ! परमात्मा भगवान् की माया से मोहित होकर, एक दूसरे से वैरभाव करके परस्पर का घात करनेवाले प्राणियों के ऊपर जो पुरुष कृपा करता है उस के ऊपर सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं और भगवान् श्रीहरि के प्रसन्न होनेपर इस चराचर विश्व सहित मैं भी प्रसन्न होता हूँ इस कारण मैं इस विप को भक्षण करता हूँ, प्रजाओं का कल्याण हो ॥ ३९ ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! विश्वपालक भगवान् शङ्कर ने इसप्रकार भवानी से कहकर उस विष को भक्षण करना प्रारम्भ करा, उस समय उन के प्रभाव को जाननेवाली पार्वती ने, उस कार्य को करने की सम्मतिदी ॥ ४१ ॥ दतनन्तर सकल जगत् में फैलनेवाले उस हालाहल नामक विषको अपनी शक्ति से हथेलीपर रखकर उन भूतपालक महादेवजीने कृपापूर्वक भक्षणकरा ॥ ४२ ॥ उस समय तिस विष ने अपना प्रभाव, उन महादेवजी को भी ऐसा दिखाया कि–उन के कण्ठ में नीलावर्ण उत्पन्न करदिया परन्तु वह नीलापन भी उन दयालु महादेवजी का भूषण ही हुआ ॥ ४३ ॥ इसप्रकार साधु पुरुप प्रायः लोकों के दुःख से आप भी दुःखी होते हैं अर्थात् लोकों का दुःख देखकर उस को दूर करने के निमित्त आप दुःख भोगते हैं; दूसरोंके निमित्त दुःख सहन करना ही सर्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान् का सर्वोत्तम आराधन है ॥ ४४ ॥ भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने वाले उन देवाधिदेव शङ्कर के उस कर्म को देखकर, सकल प्रजा, पार्वती, ब्रह्माजी और विष्णुभगवान् ने उन की प्रशंसा करी ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! उन महादेवजी के विष को

त्किंचिज्जगृहुः स्म तत् ॥ वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च ये परे ॥ ४६ ॥
इति श्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे अमृतमथने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः ॥ ममन्थुस्तरसा
सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥ १ ॥ तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ॥
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥ २ ॥ तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चं-
द्रपाण्डुरः ॥ तस्मिन्बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥ तत ऐराव-
तो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः ॥ दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन् भगवतो महिं ॥ ४ ॥
कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः ॥ तस्मिन् हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलं-
करणे मणौ ॥ ५ ॥ ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोकविभूषणम् ॥ पूरयत्यर्थि-
नो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥ ६ ॥ ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः
सुवाससः ॥ रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥ ७ ॥ ततश्चाविर-

पीते समय उन के हाथ में से जो यत्किञ्चित् विष नीचे गिरपड़ा उस को विच्छू, सांप, विपैली औपधि, सर्पों की अनेकों जातियें तथा अन्य अन्य विषैले प्राणियों ने ग्रहण कर लिया ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में सप्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥
श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! शिवजी के विष को पीलेनेपर प्रसन्न हुए वह देव दानव बड़े वेग से समुद्र को मथनेलगे, तदनन्तर उस में से कामधेनु उत्पन्न हुई ॥ १ ॥ हे राजन्! अग्निहोत्र के साधन घृत आदि को उत्पन्न करनेवाली वह कामधेनु, ब्रह्मलोक को पहुँचानेवाले यज्ञ में होम की सामग्री के निमित्त वेदवेत्ता ऋषियोंने ग्रहण करी ॥ २ ॥ तदनन्तर चन्द्रमाकी समान श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवा नामवाला घोड़ा उत्पन्न हुआ, उस को ग्रहण करने के विषय में दैत्यराज बलि ने इच्छा करी; असुर जो इच्छा करें उस को तुम स्वीकार करलेना, ऐसा पहिले विष्णुभगवान् ने उपदेश करा था इसकारण इन्द्र ने उस घोड़े को लेने के विषय में इच्छा न करी॥३॥ तदन्तर अपने चारदन्तोंके द्वारा भगवान् महादेवजीके कैलाश पर्वतकी शोभाको हरनेवाला और चन्द्रमाकी समान श्वेत एक ऐरावत हाथी निकला॥४॥ तदन्तर उस महासागर मेंसे पद्मरागमणिरूप एक कौस्तुभ नामवाला रत्न उत्पन्न हुआ,उस कौस्तुभमणिसे अपना वक्षःस्थल भूषित करने के विषय में श्रीहरिने इच्छा करी ॥ ५ ॥ तदनन्तर मानों देवलोक का भूषण है ऐसा परिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ हे राजन्! जैसे भूतलपर तुम सदा याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हो तैसेही वह वृक्षभी इच्छित वस्तु देकर स्वर्गमें के याचकों के मनोरथों को सदा पूर्ण करताहै ॥ ६ ॥ तदन्तर उत्तम वस्त्र पहिननेवालीं, कण्ठ में जुगनी आदि भूषण धारण करने वालीं और सुन्दर गति, विलास तथा अवलोकन के द्वारा स्वर्गमें रहने वाले देवताओं को रमण करानेवालीं अप्सरा उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥ तदनन्तर सुदामा नामक

भूत्साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा ॥ रंजयंती दिशः कांत्या विद्युत्सौदामनी यथा
॥ ८ ॥ तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः ॥ रूपौदार्यवयोवर्णमहिमा-
क्षिप्तचेतसः ॥ ९ ॥ तस्या आसनमानिन्ये महेंद्रो महदद्भुतम् ॥ मूर्तिमत्यः स-
रिच्छ्रेष्ठा हेमकुंभैर्जलं शुचि ॥ १० ॥ आभिषेचनिका भूमिराहरत्सकलौष-
धीः ॥ गावः पंच पवित्राणि वसंतो मधुमाधवौ ॥ ११ ॥ ऋषयः कल्पयांच-
क्रुरभिषेकं यथाविधि ॥ जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥ १२ ॥
मेघा मृदंगपणवमुरजानकगोमुखान् ॥ व्यनादयन् शंखवेणुवीणास्तुमुलनिःस्व-
नान् ॥ १३ ॥ ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् ॥ दिगिभाः पूर्णक-
लशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥ १४ ॥ समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत् ॥
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदां ॥ १५ ॥ भूषणानि विचित्राणि
विश्वकर्मा प्रजापतिः ॥ हारं सरस्वती पद्ममजो नागश्च कुण्डले ॥ १६ ॥ ततः

पर्वत की एक दिशासे उत्पन्न हुई बिज्जुछटा की समान अपनी कान्ति से सकल दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली और साक्षात् सम्पत्तिका ही रूप धारण करनेवाली, भगवत्परायण लक्ष्मी उत्पन्न हुई ॥ ८ ॥ उसके सुन्दररूप, उदारता अवस्था और कान्तिकी महिमा से मोहित चित्तहुए सकल ही देव दानव और मनुष्य इसकी इच्छा करनेलगे ॥ ९ ॥ हेराजन्! उस लक्ष्मी को महेन्द्र ने एक बड़ा अद्भुत आसन समर्पण करा, और मूर्तिमती श्रेष्ठ नदियें सुवर्ण के कलशों में उसके अभिषेक के निमित्त जललाई ॥ १० ॥ तैसेही भूमिने अभिषेक कार्यमें लगने वाली सकल औषधियें समर्पण करीं, गौओंने दूध आदि पञ्चगव्य समर्पण करा, और वसन्त ऋतुने अपने चैत्र वैशाखमास में होनेवाले फल पुष्पआदि समर्पण करे ॥ ११ ॥ तदनन्तर ऋषियों ने, शास्त्र में कहीहुई विधिसे उसका अभिषेक करने का प्रारम्भ करा; उस समय गन्धर्व मङ्गलकारी गीतों का गान करनेलगे, तथा नटोंकी स्त्रियें नृत्य और गान करने लगीं ॥ १२ ॥ उससमय मेघ मन्दमन्द गर्जना करनेलगे, और लोग बड़े २ शब्दवाले मृदङ्ग, पणव, मुरज, आनक और गोमुख आदि वाजों को बजानेलगे और शङ्ख, वेणु तथा वीणाओं का भी नाद होनेलगा ॥ १३ ॥ तदनन्तर हाथ में कमल धारण करनेवाली पतिव्रता लक्ष्मी देवीको ब्राह्मणों के पढ़ेहुए सूक्तवाक्यों के साथ जलके भरेहुये कलशों से दिग्गजों ने अभिषेक करा ॥ १४ ॥ तदनन्तर सागर ने उसलक्ष्मी को रेशम के पीले वस्त्रोंका जोड़ा समर्पण करा, वरुण ने, जिसके ऊपर मद को भक्षण करनेवाले भ्रमर गुञ्जार शब्द कररहे हैं ऐसी वैजयन्ती नामक माला समर्पण करी ॥ १५ ॥ विश्वकर्मा प्रजापति ने नानाप्रकार के रङ्ग वाले रत्नों से जड़ेहुए भूषण दिये, सरस्वती ने हार समर्पण करा, ब्रह्माजी ने कमल समर्पण करा और नागों ने दोकुण्डल दिये ॥ १६ ॥

कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं नदद्विरेफां परिगृह्य पाणिना ॥ चचाल वक्त्रं सुकपो-
लकुण्डलं सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥ १७ ॥ स्तनद्वयं चातिकृशोदरी
समं निरन्तरं चन्दनकुंकुमोक्षितम् ॥ ततस्ततो नूपुरवल्गुसिंजितैर्विसर्पती हे-
मलतेव सा बभौ ॥ १८ ॥ विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः पदं ध्रुवं चाव्य-
भिचारि सद्गुणं ॥ गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारणत्रैविष्टपयादिषु नान्वविंदत ॥१९॥
नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो ज्ञानं क्वचित्तच्च न संगवर्जितम् ॥ कश्चिन्महां-
स्तस्य न कामनिर्जयः स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥ २० ॥ धर्मः
क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम् ॥ वीर्यं न पुं-
सोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं नहि द्वितीयो गुणसंगवर्जितः ॥ २१ ॥ क्वचिच्चि-
रायुर्नहि शीलमंगलं क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ॥ यत्रोभयं कुत्र च

तदनन्तर भूषण और कुङ्कुम आदि सौभाग्य के द्रव्यों को धारण करके, सुन्दर कपोलों पर कुण्डलों की कान्ति से झलकनेवाले और लज्जायुक्त हास्य सहित ऐसे शोभायमान मुखवाली वह लक्ष्मी, जिसके ऊपर गुञ्जार शब्द करनेवाले भ्रमर हैं ऐसी कमलोंकी माला को हाथ में लेकर अपने योग्य वरको देखने के निमित्त आसन परसे उठी॥ १७ ॥ जिसका उदर अतिकृश है ऐसी वह लक्ष्मी, चन्दन और केशरसे लिप्त, एक समान और परस्पर सटे हुए दोनों स्तनों को धारण करती हुई, नूपुरों के मनोहर शब्दों से अपना चलना जताती हुई इधर उधर को विचरते में सुवर्ण की लता की समान शोभायमान हुई ॥ १८ ॥ हे राजन्! वह लक्ष्मी निर्दोष, अविनाशी और निरन्तर रहनेवाले श्रेष्ठ गुणों से युक्त ऐसे, अपने आश्रयभूत पति को, गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण और स्वर्गवासी देवादिकों में खोजने लगी परन्तु सर्वत्र किसी न किसी दोष के होने के कारण उसको वैसा पति नहीं मिला॥ १९ ॥ दुर्वासा आदिकों में तप है परन्तु उन्होंने क्रोधको नहीं जीता है; कहीं कहीं बृहस्पति शुक्र आदि के विषैं ज्ञान है परन्तु उन में वैराग्य नहीं है; ब्रह्मा चन्द्रमा आदि कोई २ महात्मा हैं परन्तु उन्होंने काम को नहीं जीता है और जो इन्द्रादि दूसरे के आश्रय की इच्छा करनेवाले हैं उनको ईश्वर ही कैसे कहाजाय ? इससे वह भी वरने के योग्य नहीं है ॥ २० ॥ तथा कोई परशुराम आदि धर्मनिष्ठ हैं परन्तु उन में प्राणियों के ऊपर दयाभाव नहीं है; कहीं शिविराजा आदि के विषैं दान है परन्तु वह मुक्ति का कारण नहीं है; किसी कार्त्तवीर्य समान पुरुष में बल है परन्तु वह काल के वेग से छूटा हुआ नहीं है, विषयों के सङ्ग से रहित ऐसे कोई सनकादि हैं परन्तु वह निरन्तर समाधि लगाने के कारण वरने के योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥ कहीं मार्कण्डेय आदि के विषैं बड़ी आयु है परन्तु स्त्रियों का सुखकारी स्वभाव नहीं है, कहीं कहीं हिरण्यकशिपु की समान पुरुषों में स्त्रियों

सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥ २२ ॥ एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणैर्वरं निजैकाश्रयतयागुणाश्रयम् ॥ वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥ २३ ॥ तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ॥ तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥ २४ ॥ तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षो निवासमकरोत्परमं विभूतेः ॥ श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥ २५ ॥ शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः ॥ देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥ २६ ॥ ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम् ॥ ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥ २७ ॥ श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः ॥

को सुखदायक स्वभाव भी है परन्तु उनकी आयु का निश्चय समझने में नहीं आता, कहीं शिवशङ्कर आदिके विषैं स्त्रियोंका सुखकारी स्वभाव और आयुका निश्चय यह दोनों हीहैं परन्तु वह अमङ्गलहैं और कोई एक पुरुष(श्रीमुकुन्द)अत्यन्त मङ्गलकारी आचरणोंसे युक्त और सबप्रकार निर्दोष है परन्तु वह मेरी इच्छा नहीं करताहै॥२२॥इसप्रकार विचार करके मायाकेगुणोंसे पर,नित्य रहनेवाले,धर्मज्ञान आदि श्रेष्ठगुणोंसे युक्त और अपने मुख्यआश्रय होनेके कारण सर्वोत्तम,और अपने को प्रिय प्रतीत होनेवाले तथा अणिमा आदि सकल गुणों ने जिनको वरा है ऐसे कुछ अपेक्षा न करनेवाले भी श्रीमुकुन्दको लक्ष्मीने वरलिया॥२३॥ अर्थात् मदोन्मत्त भ्रमरों के झुण्डों की झङ्कार से गुञ्जारती हुई सुन्दर नवीन कमलों की माला मुकुन्दभगवान् के कन्धे में स्थापन करके समीप में, लज्जायुक्त हास्य से खिलने वाले नेत्रों से, अपने निवासभूत उन के वक्षःस्थल की ओर को 'यह स्थान मुझे प्राप्तहो' ऐसी प्रतीक्षा करतीहुई खड़ीरही ॥ २४ ॥ हे राजन् ! सकल ऐश्वर्यों से युक्त उन त्रिभुवनजनक श्रीविष्णुभगवान् ने अपना वक्षःस्थल ही उस त्रैलोक्यजननी लक्ष्मी का स्थिर निवासस्थान करा, तदन्तर तहाँ रहनेवाली उस लक्ष्मी ने, दयायुक्त अवलोकन के द्वारा अपनी प्रजाओं की अर्थात् लोकपालों सहित त्रिलोकी में के प्राणियों की वृद्धिकरी ॥ २५ ॥ उस समय शंख, तुरही और मृदङ्ग इन बाजों का तथा स्त्रियों के साथ नृत्य और गान करनेवाले देवताओं के अनुयायी गन्धर्वों का बड़ाभारी शब्द होनेलगा ॥ २६ ॥ तैसे ही ब्रह्मा, रुद्र और अङ्गिरा जिन में मुख्य हैं ऐसे सकल प्रजापति, पुष्पों की वर्षा करते हुए, विष्णुभगवान् का वर्णन करनेवाले यथार्थ मन्त्रों से स्तुति करनेलगे ॥२७॥ तदनन्तर लक्ष्मी ने जिन को अपने कृपाकटाक्ष से अवलोकन करा है ऐसी प्रजापतियों

शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं परां ॥ २८ ॥ निःसत्वा लोलुपा राज-
न्निरुद्योगा गतत्रपाः ॥ यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः ॥ २९ ॥
अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना ॥ असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुम-
तेन ते ॥ ३० ॥ अथोदधेर्मथ्यमानात्काश्यपैरमृतार्थिभिः ॥ उदतिष्ठन्महा-
राज पुरुषः परमाद्भुतः ॥ ३१ ॥ दीर्घपीवरदोर्दंडः कंबुग्रीवोरुणेक्षणः ॥ श्या-
मलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥ ३२ ॥ पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टम-
णिकुण्डलः ॥ स्निग्धकुञ्चितकेशांतः सुभगः सिंहविक्रमः ॥ ३३ ॥ अमृतापूर्ण-
कलशं बिभ्रद्वलयभूषितः ॥ स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसंभवः ॥ ३४ ॥
धन्वंतरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥ तमालोक्यासुराः सर्वे कलशं
चामृताभृतम् ॥ लिप्संतः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाऽहरन् ॥ ३५ ॥ नीयमा-
नेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने ॥ विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ॥

सहित सकल प्रजा, सुन्दर स्वभाव आदि गुणों से युक्त होकर परम आनन्द को प्राप्त हुई ॥२८॥ हेराजन्! जब लक्ष्मी ने दैत्य दानवों की उपेक्षा करी (उन को नहीं बरा) तब वह धैर्यहीन, विषयासक्त, उद्योगहीन और निर्लज्जहुए ॥२९॥ तदनन्तर उस क्षीर समुद्र में से जिस के कमल की समान नेत्र हैं ऐसी सुन्दररूपवती देवी, कन्यारूप से उत्पन्न हुई तब श्रीहरि की सम्मति से उस सुरा को असुरों ने स्वीकार करा ॥ ३० ॥ तदनन्तर हे महाराज! अमृत की प्राप्ति के निमित्त देवदैत्यों के क्षीरसागर को मथते हुए उस में से अत्यन्त अद्भुत एक पुरुष निकला ॥ ३१ ॥ उस की भुजा लम्बी और पुष्ट थीं, कण्ठ शंख की समान तीन रेखाओं से युक्त था, नेत्र कुछएक लाल लाल थे, वर्ण मेघ की समान श्याम था, अवस्था तरुण थी, कण्ठ में पुष्पों की माला थी और वह सकल भूषणों से भूषित था ॥ ३२ ॥ तथा वह पीले वस्त्र पहिने हुए था, उस का वक्षःस्थल विशाल था, उस के रत्नजटित कुण्डल बड़ेही स्वच्छ थे, उस के केशों के अग्रभाग चिकने और बलखाये हुए थे वह देखने में सुन्दर और सिंह की समान पराक्रमी था ॥ ३३ ॥ वह हाथ में अमृतभरा कलश लिये हुए था, वह हाथ में धारण करे हुए कड़े तोड़ों से भूषित था, वह साक्षात् विष्णुभगवान् के अंश से उत्पन्न हुआ धन्वन्तरि इस नाम से प्रसिद्ध, वैद्यकशास्त्र का चलानेवाला और यज्ञ में हवि का भाग ग्रहण करने वाला हुआ, उस को और उस के हाथ में के अमृत से भरे कलश को देखकर, कामधेनु आदि सकल वस्तुएं अपने को प्राप्त होने की इच्छा करनेवाले उन सकल असुरों ने वेग से वह अमृत का कलश उस से छीन लिया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ हेराजन्! जब अमृत के पात्र उस कलश को लेकर असुर जानेलगे तब देवता मनमें खिन्न

॥ ३६ ॥ इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत् ॥ मा खिद्यत मिथो-
ऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया ॥ ३७ ॥ मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचे-
तसां ॥ अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥ ३८ ॥ देवाः स्वं-
भागमर्हंति ये तुल्यायासहेतवः ॥ सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥
॥३९॥ इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः॥ दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीत
कलशान्मुहुः ॥ ४० ॥ एतस्मिन्नंतरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः ॥ योषिद्रूपम-
निर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥ ४१ ॥ प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ॥
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥ ४२ ॥ नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृ-
शोदरं ॥ मुखामोदानुरक्तालिझंकारोद्विग्नलोचनम् ॥ ४३ ॥ बिभ्रत्स्वकेशभा-
रेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् ॥ सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजांगदभूषितं ॥ ४४ ॥
विरजांबरसंवीतनितंबद्वीपशोभया ॥ कांच्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरं ४५

होकर श्रीहरिकी शरण गये ॥ ॥ ३६ ॥ तदनन्तर उनकी दीनता को देखकर अपने से-
वकों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले भगवान् ने,उन देवताओं से कहाकि—तुम खेद न करो, मैं
अपनी मायाके प्रभाव से उनमें आपस में कलह उपजाकर तुम्हारा कार्य साधूँगा ॥ ३७ ॥
हे प्रभो ! तदनन्तर उस अमृत के निमित्त जिनके मन आशासे भरेहुए हैं ऐसे उन असुरों का
मैं पहिले अमृत पीऊँगा, मैं पहिले अमृत पीऊँगा, तू नहीं, तू नहीं, इसप्रकार परस्पर कलह
हुआ ॥ ३८ ॥ हेराजन् ! समान परिश्रम करने के कारण अमृतको उत्पन्न करने में कारण-
भूत देवता भी सत्रयाग की समान इस अमृत में से अपना अपना भाग पानेके योग्य हैं,यही
सनातन धर्म है ऐसा कहकर डाहमें भरेहुए दुर्बल दैत्य, कलश हरकर लेजानेवाले अपने
बलवान् दैत्योंको वारंवार निषेध करनेलगे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इसप्रकार उन दैत्योंमें कलह
होना प्रारम्भ हुआ, सो इतनेही में सकल उपायों को जाननेवाले सर्वसमर्थ विष्णुभगवान्
ने अति अद्भुत, जिसका वर्णन करना कठिन है ऐसा स्त्रीका रूप धारणकरा॥४१॥ वह
रूप देखनेयोग्य नीलकमल की समान श्यामवर्ण और सकल अङ्गोंसे सुन्दर था,जिसमें एक
समान कानोंमें भूषण धारणकरेथे और उत्तमकपोल तथा उत्तमनासिका से युक्त मुखथा ४२
जिसका उदर, नवीन यौवन के कारण गोल २ स्तनोंके भारसे झुकाजाता था, जिसके नेत्र
मुखरूप कमलकी सुगन्धि में आसक्तहुए भ्रमरों के झङ्कार शब्दोंसे व्याकुल होरहे थे॥४३॥
जिसने अपने शिरकी चोटी में मोगरेके खिलेहुए फूलोंकी माला धारण करी थी, जो कण्ठ
को शोभा देनेवाले कण्ठ के आभूषणों से भूषित था, ॥४४॥ जो रूप उत्तम भुजाओं में
धारण करेहुए बाजूबन्दों से शोभायमान था, जो निर्मल वस्त्र से ढकेहुए नितम्बरूप द्वीप के
ऊपर शोभा पानेवाली तागड़ी से अत्यन्तही सुन्दर दीखता था,जिसने सुन्दर गतिसे चलने

सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ॥ दैत्ययूथपचेतस्सु काममुद्दीपयन्मुहुः॥
॥ ४६ ॥ इति श्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥ ७ ॥
श्रीशुक उवाच॥ तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरंतस्त्यक्तसौहृदाः ॥ क्षिपंतो द-
स्युधर्माण आयांतीं ददृशुः स्त्रियम् ॥ १ ॥ अहो रूपमहो धाम अहो अस्या
नवं वयः ॥ इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥ २ ॥ का त्वं कं-
जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि ॥ कस्यासि वद वामोरु मथ्नंतीव
मनांसि नः ॥ ३ ॥ न वयं त्वाऽमरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥ नास्पृष्टपूर्वां
जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः ॥ ४ ॥ नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि
शरीरिणां ॥ सर्वेंद्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किं ॥ ५ ॥ सा त्वं नः स्पर्ध-
मानानामेकवस्तुनि मानिनि ॥ ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे॥६॥
वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः ॥ विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो

वाले चरणों में पायजेबें धारण करी थीं ॥४५॥ और जो स्वरूप, लज्जायुक्त हास्य के साथ फेंकेहुए भ्रुकुटि के कम्पायमान भ्रू विलासों सहित चितवनों करकै दैत्यसेनापतियों के अन्तःकरणों में वारंवार कामोद्दीपन करता था ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में अष्टम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने हैं कि—हे राजन् ! तदनन्तर अमृत के निमित्त स्नेह को त्यागकर परस्पर की निन्दा करते हुए और बलात्कार से चोरी करनेवाले डाँकुओं की समान एक दूसरे से अमृत का पात्र छीनतेहुए उन दैत्यों ने आती हुई एक स्त्री को देखा ॥ १ ॥ तदनन्तर उसको देखने से जिनके कामोद्दीपन हुआ है ऐसे वह असुर अहा—हा ! कैसी इसकी सुन्दरता है, कैसी इस की कान्ति है ! कैसी इस की अवस्था है ! ऐसे कहते कहते उस के समीप जाकर उस से बूझने लगे कि-॥ २ ॥ हे कमलदलनयनि ! हे सुन्दर जङ्घावाली ! हमारे मनो को मथने वाली तू किस की कौन है ? कहां से आयी है ? और यहां आकर तू कौनसा कार्य करने की इच्छा कररही है ? ॥ ३ ॥ हे सुन्दरि ! देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालों में से किसी ने भी आज पर्यन्त तुझे स्पर्श नहीं करा है, ऐसा हम समझते हैं, फिर मनुष्य तो तेरा स्पर्श करते ही कहां से ? ॥ ४ ॥ हे सुभ्रु ! देहधारी प्राणियों की सकल इन्द्रियें और मन को तृप्त करने के निमित्त ही, निःसन्देह परमदयालु विधाता ने तुझे भेजा है ॥५॥ तिस से हे सुमध्यमे ! हे मानिनि ! एक ही वस्तु में स्पर्धा करनेवाले, परस्पर एक दूसरे के वैरीहुए हम सव ज्ञातिवालों का तू कल्याण कर ॥ ६ ॥ हे सुन्दरि ! हम सव कश्यपजी के पुत्र परस्पर में भ्राता हैं और अमृत पाने के निमित्त हम सवों नें मिलकर बडाभारी उद्योग करा है इसकारण जिस प्रकार हम

यथा भवेत् ॥ ७ ॥ इत्युपमंत्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः ॥ प्रहस्य रुचिरा-
पांगैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ कथं कश्यपदायादाः पुं-
श्चल्यां मयि संगताः ॥ विश्वासं पंडितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥ ९ ॥
सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः ॥ सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं
नूत्नं विचिन्वताम् ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आ-
श्वस्तमनसोऽसुराः ॥ जहसुर्भावगंभीरं ददुश्चामृतभाजनं ॥ ११ ॥ ततो गृही-
त्वाऽमृतभाजनं हरिर्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ॥ यद्यभ्युपेत क्व च साध्व-
साधु वा कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥१२॥ इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्या-
सुरपुंगवाः ॥ अप्रमाणविदस्तस्यास्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥ १३ ॥ अथोपोष्य कृत-
स्नाना हुत्वा च हविषाऽनलम् ॥ दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्वि-
जैः ॥ १४ ॥ यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ॥ कुशेषु प्राविशन्स-
र्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥१५॥ प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ॥ धूपामोदित-

सबों का आपस में विरोध न होय तिस रीति से तू हमें यह अमृत बांट दे ॥ ७ ॥ इस प्रकार दैत्यों कर के प्रार्थना करेहुए और माया से स्त्री का रूप धारण करनेवाले श्रीहरि कुछ हँसकर मनोहर नेत्र कटाक्षों से उन की ओर को देखते हुए कहने लगे ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् बोले कि–हे कश्यपजी के पुत्रों ! मुझ व्यभिचारिणी स्त्री के विषैं तुम कैसे आसक्त हुए हो ? क्योंकि–जो पण्डित है वह कामिनी स्त्रियों में कभी भी विश्वास नहीं करता है ॥ ९ ॥ हे दैत्यों ! नित्य नवीन नवीन की खोज करनेवाले श्वानों की और व्यभिचारिणी स्त्रियों की मित्रता अनित्य है ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं ॥ १० ॥ श्री शुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार उस के लीलायुक्त वचनों से जिन के मन को विश्वास हुआ है ऐसे असुरों ने, किसी एक अकथनीय अभिप्राय से गम्भीरता के साथ हँसकर अमृत का पात्र उस के हाथ में देदिया ॥ ११ ॥ तदनन्तर उस अमृत के पात्र को लेकर कुछ मुसुकुराने से शोभायमान वाणी के द्वारा श्रीहरि इसप्रकार कहने लगे कि–हे दैत्यों ! मेरा करा हुआ कार्य भला हो या बुरा हो यदि तुम उस को स्वीकार करो तो मैं इस अमृत को बांटे देती हूँ ॥ १२ ॥ इसप्रकार के उस के कथन को सुनकर उस के भेद को न जाननेवाले असुरों ने 'ठीक है, ऐसा कहकर' उस को वह अमृत बांट देने की सम्मति दी ॥ १३ ॥ तदनन्तर एक दिन निराहार व्रत करके दूसरे दिन प्रातःकाल ही स्नान कर के, अग्नि में हवन की सामग्रियों से होम करके, गौ, ब्राह्मण और अन्य प्राणियों को यथायोग्य कोमल तृण आदिका दान देकर तथा ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन करवाकर, अपने चित्तके अनुसार नवीन नवीन वस्त्र धारण करके और भूषण पहिनकर वह सब ही देव दैत्य पूर्वकी ओरको अग्रभाग करेहुए कुशोंके ऊपरबैठे॥ १४॥ १५॥

शालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥ १६ ॥ तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूलश्रोणी-
तटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ॥ सा कूजती कनकनूपुरसिंजितेन कुंभस्तनी कल-
शपाणिरथाविवेश ॥ १७ ॥ तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्णनासाकपोल-
वदनां परदेवताख्यां ॥ संवीक्ष्य संमुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन देवासुरा विगलितस्त-
नपट्टिकान्तां ॥ १८ ॥ असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ॥ मत्वा जा-
तिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥ १९ ॥ कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां
जगत्पतिः ॥ तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥ २० ॥ दैत्यान् गृही-
तकलशो वंचयन्नुपसंचरैः ॥ दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधां ॥ २१ ॥
ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप ॥ तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजु-
गुप्सया ॥ २२ ॥ तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ॥ बहुमानेन चा-

हे राजन् ! पुष्प और दीपों से युक्त और धूपों से वसेहुए उस स्थान में देवता और दैत्यों के पूर्व को मुख करके बैठनेपर, जिस की जङ्घा करभ की समान (हाथ के पहुँचे से लेकर हाथ के अँगूठे पर्यंत हाथ के बाहर के भाग की समान) उतार चढ़ाव की गोल हैं; जिस की गति, सुन्दर पीताम्बर से ढकेहुए विशाल कटिभाग के कारण (नितम्ब के भार से) मन्द होरही है, जो सुवर्ण की पायजेवों की झनकार का शब्द कररही है, जिसके नेत्र मद से विव्हल होरहे हैं और जिसके स्तन कलश की समान गोल और पुष्ट हैं ऐसी वह मोहिनी स्त्री, हाथ में अमृत का कलश लेकर उस सभा में को गई ॥ १६ ॥ १७ ॥ उस समय, जिसने सुवर्ण के कुण्डल धारण करे हैं, जिसके—कान, नासिका, कपोल और मुख यह अङ्ग मनोहर हैं और जिसकी चोली स्तनोंपर से कुछ एक सरकी हुई सी होरही है ऐसी उस परदेवता नामक लक्ष्मी की सखी को देखकर उसकी मुसकुरान सहित चितवन से वह देवता और दैत्य अत्यन्त मोहित होगये ॥ १८ ॥ हे राजन् ! जो स्वभाव से ही क्रूर हैं ऐसे असुरोंको अमृत देना सर्पों को दूध पिलाने की समान अन्याय है ऐसा जानकर अच्युत भगवान् ने उनको वह अमृत नहीं दिया ॥ १९ ॥ तदनन्तर उन जगत्पति श्रीहरिने, उन दोनों की अलग अलग पंक्ति करके अपनी अपनी पंक्तिमें बैठादिया ॥ २० ॥ तदनन्तर हाथ में अमृत का कलश धारण करनेवाले श्रीहरिने, बड़े सन्मान के साथ, नेत्र के कटाक्ष, हास्य, लज्जा और प्रियवचनों के द्वारा उन दैत्यों को धोखादेकर दूर बैठेहुए भी देवताओं को जरा और मृत्यु का नाश करनेवाला अमृत पिलाया ॥ २१ ॥ हेराजन् ! उस समय अपने करेहुए नियमका पालन करनेवाले वह असुर, स्त्री के साथ वादविवाद करने की लज्जा के कारण और उसने उनको प्रेम दिखाया इसकारण मौनही बैठेरहे ॥ २२ ॥ क्योंकि—उस में उनका अत्यन्त ही प्रेम होगया था उस प्रेम में अन्तर पड़जाने का उनको भय था; और यह देवता अत्यन्त अधीर होरहे हैं इसकारण पहिले थोड़ासा अमृत इन

वद्धा नोचुः किंचन विप्रियम् ॥ २३ ॥ देवलिंगप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ॥
प्रविष्टः सोममपिबच्चंद्रार्काभ्यां च सूचितः ॥ २४ ॥ चक्रेण क्षुरधारेण जहार
पिबतः शिरः ॥ हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाऽप्लावितोऽपतत् ॥ २५ ॥ शिर-
स्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत् ॥ यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वै-
रधीः ॥ २६ ॥ पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवान्लोकभावनः ॥ पश्यतामसुरेंद्राणां
स्वरूपं जगृहे हरिः ॥ २७ ॥ एवं सुरासुरगणाः समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोऽपि
फले विकल्पाः ॥ तत्रामृतं सुरगणाः फलमंजसापुर्यत्पादपंकजरजःश्रयणान्न दै-
त्याः ॥ २८ ॥ यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृ-
थक्त्वात् ॥ तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेच-

को पिलाये देतीहूँ तुम धैर्यवान् हो इसकारण क्षणभर धीरज रक्खो, इसप्रकार बड़े सन्मान के साथ उनको अत्यन्त वश में कर लिया था इसकारण उन्होंने कुछ अप्रिय भाषण नहीं करा ॥ २३ ॥ इतने ही में देवताओं के वेष से अपने स्वरूप को ढककर और देवताओं की पंक्ति में सूर्य चन्द्रमा के बीच में बैठेहुए राहुने अमृत पिया सो इतने ही में उन सूर्य और चन्द्रमा ने 'यह दैत्य है' ऐसा विष्णुभगवान् को सूचित करा ॥ २४ ॥ उसी समय छुरेकी सी तीखी धारवाले अपने चक्र से श्रीहरि ने, उस अमृत पीनेवाले राहुका शिर धड़से अलग कर दिया. तब जिसको अमृत का स्पर्श नहीं हुआ ऐसा धड़ प्राणहीन होकर पृथ्वी पर गिरपड़ा ॥ २५ ॥ परंतु उसका मस्तक तो अमृतका स्पर्श होनेके कारण अमरहोगयाथा इसकारण उस को भगवान् ने, सूर्य आदि की समान ग्रह होने का अधिकार देदिया. वह राहु, सूर्य चन्द्रमा ने सूचित करा था इसकारण उन के साथ वैरभाव रखकर अब भी पर्व के दिन सूर्य चन्द्रमा के सन्मुख दौड़ता है ॥ २६ ॥ जब देवताओं ने खूब अमृत पीलिया तब लोकपालक भगवान् श्रीहरि ने, दैत्याधिपतियों के सामने अपना स्वरूप धारण करा ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार देश, काल, हेतु (मन्दराचल आदि), अर्थ (समुद्र में लता डालना इत्यादि), प्रयत्न और बुद्धि यह सब देवताओं के और दैत्यों के एक समान ही थे तथापि उन देवता और दैत्यों को फल मिलने में भेदहुआ, उन में, जिन के चरणकमलों की रज के कणों का आश्रय करने के कारण देवताओं को अनायास में अमृतरूप फल प्राप्त हुआ और जिन से विमुख होने के कारण दैत्यों को वह फल नहीं प्राप्त हुआ उन श्रीहरिकी ही सबको सेवा करना उचित है ॥ २८ ॥ क्योंकि—प्राण, द्रव्य, कर्म, वाणी और मन के द्वारा देह तथा पुत्र आदिके निमित्त जो पुरुष कर्म करते हैं वह भेदबुद्धि से कराहुआ होनेके कारण; जैसे वृक्षकी शाखाओं को सींचना व्यर्थ होता है तैसेही व्यर्थ होता है और उनही प्राण आदिकों के द्वारा ईश्वर के उद्देश्य से पुरुष जो कर्म करते हैं वह कर्म अभेद बुद्धिसे होनेके कारण, जैसे वृक्षकी जड़का सींचना सकल गुद्दे शाखा

नं यत् ॥ २९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे अमृतमथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति दानवदैतेया नाविंदन्नमृतं नृप ॥ युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १ ॥ साधयित्वाऽमृतं राजन्पाययित्वा स्वकान्सुरान् ॥ पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥ २ ॥ सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ॥ अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः ॥ ३ ॥ ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ॥ प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥ ४ ॥ तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः ॥ रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥ ५ ॥ तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे ॥ समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥ ६ ॥ शंखतूर्यमृदंगानां भेरीडमरिणां महान् ॥ हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत् ॥ ७ ॥ रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः ॥ हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जंत संयुगे ॥ ८ ॥ उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः ॥

आदि की तृप्ति करनेवाला होता है तैसे ही सब को पहुँचकर परम फलदायक होता है ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में नवम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! इसप्रकार एकाग्रता से समुद्र का मथनारूप कर्म में उद्योग करनेवाले भी उन दानवदैत्यों को, अमृत नहीं मिला, क्योंकि–वह वासुदेव भगवान् से विमुख थे ॥ १ ॥ हे राजन्! इसप्रकार समुद्र को मथने से अमृत पाकर और वह अपने भक्त देवताओं को पिलाकर तहां विद्यमान सकल प्राणियों के देखतेहुए वह भगवान्, गरुड़जी के ऊपर बैठकर अपने वैकुण्ठलोक को चले गये ॥ २ ॥ तदनन्तर अपने शत्रुओं की परम उन्नति देखकर उस को सहन न करनेवाले दैत्य, आयुध उठाकर युद्ध करने को देवताओं के ऊपर को दौड़े ॥ ३ ॥ तदनन्तर श्रीनारायण के चरण का आश्रय करने के कारण पियेहुए अमृत से बल पुष्टि आदि सम्पत्ति करके वृद्धि को प्राप्त हुए सकल देवता अस्त्र शस्त्र ग्रहण करके असुरों के साथ युद्ध करने लगे ॥ ४ ॥ हे राजन्! उस क्षीरसमुद्र के तटपर, शरीर पर रोमाञ्च खड़े करनेवाला देवासुर नामक महाभयङ्कर घोरयुद्ध हुआ ॥ ५ ॥ उस युद्ध में जिन का चित्त क्रोध में भरगयाहै ऐसे वह देवता और दैत्यरूप शत्रु, अपने अपने बल ऐश्वर्य आदि की समता जानकर एक दूसरेके समीप आकर खड्ग, बाण और नानाप्रकारके आयुधोंसे परस्पर प्रहार करने लगे ॥ ६ ॥ तब तहाँ शंख, डंका, मृदङ्ग, भेरी और डौरू इन बाजों का और गर्जना करनेवाले हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदलों का बड़ाभारी शब्द होने लगा ॥ ७ ॥ उस युद्ध में रथियोंके साथ रथी, पैदलोंके साथ पैदल, घोड़ोंके साथ घोड़े और हाथियोंके साथ हाथियों का युद्ध होनेलगा ॥ ८ ॥ तथा हेराजन्! कोईयोधा ऊँटोंके ऊपर, कोईहाथियोंकेऊपर कोई गधोंकेऊपर, कोईगोरेमृगोंके

केचिद्गौरमृगैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥ ९ ॥ गृध्रैः कंकैर्वकैरन्ये श्येन-
भासैस्तिमिंगिलैः ॥ शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः ॥ १० ॥ शिवाभि-
राखुभिः केचित्कृकलासैः शशैर्नरैः ॥ वस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः
॥ ११ ॥ अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः ॥ सेनयोरुभयो राजन् वि-
विशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥१२॥ चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः ॥ महाधनैर्व-
ज्रदण्डैर्व्यजनैर्वार्हचामरैः ॥ १३ ॥ वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिभिर्वर्मभूषणैः ॥
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥ १४ ॥ देवदानववीराणां ध्व-
जिन्यौ पाण्डुनन्दन ॥ रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥ १५ ॥ वैरोचनो
वलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः ॥ यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम्
॥ १६ ॥ सर्वसांग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो ॥ अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्य-
मानमदर्शनम् ॥ १७ ॥ आस्थितस्तद्विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः ॥ वालव्य-
जनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥ १८ ॥ तस्यासन्सर्वतो यानैर्यूथानां पत-

ऊपर, कोई रीछों के ऊपर, कोई व्याघ्रों के ऊपर, कोई सिंहों के ऊपर, कोई गिज्जों के ऊपर, कोई कंक पक्षियों के ऊपर, कोई वगुलों के ऊपर, कोई वाजों के ऊपर, कोई मास पँक्षियों के ऊपर, कोई तिमिङ्गिल नामवाले मच्छों के ऊपर, कोई शरभोंके ऊपर, कोई भैंसों के ऊपर, कोई गैंडोंके ऊपर, कोई वैलोंके ऊपर, कोई नीलगायों के ऊपर, कोई अरुणों के ऊपर, कोई गीदड़ों के ऊपर, कोई चूहोंके ऊपर, कोई घिरघटों के ऊपर, कोई खरगोशों के ऊपर, कोई मनुष्यों के ऊपर, कोई वकरोंके ऊपर, कोई कृष्णसार मृगोंके ऊपर, कोई हंसों के ऊपर, कोई शूकरों के ऊपर, कोई जलचर और थलचर जीवों के ऊपर और कोई अकराल विकराल देहवाले प्राणियों के ऊपर चढ़कर दोनों सैनाओं में आगे२ को घुसे और युद्ध करनेलगे ॥९॥१०॥११॥१२॥ हे पाण्डुनन्दन राजन् ! नानाप्रकार के रंगों की ध्वजा पताका, स्वेत और निर्मल छत्र, रत्नों से जड़ीहुई दण्डिय वाले वहुमोल पंखे, मोरछल, चँवर, वायुसे उड़नेवाले दुपट्टे, पगड़ियें कवच, भूषण, सूर्य की किरणोंसे दमकनेवाले उज्जल शस्त्र, इनके द्वारा शोभा पानेवाले शूरों के समूहोंसे देव दैत्योंकी दोनोंसेना, जलचरप्राणियों से शोभापानेवाले दोसमुद्रों की समान शोभितहोनेलगीं ॥१३॥१४॥१५॥ हेप्रभो ! उस युद्ध में सकल सेनापतियों से घिराहुआ वह दैत्यसेनापति विरोचन का पुत्र राजावलि, युद्धके काम में आनेवाले सकल साधनों से युक्त, सकल आश्चर्यों से भरेहुए, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होनेके कारण मनसे तर्कना करने में और वाणी से वर्णन करने में न आनेवाले, मयासुर के रचेहुए और चाहेंजिसस्थानपर जानेवाले वैहायसनाम वाले उत्तम विमान पर वैठा तव वालों के व्यजन (चँवर) और उत्तम छत्रों के द्वारा उदय के समय शोभा पानेवाले चन्द्रमा की समान शोभित हुआ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

योऽसुराः ॥ नमुचिः शंबरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९ ॥ द्विमूर्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः ॥ शकुनिर्भूतसंतापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥ २० ॥ हयग्रीवः शंकुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः ॥ तारकश्चक्रदृक् शुंभो निशुंभो जंभ उत्कलः ॥ २१ ॥ अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः ॥ अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥ २२ ॥ अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः ॥ सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥ २३ ॥ सिंहनादान्विमुंचन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान् ॥ दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान्बलभित्कुपितो भृशम् ॥ २४ ॥ ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट् ॥ यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः ॥ २५ ॥ तस्यासन्सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः ॥ लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः ॥ २६ ॥ तेऽन्योऽन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः ॥ आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वंद्वयोधिनः ॥ २७ ॥ युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत ॥ वरुणो हेतिनाऽयुद्ध्यन्मित्रो राजन्प्रहेतिना ॥ २८ ॥ यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै ॥ शंबरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु वि-

---

उस बलिके सब ओर अपने अपने रथ आदिकों के ऊपर चढेहुए अपने अपने समूह (रिसाले) के अधिपति असुर, नमुचि, शंबर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शंकुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्रदृक्, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिपति, मयासुर, यह तथा और भी पौलोम, कालेय और निवातकवच आदि थे ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ यह सब ही अमृत का भाग न मिलने के कारण केवल क्लेश के ही भागी हुए थे और इन सबों ने पाहिले रणभूमि में अनेकों वार देवताओं को जीता था, इस कारण वह सिंह की समान गर्जते हुए बडेभारी शब्दवाले शंखों को बजाने लगे; तब अपने शत्रुओं को उन्मत्त हुआ देखकर अत्यन्त क्रोध में भरे हुए देवराज इन्द्र, ऐरावत नामक दिग्गज के ऊपर चढ़े तब वह जिस के ऊपर जल का प्रवाह बहरहा है ऐसे उदयाचल के ऊपर चढ़े हुए सूर्य की समान शोभित हुए ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥ २५ ॥ तब नानाप्रकार की सवारियें, ध्वजा और शस्त्रों से युक्त देवता और अपने अपने गणों सहित वायु, अग्नि, वरुण आदि लोकपाल उस इन्द्र के चारों ओर होलिये ॥ २६ ॥ तदनन्तर वह देवता और दैत्य एक दूसरे के सामने जाकर, मर्मभेदी वाक्यों से एक दूसरे का तिरस्कार करते और एक दूसरे का नाम लेकर पुकारते हुए आगे आगे को बढकर युद्ध करने लगे ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इन्द्र के साथ बलि राजा युद्ध करने लगा, तारकासुर के साथ षडानन हेति के साथ वरुण, और प्रहेति के साथ मित्र युद्ध करने लगा ॥ २८ ॥ हे शत्रुदमन ! काल नाभि के साथ यम, मयासुर के

रोचनः ॥ २९ ॥ अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा ॥ सूर्यो बलिसुतै- र्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥ ३० ॥ राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधे- ऽनिलः ॥ निशुंभशुंभयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥ ३१ ॥ वृषाकपिस्तु जं- भेन महिषेण विभावसुः ॥ इल्वलः सहवातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिंदम ॥ ३२ ॥ काम- देवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह ॥ बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥ ॥३३॥ मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः ॥ विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥ ३४ ॥ त एवमाजावसुराः सुरेंद्रा द्वंद्वेन संहत्य च युद्ध्यमानाः ॥ अन्योऽन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥ ३५ ॥ भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि ॥ निस्त्रिंशभल्लैः प- रिघैः समुद्गरैः सभिंदिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥ ३६ ॥ गजास्तुरंगाः स- रथाः पदातयः सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः ॥ निकृत्तबाहूरुशिरोधरांघ्र- यश्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥ ३७ ॥ तेषां पदाघातरथांगचूर्णितादायोध-

साथ विश्वकर्मा, त्वष्टा से शम्बर, सविता से विरोचन, अपराजित से नमुचि, वृषपर्वा से अश्विनी कुमार और जिन में बाणासुर बडा है ऐसे बलि के सौ पुत्रों के साथ सूर्यदेव युद्ध करने लगे ॥ २९ ॥ ३० ॥ राहु से चन्द्रमा, पुलोमा से वायु, शुम्भनिशुम्भों के साथ महावेगवती भद्रकाली देवी, जम्भासुर के साथ वृषाकपि, मिहिषासुर से विभावसु, ब्रह्मपुत्रों के साथ वातापी सहित इल्वल युद्ध करने लगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ कामदेव के साथ दुर्मर्ष, मातृ गणों के साथ उत्कल, शुक्राचार्य के साथ बृहस्पति, नरकासुर के साथ शनैश्चर, निवात कवचों के साथ मरुद्गण, कालेय के साथ देवता अष्टवसु, पौलोम के साथ विश्वेदेव और क्रोधवश नामक दैत्यगणों के साथ एकादश रुद्र युद्ध करने लगे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ इसप्रकार वह असुर और देवता, युद्ध में दो दो होकर एक एक के साथ जुटकर युद्ध करते हुए वेग के साथ परस्पर शरीरों के ऊपर को झपटकर वाण, खड्ग और तोमरों से प्रहार करने लगे ॥ ३५ ॥ भुशुंडि, चक्र, गदा, खड्ग, पाहिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परशु, निस्त्रिंश, भाला, परिघ मुद्गर और भिन्दिपाल इन आयुधों के द्वारा परस्पर के मस्तक काटने लगे ॥ ३६ ॥ उस समय हाथी घोडे, रथों पर बैठे हुए रथी, पैदल और चढ़नेवाले वीरों के साथ पहिले कहे हुए नानाप्रकार के ऊँट आदि वाहनभी युद्ध करने लगे, तव उन में से कितनोंहीके टुकड़े २ होगए; कितनों ही के भुजा, जंघा, ग्रीवा और चरण कटकर गिरपड़े और कितनों हीं के ध्वजा, धनुष और आभूषण अत्यन्त छिन्नभिन्न होगए ॥ ३७ ॥ उससमय उन देवादिकों के चरणप्रहारों से और रथों के पहियों से कुचलीहुई रणभूमि से अत्यन्त

नादुल्बणे उत्थितस्तदा ॥ रेणुर्दिशः खं द्युमणिं च छादयन् न्यवर्ततासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात् ॥ ३८ ॥ शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः ॥ महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥ ३९ ॥ कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः ॥ उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान्मृधे ॥ ४० बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः ॥ चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत् ॥ ४१ ॥ स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः ॥ चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान् हसन्निव ॥ ४२ ॥ तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे ॥ तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः ॥ ४३ ॥ ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः ॥ यद्यच्छस्त्रं समादद्यात्सर्वं तदच्छिनद्विभुः ॥ ४४ ॥ ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः ॥ ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥ ४५ ॥ ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्नि-

उड़ीहुई धूलि, आकाश, दिशा और सूर्य को ढकनेलगी इतने ही में रुधिर की धाराओं से रणभूमि के भीगजाने के कारण वह धूलि उस आकाश में से लौटआई ॥ ३८ ॥ तदनन्तर वह रणभूमि, जिन में से किरीट और कुण्डल गिरपड़े हैं और जिन में क्रोधयुक्त दृष्टि तथा चाबेहुए ओठ दीखरहे हैं ऐसे मस्तकों से, आयुध और भूषणों सहित बड़ी बड़ी भुजाओं से तथा हाथीकी सूँडकीसमान जंघाओं से ढकजाने पर शोभित होनेलगी ॥३९॥ उस युद्ध में जिन्हों ने आयुध उठाये हैं ऐसे कितने ही धड, अलग पडेहुए अपने मस्तकों के नेत्रों से देखतेहुए योधाओं के शरीरों के ऊपर को दौडते२ हुए जाकर गिरपडने लगे ॥४०॥ उस युद्ध में राजा बलि ने दश बाणों से महेन्द्र को, तीन बाणों से ऐरावत को, चार बाणोंसे ऐरावत के चार चरणरक्षकों को और एक से महावत को वेधा ॥४१॥ परन्तु शीघ्र पराक्रमी उन इन्द्र ने, वह बाण अपने समीप भी नहीं आने पाये बीच में ही उन आनेवाले बाणों के, तीखे उतने ही भल्ल नामक बाणों से हँसते हँसते टुकडे करडाले ॥४२॥ उस इन्द्रके उस बाणों का काटने रूप कर्म को देखकर उसको न सहनवाले बलिने, उसके ऊपर प्रहार करने को हाथ में शक्ति उठाई, वह अग्नि की लपटों की समान जलती हुई शक्ति उसके हाथ में ही इन्द्रने काटडाली ॥ ४३ ॥ तदनन्तर शूल, तदनन्तर प्रास, तदनन्तर तोमर, तदनन्तर खड्ग इत्यादि जो जो आयुध इन्द्र के मारने को बलिने उठाया उनसबही आयुधों को तिन समर्थ इन्द्र ने काटडाला ॥ ४४ ॥ तदनन्तर हे प्रभो! उस राजा बलिने अन्तर्धान होकर आसुरीमाया उत्पन्न करी कि—पहिले ही तो देवताओं की सेना के ऊपर आकाश में एक पर्वत उत्पन्न हुआ ॥ ४५ ॥ और उसके ऊपर से वनकी दावाग्नि से जलते हुए वृक्ष, और देवरूप शत्रुओं की सेनाओं का चूर्ण करनेवाली पेंडकी

ना ॥ शिलाः सटंकैशिखराश्चूर्णयंत्यो द्विषद्बलम् ॥ ४६ ॥ महोरगाः समुत्पेतु-
र्दंदशूकाः सवृश्चिकाः ॥ सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयंतो महागजान् ॥ ४७ ॥
यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः ॥ छिंधि भिंधीति वादिन्यस्तथा
रक्षोगणाः प्रभो ॥ ४८ ॥ ततो महाघना व्योम्नि गंभीरपरुषस्वनाः ॥ अंगा-
रान्मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः ॥ ४९ ॥ सृष्टो दैत्येन सुमहान्वह्निः श्वस-
नसारथिः ॥ सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक् ॥ ५० ॥ ततः समुद्र
उद्वेलैः सर्वतः प्रत्यदृश्यत ॥ प्रचण्डवातैरुद्धूततरंगावर्तभीषणः ॥ ५१ ॥ एवं
दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः ॥ सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ।
॥ ५२ ॥ न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिंद्रादयो नृप ॥ ध्यातः प्रादुरभूत्तत्र भ-
गवान्विश्वभावनः ॥ ५३ ॥ ततः सुपर्णांसकृतांघ्रिपल्लवः पिशंगवासा नवकं-
जलोचनः ॥ अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लसच्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः॥५४॥
तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा माया विनेशुर्महिना महीयसः ॥ स्वप्नो यथा हि

समान तीखे अग्रभागवाली शिला नीचे गिरनेलगीं॥ ४६ ॥तदनन्तर बड़ेबड़े भुजङ्ग,विच्छुओं सहित सर्प और बड़े२हाथियोंका मर्दन करनेवाले सिंह,व्याघ्र और शूकर देवताओंके सन्मुख आनेलगे ॥४७॥ तैसेही हे प्रभो! हाथ में शूल धारण करके 'तोड़ो,फोड़ो' ऐसा कहनेवालीं सैंकड़ों नंगी राक्षसियें तथा राक्षसों के समूह देवताओं के ऊपर को आनेलगे ॥ ४८॥ तदनन्तर गम्भीर और भयङ्कर शब्द करनेवाले और वायुके चलायमान करेहुए बड़े बड़े मेघ आकाश में आकर अंगारों की वर्षा करनेलगे और विजलियें भी अंगारों की वर्षा करनेलगीं ॥४९॥ तदनन्तर वायुरूप सारथि से युक्त और प्रलय काल के अग्निकी समान अतिभयङ्कर,बलिदैत्य का उत्पन्न कराहुआ बड़ाभारी अग्नि, देवताओं की सेनाको जलानेलगा ॥ ५० ॥ तदनन्तर प्रचण्ड पवनोंसे उछली हुई तरङ्गे और भँवरों के द्वारा भयङ्कर और मर्यादा को लाँघने वाला समुद्र सब ओरसे लोकोंको डुबाता हुआ आरहा है ऐसा दीखनेलगा ॥ ५१ ॥ इसप्रकार की अलक्ष्य गति के द्वारा भयङ्कर और भी मायावी दैत्यों ने माया उत्पन्न करीं तब देवताओं के सेनापति खिन्न हुए ॥ ५२ ॥ हे राजन्! जब इन्द्रादि देवताओं को, उन दैत्योंकी रची हुई मायाओं को दूर करने का उपाय नहीं सूझा तब उन्होंने विश्वपालक भगवान् का ध्यान करा सो तहां भगवान् प्रकट हुए ॥ ५३ ॥ वह उस समय गरुड़जी के कन्धेपर चरण रक्खेहुए, पीताम्बर पहिने हुए, नवीन कमल समान नेत्रोंवाले, आयुध धारण करे, आठ भुजावाले,और जिनके वक्षःस्थल में लक्ष्मी,कण्ठ में कौस्तुभमणि,मस्तक पर बहुमूल्य किरीट और कानों में मकराकृति कुण्डल शोभा देरहे हैं ऐसे दीखे ॥५४॥ जैसे जागने की अवस्था होनेपर स्वप्न नष्ट होजाता है तैसेही उससमय उस देवसेना में श्रीहरिके प्रवेश करने पर

प्रतिरोधं अंगते हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥ ५५ ॥ दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः ॥ तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद्गृहीत्वा तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥ ५६ ॥ माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्यच्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम् ॥ आहत्य तिग्मगदयाऽहनदंडजेंद्रं तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाद्यः ॥ ५७ ॥ इति श्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथो-सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः परस्य पुंसः परमानुकंपया ॥ जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादयस्तांस्तान् रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ १ ॥ वैरोचनाय संरब्धो भगवान्पाकशासनः ॥ उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः ॥ २ ॥ वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम् ॥ मनस्विनं सुसंपन्नं विचरंतं महामृधे ॥ ३ ॥ नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान्नो जिगीषसि ॥ जित्वा बालान्निबद्धाक्षान्नटो हरति

उन महात्मा भगवान् के प्रभाव से, मन्त्र आदिके प्रयोग से उत्पन्न हुई असुरों की वह सकल माया नष्ट होगई, क्योंकि—जब श्रीहरि का स्मरण ही सकल विपत्तिओं का नाश करने वाला है तो फिर उन श्रीहरि का प्रत्यक्ष प्रवेश होनेपर आसुरी माया नष्टहुई इसका क्या कहना? ॥ ५५ ॥ तदनन्तर हे राजन्! गरुड़जी के ऊपर बैठेहुए श्रीहरिको युद्ध में देखकर सिंह पर बैठेहुए कालनेमि नामक दैत्य ने, अपने शूलको घरघर फिराकर श्रीहरिके शरीर परको फेंका, उसको गरुड़जी के मस्तक पर गिरता हुआ देखकर उसी समय त्रिलोकीपति श्रीहरिने अनायास में ही उसको पकड़कर उसीके द्वारा वाहन सहित उस कालनेमि शत्रु का वध करा ॥ ५६ ॥ तदनन्तर महाबली, माली और सुमाली यह दोनों दैत्य युद्ध में भगवान् के शरीर पर को झपटे तब भगवान् के चक्रसे उनके शिर कटगये और वह मरकर गिरपड़े; तदनन्तर माल्यवान् नामक असुर ने, तीक्ष्ण गदासे उन भगवान् के ऊपर प्रहार करके, गरुडजी के ऊपर प्रहार करनेके निमित्त फिर गदा उठाई, सो इतनेही में उन आदिपुरुष श्रीहरि ने उस गरजनेवाले दैत्य का मस्तक चक्रसे काट गिराया ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में दशम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् परीक्षित्! तदनन्तर पुरुषोत्तम भगवान् की परमकृपा से इन्द्रवायु आदि देवताओं का अन्तःकरण शान्तहुआ तब पहिले जिन जिन दैत्यों के साथ वह युद्ध करने में उद्यत थे, उन २ के ऊपरही वह फिर प्रहार करनेलगे ॥ १ ॥ तदनन्तर भगवान् इन्द्र ने, क्रुद्ध होकर विरोचन के पुत्र बलि को मारने के निमित्त जब वज्र उठाया तब सबही दैत्य हाहाकार करनेलगे ॥ २ ॥ उससमय धैर्यवान्, युद्ध की सामग्री से युक्त और उस घोर संग्राम में निर्भय होकर विचरतेहुए अपने आगे स्थित उस बलि से वज्रपाणि इन्द्रने, तिरस्कार करके ऐसा कहा कि ॥ ३ ॥ अरेमूढ़! जैसे कपटी पुरुष, मन्त्र आदि के प्रभावसे

तद्धनम् ॥ ४ ॥ आरुरुक्षंति मायाभिरुत्सिसृप्संति ये दिवम् ॥ तान्दस्यून्वि-
धुनोम्यज्ञान् पूर्वस्माच्च पदादधः ॥ ५ ॥ सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शत-
पर्वणा ॥ शिरो हरिष्ये मंदात्मन् घटस्व ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥ बलिरुवाच ॥
संग्रामे वर्त्तमानानां कालचोदितकर्मणाम् ॥ कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां
स्युरनुक्रमात् ॥ ७ ॥ तमिमं कालरशनं जनाः पश्यंति सूरयः ॥ न हृष्यंति
न शोचंति तत्र यूयमपंडिताः ॥ ८ ॥ न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र सा-
धनम् ॥ गिरो वः साधुशोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः ॥ ९ ॥ श्रीशुक उवाच॥
इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः ॥ आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः
॥ १० ॥ एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना ॥ नामृष्यत्तदधिक्षेपं तो-
त्राहत इव द्विपः ॥ ११ ॥ प्राहरत्कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः ॥ सयानो

जिन की दृष्टि भ्रम में पड़ी है ऐसे अज्ञानी पुरुषोंको अपने वश में करलेता है और उनके धनको हरलेता है तैसेही तू माया के द्वारा, हम माया के स्वामियों को जीतने की इच्छा करता है परन्तु तेरी माया हमारे ऊपर नहीं चलसक्ती ॥ ४ ॥ हे मूढ़ ! मेरे प्रभावको सुन, जो पुरुष अपनी माया के द्वारा स्वर्ग पर चढ़ने की और मोक्ष पाने की इच्छा करते हों उन मूढ़ों को पाहिले भी स्थान से मैं गिरादेता हूँ ॥ ५ ॥ सो मैं आज शतपर्व वज्र से, लोकमोहिनी माया फैलानेवाले तेरा शिर काटूँगा, इसकारण अरे मन्दबुद्धे ! मेरे जीतने के विषय में तू अपने जातिवालों के साथ जितनी होसके उतनी चेष्टा कर ॥ ६ ॥ बलिने कहाकि–हे इन्द्र ! कीर्त्ति, जय, पराजय इत्यादि के अनुकूल होनेवाले कालने जिनको प्रेरणा करी है ऐसे युद्ध करनेवाले सब ही पुरुषों को क्रम से कीर्त्ति, जय, पराजय, और मृत्यु यह प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ इसकारण यह कीर्त्ति आदि सब काल के अधीन हैं ऐसा देखने वाले विवेकी पुरुष इस विषय में न हर्ष ही पाते हैं और न शोक ही करते हैं परन्तु उस विवेक के विषय में तुम अज्ञानी हो॥८॥तिससे उस कीर्त्ति जय आदि के विषयमें अपने को ही कारण माननेवाले और साधुपुरुषों करके शोक करनेयोग्य तुम्हारे मर्मभेदी वचनों की ओर मैं ध्यान नहीं देता हूँ॥९॥श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् परीक्षित् ! प्रतिपक्षी वीरों का मर्दन करनेवाले उस बलिनामक वीर ने इसप्रकार महेन्द्र की निंदा करके, कानोंपर्यंत खैंचेहुए बाणो सें, निन्दा के वचनोंसे ताडन करेहुए उस इन्द्रके ऊपर फिर भी प्रहार करा ॥ १० ॥ इसप्रकार सत्यभाषण करनेवाले उस बलि ने इन्द्र का तिरस्कार करा तब उस तिरस्कार को इन्द्रने,जैसे अंकुशसे ताडना कराहुआ हाथी उस ताडना को नहीं सहता है तैसे ही सहन नहीं करा ॥ ११ ॥ और उस शत्रुनाशक इन्द्र ने, अपने अमोघ वज्र से उस बलि राजा के ऊपर प्रहार करा तब वह बलि पंख

न्यपतत्क्ष्मां छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ १२ ॥ सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः
सुहृत् ॥ अभ्ययात्सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन् ॥१३॥ स सिंहवाह आ-
साद्य गदामुद्यम्य रंहसा ॥ जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः ॥ १४ ॥
गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः ॥ जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं
ययौ ॥ १५ ॥ ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः ॥ आनीतो द्विपमुत्सृज्य
रथमारुरुहे विभुः ॥१६॥ तस्य तत्पूजयन्कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः ॥ शूलेन ज्वलता तं
तु स्मयमानोऽहनन्मृधे ॥ १७ ॥ सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः ॥
इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः ॥ १८ ॥ जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञा-
तयो नारदादृषेः ॥ नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः ॥ १९ ॥ व-
चोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु ॥ शरैरवाकिरन्मेघा धाराभिरिव पर्वतम्
॥ २० ॥ हरीन्दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः ॥ तावद्भिरर्दयामास युग-
पल्लघुहस्तवान् ॥ २१ ॥ शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक् ॥ सकृ-

टूटे हुए पर्वत की समान विमान सहित पृथ्वीपर गिरपडा ॥ १२ ॥ उस समय बलि के विषैं प्रेम करनेवाले उस के सखा जम्भासुर ने अपने मित्र को गिरा हुआ देखकर वज्र से ताडना करेहुए भी अपने मित्र का हित करने के निमित्त युद्ध करने को इन्द्र के सन्मुख गमन करा ॥ १३ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! उस सिंहपर चढ़े हुए परम महाबली जम्भासुरने इन्द्र के समीप आय गदा उठाकर बडेवेगसे इन्द्रके और ऐरावत के कन्धेपर प्रहार करा ॥ १४ ॥ तब गदा के प्रहार से पीडित होने के कारण अत्यन्त व्याकुल हुआ वह ऐरावत हाथी, पृथ्वीपर घुटने टेककर ' अत्यन्त मूर्छित होगया' ॥ १५ ॥ तदनन्तर सहस्र घोडों से जुता हुआ रथ मातलि इन्द्र के समीप लाया तब इन्द्र उस ऐरावत हाथी को छोडकर रथपर सवार हुआ ॥ १६ ॥ तब दैत्यों में श्रेष्ठ जम्भासुर ने, उस सारथि के कर्म की प्रशंसा करते हुए और आश्चर्य करते हुए उस संग्राम में अपने जाज्वल्यमान त्रिशूल का उस सारथि के ऊपर प्रहार करा ॥ १७ ॥ उस समय मातलि ने धीरज धरकर उस परम दुःसह व्यथा को सहा, तब इन्द्र ने क्रोध में भरकर वज्र से जम्भासुर का शिर अलग करदिया ॥ १८ ॥ तदनन्तर जम्भासुर मारागया, यह समाचार नारद ऋषि से पाकर नमुचि, बल और पाक यह तीनों भ्राता बडी शीघ्रता से उस युद्ध भूमि में आपहुँचे ॥ १९ ॥ और कठोर वचनों से इन्द्र को मर्मस्थानों में पीडित करनेवाले उन असुरों ने, जैसे मेघ धाराओं से पर्वत को छा देते हैं तैसे वाणों से इन्द्र को छा दिया ॥ २० ॥ शीघ्रपराक्रमी उस बल नामक असुर ने इन्द्र के सहस्र घोडों को उतने ही वाणों से एक साथ रणभूमि में पीडित करडाला ॥ २१ ॥ तथा पाक नामवाले

त्संधानमोक्षेण तेऽच्छ्रतम्भूद्रणे ॥ २२ ॥ नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः॥
आहत्य व्यनदत्सङ्ख्ये सतोय इव तोयदः ॥ २३ ॥ सर्वतः शरकूटेन शक्रं स-
रथसारथिं ॥ छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवांबुदाः ॥ २४ ॥ अलक्षयन्तस्तं-
मतीवविह्वला विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः ॥ अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथाऽर्णवे ॥ २५ ॥ ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जराद्विनिर्गतः
साश्वरथध्वजाग्रणीः ॥ बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्स्वतेजसा सूर्य इव
क्षपात्यये ॥ २६ ॥ निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे ॥ उदयच्छद्रिपुं
हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥२७॥ स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः ॥ ज्ञा-
तीनां पश्यतां राजन् जहार जनयन्भयम् ॥ २८ ॥ नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोका-
मर्षरुषान्वितः॥ जिघांसुरिंद्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ।२९। अश्मसारमयं शूलं घं-

असुरने एकसाथ दो सौ वाण धनुषमें चढ़ाकर और उनको छोडकर उन से मातलिको तथा अङ्गों सहित रथ को भिन्न २ स्थानोंपर बेधडाला यह उसका कर्म युद्ध में बडा आश्चर्यकारी हुआ।२२। तथा नमुचि नामवाला असुरभी जिनका पूर्वभाग सुवर्णका है ऐसे बडे२ पन्द्रह वाणों से संग्राम में इन्द्रको वेधकर पानी से भरेहुए मेघकी समान गर्जना करने लगा ॥ २३ ॥ तैसेही और भी असुरों ने, जैसे वर्षाकाल में मेघ चारों ओर से सूर्य को घेरलेते हैं तैसे सारथि और रथ सहित इन्द्र को सब ओर से वाणोंके समूहों से ढकदिया ॥ २४ ॥ तब जैसे समुद्र में नौका टूटने पर व्यापारी हाय२ करतेहुए चिल्लाने लगते हैं तैसेही शत्रुकी सेना करके पराजित करेहुए स्वामी रहित वह देवता,इन्द्र के न दीखने के कारण अत्यन्त विव्हल होकर अनुयायियों सहित हाहाकार करने लगे ॥ २५ ॥ तदनन्तर जैसे रात्रि पूरी होनेपर सूर्य अपने तेज से दिशा, आकाश और पृथ्वी को प्रकाशित करता हुआ शोभित होने लगता है तैसे ही घोडे, रथ, ध्वजा और सारथियों सहित इन्द्र वाणों के पिंजरे में से बाहर निकल कर अपने तेजसे वाहर दिशा,आकाश और पृथ्वी को प्रकाशित करने लगा ॥ २६ ॥ और उस वज्रधारी इन्द्रने अपनी सेना को शत्रुओं से पीडित हुई देखकर संग्राम मे शत्रुको वध करने के निमित्त क्रोधमे भरकर वज्र उठाया ॥ २७ ॥ हेराजन्! इन्द्रने, उस अष्टधारी वज्र से करके, कानों बान्धवों को भयभीत करते हुए उन के सामने ही बल और पाक इनदोनो के धडसे अलग करदिये ॥ २८ ॥ तव हे राजन्! उस का वध हुआ फिर भी प्रहार करे शोक करने से और असहिष्णुता से क्रुद्धहुए उस नमुचि असुर तिरस्कार करा तब उसे निमित्त बड़ाभारी उद्योग करा ॥ २९ ॥ क्रोध में भराहुआ ताडना को नहीं सहता इन्द्र ने, अपने अमोघ वध णं के आभूषणों से युक्त एक लोहे के त्रिशूल को हाथ में

टावेद्धेमभूषणम् ॥ प्रगृह्याभ्यद्रवत्क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन् ॥ प्राहिणो-
द्देवराजाय निनदन्मृगराडिव ॥ ३० ॥ तदापतद्गगनतले महाजवं विचिच्छिदे
हरिरिषुभिः सहस्रधा ॥ तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे रुषाऽन्वितस्त्रिदशपतिः
शिरोऽहरत् ॥ ३१ ॥ न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो विभेद
यः सुरपतिनौजसेरितः ॥ तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्तिरस्कृतो नमुचिशिरो-
धरत्वचा ॥ ३२ ॥ तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः ॥ किमिदं
दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥ ३३ ॥ येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्र-
जात्यये ॥ कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि ॥ ३४ ॥ तपःसारमयं
त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः ॥ अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः ॥
॥ ३५ ॥ सोयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके ॥ नाहं तदाददे
दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥ ३६ ॥ इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी ॥

लेकर ' अरे अब मरण को प्राप्त होता है ' इसप्रकार इन्द्र को ललकारता ललकारता उन के सामने को दौड़ा और सिंह की समान गरज कर उसने वह शूल इन्द्र को मारने के निमित्त फेंका ॥ ३० ॥ तब हे राजन् ! अपनी ओर को आते हुए उस बड़े वेगवाले शूल के आकाश में ही इन्द्र ने बाणों से सहस्रों टुकड़े करडाले; तदनन्तर क्रोध में भरेहुए उन देवराज इन्द्र ने, उस असुर का शिर काटने के निमित्त उस के कण्ठपर वज्र का प्रहार करा ॥ ३१ ॥ परन्तु बड़े बल के साथ फेंके हुए, देवराज इन्द्र के उस परम प्रभावशाली वज्र से, उस असुर की खाल भी नहीं छिली, तब तो लोकों को बड़ा आश्चर्य प्रतीत हुआ, क्योंकि—जिस ने पाहिले परमबली वृत्रासुर का भी वध करा, उस को इस समय नमुचि के कण्ठ की खाल ने ही खुटला करदिया ।३२। हे राजन् ! जिस से वज्र खुटला होगया उस से इन्द्र भी भयभीत होगया और मन में विचार करने लगा कि—अहो ! दैवयोग से लोकों को मोहित करनेवाला क्या चरित्र होगया ! ॥ ३३ ॥ अहो पहिले जब प्रजाओं का नाश होनेलगा था तब जिस वज्र से मैंने, पक्षों से चाहें जहां जानेवाले और अपने बोझे से पृथ्वीपर गिरनेवाले पर्वतों के पक्षों को काटा है और परमपराक्रमी त्वष्टा के मूर्त्तिमान् तपरूप वृत्रासुर का जिस के द्वारा मैंने नाश करा और सकल अस्त्रों से जिस की खाल भी नहीं छिली ऐसे बली अन्य वीरों का जिस के द्वारा मैंने वध करा, ऐसा यह वज्र, इस क्षुद्र असुर के ऊपर छोड़नेपर खुटला होगया; इस कारण ब्रह्मतेजःस्वरूप होनेपर भी निरुपयोगी (बेकार) हुए इस दण्डे की समान वज्र को अब मैं स्वीकार नहीं करूँगा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ॥ ३६ ॥ इस प्रकार कहकर खेद करनेवाले, इन्द्र से, आकाशवाणी ने कहा कि—हे

नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥३७॥ मयोऽस्मै यद्वरो दत्तो मृ-
त्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः॥ अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन् रिपोः ।३८। तां दैवीं
गिरमाकर्ण्य मघवान् सुसमाहितः॥ ध्यायन्फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम्॥३९॥
न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः ॥ तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकि-
रन्विभुम् ॥ ४० ॥ गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू ॥ देवदुंदुभयो नेदुर्न-
र्तक्यो नन्नृतुर्मुदा ॥ ४१ ॥ अन्येऽप्येवं प्रतिद्वंद्वान्वाय्वग्निवरुणादयः ॥ सूदयां-
मासुरस्त्रौघैर्मृगान्केसरिणो यथा ॥ ४२ ॥ ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो
नृप ॥ वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥ ४३ ॥ नारद उवाच ॥
भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः ॥ श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत वि-
ग्रहात् ॥ ४४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ संयम्य मन्युसंरंभं मानयन्तो मुनेर्वचः ॥
गीयमाना अनुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपं ॥ ४५ ॥ येऽवशिष्टा रणे तस्मिन्नार-

इन्द्र ! इस नमुचि दैत्य का सूखी वा गीली वस्तुओं से वध नहीं होसकेगा ॥ ३७ ॥ क्योंकि–'गीली वा सूखी वस्तु से तेरा मरण नहीं होगा ' ऐसा वरदान मैंने इस को दिया है; तिस से हे इन्द्र ! शत्रु का बध करने के निमित्त कोई दूसरा उपाय तू मन में विचार ॥ ३८ ॥ हेराजन् ! उस परमेश्वर की वाणी को सुनकर, एकाग्र अन्तःकरण से विचार करते हुए इन्द्र को गीलापन और सूखापन इन दोनों गुणवाले जल के झाग दीखे॥३९॥ तव इन्द्र ने न केवल सूखे न केवल गीले ऐसे झागों से उस नमुचि का शिर धड से अलग करदिया, तव इन्द्र की मुनियों ने स्तुति करी और उन के ऊपर पुष्पों की वर्षा करी ॥३०॥ उस समय गन्धर्वों में मुख्य विश्वावसु और परावसु यह दोनों गानेलगे, देवताओं की दु-न्दुभि बजनेलगीं, और अप्सरा आनन्द के साथ नृत्य करनेलगीं ॥ ४१ ॥ इसप्रकार अग्नि, वायु और वरुण आदि देवताओं ने, अस्त्रों के समूहों करके, अपने से द्वन्द्व-युद्ध करने वाले शत्रुओं का,जैसे सिंह हरिणोंका नाश करते हैं तैसे नाश करडाला ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार देवताओं की जय होनेपरभी, वैरभाव से उन के द्वारा मारेहुए दानवों का अत्यन्त नाश होता है ऐसा देखकर, ब्रह्माजी के भेजेहुए देवर्षि नारदजी ने देवताओं को रोका ॥ ४३ ॥ नारदजी ने कहा कि–हे देवताओं ! श्रीनारायण की भुजाओं का आश्रय करने वाले तुमने अमृत पालिया और लक्ष्मी के द्वारा तुम सर्वथा उत्तम प्रकार से वृद्धिको भी प्राप्त होगये हो इस कारण अब युद्ध को समाप्त करो ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! उन नारदजी के वचनका सन्मान करने वाले सकल देवता क्रोध के आवेश को त्याग और अपनी स्तुति करने वाले गन्धर्व आदि अनुचरों के साथ स्वर्ग को चलेगये ॥ ४५ ॥ और उस संग्राम में जो असुर बचे थे, वह नारदजी की सम्मति से, वज्र

दानुमतेन ते ॥ बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥ ४६ ॥ तत्राविन-ष्टावयवान्विद्यमानशिरोधरान् ॥ उशना जीवयामास संजीविन्या स्वविद्यया ॥ ॥ ४७ ॥ बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः ॥ पराजितोऽपि नाखि-द्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे दे-वासुरसंग्रामे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ७ ॥ श्रीबादरायणिरुवाच ॥ वृष-ध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान् ॥ मोहयित्वा सुरगणान् हरिः सोम-मपाययत् ॥ १ ॥ वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ २ ॥ सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः ॥ सूप-विष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन् हरिं ॥ ३ ॥ श्रीमहादेव उवाच ॥ देवदेव जगद्व्यापिन् जगदीश जगन्मय । सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ॥ ४ ॥ आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः ॥ यतोऽव्ययस्य नैतानि तत्सत्यं ब्रह्म चिद्भवान् ॥ ५ ॥ तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः ॥

के प्रहार से पीड़ित होनेके कारण व्याकुलहुए बलिको लेकर अस्ताचल को चलेगये ॥ ४६ ॥ तदनन्तर तहाँ जिनके अङ्ग भङ्ग नहीं हुए थे और जिनके कण्ठ विद्यमान थे, उन असुरों को शुक्राचार्य जी ने अपनी सञ्जीविनी विद्या से जीवित करा ॥ ४७ ॥ राजा बलि तो शुक्राचार्य के स्पर्श करते क्षणही फिरभी इन्द्रियों को तथा स्मरणशक्ति को प्राप्त हुआ और वह संसार के तत्व (अनित्यता) को जानने वालाथा इसकारण तिरस्कार को प्राप्त होकर भी खिन्न नहीं हुआ ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में एकादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि—हे राजन् परीक्षित् ! स्त्री के रूपसे दा-नवोंको मोहित करके श्रीहरिने देवताओं को अमृत पिलाया, यह वृत्तान्त वृषभध्वज महादेव जी सुनकर मोहिनी रूप को देखने के निमित्त पार्वती जीके साथ नन्दीश्वर पर चढ़े और स-कल भूतगणों से घिरेहुए, जहाँ मधुसूदन भगवान् थे, तहाँ आपहुँचे ॥ १ ॥ २ ॥ तब वि-ष्णुभगवान् ने आदर के साथ पार्वती सहित उन महादेव जी को, पूजा—प्रशंसा आदि करके सत्कार करा और वह आसनपर स्वस्थता के साथ बैठने के अनन्तर श्रीहरि का सत्कार करके आश्चर्यके साथ इसप्रकार कहने लगे॥ ३॥श्रीमहादेव जी ने कहाकि—हेजगदीश!हेजगन्मय! हेजगद्व्यापिन्!हे देवाधिदेव!सकल पदार्थोंके आत्मा और कारणहोनेसे ईश्वरभी तुमहीहो ४ हे परमेश्वर! नहीं नहीं ऐसा नहींहै,क्योंकि—इसजगत्‌कीउत्पत्ति,स्थिति और प्रलय यहजिस ब्रह्म से होते हैं और स्वयं अविनाशी जिस ब्रह्म के यह उत्पत्ति आदि तीनों नहीं हैं और इदं शब्द से वाच्य दृश्यरूप, अहं शब्द से वाच्य द्रष्टारूप और बाहर भोग्यरूप तथा भीतर भोक्तारूप वह सत्य और चैतन्यरूप ब्रह्म तुमही हो इसकारण तुम्हारे विषैं विकारों की शंका नहीं है ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! इस लोक के और परलोक के भोगों की आसक्ति को

त्विसृज्योभयतः संगं मुनयः समुपासते ॥ ६ ॥ त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं वि-
शोकमानंदमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ॥ विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमानामात्मे-
श्वरश्च तदपेक्षतयाऽनपेक्षः ॥ ७ ॥ एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयं च स्वर्णं
कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ॥ अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद्गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ ८ ॥ त्वां ब्रह्म के चिदवयंत्युत
धर्ममेके एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ॥ अन्येऽवयन्ति नवशक्ति
युतं परं त्वां केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥ ९ ॥ नाहं परायु-
र्ऋषयो न मरीचिमुख्या जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ॥ यन्मायया मु-

त्यागकर निष्काम हुए, मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनिजन, तुम्हारे ही चरण कमल की आदर के साथ उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ हे परमेश्वर ! तुम निर्गुण, शोकरहित, निर्विकार, आनन्दमय, सर्वव्यापक, और सब से निराले तथा सुखस्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म हो तथापि अत्यन्त उदासीन नहीं हो किन्तु प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण होकर उत्पत्ति आदि उपाधियों से युक्त जीवों को कर्मोंका फल देते हो; हे परमात्मन् ! तुम निरपेक्ष हो और जीव अपने को फल मिलने की इच्छा से तुम्हारी सेवा करते हैं इसकारण तुम उनको फल देते हो; सारांश यह है कि—सुखात्मक ब्रह्मस्वरूप आपको औरों की अपेक्षा नहीं है इसकारण तुम्हारे ऐश्वर्य अपने निमित्त नहीं है किन्तु केवल भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त ही हैं ॥ ७ ॥ हे जगदीश ! द्वैतभाव से प्रतीत होनेवाले कार्य और अद्वैतभाव से प्रतीत होनेवाले कारण यह दोनों एक तुमही हो, इसकारण कुण्डल आदि कार्यरूप से बनेहुए और कारणरूप से अकृत्रिम सुवर्ण जैसे वास्तव में एकही होते हैं तैसेही तुम्हारे विषैं वास्तव में भेद नहीं है; हे परमात्मन् ! प्राणियों ने अज्ञान के कारण तुम्हारे विषैं भेद मानरक्खा है; क्योंकि—उपाधि रहित आपके विषैं यह भेद केवल माया के गुणों करकेही अनुभव में आता है, स्वयं अनुभव में नहीं आता है ॥ ८ ॥ हे जगदीश ! कितने ही वेदान्तवादी आप को ब्रह्म मानते हैं, कितने ही मीमांसक आप को धर्म मानते हैं, कितने ही सांख्यमतावलम्बी तुम्हें प्रकृति पुरुष से पर, ब्रह्मादिकों का ईश्वर पुरुषोत्तम समझते हैं, कितने ही पञ्चरात्र आगम में कही हुई दीक्षा धारण करनेवाले पुरुष तुम्हें विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रव्ही, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा इन नौ शक्तियों से युक्त मानते हैं और कितने ही पातञ्जल योग मत वाले पुरुष, तुम्हें जन्मादि विकाररहित स्वतन्त्र महापुरुष मानते हैं ॥ ९ ॥ तैसे ही मैं, ब्रह्माजी और मरीचि आदि ऋषि यह हम सब ही सत्त्वगुण से उत्पन्नहुए हैं तो भी, जिन तुम्हारे रचना करेहुए इस जगत् को भी यथार्थ रीति से नहीं जानसक्ते हैं फिर तुम्हें

पितचेतस ईशो दैत्यमर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥ १० ॥ स त्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ॥ वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं सर्वं तदात्मकतयाऽवगमोऽवरुंत्से ॥ ११ ॥ अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ॥ सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥ १२ ॥ येन संमोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ॥ तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवान् शूलपाणिना ॥ प्रहस्य भावगंभीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥ ॥ १४ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया कृतः ॥ पश्यतासुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥ १५ ॥ तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम ॥ कामिनां बहुमतव्यं संकल्पप्रभवोदयम् ॥ १६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया

जानने को कैसे समर्थ होसक्ते हैं ?, हमारी जहाँ यह दशा है तहाँ हे ईश्वर ! सदा तमोगुण और रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले और तुम्हारी माया से मोहितहुए दैत्य मनुष्य आदि का तो कहना ही क्या ? ॥ १० ॥ हे परमेश्वर ! वह तुम सकल जगत् के आत्मा और ज्ञानरूप होने के कारण, जैसे वायु चराचर प्राणियों के शरीरों में और आकाश में प्रवेश करता है तैसे ही सकल जगत् में प्रविष्ट होकर अपने करेहुए जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, नाश, प्राणीमात्र के कर्म, जगत् को प्राप्त होनेवाला संसारबंधन और उस से होनेवाला मोक्ष इन सब को जानते हो ॥ ११ ॥ हे ईश्वर ! सत्व आदि गुणों के द्वारा रमण करनेवाले तुम्हारे जो पहिले मैंने नरसिंह आदि अवतार देखे हैं, वही मैं अब, तुमने जो स्त्रीरूप धारण करा था उस को देखने की इच्छा करता हूँ ॥ १२॥ तिसरूप से तुमने दैत्यों को अत्यन्त मोहित करके देवताओं को अमृत पिलाया था उस ही तुम्हारेरूप को देखने के निमित्त हम सब यहां आये हैं, क्योंकि—उस के विषय में हमें बड़ा आश्चर्य प्रतीत होरहा है ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् परीक्षित् ! इसप्रकार शूलिपाणि शङ्कर के प्रार्थना करेहुए विष्णुभगवान् गम्भीर अभिप्राय से हँसकर उन महादेवजी से कहने लगे ॥ १४ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे शङ्कर ! अमृत का पात्र दैत्यों के हाथ में चलेजानेपर वञ्चना[illegible] आदि धर्मयुक्त स्त्री के वेष से ही देवताओं का कार्यहोगा ऐसा जाननेवाले आपने दैत्यों को मोहित करनेके निमित्त वह वेष धारणकराथा॥ १५ ॥हेसुरश्रेष्ठ ! कामोद्दीपक और कामीजनों के बहुमाननीय उसरूप को देखनेकी इच्छाकरनेवाले तुम्हेंमैं दिखाताहूँ। १६ ।श्रीशुकदेवजीने कहा कि हेराजन्!इसप्रकार विष्णुभगवान् महादेजी के साथ भाषण करते तहां ही अन्तर्धान होगये और उससमय पा-

॥ १७ ॥ ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ॥ विक्रीडितीं कन्दुकलीलया लसद्दुकूलपर्यस्तनितंबमेखलाम् ॥ १८ ॥ आवर्तनोद्वर्तनकंपितस्तनप्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ॥ प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥ १९ ॥ दिक्षु भ्रमत्कंदुकचापलैर्भृशं प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनां ॥ स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्कपोलनीलालकमण्डिताननां ॥ २० ॥ श्लथदुकूलं कबरीं च विच्युतां सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ॥ विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं विमोहयन्तीं जगदात्ममायया॥२१॥तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ॥ स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥ २२ ॥ तस्याः कराग्रात्स तु कन्दुको यदा गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः ॥ वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्भवस्य देवस्य

पार्वतीसहित महादेवजी, तहाँही चारों ओर को देखते रहगये ॥ १७ ॥ तदनन्तर चित्र विचित्र पुष्प और कुछ एक लाल कोंपल पत्तोंवाले वृक्ष जहां हैं ऐसे वगीचे में एक श्रेष्ठ स्त्री उन महादेवजी ने देखी, वह गेंद उछालने की लीला से क्रीड़ा कर रही थी और उसके देदीप्यमान पीताम्बरसे ढकी हुई कमर में तागड़ी पड़ी थी ॥ १८ ॥ ऊपर को उछलनेवाली और नीचे को गिरनेवाली गेंद की लीला से वारंवार नीचे ऊपर को होने से कम्पायमान हुए स्तनोंके और उत्तम हार के अतिभार से पद पद पर कमर में मानों टूटीही हुई है ऐसी वह स्त्री, कोंपल की समान कोमल अपने चञ्चल चरणों को इधर उधर को चलाती थी ॥ १९ ॥ चारों ओरको घूमनेवाली गेंदकी चपलताके कारण उसके विशाल और चंचल नेत्रोंके डले अत्यन्तही व्याकुलहोतेथे, उसके कानोंसे झलकनेवाले कुण्डलोंकी कान्ति करके देदीप्यमान होनेवाले कपोलोंसे और भौंरेकी समान काले केशोंसे उसका मुख भूषित होरहाथा॥२०॥ ढीले होतेहुए वस्त्र को और खुलतीहुई वेणी को, अपने मनोहर वायें हाथ से सम्हाल रही थी और दूसरे हाथसे गेंदको उछालती हुई अपनी मायासे वह सकल जगत् को मोहित करतीथी ॥ २१ ॥ उस स्त्रीको देखतेक्षण ही महादेव जी ने अपने समीप वैठी हुई पार्वती को और अपने पार्षदों को नहीं जाना, क्योंकि—गेंद की क्रीड़ा से जो कुछ एक लज्जा उस करके छुपाहुआ जो हँसना ति[illegible]ाथ फेंकेहुए कटाक्ष से उनको अत्यन्त वश में करलिया था और उन्हों ने जो उस स्त्री को देखा तथा उस स्त्री ने जो उन की ओर को देखा इस कारण उन का मन अत्यन्त विह्वल होगया था ॥ २२ ॥ तदनन्तर उस के हाथ में से जब वह गेंद दूर चलीगई तब उन महादेवजी के निरन्तर देखते हुए, उस गेंद के पीछे ही पीछे जानेवाली उस स्त्री का सूक्ष्म वस्त्र कमर के बन्धन सहित वायु ने उड़ा

किलानुपश्यतः ॥ २३ ॥ एवं तां रुचिरापांगीं दर्शनीयां मनोरमां ॥ दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जंत्यां भवः किल ॥ २४ ॥ तयाऽपहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ॥ भवान्या अपि पश्यंत्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ ॥ २५ ॥ सा तमायांतमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशं ॥ निलीयमाना वृक्षेषु हसंती नान्वतिष्ठत ॥ २६ ॥ तामन्वगच्छद्भगवान् भवः प्रमुषितेंद्रियः ॥ कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥ २७ ॥ सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वाऽनिच्छतीं स्त्रियं ॥ केशबंध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ २८ ॥ सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा ॥ इतस्ततः प्रसर्पंती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥ २९ ॥ आत्मानं मोचयित्वांग सुरर्षभभुजांतरात् ॥ प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥ ३० ॥ तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः ॥ प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥ ३१ ॥ तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ॥ शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावतः ॥

या ॥ २३ ॥ इस प्रकार, नग्नहुई, देखने योग्य, सुन्दर नेत्र कटाक्षोंवाली, मनोहर और तिरछे करेहुए कटाक्षों से महादेवजी को अपनी आसक्ति दिखानेवाली उस स्त्री को देखते ही उन महादेवजी ने उस में अपने मन को आसक्त करा ॥ २४ ॥ तब उस ने अपने उत्पन्न करेहुए कामदेव से उन महादेवजी को विव्हल करके उन के ज्ञान को हरलिया तब तो महादेवजी भवानीके देखतेहुए ही निर्लज्ज होकर उस स्त्री के समीप को चल दिये ॥२५॥ वह स्त्री,महादेवजी को अपनी ओर आतेहुए देखकर वस्त्ररहित होनेके कारण अत्यन्त लज्जित होकर एक स्थानपर खड़ी न होकर हँसतीहुई वृक्षों में को छुपने लगी ॥ २६ ॥ उसीसमय व्याकुलचित्त और कामकेवशमेंहुए वह महादेवजी, जैसे कामातुर हुआ गजराज,हथिनी के पीछे पीछे जाताहै तैसेही उसके पीछे पीछे गये ॥२७॥ तदनन्तर उन महादेवजी ने,बड़े वेग से उस के पीछे पीछे दौड़ के जाकर, आलिङ्गन आदि की इच्छा न करनेवाली भी उस स्त्री के केश पकड़कर अपने समीप को खैंचलिया और भुजाओं से उस को दृढ़ता के साथ हृदय लगाया ॥ २८ ॥ इस प्रकार जैसे हाथी हथिनी को आलिङ्गन करता है तैसे भगवान् महादेवजी के उस स्त्री को आलिंगन करनेपर उस के केश अस्तव्यस्त होगये और वह इधर उधर को भागनेलगी ॥ २९ ॥ और हे राजन् ! स्थूल नितम्बवाली वह देवनिर्मित माया, सुरश्रेष्ठ महादेवजी की भुजाओं में से अपने को छुटाकर भागनेलगी ॥ ३० ॥ उस समय यह रुद्र, कामरूप शत्रु करके जीतेहुए से परवश होकर, अद्भुतलीला धारण करनेवाले श्रीहरिके पीछे२ भागनेलगे ॥ ३१ ॥ तब गर्भधारण के समय को प्राप्तहुई गौके पीछे पीछे दौड़नेवाले मदसे उन्मत्तहुए वृषभ (सांड) का जैसे वीर्यपात होता है तैसे ही उस स्त्री के पीछे पीछे दौड़नेवाले अमोघ-

॥ ३२ ॥ यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः ॥ तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते ॥ ३३ ॥ सरित्सरस्सु शैलेषु वनेषूपवनेषु च ॥ यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र सन्निहितो हरः ॥ ३४ ॥ स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया ॥ जडीकृतं नृपश्रेष्ठ संन्यवर्तत कश्मलात् ॥ ३५ ॥ अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः ॥ अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम् ॥ ३६ ॥ तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः ॥ उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम् ॥ ३७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः ॥ यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥ ३८ ॥ को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान् ॥ तांस्तान्विसृजतीं भावान् दुस्तरामकृतात्मभिः ॥ ३९ ॥ सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति ॥ मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥ ४० ॥ श्रीशुक उवाच ॥

वीर्य शंकर का वीर्यपात हुआ ॥ ३२ ॥ और हे राजन् ! पृथ्वीपर जहाँ जहाँ उन महात्मा शङ्कर का वीर्य गिरा था वह वह चाँदी की और सोने की खानें हुईं ॥ ३३ ॥ और उस के पीछे दौडते २ नदी, सरोवर, पर्वत, वन उपवन और जिस २ स्थान में ऋषि निवास करते थे तहाँ वह महादेवजी, मोहिनी स्त्री के साथ जाकर समीपता को प्राप्त हुए अर्थात् वह २ क्षेत्र भक्तों को शीघ्र महादेव जी का साक्षात्कार होने के स्थान हुए ॥ ३४ ॥ हे नृपश्रेष्ठ ! वीर्यपात होने पर उन महादेव जी ने, देव की (विष्णु की) माया ने मुझे अत्यन्त जड़ करडाला है, ऐसा जाना अर्थात् मोहिनी को देखने से ही जड़ हुए अपने को तैसा जाना और तदनन्तर वह महादेव जी मोहरहित हुए ॥ ३५ ॥ तदनन्तर जिस का परिमाण नहीं ऐसी योगमाया की शक्तिवाले जगदात्मा श्री हरि के और अपने वास्तविक प्रभाव को जानकर, उस देवमाया ने जो अपने को जड़ करडाला था सो आश्चर्य माना ॥ ३६ ॥ उस समय व्याकुलता और लज्जा से रहित उन महादेव जी को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए उन मधुसूदन भगवान् ने, अपने पुरुष स्वरूप को धारण कर के इसप्रकार कहा ॥ ३७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि हे सुरश्रेष्ठ ! मेरी स्त्रीरूप माया से तुम अत्यन्त यथेष्ट मोहित होगये थे तब भी स्वयं ही फिर अपनी स्थिति (असली हालत) को प्राप्त हुए हो, यह बड़ा ही अच्छा हुआ ॥ ३८ ॥ क्योंकि-नानाप्रकार के विषय उत्पन्न करनेवाली और इन्द्रियों को वश में न रखनेवाले पुरुषों को दुस्तर ऐसी इस मेरी माया को तुम्हारे सिवाय दूसरा कौन विषयासक्त पुरुष तरेगा ? ॥ ३९ ॥ तिस से, गुणों के विभाग से सृष्टि आदि करनेवाले मुझ कालरूप परमेश्वर के अधीन रहनेवाली यह गुणमयी माया, आज से तुम्हें कभी भी मोहित करने को समर्थ नहीं होगी ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इस प्रकार

एवं भगवता राजन् श्रीवत्सांकेन सत्कृतः ॥ आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥४१॥ आत्मांशभूतां तां मायां भवानीं भगवान् भवः ॥ शंसतामृषिमुख्यानां प्रीत्याचष्टाथ भारत ॥ ४२ ॥ अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां परस्य पुंसः परदेवतायाः ॥ अहं कलानामृषभो विमुह्ये ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥ ४३ ॥ यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्समासहस्रांत उपारतं वै ॥ स एष साक्षात्पुरुषः पुराणो न यत्र कालो विशते न वेदः ॥ ४४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः ॥ सिंधोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥ ४५ ॥ एतन्मुहुः कीर्त्तयतोऽनुशृण्वतो न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ॥ यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं समस्तसंसारपरिश्रमापहं ॥ ४६ ॥ असदविषयमंघ्रिं भावगम्यं प्रपन्नानमृतममरवर्यानाशयत्सिंधुमथ्यम् ॥

श्रीवत्सलाञ्छन भगवान् के सत्कार करनेपर वह महादेवजी उन की आज्ञा लेकर और उन को प्रदक्षिणा करके अपने गणों सहित निजधाम को चले आये ॥ ४१ ॥ हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! वह रुद्र भगवान्, अपने स्थान को चले गये तब ऋषिश्रेष्ठों के सुनते हुए, अपनी अंशरूप माया भवानी से, नीति के साथ भगवान् की लीला की प्रबलता का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहने लगे कि—॥ ४२ ॥ हे देवि ! जन्म आदि विकार रहित परमात्मा पुरुषोत्तम की माया को तैने पूर्ण रीति से देख लिया ? जिस माया कर के भगवान् के अंशावतारों में श्रेष्ठ मैं रुद्र भी, पराधीन होकर मोह को प्राप्त हुआ; फिर इन्द्रिय आदि के वश में रहनेवाले और पुरुष मोहित होंगे इस का तो कहना ही क्या? ॥ ४३ ॥ हे पार्वति ! पहिले सहस्र वर्ष के अन्त में समाधि से उठे हुए मुझ से आकर तू ने जो बूझा था कि—'तुम परमेश्वर होकर किस का ध्यान करते हो' और जिन के विषय में काल का अथवा वेद का प्रवेश नहीं होता है निःसन्देह वही यह साक्षात् पुराणपुरुष हैं ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् परीक्षित् ! इसप्रकार समुद्र को मथने के समय जिन्हों ने अपनी पीठपर मन्दर नामक बड़ेभारी पर्वत को धारण करा, उन शार्ङ्गधन्वा भगवान् का समुद्र को मथना आदि पराक्रम मैंने तुम से कहा है ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष, वारंवार इस आख्यान को सुनता है वा कीर्त्तन करता है उस का उत्तम उद्योग कभी निष्फल नहीं होता है; क्योंकि श्रेष्ठकीर्त्ति भगवान् के गुणों का कीर्त्तन करना संसार के सकल ही श्रमों को दूर करता है ॥ ४६ ॥ जिन भगवान् ने अपनी माया से स्त्री का वेष धारण करके दैत्यों को मोहित करते हुए, जिस को दुर्जन न जान सकें और जो भक्ति से जाना जाता है ऐसे अपने चरण की शरण में आये हुए श्रेष्ठ

कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारींस्तममृतमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥ ४७ ॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे शङ्करमायामोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः
॥ १२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ॥
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥ १ ॥ इक्ष्वाकुर्नभग श्चैव धृष्टः शर्या-
तिरेव च ॥ नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥ २ ॥ करूषश्च पृषध्रश्च
दशमो वसुमान्स्मृतः ॥ मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परंतप ॥ ३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥ अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां
पुरंदरः ॥ ४ ॥ कश्यपोत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥ जमदग्निर्भरद्वाज
इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥ ५ ॥ अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ॥
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ ६ ॥ संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वं-
तराणि ते ॥ भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च ॥ ७ ॥
विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे ॥ संज्ञा छाया च राजेंद्र ये प्रागभि-
हिते तव ॥ ८ ॥ तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः ॥ यमो यमी

देवताओं को, समुद्र मथने से उत्पन्न हुआ अमृत पिलाया है और जो शरणागतों की कामना को पूर्ण करते हैं उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में द्वादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् परीक्षित्! विवस्वान् का (सूर्यका) श्राद्धदेव नामसे प्रसिद्ध पुत्र आजकल वर्त्तमान सातवें मन्वन्तरका मनुहै अब उसकी सन्तानोंको तुम मुझसे सुनो ॥ १ ॥ हेशत्रुतापन! इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त और नाभाग यह छः और सातवां दिष्ट यह उस के पुत्र कहे हैं ॥ २ ॥ तथा करूष और पृषध्र यह दोनों तथा दशवां वसुमान् यह सब मिलकर वैवस्वत मनु के दश पुत्र हैं, हे परन्तप राजन् ! बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, विश्वेदेवा, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभुगण यह इस मन्वन्तर में के देवता हैं और पुरन्दर नामक इन का इन्द्र है ॥ ३ ॥ ४ ॥ तथा, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज यह इस मन्वन्तर में के सप्तऋषि कहे हैं ॥ ५ ॥ इस मन्वन्तर में भी कश्यप जी से अदिति के विषैं बारह आदित्यों में छोटे जो वामनरूप धारण करनेवाले विष्णु वही भगवान् का अवतार हुआ ॥ ६ ॥ इसप्रकार सात मन्वन्तर मैंने तुम से संक्षेप में कहे हैं अब विष्णुभगवान् के अवतारों से युक्त आगे होनेवाले मन्वन्तर भी मैं कहता हूँ ॥ ७ ॥ हे राजेन्द्र ! विवस्वान् नामक सूर्य की संज्ञा और छाया नामवाली दो स्त्रियें थीं, वह दोनों ही विश्वकर्मा की कन्या थीं, सो मैंने तुम से पहिले छठे स्कन्ध में कहा है ॥ ८ ॥ उस विवस्वान् की ही तीसरी बड़वा नामक एक स्त्री थी ऐसा

श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु ॥ ९ ॥ सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या ॥ शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ॥ १० ॥ अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ॥ निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप ॥ ११ ॥ तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः ॥ तेषां विरोचनसुतो बलिरिंद्रो भविष्यति ॥ १२ ॥ दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम् ॥ राद्धमिंद्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥ १३ ॥ योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः ॥ निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव ॥ १४ ॥ गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा ॥ ऋष्यशृंगः पितास्माकं भगवान्बादरायणः ॥ १५ ॥ इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यंति स्वयोगतः ॥ इदानीमासते राजन् स्वे स्वे आश्रममंडले ॥ १६ ॥ देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः ॥ स्थानं पुरंदराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥ १७ ॥ नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसंभवः भूतकेतुर्दीप्तिकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप ॥ १८ ॥ पारा मरीचिगर्भाद्या देवा

कोई कहते हैं इन तीनों में से यम, यमी और श्राद्धदेव मनु यह संज्ञा की सन्तान थीं अब छाया की सन्तानों को सुनो ॥ ९ ॥ सावर्णि नामक पुत्र, जो आगे संवरण ऋषि की स्त्री कही है वह तपती नामवाली कन्या और तीसरे शनैश्चर यह छाया की सन्तानहुई अश्विनीकुमार वड़वा के पुत्र हुए ॥ १० ॥ हे राजन् ! आठवें मन्वन्तर के आनेपर सावर्णि नामवाला मनु होगा, और निर्मोक तथा विरजस्क आदि उस सावर्णिके पुत्र होंगे ॥ ११ ॥ उस मन्वन्तर में सुतपस्, विरज और अमृतप्रभ देवता होंगे, और जिस ने इस सातवें मन्वन्तर में तीन चरण भूमि मांगनेवाले विष्णुभगवान् को यह सम्पूर्ण पृथ्वी समर्पण करी और जिस को पहिले भगवान् ने बांधकर भी पीछे प्रसन्न होकर स्वर्ग से भी अधिक सुखकारी सुतल में स्थापन करा इसकारण इससमय भी तहां इन्द्र की समान ऐश्वर्य को भोग रहा है, वह विरोचन का पुत्र बलि इन्द्र होयगा और तदनन्तर वह विष्णुभगवान् के अनुग्रह से प्राप्त हुए उस इन्द्रपद को त्यागकर मोक्षसिद्धि को प्राप्त होगा ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ उस मन्वन्तर में गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग और मेरे पिता भगवान् वेदव्यास यह सात ऋषि होंगे; हे राजन् ! इस समय वह ऋषि योगसमाधि लगाये हुए अपने २ आश्रम में वास कर रहे हैं ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ उस मन्वन्तर में ईश्वर प्रभु, देवगुह्य नामवाले ब्राह्मण की सरस्वती नामवाली स्त्री के विषैं सार्वभौम नामक अवतार धारण करके, इस समय के पुरन्दर नामवाले इन्द्र से इन्द्रपद को हरकर बलि को देंगे ॥ १७ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! दक्षसावर्णिनामवाला वरुण का पुत्र नवां मनु होगा और भूतकेतु दीप्तिकेतु आदि उस के पुत्र होंगे ॥ १८ ॥ तथा उस मन्वन्तर में पार तथा मरीचिगर्भ आदि देवता होंगे, अ-

इंद्रोऽद्भुतः स्मृतः ॥ द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यंत्यृषयस्ततः ॥ १९ ॥ आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला ॥ भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥ २० ॥ दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान् ॥ तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥ २१ ॥ हविष्मान्सुकृतः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः ॥ सुवासनविरुद्धाद्या देवाः शंभुः सुरेश्वरः ॥ २२ ॥ विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शंभोः सख्यं करिष्यति ॥ जातः स्वांशेन भगवान् गृहे विश्वसृजो विभुः ॥ २३ ॥ मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् ॥ अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥ २४ ॥ विहंगमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः ॥ इंद्रश्च वैधृतिस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥ २५ ॥ आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः ॥ वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥ २६ ॥ भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः ॥ देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥ २७ ॥ ऋतधामा च तत्रेंद्रो देवाश्च हरितादयः ॥ ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ॥२८॥

अद्भुत नाम से प्रसिद्ध इन्द्र होगा और द्युतिमत् आदि अर्थात् द्युतिमान्, सवन, हव्य, वसु, मेधातिथि, ज्योतिष्मान् और सत्य यह उस समय सप्तऋषि होंगे ॥ १९ ॥ और आयुष्मान् नामक पिता से अम्बुधारा नामवाली माता के विषैं ऋषभ नाम से भगवान् अवतार धारण करैंगे और उनकी वश में करीहुई त्रिलोकी को अद्भुत नामवाला इन्द्र भोगेगा ॥ २० ॥ तदनन्तर गुणों कर के बड़ा उपश्लोक का पुत्र ब्रह्मसावर्णि नामवाला दशवां मनु होगा, उस के पुत्र भूरिषेण आदि होंगे और हविष्मान् आदि ऋषि होंगे ॥ २१ ॥ हे राजन् ! हविष्मान्, सुकृति, सत्य, जय और मूर्त्ति यह उस समय ऋषि होंगे, सुवासन और विरुद्ध आदि देवता होंगे तथा शम्भु नामवाला इन्द्र होगा ॥ २२ ॥ और विश्वस्रष्टा के घर विषूची नामवाली स्त्री के विषैं, समर्थ भगवान् विष्वक्सेन नाम से अपना अंशावतार धारण करके शम्भु नामक इन्द्र की सहायता करैंगे ॥ २३ ॥ तदनन्तर जितेन्द्रिय धर्मसावर्णि नामवाला ग्यारहवां मनु होगा और सत्य धर्म आदि उस के दश पुत्र होंगे ॥ २४ ॥ तथा विहङ्गम, कामगम और निर्वाणरुचि, यह उस मन्वन्तर में देवता होंगे और उनका वैधृति नामक इन्द्र होगा और अरुण आदि अर्थात् अरुण, हविष्मान्, वपुष्मान, अनघ, उरुधिष्ण्य, निश्चर और अग्नितेजा यह सप्तर्षि होंगे ॥ २५ ॥ और उस मन्वन्तर में आर्यक नामवाले पितासे वैधृति नामवाली माता के विषैं धर्मसेतु नाम से प्रसिद्ध अवतार धारण करके श्रीहरि त्रिलोकी का पोषण करैंगे ॥ २६ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! रुद्रसावर्णि बारहवां मनु होगा और देववान्, उपदेव और देव श्रेष्ठ इत्यादि उस के पुत्र होंगे ॥ २७ ॥ और उस मन्वन्तर में ऋतधामा नामक इन्द्र होगा;हरितादिक देवता होंगे, और तपोमूर्ति, त-

स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः ॥ अंतरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः ॥ २९ ॥ मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान् ॥ चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः ॥ ३० ॥ देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः॥ निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यंत्यृषयस्तदा ।३१। देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः ॥ योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां संभविष्यति ॥३२॥ मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति ॥ उरुगंभीरबुद्ध्याद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥३३॥ पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति ॥ अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥ ३४ ॥ सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः ॥ वितानायां महाराज क्रियातंतून्वितायिता ॥ ३५ ॥ राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ॥ प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ मन्वन्तरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे ॥ यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे ॥ १ ॥ ऋषिरुवाच ॥ मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते ॥ इन्द्राः

पस्वी और आग्नीध्रक आदि सातऋषि होंगे ॥ २८ ॥ और उस में सत्यसहस् ऋषि की सूनृता स्त्री के विषैं स्वधामा नामवाला श्रीहरि का अवतार होकर उस मन्वन्तर का पालन करेगा ॥ २९ ॥ तदनन्तर जितेन्द्रिय देवसावर्णि नामक तेरहवां मनु होगा; और चित्रसेन विचित्र आदि देवसावर्णि के पुत्र होंगे ॥ ३० ॥ तथा सुकर्मा और सुत्रामा नामवाले देवता होंगे दिवस्पति नामक इन्द्र होगा और निर्मोक, तत्वदर्शी निष्कम्प, निरुत्सुक, धृतिमान्, अव्यय और सुतपा यह उस समय सप्तऋषि होंगे ॥३१॥ और दिवस्पति नामक इन्द्र को त्रिलोकी का राज्य प्राप्त करानेवाले बृहती नामवाली माताके विषैं देवहोत्रका पुत्र योगेश्वर नामक उत्पन्न होगा ॥३२॥ और तदनन्तर इन्द्रसावर्णि नामवाला चौदहवां मनु होगा और उरु, गम्भीरबुद्धि आदि उस इन्द्रसावर्णिके पुत्र होंगे ॥३३॥ तथा पवित्र और चाक्षुप नामवाले देवता होंगे, शुचि, नामवाला इन्द्र होगा, और अग्निबाहु, शुचि, तथा मागध आदि सप्त ऋषि होंगे ॥३४॥ हे महाराज उस मन्वन्तर में विताना नामवाली माताके विषैं सत्रायण के पुत्ररूप से अवतार लेनेवाले श्रीहरि बृहद्भानु नाम से कर्मकाण्ड का विस्तार करेंगे ॥३५॥ हे राजन् ! इसप्रकार भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालों में होनेवाले यह चौदह मन्वन्तर मैंने तुमसे कहे हैं इन चौदहों मन्वन्तरों का काल सहस्रयुग परिमाण का होता है और इसको ही कल्प (ब्रह्माजी का एक दिन) कहते हैं॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ राजा परीक्षित् ने कहा कि–हे भगवन् ! पहिले कहे हुए सकल मनु आदिकों में से, प्रत्येक मन्वन्तर के विषैं जिनकर्मों में जिनको जिन्होंने योजित करा सो मुझसे वर्णन करिये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे भूपते !

सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः ॥ २ ॥ यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्य-
स्तनवो नृप ॥ मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः ॥३॥ चतुर्युगान्ते का-
लेन ग्रस्तान् श्रुतिगणान्यथा ॥ तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः ॥४॥
ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः ॥ युक्ताः संचारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले
महीं नृपाः ॥ ५ ॥ पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः ॥ यज्ञभागभुजो
देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः ॥ ६ ॥ इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमू-
र्जिताम् ॥ भुंजानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति ॥ ७ ॥ ज्ञानं चा-
नुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक् ॥ ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक् ॥
॥ ८ ॥ सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून् हन्यात्स्वराड्वपुः ॥ कालरूपेण सर्वेषामभा-
वाय पृथग्गुणः ॥ ९ ॥ स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया ॥ विमोहितात्म-

मनु, मनुओं के पुत्र, मुनि, इन्द्र और देवता इन सब को ही भगवान् ने, अपने २ कर्म में योजित करा है ॥ २ ॥ अर्थात् हे राजन्! परमेश्वर की जो यज्ञ आदि अवतार-मूर्त्तियें मैंने पहिले तुम से कही हैं उनके प्रेरणा करेहुए मनु आदि जगत् का निर्वाह करते हैं अर्थात् जगत् की स्थिति के निमित्त अपने अपने कर्म को करते हैं ॥ ३ ॥ हे राजन्! काल की गति से लुप्त हुए वेदों के समूहों को चारों युगों केअन्त में, सत्य-युग के प्रारम्भ के समय अपने तपोबल से यथोचित रीति से ऋषि देखते हैं और वर्णन करते हैं; फिर उन से लोकमें सनातन धर्म का प्रचार होताहै ॥ ४ ॥ तदनन्तर हेराजन् श्रीहरि के आज्ञा करे हुए मनुरूप राजे, मन को वश में करके अपने मन्वन्तर रूप समय में पृथ्वीपर साक्षात् चार चरण वाले धर्म का प्रचार करते हैं ॥ ५ ॥ तथा मनुओं के पुत्र मन्वन्तर की समाप्ति पर्यन्त पुत्र पौत्र आदि के क्रम से उस धर्म की रक्षा करते हैं और उस मन्वन्तर में यज्ञ का भाग लेनेवाले जो देवता कहे हैं वह भी धर्म की रक्षा करते हैं ॥ ६ ॥ और भगवान् के दिये हुए सम्पत्तिमान् त्रिलोकी के ऐश्वर्य को भोगने वाला इन्द्र, लोक में यथेष्ट जल को वर्षाकर त्रिलोकी का पालन करता है ॥ ७ ॥ हे राजन्! प्रत्येक युग में श्रीहरि, सनकादि सिद्धों का रूप धारण करके ज्ञान का, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों का रूप धारण करके कर्ममार्गका और दत्तात्रेय आदि योगेश्वरों के रूप से योग का उपदेश करते हैं ॥ ८ ॥ तथा मरीचि आदि प्रजापतियों के रूप से प्रजाओं की उत्पत्ति करते हैं, राजा के रूप से चोरों का वध करते हैं और भिन्न भिन्न प्रकार के गुणों से युक्त होकर कालरूप से वह सब के नाश का कारण होते हैं ॥ ९ ॥ परन्तु नामरूपात्मक माया के द्वारा जिन के अन्तःकरण मोहित होरहे हैं ऐसे पुरुष, नानाप्रकार के शास्त्रों करके उन का वर्णन करते हैं तो भी वह, उन को दर्शन नहीं

भिर्नानादर्शनैर्नृप दृश्यते ॥ १० ॥ एतत्कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ॥ यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः ॥ ११ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ राजोवाच ॥ बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत ॥ भूतेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोपि बबन्ध तम् ॥ १ ॥ एतद्वेदितुमिच्छामो महत्कौतूहलं हि नः ॥ यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः ॥ सर्वात्मना तानभजद्भृगून्बलिः शिष्यो महात्माऽर्थनिवेदनेन ॥ ३ ॥ तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकं ॥ जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य महाभिषेकेण महानुभावाः ॥ ४ ॥ ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो हयाश्च हर्यश्वतुरंगवर्णाः ॥ ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥ ५ ॥ धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं तूणावरिक्तौ कवचं

देते हैं अर्थात् वह इस प्रकार के हैं कि-उन का समझना अत्यन्त कठिन है ॥१० ॥ हे राजन् ! जिस में चौदह मन्वन्तर होते हैं ऐसा पूर्वकाल का वृत्तान्त जाननेवालों ने कहा है वह यह अवान्तर कल्प का वृत्तांत मैंने तुम से कहा है ॥ ११ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध में चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ राजा ने कहा कि-हे भगवन् ! श्रीहरि ने स्वयं ईश्वर होकर भी दीन की समान होकर राजा बलि से तीन चरण भूमि क्यों मांगी ? और फिर त्रिलोकी को लेने से पूर्णमनोरथ होकर भी उन श्रीहरि ने बलि को क्यों बांधा ? इस विषय में हमें बड़ा कौतुक है इस कारण हम उस को जानने की इच्छा करते हैं, क्योंकि-यज्ञ का फल देनेवाले पूर्णकाम परमेश्वर का याचना करना और देह आदि समर्पण करके निरपराध हुए बलि को बाँधना यह दोनों बातें असम्भव सी प्रतीत होती हैं ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हेराजन् ! युद्ध में जिस ने अपनी सम्पत्ति खो दी थी, और इंद्र ने जिस को मूर्छित भी करदिया था उस बलि को, भृगुवंश में उत्पन्न हुए शुक्राचार्य आदिकों ने जीवित करा था; इस कारण वह उदारचित्त बलि उन का शिष्य होकर, 'इन की सेवा करने से ही मुझे ऐश्वर्य आदि सम्पदा प्राप्त होगी' ऐसे दृढ़ विश्वास से, इच्छित पदार्थ समर्पण करके उन की सेवा करने लगा ॥ ३ ॥ तब सन्तुष्ट हुए परम प्रभावशाली उन भृगुवंशी ब्राह्मणों ने, स्वर्ग को जीतने की इच्छा करनेवाले उस बलि का, वैदिक ग्रंथो में प्रसिद्ध इन्द्र के महाभिषेक की विधि से अभिषेक करके उस से विश्वजित् नामक यज्ञ करवाया ॥४॥ तदनन्तर होमकी सामग्रियों से पूजन करे हुए अग्नि में से, सुवर्ण की चादर से मँढाहुआ रथ, इन्द्र के घोड़ों की समान हरेवर्ण के घोड़े, और सिंह से शोभायमान ध्वजा यह तीन वस्तुएँ मिलीं ॥ ५ ॥ तथा सुवर्ण से मढा हुआ दिव्य धनुष, अक्षय तर्कस, और दिव्यकवच यह भी

च दिव्यं ॥ पितामहस्तस्य ददौ च मालामम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः ॥६॥
एवं स विप्रार्जितयोधनार्थस्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान् ॥ प्रदक्षिणी-
कृत्य कृतप्रणामः प्रह्रादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥ ७ ॥ अथारुह्य रथं दिव्यं भृगु-
दत्तं महारथः ॥ सुस्रग्धरोऽथ सन्नह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥ ८ ॥ हेमांग-
दलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुंडलः ॥ रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट् ॥
॥ ९ ॥ तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः ॥ पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः
परिधीनिव ॥ १० ॥ वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ॥ ययाविन्द्र-
पुरीं स्वृद्धां कंपयन्निव रोदसी ॥ ११ ॥ रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नंदना-
दिभिः ॥ कूजद्विहंगमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥ १२॥ प्रवालफलपुष्पोरुभारशा-
खामरद्रुमैः ॥ हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ॥ नलिन्यो यत्र क्रीडंति
प्रमदाः सुरसेविताः ॥ १३॥ आकाशगंगया देव्या वृतां परिखभूतया ॥ प्राकारेणा-

---

उस अग्नि में से निकले; उससमय प्रल्हाद नामक पितामह ने जिस में के पुष्प कभी भी नहीं कुम्हलाते हैं ऐसी माला उस बलि को दी और शुक्राचार्य ने शंख दिया ॥ ६ ॥ इस प्रकार ब्राह्मणों ने उस के युद्ध की सामग्री इकट्ठी करी और फिर स्वस्तिवाचन आदि करने पर उस बलिने उन ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर नमस्कार करा तथा प्रल्हाद जी को नमस्कार करके उन से आज्ञाली ॥ ७ ॥ तदनन्तर सर्वोत्तम माला, उत्तम कवच, धनुष, तरवार और तरकस धारण करके वह महारथी बलि, भृगुवंशी ब्राह्मणों के दियेहुए रथपर चढ़ा ॥ ८ ॥ उससमय सुवर्ण के बाजूबन्दों से जिसकी भुजा झलकरही हैं और मकराकृति कुण्डल जिस के कानों में चमक रहे हैं ऐसा वह बलि, रथपर चढ़ कर कुण्ड में प्रज्वलितहुए अग्नि की समान शोभित होनेलगा ॥ ९ ॥ तदनन्तर (मुखसे) मानो आकाश को पीरहे हैं और मानों नेत्रों से दिशाओं को भस्मही करे डालते हैं तथा जिनका प्रभाव, बल और सम्पत्ति यह एक समान ही हैं ऐसे दैत्यसेनापति रूप अपने गणों से घिराहुआ वह समर्थ बलि, स्वर्ग और पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ, प्रचण्ड असुर सेना को साथ लेकर परम समृद्धिमती इन्द्रपुरी की ओर को चला ॥ १० ॥ ११ ॥ धिक्कार है इस ग्राम्य सुख को ! अहो ! ऐसी अत्यन्त सम्पत्तियों युक्त पुरीको एकाएकी त्यागकर इन्द्रादिक देवता भाग गये, इस प्रकार वैराग्य होने के निमित्त श्रीशुकदेव जी इन्द्रपुरी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—हे राजन् ! जो नगरी, शोभायुक्त नन्दन आदि बगीचों से और बागों से सुन्दर है वह बगीचे आदि ऐसे हैं कि—उन में मधुर शब्द करने वाले पक्षियों के जोड़े हैं, गुञ्जार ने वाले मत्त भ्रमर हैं कोमल पत्ते, फल और पुष्पों के अधिक भार से भरीहुई शाखाओं वाले कल्पवृक्ष हैं, और जहां देवताओं के भोगने योग्य उत्तम स्त्रियें क्रीड़ा करती हैं ऐसे हंस, सारस, चक्रवाक और कारण्डव पक्षियों के समूहों से भरेहुए सरोवर हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥ जो

ग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥ १४ ॥ रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः ।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥ १५ ॥ सभाचत्वररथ्याढ्यां वि-
मानैर्न्यर्बुदैर्युतां ॥ शृंगाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥ यत्र नित्यव-
योरूपाः श्यामा विरजवाससः ॥ भ्राजंते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिभिरिव वह्नयः ॥
॥ १७ ॥ सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगंधिकस्रजाम् ॥ यत्रामोदमुपादाय मार्ग आ-
वाति मारुतः ॥ १८ ॥ हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगंधिना ॥ पांडुरेण प्रति-
च्छन्नमार्गे यांति सुरप्रियाः ॥ १९ ॥ मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभिर्नानापताका-
वलभीभिरावृतां ॥ शिखण्डिपारावतभृंगनादितां वैमानिकस्त्रीकलगीतमंगलां ॥
॥ २० ॥ मृदंगशंखानकदुंदुभिस्वनैः सतालवीणामुरजर्ष्टिवेणुभिः ॥ नृत्यैः
सवाद्यैरुपदेवगीतकैर्मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम् ॥ २१ ॥ यां न व्रजं-
त्यधार्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः ॥ मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीनो

सकल देवताओं की पूजनीय खाई समान आकाश गङ्गासे और ऊँचे २ बुरजों वाले अग्नि की समान तेजयुक्त सुवर्ण के परकोटे से घिरी हुई है ॥ १४ ॥ जो, सोने की पट्टी पड़ी हुई किवाड़ों वाले द्वारों से, स्फटिक के बने हुए नगर के द्वारों से और भिन्न २ राजमार्गों से युक्त है, जिस को विश्वकर्मा ने रचा है ॥ १५ ॥ जो, सभा, आंगन और गलियों से शोभायमान तथा दश करोड़ विमानों से युक्त है, जो हीरे मूँगों की मणिजटित वेदियों वाले चौहाटों से युक्त है ॥ १६ ॥ जिस में सदा तरुणाई और सुकुमारता युक्त, निर्मल वस्त्र पहिनने वाली और उत्तम आभूषण धारण करनेवाली श्यामा (सोलह वर्ष की अवस्थावाली) स्त्रियें, ज्वालाओं से शोभायमान होनेवाली अग्नियों की समान शोभित होती हैं ॥ १७ ॥ जहां वायु, देवाङ्गनाओं के केशों में से गिरी हुई नवीन चम्पे की मालाओं के सुगन्ध को ग्रहण करके मार्ग में चलता है ॥ १८ ॥ जहां अप्सरा सुवर्ण के झरोखों में से बाहर को निकलनेवाले अगर की गन्धयुक्त श्वेत धुएं से भरे हुए मार्गों में विचरती हैं ॥ १९ ॥ मोतियों की झालरदार चँदोवे, मणिजटित सुवर्ण की ध्वजा, और नानाप्रकार की पताकाओं से शोभायमान छज्जों से भरी हुई तथा जो मोर कबूतर और भ्रमरों से गुञ्जार रही है, और जो देवाङ्गनाओं के मधुर गीतों से मङ्गलयुक्त होरही है ॥ २० ॥ जो, मृदङ्ग, शंख, नगाड़े, और दुन्दुभि इन की ध्वनि, तबला, वीणा, मुरज, ऋष्टि और वेणु यह बाजे तथा बाजों सहित नाच और गन्धर्व आदिकों के गीतों से मनोहर है तथा जिसने अपनी कान्ति से प्रभा की अधिष्ठात्री देवता को जीतलिया है ॥ २१ ॥ जिस में पातकी, दुष्ट, प्राणियों को पीड़ा देनेवाले, ठग, अभिमानी, विषयासक्त और लोभी पुरुष गमन नहीं करते हैं और

व्रजंति यत् ॥२२॥ तां देवधानीं स वरूथिनीपतिर्बहिः समंतात्रुरुधे पृतन्यया॥
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं दध्मौ प्रयुञ्जन् भयमिंद्रयोषितां ॥ २३ ॥ मघ-
वांस्तदभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम् ॥ सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥ २४ ॥
भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः ॥ अविषह्यमिमं मन्ये केना-सीत्तेजसो-
र्जितः ॥ २५ ॥ नैनं कश्चित्कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः ॥ पिबन्निव
मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश ॥ दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरि-
वोत्थितः ॥ २६ ॥ ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः ॥ ओजः सहो
बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥ २७ ॥ गुरुरुवाच ॥ जानामि मघवन् शत्रोरु-
न्नतेरस्य कारणम् ॥ शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ २८ ॥ भ-
वद्विधो भवान्वाऽपि वर्जयित्वेश्वरं हरिम् ॥ नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतांतस्य
यथा जनाः ॥ २९ ॥ तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् ॥ यात कालं

जिसमें इन अधर्म आदि दोषोंसे रहित पुरुष जातेहैं ॥२२॥ ऐसी उस देवताओं के निवास करने की नगरी को बाहर चारों ओर से, उस सेनापति बलि ने अपनी सेना से घेरलिया और इन्द्र की स्त्रियों को भयभीत करतेहुए शुक्राचार्य का दियाहुआ बड़े भारी शब्दवाला शंख बजाया ॥ २३ ॥ उस बलि के बड़ेभारी उद्योग को जानकर, सकल देवताओं को साथ ले इन्द्र ने गुरु के समीप आकर यह कहा ॥२४॥ कि-हे भगवन्! हमारे पूर्वकाल के वैरी बलि का यह बड़ाभारी उद्योग है, मैं तो इसको असह्य समझता हूँ. सो इससमय यह किस कारण से वृद्धि को प्राप्त हुआ है वह मुझ से कहिये ? ॥२५॥ हे गुरो ! केवल मुझे ही असह्य नहीं है किन्तु कोई भी किसी उपाय से भी इसको दूर नहीं करसक्ता, क्योंकि-यह मुख से मानो विश्वको पिये जाता है और मानों नेत्रों से सकल दिशाओं को भस्म ही करे डालता है ऐसा प्रलयकाल की अग्नि की समान हमारा नाश करने को उद्यत हुआ है ॥ २६ ॥ सो जिस कारण से इसको इन्द्रियों की शक्ति, मानसिक शक्ति, शरीरका बल और प्रभाव प्राप्त हुए हैं कि-जिन इन्द्रियों की शक्ति आदि से इसने ऐसा बड़ाभारी उद्योग करा है वह मेरे शत्रु के असह्य होने का कारण कहिये ? ॥ २७ ॥ तब बृहस्पति जी ने कहा कि हे मघवन्! इस तेरे शत्रु की उन्नति होने का कारण मैं जानता हूँ; हे इन्द्र! अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले शिष्यरूप बलि को, ब्रह्मज्ञानी भृगुवंशी शुक्राचार्य आदि गुरुओं ने यह तेज अर्पण करा है ॥ २८ ॥ इस कारण जैसे कोई भी पुरुष मृत्यु के आगे खड़े होने को समर्थ नहीं होता है तैसे ही एक ईश्वर श्री हरि को छोड़कर तू वा तेरी समान दूसरा कोई पुरुष भी, इस के सामने खड़े होने को समर्थ नहीं है ॥ २९ ॥ इस कारण तुम सब स्वर्ग को छोड़कर छुपजाओ और जिस

मेतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥ ३० ॥ एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः ॥ एषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥ ३१ ॥ एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना ॥ हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥ ३२ ॥ देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनिः पुरीं ॥ देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥ ३३ ॥ तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः॥ शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन् ॥ ३४ ॥ ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुतां ॥ कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेजे उडुराडिव ॥ ३५ ॥ बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलंभितां ॥ कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमाताऽदितिस्तदा ॥ हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥१॥ एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात् ॥ निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात् ॥२॥ सपत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः ॥ सभाजितो यथान्यायमि-

से तुम्हारे शत्रु (बलि) का निरस्कार हो उस काल की प्रतीक्षा करते रहो ॥ ३० ॥ हे देवताओं ! इस बलि की ब्राह्मणों के बल से अधिक २ वृद्धि होरही है इस कारण इस समय यह बड़ाभारी पराक्रमी होगया है; सो जब यह उन ब्राह्मणों का ही अपमान करेगा तब परिवार और दैत्यों सहित नष्ट होगा ॥ ३१ ॥ इस प्रकार बृहस्पतिजी कर के उत्तम सम्मति दिये हुए वह देवता, यथेष्टरूप धारण करके स्वर्ग को छोड़कर चले गये ॥ ३२ ॥ देवताओं के छुपजाने पर इस के अनन्तर विरोचन के पुत्र बलि ने देवताओं की निवासस्थानरूप इन्द्रपुरी का स्वामी बनकर सकल त्रिलोकी को वश में कर लिया ॥ ३३ ॥ इस प्रकार पाये हुए इन्द्रपद को स्थिर करने के निमित्त अपनी आज्ञा में चलनेवाले उस जगद्विजयी शिष्य से, शिष्य के ऊपर प्रेम करनेवाले उन भृगुवंशी ब्राह्मणोंने सौ अश्वमेध यज्ञ कराये ॥ ३४ ॥ तदनन्तर उस अनुष्ठान के प्रभाव से त्रिलोकी में प्रसिद्ध हुई अपनी कीर्त्ति को दशों दिशाओं में फैलानेवाला बलि, नक्षत्रों के स्वामी चन्द्रमा की समान शोभित होनेलगा ॥ ३५ ॥ और उदारचित्त तथा अपने को कृतकृत्य हुआ सा माननेवाला वह बलि, क्षत्रियादिकों से देवताओं की समान पूजेहुए ब्राह्मणों करके प्राप्त कराईहुई बड़ी २ सम्पत्तियों को भोगनेलगा ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार इन्द्र आदि पुत्रों के छुपजानेपर और दैत्यों के स्वर्गलोक को अपने वश में करलेनेपर देवमाता अदिति अनाथ की समान दुःखित हुई ॥ १ ॥ तब बहुत काल में समाधि से उठेहुए भगवान् कश्यपजी एकसमय उत्साहरहित और आनंदशून्य उस अदिति के आश्रम में आये ॥ २ ॥ तब हे कुरुश्रेष्ठ ! यथोचित रीति से अदिति

दमार्ह कुरूद्वह ॥३॥ अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनागतम् ॥ न धर्मस्य न
लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥ अपि वाऽकुशलं किंचित् गृहेषु गृहमेधिनि ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥ ५ ॥ अपि वाऽतिथयोऽ-
भ्येत्य कुटुंबासक्तया त्वया ॥ गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥
॥ ६ ॥ गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि ॥ यदि निर्यांति ते नूनं
फेरुराजगृहोपमाः ॥ ७ ॥ अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति ॥ त्वयो-
द्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥ ८ ॥ यत्पूजया कामदुघान् याति
लोकान् गृहान्वितः ॥ ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥९॥
अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि ॥ लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या ल-
क्षणैरहम् ॥ १० ॥ अदितिरुवाच ॥ भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्धर्मस्यास्य जनस्य
च ॥ त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे ॥ ११ ॥ अग्नयोऽतिथयो भृ-

के पूजन करेहुए वह कश्यप ऋषि, आसनपर बैठ उस अपनी स्त्री को मलिनमुख देख कर कहनेलगे ॥ ३ ॥ कि–हे भद्रे ! इससमय ब्राह्मणोंपर इसलोक में कोई आपत्ति तो नहीं आपड़ी है ? अथवा धर्म को वा मृत्यु के वशीभूत पुरुषों को कुछ अनिष्ट तो नहीं प्राप्तहुआ है ? ॥ ४ ॥ अथवा हे गृहमेधिनि ! जिस गृहस्थाश्रम में योगाभ्यास न करनेवाले पुरुषों को भी, अपने धर्म आदि के द्वारा योग का फल प्राप्त होता है, ऐसे गृहस्थाश्रम में धर्म अर्थ वा काम इनमें से किसी में हानि तो नहीं पहुँची ? ॥ ५ ॥ वा किसी समय अतिथि आदि के आनेपर, कुटुम्ब के कार्यमें लगीहुई तेरे प्रत्युत्थान आदि करे विनाही तो कहीं वह घरसे लौटकर नहीं चलेगये ? ॥ ६ ॥ क्योंकि–जिनघरों में आयेहुए अतिथि, जलसे भी सत्कार न पाकर यदि वैसेही लौटजायँ तो वह घर निःसन्देह गीदड़राज के भट्टों की समान हैं ॥ ७ ॥ हे पतिव्रते ! हेभद्रे ! मेरे देशान्तर को जानेपर मनमें खिन्न हुई तूने हवन के समय कभी अग्नि में होमकी सामग्रियों से हवन न कराहो ऐसातो तुझ से नहीं बना ? ॥ ८ ॥ जिनका पूजन करने से गृहस्थी पुरुष, मनोरथ पूर्ण करनेवाले लोकों को जाता है, वह ब्राह्मण और अग्नि, सकल देवताओं के आत्मारूप श्रीहरिका मुख हैं ॥ ९ ॥ हे मनस्विनि ! तेरे सब पुत्र तो कुशल हैं ? क्योंकि–तेरे मुख की मलिनता आदि लक्षणों से तेरा मन मुझे अस्वस्थसा प्रतीत होय है ॥ १० ॥ अदिति ने कहा कि–हे ब्रह्मन् ! द्विज, गौ, धर्म और इसजन की सब प्रकार कुशल है; क्योंकि–हे गृहमेधिन् ! यह घर वास्तव में (धर्म, अर्थ, काम, इस) त्रिवर्ग की उत्पत्ति होनेका मुख्य स्थान है ॥ ११ ॥ हेब्रह्मन्! अग्नि, अतिथि, सेवक, संन्यासी तथा अन्यभी, द्रव्य आदि की इच्छा करके आनेवाले जो

त्वां भिक्षवो ये च लिप्सवः ॥ सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति॥१२॥
को नु मे भगवन्कामो न संपद्येत मानसः ॥ यस्या भवान्प्रजाध्यक्ष एवं
धर्मान्प्रभाषते ॥ १३ ॥ तवैव मारीच मनःशरीरजाः प्रजा इमाः सत्त्वरज-
स्तमोजुषः ॥ समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो तथापि भक्तं भजते महेश्वरः ॥
॥ १४ ॥ तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत ॥ हृतश्रियो हृतस्थाना-
न्सपत्नैः पाहि नः प्रभो ॥१५॥ परैर्विवासिता साऽहं मग्ना व्यसनसागरे ॥
ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम ॥ १६ ॥ यथा तानि पुनः साधो
प्रपद्येरन्ममात्मजाः ॥ तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम ॥ १७ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव ॥ अहो माया-
बलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ॥ १८ ॥ क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चा-
त्मा प्रकृतेः परः ॥ कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥ १९॥

पुरुष,उन सब का ही मैंने यथोचित रीतिसे सत्कार करा है क्योंकि-हेभगवन् ! मैंजो तुम्हारा प्रतिक्षण ध्यानकरती रहतीहूँ उसके प्रभावसे मुझे कुछ कमी नहीं पड़तीहै॥१२॥हेब्रह्मन् ! तुम प्रजापति जिसको इसप्रकार उपदेश कररहे हो ऐसी मेरा, कौनसा मनोरथ सिद्ध नहीं होगा ?अर्थात् सब ही मनोरथ सिद्धहोंगे॥ १३॥हे प्रभो मरीचिपुत्र ! सत्व,रज और तम इन गुणों से युक्त यह प्रजा तुम्हारे ही मन से और शरीर से उत्पन्न हुई हैं इसकारण उन असुर आदि प्रजाओं में यद्यपि तुम्हारी समान दृष्टि है यथापि जैसे महेश्वर अपने भक्तों के मनोरथ पूरे करते हैं तैसे ही हे प्रभो सुव्रत ! तुमभी, तुम्हारा भजन करनेवाली मेरा कल्याण विचारो और हे प्रभो ! शत्रुओं ने सम्पत्ति छीनकर स्थानभ्रष्ट करी हुई मेरी रक्षा करो ॥१४॥ ॥ १५ ॥ हे नाथ ! ऐश्वर्य आदि सम्पत्तियों के द्वारा जिस का तुम पालन करते हो ऐसी मुझको शत्रुओं ने स्थानभ्रष्ट करके बाहर निकालदिया है इसकारण मैं दुःखसागर में डूब रही हूँ अर्थात् प्रबल शत्रुओं ने मेरा ऐश्वर्य, सम्पत्ति, यश और स्थान यह सब छीन लिया है ॥ १६ ॥ तिससे हे कल्याण करनेवालों में श्रेष्ठ ! हे ! साधो ! जिसप्रकार मेरेपुत्र, वह ऐश्वर्य आदि फिर पावें, ऐसा बुद्धि से विचार करके उस के साधन का मुझे उपदेश करो ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहतेहैं कि-हे राजन्! इसप्रकार प्रजापति कश्यपजी की अदिति ने प्रार्थना करी तब वह विस्मित से होकर कहने लगे कि-अहो ! विष्णुभगवान् की माया का बल कैसा आश्चर्यकारी है ! क्योंकि-उस के कारण यह जगत् स्नेह की फांसी में बँधा हुआ है ॥ १८ ॥ अहो ! पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुआ यह अनात्मरूप देह कहां ? और प्रकृति से भिन्न आत्मा कहां ? इस प्रकार पति और पुत्र आदि सम्बन्धियों को देखाजाय तो किस का कौन है ? अर्थात् किसी का कोई नहींहै तथापि इन में ममता

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ॥ सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥२०॥
स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकंपनः ॥ अमोघा भगवद्भक्ति-"नेतरेति"
मतिर्मम ॥ २१ ॥ अदितिरुवाच ॥ केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जग-
त्पतिम् ॥ यथा मे सत्यसंकल्पो विदध्यात्स मनोरथम् ॥२२॥ आदिश त्वं द्विज-
श्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम् ॥ आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः ॥ २३॥
कश्यप उवाच ॥ एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः ॥ यथाह ते प्रव-
क्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम् ॥२४॥ फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः ॥ अर्च-
येदरविंदाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥ २५ ॥ सिनीवाल्यां मृदालिप्य स्नाया-
त्क्रोडविदीर्णया ॥ यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत् ॥ २६ ॥ त्वं
देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता ॥ उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे
प्रणाशय ॥ २७ ॥ निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत्समाहितः ॥ अर्चायां स्थ-

स्नेह होने में मोह ही कारण है ॥ १९ ॥ कश्यपजी ने कहा कि—हे अदिति ! षड्गुण ऐश्वर्यवान्, परिपूर्ण, माया को दूर करनेवाले और सकल प्राणियों के अन्तःकरण में वास करनेवाले, जगत् के गुरु वासुदेव भगवान् की तू आराधना कर ॥ २० ॥ तब वह दीन-दयालु श्रीहरि, तेरे मनोरथ को पूरा करेंगे, परन्तु हे अदिति ! भगवान् की भक्ति ही करी हुई सफल होती है औरों की नहीं, ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ २१ ॥ अदिति ने कहा कि—हे ब्रह्मन् ! विश्वपालक भगवान की मैं किस प्रकार सेवा करूँ ? कि—जिस से वह सत्य सङ्कल्प भगवान् मेरे मनोरथ को पूरा करें ॥ २२ ॥ इस कारण हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! पुत्रों सहित क्लेश भोगनेवाली मेरे ऊपर वह देव जिस प्रकार सन्तुष्ट हों वह उन की सेवा की रीति तुम मुझ से कहो ॥ २३ ॥ कश्यपजी ने कहा कि—हे भद्रे ! प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा से पहिले मैंने भगवान् ब्रह्माजी से प्रश्न करा था तब उन्हों ने मुझ से जो व्रत कहा था वही भगवान् को सन्तुष्ट करनेवाला व्रत मैं तुझ से कहता हूँ ॥ २४ ॥ हे अदिति ! फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से द्वादशीपर्यन्त बारहदिन केवल दूध ही पीकर भक्तियुक्त हो कमलनयन भगवान् का पूजन करे ॥ २५ ॥ अमावास्या के दिन, यदि मिलजाय तो शूकरकी उखाड़ीहुई मृत्तिका को लेकर प्रवाह में खड़ारहे और हे देवि ! प्राणियों को निवासस्थान प्राप्त हो इस इच्छा से भगवान् ने वराह अवतार धारण करके रसातलसे तेरा उद्धार करा है, तुझे नमस्कार हो, तू मेरे पापों का नाशकर इसप्रकार की प्रार्थना का मन्त्र पढ़े, तदनन्तर वह मृत्तिका शरीर को लगाकर स्नान करे ॥ २६ ॥ २७ ॥ तदनन्तर नित्यनैमित्तिक कार्य से निवटकर प्रतिमा, स्थण्डिल, सूर्य, जल, अग्नि अथवा गुरु इन में से किसी एक में

ण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि ॥ २८ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ॥ सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥ २९ ॥ नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च ॥ चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे ॥ ३० ॥ नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृंगाय तन्तवे ॥ सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥३१॥ नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च ॥ सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥३२॥ नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने ॥ योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ३३ नमस्ते आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः ॥ नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥ ३४ ॥ नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये ॥ केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥ ३५ ॥ त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ॥ अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥ ३६ ॥ अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः ॥ स्पृहयन्त इवामोदं भगवान्मे प्रसीदताम् ॥ ३७ ॥ एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमा-

अन्तःकरण को स्थिर करके भगवान् का पूजन करे ॥ २८ ॥ और हे भगवन् ! हे पुरुषोत्तम ! हे ब्रह्मादिकों के पूज्य ! हे सकलप्राणियों के निवासस्थान और हे सब के साक्षी ! तुम वासुदेव को नमस्कार हो ॥ २९ ॥ तथा अव्यक्त, अतिसूक्ष्म, प्रकृतिपुरुषरूप, चौबीसतत्त्वों को जाननेवाले, और सांख्यशास्त्रका प्रचार करनेवाले तुम भगवान्को नमस्कार हो ॥ ३० ॥ तथा प्रायणीय और उदयनीय इन नामोंवाले यज्ञ में के दोनों कर्म जिस के मस्तक हैं; प्रातःसवन मध्याह्नसवन और तृतीयसवन यह तीन जिसके चरण हैं, जिसके वेदरूप चार सींग हैं, जो यज्ञ का फल देनेवाले हैं, गायत्री आदिसात छन्द जिसके सात हाथ हैं और मन्त्र ब्राह्मणरूप त्रयीविद्या में जिसका स्वरूप है ऐसे यज्ञमूर्ति आप को नमस्कार हो ॥ ३१ ॥ तैसे ही सकलप्राणियों के और सकलविद्याओं के स्वामी, सकलशक्तिमान् और परमानन्दस्वरूप, रुद्रमूर्त्ति आपको नमस्कारहो ॥ ३२ ॥ हिरण्यगर्भ, प्राणरूप, जगत् के आत्मा, योगैश्वर्य ही है शरीर जिन का ऐसे, योगशास्त्र का प्रचार करनेवाले ब्रह्ममूर्त्ति आप को नमस्कार हो ॥ ३३ ॥ सकलजगत् के पूजनीय, सब के साक्षी और दुःखों को दूर करनेवाले तुम ऋषिरूप नरनारायण श्रीहरि को नमस्कार हो ॥ ३४ ॥ जिनका शरीर मरकतमणिकी समान श्यामवर्ण है और जिनके विषैं लक्ष्मी प्राप्तहुई है ऐसे तुम पुरुषों को सबप्रकारके वर देनेवाले हो इसकारण विवेकीपुरुष, अपने मनोरथों की सिद्धि होनेके निमित्त तुम्हारे चरणों की रज की सेवा करते हैं ॥ ३६ ॥ जिन के चरणकमल की सुगन्धि का सेवन करने की इच्छा से ही मानो देवता और लक्ष्मी जिनकी सेवा करें हैं वह भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥ उनतीसवें श्लोकसे लेकर छत्तीसवें श्लोकपर्यन्त इन श्लोकरूप नौ मन्त्रों के द्वारा ध्यान

वाहनपुरस्कृतं ॥ अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥ ३८ ॥ अर्चि-
त्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद्विभुम् ॥ वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ३९ ॥ शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं
विभवे सति ॥ ससर्पिः सगुडं दत्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥ ४० ॥ निवेदितं
तद्भक्ताय दद्याद्भुंजीत वा स्वयम् ॥ दत्वाचमनमर्चित्वा तांबूलं च निवेदयेत्
॥४१॥ जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम् ॥ कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्द-
ण्डवन्मुदा॥४२॥कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत्ततः ॥ द्व्यवरान् भोजयेद्विप्रान्
पायसेन यथोचितं ॥४३॥ भुंजीत तैरनुज्ञातः शेषं सेष्टः सभाजितैः ॥ ब्रह्मचार्यथ त-
द्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि ॥४४॥ स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः ॥
पयसा स्नापयित्वार्चेद्यावद्व्रतसमापनम् ॥ ४५ ॥ पयोभक्षो व्रतमिदं चरे
द्विष्णवर्चनादृतः ॥ पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥ ४६ ॥ एवं

करके, आवाहन की विधि से आगे कही हुई प्रतिमा में प्रतिष्ठा करे हुए भगवान् का, पुरुष, श्रद्धा के साथ पाद्य आचमन आदि सामग्रियों से पूजन करे ॥ ३८ ॥ तदनन्तर गन्धपुष्प आदि सामग्रियों से पूर्वपूजा करके प्रभुको दूध से स्नान करावे और तदनन्तर वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, पाद्य, आचमन, गन्ध और धूप आदि सामग्रियों से द्वादशाक्षर मंत्र पढ़ता हुआ पूजन करे ॥ ३९ ॥ और शक्ति होय तो दूध में पकाये हुए और घृत गुड़ मिलाये हुए शाल्योदन का नैवेद्य दिखाकर द्वादशाक्षर मंत्र से उस ही शाल्योदन अन्न का भोजन करे ॥ ४० ॥ और निवेदन करा हुआ वह अन्न भगवान् के भक्त को देय वा आप भक्षण करे, इस प्रकार पूजा और नैवेद्य होने के अनन्तर आचमन देकर ताम्बूल समर्पणकरे ४१ पीछे मूल मंत्रका एकसौ आठवार जप करके और अन्य स्तोत्रोंसे स्तुतिकरे तथा प्रदक्षिणा करके आनन्दके साथ भूमिपर साष्टाङ्ग नमस्कार करे ४२ तदनन्तर उन भगवान्‌का निर्माल्य मस्तकपर धारण करके देवताओंका विसर्जन करे और दोनों से अधिक ब्राह्मणों को पायस (खीर) का यथोचित भोजन करावे ॥ ४३ ॥ तदनन्तर दक्षिणा आदि देकर सत्कार करेहुए उन ब्राह्मणों के आज्ञा देनेपर शेषरहे हुए अन्न का बान्धवों सहित आप भोजन करे और उस रात्रि में ब्रह्मचर्य व्रत से रहकर दूसरे दिन (प्रतिपदाके दिन) प्रातःकाल के समय स्नानकर शुचि होय और स्वस्थ अन्तःकरण से दूध का अभिषेक करके पहिले कही हुई विधि से भगवान् का पूजन करे, ऐसा ही व्रतकी समाप्ति पर्यन्त करता रहे ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ इसप्रकार विष्णुपूजा में भक्ति रखनेवाला पुरुष केवल दुग्ध का ही भोजन करके, इस व्रत को करे और प्रतिदिन पहिले कहे अनुसार द्वादशाक्षर मन्त्र से अग्नि में हवन करके ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ४६ ॥ इस

त्यहरहः कुर्याद्द्वादशाहं पयोव्रतः ॥ हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥ ४७॥ प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी ॥ ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥ ४८ ॥ वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा ॥ अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥ ४९ ॥ त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः ॥ कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः ॥५०॥ पूजां च महतीं कुर्याद्वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥ चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ ५१ ॥ शृतेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः ॥ नैवेद्यं चातिगुणवद्दद्यात्पुरुषतुष्टिदम् ॥ ५२ ॥ आचार्यं ज्ञानसंपन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः ॥ तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः ॥ ५३ ॥ भोजयेत्तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते ॥ अन्यांश्च ब्राह्मणान् शक्त्या ये च तत्र समागताः ॥ ५४ ॥ दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथाऽर्हतः ॥ अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान् ॥ ५५ ॥ भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनांधकृपणेषु च ॥ विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान् भुंजीत सह बन्धुभिः॥५६॥

प्रकार बारहदिन पर्यंत केवल दूध ही पीकर, हवन, पूजन और ब्राह्मणभोजन, इस तीन प्रकार के कर्म से श्रीहरि की आराधनारूप व्रत करे ॥ ४७ ॥ हे अदिति ! प्रतिपदा से शुक्लत्रयोदशीपर्यंत व्रत करनेवाला पुरुष, ब्रह्मचर्य से रहे, भूमिपर सोवै और त्रिकाल स्नान करे ॥ ४८ ॥ तथा मिथ्या बोलना, छोटे बड़े भोग और किसी भी प्राणी की हिंसा इन को त्यागकर वासुदेवभगवान् के ध्यान में तत्पर होय ॥ ४९ ॥ तदनन्तर त्रयोदशी के दिन विधि के जाननेवाले ब्राह्मणों से, शास्त्र में कहीहुई रीति के अनुसार प्रभु विष्णुभगवान् को पञ्चामृत से स्नान करावै ॥ ५० ॥ तदनन्तर अपनी शक्ति होतेहुए धन का सङ्कोच न करताहुआ महापूजा करके शिपिविष्ट (अन्तर्यामी) विष्णुभगवान् के उद्देश्य से दूध में चरु को पकाकर उस बनाएहुए चरु से अन्तर्यामी भगवान् का अत्यन्त एकाग्रमन से यजन करके उन परमात्मा को सन्तोषकारी सर्वोत्तम महानैवेद्य समर्पण करे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तदनन्तर ज्ञानवान् आचार्य को और ऋत्विजों को वस्त्र, आभूषण तथा धेनु के द्वारा सन्तुष्ट करे, क्योंकि—उन को सन्तुष्ट करना ही श्रीहरि का आराधन है ऐसा समझ ॥ ५३ ॥ इसकारण हे शुचिस्मिते ! उन आचार्य आदिकों को, अन्य ब्राह्मणों को तथा और जो कोई तहाँ आये हों उन को भी यथाशक्ति मिष्टता आदि गुणयुक्त उत्तम अन्न का भोजन करावे ॥ ५४ ॥ तदनन्तर आचार्य और ऋत्विजों को यथायोग्य दक्षिणा देकर, चाण्डालपर्यन्त जो कोई तहाँ आये हों उन को अन्न आदि से तृप्त करे ॥ ५५ ॥ और दीन, अन्धे तथा अत्यन्त दरिद्र इन सबों के भोजन करनेपर वह भोजन भगवान् को सन्तुष्ट करनेवाला होता है ऐसा जानताहुआ

नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः ॥ कारयेत्तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम् ॥ ५७ ॥ एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम् ॥ पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम् ॥ ५८ ॥ त्वं चानेन महाभागे सम्यक् चीर्णेन केशवम् ॥ आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम् ॥ ५९ ॥ अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम् ॥ तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम् ॥ ६० ॥ त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः ॥ तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥ ६१ ॥ तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर ॥ भगवान्परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥ ६२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे अदितिपयोव्रतं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्ता साऽदिती राजन् स्वभर्त्रा कश्यपेन वै ॥ अन्वतिष्ठद्व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥ १ । चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरं ॥ प्रगृह्येन्द्रियदु-

आप भी बन्धुबान्धवों के साथ भोजन करे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार प्रतिपदा से त्रयोदशी पर्यन्त, नृत्य, बाजे, गीत, स्वस्तिवाचन, स्तुति और भगवत्कथाओं के द्वारा प्रति दिन भगवान्का पूजनकरे अथवा अपने में शक्ति न होय तो दूसरे से करवावे॥५७॥ब्रह्माजी ने मुझ से यह पयोवृत नामक सर्वोत्तम ईश्वर का आराधन कहा था, वही मैंने तुझ से उत्तम रीति से वर्णन करा है ॥ ५८ ॥ इस कारण हे महाभाग्यवति ! शुद्धचित्त हो इन्द्रियों को वश में करके उत्तम प्रकार से करे हुए इस वृत के द्वारा तू अविनाशी भगवान् की सेवा कर ॥ ५९ ॥ हे भद्रे ! इस के करने से ईश्वर प्रसन्न होते हैं इसकारण इस व्रत का ' सर्वयज्ञ ' नाम है, इस को ही सर्वव्रत कहते हैं, तप का सार यही है और उत्तम दान भी यही है अर्थात् इस वृत को करने पर सकल यज्ञ, सकल वृत, सब प्रकार के तप और सब प्रकार के दान करने का फल प्राप्त होताहै ॥६०॥ क्योंकि-जिस से अधोक्षज भगवान् प्रसन्न होते हैं, वही सर्वोत्तम तप, वही सर्वोत्तम दान, वही सर्वोत्तम व्रत, वही सर्वोत्तम यज्ञ, वही साक्षात् सर्वोत्तम नियम और वही सर्वोत्तम यम है ॥ ६१ ॥ तिस से हे भद्रे ! यत्न के साथ श्रद्धापूर्वक इस व्रत को कर तब भगवान् प्रसन्न होकर तेरा मनोरथ पूरा करेंगे ॥ ६२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में षोड़श अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इस प्रकार अपने भर्त्ता कश्यपजी के कहनेपर उस अदिति ने, आलस्य को छोड़कर बारह दिन पर्यन्त इस व्रत को करा ॥ १ ॥ उस समय बुद्धि है सारथि जिस का ऐसी वह अदिति, मनरूप रस्सी से इन्द्रियरूप दुष्ट स्वभाववाले घोड़ों को रोककर एकाग्र बुद्धि से प्रभु पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तवन करती हुई, एकाग्र बुद्धि से विश्वात्मा वासुदेव

ग्रोश्वान् मनसा बुद्धिसारथिः ॥ २ ॥ मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि ॥ वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥ ३ ॥ तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः ॥ पीतवासाश्चतुर्बाहुः शंखचक्रगदाधरः ॥ ४ ॥ तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरं ॥ ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला॥५॥ सोत्थाय बद्धांजलिरीडितुं स्थिता नोत्सेहे आनन्दजलाकुलेक्षणा ॥ बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृतिस्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥ प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह ॥ उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिं ॥७॥ अदितिरुवाच ॥ यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥ आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८ ॥ विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ॥ स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोधव्यापादितात्म-

भगवान् के विषें अपने मन को स्थिर करके पयोव्रत का आचरण करने लगी ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥ हे तात परीक्षित ! इस प्रकार उस व्रत को करते हुए, उस के प्रभाव से शंख, चक्र, गदा, चार भुजा और पीताम्बर धारण करनेवाले भगवान्, उस के समीप में प्रकट हुए ॥ ४ ॥ उन दृष्टि के सामने आये हुए भगवान् को देखते ही प्रीति से व्याकुल हुई उस अदिति ने, एक साथ उठकर आदर के साथ उन को भूमिपर साष्टाङ्ग प्रणाम करा ॥ ५ ॥ तदनन्तर जिस के नेत्र आनन्द के अश्रुओं से भरगये हैं, जिस के सकल शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगये हैं और उन के दर्शन से अत्यन्त आनन्द होने के कारण जिस का शरीर कांपने लगा है ऐसी वह अदिति पृथ्वीपर से उठकर प्रीति से विव्हल होने के कारण केवल हाथ जोड़कर मौन खड़ी रही और स्तुति करने को समर्थ नहीं हुई ॥६॥ तदनन्तर हे कुरुश्रेष्ठ ! मानो नेत्रों से भगवान् को पी रही है, इस प्रकार उत्कण्ठा के साथ देखनेवाली वह अदिति देवी, प्रीति के कारण जिस में पूरे २ अक्षर नहीं उच्चारण होते हैं ऐसी वाणी से उन रमाकांत, यज्ञ के अधिष्ठाता, जगत्पालक श्रीहरि की धीरे धीरे स्तुति करने लगी ॥ ७ ॥ हे यज्ञ का फल देनेवाले ! हे यज्ञपुरुष ! हे अच्युत ! हे पवित्रचरण ! हे पवित्रकीर्त्ते ! जिन का नाम सुननेमात्र से ही मङ्गल करनेवाला है ऐसे हे आदिपुरुष ! शरणागत पुरुषों के दुःख दूर करने के निमित्त प्रकट होनेवाले, हे ईश्वर ! हे भगवन् ! तुम हमारा कल्याण करो, क्योंकि तुम दीनों के नाथहो ॥ ८ ॥ विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के निमित्त अपनी इच्छा से माया के गुणों को स्वीकार करनेवाले, निरन्तर प्रकट रहनेवाले पूर्ण ज्ञान के प्रभाव से सदा अपने में के मायारूप अज्ञान का नाश करनेवाले, स्वस्थस्वरूप तुम महात्मा विश्वरूप श्रीहरि

तमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥ आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी द्यौर्भूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ॥ ज्ञानं च केवलमनन्त भवंति तुष्टात्त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अदित्यैवं स्तुतो राजन् भगवान् पुष्करेक्षणः क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥ ११ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् ॥ यत्सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥ १२ ॥ तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान् ॥ प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥ १३ ॥ इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषां ॥ स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः ॥ १४ ॥ आत्मजान् सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः ॥ नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥ १५ ॥ प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा अपारणीया इति देवि मे मतिः ॥ यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥ १६ ॥ अथाप्युपायो मम देवि चिंत्यः संतोषितस्य व्रतचर्यया ते ॥ ममार्चनं नार्हति

को नमस्कार हो ॥ ९ ॥ हे अनन्त ! तुम्हारे प्रसन्न होनेपर तुम से मनुष्यों को, ब्रह्माजी की आयु, इच्छित शरीर, अनूपम सम्पदा, स्वर्ग, भूमि, रसातल, अणिमा आदि सकल योगसिद्धियें, धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्ग तथा मोक्ष का साधन ज्ञान यह प्राप्त होते हैं, फिर शत्रुओं को जीतना आदि मनोरथ पूर्ण होंगे, इसका तो कहनाही क्या? ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे भरतकुलोत्पन्न राजन् परीक्षित् ! इसप्रकार अदितिके स्तुति करे हुए वह सकल प्राणियों के अन्तर्यामी कमलनयन भगवान् उससे कहने लगे ॥ ११ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे देवमातः ! शत्रुओं ने सम्पत्तिको हरकर अपने स्थान से भ्रष्ट करेहुए अपने पुत्रों के विषय में जो तू चिरकाल से चाहँ रही है वह तेरी इच्छा मैंने जानली है ॥ १२ ॥ हे भद्रे ! उन दुर्मद असुरश्रेष्ठों को समरभूमि में सवप्रकार पूर्णरीति से जीतकर फिरभी जय और सम्पत्ति को प्राप्तहुए अपने पुत्रों के साथ एक स्थानपर रहने की तू इच्छा कररही है ॥ १३ ॥ तैसेही हे वीरमातः ! जिन में इन्द्र बड़ा है ऐसे अपने पुत्रों करके मारेहुए शत्रुओं की दुःखित स्त्रियों को अपने अपने भर्त्ताके समीप जाकर रोते हुए देखने की तू इच्छा कररही है ॥ १४ ॥ तैसे ही शत्रुओं को जीतकर उनसे कीर्त्ति और सम्पत्ति फिरभी लौटा के लेकर अत्यन्त समृद्धिमान् हुए और स्वर्ग में आकर क्रीड़ा करने वाले अपने पुत्रों को तू देखने की इच्छा कररही है ॥ १५ ॥ परन्तु हे देवि ! इससमय वह असुरसेनापति बहुत करके जीतने में आने कठिन हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है, क्योंकि—जिन के समय अनुकूल है ऐसे ब्राह्मणों ने उनकी रक्षा करी है इसकारण इससमय उनका तिरस्कार करने के निमित्त कराहुआ पराक्रम सुखकारी नहीं होगा ॥ १६ ॥ तथापि हे देवि ! तूने व्रतकरके मुझे प्रसन्न करा है, इससे मुझे कोई तो उपाय अवश्य ही करना

गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥ १७ ॥ त्वयाऽर्चितश्चाहमपत्यगुप्तये पयोव्रतेनानुगुणं समेधितः ॥ स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्गोप्ताऽस्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥ १८ ॥ उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम् ॥ मां च भावयती पत्यावेवं रूपमवस्थितम् ॥ १९ ॥ नैतत्परस्मा आख्येयं पृष्टयाऽपि कथंचन ॥ सर्वं संपद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवांतरधीयत ॥ अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः ॥ २१ ॥ उपाधावत्पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ॥ स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ॥ २२ ॥ प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ॥ सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम् ॥ समाहितमना राजन् दारुण्यग्निं यथाऽनिलः ॥ २३ ॥ अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम् ॥ हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥ २४ ॥ ब्रह्मोवाच ॥ जयोरुगाय

होना; क्योंकि–मेरा पूजन इच्छानुसार फल देने वाला होने के कारण व्यर्थ नहीं होसक्ता ॥ १७ ॥ और तूने तो अपने पुत्रों की रक्षा करने के निमित्त पयोव्रत से मेरा यथोचित पूजन कर उत्तम प्रकार से स्तुति भी करी है; इसकारण कश्यप जी के तप से उत्पन्न हुए तेज में स्थित हुआ मैं, अपने अंश से तेरा पुत्र होकर तेरे पुत्रों की रक्षा करूँगा ॥ १८ ॥ इस कारण हे भद्रे! पतिके विषैं तेजः स्वरूप से मैं (भगवान्) स्थित हूँ ऐसा समझ कर, अपने निष्पाप प्रजापति पति की तू सेवाकर ॥ १९ ॥ और तुझ से यदि कोई बूझे तब भी तू, मैंने जोतुझ से अपने अवतार लेनेका वृत्तान्त कहाहै, यह किसीसे किसी प्रकार भी नहीं कहना, क्योंकि–हेदेवि! देवताओं की सब गुप्त बातें उत्तम प्रकार गुप्त रहने सेही सिद्ध होती हैं ॥ २० ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन्! इतना कहकर भगवान् तहांही अन्तर्धान होगये, तब प्रभु श्रीहरि का दुर्लभ जन्म मेरे गर्भ से होगा, ऐसाजान कर अपने को कृतकृत्य सा मानने वाली वह अदिति, परम प्रेम से पतिकी सेवा करने लगी ॥ २१ ॥ इधर उन सर्वज्ञ कश्यप जी ने भी, समाधि के प्रभाव से यह जाना कि–मेरे शरीरमें श्रीहरि के अंशका प्रवेश हुआ है ॥ २२ ॥ तदनन्तर हे राजन! जैसे वायु सबस्थान में एक समान होकर भी काठ में रगड़ के द्वारा वनको जलानेवाले अग्नि को स्थापित करताहै तैसेही स्वस्थ अन्तःकरणवाले कश्यपजी ने, अपने सब पुत्रोंमें समदृष्टि रखकर भी, तपकेद्वारा बहुत काल पर्यन्त धारण कराहुआ दैत्यनाशक वीर्य अदिति के विषैं स्थापन करा ॥ २३ ॥ तदनन्तर यह जानकर कि–अदिति के गर्भमें सनातन भगवान् विराजमान हैं, ब्रह्माजी ने, विशेष गुणों के दिखाने वाले नामों से उनकी स्तुति करी ॥ २४ ॥ ब्रह्माजी ने कहाकि–

भगवन्नुरुक्रम नमोस्तु ते ॥ नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥ २५ ॥ नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे ॥ त्रिणाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥२६॥ त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्यमनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः ॥ कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं स्रोतो यथांऽतःपतितं गंभीरम् ॥ २७ ॥ त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां प्रजापतीनामसि संभविष्णुः ॥ दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥ २८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं विरिंचस्तुतकर्मवीर्यः प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ॥ चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः पिशंगवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥ श्यामावदातो झषराजकुण्डलत्विषोल्लसच्छ्रीवदनांबुजः पुमान् ॥ श्रीवत्सवक्षा वलयांगदोल्लसत्किरीटकांचीगुणचारुनूपुरः ॥ २ ॥ मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया विराजितः श्रीवनमालया हरिः ॥ प्रजापतेर्वेश्मतमः

हे महाकीर्तिमान् भगवन् ! हे उरुक्रम ! तुम्हारी जयजयकार हो, तुम ब्राह्मणों का हित करने वाले और नानाप्रकार की क्रीड़ा करने वाले हो, तुम तीनोंगुणों के नियन्ता भगवान् को वारंवार नमस्कार हो ॥ २५ ॥ पृश्नि के पुत्र वेदों में प्रकाशवान्, नाभि में त्रिलोकी को स्थापन करनेवाले होनेसे सबको उत्पन्न करने वाले, त्रिलोकी के पृष्ठभाग (वैकुण्ठ) में रहनेवाले, अन्तर्यामी रूपसे सकल जीवों में प्रवेश करनेवाले, और सर्वव्यापी तुम को नमस्कार हो ॥ २६ ॥ हे ईश्वर ! जगत् के आदि, अन्त और मध्य तुम ही हो इसकारण तुम्हें अनन्तशक्ति पुरुष कहतेहैं और जैसे जलका बड़ाभारी प्रवाह अपनेमें पड़ेहुए तृण आदि को खैंचकर लेजाताहै तैसेही इस सम्पूर्ण विश्व को कालात्मा तुम खैंचते हो २७ और हेदेव ! स्थावर जङ्गम प्रजा तथा अस्मदादि प्रजापतियोंको उत्पन्न करना तुम्हारा स्वभावहै इसकारण जल में डूबते हुए मनुष्यों को जैसे नौका उत्तम प्रकार का आश्रयहै तैसे ही स्वर्ग से गिरतेहुए देवताओंका सबसे उत्तम आश्रय तुमही हो इसकारण तुम फिर भी उन देवताओं को स्वर्ग में स्थित करो २८ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में सप्तदश अध्याय समाप्त॥*॥श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार ब्रह्माजी ने, श्रीहरि के कर्म की और प्रभाव की प्रशंसा करी तब जन्ममरणरहित, शंख, चक्र, गदा और पद्म इन आयुधों को धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज और कमल की समान सुन्दर एवं विशालनेत्र वाले वह श्री हरि अदिति के विषैं प्रकट हुए ॥ १ ॥ वह पुरुषोत्तम श्यामवर्ण और निर्मल थे, मकराकृति कुण्डलों की प्रभा से उनका मुखकमल अत्यन्त शोभित होरहा था, उन के वक्षःस्थल में श्रीवत्सचिन्ह था; वह कड़े, तोड़े, और बाजूबन्दों सहित उज्ज्वल किरीट, मेखला और सर्वोत्तम नूपुर धारण करेहुए थे ॥ २ ॥ वह भ्रमरों के समूह से गुञ्जारती हुई अपनी सुन्दर

स्वरोचिषा विनाशयन्कण्ठनिविष्टकौस्तुभः ॥ ३ ॥ दिशः प्रसेदुः सलिलाशया-
स्तदा प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः ॥ द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा गावो
द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥ श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः ॥
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥ ५ ॥ द्वादश्यां सविताऽतिष्ठन्म-
ध्यंदिनगतो नृप ॥ विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः ॥ ६ ॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः ॥ चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत्
॥ ७ ॥ प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गंधर्वप्रवरा जगुः ॥ तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पि-
तरोऽग्नयः ॥ ८ ॥ सिद्धविद्याधरगणाः सकिंपुरुषकिन्नराः ॥ चारणा यक्षरक्षां-
सि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥ ९ ॥ गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः ॥
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥ १० ॥ दृष्ट्वाऽदितिस्तं निजगर्भ-
सम्भवं परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ॥ गृहीतदेहं निजयोगमायया प्रजापति-

---

वनमाला से प्रकाशवान् थे, वह श्रीहरि, कण्ठ में कौस्तुभमणि धारण करे हुए थे और अ-
पनी कान्ति से प्रजापति कश्यपजी के घर में के अन्धकार का नाश कररहे थे ॥ ३ ॥ उस
अवतार के समय दिशा प्रसन्न दीखनेलगीं, सरोवरों में के जल निर्मल होगये, सकल प्रजा
ओं को हर्ष हुआ, ऋतु अपने २ फल पुष्पादि गुणों से युक्त हुए, और स्वर्गलोक, अन्त-
रिक्षलोक, भूलोक, देवता, गौ, द्विज और पर्वत यह सब हर्षयुक्त हुए ॥ ४ ॥ हे-
राजन् ! श्रवणनक्षत्र में चन्द्रमा होनेपर श्रवण द्वादशी के दिन अभिजित् मुहूर्त्त के समय
प्रभुका जन्म हुआ; उससमय अश्विनी आदि नक्षत्र और गुरु, शुक्र, सूर्य,
चन्द्रमा आदि ग्रह इन सबों ने उन के जन्म को सुखकारी सूचित करा ॥ ५ ॥
हे राजन् ! जिस द्वादशी में श्रीहरि का अवतार हुआ उस को विजया द्वादशी कहते हैं,
उस द्वादशी में सूर्य मध्यान्ह में थे, उस मुहूर्त्त को अभिजित मुहूर्त्त कहते हैं ॥ ६ ॥
उस समय शंख, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पणव और आनक यह बाजे बजने लगे; उस समय
इन बाजों का तथा और भी डंका आदि बाजों का तुमुल शब्द होनेलगा ॥ ७ ॥ उस
समय अप्सरा प्रसन्न होकर नाचनेलगीं, श्रेष्ठ गन्धर्व गान करनेलगे, मुनि स्तुति करने
लगे और देवता, मनु, पितर, अग्नि, सिद्ध और विद्याधरों के समूह, किंपुरुषों के साथ
किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, गरुड़ पक्षी, उत्तम भुजङ्ग, और देवताओं के अनुयायी
यह सब यथायोग्य स्तुति,गान, प्रशंसा और नृत्य करते हुए अदिति के आश्रम में पुष्पों
की वर्षा करने लगे ॥८॥ ९ ॥ १० ॥ उस समय अदिति, अपने गर्भ से उत्पन्न हुए
उन पुरुषोत्तम भगवान् को देखकर आश्चर्य में होकर आनन्द को प्राप्त हुई उस समय
प्रजापति कश्यपजी ने भी, अपनी योगमाया से शरीर धारण करनेवाले उन भगवान् को

ईचाह जयेति विस्मितः ॥ ११ ॥ यत्तद्वपुर्भातिविभूषणायुधैरव्यक्तचिद्व्य-
क्तमधारयद्धरिः ॥ बभूव तेनैव स वामनो बटुः संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा
नटः ॥ १२ ॥ तं बटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ॥ कर्माणि कार-
यामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥ १३ ॥ तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविता-
ऽब्रवीत् ॥ बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात् ॥ १४ ॥ ददौ कृष्णा-
जिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः ॥ कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः
पतेः ॥ १५ ॥ कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः ॥ अक्षमालां महाराजे
सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥ १६ ॥ तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात् ॥
भिक्षां भगवती साक्षादुमाऽदादम्बिका सती ॥ १७ ॥ स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां
संभावितो बटुः ॥ ब्रह्मर्षिगणसंजुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥ १८ ॥ समिद्धमाहितं
वह्निं कृत्वा परिसमूहनम् ॥ परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद्द्विजः ॥ १९ ॥
श्रुत्वाऽश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ॥ जगाम तत्राखिल-

देखकर अचरज में होकर उन से 'विजयी हो' ऐसा कहा ॥ ११ ॥ हे राजन्! स्वयं अव्यक्तरूप श्रीहरि ने, कान्ति भूषण और आयुधों के द्वारा प्रकट प्रतीत होने वाला जो पहिले कहा हुआ बडा शरीर धारण कराथा, उस ही शरीर से वह अद्भुत लीला करनेवाले श्रीहरि, माता पिता के देखते हुए ही वटु वामनरूप होगये ॥ १२ ॥ तव बटु वामनरूप हुए उन भगवान् को देखकर आनन्दित हुए महर्षियों ने, प्रजापति कश्यपजी को आगे करके उन के जात कर्म आदि संस्कार करे ॥ १३ ॥ तदनन्तर उन का उपनयन संस्कार होनेलगा तव, प्रत्यक्ष सूर्य ने उन को गायत्री का उपदेश करा, बृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया और कश्यपजी नेकमरकी मेखला समर्पण करी ॥ १४ ॥ भूमि कृष्णमृगचर्म, वनके स्वामी चन्द्रमा ने दण्ड, अदिति माता ने कौपीन रूप वस्त्र, और स्वर्गाभिमानिनी देवता ने उन जगत्पालक वामन भगवान् को छत्र समर्पण करा ॥ १५ ॥ तथा ब्रह्माजी ने कमण्डलु, सप्त ऋषियों ने कुशा हे महाराज! सरस्वती ने उन अविनाशी स्वरूप वामन भगवान् को रुद्राक्ष की माला समर्पण करी ॥ १६ ॥ इसप्रकार उपनयन करेहुए वामन भगवान् को कुवेर ने भिक्षाका पात्र दिया और साक्षात् षड्गुणऐश्वर्यवान् जगन्माता पतिव्रताउमादेवीने, उन को भिक्षा दी ॥ १७ ॥ इसप्रकार सत्कार करेहुए वह श्रेष्ठ वटु, अपने तेज से, ब्रह्मर्षियोंकी सेवन करीहुई उस सभा से भी अधिक शोभित होनेलगे ॥ १८ ॥ तदनन्तर वह ब्राह्मणरूप वामन भगवान्, स्थापन करे हुए और धधकते हुए उस उपनयन के अग्नि के चारोंओर परिषेक करके, परिस्तरण कर और उस की पूजा करके, समिधाओं से उसमें होम करनेलगे ॥ १९ ॥ हे राजन्! तदनन्तर उन वामनजी ने

सारसंभृतो भारेण गां सन्नमयन्पदे पदे ॥ २० ॥ तं नर्मदायास्तट उ-
त्तरे बलेर्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ॥ प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं व्य-
चक्षतारादुदितं यथा रविम् ॥२१॥ ते ऋत्विजो यजमानः सदस्या हतत्विषो
वामनतेजसा नृप ॥ सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः सनत्कुमारोऽथ दि-
दृक्षया क्रतोः ॥ २२ ॥ इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा वितर्क्यमाणो भगवान्स-
वामनः ॥ सदण्डछत्रं सजलं कमण्डलुं विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटं ॥ २३ ॥ मौञ्ज्या
मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम् ॥ जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम्
॥ २४ ॥ प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः ॥ प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय
संक्षिप्तास्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥ यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम् ॥ रू-
पानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत् ॥ २६ ॥ स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भ-
गवतो बलिः ॥ अवनिज्यार्चयामास मुक्तसंगं मनोरमम् ॥ २७ ॥ तत्पादशौचं

भृगुवंशी ब्राह्मणों के करायेहुए अश्वमेध यज्ञोंसे ईश्वर का यजन करनेवाले और धन आदि से बढेहुए राजा बलिको सुना और सब प्रकार के बलों से पूर्ण वह भगवान् वामनजी, पगपग पर अपने भारसे पृथ्वी को नमाते हुए अपने स्थान से चलदिये और बलि के समीप पहुँचे ॥ २० ॥ तब नर्मदा के उत्तर के तटपर भृगुकच्छ नामक क्षेत्र में उस बलि के श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले भृगुवंशी ऋत्विजों ने, अपने समीप में ही उदय होतेहुए सूर्य की समान उन वामन जी को देखा ॥ २१ ॥ तदनन्तर हे राजन्! वामन जी के तेज से तेजो हीन हुए वह ऋत्विज यजमान और सदस्य (सभासद्) यह सबही निः सन्देह यह सूर्य अथवा अग्नि, वा सनत्कुमार हैं और यज्ञको देखने के निमित्त आरहे हैं क्या? ऐसी तर्कना करने लगे ॥२२॥ इसप्रकार शिष्यों के साथ भृगुवंशी ब्राह्मण नानाप्रकार की तर्कना कर रहे थे कि—इतनेही में दण्डे सहित छत्र और जलके भरे कमण्डलु को धारण करनेवाले उन भगवान् वामनजी ने, अश्वमेध यज्ञ के मण्डप में प्रवेश किया ॥ २३ ॥ तदनन्तर मूँजकी मेखला से जिनकी कमर बँधीहुई है, उपवीत की समान जिन्हों ने कृष्णमृगचर्मरूप उ-त्तरीय वस्त्र (ओढ़ने का वस्त्र) धारण करा है, माया करके जिन्हों ने ब्रह्मचारी का रूप धारण करा है और जो जटाधारी हैं ऐसे उन यज्ञ मण्डप में आयेहुए विश्वरूप श्रीहरि को देखकर उनके तेजसे चौंधाये हुए उन शिष्यों सहित भृगुवंशी ब्राह्मणों ने अग्निओं के साथ उठकर उनका सत्कार करा २४ ॥ २५ ॥ और रूपके योग्य अङ्गोंवाले उन मनोहर सुन्दर वामनजी को देखकर, अति हर्षको प्राप्त हुए उस यजमान ने (बलि ने) उनको आ-सन दिया ॥ २६ ॥ तदनन्तर स्वागत के वचन से अभिनन्दन करके और उन भगवान् के चरण धोकर निः सङ्ग और मनोहर उन वामन जी का राजा बलि ने पूजन करा ॥ २७ ॥

जनकल्मषापहं स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात्सुमङ्गलम् ॥ यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौ-
लिर्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥ २८ ॥ बलिरुवाच ॥ स्वागतं ते नम-
स्तुभ्यं ब्रह्मन्किं करवाम ते ॥ ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वार्यवपुर्धरम् ॥
॥ २९ ॥ अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम् ॥ अद्य स्विष्टः क्रतु-
रयं यद्भवानागतो गृहान् ॥ ३० ॥ अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि द्विजा-
त्मज त्वच्चरणावनेजनैः ॥ हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो तथा पुनीता
तनुभिः पदैस्तव ॥ ३१ ॥ यद्यद्वटो वांछसि तत्प्रतीच्छ मे त्वामर्थिनं वि-
प्रसुतानुतर्कये ॥ गां कांचनं गुणवद्धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ॥
ग्रामान्समृद्धांस्तुरगान् गजान्वा रथांस्तथाऽर्हत्तम संप्रतीच्छ ॥ ३२ ॥ इतिश्री-
भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे बलिवामनसंवादेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं ससूनृतम् ॥ निशम्य भगवा-
न्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वचस्तवैतज्जनदेव सू-

---

तदनन्तर प्राणियों के पापों का नाश करने वाले और परम मङ्गलकारी, उन भगवान् के च-
रण धोने का जल, धर्म को जानने वाले उस बलि ने मस्तक पर धारण करा; जो गङ्गारूप
भगवान् के चरण का जल देवदेव चन्द्रमौलि महादेव जी ने परम प्रेम के साथ अपने मस्तक
पर धारण करा था ॥ २८ ॥ फिर वह बलि कहने लगा कि–हे भगवन् ! आप आये यह
वड़ा उत्तम हुआ, तुम्हें नमस्कार हो, हम तुम्हारा कौन कार्य करें सो हमें आज्ञा करो; क्यों
कि–हे श्रेष्ठ ! तुम साक्षात् ब्रह्मर्षियों के मूर्त्तिमान् तपही हो ऐसा मैं मानता हूँ ॥ २९ ॥
आहाहा ! क्या कहूँ ! तुम्हारे आगमन से आज मेरे पितर तृप्त होगये, आज मेरा कुल प-
वित्र होगया और आज यह हमारा यज्ञ निःसन्देह यथाविधि होगया ॥ ३० ॥ हे ब्राह्मण-
कुमार ! तुम्हारे चरण धोने के जलों से निष्पाप हुए मेरे अग्नि आज यथाविधि हवन करे
गये हैं; अहो ! तैसेही यह मेरी भूमि भी तुम्हारे छोटे से चरणों से पवित्र हुई है ॥ ३१ ॥
इसकारण हे वटो ! हे ब्राह्मणकुमार ! तुम मुझसे कुछमांगने को आयेहो ऐसा मेरा अनुमान है
सो तुम्हें जो जो चाहियें सो मुझ से लेलो, हे परमपूज्य ! गौ, सुवर्ण, सामग्रीसहित घर,
शुद्ध अन्न, जल, विवाह के निमित्त ब्राह्मण की कन्या:, सम्पत्तिमान् ग्राम, घोड़े हाथी, अथवा
रथ इनमें से जो तुम्हें चाहियें सो तुम मुझसे लेलो, ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के
अष्टम स्कन्ध में अष्टादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥
श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इस प्रकार यथार्थ और मधुर, उस विरोचन के
पुत्र राजा बलि का धर्म युक्त भाषण सुनकर, प्रसन्न हुए भगवान् ने प्रशंसा करते हुए
कहा–॥ १ ॥ श्रीभगवान् बोले कि–हे लोकनाथ ! इस लोक के व्यवहार के विषय में

नृतं कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करं ॥ यस्य प्रमाणं भृगवः सांपराये पितामहः कुलवृद्धः प्रशांतः ॥ २ ॥ न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निःसत्वः कृपणः पुमान् ॥ प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वाऽदाता द्विजातये ॥ ३ ॥ न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनोऽर्थिताः पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः ॥ युष्मत्कुले यद्यशसाऽमलेन प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे ॥४॥ यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीं॥ प्रतिवीरं दिग्विजये नाविंदत गदायुधः ॥ ५ ॥ यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतं ॥ नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥ निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा ॥ हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ॥ ७ ॥ तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् ॥ चिंतयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥८॥ यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ॥ अतोऽहं-

भृगुवंशी शुक्राचार्य आदि ब्राह्मण जिस के प्रमाण हैं और पारलौकिक धर्म के विषय में कुलवृद्ध, परमशान्त पितामह प्रह्लादजी जिस के प्रमाण हैं ऐसे तुम्हारा यह वचन सत्य, कुल के योग्य, धर्म के अनुकूल और यश का करनेवाला है ॥२॥ आहाहा !! इस तुम्हारे कुल में याचक को ' नहीं दूंगा ' ऐसा कहनेवाला कोई धैर्यहीन पुरुष अथवा पहिले देने का वचन कहकर फिर न देनेवाला ऐसा कोई लोभी पुरुष आज पर्यन्त नहीं हुआ है, आगे को नहीं होगा और इस समय भी नहीं है ॥ ३ ॥ और जैसे आकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है तैसे ही जिस में प्रल्हादजी अपने निर्मल यश से प्रकाशवान् हो रहे हैं ऐसे तुम्हारे कुल में दान के समय अथवा युद्ध के समय याचक के अथवा शत्रु के प्रार्थना करनेपर विमुख होनेवाले अधीर राजे हुए ही नहीं ॥ ४ ॥ क्योंकि—इस कुल में उत्पन्न हुआ हिरण्याक्ष, हाथ में गदा लेकर दिग्विजय करने को इस पृथ्वीपर इकला ही घूमता फिरता था तव उस को कोई अपने समान अपने साथ युद्ध करनेवाला वीर नहीं मिला ॥ ५ ॥ फिर वराहरूप धारण करनेवाले विष्णुभगवान् ने, भूमि का उद्धार करते समय आये हुए उस हिरण्याक्ष को बड़े परिश्रम से जीता, तथापि उस के बड़े भारी पराक्रम को स्मरण कर के अपने को विजय पानेवाला नहीं माना ॥ ६ ॥ तैसे ही पूर्वकाल में, उस का वध होगया, यह सुनकर उस का भ्राता हिरण्यकशिपु, क्रोध में भरकर अपने भ्राता का वध करनेवाले विष्णुभगवान् को मारने के निमित्त श्रीहरि के स्थान को गया ॥ ७ ॥ तव हाथ में शूल लेकर साक्षात् मृत्यु की समान आते हुए उस हिरण्यकशिपु को देखकर, मायावी पुरुषों में श्रेष्ठ, समय को जाननें वाले विष्णुभगवान् इसप्रकार विचार करनेलगे कि—॥८॥ प्राणी जहां जहां जाय तहां तहां उस के पीछे जैसे मृत्यु जाता है तैसे ही मैं जहां जहां जाऊंगा तहां तहां यह आवेगा ही इस कारण इस

मस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परागृदृशः ॥९॥ एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरमाधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ॥ श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहस्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥१०॥ स तन्निकेतं परिमृश्य शून्यमपश्यमानः कुपितो ननाद ॥ क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान् समुद्रान् विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीरः ॥११॥ अपश्यन्निति होवाच मयाऽन्विष्टमिदं जगत् ॥ भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥१२॥ वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनां ॥ अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥ ॥ १३ ॥ पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः ॥ स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात्स याचितः ॥ १४ ॥ भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः ॥ ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्त्तिभिः ॥ १५ ॥ तस्मात्त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात् ॥ पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ॥ १६ ॥

बाहरी दृष्टिवाले हिरण्यकशिपु के हृदय में ही मैं प्रवेश करता हूँ ॥ ९ ॥ हे दैत्यपते ! इस प्रकार निश्चय करके भय के कारण जिन का हृदय अत्यन्त कांपने लगा है ऐसे उन विष्णुभगवान् ने, जो श्वासवायु में ही गुप्त होजाय ऐसा सूक्ष्म शरीर धारण करके, अपनी ओर को दौड़कर उस शत्रु के आनेपर नासिका में को होकर उस के शरीर में प्रवेश करा ॥ १० ॥ तदनन्तर उस हिरण्यकशिपु ने, विष्णुभगवान् के सूने स्थान को सब ओर ढूँढा परन्तु उन को कहीं भी न देखा तब वह क्रुद्ध होकर, मैंने जीत लिया ऐसी गर्जना करनेलगा और फिर पृथ्वी, स्वर्ग, दिशा, अन्तरिक्ष, सातपाताल और सातसमुद्र इन सब स्थानों में उन को ढूँढकरभी उस वीर ने नहीं पाया ॥ ११ ॥ तब उन को कहीं न देखताहुआ वह कहनेलगा कि–मैंने सकल जगत् ढूँढा तथापि मेरे भ्राता का मारनेवाला विष्णु मुझे कहीं नहीं मिला इसकारण जहाँ गयाहुआ पुरुष फिर लौट कर नहीं आता है उस ब्रह्मस्वरूप को ही वह प्राप्त होगया है इस में सन्देह नहीं है ॥ १२ ॥ हे दैत्यपते ! देह में अभिमान का वर्त्ताव करनेवाले शूरों का वैरभाव इतना ही है अर्थात् मरणपर्यन्त ही है; क्योंकि-वैर क्रोध से होता है, और क्रोध अज्ञान से उत्पन्न होकर अहङ्कार से बढ़ता है और वह मरणपर्यन्त ही रहता है ॥ १३ ॥ हे दैत्यराज ! प्रल्हाद के पुत्र, ब्राह्मणवत्सल तेरे पिता विरोचन ने 'यह ब्राह्मण का वेष धारण करनेवाले मेरे वैरी देवता हैं ब्राह्मण नहीं हैं' ऐसा जानकर भी, ब्राह्मण का वेष धारण करनेवाले देवताओं के याचना करनेपर उन को अपनी आयु अर्पण करदी ॥ १४ ॥ और तैसेही तूने भी, महाकीर्त्तिमान् गृहस्थाश्रमी शुक्राचार्य आदि ब्राह्मणों करके, विरोचन आदि पूर्वपुरुषों करके तथा और भी शूरपुरुषों करके आचरण करेहुए धर्मों को स्वीकार करा है ॥ १५ ॥ तिस से हे दैत्यपते ! मेरे चरण से नापीहुई तीन पैर भूमि, मैं, वरदान देनेवालों में श्रेष्ठ तुझ से मांगता हूँ

नान्यत्ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात् ॥ नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्या-
वदर्थपरिग्रहः ॥ १७ ॥ बलिरुवाच ॥ अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धस-
म्मताः ॥ त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥ १८ ॥ मां वचोभिः
समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम् ॥ पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषं ॥
॥ १९ ॥ न पुमान्मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति ॥ तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं व-
टो कामं प्रतीच्छ मे ॥ २० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यावन्तो विषयाः प्रेष्ठा-
स्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम् ॥ न शक्नुवंति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥ २१ ॥
त्रिभिः क्रमैरसंतुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते ॥ नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥
॥ २२ ॥ सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः ॥ अर्थकामैर्गता नान्तं तृष्णाया
इति नः श्रुतं ॥ २३ ॥ यदृच्छयोपपन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखं ॥ नासंतुष्टस्त्रिभिर्लोकै-
रजितात्मोपसादितैः ॥ २४ ॥ पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषोऽर्थकामयोः ॥

॥ १६ ॥ हे राजन् ! अत्यन्त उदार तुझ जगदीश्वर से मैं और अधिक किसी वस्तुकी भी इच्छा नहीं करता हूँ, क्योंकि-जितने की आवश्यकता हो उतनाही स्वीकार करनेवाले ज्ञानीपुरुष को पातक नहीं लगता है, आवश्यकता से अधिक ग्रहण करनेवाले को पातक लगता है ॥ १७ ॥ राजा बलि ने कहाकि-हे ब्राह्मणकुमार ! तुम्हारा भाषण वृद्धों के मानने योग्य है तथापि तुम बालक हो इसकारण ही तुम्हारी बुद्धि अज्ञ पुरुषों की सी है सो तुम्हें अपने प्रयोजन को सिद्ध करने का कुछ ज्ञान नहीं है ॥ १८ ॥ क्योंकि-त्रिलोकी का इकला ही स्वामी होने के कारण जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप आदि देने में समर्थ मुझको सम्भाषणों से प्रसन्न करके जो तुम अपने चरण से तीन चरण भूमि मांगते हो सो तुम वास्तव में बुद्धिरहित हो ॥ १९ ॥ याचना करने को मेरे समीप आयाहुआ पुरुष फिर दूसरे से याचना करने के योग्य नहीं होता है इसकारण हे वटो ! अपनी इच्छानुसार खूब पैर फैलाकर जीविका चलानेवाली बहुत सी भूमि तुम मुझसे लेलो ॥ २० ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि-हे राजन् ! त्रिलोकी में जितने परमप्यारे विषय हैं वह सबभी अजितेन्द्रिय पुरुषोंके मनोरथ पूरे नहीं करसक्ते हैं ॥ २१ ॥ इसकारण तीन चरण भूमि से जो सन्तुष्ट होय उसको नौखण्ड सहित एक द्वीप यदि मिलजाय तबभी वह सन्तुष्ट नहीं होगा क्योंकि-उसे श्रेष्ठ सातों द्वीपों की इच्छा होगी ॥ २२ ॥ यदि कहो कि सप्तद्वीपवती पृथ्वीही तुम मांगलो सो-वेनका पुत्र पृथु और गय आदि राजे सातों द्वीपों के अधिपति होकर भी अर्थ और काम की तृष्णा के अन्त को नहीं पहुँचे ऐसा हमने सुना है ॥ २३ ॥ और जो प्रारब्ध के अनुसार प्राप्तहुए अन्न आदि से ही सन्तुष्ट होता है वह सुख से रहता है और जो जितेन्द्रिय नहीं होता है वह तीनोंलोक मिलजानेपर भी सन्तोष नहीं पाता है और इसकारण सुख से नहीं रहता है ॥ २४ ॥ तिस से अर्थ और काम का अस-

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥२५॥ यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य
वर्धते ॥ तत्प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः॥२६॥ तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे
त्वद्वरदर्षभात् ॥ एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥ २७ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्तः स हसन्नाह वांछातः प्रतिगृह्यताम् ॥ वामनाय महीं
दातुं जग्राह जलभाजनं ॥ २८ ॥ विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ॥
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदांवरः ॥ २९ ॥ शुक्राचार्य उवाच ॥
एष वैरोचने साक्षाद्भगवान्विष्णुरव्ययः ॥ कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसा-
धकः ॥ ३० ॥ प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता ॥ न साधु मन्ये दैत्यानां
महानुपगतोऽनयः ॥ ३१ ॥ एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ॥ दा-
स्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥ ३२ ॥ त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोका-

न्तोष पुरुष के संसारबन्धन का कारण होता है और जो कुछ प्रारब्धानुकूल मिलजाय उस से ही सन्तोष मानलेना पुरुष की मुक्ति का कारण होता है, ऐसा कहा है ॥ २५ ॥ तैसे ही प्रारब्धवश प्राप्तहुए वस्तु से ही सन्तुष्ट होनेवाले ब्राह्मण का तेज बढ़ता है और असन्तोष से वह तेज, जैसे जल से अग्नि नष्ट होजाता है तैसे ही नष्ट होजाता है ॥ २६ ॥ इसकारण तुझ, वरदान देनेवालों में श्रेष्ठ से, मैं तीन चरण भूमि ही मांगता हूँ, इतने ही से मेरा कार्य सिद्ध होजायगा, क्योंकि–प्रयोजन के सिद्ध होने योग्य धन ही सुखदायक होता है ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् ने राजा बलि से कहा तब उस राजा बलिने, हँसते २ 'अपनी इच्छा के अनुसार ही लो' ऐसा कहकर उस ने वामनरूप विष्णुभगवान् को पृथ्वी देने के निमित्त हाथ में जल का पात्र लिया ॥२८॥ तब ज्ञानियों में श्रेष्ठ शुक्राचार्य जी ने, विष्णुभगवान् का सर्वस्व हरने का अभिप्राय जानकर, उन वामनरूप विष्णुभगवान् को पृथ्वी देने को उद्यतहुए अपने शिष्य दैत्यराज बलि से यह कहा ॥२९॥ शुक्राचार्यजी ने कहा कि हे विरोचन के पुत्र ! देवताओं का कार्य साधने के निमित्त कश्यपजी से अदिति के विषैं यह प्रत्यक्ष अविनाशी विष्णुभगवान् प्रकटहुए हैं ॥ ३० ॥ और आगे को होने वाले अनर्थ को न जाननेवाले, तू ने इस को पृथ्वी का दान देने को जो स्वीकार करलिया है इस को मैं अच्छा नहीं समझता हूँ, क्योंकि–यह तेरा भूमिदान करना दैत्यों को बड़ाभारी क्लेश प्राप्तहुआ है ॥ ३१ ॥ हे विरोचन के पुत्र ! माया से ब्राह्मण का रूप धारण करके आयेहुए श्रीहरि, तेरे स्थान, ऐश्वर्य, श्री, तेज और प्रसिद्ध यश इन सबों को हरकर इंद्र को देदेंगे ॥ ३२ ॥ अरे मूढ़ ! यह विश्वरूप होकर केवल तीन ही चरण

न्विश्वकादयः क्रमिष्यति ॥ सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥३३॥
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ॥ खं च कायेन महता तार्तीयस्य
कुतो गतिः ॥ ३४ ॥ निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् ॥ प्रतिश्रुतस्य
योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥ ३५ ॥ न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ॥
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥३६॥ धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय
स्वजनाय च ॥ पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥ ३७॥ अत्रापि
बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम ॥ सत्यमो-मिति यत्प्रोक्तं यन्ने--त्याहानृतं
हि तत् ॥ ३८ ॥ सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ॥ वृक्षेऽजीवति
तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥ ३९ ॥ तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात् ॥
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ।४०। पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदो-

से इन लोकों को नाप लेगा; अरे मूढ़ ! विष्णु को सर्वस्व अर्पण करके तू अपना निर्वाह भी कैसे करेगा ? ॥३३॥ हे दैत्यपति ! एक चरण से पृथ्वी, दूसरे चरण से स्वर्ग को नापकर और अपने बड़ेभारी शरीर से अन्तरिक्ष को भरदेनेवाले इन सर्वव्यापी परमेश्वर के तीसरे चरण को स्थान कहां से मिलेगा ? ॥ ३४ ॥ और इसप्रकार वाणी से दियेहुए वस्तु को प्रत्यक्ष देने में असमर्थ होनेवाले तुझे नरकगति प्राप्त होगी, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि-तू ने जो वाणी से दिया है उस को पूरा करने में तू असमर्थ है ॥३५॥ हे दैत्यपते ! जिस से जीविका के निर्वाह में वाधा पड़े उस दान की श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं, क्योंकि-दान, यज्ञ, चित्त की एकाग्रता और पूर्त्तकर्म (धर्मशाला आदि वनवाना) यह सब जीविका का निर्वाह चलानेवाले पुरुष के हाथ से ही वनसक्ते हैं ॥ ३६ ॥ इस कारण पुण्य की उत्पत्ति,उत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति,धन के बढ़ने के निमित्त व्यापार, अपना भोग, और अपने कुटुम्बियों का सन्तोष इन पांच वातों के निमित्त धन के पांच भाग करनेवाला पुरुष, इस लोक में और परलोक में सुख पाता है ॥ ३७ ॥ हे असुर श्रेष्ठ ! सत्य असत्य की व्यवस्था के विषय में ऋग्वेद की श्रुति में जो पढ़ा है, उस को सुन; ॐ (हां) ऐसा स्वीकार करके जो उच्चारण किया होय वह सत्य और नहीं कहकर जो कहा होय वही असत्य है ॥ ३८ ॥ हे दैत्यपते ! सत्य को देहरूप वृक्ष का पुष्प और फल जाने, ऐसा श्रुति में कहा है परन्तु यह देहरूप वृक्ष यदि जीवित नहीं रहा तो वह सत्यरूप पुष्प-फल प्राप्त नहीं होगा इस कारण असत्य देह की जड़ है अर्थात् असत्य से ही देह की रक्षा होती है ॥ ३९ ॥ जैसे जिस की जड़ उखाड़ दी जाय वह वृक्ष सूखकर शीघ्र ही नीचे गिरपड़ता है तैसे ही जिस का अनृत (असत्य भाषण) नष्ट होजाय वह देह तत्काल सूखजायगा इस में कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४० ॥

मिति ॥ यत्किंचिदो—मिति ब्रूयात्तेन रिच्येत वै पुमान् ॥ भिक्षते सर्व-
मोंकुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥ ४१ ॥ अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं
वचः ॥ सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात्स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥ ४२ ॥ स्त्रीषु नर्म-
विवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे ॥ गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥ ४३ ॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे अ० वामनप्रादुर्भावे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ * ॥
श्रीशुक उवाच ॥ बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः ॥ तूष्णीं भूत्वा
क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम् ॥ १ ॥ बलिरुवाच ॥ सत्यं भगवता प्रोक्तं
धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ॥ अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित् ॥ २ ॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् ॥ प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्रादिः

सर्वथा सत्य ही बोलने से देह का निर्वाह नहीं होसक्ता यह दिखाने को सत्य के दोष और असत्य के गुण कहने के अभिप्राय से शुक्राचार्य जी कहते हैं कि–हे दैत्यराज ! 'देताहूँ' यह अक्षर याचना करनेवाले के द्वारा द्रव्य को लेकर दूर चलेजाते हैं इस कारण धनी रिक्त (खाली) अर्थात् अपूर्ण होता है, इस कारण याचक से 'हां देता हूँ' ऐसा कहने से पुरुष द्रव्य रहित होजाता है और इसपरभी याचक को सब देऊँगा, ऐसा अंगीकार करनेवाला पुरुष, अपने देह का निर्वाह करने को भी समर्थ नहीं होता है ॥ ४१ ॥ तैसे ही 'नहीं देता' इस प्रकार का अनृत भाषण, द्रव्य का व्यय न होने के कारण पूर्ण और दूसरे के धन को खैंचने वाला है अर्थात् जो पुरुष नित्य, 'मेरे पास कुछ नहीं है' ऐसे कहता है वह उस अनृत भाषण के द्वारा लोकों से धन पाता है, परन्तु हे राजन् ! जो सर्वदा ही 'नहीं' इस प्रकार मिथ्याभाषण करता है उस की अपकीर्त्ति होती है अतः वह जीता हुआ ही मरेहुए की समान होताहै ॥ ४२ ॥ इस कारण यदि निर्वाह में बाधा आती होय तब ही अनृतभाषण दोषकारक नहीं होता है ऐसा कहने के अभिप्राय से शुक्राचार्य जी कहते हैं कि–हे विरोचन के पुत्र ! स्त्रियों को वश में करना, विनोद (दिल्लगी), विवाह में वर की प्रशंसा, जीविका, प्राणोंपर सङ्कट, गौ ब्राह्मण का हित और हिंसा, इतने अवसरों पर मिथ्याभाषण करना निन्दित नहीं होता है ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में एकोविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार कुलगुरु शुक्राचार्यजीने, यजमान बलिसे कहातब क्षणभर को मौन होकर सावधानीके साथ, वह बलि, अपने गुरु से कहने लगा ॥ १ ॥ बलि ने कहाकि–हे गुरो ! अर्थ, काम, यश और जीविका में जो बाधा न करे वही गृहस्थी पुरुषों का धर्म है ऐसा जो आपने कहा सो सत्य है ॥ २ ॥ परन्तु वह मैं विरोचन का पुत्र, ब्राह्मण को 'देता हूँ' ऐसा वचन देकर, कञ्चक (धोखा

कितवो यथा ॥ ३ ॥ न ह्यसत्यात्परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् ॥
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥ ४ ॥ नाहं बिभेमि निर-
यान्नाधन्यादसुखार्णवात् ॥ न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रलम्भनात् ॥
॥ ५ ॥ यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् संपरेतं धनादिकम् ॥ तस्य त्यागे
निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत् ॥ ६ ॥ श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां
साधवो दुस्त्यजासुभिः ॥ दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥ ७ ॥
यैरियं बुभुजे ब्रह्मन्दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः ॥ तेषां कालोऽग्रसील्लोकान्न यशोऽ-
धिगतं भुवि ॥ ८ ॥ सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः ॥ न तथा
तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥ ९ ॥ मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः ॥ कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां ततो बटोरस्य

देनेवाले) की समान, द्रव्य के लोभ से 'नहीं देता' इसप्रकार कैसे कहूँ ? ॥ ३ ॥ और तिसपर भी असत्य से बढकर दूसरा अधर्म नहीं है इसकारण मिथ्या बोलने वाले मनुष्य के सिवाय सबको ही मैं धारण करसक्ती हूँ, ऐसा इस पृथ्वी का कथन है ॥ ४ ॥ और ऐसे अवसर में प्रतिज्ञा का भङ्ग न करने में दोष है, ऐसा आपने कहा है; परन्तु हे आचार्य ! ब्राह्मण को धोखा देने से जैसा मैं भय मानता हूँ वैसा नरक, दुःखका समुद्ररूप दरिद्रता, स्थान से बिछुर जाना और मृत्यु इनसे भी नहीं डरता हूँ ॥ ५ ॥ इसके सिवाय—जोजो धनआदि पदार्थ हैं वह सब मरण को प्राप्त हुए पुरुष को यहाँही छोड़देंगे, फिर उनको जीवित होते हुए ही क्यों न देदेय ! तथापि जीविका में बाधा आती है इसकारण आधा देना चाहियें, ऐसा कहो तो हेगुरो ! दिये हुय द्रव्य से यदि ब्राह्मण प्रसन्न न होय तो उस दानका फल ही क्या? अर्थात् कुछ फल नहीं है अभिप्राय यहहै कि-ब्राह्मण के प्रसन्न न होने से वह दान व्यर्थ होजायगा इसकारण ब्राह्मण जितना मांगे वह सबही देना चाहिये ॥ ६ ॥ हे आचार्य ! दधीचि और शिबिआदि साधु पुरुष, जिनका त्यागना कठिन है ऐसे अपने प्राणों का भी त्यागकर प्राणियों के ऊपर दया करते हैं फिर भूमि आदि को देने में तो विचारही क्या करना ? ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मन् ! युद्ध में पीछे को न फिरने वाले जिन दैत्यपतियों ने इस पृथ्वी को भोगा है उनके भोग वा लोककोभी काल ने ग्रसलिया परन्तु पृथ्वीपर उनको जो यशमिलाथा उसको कालने नष्ट नहीं किया इसकारण और सब छोड़कर कीर्त्ति को ही प्राप्त करना चाहियें ॥ ८ ॥ हे ब्रह्मर्षे ! युद्ध में पीठ न देकर शरीर को त्यागनेवाले पुरुष, जैसे इसलोक में बहुत से मिलते हैं वैसे सत्पात्र के आनेपर जो श्रद्धा के साथ धन को त्यागते हैं वह बहुत नहीं मिलते हैं इसकारण उस दुष्कर धनत्याग को ही मैं करूँगा ॥ ९ ॥ हे गुरो ! जिस तिस याचक पुरुष की भी कामना पूर्ण करने से दानशूर दयालु पुरुष को प्राप्त होनेवाली

ददामि वाञ्छितम् ॥ १० ॥ यजंति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता भवन्त आम्नायवि-
धानकोविदाः ॥ स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमी-
प्सितां मुने ॥ ११ ॥ यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम् ॥ तथाप्येनं
न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम् ॥ १२ ॥ एष वा उत्तमश्लोको न जिहा-
सति यद्यशः ॥ हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मया ॥ १३ ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः ॥ शशाप दैवप्रहितः सत्य-
संधं मनस्विनम् ॥ १४ ॥ दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया ॥ म-
च्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः ॥ १५ ॥ एवं शप्तः स्वगुरुणा स-
त्यान्न चलितो महान् ॥ वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ॥ १६ ॥ विं-
ध्यावलिस्तदागत्य पत्नी जालकमालिनी ॥ आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां
भृतम् ॥ १७ ॥ यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा ॥ अवनिज्यावह-

दीनताही जब कल्याणकारी है तो तुमसमान ब्रह्मज्ञानियों की कामना पूर्ण करने से मुझे
प्राप्त होनेवाली दीनता कल्याणकारी है इस का तो कहना ही क्या ? इसकारण इस ब्राह्मण
की जो इच्छा होयगी वही मैं अर्पण करूँगा ॥ १० ॥ वेद में कहेहुए अनुष्ठान को
करने में प्रवीण तुम, आदर के साथ यज्ञयागों के द्वारा जिन की आराधना करते हो वह
यह वरदायक विष्णु हों अथवा कोई शत्रु हो, इसकी इच्छा करीहुई पृथ्वी, इस को दूँगा
॥ ११ ॥ और सर्वस्व अर्पण करके निरपराधहुए मुझ को यदि यह अधर्म से बाँधलेगा
तो भी मैं,इस शत्रु का वध नहीं करूँगा क्योंकि इसने भयभीत होने के कारण ब्राह्मण का
वेषधारण कराहै ॥ १२ ॥ और यदि यह श्रेष्ठ कीर्त्तिवाले विष्णु ही हैं तो अपनी कीर्त्ति को
त्यागनेकी इच्छा नहींकरेंगे;मैं नहीं दूँगातो युद्ध में मेरा वध करके ही पृथ्वी को हरैंगे, वा
मेरे हाथ से मरण को प्राप्तहोकर पृथ्वीपर शयनकरैंगे॥१३॥ श्रीशुकदेवजी कहतेहैं कि-
हे राजन्! इसप्रकार अपने कहने के ऊपर श्रद्धा न करने वाले और आज्ञा का उल्लंघन
करनेवाले उस सत्य प्रतिज्ञा करनेवाले उदारचित्त शिष्य(बलि)को,दैवके प्रेरणा करेहुए गुरु
शुक्राचार्य जी ने शाप दिया कि-॥ १४ ॥ अरे! वास्तव में अज्ञानी और उद्धत हो-
कर भी अपने को निश्चय के साथ पण्डित माननेवाला जो तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन क-
रता है, सो तू हम गुरुओं की उपेक्षा करने के कारण शीघ्र ही ऐश्वर्य से हीन होजायगा
॥ १५ ॥ इसप्रकार अपने गुरु के शाप दिये हुए उस महात्मा बलिने, सत्य से न ह-
टकर वामन भगवान् का पूजनकर उनको जलपूर्वक (हाथ में जल लेकर) इस पृथ्वी का
दान दिया ॥ १६ ॥ उस समय मोतियों की और रत्नों की लड़ों की माला को धारण
करनेवाली विंध्यावली नामवाली बलि राजा की रानी तहां आई और चरण धोने को जल
से भरी हुई सोने की झारी लाई ॥ १७ ॥ राजा बलि ने अपने हाथों से उनके शोभा-

न्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः ॥ १८ ॥ तदाऽसुरेंद्रं दिवि देवतागणा गंधर्ववि-
द्याधरसिद्धचारणाः ॥ तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदाऽन्वि-
ताः ॥ १९ ॥ नेदुर्मुहुर्दुंदुभयः सहस्रशो गंधर्वकिंपूरुषकिन्नरा जगुः ॥ मन-
स्विनाऽनेन कृतं सुदुष्करं विद्वानदाद्यद्रिपवे जगत्त्रयम् ॥ २० ॥ तद्वामनं रूप-
मवर्धताद्भुतं हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ॥ भूः खं दिशो द्यौर्विवराः प-
योधयस्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥ २१ ॥ काये बलिस्तस्य महाविभूतेः
सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ॥ ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेंद्रियार्थाश-
यजीवयुक्तम् ॥ २२ ॥ रसामचष्टांघ्रितलेऽथ पादयोर्महीं महीध्रान्पुरुषस्य
जंघयोः ॥ पतत्त्रिणो जानुनि विश्वमूर्तेरूर्वोर्गणं मारुतमिंद्रसेनः ॥ २३ ॥
संध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्प्रजापतीन् जघने आत्ममुख्यान् ॥ नाभ्यां नभः
कुक्षिषु सप्तसिंधूनुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालां ॥२४॥ हृद्यंग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
र्ऋतं च सत्यं च मनस्यथेंदुम् ॥ श्रियं च वक्षस्यरविंदहस्तां कंठे च
सामानि समस्तरेफान् ॥ २५ ॥ इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु तत्कर्णयोः ककुभो

यमान पदयुगल आनंद से धोये और वह जगत् को पावन करनेवाला जल सिरपर चढ़ाया
॥१८॥ उस समय स्वर्ग में खड़े देवता, गंधर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण ये सब उस
की सरलता और उसके चरित्र की प्रशंसा करते आनंद युक्त हो, फूल बरसाने लगे
॥ १९ ॥ सहस्रों दुंदुभी वारंवार बजने लगीं और गंधर्व, किन्नर तथा किंपुरुष गाने लगे
और सब लोग कहने लगे कि–इस बलिराजाने बड़ा दुष्कर कर्म किया कि–जानबूझकर
शत्रु को त्रिलोकी का राज दिया ॥ २० ॥ महाराज ! संकल्प करते ही अनंत हरि भ-
गवान् का वह गुणत्रयमयी वामनरूप अद्भुत रीति से बढ़ने लगा. कि–जिसमें पृथ्वी,
आकाश, दिशा, स्वर्ग, पाताल,पशु,पक्षी,मनुष्य,देवता और ऋषि यह सब अच्छी प्रकार
समा रहे थे ॥ २१ ॥ उन महाविभूति भगवान् के गुणमय शरीर में ऋत्विज, आचार्य
और सभासदों के साथ राजा बलि ने पंचमहाभूत, इंद्रियां, विषय, अंतःकरण और जीवों
के साथ इस त्रिगुणमय सब जगत् को देखा ॥ २२ ॥ बलिराजा ने चरणतल में पाताल,
चरणों में पृथ्वी, जंघा में पर्वत, उन विराट्रूप भगवान् के घुटनों में पक्षी और साथलों
में पवन के समूहों को देखा ॥२३॥ भगवान् के वस्त्र में सन्ध्या, गुह्यस्थल में प्रजापति,जं-
घन में बलि–आदि दैत्य, नाभि में आकाश, कोख में सात समुद्र और वक्षःस्थल में
नक्षत्रमाला देखी ॥ २४ ॥ हे राजन् ! हृदय में धर्म,भगवान् के स्तनों में ऋत और सत्य,मनमें
चंद्रमा,वक्षःस्थल में कमल,हाथ में लिये लक्ष्मी,और कंठमें सामवेद और सकल शब्द देखे २५
भुजाओं में इन्द्रादि देवता, कानों में दिशा, मस्तक में स्वर्ग, केशों में मेघ, नासिका में

द्यौश्च मूर्ध्नि ॥ केशेषु मेघान् श्वसनं नासिकायामक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम्
॥ २६ ॥ वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु ॥
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो मन्युं ललाटेऽधरं एव लोभम् ॥ २७ ॥ स्पर्शे
च कामं नृप रेतसोऽम्भः पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम् ॥ छायासु मृत्युं हसिते
च मायां तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥ २८ ॥ नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु बु-
द्धावजं देवगणानृषींश्च ॥ प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि सर्वाणि भूतानि ददर्श
वीरः ॥ २९ ॥ सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ॥
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥ ३० ॥ कौमोदकी
विष्णुगदा तरस्विनी विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्तः तूणोत्तमावक्षयसायकौ
च सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥ ३१ ॥ स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डलः श्रीव-
त्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥ मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतो रराज राजन् भगवानु-
रुक्रमः ॥ ३२ ॥ क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥

प्राणवायु, नेत्रों में सूर्य और मुख में अग्नि को देखा ॥ २६ ॥ उन पुरुषोत्तम की वाणी से चारों वेद, जिव्हा में वरुण, भौं में विधि और निषेध, पलकों में दिन और रात्रि, ललाट में क्रोध और नीचे के ओठ में लोभ को देखा ॥ २७ ॥ तथा हे राजन् ! त्वचा में काम, रेतःस्थान (वीर्य रहने के स्थान) में जल, पृष्ठभाग में अधर्म, चरण रखने में यज्ञ, छाया में मृत्यु, हास्य में मोहिनीशक्ति और रोमों में सकल औषधियों की जातियों को राजा बलि ने देखा ॥ २८ ॥ नाड़ियों में नदियें, नखों में शिला, बुद्धि में ब्रह्माजी, और इन्द्रियों में देवगण तथा ऋषि देखे; इस प्रकार उन श्रीहरि के शरीर में उस वीर ने स्थावर जङ्गम रूप सकल प्राणियों को देखा ॥ २९ ॥ और हे राजन् ! सर्वात्मा भगवान् के विषैं इस सकल जगत् को देखकर सब असुर भयभीत होगये; तदनन्तर जिस का तेज असह्य है ऐसे सुदर्शन नामक चक्र, मेघ की समान शब्द करनेवाले शार्ङ्ग नामक धनुष, जल भरे मेघमण्डल की समान गूँजनेवाले पाञ्चजन्य नामक शंख, विष्णुभगवान् की परमवेगवती कौमोद की नामवाली गदा, ढाल सहित विद्याधर नामक खड्ग, जिस में के वाण कभी कम न हों ऐसे सर्वोत्तम तर्कस भी देखे; उस समय सुनन्द आदि मुख्य पार्षद भगवान् के समीप आकर उपस्थित हुए ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! देदीप्यमान किरीट, बाजूबन्द और मकराकृतकुण्डलों को धारण करनेवाले वह भगवान् उरुक्रम, श्रीवत्सलाञ्छन, रत्नों में श्रेष्ठ कौस्तुभमणि, मेखला, पीताम्बर और भ्रमरों के समूहों से गुञ्जारतीहुई वनमाला से युक्त होनेपर अत्यन्त शोभित होनेलगे ॥ ३२ ॥ और हे राजन् ! एकचरण से बलि की पृथ्वी, शरीरसे आ-

पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ॥ उरुक्रमस्यांघ्रि-रुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥ ३३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे विश्वरूपदर्शनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेंदुभिर्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ॥ मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः सनन्दनाद्या नरदेवयोगिनः ॥ १ ॥ वेदोपवेदा नियमान्विता यमास्तर्केतिहासांगपुराणसंहिताः ये चापरे योगसमीरदीपितज्ञानाग्निना रंधितकर्मकल्मषाः ॥ ववंदिरे यत्स्मरणानुभावतः स्वायंभुवं धाम गता अकर्मकं ॥ २ ॥ अथांघ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोरुपाहरत्पद्मभवोऽर्हणोदकं ॥ समर्च्य भक्त्याऽभ्यगृणाच्छुचिश्रवा यन्नाभिपंकेरुहसंभवः स्वयं ॥ ३ ॥ धातुः कमंडलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेंद्र ॥ स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ ४ ॥ ब्रह्मा-

काश और भुजाओं से दिशाओं को उन त्रिविक्रमभगवान् ने घेरलिया; तदनन्तर दूसरा चरण रखतेहुए उन वामनजी को वह बलिका स्वर्गलोक बहुतही थोड़ा प्रतीत हुआ इसकारण तीसरा चरण रखनेको तो उस बलिका अणुरेणु समानभी स्थान शेष न रहा; क्योंकि दूसरे चरण के समयही उन उरुक्रम भगवान् का चरणकमल स्वर्गलोक के ऊपर जाते२ महर्लोक, जनलोक और तपोलोक से ऊपर सत्यलोक में जापहुँचा ॥ ३३ ॥ इतिश्रीमद्भागवतके अष्टमस्कन्ध में विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी बोले कि महाराज! भगवान् का चरणारविंद सत्यलोक में प्राप्तहुआ, उसे देख ब्रह्माजी कि जिन के भवन की कांति भगवान् के नखरूप चन्द्रमाकी कांति से फीकी पड़गई थी और जो आप भी नखचन्द्रों से आच्छादित होगये थे वह मरीचि—आदि ऋषि, सनत्कुमार आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, योगीजन, वेद, उपवेद, नियम, यम, तर्क, इतिहास, शिक्षादिक वेद के अंग, पुराण और उन की संहितायें तथा और भी कि—जिनके कर्म योगरूप वायुसे प्रदीप्तहुये ज्ञानरूप अग्निसे भस्महोगयेहैं, यह सब२ भगवान् के चरणके निकट आये और इन सबों ने कर्म से प्राप्त नहीं ऐसे ब्रह्मलोक को, जिनके स्मरण के प्रभावसे आप प्राप्तहुए हैं, उन भगवान् के चरणों को प्रणाम किया ॥ १ ॥ २ ॥ फिर पवित्रकीर्त्ति ब्रह्माजी ने विष्णुभगवान् कि जिनके नाभिकमल से आप उत्पन्न हुये हैं, उन के उन्नत हुये चरणकमल की जल से पूजा की और भक्तिपूर्वक स्तुति करी ॥ ३ ॥ हेराजन्! ब्रह्माजी के कमण्डल का जल, जो भगवान् के चरण धोने से पवित्र हुआथा वही गङ्गा नाम सेप्रसिद्ध हुआ है, सो गङ्गा मानों भगवान् की निर्मल कीर्तिहो, इस प्रकार आकाश में से गिरतीहुई त्रिलोकी को पवित्रकरतीहै ॥ ४ ॥ ब्रह्मा आदि लोकपालोंने

दयो लोकनाथाः स्वर्नाथाय समाहृताः ॥ सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥ ५ ॥ तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगंधानुलेपनैः ॥ धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलांकुरैः ॥ ६ ॥ स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमांकितैः ॥ नृत्यवादित्रगीतैश्च शंखदुंदुभिनिःस्वनैः ॥ ७ ॥ जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः ॥ विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥ ८ ॥ महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाञ्चया ॥ ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥ ९ ॥ न वा अयं ब्रह्मबंधुर्विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति ॥ १० ॥ अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ॥ सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदंडस्य बर्हिषि ॥११॥ सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः ॥ नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ॥ १२ ॥ तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः ॥ इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचराऽसुराः ॥ १३ ॥ ते सर्वे वामनं हंतुं शूलपट्टिशपाणयः ॥ अनिच्छतो बले राजन्प्राद्रवन् जातमन्यवः ॥ १४ ॥ तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप ॥ प्रहस्यानुचरा विष्णोः

अपने अनुचरों के साथ अपने विस्तार को दूरकर, पहिले के से वामन रूपसे विराजमान अपने स्वामी भगवान् का आदर पूर्वक पूजन किया, और भेंटें अर्पण करीं ॥५॥ और जल भेंटें, माला, दिव्य और सुगन्धवाला लेप, धूप, दीप, नैवेद्य, सुगंधिलाजा (लाई) अक्षत फल अंकुर॥६॥भगवान् के पराक्रमकी महिमा जिन में वर्णितहै ऐसे स्तोत्र, जयशब्द, नृत्य, गीत,वाजे,शङ्ख,और दुन्दुभीके शब्द इनसे भगवान् का पूजन किया॥७॥मन समान वेगवान् ऋक्षराज जामवन्त ने भेरी बजाकर, सब दिशाओं में बड़े उत्सब के साथ विजय की डौंडी पीटी ॥ ८ ॥ तीन पैग मांगने के मिससे सब पृथ्वी हरली, उसे देखकर, दीक्षालिये हुये अपने स्वामीके ऊपर क्रोध करके सब दैत्योंने कहाकि—॥९॥ अरे यह ब्राह्मण नहीं है, यह मायावियों का शिरोमणि विष्णु है,यह ब्राह्मण का भेष बनाकर, गुप्त रूपसे काज सिद्धकिया चांहता है ॥ १० ॥ इस शत्रुने वटुकारूप बनाकर, याचना करके, हमारे स्वामी कि जिसने यज्ञ में सबप्रकार से दंडका त्याग करादयाहै, उसका सर्वस्व हरलिया है ॥ ११ ॥ सत्यसंध और ब्राह्मणों का भक्त, दयालु तिसमें भी विशेष कर दीक्षा लियाहुआ अपना स्वामी बलि कुछ झूठ तो बोल ही नहीं सकता ॥ १२ ॥ इस कारण इस वामन को मारेंगे तो अपने को धर्म होगा और स्वामी की सेवा भी समझी जायगी, इस प्रकार विचार करके बलि के अनुचर दैत्यों ने हाथों में शस्त्र उठाये ॥ १३ ॥ हे राजन् ! बलि यह बात नहीं चांहता था, परन्तु उन्हें क्रोध आगया, इस से वे सब त्रिशूल और पट्टिश हाथों में ले, वामन भगवान् को मारने के लिये दौड़े ॥ १४ ॥ महाराज ! उन दैत्यपतियों को

प्रत्यषेधन्नुदायुधाः ॥ १५ ॥ नंदः सुनंदोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः ॥
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट् ॥ १६ ॥ जयंतः श्रुतदेवश्च पुष्प-
दंतोऽथ सात्वतः ॥ सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीं ॥१७॥ हन्यमा-
नान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः ॥ वारयामास संरब्धान्काव्यशाप-
मनुस्मरन् ॥ १८ ॥ हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः ॥
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोयमर्थकृत् ॥ १९ ॥ यः प्र-
भुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये ॥ तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पु-
मान् ॥ २० ॥ यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसां ॥ स एव भगवा-
नद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥ २१ ॥ बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मंत्रौषधादिभिः ॥
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥ २२ ॥ भवद्भिर्निर्जिता ह्येते
बहुशोनुचरा हरेः ॥ दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥
॥ २३ ॥ एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति ॥ तस्मात्कालं प्रतीक्षध्वं
यो नोऽर्थत्वाय कल्पते ॥ २४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ पत्युर्निगदितं श्रुत्वा
दैत्यदानवयूथपाः ॥ रसां निर्विविशुः राजन् विष्णुपार्षदताडिताः ॥ २५ ॥

दौड़ते आते देखकर विष्णुभगवान् के पार्षदों ने शस्त्र उठाकर, हंसते २ रोकदिया ।१५। नंद, सुनंद, जय, विजय, प्रवल, वल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड़ ॥ १६ ॥ जयंत, श्रुतदेव, पुष्पदंत, सात्वत, ये सब दशसहस्र हाथियों का वल धारण किये दैत्यों की सेना का संहार करनेलगे ॥ १७ ॥ भगवान् के पार्षद दैत्यों को मार रहेथे, उन्हें क्रोध सहित देखकर, शुक्राचार्य्यजी के शाप को याद करके, वलि राजा ने निषेध किया ॥ १८ ॥ वलि ने कहा कि "हेविप्रचिति" हे राहु ! हेनिमि ! मेरा वचन सुनो; अभी तुम युद्ध मत करो, पीछे लौट जाओ; क्योंकि यह समय अपने अनुकूल नहींहै॥ १९॥ हे दैत्यों ! जो सव जीवोंको सुख दुःख देने को समर्थ है, उसे कोई भी पुरुष पुरुषार्थ करके, नहीं उल्लंघ सकता है ॥ २० ॥ जो दैव पहिले अपने तो अनुकूल और देवतों के प्रतिकूल था, वही आज सवप्रकार विपरीत होगया है॥ २१ ॥ वल, मंत्री, बुद्धि, दुर्ग (किला) सलाह या मंत्र औषधि–आदि और साम आदि अनेकों उपाय करै, परन्तु यह पुरुष दैव को कभी नहीं उल्लंघ सकता ॥ २२ ॥ तुमने इन हरिके पार्षदों को कईवार जीता है, परन्तु आज येही दैवके प्रभाव से वृद्धिगत हो, तुम्हें जीतकर, युद्ध में गर्जना करतेहैं ॥२३॥ जब समय अनुकूलहोगा तब हमभी उन्हें जीतलेंगे तिससे जो काल अनुकूल होवे उस काल की वाट देखो ॥२४॥ श्रीशुकदेवजीने कहाकि–महाराज ! विष्णुभगवान् के पार्षदों से पीटे जाते दैत्य और दानवों के यूथपतियों ने अपने स्वामी का यह वचन सुनकर पाताल की

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम् ॥ बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥ २६ ॥ हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतो दिशम् ॥ निगृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः ॥ नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप ॥ २८ ॥ पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयाऽसुर ॥ द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥ २९ ॥ यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः ॥ यावद्वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव ॥ ३० ॥ पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः ॥ स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना ॥ ३१ ॥ प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते ॥ विश त्वं निरयं तस्माद्गुरुणा चानुमोदितः ॥ ३२ ॥ वृथा मनोरथस्तस्य दूरे स्वर्गः पतत्यधः ॥ प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलंभते ॥ ३३ ॥ विप्रलब्धो ददामीति त्वयाऽहं चाढ्यमानिना ॥ तद्व्यलीकफलं भुंक्ष्व निरयं कतिचित्समाः ॥ ३४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे बलिनिग्रहो नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं विप्रकृतो राजन्बं-

राहली ॥२५॥ फिर पक्षिराज गरुड़जीने भगवान् का अभिप्राय, जानकर यज्ञ में सोमवल्ली कंडन के दिन वरुणपाश से बलिको बांधलिया ॥२६॥ समर्थ हरिभगवान् ने बलिको बांधा, उस समय सबदिशाओं में और स्वर्ग तथा भूमि में बड़ा भारी हाहाकार शब्दहुआ ॥२७॥ महाराज! उदारयश वाले स्थिरबुद्धि, उस बलि को लक्ष्मीहीन और वरुण के पाशों से बधांहुआ देखकर, वामन भगवान् ने कहाकि—॥ २८ ॥ 'हे दैत्य! तूने मुझे तीन पैग देने स्वीकार किये हैं' तिन में दोपैग से मैंने तेरी सब भूमि दाब ली है अब तीसरा पैगदे ॥ २९ ॥ जहां पर्यन्त यह सूर्य्य अपनी किरणों से प्रकाश करता है,जहां तक नक्षत्रों सहित चन्द्रमा प्रकाश करता है और जितनी दूर में मेघबरसता है तहां पर्यन्त तेरी यह पृथ्वी है ॥ ३०॥ तूदेखता है कि मैंने एक पैगसे तो पृथ्वी लोक दबाया और मेरे व्यापक शरीरने आकाश और दिशायें दबाईं,और दूसरे पैगसे तेरा सर्वस्वरूप यह स्वर्गलोक लिया ॥३१॥ बलिराजन्! तूने प्रतिज्ञा करके नहीं दिया, इस कारण तेरा नरक में वास होना चाहिये, इस में तेरे गुरु की भीसम्मति है सो तू नरक में जा ॥ ३२ ॥ जो प्रतिज्ञा करके नहीं देताहै किन्तु याचक को धोखादेताहैं, उसका मनोरथ वृथाहै, स्वर्ग तो दूररहा उसको उलटा नरकमें गिरना पड़ताहै ॥३३॥ तूने धनवान्पनेका अभिमान रखकर, 'हाँ मैं देऊँगा'इसप्रकार मुझे ठगा है सो इस मिथ्या वचनका फलरूप जो नर्क उसका कुछ एक वर्षतक भोगकर॥३४॥इति श्रीमद्भागवतके अष्टम् स्कंधमें एकोविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि - हे राजन्! इसप्रकार भगवान् के बाँधेहुए,वचन से तिरस्कार

क्तिर्भगवताऽसुरः ॥ भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः ॥ १ ॥
बलिरुवाच ॥ यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते ॥
करोम्यृतं तन्न भवेत्प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥
बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात् ॥ नैवार्थकृ-
च्छ्राद्भवतो विनिग्रहादसाधुवादाद्भृशमुद्विजे यथा ॥ ३ ॥ पुंसां श्लाघ्यतरं
मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् ॥ यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि
॥ ४ ॥ त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ॥ यो नोऽनेकमदान्धानां
विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥ ५ ॥ यस्मिन्वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः ॥ बहवो
लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः ॥ ६ ॥ तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता
भूरिकर्मणा ॥ बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥ ७ ॥ पिता-

करेहुए और सत्य से डिगायेहुए भी उस राजा बलि ने, सत्य से चलितचित्त न होकर इसप्रकार दृढ़तायुक्त वचन कहा ॥ १ ॥ बलि ने कहा कि—हे उत्तमकीर्त्ति देवश्रेष्ठ ! तुमने ही कपट से वामनरूप धार भीख मांगकर फिर दूसरा रूप प्रकट करा इसकारण मेरा कहाहुआ वचन यद्यपि असत्य नहीं है तथापि यदि तुम उसको असत्य मानते हो तो जिसप्रकार धोखा देनेवाला नहीं होगा उसप्रकार मैं सत्य करता हूँ; तुम अपना तीसरा पग मेरे मस्तकपर स्थापन करो, अब दो पग से जगत् को घेरलेनेवाले मेरे तीसरे चरण से तेरा मस्तक नहीं पूरा होगा ऐसा न मानो, क्योंकि—सम्पदा से जब दो पग पूरे होगए तो सम्पदा से सम्पदावाले की अधिकता होने के कारण यह अधिक ही होगा ॥ २ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! जिसप्रकार अपकीर्त्ति से मैं अत्यन्त भय मानता हूँ, तैसा नरक, स्थानत्याग, पाशों से बँधना, अतिदुःसह दुःख, धन आदि के खरच से होनेवाले दुःख और भी दियेहुए दण्ड, इन में से किसी से भी मैं भय नहीं मानता हूँ ॥ ३ ॥ परमपूज्य पुरुषों का लोगों को कराहुआ दण्ड परमप्रशंसा के योग्य है ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि—जो दण्ड माता, पिता, भ्राता और मित्र नहीं देते हैं; इस से निःसन्देह आप हितकारी का दण्डित करा हुआ मैं स्तुतियोग्य ही हूँ ॥४॥ हे परमेश्वर ! यद्यपि तुम शत्रुरूप से वर्त्ताव करनेवाले हो तथापि हम असुरों के परम गुरु ही हो, क्योंकि नाना प्रकार के शूरता वीरता आदि मदों से अंधेहुए हमें तुमने ऐश्वर्य नाशरूप नेत्र दिया है ॥५॥ और भक्तों की समान हमारे ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त ही तुम्हारी शत्रुता है; क्योंकि-परमयोगियों को जो सिद्धि प्राप्त हुई है वही सिद्धि बहुत से असुरों को तुमसे बड़ाभारी वैरभाव करने पर भी प्राप्त हुई है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ६ ॥ इसकारण परम गुरुरूप और परमपराक्रमी आपका बश में करा हुआ तथा वरुण पाशों से बाँधा हुआ मैं न लज्जित होता हूँ,

महो मे भवदीयसंमतः प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ॥ भवद्विपक्षेण विचित्रवै-
शसं संप्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥ किमात्मनाऽनेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ॥ किं जायया संसृतिहेतुभूतया मर्त्यस्य
गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥ इत्थं स निश्चित्य पितामहो महानगाध-
बोधो भवतः पादपद्मं ॥ ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद्भीतः स्वपक्षक्षपणस्य
सत्तमः ॥१० ॥ अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः ॥
इदं कृतान्तान्तिकवर्तिजीवितं ययाऽध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुद्ध्यते ॥११॥ श्रीशुक
उवाच ॥ तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥ आजगाम कुरुश्रेष्ठ रा-
कापतिरिवोत्थितः ॥ १२ ॥ तमिंद्रसेनः स्वपितामहं श्रिया विराजमानं नलि-
नायतेक्षणम् ॥ प्रांशुं पिशंगांबरमञ्जनत्विषं प्रलंबबाहुं सुभगं समैक्षत ॥ १३ ॥

न पीड़ा ही पाता हूँ॥७॥ और मैं अनुग्रह के योग्य नहीं हूँ तोभी, तुमने जो यह मेरे ऊपर दण्डरूप अनुग्रह करा है सो केवल अपने भक्तके पोते (प्रल्हादजी के पोते) के नाते से करा है यह कहने के आशय से बलि ने कहाकि–हे ईश्वर ! तुमही जिनका मुख्य आश्रय हो और जिनकी कीर्त्ति प्रसिद्ध होरही है वह मेरे पितामह (दादा) प्रल्हादजी, तुम्हारे भक्त मानेहुए होनेके कारण, तुम्हारा शत्रु जो उनका पिता हिरण्यकशिपु उसने, उन्हें नानाप्रकार के दुःख दिये तोभी उन्हों ने, किसी समय अवश्य मरण को प्राप्त होनेवाले पुरुष को जो छोड़ जाता है ऐसे देहसे क्या करना है ? तथा धनको हरनेवाले पुत्रादि रूप कुटुम्बी नामसे प्रसिद्ध चोरों से कौन लाभ होगा ? जन्म मरण आदि संसार की कारण स्त्री से क्याहोना है ? और घरोंका भी क्या करना है ? अर्थात् कुछ नहीं करना है इन सवों से इस प्रवृत्तिमार्ग में केवल आयुका नाशही होता है, ऐसा निश्चय करके, संसारी पुरुषों के सङ्गसे भयमानने वाले साधुओं में श्रेष्ठ और अगाधज्ञानवान् वह महात्मा पितामह (प्रल्हादजी) दैत्यकुल का नाश करनेवाले आप के, नित्य और निर्भय चरणकमल की शरणमें गये ॥८॥९॥१०॥ मैंभी उनका पोता हूँ इस कारण उनके ही भजन के प्रभाव ने, अपने शत्रुरूप आपके समीप पहुँचाया है और तुमने भी कृपा करके बलात्कार से (जबरदस्ती) मेरीसम्पदा मुझसे छीनली है, जिस सम्पदा से उद्धतबुद्धि हुआ पुरुष, मृत्यु के समीप पहुँचे हुए इस अपने आयुको भी नाशवान् नहीं जानता है ॥ ११ ॥ श्री शुकदेवजी कहते हैं कि–हे कुरुश्रेष्ठ ! वहबलि इसप्रकार कहरहाथा कि–इतने ही में उदय हुए चन्द्रमा की समान् प्रकाशवान् होतेहुए भगवान् के प्रिय प्रल्हादजी तहां आपहुँचे ॥ १२ ॥ उससमय बलि ने, कान्ति से प्रकाशवान् और कमल की समान विशाल नेत्र, ऊँचे, पीले वस्त्र पहिने, श्यामवर्ण, जानुपर्यन्त लम्बी भुजा वाले और सुन्दर उन अपने पितामह (प्रल्हादजी) को देखा ॥ १३ ॥ तब वरुण के पाशों से

तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः समर्हणं नोपजहार पूर्ववत् ॥ ननाम मूर्ध्नाऽश्रुवि-
लोललोचनः सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह ॥ १४ ॥ स तत्र हासीनमुदीक्ष्य
सत्पतिं सुनन्दनन्दाद्यनुगैरुपासितम् ॥ उपेत्य भूमौ शिरसा महामना ननाम
मूर्ध्ना पुलकाश्रुविह्वलः ॥१५॥ प्रह्लाद उवाच ॥ त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं
तदेवाद्य तथैव शोभनम् ॥ मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय
आत्ममोहनात् ॥१६॥ यया हि विद्वानपि मुह्यते यतस्तत्को विचष्टे गतिमात्मने।
यथा ॥ तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥१७॥ श्री-
शुक उवाच ॥ तस्यानुशृण्वतो राजन्प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः ॥ हिरण्यगर्भो भगवानुवा
च मधुसूदनं ॥ १८ ॥ बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला ॥ प्रां-

बँधेहुए होनेके कारण बलि ने, पहिले की समान उनका पूजन न करके केवल मस्तक से प्रणाम करा और अश्रुओं से जिसके नेत्र व्याकुल होरहे हैं ऐसे राजाबलि ने लज्जाके कारण नीचे को मुख करलिया ॥ १९ ॥ उससमय उन उदारचित्तवाले प्रल्हादजी ने सज्जनों के पालक सुनन्द नन्द आदि पार्षदों से सेवाकरे हुए और तहां बैठेहुए उन वामनरूप भगवान् को देखकर और उनके बलि के ऊपर करेहुए अनुग्रह को देखकर, शरीरपर खड़ेहुए रोमाञ्चोंकरके और नेत्रों में आयेहुए आँसुओं से विह्वल होतेहुए मस्तक से नमस्कार करते २ आगे जाकर उन्हों ने भूमि में मस्तक से साष्टाङ्ग नमस्कार करा ॥ १९ ॥ तदनन्तर प्रल्हाद जी ने कहाकि हे भगवन् ! इस बलि के इन्द्रपद को तुमने हरा है सो पहिले यह सम्पत्तिमान् इन्द्रपद तुमने ही इसको दिया था वह अपना ही अब तुमने फिर लेलिया है, सो बहुत अच्छा करा; सो अपने को मोहित करनेवाली सम्पदा से इसको जो तुमने रहित करा है यह इस बलि के ऊपर तुमने बड़ाभारी अनुग्रह ही करा है ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १६ ॥ हे परमेश्वर! जिस सम्पत्ति के कारण मनको वश में रखनेवाला विवेकी पुरुष भी मोहित होजाता है, उस सम्पत्ति के प्राप्त होने पर तुम्हारे सिवाय और कौनसा पुरुष, आत्मा के तत्त्वको ठीक २ देखेगा ? इसकारण परमदयालु होकर सम्पत्ति हरनेवाले, तुम सब लोकों के साक्षी, जगदीश्वर, नारायण को नमस्कार हो ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! उससमय हाथ जोड़कर खड़े उन प्रल्हाद जी के सुनते हुए भगवान् ब्रह्माजी, उन वामन जी से कुछ भाषण करने को उद्यत हुए ॥ १८ ॥ सो इतने ही में विन्ध्यावली भी कुछ कहनेको हुई सो अतः उसका सन्मान करके ब्रह्मा जी क्षणभर को चुप रहे इसकारण पहिले उसका ही वाक्य कहते हैं–हे राजन् ! वरुण की पाशों से बँधे हुए पति को देखकर भय से घबड़ाई हुई उस बलि की पतिव्रता स्त्री,

ञ्जलिः प्रणतोपेंद्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ॥ १९ ॥ विंध्यावलिरुवाच ॥
क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपरं ईश कुर्युः ॥
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहंति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥२०॥
ब्रह्मोवाच ॥ भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय ॥ मुंचैनं हृतसर्वस्वं नायम-
र्हति निग्रहं ॥ २१ ॥ कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये ॥
निवेदितं च सर्वस्वमात्मा विक्लवया धिया ॥ २२ ॥ यत्पादयोरशठधीः
सलिलं प्रदाय दूर्वांकुरैरपि विधाय सतीं सपर्यां ॥ अप्युत्तमां गतिमसौ
भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥ २३ ॥ श्रीभगवानु-
वाच ॥ ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहं ॥ यन्मदः पुरुषः स्तब्धो
लोकं मां चावमन्यते ॥ २४ ॥ यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभिः ॥
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥ २५ ॥ जन्मकर्मवयोरूपवि-

हाथ जोड़कर, नम्रता के साथ नीचे को मुख करेहुए वामन जी से इसप्रकार कहने लगी ॥ १९ ॥ विन्ध्यावलि ने कहाकि—हे ईश ! तुमने अपनी क्रीड़ा करने के निमित्त इस त्रिलोकी को उत्पन्नकरा है उस में और कुबुद्धि पुरुष अपना स्वामीपना मानते हैं परन्तु इस त्रिभुवन की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले तुम्हें वह क्या समर्पण करैंगे? तिससे वह पुरुष, निःसन्देह निर्लज्ज हैं और 'हम स्वतन्त्र हैं' ऐसा तुमने उन में कहनेमात्र को आरोप करदिया है अर्थात् सर्वस्व तुम्हारा ही है, सो वृथा अनेकोंप्रकारकी अभिमानकी बातें करने वाले इस बलि को आप कृपा करके छोड़दीजिये ॥२०॥ हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले ! हेप्राणियों को वश में रखनेवाले ! हे देवाधिदेव ! हे जगदात्मन् ! यह बलि दण्डदेने के योग्य नहीं है इसकारण सर्वस्व हरेहुए इस को आप छोड़दीजिये ॥ २१ ॥ इस बलि ने अपनी उदारबुद्धि से तुम्हें सब भूमि, कर्मकरके प्राप्त करेहुए स्वर्गादि लोक और शरीर इसप्रकार सर्वस्व समर्पण करदिया है ॥ २२ ॥ कोई भी निष्कपटबुद्धि पुरुष, जिनके चरणों में जल का अर्घ्य समर्पण करके अथवा दूब के अंकुरों से भी उत्तम पूजा करके उत्तमगति पाता है; ऐसे आप को इस बलि ने उदारचित्त से त्रिलोकी समर्पण करी है फिर यह दुःख क्यों पावे, इस को आप छोडदीजिये ॥ २३ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! मैं जिसके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ, उस का धन ऐश्वर्य आदि मैं उस से छुड़ादेता हूँ क्योंकि—उस धन आदि के मदसे युक्तहुआ पुरुष, लोकों का और मेरा अपमान करनेलगता है ॥ २४ ॥ हे ब्रह्मन् ! परवश (कर्मों के वशीभूत) हुआ यह जीवात्मा, अपने कर्मों से नानाप्रकार की, कीट—पतङ्गादि योनियों में जन्मता मरताहुआ, कभी पुण्यों के उदय से पुरुषजन्म को पाता है ॥ २५ ॥ तिसमें

धैश्वर्यधनादिभिः ॥ यद्यस्य न भवेत्स्तंभस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥ २६ ॥ मान-
स्तंभनिमित्तानां जन्मादीनां समंततः ॥ सर्वश्रेयःप्रतीपानां हंत मुह्येन्न मत्परः
॥ २७ ॥ एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः ॥ अजैषीदजयां मायां सीद-
न्नपि न मुह्यति ॥ २८ ॥ क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः ॥
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥२९॥ गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ
सत्यं न सुव्रतः ॥ छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥ ३० ॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि ॥ सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेंद्रो म-
दाश्रयः ॥ ३१ ॥ तावत्सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम् ॥ यन्नाधयो व्या-
धयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः ॥ नोपसर्गा निवसतां संभवन्ति ममेक्षया ॥ ३२॥
इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते ॥ सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः
परिवारितः ॥ ३३ ॥ न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ॥ त्वच्छा-

जन्म, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदि से इस को यदि गर्व न होय तो यह मेरा अनुग्रह ही है ॥ २६ ॥ हे ब्रह्मन् ! अनन्यभाव से मेरी शरण में आयाहुआ पुरुष,मान और उद्धतपने के कारण तथा सकल पुरुषार्थों के सबप्रकार से प्रतिकूल जन्म आदि के द्वारा मोहित नहीं होताहै इसकारण भक्तोंकी इच्छा से मैं उसको सम्पत्ति देताहूँ परंतु अभक्त को मोह होता है इसकारण उस के सर्वस्व को हरकर ही मैं उस के ऊपर अनुग्रह करता हूँ ॥२७॥ हे ब्रह्मन् ! दैत्य दानवों का अधिपति और कीर्त्ति को बढ़ानेवाला यह बलि, क्लेश भोगताहुआ भी, मोह नहीं पाता है इसकारण मेरी अजेय माया को इसने जीतलिया है ॥ २८ ॥ अहो ! इसका धन छिनगया, यह अपने स्थान से अलग होगया, शत्रुओंने इस का तिरस्कार करके इसको बाँधलिया, जातिवालों ने इसको त्याग दिया, इस को पीड़ा भोगनीपड़ीं, गुरु ने इसको ललकार कर शाप दिया तथापि दृढ़सङ्कल्प होनेके कारण इसने सत्य को नहीं त्यागा और छल से मैंने इसको धर्म का उपदेश करा तोभी इसने उसे नहीं छोड़ा इसकारण यह सत्यवक्ता है ॥ २९ ॥ ३० ॥ इसकारण जो देवताओं को भी प्राप्तहोना कठिन है ऐसे स्थानको मैंने इसे पहुँचादिया है, हे ब्रह्मन् ! सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरे आश्रयसे इन्द्र होगा ॥ ३१ ॥ तबतक इसे विश्वकर्माके रचेहुए सुतलमें, उसका स्वामी होकर रहने दो, जहाँ रहनेवाले पुरुषोंको मेरे दृष्टि डालने के कारण आधि, व्याधि, ग्लानि, आलस्य तथा और उपद्रव भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजी से कहकर दया के वशीभूत हुए भगवान्, प्रत्यक्ष बलि से कहने लगे कि—हे महाराज इन्द्रसेन ! ज्ञातिवालों से घिरे हुए तुम, देवादिकभी जिस को पाने की इच्छा करते हैं उस सुतल में प्रवेश करो और तहां तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३३ ॥

सनातिगान्दैत्यान् चक्रं मे सूदयिष्यति ॥ ३४ ॥ रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वा सा-
नुगं सपरिच्छदं ॥ सदा सन्निहितं वीरं तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥ ३५ ॥ तत्र
दानवदैत्यानां संगात्ते भाव आसुरः॥दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनंक्ष्यति
॥ ३६ ॥ इतिश्री भा० म० अ० बलिवामनसंवादो नाम द्वाविंशोऽध्यायः २२
श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं महानुभावोखिलसाधुसंमतः ॥ ब-
द्धांजलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो भक्त्युद्गलो गद्गदया गिराऽब्रवीत् ॥१॥ बलिरुवाच ॥
अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ॥ यल्लोकपालैस्त्व-
दनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्त्वा
हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः ॥ विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः
॥ ३ ॥ एवमिंद्राय भगवान्प्रत्यानीय त्रिविष्टपम् ॥ पूरयित्वाऽदितेः काममम-

---

तहां वास करते हुए तुम्हारा इन्द्रादिक लोकपाल भी तिरस्कार नहीं करसकेंगे, औरों का तो फिर कहना ही क्या ? और तहां जो तुम्हारी आज्ञा से बाहर वर्त्ताव करनेवाले दैत्य होंगे, उन को मेरा सुदर्शन चक्र मारडालेगा ॥ ३४ ॥ हे वीर ! तहाँ सेवक और भोग की सामग्रियों सहित रहनेवाले तेरी मैं सकल उपद्रवों से रक्षा करूँगा और तू भी तहाँ सदा समीप में विद्यमान मुझे देखेगा ॥ ३५ ॥ और तहाँ दैत्यदानवों के सङ्ग से प्राप्तहुआ तेरा असुरस्वभाव, मेरे प्रभाव को देखकर कुण्ठित होताहुआ तत्काल नष्ट होजायगा ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में द्वाविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् परीक्षित् ! इसप्रकार कहनेवाले पुराणपुरुष वामनजी से, परमप्रभावशाली, साधुभाव से सब के माननीय और जिसके नेत्र, आँसुओं की बिन्दुओं से भरगए हैं और जो हाथ जोड़कर खड़ा है ऐसा वह राजा बलि, प्रेमवश कण्ठ रुकजाने के कारण, गद्गद वाणी से इस प्रकार कहनेलगा ॥ १ ॥ बलि ने कहा कि–अहा हा ! आप को प्रणाम करने की कैसी बड़ीभारी महिमा है कि–जिसके निमित्त कराहुआ उद्योग ही शरणागत भक्तों का इच्छित पुरुषार्थ, अभक्तपुरुषों में प्राप्त करने को उद्यत होरहा है; क्योंकि–जिस नमस्कार के उद्योग से लोकपाल इन्द्रादिक देवताओं को भी पहिले कभी नहीं मिला ऐसा अपना अनुग्रह तुम मुझ नीच असुर को देरहे हो ॥ २ ॥ श्रीशुकदेव जी ने कहाकि–हे राजन् ! इसप्रकार कहकर श्रीहरि को और शिवसहित ब्रह्माजी को नमस्कार करके वरुण की पाशों से छूटने के कारण प्रसन्न हुआ वह बलि, असुरों सहित सुतल में जाने को उद्यत हुआ ॥ ३ ॥ इसप्रकार भगवान् ने बलिसे लिया हुआ स्वर्गलोक इन्द्र को देकर उससे अदिति का मनोरथ पूरा करा और आप उपेन्द्र होकर

शासत्सकलं जगत् ॥ ४ ॥ लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पुत्रं वंशधरं बलिम् ॥ निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत् ॥ ५ ॥ प्रह्लाद उवाच ॥ नेमं विरिंचो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते ॥ यन्नो सुराणामसि दुर्गपालो विश्वाभिवंद्यैरपि वन्दितांघ्रिः ॥ ६ ॥ यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः ॥ कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः ॥ ७ ॥ चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमायालीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य ॥ सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम् ॥ मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह ॥ ९ ॥ नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितं ॥ मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ आज्ञां भगवतो राजन्प्रह्लादो बलिना सह ॥ बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृतांजलिः ॥ ११ ॥ परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः ॥ प्रण-

---

सकल जगत् का पालन करा ॥ ४ ॥ तदनन्तर ईश्वर का प्रसाद प्राप्त होकर वरुण के पाशों से छूटे हुए अपने बलि नामक वंशधर पौत्र को देखकर भक्ति से नम्रहुए प्रल्हाद जी इसप्रकार कहने लगे ॥ ५ ॥ प्रल्हादजी ने कहाकि–हे भगवन् ! जगत् के पूजनीय ब्रह्मादिकोंने भी जिनके चरणों को वन्दना करी है ऐसे आप, हम असुरों के दुर्गपाल हुए हो, यह आप का अनुगृह हुआ, यह प्रसाद ब्रह्माजी, लक्ष्मी, और रुद्रभगवान् को नहीं प्राप्त हुआ फिर औरों को तो प्राप्त होता ही क्या ॥ ६ ॥ हे आश्रय देनेवाले भगवन् ! जिन के चरणकमल की मकरन्द का सेवन करके ब्रह्मादिकों को भी सृष्टि रचने की शक्ति आदि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ऐसे आप की कृपादृष्टि को,हे भगवन् ! दुष्ट और नीचयोनि में उत्पन्न हुए हम कैसे प्राप्तहुए हैं ? यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ ७ ॥ यह तुम्हारा चरित्र विचित्र है,जिसने,अचिन्त्य योगमाया की लीला से भुवनों को उत्पन्नकरा है, उन सर्वात्मा,सर्वज्ञ और सर्वदृष्टि तुम्हारा भक्तप्रियरूप विषमस्वभाव है सो विषमता आप में वास्तविक नहीं है, क्योंकि–तुम कल्पवृक्ष की समान स्वभाववाले हो ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि–हे पुत्र प्रल्हाद ! तेरा कल्याण हो, तू सुतलनामक स्थान कोजा, और तहाँ अपने बलिनामक पौत्रके साथ आनन्द से रहकर ज्ञातिवालों को सुखदे ॥ ९ ॥ तहाँ हाथ में गदालेकर द्वारपर खड़े हुए मुझे तू देखेगा और मेरे दर्शन से जो तुझे बड़ा भारी आनन्द होगा उससे तेरा अज्ञान दूर होगा ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! ऐसी भगवान्की आज्ञा को उन निर्मलबुद्धि, सकल दैत्यों की सेनाओं के स्वामी प्रल्हाद जीने, मस्तक झुकाकर 'ठीक है' ऐसे वचन से स्वीकार करके हाथ जोड़कर

तस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम् ॥ १२ ॥ अथाहोशनसं राजन् हरिर्नारायणोऽन्तिके ॥ आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मन्सन्तनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः ॥ यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥१४॥ श्रीशुक उवाच ॥ कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान् ॥ यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥१५॥ मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ॥ सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसंकीर्तनं तव ॥ १६ ॥ तथाऽपि वदतो भूमन्करिष्याम्यनुशासनम् ॥ एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञानुपालनम् ॥ १७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अभिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति ॥ यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥ १८ ॥ एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः ॥ ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम् ॥१९ ॥ प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः ॥ द-

उन आदि पुरुष की प्रदक्षिणा कर फिर नमस्कार करा और उनकी आज्ञा लेकर राजा बलि के साथ सुतलनामक महाबिल में चलेगये ॥ ११ ॥ १२ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! ब्रह्म ज्ञानियों की सभा में, ऋत्विजों के मध्य में, अपने समीप वैठे हुए शुक्राचार्य जी से उन नारायण श्रीहरि वामन भगवान् ने कहाकि—॥ १३ ॥ हे ब्रह्मन् ! यज्ञकर्म करने वाले आपके शिष्य के उस कर्म में जो कुछ न्यूनता रही हो उस को पूर्ण करो,कर्म में जो वैगुण्य (न्यूनता) होय है वह ब्राह्मणों के देखने से ही पूर्ण होजाय है, फिर अनुष्ठान करने पर पूर्ण होने का तो कहना ही क्या ॥ १४ ॥ तव शुक्राचार्य जी ने कहाकि—हे भगवन् जिस बलिने सर्वस्व अर्पण करके, कर्म को प्रवृत्त करनेवाले, यज्ञका फल देनेवाले, यज्ञ मूर्त्ति आप परमपुरुष का पूजन करा उसके कर्म में न्यूनता कहां से होगी ? अर्थात् कभी नहीं होसक्ती ॥ १५ ॥ पूजा को तो एक ओर रहने दीजिये,परन्तु मन्त्र से (स्वरादि के अस्त व्यस्त होनेपर) तन्त्र से (अनुष्ठान पीछे आगे होनेपर), देश और काल से (शास्त्र में कहे देश काल का उल्लंघन करके), योग्यता से (सत्पात्र को दान न देनेपर) और वस्तु से (दक्षिणादि में न्यूनाधिकता होनेपर) यदि कर्म में न्यूनता होजाय तो वह सव तुम्हारा नाम कीर्त्तन करने से पूर्ण होजाती है ॥१६॥ तथापि हे सर्वव्यापक ! आप ही कहते हो तो मैं आप की आज्ञा को पालन करूँगा; क्योंकि—आप की आज्ञा का पालन करना ही पुरुष के परमपुरुषार्थ का साधन है ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि हे राजन ! इस प्रकार श्रीहरि की आज्ञा को स्वीकार करके भगवान् शुक्राचार्यजी ने, ऋषियों के साथ, बलि के यज्ञ में जो कर्म न्यून था उस को पूर्ण करा ॥ १८ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार वामन रूप धारण करनेवाले श्रीहरि ने, बलि से याचना करके पहिले जो शत्रुओं ने (असुरों ने) हरलिया था वह स्वर्गस्थान अपने महेन्द्र भ्राता को अर्पण करा ॥ १९ ॥ तव प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्माजी ने, दक्ष

क्षभृग्वंगिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥ २० ॥ कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभू-
तभवाय च ॥ लोकानां लोकपालानामकरोद्वामनं पतिम् ॥ २१ ॥ वेदानां सर्वदेवा-
नां धर्मस्य यशसः श्रियः ॥ मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥२२॥
उपेंद्रं कल्पयांचक्रे पतिं सर्वविभूतये ॥ तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे
नृप ॥ २३ ॥ ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम् ॥ लोकपालैर्दिवं निन्ये
ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥ २४ ॥ प्राप्य त्रिभुवनं चेंद्र उपेंद्रभुजपालितः ॥ श्रिया
परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥ २५ ॥ ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मु-
नयो नृप ॥ पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये ॥ २६ ॥ सुमह-
त्कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम् ॥ धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं
च शशंसिरे ॥ २७ ॥ सर्वमेतन्मयाख्यातं भवतः कुलनन्दन ॥ उरुक्रमस्य
चरितं श्रोतृणामघमोचनम् ॥ २८ ॥ पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो यः
पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः ॥ किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य

भृगु और अङ्गिरा जिन में मुख्य हैं ऐसे देवता; ऋषि, पितर, भूमिपति (मनु) सनत्कुमार और शिवजी ने, कश्यप और अदिति की प्रसन्नता के निमित्त और सकल प्राणियों के कल्याण के निमित्त, वामनजी को सकललोक और लोकपालोंका स्वामी बनाया ॥२०॥२१॥ वेद, सकल देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, कल्याण, व्रत, स्वर्ग और मोक्ष का पालन करने में समर्थ जो वामनजी तिन को सब के कल्याण के निमित्त उपेन्द्र का अधिकार दिया; उस समय हे राजन्! सकल प्राणियों को परम आनन्द हुआ ॥ २२ ॥ २३ ॥ तदनन्तर ब्रह्माजी की आज्ञा लेकर, लोकपालों के सहित इन्द्र, वामनजी को अपने आगे के विमान में बैठाकर स्वर्ग को लेगए ॥ २४ ॥ इसप्रकार उपेन्द्र के भुजबल से रक्षा कराहुआ इन्द्र, त्रिलोकी के मिलनेपर परमसम्पत्ति से युक्त और निर्भय होकर आनन्दित हुआ ॥ २५ ॥ हे राजन्! तदनन्तर ब्रह्माजी, शिवजी, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनि, पितर, सकल भूत, सिद्ध और विमानों में बैठकर विचरनेवाले अन्य भी जो देवता वह, अत्यन्त ही आश्चर्यकारी उन विष्णुभगवान् के बड़ेभारी कर्म को गातेहुए अपने २ स्थान को चलेगए और अदिति की भी प्रशंसा करनेलगे ॥ २६ ॥ २७ ॥ हे कुलनन्दन ! श्रोता आदिकों के पापों को दूर करने वाला यह वामनजी का सकल चरित मैंने तुझ से कहा है ॥ २८ ॥ हे राजन् ! नानाप्रकार के पराक्रम करने वाले विष्णुभगवान् की सम्पूर्ण महिमा को जो वर्णन करेगा वह मनुष्य पृथ्वीके परमाणुओं को भी गिनलेगा अर्थात् जैसे पृथ्वी के परमाणुओंका गिनना कठिनहै; तैसे ही विष्णुभगवान् के सकल गुणों का वर्णन करना भी कठिन है क्योंकि—उत्पन्न होनेवाला अथवा उत्पन्न हुआ मनुष्य, पूर्णरूप भगवान् की महिमा के अन्तको क्या पावेगा ? किन्तु

इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ॥ २९ ॥ य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः ॥
अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम् ॥ ३० ॥ क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे
पित्र्येऽथ मानुषे ॥ यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत्तेषां सुकृतं विदुः ॥ ३१ ॥ इति-
श्रीभागवते म० अ० वामनावतारचरिते त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥
राजोवाच ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः ॥ अवतारकथामाद्यां मा-
यामत्स्यविडंबनम् ॥ १ ॥ यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् ॥ तमःप्र-
कृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्तमिवेश्वरः ॥ २ ॥ एतन्नो भगवन्सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥ ३ ॥ सूत उवाच ॥ इत्युक्तो विष्णु-
रातेन भगवान्बादरायणिः ॥ उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत्कृतम् ॥
॥ ४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ॥ रक्षा-
मिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥५॥ उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरि-
वेश्वरः ॥ नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः ॥ ६ ॥ आसीदतीत-

---

नहीं पावेगा; ऐसा मन्त्रों को देखनेवाले वसिष्ठ ऋषिने भी कहा है ॥२९॥ अद्भुत चरित करने वाले, देवाधिदेव श्रीहरिके वामन अवतार के चरितों को जो सुनता है वह सर्वोत्तम गतिपाता है ॥ ३० ॥ तथा यज्ञ आदि, श्राद्ध आदि और गुरुपूजा आदि कर्मोंके होते समय जहां २ इस, वामन भगवान् के चरित्रका कीर्त्तन कियाजाता है वह२ कर्म अंगों सहित पूर्ण होते हैं; ऐसा बडे २ ज्ञानियों का कथन है ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में त्रयोविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ मत्स्यावतार के चरित्र को सुनने की इच्छा करके राजाने कहा कि–हे भगवन् ! मायाके द्वारा मत्स्यरूप का अनुकरण जिसमें वर्णन करा है, उस, अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीहरि के पहिले अवतार की कथा को सुनने की मेरी इच्छा है ॥ १ ॥ हे भगवन्! स्वयं ईश्वर होकरभी उन्होंने कर्मोंसे बँधेहुए साधारण पुरुषकी समान, तमोगुणी, लोकनिन्दित और दुःसह मत्स्यरूप जिसके निमित्त धारण कराथा: वह सब कारण हमसे यथावत् वर्णन करो, क्योंकि–श्रेष्ठकीर्त्ति परमेश्वर का चरित्र सब लोकों को सुखकारी है ॥२॥३॥ सूतजीने कहाकि -हे शौनक ! राजा परीक्षित् के इसप्रकार प्रश्न करनेपर उन भगवान् शुकदेवजी ने, मत्स्यरूप से करेहुए विष्णुभगवान् के चरित्र को कहने का प्रारम्भ करा ॥४॥ हे राजन् ! भगवान्, स्वतन्त्र होकर भी, गौ, ब्राह्मण देवता, साधु, वेद, धर्म और अर्थ की रक्षा करने की इच्छा से मत्स्य आदि अवतार धारण करते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! जैसे वायु सकल उत्तम अधम प्राणियों में विचरता हुआ भी उन से लिप्त नहीं होता है तैसे बुद्धि करके उत्तम अधम प्राणियों में प्रेरकरूप से विद्यमान रहनेवाले ईश्वर भी, निर्गुण होने के कारण उत्तमता और अधमता को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हेराजन्!

कल्पांते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ॥ समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥७॥ कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली ॥ मुखतो निःसृतान् वेदान हयग्रीवोऽतिके-ऽहरत् ॥८॥ ज्ञात्वा तद्दानवेंद्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् ॥ दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥ तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान् ॥ नारायणपरोऽतप्यत्तपः स सलिलाशनः ॥ १० ॥ योऽसावस्मिन्महाकल्पे तनयः स विवस्वतः ॥ श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥११॥ एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ॥ तस्यांजल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥ १२ ॥ सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ॥ उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥१३॥ तमाह साऽतिकरुणं महाकारुणिकं नृपम् ॥ यादोभ्यो ज्ञातघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल ॥ कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले ॥१४॥ तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरं ॥ अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो-दधे ॥१५॥ तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः ॥ कलशाप्सु

बीते हुए कल्प के अन्त में ब्राह्म नामवाला नैमित्तिक (ब्रह्माजी के निद्रा को प्राप्त होने के कारण से होनेवाला) प्रलय हुआ; उस समय भूः आदि लोक समुद्र में डूब गये थे ॥ ७ ॥ उस समय, कालगति से निद्रा को प्राप्त होने के कारण शयन करने की इच्छा करनेवाले ब्रह्माजी के मुखमें से निकल समीपमें बाहर पड़ेहुए वेदोंको हयग्रीव नामवाले दैत्य ने हरलिया ॥ ८ ॥ तब उस दैत्यपति हिरण्यगर्भ के उस कर्म को जानकर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीहरिने, मत्स्यरूप धारण करा ॥ ९ ॥ हे राजन् ! उस ही बीते हुए कल्प में नारायण के ध्यान में तत्पर और केवल जल पीकर रहने वाला कोई एक महात्मा सत्यव्रत नामवाला राजर्षि तप करता था ॥ १० ॥ जो इस वाराह नामक महाकल्प में सूर्य का पुत्र श्राद्धदेव नाम से प्रसिद्ध है और जिस को श्रीहरि ने मनु का अधिकार दिया है वही उस समय का सत्यव्रत राजा था ॥ ११ ॥ एक समय उस सत्यव्रत राजा को, कृतमाला नामवाली नदी के तट पर जल से तर्पण करते हुए अञ्जुलि में के जल में एकमछली मिली ॥ १२ ॥ तदनन्तर हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! वह द्रविड़ देश का स्वामी सत्यव्रत, अञ्जुलि में की उस मछली को, जल समेत नदी के जल में डालने को उद्यत हुआ ॥१३॥ तब वह मछली राजा से कहने लगी कि-हे दीनवत्सल राजन् ! जातिवालों का प्राणान्त करनेवाले जलचर प्राणियों से भयभीत होने के कारण मुझ दीन को इस नदी के जल में तू क्यों डाले देता है ? ॥ १४ ॥ तब अपने ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त प्रीति से मत्स्यरूप धारण करनेवाले उन भगवान् को न जानकर, उस सत्यव्रत ने, इस मछली की मैं रक्षा करूँ ऐसा मन में विचारा ॥ १५ ॥ और उस मछली

निर्धार्यैनां दयालुर्निन्ये आश्रमम् ॥ १६ ॥ सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ ॥ अलब्ध्वात्मावकाशं वा इदमाह महीपतिं ॥ १७ ॥ नाहं कमण्डलावस्मिन्कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे ॥ कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखं ॥ १८ ॥ स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके ॥ तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत ॥ १९ ॥ न म एतदलं राजन्सुखं वस्तुमुदञ्चनं ॥ पृथु देहि पदं मह्यं यत्त्वाऽहं शरणं गता ॥ २० ॥ तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे ॥ तदावृत्यात्मना तोयं महामीनोऽन्ववर्धत ॥ २१ ॥ नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः ॥ निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि ॥ २२ ॥ इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि ॥ जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषं ॥ २३ ॥ क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः ॥ अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि ॥२४॥ एवं विमोहितस्तेन वदता

के अतिदीन वाक्य को सुनकर वह दयालु राजा , अपने कमण्डलु में के जल में उसको डालकर अपने आश्रम को लेगया ॥१६॥ वह मछली एक रात्रि में ही उस कमण्डलु में, अपने को उचितस्थान नहीं मिले इसप्रकार बढ़नेलगी और उस सत्यव्रत राजा से कहा कि-॥१७॥ हे राजन् ! इस कमण्डलु में मैं दुःख के साथ रहनेको समर्थ नहीं हूँ इसकारण जहां मेरा सुखसे रहना होय, ऐसे बडे उत्तम स्थान का मेरे निमित्त उद्योग करदो ॥ १८ ॥ उस समय उस राजाने, उसको कमण्डलु में से बाहर निकालकर मटके के जल में डाला, सो उस में डालीहुई वह मछली एक मुहूर्त्त में तीन हाथ लम्बी बढ़गई और कहने लगी कि- ॥ १९ ॥ हे राजन् ! यह जलका पात्र मुझे सुखसे रहने को पूरा नहीं पड़ता है इसकारण तुम मुझे रहने को बड़ा स्थान दो क्योंकि-मैं तुम्हारी शरण आई हूँ ॥ २० ॥ हे राजन् परीक्षित् ! तदनन्तर उस राजाने, उसको मटके में से निकालकर सरोवर में डाला तब अपने शरीर से उस सरोवर के जल को भी घेरकर वह बड़ाभारी मत्स्य बढ़गया और फिर भी कहने लगा कि-॥ २१ ॥ हे राजन् ! जल में रहनेवाले मुझे यह सरोवर में का जल भी थोड़ा होने के कारण सुखदायक नहीं है इसकारण मेरी रक्षा का उपाय करके तुम मुझे बड़ेभारी अक्षय सरोवर में लेजाकर रक्खो ॥ २२ ॥ इसप्रकार उसके कहने पर राजा सत्यव्रत ने उस मत्स्य को आगे २ को बड़ेभारी अक्षय सरोवर में पहुँचाया तब उस उस सरोवर की समान बढ़नेवाले मत्स्य को अन्त में राजा ने समुद्र में डाला ॥ २३ ॥ जब राजा उस मत्स्य को समुद्र में डालने लगा तब वह मत्स्य कहने लगा कि- हे वीर ! तू मुझे यहाँ न छोड़, क्योंकि-यहाँ अतिबली मगर आदि जलचर मुझे भक्षण कर जायँगे ॥ २४ ॥ इसप्रकार सुन्दर वार्त्ता करनेवाले मत्स्य का अत्यन्त मोहित कराहुआ

वल्गुभारतीं ॥ तमाह 'को भवानस्मान्मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥ २५ ॥ नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च ॥ यो भवान् योजनशतमह्नाऽभिव्यानशे सरः ॥ २६ ॥ नूनं त्वं भगवान्साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ॥ अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसां ॥ २७ ॥ नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर ॥ भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥ २८ ॥ सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ॥ ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥ २९ ॥ न तेऽरविंदाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत्सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ॥ यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः ॥ ३० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिं सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये ॥ विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवीच्चिकीर्षुरेकांतजनप्रियः प्रियम् ॥ ३१ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिंदम ॥ निमंक्ष्यत्यप्ययांभोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥ ३२ ॥ त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा ॥ उपस्थास्यति नौः काचिद्विशा-

वह सत्यव्रत राजा उस से कहनेलगा कि मत्स्यरूप से हमें मोहित करनेवाले तुम कौन हो? ॥ २५ ॥ जो तुमने एकदिन में ही सौ योजन चौड़े सरोवर को अपने शरीर से घेरलिया ऐसे प्रभाववाला कोईभी जलचर प्राणी हमने तो कभी भी न देखा न सुना ॥ २६ ॥ इस कारण अविनाशी, भक्तों के दुःखहारी साक्षात् भगवान् नारायण आपने हमसमान प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करनेके निमित्त निःसन्देह यह जलचर प्राणी का रूप धारण करा है ॥ २७ ॥ इसकारण हे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्वामी! हे पुरुषश्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो,हे विभो! हम शरणागत भक्तों के मुख्य आत्मा और आश्रय भी तुमही हो ॥ २८ ॥ हे भगवन्! तुम्हारे सब ही लीलावतार, प्राणियों के कल्याण के हेतु होते हैं ऐसा यद्यपि मैं साधारणरूप से जानता हूँ तथापि, जिस के हेतु तुमने यह मत्स्यरूप धारण करा है उस कारण को जानने की मेरी इच्छा है ॥ २९ ॥ हे कमलनयन! जो हम भक्तजनों को तुमने अपना यह अद्भुतरूप दिखाया है तिस से, जैसे तुम्हें छोडकर अन्य देह आदि का अभिमान रखनेवाले पुरुषों की शरण में जाना व्यर्थ होता है तैसे, सब के मित्र, प्रिय और आत्मारूप आप के चरण की शरण जाना व्यर्थ नही होताहै ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी कहतेहैं कि-हेराजन्! जिन को अपने अनन्य भक्त प्यारेहैं और जो सत्यव्रत का प्रिय करने वाले हैं और जिन्हों ने कल्प का क्षय होनेके समय प्रलय समुद्र में क्रीड़ा करने के निमित्त मत्स्य का रूप धारण करा है वह जगदीश्वर भगवान् इस प्रकार भाषण करनेवाले उस सत्यव्रत राजा से कहने लगे ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि—हे शत्रुदमन राजन्! आजसे सातवें दिन यह भूर्भुवादिक तीनों लोक प्रलयसमुद्र में डूबजायँगे ॥ ३२ ॥ उस समय प्रलय के जल में त्रिलोकी डूबने लगेगी तब मेरी भेजीहुई एक

ला त्वां मयेरिता ॥ ३३ ॥ त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च ॥ सप्त-
र्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ३४ ॥ आरुह्य महतीं नावं विचरिष्यस्य
विक्लवः ॥ एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥ ३५ ॥ दोधूयमानां तां
नावं समीरेण बलीयसा ॥ उपस्थितस्य मे शृंगे निबध्नीहि महाहिना
॥ ३६ ॥ अहं त्वामृषिभिः साकं सहनावमुदन्वति ॥ विकर्षन्विचरिष्यामि
यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो ॥ ३७ ॥ मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितं ॥
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥ ३८ ॥ इत्थमादिश्य राजानं ह-
रिरन्तरधीयत ॥ सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥ ३९ ॥
आस्तीर्य दर्भान्प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः ॥ निषसाद हरेः पादौ चिन्त-
यन्मत्स्यरूपिणः ॥ ४० ॥ ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीं ॥ वर्धमानो
महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥ ४१ ॥ ध्यायन्भगवदादेशं ददृशे नावमागतां ॥
तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥ ४२ ॥ तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्या-

बड़ी नौका निःसन्देह तुम्हारे पास आवेगी ॥ ३३ ॥ उस समय तू सकल औषधि और बड़े छोटे बीजों को लेकर, सप्त ऋषियों से घिराहुआ और सकल प्राणियों ने जिसके गौरव को बढाया है ऐसा होताहुआ उस बड़ीभारी नौकामें चढ़कर सूर्य आदि के प्रकाश से रहित उस महासागर में ऋषियों के ही प्रकाश से प्रसन्नता के साथ विचरेगा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ फिर प्रबल वायुके कारण वह नौका डगमगाने लगेगी तब वहां आयेहुए मेरे सींग में वासुकि सर्पके लपेटोंसे उसको तू बाँधदेना ॥ ३६ ॥ तब हे राजन्! जबतक ब्रह्माजीकी रात्रि रहेगी तबतक ऋषि और नौका सहित तुम्हें मैं उस प्रलय सागर में खैंचता हुआ विचरता रहूँगा ॥ ३७ ॥ तदनन्तर परब्रह्म नाम से कहा हुआ अपना स्वरूप, तेरे उत्तम प्रश्नों के करने पर मैं अनुग्रह करके उपदेश के द्वारा तुझ से कहूँगा तब तू उसको अपने हृदय में प्रत्यक्ष जानेगा ॥ ३८ ॥ इसप्रकार राजा से कहकर वह मत्स्यरूप श्रीहरि, तहाँही अन्तर्धान होगये, तदनन्तर वह सत्यव्रत राजर्षि भी जो काल, सातवें दिन आनेवाला भगवान् ने कहा था, उसकी बाट देखता हुआ, पूर्वको अग्रभाग करे हुए कुशों को बिछाकर उन के ऊपर ईशान कोणको मुख करके मत्स्यरूप श्रीहरि के चरणों का ध्यान करता हुआ बैठारहा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ फिर वर्षा करनेवाले बड़े २ मेघों से बढ़नेवाला और मर्यादा को लांघनेवाला समुद्र, सब ओर से मानो पृथ्वीको डुबाताही है, ऐसा दीखने लगा ॥ ४१ ॥ तब मत्स्यरूप भगवान् की आज्ञा का चिन्तवन करते हुए उस सत्यव्रत राजाने, अपने समीप आईहुई नौका देखी, सो औषधि तथा बीजों को लेकर सप्त ऋषियों के साथ उसपर चढ़ा ॥ ४२ ॥ फिर उस सत्यव्रत से प्रसन्न हुए

यस्त्व केशवं ॥ स वै नः संकटादस्मादविता शं विधास्यति ॥ ४३ ॥ सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ॥ एकशृंगधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥ ४४ ॥ निबद्ध्य नावं तच्छृंगे यथोक्तो हरिणा पुरा ॥ वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ४५ ॥ राजोवाच ॥ अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ॥ यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥ ४६ ॥ जनोऽबुधोयं निजकर्मबन्धनः सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ॥ यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं ग्रन्थिं स भिंद्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥ ४७ ॥ यत्सेवयाऽग्नेरिव रुद्ररोदनं पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ॥ भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो भूयात्स ईशः परमो गुरुर्गुरुः ॥ ४८ ॥ न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयं ॥ कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥ ४९ ॥ अचक्षुरंधस्य यथाऽग्रणीः

सप्त ऋषियों ने कहा कि—हे राजन् ! तुम केशव भगवान् का ध्यान करो, वही हमको इस सङ्कट से बचाकर हमें सुख देंगे ॥ ४३ ॥ फिर राजाके ध्यान करेहुए वह सुवर्ण की समान वर्णवाले और लाख योजन चौड़े शरीर के ऊपर एक सींग धारण करनेवाले मत्स्यरूप भगवान्, उस महासागर में प्रकट हुए ॥ ४४ ॥ फिर, पाहिले श्रीहरि ने जैसा कहा था, उस के अनुसार डोरीरूप वासुकि से उन के सींग में वह नौका बाँधकर मन में प्रसन्नहुआ वह राजा मधुसूदन भगवान् की स्तुति करनेलगा ॥ ४५ ॥ कि—हे भगवन् ! अनादि अविद्या से जिन का आत्मज्ञान ढकगया है ऐसे, अविद्या के कारण सांसारिक परिश्रमों से व्याकुल हुए पुरुष, इससंसार में सहज ही प्राप्तहुए जिनके अनुग्रहसे, जिनका आश्रय करके, जिनकी प्राप्ति करतेहैं वह साक्षात् मुक्तिदाता तुमही हमारे परमगुरु होकर हमारी हृदयरूप ग्रन्थियोंका भेदन करो ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! अपने कर्मरूप बन्धनोंसे बँधाहुआ यह अज्ञानी जन, सुख की इच्छासे दुःख देनेवाले कर्म करता है और फिर भी जिन की सेवा से उस खोटी बुद्धिरूप इच्छा का नाश करता है वह हमारी हृदयरूप ग्रन्थि का भेदन करें, क्योंकि वही हमारे परम गुरु हैं ॥ ४७ ॥ हे परमात्मन् ! जैसे सुवर्ण वा चांदी अग्नि के सेवन से अपने सकल मल को त्यागदेते हैं और अपने शुद्ध स्वरूप को पाते हैं तैसे ही मुमुक्षु पुरुष, जिनकी सेवा करने से ही अपने अज्ञानरूप मल को त्यागकर निजस्वरूप को प्राप्तकरलेते हैं वह अविनाशी ईश्वर ही हमारे गुरुहों क्योंकि—वह गुरुओं के भी परमगुरु हैं ॥ ४८ ॥ हे भगवन् ! देवता, गुरु और अन्य जन यह सब इकट्ठा मिलनेपर भी जिन के अनुग्रह के दशहजारवें अंश के लेश समान भी अनुग्रह, किसी पुरुष के ऊपर करने को अपनेआप समर्थ नहींहोतेहैं ऐसे ईश्वर जो आप तिन की हम शरणहैं ॥ ४९ ॥ हेईश्वर ! नेत्रहीन पुरुष

कुतस्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ॥ त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो
गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥ ५० ॥ जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं यया
प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ॥ त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा प्रपद्यते येन जनो
निजं पदम् ॥ ५१ ॥ त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्ट-
सिद्धिः ॥ तथापि लोको न भवंतमंधधीर्जानाति संतं हृदि बद्धकामः ॥
॥ ५२ ॥ तं त्वामहं देववरं वरेण्यं प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ॥ छिंध्यर्थ-
दीपैर्भगवन्वचोभिर्ग्रंथान् हृदय्यान्विवृणु स्वमोकः ॥ ५३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः ॥ मत्स्यरूपी महांभोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत्
॥ ५४ ॥ पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम् ॥ सत्यव्रतस्य राजर्षे-
रात्मगुह्यमशेषतः ॥ ५५ ॥ अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम् ॥ नाव्या-
सीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥ ५६ ॥ अतीतप्रलयापाय उत्थिताय

के आगे किसी अन्धे के होनेपर जैसे उस से उस को कुछ लाभ नहीं होता है तैसे ही अज्ञानी पुरुष का, अविद्वान् गुरु करना व्यर्थ होता है; तुम तो सूर्य के प्रकाश की समान स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् हो और सकल इन्द्रियों के प्रकाशक हो इस कारण आत्मतत्त्व को जानजेकी इच्छा करनेवाले हमने तुम्हें गुरु मानकर वराहै।५०। अपनेको गुरु माननेवाला अज्ञानी पुरुष, दूसरे अज्ञानी पुरुष को,अर्थ काम आदि विषय की बुद्धि का उपदेश करताहै, उससे वह प्राणी दुस्तर संसार में पड़ताहै तुमतो अक्षय और अमोघ ज्ञानका उपदेश करतेहो इसकारण प्राणी को अनायास में स्वरूप की प्राप्ति होजाती है ॥ ५१ ॥ हे परमात्मन् ! तुम सबलोकों के हितकारी, प्रिय, ईश्वर, आत्मा, गुरु, इच्छितफलरूप और ज्ञानस्वरूप हो तथापि हृदय में रहनेवाले आप को विवेकहीन और विषयासक्त हुआ यह लोक नहीं जानता है ॥ ५२ ॥ हे भगवन् ! मैं तत्त्व का उपदेश पाने के निमित्त, देवताओं के भी पूजनीय श्रेष्ठ ईश्वर जो आप तिन की शरण आया हूँ; इसकारण आप, परमार्थ का प्रकाश करनेवाले वाक्यों से मेरे हृदयमें के अहङ्कार आदिरूप ग्रन्थि का छेदन करके अपने स्वरूप को प्रकाशित करो ॥ ५३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार प्रार्थना करनेवाले उस सत्यव्रत राजा को, महासागर में, मत्स्यरूप से क्रीडा करनेवाले उन भगवान् आदिपुरुष ने तत्त्व का उपदेश करा ॥ ५४ ॥ हे परीक्षित् ! सांख्य, योग और कर्म का जिस में वर्णन है ऐसी आत्मरहस्यरूप सम्पूर्ण दिव्य मत्स्यपुराण संहिता, भगवान् ने सत्यव्रत राजर्षि से कही ॥५५॥ तत्र ऋषियों के साथ नौका में बैठेहुए उस सत्यव्रत राजर्षि ने, भगवान् का कहाहुआ वह सनातन ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व निःसन्देह होकर सुना ॥ ॥ ५६ ॥ तदनन्तर उन मत्स्यमूर्त्ति श्रीहरि ने, पहिले की प्रलय के अन्त में निद्रा

स वेधसे ॥ हत्वाऽसुरं हयग्रीवं वेदान्प्रत्याहरद्धरिः ॥ ५७ ॥ स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ विष्णोः प्रसादात्कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः ॥ ॥ ५८ ॥ सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः ॥ संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ ५९ ॥ अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः ॥ ॥ संकल्पास्तस्य सिद्ध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥ ६० ॥ प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ॥ दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥६१॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः२४

से उठेहुए ब्रह्माजी को, हयग्रीव दैत्य का वध करके उस से वेद लाकर दिये ॥ ५७ ॥ शास्त्र में कहेहुए ज्ञान और अनुभव करेहुए ज्ञान से युक्त वह राजा सत्यव्रत विष्णुभगवान् के अनुग्रह से इस कल्प में श्राद्धदेव नामवाला वैवस्वत मनु हुआ ॥ ५८ ॥ माया से मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान् और राजर्षि सत्यव्रत के सम्वाद रूप इस बडे आख्यान को सुननेवाला पुरुष पातक से छूटेगा ॥५९॥ तैसेही, जो, यह भगवान् का अवतार हुआ तिसका जो पुरुष प्रतिदिन कीर्त्तन करेगा उस के सकल मनोरथ सिद्ध होंगे और अन्त में उसको परमगति (मुक्ति) प्राप्त होगी ॥ ६० ॥ जिन्होंने प्रलय के जल में, निद्रालेते हुए ब्रह्माजी के मुख में से हयग्रीव करके दूरको लेगये हुए वेद, उस हयग्रीव नामवाले दैत्य का वध करके फिर भी लाकर उन ब्रह्माजी को दिये और जिन्होंने सत्यव्रत तथा ऋषियों से ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला मत्स्यपुराण कहा, उन, माया से मत्स्यरूप धारण करनेवाले सबके कारणरूप भगवान् को मेरा प्रणाम है ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में चतुर्विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ ॥

इतिश्रीमद्भागवतमहापुराणस्य, पश्चिमोत्तरदेशीयरामपुरनिवासि–मुरादाबादप्रवासि-भारद्वाजगोत्र–गौडवंश्य–श्रीयुतपण्डितभोलानाथात्मजेन, काशीस्थराजकीयप्रधान–विद्यालये प्रधानाध्यापक–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–महामहोपाध्याय-सत्सम्प्रदायाचार्य-पण्डितस्वामिराममिश्रशास्त्रिभ्योधिगतविद्येन, ऋषिकुमारोप–नामकपण्डितरामस्वरूपशर्मणा विरचितेनान्वयेन भाषानुवादेन च सहितोऽष्टमस्कन्धः समाप्तः ॥

समाप्तोऽयमष्टमस्कन्धः ।

नवमस्कन्धः प्रारभ्यते.

श्रीगणेशाय नमः ॥ राजोवाच ॥ मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे ॥ वीर्याण्यनंतवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥ १ ॥ योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः ॥ ज्ञानं योऽतीतकल्पांते लेभे पुरुषसेवया ॥ २ ॥ स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतं ॥ त्वत्तस्य सुताः प्रोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥ ३ ॥ तेषां वंशं पृथग्ब्रह्मन् वंश्यानुचरितानि च ॥ कीर्त्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥ ४ ॥ ये भूता ये भविष्याश्च भवंत्यद्यतनाश्च ये ॥ तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान् ॥ ५ ॥ सूत उवाच ॥ एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥ पृष्टः प्रोवाच भगवान् शुकः परमधर्मवित् ॥ ६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप ॥ न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥ परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः ॥ स एवासीदिदं विश्वं कल्पांतेऽन्यन्न किंचन ॥

श्रीः। पहिले कहीहुई कथा के प्रसङ्गको उठाकर राजा प्रश्न करता है कि-हे शुकदेवजी! सब चौदहों मन्वन्तर, 'मनु मनुपुत्र आदि छः भागों सहित' तुमने, मुझ से कहे हैं तथा उन मन्वन्तरों में करेहुए अनन्तपराक्रमी श्रीहरि के चरित्र भी कहे हैं और उन को मैंने सुना भी है ॥१॥ जो यह द्रविड़देशों का स्वामी सत्यव्रत नामवाला राजर्षि कि—जिसने मत्स्य रूप भगवान् की आराधना करके, उन से पहिले कल्प में ज्ञान पाया ॥ २ ॥ वह ही इस कल्प में विवस्वान् का पुत्र होकर वैवस्वत नामवाला मनु हुआ; ऐसा आप से ही मैंने सुना है और जो उस मनु के इक्ष्वाकु आदि पुत्रहुए वह भी आप ने मुझ से कहे ॥ ३ ॥ हे सर्वज्ञ ! हे महाभाग ! अब उन का वंश और उन के वंश में हुए राजाओं के चरित्र, नित्य सुनने की इच्छा करनेवाले हमसे कहिये ॥४॥ उस मनु के वंश में जो राजे पहिले होगये, जो आगे को होंगे और जो इससमय हुए हैं,उन सब पुण्यकीर्त्ति राजाओं के चरित्र हम से कहो ॥५॥ सूतजी ने कहा कि-हे ऋषियो ! इसप्रकार राजा परीक्षित् ने,ब्रह्मज्ञानी ऋषियों की सभा में श्रीशुकदेवजी से प्रश्न करा तब परमधर्म को जाननेवाले वह शुकदेव जी बोले॥६॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे शत्रुतापन राजन् ! वैवस्वत मनु का वंश,मैं, मुख्यता करके तुम से कहता हूँ;तुम सुनो-वह वंश,विस्तार से वर्णन करने में सौवर्ष मेंभी पूरा नहीं होसक्ता॥७॥ जो छोटे बड़े प्राणियों के आत्मा परम पुरुष, श्रीनारायण हैं, वही प्रलय के समय यह जगत् था अर्थात् उन में ही यह सब जगत् लीनथा; उन के सिवाय और कुछ नहीं था॥८॥

॥ ८ ॥ तस्य नाभेः समभवत्पद्मकोशो हिरण्मयः ॥ तस्मिन् जज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः ॥ ९ ॥ मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः ॥ दाक्षायण्यां ततोदित्यां विवस्वानभवत्सुतः ॥ १० ॥ ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत ॥ श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान्स आत्मवान् ॥ ११ ॥ इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ॥ निरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विभुः ॥ १२ ॥ अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान्किल ॥ मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत्प्रभुः ॥ १३ ॥ तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ॥ दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥ १४ ॥ प्रेषितोऽध्वर्युणा होता यत्तथा सुसमाहितः ॥ हविषि व्यचरत्तेन वषट्कारं गृणन् द्विजः ॥ १५ ॥ होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साऽभवत् ॥ तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम् ॥ १६ ॥ भगवन्किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् ॥ विपर्ययमहो

उन श्रीनारायण की नाभि से प्रकाशवान् एक कमल की कली उत्पन्न हुई. हे महाराज परीक्षित् ! उस कमल की कली में चतुर्मुख ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥ उनके मन से मरीचि ऋषि उत्पन्न हुए. उन के भी पुत्र कश्यप ऋषि हुए. उन कश्यपजी से, दक्ष की कन्या अदिति के उदर में से विवस्वान् नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥ हे राजन् ! उस विवस्वान् से संज्ञा नामवाली स्त्री के उदर में से श्राद्धदेव नामवाले मनु उत्पन्न हुए. उन शुद्धचित्त मनुके संज्ञा नामवाली स्त्री के विषैं दश पुत्र हुए ॥ ११ ॥ उन के नाम— इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि यह थे ॥१२॥ इक्ष्वाकु आदि पुत्रों के उत्पन्न होने से पहिले पुत्रहीन मनु को,पुत्रकी प्राप्ति होनेके निमित्त ही, उस मनुके आचार्य भगवान् प्रभु वशिष्ठ ऋषिने, मित्रावरुण देवताओं की एक इष्टि (पुत्रकामेष्टि) करी ॥१३॥ उसके होनेके समय केवल दूधका आहार करके रहनेवाली, श्रद्धा नामवाली मनुकी स्त्री,होताके समीप जा उसको वन्दना करके प्रार्थना करने लगी कि— हेऋषे ! तुम इसप्रकार का यज्ञ करोकि-जिसके प्रभाव से मेरे कन्या उत्पन्न होय ॥१४॥फिर अध्वर्युने जबहोताको'यजन कर' ऐसा प्रेष देकर (प्रेरणाकरके) हवन करने के निमित्त होम का पदार्थ ग्रहण करने पर उस होता ब्राह्मण ने एकाग्रचित्त होकर,रानीकी प्रार्थना करीहुई बात का ध्यान करते हुए, वाणीसे 'वषट्' ऐसा उच्चारण करके, मनसे 'वौषट्' ऐसा ध्यान करतेहुए आहुति छोडी॥१५॥यजमानकी इच्छाके विपरीत होताके उस आहुति देनेसे वह इलानामसे प्रसिद्ध कन्या हुई,उसको देखकर चित्त में अति प्रसन्न नहुए मनुजी,गुरुवशिष्ठ जीसे कहनेलगे ॥ १६ ॥ कि—हे भगवन् ! तुम ब्रह्मज्ञानियों का कराहुआ यह कर्म, इच्छित फलसे विपरीत फल देनेवाला कैसे हुआ ? यह बडे दुःखकी बात है, क्योंकि—मन्त्र का फल

कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया ॥ १७ ॥ यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्ध-
किल्विषाः ॥ कुतः संकल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥ १८ ॥ तन्निशम्य वच-
स्तस्य भगवान्प्रपितामहः ॥ होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥ १९ ॥
एतत्सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ॥ तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजस्त्वं
स्वतेजसा ॥ २० ॥ एवं व्यवसितो राजन् भगवान्सुमहायशाः ॥ अस्तौषी-
दादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥ २१ ॥ तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान्हरि-
रीश्वरः ॥ ददाविलाऽभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥ स एकदा महा-
राज विचरन्मृगयां वने ॥ वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैंधवम् ॥ २३ ॥ प्र-
गृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् ॥ दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमु-
त्तराम् ॥ २४ ॥ स कुमारो वनं मेरोरधस्तात्प्रविवेश ह ॥ यत्रास्ते भगवान्
रुद्रो रममाणः सहोमया ॥ २५ ॥ तस्मिन्प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा ॥

ऐसा विपरीत नहीं होना चाहिये ऐसा होनेपर वैदिक कर्मों के ऊपर का और मन्त्रोंके ऊपर
का विश्वास लुप्त होकर सन्मार्ग नष्ट होजायगा ॥ १७ ॥ तुम मन्त्रों का स्वरूप, अर्थ और प्रयोग
करना जाननेवाले, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले और तपके प्रभाव से जिनके पातक जलकर
भस्म होगये हैं ऐसे हो फिर तुम्हारे सङ्कल्प का विपरीत फल कैसे हुआ ? जैसे देवताओं में
असत्य नहीं होता है तैसेही तुम्हारे सङ्कल्प का विपरीत फल नहीं होना चाहिये ॥ १८ ॥
ऐसे उन मनुके कहने को सुनकर वह भगवान् वसिष्ठ ऋषि, होताके विपरीत सङ्कल्प को
जानकर उन श्राद्धदेव मनुसे कहनेलगे कि–हेमनो ! तुम्हारे होताका सङ्कल्प विपरीत होने
के कारण यहफल विपरीत हुआ है तथापि मैं अपने तपोबल के प्रभाव से तुम्हारे सुपुत्र होने
का यत्न करूँगा अर्थात् इस कन्या का ही पुत्र होनेकी युक्ति करूँगा ॥ १९ ॥ २० ॥
हे राजन् परीक्षित् ! उन महायशस्वी भगवान् वसिष्ठ ऋषि ने, ऐसा निश्चय करके उस
इला नामक कन्या को पुरुषपना प्राप्त होनेकी इच्छा से आदिपुरुष भगवान् की स्तुतिकरी
॥ २१ ॥ तदनन्तर वह भगवान् ईश्वर श्रीहरि, वसिष्ठजी की करी हुई स्तुति से सन्तुष्ट
हुए और, उन्होंने उन वसिष्ठजी को, इला नामक कन्या में पुरुषपना प्राप्त होनेका वरदान
दिया; उससे वह इलाही सुद्युम्न नामक पुरुषश्रेष्ठ होगया ॥ २२ ॥ हे महाराज ! वह वीर
सुद्युम्न, एक समय वनमें मृगयाकरने (शिकार खेलने) के निमित्त, कवच धारण करके, कितने
ही मन्त्रियों से युक्त हो, सुन्दर धनुष तथा परम तीखे बाण लेकर, तथा सिन्धुदेश में उत्पन्न
हुए घोड़े के ऊपर बैठकर उत्तर दिशाकी ओर को हरिण के पीछे २ गया ॥ २३ ॥ २४ ॥
वह कुमार सुद्युम्न जहां भगवान् शङ्कर, पार्वतीजी के साथ रमण कररहेथे उस सुमेरुपर्वत की
तलैटी के वन में गया ॥ २५ ॥ हेराजन् ! शत्रुओं का नाश करनेवाले उसकुमार सुद्युम्न

अपश्यत्स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥ २६ ॥ तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिंगविपर्ययम् ॥ दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन्वीक्षमाणा परस्परम् ॥ २७॥ राजोवाच ॥ कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवन् कृतः ॥ प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥ २८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः ॥ दिशो वितिमिराभासाः कुर्वंतः समुपागमन् ॥ २९ ॥ तां न्विलोक्यांबिका देवी विवासा व्रीडिता भृशं ॥ भर्तुरंकात्समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥ ३० ॥ ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसंगं रममाणयोः ॥ निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमं ॥ ३१ ॥ तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया ॥ स्थानं यः प्रविशेदेतत्स वै योषिद्भवेदिति ॥ ३२॥ तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयंति हि ॥ सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनं ॥ ३३ ॥ अथ तामाश्रमाभ्याशे चरंतीं प्रमदोत्तमां ॥ स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥३४॥ साऽपि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिं ॥

ने, उस वनमें प्रवेश करतेही, मैं स्त्री होगया और मेरा घोड़ा भी घोड़ीहोगया ऐसादेखा ॥२६॥ तथा उस सुद्युम्न के साथी सब पुरुषों ने, अपना पुरुषपना दूर होकर अपने को स्त्रीरूप हुए देखा और सब परस्पर एक दूसरे की ओर को देखते हुए चित्त मे अति खिन्न हुए ॥ २७ ॥ राजा परीक्षित् ने कहा कि–हे भगवन् शुकदेवजी ! ऐसा, प्रवेश करते ही स्त्री करदेने वाला वह देश कैसे होगया ? अपने आप तो ऐसा हो नहीं सक्ता, इसकारण क्या किसी ने उस देश को शाप देकर ऐसा करदिया था ? इस मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये, क्योंकि–इस के सुनने को हमें बड़ा उत्साह होरहा है ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हेराजन् ! एक समय महादेवजी का दर्शन करने के निमित्त बड़े तपस्वी ऋषि, अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए तहां वन में गये थे ॥२९॥ उन आये हुए ऋषियों को देखकर शिवजी की जंघापर नंगी बैठी हुई अम्बिका देवी को बड़ी लज्जा आई, सो उन्हों ने बड़ी शीघ्रता से उन पति की गोदी में से उठकर वस्त्र पहिना ॥ ३० ॥ तब वह ऋषि भी रमण करनेवाले उन शिवपार्वती को देखकर तहांसे लौटआये और नरनारायण के आश्रमको गये ॥३१॥ उस समय अपनी प्रिया का प्रिय करनेकी इच्छासे रुद्रभगवान् ने इसप्रकार कहा कि–जो कोई पुरुष, इस स्थान में प्रवेश करेगा वह निःसन्देह स्त्री होजायगा ॥३२॥ हेराजन् ! उस रुद्रशाप के होनेके अनन्तर से सब पुरुष, उस वन में स्त्रीपने को प्राप्त होजायँगे इस भयसे प्रवेश नहीं करते थे, इसप्रकार सुद्युम्न की हुई वह स्त्री, स्त्रीपने को प्राप्तहुए सेवकों के साथ एक वन से दूसरे में को विचरने लगी ॥३३॥ तदनन्तर अनुचरों के साथ अपने आश्रमके समीप में विचरनेवाली उस उत्तम स्त्री को देखकर चन्द्रमा के पुत्र भगवान् बुधने, उसकी इच्छा करी ॥ ३४ ॥ उस स्त्री ने

स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजं ॥ ३५ ॥ एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो
मानवो नृपः ॥ सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम ॥३६॥ स तस्य तां
दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ॥ सुद्युम्नस्याशयन्पुंस्त्वमुपाधावत शंकरं ॥ ३७ ॥
तुष्टस्तस्मै स भगवान् ऋषये प्रियमावहन् ॥ स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह
विशांपते ॥ ३८ ॥ मासं पुमान्स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः ॥ इत्थं व्यव-
स्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीं ॥ ३९ ॥ आचार्यानुग्रहात्कामं लब्ध्वा
पुंस्त्वं व्यवस्थया ॥ पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन्स्म तं प्रजाः ॥ ४० ॥
तस्योत्कलो गयो राजन्विमलश्च सुतास्त्रयः ॥ दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्म-
वत्सलाः॥४१॥ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः॥ पुरूरवस उत्सृज्य गां
पुत्राय गतो वनं ॥४२॥ इतिश्रीभा०म०न० इलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

भी, उन सोमराज के पुत्र बुधको अपना पति होने की इच्छा करी, इसप्रकार परस्पर की
इच्छा से वह दोनों दम्पती हुए; तदनन्तर उन बुधका उस स्त्री के विषै पुरुरवा नामवाला
पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३५ ॥ इसप्रकार स्त्रीपने को प्राप्त हुआ मनुका पुत्र जो राजा सुद्युम्न
उस ने अपने कुल के आचार्य वसिष्ठ जी का स्मरण करा ऐसा हमने सुना है ॥ ३६ ॥ तव
उनके स्मरण करेहुए गुरु वसिष्ठजी तहाँ आकर उस को स्त्रीपना प्राप्त होनारूप दशा देख-
कर कृपासे अत्यन्त पीड़ित हो फिर प्रद्युम्न को पुरुषपना प्राप्त होनेकी इच्छा से शङ्कर भ-
गवान् की स्तुति करनेलगे ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! तव वह भगवान् शङ्कर, वसिष्ठजी की क-
रीहुई स्तुति से सन्तुष्ट होकर, उन वसिष्ठ जी के हृदय में सन्तोष उत्पन्न करतेहुए और
'जो इस वन में प्रवेश करेगा वह तत्काल स्त्री होजायगा' ऐसी अपनी वाणी को भी सत्य
करते हुए इसप्रकार कहनेलगे कि—॥ ३८ ॥ हे वसिष्ठजी ! तुमने इस सुद्युम्न के पुरुष
होने की जो मनमें इच्छा करी है सो यह एक महीने को पुरुष होगा और एक महीने
स्त्री रहा करेगा, इस प्रकार की व्यवस्था से यथेष्ट पृथ्वी की रक्षा करे ॥ ३९ ॥
इसप्रकार गुरु वशिष्ठजी के अनुग्रह से व्यवस्था करके पुरुषपने को प्राप्त होकर वह राजा
सुद्युम्न, पृथ्वी का पालन करनेलगा तथापि एकमहीने पर्यन्त स्त्रीपने को प्राप्त होने के कारण
वह राजा लज्जावश छुपाहुआ रहता था इसकारण सकल प्रजा उस को अच्छा नहीं सम-
झती थी ॥ ४० ॥ हे राजन् ! उस सुद्युम्नके उत्कल, गय और विमल यह तीनपुत्र हुए
वह दक्षिणदेश के स्वामी और धर्म में प्रीति करनेवाले थे ॥ ४१ ॥ तदनन्तर बहुत सा
काल वीतजानेपर, वृद्ध अवस्थाको प्राप्तहुआ भूमण्डल का स्वामी वह राजा सुद्युम्न, अपने
पुरूरवा नामवाले पुत्र को पृथ्वी का राज्याभिषेक करके आप तपस्या करने को वन में
चलागया ॥ ४२ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में प्रथम अध्याय समाप्त ॥ * ॥

श्रीशुक उवाच॥एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते ॥ पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां
शतं समाः ॥१॥ ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुं ॥ इक्ष्वाकुपूर्वजान्पुत्रान्ले-
भे स्वसदृशान्दश ॥२॥ पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः॥ पालयामास
गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः॥३॥ एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति ॥
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥४॥ एकां जग्राह बलवान्सा चुक्रोश
भयातुरा ॥ तस्यास्तत्क्रंदितं श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार ह ॥५॥ खड्गमादाय तरसा
प्रलीनोडुगणे निशि ॥ अजानन्नहनद्बभ्रोः शिरः शार्दूलशंकया ॥६॥ व्याघ्रोऽपि
वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः ॥ निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृ-
जन् ॥ ७ ॥ मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा ॥ अद्राक्षीत्स्वहतां बभ्रुं
व्युष्टायां निशि दुःखितः ॥ ८ ॥ तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः ॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् इसप्रकार सुद्युम्न नामा पुत्र के वन को चलेजानेपर वैवस्वतमनु ने पुत्र प्राप्त होने की इच्छा से यमुना नदी के तटपर सौ वर्षपर्यन्त तपस्या करी ॥ १ ॥ उस तपस्या में वैवस्वत मनु ने पुत्रकी प्राप्ति होने के निमित्त, पुत्र देने में समर्थ भगवान् श्रीहरि की आराधना करी तदनन्तर भगवान् के अनुग्रह से उन मनु के अपने समानही पराक्रमी इक्ष्वाकु आदि दशपुत्र उत्पन्नहुए ॥ २ ॥ उन दशों पुत्रों में पृषध्र नामवाला मनुका पुत्र बालक अवस्था में ज्ञानप्रकाश न होनेके कारण अप्रबुद्ध था, उस को गुरु वसिष्ठजी ने गौओं की रक्षा करने का काम सौंपा, इसकारण वह रात्रि के समय व्याघ्र आदिकों से गौओं की रक्षा करने के निमित्त हाथ में तरवार लेकर सावधानी के साथ जागते रहने का व्रत स्वीकार करके गौओं की रक्षा करतारहा ॥ ३ ॥ ऐसा होतेहुए एक दिन रात्रि के समय, मेघोंके वरसतेहुए एकव्याघ्र गौओं में आगयाः तव उस को देखकर गौएँ भय से उठकर गोठों में अपनी रस्सियों को तुड़ाकर इधर उधरको भागने लगीं ॥ ४ ॥ उस बलवान् व्याघ्रने, एक गौको पकड़ा तव वह गौ भय से विह्वल होकर ऊँचे स्वर से रुदन करनेलगी; उस के तिस रुदन को सुनकर राजा पृषध्र दौड़कर उस के समीपगया ॥ ५ ॥ और उस ने हाथ में तलवार लेकर बड़े वेग से, जहां मेघों के द्वारा नक्षत्र आदि छुपगये हैं ऐसे रात्रि के समय, ‘ यह व्याघ्र है ऐसा न जानकर, व्याघ्र की बुद्धि से कपिला गौका मस्तक काटडाला ॥ ६ ॥ तदनन्तर तलवार के अग्रभाग से उस व्याघ्रका भी एक कान काटलियाथा, इसकारण वह अत्यन्त भयभीत होकर मार्ग में रुधिर ओकताहुआ उस गोठ में से निकलगया॥७॥ तदनन्तर शत्रुका मारनेवाला वह पृषध्र, रात्रि में व्याघ्र मरणको प्राप्तहोगया, ऐसा मानताहुआ भी प्रभातको पौफटने के समय जब थोड़ा२ प्रकाश होनेलगा तब मेरे हाथसे गौकी हत्याहोगई है,ऐसादेखकर अत्यन्तदुःखित हुआ॥८॥ इसप्रकार अज्ञान से गोवधरूप पाप करनेवाले उस पृषध्र को, कुल के आचार्य

नं क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना ॥ ९ ॥ एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृ-
ह्णात्कृतांजलिः ॥ अधारयद्व्रतं वीरं ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥ १० ॥ वासुदेवे
भगवति सर्वात्मनि परेमले ॥ एकांतित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत्समः ॥
॥ ११ ॥ विमुक्तसंगः शांतात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः ॥ यदृच्छयोपपन्नेन कल्प-
यन् वृत्तिमात्मनः ॥ १२ ॥ आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः ॥ वि-
चचार महीमेतां जडांधबधिराकृतिः ॥ १३ ॥ एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावा-
ग्निमुत्थितम् ॥ तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः ॥ १४ ॥ कविः कनीया-
न्विषयेषु निस्पृहो विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ॥ निवेश्य चित्ते पुरुषं स्व-
रोचिषं विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥ १५ ॥ करूषान्मानवादासन्कारूषाः
क्षत्रजातयः ॥ उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥ धृष्टाद्धार्ष्टम-

गुरु वशिष्ठजी ने शापदिया कि—अरे ! इस कर्म को करके तू क्षत्रियों मे अधम होकर भी नहीं रहेगा, किन्तु शूद्र ही होगा ॥ ९ ॥ इस प्रकार कुलगुरु वशिष्ठजी के शाप देनेपर भी उस पृषध्र ने, हाथ जोड़ कर उस शाप को स्वीकार करा तदनन्तर उस वीर ने इन्द्रियों को जीतकर ऋषियों का प्यारा भगवद्भजनरूप व्रत करा ॥ १० ॥ उस के प्रभाव से वह, सकल प्राणियों में दया करनेवाला और सुख दुःख आदि में समान दृष्टि रखनेवाला होकर, भक्ति के प्रभाव से मायातीत, सर्वात्मा और विकारशून्य भगवान् वासुदेव के विषैं चित्त की एकाग्रता को प्राप्त होकर ॥ ११ ॥ विषयों में आसक्ति रहित, शान्तचित्त, इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, देह के निर्वाह योग्य अन्न के सिवाय सकल परिग्रह को त्यागनेवाला और प्रारब्ध करके ही प्राप्तहुए आहार आदि से देहकी वृत्ति चलानेवाला होकर ॥ १२ ॥ परमात्मा के विषैं अपने मनको निश्चलरूप से स्थापन करके और उस परमानन्द स्वरूप के अनुभव से तृप्त होकर सावधान होताहुआ जड़, अन्धे और बधिरों की समान अपनी आकृति को धारण करे इस पृथ्वी पर विचरने लगा ॥ १३ ॥ इस प्रकार की वृत्ति रखकर मनन करनेवाला वह पृषध्र, प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर एक समय वन में जाकर तहाँ चारों ओर से लगी हुई दावानल अग्नि में पड़कर उसके द्वारा जिसके हाथ चरण आदि अङ्ग जलगये हैं ऐसा होकर पर-ब्रह्मस्वरूप को प्राप्तहुआ ॥ १४ ॥ वैवस्वत मनुके इक्ष्वाकु आदि दश पुत्रों में छोटा जो कवि वह दश बारह वर्षकी अवस्था मेंही विषयोंमें विरक्त होकर और अपने भ्राताओं सहित राज्यको त्यागकर वनमें चलागया और उसने अपने चित्तमें स्वप्रकाश पुराणपुरुष का ध्यान करके उनके स्वरूप की प्राप्ति करली ॥ १५ ॥ करूषनामा मनुके पुत्र से उत्तर के देशों के स्वामी, ब्राह्मणों में भक्ति करनेवाले और धर्म में प्रीति रखनेवाले कारूष नामवाले राजे हुए ॥ १६ ॥ धृष्ट नामवाले मनु पुत्र से धार्ष्ट नाम

भूतक्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ ॥ नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः ॥१७॥
वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता ॥ कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह
ताम् ॥ १८ ॥ चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत् ॥ तस्य मीढ्वांस्ततः
कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥ १९ ॥ वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात्तस्य सत्यश्रवा अ-
भूत् ॥ उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥ २० ॥ ततोऽग्निवेश्यो भग-
वानग्निः स्वयमभूत्सुतः ॥ कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः॥२१॥
ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप ॥ नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः
शृणु ॥ २२ ॥ नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ॥ भलंदनः सु-
तस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलंदनात् ॥ २३ ॥ वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं
विदुः ॥ खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः ॥ २४ ॥ विविंशतिसुतो
रंभः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः ॥ करंधमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप॥२५॥
तस्यावीक्षित्सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् ॥ संवर्तोऽयाजयद्यं वै महायोग्यं-

---

वाले क्षत्रियकुल उत्पन्न हुए और वह इस पृथ्वीपर प्रायः ब्राह्मणभाव को प्राप्त हुए, नृग नामवाले मनु पुत्र का सुमति नामवाला पुत्र हुआ, उससे भूतज्योति हुआ और उससे वसु नामवाला पुत्र हुआ, ॥ १७ ॥ वसु का पुत्र प्रतीक हुआ उस का पुत्र ओघवान् हुआ, उसका भी ओघवान् ही पुत्र और ओघवती नामवाली एक कन्याहुई उसको सुदर्शन ऋषिने वरलिया ॥ १८ ॥ नरिष्यन्त नामवाले मनुके पुत्रसे चित्रसेननाम वाला पुत्र हुआ, उसके ऋक्ष नामवाला पुत्र हुआ, उसके मीढ्वान्, उससे कूर्च और उसका पुत्र इन्द्रसेन हुआ ॥१९॥ इन्द्रसेन से वीति होत्र होकर उसका सत्यश्रवा हुआ, उसका पुत्र उरुश्रवा होकर उससे देवदत्त हुआ ॥ २० ॥ तिस से अग्निवेश्य नामवाला पुत्र हुआ, वह साक्षात् भगवान् अग्नि का अवतार था; वही अग्निवेश्य ऋषि, फिर कानीन इस नाम से और जातूकर्ण्य इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ २१ ॥ उस से अग्निवेश्यायन नामक गोत्रवाला ब्राह्मणकुल हुआ, हे राजन् ! नरिष्यन्त का वंश मैंने तुझ से कहा अब मनु के पुत्र दिष्ट का वंश सुन॥२२॥ दिष्ट के नाभाग नाम वाला पुत्र हुआ, वह आगे कहेहुए नाभाग से दूसरा था,वह खेती,गोपालन आदि कर्म के प्रभावसे वैश्यपने को प्राप्त हुआ, उसका पुत्र भलन्दन हुआ,उस भलन्दन से वत्सप्रीति हुआ ॥२३॥ वत्सप्रीति का पुत्र प्रांशु, उसका पुत्र प्रमति हुआ, उस प्रमति से खनित्र हुआ,उस से चाक्षुष, हुआ, उससे विविंशति हुआ ॥ २४ ॥ विविंशति का पुत्र रम्भ, तिसका पुत्र खनिनेत्र; वह बड़ा धर्मात्मा हुआ, हे राजन् ! उस खनिनेत्र का पुत्र करन्धम नामक महाराजा हुआ॥ २५ ॥ उस का आवीक्षित् नामक पुत्र हुआ, उसका मरुत्त नामवाला सार्वभौम पुत्र हुआ, जिस

गिरःसुतः ॥ २६ ॥ मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथाऽन्यस्य कश्चन ॥ सर्वं हिरण्मयं
त्वासीद्यत्किंचिच्चास्य शोभनम् ॥ २ ॥ अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजा-
तयः ॥ मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥ २८ ॥ मरुत्तस्य दमः पुत्र-
स्तस्यासीद्राज्यवर्द्धनः ॥ सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥ २९ ॥
तत्सुतः केवलस्तस्माद्बंधुमान्वेगवांस्ततः ॥ बंधुस्तस्याभवद्यस्य तृणबिंदुर्मही-
पतिः ॥ ३० ॥ तं भेजेऽलंबुषा देवी भजनीयगुणालयम् ॥ वराप्सरा यतः
पुत्राः कन्या चेडविडाऽभवत् ॥ ३१ ॥ तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं
सुतम् ॥ प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरात्पितुः ॥ ३२ ॥ विशालः शून्यबं-
धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः ॥ विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीं ॥
॥ ३३ ॥ हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः ॥ तत्पुत्रात्संयमादासी-
त्कृशाश्वः सहदेवजः ॥ ३४ ॥ कृशाश्वात्सोमदत्तोऽभूद्योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् ॥
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रितः ॥ ३५ ॥ सौमदत्तिस्तु सुमतिस्त-

मरुत्त राजा को अङ्गिरा ऋषि के पुत्र महायोगी सम्वर्त्त ऋषिने यज्ञ कराया ॥ २६ ॥ मरुत्त राजा का जैसा यज्ञ हुआ वैसा किसी भी दूसरे राजा का नहीं हुआ, क्योंकि–उस के करे हुए यज्ञ में यज्ञ के पात्र आदि जो सामग्री थी वह सब सुवर्ण की थी ॥२७॥ तथा उस के यज्ञ में सोमरस के पीने से इन्द्र को बड़ा आनन्द हुआ और यथेष्ठ दक्षिणा मिलनेके कारण ब्राह्मण हर्ष को प्राप्त हुये और उस यज्ञ में मरुत् नामक देवताओं के गण अन्न आदि परो-सनेवाले तथा विश्वेदेवा सभासद् थे ॥२८॥ मरुत्त के दम नामवाला पुत्र हुआ, उसका पुत्र राज्य वर्द्धन उसका पुत्र सुधृति, उस सुधृतिका नर नामवाला पुत्रहुआ ॥२९॥ उसका पुत्र केवल, तिससे बिन्दुमान्, तिससे वेगवान्, उसके वन्धु नामक पुत्र हुआ उसके पृथ्वी पति तृणबिन्दु हुआ ॥३०॥ दूसरों के स्वीकार करने योग्य गुणोंके स्थान तिस तृणबिन्दु को, इन्द्रकी अल-म्बुषा नामवाली श्रेष्ठ अप्सरा ने वरा, तदनन्तर उसके विषैं तृणविन्दु के पुत्र हुए और इड़-विड़ा नामवाली एक कन्या हुई ॥ ३१ ॥ इस के विषैं विश्रवा ऋषि का कुवेर नामा पुत्रहुआ उन महाबुद्धिमान् कुवेर ने उन योगेश्वर अपने पिता से अन्तर्धान होने की उत्तम विद्या प्राप्त करी ॥ ३२ ॥ विशाल, शून्यबन्धु और धूमकेतु यह तृणविन्दु के पुत्रहुए, उन में से विशाल वंश को बढ़ानेवाला राजा हुआ. उस ने वैशाली नामवाली एक नगरी रची ॥३३॥ उस विशाल का पुत्र हेमचन्द्र, उस का पुत्र धूम्राक्ष, तिस का पुत्र संयम, तिस का सहदेव, तिस का पुत्र कृशाश्व हुआ ॥ ३४ ॥ कृशाश्व से सोमदत्त हुआ; जिस सोमदत्त ने अश्व-मेधों के द्वारा यज्ञ का फल देनेवाले पुराणपुरुष की आराधना करके भगवान् की शरण में जाकर उत्तमप्रकार की गति (मुक्ति) प्राप्त करी ॥ ३५ ॥ सोमदत्त का पुत्र सुमति, उस

त्सुतो जनमेजयः ॥ एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥ ३६ ॥ इतिश्री-
भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह ॥ यो वा अंगि-
रसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् ॥ १ ॥ सुकन्या नाम तस्यासीत्कन्या कम-
ललोचना । तया सार्द्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमं ॥ २ ॥ सा सखीभिः परि-
वृता विचिन्वत्यंघ्रिपान्वने ॥ वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥ ३ ॥
ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै ॥ अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रा-
वासृक् ततो बहु ॥ ४ ॥ शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत्सैनिकानां च तत्क्षणात् ॥ रा-
जर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान्विस्मितोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥ अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गव-
स्य विचेष्टितम् ॥ व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणं ॥ ६ ॥ सुकन्या
प्राह पितरं भीता किंचित्कृतं मया ॥ द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने
कण्टकेन वै ॥ ७ ॥ दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः ॥ मुनिं प्रसाद-

का पुत्र जनमेजय, यह विशाल राजा के वंश में उत्पन्न हुए राजे तृणबिन्दु के यश को बढ़ानेवाले हुए ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में द्वितीय अध्याय समाप्त * श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! मनु का पुत्र शर्याति नामवाला जो राजा वह वेदों के अर्थ के तत्त्व को जाननेवाला हुआ जिस ने आंगिरस ऋषियों के सत्र में दूसरे दिन करने का कर्म कहा है ॥ १ ॥ उस शर्याति की कमलदलनयनी सुकन्या नामक कन्या थी; एक दिन उस कन्या को साथ लेकर वह राजा शर्याति वन की शोभा देखने के निमित्त वन में जाकर तहां वह च्यवन ऋषि के आश्रम में सेना सहित उतरा ॥ २ ॥ तहां तिस सुकन्या, ने सखियों सहित वन में के वृक्षों की शोभा देखते हुए एक बँबई के भट्टे में पटबीजने की समान वारंवार चमकनेवाली दो ज्योति देखीं ॥ ३ ॥ तब दैव की प्रेरणा करी हुई उस सुकन्या ने, मूढ़पने से एक कांटा लेकर उस से उन दोनों ज्योतियों को छेद दिया तब उस बँबई के भट्टे में से बहुत सा रुधिर टपकनेलगा ॥ ४ ॥ उस समय राजा शर्याति की सेना में के पुरुषों का मूत्र पुरीष बन्द होगया, यह देखकर विस्मय में पड़ा हुआ वह राजर्षि (शर्याति) अपने पुरुषों से कहनेलगा कि–॥ ५ ॥ अरे ! तुम ने च्यवनभार्गव ऋषि का तो कोई अपराध नहीं कराहै ! मुझे तो स्पष्ट ऐसा प्रतीत होताहै कि–हमारे पुरुषों में से किसीने तो उन ऋषिके आश्रमका अपराधकराहै ऐसा हुए बिना सब को एक साथ उपद्रव नहींहोता ॥ ६ ॥ शर्याति राजाके ऐसा कहनेपर भय से घबड़ाई हुई सुकन्या पिता से कहनेलगी कि–हेपिताजी ! मैंने कुछ करा है, बँबई के भट्टे में दो ज्योति मेरी दृष्टि पड़ीं; वह क्या थीं, यह न जाननेवाली मैंने उन को कांटों से छेद दियां है ॥ ७ ॥ उस

यामास वल्मीकांतर्गतं शनैः ॥ ८ ॥ तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुने ॥
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्समाहितः ॥ ९ ॥ सुकन्या च्यवनं प्राप्य प-
तिं परमकोपनं ॥ प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥ १० ॥ कस्यचि-
त्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ ॥ तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्त-
मीश्वरौ ॥ ११ ॥ ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः ॥ क्रियतां मे वयो रूपं
प्रमदानां यदीप्सितं ॥ १२ ॥ बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनंद्य भिषक्तमौ ॥ निमज्जतां भ-
वानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥ १३ ॥ इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदेहो धमनि-
संततः ॥ ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविप्रियः ॥ १४ ॥ पुरुषास्त्रय उ-

कन्या के ऐसे कथन को सुनकर जिसको भय प्राप्त हुआ है ऐसे राजा शर्याति ने बँबई में गुप्तरूप से विराजमान च्यवनभार्गव ऋषि की धीरे२ स्तुति आदि करके प्रसन्न करलिया ॥ ८ ॥ तदनन्तर उन च्यवन के अभिप्राय × को जानकर राजा ने वह अपनी कन्या उन ऋषि को देदी. तब कन्या का वर देखने के दीनता आदि क्लेशों से और सेना के पुरुषों के मलमूत्र रुकनारूप क्लेश से छूटकर, एकाग्रचित्त से उन ऋषि की आज्ञा लेकर राजा अपने नगर को चलागया ॥ ९ ॥ इधर वह सुकन्या परमकोपी स्वभाववाले उन च्यवन नामक पति को प्राप्त होकर सावधानी के साथ उन की इच्छा के अनुसार सेवा करके उन्हें संतुष्ट करनेलगी ॥ १० ॥ फिर कुछ काल बीतजानेपर एकदिन उन च्यवन भार्गव ने अपने आश्रम में आयेहुए अश्विनीकुमारों का पूजन करके उन से कहा कि-हे अश्विनीकुमारो ! तुम, किसी के कुछ प्रार्थना करनेपर उस को पूर्ण करने में समर्थ हो इसकारण मैं तुम से प्रार्थना करता हूँ कि—अतिबूढ़ेपन को प्राप्तहुए मुझ को तुम तरुण अवस्था दो, यज्ञ में सोमपान रहित भी तुम को, मैं सोमरस का भाग दूँगा, कदापि नहीं चूकूँगा; इसकारण उत्तम स्त्रियों के मन को हरनेवाली तरुण अवस्था और सुन्दर स्वरूप तुम करदो ॥ ११ ॥ १२ ॥ तब देवताओं के वैद्य उन अश्विनीकुमारों ने, उनके वचन को 'ठीक है इसप्रकार' स्वीकार करके तुम, इस सिद्धों के रचेहुए कुण्ड में गोतालगाओ तब तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी, ऐसा कहा; परन्तु वह च्यवनभार्गव ऋषि जरा के कारण अतिबूढ़े, शरीर पर दीखनेवाली नसों से व्याप्त, और सकोड़ने तथा अत्यन्त पकेहुए केशों करके विरूप और स्वयं जाकर कुण्ड में गोता लगाने को असमर्थ थे इसकारण अश्विनीकुमारों ने ही उनको कुण्ड में प्रवेश कराया अर्थात् उन्होंने आप ही दोनों ओर से पकड़कर अपने सहित कुण्ड में गोतालगाया ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ तदनन्तर उस कुण्ड में से एक से तीन पुरुष बाहर निकले, वह अतिसुन्दर होने

× यह मेरी कन्या अनजान है, क्षमा करो; ऐसा राजा के कहनेपर—यह कितने वर्ष की है, इस का विवाह हुआ है या नहीं इत्यादि बातचीत से उन का विवाह करने का अभिप्राय जानकर ।

तस्थुरपीच्या वनितामियाः ॥ पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः ॥ १५ ॥
तान्निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान्सूर्यवर्चसः ॥ अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ
शरणं ययौ ॥ १६ ॥ दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ ॥ ऋषिमामन्
त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥ १७ ॥ यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं
गतः ॥ ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥ १८ ॥ राजा दुहितरं प्राह कृ-
तपादाभिवन्दनाम् ॥ आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतमना इव ॥ १९ ॥ चिकीर्षितं ते
किमिदं पतिस्त्वया प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ॥ त्वं यज्जराग्रस्तम-
सत्यसंमतं विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥ २० ॥ कथं मतिस्तेऽवगताऽन्यथा
सतां कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ॥ बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं पितुश्
च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥ २१ ॥ एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता ॥

के कारण स्त्रियों को परमप्रिय प्रतीत होनेवाले, कण्ठ में कमलों की माला, कानों में कुण्डल धारण करनेवाले, उत्तम वस्त्र पहिनने वाले और स्वरूप में एक समान थे ॥ १५ ॥ सूर्य की समान तेज के समूह, तरुण और समान अवस्थावाले, उन तीन पुरुषों को देखकर वह पतिव्रता सुकन्या, इनमें मेरा पति कौनसा है, यह न जानती हुई, अश्विनी कुमारोंकी शरण गई अर्थात् तुम ही अलग होकर मेरा पति मुझे दिखादो, ऐसी उन अश्विनीकुमारों से प्रार्थना करी ॥ १६ ॥ तब उस के पातिव्रतधर्म से सन्तुष्ट हुए उन अश्विनीकुमारों ने उस सुकन्या को, उस का पति दिखादिया और तदनन्तर उन च्यवनभार्गव ऋषि की आज्ञा लेकर विमान में बैठ स्वर्गलोक को चलेगये ॥ १७ ॥ तदनन्तर एकसमय यज्ञ करने को उद्यत हुआ राजा शर्याति यज्ञ के निमित्त च्यवन ऋषि के बुलाने को और सुकन्या के भी लानेको च्यवन ऋषिके आश्रम में गये ॥ १८ ॥ राजा शर्याति को देखते ही सुकन्या ने उठकर वन्दना करी, उससमय व्यभिचार की शङ्का से असन्तुष्टसा हुआ वह राजा, चरण को वन्दना करनेवालीभी उसकन्या को आशीर्वाद न देकर कहने लगा कि—॥ १९ ॥ अरी ! व्यभिचारिणी ! तू ने यह क्या करा ? बहुतही खोटा काम करा है. मननशील, तपस्वी और सबलोकों के पूजनीय अपने च्यवनभार्गवपति को धोखादिया है, क्योंकि वह अतिवृद्ध होने के कारण मेरे योग्य नहीं हैं ऐसा समझकर उन को त्याग इस किस मार्गचलते नार पुरुष की तू सेवा कररही है ॥ २० ॥ सत्पुरुषों के कुल में उत्पन्न होकर तेरी यह विपरीत बुद्धि कैसे हुई ! क्योंकि तू निर्लज्ज होकर जारपुरुष का सेवन कररही है; यह कर्म कुल को कलङ्क लगाने वाला है, इस कर्म से तू पिता के (मेरे) और भर्त्ता के (च्यवन भार्गव ऋषि के) कुल को नरक में लेजाकर डालती है ॥ २१ ॥ इसप्रकार कहनेवाले पिता से, उन के शङ्कायुक्त वाक्य से विस्मित हुई मन्दहास्यपूर्वक वह सुकन्या बोली कि—हे पि-

उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥ २२ ॥ शशंस पित्रे तत्सर्वं वयो-
रूपाभिलम्भनम् ॥ विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥२३॥ सोमेन याज-
यन्वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ॥ असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन
तेजसा ॥ २४ ॥ हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः ॥ सवज्रं स्तम्भ-
यामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥ २५ ॥ अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य
चाश्विनोः ॥ भिषजाविति यत्पूर्वं सोमाहुत्या वहिष्कृतौ ॥ २६ ॥
उत्तानवर्हिरानर्त्तो भूरिषेण इति त्रयः ॥ शर्यातेरभवन्पुत्रा आनर्त्ताद्रेवतोऽभ-
वत् ॥ २७ ॥ सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् ॥ आस्थितोऽभुंक्त
विषयानानर्त्तादीनरिंदम ॥ २८ ॥ तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् ॥ क-
कुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः ॥ २९ ॥ कन्यावरं परिप्रष्टुं ब्र-
ह्मलोकमपावृतं ॥ आवर्त्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणं ॥ ३० ॥ तदन्त
आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच

ताजी ! यह मेरे समीपमें का पुरुष तुम्हारे जामाता च्यवनभार्गव ही हैं दूसरा कोई नहीं है
॥ २२ ॥ ऐसा कहकर उनको तरुग अवस्था और मनोहर स्वरूप जिसप्रकार प्राप्त हुआ
सो सब वृत्तान्त राजा को कहसुनाया, तब वह राजा विस्मय में होकर परम सन्तोषको प्राप्त
हुआ और उस ने कन्या को हृदय से लगाया ॥ २३ ॥ तदनन्तर च्यवनभार्गव ने उस
वीर शर्याति राजा से सोमयज्ञ करवाया; उस में उन्होंने अपने तपोबल के प्रभावसे, सोम-
पान न पानेवाले भी उन अश्विनीकुमारों को, सोमरस का भाग दिया अर्थात् उनको सोम
का भाग देने के निमित्त राजा से यज्ञ करवाया ॥ २४ ॥ उस समय तिसकार्य को सहन न
करनेवाले शीघ्रकोपी इन्द्र ने, उस यज्ञ करनेवाले शर्याति को मारने के निमित्त हाथमें वज्र
लिया, तब उन च्यवनभार्गव ने, वज्रधारण करेहुए इन्द्र की भुजा को स्तम्भन करदिया
॥ २५ ॥ तब वह इन्द्र की वाहु छूटने के निमित्त, ' जो अश्विनीकुमार वैद्य होने के का-
रण पहिले सोमकी आहुति नहीं पाते थे उन को, उस दिन से सब देवताओं ने सोम की
आहुति देना स्वीकार करलिया तब इन्द्र का बाहु छूटा ॥ २६ ॥ फिर शर्याति राजा के
उत्तानवर्हि, आनर्त्त और भूरिषेण यह तीन पुत्र हुए, उन में आनर्त्त से रेवत हुआ ॥२७॥
उसने समुद्र में कुशस्थली नामवाली नगरी (द्वारका) रची और उस में रहकर आनर्त्त
आदि देशों के ऐश्वर्य को भोगा ॥२८॥ हे शत्रुदमन राजन्! उस रेवत के, ककुद्मी जिनमेंवड़ा
है ऐसे उत्तमप्रकार के सौपुत्र हुए; वह ककुद्मी (रैवत) अपनी रेवती कन्याको साथ लेकरउस
के योग्य वर बूझने के निमित्त जानेमें कोई रोकटोक न होनेके कारण ब्रह्मलोकको गया सो तहाँ
गान होरहाथा इसकारण बूझने का अवसर न होनेसे क्षणभर को स्थित होगया॥२९॥३०॥वह
गान समाप्त होनेपर ब्रह्माजी को नमस्कार करके 'इस के योग्य वर कौनसा है' सो कहिये,

हं ॥ ३१ ॥ अहो राजन्निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः ॥ तत्पुत्रपौत्रनप्तृ-
णां गोत्राणि च न शृण्महे ॥ ३२ ॥ कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः ॥
तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥ कन्यारत्नमिदं राजन्नररत्नाय देहि
भो ॥ ३३ ॥ भुवो भारावताराय भगवान्भूतभावनः ॥ अवतीर्णो निजांशेन
पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ॥३४॥ इत्यादिष्टोऽभिवंद्याजं नृपः स्वपुरमागतः ॥ त्यक्तं पु
ण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥३५॥ सुतां दत्वाऽनवद्यांगीं बलाय बलशा-
लिने ॥ बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥ ३६ ॥ ॥ इति श्रीभा-
गवते महापुराणे नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ नाभागो
नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविं ॥ यविष्ठं व्यभजन्दायं ब्रह्मचारिणमागतं ॥१॥

ऐसा उसने प्रश्न करा. यह कथन सुनकर भगवान् ब्रह्माजी ने हँसकर उस से कहा कि ॥३१॥ हे राजन् ! यहां को आते समय तू ने मन मे जिन को इस का वर बनाना निश्चय करा था उन सब को काल ने नष्ट करडाला है. अब उन के पुत्र, नाती, परपोते वा गोत्र भी सुनने में नहीं आते हैं ॥ ३२ ॥ सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग यह चारयुग सत्ताईस बार होगये इतना समय बीतगया है. हे राजन् ! अब तू भूमिपर जा और तहां इस समय नरनारायण का अंश, महाबली बलराम अवतार हुआ है, उस पुरुषरत्न को यह कन्यारत्न दे ॥ ३३ ॥ जिन का श्रवण कीर्त्तन लोकोंको पवित्र करनेवाला है ऐसे जगन्नाथ भगवान् ने पृथ्वी का भार दूरकरने के निमित्त,अपने उस शेषरूपी अंश के साथ इस समय कृष्णरूप से अवतार धारण करा है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजी के कहनेपर वह राजा रैवत ब्रह्माजी को नमस्कार करके, पूर्व के यक्षों के भय से जिधर तिधर जाकर रहेहुए अपने भ्राताओं की छोडीहुई उस नगरी को लौटकर आया ॥३५॥ तदनन्तर सकल अङ्गों से सुन्दर अपनी कन्या बल से शोभायमान उन बलरामजी को देकर वह राजा तपस्या करने के निमित्त नरनारायण के बदरिकाश्रम को चलागया ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में तृतीय अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि- वैवस्वत मनु का पुत्र जो नभग उस का पुत्र नाभाग नामवाला हुआ. वह बहुत कालपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुकुल में वास करता रहा, तब यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है ऐसा मानकर विभाग के समय उस का कुछ भाग न रखकर उस के और भ्राताओं ने सब धन आपस में बांटलिया तदनन्तर गुरु के समीप से विद्या सीख विद्वान् होकर आयेहुए और अपना भाग मांगनेवाले उस छोटे भ्राता को (नाभाग को) बडे भ्राताओं ने, 'तेरा भाग पिता हैं' ऐसा कहकर पिता को उस के अधीन करदिया ॥ १ ॥ तब

भ्रातरोऽभङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव ॥ त्वां ममार्यास्तताभांक्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥ इमे आंगिरसः सत्रमासतेद्य सुमेधसः ॥ षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥ तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ॥ ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥ दास्यन्त्यथ ततो गच्छ तथा स कृतवान्यथा ॥ तस्मै दत्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम् ॥ ५॥ तं कश्चित्स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः॥उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६ ॥ ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ॥ स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्पितरं तथा ॥ ७ ॥ यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क-

नाभाग ने भ्राताओं से बूझा कि—हे भ्राताओं ! तुमने मेरे निमित्त कौन सा भाग रक्खा है ? तब भ्राताओं ने कहा—उस समय हम भूलगये परन्तु तुझे तेरे भाग के बदले में पिता को देते हैं अर्थात् तू पिता को ही अपना भाग समझकर ग्रहण कर; तब वह पिता के समीप जाकर कहने लगा कि—हे पिताजी ! बडे भ्राताओं ने मुझे भागके बदले में आप को दिया है; तब पिता (नभग) ने कहा कि—हे पुत्र ! ऐसा उन्होंने तुझे धोखा देने के निमित्त कहा है, इसपर तू विश्वास मतकर, क्योंकि—द्रव्य की समान भोग का साधन मैं नहीं हूँ ॥ २ ॥ तथापि उन्होंने भागरूप से यदि मुझे दिया है तो मैं तुझ से जीविका का उपाय कहता हूँ यह यहाँ से समीप ही आङ्गिरस ऋषि, आज द्वादशाह नामक यज्ञ का प्रारम्भकरके बैठेहैं, उनमे छठा२ दिन आनेपर उसदिनका कर्मप्रारम्भहोनेपर उसके अनुष्ठान में, वह विद्वान् होकर भी उन सूक्तोंको न जानने के कारण मोह को प्राप्त होते हैं. तू उनको जाननेवाला है ॥ ३ ॥ इसकारण उन महात्मा ब्राह्मणों को तू 'इदमित्था,' 'ये यज्ञेन,' इत्यादि दो सूक्तों का पाठकरा तब वह, कर्म समाप्त होने पर स्वर्ग को जातेहुए अपने सत्र में शेषरहा धन तुझे देदेंगे, इसकारण तू उन के समीप जा. तदनन्तर उस नाभाग ने, पिता के कहने के अनुसार कार्य करा फिर सत्र समाप्त होनेपर वह आङ्गिरस ऋषि, सत्र में शेषरहा हुआ धन उस नाभाग को देकर स्वर्ग को चलेगए ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदनन्तर उस द्रव्य को नाभाग लेनेलगा उसी समय एकाएकी काला २ दीखनेवाला कोई एक पुरुष (श्रीरुद्र) उत्तर दिशा से आकर 'यह यज्ञ भूमि में रहा हुआ धन मेरा है' ऐसा कहने लगा ॥६॥ उससमय नाभाग ने कहा कि—यह द्रव्य ऋषियोंने मुझे दिया है इसकारण मेरा है. तब रुद्र ने कहाकि—मेरा और तेरा, इसप्रकार द्रव्य के विवाद में तेरे पिता से ही प्रश्न होना चाहिये, इसकारण तू अपने पिता से बूझकर ही 'यह द्रव्य मेरा है या तेरा है' इस का निश्चय करले, ऐसा कहने पर नाभागने पिता के समीप जाकर तैसाही (यह द्रव्य मेरा है वा रुद्रका है. ऐसा) बूझा ॥ ७ ॥ तब पिता ने कहाकि—यज्ञ भूमि में शेषरहा हुआ

चित् ॥ चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥ ८ ॥ नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकं ॥ इत्याह मे पिता ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये ॥ ९ ॥ यत्ते पिताऽवदद्धर्मं त्वं तु सत्यं प्रभाषसे ॥ ददामि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥ १० ॥ गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम् ॥ इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान्सत्यवत्सलः ॥ ११ ॥ य एतत्संस्मरेत्प्रातः सायं च सुसमाहितः ॥ कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथात्मनः ॥ १२ ॥ नाभागादंबरीषोभून्महाभागवतः कृती ॥ नास्पृशद्ब्रह्मशापोपि यं न प्रतिहतः क्वचित् ॥ १३ ॥ राजोवाच ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः ॥ न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥ १४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अंबरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥ १५ ॥

सब, रुद्र का भागहै ऐसा दक्ष के यज्ञ में ऋषियों ने निर्णय करदिया है, इसकारण वह रुद्र देव सबही ग्रहण करने को योग्य हैं अर्थात् वह सब उनका ही है ॥ ८ ॥ इसप्रकार पिता के कहने पर नाभाग ने उन रुद्र को वन्दना करके कहाकि—हे ईश्वर ! यह यज्ञभूमि में का सकल द्रव्य तुम्हारा ही है, ऐसा मेरेपिता ने कहा, इसकारण हे ब्रह्मन् ! मैं मस्तक से वन्दना करके तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ कि—मैं जो तुम्हारा द्रव्य लेने को प्रवृत्त हुआ तिस की क्षमा करो ॥ ९ ॥ तब रुद्रने कहाकि—तेरे पिता ने जो तेरा पक्षपात न करके सत्यधर्म कहा है और तू भी द्रव्य के लोभ को छोड़कर सत्यवार्त्ता कहरहा है इसकारण वेदका अर्थ जानने वालेभी तुझ को मैं सनातन ब्रह्म का ज्ञान देता हूँ अर्थात् मेरे अनुग्रह से तुझ को ब्रह्म का साक्षात्कार हो ॥ १० ॥ तथा यह जो सत्र में का शेषरहा हुआ द्रव्य है सो भी मैंने तुझे दिया, इसको तू जीविका के निमित्त स्वीकार कर. ऐसा कहकर वह सत्यवत्सल रुद्रभगवान् तहाँ ही अन्तर्धान होगये ॥ ११ ॥ जोपुरुष, एकाग्रचित्त होकर इस आख्यान को सायङ्काल और प्रातःकाल के समय स्मरण करता है वह मन्त्र का जाननेवाला ज्ञानी होकर परमात्मा की गति (मुक्ति) को प्राप्त होता है फिर संसार में नहीं आता है ॥ १२ ॥ अब अम्बरीष का चरित्र कहते हैं कि—नाभाग से उपकारक स्वभाववाला और परम भगवद्भक्त राजा अम्बरीष हुआ; जिस अम्बरीष को दुर्वासा ऋषिने, ' इस को यह भस्म करदेय, ऐसा कहकर ' अग्नि रचा परन्तु वह अग्नि स्पर्श भी नहीं करसका ॥ १३ ॥ ऐसा सुनकर राजा ने कहाकि—हे सर्वज्ञ ! जिस अम्बरीष के ऊपर प्रयोग कराहुआ दुर्निवार अग्निरूप ब्रह्मदण्ड भी अपना पराक्रम चलाने को समर्थ नहीं हुआ. उस बुद्धिमान् अम्बरीष राजर्षि का चरित्र सुनने को मैं इच्छा करता हूँ ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! महाभाग्यवान् तिस अम्बरीष राजा को सप्तद्वीपयुक्त पृथ्वी, निर्विघ्न सम्पत्तियें

मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतं ॥ विद्वान्विभवनिर्वाणं तमो विशति
यत्पुमान् ॥ १६ ॥ वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ॥ प्राप्तो भावं परं
विश्वं येनेदं लोष्ट्रवत्स्मृतम् ॥ १७ ॥ स वै मनः कृष्णपदारविंदयोर्व-
चांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ॥ करौ हरेर्मंदिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतस-
त्कथोदये ॥ १८ ॥ मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेंगसंगं ॥ घ्राणं
च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १९ ॥ पादौ हरेः क्षे-
त्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ॥ कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥ २० ॥ एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽ-
धियज्ञे भगवत्यधोऽक्षजे ॥ सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः

और इस भूतलपर के पुरुषों को अतिदुर्लभ तथा अनूपम भोग की सामग्रीरूप ऐश्वर्य प्राप्त हुआ परन्तु उस सब को राजा अम्बरीष ने स्वप्न में देखेहुए पदार्थों की समान मिथ्याभूत माना. क्योंकि—वह राजा, जिन से पुरुष मोह में डूबजाता है उन ऐश्वर्यों को नाशवान् जानता था ॥ १९ ॥ १६ ॥ और वह वासुदेव भगवान् में तथा उन के भक्त जो साधु पुरुष तिन में ऐसी उत्तम भक्ति को प्राप्त हुआ था कि—जिससे यह विश्व मट्टी के ढेले की समान अतितुच्छ है ऐसा दीखने लगता है ॥१७॥ उस राजा ने अपना, मन श्रीकृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में एकाग्र कराथा; उसने अपना भाषण, भगवान् के गुणोंके वर्णन में लगाया था; उसने अपने हाथ, श्रीहरिके मन्दिर को स्वच्छ करने आदि के उद्योग में लगाये थे; उसने अपने कान, संसार को दूर करनेवाली भगवान् की कथाओं को सुनने में लगाये थे॥ १८॥ उसने अपनी दृष्टि,मुक्तिदाता भगवान् की मूर्त्तियोंके और स्थानोंके देखनेमें लगायी थी; उसने अपनी त्वचा इन्द्रिय (शरीर की खाल),भगवान् के भक्तोंके अंगका स्पर्श करनेमें लगाई थी;उसने अपनी नासिका इन्द्रिय,सुन्दर तुलसीके और भगवान्‌के चरणकमल में के सुगन्ध में लगायी थी; उस ने अपनी रसना इन्द्रिय (जीभ), भगवान् को निवेदन करे हुए अन्न आदि का रस ग्रहण करने में लगायी थी ॥ १९ ॥ उस ने अपने चरण, श्रीहरि के जो मथुरा आदि क्षेत्र तथा अन्य भी स्थानों में वारंवार यात्रा करने में लगाये थे; उस ने अपना मस्तक, हृषीकेश भगवान् के चरणों की वन्दना करने में लगाया था; उस ने अपना माला चन्दन आदि विषयों का सेवन करना भी, दासभाव के निमित्त से भगवान् का प्रसाद लेने के विषय में ' जैसे भगवद्भक्तों का आश्रय करनेवाली प्रीति होय तैसे ' चलाया था; विषय भोग की इच्छा से नहीं ॥ २० ॥ इस प्रकार वह राजा अम्बरीष, प्रतिदिन अपने सकल कर्म, यज्ञपति परमेश्वर अधोक्षज भगवान् को अर्पण करके, सर्वत्र आत्मा ही है ऐसी भावना करता हुआ, भगवत्परायण वसिष्ठ आदि

शशास ह ॥ २१ ॥ ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं महाविभूत्योपचितांगदक्षिणैः॥ ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभिर्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीं ॥ २२ ॥ यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः॥ तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यंत सुवाससः ॥ २३ ॥ स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ॥ शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥ २४ ॥ संमर्द्धयन्ति तान्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः॥ दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥ २५ ॥ स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ॥ स्वधर्मेण हरिं प्रीणन्संगान्सर्वान् शनैर्जहौ ॥२६॥ गृहेषु दारेषु सुतेषु बंधुषु द्विपोत्तमस्यंदनवाजिपत्तिषु ॥ अक्षय्यरत्नाभरणायुधादिष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिं ॥ २७ ॥ तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहं ॥

ब्राह्मणों के कहने के अनुसार इस पृथ्वी की रक्षा करने लगा ॥ २१ ॥ तथा उस राजा ने अपने बडे ऐश्वर्य से बढ़ाये हुए 'प्रयाज आदि' अङ्ग और दक्षिणाओं से युक्त, वसिष्ठ, असित और गौतम आदि ऋषियों से करवाये हुए तथा धन्व (मारवाड़) देश में सरस्वती नदी के प्रवाह के अभिमुख, एक के अनन्तर एक इस प्रकार क्रम से विस्तार के साथ करेहुए अनेकों अश्वमेधों के द्वारा, यज्ञ आदि का फल देनेवाले भगवान् की आराधना करी ॥ २२ ॥ जिसके अश्वमेध यज्ञ में, वस्त्र आभूषण आदि अलङ्कार धारण करनेवाले सभासद्, ऋत्विज और अन्यजन, हविका भाग ग्रहण करने के निमित्त आएँ हुए देवताओं की समान ही सुन्दर और निमेष (पलक लगाना) रहित थे और सदस्य आदि लोक आश्चर्य देखने की उत्कण्ठा से निमेषरहित होगये थे ॥ २३ ॥ जिसका आश्रय करके रहनेवाले मनुष्यों ने, देवताओं के प्रिय स्वर्गलोक की भी किञ्चिन्मात्र भी प्रार्थना नहीं करी. क्योंकि—उन को पुण्यकीर्त्ति भगवान् के चरित्रों के सुनने और कीर्त्तन करने का अवसर मिलता था, जोकि—देवलोक में दुर्लभ है ॥ २४ ॥ स्वर्ग की प्रार्थना करने की तो शङ्का अलगरही, परन्तु, अपने हृदय में मुक्तिदाता भगवान् को प्रत्यक्ष देखनेवाले जो पुरुष हैं उनको, सिद्धों को भी जिनका मिलना कठिन है ऐसे पदार्थ प्राप्त हों तवभी स्वरूपसाक्षात्कार से तिरस्कार करेहुए होने के कारण हर्षित नहीं करते हैं ॥ २५ ॥ इसप्रकार-वह राजा अम्बरीष, भक्ति और तपस्या से युक्त निजधर्म के आचररण से श्रीहरि को सन्तुष्ट करके धीरे २ इसलोक के और परलोक के विषयभोगों की सकल अभिलाषाओं को त्यागदिया ॥ २६ ॥ घर, स्त्री, पुत्र, बन्धु, उत्तम हाथी, रथ, घोड़े, सिपाही, अक्षय रत्न जटित आभूषण, आयुध और अक्षय भण्डारगृह आदि सकल वस्तुओं में, उसने यह नाशवान् होने के कारण पुरुषार्थरूप नहीं है ऐसा अपनी बुद्धि का निश्चय करलिया था ॥ २७ ॥ उस राजाके अनन्य भक्ति भाव से सन्तुष्टहुए भगवान् ने, सकल शत्रुओंको भयभीत करने

एकांतभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम् ॥ २८ ॥ आरिराधयिषुः कृष्णं म-
हिष्या तुल्यशीलया ॥ युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥ २९ ॥
व्रतांते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ॥ स्नातः कदाचित्कालिंद्यां हरिं
मधुवनेऽर्चयत् ॥ ३० ॥ महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसंपदा ॥ अभिषिच्यां-
बराकल्पैर्गंधमाल्यार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥ तद्गतांतरभावेन पूजयामास केशवं ॥
ब्राह्मणांश्च महाभागान्सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥ ३२ ॥ गवां रुक्मविषाणीनां
रूप्यांघ्रीणां सुवाससां ॥ पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसंपदाम् ॥ ३३ ॥ प्रा-
हिणोत्साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट् ॥ भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं
गुणवत्तमम् ॥ ३४ ॥ लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ॥ तस्य तर्ह्यतिथिः
साक्षाद्दुर्वासा भगवानभूत् ॥ ३५ ॥ तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासना-
र्हणैः ॥ ययाचे भ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥ ३६ ॥ प्रतिनंद्य स तद्याच्ञां

वाला और अपनेभक्तोंकी सब ओर से रक्षा करनेवाला सुदर्शन चक्रउसको देदिया था॥२८॥ एकसमय श्रीकृष्णजी का आराधन करने की इच्छा करनेवाले उस अम्बरीष वीर ने, भगवान् की आराधनामें अपनी समान ही प्रेम करनेवाली स्त्री के साथ, सम्वत्सर पर्यंत साधनद्वादशी का व्रत धारण करने का नियम करा ॥ २९ ॥ उस ने व्रत के अन्त में कार्तिक के महीने में शुक्ल दशमी के दिन रात में, एकादशी के दिन में उपोषण (निराहार) और द्वादशी के दिन एकवार भोजन करने का नियम स्वीकार करके, द्वादशी के दिन यमुना में स्नान करके मधुवन में श्रीहरि का पूजन करा ॥ ३० ॥ चन्दन पुष्पादि सकल सामग्रियों की सम्पत्तियुक्त महाभिषेक की विधि से अभिषेक करके वस्त्र, भूषण, चन्दन, पुष्प, अर्घ्य, धूप, दीप आदि सामग्रियों करके एकाग्रचित्त से भगवान् का पूजन करा; तथा सकल विषयों में इच्छारहित ऐसे भगवद्भक्त ब्राह्मणों का भी पूजन करा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ और उन दानयोग्य ब्राह्मणों को, जिनके सींग सुवर्ण से मँढेहुए हैं, जिनके खुर चाँदी से मँढेहुए हैं, जिनके ऊपर वस्त्र की झूलें पड़ीहुई हैं ऐसी बहुत सा दूध देनेवाली, सुन्दर स्वभाववाली, प्रथमवार व्याही हुई, तरुण, सींग पूँछ कान और नेत्र आदि अङ्गों से श्रेष्ठ, बच्चे सहित, दुहने का पात्र, सुवर्ण के पुष्पों की माला आदि सामग्रियों से युक्त साठ करोड़ गौएँ उन ब्राह्मणों के घर भेजदीं और उन को पहिले उत्तम रुचिकारी छः रसों के अन्न का उत्तम भोजन कराकर, फिर इच्छा के अनुसार दक्षिणा दी, तब उन्होंने आशीर्वाद देकर राजा को भोजन करने की आज्ञा दी-तब वह राजा, पारणा करने को उद्यतहुआ उसीसमय उन के पास भगवान् दुर्वासा ऋषि, साक्षात् अतिथिरूप से आपहुँचे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ तब राजा ने उन आयेहुए अतिथि का उत्थान देकर उन की आसन पाद्य आदि से पूजा करी और चरणोंपर मस्तक रखकर, आप यहाँ भोजन करें, ऐसी प्रार्थना करी ॥ ३६ ॥

कर्तुमावश्यकं गतः ॥ निममज्ज बृहद्ध्यायन्कालिंदीसलिले शुभे ॥ ३७ ॥
मुहूर्तार्द्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति ॥ चिंतयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥ ३८ ॥ ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे ॥ यत्कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥ ३९ ॥ अंभसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् ॥ प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥ ४० ॥ इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिंतयन्मनसाऽच्युतं ॥ प्रत्याचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥ ४१ ॥
दुर्वासा यमुनाकूलात्कृतावश्यक आगतः ॥ राज्ञाऽभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥ ४२ ॥ मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ॥ बुभुक्षितश्च सुतरां कृतांजलिमभाषत ॥ ४३ ॥ अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत ॥ धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥ ४४ ॥ यो मामतिथिमायातमातिथ्येन

तब उन ऋषि ने, उस राजा की प्रार्थना को स्वीकार करा और मध्यान्ह का कृत्य करने को चलेगए. उन्होंने यमुना के शुद्ध जल में ब्रह्मस्वरूप का ध्यान करतेहुए स्वस्थता से स्नान करा ॥ ३७ ॥ उससमय द्वादशी एक घड़ी ही शेषरही थी इसकारण धर्मसङ्कट प्राप्त होनेपर, उस धर्म को जाननेवाले राजा अम्बरीष ने, ब्राह्मणों से पारणा के विषय में प्रश्न करा ॥ ३८ ॥ राजा ने कहा कि–हे ब्राह्मणो ! अतिथिरूप से आयेहुए और निमन्त्रण करेहुए ब्राह्मण को भोजन करायेविना आप भोजन करलेने से बड़ाभारी दोष (अधर्म) है तैसे ही द्वादशी में पारणा नहीं होय तो व्रतभङ्गरूप दोष लगेगा, तिस से जिस के करने पर मेरा कल्याण होय और मुझे अधर्म भी स्पर्श न करे सो मुझ से कहो ॥ ३९ ॥ जल पान करनेपर वह भोजन करने के समान और भोजन न करने के समान भी है, ऐसा जो वेदों में कहाहै तिस से हे ब्राह्मणो ! केवल जल से मैं व्रत की पारणा (समाप्ति) करताहूँ ४० इसप्रकार निश्चय करके उस राजर्षि अम्बरीष ने, जलपान करा; और हे कुरुश्रेष्ठ ! वह राजा मन में भगवान् का ध्यान करताहुआ दुर्वासा ऋषिके आने की बाट देखता रहा ॥ ४१ ॥ तदनन्तर मध्यान्ह का कर्म करके दुर्वासा ऋषि यमुना के तट से आये तब राजाने उनको प्रणाम करा; तब भी उन्होंने योगशक्तियुक्त अपनी बुद्धि से 'मेरे विना आये ही राजाने व्रत की पारणा करली है' यह जान लिया ॥ ४२ ॥ उससमय वह बड़े भूँखे होरहे थे इसकारण क्रोध के आवेश से जिनका शरीर थर थर काँपरहा है ऐसे भ्रुकुटि चढ़ी हुई होने के कारण त्यौरी चढ़ेहुए वह दुर्वासा ऋषि, हाथ जोड़कर खड़ेहुए राजा से कहनेलगे कि–॥ ४३ ॥ अरेपुरुषो ! मैंही स्वतन्त्र हूँ, ऐसा माननेवाला; सम्पदा से उन्मत्तहुआ; विष्णु की भक्ति से रहित, और स्वभाव से ही निर्दयी ऐसे इस अम्बरीष राजा का कितना अन्याय है, देखो तो सही ? ॥ ४४ ॥ अरे ! जो तूने अतिथिरूप से आयेहुए मुझको स-

निमंत्र्य च ॥ अदत्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥ ४५ ॥ एवं
ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः ॥ तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां काला-
नलोपमां ॥ ४६ ॥ तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ॥ वेपयन्तीं
समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥ ४७ ॥ प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण म-
हात्मना ॥ ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥ ४८ ॥ तदभिद्रव-
दुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ॥ दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया
॥ ४९ ॥ तमन्वधावद्भगवद्रथांगं दावाग्निरुद्भूतशिखो यथाऽहिं ॥ तथानुषक्तं
स निरीक्ष्यमाणो गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥ ५० ॥ दिशो नभः क्ष्मां
विवरान्समुद्रान्लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ॥ यतो यतो धावति तत्र तत्र सुद-
र्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥ ५१ ॥ अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्संत्रस्तचित्तोऽरणमे-

---

त्कार के साथ भोजन के निमित्त निमन्त्रण करके, मुझे भोजन विना कराये ही भोजनकरा है इस तेरे अन्याय का फल तुझे मैं अवही दिखाता हूँ ॥ ४५ ॥ ऐसा कहकर क्रोध में भरेहुए उन दुर्वासा ऋषिने, अपनी जटा उखाड़कर पृथ्वीपर पटकी; और उस से तिस अम्बरीष का मारण करने के निमित्त प्रलयकाल की अग्निकी समान एक कृत्या उत्पन्न करी ॥ ४६ ॥ उस, हाथ में तरवार लेकर शरीरपर को चली आनेवाली और आते में च-रण से भूमि को कम्पायमान करनेवाली तथा जाज्वल्यमान अतिभयङ्कर कृत्या को देखकर भी वह राजा, अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नहीं हुआ ॥ ४७ ॥ उससमय, पहिले ही अम्बरीष की रक्षा के निमित्त, महात्मा परमपुरुष के नियत करेहुए सुदर्शन चक्र ने, उस कृत्या को, जैसे अग्नि,क्रोध में भरेहुए सर्प को जलाडालता है तैसे जलाडाला ॥ ४८॥ तदनन्तर दुर्वासा ऋषि,कृत्या उत्पन्न करने के अपने उद्योग को निष्फल हुआ देखकर और उस सुदर्शन चक्र को अपने सन्मुख दौड़कर आता हुआ देखकर भयभीत हुए और अपने प्राणोंकी रक्षा करने की इच्छा से दशों दिशाओं में को भागनेलगे ॥४९॥ उस समय जैसे सर्प के पीछे,जिसकी ऊपर को लपटें उठरही हैं ऐसा वनका प्रचण्ड अग्निदौड़ता है तैसे उन दौड़नेवाले दुर्वासा ऋषि के पीछे भगवान् का सुदर्शन चक्र दौड़नेलगा.तव अपने पीछे लगे हुए उस चक्र को देखकर भयभीत हुए वह दुर्वासा ऋषि,मेरु पर्वतकी गुफा में घुसजाऊँ इस इच्छा से दौड़नेलगे ॥५०॥ इसप्रकार भागनेवाले वह ऋषि,दिशा,आकाश,पृथ्वी, सातपा-ताल, सात समुद्र.लोकपालों सहित सव लोक और स्वर्ग इतने स्थानों में यथाशक्ति दौड़ते हुए गये; परन्तु जहाँ जहाँ वह भागकर गये तहाँ तहाँ वह असह्यतेजवाला सुदर्शन चक्र उन्होंने देखा ॥ ५१ ॥ तदनन्तर उन को जव कहीं भी रक्षा करनेवाला नहीं मिला तववह मन में अत्यन्त भय मानकर रक्षा करनेवाले को खोजते हुए ब्रह्माजी की शरण जाकर कहने

षमाणः ॥ देवं विरिंचं समगाद्विधातस्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो मां ॥ ५२ ॥
ब्रह्मोवाच ॥ स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्क्रीडावसाने द्विपरार्द्धसंज्ञे ॥ भ्रूभंग-
मात्रेण हि संदिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरो भविष्यति ॥ ५३ ॥
अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ॥ सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यार्पितं लोकहितं वहामः ॥५४॥ प्रत्याख्यातो विरिंचेन विष्णुचक्रोप-
तापितः ॥ दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनं ॥ ५५ ॥ श्रीरुद्र उवाच ॥
वयं न तात प्रभवाम भूम्नि यस्मिन्परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ॥ भवन्ति काले
न भवन्ति हीदृशाः सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥ ५६ ॥ अहं सनत्कुमारश्च
नारदो भगवानजः ॥ कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥५७॥ मरी-
चिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः ॥ विदाम न वयं सर्वे यन्मायां मा-
ययावृताः ॥ ५८ ॥ तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः ॥ तमेवं शरं-

लगे कि–हे विधातः! हे आत्मयोने! विष्णुभगवान् के चक्ररूपतेजसे तुम मुझे बचाओ॥५२॥ यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा कि–हे मुने! ब्रह्माण्ड सहित इस मेरे स्थान को (सत्यलोक को) भस्म करने की इच्छा करनेवाले जिन कालरूप विष्णु के भृकुटि चलानेमात्र से ही दो परार्ध नामवाले काल में होनेवाले जगत् के जन्म आदि व्यापाररूप क्रीड़ा के अन्त में यह मेरा स्थान नाश को प्राप्त होजाता है ॥ ५३ ॥ मैं (ब्रह्मा), शिव, दक्ष और भृगु आदि तथा मरीचि आदि प्रजापति, ग्यारह रुद्र और इन्द्र आदि देवता, यह जिन में मुख्य हैं ऐसे सब ही हम, जिन भगवान् की आज्ञा को पाकर, जिसप्रकार लोकों का हित होय तिस प्रकार उस आज्ञा को अपने मस्तकपर धारण करते हैं इसकारण उन के भक्त का द्रोह करनेवाले तेरी रक्षा करने को मैं समर्थ नहीं हूँ ॥ ५४ ॥ इसप्रकार ब्रह्माजी के निषेध करदेनेपर, विष्णुभगवान् के चक्र से सन्तापित हुए वह दुर्वासा ऋषि, कैलासवासी शङ्कर की शरण जाकर, विष्णुभगवान् के चक्र से तुम मेरी रक्षा करो ऐसी प्रार्थना करनेलगे ५५ तब श्रीशङ्कर ने कहा कि–हे तात दुर्वासा ऋषे! जिस ब्रह्माण्ड में लोकों के स्वामीपने का अभिमान करनेवाले हम घूमते हैं तथा इस की समान और भी सहस्रों ब्रह्माण्डशरीर, जिन व्यापक परमेश्वर के विषैं सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं और संहारकाल में नष्ट होजाते हैं उन के चक्र से तेरी रक्षा करने को हम किसी प्रकार समर्थ नहीं हैं ॥ ५६ ॥ मैं (रुद्र),सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्माजी, कपिल, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि, मरीचि आदि ऋषि तथा और भी विद्या, तप और योग में तत्पर हम सब, सर्वज्ञ होकर भी माया से घिरेहुए होने के कारण जिन भगवान् की माया को नहीं जानते हैं ॥ ५७ ॥ ॥ ५८ ॥ उन विश्वेश्वर भगवान् का यह सुदर्शन नामक चक्र, हम सबोंको भी सहना

णं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥ ५९ ॥ ततो निराशो दुर्वासाः पदं भ-
गवतो ययौ ॥ वैकुंठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥ ६० ॥ संदह्यमानो-
ऽजितशस्त्रवह्निना तत्पादमूले पतितः सवेपथुः ॥ आहाच्युतानंत सदीप्सित प्रभो
कृतागसं माऽव हि विश्वभावन ॥ ६१ ॥ अजानता ते परमानुभावं कृतं मयाऽघं
भवतः प्रियाणां ॥ विधेहि तस्यापचितिं विधातर्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते ना-
रकोऽपि ॥ ६२ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज ॥
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ ६३ ॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः
साधुभिर्विना ॥ श्रियं चात्यंतिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ६४ ॥
ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम् ॥ हित्वा मां शरणं याताः कथं
तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ॥ वशे

परम कठिन है, इसकारण तू उन भगवान् की ही शरणजा; तब वह हरि तेरा कल्याण क-
रेंगे ॥ ५९ ॥ तदनन्तर वह दुर्वासा ऋषि, अपनी रक्षा होने में निराश होकर, जहाँ से
जहाँ लक्ष्मी सहित श्रीनिवास विष्णु रहते हैं उस वैकुण्ठ नामक भगवान् के स्थान को गये
॥ ६० ॥ तहाँभी वह विष्णुभगवान् के चक्रकी ज्वाला से भुनेजाने के कारण कम्पायमानहोकर
उन भगवान् के चरणतल में जापड़े और कहने लगे कि—हे विश्वरक्षक ! हे प्रभो ! हे अनन्त !
हे अच्युत ! हे भक्तप्रिय ! तुम अब, तुम्हारे भक्त का अपराध करनेवाले भी मेरी रक्षा
करो ॥ ६१ ॥ हे विष्णो ! तुम्हारे परम प्रभाव को न जाननेवाले मैंने, तुम्हारे भक्तों का
(अम्बरीष का और उस के अनुयायी पुरुषों का) अपराध करा है, उस से छुटाओ; अर्थात्
अपराध को सहकर मेरी रक्षा करो और यही योग्य है क्योंकि—जिन आप के नाम का उ-
च्चारण करनेपर, नरक में का भी प्राणी नरक से छूटजाता है ऐसे आप को क्या अशक्य
है ? कुछ अशक्य नहीं है ॥ ६२ ॥ भगवान् ने कहाकि—हे ब्राह्मण ! मैं भक्तों के वश में
हूँ, इसकारण तेरी रक्षा करने के विषय में स्वतन्त्र की समान नहीं हूँ; क्योंकि—निरपेक्ष
भक्तों के प्रेम ने मेरे हृदय को अत्यन्त वश में करलिया है इसकारण वह भक्तजन मुझे
सब से अधिक प्यारे हैं ॥ ६३ ॥ हे ब्रह्मन् ! जिन का मैं परम आश्रय हूँ उन परमविवेकी
भक्तों के विना मैं, अपने आत्मा और मेरा आश्रय करके स्थिर रहनेवाली लक्ष्मी की भी
इच्छा नहीं करता हूँ फिर औरों की तो बात ही क्या ? ॥ ६४ ॥ जिन भक्तों ने, स्त्री, घर,
पुत्र, अपने प्राण, द्रव्य, यह लोक और परलोक इन सबों को त्यागकर मेरा ही आश्रय
करा है उन को त्यागने को मैं कैसे समर्थ होसक्ता हूँ ? अर्थात् कभी समर्थ नहीं होसक्ता
॥ ६५ ॥ मेरे विषैं अपना चित्त लगानेवाले और सब में समदृष्टि रखनेवाले जो साधु पु-

कुर्वंति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ ६६ ॥ मत्सेवया प्रतीतं च
सालोक्यादिचतुष्टयम् ॥ नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतं ॥६७॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ॥ मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो
मनागपि ॥ ६८ ॥ उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ॥ अयं ह्या-
त्माभिचारस्ते यतस्तं याहि वै भवान् ॥ साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः
कुरुतेऽशिवम् ॥ ६९ ॥ तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे ॥ ते एव
दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥ ७० ॥ ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं
नृपम् ॥ क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥ ७१ ॥ इ० भा० म०
न० अंबरीषचरिते चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ * ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं भगवता-
दिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः ॥ अंबरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥ १ ॥
तस्य सोद्यममं वीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः ॥ अस्तावीत्तद्धरेरस्त्रं कृपया पी-

रुष हैं वह, जैसे पतिव्रता स्त्रियें श्रेष्ठ पति को वश में करलेती हैं तैसे ही, भक्ति से मुझे वश में करलेते हैं ॥ ६६ ॥ जो मेरे अनन्य भक्त हैं वह, मेरी सेवा से ही अपने मनोरथों को पूर्ण करतेहुए, उस मेरी सेवा से प्राप्तहुई, सलोकता समीपता आदि चार प्रकार की मुक्तियों की भी इच्छा नहीं करते हैं, फिर काल से नाश को प्राप्त होनेवाले इन्द्रपद आदिकों की तो वह इच्छा करेंगे ही क्या ? ॥ ६७ ॥ अधिक तो क्या परन्तु साधुपुरुष मेरा हृदय (परमप्रिय) हैं और मैं साधुओं का हृदय (उनका परमप्रिय) हूँ, क्योंकि—वह मुझ से भिन्न किसी वस्तु को भी प्रिय नहीं जानते हैं, तैसे ही मैं भी उन से दूसरी अन्य वस्तुको कुछभी प्रिय नहीं मानता हूँ ॥ ६८ ॥ हे ब्राह्मण ! तुझ से एक उपाय कहता हूँ, उस को तू सुन—'यह तूने कृत्या उत्पन्न करी इसकारण तुझे ही उलटी पीड़ा देनेवाला, अभिचार जिस अम्बरीष से उत्पन्न हुआ है उस की ही तू शरण जा, क्योंकि—साधुओंके ऊपर चलायाहुआ तेज उलटा अनर्थ करता है ॥ ६९ ॥ हे ब्राह्मण ! तू यह आश्चर्य न मान कि—तप और विद्यावान् मुझ को यह अनर्थ कैसे प्राप्तहुआ, क्योंकि यह बात ठीक है कि—तप और विद्या दोनों ब्राह्मणों का परमकल्याण करनेवाले हैं परन्तु निरपराधी पुरुष का अपराध करनेवाले ब्राह्मणको वही दोनों अनर्थकारी होते हैं ॥ ७० ॥ इसकारण हे दुर्वासा मुने ! तेरा कल्याणहो, तू महाभाग्यवान्, नाभाग के पुत्र राजा अम्बरीष के समीप जा, और उस से अपराध क्षमा करने की तथा अपनी रक्षा होने की प्रार्थना कर तब उस से तेरा दुःख दूर होगा ॥ ७१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—इसप्रकार भगवान्के आज्ञा करनेपर, चक्र से सन्ताप को प्राप्त होने के कारण दुःखितहुए दुर्वासा ऋषि ने, राजा अम्बरीष के समीप जाकर उस के चरण पकड़लिये ॥ १ ॥ तब वह राजा अम्बरीष, उन दुर्वासा ऋषि का

र्दितो भृशम् ॥ २ ॥ अंबरीष उवाच ॥ त्वमग्निर्भगवान्सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः ॥ त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ॥ ३ ॥ सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय ॥ सर्वास्त्रघातिन्विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ॥ ४ ॥ त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् ॥ त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥ ५ ॥ नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ॥ त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे ॥ ६ ॥ त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं तमः प्रकाशश्च धृतो महात्मनां ॥ दुरत्ययस्ते महिमा गिरांपते त्वद्रूपमेतत्सदसत्परावरं ॥ ७ ॥ यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै बलं प्रविष्टोऽजितदैत्यदानवम् ॥ बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि वृश्चन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥ स त्वं जगत्त्राणखलप्रहाणये निरूपितः सर्व-

चरण पकड़नेका उद्योग देखकर, उस, ब्राह्मण के करेहुए चरणस्पर्श से लज्जित होकर और उन के सङ्कटको देखकर कृपा से अत्यन्त पीड़ित होताहुआ, उन के पीछेलगेहुए तिस श्रीहरि के सुदर्शनचक्र की स्तुति करनेलगा ॥ २ ॥ अम्बरीषने कहा कि-हे सुदर्शनचक्र ! तू अग्नि है, तूही सूर्य भगवान् है और नक्षत्रपति चन्द्रमाभी तू ही है, तथा जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, शब्दादि पाँच विषय और उन को ग्रहण करनेवाली श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियेंभी तूही है अर्थात् तेरी शक्तिसेही अग्नि आदि अपना२ कार्य करते हैं॥३॥ हे सुदर्शन ! तू सहस्र अरों से युक्त, पृथ्वीका रक्षक, विष्णु का प्रिय और सकलशस्त्रों का नाशकरनेवाला है, तुझे मैं नमस्कार करता हूँ; इस ब्राह्मण का कल्याण करनेवालाहो॥ ४॥ क्योंकि-तू धर्म, ऋत, सत्य, यज्ञरूप, सकल यज्ञों का भोक्ता, लोकों का पालन करनेवाला और सर्वात्मरूप होकर तू ही भगवान् की परमसामर्थ्यरूप है ॥ ५ ॥ हे उत्तम नाभियुक्त चक्र ! तू सकल धर्मों का मर्यादारूप और अधर्मी दैत्यों को अग्नि की समान भस्म करनेवाला है, तथा त्रिलोकी की रक्षा करनेवाला एवं अति उज्ज्वल तेज से युक्त है; तेरा वेग मन की समान है; तू अद्भुत कर्म करनेवाला है इसकारण तेरी स्तुति करने को कोई भी समर्थ नहीं है अतः मैं केवल वाणी से ही तुझे नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥ हे वेदवाणी का पालन करनेवाले ! तेरे धर्ममय तेज ने, भगवान् की उपासना करनेवाले पुरुषों के अज्ञान का नाश करा है और सूर्य आदिकों को भी प्रकाश अर्पण करा है; कार्यकारणात्मक यह चराचर जगत् तेरा ही रूप है, ऐसे तेरी महिमा अपार है ॥ ७ ॥ हे अपराजित सुदर्शन ! जब तू श्रीहरि से छोड़ाजाता है तब तू दैत्य दानवों की सेना में प्रवेश करके उन की बाहु, उदर, जंघा, चरण और कण्ठों को काटताहुआ युद्ध में शोभा को प्राप्त होताहै ॥ ८ ॥ हे जगत् की रक्षा करनेवाले ! युद्ध में सकल शत्रुओंको सहनेवाले तुझे दुष्टों का

संहो गदाभृता ॥ विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि
नः ॥ ९ ॥ यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः ॥ कुलं नो वि-
प्रदैवं चेद्द्विजो भवतु विज्वरः ॥ १० ॥ यदि नो भगवान्प्रीत एकः सर्व-
गुणाश्रयः ॥ सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥ ११ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ॥ अशाम्यत्सर्वतो विप्रं प्रदहद्राज-
याच्ञया ॥ १२ ॥ स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः ॥ प्रशशंस
तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥ १३ ॥ दुर्वासा उवाच ॥ अहो
अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे ॥ कृतागसोऽपि यद्राजन्मङ्गलानि
समीहसे ॥ १४ ॥ दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनां ॥ यैः सं-
गृहीतो भगवान्सात्वतामृषभो हरिः ॥ १५ ॥ यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्भवति
निर्मलः ॥ तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१६॥ राजन्ननुगृही-
तोऽहं त्वयातिकरुणात्मना ॥ मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥

ही नाश करने के निमित्त भगवान् ने योजित करा है; इसकारण हमारे कुलको भाग्यवान् होने के निमित्त इस ब्राह्मण का प्राणरक्षारूप कल्याण कर तब यही हमारे ऊपर तेरा अनुग्रह होगा; नहीं तो ब्रह्महत्या होने से हमारी लोक में अपकीर्त्ति और कुलका नाश आदि होगा ॥ ९ ॥ हमारा यदि कुछ पुण्य हो, यज्ञ आदि वा स्वधर्माचरण का पुण्य हो तथा यदि हमारा कुल ब्राह्मणोंको पूज्यबुद्धिसे मानता हो तो यह ब्राह्मण दुःखसे छूटजाय ॥ १० ॥ और हमारा सकल प्राणियों में आत्मभाव होने के कारण हमारे ऊपर सकलगुणों के आश्रय एक भगवान् यदि प्रसन्न हों तो यह ब्राह्मण दुःखरहितहो ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार शपथके साथ राजा अम्बरीष के स्तुति करनेपर, सब ओर से दुर्वासाऋषि को भस्मसा करनेवाला सुदर्शन नामवाला विष्णुभगवान् का चक्र, राजा की याचना से शान्त होगया ॥ १२ ॥ तदनन्तर सुदर्शन की अग्निके ताप से छूटेहुए दुर्वासाऋषि, दुःखरहित हो उस राजाको उत्तम आशीर्वाद देकर उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥ अहो ! भगवान् के दासों का महत्त्व आज मैंने देखा क्योंकि— हे राजन् ! मैंने तेरा अपराध करा तब भी तू मुझे सुख प्राप्त होने की इच्छा करता है ॥ १४ ॥ अहो ! जिन्होंने, भक्तों की रक्षा करनेवाले भगवान् श्रीहरि को बड़े प्रेम के साथ हृदय में स्थापन करा है ऐसे महात्मा साधुओं को क्या करना कठिन है ? अर्थात् सबकुछ करसक्ते हैं और क्या त्यागना कठिन है ? अर्थात् सबकुछ त्यागसक्तेहैं। १५।जिन भगवान्के नामोंको सुननेमात्रसेहीपुरुष,पापआदिकोंसे रहितहोताहै उन तीर्थपाद श्रीहरिके दासोंकोकौनकार्यकरना शेषरहा? अर्थात् कुछशेषनहींरहा। १६।हेराजन् ! जिसकाचित्त अत्यन्त करुणा से व्याप्तहै ऐसे तू ने मेरे ऊपर अनुग्रह कराहै;क्योंकि तूने मेरे अपराध को पीछे

॥ १७ ॥ राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया ॥ चरणावुपसंगृह्य प्रसाद्य स-
मभोजयत् ॥ १८ ॥ सोऽशित्वाऽऽदृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम् ॥ तृप्तात्मा
नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥ १९ ॥ प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव
भागवतस्य वै ॥ दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥ २० ॥ कर्मावदा-
तमेतत्ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः ॥ कीर्त्तिं परमपुण्यां च कीर्त्तयिष्यति भू-
रियम् ॥ २१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं संकीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः ॥
ययौ विहायसामन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकं ॥ २२ ॥ संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता
नागतो गतः ॥ मुनिस्तद्दर्शनाकांक्षो राजाब्भक्षो बभूव ह ॥२३॥ गते च दु-
र्वाससि सोऽम्बरीषो द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् ॥ ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च
बुद्ध्वा मेने स्ववीर्यं च परानुभावं ॥ २४ ॥ एवंविधानेकगुणः स राजा प-

करके (उस को कुछ न गिनकर) मेरे प्राणोंकी रक्षा करी है ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! ब्राह्मण लौटकर आवेगा, ऐसी इच्छा से जिसने भोजन नहीं करा है ऐसे उस राजाने, आयेहुए दुर्वासा ऋषि के चरण छूकर उन को प्रसन्नकर बड़ी प्रीति के साथ भोजन कराया ॥ १८ ॥ उससमय दुर्वासा ऋषि, सकल मनोरथों को पूर्ण करनेवाला राजा का आदर के साथ परोसाहुआ अन्न भोजन करके प्रसन्न चित्तहुए और राजा से बड़े आदर के साथ कहने लगे कि–हे राजन् ! अब तू भोजनकर ॥ १९ ॥ और यह भी कहा कि–हेराजन्! सुदर्शन चक्र की स्तुति करके जो तूने मेरे प्राणोंकी रक्षा करी सो मेरे ऊपर अनुग्रह करा है. तथा तुझ भगवद्भक्त के दर्शन, स्पर्श और भाषण से एवं परमात्मा के विषैं प्रेम उत्पन्न करनेवाले तेरे अतिथिसत्कार से मैं प्रसन्न हुआ हूँ ॥ २० ॥ हे राजन् ! इस तेरे निर्मल कर्म को स्वर्ग में रहनेवाली स्त्रियें (देवाङ्गना) वारंवार गावेंगी तथा तेरी पवित्र कीर्त्ति को पृथ्वीपर रहनेवाले सकल लोक वर्णन करेंगे ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार अम्बरीष राजा के प्रसन्न करेहुए वह दुर्वासा ऋषि, राजा की प्रशंसा कर और उस से आज्ञा लेकर आकाशमार्ग से निष्काम कर्म करने से प्राप्त होने वाले ब्रह्मलोक को चलेगये ॥ २२ ॥ अब राजा के परम धैर्य का वर्णन करते हैं कि–सुदर्शन चक्र के भय से गये हुए वह दुर्वासा ऋषि जबतक लौटकर नहीं आये तबतक एक सम्वत्सर (वर्ष) वीतगया; तबतक उन के दर्शन की इच्छा करनेवाला राजा, केवल जलकाही सेवन करके रहा ॥ २३ ॥ तदनन्तर दुर्वासा ऋषि के चलेजानेपर, उस राजा अम्बरीष ने, ब्राह्मण के भोजन करलेने से परम पवित्र हुआ शेष बचाहुआ अन्न भोजन करा और उसने, दुर्वासा ऋषि को जो सुदर्शनचक्र से सङ्कट प्राप्तहुआ था उस से उनका छुटकाराहुआ और उन के आने के समय पर्यन्त अपने को धैर्य रखने की शक्ति प्राप्तहुई ऐसा जानकर, यह सब भगवान् के प्रभाव से ही हुआ है ऐसा निश्चय करा ॥ २४ ॥ इसप्रकार

रात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ॥ क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं यया विरिंचान्निर-
याँश्चकार ॥ २५ ॥ अथांबरीषस्तनयेषु राज्यं समानशीलेषु विसृज्य धीरः ॥
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे मनो दधद्ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥ २६ ॥ इत्येतत्पुण्य-
माख्यानमंबरीषस्य भूपतेः ॥ संकीर्त्तयन्ननुध्यायन्भक्तो भगवतो भवेत् ॥२७॥
इ० भा० म० न० अम्बरीषचरितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ विरूपः केतुमान् शम्भुरंबरीषसुतास्त्रयः ॥ विरूपात्पृषदश्वो-
ऽभूत्तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥ १ ॥ रथीतरस्यप्रजस्य भार्यायां तंतवेऽर्थितः ॥ अं-
गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ २ ॥ एते क्षेत्रे प्रसूता वै पुन-
स्त्वांगिरसाः स्मृताः ॥ रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३ ॥ क्षुवतस्तु म-
नोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः ॥ तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥ ४ ॥ तेषां
पुरस्तादभवन्नार्यावर्त्ते नृपा नृप ॥ पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्येऽपरेऽन्यतः ॥५॥

अनेक गुणोंसे युक्त उस राजा ने, परमात्मा ब्रह्मरूप वासुदेव भगवान् के विषैं अपने सकल कर्मों को समर्पण करके आगे को क्रम से बढ़नेवाली भक्ति करी कि- जिसके द्वारा प्राप्तहुए वैराग्य से, ब्रह्मपद सहित सकल भोगों को नरकसमान माना ॥ २५ ॥ तदनन्तर तिस जितेन्द्रिय अम्बरीष ने, अपनेसमान स्वभाववाले पुत्रों को विभाग के अनुसार राज्य देकर, आत्मारूप वासुदेव भगवान् के विषैं मनकी धारणा करके वन में प्रवेश करा और तदनन्तर वह त्रिगुणमय संसार से मुक्त होगया ॥ २६ ॥ हे राजन् ! ऐसे इस अम्बरीष राजा के पवित्र आख्यान को वर्णन करनेवाला और चिन्तवन करनेवाला पुरुष, भगवान् का भक्त होगा ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥
श्रीशुकदेव जी ने कहाकि–हेराजन् ! विरूप, केतुमान् और शम्भु यह राजा अम्बरीषके तीन पुत्र हुए. उनमें विरूप से पृषदश्व नामवाला पुत्र हुआ; उसके रथीतरनामवाला पुत्रहुआ ॥ १ ॥ उस रथीतर के सन्तानहीन होनेपर, उस की स्त्री के विषैं सन्तान होने के निमित्त प्रार्थना करेहुए अङ्गिरा ऋषि ने, ब्रह्मतेज से युक्त तीन पुत्र उत्पन्न करे ॥ २ ॥ यह पुत्र रथीतर की स्त्री के विषैं उत्पन्न होने के कारण रथीतर गोत्रवाले होकर, अङ्गिरा ऋषि के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण आङ्गिरस नाम से प्रसिद्धहुए. और वह आगे को रथीतर की दूसरी स्त्री के विषैं उत्पन्नहुए पुत्रों में और उन के वंशजों में श्रेष्ठ होकर क्षत्रिय धर्म से युक्त ब्राह्मण हुए ॥ ३ ॥ हे राजन् ! एकसमय छींकतेहुए मनु की नासिका में से इक्ष्वाकु नामवाला पुत्र उत्पन्नहुआ. इस इक्ष्वाकु के सौ पुत्रहुए; उन में विकुक्षि, निमि और दण्डक यह तीन बड़े थे ॥ ४ ॥ हे राजन् ! शेष सौ पुत्रों में पचीस पुत्र हिमाचल और विन्ध्याचल इन दो पर्वतों के मध्य के आर्यावर्त्त देशों में पूर्व के समुद्रपर्यंत देशों का विभाग करके राजेहुए. तथा दूसरे पचीस पुत्र उस ही देश में पश्चिम की ओर के राजेहुए.

स एकदाऽष्टकाश्राद्ध इक्ष्वाकुः सुतमादिशत् ॥ मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ
मा चिरम् ॥६॥ तथेति स वनं गत्वा मृगान्हत्वा क्रियार्हणान् ॥ श्रांतो बुभुक्षितो
वीरः शशं चाददपस्मृतिः ॥ ७ ॥ शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः ॥
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम् ॥ ८ ॥ ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म गुरुणा-
ऽभिहितं नृपः ॥ देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥ ९ ॥ स तु वि-
प्रेण संवादं जापकेन समाचरन् ॥ त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत्-
परम् ॥ १० ॥ पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमां ॥ शासदीजे हरिं
यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥ ११ ॥ पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः ॥
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः ॥ १२ ॥ कृतांत आसीत्समरो

मध्यभाग में विकुक्षि आदि तीनों बड़े पुत्र राजेहुए. शेषरहे सैंतालीस पुत्रों में से कोई द-
क्षिण की ओर और कोई उत्तर की ओर के राजेहुए ॥ ५ ॥ उन में बड़ा जो विकुक्षि उस
का ही नाम शशाद हुआ; क्योंकि—एकसमय वह इक्ष्वाकु राजा, अष्टका श्राद्धका निमित्त
आनेपर अपने विकुक्षि पुत्र से कहनेलगा कि—हे विकुक्षे ! तू वन में जा और शीघ्र ही
श्राद्ध के योग्य मांस लेकर आ विलम्ब न कर ॥ ६ ॥ तब वह वीर, बहुत अच्छा, ऐसा
कहकर वन में गया और श्राद्ध के योग्य मृग का वध करके श्रान्त और भूँखा होगया तब
उस ने, उन पशुओं में से एक शशा को भक्षण करलिया. उससमय उस को, अधिक क्षुधा
लगी होने के कारण 'श्राद्ध के निमित्त वध करेहुए पशु को आप भक्षण न करे' यह स्मरण
नहीं रहा ॥ ७ ॥ तदनन्तर शेषरहा मांस उस ने पिता (इक्ष्वाकु) को लाकर दिया. त-
दनन्तर उस इक्ष्वाकु ने मांस का श्राद्ध के योग्य संस्कार करने के निमित्त गुरु वसिष्ठजी
से कहा; सो वह कहनेलगे कि—यह मांस श्राद्ध के योग्य नहीं है क्योंकि-थोड़ा सा पहिले
भक्षण करलेने के कारण यह उच्छिष्ट दोष से युक्त होगया है ॥ ८ ॥ तदनन्तर गुरु
के कहेहुए उस पुत्र के कर्म को जानकर राजा इक्ष्वाकु ने, शास्त्र के नियम को त्यागनेवाले
उस विकुक्षि पुत्र को क्रोध के कारण देश से निकलवादिया ॥ ९ ॥ फिर वह राजा इक्ष्वाकु
वसिष्ठ ऋषि के साथ तत्त्वविचार करके उन के द्वारा ज्ञानवान् होकर अन्त में शरीर को
त्यागकर परब्रह्म को प्राप्त होगया ॥ १० ॥ इसप्रकार राजा इक्ष्वाकु के मरण को प्राप्त
होनेपर फिर विकुक्षि ने घर आकर पृथ्वीका पालन करा और बहुत से यज्ञ करके श्रीहरि
का आराधन करा; फिर वह राजा शशाद इस नाम से प्रसिद्धहुआ ॥ ११ ॥ उस वि-
कुक्षि का पुत्र पुरञ्जय. वही इन्द्रवाह और ककुत्स्थ इन नामों से लोक में प्रसिद्ध हुआ,
उस को यह नाम जिन कर्मों से प्राप्तहुए वह कर्म तुझ से कहता हूँ ॥ १२ ॥

देवानां सह दानवैः ॥ पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥ १३ ॥
वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभो ॥ वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महा-
वृषः ॥ १४ ॥ स सन्नद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखान् शितान् ॥ स्तूयमानः
समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥ १५ ॥ तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य
परात्मनः ॥ प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत्त्रिदशैः पुरम् ॥ १६ ॥ तैस्तस्य
चाभूत्प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ यमाय भल्लैरनयद्दैत्यान्ये-भिययुर्मृधे ॥ १७ ॥
तस्येषुपाताभिमुखं युगांताग्निमिवोल्बणं ॥ विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्व-
मालयम् १८ ॥ जित्वा पुरं धनं सर्वं सश्रीकं वज्रपाणये ॥ प्रत्ययच्छत्स रा-
जर्षिरिति नामभिराहृतः ॥ १९ ॥ पुरंजयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः ॥
विश्वरंधिस्ततश्चंद्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः ॥२०॥ शावस्तस्तत्सुतो येन शावस्ती

एक समय देवताओं का दैत्यों के साथ, लोकों का प्रलय करनेवाला बडाभारी संग्राम हुआ; तब दैत्यों के जीते हुए देवताओं ने, अपनी सहायता करने के निमित्त तिस पुरञ्जन राजा से प्रार्थना करी ॥ १३ ॥ हे राजन्! तव उस राजा ने यह कहा कि—यदि इन्द्र मेरा वाहन वनेगा तो मैं उस के ऊपर वैठकर दैत्यों का वध करूँगा, इसप्रकार वाहन होने के निमित्त उस के वरण करे हुए इन्द्र ने यह राजा का कहना नहीं माना परन्तु फिर देवदेव विश्वात्मा विष्णुभगवान् के कहने से इन्द्र उस राजा का वाहन होने के निमित्त वडाभारी वृषभ वना ॥ १४ ॥ तदनन्तर युद्ध करने की इच्छा करनेवाला वह राजा पुरञ्जय, कवच धारणकर दिव्य धनुष और तीखे वाण लेकर, बन्दिजनों से स्तुति करा हुआ और सर्वान्तर्यामी परमात्मा विष्णुभगवान् के तेज से वृद्धि को प्राप्त होताहुआ तिस बडेभारी वृषभके ऊपर चढ़कर उस के कन्धेके समीप के ककुद् (टाठी) के ऊपर वैठा और उस ने देवताओंको साथ लेकर दैत्यों के नगर को पश्चिमकी ओरसे घेरलिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ तव दैत्योंके साथ उस राजा का, सुननेसे ही लोकों के शरीरपर रोमाञ्च खड़ा करनेवाला भयङ्कर युद्ध हुआ, उस युद्ध में उस के सामने जो दैत्य आये उन को यमराजका दर्शन कराने के निमित्त उस ने वाणों से देहसहित उड़ादिया॥ १७॥उसके वाणोंके मारेहुए कितने ही दैत्य,उसकी प्रलयकालकी अग्निकी समान दुःसह युद्धभूमिको छोड़कर अपने पाताललोकमें को भागगये ॥ १८॥ इसप्रकार उस राजर्षि ने दैत्यों के शोभासहित नगर और धन जीतकर वह सब इन्द्र को दिये,तवसे उसको दैत्यों का पुरजीतने के कारण पुरञ्जय और इन्द्रको वाहन वनाने के कारण इन्द्रवाह तथा उस के ककुद्पर वैठने के कारण ककुत्स्थ इन तीन नामों से लोक पुकारनेलगे ॥ १९ ॥ पुरञ्जय का पुत्र अनेना हुआ, उसका पुत्र पृथु हुआ; उसका विश्वरन्धि; उस से चन्द्र हुआ और उसका पुत्र युवनाश्व हुआ ॥ २० ॥ उसका पुत्र शावस्त हुआ, उसने शावस्ती ना-

निर्ममे पुरीं ॥ बृहदश्वस्तु शावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः ॥ २१ ॥ यः प्रियार्थमुत-
ङ्कस्य धुंधुनामासुरं बली ॥ सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद्वृतः ॥ २२ ॥ धुंधुमार इति
ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ॥ धुंधोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥ २३ ॥ दृढाश्वः
कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत ॥ दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुंभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ २४ ॥
बर्हणाश्वो निकुंभस्य कृशाश्वोऽथास्य सेनजित् ॥ युवनाश्वोऽभवत्तस्य सोऽन-
पत्यो वनं गतः ॥ २५ ॥ भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः ॥ इष्टिं
स्म वर्तयांचक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥ २६ ॥ राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो
निशि तर्षितः ॥ दृष्ट्वा शयानान्विप्रांस्तान्पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥ २७ ॥ उ-
त्थितास्ते निशाम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो ॥ पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं
पुंसवनं जलम् ॥ २८ ॥ राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते ॥ ईश्वराय

मवाली नगरी बनायी; फिर शाबस्त का पुत्र बृहदश्व तिससे कुवलयाश्वक हुआ ॥ २१ ॥
जिस बली कुवलयाश्वक ने उत्तङ्क ऋषि का प्रिय कार्य करने के निमित्त अपने इक्कीस स-
हस्र पुत्रोंसहित धुन्धुकनामा दैत्य के ऊपर चढ़ाई करके उसका वध करा इसकारण वह
कुवलयाश्वक ही धुन्धुमार इस नामसे प्रसिद्ध हुआ, और जो इक्कीस सहस्र उसके पुत्र थे
वह सब उस धुन्धु दैत्य के मुख से निकलेहुए अग्नि करके भस्म होगये. उनमें से तीन
ही पुत्र शेषरहे ॥ २२ ॥ २३ ॥ हे भारत ! वह तीन पुत्र दृढ़ाश्व, कपिलाश्व और भ-
द्राश्व इन नामोंवाले थे, उन में से दृढ़ाश्व का पुत्र हर्यश्व, उसका पुत्र निकुम्भहुआ ॥ २४ ॥
तिस निकुम्भ का बर्हणाश्व, तिसका कृशायश्व, तिसका सेनजित्, तिसका पुत्र युवनाश्व
हुआ, उस की सौ स्त्रियें थीं. तथा उन में उसकी सन्तान नहीं हुई अतः सन्तान हीन
होने के कारण खिन्नचित्त होकर उन सौ स्त्रियों को साथ लिये वन में ऋषियों के आश्रम
में गया; वह ऋषि उस राजा के ऊपर कृपालु होकर देवाराधन में एकाग्रचित्तहुए और
उन्होंने राजा के पुत्र होने के निमित्त (राजा को विदित न करके) जिस का देवता इन्द्र
है ऐसी पुत्रकामेष्टि करी ॥ २५ ॥ २६ ॥ रात्रि में प्यास से व्याकुल हुआ राजा ऋषियों
के उस यज्ञमण्डप में चलागया और तहाँ उन ब्राह्मणों को सोतेहुए देखकर उन से
विनाबूझे ही, उन ऋषियोंने रानी के पुत्र होने के निमित्त पिलानेको मन्त्रसे अभिमन्त्रण करके
जो जल रक्खाथा वह उस राजाने आप ही पीलिया ॥ २७ ॥ तदनन्तर सोकर उठेहुए ब्राह्मणोंने
जल से खालीहुए कलश को देखकर तहाँ विद्यमान उस राजा से बूझा कि—हे प्रभो ! यह
किसका काम है ? पुत्र की उत्पत्ति करनेवाला जल किसने पिया है ? ॥ २८ ॥ तदनन्तर
ईश्वर के प्रेरणा करेहुए राजा ने ही वह जल पीलिया है ऐसा (उस राजा से ही) जानकर
उन ऋषियों ने, अहो ! दैवका बलही मुख्य है, पुरुष का उद्योग कुछ नहीं करसक्ता ऐसा

नमश्चक्रुरहो दैववलं वलम् ॥ २९ ॥ ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य द-
क्षिणम् ॥ युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्त्ती जजान ह ॥ ३० ॥ कं धास्यति कु-
मारोयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ॥ मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो दे-
शिनीमदात् ॥ ३१ ॥ न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः ॥ युवनाश्वोऽथ
तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥ ३२ ॥ त्रसदस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम
तस्य वै ॥ यस्मात्त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः ॥ ३३ ॥ यौवना-
श्वोऽथ मांधाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः ॥ सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा
॥ ३४ ॥ ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्भूरिदक्षिणैः ॥ सर्वदेवमयं देवं सर्वा-
त्मकमतीन्द्रियम् ॥ ३५ ॥ द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः ॥ धर्मो
देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम् ॥ ३६ ॥ यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च प्र-

कहकर ईश्वरको ही प्रणाम करा ॥ २९ ॥ तदनन्तर पुत्रके उत्पन्न होने का समय आ-
नेपर युवनाश्व की दाहिनी कोख को फाड़कर पुत्र उत्पन्न हुआ, यह कितना आश्चर्य है!
और वह पुत्र फिर चक्रवर्त्ती राजा हुआ ॥ ३० ॥ यह पुत्र भूँखसे व्याकुल होकर स्तन
पीने के निमित्त बहुतही रोरहा है, अब यह किसका दूध पियेगा ? इसप्रकार दुःखितहुए
ब्राह्मणों के परस्पर भाषण करनेपर, उस इष्टि में आराधना करेहुए इन्द्र ने 'मां धाता'
(मेरा पियेगा) ऐसा कहा और हे पुत्र ! तू रुदन मतकर ऐसा उस बालक से कहकर
उस इन्द्र ने अमृत को टपकानेवाली अपनी तर्जनी अँगुली उस पुत्र के मुख में दी ॥ ३१ ॥
इसप्रकार इन्द्रके 'मां धाता' ऐसा कहने के कारण वह पुत्र आगे को मांधाता इस नाम से
प्रसिद्ध हुआ, दाहिनी कोख फटने के कारण मरण का समय प्राप्त होनेपर भी उस बाल-
क का पिता युवनाश्व ब्राह्मणोंके और देवताओं के अनुग्रह से मरण को नहीं प्राप्तहुआ,
परन्तु वह आगे को उस वन में ही कुछकालपर्यन्त निवास करके तपके द्वारा सिद्धि
(मुक्ति) को प्राप्त हुआ ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! इन्द्र ने फिर उस पुत्रका त्रसदस्यु यह
नाम रक्खा; क्योंकि—उस मांधाता से मन में काँपेहुए दस्यु अर्थात् दूसरों को पीड़ा देने-
वाले दुष्ट रावणादि अत्यन्त भय मानते थे ॥ ३३ ॥ तदनन्तर वह युवनाश्व का पुत्र सार्व-
भौम मान्धाता, भगवान्के तेज से प्रजाओं का पालन करने में समर्थ होकर सात द्वीपवाली
पृथ्वीपर रहनेवालीं सकलप्रजाओं का इकलाही पालन करनेलगा ॥ ३४ ॥ वह आत्म-
ज्ञानी था तथापि उस ने बहुतसी दक्षिणावाले यज्ञों करके, यज्ञरूपी सर्वदेवमय, सब के
प्रकाशक, विश्वव्यापक और इन्द्रियोंके अगोचर होकर भी, यज्ञ में के चरु पुरोडाश आदि
द्रव्य, मन्त्र, अनुष्ठानकी रीति, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज्, धर्म, देश और काल यह सब
जिनके स्वरूप हैं तिन भगवान् की आराधना करी ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ जहाँ सूर्य का उ-

तितिष्ठति ॥ सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मांधातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ३७ ॥ शशबिंदोर्दुहि-
तरि बिंदुमत्यामधान्नृपः ॥ पुरुकुत्समंबरीषं मुचुकुंदं च योगिनम् ॥ ३८ ॥
तेषां स्वसारः पंचाशत्सौभरिं वव्रिरे पतिं ॥ यमुनां तर्जले मग्नस्तप्यमानः परं
तपः ॥३९॥ निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥जातस्पृहो नृपं विप्रः क-
न्यामेकामयाचत ॥ ४० ॥ सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन्कामं कन्या स्वयंवरे ॥ स
विचिंत्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसंमतः ॥ वलीपलित एजत्क इत्यहं
प्रत्युदाहृतः ॥ ४१ ॥ साधयिष्ये तथात्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् ॥ किं पु-
नर्मनुजेंद्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥ ४२ ॥ मुनिः प्रवेशितः क्षत्रा कन्यांऽतः-
पुरमृद्धिमत् ॥ वृतश्च राजकन्याभिरेकः पंचाशता वरः ॥ ४३ ॥ तासां कलि-
रभूद्भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ॥ ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसां ॥ ४४ ॥

दय होता है और जहाँ अस्त होताहै तहाँतक का यह सकल भूमण्डल, यौवनाश्व मांधा-ताके पालन करनेका स्थलहै, ऐसा कहाहै॥३७॥उस राजा ने, शशबिन्दु राजा की बिन्दुमती नामवाली कन्याके विषैं पुरुकुत्स और अम्बरीष तथा योगी मुचुकुन्द यह तीनपुत्र उत्पन्नकरे ॥३८॥ और उनपुरुकुत्सादिकोंकी पचासबहिनेंथीं उन्होंने सौभरिनामक ऋषिको पतिवरा, वहमहातपस्वी सौभरि,एकसमययमुनाके जलमें योगशक्तिसे गोतालगाकर उत्तमतपकररहे थे ॥३९॥ सो तहाँ मैथुन करनेवाले एक श्रेष्ठ मत्स्य के मैथुनसुखको देखकर उनको भी मैथुनसुखकी इच्छाहुई, और उन ब्राह्मणने, राजा मांधाता के पास जाकर एककन्या मांगी ॥४०॥ तब वहमान्धाता उनके बूढ़ेपनेको देखकर कहनेलगाकि-हेब्राह्मण! तुम स्वयम्बर में कन्या की इच्छा के अनुसार कन्या को ग्रहण करो अर्थात् तुम कन्याओं के भवन में जाकर, तहाँ मेरी पचास कन्या हैं उन में से जो कन्या तुम्हें अपने आप वरलेय उस को तुम ग्रहण करो. तब उन सौभरि ऋषि ने, मैं वृद्ध हूँ, शरीरपर सकोड़न पड़ीहुई हैं, केश पकगए हैं और शिर कांपरहा है, इसकारण मैं स्त्रियों को (इस की कन्याओं को) प्रिय नहीं लगूँगा; ऐसा मन में विचारकर इस राजा ने मुझे स्वयम्बर के मिष से प्रत्युत्तर देदिया है ॥ ४१ ॥ अच्छा ! अब मैं अपने शरीर को ऐसा सुन्दर बनाता हूँ कि— जिस से मैं देवताओं की स्त्रियों को भी प्रिय लगूँ, फिर राजाओं के यहां की स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? ऐसा निश्चय करके उन्होंने सुन्दर शरीर धारण करा. वह योगी होने के कारण चित्त में आवे तैसा करने को समर्थ थे ॥ ४२ ॥ तदनन्तर राजा की आज्ञा से द्वारपाल ने, उन सौभरि ऋषि को सकल सम्पत्तियुक्त कन्याओं के अन्तःपुर (महल) में पहुँचादिया तब तहां रहनेवालीं पचासों कन्याओं ने उन एक को ही वर लिया ।४३। उस समय उस वर के निमित्त वहिनपने के स्नेह को त्यागकर उन ऋषि में जिन का

स वह्वृचस्ताभिरपारणीयतपःश्रियाऽनर्घ्यपरिच्छदेषु गृहेषु नानोपवनामलांभःसरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥ ४५ ॥ महार्हशय्यासनवस्त्रभूषणस्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ॥ स्वलंकृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा रेमेऽनुगायद्द्विजभृंगवन्दिषु ॥ ४६ ॥ यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ॥ विस्मितः स्तंभमजहात्सार्वभौमश्रियाऽन्वितः ॥ ४७ ॥ एवं गृहेष्वभिरतो विषयान्विविधैः सुखैः ॥ सेवमानो नचातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥ ४८ ॥ स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः ॥ ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसंगसमुत्थितं ॥ ४९ ॥ अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ॥ अन्तर्जले वारिचरप्रसंगात्प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥ ५० ॥ संगं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि ॥ एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त

चित्त लगा है ऐसी वह पचासों स्त्रियें, यह वर मेरे ही योग्य है तुम्हारे योग्य नहीं है, इस प्रकार परस्पर बड़ाभारी कलह करने लगीं ॥ ४४ ॥ अब उन सौभरि ऋषि के गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हैं कि—उन ऋग्वेदी सौभरि ऋषि ने, बहुमूल्य शय्या, आसन वस्त्र, भूषण, सुगन्धित पदार्थों के उवटने, भक्षण करने के उत्तम पदार्थ और सुगन्धित पुष्पों की माला आदि से अलंकृत होकर, उन स्त्रियों के साथ, जिस का अन्त नहीं है ऐसे तप के प्रभाव से, अमोल पात्र आदि सामग्रियें जिन में हैं, उत्तम अलङ्कार धारण करेहुए स्त्री और पुरुष जिन में हैं, और मधुरगान करनेवाले पक्षी, भौंरे तथा बन्दीजन जहां हैं ऐसे घरों में और नानाप्रकार के वगीचों में तथा सुगन्धयुक्त कमलों के झुण्ड जहां हैं ऐसे स्वच्छ जलवाले सरोवरों में निरन्तर क्रीड़ा करी ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ जिन के गृहस्थाश्रम के सुख को देखकर सात द्वीपवाली पृथ्वी का स्वामी और सार्वभौम सम्पदा से युक्त उस राजा मान्धाता ने भी विस्मय में होकर गर्व त्यागदिया अर्थात् इन ऋषि के ऐश्वर्य के सामने मेरा ऐश्वर्य कुछ नहीं है ऐसा माना ॥ ४७ ॥ इस प्रकार गृह में आसक्तहुए, विषयों की ओर को दौड़नेवालीं कान आदि इन्द्रियों करके शब्द आदि विषयों का सेवन करतेहुए भी, जैसे अग्नि घृत की बूँदों से तृप्त नहीं होता है तैसे तृप्त नहीं हुए ॥ ४८ ॥ वह ऋग्वेदियों के आचार्य सौभरि, एकसमय बैठे थे सो उन्हों ने, अपने मन से ही, मत्स्य का मैथुन देखने से विवाह आदि के द्वारा उत्पन्न हुई तप की हानि देखी ॥ ४९ ॥ और अपने आपे से ही कहने लगेकि—क्या कहूँ ! देखोतो सही ! तप में निष्ठारखकर उत्तम प्रकार का व्रत करनेवाले मेरा यह कैसा नाश हुआ है ? जल में मत्स्य का मैथुन दृष्टि पड़ने से मुझे विवाह आदि प्रपञ्च प्राप्त होकर, बहुत काल के अभ्यास से मेरा ध्यान मे लाया हुआ जो ब्रह्मस्वरूप था वह सब विस्मृत होगया ॥ ५० ॥ इसकारण मुमुक्षु पुरुष, सबप्रकार से मनका निश्चय करके, मैथुन धर्मका आचरण करनेवाले

ईशे भुंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसंगः ॥ ५१ ॥ एकस्तपस्व्यहमथांभसि
मत्स्यसंगात्पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः ॥ नांतं व्रजाम्युभयकृत्यमनोर-
थानां मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥ ५२ ॥ एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो
न्यासमास्थितः ॥ वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥ ५३ ॥ तत्र तप्त्वा
तपस्तीक्ष्णमात्मकर्षणमात्मवान् ॥ सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥
॥ ५४ ॥ ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम् ॥ अन्वीयुस्तत्प्रभा-
वेन अग्निं शांतमिवार्चिषः ॥ ५५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
सौभर्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ मांधातुः पुत्रप्रव-
रो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः ॥ पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वश्च तत्सुतः ॥ हारी-
तस्तस्य पुत्रोऽभून्मांधातृप्रवरा इमे ॥ १ ॥ नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकु-

स्त्रीपुरुषोंका सहवास त्यागदेय,शब्दादि विषयोंमें अपनी इन्द्रियों को प्रवृत्त नकरे, इकलाही विचरकर एकान्त स्थानमें रहे, अनन्तभगवान् में अपना चित्त लगावे और यदि संगति करनाही होय तो भगवान् की उपासना करनेवाले साधुओं की सङ्गति करे ॥ ५१ ॥
विषय के सङ्ग का दोष ऐसा होता है कि–मैं पहिले इकलाही तप करता था, तदनन्तर जल में मत्स्य के मैथुन को देखने के प्रसङ्ग से, पचास स्त्रियों के वरने के कारण उनका निर्वाह करनेवाला मैं पचासरूप हुआ फिर उन में से प्रत्येक स्त्री के सौ सौ पुत्र होने के कारण पुत्ररूप से पाँच सहस्र स्वरूपवालाहुआ, और अब आगे को उन के संस्कार आदि करनेवाला मैं, इसलोक और परलोक में सुख देनेवाले कर्मों के मनोरथों का अन्त नहीं पाता हूँ; क्योंकि माया के गुणों से मेरी बुद्धि खिचरही है इसकारण मैं विषय भोगों में पुरुषार्थबुद्धि माननेवाला हुआ हूँ ॥ ५२ ॥ इसप्रकार बहुतकाल पर्यन्त घर में रहनेवाले उन सौभरि ऋषि ने, आगे को विरक्त होकर काम्य कर्मों को त्याग वन में प्रवेश करा, उस समय उन की पतिव्रता स्त्रियों ने भी उन के पीछे २ वन को गमन करा ॥ ५३ ॥ तहाँ आत्मविचार करनेवाले उन सौभरि ऋषि ने, शरीर को सुखानेवाला तीव्र तप करके अपनी आहवनीय आदि अग्नियों के साथ जीवात्मा का परमात्मा के विषैं लय करा अर्थात् वह मुक्त होगये ॥ ५४ ॥ हे महाराज परीक्षित् ! उन सौभरि की स्त्रियें भी, अपने पति की मोक्ष की प्राप्तिरूप गति को देखकर उन के ही तप के प्रभावसे, जैसे शान्तहुए अग्नि में उस की लपटें लीन होजाती हैं तैसे पति के साथ सहगमन करके मुक्त होगईं ॥ ५५ ॥
इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! मान्धाता के पुरुकुत्सादि तीनों पुत्रों में श्रेष्ठ जो अम्बरीष पुत्र उसको उस के दादा (युवनाश्व) ने पुत्ररूप से स्वीकार करलिया था, उस के यौवनाश्व नामवाला पुत्र हुआ; तिसके हारीत पुत्र हुआ; अम्बरीष, यौवनाश्व और हारीत यह तीनों

त्साय योरगैः ॥ तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया ॥ २ ॥ गंधर्वानवधीत्तत्र वध्यान्वै विष्णुशक्तिधृक् ॥ नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम् ॥ ॥ ३ ॥ त्रसदस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत् ॥ हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ निबंधनः ॥ ४ ॥ तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशंकुरिति विश्रुतः ॥ प्राप्तश्चांडालतां शापाद्गुरोः कौशिकतेजसा ॥ ५ ॥ सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते ॥ पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तंभितो बलात् ॥ ६ ॥ त्रैशंकवो हरिश्चंद्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः ॥ यन्निमित्तमभूद्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकं ॥ ७ ॥ सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः ॥ वरुणं शरणं

मान्धाताके प्रवरके प्रवर्त्तक हुए ॥१॥ नागरूप भ्राताओं ने जो अपनी नर्मदा नामवाली बहिन पुरुकुत्स राजा को दीथी वह नागराज की आज्ञा से, नागों के शत्रु गन्धर्वों को मारने के निमित्त उस पुरुकुत्स को रसातल में लेगई थी ॥ २ ॥ उस पुरुकुत्स ने वध करने के योग्य बहुत से गन्धर्वों का वध करा तव प्रसन्न हुए नागराज से उसपुरुकुत्स को 'इस, नर्मदा का पुरुकुत्स कोरसातल में लेजाना, इत्यादि आख्यानका स्मरण करनेवाले पुरुषों को सर्पसे भय नहीं प्राप्त होगा' ऐसा वरदान प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥ उस पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु हुआ, उसका अनरण्य नामवाला पुत्र हुआ, तिस का पुत्र हर्यश्व, तिस से अरुण, तिसका निवन्धन हुआ ॥ ४ ॥ उसका पुत्र सत्यव्रत, वही त्रिशंकु इसनाम से प्रसिद्ध हुआ और उस ने ब्राह्मण की कन्या को विवाह होतेहुए हरलिया इसकारण क्रुद्धहुए पिता के शाप से वह चाण्डालपने को प्राप्त होकर भी फिर विश्वामित्र जी के तप के प्रभाव से देह सहित स्वर्ग को चलागया. तदनन्तर तहाँ रहनेवाले देवताओं ने उस को नीचे को मुख और ऊपर को चरण करके ढकेलदिया तव फिर विश्वामित्र जी ने अपने तपोवल से उसको तहाँ ही स्तम्भित (अधर रुका हुआ) करदिया वह अवभी आकाश में दृष्टि गोचर होताहै ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ उस त्रिशंकु * का पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ; तिस हरिश्चन्द्र के कारण परस्पर के शाप + से पक्षिरूप हुए विश्वामित्र और वसिष्ठ का बहुत वर्षों पर्यन्त युद्ध हुआ ॥७॥ वहराजा हरिश्चन्द्र सन्तानरहित होने के कारण चित्त में खिन्नहोकर नारदजीके उपदेशसे वरुणकी

* उस के तीन शंकु (दोष) थे, क्योंकि पिता का असन्तोष, गुरुकी गौका वध और प्रोक्षण करे विनाही पदार्थों का भक्षण, यह तीन शंकु (काँटे) की समान उस के दुःख के हेतु थे इसकारण उस का त्रिशंकु नाम हुआ।

+ पहिले, विश्वामित्र ने राजसूय यज्ञ की दक्षिणा के मिष से राजा हरिश्चन्द्र का सर्वस्व हरकर उस को दुःख दिया था; यह सुनकर क्रोध में भरेहुए राजा के कुलपुरोहित वसिष्ठजी ने विश्वामित्र को तू आड़िनामवाला पक्षी होजा ऐसा शाप दिया. तव विश्वामित्र जी ने भी वसिष्ठजी को तू वक (वगुला) होजा यह शाप दिया. तदनन्तर उन दोनों ऋषियों का पक्षीरूप से बहुत वर्षों पर्यन्त युद्ध हुआ।

यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥ ८ ॥ यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति ॥ तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥ ९ ॥ जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत् ॥ यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति ॥ १० ॥ निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ॥ दंताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति ॥ ११ ॥ जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ॥ यदा पतन्त्यस्य दंता अथ मेध्यो भवेदिति ॥ १२ ॥ पशोर्निपतिता दंता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ॥ यदा पशोः पुनर्दंता जायंतेऽथ पशुः शुचिः ॥ १३ ॥ पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ॥ सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः ॥ १४ ॥ इति पुत्रानुरागेण स्नेहयंत्रितचेतसा ॥ कालं वंचयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥ १५ ॥ रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम् ॥ प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत

शरण में गया और प्रार्थना करी कि—हे प्रभो ! जिस प्रकार मेरे पुत्र हो सो उद्योग करो ॥ ८ ॥ हे महाराज वरुण ! पुत्र होयगा तो उस ही पुत्ररूप पशु के द्वारा मैं तुम्हारा यजन करूँगा, ऐसा उस ने प्रण करा तब वरुण ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहा तब उस हरिश्चन्द्र के रोहित नामवाला पुत्र हुआ ॥ ९ ॥ तब वरुण ने राजा के समीप आकर कहा कि—हे राजन् ! तेरे पुत्र हुआ है इस कारण उस के द्वारा तू मेरा यजन कर, तब हरिश्चन्द्र ने कहा कि—जब इस पशुरूप पुत्र को दश दिन होजायँगे तब यह पवित्र होयगा ॥ १० ॥ आगे को दश दिन वीतने पर फिर उस वरुण ने आकर 'यजनकर' ऐसा कहा तब हरिश्चन्द्र ने कहा कि—जब पुरुष के दांत निकल आवेंगे तब पवित्र होगा ॥ ११ ॥ तदनन्तर उस पुत्र के दांत निकल आनेपर वरुणने 'दांत निकल आये अब यजनकर' ऐसा कहा तब हरिश्चन्द्र ने कहा कि—'जब इस पुरुषपशु के प्रथम के दांत गिरपड़ेंगे तब पवित्र होयगा ॥ १२ ॥ दांत गिरनेपर फिर वरुण ने आकर 'पुरुष के दांत गिरपड़े अब मेरा यजन कर' ऐसा कहा तब फिर हरिश्चन्द्र ने कहा कि—जब पशु के फिर दाँत निकल आवेंगे तब पवित्र होगा ॥ १३ ॥ फिर दाँत निकल ने पर उस वरुणने आकर 'फिर दाँत निकल आये अब मेरा यजनकर, ऐसा कहा तब हरिश्चंद्र ने कहा कि—हे वरुण ! राजरूप पुरुष पशु कवच आदि धारण करके युद्ध करने के योग्य होयगा तब ही वह यज्ञयाग के योग्य होयगा ॥ १४ ॥ इसप्रकार पुत्र के ऊपर स्नेह करनेवाले और स्नेह ने जिन के चित्तको वश में करलिया है ऐसे हरिश्चन्द्र ने वह २ काल चुकादेने के निमित्त वरुण देव की प्रार्थना करी और वरुण ने उस २ काल की वाटदेखी ॥ १५ ॥ इधर रोहित ने पिता का वह कर्त्तव्य (अपने को पशु बनाकर वरुण का यजन करना) जानलिया और अपने प्राण बचाने की इच्छा से हाथ में धनुष लेकर वह वन में को चला

॥ १६ ॥ पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम् ॥ रोहितो ग्राममेयाय तमिंद्रः प्रत्यषेधत ॥ १७ ॥ भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः ॥ रोहितायादिश-च्छक्रः सोऽप्यरण्येवसत्समाः ॥ १८ ॥ एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पंचमे तथा ॥ अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाह वृत्रहा ॥ १९ ॥ षष्ठं संवत्सरं तत्र च-रित्वा रोहितः पुरीं ॥ उपव्रजन्नजीगर्त्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम् ॥ २० ॥ शुनः-शेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत ॥ ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः॥२१॥ मुक्तोदरोऽयजद्देवान्वरुणादीन्महत्कथः ॥ विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन्होता चा-ध्वर्युरात्मवान् ॥ २२ ॥ जमदग्निरभूद्ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्यसामगः ॥ तस्मै तुष्टो ददाविंद्रः शातकौम्भमयं रथम् ॥ २३ ॥ शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात्प्रच-क्ष्यते ॥ सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥ विश्वामित्रो भृशं प्रीतो

गया ॥ १६ ॥ तब यज्ञ होने के विषय में निराशहुए वरुण ने हरिश्चन्द्र को ग्रसा अर्थात् उस के पेट में जलोदर नामक रोग उत्पन्न करा; यह वृत्तांत उस रोहित पुत्र ने वन में ही सुनकर अपने ग्राम को आने का विचार करा तब इन्द्र ने उस को निषेध करा कि—॥१७॥ हे पुत्र रोहित ! तीर्थ और क्षेत्रों के सेवन से पृथ्वीपर विचरना ही पुण्यकारक है, घर जाकर पशुरूप से मरना अच्छा नहीं है; जब इन्द्र ने उस से इसप्रकार कहा तब वह और भी एकवर्षपर्यंत वन में रहा ॥ १८ ॥ इसप्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें वर्ष में वह रोहित जब२ घर को आनेलगता था तब२ इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के वेष में उस के समीप आकर उस से तीर्थयात्रा आदि करने को कहता था ॥ १९ ॥ तदनन्तर पिता के ऊपर उत्पन्न हुई दया के वश में हुए तिस रोहिताश्व ने, छठा वर्ष पूरा होनेपर्यंत वन से लौटकर फिर घर आने का निश्चय करा और अपने मरण का भय दूर करने के निमित्त वरुण के यज्ञ के निमित्त भार्गव वंश में उत्पन्नहुए अजीगर्त्त के तीन पुत्रों में से विचले शुनःशेफ नामवाले पुत्र को मोल लेकर घर को आया ॥ २० ॥ और उस ने पिता को अपने परिवर्त्तन (बदले) में यज्ञ करने के निमित्त वह शुनःशेफ नामक पुरुषपशु निवेदन करके प्रणाम करा. तदनन्तर परमयशस्वी तिस राजा हरिश्चन्द्र ने, पुरुषमेध यज्ञ करके वरुण आदि देवताओं का यजन करा. तदनन्तर वरुण की कृपा से उदर के रोग से मुक्तहुआ वह ह-रिश्चन्द्र, जिस की कथा सत्पुरुषों में वर्णन करीगई है ऐसा हुआ. उस पुरुषमेध यज्ञ में विश्वामित्र ऋषि होता नामक ऋत्विज हुए थे, आत्मतत्त्व के जाननेवाले जमदग्नि ऋषि अध्वर्यु हुए थे, वसिष्ठ ऋषि ब्रह्मा हुए थे और अयास्य नामवाले ऋषि उद्गाता हुए थे; इसप्रकार पुरुषमेध यज्ञ से सन्तुष्टहुए इन्द्र ने, हरिश्चन्द्र को एक सुवर्णमय रथ समर्पण करा ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ उस शुनःशेफ का माहात्म्य आगे विश्वामित्र के पुत्रों की कथा के प्रसङ्ग से मैं तुम से कहूँगा. फिर स्त्रीसहित तिस हरिश्चन्द्र के सत्ययुक्त धैर्य को

देदात्रविहतां गतिं ॥ मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसाऽपोऽनिलेन तत् ॥ २५ ॥ खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि ॥ तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाऽज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥ हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा ॥ अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धन ॥२७॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ हरितो रोहितसुतश्चंपस्तस्माद्विनिर्मिता ॥ चंपा पुरी सुदेवोतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥ भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्यापि बाहुकः ॥ सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥ २ ॥ वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती ॥ और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥ ३ ॥ आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह ॥ सह तेनैव संजातः सगराख्यो महायशाः ॥ ४ ॥ सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः ॥ यस्तालजंघान्यवनान् शकान् हैहय-

देखकर ॥ २४ ॥ परमप्रसन्नहुए विश्वामित्र ने उस राजा को ज्ञान का उपदेश करा. तिस ज्ञान से हरिश्चन्द्र की मोक्ष होने की रीति कहते हैं–सकल संसार का मूल मन है और मन अन्नमय है इसकारण राजा ने अन्नशब्दवाच्य पृथिवी के विषैं अपने मन की एकता करके उस पृथ्वी की जल में एकता करी, उस जल की तेज से एकता करके उस तेजकी वायु में एकता करी, उस वायु का आकाश में लय करके, आकाश का अहङ्कार में और अहङ्कार का महत्तत्त्व में लय करा, उसमहत्तत्त्व के विषैं ज्ञानकला का चिन्तवन करके उस ज्ञान कला से आत्मस्वरूप को ढकनेवाले अज्ञान को दूर करा ॥ २५ ॥ २६ ॥ तदनन्तर स्वरूपसुखके अनुभव से उस ज्ञानकला का भी त्याग करके वह राजा हरिश्चन्द्र, संसारबन्धन से छूटकर, जिसका दिखादेना और तर्कना करना कठिन है ऐसे अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से स्थित हुआ ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में सप्तम अध्याय समाप्त श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! रोहित का पुत्र हरित, उस से चम्प हुआ; उसने चम्पा नगरी बनाई- उस चम्प से सुदेव, तिसका पुत्र विजय हुआ ॥ १ ॥ तिसका पुत्र भरुक, तिससे वृक, तिस का बाहुक हुआ. उस राजा की भूमि शत्रुओं ने छीनली तब वह अपनी स्त्री के साथ वन में चलागया ॥ २ ॥ वह तहां ही बूढ़ा होकर मरण को प्राप्त होगया तब उसकी स्त्री उस के साथ परलोकगमन करती थी परन्तु यह गर्भिणी है ऐसा ज्ञानमार्ग से जाननेवाले गुरु और्व ऋषि ने, उस को निषेधकरा ॥ ३ ॥ फिर उसकी सपत्नियोंने, यह गर्भिणी है, ऐसा जानकर सापत्नभाव के द्वेषसे उसको अन्नके स य विष देदिया तदनन्तर वहगर्भ उस के विषकेसाथ उत्पन्नहुआ ॥ ४ ॥ इसकारण उसका 'सगर' यह नामहुआ, यह सगर आगे को बड़ा यशस्वी चक्रवर्त्ती राजाहुआ, उसके पुत्रोंने समुद्र को उत्पन्नकरा; जिस सगरने अपने

बर्बरान् ॥ ५ ॥ नावधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः ॥ मुण्डान् श्मश्रुधरान्
कांश्चिन्मुक्तकेशार्द्धमुण्डितान् ॥ ६ ॥ अनन्तर्वाससः कांश्चिद्बहिर्वाससोपरान् ॥
सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ॥ ७ ॥ और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मान-
मीश्वरम् ॥ तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥ ८ ॥ सुमत्यास्तनया
दृप्ताः पितुरादेशकारिणः ॥ हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम् ॥ ९ ॥
प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके ॥ एष वाजिहरश्चौर आस्ते मी-
लितलोचनः ॥ १० ॥ हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः ॥ उदायुधा
अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥ ११ ॥ स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः ॥
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन्क्षणात् ॥ १२ ॥ न साधुवादो मुनिकोपभ-
र्जिता नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ॥ कथं तमो रोषमयं विभाव्यते जगत्पवि-

और्व गुरुकी आज्ञासे कितने ही तालजङ्घ,यवन (म्लेच्छ),शक,हैहय और बर्बर राजाओंको मारडाला, कितनों ही के हाथ पैर तोड़कर उन को विरूप करदिया; कितनोंहि का मुण्डन करदिया कितनोंहीको दाढ़ी मूँछ धारण करनेवाला,कितनोंही को खुले केश रखनेवाला और कितनो ही को अर्द्धमुंडित करदिया ॥ ५ ॥ ६ ॥ कितनों ही को नंगा करके ओढ़ने के वस्त्र से युक्त और कितनों ही को लँगोटी लगवाकर ओढ़ने के वस्त्र से रहित करादिया. उस राजा सगर ने और्व ऋषिकी कही हुई रीति से अनेकों अश्वमेधों के द्वारा सकल वेदरूप और सकल देवतास्वरूप जो आत्मा ईश्वर श्रीहरि तिनकी आराधना करी. उस यज्ञ में छोड़ेहुए पशुरूप घोड़े को इन्द्र ने हरण करलिया ॥ ७ ॥ ८ ॥ राजा सगर की सुमति और केशिनी दो स्त्रियें थीं, उन मैं से सुमति के पुत्र बलवान् गर्वमें भरेहुए साठ सहस्र थे; उन्हों ने पिताकी आज्ञा से घोड़े को ढूँढतेहुए सकल पृथ्वी चारों ओर से खोदडाली ॥ ९ ॥ उस समय उन्होंने ईशान कोण की दिशा में कपिल मुनि के सामने घोड़ा देखा (उसको तहाँ इन्द्रने बाँधादिया था) सो—यह ऋषि ही घोड़े को लानेवाला, पापी चोर है और अब नेत्र मूँदकर बैठगया है,इस को मारो२ऐसा कहनेवाले वह साठ सहस्र पुत्र, हाथों में आयुध उठाकर उनको मारने को दौड़े. तब कपिल ऋषिने नेत्र खोले ॥ १० ॥ ११ ॥ तब इन्द्रने अपनी माया से जिन के चित्त मोहित करादिये हैं और कपिल जी के अपराध से मृतक समानहुए वह साठों सहस्र पुत्र, ऋषि की दृष्टि पड़ते ही अपने शरीर में की अग्नि सेही एक क्षण में जलकर भस्म होगये ॥ १२ ॥ राजा सगर के पुत्र कपिल मुनिके कोप से भस्म हुए यह कहना ठीक नहीं है, किन्तु वह अपने करेहुए अपराध सेही भस्म हुए ऐसा कहना चाहिये; क्योंकि—जिनका शरीर जगत् को पवित्र करनेवाला है; उन शुद्ध सत्वगुणमूर्त्ति कपिल मुनि के विषैं क्रोधरूप तमोगुण का होना कैसे सम्भव होसक्ता है? किन्तु जैसे भूमि

त्रात्मनि खे रजो भुवः ॥ १३ ॥ यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमु-
क्षुस्तरते दुरत्ययम् ॥ भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः परात्मभूतस्य कथं पृथ-
ङ्मतिः ॥ १४ ॥ योऽसमंजस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः ॥ तस्य पुत्रो-
ऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः ॥ १५ ॥ असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जं-
सम् ॥ जातिस्मरः पुरा संगाद्योगी योगाद्विचालितः ॥ १६ ॥ आचरन् ग-
र्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ॥ सरय्वां क्रीडतो बालान्प्रास्यदुद्वेजयन्
जनं॥१७॥एवंवृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै ॥ योगैश्वर्येण बालांस्तान्दर्श-
यित्वा ततो ययौ ॥ १८ ॥ अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान्पुनरागतान् ॥ दृ-
ष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत ॥ १९ ॥ अंशुमांश्चोदितो राज्ञा

की धूलि का सम्बन्ध निर्लेप आकाश के विषैं नहीं होसक्ता है तैसे ही उन में क्रोधका होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ १३ ॥ जिन कपिल मुनिने इस लोक में, सांख्य—शास्त्ररूप दृढ़ नौका का प्रचार कररक्खा है कि—जिस के द्वारा मुमुक्षु पुरुष, मृत्यु के मार्ग और दुस्तर भी संसारसमुद्र को तरजाता है, उन सर्वज्ञ परमात्मारूप कपिल मुनिकी 'यह शत्रु है, यह मित्र है' इसप्रकार की भेदबुद्धि कैसे होसक्ती है ? ॥ १४ ॥ राजा सगर की केशिनी नामवाली दूसरी स्त्री थी; उसका जो पुत्र था तिसको लोक असमञ्जस कहते थे उस असमञ्जस का अंशुमान् नामकपुत्र हुआ और वह राजा सगर का हितकरने में तत्पर था ॥ १५ ॥ जो असमञ्जस नामवाला कहा यह पूर्वजन्म में योगी था और दुष्टसङ्ग के कारण योगमार्ग से भ्रष्ट होकर राजा के यहाँ उत्पन्न हुआथा तथा उस को पहिले जन्म के वृत्तान्त का स्मरण था इसकारण वह इस जन्म में दुष्टसङ्गति न हो इस हेतु से लोक में अपना असमञ्जसपना (उलटा वर्त्ताव) दिखाता था; अर्थात् ज्ञातिवालों को प्रिय न लगनेवाले निन्दित कर्म करता था. एकसमय, सब पुरुष मुझे त्यागदें, ऐसा मन में विचारकर लोगों को भय देने के निमित्त उस ने तटपर खेलतेहुए बालकोंको सरयूनदी में डुबोदिया ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥ ऐसा करनेवाले पुत्र की ममता को छोड़कर राजा सगर ने उस को नगर से निकलवादिया. उस ने जातेसमय अपनी योगशक्ति से सरयू में डूबेहुए बालकों को फिर जिसका तिसको जीवित दिखाकर वह नगरमें से निकलकर चलागया ॥ १८ ॥ हे राजन् ! उससमय फिर घर आयेहुए बालकों को देखकर उस अयोध्या नगर में रहनेवाले सबही लोक अचरज में होगये और राजा सगर भी उन बालकों को आयाहुआ सुनकर 'अहो ! ऐसी सामर्थ्यवाले पुत्र को मैंने वृथा निकलवादिया ऐसा पश्चात्ताप करनेलगा ॥ १९ ॥ उस राजा सगर का आज्ञा कराहुआ असमञ्जसका पुत्र अंशुमान्, घोड़े को ढूँढने के नि-

तुरंगमन्वेषणे ययौ ॥ पितृव्यखातानुपथं भस्मांति ददृशे हयं ॥ २० ॥ तत्रा-
सीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजं ॥ अस्तौत्समाहितमनाः प्रांजलिः प्र-
णतो महान् ॥ २१ ॥ अंशुमानुवाच ॥ न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो न
बुद्ध्यतेऽद्योपि समाधियुक्तिभिः ॥ कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधीविसर्गसृष्टा
वयमप्रकाशाः ॥२२॥ ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना गुणान्विपश्यन्त्युत वा तमश्च ॥
यन्मायया मोहितचेतसस्ते विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥ २३ ॥ तं
त्वामहं ज्ञानघनं स्वभावप्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ॥ सनंदनाद्यैर्मुनिभिर्विभा-
व्यं कथं हि मूढः परिभावयामि ॥ २४ ॥ प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं
सदसद्विमुक्तं ॥ ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं नमामहे त्वां पुरुषं पुराणं ॥२५॥ त्व-

मित्त निकला. चचाओंकी खोदीहुई भूमि के मार्ग से जाते जाते उस ने भस्म के समीप में घोड़ा देखा ॥ २० ॥ तैसे ही वैठेहुए भगवान् के अवतार कपिल मुनिको देखकर उन को नमस्कार करा और हाथ जोड़कर, विवेकवान् और एकाग्रचित्त वह अंशुमान्, उन की स्तुति करनेलगा ॥ २१ ॥ अंशुमान् ने कहाकि—हेभगवन् ! ब्रह्माजी भी अपने से श्रेष्ठ तुम परमेश्वर को अवभी समाधि लगाकर प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं और अनुमान आदि शास्त्र की युक्तियों से परोक्ष करके भी उत्तम प्रकार से नहीं जानते हैं फिर उनसे अनन्तर इधर के तथा उन के मन, शरीर, बुद्धि और सत्व आदि गुणों के कार्यों करके नानाप्रकार से उत्पन्न करेहुए देवता, तिर्यक, मनुष्य आदि की सृष्टि में उत्पन्न करेहुए जो हम अज्ञानी सो तुम्हें जानने को कैसे समर्थ होसक्ते हैं ? ॥ २२ ॥ जो देहधारी प्राणी हैं वह तुम्हारी माया से मोहितचित्त और त्रिगुणमयी बुद्धि के वशीभूत होकर बाहरी विषयों के ही ज्ञानवाले होकर केवल जाग्रत् स्वप्न में के विषयों को वा सुषुप्ति में के अज्ञान को ही देखते हैं परन्तु अपने में अन्तर्यामी रूप से रहनेवाले तुम्हें नहीं जानते हैं ॥ २३ ॥ ऐसे आप की माया से मूढ़ हुआ मैं, ब्रह्मादिकों को भी कठिन से जानने में आनेवाले तुम्हारे स्वरूप का विचार कैसे करूँ ? क्योंकि—तुम शुद्ध ज्ञान मूर्त्ति होने के कारण ज्ञान के विषय नहीं हो और जिन की माया के गुणों से उत्पन्न हुए भेद तथा मोह यह जिन के अपने अनुभव से ही नष्ट होगये हैं ऐसे सनन्दनादि ऋषियों के ही चिन्तवन करने योग्य तुम्हारा स्वरूप है, फिर तुम्हारी माया के गुणों से तिरस्कार कराहुआ मैं तुम्हारा स्वरूप जानने को कैसे समर्थ होसक्ता हूँ ? ॥ २४ ॥ इस कारण हे अतिशान्तस्वरूप देव ! जिन तुम से माया के सत्व आदि गुण, विश्व की सृष्टि आदि कर्म और ब्रह्मादिक स्वरूप उत्पन्न हुए हैं ऐसे कार्यकारणरूप, स्थूल सूक्ष्म उपाधियों से रहित, देव मनुष्य आदि नामरूपों से रहित और ज्ञान का उपदेश करने के निमित्त शुद्ध सत्वगुणी मूर्त्ति धारण करनेवाले तुम पुराण पुरुष को हम केवल नमस्कार

न्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ॥ भ्रमंति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रांतचेतसः ॥ २६ ॥ अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः ॥ मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥ २७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः ॥ अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप ॥ २८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव ॥ इमे च पितरो दग्धा गङ्गांऽभोऽर्हंति नेतरत् ॥२९॥ तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् ॥ सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत् ॥३०॥ राज्यमंशुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः ॥ और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥३१॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे सगरोपाख्याने अष्टमोऽध्यायः ॥८॥*॥ श्रीशुक उवाच ॥ अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ॥ कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कालेन संस्थितः

करते हैं ॥ २९ ॥ हे प्रभो ! यह सब लोक, विषयों की अभिलाषा, लोभ, ईर्षा और अविवेक से मोहित चित्त होते हुए, तुम्हारी माया के रचे हुए इस लोक में घर स्त्री आदि कों में सत्यता मानकर आसक्त होरहे हैं ॥ २६ ॥ हे सर्वभूतात्मन् भगवन् ! आज तुम्हारी कृपा से ही प्राप्त हुए तुम्हारे दर्शन से, विषयवासना, कर्म और इन्द्रियों के आश्रय हमारी, मोहरूप दृढ पाशी कटगई है अर्थात् तुम्हारे अनुग्रह से मैं कृतार्थ हुआ हूँ ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हेराजन् ! इस प्रकार जिन का प्रभाव वर्णन करा है ऐसे वह सर्वज्ञ कपिल मुनि, उस अंशुमान् के ऊपर बुद्धि से अनुग्रह करके इस प्रकार कहने लगे ॥ २८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि हे पुत्र ! यह घोडा तेरे पितामह (राजा सगर) का यज्ञपशु है, इस को तू लेजा; यह भस्महुए तेरे चचा गङ्गाजल के ही योग्य हैं और किसी के नहीं अर्थात् यहां गङ्गा के आनेपर उस के जल से इन का उद्धार होयगा और किसी भी प्रकार से नहीं होयगा ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इस प्रकार कहनेवाले उन कपिल महामुनि की प्रदक्षिणा करके मस्तक नवाकर करेहुए प्रणाम से प्रसन्न करके वह अंशुमान् घोड़े को लेआया तदनन्तर राजा सगर ने उस पशु के द्वारा शेष रहे हुए यज्ञ को समाप्त करा ॥ ३० ॥ तदनन्तर इस लोक में के और परलोक में के भोगों की इच्छा के विषय में निःस्पृह और अविद्या रूप बन्धन से रहित वह राजा सगर उस अंशुमान् को राज्यपर स्थापन करके और्व ऋषि के कहेहुए योग की रीति से सर्वोत्तमगति को (मोक्ष को) प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! जिसप्रकार राजा सगर ने पोते को राज्य देकर तप करा तैसे ही अंशुमान् ने भी अपने पुत्र को राज्य देकर बहुत कालपर्यंत तप करा तथापि

॥ १ ॥ दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ॥ भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत्तपः ॥ २ ॥ दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदाऽस्मि ते इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥ ३ ॥ कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले ॥ अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलं ॥ ४ ॥ किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजंत्यघम् ॥ मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिंत्यतां ॥ ५ ॥ भगीरथ उवाच ॥ साधवो न्यासिनः शांता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ॥ हरन्त्यघं तेंगसंगात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ६ ॥ धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणां ॥ यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तंतुषु ॥ ७ ॥ इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसाऽतोषयच्छिवं ॥ कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशः समतुष्यत ॥ ८ ॥ तथेति राज्ञाऽभिहितं सर्वलोकहितः शिवः॥

वह गङ्गा को भूमिपर लाने को समर्थ नहीं हुआ. तदनन्तर कालवश आप भी मरण को प्राप्त होगया ॥ १ ॥ उस अंशुमान् का पुत्र दिलीप हुआ, वह भी तैसे ही अपने पुत्र को राज्य देकर तप करके गङ्गा को लाने में असमर्थ होताहुआ मृत्यु को प्राप्त होगया. तिस का पुत्र भगीरथ हुआ, उस ने भी पुत्र को राज्य देकर गङ्गा को लाने के निमित्त वड़ाभारी तप करा ॥ २ ॥ उस तप से प्रसन्नहुई गङ्गा ने, राजा को अपना दर्शन दिया और मैं तुझे दर्शन देने के निमित्त आई हूँ, ऐसा उस के कहनेपर राजा भगीरथ ने उस को प्रणाम कर के प्रार्थना करी कि–तू मेरे पूर्वपुरुषाओं का उद्धार करने के निमित्त भूमिपर आओ ॥३॥ तब गङ्गा ने कहा कि–हे राजन्! स्वर्ग से भूमिपर गिरनेवाली मेरे वेगको कौन धारणकरेगा? यदि वेग को धारण करनेवाला नहीं होयगा तो मैं भूमि को फोड़कर पाताल में चलीजाऊँगी ॥ ४ ॥ और मैं भूमिपर आऊँगी भी नहीं, क्योंकि–भूमिपर के प्राणी अपने करेहुए पाप मेरेमें स्नान आदि करके धोवेंगे उन पापों को मैं कहाँ धोऊँगी? हे राजन्! इस का तू विचार कर देख ॥ ५ ॥ भगीरथ ने कहा कि–हे मातः! विषयवासनाओं को छोड़ने वाले, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ और लोकों को पवित्र करनेवाले सत्पुरुष, तेरे प्रवाह में स्नान आदि करके अपने अङ्ग के स्पर्श से तेरे में जो पाप होंगे उन को दूर करेंगे. क्योंकि–उन के हृदय में पातकों का नाश करनेवाले श्रीहरि विद्यमान हैं ॥ ६ ॥ हे गङ्गे! जिन के विषैं यह जगत्, सूधे और आड़े तन्तुओं में बुनेहुए वस्त्र की समान ओतप्रोत है वह सकल प्राणियों के आत्मा रुद्र तेरे वेग को धारण करेंगे ॥ ७ ॥ ऐसा गङ्गा से कहकर और उस की रुचि जानकर उस राजा ने तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न करा; हे राजन्! उस तपस्या के प्रभाव से थोड़े ही काल में शिवजी प्रसन्न होगए ॥ ८ ॥ तब भगीरथ के गङ्गा का वेग धारण करने के निमित्त उन से प्रार्थना करनेपर, सब लोकों का हित करने

दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥ ९ ॥ भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये
भुवनपावनीम् ॥ यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते ॥ १० ॥ रथेन
वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ॥ देशान्पुनन्ती निर्दग्धानासिंचत्सगरात्मजान्॥११॥
यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि ॥ सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं दे-
हभस्मभिः ॥ १२ ॥ भस्मीभूताङ्गसंगेन स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥ किं पुनः
श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः॥१३॥न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्॥
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥ १४ ॥ संनिवेश्य मनो यस्मिन् श्र-
द्धया मुनयोऽमलाः॥ त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥१५॥श्रुतो
भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत् ॥ सिंधुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततो-
ऽभवत् ॥ १६ ॥ ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ॥ दत्त्वाऽक्षहृ-

वाले उन शिवजी ने, तथास्तु (बहुत अच्छा ऐसा ही होगा) यह कहकर सावधानचित्त से, जिस का जल श्रीहरि के चरण से पवित्र है ऐसी तिस गङ्गा को अपने मस्तकपर धारण करा ॥ ९ ॥ तदनन्तर वह राजर्षि भगीरथ, अपने पूर्वपुरुषों के देह जहाँ भस्महुए पड़े थे तहाँ तिस जगत्पावनी गङ्गा को लेगया ॥ १० ॥ उस समय वायु की समान वेगवाले रथ में बैठकर जानेवाले भगीरथ के पीछे जानेवाली और मार्ग में के देशों को पवित्र करनेवाली तिस गङ्गा ने,भस्मरूपहुए सगर राजा के पुत्रों को सींचदिया ॥ ११ ॥जिस गंगाके जलका स्पर्शमात्र करने से कपिल महामुनि के विषैं करेहुए अपराध से जलकर भस्महुए भी सगरराजा के पुत्र,केवल देह की भस्मके सम्बन्ध से ही यदि स्वर्ग को चलेगये तो श्रद्धासे निरन्तर उसका सेवन करनेवालों को प्राप्त होनेवाले फल का तो कहनाही क्या ? ॥ १२ ॥ अर्थात् भस्मरूप हुए देह के सङ्ग से ही यदि सगर के पुत्र स्वर्ग को चले गये तो गङ्गा के स्नान पान आदि का नियम धारण करनेवाले जो पुरुष, गङ्गादेवी का श्रद्धा के साथ पूजा,स्तुति नमस्कार, आदि करके पूजन करतेहैं वह स्वर्ग को जायँगे इस का तो कहना ही क्या ? ॥ १३ ॥ हे राजन् ! गङ्गा का जो यहां स्वर्ग को पहुँचाने का माहात्म्य कहा है सो कोई बडे आश्चर्य की वात नहीं है; क्योंकि—वह गङ्गा अनन्तरूपी भगवान् के चरण कमल से उत्पन्न होने के कारण संसार बन्धन को भी दूर करदेनेवाली है ॥ १४ ॥ वह अनन्त भगवान् ऐसे हैं कि—श्रद्धा के साथ जिन के विषैं मन को स्थापन करके शुद्ध चित्त हुए मुनि, जिस को त्यागना कठिन है ऐसे भी देह के सम्बन्ध को त्यागकर तत्काल भगवान् के स्वरूप को प्राप्त होगये हैं ॥ १५ ॥ भगीरथ से श्रुत नामक पुत्र हुआ, उस श्रुत का नाभ नामवाला दूसरा पुत्र हुआ, तदनन्तर उस से सिन्धुद्वीप हुआ, तिस से अयुतायु हुआ ॥ १६ ॥ उस से ऋतुपर्ण हुआ वह राजा नल का मित्र था, उस

दयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥ १७ ॥ ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपति-
र्नृपः ॥ आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषांघ्रिमुत क्वचित् ॥ वसिष्ठशापाद्रक्षोऽभू-
दनपत्यः स्वकर्मणा ॥ १८ ॥ राजोवाच ॥ किन्निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य
महात्मनः ॥ एतद्वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि ॥ १९ ॥ श्रीशुक उ-
वाच ॥ सौदासो मृगयां कञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह ॥ मुमोच भ्रातरं सोऽथ
गतः प्रतिचिकीर्षया ॥ २० ॥ स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे ॥ गुरवे
भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषं ॥ २१ ॥ परिवेक्ष्यमाणं भगवान्विलो-
क्याभक्ष्यमंजसा ॥ राजानमशपत्क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥ २२ ॥ रक्षःकृतं
तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकं ॥ सोऽप्यपोऽञ्जलिनादाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ।२३।
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ ॥ दिशः खमवनीं सर्वं पश्यन् जीवमयं

ने राजा नल को द्यूतशास्त्र (जुआ खेलने की रीति) का गुप्त भेद सिखाकर उस से घोड़ों को शिक्षा देने की विद्या पाई; उस ऋतुपर्ण का पुत्र सर्वकाम हुआ ॥ १७ ॥ हे राजन्! उस सर्वकाम से सुदास हुआ उस का पुत्र तो मदयन्ती का पति, जिस को मित्र सह और कल्माषपाद कहते हैं वह हुआ. वह एक समय वसिष्ठजी के शाप से बारह वर्ष पर्यन्त राक्षस रहा था, उस समय अपने करेहुए कर्म से आगे को वह औरस पुत्र से हीन हुआ ॥ १८ ॥ राजा ने कहा कि–उस उदारचित्त सौदास राजा को गुरु का शाप किस निमित्त से हुआ? उस शाप का कारण जानने को मैं इच्छा करता हूँ, वह यदि गुप्त रखनेयोग्य न होय तो अर्थात् कहनेयोग्य होय तो कहिये ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेव जी ने कहा कि–राजा सौदास एक समय मृगया करने के निमित्त (शिकार खेलने को) वन में विचर रहा था सो उस ने एक राक्षस का वध करा और उस के भ्राता को छोड़ दिया तब वह भागकर चलागया, तदनन्तर, राजा ने मेरे भ्राता को मारडाला है ऐसा मन में विचार कर राजा का कुछ अनिष्ट करने की इच्छा से वह रसोइये का रूप धारण करके राजा के घर गया और उस ने तहां एक समय भोजन की इच्छा करनेवाले गुरु वसिष्ठजी को मनुष्य का मांस पकाकर परोस दिया ॥ २० ॥ २१ ॥ तदनन्तर उन सर्वज्ञ वसिष्ठजी ने, परोसा हुआ नरमांस अभक्ष्य है, ऐसा तत्काल जानलिया और क्रुद्ध होकर राजा को यह शाप दिया कि–नरमांस परोसने के दोष से तू राक्षस ही होयगा ॥ २२ ॥ तदनन्तर वह नरमांस परोसना, रसोइये का रूप धारण करने वाले राक्षस ने करा है, राजा ने नहीं करा है; ऐसा जानकर वसिष्ठजी ने ही अपना वाक्य असत्य न होने के निमित्त, 'यह शाप बारह वर्ष पर्यन्त ही रहेगा' ऐसा कहदिया; उस समय वह राजा भी अञ्जुलि में जललेकर गुरु वशिष्ठजी को शाप देने को उद्यतहुआ तब, जो शाप होगया है वह दूर नहीं होगा तथा गुरुका अपमान करने से दूसरा एक

नृपः ॥ २४ ॥ राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः ॥ व्यवायकाले ददृशे
वनौकौ दंपती द्विजौ ॥ २५ ॥ क्षुधार्त्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत् ॥
न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥ २६ ॥ मदयन्त्याः पतिर्वीर
नाधर्मं कर्त्तुमर्हसि ॥ देहि मेपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥ २७ ॥
देहोऽयं मानुषो राजन्पुरुषस्याखिलार्थदः ॥ तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थ-
वध उच्यते ॥ २८ ॥ एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः ॥ आरि-
राधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ॥ सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वंतर्हितं गुणैः ॥ २९ ॥
सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभो ॥ कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरि-
वात्मजः ॥ ३० ॥ तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः ॥ कथं वधं यथा

और अनर्थ होजायगा, ऐसा जाननेवाली उस की मदयन्ती नामवाली स्त्री ने, 'गुरुको शाप न दो, ऐसा राजा से कहा तब उस राजा ने, दिशा आकाश, पृथ्वी आदि सब स्थल जीवमय हैं, ऐसा देखकर शाप देने को लियाहुआ जल, तहाँ छोड़नेपर उनका नाश होगा ऐसी शङ्का से वह तीक्ष्ण जल अपने ही चरणपर डाल लिया ॥ २४ ॥ इस प्रकार मित्ररूप स्त्री का वचन सहने (मानने) के कारण मित्रसह नामवाला वह राजा फिर गुरु के शाप से राक्षसभाव को प्राप्त होकर, चरण में कालेपन को प्राप्तहुआ. तदनंतर राक्षस की समान वन में विचरतेहुए उस ने एकसमय वन में रहनेवाले एकब्राह्मण और उस की स्त्री इन दोनों को सङ्गम करतेसमय देखा ॥ २५ ॥ सो तब ही भूँख से व्याकुलहुए उस राक्षसरूप राजा ने, ब्राह्मण को भक्षण करने के निमित्त पकड़लिया तब उस ब्राह्मण की स्त्री अनाथ की समान कहनेलगी कि—हे राजन् ! तू साक्षात् राक्षस कुल में उत्पन्न हुआ नहीं है किन्तु तू इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्नहुए राजाओं में श्रेष्ठ, महारथी, मदयन्ती पतिव्रता का पति है. इसकारण हे वीर ! तू ब्राह्मण का वधरूप पाप करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥ किन्तु सन्तान की इच्छा करनेवाली मुझे, जिसका मैथुन कार्य पूर्ण नहीं हुआ है ऐसा यह पति दे. हे राजन् ! यह मनुष्य शरीर जीवके सकल पुरुषार्थों को सिद्धकर देनेवाला है ॥ २७ ॥ इसकारण हे वीर ! इस ब्राह्मण के शरीर का वध करना, सकल ही पुरुषार्थों का वध करना है ऐसा शास्त्र में कहा है;तिसपर यह ब्राह्मण तो विद्वान् है तथा तप, शील और गुणों से युक्त है ॥ २८ ॥ और सकल प्राणियों में रहतेहुए भी अहङ्कार आदि गुणों के कार्यों से ढकेहुए महापुरुष नामक परब्रह्म की, यह सकल प्राणियों के आत्मा हैं; ऐसी भावना से आराधना करने की इच्छा करनेवाला है ॥ २९ ॥ हे धर्मज्ञविभो ! ऐसा यह ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ, तुझ राजर्षि के हाथ से वध होने को कैसे योग्य होगा? किन्तु जैसे पुत्र पिता के हाथ से वध होने के योग्य नहीं होता है तैसे ही यह तुमसे वध को प्राप्त होनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥ और साधुओं का माननीय तूतो, मुक्ति के साधन में तत्पर, अध्ययन आदि युक्त,

बभ्रेर्मन्यते सम्मतो भवान् ॥ ३१ ॥ यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः ॥ न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥ ३२ ॥ एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत् ॥ व्याघ्रः पशुमिवाखादत्सौदासः शापमोहितः ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधुषुं पुरुषादेन भक्षितम् ॥ शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत्कुपिता सती ॥ ३४ ॥ यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्त्तायाः पतिस्त्वया ॥ तवापि मृत्युराधानादकृतमज्ञ दर्शितः ॥ ३५ ॥ एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा ॥ तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्त्तुर्गतिं गता ॥ ३६ ॥ विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः ॥ विज्ञाय ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः ॥ ३७ ॥ तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाऽप्रजः ॥ वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥ ३८ ॥ सा वै सप्तसमा गर्भमबिभ्रन्न व्यजा-

और वेद के अर्थ का उपदेश करने को समर्थ ऐसे इस ब्राह्मण के वध करने का मन में भी कैसे विचार करता है ? किन्तु जैसे गौ का वध करने का मन में विचार करना भी अयोग्य है तैसे ही यह भी तुझे अयोग्य है ॥ ३१ ॥ जिस के विना मैं क्षणभर भी जीवित रहने की इच्छा नहीं करती हूँ ऐसा यह ब्राह्मण, यदि तुझे भक्षण ही करना है तो मृतक समान हुई मुझे पहिले भक्षण करले ॥ ३२ ॥ इस प्रकार उस स्त्री के दीनता के साथ भाषण करनेपर और अनाथ की समान रोनेपर, शाप से मोहित हुए राजा सौदास ने, जैसे व्याघ्र पशु को भक्षण करता है तैसे उस ब्राह्मण को भक्षण करलिया॥३३॥ उस समय, गर्भाधान करनेवाले मेरे पति को राक्षस ने भक्षण करलिया ऐसा देखकर, अपने निमित्त शोक करनेवाली उस ब्राह्मणी ने, क्रोध में भरकर उस राजा को ऐसा शाप दिया कि—॥ ३४ ॥ अरे पापाचरण करनेवाले दुर्बुद्धि राजन ! तू ने जो मेरे काम देव से आर्त्त पति को भक्षण करा है इस से तुझे भी गर्भाधान से ही मैंने मृत्यु दिखाया है अर्थात् जब तू मेरे पति की समान अपनी स्त्री के विषै गर्भाधान करने को उद्यत होगा तबही तेरा मरण होगा ॥ ३५ ॥ इस प्रकार राजा मित्रसह को शाप देकर पतिलोक को जाने की इच्छा करनेवाली वह स्त्री, पति की हड्डियें जलते हुए अग्नि में डालकर और उस में ही अपने शरीर को गिराकर सहगमन की विधि से पति को प्राप्त हुए लोक को चलीगई ॥ ३६ ॥ तदनन्तर बारह वर्ष होते ही शाप से छूटा हुआ वह राजा सौदास जब मैथुन करने को उद्यत हुआ तब उस की स्त्री मदयन्ती ने ब्राह्मणी का शाप जानकर उस को निषेधकरा ॥ ३७ ॥ उस दिन से उस ने स्त्री सम्भोग का सुख त्याग दिया, इस प्रकार ब्राह्मण का भक्षण करने के कारण होनेवाले शाप से वह सन्तान हीन हुआ तब सन्तान उत्पन्न करने के निमित्त उस के प्रार्थना करेहुए मदयन्ती के विषै गर्भ स्थापन करा ॥ ३८ ॥ उस ने सात वर्ष पर्यन्त गर्भ को धारण करा तो भी पुत्र नहीं

यंत ॥ जंघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥ ३९ ॥ अश्मकान्मूलको
जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः ॥ नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत्
॥४०॥ ततो दशरथस्तस्मात्पुत्र ऐडविडस्ततः ॥ राजा विश्वसहो यस्य खट्वा-
ङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥ ४१ ॥ यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद्युधि दुर्जयः ॥ मुहूर्त-
मायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः ॥ ४२ ॥ न मे ब्रह्मकुलात्प्राणाः कुलदै-
वान्न चात्मजाः ॥ न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥ ४३ ॥
न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित् ॥ न पश्याम्युत्तमश्लोकादन्यत्किंचन
वस्त्वहम् ॥ ४४ ॥ देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः ॥ न वृणे तमहं
कामं भूतभावनभावनः ॥ ४५ ॥ ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितं ॥
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे ॥ ४६ ॥ अथेशमायारचितेषु

हुआ तब वसिष्ठजी ने ही उस का पेट पत्थर से फोड़दिया, इस निमित्त से उत्पन्न हुए
उस पुत्र का अश्मक नाम पड़ा ॥३९॥ अश्मक से मूलक हुआ, उस की स्त्रियों ने (जब
परशुरामने पृथिवी को क्षत्रियहीन करदिया उस समय) कवच की समान चारोंओर से रक्षा
करी इसकारण उस का नारी कवच नाम पड़ा; फिर वह क्षत्रियकुल का मूल हुआ इसकारण
मूलकनाम से प्रसिद्ध हुआ ॥४०॥ उस से दशरथ हुए, उन से ऐडविड़ पुत्र हुआ, उस से राजा
विश्व सह हुआ; तिससे सार्वभौम खट्वाङ्ग हुआ ॥ ४१ ॥ उस खट्वाङ्ग राजा को युद्ध
में जीतना शत्रुओं को कठिन था इसकारण देवताओं ने अपनी सहायता करने को उस की
प्रार्थना करी तब उस ने दैत्यों का वधकरा. तदनन्तर प्रसन्नहुए देवताओं ने 'वरमांग' ऐसा
कहा, सो वह कहनेलगा कि—तुम पहिले यह बताओकि—मेरी आयु कितनी है, फिर उसके
अनुसार ही वर मांगूंगा; तब देवताओंने कहाकि—तेरी आयुतो भूतलपर दो घड़ी की ही है.
यह जानकर देवताओं के दियेहुए विमान में बैठकर वह राजा, अपने नगर में आया और
उसने अपनामन परमेश्वर में लगाया ॥ ४२ ॥ उससमय उसने यह निश्चय कराकि—कु-
लपूज्य ब्राह्मणकुलकी अपेक्षा मुझे पृथ्वी, राज्य, सम्पदा, स्त्री, पुत्र और यह प्राणभी अधिक
प्रिय नहीं प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥ मेरी बुद्धि बालक अवस्था में ही सङ्कट के समय भी क-
भीअधर्म में नहीं लगी. तैसेही उत्तमकीर्त्ति भगवान् की अपेक्षा कोईभी दूसरी वस्तु सत्यहो
ऐसा मैंने देखा नहीं ॥ ४४ ॥ यद्यपि त्रिभुवन पति देवताओंने, मुझे इच्छित वस्तु मांगने
का वर दिया है तथापि प्राणियों का पालन करनेवाले भगवान् के विषैं मन लगानेवाला मैं,
उस भगवद्भजन में विघ्नरूप वरको मैं नहीं मांगूँगा ॥४५॥ क्योंकि—जो सत्वगुणी प्रसिद्ध
हैं वह देवताभी, इन्द्रियें और बुद्धि के विषयों में आसक्त होने के कारण, तथा तमोगुणी अपने
हृदयमें निरन्तर रहनेवाले, प्रिय आतमा भगवान् को नहीं जानते हैं फिर और रजोगुणी स्व-
भाववाले मनुष्य आदि नहीं जानते इसका तो कहना ही क्या ? ॥४६॥ इसकारण स्वभावसे

संगं गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु ॥ रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वकर्तुर्भावेन हित्वा तं-
महं प्रपद्ये ॥ ४७ ॥ इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया ॥ हित्वाऽन्य
भावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः ॥ ४८ ॥ यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्य-
कल्पितम् ॥ भगवान्वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥ ४९ ॥ इति-
श्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे सूर्यवंशानुवर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ खट्वांगाद्दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः ॥ अजस्ततो महा-
राज तस्माद्दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥ तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो
हरिः ॥ अंशांशेन चतुर्द्धाऽगात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥ रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना
इति संज्ञया ॥ २ ॥ तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥ गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्य-
चरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रा-

अपने में चिकटेहुए और ईश्वर की माया के रचेहुए गन्धर्वनगर की समान विषयों में के संगको, विश्वकर्त्ता भगवान् की भावना से त्यागकर उनही भगवान् की शरण जाता हूँ ॥ ४७ ॥ इसप्रकार श्रीनारायण ने अपने में खैंचीहुई बुद्धि से करा है निश्चय जिसने ऐसा वह राजा खट्वाङ्ग, देह आदि में के अभिमानरूप अज्ञान को त्यागकर आत्मस्वरूप को प्राप्त होगया ॥ ४८ ॥ जो वेदान्त में परब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है, इन्द्रियों का अगोचर होने के कारण जिसकी शून्य की समान कल्पना करते हैं परन्तु वास्तव में जो सत्स्वरूप है और भगवद्भक्त जिसको भगवान् वासुदेव कहतेहैं तिस आत्मस्वरूप को वह राजा खट्वाङ्ग प्राप्त होगया ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्धमें नवम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्री शुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! खट्वाङ्ग से दीर्घबाहु हुआ, उससे महाकीर्त्तिमान् रघु हुआ, तिससे महाराज अज हुए; तिनसे दशरथ हुए ॥ १ ॥ उन दशरथजी के भी, देवताओं के प्राथना करेहुए साक्षात् ब्रह्ममय यह श्रीहरि भगवान्, अपने अंशोके अंश करके राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न इन नामोंकरके चार प्रकार से पुत्ररूप को प्राप्तहुए ॥ २ ॥ हे राजन्! यद्यपि उन सीतापति रामचन्द्रजी का चरित्र, परमार्थ को जाननेवाले वाल्मीकि आदि ऋषियों ने, तुमसे वहुतकुछ वर्णन करा है और तुमने भी वारंवार सुना है तथापि मैं भी संक्षेप से कहता हूँ उसको सुनो ॥ ३ ॥ जो दशरथजी के वाक्य को सत्य करनेके निमित्त राज्य को त्यागकर, जिनको सीताजी के हाथोंका छूनाभी कठिन लगताथा ऐसे कमलसमान अतिसुकुमार चरणोंसे प्रत्येकवनमें विचरे, जिनका मार्गमें चलनेसे प्राप्तहुआ श्रम, सुग्रीवऔर लक्ष्मण ने दूरकरा है और सूपनखा राक्षसी के कान नासिका काटकर विरूप करने के कारण क्रोध में भरीहुई उस सूपनखाने, रावण के चित्त में सीता जी के प्राप्त होने के विषय का लोभ

लुजाभ्यां ॥ वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषा रोपितभ्रूविजृम्भत्रस्ताब्धिर्ब-द्धसेतुः खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४ ॥ विश्वामित्राध्वरे येन मारी-चाद्या निशाचराः ॥ पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुंगवाः ॥५॥ यो लोक-वीरसमितौ धनुरैशमुग्रं सीतास्वयम्वरगृहे त्रिशतोपनीतं ॥ आदाय बालगज-लील इवेक्षुयष्टिं सज्जीकृतं नृप विकृष्य वभञ्ज मध्ये ॥ ६ ॥ जित्वाऽनुरूप-गुणशीलवयोऽङ्गरूपां सीताऽभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानां ॥ मार्गे व्रजन्भृगु-पतेर्व्यनयत्प्ररूढं दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥ ७ ॥ यः सत्यपाशप-रिवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ॥ राज्यं श्रियं

उत्पन्न करके उस से सीताजी का हरण करानेपर, उन सीता जी के वियोग से प्राप्त हुए क्रोध करके चढ़ी हुई भ्रुकुटि के आवेश करके ही जिन से समुद्र भयभीत होगयाहै; तदनन्तर उस समुद्रकी प्रार्थना से ही जिन्हों ने समुद्र के ऊपर सेतु (पुल) बांधाहै और जो रावणादिदुष्टरूपी वन को जलाडालने में अग्निही हैं वह कोशले देशों के राजा श्रीरामचन्द्रजी, हमारी रक्षा करें ॥ ४ ॥ इस प्रकार संक्षेप से कहा हुआ रामचरित्र अब विस्तार से कहते हैं— जिन्हों ने विश्वामित्र ऋषि के यज्ञ में लक्ष्मणजी के देखते हुए ही, राक्षसों में श्रेष्ठ मारीच आदि राक्षसों का वध करा वह श्रीरामचन्द्रजी, हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥ हे राजन् ! जिन श्रीरामचन्द्रजी ने, सीताजी के स्वयम्वर भवन में सब लोकों में के वीरसमाज के सामने, तीन सौ उठानेवालों के लाए हुए अत्यन्त ही भारी और परम कठोर शिवजी के धनुष को उठाकर चढ़ाया और खैंचकर, जैसे बालगज की लीला को करता हुआ हाथी गन्ने को बीच में से तोड़ डालता है तैसे उस को बीच में ही से तोड़डाला ॥ ६ ॥ तदनन्तर जिन श्रीरामचन्द्रजी ने, अपने योग्य गुण, स्वभाव, अवस्था, शरीर और सुन्दरतायुक्त, जिस ने पहिले समुद्रमन्थन से उत्पन्न होतेसमय ही वक्षःस्थल में सत्कार के साथ स्थान पाया था उस सीता नामवाली लक्ष्मी को धनुष तोड़कर जीतलिया. फिर अपनी अयोध्या नगरी को जाते में, 'जिन्होंने पहिले इक्कीसवार पृथिवी को राजबीजरहित करा था वह' परशुरामजी, धनुष के टूटने का शब्द सुनकर क्रोध में भरकर मार्ग में आये तब उन का बढ़ाहुआ दर्प दूर करा वह श्रीरामचन्द्रजी, हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ एकसमय कैकेयी के ऊपर प्रसन्नहुए राजा दशरथ ने, कहा कि-तेरी इच्छा के अनुसार मैं दो वरदान दूँगा, फिर श्रीरामचन्द्रजी का यौवराज्य पदपर अभिषेक करतेसमय, कैकेयी ने भरत को राज्य और श्रीरामचन्द्रजी को वनवास यह दो वरदान मांगे, तब सत्यरूप पाशी से बँधेहुए, स्त्री के वशीभूत भी उन पिता की वनवास को जाने की आज्ञा जिन श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े सन्मान के साथ स्वीकार करी और राज्य का अधिकार, राज्य की सम्पत्तियें, प्रेम

प्रणयिनः सुहृदो निवासं त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८ ॥ रक्षः-
स्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धेस्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबंधून् ॥ जघ्ने चतुर्दश-
सहस्रमपारणीयकोदंडपाणिरटमान उवास कृच्छ्रं ॥ ९ ॥ सीताकथाश्रवणदी-
पितहृच्छयेन सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ॥ जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽप-
कृष्टो मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥ १० ॥ रक्षोधमेन वृकवद्विपिने-
ऽसमक्षं वैदेहराजदुहितर्यपयापितायां ॥ भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार॥ ११॥दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन्कबंधं सख्यं
विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः ॥बुद्ध्वाऽथ वालिनि हते प्लवगेंद्रसैन्यैर्वेलामगात्स

करनेवाली माता आदि सुहृद्जन और अयोध्या नगरी इन को, 'जैसे विरक्तहुआ योगी अपने प्राणों को भी त्यागदेता है तैसे' त्यागकर सीताजी सहित वन को गमन करा॥८॥ तदनन्तर कामातुरपने से, सीताजी का तिरस्कार करने को आईहुई सूपनखा का स्वरूप जिन्होंने कान नाक काटकर विरूप करा; और उस के भेजेहुए, उस के ही खर, त्रिशिर और दूषण यह भ्राता जिस में मुख्य हैं ऐसे चौदह सहस्र राक्षसों का वधकरा वह श्रीरामचन्द्रजी, हाथ में असह्य धनुष धारण करके विचरते हुए, लोकशिक्षा के निमित्त, वडी कठिनता से वन में रहे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उस सूपनखा के मुख से सीताजी की कथा सुनने से कामातुर होकर सीताजी का हरण करने की इच्छा करनेवाले परन्तु अपने से भयभीत हुए रावण ने अपने को आश्रम से वाहर करने के निमित्त भेजे हुए मारीच को देखकर, सुवर्ण के हरिण का देह धारण करनेवाले मारीच ने सीताजी को लोभित करके आश्रम से बाहर लेगये हुए जिन श्रीरामचन्द्रजी ने, शीघ्र जानेवाले वाणों के द्वारा तिस मारीच का 'जैसे वीरभद्र ने दक्ष प्रजापति का वध कराथा तैसे' बध करा ॥ १० ॥ तदनन्तर राक्षसों में अधम तिस रावण ने, भेडिये की समान, राम लक्ष्मण के तहां न होने के समय सीताजी का हरण करनेपर स्त्री के वियोग को प्राप्त हुए वह श्रीरामचन्द्रजी, स्त्री के संगी पुरुषों को इसप्रकार की परिणाम में दुःख प्राप्त करानेवाली गति प्राप्त होती है ऐसा दिखाते हुए दुःखित पुरुष की समान लक्ष्मणजी सहित वन में विचरने लगे ॥ ११ ॥ तव उन श्रीरामचन्द्रजी ने, अपनी प्रीति के निमित्त रावण के साथ करे हुए युद्धरूप कर्म से जिस के दाह आदि कर्म नष्ट होगये हैं ऐसे जटायु नामक पक्षी का पुत्र धर्म की समान दाह करके, तदनन्तर अपने पकड़ने को भुजा फैलानेवाले कबन्ध राक्षस का वधकरा फिर वानरों के साथ मित्रता करके, तदनन्तर बालि का बध करनेपर, वानरों से सीताजी की सुध जानकर, ब्रह्मा और रुद्र ने जिन के चरणों का पूजन करा है तथापि मनुष्य लीला को स्वीकार करनेवाले

मनुजोऽजभवार्चितांघ्रिः ॥१२॥ यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपातसंभ्रांतनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ॥ सिंधुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी पादारविंदमुपगम्य वभाष एतत् ॥ १३ ॥ न त्वां वयं जडधियोनुविदाम भूमन्कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ॥ यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा मन्योश्च भूतपतयः स भवान्गुणेशः ॥१४॥ कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीरपत्नीं ॥ बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥ १५ ॥ बद्धोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः सेतुं कपींद्रकरकंपितभूरुहांगैः ॥सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकैर्लंकां विभीषणदृशाविशदग्रदग्धाम् ॥ १६॥ सा वानरेंद्रबलरुद्धविहारकोष्ठश्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटंका ॥ निर्भज्यमान-

वह श्रीरामचन्द्रजी, श्रेष्ठ वानरों की सेना के साथ समुद्र के तटपर पहुँचे ॥ १२ ॥ तहाँ श्रीरामचन्द्रजी ने तीन रात्रि उपवास करके समुद्र की बाट देखी तो भी जब श्रीरामचन्द्रजी के समीप नहीं आया तब जिन श्रीरामचन्द्रजी की क्रोधलीला से फैलेहुए नेत्रों के कटाक्षपात करके जिसमें नाके और मगर भयभीत हुए हैं ऐसा समुद्र, भय से अपना शब्द बन्द करके पुरुषरूप धार मस्तकपर पूजा की सामग्री रखकर श्रीरामचन्द्रजी के चरणकमल के समीप आ इसप्रकार कहनेलगा कि—॥ १३ ॥ हे पूर्णब्रह्मरूप श्रीरामचन्द्रजी ! इतने समयपर्यंत जडबुद्धि मैंने तुम्हें जाना नहीं, अब ही जाना है कि—तुम्हारे सत्वगुण से देवता, रजोगुण से प्रजापति और तमोगुण से रुद्र उत्पन्नहुए हैं ऐसे तुम तीनों गुणों के नियन्ता, निर्विकार, आदिपुरुष और सकल जगत् के ईश्वर हो ॥ १४ ॥ हे वीर श्रीरामचन्द्रजी ! जैसे तुम्हारी इच्छा होय तैसे तुम मेरे जल के ऊपर को होकर लङ्का में चलेजाओ और त्रिलोकी को रुलानेवाले तथा विश्रवा ऋषि के मल की समान रावण का वध करके अपनी स्त्री (सीताजी) को प्राप्त करलो. प्रथम, अपने यशका विस्तार करने के निमित्त यहाँ मेरे जल के ऊपर सेतु बांधो, तब दिग्विजयी राजे उस सेतु के समीप आकर तुम्हारे दुष्कर कर्म को देख तिस तुम्हारे यश को गावेंगे ॥ १५ ॥ तदनंतर उस समुद्र के कहने को स्वीकार करके श्रीरामचन्द्रजी ने, श्रेष्ठ वानरों के हाथ से कंपायमान हुई शाखा आदिकों से युक्त अनेकों प्रकार के पर्वतों के शिखरों से उस समुद्र के ऊपर सेतु बांधकर विभीषण के दिखाये हुए मार्ग से, सुग्रीव नील और हनुमान् यह जिसमें मुख्य हैं ऐसी वानरों की सेना के साथ लंका में प्रवेश करा, वह लङ्का पहिले हनुमान् जी की जलाई हुई थी ॥ १६ ॥ तदनन्तर वह लङ्का, हाथियों के समूहों से घपोली हुई नदी की समान, श्रेष्ठ वानरों की सेनासे, जिसमें के क्रीडा के स्थान, अन्न आदि के स्थान, धन के भण्डार, मन्दिरों के द्वार, नगर के द्वार, सभाओं के स्थान, छज्जे

धिषणध्वजहेमकुंभशृंगाटका गजकुलैर्हृदिनीव घूर्णा ॥ १७ ॥ रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुंभकुंभधूम्राक्षदुर्मुखसुरांतनरांतकादीन् ॥ पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकंपनादीन्सर्वानुगान्समहिनोदथ कुंभकर्णं ॥ १८ ॥ तां यातुधानपृतनामसिशूलचापप्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गां ॥ सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमादनीलांगदर्क्षपनसादिभिरन्वितोगात् ॥ १९ ॥ तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ॥ जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः सीताऽभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥ २० ॥ रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट आरुह्य यानं कमथाभिससार रामं ॥ स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥ २१ ॥ रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तां समक्षमसताऽपहृता श्ववत्ते ॥ त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामि

और पक्षियों की रक्षा के निमित्त वनायेहुए घर यह सव रोकलिये गये हैं और जिस में वेदी आदि स्थान, ध्वजा, सुवर्ण के कलश और चौराहे तोड़ फोड़ डालेगये हैं ऐसी अस्तव्यस्त होगई ॥ १७ ॥ तव रावण ने उस श्रीरामचन्द्र जी की सेना की करतूत देखकर निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, देवान्तक, नरान्तक आदि, इन्द्राजित् (मेघनाद) नामक पुत्र, प्रहस्त अतिकाय और विकन्दन आदि सकल राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी के साथ युद्ध करने के निमित्त भेजकर अन्त में कुम्भकर्ण को भी भेजदिया ॥ १८ ॥ तव तरवार, शूल, धनुष, प्रास, ऋष्टि, शक्ति, वाण, तोमर और खड्ग इन शस्त्रों से दुर्भेद्य उस राक्षसों की सेना के साथ युद्ध करने के निमित्त श्रीरामचन्द्रजी, सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान्, गन्धमाद, नील, अङ्गद, जाम्ववान् और पनस आदि के साथ चले ॥ १९ ॥ वह श्रीरामचन्द्रजी के अङ्गदादि सकल सेनापति, हाथी, पैदल रथ, और सवारों सहित तिस रावणकी सेनाके साथ, द्वन्द्वरीति से जुटकर, सीताके स्पर्श से हतभाग्यहुआ रावण जिनका स्वामी है, तिन राक्षसोंके ऊपर वृक्ष, पर्वत, गदा और वाण आदि का प्रहार करनेलगे ॥ २० ॥ तदनन्तर राक्षसपति रावण, अपनी सेना का नाश हुआ ऐसा देखकर क्रुद्ध होता हुआ पुष्पक विमान में वैठकर श्रीरामचन्द्रजी के साथ युद्ध करने को चला और इधर मातलि नामवाला इन्द्र का सारथि, इन्द्र का स्वर्ग में का रथ लाया; तव उस तेज के पुञ्जरूप रथपर विराजमान होनेवाले श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर वह रावण, छुरे की समान तीखी धारवाले वाणों का प्रहार करनेलगा ॥ २१ ॥ उस रावण से श्रीरामचन्द्रजी ने कहा कि—हे राक्षसों के विष्टारूप रावण ! जैसे कुत्ता घर के स्वामी के न होनेपर घर में घुसकर एकाद वस्तु उठाकर लेजाता है तैसे जो तुझ दुष्ट ने, मेरे पीछे सीता को हरलिया है तिस

गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥ ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३७ ॥
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमै-श्चित्रध्वजै रथैः ॥ सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटव-
र्मभिः ॥ ३८ ॥ श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृ-त्यैश्चैव पदानुगैः ॥ पारमेष्ठ्या-
न्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ॥ ३९ ॥ पादयोर्न्यपतत्प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदये-
क्षणः ॥ पादुके न्यस्य पुरतः प्रांजलिर्बाष्पलोचनः ॥ ४० ॥ तमाश्लिष्य चिरं
दोर्भ्यां स्नापयन्नेत्रजैर्जलैः ॥ रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हस-
त्तमाः ॥ तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥ ४१ ॥ धुन्वंत उत्त-
रासंगान्पतिं वीक्ष्य चिरागतम् ॥ उत्तराः कोशला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा
॥ ४२ ॥ पादुके भरतोगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे ॥ विभीषणः ससुग्रीवः श्वेत-
च्छत्रं मरुत्सुतः ॥ ४३ ॥ धनुर्निषंगाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम् ॥ अबि-
भ्रदंगदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण्नृप ॥ ४४ ॥ पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तू-
यमानश्च वन्दिभिः ॥ विरेजे भगवान्राजन् ग्रहैश्चंद्र इवोदितः॥४५॥ भ्रातृ-

---

बने हुए रथ, सुवर्ण के कवच धारण करनेवाले योधा, बड़े २ सेठ, श्रेष्ठ वाराङ्गना और पैदल चलनेवाले सेवकों के साथ, महाराज के योग्य छत्र, चँवर आदि चिन्ह और छोटी बड़ी भेट (नजराने) लेकर श्रीरामचन्द्रजी के सन्मुख को चले ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ और प्रेम से गीला हुआ है हृदय और नेत्र जिन के ऐसे वह भरत जी, श्रीरामचन्द्रजी के सामने पादुका रखकर चरणोंपर गिरे और तदनन्तर हाथ जोड़ कर, प्रेम के आंसुओं से जिन के नेत्र भर आये हैं ऐसे होतेहुए आगे खड़े होगये।४०। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने, उन भरतजी को बहुत देरी पर्यंत हृदय से लगाकर नेत्रों में से निकले हुए आनन्द के आंसुओं की बूँदों से स्नान कराया; तदनन्तर लक्ष्मण और सीताजी के साथ उन श्रीरामचन्द्रजीने ब्राह्मणों को तथा जो नमस्कार करने के योग्य कुल वृद्ध थे उन को नमस्कार करा और उस समय सकल प्रजाओं ने श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम करा ॥४१॥ उस समय उत्तर कोशल देशों के लोक,बहुत दिनोंमें आये हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखकर,हर्षके कारण पुष्पोंकी वर्षा करतेहुए आनन्द से नृत्य करने लगे ॥४२॥ भरतजीने श्रीरामचन्द्रजी की पादुका लीं, विभीषण और सुग्रीवने चँवर और पंखालिया, हनुमानजी ने श्वेत छत्र उठालिया ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! धनुष और तरकस शत्रुघ्न ने उठाये, सीताजी ने तीर्थों के जल से भराहुआ कमण्डलु लिया, अङ्गद ने तरवार ली, जाम्बवान् ने सुवर्ण की ढाल उठाई ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! उससमय वाराङ्गनाओं से घिरेहुए, वन्दीजनों से स्तुतिकरेहुए वहभगवान् श्रीरामचन्द्रजी,पुष्पक विमानमें बैठनेपर,गुरु शुक्र आदि ग्रहों के साथ उदय होतेहुए चन्द्रमा की समान शोभा को प्राप्तहुए ॥४५॥

भिर्नंदितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत्पुरीम् ॥ प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरं ॥ ४६ ॥ गुरून्वयस्यावरजान्पूजितः प्रत्यपूजयत् ॥ वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत्समुपेयतुः ॥ ४७ ॥ पुत्रान्स्वमातरस्तांस्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः ॥ आरोप्यांकेऽभिषिंचन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥ ४८ ॥ जटां निर्मुच्य विधिवत्कुलवृद्धैः समं गुरुः ॥ अभ्यषिंचद्यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥ ॥४९॥ एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः ॥ स्वलंकृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥५०॥ अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ॥ प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ॥ जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥ ५१ ॥ त्रेतायां वर्त्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ॥ रामे राजनि धं-

तदनन्तर भरत आदि भ्राताओं ने जिन का गौरव करा है ऐसे वह श्रीरामचन्द्रजी, उन भ्राताओं के साथ ध्वजा आदि से शोभित करीहुई और उत्साहभरी नगरी में गए. तदनन्तर उन श्रीरामचंद्रजी ने, राजभवन में प्रवेश करनेपर, कैकेयी आदि महाराज दशरथजी की स्त्रियें, कौसल्या माता, वसिष्ठ आदि गुरुजन, समान अवस्था वाले पुरुष और अपने से छोटी अवस्थावाले पुरुषों के उन का उत्तमप्रकार से सत्कार करनेपर उन्होंने भी नमस्कार आदि करके उन का सन्मान करा. तैसे ही सीताजी और लक्ष्मणजी का भी सबों ने यथायोग्य सत्कार करा तव उन्हों ने भी सब का सत्कार करके वह राजभवन में चलेगए ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ उससमय उन की कौसल्या आदि माता तो, जैसे प्राणों के आनेपर मूर्छित पड़ेहुए शरीर उठवैठते हैं तैसे उठीं और उन्होंने, अपने२ पुत्र को गोद में वैठाकर तथा आनंद के आँसुओं से उन का स्नान कराकर विरह के शोकों का त्याग करा ॥ ४८ ॥ तदनन्तर गुरु वसिष्ठजी ने, कुल के वृद्धों के साथ, श्रीरामचंद्रजी की जटाओं को दूर कराकर चार समुद्रों के जल आदि को मँगवाकर उस से श्रीरामचंद्रजी का शास्त्र की रीति के अनुसार अभिषेक करा ॥ ४९ ॥ इसप्रकार शिरसे स्नान करनेवाले और उत्तमप्रकार के वस्त्र, माला तथा आभूषणों को धारण करनेवाले वह श्रीरामचंद्रजी वस्त्र आभूषण आदि धारण करनेवाले भ्राताओं सहित और आभूषण आदिधारण करनेवाली सीताजी के साथ परम शोभायमान होने लगे ॥५०॥ तदनंतर भरतजीने नमस्कार करके जिन को प्रसन्न कराहै ऐसे श्रीरामचंद्रजीने, राजसिंहासन को स्वीकार करा.तदनंतर श्रीरामचंद्रजी ने वर्णों के और आश्रमों के पञ्चमहायज्ञ आदि गुणों से युक्त और अपने धर्म में तत्पर ऐसी अपने देश की सकल प्रजाओं की, जैसे पिता पुत्रों की रक्षा करता है तैसे रक्षा करी और उन प्रजाओं ने भी श्रीरामचन्द्रजी को पिता की समान माना ॥ ५१ ॥ उस समय सकल प्राणियों को सुख देनेवाले, धर्म को जाननेवाले श्रीराम-

मन्ने सर्वभूतसुखावहे ॥ ५२ ॥ वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपासिंधवः ॥
सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ ॥ ५३ ॥ नाधिव्याधिजराग्लानिदुःख-
शोकभयक्लमाः ॥ मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामे राजन्यधोऽक्षजे ॥ ५४ ॥ एक-
पत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ॥ स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन् ॥
॥ ५५ ॥ प्रेम्णाऽनुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ॥ धिया ह्रिया च भावे-
ज्ञा भर्तुः सीता हरन्मनः ॥५६ ॥ इ० भा० म० नवमस्कन्धे श्रीरामचरिते दशमोऽ
ध्यायः ॥ १० ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः ॥
सर्वदेवमयं देवमीजे आचार्यवान्मखैः॥१। होत्रेऽददाद्दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां
प्रभुः ॥ अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ॥ २ ॥ आचार्याय ददौ शेषां
यावती भूस्तदन्तरा ॥ मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥ ३ ॥
इत्ययं तदलंकारवासोभ्यामवशेषितः ॥ तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमंगल्याव-

चन्द्रजी, राज्य करनेलगे तब त्रेता युग था तथापि समय सत्ययुग की समान होगया ॥
॥५२॥ हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! अचिन्तनीय शक्तिवाले उन श्रीरामचन्द्र जी के राजा होनेपर वन, नदियें, पर्वत, खण्ड, द्वीप और समुद्र यह सबही प्रजाओं के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले हुए, मन की पीड़ा, शरीर की पीड़ा वृद्धपना, ग्लानि, दुःख, शोक, भय, और श्रम यह प्रजाओं को नहीं हुए और तो क्या इच्छा न करनेवाले पुरुषोंको मृत्यु भी नहीं प्राप्त होता था॥५३॥५४॥एक पत्नी व्रत धारण करनेवाले, राजा होकरभी ऋषियों की समान आचार से युक्त और रागलोभादि दोषरहित वह श्रीरामचन्द्रजी, गृहस्थाश्रमीके निमित्त शास्त्रमें कहेहुए अपने धर्मको, लोकोंको सिखाने के निमित्त आचरण करनेलगे॥५५॥तब विनय से नम्र और सूक्ष्म बुद्धि से श्रीरामचन्द्रजी के अभिप्राय को जाननेवाली पतिव्रता सीताजीने भी बड़े प्रेम के साथ, सुन्दर स्वभाव और लज्जा करके श्रीरामचन्द्रजी का चित्त अपने वशमें करलिया ॥ ५६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में दशम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने, वसिष्ठजी को गुरु करके, उत्तम सामग्रियों से युक्त यज्ञों के द्वारा आपही, सर्वदेवमय और प्रकाशमय अपना पूजन करा ॥ १ ॥ यज्ञ के अन्त में उन प्रभुने, होता को पूर्व की ओरकी भूमि दक्षिणा दी, ब्रह्माको दक्षिण की ओर की, अध्वर्यु को पश्चिम की ओर की और उद्गाता को उत्तर की ओर की भूमि दक्षिणादी ॥ २ ॥ उन चारों दिशाओं के मध्य में जितनी भूमि शेषरही थी वह सब आचार्य को अर्पण करी; क्योंकि–वह श्रीरामचन्द्रजी ऐसा मानते थे कि–इससकल भूमण्डल का प्रतिग्रह करने को निःस्पृह ब्राह्मण ही योग्य हैं ॥ ३ ॥ इसकारण उन श्रीरामचंद्रजी ने, दानरूप से सर्वस्व देकर आप केवल शरीरपर के आभूषण और वस्त्रों के साथही शेष

शेषिता ॥ ४ ॥ ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतं ॥ प्रीताः क्लिन्न-
धियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥ ५ ॥ अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन्भुवने-
श्वर ॥ यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥ ६ ॥ नमो ब्रह्मण्यदे-
वाय रामायाकुण्ठमेधसे ॥ उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥ ७ ॥ क-
दाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः ॥ चरन्वाचोऽशृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य
कस्यचित् ॥ ८ ॥ नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगां ॥ स्त्रीलोभी बि-
भृयात्सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥ ९ ॥ इति लोकाद्बहुमुखाद्दुराराध्याद-
संविदः ॥ पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमं ॥ १० अन्तर्वत्न्यागं-
ते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ ॥ कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया

रहगये तथा रानी सीताजी भी सौभाग्य के हेतु नासिका के आभूषण आदि गहने और धारण करेहुए वस्त्रों के साथ ही शेष रहगयीं ॥ ४ ॥ उससमय वह होता आदि ब्राह्मण, जो देवताओं की समान ब्राह्मणों कीही आराधना करते हैं ऐसे तिन श्रीरामचन्द्रजी के आचारवान् पुरुषों के ऊपर के प्रेमभावको देखकर, प्रसन्न और स्नेह से आर्द्रचित्त होतेहुए,हम भूमि की रक्षा करने को असमर्थ हैं इसकारण तुमही इसकी रक्षा करो, ऐसा कह उन श्रीरामचन्द्रजी कोही सकलभूमि समर्पण कर कहनेलगेकि—॥ ५ ॥ हे जगत्पालक भगवन्! तुम जो हमारे हृदय में प्रवेश करके हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को अपने स्वप्रकाश से नष्ट करते हो, सो तुमने हमें क्या नहीं दिया ? अर्थात् सबकुछ दिया है ॥ ६ ॥ इसकारण जिस की बुद्धि, देश, काल और वस्तु के द्वारा कुण्ठित नहीं होती है, जो महायशस्वी पुरुषों में भी आगे गिननेयोग्य हैं, जिनका चरण प्राणियों के द्रोह का त्याग करनेवाले मुनियों ने अपने हृदय में स्थापन करा है और जो ब्राह्मणों के हितकारी होकर अपने तेजसे प्रकाशवान् हैं ऐसे तुम श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार हो ॥ ७ ॥ हे राजन् परीक्षित ! एक समय, लोकमुझे क्या कहते हैं, यह जानने की इच्छा करनेवाले उन श्रीरामचन्द्रजीने, रात्रि के समय उस नगरी में किसी की दृष्टि न पडे इसप्रकार गुप्तरूप से विचरतेहुए, एक पुरुष का स्त्री के प्रति भाषण सुना, वह यह था कि ॥ ८ ॥ हे स्त्रि ! परपुरुष के घर मे गईहुई और व्यभिचार करनेवाली तुझे,मैं अपने घर में नहीं रहने दूँगा और तेरा पोषण भी नहीं करूँगा;यद्यपि स्त्री के लोभी श्रीरामचन्द्रजी ने सीताको अङ्गीकार करलिया हैं परन्तु मैंतो तुझे अङ्गीकार करूँगा नहीं॥ ९ ॥ इस प्रकार नाना प्रकार की बातें करनेवाले और जिस को समझाना कठिन है ऐसे मूर्ख के अपवाद (बदनामी) से भयभीत हुए तिन श्रीरामचन्द्रजी ने, वन में लेजाकर छोडी हुई वह सीताजी, वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में जा पहुँचीं ॥ १० ॥ वह उस समय गर्भवती थीं, उन्हों ने फिर प्रसूति का समय प्राप्त होनेपर लव और कुश इन दो नामों

मुनिः ॥ ११ ॥ अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ ॥ तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥ १२ ॥ सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः ॥ गन्धर्वान्कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् ॥ तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् ॥ १३ ॥ शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् ॥ हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥ १४ ॥ मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता ॥ ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥ १५ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः ॥ स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः ॥ १६ ॥ स्त्रीपुंप्रसंग एतादृक्सर्वत्र त्रासमावहः ॥ अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥ १७ ॥ तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत्प्रभुः ॥ त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥ १८ ॥ स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं द-

से प्रसिद्ध दो पुत्रों को उत्पन्न करा तहां उन पुत्रों के जातकर्म आदि संस्कार बाल्मीकि ऋषि ने करवाये ॥ ११ ॥ तथा अङ्गद और चित्रकेतु यह दो लक्ष्मणजी के पुत्र थे तक्ष और पुष्कल यह दो भरतजी के पुत्र थे तथा हे राजन् ! सुबाहु और श्रुतसेन यह दो शत्रुघ्न के पुत्र हुए ॥ १२ ॥ भरतजी ने दिग्विजय के समय करोडों गंधर्वों को मारकर उन का द्रव्य लाकर वह सब श्रीरामचंद्रजी को दिया ॥ १३ ॥ शत्रुघ्नजी ने भी मधु दैत्य के पुत्र लवण नामक राक्षस को मारकर मधुवन में मथुरा नामक नगरी बसायी ॥ १४ ॥ इधर श्रीरामचंद्रजी की वन में छोडी हुई सीताजी, गर्भिणी थीं इस कारण प्रसूतिकाल पर्यन्त बाल्मीकि जी के आश्रम में रहकर तदनन्तर उत्पन्न हुए कुश लव नामवाले दोनों पुत्रों को उन बाल्मीकिजी के अधीन रखकर श्रीरामचंद्रजी के चरणों का ध्यान करती हुई भूमि के विवर में प्रवेश करगई ॥ १५ ॥ भगवान् श्रीरामचंद्र जी ऐसा समाचार सुनकर, शोक से उत्पन्न हुए दुःख के आंसुओं को विवेक बुद्धि से रोकते हुए भी और ईश्वर (विषयों में आसक्त न होनेवाले) होकर भी उन सीता जी के सुशीलता आदि गुणों का स्मरण आनेके कारण उन दुःख के आंसुओं को रोकने को समर्थ नहीं हुए ॥ १६ ॥ हे राजन् ! यह कोई विशेष आश्चर्य मानने की बात नहीं है, क्योंकि–स्त्री पुरुषों का परस्पर का प्रेम, इस प्रकार के समर्थ (जितेन्द्रिय) पुरुषों को भी सब विषय में त्रास देनेवाला है फिर घर में आसक्तचित्त गृहस्थी को त्रास देगा इस का तो कहना ही क्या ? ॥ १७ ॥ उन प्रभु श्रीरामचंद्रजी ने, सीताजी के त्याग करने से पाहिले तेरह सहस्र वर्ष पर्यंत अखण्डित अग्निहोत्र करा था; परंतु सीता जी का विवर में प्रवेश करने का वृत्तान्त सुनकर दूसरी स्त्री आदि स्वीकार न करके केवल ब्रह्मचर्य ही धारण करा ॥ १८ ॥ तदनंतर तिन श्रीरामचंद्रजी ने, अपने भक्तों

ण्डककण्टकैः ॥ स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः ॥ १९ ॥ नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ॥ रक्षोवधो जलधिबंधनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥ २० ॥ यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनाऽपि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेंद्रपट्टम् ॥ तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादांबुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥ यैः संस्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ॥ कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥ २२ ॥ पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ॥ आनृशंस्यपरो राजन्कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥ ॥२३॥ राजोवाच ॥ कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन्वा स्वयमात्मनः ॥ तस्मिन्वा तेऽन्ववर्तंत प्रजाः पौराश्च ईश्वरे ॥ २४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अ-

के हृदय में, दण्डकारण्य के कांटों से विधा हुआ अपना चरणपल्लव स्थापन करके निज धाम को गमन करा ॥ १९ ॥ हेराजन् ! यद्यपि कवियों ने यह सेतु बांधनारूप और शस्त्र समूहों से रावण का वध करनारूप श्रीरामचंद्रजी का यश, वडे आश्चर्य की समान वर्णन करा है तथापि यह विशेष आश्चर्य मानने की समान नहीं है क्योंकि–जिन के प्रभाव से औरों का प्रभाव, समता भी नहीं करसक्ता फिर अधिक तो कहां से होगा ? क्या उन को रावण का वध करने में वानरों की सहायता की इच्छा थी ? किन्तु नहीं, इस कारण जैसे उन्हों ने सुग्रीव आदि का आश्रय लीलामात्र करा था तैसे ही सेतुबंध आदि भी लीला ही थीं और यही ठीक है, क्योंकि–पृथ्वी का भार दूर करने के निमित्त देवताओं की प्रार्थना से श्रीविष्णु भगवान् ने यह लीलावतार धारण करा था ॥२०॥ जिनके,दिग्गजों के पट्टू वस्त्रकी समान आभूषणरूप अर्थात् सकल जगत् में फैलकर दिग्गजों पर्यंत व्याप्तहोकर रहनेवाले, पापों का नाश करनेवाले शुद्ध यश को, युधिष्ठिर आदि राजाओं की सभा में मार्कण्डेय आदि ऋषि अब भी गाते हैं. तैसे ही स्वर्गपालक देवताओं ने और भूमिपालक राजाओं ने अपने किरीटों से जिनके चरणकमल की सेवा करी है तिन श्रीरघुपति की मैं शरण में प्राप्त होता हूँ ॥ २१ ॥ जिन्होंने श्रीरामचंद्रजी के चरण का स्पर्श करा, जिन्होंने श्रीरामचंद्रजी को देखा, जिन्होंने श्रीरामचंद्रजी को आसन पर वैठाया और जो श्रीरामचंद्रजी की इच्छा के अनुसार वर्त्ताव करते थे वह सव ही कोसल देश के निवासी पुरुष, जहाँ योगी जाते हैं, उस स्थान को प्राप्तहुए ॥ २२ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष श्रीरामचंद्रजी के चरित्रों को सुनता है वह परमशान्ति को प्राप्त होता हुआ कर्म बंधन से छूटजाता है ॥ २३ ॥ राजा ने कहा कि–हे शुकदेवजी ! वह भगवान् श्रीरामचंद्रजी, अपने आप कैसे वर्त्ताव करते थे और अपने ही अंशरूप भ्राताओं में कैसा वर्त्ताव करते थे तथा उन प्रभु श्रीरामचंद्रजी के विषैं वह भ्राता,सकल प्रजा और पुरवासी यह सव कैसा वर्त्ताव करते थे सो मुझ से कहो ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेव

थादिशद्दिग्विजये भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वरः ॥ आत्मानं दर्शयन्स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥ २५ ॥ आसिक्तमार्गां गंधोदैः करिणां मदसीकरैः ॥ स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव ॥ २६ ॥ प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ॥ विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मंडिताम् ॥ २७ ॥ पूगैः सवृन्तैः रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससां ॥ आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥ २८ ॥ तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः ॥ आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक्त्वयोद्धृताम् ॥ २९ ॥ ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं दिदृक्षयोत्सृष्टगृहा स्त्रियो नराः ॥ आरुह्य हर्म्याण्यरविंदलोचनमतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥ ३० ॥ अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः ॥ अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदं

जी ने कहाकि—हे राजन् ! त्रिभुवनपति तिन श्रीरामचन्द्रजी ने, राजसिंहासन को स्वीकार करनेके अनन्तर लक्ष्मण आदि भ्राताओं को दिग्विजय करनेके निमित्त जानेको आज्ञा करी और उसको उन्होंने स्वीकार करा, तदनन्तर उन्होंने अपने भक्तजनोंको दर्शन देने के निमित्त सेवकों को साथ में लेकर अयोध्या नगरी को देखा ॥ २५ ॥ चन्दन आदिकी सुगन्धयुक्त जलों से तथा हाथियों के मदोंकी बूँदोंसे उस नगरीका मार्ग छिड़का हुआथा और हमारे स्वामी आये ऐसा देखकर वह नगरी अति मतवाली की सम्वृद्धि को धारण कररही थी अर्थात् उस मे के सकल पुरुष, आनन्द और उत्साह में निमग्न होगये थे ॥ २६ ॥ तथा राजमन्दिर, नगरद्वार, सभा, अखाड़े और देवमंदिर आदिकों में स्थापन करेहुए सुवर्ण के कलशों से और पताकाओं से भूषित होरही थी ॥ २७ ॥ फलोंके गुच्छों सहित पूँगीफल (सुपारी) के वृक्ष, केलेके खम्भे, और ऊँची वस्त्रोंकी पताकाओं सहित ध्वजा इनसे शोभित हो रही थी तथा दर्पण, वस्त्र ऐवं फूलोंकी मालाओं के उत्साह के साथ वंदनवार बाँधेहुए थे। २८। उस नगरी की शोभा देखने के निमित्त राजमार्ग से श्रीरामचंद्रजी के जाते समय, जहाँ जहाँ नगरवासी पुरुष, उन श्रीरामचंद्रजी के समीप में हाथ में पूजा की सामग्री लेकर आतेहुए आशीर्वाद देकर कहते थे कि—हे देव श्रीरामचंद्रजी ! तुम, पहिले वराहरूप से उद्धार करी हुई इस पृथ्वी की रक्षाकरो ॥ २९ ॥ उससमय चौदह वर्ष वनवास करके अयोध्या में आयेहुए श्रीरामचंद्रजी को देखने की इच्छा से कितनी ही स्त्रिये और पुरुष, अपने घर के काम छोडकर, ऊपर महलों पर चढे और उन कमलनेत्र श्रीरामचंद्रजी को देख कर जिन के नेत्र तृप्त नहीं हुए हैं ऐसे होतेहुए वह उन के ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे ॥ ३० ॥ इस प्रकार उस अयोध्या नगरी को देखनेपर तिन श्रीरामचंद्रजी ने अपने राजभवन में प्रवेश करा वह भवन अपने (श्रीरामचंद्रजी के) अनेकों पूर्व पुरुष राजाओं का सेवन कराहुआ, अनंत सकलरत्नों के भण्डारगृहों से भरपूर, अमूल्य और असंख्य वस्तुओं से युक्त और मूँगों की देहलवाले द्वारों से, वैडूर्यमणि के खम्भों की प-

॥ ३१ ॥ विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तंभपङ्क्तिभिः स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भातं स्फटिकभित्तिभिः ॥३२॥ चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः ॥ मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कांतकामोपपत्तिभिः ॥३३॥ धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डितैः॥ स्त्रीपुंभिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥ ३४ ॥ तस्मिन्स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ॥ रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥ ३५ ॥ बुभुजे च यथाकालं कामान्धर्ममपीडयन् ॥ वर्षपूगान्बहून्नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्याने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ * ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः ॥ पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाऽभवत्ततः ॥ १ ॥ देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः ॥ ततो बलःस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसंभवः ॥२॥ खगणस्तत्सुतस्तस्माद्विधृतिश्चाभवत्सुतः ॥ ततो हिरण्यनाभोभूद्योगाचार्यस्तु जैमिनेः ॥ ३ ॥ शिष्यः कौशल्य अध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद्यतः ॥ योगं

क्तियों से, मरकतमणि की बनाईहुई स्वच्छ भूमियों से और देदीप्यमान स्फटिकमणि की भीतों (दीवारों) से युक्त था ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ चित्रविचित्र मालाओं से, ध्वजाओं की पताकाओं से, वस्त्रों की और रत्नों के समूहों की कांतियों से, चैतन्य की समान उज्ज्वल मोतियों से, रमणीय भोग की सामग्रियों से, सुगन्धकारी धूपदीप आदि से और पुष्पों के आभूषणों से शोभित तथा भूषणों को भी परमशोभा देनेवाले देवताओं की समान स्त्री पुरुषों से सेवन करीहुई थी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ऐसे उस राजभवन में, अपने स्वरूप में रमण करनेवाले, जितेन्द्रिय पुरुषों में श्रेष्ठ वह भगवान् श्रीरामचंद्रजी, अत्यन्त स्नेह करनेवाली प्रिया सीता नामक स्त्री के साथ विहार करने लगे ॥ ३५ ॥ और सकल मनुष्यों ने जिन के चरणपल्लव का चिन्तवन करा है ऐसे उन श्रीरामचंद्रजी ने, वर्ण और आश्रम के धर्म में विरोध न आवे इस रीति से बहुत वर्षों पर्यंत यथोचित समय में विषय भोगों का सेवन करा ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में एकादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् कुश का अतिथि नाम वाला पुत्र हुआ, उस से निषध, उस का पुत्र नभ, तिसका पुत्र पुण्डरीक, तिस से क्षेमधन्वा हुआ ॥ १ ॥ तिस का देवानीक, तिस का अनीह, तिस का पुत्र पारियात्र, तिस का बल, तिस का स्थल, तिस का सूर्य के अंश से वज्रनाभ पुत्र हुआ ॥ २ ॥ तिस का पुत्र खगण, तिस का पुत्र विधृति हुआ, तिस से हिरण्यनाभ हुआ, वह जैमिनि का शिष्य और योगाचार नाम से प्रसिद्ध था ॥ ३ ॥ जिस के शिष्य होकर याज्ञवल्क्य ऋषि ने, महासिद्धि देनेवाले और हृदय की ग्रन्थि का भेदन करनेवाले अध्यात्मयोग को

महोदयमृषिर्हृदयग्रंथिभेदकं ॥ ४ ॥ पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसंधिस्ततोऽभवत् ॥ सुदर्शनोग्निवर्णोऽथ शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥ ५ ॥ योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः ॥ कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥ ६ ॥ तस्मात्प्रश्रुत-स्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः ॥ महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्विश्वसाह्वोऽन्वजायत ॥७॥ ततः प्रसेनजित्तस्मात्तक्षको भविता पुनः ॥ ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥ ८ ॥ एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान् ॥ बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः ॥ ९ ॥ उरुक्रियस्ततस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति ॥ प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥ १० ॥ सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान् ॥ प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥ भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः ॥ तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥ १२ ॥ बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात्कृतंजयः ॥ रणंजयस्तस्य सुतः संजयो भविता ततः ॥ १३ ॥ तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लांगलस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ततः प्रसेनजित्तस्मात्क्षुद्रको भविता ततः ॥ १४ ॥ रणको भविता त-

पढ़ा है ॥ ४ ॥ तिस हिरण्यनाभ का पुत्र पुष्य हुआ, तिस से ध्रुवसन्धि हुआ तिस का सुदर्शन, तिस का अग्निवर्ण तिस का शीघ्र, तिस का पुत्र मरु हुआ ॥ ५ ॥ वह राजा मरु, योगसाधना से मृत्यु को जीतकर कलापग्राम में तहां के किन्हीं लोगों के साथ रहता है वह कलियुग के अंत में नष्ट हुए सूर्यवंश को, फिर पुत्र पौत्र आदि वंश परम्परा से चलावेगा ॥ ६ ॥ तिस मरु से प्रश्रुत हुआ, तिस का संधि, तिस का अमर्षण तिस का पुत्र महस्वान्, तिस से विश्वसाव्ह हुआ ॥७॥ तिस से प्रसेनजित्, तदनन्तर उस से तक्षक हुआ तिस से वृहद्बल हुआ; उसका तुम्हारे पिता (अभिमन्यु) ने युद्ध में वध करा॥८॥ यह राजे इक्ष्वाकु राजा के वंश में होगये. अब आगे को होनेवाले राजाओं का वर्णन करता हूँ, सुन. वृहद्बल का पुत्र वृहद्रण नामक होयगा ॥ ९ ॥ उसका उरुक्रिय, तिसका वत्सवृद्ध होयगा; तिससे प्रतिव्योम, तिससे भानु, तिससे दिवाक, वह देवसेनाका स्वामी होयगा ॥ १० ॥ तिससे सहदेव, तिससे वीर वृहदश्व होयगा; तिससे भानुमान्, उस भानुमान् से प्रतीकाश्व, तदनन्तर उसका पुत्र सुप्रतीक होयगा ॥ ११ ॥ तिसका पुत्र मरुदेव होयगा; तिसका सुनक्षत्र, तिसका पुष्कर होयगा; तिसका पुत्र अन्तरिक्ष, तिसका पुत्र सुतपा; तिस का अमित्रजित् होयगा ॥ १२ ॥ तिसका वृहद्राज, तिसका पुत्र बर्हि, तिससे कृतञ्जय होयगा; तिसका पुत्र रणञ्जय, तिससे सञ्जय होयगा ॥ १३ ॥ तिस से शाक्य, तिस से शुद्धोद, तिस का पुत्र लाङ्गल होयगा; तिस से प्रसेनजित्, तिस से क्षुद्रक होयगा ॥ १४ ॥ तिस से रणक

अथ

श्रीमद्भागवतकी विषयसूची

अष्टमस्कन्ध.

स्मात्सुरथस्तत्तनयस्ततः ॥ सुमित्रो नाम निष्ठांत एते बार्हद्बलान्वयाः ॥ १५ ॥
इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रांतो भविष्यति ॥ यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्रा-
प्स्यति वै कलौ ॥ १६ ॥ इ० भा० म० न० श्रीरामचरितवर्णनं नाम द्वा-
दशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ निमिरिक्ष्वाकुतनयो व-
सिष्ठमवृतर्त्विजं ॥ आरभ्य सत्रं सोऽप्याहं शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥ १ ॥
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ॥ तूष्णीमासीद्गृहपतिः सोपीन्द्र-
स्याकरोन्मखम् ॥ २ ॥ निमिश्चलमिदं विद्वान्सत्रमारभतात्मवान् ॥ ऋत्वि-
ग्भिरपरैस्तावन्नागमद्यावता गुरुः ॥ ३ ॥ शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरा-
गतः ॥ अशपत्पतताद्देहो निमेः पंडितमानिनः ॥ ४ ॥ निमिः प्रतिददौ
शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने ॥ तवापि पतताद्देहो लोभाद्धर्ममजानतः ॥ ५ ॥ इ-
त्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः ॥ मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपिता-

होयगा; तिससे सुरथ पुत्र होयगा; तिस से सुमित्र नामवाला अन्तका पुत्र होयगा यह बृहद्बल के वंश के राजे हैं ॥ १५ ॥ इक्ष्वाकु राजा के वंश में उत्पन्नहुए राजाओंका यह वंश, सुमित्र राजा पर्यन्त ही होयगा; क्योंकि–सुमित्र राजा के होनेपर आगे कलियुग में यह वंश नष्ट होजायगा ॥ १६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में द्वादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! इक्ष्वाकु राजा का पुत्र जो निमि राजा उसने मन में सत्र (यज्ञ) करने का विचार करके गुरु वसिष्ठ जी से प्रार्थना करी कि-आप इस सत्रमें ऋत्विज बनें, तव वसिष्ठजी ने कहा कि–हे राजन्! तेरे वरण करने से पहिले ही इन्द्र ने मुझे अपने यज्ञ का ऋत्विज वरलिया है ॥ १ ॥ इसकारण वह इन्द्र का यज्ञ समाप्त करके मैं आता हूँ तवतक तुम यज्ञ के विधानको बन्द रखकर मेरी बाट देखो. यह सुनकर राजा निमि मौन होरहा और उन वसिष्ठजीने भी इन्द्रके समीप जाकर उसके यज्ञका प्रारम्भ कराया ॥ २ ॥ इधर, जिसको आत्मानात्म का विवेक है ऐसे उस राजा निमिने, यह आयु चञ्चल है ऐसा जानकर गुरु वसिष्ठजी के आने से पहिले ही और ऋत्विजों को वरकर उनसे सत्र करने का आरम्भ कराया ॥ ३ ॥ इतने ही में इन्द्रका यज्ञ समाप्त करके आयेहुए गुरु वसिष्ठजी ने, शिष्य (राजा निमि) ने मेरी आज्ञा को उल्लंघन करा है ऐसा देखकर, अपने को ही पण्डित माननेवाले तिस राजा निमि को 'तेरा देहपात हो' यह शाप दिया ॥ ४ ॥ यह सुनकर राजा निमिने भी, इन्द्रसे और मुझ से धन पाने के लोभसे 'इस देह के नाशवान् होने के कारण धर्म करने में विलम्ब न करे ऐसे' धर्मके सिद्धान्त को न जाननेवाले और अधर्म से वर्त्ताव करनेवाले तुम वसिष्ठ गुरुका भी देहपात हो ऐसा पलटे में शाप दिया ॥ ५ ॥ इसप्रकार शाप देकर आत्मविद्या में प्रवीण तिस राजा निमिने अपने शरीर का त्यागकर-

महः ॥ ६ ॥ गंधवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः ॥ समाप्ते सत्रयागेथ देवा-
नूचुः समागतान् ॥ ७ ॥ राज्ञो जीवतु देहोयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि ॥ तथे-
त्युक्ते निमिः प्राह माभून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥ यस्य योगं न वांछन्ति
वियोगभयकातराः ॥ भजन्ति चरणांभोजं मुनयो हरिमेधसः ॥ ९ ॥
देहं नावरुरुत्सेहं दुःखशोकभयावहम् ॥ सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्याना-
मुदके यथा ॥ १० ॥ देवा ऊचुः ॥ विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणां ॥
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोध्यात्मसंस्थितः ॥ ११ ॥ अराजकभयं नृणां मन्य-
माना महर्षयः ॥ देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥ १२ ॥ जन्मना
जनकः सोभूद्वैदेहस्तु विदेहजः ॥ मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मि-
ता ॥ १३ ॥ तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोभून्नंदिवर्द्धनः ॥ ततः सुकेतुस्तस्यापि

दिया. और हमारे प्रपितामह (परदादा वसिष्ठजी) ने भी देहको त्यागकर, फिर मित्राव-
रुण के पुत्ररूप से उर्वशी के विषैं अर्थात् पहिले उर्वशी को देखने से मित्रावरुण देवताओं का
वीर्य स्खलित हो गयाथा उसको उन्होंने घड़े में डालदिया था, उसके आश्रयसे देह धारण
करा ॥ ६ ॥ उस समय निमिका जो देहपात हुआ, सो उस को उस के श्रेष्ठ ऋत्विजों ने सुगन्ध
युक्त तेल में रखदिया और फिर सत्रयाग की समाप्ति होने पर तहां आये हुए देवताओं
से वह ऋषि कहने लगे कि—॥ ७ ॥ हे देवताओं ! यदि तुम प्रसन्न हो और वरदेने को
समर्थ हो तो निमि राजा का यह देह जीवित हो; तदनन्तर देवताओं ने, 'तथास्तु'
(ऐसा ही हो) कहा तब राजा निमि ने कहा कि—मुझे देह का सम्बंध न हो ॥ ८ ॥
क्योंकि—मनन करनेवाले विवेकी पुरुष, इस देह का फिर वियोग होगा, इस कारण भय-
भीत होकर उस के सम्बंध की ही इच्छा नहीं करते हैं किन्तु संसार से छूटने के निमित्त
भगवान् के चरणकमल की ही सेवा करते हैं ॥ ९ इस कारण दुःख, शोक और भय
इन के हेतु इस शरीर को ग्रहण करने की मुझे इच्छा नहीं है; जैसे जल में वसनेवाली
मच्छियों को जल से बाहर सर्वत्र मृत्यु प्राप्त होती है तैसे ही देह ग्रहण करनेवाले जीव
को सब योनियों में मृत्यु प्राप्त होती है, कहीं भी तरने का उपाय नहीं मिलता है ॥ १० ॥
देवताओं ने कहा कि–हे ऋषियों ! यह राजा निमि देहरहित ही रहकर देहधारी मनुष्यों
के नेत्रों में स्थित होताहुआ, नेत्रों के खोलने और मीचने का प्रवर्त्तक होकर रहेगा
॥ ११ ॥ राजा न होने के कारण मनुष्यों को भय होगा, ऐसा समझनेवाले महर्षियों
ने, उस निमि के देह को मथा तिस में से पुत्र हुआ ॥ १२ ॥ वह जन्म से ही
जनक (आगे को होनेवाले वंशों का उत्पन्न करनेवाला) विदेह निमि राजा के अंश
से उत्पन्न होने के कारण वैदेह और मथने से उत्पन्न होने के कारण मिथिल इन तीन
नामों से प्रसिद्ध हुआ और उसने मिथिला नामवाली नगरी वसाई ॥ १३ ॥ हे राजन् !

देवरातो महीपते ॥ १४ ॥ तस्माद्बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता ॥ सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोथ मरुस्ततः ॥ १५ ॥ मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतिरथो यतः ॥ देवमीढस्तस्य सुतो विश्रुतोऽथ महाधृतिः ॥ १६ ॥ कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाथ तत्सुतः ॥ स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १७ ॥ ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीं ॥ सीता सीराग्रतो जाता तस्मात्सीरध्वजः स्मृतः ॥ १८ ॥ कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ॥ धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥ १९ ॥ कृतध्वजात्केशिध्वजः खांडिक्यस्तु मितध्वजात् ॥ कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥ २० ॥ खांडिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजस्ततः ॥ भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥ २१ ॥ शुचिस्तत्तनयस्तस्मात्सनद्वाजस्ततोऽभवत् ॥ ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥ २२ ॥ अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः ॥ ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमधिर्मिथिलाधिपः ॥ २३ ॥ तस्मात्समरथस्तस्य

उस मिथिल से उदावसु नामवाला पुत्र हुआ, उस का पुत्र नन्दिवर्धन हुआ, तिस का सुकेतु, तिस का भी देवरात हुआ ॥ १४ ॥ उस से बृहद्रथ, तिस का महावीर्य नामवाला पुत्र हुआ, तिस का सुधृति हुआ; तिस सुधृति का धृष्टकेतु, तिस का हर्यश्व हुआ; तिस से मरु हुआ ॥ १५ ॥ मरु का प्रतीपक, तिस से कृतिरथ, तिस से देवमीढ तिस का पुत्र विश्रुत, तिस का महाधृति हुआ॥ १६॥ तिस से कृतिरात, तिस से महारोमा, फिर उस का पुत्र स्वर्णरोमा होकर उस का पुत्र ह्रस्वरोमा हुआ ॥ १७ ॥ तिस से सीरध्वज हुआ, वह यज्ञ करने के निमित्त भूमि को खोद रहाथा सो उस के हल की नोक से एक डिव्वी लगी वह उघडकर देखते ही उस में सीता दीखी इस कारण उस का सीरध्वज नाम पडा ॥ १८ ॥ उस सीरध्वज का पुत्र कुशध्वज, तिस से राजा धर्मध्वज हुआ, धर्मध्वज के कृतध्वज और मितध्वज यह दो पुत्र हुए ॥ १९ ॥ उन में कृतध्वज से केशिध्वज और मितध्वज से खाण्डिक्य हुआ हे राजन्! कृतध्वज का पुत्र जो केशिध्वज वह अध्यात्मविद्या में प्रवीण था ॥ २० ॥ और मितध्वज का पुत्र जो खाण्डिक्य वह कर्मविद्या में निपुण था; वह केशिध्वज से भयभीत होकर अपने घर में से भागगया. उस केशिध्वज का पुत्र भानुमान हुआ उस का पुत्र शतद्युम्न हुआ ॥ २१ ॥ तिस का पुत्र शुचि होकर उस से सनद्वाज हुआ, सनद्वाज से ऊर्ध्वकेतु हुआ. तिस से अज होकर उस का पुत्र पुरुजित् हुआ ॥ २२ ॥ तिस का अरिष्टनेमि, तिस का श्रुतायु, तिस का सुपार्श्वक, तिस का चित्ररथ और उस का पुत्र मिथिलाधिपति क्षेमधि हुआ ॥ २३ ॥ तिस से हेमरथ हुआ, तिस का पुत्र सत्यरथ, तिस से उप-

सुतः सत्यरथस्ततः ॥ आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः ॥ २४ ॥ वस्व-
नंतोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः ॥ श्रुतस्ततो जयस्तस्माद्विजयोऽस्मादृतः
सुतः ॥ २५ ॥ शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः ॥ बहुलाश्वो धृते-
स्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥ २६ ॥ एते वै मिथिला राजन्नात्मविद्याविशा-
रदाः ॥ योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥ २७ ॥ इतिश्रीभागवते म०
न० निमिवंशानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
अथातः श्रूयतां राजन्वंशः सोमस्य पावनः ॥ यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यंते
पुण्यकीर्तयः ॥ १ ॥ सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् ॥ जातस्यासी-
त्सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥ २ ॥ ॥ तस्य दृग्भ्योऽभवत्पुत्रः सोमोऽ-
मृतमयः किल ॥ विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥ ३ ॥ सो-
ऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ॥ पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नामाहरद्बलात्
॥ ४ ॥ यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् ॥ नात्यजत्तत्कृते जज्ञे

गुरु हुआ, तिस से उपगुप्त हुआ वह अग्नि के अंश से उत्पन्नहुआ था ॥ २४ ॥ तदनंतर उस का पुत्र वस्वनन्त, तिस का युयुध, तिस का सुभाषण, तिस का श्रुत, तिस से जय, तिस से विजय, तिस से ऋत पुत्र हुआ ॥ २५ ॥ तिस का पुत्र शुनक हुआ; तिस से वीतहव्य, तिससे धृति, तिस धृति का बहुलाश्व, तिस का कृति और उस का महावशी हुआ ॥ २६ ॥ हे राजन् ! यह मिथिल के वंश में उत्पन्नहुए राजे थे; यह गृहस्थाश्रम करतेहुए भी याज्ञवल्क्य आदि योगेश्वरों के अनुग्रह से ज्ञानवान् होने के कारण चेतनजड़ का विचार करने के विषय में निपुण और सुख दुःख, हर्ष शोक, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से छूटेहुए थे ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! अब आगे जिस वंश में पवित्रकीर्त्ति पुरूरवा आदि राजाओं का वर्णन करा है वह परमपवित्र सोम का वंश मैं तुम से कहता हूँ सुनो–॥ १ ॥ सहस्रशीर्षा भगवान् नारायण के नाभिरूप सरोवर में उत्पन्नहुए कमल में से ब्रह्माजी उत्पन्नहुए उन से, सत्य, शौच, सुशीलता आदि गुणों करके उन ब्रह्माजी की समान ही अत्रि नामक पुत्र उत्पन्नहुआ ॥ २ ॥ उन के नेत्रों में के आनन्द के आँसुओं से अमृतमय चन्द्र पुत्र उत्पन्नहुआ, यह बड़ा आश्चर्य है; उस को ब्रह्माजी ने, ब्राह्मण, औषधि और तारागणों का स्वामी बनाया ॥ ३ ॥ तदनंतर उस चन्द्र ने त्रिलोकी को जीतकर राजसूय नामवाले यज्ञ से भगवान् का यजन करा; और गर्व में भरकर बृहस्पति की तारा नाम वाली स्त्री को बलात्कार से हरलिया ॥ ४ ॥ तदनंतर बृहस्पतिजी ने अपनी स्त्री फेरदेने के निमित्त उस की वारम्वार याचना करी तब भी जब उस ने गर्व से नहीं दी तो उस के

सुरदानवविग्रहः ॥५॥ शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोडुपम् ॥ हरो गुरुसुतं स्नेहात्स-
र्वभूतगणावृतः ॥ ६ ॥ सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात् ॥ सुरासुरविनाशो-
ऽभूत्समरस्तारकामयः ॥७॥ निवेदितोऽथांगिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत् ॥ तारां स्व-
भर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत्पतिः ॥८॥ त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः ॥
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति ॥९॥ तत्याज व्रीडिता तारा
कुमारं कनकप्रभं ॥ स्पृहामांगिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥१०॥ ममायं न तवेत्यु-
च्चैस्तस्मिन्विवदमानयोः ॥ पप्रच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥
॥ ११ ॥ कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया ॥ किं नवोचस्यसद्वृत्ते
आत्मावद्यं वदाशु मे ॥ १२ ॥ ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् ॥

कारण देवता और दानवों का बड़ाभारी संग्राम हुआ ॥ ५ ॥ उस का कारण यह था कि बृहस्पतिजी के द्वेष के कारण शुक्राचार्यजी ने दैत्यों के साथ में चंद्रमा का प्रतिपक्षी बनना स्वीकार करा तथा शिवजी ने पहिले अङ्गिरा ऋषि से विद्या पढ़ी थी इसकारण बृहस्पति उनके गुरुभ्राता थे उस स्नेह के कारण शिवजी ने सकल भूतगणों के साथ बृहस्पति जी का पक्ष लेना स्वीकार करा ॥६॥ और इन्द्र भी सकल देवताओं सहित गुरु बृहस्पतिजी के पक्ष में हुआ; ऐसा होनेपर उस समय तिस ताराके निमित्त से होनेवाले संग्राममें देवताओं का और असुरों का बहुत नाश हुआ ॥७॥ तथापि तारा को चन्द्र ने नहीं दिया तब बृहस्पति ने यह वृत्तान्त ब्रह्माजी से कहा तब उन्हों ने चन्द्रमा को ललकारकर उससे बृहस्पति को तारा दिलवायी तब बृहस्पतिजी ने यह गर्भिणी है, ऐसा जानकर उस से कहा कि– ॥ ८ ॥ अरी दुर्बुद्धि तारा ! तू मेरी स्त्री है और तेरे विषैं शत्रु ने गर्भ स्थापन कर दिया है, सो यदि तू पतिव्रता है और शत्रु ने बलात्कार करा है तो तू इसी समय अपने पतिव्रतधर्म के प्रभाव से इस गर्भ का त्याग करदे, त्याग करदे; तो हे सति ! मैं तुझे शाप से भस्म नहीं करूँगा: क्योंकि-मुझे तेरे विषैं सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा है ॥ ९ ॥ तदनन्तर लज्जित हुई उस तारा ने, गर्भ को त्याग दिया; तब उस सुवर्ण की समान कान्तियुक्त पुत्र के विषय में बृहस्पति और चन्द्रमा इन दोनों ने इच्छा करी ॥१०॥ और वह दोनोंही 'यह पुत्र मेराहै, तेरा नहीं' ऐसा परस्पर ऊँचे स्वर से वादविवाद करने लगे तब देवताओं ने और ऋषियों ने, उस से, 'यह पुत्र किसकाहै' ऐसा प्रश्न करा तब लज्जित हुई उस तारा ने कुछ उत्तर नहीं दिया ॥११॥ तब क्रोधमें भराहुआ वह पुत्र ही मातासे कहने लगा कि–अरी ! दुश्चारिणी ! ऐसे व्यर्थ लज्जा करके तू बोलती क्यों नहीं है? तू अपना दुष्कर्म (किस से गर्भ धारण कराहै यह) शीघ्र मुझसे कथन कर ॥ १२ ॥ ऐसा बूझनेपरभी जब नहीं बोली तो ब्रह्माजी ने उसको एकान्त में बुलाकर, शान्तिके साथ युक्ति से बूझा तब उस

सोमस्य इत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥ १३ ॥ तस्यात्मयोनिरकृत बु-
ध इत्यभिधां नृप ॥ बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदं ॥ १४ ॥ ततः
पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ॥ तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥ १५ ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान्सुरर्षिणा ॥ तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता
॥ १६ ॥ मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकतां ॥ निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्द-
र्पमिव रूपिणम् ॥ १७ ॥ धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥ स तां
विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ॥ उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनू-
रुहः ॥ १८ ॥ राजोवाच ॥ स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किं ॥
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः ॥१९॥ उर्वश्युवाच ॥ कस्यास्त्वयि
न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर ॥ यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया ॥२०॥

ने धीरेसे कहाकि—यहपुत्र चन्द्रका है, तदनन्तर उसपुत्रको चन्द्रने ग्रहण करलिया ॥ १३ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उस पुत्र का ब्रह्माजी ने बुध यह नाम रक्खा, क्योंकि—गम्भीर बुद्धि वाले उस पुत्र से चन्द्रको आनन्द प्राप्तहुआ ॥ १४ ॥ उस बुधसे इलाके विषैं पुरूरवा नामवाला पुत्र हुआ; ऐसा मैंने पाहिले ही तुम से कहा है; उस पुरूरवा के रूप, गुण, उदारता, शील, सम्पत्ति और पराक्रम का इन्द्र की सभा में नारदजी ने गान करा तव देवताओं की अप्सरा उर्वशी उस के सुनने करके कामदेव के बाणों से पीड़ित होतीहुई तिस पुरूरवा के समीप आई ॥ १५ ॥ १६ ॥ यदि कहोकि—वह उर्वशी देवाङ्गना होकर मनुष्य के समीप कैसे आई तो सुनो—उसको मित्र और वरुणनामवाले इन दो देवताओं का 'तूमनुष्यरूप को प्राप्त होगी ' ऐसा शापदिया था इसकारण उस देवाङ्गना उर्वशीने, कामदेव की समान सुन्दर और पुरुषों में श्रेष्ठ उस राजा पुरूरवा को देखकर धीरज धरा और उस के समीप में खड़ी होगई ॥ १७ ॥ तव वह राजा, उस देवाङ्गना उर्वशी को देखकर हर्ष से प्रफुल्लितनेत्र और शरीर पर रोमाञ्च धारण करताहुआ कहनेलगा ॥ १८ ॥ राजा ने कहा कि—अरी सुन्दरि ! तेरा आगमन अति उत्तम हुआ, तू यहाँ वैठ, हम तेरा कौन सा प्रिय कार्यकरें ? तू मेरे साथ रमण कर, तेरी और मेरी बहुत वर्षोंपर्यंत रतिक्रीड़ा होय ॥ १९ ॥ ऐसा राजा का कथन सुनकर उर्वशी कहनेलगी कि—हे सुन्दर ! कौन सी स्त्री का मन और दृष्टि तुझ में आसक्त नहीं होगी ? सब की ही होगी; क्योंकि—जिस तेरी दृष्टि के सामने पड़ीहुई स्त्री, तेरे साथ रमण करने की इच्छा से तेरे समीप से और स्थान को नहीं जाती है, यह स्पष्ट है; अथवा जिस तेरे वक्षःस्थल को देखते ही तेरे साथ रतिक्रीडा करने की इच्छा करनेवाली स्त्री के विवेक धीरज आदि नष्ट होजाते हैं ॥ २० ॥

एतावुरणकौ राजन्न्यासौ रक्षस्व मानद ॥ संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥ २१ ॥ घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वाऽन्यत्र मैथुनात् ॥ विवासस‌ं तत्तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥ २२ ॥ अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ॥ को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥ २३ ॥ तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ॥ रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥ २४ ॥ रममाणस्तया देव्या पद्मकिंजल्कगंधया ॥ तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान्बहून् ॥ २५ ॥ अपश्यन्नुर्वशीमिंद्रो गन्धर्वान्समनोदयत् ॥ उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥ २६ ॥ ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते ॥ उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया ॥ २७ ॥

अब शाप समाप्त होनेपर फिर स्वर्ग को जानेकी इच्छा करनेवाली तिस उर्वशी का प्रण कहते हैं उर्वशी ने कहाकि—हे सन्मान देनेवाले राजन् ! इन दोनों मेंढों को मैंने पुत्रों कीसमान पाला है और यह मैं रक्षा करने के निमित्त तेरे समीप रखती हूँ , तू इनकी रक्षा कर; जबतक तू इनकी रक्षा करेगा तबतक मैं देवाङ्गना होकर भी तेरे साथ रमण करूँगी; नहीं तो तुझे छोड़कर चलीजाऊँगी;क्योंकि—जो रूप उदारता आदि गुणों से वर्णन करनेयोग्य होय वही हम अप्सराओं का पति कहा है ॥ २१ ॥ और हे वीर ! देवताओं का भोजन अमृत है और मनुष्य लोक में घृत ही अमृत है, इसकारण मैं घृत काही भक्षण करूँगी, अन्नका भक्षण नहीं करूँगी; और मैथुन कर्म के सिवाय और किसीसमय भी तुझे नग्न नहीं देखूँगी, यदि देखपाऊंगी तो चलीजाऊंगी, इसप्रकार के उसके प्रणको सुनकर, वह सब वैसाही करने को, उदारचित्त राजा पुरूरवा ने स्वीकार करलिया ॥ २२ ॥ और उससे यह कहाकि—मनुष्यलोक को मोहित करनेवाली तेरी सुन्दरता कैसी अद्भुत है ! तेरी चतुराई कैसी अपूर्व है ! स्वयं आईहुई देवताओं के भोगनेयोग्य तुझ उर्वशी को कौन मनुष्य सेवन नहीं करेगा ? ॥ २३ ॥ ऐसाकहतेही वह उर्वशी उसके साथ रमण करनेको उद्यत हुई, तदनन्तर यथोचित रीतिसे रमण करानेवाली उस उर्वशी के साथ वह पुरुषों में श्रेष्ठ राजा पुरूरवा, देवताओंके क्रीड़ा करनेके स्थान चैत्ररथ नन्दन आदि बगीचों में यथेष्ठ क्रीड़ा करनेलगा ॥ २४ ॥ कमल में के मकरन्द की समान जिसके अङ्ग की गन्ध है ऐसी उस उर्वशी के साथ रमण करनेवाला वह राजा,उसके मुखकी सुगन्ध से मोहित होकर बहुत दिनों पर्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ २५ ॥ तदनन्तर एकदिन स्वर्ग में उर्वशी को न देखनेवाले इन्द्रने, उर्वशीके बिना मेरा स्थान अत्यन्त शोभित नहीं है ऐसा देखकर उसको लानेके निमित्त गन्धर्वों को भेजा ॥ २६ ॥ वह गन्धर्व आधी रात्रि के समय, परम अन्धकार होनेपर भूतल में आकर पुरूरवा के समीप उर्वशी के रक्खेहुए दोनों मेंढों को भागते हुए लेचले ॥ २७ ॥

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः॥ हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥ २८ ॥ यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः ॥ यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान् ॥ २९ ॥ इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्रैरिव कुञ्जरः ॥ निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद्रुषा ॥ ३० ॥ ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः ॥ आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिं ॥ ३१ ॥ ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन्विमना इव ॥ तच्चित्तो विह्वलः शोचन्बभ्रामोन्मत्तवन्महीं ॥ ३२ ॥ स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः ॥ पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥ ३३ ॥ अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि ॥ मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥ ३४ ॥ सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया ॥ खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसा-

तब लिये जाते हुए और पुत्रों की समान पालन करे हुए उन मेंढों के विलाप के साथ रोने को सुनकर वह उर्वशी पुरूरवा को छोड़गई और जाते समय उसने यह कठोर वचन कहे कि–अरे पुरूरवा ! नपुंसक की समान पराक्रम रहित और वृथाहीं अपने को वीर माननेवाले तुझ निन्दनीय स्वामी ने मेरे साथ बड़ा घात करा है ॥ २८ ॥ जिस तेरे ऊपर 'यह वीर मेरे पुत्रों की रक्षा करेगा' ऐसा विश्वास रखकर मैं नष्ट हुई; क्योंकि–मेरे पुत्रों को चोर लेगये; जो तू , रात्रि के समय स्त्री की समान अत्यन्त भयभीत होकर सोता है, केवल दिन में पुरुष की समान व्यवहार करता है ऐसे तुझे नपुंसक नहीं तो और क्या कहाजाय ? ॥ २९ ॥ ऐसे वचनरूपी वाणों से 'जैसे अंकुशों से हाथी विधताहै तैसे' विधाहुआ वह राजा पुरूरवा, नंगा ही हाथ में तरवार लेकर, क्रोध में भरकर रात्रि के समय गन्धर्वों के पीछे चला ॥ ३० ॥ तब गन्धर्वों ने मेंढों को तहां हीं छोड़ दिया और वह बिजली की समान परम कान्तियुक्त होकर प्रकाश करनेलने; तब मेंढों को लेकर आने वाले पति को (पुरूरवा को) उस उर्वशी ने नंगा देखा, तब वह उर्वशी 'प्रण करेहुए नियमों का भंग होने के कारण' तत्काल उसको त्यागकर चलीगई ॥ ३१ ॥ तब राजा पुरूरवा भी पलङ्ग पर उर्वशी को न देखने के कारण चित्तशून्य सा (बेदिल सा) होगया और उसी में चित्त लगाकर विव्हल होताहुआ 'अब वह उर्वशी मुझे कैसे मिलेगी' ऐसा शोक करके उन्मत्त की समान भूमिपर विचरनेलगा ॥ ३२ ॥ इसप्रकार पृथ्वीपर फिरते फिरते एकसमय उस पुरूरवा ने,कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के तटपर,उस उर्वशी को और हर्षयुक्त उसकी पाँच सखियों को देखकर मधुरवाणी में यह कहा ॥ ३३ ॥ अहोस्त्री ! तू अब मुझ से उत्तम सुख को न पाकर मुझे घोर विरह दुःख में डालने के योग्य नहीं है इस कारण जा नहीं, ठहर, ठहर; तू और मैं मिलकर परस्पर आनन्द की बातें करें ॥ ३४ ॥ हे

देस्य नोत्स्पदम् ॥ ३५ ॥ उर्वश्युवाच ॥ मा मृथाः पुरुषोसि त्वं मास्मैनं त्वाऽद्युर्वृका इमे ॥ क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥ ३६ ॥ स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः ॥ घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥ ३७ ॥ विधायालीकविश्रंभमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः ॥ नवं नवमभीप्संत्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥ ३८ ॥ संवत्सरांते हि भवानेकरात्रं मयेश्वर ॥ वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥ ३९ ॥ अन्तर्वत्नीमुपालभ्य देवीं स प्रययौ पुरं ॥ पुनस्तत्र गतोऽब्दांते उर्वशीं वीरमातरम् ॥ ४० ॥ उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशं ॥ अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥ ४१ ॥ गंधर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति ॥ तस्य

देवि ! यह मेरा सुन्दर देह, तूने बहुत दूर छोड़दिया है, इसके ऊपर तेरी कृपा नहीं हुईतो अब यह यहाँ ही प्राणहीन होकर गिरपड़ेगा और इसको भेड़िये तथा गिज्ज खायँगे.इसकारण तू मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥ ३५ ॥ ऐसा भाषण करनेपर उर्वशी कहनेलगी कि–हे राजन् ! तू प्राण न त्याग; क्योंकि–तू पुरुष है इसकारण धीरज धर, यहाँ के भेड़िये तुझे भक्षण न करें अरे ! स्त्रियों की मित्रता कहीं भी स्थिर नहीं होती है, जैसे भेड़ियों का हृदय अतिक्रूर होता है तैसे ही स्त्रियोंका हृदय होता है ॥ ३६ ॥ अर्थात् यह स्त्रियें क्रूर स्वभाववाली, निर्दयी और क्षमाहीन होकर अपने हितके लिये साहस का काम करती हैं, इसकारण उस थोड़ेसे कामके निमित्त भी, विश्वास करनेवाले पतिको वा भ्राताको भी मारडालती हैं फिर औरोंका तो कहना ही क्या ? ॥ ३७ ॥ और यह स्त्रियें, अज्ञानी पुरुषों में कपट करके विश्वास दिखाती हैं परन्तु आप स्नेहहीन होकर व्यभिचार करनेवाली और नवीन २ पतिकी इच्छा करनेवाली होने के कारण यथेच्छ वर्त्ताव करती हैं इसकारण तू मेरा स्नेह छोड़दे ॥ ३८ ॥ ऐसा कहनेपर भी उस राजा को शान्ति न हुई इसकारण समझाती है कि–हे समर्थ राजन् ! तू धीरज धर, आज से एक वर्ष के अनन्तर तू एक रात्रि को मेरे साथ इस स्थलपर वास करेगा और मुझ से तेरी और सन्तान भी होंगी (इस से उस ने यह सूचित करा कि अब मैं गर्भिणी हूँ) ॥ ३९ ॥ तदनन्तर उस उर्वशी को गर्भिणी जानकर वह राजा पुरूरवा अपने नगर को लौटगया. फिर वर्षभर वीतजानेपर तिस कुरुक्षेत्र में आकर उस ने पुत्रसहित आईहुई उर्वशी को देखा और हर्षयुक्त होकर उस के साथ में उस रात को तहाँ ही रहा ॥ ४० ॥ दूसरे दिन तहाँ से जाते में अपने वियोग से व्याकुलहुए उस दीन पुरूरवा से उर्वशी ने कहा कि–तू गन्धर्वों को स्तुति आदि करके सन्तुष्ट करले तब यह गंधर्व तेरे अर्थ मुझे देदेंगे ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उस पुरूरवा के स्तुति करनेपर प्रसन्न हुए गन्धर्वों ने उस पुरूरवा को, 'इस अग्नि के द्वारा तू, उर्वशीलोक की प्राप्ति के साधन

संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ॥ उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत
चरन्वने ॥ ४२ ॥ स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि ॥ त्रेता-
यां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्त्तत ॥ ४३ ॥ स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीग-
र्भं विलक्ष्य सः ॥ तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥ ४४ ॥ उर्व-
शीं मंत्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तरां ॥ आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत्प्रजननं प्रभुः ॥
॥ ४५ ॥ तस्य निर्मथनाज्जातो जातवेदा विभावसुः ॥ त्रय्या स विद्यया राज्ञा
पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥ ४६ ॥ तेनायजत यज्ञेशं भगवंतमधोक्षजम् ॥ उर्वशी-
लोकमन्विच्छन्सर्वदेवमयं हरिम् ॥ ४७ ॥ एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववा-
ङ्मयः ॥ देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥ ४८ ॥
पुरूरवस एवासीत्त्रयी त्रेतामुखे नृप ॥ अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमे-

कर्म को करके तहाँ जायगा तो तुझे उर्वशी मिलेगी, ऐसे अभिप्राय से उन्होंने उस को उर्वशी नामवाली एक अग्निस्थाली दी. तदनंतर वह राजा, उस स्थाली को ही यह उर्वशी है ऐसा मानकर हृदय से लगायेहुए कुछकालपर्यंत वन में फिरतारहा. फिर उस ने यह उर्वशी नहीं है, किन्तु अग्निस्थाली है ऐसा जाना ॥ ४२ ॥ तदनन्तर उस स्थाली को वन में ही डालकर वह अपने घर को चलागया और रात्रि के समय नित्य उर्वशीका ही ध्यान करनेवाले उस राजा के मन में तिस त्रेतायुग के प्रारम्भ में कर्म को बतानेवाले तीन वेद प्रकट हुए ॥ ४३ ॥ तदनंतर उस ने स्थाली डालने के स्थानपर वन में जाकर तहाँ शमी (जंट) के वृक्ष के पेट में उत्पन्नहुए अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष को देखकर और उस में 'यह अग्नि है' ऐसा विशेषरूप से जानकर उस पीपल के काठ की दो अरणि (अग्निको मथने के काठ) बनाकर अपने को उर्वशीलोक की प्राप्ति होने के निमित्त अग्नि को मथा ॥ ४४ ॥ उन में से नीचे की अरणि को यह उर्वशी है और ऊपर की अरणि को यह पुरूरवा है ऐसा विचारनेवाले और दोनों के मध्य में के काठ को पुत्ररूप से विचारनेवाले तिस राजा पुरूरवा ने, अग्नि के मथने को प्रकाशित करनेवाले मन्त्र के द्वारा अग्नि को मथा ॥ ४५ ॥ उस के मथने से जातवेदा नामवाला अग्नि उत्पन्न हुआ, वह तीनों वेदों से होनेवाले आधानसंस्कार करके आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन नामों से प्रसिद्ध हुआ. उस को, पुण्यलोक को पहुँचानेवाला होने के कारण राजा ने 'यह मेरा पुत्र है' ऐसा माना ॥ ४६ ॥ तदनन्तर उर्वशीलोक की इच्छा करनेवाले उस पुरूरवा ने, उस साधनरूप अग्नि के द्वारा, यज्ञ का फल देनेवाले, सर्वदेवमय, अधोक्षज, भगवान् श्रीहरि का यजन करा ॥ ४७ ॥ हे राजन्! पहिले सत्ययुग में सकल वाणी का बीजभूत एक ओंकार ही वेद था, देवता भी एक नारायण ही थे, दूसरा कोई नहीं था; तथा लौकिक अग्नि और हंस नामक वर्ण यह भी एक२ ही थे ॥ ४८ ॥ हे राजन्! फिर त्रेतायुग के

यिवान् ॥ ४९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे ऐलोपाख्याने चतु-
र्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडा-
सन्नात्मजा नृप ॥ आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥ १ ॥ श्रु-
तायोर्वसुमान्पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः ॥ रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽ-
मितः ॥ २ ॥ भीमस्तु विजयस्याथ कांचनो होत्रकस्ततः ॥ तस्य जन्हुः सुतो
गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ॥ जन्होस्तु पूरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः
॥ ३ ॥ ततः कुशः कुशस्यापि कुशांबुर्मूर्त्तयो वसुः ॥ कुशनाभश्च चत्वारो गा-
धिरासीत्कुशांबुजः । ४ ॥ तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः ॥ वरं
विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥ ५ ॥ एकतः श्यामकर्णानां हयानां च-
न्द्रवर्चसां ॥ सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥ ६ ॥ इत्युक्तस्तन्मतं

प्रारम्भ में तीन वेद पुरूरवा से ही प्रकट हुए अर्थात् सत्ययुग में बहुधा सब ही लोग सत्वगुणप्रधान ध्याननिष्ठ थे, त्रेतायुग में ही तीन वेदों के विभाग से यज्ञ आदि कर्ममार्ग प्रकट हुआ. तदनन्तर राजा पुरूरवा, पुत्ररूप से स्वीकार करेहुए अग्नि के द्वारा गन्धर्व लोक को चलागया ॥४९॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! उस पुरूरवा राजाके उर्वशीसे छःपुत्रहुए, उनकेनाम आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय यह थे ॥ १ ॥ उनमें श्रुतायु का पुत्र वसुमान् हुआ, सत्यायु से श्रुतञ्जय हुआ, रय के एक नामवाला पुत्र हुआ, जयके अमितनामवाला पुत्र हुआ ॥ २ ॥ विजय के भीम नामवाला पुत्र हुआ, तिससे काञ्चन हुआ, तिससे होत्रक हुआ, तिसके जन्हु नामवाला पुत्र हुआ, उस ने सकल ही गङ्गाको अञ्जुलि में लेकर पीलिया था. फिर वह उसकी जङ्घामें को होकर निकली इसकारण उसको जान्हवी कहते हैं ॥ ३ ॥ जन्हु से पूरुनामवाला पुत्र हुआ, तिसका पुत्र बलाक, तिसका पुत्र अजक, तिससे कुश नामवाला पुत्र हुआ, तिस कुश के भी कुशाम्बु, मूर्त्तय, वसु और कुशनाभ यह चार पुत्र हुए, उन में कुशाम्बु से गाधि नामवाला पुत्रहुआ, ॥ ४ ॥ उस के विश्वामित्र नामक ब्रह्मर्षि पुत्र हुए यह आगे के अध्याय में आवेगा, उस राजा गाधि की सत्यवती नामक कन्या, ऋचीक ऋषि ने विवाह करने के निमित्त मांगी तब राजा गाधिने, ऐसा मनमें विचारकर कि–यह वर मेरी कन्या के योग्य नहीं है, ऋचीक ऋषिसे कहाकि–॥ ५ ॥ हे ऋषे! दायाँ वा बायाँ इन दोनों कानों में से जिनका एक कानश्यामवर्ण है और जिनके सकल शरीर में चन्द्रमा की समान तेज है ऐसे एक सहस्र घोड़े मेरी कन्याका शुल्क (विवाह के समय देनेका नजराना) दो तब मैं कन्या दूँगा, यहभी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि हम कुशिक कुलके परमकुलीन हैं इस कारण हमारी कन्या दुर्लभ है ॥ ६ ॥ ऐसा कहनेपर उस गाधि राजाका अभिप्राय, अर्थात् ' मैं यो-

ज्ञात्वा गतः स वरुणांतिकम् ॥ आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वरानना ॥
।७॥ स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया ॥ श्रपयित्वोभयैर्मंत्रैश्चरुं
स्नातुं गतो मुनिः ॥८॥ तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती ॥ श्रेष्ठं मत्वा
तयायच्छन्मात्रे मातुरदत्स्वयं ॥९॥ तद्विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः ॥ घोरो
दंडधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥१०॥ प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति
भार्गवः ॥ अथ तर्हि भवेत्पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥११॥ सा चाभूत्सुमहा-
पुण्या कौशिकी लोकपावनी ॥ रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥
तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ॥ यवीयान् जज्ञ एतेषां राम इत्य-

---

ग्य नहीं हूँ इसकारण दुर्लभ घोड़े माँगकर ' मुझे टालदिया है, ऐसा जानकर, वह ऋषि वरुण के समीपगये और उन से वह उसप्रकार के घोड़े मांगकर लादिये और उन्होंने तिस सत्यवती कन्या को वरलिया ॥ ७ ॥ फिर एकसमय सत्यवती ने और उसकी माता ने मेरे पुत्र हो इस इच्छा से ऋषि की प्रार्थना करी तब स्त्री के निमित्त ब्रह्मतेज की वृद्धि करनेवाले और सासके निमित्त क्षत्रियतेज को बढ़ानेवाले ऐसे दो प्रकार के मंत्रों से संस्कार करेहुए अलग २ चरु पकाकर, वह ऋषि स्नान करनेको नदीपर गये, सो लौटकर आने से पहिलेही ' स्त्री के ऊपर पतिका विशेष प्रेम होता है इसकारण मेरे से मेरी कन्या का चरु श्रेष्ठ है ऐसा मानकर ' सत्यवती की माताने तिस पतिव्रता अपनी कन्या सत्यवती से मांगा तब उस ने अपना वह ब्रह्मतेज को बढ़ानेवाले मंत्रोंसे अभिमन्त्रण कराहुआ चरु माताको दिया और माताका क्षत्रिय के तेजको बढ़ानेवाले मंत्रों से अभिमन्त्रण कराहुआ चरु आप भक्षण करलिया ॥ ८ ॥ ९ ॥ तदनन्तर स्नान करके आयेहुए उन ऋषिने, ' मेरी स्त्री और सासने चरु को बदलकर भक्षण करा है यह ' जानकर स्त्रीसे कहाकि—हे स्त्री ! तूने चरु बदला यह बड़ा बुरा कर्म करा है, इसकारण तेरा पुत्र शस्त्र धारण करनेवाला क्रूरस्वभाव का होयगा और तेरा भ्राता ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होयगा ॥ १० ॥ तदनन्तर ऐसा न होनेके निमित्त सत्यवती के प्रार्थना करेहुए वह ऋचीक ऋषि कहने लगे कि—यदि तेरा ऐसा ही कहना है तो तेरा पोता तैसा (शस्त्रधारी और क्रूरस्वभाव वाला) होयगा. फिर उस सत्यवतीके जमदग्नि नामक शान्तस्वभाव वाला पुत्रहुआ ॥ ११ ॥ और वह सत्यवती लोकों के पापोंका नाश करनेवाली, महापुण्यकारिणी कौशिकी नामवाली नदी होगई; अर्थात् नदीरूप से परिणामको प्राप्तहुई. जमदग्नि ऋषि ने, रेणु ऋषि की रेणुकानामवाली कन्या के साथ विवाह करा. उसके विषैं उन जमदग्नि ऋषि से वसुमान आदि पुत्रहुए; उन में जो छोटे थे वह राम (परशुराम) नामसे प्रसिद्धहुए ॥ १२ ॥

भिविश्रुतः ॥ १३ ॥ यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलांतकम् ॥ त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीं ॥ १४ ॥ दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनश-त् ॥ रजस्तमोवृतमहन्नू फल्गुन्यपि कृतेऽहंसि ॥ १५ ॥ राजोवाच ॥ किं तदं-हो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः ॥ कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥ १६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ॥ दत्तं नारा-यणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥ १७॥ बाहून्दशशतं लेभे दुर्द्धर्षत्वमरातिषु ॥ अव्याहतेऽन्द्रियौजः श्रीस्तेजो वीर्यं यशो बलम् ॥ १८॥ योगेश्वरत्वमैश्व-र्यं गुणा यत्राणिमदायः ॥ चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥ १९ ॥ स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवांभसि मदोत्कटः ॥ वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद्रुरोध सरि-तं भुजैः ॥ २० ॥ विप्लावितं स्वशिविरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः ॥ नामृष्यत्तस्य

॥ १३ ॥ जिनको वासुदेव भगवान् का अवतार और हैहय राजाओं का (सहस्रबाहु आदिकों का) अन्त करनेवाला कहते हैं. उन परशुरामजी ने इस पृथ्वी को इक्कीसबार क्षत्रियबीजरहित करा ॥ १४ ॥ उन्हों ने थोड़ासा भी अपराध करनेपर उस के निमित्त से रजोगुणी और तमोगुणी, अधर्मी, ब्राह्मणों में भक्ति न करनेवाले तथा पृथ्वी के भार समान उस घमण्डी क्षत्रियकुल का नाश करडाला ॥ १५ ॥ राजाने कहा कि—हे शुक-देवजी ! जिस के हेतु परशुरामजी से क्षत्रियों का कुल वारम्वार नाश को प्राप्त हुआ ऐसा, मन को न जीतनेवाले राजाओं ने उन भगवान् परशुरामजी का कौनसा अपराध करा था ? ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा कि—हे राजन् ! हैहय नामक राजाओं का अथवा देशों का स्वामी और क्षत्रियों में श्रेष्ठ जो कार्त्तवीर्य अर्जुन तिस ने सेवा आदि के द्वारा श्रीनारायण के अवतार श्रीदत्तात्रेयजी की आराधना करके प्रसन्नकरेहुए उन से,दशसहस्र भुजा, शूरों में अजेयपना; किसी से न रुकनेवाला इन्द्रियों का बल, धनसम्पत्ति, शरीर की कांति, बुद्धिबल, कीर्त्ति और शरीर का बल यह पाये ॥ १७ ॥ १८ ॥ तथा यो-गेश्वरपना और जिस में अणिमा महिमा आदि गुण हैं ऐसे ऐश्वर्य को भी पाकर, जैसे वायु लोकों में बेरोक गति से विचरता है तैसे विचरने लगा ॥ १९ ॥ एक समय अत्यन्त मद में भराहुआ वह सहस्रार्जुन, कण्ठ में रत्नों से जड़ी वैजयन्ती माला को पहिनकर उन स्त्रियों से घिराहुआ नर्मदा नदी के जल में क्रीड़ा कररहा था सो उस ने अपनी सहस्रभुजाओं से उस नदी के प्रवाह को रोकदिया ॥ २० ॥ उससमय दिग्विजय के निमित्त निकलाहुआ रावण, उस सहस्राबाहु की नगरी के समीप में नर्मदा के तटपर सेना सहित उतरकर देवपूजा कररहा था,सो सहस्राबाहु के रोकने के कारण पीछेको लौट-कर चलेहुए जलने,मेरे शिविर (सेना के पड़ाव के स्थान) को डुबेदिया,ऐसा देखकर, अ-

तद्वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥ २१ ॥ गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकि-
ल्बिषः ॥ माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥ २२ ॥ स एकदा तु
मृगयां विचरन् विपिने वने ॥ यदृच्छयाश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ॥ २३ ॥
तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् ॥ ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपो-
धनः ॥ २४ ॥ स वीरस्तत्र तद्दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम् ॥ तन्नाद्रियताग्नि-
होत्र्यां साभिलाषः सहैहयः ॥ २५ ॥ हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान्हर्तुमचोदयत् ॥
ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रंदतीं बलात् ॥ २६ ॥ अथ राजनि निर्याते
राम आश्रम आगतः ॥ श्रुत्वा तत्तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥ २७ ॥
घोरमादाय परशुं सतूणं चर्म कार्मुकम् ॥ अन्वधावत दुर्द्धर्षो मृगेन्द्र इव यूथपं
॥ २८ ॥ तमापतंतं भृगुवर्यमोजसा धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम् ॥ ऐणेयचर्माम्ब-

पनेको उस सहस्रबाहु से भी अधिक वीर माननेवाले तिस रावणने, उस सहस्रबाहु की नदी को रोकने की शक्ति को नहीं सहा ॥ २१ ॥ तदनन्तर क्रीड़ा करनेवाले उस सहस्रबाहु का तिरस्कार करनेको प्रवृत्तहुए तिस रावणको, जिस सहस्रबाहु ने स्त्रियों के सामने अनायास में पकड़कर माहिष्मती नगरी में कुछ समय पर्यन्त वानर की समान रोक रक्खाथा और फिर अपमान कर के छोड़ दिया था ॥ २२ ॥ वह सहस्राबाहु एकसमय भयङ्कर वन में मृगया (शिकार) करते २ अनायास ही जमदग्नि ऋषि के आश्रम में चलागया ॥ २३ ॥ तब उन तपोधन ऋषि ने, सेना और मन्त्रिमण्डली तथा घोड़े हाथी आदि सहित आयेहुए उस राजा सहस्राबाहु का, कामधेनु के आश्रय से भोजन आदि से अलौकिक सत्कार करा ॥ २४ ॥ तब हैहय राजाओं सहित और अपने में वीरपने का अभिमान रखनेवाले उस सहस्राबाहुने, तिस आश्रम में अपने ऐश्वर्य से भी अधिक, तिस कामधेनुके आश्रय से रचेहुए ऋषि के ऐश्वर्य को देखकर कामधेनुको लेने की अभिलाषा करी और ऋषि के करेहुए अतिथिसत्कारसे सन्तोष नहीं माना ॥ २५ ॥ और घमण्ड से ऋषि की कामधेनु छीनलेने को मनुष्यों को आज्ञा दी, तब उसे बलात्कारसे रम्भानेवालीतिस बछड़े सहित कामधेनु को माहिष्मती नगरी में को लेगए ॥ २६ ॥ तदनन्तर उस राजा के चलेजानेपर, पहिले से कहीं और को गयेहुए परशुरामजी पिता के आश्रम में आये और सहस्राबाहु राजा की वह गौ को लेजानारूप दुर्जनता को सुनकर, ताडना करेहुए सर्प की समान क्रुद्धहुए ॥ २७ ॥ और भयङ्कर फरसा तथा तर्कससहित ढाल और धनुष को लेकर, जिन का जीतना कठिन है ऐसे उन परशुरामजी ने, जैसे सिंह गजराज के ऊपर को धावा करता है तैसे उस सहस्राबाहु के ऊपर धावा करा ॥ २८ ॥ उससमय धनुष धारण करनेवाले, बाण और फरसा इन

रमर्कधामभियुतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥ २९ ॥ अचोदयद्धस्तिरथा-
श्वपत्तिभिर्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ॥ अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणास्तां
रामं एको भगवानसूदयत् ॥ ३० ॥ यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो मनोऽनिलौ-
जाः परचक्रसूदनः ॥ ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकंधरा निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः॥
॥ ३१ ॥ दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे रणाजिरे रामकुठारसायकैः ॥ विवृक्ण-
चर्मध्वजचापविग्रहं निपातितं हैहय आपतद्रुषा ॥ ३२ ॥ अथार्जुनः पंचशतेषु
बाहुभिर्धनुःषु बाणान्युगपत्स संदधे ॥ रामाय रामोऽस्त्रभृतः समग्रणीस्तान्येक-
धन्वेषुभिराच्छिनत्समम् ॥ ३३ ॥ पुनः स्वहस्तैरचलान्मृधेऽङ्घ्रिपानुत्क्षिप्य वेगा-
दभिधावतो युधि ॥ भुजान्कुठारेण कठोरनेमिना चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहे-
रिव ॥ ३४ ॥ कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृंगमिवाहरत् ॥ हते पितरि त-

आयुधों को सम्हालेहुए, कृष्णमृगचर्म को धारण करे और सूर्य की समान जिन का तेज है ऐसी जटाओंवाले वह परशुरामजी, वेग से झपटे चलेआरहे हैं ऐसा, नगरी में घुसतेहुए तिस सहस्राबाहु ने देखा ॥ २९ ॥ और उस ने तिन परशुरामजी के ऊपर हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदलोंवाली तथा गदा, खड्ग, वाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति इन आयुधों से अतिभयङ्कर सत्तरह अक्षौहिणी सेना भेजी; उस को इकले ही परशुरामजी ने परमधाम पहुँचादिया ॥ ३० ॥ उससमय, जिन का फरसा शत्रुओं का प्रहार कररहा है और जिन का वेग मन की समान तथा वायु की समान है वह शत्रुसेना का नाश करनेवाले परशुरामजी, उस रणभूमि में जिधर२ को फिरते थे उधर२ ही जिन की भुजा, जंघा और कण्ठ कटगए हैं तथा जिन के सारथि और घोड़े आदि वाहन मरण को प्राप्त होगए हैं ऐसे सहस्रों वीर मरकर गिरते थे ॥ ३१ ॥ तदनन्तर वह सहस्राबाहु, परशुरामजी के फरसे और वाणों से, जिस की ढाल, ध्वजा, धनुष और शरीर कटगए हैं तथा जो रुधिर के बहने से किचौंदी हुई युद्धभूमि में पड़ी है ऐसी अपनी सेना को देखकर क्रोध में भरगया और आप ही युद्ध करने को आया ॥ ३२ ॥ तदनन्तर सहस्र भुजावाले तिस अर्जुन ने, पाँच सौ धनुषोंपर पाँच सौ भुजाओं से पाँच सौ वाण, परशुरामजी को मारने के निमित्त एकसाथ चढ़ाये; उससमय जिनका सहायक एक ही धनुष है परन्तु शस्त्रधारियों में मुख्य ऐसे तिन परशुरामजी ने, वह पाँच सौ धनुष अपने छोड़े हुए बाणों से तत्काल काटादिये ॥३३॥ फिर अपने हाथों से युद्ध के साधन पर्वतवृक्ष आदि को लेकर वेगसे दौड़नेवाले तिस सहस्रबाहु की भुजाएँ, परशुरामजीने बलात्कार से अपने तीखी धारवाले फरसे से सर्प के फन काटनेकी समान युद्ध में काटडालीं ॥ ३४ ॥ तदनन्तर जिसकी भुजाकटगई हैं ऐसे उस सहस्रबाहु अर्जुन का मस्तक, पर्वत के शिखर को

तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥ ३५ ॥ अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा ॥
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥ ३६ ॥ स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे
भ्रातृभ्य एव च ॥ वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥ ३७ ॥ राम
राम महाबाहो भवान्पापमकारषीत् ॥ अवधीन्नरदेवं यत्सर्वदेवमयं वृथा ॥ ३८ ॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयाऽर्हणतां गताः ॥ यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्य-
मियात्पदम् ॥ ३९ ॥ क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ॥ क्षमि-
णामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥ ४० ॥ राज्ञो मूर्धावसिक्तस्य वधो ब्र-
ह्मवधाद्गुरुः ॥ तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥ ४१ ॥ इतिश्रीभाग-
वते महापुराणे नवमस्कन्धे पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥
पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन ॥ संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाश्रममा-
व्रजत् ॥ १ ॥ कदाचिद्रेणुका याता गंगायां पद्ममालिनं ॥ गंधर्वराजं क्रीडंत-

---

तोड़कर गिराने की समान काटडाला. इसप्रकार उस सहस्रबाहु अर्जुनका वध करनेपर उस के दश सहस्र पुत्र थे वह भयके मारेयुद्ध की भूमिको छोड़कर भागगये ॥ ३५ ॥ तदनन्तर शत्रुवीरों का नाश करनेंवाले परशुरामजी ने, शत्रुके खैंचने के कारण परम दुःखितहुई तिस बछड़े सहित धेनुको लौटाकर अपने आश्रम में आये और वह अपने पिता (जमदग्नि) को समर्पण करी ॥ ३६ ॥ और परशुरामजी ने, वह राजा अर्जुन का वध करना आदि अपना कराहुआ कर्म, पिता से और भ्राताओं से कहा, तिस को सुनकर जमदग्नि ऋषि ने कहा कि–॥ ३७ ॥ हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! तूने जो सकल देवतामय राजा अर्जुन का व्यर्थ वध करा है सो बड़ाभारी पाप करा ॥ ३८ ॥ हे तात राम ! हम ब्राह्मण निःसन्देह क्षमा करके पूजनीयपने को प्राप्तहुए हैं. तिस क्षमा करकेही सबलोकों के पूजनीय वह ब्रह्मा जी भी सर्वोत्तम ब्रह्मपद को प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥ क्षमासे ही ब्राह्मणकुल का शमदमादिका तेज सूर्य की कान्ति की समान प्रकाशित होरहा है; क्षमावान् पुरुषोंके ऊपर ही भगवान् ईश्वरश्रीहरि प्रसन्नहोतहैं ॥ ४० ॥ हेराम ! क्योंकि–अभिषेक करके राज्यपर स्थापन करेहुए राजा का वध ब्राह्मणके वध से भी अधिक पापकारकहै इससे तू भगवान् के विषै अपना चित्त लगाकर, गङ्गादितीर्थोंके सेवन से अर्जुन का वध करने से प्राप्तहुए पाप का नाशकर ॥ ४१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे कुरुकुलनन्दन राजन् ! इसप्रकार पिताके आज्ञा करनेपर तिन परशुरामजी ने, पिताकी आज्ञाको ‘ तथास्तु ’ (बहुत अच्छा) कहकर स्वीकार करा और एक वर्ष पर्यन्त तीर्थयात्रा करके फिर लौटकर आश्रम में आगये ॥ १ ॥ एकसमय परशुरामजी की माता रेणुका, गङ्गाजीपर जल लाने को गई सो उसने तिस गङ्गा में अप्सराओं के साथ क्रीड़ा क-

मप्सरोभिरपश्यत ॥२॥ विलोकयंती क्रीडंतमुदकार्थं नदीं गता ॥ होमवेलां न
सस्मार किञ्चिच्चित्ररथे स्पृहा ॥३॥ कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता ॥
आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥४॥ व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः
प्रकुपितोऽब्रवीत् ॥ घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥५॥ रामः
संचोदितः पित्रा भ्रातॄन् मात्रा सहावधीत् ॥ प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधे-
स्तपसश्च यः ॥ ६ ॥ वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः ॥ वव्रे हतानां
रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥ ७ ॥ उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इ-
वाञ्जसा ॥ पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥८॥ येऽर्जुनस्य सुता
राजन् स्मरन्तः स्वपितुर्वधम् ॥ रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥९॥

रनेवाले और कमलों की माला पहिनेहुए चित्ररथ नामवाले गन्धर्व को देखा और उसको देखती हुई खड़ी रहनेवाली तिस रेणुका ने, चित्ररथ के विषय में कुछ इच्छा करके, हवनका समय वीताजाता है यह कुछ ध्यान नहीं रक्खा ॥ २ ॥ ३ ॥ तदनन्तर हवनका समय वीतगया ऐसा जानकर जमदग्नि के शाप से डरी हुई वह रेणुका, शीघ्रता से आकर लायाहुआ जलका कलश जमदग्नि ऋषि के सामने रखकर हाथ जोड़कर खड़ी होगई ॥ ४॥ तदनन्तर वह जमदग्नि ऋषि, योगशक्तिसे यह जानकर कि –मेरी स्त्री रेणुका का चित्ररथके साथ भोग की इच्छारूप मानसिक व्यभिचार हुआ; अतिक्रोध में भरकर पुत्रोंसे कहने लगे कि–अरे पुत्रों! परपुरुष से चित्त लगानेवाली इस अपनी माताको तुम मारडालो; ऐसा कहने से भी उन पुत्रोंने माता का वध नहीं करा ॥ ५ ॥ तव तिन जमदग्नि ऋषिने, परशुरामजी को पुकार कर उन को,अपनी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले भ्राताओं को और माता का वध करने के निमित्त आज्ञा देनेपर तिन परशुरामजीने माता सहित भ्राताओं का वधकरा. क्योंकि- वह परशुरामजी, जमदग्नि ऋषि की समाधि,योग और तपके प्रभावको जानते थे अर्थात् यदि मैं भ्राताओं का वा माता का वध नहीं करूँगा तो यह ऋषिकोप में होकर शाप देने को समर्थ हैं और जो यदि वधकरडालूंगा तो मेरे प्रार्थना करनेपर तिन सवों को जीवित करने को समर्थ हैं, ऐसा जानते थे ॥ ६ ॥ तदनन्तर प्रसन्न हुए जमदग्नि ऋषि ने, परशुरामजी से कहा कि–इच्छित वर मांगले, तव परशुरामजी ने भी मरणको प्राप्तहुए माता और भ्राता जीवितहों और उन को अपना वधका स्मरणनहींहो,यह वरमांगलिया ॥७॥ तदनंतर वह भ्राता और माता यह सव सोकरउठेहुए की समान अनायास में ही जीवित होकर उठ खड़ेहुए. इसप्रकार पिता के तप के प्रभाव को जाननेवाले तिन परशुरामजी ने भ्राता आदिकों का वध करा ॥ ८ ॥ सव क्षत्रियों के वध करने का कारण यह है कि–हे राजन्! परशुरामजी के प्रभाव से तिरस्कार पाकर युद्ध में से भागेहुए जो अर्जुन के दशसहस्र पुत्र थे, वह परशुरामजी के करेहुए अपने पिता के वध को स्मरण करतेहुए कहीं भी सुख को

एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते ॥ वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उ-
पागमन् ॥ १० ॥ दृष्ट्वाऽग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिं ॥ भगवत्युत्तम-
श्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥ ११ ॥ याच्यमानाः कृपणया राममात्राऽति-
दारुणाः ॥ प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥ १२ ॥ रेणुका दुःख-
शोकार्त्ता निघ्नन्त्यात्मानमात्मना ॥ राम रामेहि तातेति विचुक्रोशोच्चकैः
सती ॥ १३ ॥ तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्त्तवत्स्वनं ॥ त्वरयाश्रममासा-
द्य ददृशे पितरं हतम् ॥ १४ ॥ तद्दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः ॥ हा
तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वाऽस्मान्स्वर्गतो भवान् ॥१५॥ विलप्यैवं पितुर्देहं
निधाय भ्रातृषु स्वयम् ॥ प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रांताय मनो दधे ॥ १६ ॥
गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम् ॥ तेषां स शीर्ष्णा राजन्मध्ये चक्रे

प्राप्त न हुए ॥ ९ ॥ एकसमय वह परशुरामजी, अपने भ्राताओं के साथ आश्रम में से कहीं वन को चलेगए थे सो जमदग्नि ऋषि के वध करने का अवसर पाकर वह अर्जुन के पुत्र, परशुरामजी के करेहुए अपने पिता के वध का वैर, उन के पिताका वध करके साधें यह निमित्त करके उन के आश्रम में आये ॥ १० ॥ तब अग्नि की हवनशाला में बैठे हुए और उत्तमकीर्त्ति भगवान् के विषैं जिन्होंने अपनी बुद्धि को स्थिरकरा है ऐसे उन जमदग्नि ऋषि को देखकर, उन के वधरूप पापका ही निश्चय करनेवाले उन्होंने तिन जमदग्नि ऋषि का वध करा ॥ ११ ॥ तब दीन रेणुका ने, 'इन को मारो मत' मारो मत, ऐसी उन की प्रार्थना करी तब भी, अतिक्रूर स्वभाववाले वह अधमक्षत्रिय, बला-त्कारसे उनका शिर काटकर अपने नगर में को लेगये ॥ १२ ॥ उस समय पतिके वि-योग से उत्पन्न होनेवाले दुःख से और पतिके विना आगे को कैसी होयगी इस चिन्तासे पीड़ितहुई तथा हाथों से शिर और छाती को कूटनेवाली वह पतिव्रता रेणु का, हे राम ! हे राम ! हे तात ! शीघ्र आओ, इसप्रकार ऊँचे स्वर से परशुरामजी को पुकारनेलगी ॥ १३ ॥ तदनन्तर उसका 'हा राम !' ऐसा दुःखित की समान शब्द, दूरसे ही सुन-कर परशुरामजी शीघ्रता से आश्रम में आये और उन्हों ने मरण को प्राप्तहुए पिता को देखा ॥ १४ ॥ तब सन्ताप, क्रोध, अपराध न सहना, दीनता और शोक के वेग से मोहितहुए तिन परशुरामजीने, हे तात ! हे साधो ! हे धर्मात्मन् ! हम को छोडकर तुम स्वर्ग को सिधारगये, ऐसा विलाप करके, रक्षा करने के निमित्त वह पिता का शरीर भ्राताओं को सौंपा और हाथ में फरसा लेकर क्षत्रियकुल का नाश करने का सङ्कल्प करा ॥ १५ ॥ १६ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! उन परशुरामजी ने, ब्रह्मघातक राजे होने के कारण जिस की शोभा नष्ट होगई है ऐसी उस माहिष्मती नगरी में जाकर, तहाँ उन

महागिरिं ॥ १७ ॥ तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम् ॥ हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमंगलकारिणि ॥ १८ ॥ त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ॥ स्यमंतपञ्चके चक्रे शोणितोदान्ह्रदान्नव ॥ १९ ॥ पितुः कायेन संधाय शिर आदाय बर्हिषि ॥ सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥ २० ॥ ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम् ॥ २१ ॥ अन्येभ्योऽवांतरदिशः कश्यपाय च मध्यमाम् ॥ आर्यावर्त्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥ २२ ॥ ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ॥ सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान् ॥ २३ ॥ स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् ॥ ऋषीणां मण्डले सोऽभूत्सप्तमो रामपूजितः ॥ २४ ॥ जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः ॥ आगामिन्यंतरे राजन्वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥ २५ ॥ आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ॥

अधम क्षत्रियों के काटेहुए मस्तकों से एक बडा भारी पर्वत बनादिया ॥ १७ ॥ और उन राजाओं के रुधिर से, ब्राह्मणों की भक्ति न करनेवाले लोकों को भय देनेवाली एक भयङ्कर नदी उत्पन्न करी. हे राजन् ! जब क्षत्रियों का कुल अन्याय से वर्त्ताव करने लगा तब पिता (जमदग्नि) के वध को निमित्त करके उन प्रभु परशुरामजीने इक्कीसवार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करा और स्यमन्तपञ्चक नामवाले देशमें रुधिररूप जल के पाँच तालाव बनाये ॥ १८ ॥ १९ ॥ तदनन्तर पिता का वह मस्तक लाकर; यज्ञ में पिता के शरीर से जोडकर तिन परशुरामजी ने बहुत से यज्ञों करके सब के अन्तरात्मा, सकलदेवमय विष्णुभगवान् की आराधना करी ॥ २० ॥ उन यज्ञोंमें परशुरामजीने होता को पूर्वदिशा की पृथ्वी दी, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में की, अध्वर्यु को पश्चिम में की और उद्गाता को उत्तर दिशा में की पृथ्वी दी ॥ २१ ॥ और ऋत्विजों को अग्निकोण आदि दिशाओं में की भूमि देकर कश्यपजी को मध्य की भूमि दी. उपद्रष्टा को आर्यावर्त्त (विन्ध्याचल और हिमाचल के मध्य की भूमि) दी ॥ २२ ॥ तदनन्तर ब्रह्मा हैं देवता जिस के ऐसी सरस्वती नदी में यज्ञ के अन्त का स्नान करने के कारण जिनके सकल पातक दूर होगए हैं ऐसे वह परशुरामजी मेघमण्डल से छूटेहुए सूर्य की समान शोभित होने लगे ॥ २३ ॥ वह जमदग्नि ऋषि तो पहिले के स्मरण से युक्त अपना शरीर पाकर, परशुरामजी से पूजित होतेहुए कश्यपादि ऋषियों के मण्डल में सातवें एक ऋषिहुए ॥ २४ ॥ हे राजन् ! वह जमदग्नि के पुत्र कमलनेत्र भगवान् परशुरामजी भी, आगे आनेवाले सावर्णि नामक मन्वन्तर में वेद का प्रचार करनेवाले सप्तऋषियों में एक ऋषि होयँगे ॥ २५ ॥ वह परशुरामजी, क्षत्रियों का वध करना आदि दण्ड का त्याग करके और बुद्धि को परम

उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥ २६ ॥ एवं भृगुषु विश्वात्मा भग-
वान्हरिरीश्वरः ॥ अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन्बहुशो नृपान् ॥ २७ ॥ गाधेर-
भून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ॥ तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्च-
सं ॥ २८ ॥ विश्वामित्रस्य चैवासन्पुत्रा एकशतं नृप ॥ मध्यमस्तु मधुच्छंदा
मधुच्छंदस एव ते ॥ २९ ॥ पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम् ॥
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठं एव प्रकल्प्यतां ॥ ३० ॥ यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः
पुरुषः पशुः ॥ स्तुत्वा देवान्प्रजेशादीन्मुमुचे पाशबन्धनात् ॥ ३१ ॥ यो रातो
देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः ॥ देवरात इति ख्यातः शुनःशेप स भार्गवः
॥ ३२ ॥ ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् ॥ अशपत्तान्मुनिः
क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥ ३३ ॥ स होवाच मधुच्छन्दाः सार्द्धं पंचा-

शान्त करके, सिद्ध, गन्धर्व और चारणों ने जिनके चरित्र को गाया है ऐसे होकर महेन्द्रनामक पर्वतपर अब भी रहते हैं ॥ २६ ॥ इसप्रकार विश्वात्मा, भगवान् ईश्वर श्रीहरिने, भृगुवंश में अवतार धारकर पृथ्वी के परमभाररूप बहुत से राजाओं का वध करा ॥ २७ ॥ हे राजन् ! गाधिराजा से जलतेहुए अग्निकी समान परमतेजस्वी विश्वामित्र नामवाला पुत्र हुआ, उसने अपने तपसे अपने क्षत्रियपनेको त्यागकर ब्रह्मर्षिपना पाया था ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उन विश्वामित्रजी के भी एकसौ पुत्र थे, उन में विचले पुत्र का नाम मधुच्छन्दस् था; उस के कारण उन सर्वोंको मधुच्छन्दस् कहते थे ॥ २९ ॥ विश्वामित्रजी ने भृगुवंश में उत्पन्नहुए अजीगर्त्त के देवरात इस (दूसरे) नामसे प्रसिद्ध शुनःशेप नामवाले पुत्र को अपने पुत्र के नाते से स्वीकार करके, अपने सौ पुत्रोंसे कहा कि—हे पुत्रो ! तुम इस शुनःशेप को अपना मधुच्छन्दा नामवाला बड़ा भ्राता जानो ॥ ३० ॥ जो शुनःशेप, राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में पुरुषपशु बनाकर मारनेके निमित्त माता पिता ने स्नेह को त्यागकर बेच दिया तब यज्ञ के खम्भे में बाँधागया था; वह अपने जीवित छूटने के निमित्त विश्वामित्र की शरण में गया तब उन के उपदेश करेहुए मन्त्रसे ब्रह्मादि देवताओंकी स्तुति करके उनकी कृपा होनेपर पाशबन्धनसे छूटगया ॥ ३१ ॥ जिस को यज्ञ में देवताओं ने जीवित छोड़कर, रक्षा करी इसकारण फिर जो गाधिराजाके कुटुम्बियों में देवरात इस नामसे प्रसिद्ध तपस्वी हुआ, वही भृगुवंश में उत्पन्न होनेवाला शुनःशेप था ॥ ३२ ॥ इसको तुम बडा भ्राता मानो, ऐसा जो विश्वामित्रजीने कहा था तिसको, विश्वामित्रजी के मधुच्छन्दस् नामवाले सौ पुत्रों में से उनञ्चास पुत्रों ने अच्छा नहीं माना; तब क्रुद्धहुए विश्वामित्र ऋषि ने, उन को यह शाप दिया कि—अरे दुष्टो ! तुम म्लेच्छ होजाओ ॥ ३३ ॥ तदनन्तर पचास छोटे भ्राताओं सहित

शेता ततः ॥ यन्नो भवान्संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयं ॥ ३४ ॥ ज्येष्ठं मंत्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वंचो वयं स्म हि ॥ विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ ॥ ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त मां ॥ ३५ ॥ एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित ॥ अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः ॥ ३६ ॥ एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधं ॥ प्रवरांतरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितं ॥ ३७ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन्सुताः ॥ नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥ १ ॥ अनेना इति राजेंद्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयं ॥ क्षत्रवृद्धसुतस्यासन्सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥२॥ काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत् ॥ शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥ ३ ॥ काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता ॥ धन्वंतरिर्दैर्घ्यतम आयुर्वेदप्रवर्तकः ॥ ॥ ४ ॥ यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः ॥ तत्पुत्रः केतुमानस्य ज-

---

जो विचला (पचासवाँ) मधुच्छन्दा था वह विश्वामित्रजी से कहनेलगा कि–तुम पिता, हम पुत्रों को जो (शुनःशेप को बडा मानने को) कहते हो तिस तुम्हारी आज्ञा में हम रहेंगे ॥ ३४ ॥ ऐसा कहकर उन्होंने, मन्त्रदृष्टा उस देवरातको वडा वनालिया और कहनेलगे कि–हे शुनःशेप ! हम सब तुम्हारे छोटे भ्राता हैं तव प्रसन्नहुए विश्वामित्रजी ने उन पुत्रों से कहा कि–जिन तुमने मेरा पूजनीयपना स्वीकार करा और मुझे पुत्रवान् करा सो तुमभी आगे को पुत्रवान् होओगे ॥ ३५ ॥ हे कुशिको ! यह देवरात तुम्हारा कुशिकही है क्योंकि–यह मेरा पुत्र है इसकारण अब तुम इसके अनुकूल वर्त्ताव करो. विश्वामित्रजी के उन पुत्रोंके सिवाय और भी अष्टक, हारीत, जय, क्रतुमान् आदि पुत्र थे ॥ ३६ ॥ इसप्रकार किन्हीं को शाप हुआ, किन्हीं के ऊपर कृपा हुई और एक पुत्र, रूपसे स्वीकार करागया; इसप्रकार विश्वामित्रजी के पुत्रोंसे वह कौशिक गोत्र नानाप्रकार का हुआ,क्योंकि–देवरात को बडा मानने के कारण वह भिन्न प्रकारके होगये अतः उन के दूसरे ही प्रवरहुए॥ ३७॥ इति श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में षोडशअध्याय समाप्त ॥* ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि–हे राजेन्द्र ! जो पुरूरवा का आयु नामवाला पुत्र कहा था उस के आगे को पाँच पुत्र हुए; उन के नाम–नहुष, क्षत्रवृद्ध,रजी, महापराक्रमी रम्भ और अनेना यह थे. तिन में पहिले क्षत्रवृद्धका वंश कहता हूँ सुनो–क्षत्रवृद्धका पुत्र सुहोत्र, उसके काश्य, कुश और गृत्समद यह तीनपुत्र थे; उन में गृत्समद से शुनक हुआ, तिसका ऋग्वेदियों में श्रेष्ठ शौनक मुनि नामक पुत्र हुआ ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ काश्य का पुत्र काशि, तिसका पुत्र राष्ट्र, तिसका पुत्र दीर्घतमा,तिसका पुत्र आयुर्वेद का प्रचार करनेवाला धन्वन्तरिहुआ॥४॥ वह यज्ञभोक्ता वासुदेव भगवान् का अंश था, और स्मरणमात्र से ही रोगों की पीड़ाका नाश

ज्ञे भीमरथस्ततः ॥ ५ ॥ दिवोदासो द्युमांस्तस्मात्प्रतर्दन इति स्मृतः ॥ स एव शत्रुजिद्वत्स ऋतध्वज इतीरितः ॥ तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥ ६ ॥ षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च ॥ नालर्कादपरो राजन्मेदिनीं बुभुजे युवा ॥ ७ ॥ अलर्कात्संततिस्तस्मात्सुनीथोऽथ सुकेतनः ॥ धर्मकेतुः सुतस्तस्मात्सत्यकेतुरजायत ॥ ॥ ८ ॥ धृष्टकेतुः सुतस्तस्मात्सुकुमारः क्षितीश्वरः ॥ वीतिहोत्रस्य भर्गोतो भर्गभूमिरभून्नृपः ॥ ९ ॥ इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः ॥ रंभस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥१०॥ तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः ॥ शुद्धस्ततः शुचिस्तस्मात्त्रिककुद्धर्मसारथिः ॥ ११ ॥ ततः शांतरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान् ॥ रजेः पंचशतान्यासन्पुत्राणाममितौजसां ॥१२॥ देवैरभ्यर्थितो दैत्यान्हत्वेंद्रायाददाद्दिवम् ॥ इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥ १३ ॥ आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः ॥ पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥ १४ ॥ त्रिविष्टपं म-

करनेवाला था तिसका पुत्र केतुमान्, तिसका पुत्र भीमरथ हुआ; तिससे दिवोदास, तिससे द्युमान् हुआ; हे वत्सराजन्! उस को ही प्रतर्दन कहते हैं और वही शत्रुजित्, ऋतध्वज और कुवलयाश्व इन नामों से कहागया है, तिस द्युमान् से अलर्क आदि पुत्र हुए ॥ ५ ॥ ६॥ हेराजन्! साठसहस्रवर्ष और साठ सौ वर्ष अर्थात् छयासठसहस्र वर्षपर्यन्त अलर्कने ही युवा-रहकर पृथ्वीका राज्य करा; उतनेंवर्षों पर्यन्त उस अलर्क से दूसरा राजा नहीं हुआ ॥ ७ ॥ अलर्क से सन्तति नामवाला पुत्र हुआ, तिस से सुकेतन, तिस से धर्मकेतु पुत्र हुआ, तिस से सत्यकेतुहुआ ।८। हेराजन्! तिससे धृष्टकेतु पुत्र तिस से सुकुमार नामा पृथ्वीपति, तिससे वीतिहोत्र, वीतिहोत्रका भर्ग, इस भर्गसे भार्गभूमि हुआ।९।यह कहेहुए काशिवंशसे उत्पन्नहुए राजे, क्षत्रवृद्धके वंशमेंकेहैं. रम्भके रभस और गम्भीर यह दो पुत्रहुए, तिस रभस से अक्रिय हुआ॥१०॥ तिसकी स्त्री के विषैं ब्राह्मणकुल उत्पन्न हुआ, अब अनेना का वंश सुनो; अनेना का शुद्ध तिससे शुचि, तिसका त्रिककुप्हुआ वह धर्मसारथि नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥११॥ तिस से शान्तरय हुआ, वह कृतकृत्य आत्मज्ञानी था; उस ने सन्तान उत्पन्न नहीं करी रजी के महाबल पराक्रमी पांच सौ पुत्र थे ॥ १२ ॥ उस रजी ने देवताओं की प्रार्थना से दैत्योंका वध करके, उन का छीनाहुआ स्वर्ग फिर इन्द्र को दिया; परन्तु प्रह्लाद आदि शत्रुओं से डरेहुए इन्द्र ने, वह स्वर्ग फिर रजी को देकर उस के चरण पकडकर अपना आपा अर्पण करा अर्थात् अपनी रक्षा का भार उस के ही ऊपर रक्खा. फिर रजी पिता का मरण होनेपर उस के पुत्रों ने, माँगनेवाले इन्द्रको स्वर्ग नहीं दिया, वह आप ही यज्ञ

इंद्राय यज्ञभागान्समाददुः ॥ गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित्तनयान् रजेः ॥
॥ १५ ॥ अवधीद्भ्रंशितान्मार्गान्न कश्चिदवशेषितः ॥ कुशात्प्रतिः क्षात्र-
वृद्धात्सञ्जयस्तत्सुतो जयः ॥ १६ ॥ ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो नृपः ॥
सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ॥ १७ ॥ संकृतिस्तस्य च जयः क्ष-
त्रधर्मा महारथः ॥ क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥ १८ ॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे चन्द्रवंशानुवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥
श्रीशुक उवाच ॥ यतिर्ययातिः संयातिरायातिर्वियतिः कृतिः ॥ षडिमे नहु-
षस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनां ॥ १ ॥ राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणा-
मवित् ॥ यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुद्ध्यते ॥ २ पितरि भ्रंशिते स्था-
नादिंद्राण्या धर्षणाद्द्विजैः ॥ प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥ ३ ॥ च-
तसृष्वादिशद्दिक्षु भ्रातॄन् भ्राता यवीयसः ॥ कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृ-
षपर्वणः ॥ ४ ॥ राजोवाच ॥ ब्रह्मर्षिर्भगवान्काव्यः क्षत्रबंधुश्च नाहुषः ॥ रा-

का भाग लेनेलगे, फिर बृहस्पतिजी ने उन की बुद्धि भ्रष्ट करने के निमित्त अभिचार की विधि से अग्नि में हवन करा तब अपने बुद्धिमार्ग से भ्रष्टहुए उन रजी के सब ही पुत्रों का इन्द्र ने वध करा उन में से एक भी शेष नहीं रहा. क्षत्रवृद्ध के पोते कुश से प्रति नामवाला पुत्र हुआ, तिस से सञ्जय, तिस का पुत्र जय हुआ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ तिससे कृत,कृत का भी पुत्र हर्यवन राजा हुआ,फिर सहदेव,तिस से हीन,तिस का पुत्र जयसेन, तिस का संकृति,तिस का भी जय हुआ, वह क्षत्रियधर्मनिष्ठ महारथी था. हे राजन्! यह क्षत्रवृद्ध के वंश में उत्पन्न हुए राजे कहे. अब नहुष से उत्पन्न हुए वंश को सुनो ॥ १७ ॥ १८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में सप्तदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! पहिले कहेहुए नहुष के यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और सह छःपुत्र थे; जैसे नेत्र कान आदि इन्द्रियें जीव के वश में होती हैं तैसे ही नहुषके अधीन थे ॥ १ ॥ उन में से यति नामवाले बड़े पुत्रने, नहुष पिताका दियाहुआ राज्य लेना नहीं चाहा; क्योंकि–वह यह जानता था कि–राज्य का परिणाम अनर्थकारक है. जिस राज्य में आसक्त हुआ पुरुष, अभिमान में भरकर यह नहीं जानता है कि–आगे को मेरी क्या गति होगी ॥ २ ॥ फिर नहुष पिताको, इन्द्राणी के साथ भोग करने की अभिलाषा के कारण अगस्त्य आदि ब्राह्मणों ने, स्वर्ग के अधिकार से भ्रष्ट करके अजगरकी योनि में पहुँचादिया तब ययाति ही राजा हुआ ॥ ३ ॥ उसने, संयाति आदि अपने चार छोटे भ्राताओं को चारों दिशाओं में पृथ्वी की रक्षा करने के निमित्त नियुत (मुकर्रिर) करा और आप शुक्राचार्यजी को तथा विषपर्वा दानवकी इन दोनों कन्याओं को अपनी स्त्री करके पृथ्वी का पालन करा ॥ ४ ॥ राजाने कहाकि- हे शुकदेवजी ! भगवान् शुक्रा-

जन्यविप्रयोः कंसपाद्विवाहः प्रतिलोमकः ॥ ५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा दानवेंद्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका ॥ सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥ ॥ ६ ॥ देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसंकुले ॥ व्यचरत्कलगीतालिनलिनीपुलिनेबले ॥ ७ ॥ ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः ॥ तीरे न्यस्य दुकूलानि विजहुः सिंचतीमिथः ॥ ८ ॥ वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम् ॥ सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः ॥ ९ ॥ शर्मिष्ठाऽजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत् ॥ स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥ १० ॥ अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसांप्रतम् ॥ अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥ ११ ॥ यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये ॥ धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाश्च दर्शितः ॥ १२ ॥ यान्वदन्त्यु-

चार्य जी ब्रह्मर्षि थे और राजा ययाति श्रेष्ठ क्षत्रिय था, ऐसा होतेहुए राजा का ब्राह्मणके यहाँ उलटा विवाह कैसे हुआ ? अर्थात् क्षत्रिय की कन्या को कारणवश ब्राह्मण स्वीकार करलेय परन्तु ब्राह्मण की कन्या को क्षत्रिय कभी ग्रहण न करे, ऐसी शास्त्र की आज्ञा होतेहुए भी यह कैसे हुआ ? ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! यह वानक ईश्वर का वनाया हुआ होने के कारण इस में प्रतिलोमता दोष नहीं है; इसविषय में कथा कहता हूँ सुनो—एकसमय दानवों में श्रेष्ठ वृषपर्वाकी, तरुणाई में आईहुई शर्मिष्ठा नामवाली कन्या, सहस्र दासियों के साथ. शुक्राचार्यजी की देवयानी नामवाली कन्या को साथ में लियेहुए, फूलेहुए वृक्षों से भरेहुए और जिसमें मधुर २ गान करनेवाले भौंरे हैं ऐसे स्थल में खिलने वाली कमलनियों की वाड़ोंवाले आरामवाग में क्रीड़ा करने को गई ॥ ६ ॥ ७ ॥ तब शर्मिष्ठा आदि उन कमल नयनी कन्याओं ने, तालके समीप आकर, अपने २ वस्त्र तटपर रखकर उस में प्रवेश करा और एक दूसरी के ऊपर जल उछालतीहुई करनेलगीं ॥ ८ ॥ इतने ही में उन कन्याओं में, पार्वतीजी के साथ नन्दीगण के ऊपर वैठकर जानेवाले शिवजी को देखा सो लज्जित हो एकाएकी तटपर अपने २ वस्त्र पहिने ॥ ९ ॥ उससमय अनजान में शर्मिष्ठा ने, देवयानी के वस्त्र अपने जानकर पहरलिये. तदनन्तर देवयानी, यह देखकरकि—शर्मिष्ठाने, मेरे वस्त्र पहिन लिये हैं, वड़े क्रोध में होकर कहनेलगी ॥ १० ॥ अरे ! देखो तो इस दासीका कैसा अयोग्य कर्म है ? जैसे कुतिया यज्ञ में हविका भागपात्र के अयोग्य है तैसे ही हमारे धारण करेहुए वस्त्रों के धारण करने को यह योग्य नहीं है और तोभी इसने मेरे वस्त्र पहिनलिये हैं ॥ ११ ॥ जिन ब्राह्मणों ने इस जगत् को तपके बलसे उत्पन्न करा है, जो परमपुरुष भगवान् के मुखसे उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने इस संसार में अपने हृदय में स्वप्रकाशरूप परब्रह्म को उपासना करने योग्य मानकर धारण करा है और

पैतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः ॥ भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिके-
तनः ॥ १३ ॥ वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पिताऽसुरः ॥ अस्मद्धार्य
धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥ १४ ॥ एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभा-
षत ॥ रुषा श्वसन्त्युरंगीव धर्षिता दंष्टदच्छदा ॥ १५ ॥ आत्मवृत्तमविज्ञाय
कत्थसे बहु भिक्षुकि ॥ किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान्बलिभुजो यथा ॥१६॥
एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाचार्यसुतां सतीं ॥ शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे वास
आदाय मन्युना ॥ १७ ॥ तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन्
॥ प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥ १८ ॥ दत्त्वा स्वमुत्तरं
वासस्तस्यै राजा विवाससे ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः १९॥
तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा ॥ राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः प-

जिन्हों ने कल्याणकारी वैदिकमार्ग का प्रचार करा है तथा जिन को इन्द्रादि लोकपाल नमस्कार करके स्तुति करते हैं; अधिक तो क्या परन्तु लक्ष्मी के आश्रय और जगत् को पवित्र करनेवाले विश्वात्मा भगवान् भी जिनकीवन्दना और स्तुति करते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥ उन ब्राह्मणों में भी हम भृगुकुल के अर्थात् जिन भृगुजी के चरण की लात को भी भगवान् ने सहन करा उन के वंश के श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं इसपर भी इस का पिता वृषपर्वा हमारा शिष्य है, इसप्रकार सर्वथा हम से हीन इस शर्मिष्ठाने, जैसे तीनों वर्ण से हीन शूद्र, ब्राह्मणों के पढ़ने योग्य वेद को पढ़ै तैसे ही, हमारे धारण करने योग्य वस्त्रों को इस ने धारण करा है ॥ १४ ॥ इस प्रकार तिरस्कार करनेवाली देवयानी को, अपना नीचे का ओठ चबाकर, चरण से कुचली हुई नागन की समान क्रोध में भरकर लम्बे २ श्वास लेनेवाली वह शर्मिष्ठा कहने लगी ॥ १५ ॥ कि–अरी भिखमँगी ! तू अपने वर्त्ताव पर ध्यान न देकर बहुत ही अपनी प्रशंसा कर रही है, अरी ! कौए और कुत्तों की समान अपने पिता के साथ पेट भरने के निमित्त हमारे घर की ओर को टकटकी बांधकर क्या नहीं देखती रहती है ? ॥ १६ ॥ ऐसे और भी कठोर वचनों से, गुरु कन्या होने के कारण पूजनीय तिस देवयानी की निन्दा करके, क्रोध से उस के पहिने हुए वस्त्र लेकर शर्मिष्ठा ने उस को कुए में धक्का देदिया ॥ १७ ॥ तदनन्तर उस शर्मिष्ठा के अपने घर को चले जानेपर, शिकार के निमित्त वन में फिरते हुए पिआस से व्याकुल हुआ राजा ययाति, अचानक उस कूप के समीप आया और उस कुए में पड़ी हुई नंगी देवयानी को देखा ॥ १८ ॥ और पिआस से व्याकुल हुए तिस राजा ने, उस नंगी देवयानी को पहरने के निमित्त अपना दुपट्टा देकर, अपने हाथ से उस का हाथ पकड़कर कुए से बाहर निकाल लिया ॥ १९ ॥ तब अपने को निकालने वाले उस राजा ययाति से, शुक्रा-

रिपुरंजय ॥ २० ॥ हस्तग्राहोपरो मा भूद्गृहीतायास्त्वया हि मे ॥ एष ईशकृतो
वीर संम्बंधो नो न पौरुषः ॥ २१ ॥ यदिदं कूपमग्नाया भवतो दर्शनं मम ॥
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ॥ कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्य-
मशपं पुरा ॥ २२ ॥ ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः ॥ मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा
प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ २३ ॥ गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः ॥
न्यवेदयत्ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥ २४ ॥ दुर्मना भगवान्काव्यः पौरोहि-
त्यं विगर्हयन् ॥ स्तुवन्वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥ २५ ॥ वृष-

चार्य की कन्या वह देवयानी, प्रेम भरी वाणी से कहने लगी कि–हे शत्रुनाशक राजन्! तुमने जो मेरा हाथ पकड़ा है। इस कारण तुम्हारे ग्रहण करे हुए मेरे हाथ को ग्रहण करनेवाला तुम से दूसरा कोई भी न हो अर्थात् तुम ही मुझे वरो; तुम यह सन्देह न करो कि–ब्राह्मण की कन्या के साथ क्षत्रिय होकर उलटा विवाह कैसे करूँगा? क्योंकि–हे वीर! हमारा यह स्त्री पतिरूप सम्बन्ध ईश्वर का ही करा हुआ है, पुरुष का करा हुआ नहीं है ॥ २० ॥ २१ ॥ क्योंकि–कुए में पड़ी हुई मुझे अचानक जो यह तुम्हारा दर्शन हुआ है सो ईश्वर की इच्छा से ही हुआ है; इस कारण हे महापराक्रमी! मेरा पाणिग्रहण करनेवाला (पति) ब्राह्मण नहीं होगा; क्योंकि–पहिले मैंने जो कच नामवाले बृहस्पतिजी के शिष्य को 'तेरी विद्या निष्फल हो' ऐसा शाप दिया था + तब उस ने भी मुझे 'तेरा ब्राह्मण पति नहीं होगा' यह शाप दिया था ॥ २२ ॥ तदनन्तर राजा ययाति ने शास्त्र के प्रतिकूल होने के कारण अपने को प्रिय न लगने वाले परन्तु प्रारब्ध से प्राप्तहुए उस देवयानी के भाषण को सुनकर और अपने मन को उस में आसक्त हुआ मानकर, मेरा मन अधर्म में कभी नहीं जाता है, ऐसा निश्चय करके उस के वचन को स्वीकार करा अर्थात्–तेरा पिता यदि मुझे देदेगा तो मैं तुझे ग्रहण करलूँगा, यह कहा ॥ २३ ॥ तदनन्तर वह वीर राजा ययाति, तहाँ से चलागया तब उस देवयानी ने, तहाँसे रोदन करतेहुए पिताके समीप आकर उसको शर्मिष्ठा ने जो ताने मारेथे तथा कुए में धक्का देना आदि जो कार्य कराथा सो सब कहा ॥ २४ ॥ यह सुनकर वह भगवान् शुक्राचार्य जी, चित्त में दुःखित होकर, पुरोहित की वृत्ति की निन्दा करतेहुए और एक २ कणबीनकर खाने की प्रशंसा करतेहुए, उस कन्या को साथले वृषपर्वा के नगर से निकलकर चलेगये ॥ २५ ॥ तदनन्तर शत्रुओं को जय

+ बृहस्पतिजी के कच नामवाले पुत्र ने, शुक्राचार्यजी से मृतसञ्जीविनी विद्या प्राप्त करी; तब देवयानी ने उस से कहा कि—तू मेरा पति हो तब उस ने कहा कि—तू गुरु की कन्या होने के कारण मेरी पूजनीय है इस कारण मैं तुझे नहीं वरूँगा, ऐसा कहनेपर क्रोध में भरीहुई देवयानी ने उस को 'तेरी विद्या निष्फल होय' यह शाप दिया तब कच ने भी देवयानीको 'तेरा पति ब्राह्मण नहीं होगा' यह शाप दिया।

पर्वा तमाज्ञाय मत्यनीकविवक्षितम् ॥ गुरुं प्रसादयन्मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥ २६ ॥ क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः ॥ कामोऽस्याः क्रियतां राजन्नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे ॥ २७ ॥ तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ॥ पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥ २८ ॥ स्वानां तत्संकटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ॥ देवयानीं पर्यचरत्स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥ २९ ॥ नाहुषाय सुतां दत्वा सहशर्मिष्ठयोशनाः ॥ तमाह राजन् शर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥ ३० ॥ विलोक्यौशनसीं राजन् शर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित् ॥ तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥ ३१ ॥ राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् ॥ स्मरन् शुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥ ३२ ॥ यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ॥ द्रुह्यं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षप-

प्राप्त करादे, यह शुक्राचार्यजी के मन में आया है, ऐसा जानकर वृषपर्वा ने, मार्ग में जाते हुए उन शुक्राचार्यजी को प्रसन्न करने के निमित्त मस्तक झुकाकर उन के चरणों में गिरपड़ा ॥ २६ ॥ तब आधे क्षण को क्रोधमें रहनेवाले वह भगवान् शुक्राचार्यजी, अपने शिष्य वृषपर्वा से कहने लगे कि—हे राजन ! इस देवयानी का जो मनोरथ होय उस को तू पूर्ण कर, इसको मैं इस दशा में ही रखकर उदासीन नहीं करना चाहता हूँ ॥ २७ ॥ तब वह, 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर मौन होरहा तब देवयानी ने, अपने मन का विचार कहा कि—पिता की दीहुई मैं जहाँ (सुसराल में) जाऊँ तहाँ ही यह शर्मिष्ठा, सखियों सहित मेरा दासीकर्म करने के निमित्त जाय ॥ २८ ॥ तब शर्मिष्ठा ने, शुक्राचार्यजी के चलेजानेपर, पिता आदि सर्वोको यह बड़ा कष्ट प्राप्त होगा, ऐसा देखकर और देवयानी को प्रसन्न करनेपर उनका बड़ाभारी कार्य सिद्ध होगा, ऐसा जानकर, सहस्र स्त्रियों के साथ दासी की समान, देवयानी की सेवा करना स्वीकार करा ॥ २९ ॥ तदनन्तर शुक्राचार्यजी ने, राजा ययाति को, शर्मिष्ठादासी सहित देवयानी को अर्पण करके उस से कहाकि—हे राजन् ! शय्यापर शर्मिष्ठाके साथ तू कभी भी गमन नहीं करना॥३०॥ फिर हे राजन् ! एकसमय शर्मिष्ठा ने, देवयानी पुत्रवती होगई यह देखकर, अपना ऋतुधर्म का समय आनेपर, अपनी सखी के पति तिस राजा ययाति की ही सन्तानकी प्राप्ति होने के निमित्त सम्भोग करने की प्रार्थना करी ॥ ३१ ॥ इसप्रकार सन्तान की प्राप्ति के निमित्त राजकन्या शर्मिष्ठा के प्रार्थना करेहुए उस राजा ययाति ने, धर्म जानकर अर्थात् ऋतुकाल में सन्तान की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करनेवाली स्त्री की इच्छा पूरी करना धर्म है, ऐसा मन में विचारकर, शुक्राचार्यजी के कहने का स्मरण होतेहुए भी ऋतुकाल में यह सम्भोग दैववश प्राप्त हुआ है ऐसा माना ॥ ३२ ॥ ऐसा होनेपर देवयानी के

वणी ॥ ३३ ॥ गर्भसंभवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय भामिनी ॥ देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥ ३४ ॥ प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन् ॥ न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥ ३५ ॥ शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष ॥ त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणां ॥ ३६ ॥ ययातिरुवाच ॥ अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन्दुहितरि स्म ते ॥ व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥ ३७ ॥ इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत ॥ यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥ ३८ ॥ मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम् ॥ वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः ॥ ३९ ॥ यदुरुवाच ॥ नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव ॥ अविदित्वा सुखं

यदु और तुर्वसु यह दो पुत्र हुए और वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठाके द्रुहु, अनु और पूरु यह तीन पुत्र हुए ॥ ३३ ॥ तब देवयानी, अपने पतिसे शर्मिष्ठा को गर्भ हुआ जानकर रूठकर और क्रोधमें भरकर वह वृत्तांत पिता से कहने के निमित्त पिता के घर गई ॥ ३४॥ तब उस को प्रसन्न करने की इच्छा करनेवाला राजा ययाति भी, उस देवयानी के पीछे चलदिया और मार्ग में चरण छूकर तथा उत्तम वचनों से समझाकर भी उस को प्रसन्न करने को समर्थ नहीं हुआ ॥ ३५ ॥ तदनन्तर देवयानी ने पिता के घर जाकर वह सब वृत्तान्त कहा तब क्रुद्ध हुए शुक्राचार्यजी उस राजा ययाति से कहने लगे कि-अरे ! मन्द बुद्धि ! स्त्री के लोभी ! खोटे पुरुष ! तुझे मनुष्यों का रूप विगाड़नेवाली जरा (बुढापा) प्राप्त हो ॥ ३६ ॥ ऐसे शुक्राचार्यजी के शाप को सुनकर राजा ययाति ने कहा कि-हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कन्या के साथ विषयों का सेवन करके अब भी मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ इस कारण तुम्हारे शाप से तुम्हारी कन्या का ही अनिष्ट हुआ है ! तब शुक्राचार्यजी ने कहा कि-यदि ऐसा है तो जो कोई तेरा प्रेमी वा पुत्र तुझे अपनी तरुणाई देकर तेरी जरा लेलेय उस को तू यथेष्ट अपनी जरा दे दे और उस की तरुणाई को लेकर विषयों का भोगकर ॥ ३७ ॥ ऐसी अवस्था होनेपर जरा से ग्रस्त हुआ वह राजा ययाति, अपने नगर में आकर यदु नामवाले अपने बड़े पुत्र से कहने लगा कि-हे बेटा यदु ! इस अपने नानाकी करी हुई जरा को तू ग्रहण कर और अपनी तरुण अवस्था मुझे दे दे. हे बेटा ! अभी मैं विषय भोग में तृप्त नहीं हुआ हूँ इस कारण तेरी तरुणाई से कुछ वर्षों पर्यन्त विषयभोग का सुखप्राप्त करूँगा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ यदु ने कहा कि-हे पिताजी ! मध्य में ही प्राप्त होनेवाली तुम्हारी जरा (वृद्धावस्था) से युक्त होकर रहने की मेरी इच्छा नहीं है; क्योंकि-विषयसुख कैसा है, यह जानेविना पुरुष उन विषयों से विरक्त नहीं होता है इसकारण वैराग्यहुए विना मुझे अपनी तरुण अवस्था देने

ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुष ॥ ४० ॥ तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भा-
रत ॥ प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः ॥ ४१ ॥ अपृच्छत्तनयं पूरुं व-
यसोनं गुणाधिकम् ॥ न त्वमग्रजवद्वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥
पूरुरुवाच॥ को नु लोके मनुष्येंद्र पितुरात्मकृतः पुमान् ॥ प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसा-
दाद्विन्दते परम् ॥ ४३ ॥ उत्तमश्चिंतितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः ॥ अधमोऽश्रद्ध-
या कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः ॥ ४४ ॥ इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः
सोऽपि तद्वयसा कामान्यथावज्जुजुषे नृप ॥ ४५ ॥ सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पि-
तृवत्पालयन् प्रजाः ॥ यथोपजोषं विषयान् जुजुषेऽव्याहतेंद्रियः ॥ ४६ ॥ दे-
वयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः ॥ प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥
॥ ४७ ॥ अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं

की इच्छा नहीं है ॥ ४० ॥ हे भारत राजन् ! तदनन्तर इसीप्रकार पिता ययाति के वृद्धावस्था लेने के निमित्त कहेहुए तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु इन तीन पुत्रों ने भी उस का निषेध करदिया; क्योंकि-वह सब यह नहीं जानते थे कि-पिता की आज्ञा के अनुसार वर्त्ताव करना श्रेष्ठधर्म है, और अनित्य देह आदि के विषैं नित्यबुद्धि रखते थे ॥ ४१ ॥ तदनन्तर अवस्था में सब से छोटे और गुणों में सब से अधिक अपने पूरु नामवाले पुत्र से राजा ययाति ने कहा कि-हे पुत्र ! मेरे बुढ़ापे को लेकर क्या अपनी तरुणाई मुझे देदेगा? बड़े भ्राताओं की समान तुझे निषेध करना योग्य नहीं है ॥ ४२ ॥ यह सुनकर पूरु कहनेलगा कि-हे मनुष्येंद्र ! जिन के अनुग्रह से पुरुष, इसलोक के और परलोक के पुरुषार्थ को पाता है ऐसे अपने को उत्पन्न करनेवाले अपने पिता का प्रत्युपकार (पलटे में उपकार) करने को इसलोक में कौन समर्थ है ? ॥ ४३ ॥ तिस में भी जो पुत्र, पिता के मन में का कार्य (विना कहे ही) करता है वह उत्तम है, जो कहा हुआ कार्य करता है वह मध्यम है, जो कहेहुए कार्य को श्रद्धारहित होकर भी करता है वह अधम है और जो पिता के कहेहुए कार्य को अश्रद्धा से भी नहीं करता है वह पिता के विष्ठा की समान है ॥ ४४ ॥ ऐसा कहकर हर्षयुक्त हुए उस पूरु ने, अपनी तरुण अवस्था देकर पिताकी वृद्धावस्था ग्रहण करली. तदनन्तर हे राजन् ! वह ययाति राजा भी पूरु की दीहुई तरुण अवस्था से सुख के साथ विषयों का भोग करने लगा ॥ ४५ ॥ जिसकी इन्द्रियें कभीभी श्रम न माननेवाली (दृढ़) हैं और जो सात द्वीपवाली पृथ्वी का स्वामी है तिस राजा ययाति ने उत्तमप्रकार से पिताकी समान स्नेह के साथ प्रजाओं का पालन करके जैसें प्रीति विदित होय तैसे विषयों का सेवन करा ॥ ४६ ॥ उस समय उसकी परमप्रिया देवयानी ने भी प्रतिदिन परमस्नेह के साथ मधुर भाषण से, शुश्रूषा करके और इच्छित वस्तुएं समर्पण करके एकान्त में उस अपने प्रिय पति को परम प्रसन्न करा ॥ ४७ ॥ तद-

हरिम् ॥ ४८ ॥ यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः ॥ नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥ ४९ ॥ तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयं ॥ नारायणमणीयांसं निराशीरयजत्प्रभुम् ॥ ५० ॥ एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम् ॥ विदधानोऽपि नातृप्यत्सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥ ५१ ॥ इति भा० म० न०ऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स इत्थमाचरन्कामान् स्त्रैणोपह्नवमात्मनः ॥ बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥ १ ॥ शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि ॥ धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥ २ ॥ बस्त एको वने कश्चिद्विचिन्वन्प्रियमात्मनः ॥ ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजां ॥ ३ ॥ तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिंतयन् ॥

नन्तर उस राजाने, सकल वेदोंके तात्पर्यरूप और सकल देवमय, यज्ञ का फल देनेवाले श्रीहरिदेव का बहुतसी दक्षिणा वाले यज्ञोंके द्वारा आराधना करी ॥ ४८ ॥ जैसे आकाश में उत्पन्न हुई मेघोंकी पंक्ति कभी दीखती है कभी नहीं दीखती है तैसेही जिन भगवान् के विषें यह जगत्, जिनके रचना करनेपर व्यवहार की स्थितिके समय जबतक इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति रहती है तबतक स्वप्न, माया और मनोरथ की समान नानाप्रकार का भासता है और सुषुप्ति के समय इन्द्रियों की वृत्तियों के रुकने पर कुछ भी नहीं भासता है ॥ ४९ ॥ उनही सर्वान्तर्यामी अतिसूक्ष्म, नारायण वासुदेव का हृदय में ध्यान करके, फलकी इच्छा से रहित तिस राजा ने भगवान् की आराधना करी ॥ ५० ॥ इसप्रकार जिनमें मन छटा है ऐसी विषयों में आसक्त पाँच इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआभी वह चक्रवर्त्ती राजा ययाति तृप्त नहीं हुआ ॥ ५१ ॥ इतिश्री मद्भागवत के नवम स्कन्ध में अष्टादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार स्त्री के वश में हुआ वह राजा ययाति विषयों का भोग करता हुआ भगवान् की आराधना के प्रभावसे विषय भोगों से विरक्त होकर अपना विषयासक्तपना जान देवयानीसे यह कथा कहने लगा कि– ॥ १ ॥ हे देवयानि ! इस भूमिपर जिस कामी गृहस्थी पुरुष का वन में रहनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष, 'अरे इसका कल्याण कैसे होयगा, ऐसा, शोक करते हैं उस मुझ समान पुरुष की आचरण करीहुई कथा सुन ॥ २ ॥ किसी एक बकरे (कामी) ने वन में (संसार में) मेरा प्रिय (विषयभोग) कहां होयगा, यह खोजतेहुए, कुए में पड़ीहुई अपने कर्मोंके वशीभूत एक बकरी देखी ॥ ३ ॥ तब उस कामातुर बकरेने, उस बकरी को कुए में से बाहर निकालने का विचार करके, कुए के समीप की मिट्टी आदि को अपने सींगों के अग्रभाग से खोदकर उस

न्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी ॥ ४ ॥ सोत्तीर्य कूपात्सुश्रोणी तमेव चकमे किल ॥ तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः ॥ ५ ॥ पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं मीढ्वांसं याभकोविदम् ॥ स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्द्धनः ॥ रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुद्ध्यत ॥ ६ ॥ तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया ॥ विलोक्य कूपसंलग्ना नामृष्यद्बस्तकर्म तत् ॥७॥ तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् ॥ इंद्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥ ८ ॥ सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम् ॥ कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत्पथि संधितुम् ॥ ९ ॥ तस्यास्तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद्रुषा ॥ लंबन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥ १० ॥ संबद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया ॥ कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥ ११ ॥ तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः ॥ आत्मानं नाभिजाना-

के बाहर निकलने का मार्ग बनाया ॥ ४ ॥ तब उस सुन्दर बकरी ने कुए से बाहर निकलकर उस बकरे को ही पति करलिया तब उस बकरी के वरेहुए तिस बकरे को देख कर पति की इच्छा करनेवाली और भी बहुत सी बकरियों ने ॥ ५ ॥ परमप्रिय, रतिसुख देनेवाले, मैथुन कर्म में चतुर और सकल अङ्गों में पुष्ट उस ही बकरे को वरा; तब वह इकला ही बड़ा बकरा, उन बहुतसी बकरियों के रतिसुख की वृद्धि करताहुआ, अपने आप कामरूप पिशाच के आवेश में होकर उन के साथ क्रीड़ा करनेलगा और उसने इसका कुछ ध्यान नहीं करा कि—आगे को मेरी क्या दशा होगी ॥ ६ ॥ उसही बकरे को, अन्य परमप्रिय बकरियों के साथ क्रीड़ा करतेहुए देखकर भयभीत हुई और बकरे की कुए से बाहर निकालीहुई तिस पाहिली बकरी ने, वह बकरेका कर्म सहा नहीं॥७॥ और वह, कपट करनेवाले, ऊपर से प्रेमयुक्त दीखनेवाले, क्षणिक मित्रता करनेवाले, कामसे आतुर और केवल इन्द्रियों की तृप्ति करनेवाले उस बकरे को छोड़कर दुःखित होतीहुई अपने पिताके यहां जाने को चलदी ॥ ८ ॥ तब स्त्री के वश में होने के कारण वह दीन बकरा भी उस को प्रसन्न करने के निमित्त इडविड़ २ शब्द (अपनी जाति का शब्द) करताहुआ उसके पीछे २ चला तथापि मार्ग में उसको प्रसन्न करने को वह समर्थ नहीं हुआ ॥ ९ ॥ तहाँ उसका स्वामी जो कोई एक ब्राह्मण था, उस ने क्रोध में भरकर बकरे का लम्बायमान वृषण (अण्डकोश) काटडाला अर्थात् उसको बुढ़ापा देकर स्त्री सम्भोग करने के अयोग्य करदिया और फिर अपनी बकरी के कामभोग का उपाय करनेवाले उस ब्राह्मण ने वह वृषण ठीक करदिया अर्थात् बुढ़ापे के बदले में तरुणाई देकर सम्भोग करने की शक्ति दी ॥ १० ॥ फिर वृषण ठीक होनेपर वह बकरा भी कुए में मिलीहुई उस बकरी के साथ बहुत दिनोपर्यन्त विषयभोग करताहुआ भी उन विषयों से आजपर्यन्त तृप्त नहीं होता है ॥ ११ ॥ हे सुन्दरी देवयानी !

मि मोहितस्तव मायया ॥ १२ ॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ॥
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥ १३ ॥ न जातु कामः कामाना-
मुपभोगेन शाम्यति ॥ हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ १४ ॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमंगलम् ॥ समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया
दिशः ॥ १५ ॥ या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ॥ तां तृष्णां
दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥ १६ ॥ मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नावि-
विक्तासनो भवेत् ॥ बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १७ ॥ पूर्णं
वर्षसहस्रं मे विषयान्सेवतोऽसकृत् ॥ तथाऽपि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजाय-
ते ॥ १८ ॥ तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ॥ निर्द्वंद्वो निरहं-
कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥१९॥ दृष्टंश्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ॥

उस बकरे की समान मैं भी तेरे प्रेम के वशीभूत होकर तेरी हावभावरूप माया से मोहित होताहुआ आजपर्यन्त अपने परमार्थ को नहीं जानता हूँ ॥ १२ ॥ पृथ्वीपर जितने, तण्डुल, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियें हैं वहसव, विषयवासनाओं से ग्रसेहुए पुरुष के मन को सन्तुष्ट करने को पूरे नहीं पड़ते हैं ॥ १३ ॥ क्योंकि—विषयों के भोगने से, विषयभोगकी तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती है किन्तु जैसे घृत से अग्नि अधिक २ प्रदीप्त होतीजाती है तैसे ही वह तृष्णा अधिक ही होती है ॥ १४ ॥ जब पुरुष सकल पदार्थों में 'यहअच्छा है, यह बुरा है' ऐसा भेदभाव नहीं करता है तब सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाले उस पुरुष को सबही दिशा सुखरूप हो जाती हैं अर्थात् चाहें जहाँ जाय उस को सुखही प्राप्त होता है॥ १५॥ जिस तृष्णाको अविवेकी पुरुषनहीं त्यागसक्तेहैं, अवस्थाकी हानिको प्राप्त होनेवालेभी पुरुषकी जो तृष्णा जीर्ण नहींहोती है तिसपरमदुःख देनेवाली तृष्णाका सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुष शीघ्र ही त्याग करे ॥ १६॥ माता बहिन और कन्या इनके साथ भी पुरुष को एक आसनपर नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि—बलवान् इन्द्रियों का समूह विवेकी पुरुष को भी उन की ओर देखना, स्पर्श करना आदि बिषयों में प्रवृत्त करता है ॥ १७॥ वारंवार विषयों का सेवन करतेहुए भी मुझे एक सहस्र १००० वर्ष पूरे होगये तथापि उन २ विषयों के सेवन के समय उन २ विषयों में जो तृष्णा उत्पन्न हुई थी वह शान्त नहीं होती है ॥ १८॥ इस कारण अब मैं, इस तृष्णा का (विषयभोग की वासना का) त्याग करके और अपना मन, ब्रह्मरूप भगवान् के विषे स्थिर करके सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित और अहङ्कारशून्य होकर मृग की समान वन में विचरता हूँ ॥ १९ ॥ इस लोक में देखेहुए और परलोक में सुनेहुए सकल विषय तुच्छ हैं, ऐसा जानकर, उन विषयों का ध्यानमात्र करने से भी जन्म मरणरूप संसार प्राप्त होता है और सुख का नाश होता है ऐसा जाननेवाला

संसृतिं त्वात्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मदृक् ॥ २० ॥ इत्युक्त्वा नाहुषो
जायां तदीयं पूरवे वयः ॥ दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥ २१ ॥
दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् ॥ प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्या-
मनुमीश्वरम् ॥ २२ ॥ भूमंडलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशां ॥ अभिषिच्याग्र-
जांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥ २३ ॥ आसेवितं वर्षपूगान् षड्वर्गं विष-
येषु सः ॥ क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥ २४ ॥ स तत्र निर्मुक्त-
समस्तसंग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिंगः ॥ परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे
गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥ २५ ॥ श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः
स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात्परिहासमिवेरितम् ॥ २६ ॥ सा सन्निवासं सुहृदां प्र-
पायामिव गच्छतां ॥ विज्ञायेश्वरतंत्राणां मायाविरचितं प्रभोः ॥ २७ ॥ सर्वत्र

जो पुरुष, उन देखे और सुनेहुए विषयों का चिन्तवन नहीं करता है और उन का उप-
भोग भी नहीं करता है वही पुरुष विषयवासनाओं को त्यागकर आत्मदर्शी होताहै।२०।
इसप्रकार उस राजा ययाति ने, देवयानी से कहकर और अपने आप विषयभोगों में
इच्छा रहित होकर अपने पूरु नामवाले पुत्र को उस की तरुण अवस्था देकर उस से
अपनी वृद्धावस्था फेरली ॥ २१ ॥ तदनन्तर उस ने आग्नेय दिशा में अपने द्रुह्यु
नामक पुत्र को, दक्षिणदिशा में यदु पुत्र को, पश्चिम दिशा में तुर्वसु को और उत्तर दिशा
में अनु को राज्य का अधिकार दिया ॥ २२ ॥ और अवस्था में छोटे परन्तु गुणों में
बड़े और सकल प्रजाओं के परममाननीय पूरु को, सकल भूमण्डल के राज्य का अभि-
षेक करके और यदु आदि सब बड़े भ्राताओं को उस के अधीन करके वह राजा आप
वन में चलागया ॥ २३ ॥ उस राजा ययाति ने सहस्रों वर्ष पर्यन्त शब्दादि विषयों
में सेवन कराहुआ इन्द्रियसुख एक क्षण में, जैसे पंख निकलाहुआ पक्षी बहुत दिनों के
सेवन करे हुए अपने घोंसले को छोड़ देता है तैसे छोड़दिया ॥ २४ ॥ हे राजन्! वह
प्रसिद्ध राजा ययाति, उस वन में जिस ने सकल संग त्यागदिये हैं, और जिसने आत्म-
साक्षात्कार से त्रिगुणमय लिङ्गशरीर का तिरस्कार करा है ऐसा होकर सकलदोषरहित
वासुदेव परब्रह्म के विषैं भगवान् की उपासना से मिलनेवाली मोक्षगति को प्राप्त होगया
॥ २५ ॥ देवयानी ने तो पति की कही हुई उस कथा को सुनकर यह समझा कि-
मेरा हास्य करा है, अर्थात् स्नेह से परिणाम में एक से दूसरे का वियोग होता है इस
कारण इन्हों ने उस स्नेह को छोडकर मोक्ष का मार्ग स्वीकार करने को यह कथा कही
है ऐसा माना ॥ २६ ॥ तदनन्तर उस देवयानी ने, परमेश्वराधीन पति पुत्रादिकों के
सङ्ग को 'पानी की पौपर इकट्ठे हुए बटोहियों के सङ्ग की समान' चिरकाल न रहनेवाला

सर्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी ॥ कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः
॥ २८ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ॥ सर्वभूताधिवासाय शांताय
बृहते नमः ॥ २९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे एकोनविंशोऽ-
ध्यायः ॥ १९ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच। पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि
भारत ॥ यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥ १ ॥ जन्मेजयो ह्यभूत्पूरोः
प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः ॥ प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥ २ ॥
तस्य सुद्युरभूत्पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः ॥ संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्त-
त्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥ ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः ॥ ज-
लेयुः संततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥ ४ ॥ दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः
स्मृतः ॥ घृताच्यामिंद्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥ ५ ॥ ऋतेयो रंतिभा-
रोऽभूत्त्रयस्तस्यात्मजा नृप ॥ सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वो प्रतिरथात्मजः ॥ ६ ॥
तस्य मेधातिथिस्तस्मात्प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः ॥ पुत्रोऽभूत्सुमते रैभ्यो दुष्यन्त-
स्तत्सुतो मतः ॥ ७ ॥ दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः ॥ तत्रासीनां

और प्रभु की माया का रचा हुआ जानकर, सकल प्रपञ्च स्वप्न की समान मिथ्या है, ऐसा समझकर सकल पदार्थों में की आसक्ति छोडदी और श्रीकृष्णभगवान् में अपना मन लगाकर अपने लिङ्गशरीर का त्याग करा अर्थात् वह भी मुक्त होगई ।२७।२८। उसने श्रीकृष्ण भगवान् में मन लगाकर कहाकि–हेप्रभो ! षड्गुणऐश्वर्यसम्पन्न, जगत् के कारण, सर्वान्तर्यामी, रागद्वेष आदि रहित और सर्वव्यापक तुम वासुदेव भगवान् को वारंवार नमस्कार हो ॥ २९ ॥ इतिश्री मद्भागवत के नवम स्कन्ध में उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! जिस वंशमें तुम उत्पन्न हुए हो और जिसमें क्षत्रियवंश को चलानेवाले राजर्षि तथा ब्राह्मणवंशको चलानेवाले श्रेष्ठब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं वह पूरुका वंश मैं तुमसे कहता हूँ सुनो ॥ १ ॥ पूरुका पुत्र जन्मेजय हुआ तिसका पुत्र प्रचिन्वान्, तिससे प्रवीर हुआ, तिससे नमस्यु हुआ, तिससे चारुपद हुआ ॥२॥ तिसका पुत्र सुद्यु हुआ, तिस से बहुगव हुआ, तिससे संयाति, तिसका अहंयाति और तिस अहंयातिका पुत्र रौद्राश्व हुआ॥ ३॥ तिस रौद्राश्व के घृताची नामवाली अप्सराके विषैं जैसे जगत् के आत्मा मुख्य प्राणके अधीन दश इन्द्रियें होती हैं तैसेही, उस के अधीन रहने वाले–ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थंडिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु और सबों में छोटा वनेयु यह दशपुत्र हुए ॥ ४ ॥ ५ ॥ उन में ऋतेयु से रन्तिभार हुआ, हे राजन्! उस रन्तिभार के सुमति ध्रुव और अप्रतिरथ इन नामोंके तीन पुत्र हुए, उनमें अप्रतिरथ का पुत्र कण्व हुआ ॥ ६ ॥ उसका मेधातिथि हुआ, तिससे प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण हुए सुमति का पुत्र रैभ्य हुआ, तिसका पुत्र दुष्यन्त नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ७ ॥ एक

स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव॥८॥विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम्
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥ ९ ॥ तद्दर्शनप्रमुदितः सन्निवृत्त-
परिश्रमः ॥ पप्रच्छ कामसंतप्तः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा॥१०॥का त्वं कमलप-
त्राक्षि कस्यासि हृदयंगमे ॥ किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने
॥ ११ ॥ व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे ॥ नहि चेतः पौ-
रवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥ १२ ॥ शकुंतलोवाच ॥ विश्वामित्रात्मजैवाहं
त्यक्तामेनकया वने ॥ वेदैतद्भगवान्कण्वो वीर किं करवाम ते ॥१३॥
आस्यतां ह्यरविंदाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ॥ भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां
यदि रोचते ॥ १४ ॥ दुष्यन्त उवाच ॥ उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशि-
कान्वये ॥ स्वयं हि वृणुते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥ १५ ॥ ओमित्यु-
क्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ॥ गान्धर्वविधिना राजा देशकालविभागवित् ॥

समय राजा दुष्यन्त, शिकार खेलने को वन में जाकर अचानक कण्व ऋषि के आश्रम में चलागया. उस ने तहाँ वैठीहुई अपनी कान्ति से उस आश्रम के स्थान को शोभायमान करनेवाली देव की मोहिनी शक्ति की समान शकुन्तला नामवाली एक स्त्री देखी और वह तत्काल कामदेव के वशीभूत होगया. तब कितने ही वीरों से घिराहुआ, उस स्त्रीके देखनें से हर्षयुक्त और जिसका शिकार का श्रमदूर होगयाहै परन्तु कामके सन्तापको प्राप्तहुआ वह राजा दुष्यन्त, हँसताहुआ मधुर वाणी में उससुन्दरी से कहने लगाकि—॥८।९।१०॥ हे कमलदल नयनि ! हे मनोहरे ! तू किसजाति की किसकी कन्या है ? इस निर्जन वन में क्या करने की तेरी इच्छा है ?॥११॥हे सुमध्यमे ! तू राजकन्या है, यह मैं स्पष्ट रीति से जानता हूँ, क्योंकि—पूरुके वंश में उत्पन्न हुए राजाओं का चित्त, अधर्म में कभी नहीं रमता है और मेरा चित्त तुझ में आसक्त हुआ है सो तू निःसन्देह राजकन्या है ॥ १२ ॥ शकुन्तला ने कहा।कि-विश्वामित्र की (क्षत्रिय की ही) कन्या मैं मैनका अप्सरासे उत्पन्न हुई हूँ; उसने स्वर्गको जातेहुए मुझे वनमें डालदिया था; यह सब वृत्तान्त भगवान् कण्व ऋषि जानते हैं, उनसे ही मैंने सुनाहै; हे वीर ! तुम्हारा हम कौन काम करें ? ॥१३॥ हे कमलनयन ! आप इस आश्रममें बैठें,हमारी करीहुई आसन आदि पूजाको स्वीकारकरें,यहाँ नीवार(वनमें का अन्न)हैं उस अन्नका भोजन करें; यदि इच्छा होतो आप यहां ठहरेंभी १४॥ दुष्यन्त ने कहा कि—हे सुभ्रु ! कुशिक वंश मे उत्पन्न हुई तेरा यह कहना कि—"तुम्हारा कौन कार्य करूँ" योग्यही है क्योंकि—राजाओं की कन्या, आप ही योग्य पति को वरलेती हैं ॥ १५ ॥ तदनन्तर उस ने, दुष्यन्त के कहने को 'ठीक है' ऐसा कहकर स्वीकार करा तव देशकाल के विभाग को जाननेवाले उस राजा दुष्यन्तेन,गान्धर्व-

॥ १६ ॥ अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ॥ श्वोभूते स्वपुरं यातः
कालेनासूत सा सुतम् ॥ १७ ॥ कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुदिताः क्रियाः ॥
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥ १८ ॥ तं दुरत्ययविक्रा-
न्तमादाय प्रमदोत्तमा ॥ हरेरंशांशसंभूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥ १९ ॥ यदा न
जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ॥ शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरि-
णी ॥ २० ॥ माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥ भरस्व पुत्रं
दुष्यन्त माऽवमंस्थाः शकुन्तला ॥ २० ॥ रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्ष-
यात् ॥ त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ २२ ॥ पितर्युपरते
सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः ॥ महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥२३॥
चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः ॥ ईजे महाभिषेकेण सोऽभि-

(परस्पर के सङ्केतरूप) विधि से, धर्म के अनुकूल शकुन्तला को स्वीकार करा ॥१६॥ तदनन्तर अमोघवीर्य उस राजर्षि ने, उस शकुन्तला के विषें वीर्य स्थापन करा और दूसरे दिन प्रातःकाल वह अपने नगर को चलागया फिर प्रसूतिकाल आनेपर उस शकुन्तलाके भरत नामवाला पुत्र हुआ ॥ १७ ॥ तब उस कुमार के जातकर्म आदि योग्य संस्कार कण्व ऋषिने, वन में ही करे, वह बालक बलात्कार से सिंहों को बांधकर उनके साथ खेलता था ॥ १८ ॥ इस प्रकार बालक अवस्था से ही अपरिमित पराक्रमवाले श्रीहरि के अंशसे उत्पन्नहुए उस कुमार को लेकर वह सुन्दरी शकुन्तला भर्त्ता (दुष्यन्त) के समीप आई ॥ १९ ॥ तब निर्दोष भी उन स्त्री और पुत्र को, लोकनिन्दा के भय से जब राजा दुष्यन्त ने ग्रहण नहीं करा तब सब लोकों के सुनने में आवे ऐसी आकाशवाणी अर्थात् जिस का कहनेवाला कोई शरीरधारी नहीं दीखता है ऐसी वाणी उत्पन्न हुई ॥ २० ॥ उस ने कहा कि—जैसे धोंकनी वायु उत्पन्न होने का आधाररूप पात्र है तैसे ही माता पुत्र उत्पन्न होने का आधारमात्रही है और पुत्र पिता का ही है क्योंकि--जिस पुत्रको जिस पिताने उत्पन्न कराहै वह उसका ही स्वरूप है इसकारण हे दुष्यन्त तू पुत्रको पोषणकर, शकुन्तला का अपमान न कर ॥ २१ ॥ वीर्य के द्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र, यम के स्थान से पिता को तारता है और, इसगर्भ का धारण-करनेवाला तूही है ऐसा जो शकुन्तला ने कहा सो सत्य है; ऐसा आकाशवाणी के कहनेपर राजा दुष्यन्त ने उस स्त्री और पुत्रको स्वीकार करा ॥ २२ ॥ फिर दुष्यन्तपिता का मरण होनेपर वह परम कीर्त्तिमान् भरत भी सातद्वीपवाली पृथ्वी का स्वामी हुआ. भूमिपर भगवान् के अंश से उत्पन्न हुए उसभरत की महिमा ऋग्वेद में वर्णन करी है॥२३॥इस भरतके दाहिने हाथमें चक्रकी समान रेखा का चिन्ह था और दोनों चरणों में कमलकी कली की समान रेखाका चिन्ह था.

पिक्तोऽधिराड् विभुः ॥ २४ ॥ पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः ॥
सामन्तेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥ २५ ॥ अष्टसप्ततिमेध्याश्वा-
न्बबन्ध प्रददद्वसु ॥ भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ॥ सहस्रं
बद्वशो यस्मिन्ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥ २६ ॥ त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान्बद्ध्वा
विस्मापयन्नृपान् ॥ दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ॥ २७ ॥ मृगा-
न् शुक्लदतः कृष्णान्हिरण्येन परीवृतान् ॥ अदात्कर्मणि मष्णारे नियुतानि च-
तुर्दश ॥ २८ ॥ भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः ॥ नैवापुः नैव
प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥२९॥ किरातहूणान्यवनानंध्रान्कंकान्ख-
शाञ्छकान् ॥ अब्रह्मण्यान्नृपांश्चाहन् म्लेच्छान्दिग्विजयेऽखिलान् ॥ ३० ॥
जित्वा पुराऽसुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे ॥ देवस्त्रियो रसां नीताः प्रा-

महाभिषेककी विधिसे राज्यपर अभिषेक करेहुए तिस सार्वभौम परमसमर्थ राजा भरत ने, सामन्तेय नामवाले ऋषिको पुरोहित करके गङ्गा के तटपर अनुलोम (एक के अनन्तर दूसरा इस प्रकार) पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ करके भगवान् की आराधना करी तैसे ही बहुतसा द्रव्यदान देकर यमुनाजी के तटपर भी एकके अनन्तर एक इसप्रकार अठहत्तर पवित्र घोड़ो को बाँधा अर्थात् उतने अश्वमेध यज्ञोंसे भगवान् का पूजन करा. उस दुष्यन्त के पुत्र भरतका अग्नि, उत्तमगुण युक्त स्थानमें चिनागया. जिस अग्नि चयनके स्थलमें सहस्र ब्राह्मणोंने, उस भरत की दीहुई गाएँ प्रत्येकने एक२ बद्व*(१३०८४)करके बाँटलीं॥२४॥२५॥२६॥ उस दुष्यन्त के पुत्र भरत ने, अपने रथमें तैंतीस सौ ३३०० घोड़े जोतकर उसको भूमि पर फिराया और अपना ऐश्वर्य दिखलाकर सब माण्डलिक राजाओं को आश्चर्ययुक्त करके देवताओं के ऐश्वर्य कोभी पीछे छोड़दिया और पूजनीय भगवान् की प्राप्तिकरी ॥२७॥ उसनें मष्णार नामवाले यज्ञके कर्म में सुवर्ण से भूषित, स्वेत दाँत और काले वर्णके तेरह लाख गजराज ब्राह्मणों को दान दिये ॥ २८ ॥ उस भरत राजा के से अद्भुत कर्म, पहिले वीतेहुए राजाओं ने नहीं करे और वर्त्तमान समय के तथा आगेको होनेवाले राजे भी नहीं करेंगे जैसे पुण्य के विना केवल भुजबल से लोगोको स्वर्ग नहीं मिलसक्ता तैसेंही भरत के कर्म औरोंको दुर्लभ हैं।।२९।।उस भरत ने,दिग्विजय के समय ब्राह्मणों से प्रतिकूल रहनेवाले हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश, शक और हीन जाति के सकल राजाओं परमधाम पठा दिया ॥ ३० ॥ और पहिले जो असुर देवताओं को जीतकर पाताल में जाकर रहे थे

* 'चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिकशतांशकः। बद्वं चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदश ॥' अर्थात् चौदह लाख का एक सौ सातवांभाग अर्थात् तेरह सहस्र चौरासी को बद्व कहते हैं।

णिभिः पुनराहरत् ॥ ३१ ॥ सर्वकामान्दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी ॥ समा-
स्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥ ३२ ॥ स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यम-
धिराट्श्रियं ॥ चक्रं चास्खलितं प्राणान्मृषेत्युपरराम ह ॥३३॥ तस्यासन्नृप
वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसंमता ॥ जघ्नुस्त्यागभयात्पुत्रान्नानुरूपा इतीरिते ॥
॥३४॥ तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतं ॥ मरुत्सोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः
॥३५॥ अंतर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ॥ प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा
वीर्यमवासृजत् ॥३६॥ तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किता ॥ नामनिर्व-
चनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥ ३७ ॥ मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृ-

उन को जीतकर, वह बलवान् असुर देवताओं की जिन स्त्रियों को पाताल में लेगये थे उन्हें फिर लौटाकर लिया ॥ ३१ ॥ उस भरत के राज्य करते समय उस के राज्य में की सकल प्रजाओं को, स्वर्ग और भूमि ने इच्छित पदार्थ दिये; इसप्रकार सत्ताईस सहस्र वर्ष पर्यन्त उसने अपनी आज्ञा चलाई ॥ ३२ ॥ तदनन्तर उस सार्वभौम राजा भरतने लोकपालों में भी प्रसिद्ध अपना ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अटल आज्ञा और प्राण, इन सबों को 'मिथ्या हैं' ऐसा निश्चितरूप से जानकर उन से विरक्त हो भगवत्स्वरूप का चिन्तवन करते हुए उस की प्राप्ति करली ॥ ३३ ॥ हे राजन्! विदर्भराजा की तीन कन्या, उन राजा भरत की प्रिय स्त्री थीं उन्होंने, अपने उत्पन्न हुए पुत्रों को, 'यह पुत्र मेरी समान नहीं हैं ऐसा पति के कहने से 'यह पुत्र फिर राजा की दृष्टि के सामने पडे तो, मेरी समान नहीं हैं ऐसा समझकर राजा हमारे ऊपर व्यभिचार का सन्देह करके हमें त्याग देगा, इस भय से, मारडाला ॥३४॥ इस प्रकार उस भरतका वंश व्यर्थ होनेपर, पुत्रके निमित्त मरुत्स्तोम नामवाले यज्ञसे अपना आराधन करनेवाले उस राजा के ऊपर प्रसन्नहुए मरुत देवताओं ने भरद्वाज नामवाला पुत्र लाकर दिया ॥ ३५ ॥ एकसमय बृहस्पति, अपने उतथ्य नामवाले भ्राताकी गर्भिणी ममता नामवाली स्त्री के विषैं चोरी से मैथुन करनेको उद्यत हुए, तव दुसरे गर्भ के रहने को स्थान न होनेके कारण उस के पेटमें के गर्भने, चिल्लाकर उन बृहस्पति जी को निषेध करा तव क्रुद्धहुए बृहस्पतिजी ने, 'तू अन्धा हो यह' उस गर्भ को शाप देकर बलात्कार से वीर्य स्थापन करा; उस समय बृहस्पति जी के शाप से गर्भ में का वह दीर्घतमा पुत्र अन्धा हुआ और उसने बृहस्पतिजी का वीर्य लातमारकर योनिके बाहर करदिया, वह पृथ्वीपर गिरते ही तत्काल पुत्र होगया ॥ ३६ ॥ तिस पराये वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र का त्याग करने की इच्छा करनेवाली और मन में अपने पति के त्याग करदेने की शङ्का करनेवाली उस ममता से देवताओं ने, उस बालकका नाम उत्पन्न करनेवाला, बृहस्पति और ममताका सम्वादरूप यह श्लोक गानकरा है

हस्पते ॥ यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥ ३८ ॥ चोद्यमाना सुरै-
रेवं मत्वा वितथमात्मजम् । व्यसृजन्मरुतोऽबिभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥ ३९ ॥
इ० भा० म० न० विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ वितथस्य सुतो
मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ॥ महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥
गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन ॥ रंतिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गी-
यते ॥ २ ॥ वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः ॥ निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकु-
टुंबस्य सीदतः ॥ ३ ॥ व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ॥ घृतपायस-
संयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥ ४ ॥ कृच्छ्रप्राप्तकुटुंबस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवे-

---

॥७३॥ पुत्रका त्याग करके जानेवाली ममतासे बृहस्पतिजी कहतेहैं कि-अरी मूढे ! तू उस पुत्र का पोषण कर, यदि कहे कि—मैं पति से भय खाती हूँ तो यह पुत्र मेरे वीर्य और उस के क्षेत्र दोनों से उत्पन्न हुआ है इस कारण उस का भी है; सो उस से तू भय की शङ्का न कर, तब वह बृहस्पति से कहनेलगी कि—हे बृहस्पते ! तुम ही इस का पोषण करो, क्योंकि—यह तुम्हारा मुझ से उत्पन्न हुआ है इसकारण, मैं इकली ही इसका पोषण नहीं करूँगी, ऐसा कहकर विवाद करनेवाले वह दोनों (ममता और बृहस्पति) अन्त में जो इस पुत्र को तहां ही छोड़कर चलेगये तिसकारण यह पुत्र भरद्वाज नामवाला हुआ ॥ ३८ ॥ इस प्रकार देवताओं की सूचित करी हुई तिस ममता ने, व्यभिचार से उत्पन्न हुआ यह पुत्र निरर्थक है ऐसा मानकर त्यागदिया तब फिर मरुत् देवताओं ने, उस का पोषण करा सो यह पुत्र भरतवंश के व्यर्थ होनेपर उन्होने लाकर दिया इसकारण वितथ नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हेराजन् ! वितथ का पुत्र मन्यु हुआ, तिस से बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग यह पांच पुत्र हुए उन में से नर का पुत्र संकृति हुआ ॥ १ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! संकृति के गुरु और रंतिदेव यह दो पुत्र हुए; उन में से रन्तिदेव का यश तो इस लोक में और परलोक में गाया जाता है ॥ २ ॥ कि—उद्योग के विना केवल प्रारब्ध सेही प्राप्तहुए पदार्थ को भोगनेवाला, भूँख से व्याकुल होनेपर भी जो जो मिले वह २ याचकों को देनेवाला, सन्ध्या के समय वा दूसरे दिन को भोजन के निमित्त अन्न आदि इकट्ठा न करनेवाला, धैर्यवान, कुटुम्ब के साथ क्लेश पानेवाला ॥ ३ ॥ जिस का कुटुंब क्लेश पा रहा है और जिस के शरीर मे भूँख प्यास के कारण कपकपी उठरही है ऐसे उस रन्तिदेव को पीने को जल भी विनामिले निःसन्देह अड़तालीस ४८ दिन बीतगये; तदनन्तर उनञ्चासवें दिन दैववशात् किसी ने उस को घृत, खीर, लपसी और जल यह पदार्थ लाकर दिये;

पथोः ॥ अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत् ॥ ५ ॥ तस्मै संव्यभज-
त्सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः ॥ हरिं सर्वत्र संपश्यन्स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥
॥ ६ ॥ अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपतेः ॥ विभक्तं व्यभजत्तस्मै
वृषलाय हरिं स्मरन् ॥ ७ ॥ याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः ॥ रा-
जन्मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥८॥ स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुर-
स्कृतं ॥ तच्च दत्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥९॥ पानीयमात्रमुच्छेषं
तच्चैकपरितर्पणम् ॥ पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे ॥ १० ॥
तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमां ॥ कृपया भृशसंतप्त इदमाहामृतं
वचः ॥ ११ ॥ न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ॥ आर्-
तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२ ॥ क्षुत्तृट्श्रमो

तदनन्तर भोजन का समय होनेपर उस ने कुटुम्बसहित भोजन करने की इच्छा करी सो इतने ही में कोई एक ब्राह्मण अतिथि आगया ॥ ४ ॥ ५ ॥ तव उन रंतिदेव ने, उस का आदर करके, दान की श्रद्धा से युक्त होकर, सकल प्राणियों में श्रीहरि की भावना करते हुए उस अतिथि को घृत, खीर और लहपसी इन में से भोजन परोसा, तव वह ब्राह्मण भोजन करके चलागया ॥ ६ ॥ हे भूपते राजन् ! तदनन्तर ब्राह्मण के भोजन करलेनेपर शेष वचे हुए अन्न आदि का अपने कुटुम्ब को विभाग करके वह रन्तिदेव भोजन करने को हुए इतने ही में दूसरा कोई शूद्र अतिथि आगया सो कुटुम्ब को विभाग करेहुए भी अन्न में से फिर विभाग करके वह अन्न, तिस शूद्र में श्रीहरि की भावना करनेवाले तिस राजा ने उसे दिया ॥ ७ ॥ वह शूद्र भोजन करके चलागया तव, कुत्तों से घिराहुआ एक तीसरा अतिथि आकर कहने लगा कि–हे राजन् ! इन कुत्तों के समूह सहित भूँखसे व्याकुल हुए मुझे अन्न दे ॥ ८ ॥ तव धैर्य और भक्तियुक्त उन रन्तिदेव ने, उसका आदर करके शेषरहा हुआ जो अन्न था वह सव उसको वड़े सन्मान के साथ देकर उन कुत्तोंको और कुत्तों के स्वामीको नमस्कार करा ॥ ९ ॥ तदनन्तर केवल पानी वचा वहभी एकही पुरुषकी तृप्ति करने योग्यथा, उस को कुटुम्बसहित पीने की इच्छा करनेवाले उस राजा के समीप आकर कोई चाण्डाल अतिथि कहने लगा कि–हे राजन् ! मुझ नीचको जल दो ॥ १० ॥ उसकी तिस, कण्ठ सूखजाने के कारण वड़े परिश्रम से उच्चारण करीहुई दीनवाणी को सुनकर जिनको अत्यन्त दया आई है ऐसे उन रन्तिदेवने, इसप्रकार अमृत कीसमान मधुर भाषणकराकि–॥ ११ ॥ मैं ईश्वर से, अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त सर्वोत्तम गतिकी इच्छा नहीं करता हूँ; तथा मोक्षकी भी इच्छा नहीं करता हूँ; किन्तु सकल प्राणियों के अन्तःकरणों में रहकर उनके दुःखको पानेकी इच्छा करता हूँ कि–जिस दुःख को मेरे भोगलेने से वह दुःख रहित होते हैं ॥ १२ ॥

गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ॥ सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जंतो- र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥ इति सम्भाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ॥ पुल्कसाय ददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥ १४ ॥ तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ॥ आत्मानं दर्शयांचक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥ ॥ १५ ॥ स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः ॥ वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥ १६ ॥ ईश्वरालंबनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः ॥ माया गुणमयी राजन्स्वप्नवत्प्रत्यलीयत ॥ १७ ॥ तत्प्रसंगानुभावेन रंतिदेवानुवर्तिनः ॥ अभवन्योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥ १८ ॥ गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद्ब्रह्म ह्यवर्तत ॥ दुरितक्षयो महावीर्यात्तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥ १९ ॥ पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ॥ बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरं ॥ २० ॥ अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ॥ अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥ २१ ॥ अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः ॥ बृहत्कायस्त-

देखो—दीन और वचने की इच्छा करने वाले प्राणी को, जीवन का कारण जल के देनेसे, मेरे भूख, प्यास, अङ्गों का श्रम, दीनता, ग्लानी, शोक, खेद और मोह यह सबही दूर होगये हैं ॥ १३ ॥ ऐसा कहकर, प्यास से स्वयं प्राणनिकलतेहुए परन्तु स्वाभाविक करुणा से युक्त और धैर्यवान् उन राजा रन्तिदेव ने, उस चाण्डाल को जल दिया ॥ १४ ॥ तब रन्तिदेव को, उनके धैर्यकी परीक्षा करने के निमित्त प्रथम माया करके शूद्रादिरूप से दर्शन देनेवाले और नानाप्रकार के फलकी इच्छा करनेवाले भक्तों को फल देनेवाले त्रिलोकी के स्वामी, ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीनोंने अपना दर्शन दिया ॥ १५ ॥ तब निःसङ्ग और इच्छारहित उन रन्तिदेव ने, वासुदेव भगवान् के विषैं भक्तिभाव से उनको केवल नमस्कार करके, हाथ जोड़कर उनको ही देखते हुए खड़ेरहे और उनसे कुछभी मांगा नहीं ॥ १६ ॥ उस समय ईश्वर से भिन्न फलकी इच्छा न करनेवाले और भगवान् के विषैं अनन्यभाव से चित्त लगानेवाले उन रन्तिदेव की त्रिगुणमयीमाया (सकल संसार) स्वप्नकी समान आत्मस्वरूप में ही लीन होगई अर्थात् वह जीवन्मुक्त होगये ॥ १७ ॥ फिर उन रन्तिदेव के समागम से उन रन्तिदेव के अनुसारी जितने पुरुष थे वह सब नारायणपरायण योगी होगये ॥ १८ ॥ गर्गसे शिनि हुआ, तिससे गार्ग्य हुआ, वह क्षत्रिय था तथापि उस से आगेको पुत्रादि रूपसे ब्राह्मणकुल उत्पन्न हुए, महावीर्य से दुरितक्षय नामवाला पुत्र हुआ, उसके त्रय्यारुणि, कवि, और पुष्करारुणि यह तीनपुत्र हुए, जोकि—इस क्षत्रियवंश में होकर भी फिर ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए, बृहत्क्षत्र का हस्ती नामवाला पुत्र हुआ, जिसने हस्तिनापुर वसाया ॥ १९ ॥ २० ॥ उस हस्ती के अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ यहतीन पुत्र हुए, अजमीढ के वंश में प्रियमेधा आदि ब्राह्मण हुए ॥ २१ ॥

तस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः ॥२२॥ तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित्समजायत ॥
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥ रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदा-
त्मजः ॥ पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥२४॥ स कृत्व्यां शुककन्यायां
ब्रह्मदत्तमजीजनत् ॥ स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात्सुतम् ॥ २५ ॥
जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह ॥ उदक्स्वनस्ततस्तस्माद्भल्लादो बार्हदी-
षवाः ॥ २६ ॥ यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः ॥ नाम्ना सत्यधृ-
तिर्यस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥ २७ ॥ सुपार्श्वात्सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमां-
स्ततः ॥ कृती हिरण्यनाभाद्यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट् ॥ २८ ॥ संहिताः
प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युग्रायुधस्ततः ॥ तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य
रिपुञ्जयः ॥ २९ ॥ ततो बहुरथो नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत् ॥ नलिन्यामज-

अजमीढ़ का दूसरा पुत्र बृहदिषु हुआ, तिस का पुत्र बृहद्धनु, तिससे बृहत्काय, तिस का पुत्र जयद्रथ हुआ ॥ २२ ॥ तिसका पुत्र विशद, तिस का पुत्र सेनजित् हुआ, तिसके रुचिराश्व, दृढ़हनु, काश्य और वत्स यह चार पुत्र हुए ॥ २३ ॥ रुचिराश्वका पुत्र पार, तिस का पुत्र पृथुसेन हुआ; पारका दूसरा पुत्र नीप; तिस नीप के सौ पुत्र हुए ॥ २४ ॥ उस ही नीप ने कृत्वी नामवाली शुकदेव * जी की कन्याके विषैं ब्रह्मदत्त नामवाला पुत्र उत्पन्न करा, उस योगी ब्रह्मदत्त ने वाणी नामवाली स्त्री के विषैं विष्वक्सेन नामक पुत्र उत्पन्न करा ॥ २५ ॥ तिस विष्वक्सेन ने, जैगीषव्य नामक ऋषि के उपदेश से योगशास्त्र रचा; तिस विष्वक्सेन से उदक्स्वन हुआ, तिससे भल्लाद हुआ यह सब बृहदिषु के वंश में उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥ द्विमीढ़ का पुत्र यवनीर हुआ, तिस का पुत्र कृतिमान् हुआ, तिससे सत्यधृति नामक पुत्र हुआ, तिसका दृढ़नेमि, तिसका सुपार्श्व हुआ ॥ २७ ॥ सुपार्श्व से सुमति हुआ, तिस का पुत्र संनतिमान् हुआ, तिस का कृति हुआ, उस कृति ने, हिरण्यनाभ नामवाले अपने गुरुसे योग और प्राच्यसामों की छः संहिता प्राप्तकरके उन का विभाग करा और अपने शिष्यों को पढ़ाई. उस कृति का नीपनामवाला पुत्र हुआ, तिस से उग्रायुध हुआ, तिसका क्षेम्य, तिस से सुवीर हुआ, तिस सुवीर का रिपुञ्जय हुआ ॥ २८॥२९ ॥ तिस से बहुरथ नामवाला पुत्र हुआ; पहिले कहे हुए पुरुमीढ़ की आगे को सन्तान नहीं हुई. अजमीढ़ से प्रियमेधादि ब्राह्मणों का एक, और बृहदिषु आदि राजाओं का एक इसप्रकार दो वंश कहे अब उन के ही और वंश कहते हैं—अजमीढ़ का नलिनी नामवाली स्त्री के विषैं नील

* यद्यपि शुकदेवजी उत्पत्तिसे ही मुक्तसंग होने के कारण घरसे निकलकर चलेगये थे तथापि उन्हों ने, विरह से व्याकुल होकर पीछे आतेहुए व्यासजी को देखकर एक छायाशुक रचकर पीछे लौटादिया और आप चले गये; उस छायाशुक का गृहस्थाश्रम आदि व्यवहार हुआ ऐसा जानना।

मीढस्य नीलः शान्तिः सुतस्ततः ॥ ३० ॥ शांतेः सुशांतिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्क-स्ततोऽभवत् ॥ भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पंचासन्मुद्गलादयः ॥ ३१ ॥ यवीनरो बृहदिषुः कांपिल्यः संजयः सुताः ॥ भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पंचानां रक्षणाय हि ॥ ३२ ॥ विषयाणामलमिमे इति पंचालसंज्ञिताः ॥ मुद्गलाद्ब्रह्म नि-र्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥ मिथुनं मुद्गलाद्भार्म्याद्दिवोदासः पुमानभूत् ॥ अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥ ३४ ॥ तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः ॥ शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात्किल ॥ ३५ ॥ शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ॥ तद्दृष्ट्वा कृपयाऽगृह्णा-च्छन्तनुर्मृगयां चरन् ॥ कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत्कृपी ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ छ ॥ श्री-शुक उवाच ॥ मित्रेयुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप ॥ सुदासः सहदेवोथ सोमको जन्तुजन्मकृत् ॥ १ ॥ तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान्पृषतः सुतः ॥

नामवाला पुत्र हुआ, उस का शान्ति नामवाला पुत्र हुआ ॥ ३० ॥ शान्ति से सुशान्ति, तिस का पुरुज, तिससे अर्क हुआ, तिस का पुत्र भर्म्याश्व, तिस के मुद्गलादि पाँच पुत्रहुए॥ ३१॥ वह मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और सञ्जय यह पांच पुत्रथे. उस समय सभा में भर्म्याश्वने कहा कि–यह मेरे मुद्गल आदि पांच पुत्र पांच देशोंकी रक्षा करने को समर्थ हैं, तिससे इन पांचों का पञ्चाल यह नाम है; उनमें मुद्गलसे मौद्गल्य नामक गोत्र के ब्राह्मण कुल उत्पन्नहुए॥ ३२॥ ३३॥ भर्म्याश्व का पुत्र जो मुद्गल उससे दिवोदास पुत्र और अहल्या नाम वाली कन्या यह दो सन्तान हुईं उस अहल्या के विषैं गौतम ऋषि से शतानन्द नामक ऋषि हुए ॥ ३४ ॥ उन शतानन्द का पुत्र सत्यधृति हुआ वह धनुर्वेद में अत्यन्त निपुण था उस का पुत्र शरद्वान् हुआ, उस शरद्वान् को एक दिन उर्वशी नामवाली अप्सरा का दर्शन हुआ तब कामातुर हुए उस का वीर्य स्खलित होकर कुशों के झुण्ड में गिरपड़ा सो तत्काल उस से एक पुत्र और एक कन्या यह सुलक्षण दो सन्तान हुईं ॥ ३५ ॥ एक समय उस वन में शिकार के निमित्त फिरते हुए राजा शन्तनु ने उन को देखकर कृपावश अपने घर लाकर उन की रक्षा करी इस कारण उन दोनों में जो पुत्र था वह कृपाचार्य और कन्या कृपी नामवाली हुई, वह फिर द्रोणाचार्यजी की स्त्री हुई ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में एकविंश अ-ध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! दिवोदास से मित्रेयु हुआ; तिस के च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक यह चार पुत्रहुए. उन में सोमक के सौ पुत्र हुए, तिन में जन्तु बड़ा था और पृषत छोटा था, तिस पृषत के द्रुपद हुआ, तिस के द्रौपदी

द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥ २ ॥ धृष्टद्युम्नाद्धृष्टकेतुर्भार्म्याः पं-
चालका इमे ॥ योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ॥ ३ ॥ तपत्यां सू-
र्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः ॥ परीक्षित्सुधनुर्जह्नुर्निषधाश्वः कुरोः सुताः ॥
॥ ४ ॥ सुहोत्रोऽभूत्सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती ॥ वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्र-
थमुखास्ततः ॥५॥ कुशांबमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः ॥ बृहद्रथात्कुशाग्रो-
ऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः ॥६॥ जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः ॥ अन्य-
स्यां चापि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात् ॥७॥ ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया
चाभिसंधिते ॥ जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासंधोऽभवत्सुतः ॥८॥ ततश्च सहदे-
वोऽभूत्सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः ॥ परीक्षिदनपत्योऽभूत्सुरथो नाम जाह्नवः ॥ ९ ॥
ततो विदूरथस्तस्मात्सार्वभौमस्ततोऽभवत् ॥ जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतो
ऽयुतो ह्यभूत् ॥ १० ॥ ततश्च क्रोधनस्तस्माद्देवातिथिरमुष्य च ॥ ऋष्यस्तस्य
दिलीपोऽभूत्प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥ ११ ॥ देवापिः शंतनुस्तस्य बाह्लीक इति

नामवाली कन्या और धृष्टद्युम्न आदि पुत्रहुए ॥ १ ॥ २ ॥ धृष्टद्युम्न से धृष्टकेतु हुआ; यह भर्म्य के वंश में उत्पन्नहुए सब ही पाञ्चाल नामवाले राजे थे. पहिले कहाहुआ अजमीढ़ का दूसरा जो ऋक्ष नामवाला पुत्र था तिस से सम्वरण हुआ ॥ ३ ॥ तिस से तपती नामवाली सूर्य की कन्या के विषैं कुरुक्षेत्र का स्वामी कुरु नामवाला पुत्रहुआ, तिस कुरु से परीक्षित, सुधनु, जन्हु और निषधाश्व यह चार पुत्रहुए ॥ ४ ॥ उन में सुधनु से सुहोत्र हुआ, तिस से च्यवन हुआ, तिस से कृती हुआ, तिस कृती के उपरिचर वसु हुआ, तिससे वृहद्रथ, कुशाम्ब मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप यह चेदि देश के स्वामी पुत्रहुए. उन में वृहद्रथ से कुशाग्र हुआ, तिस का पुत्र ऋषभ हुआ ॥ ५ ॥ ६ ॥ तिस का पुत्र सत्यहित हुआ, तिस का पुत्र पुष्पवान् हुआ, तिस का जन्हु हुआ. वृहद्रथ से ही दूसरी स्त्री के विषैं एक शरीर के मध्य में से ही विभाग करेहुए दो टुकड़े उत्पन्नहुए ॥ ७ ॥ वह प्राणहीन टुकड़े माता ने बाहर फैंकदिये; तब तहाँ क्रीड़ा करनेवाली जरा नामवाली राक्षसी ने 'जीव, जीव' ऐसा कहकर उन दोनों को एक करके जोड़दिया तब उस से पुत्र हुआ वह जरासंध नामवाला था ॥ ८ ॥ उस से सहदेव उआ, तिस का सोमापि हुआ, तिस से श्रुतश्रवा हुआ; कुरु का पुत्र जो परीक्षित् उस के सन्तान नहीं हुई. जन्हु के सुरथ नामवाला पुत्र हुआ ॥ ९ ॥ तिस सुरथ से विदूरथ हुआ, तिस से सार्वभौम नामवाला पुत्रहुआ, तिस का पुत्र जयसेन हुआ; तिस का पुत्र राधिक हुआ, तिस राधिक से अयुत हुआ ॥ १० ॥ तिस से क्रोधन हुआ, तिस का देवातिथि हुआ, तिस का पुत्र ऋष्य हुआ, तिसका दिलीप हुआ, तिसका पुत्र प्रतीप हुआ ॥ ११ ॥ तिसके देवापि, शन्तनु, और बाल्हीक यह

चात्मजाः ॥ पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥ १२ ॥ अभवच्छंतनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः ॥ यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥ १३ ॥ शांतिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शंतनुः ॥ समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥ १४ ॥ शंतनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्ता त्वमग्रभुक् ॥ राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥ १५ ॥ एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् ॥ तन्मन्त्रिप्रहितैर्वि--प्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो ॥१६॥ गिरावेदवादातिवादान्वै तदा देवो ववर्ष ह ॥ देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥ ॥ १७ ॥ सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ॥ बाह्लीकात्सोमदत्तोऽभूद्भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ॥ १८ ॥ शलश्च शंतनोरासीद्गंगायां भीष्म आत्मवान् ॥

तीन पुत्र हुए, उनमें से देवापी पिताके राज्य को त्यागकर वन में चलागया ॥ १२ ॥ इस कारण उसका छोटा भ्राता शन्तनु ही राजा हुआ, वह पहिले जन्म में महाभिषनामवाला था, उस का शन्तनु नाम पड़ने का यह कारण हुआ कि–वह जिस२ वृद्धपुरुष को हाथ से छूता था वह२ वृद्धपुरुष तरुण अवस्था को प्राप्त होजाता था और आरोग्य पाकर उत्तम सुख पाता था इसकारण इस कर्म से वह शन्तनु नामवाला हुआ, उस के राज्य में जब बारहवर्ष पर्यन्त जल की वर्षा नहीं हुई तब उस शन्तनु से ब्राह्मणों ने कहा कि तुम जो अपने बड़े भ्राताको छोड़कर पृथ्वी का राज्य करते हो सो परिवेत्ता + हो इसकारण मेघ नहीं बरसता है सो नगर की और राज्य की वृद्धि होने के निमित्त शीघ्रही अपने बड़े भ्राता को राज्य दो ॥१३॥१४॥१५॥ ऐसा ब्राह्मणों के कहनेपर उस राजा शन्तनुने, वनमें जाकर अपने बड़े भ्राता(देवापी)की'तुम राज्य को ग्रहण करो'यह प्रार्थना करी तहां उस से पहिले ही उस शन्तनु के अश्मराव नामवाले मंत्री ने देवापी को पाखण्डी करके राज्य का अनधिकारी करने के निमित्त जो ब्राह्मण उस देवापी के पास भेजे थे, उन्होंने पाखण्डमतके अनुसार वचनोंके द्वारा उस को वेदमार्ग से भ्रष्ट करदिया था इसकारण उसने राज्य को स्वीकार न करके उलटे शन्तनुसे वेदमार्गकी निन्दाके वचन कहे,इसकारण पतित होजाने से वह राज्य करने के योग्य नहीं रहा तब शन्तनु का दोष न होने से जल की वर्षा हुई; वह देवापि इस समय योगसाधन करके कलापग्राम में रहता है ॥१६॥१७॥ वह कलियुग में चंद्रवंश का नाश होनेपर फिर सत्ययुग आदि के विषें उस को स्थापन करेगा. वाल्हीक से सोमदत्त हुआ, तिस से भूरि, भूरिश्रवा और शल यह तीन पुत्र हुए

+ बडे भ्राता का विवाह हुए विना जो छोटाभ्राता विवाह करके गृहस्थाश्रम करता है वह 'परिवेत्ता' होता है और बडा भ्राता 'परिवित्ति' कहाता है अर्थात् क्रमका उल्लंघन करने के दोष से उन के यह नाम होते हैं ॥

सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥ १९ ॥ वीरयूथाग्रणीर्येन रा-
मोऽपि युधि तोषितः ॥ शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्रांगदः सुतः ॥ २० ॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्रांगदो हतः ॥ यस्यां पराशरात्साक्षादवतीर्णो
हरेः कला ॥ २१ ॥ वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगां ॥ हित्वा
स्वशिष्यान्पैलादीन् भगवान्बादरायणः ॥ २२ ॥ मह्यं पुत्राय शांताय परं
गुह्यमिदं जगौ ॥ विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ॥ २३ ॥
स्वयंवरादुपानीते अंबिकाऽबालिके उभे ॥ तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा
मृतः ॥ २४ ॥ क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः ॥ धृतराष्ट्रं च
पांडुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥ २५ ॥ गांधार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं
नृप ॥ तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ॥ २६ ॥ शापान्मैथुनरु-

पहिले कहेहुए शन्तनु से ही ब्रह्मशाप के कारण स्त्रीरूप को प्राप्तहुई गङ्गा के विषैं भीष्म हुए वह इन्द्रियों को वश में रखनेवाले, सकल धर्म जाननेवालों में श्रेष्ठ, परमभगवद्भक्त आत्मज्ञानी और सकल वीरसमूह के अधिपति थे, जिन्होने युद्ध में परशुरामजी को भी अपने बल से सन्तुष्ट करा ॥ १८ ॥ १९ ॥ उन ही शन्तनु से दाशकन्या के विषैं अर्थात् उपरिचर वसु के जल में पड़ेहुए वीर्य को भक्षण करनेवाली मच्छी के गर्भ में उत्पन्न हुई, दाशों (धीमरों) को मिलीहुई और उन के रक्षा करने से दाशकन्या नाम से प्रसिद्ध हुई जो सत्यवती उस के विषैं चित्राङ्गद नामवाला पुत्रहुआ ॥ २० ॥ और उस का छोटा भ्राता विचित्रवीर्य भी हुआ; उन में से चित्राङ्गद को चित्राङ्गद ही नामवाले गन्धर्व ने युद्ध में मारडाला. उस सत्यवती के ही विषैं, शन्तनु के उस को स्वीकार करने से पहिले ही, पराशर ऋषि से साक्षात् श्रीहरि का अवतार, वेदों की रक्षा करनेवाले कृष्णद्वैपायन नामवाले वेदव्यास मुनिहुए; उन से उत्पन्न हुए मैंने (शुकदेव ने) इस श्रीमद्भागवत को पढ़ा. उन बादरायण व्यास भगवान् ने, अपने पैल आदि शिष्यों को छोड़कर अर्थात् उन से न कहकर शांतस्वभाव मुझपुत्र को, सकल वेद और इतिहासों के सार इस भागवतका उपदेश करा, विचित्रवीर्य ने काशिराज के यहाँ से स्वयम्वर में से भीष्मजी की बलात्कारसे लाईहुई अम्बिका और अम्बालिका इन दो कन्याओंको वरा;उन में आसक्तचित्तहुआ वह विचित्रवीर्य, सन्तान होने से पहिले ही क्षयरोगसे ग्रस्तहोकर मरणको प्राप्त होगया ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ तदनन्तर सत्यवती के आज्ञा करेहुए व्यासजी ने, सन्तानहीन अपने विचित्रवीर्य भ्राताकी अम्बिका और अम्बालिका नामवाली स्त्री के विषैं क्रमसे धृतराष्ट्र और पाण्डु इन पुत्रोंको तथा दासीके विषैं विदुरजी को उत्पन्न करा ॥ २५ ॥ हे राजन् ! धृतराष्ट्रके गान्धारी के विषैं सौपुत्र और दुःशला नामवाली एक कन्या यह सन्तान हुई, उन पुत्रों में दुर्योधन बड़ाथा ॥ २६ ॥ वन में किन्दम नाम-

द्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः ॥ जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ॥
॥ २७ ॥ नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ॥ द्रौपद्यां पञ्च पंचभ्यः
पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥ २८ ॥ युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ॥
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ २९ ॥ सहदेवसुतो राजन् श्रु-
तकर्मा तथापरे ॥ युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥ ३० ॥ भी-
मसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ॥ सहदेवात्सुहोत्रं तु विजयासूत पा-
र्वती ॥ ३१ ॥ करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः ॥ इरावन्तमुलूप्यां वै
सुतायां बभ्रुवाहनम् ॥ मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥ ३२ ॥
तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ॥ सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भ-
वान् ॥ ३३ ॥ परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ त्वं च कृष्णानुभावेन
सजीवो मोचितोऽन्तकात् ॥ ३४ ॥ तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ॥
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ ३५ ॥ जनमेजयस्त्वां विदित्वा त-

वाले ऋषिका शाप होनेसे जिसका मैथुन कर्म रुकगया है ऐसे राजा पाण्डु की कुन्ती नाम वाली स्त्री के विषैं यम, वायु और इन्द्रसे युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन यह महारथी तीन पुत्र हुए ॥ २७ ॥ तथा राजा पाण्डु की माद्री नामवाली दूसरी स्त्री के विषैं अश्विनीकुमारों से नकुल और सहदेव यह दो पुत्र हुए;तिन युधिष्ठिर आदि पाँचोंसे द्रौपदी नामवाली एक स्त्री के विषैं पाँच पुत्र तुम्हारे चचा ताऊ हुए ॥ २८ ॥ युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से श्रुतसेन, अर्जुन से श्रुतकीर्त्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतकर्मा यह हुए तथा युधिष्ठिरादिकों से और स्त्रियोंमें भी पुत्र हुए, जैसे युधिष्ठिर से पौरवीके विषैं देवक हुआ,भी-मसेन से हिडिम्बा के विषैं घटोत्कच हुआ, तथा उनही भीमसेन से काली के विषैं सर्वगत हुआ, सहदेव से पर्वतकी कन्या विजया के सुहोत्रहुआ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ नकुल का करेणुमती के विषैं निरामित्र हुआ, तथा अर्जुन का भी उलूपी नामवाली नागकन्या के विषैं इरावान् नामवाला पुत्र हुआ और मणिपुर देश के राजाकी कन्या के विषैं बभ्रुवाहन नामवाला पुत्र हुआ; वह बभ्रुवाहन अर्जुन का पुत्र होनेपर भी, वह कन्या पुत्रिका धर्मसे (इसके जो पुत्र होगा वह मेरा होगा ऐसा ठहराकर) दी थी इसकारण नानाने (मणिपुर के राजा ने) ले लिया था ॥ ३२ ॥ हे राजन्! सब अतिरथियों को जीतनेवाला तुम्हारा पिता वीर अभिमन्यु भी अर्जुन से सुभद्रा के विषैं उत्पन्न हुआ था, उस अभिमन्यु से ही उत्तरा के विषैं तुम हुएहो ॥ ३३ ॥ दुर्योधन आदि कौरवों का नाश होनेपर क्रोध में भरेहुए अ-अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के तेज से भस्म होते हुए भी तुमको, श्रीकृष्ण के प्रभाव ने जीता ही मृत्यु से छुड़ालिया है ॥ ३४ ॥ हे तात परीक्षत्! तुम्हारे यह परम पराक्रमी जनमे-जय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन चारपुत्र हैं ॥ ३५ ॥ यह जनमेजय तुम्हे तक्षक

क्षकान्निधनं गतम् ॥ सर्पान्वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः ॥ ३६ ॥
कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट् ॥ समन्तात्पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति
चाध्वरैः ॥ ३७ ॥ तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात्त्रयीं पठन् ॥ अस्त्रज्ञानं
क्रियाज्ञानं शौनकात्परमेष्यति ॥ ३८ ॥ सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ॥
असीमकृष्णस्तस्यापि निमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥ ३९ ॥ गजाह्वये हृते नद्या कौ-
शाम्ब्यां साधु वत्स्यति ॥ उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मात्कविरथः सुतः ॥ ४० ॥ त-
स्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ॥ सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्य-
त्सुखीनलः ॥ ४१ ॥ परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ॥ नृपञ्जय-
स्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥ तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदा-
सजः ॥ ४२ ॥ शतानीकाद्दुर्दमनस्तस्यापत्यं वहीनरः ॥ दण्डपाणिर्निमिस्तस्य
क्षेमको भविता नृपः ॥ ४३ ॥ ब्रह्मक्षत्रस्य वै प्रोक्तो वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥ ४४ ॥ अथ मागधराजानो

से मरण को प्राप्तहुआ जानकर क्रोधयुक्त होगा और सर्पोंका नाश करनेवाले यज्ञ की अग्नि में सर्पोंका होम करेगा ॥ ३६ ॥ कावषेय तुर नामवाले ऋषिको पुरोहित करके, चारों ओर पृथ्वीपर के सकल राजाओं को जीतकर अश्वमेध यज्ञों से भगवान् की आराधना करेगा तब अश्वमेधयाजी इसनाम से प्रसिद्ध होयगा ॥ ३७ ॥ तिस जनमेजय का पुत्र शतानीक होयगा, वह याज्ञवल्क्य ऋषिसे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पढ़कर और कृपाचार्यसे अस्त्र विद्या तथा कर्मकाण्ड को सीखकर शौनक ऋषिसे परमात्मज्ञान पावेगा ॥ ३८ ॥ उस शतानीक का पुत्र सहस्रानीक होयगा, तिससे अश्वमेधज, तिसका असीमकृष्ण और उसका भी पुत्र निमिचक्र होयगा ॥ ३९ ॥ वह गङ्गा के हस्तिनापुर को डुबादेने पर, तहांसे निकलकर कौशाम्बी नगरी में सुखसे रहेगा; तिससे चित्ररथ नामवाला पुत्र होयगा, तिस से कविरथ पुत्र होयगा ॥ ४० ॥ तिससे वृष्टिमान् होयगा, तदनन्तर उसका पुत्र सुषेण मही पति होयगा, तिसका पुत्र सुनीथ, तिसका नृचक्षु, तिसका सुखीनल, तिससे पारिप्लव पुत्र होयगा तिससे सुनय, तिसका पुत्र मेधावी, तिससे नृपञ्जय, तिससे दूर्व, तिससे तिमि होयगा, तिमिसे बृहद्रथ, तिससे सुदास, तिससे शतानीक ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ शतानीक से दुर्दमन, तिस का पुत्र वहीनर होयगा, तिस का दण्डपाणि, तिस का निमि, तिस का राजा क्षेमक होयगा ॥ ४३ ॥ इस प्रकार ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के कुलों का कारण और देवता तथा ऋषियों का सत्कार करा हुआ यह वंश मैंने तुम से कहा है, यह वंश कलियुग में राजा क्षेमक को पाकर समाप्त होजायगा ॥ ४४ ॥ अब जरा-

भवितारो वदामि ते ॥ भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः ॥ ४५ ॥ ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥ सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद्बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ॥ ४६ ॥ ततः सृतंजयाद्विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥ क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद्धर्मसूत्रः शमस्ततः ॥ ४७ ॥ द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥ सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद्यद्रिपुञ्जयः ॥ बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥ ४८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च सुतास्त्रयः ॥ सभानरात्कालनरः सृंजयस्तत्सुतस्ततः ॥१॥ जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः ॥ उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥२॥ शिबिर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ॥ वृषादर्भः सुवीरश्च भद्रः कैकेय आत्मजाः ॥३॥ शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथ ॥ ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥४॥ अंगवंगकलिंगाद्याः सुह्मपुंड्रांध्रसंज्ञिताः ॥ जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥५॥ चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान्प्राच्यकाश्च ते ॥ खनपानो

सन्ध के वंश में आगे को होनेवाले राजे तुम से कहता हूँ—जरासन्ध का पुत्र जो सहदेव, तिस का मार्जारि नामवाला पुत्र होयगा, तिस का श्रुतश्रवा होयगा ॥ ४५ ॥ तिस का अयुतायु, तिस का निरमित्र होयगा, तिस का पुत्र सुनक्षत्र, सुनक्षत्र का बृहत्सेन, तिस से कर्मजित ॥ ४६ ॥ तिस से सृतञ्जय, तिस का विप्र, तिस का शुचि होयगा, तिस से क्षेम, तिस से सुव्रत, तिस से धर्मसूत्र, तिस से शम ॥४७॥ तिस से द्युमत्सेन, तिस से सुमति, तिस से सुबल होयगा, तिस से सुनीथ, तिस से सत्यजित्, तिस से विश्वजित् और तिस से रिपुञ्जय नामक पुत्र होयगा यह सब बृहद्रथ के वंश में सहस्र वर्ष पर्यन्त राजे होयँगे ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में द्वाविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! ययाति के पुत्र अनु के–सभानर, चक्षु और परोक्ष यह तीन पुत्र हुए, उन में से सभानर से कालनर हुआ, तिस से सृञ्जय हुआ ॥१॥ तिस का पुत्र जनमेजय, तिस का महाशील तिस का महामना तिस महामना के उशीनर और तितिक्षु यह दो पुत्र हुए ॥ २ ॥ उन में उशीनर के पुत्र, शिबि, वन, शमि और दक्ष यह चार हुए उन में शिबि से वृषादर्भ, सुवीर, भद्र और कैकेय नामवाले यह चार पुत्र हुए तितिक्षु से रुशद्रथ, तिससे हेम, तिससे सुतपा हुआ, सुतपासे बलि हुआ॥३॥४॥तिस भूपति बलिकी स्त्री के विषैं उतथ्यके पुत्र दीर्घतमासे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुम्ह, पुण्ड्र और अन्ध्र इन नामोंवाले छः पुत्रहुए॥५॥ उन्होंने पूर्वादि दिशाओं में अपने नामों से प्रसिद्ध अङ्ग आदि छः देश बसाये हैं. उन में से अङ्ग से ख-

ऽङ्गतो जज्ञे तस्माद्दिविरथस्ततः ॥६॥ सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजः ॥
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥ शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग
उवाह ताम् ॥ ७ ॥ देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥ नाट्यसं-
गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ॥ ८ ॥ स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरु-
त्वतः ॥ प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजः प्रजाः ॥ ९ ॥ चतुरङ्गो रोमपा-
दात्पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥ १० ॥ बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः ॥
आद्याद्बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥ ११ ॥ विजयस्तस्य संभूत्यां ततो
धृतिरजायत ॥ ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माऽधिरथस्ततः ॥ १२ ॥ योऽसौ गङ्गा-
तटे क्रीडन्मञ्जूषाऽन्तर्गतं शिशुम् ॥ कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत्सुतम् ॥१३॥
वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपते ॥ द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्म-
जस्ततः ॥ १४ ॥ आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः ॥ धृतस्य दु-
र्मनास्तस्मात्प्रचेताः प्राचेतसं शतम् ॥ १५ ॥ म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं

नपान हुआ, तिस से दिविरथ हुआ, तिस से धर्मरथ पुत्र हुआ, तिस का चित्ररथ हुआ, वह पुत्रहीन था, फिर वह चित्ररथ ही रोमपाद नाम से प्रसिद्ध हुआ उस को उसके मित्र राजा दशरथ ने, अपनी शान्ता नामवाली कन्या दत्तक दी, तिस को ऋष्यशृङ्ग ने वर लिया ॥ ६ ॥ ७ ॥ जो विभाण्डक ऋषि से हरिणी के विषैं उत्पन्न हुए थे और जब राजा रोमपाद के देशों में वर्षा नहीं हुई तब 'ऋष्यशृङ्ग तुम्हारे देश में आवेंगे तो वर्षा होयगी' ऐसा ब्राह्मणों के निश्चय के साथ कहने पर, जिन को वेश्या स्त्रियें गीत नृत्य आदि उपायों से मोहित करके वन में से रोमपाद के नगर में लाई थीं ॥ ८ ॥ उन्हों ने इन्द्र देवता की पुत्रकामेष्टि करके सन्तानहीन राजा रोमपाद को सन्तान दी और सन्तानहीन राजा दशरथ की भी जिन्हों ने पुत्रकामेष्टि करी तब उन के श्रीरामचन्द्र आदि चार पुत्र हुए ॥ ९ ॥ रोमपाद से चतुरङ्ग हुआ, तिसका पुत्र पृथुलाक्ष हुआ ॥ १० ॥ तिस पृथुलाक्ष के बृहद्रथ, बृहत्कर्मा और बृहद्भानु यह तीन पुत्र थे. उन में से बृहद्रथ से बृहन्मना हुआ, तिससे जयद्रथ हुआ ॥ ११ ॥ तिस का सम्भूति के विषैं विजय हुआ, तिस से धृति हुआ, तिस से धृतव्रत, तिसका सत्कर्मा, तिसका अधिरथ हुआ ॥ १२ ॥ वह सन्तानहीन राजा, एकसमय गङ्गा के तटपर क्रीड़ा कररहा था सो तहाँ उस अधिरथ को 'कुन्तीने, कन्यावस्था में अपने से उत्पन्न होनेके कारण पिटारी में रखकर बहायाहुआ' कर्णनामवाला पुत्र मिला, उसको ही उसेन पुत्र समझकर पाला। तिस भूपतिकर्ण के वृषसेन नामवाला पुत्रहुआ॥ १३॥ ययातिका तीसरा पुत्र जो द्रुह्यु तिसका बभ्रु नामक पुत्रहुआ, तिसका पुत्र सेतु, तिसका आरब्ध, तिसका गान्धार, तिसका धर्म, तिसका धृतहुआ. तिस धृत का दुर्मना हुआ, तिस से प्रचेता हुआ, तिस प्रचेता के सौ पुत्र हुए ॥ १४ ॥ १५ ॥ वह उत्तर

दिशमाश्रिताः ॥ तुर्वसोश्च सुतो वन्हिर्वन्हेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥ १६ ॥ त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करंधम उदारधीः ॥ मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥ १७ ॥ दुष्यंतः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ॥ ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥ १८ ॥ वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणां ॥ यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥ यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः ॥ यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥ २० ॥ चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित्प्रथमात्मजः ॥ महाहयो वेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥ २१ ॥ धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुंतेः पिता ततः ॥ सोऽहंजिरभवत्कुंतेर्महिष्मान् भद्रसेनकः ॥ २२ ॥ दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः ॥ कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥ २३ ॥ अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ॥ दत्तात्रेयाद्धरेरंशात्प्राप्तयोगमहागुणः ॥ २४ ॥ न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यंति पार्थिवाः ॥ यज्ञदानतपोयोगश्रुतवीर्यजयादिभिः॥२५॥

दिशा में रहनेवाले और म्लेच्छों के अधिपतिहुए, ययाति का दूसरा पुत्र जो तुर्वसु तिस का पुत्र वन्हि हुआ, तिस वन्हि से भर्ग हुआ, तिस से भानुमान् हुआ ॥१६॥ तिसका पुत्र त्रिभानु, तिसका पुत्र करन्धम हुआ वह बड़ा उदार बुद्धि था, तिस के पुत्र मरुत ने पुत्रहीन होने के कारण पूरु वंश में उत्पन्न हुए दुष्यन्त को ही पुत्र बनाकर रखलिया ॥१७॥ वह दुष्यन्त उसका पुत्र होकर भी राज्य की इच्छा करनेवाला होने के कारण फिर अपने पौरव वंश में ही चलागया, क्योंकि—पूरुवंश में के राजाओं का ही सिंहासन का अधिकार है ॥ १८ ॥ हे राजन् ! अब तुम से मनुष्यों के सकल पापों का नाश करने वाला और परमपुण्यकारी, राजा ययाति के बड़े पुत्र यदु के वंश का वर्णन करता हूँ, क्योंकि— मनुष्य यदु के वंश को सुनकर सकल पापों से छूटजाता है ॥ १९ ॥ क्योंकि जिस वंश में परमात्मा भगवान् ने मनुष्य की आकृति का अवतार धारण करा है. यदु के सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु इन नामों से प्रसिद्ध चार पुत्र हुए उन में सहस्रजित् का पुत्र शतजित् हुआ; तिस के महाहय, वेणुहय और हैहय यह तीन पुत्र हुए ॥ २० ॥ २१ ॥ उन में से हैहय का पुत्र धर्म, तिस से नेत्र हुआ, तिससे कुन्ति हुआ, कुन्ति से सोहंजि हुआ, तिस का महिष्मान्, तिस का भद्रसेनक हुआ ॥ २२ ॥ भद्रसेन के दुर्मद और धनक यह दो पुत्र हुए धनक के कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा यह चार पुत्र हुए ॥ २३ ॥ कृतवीर्य के अर्जुन हुआ, वह सात द्वीपों का स्वामी हुआ, उस ने श्रीहरि के अंश दत्तात्रेयजी की आराधना करके उन से योगसिद्धि और अणिमादि महाऐश्वर्य पाई ॥ २४ ॥ हे राजन् ! कोई भी राजे, यज्ञ, दान, तप, योग, शास्त्र पढ़ना, पराक्रम और जय आदि के द्वारा उस कार्त्तवीर्य अर्जुन की समता को

पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः ॥ अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्य-
षड्वसु ॥ २६ ॥ तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे ॥ जयध्वजः शूरसेनो
वृषभो मधुरूर्जितः ॥ २७ ॥ जयध्वजात्तालजंघस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥ क्षत्रं
यत्तालजंघाख्यमौर्वतेजोपसंहृतं ॥ २८ ॥ तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो
मधोः स्मृतः ॥ तस्य पुत्रशतं त्वासीद्वृ-ष्णिज्येष्ठं यतः कुलं ॥ २९ ॥ माधवा
वृष्णयो राजन्यादवाश्चेति संज्ञिताः ॥ यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनं-
वांस्ततः ॥ ३० ॥ श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ॥ शशविंदुर्महायोगी
महाभोजो महानभूत् ॥ ३१ ॥ चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ॥ तस्य पत्नी-
सहस्राणां दशानां सुमहायशाः ॥ ३२ ॥ दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजी-
जनत् ॥ तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः ॥ ३३ ॥ धर्मो नामोशना
तस्य हयमेधशतस्य याट् ॥ तत्सुतो रुचकस्तस्य पंचासन्नात्मजाः शृणु । ३४॥

नहीं पासकेंगे ॥ २५ ॥ पचासी सहस्र (८५०००) वर्ष पर्यन्त जिसके शरीर इन्द्रि-यादि की शक्ति कुछभी कम नहीं हुई, और जिस को इच्छित वस्तु के न मिलने का स्मरणभी नहीं होता था, उस ने अपनी अक्षय इन्द्रियों के छः विषयों का सेवन करा ॥ २६ ॥ उस के दश सहस्र (१००००) पुत्र थे उन में से, परशुरामजी के साथ होनेवाले युद्ध में पांचही शेष रहे, उन के नाम जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित यह थे ॥२७॥ जयध्वज से तालजंघ हुआ, उस के भी जो तालजंघ नामवाले क्षत्रियो के सौ कुल थे वह सौ पुत्र हुए, उन को और्वऋषि के तेज से राजा सगर ने मारडाला।२८। उन तालजंघ नामवाले पुत्रों में बड़ा पुत्र वीतिहोत्र था; उस के मधु नामवाला पुत्र हुआ उसके जिन में वृष्णि नामक पुत्र बड़ा है ऐसे सौ पुत्र हुए मधु, वृष्णि और यदु से जो यह कुल फैले इसकारण आगे को सब राजे माधव, वृष्णि और यादव नामवाले हुए, यदु के वडे पुत्र क्रोष्टा से वृजिवान् पुत्र हुआ ॥ २९ ॥ ३० ॥ तिस से श्वाहि, तिस से रुशेकु, तिस का पुत्र चित्ररथ, तिस से शशबिन्दु हुआ, वह महा योगी महाभोगवान् और सत्यसङ्कल्प आदि गुणों से भी महान् था ॥ ३१ ॥ उस के पास श्रेष्ठ चौदह रत्न × थे और वह सार्वभौम, किसी से पराजय न पानेवाला तथा परमयशस्वी था ॥ ३२ ॥ उस ने अपनी दश सहस्र स्त्रियों में से प्रत्येक के लाख २ इस प्रकार दश लाख पुत्र उत्पन्न करे, उन में पृथुश्रवा, पृथुकीर्त्ति आदि छः पुत्र मुख्य थे; उन में से पृथुश्रवा के धर्म नामवाला पुत्र हुआ, तिस के उशना हुआ, उस ने सौ अश्वमेध करे, तिस का पुत्र रुचक उस के पांच पुत्रहुए उन के नाम कहता हूँ सुनो ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

× हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, खजाना, पुष्प, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान यह चौदह महारत्न हैं ।

पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ॥ ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शै-
ब्यापतिर्भयात् ॥ ३५ ॥ नाविन्दच्छत्रुभवनाद्भोज्यां कन्यामहारषीत् ॥
रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता ॥ ३६ ॥ केयं कुहक मत्स्थानं
रथमारोपितेति वै ॥ स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥ ३७ ॥
अहं वंध्याऽसपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम् ॥ जनयिष्यसि यं राज्ञि
तस्येयमुपयुज्यते॥३८॥अन्वमोदन्त तद्विश्वे देवाः पितर एव च॥ शैब्या गर्भमधा-
त्काले कुमारं सुषुवे शुभम् ॥ स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीं ॥३९॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे नवमस्कन्धे यदुवंशानुवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः॥२३॥
श्रीशुक उवाच ॥ तस्यां विदर्भोजनयत्पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ॥ तृतीयं रोमपादं
च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥ रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत ॥ उशि-

पुरुजित, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ यह उन के नाम थे; उन में से ज्यामघ की स्त्री का नाम शैव्या था और उस के वन्ध्या होने से ज्यामघ के सन्तान नहीं हुई, उस ने स्त्री के भय से दूसरी स्त्री ग्रहण नहीं करी. एकसमय वह शत्रुओं को जीतकर उन के घरमें से भोगने के निमित्त भोज्या नामवाली कन्या को ले आया; तब रथ में बैठीहुई उस कन्या को देखकर, क्रोध में भरीहुई वह शैव्या पति से कहनेलगी कि—॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अजी धोखादेनेवाले ! रथपर मेरे बैठने के स्थान में यह कौन बैठी है ? तब उस के भय से ज्यामघ ने कहा कि—यह तेरे पुत्र की स्त्री है, तब हँसतीहुई वह शैव्या फिर पति से कहनेलगी कि—॥ ३७ ॥ मैं वन्ध्या हूँ और मेरे कोई सपत्नी (सौत) भी नहींहै फिर मेरे पुत्रवधू कैसे होसक्ती है ? तब अत्यन्त भयभीत हुआ ज्यामघ कहनेलगा कि—हे प्रिये ! तेरे जो अब पुत्र होयगा उस की स्त्री यह ठीक होगी ॥ ३८ ॥ ऐसा कहकर स्त्री के भय से काँपनेवाले और पसीने में भीगेहुए उस राजा का प्राणसङ्कट देखकर, जिन की उस ने पहिले अनेकों वार उपासना करी थी ऐसे विश्वेदेवा और पितरों ने, दयालु होकर उसके तिस कहने को ही 'तथास्तु' (ऐसाही हो) कहदिया;तदनन्तर उन विश्वेदेवा आदिकों के अनुग्रह से और ज्यामघ के उस वाक्य को मुख में से निकाल ने के समय जो मुहूर्त्त था उस के गुण से उस शैव्या ने गर्भ धारण करा और समय आनेपर शुभ लक्षणवाले पुत्र को उत्पन्न करा, वह विदर्भ इस नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसने थोड़े ही काल में तरुण होकर जो पाहिले ही से शैव्या की पुत्रवधू कहलाती थी उस कन्या को वरलिया ॥३९॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में त्रयोविंश अध्याय समाप्त॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! तिस भोज्या के विषैं विदर्भ राजा के कुश और क्रथ नामवाले दो पुत्र और विदर्भ कुल को आनन्द देनेवाला रोमपाद नामक तीसरा पुत्र हुआ ॥ १ ॥ रोमपाद का पुत्र

कस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः ॥ २ ॥ कथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद्धृष्टिस्तस्या-
थ निर्वृतिः ॥ ततो दशार्हो नाम्नाऽभूत्तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥ ३ ॥ जी-
मूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः ॥ ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथ-
स्ततः ॥ ४ ॥ करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः ॥ देवक्षत्रस्ततस्तस्य
मधुः कुरुवशादनुः ॥ ५ ॥ पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः ॥
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥ सात्वतस्य सुताः सप्त महा-
भोजश्च मारिष ॥ ६ ॥ भजमानस्य निम्लोचिः किंकिणो धृष्टिरेव
च ॥ एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः ॥ शताजिच्च सहस्रा-
जिदयुताजिदिति प्रभो ॥ ७ ॥ बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू ॥
॥ ८ ॥ यथैव शृणुमो दूरात्संपश्यामस्तथाऽन्तिकात् ॥ बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां
देवैर्देवावृधः समः ॥ ९ ॥ पुरुषाः पंचषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च ॥
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि ॥ १० ॥ महाभोजोऽपि धर्मात्मा भो-
जा आसंस्तदन्वये ॥ ११ ॥ वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद्युधाजिच्च परंतप ॥ शि-
निस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः ॥ १२ ॥ सत्राजितः प्रसेनश्च निम्न-

---

बभ्रु तिस बभ्रु से कृति हुआ, तिस का पुत्र उशिक, तिससे चेदि हुआ, तिससे दमघोष आदि पुत्र हुए ॥२॥ क्रथका पुत्र कुन्ति हुआ, तिसका धृष्टि, तिसका निर्वृति, तिससे दशार्ह नामवाला पुत्र हुआ, तिससे व्योम पुत्र हुआ, तिसका जीमूत, तिसका विकृति, तिस का पुत्र भीमरथ, तिससे नवरथ पुत्र हुआ, तिससे दशरथ हुआ ॥ ३ ॥ ४ ॥ तिस से शकुनि, शकुनि का पुत्र करम्भि हुआ, तिस का पुत्र देवरात, तिस का देवक्षत्र, तिसका मधु, तिससे कुरुवश, तिससे अनु हुआ॥५॥ अनुका पुत्र पुरुहोत्र, तिसका आयु, तिससे सात्वत. हे राजन् तिस सात्वत के भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि देवावृध, अन्धक और महाभोज यह सात पुत्र हुए॥६॥ हेराजन्! भजमानकी एक स्त्रीके विषैं निम्लोचि, किङ्किण, और वृष्णि यह पुत्र हुए तथा दूसरी स्त्री के विषैं शताजित् सहस्राजित् और अयुताजित् यह तीन पुत्र हुए।७ देवावृध का पुत्र बभ्रु हुआ; तिस देवावृध और बभ्रुके विषयमें पुरुष इन दो श्लोकोंको पढ़ते हैं ॥ ८ ॥ देवावृध और बभ्रु यह दोनों जैसे गुणवान् हमने दूरसे सुने थे, वैसेहीं अब प्रत्यक्ष देखरहे हैं; मनुष्यों में बभ्रु श्रेष्ठ है और देवावृध तो देवताओं की समान है ॥ ९ ॥ क्योंकि - बभ्रु और देवावृध इन दोनों से उपदेश पाकर चौदह सहस्र पैंसठ (१४०६५) पुरुष मुक्ति पागये हैं ॥ १० ॥ महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा था, उसके वंश में भोज नामवाले राजे उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥ हे शत्रुसन्तापन राजन्! वृष्णि से सुमित्र और युधाजित् यह दो पुत्र हुए; उन में से युधाजित् के शिनि और अनमित्र यह दो पुत्र हुए, अनमित्र से निम्न हुआ ॥ १२ ॥ निम्न के भी सत्राजित और प्रसेन यह दो पुत्र हुए, अनमित्र का

स्याप्योसतुः सुतौ ॥ अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्याथ सत्यकः ॥१३॥ युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः॥ युगधरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥ १४ ॥ श्वफल्कश्चित्ररथश्च गांदिन्यां च श्वफल्कतः ॥ अक्रूरप्रमुखा आसन्पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥ १५ ॥ आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद्गिरिः ॥ धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥ १६ ॥ शत्रुघ्नो गंधमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश ॥ तेषां स्वसा सुचीराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥१७॥ देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः ॥ पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥ १८ ॥ कुकुरो भजमानश्च शुचिः कंबलबर्हिषः ॥ कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥ १९ ॥ कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुंबुरुः ॥ अंधको दुंदुभिस्तस्मादरिद्योतः पुनर्वसुः ॥ २० ॥ तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ ॥ देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥ २१ ॥ देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः ॥ तेषां स्वसारः सप्तासन्धृतदेवादयो नृप ॥ २२ ॥ शांतिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ॥ सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥ २३ ॥ कंसः सुनामा न्यग्रोधः कंकः शंकुः सुहूस्तथा ॥ राष्ट्रपालोऽथ

एक और शिनि नामवाला पुत्रथा उसका सत्यक हुआ, तिस सत्यक के युयुधान नामवाला (सात्यकि) पुत्र हुआ, तिसका जय, तिसका कुणि, तिससे युगन्धर हुआ; अनमित्र का तीसरा वृष्णि नामवाला पुत्रथा उससे श्वफल्क और चित्ररथ यहदो पुत्र हुए; श्वफल्क से गान्दिनी नामवाली स्त्री के विषें अक्रूर आदि और बारह अर्थात् अक्रूर सहित तेरह पुत्रहुए ॥१३॥१४॥१५॥ उन बारहों के आसङ्ग, सारमेय, मृदुर, मृदुवित, गिरी, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाध और प्रतिबाहु यहनाम थे, तथा सुचीरा नाम वाली उनकी बहिन थी; अक्रूर के देववान् और उपदेव यहदो पुत्र हुए, तथा चित्ररथ के पुत्र पृथु, विदूरथ आदि हुए, यह सब राजे वृष्णि के कुल में हुए ॥१६॥१७॥१८॥ अन्धक के कुकुर, भजमान, शुचि और कम्बल बर्हिष यहचार पुत्र हुए, उनमें कुकुर का वन्हि नामक पुत्र हुआ, तिससे विलोम नामक पुत्र हुआ ॥ १९ ॥ तिसका कपोत रोमा, तिस का अनु हुआ; तिस अनुका तुंबरु नामवाला गन्धर्व मित्रथा, अनुसे अन्धक हुआ, तिसका दुन्दुभि, तिसका अरिद्योत, तिसका पुनर्वसु हुआ ॥ २० ॥ उसके आहुक पुत्र और आहुकी कन्या यहदो सन्तान हुई, आहुक के देवक और उग्रसेन यहदो पुत्र हुए; उनमें से देवक के पुत्र देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन यहचार हुए. हेराजन! उनचारों की धृतदेवा आदि सात बहिनें थीं. ॥ २१ ॥ २२ ॥ उनके नाम—धृतदेवा, शान्तिदेवा उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी यह थे; उनसबों को वसुदेवजी ने वर लिया ॥ २३ ॥ उग्रसेन के पुत्र—कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, राष्ट्रपाल, सृष्टि

सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥ २४ ॥ कंसा कंसवती कंका शूरभू राष्ट्रपालिका। उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥ २५ ॥ शूरो विदूरथादासीद्भजमानः सुतस्ततः ॥ शिनिस्तस्मात्स्वयंभोजो हृदीकस्तत्सुतो मतः ॥२६॥ देवबाहुः शतधनुः॥ कृतवर्मेति तत्सुताः ॥ देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् २७॥ तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान् ॥ वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥ २८ ॥ सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम् ॥ देवदुंदुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥ २९ ॥ वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुंदुभिं ॥ पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥ ३० ॥ राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पंच कन्यकाः ॥ कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥ ३१ ॥ सापि दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ॥ तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिं ॥ ३२ ॥ तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मयमानसा ॥ प्रत्ययार्थं

और तुष्टिमान् यह नौथे ॥ २४ ॥ तथा कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू, राष्ट्र पालिका, यहपाँच उग्रसेन की कन्या थीं; यह वसुदेवजी के देवभाग आदि छोटे भ्राताओं की स्त्रियें थीं।२५।पहिले कहेहुए विदूरथसे शूरहुआ,तिससे भजमान पुत्रहुआ तिससे शिनि हुआ तिस से स्वयं भोज हुआ,तिसका पुत्र हृदीक हुआ वह सबका माननीय था ।।२६।। तिसके पुत्र देवबाहु, शतधनु, कृतवर्मा और देवमीढ़ यहचार थे, उनमें देवमीढ़ के शूर हुआ, उसकी मारिषा नामवाली स्त्रीथी ॥ २७ ॥ उसके विषैं देवमीढ़ ने, निर्दोष दशपुत्र उत्पन्न करे; उनके नाम—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवस, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक यह थे, उनमें से जिसके जन्म के समय देवताओं के आनक (नौवत) और दुन्दुभि (नगाड़े) अपने आप वजनेलगे, इसकारण श्रीकृष्ण के अवतार के योग्य स्थान उन वसुदेवजी का नाम आनक दुन्दुभि कहते हैं—पृथा श्रुतदेवा, श्रुतकीर्त्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी यह शूर की पांच कन्या वसुदेव आदिकों की बहिनें थीं; उन में से पृथा,-उस के पिता शूर ने, अपने पुत्रहीन कुन्ति नामवाले मित्र को दत्तक देदी थी इसकारण उस का 'कुन्ती' यह दूसरा नाम पड़ा था ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ तिस कुन्ती ने एकसमय अपने घर आयेहुए शुश्रूषा आदि करके प्रसन्न करेहुए दुर्वासा ऋषि से देवताओं को बुलालेने की मन्त्रविद्या प्राप्त करी थी, उस के प्रभाव की परीक्षा करने के निमित्त उस ने एक मन्त्र का प्रयोग करके शुद्ध सूर्यभगवान् को अपने समीप बुलाया ॥ ३२ ॥ उसीसमय समीप आयेहुए सूर्य को देखकर चित्त में विस्मित हुई तिस ने कहा कि—सत्यपने की परीक्षा करने के निमित्त मैंने इस विद्या का प्रयोग करा था परन्तु आप से किसी कार्य के कराने की आवश्यकता नहीं है इसकारण तुम लौट

प्रयुक्ता मे याहि देवं क्षमस्व मे ॥ ३३ ॥ अमोघं दर्शनं देवि आधत्से त्वयि चात्मजम् ॥ योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे ॥ ३४ ॥ इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः ॥ सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥ ३५ ॥ तं साऽत्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती ॥ प्रपितामहस्तामुवाह पांडुर्वै सत्यविक्रमः ॥ ३६ ॥ श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् ॥ यस्यामभूद्दंतवक्त्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः ॥ ३७ ॥ कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविंदत ॥ संतर्दनादयस्तस्यां पंचासन्कैकयाः सुताः ॥ ॥३८॥ राजाधिदेव्यामावंत्यौ जयसेनोऽजनिष्ट है ॥ दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥ ३९ ॥ शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य संभवः ॥ देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥ ४० ॥ कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इ-

कर चलेजाओ, निष्कारण बुलाने के मेरे अपराध को क्षमा करो ॥ ३३ ॥ तब सूर्य ने कहा कि–सुन्दरि! मेरा दर्शन निष्फल नहीं होना है इसकारण मैं तेरे विषैं पुत्र रूप गर्भ स्थापन करता हूँ.यदि कहे कि–मैं अभी कन्या हूँ तो हे सुमध्यमे! जिस प्रकार तेरी योनि को किसी प्रकार का दोष नहीं लगेगा तैसे मैं गर्भ स्थापन करूँगा अर्थात् वह गर्भ योनिद्वार से कष्ट न देकर कानमें को होकर ही बाहर आजायगा॥३४॥ऐसा कहकर तिस सूर्य ने उस के विषैं गर्भ स्थापन करा और तदनन्तर स्वर्ग को चलेगये, फिर मानो जैसे दूसरा सूर्य हो ऐसा तेजस्वी कुमार तत्काल विना परिश्रम कान में को होकर उत्पन्न हुआ ॥ ३५ ॥ तव लोक निन्दा भे भय माननेवाली तिस कुन्ती ने दुःख से उस बालक को पिटारी में बन्द करके नदी के जल में छोड़ दिया; फिर उस कुन्ती को सत्यपराक्रमी तुम्हारे प्रपितामह (परदादा) ने वरा ॥ ३६ ॥ श्रुतदेवा को करूष देश के स्वामी वृद्धशर्मा ने वरा, उस के विषैं तो पहिले सनकादि ऋषियों ने जिस को शाप दिया था वह भगवान् का विजय नामवाला द्वारपाल,जो दिति का पुत्र हिरण्याक्ष था वह दन्तवक्र नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३७ ॥ श्रुतकीर्त्ति को कैकेय (केकय देश के स्वामी) धृष्टकेतु ने वरा; उस के विषैं कैकेय सन्तर्दन आदि पांच पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥ राजाधिदेवी के विषै, जयसेन राजा ने, अवन्तिदेश के स्वामी विन्द, अनुविन्द नामवाले दो पुत्र उत्पन्न करे; चेदिदेशों का राजा जो दमघोष उस ने श्रुतश्रवा को वरा ॥ ३९ ॥ तिस के शिशुपाल नामवाला पुत्र हुआ उस के उत्पन्न होने का वृत्तान्त सातवें स्कन्ध में तुम से कहा था– इस प्रकार वसुदेवजी की वहिनों के पति और पुत्र कहकर अब उन वसुदेवजी के नौ भ्राताओं की स्त्रियें और पुत्रों का वर्णन करते हैं—देवभाग के कंसा नामवाली स्त्री के विषैं चित्रकेतु और बृहद्बल यह दो पुत्र हुए ॥ ४० ॥ तथा देवश्रवा के कंसावती स्त्री के विषैं सुवीर

षुमांस्तथा ॥ कंकायामानकाज्जातः सत्यजित्पुरुजित्तथा ॥ ४१ ॥ सृंजयो रा-
ष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान् ॥ हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः
॥ ४२ ॥ मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन्वत्सकस्तथा ॥ तक्षपुष्करशालादीन्दु-
र्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥ ४३ ॥ सुमित्रार्जुनपालादीन् शमीकात्तु सुदामिनी ॥
कंकश्च कर्णिकायां वै ऋतधामजयावपि ॥ ४४ ॥ पौरवी रोहिणी भद्रा म-
दिरा रोचना इला ॥ देवकीप्रमुखा आसन्पत्न्य आनकदुंदुभेः ॥ ४५ ॥ बलं
गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् ॥ वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्
॥ ४६ ॥ सुभद्रो भद्रवाहश्च दुर्मदो भद्र एव च ॥ पौरव्यास्तनया ह्येते भू-
ताद्या द्वादशाभवन् ॥ ४७ ॥ नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः ॥ कौ-
शल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥ ४८ ॥ रोचनायामतो जाता हस्तहेमां-
गदादयः ॥ इलायामुरुवल्कादीन्यदुमुख्यानजीजनत् ॥ ४९ ॥ विपृष्ठो धृतदे-
वायामेक आनकदुन्दुभेः ॥ शांतिदेवात्मजा राजन् श्रमप्रतिश्रुतादयः ॥ ५० ॥
राजानः कल्पवर्षाद्या उपदेवसुता दश ॥ वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षद्

और इषुमान् यह दो पुत्र हुए, तैसे ही आनक से कङ्का के विषैं सत्यजित् और पुरुजित् यह दो पुत्र हुए ॥ ४१ ॥ सृञ्जय के राष्ट्रपाली के विषैं वृषदुर्मर्षण आदि पुत्र हुए, श्यामक ने शूरभूमि के विषैं हरिकेश और हिरण्याक्ष यह दो पुत्र उत्पन्न करे ॥ ४२ ॥ तथा वत्सक ने, मिश्रकेशी नामवाली अप्सरा के विषैं वृक आदि पुत्र उत्पन्न करे, वृक ने दुर्वाक्षी स्त्री के विषैं तक्ष, पुष्करशाल आदि पुत्र उत्पन्न करे ॥ ४३ ॥ शमीक से सुदामनी स्त्री के सुमित्र, अर्जुनपाल आदि पुत्र हुए कङ्क ने कर्णिका के विषैं ऋतधाम और जय पुत्र उत्पन्न करे ॥ ४४ ॥ अब वसुदेवजी के स्त्री पुत्रों का वर्णन करते हैं— पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी आदि वसुदेवजी की अठारह स्त्रियें थीं ॥४५॥ उन मेंसे रोहिणी के विषैं वसुदेवजी ने—बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव इन पुत्रों को तथा कृत आदि और भी पुत्रों को उत्पन्न करा ॥ ४६ ॥ वसुदेवजी से पौरवी के सुभद्र, भद्रवाहु, दुर्मद, भद्र और भूत आदि प्रसिद्ध बारह पुत्र थे ॥ ४७ ॥ नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर आदि मदिरा के पुत्र थे, कौशल्या नामवाली वसुदेव की स्त्री ने तो—कुलनन्दन केशी नामवाला एकही पुत्र उत्पन्न करा॥४८॥रोचना के विषै वसुदेवजी से हस्त और हेमाङ्गद आदि पुत्र हुए तथा वसुदेवजी ने इलानामवाली स्त्री के विषैं यादवों में मुख्य उरु और वल्क आदि पुत्र उत्पन्न करे ॥ ४९ ॥ वसुदेवजी के धृत देवा के विषैं विपृष्ठ नामवाला एक ही पुत्र हुआ. हे राजन् ! वसुदेवजी की शान्ति देवानामवाली स्त्री के विषैं तो श्रम, प्रतिश्रुत आदि पुत्र हुए ॥ ५० ॥ कल्प, वर्ष आदि दश राजे तो वसुदेवजी की उपदेवा

सुताः ॥ ५१ ॥ देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः ॥ वसुदेवः सुतानष्टौ-
वादधे सहदेवया ॥ ५२ ॥ पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु साक्षाद्धर्मो वसूनिव ॥ वसुदे-
वस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥ ५३ ॥ कीर्त्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदा-
रधीः ॥ ऋजुं संमर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम् ॥ ५४ ॥ अष्टमस्तु तयोरासी-
त्स्वयमेव हरिः किल ॥ सुभद्रा च महाभागा तव राजन्पितामही ॥ ५५ ॥
यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ॥ तदा तु भगवानीश आत्मानं
सृजते हरिः ॥ ५६ ॥ न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ॥ आ-
त्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥ ५७ ॥ यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्यु-
त्पत्त्यप्ययाय हि ॥ अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥ ५८ ॥ अक्षौ-
हिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः ॥ भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः
॥ ५९ ॥ कर्माण्यपरिमेयाणि मनसाऽपि सुरेश्वरैः ॥ सहसंकर्षणश्चक्रे भ-

के पुत्र हुए. श्रीदेवा के तो वसु, हंस, सुवंश आदि छःपुत्र हुए ॥ ५१ ॥ देवरक्षिता नामवाली स्त्री के तो गद आदि नौ पुत्र हुए तथा वसुदेवजी ने सहदेवा नामवाली स्त्री के द्वारा पुरु, विश्रुत आदि आठ पुत्र, जैसे साक्षात् धर्म ने वसु उत्पन्न करे थे तैसे उत्पन्न करे. तथा उदार बुद्धि उन वसुदेवजी ने देवकी के विषैं आठ पुत्र उत्पन्न करे ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥ वह कीर्त्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, संमर्दन, भद्र और शेषजी के अवतार शङ्कर्षण (बलराम) यह सात थे ॥ ५४ ॥ और उन देवकी वसुदेव के आठवें पुत्रतो स्वयं साक्षात् श्रीहरि ही श्रीकृष्णरूप से अवतीर्ण हुए थे और हे राजन्! तुम्हारी दादी महाभागा सुभद्रा, यह उन देवकी वसुदेव की कन्या थी ॥ ५५ ॥ जिस २ समय इस लोक में धर्म का नाश और पाप की वृद्धि होती है उसी २ समय कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ भगवान् श्रीहरि, साधुओं की रक्षा करके धर्म की स्थापना करनें के निमित्त अपना अवतार उत्पन्न करते हैं ॥ ५६ ॥ हे राजन्! माया के ऊपर आज्ञा चलाने वाले असङ्ग, साक्षी और सर्वव्यापक इन भगवान् को, अपनी माया के विनोदके विना जन्म का वा कर्म का कारण कुछ भी नहीं होता है ॥ ५७ ॥ और इच्छामात्र से ही करीहुई जिन की लीला, जीव की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के निमित्त होती है और जिनका अनुग्रह प्राणियों की जन्म आदि संसार की निवृत्ति करके मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त होता है, उनके अवतार लेने के विषय में उन की इच्छा के सिवाय दूसरा कौन कारण है ? अर्थात् और कोई कारण नहीं है ॥ ५८ ॥ राजाओं का चिन्हमात्र धारण करनेवाले परन्तु आसुरी सम्पत्तिवाले और जिनकी गिनती अक्षौहिणियों के नाम से ही हो-सक्ती है ऐसी सेनाओं के स्वामी जो शिशुपाल जरासन्ध, कंस आदि उन की पीड़ित करी

गवान्मधुसूदनः ॥ ६० ॥ कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् ॥ अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥ ६१ ॥ यस्मिन्सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् ॥ श्रोत्रांजलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनां ॥ ६२ ॥ भोजवृष्ण्यंधकमधुशूरसेनदशार्हकैः ॥ श्लाघनीयेहितः शश्वत्कुरुसृंजयपांडुभिः ॥ ६३ ॥ स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ॥ नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वांगरम्यया ॥ ६४ ॥ यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ॥ नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥ ६५ ॥ जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून्सुत-

हुई पृथ्वी का भार दूर करने के निमित्त उद्योग करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने बलराम के साथ, इन्द्रादि देवता जिन को करने का मन में सङ्कल्प भी न करसकें ऐसे पूतना-बक और केशी का वध आदि कर्म करे ॥ ६० ॥ और कलियुग में उत्पन्न होने वाले भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त, दुःख, शोक और अज्ञान का नाश करनेवाला तथा धर्म आदि पुरुषार्थरूप पुण्य का उत्पन्न करनेवाला यश फैलाया है ॥ ६१ ॥ साधुओं के कानों को अमृत की समान मधुर लगनेवाले जिस यशरूप श्रेष्ठ तीर्थ के विषैं, श्रोत्र इन्द्रिय (कान) ही जिन के पास पीने का साधनरूप पात्र है वह पुरुष, एकवारमी आचमन करके अर्थात् थोड़ासा भी सुनकर भगवान् की सुन्दरता से चित्त का आकर्षण होनेपर वह, मोक्ष का प्रतिबन्ध करनेवाली वासना का त्याग करदेता है ॥ ६२ ॥ भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु शूरसेन, दशार्हक तथा कुरु, सृञ्जय और पाण्डवों ने निरन्तर जिनकी लीलाओं की स्तुति करी है उन श्रीकृष्ण भगवान् ने, स्नेह के साथ और हँसतेहुए जो अपना अवलोकन (देखना) तिस से, भक्तों के मनोरथों को पूरा करनेवाले वाक्यों से, गोवर्द्धन को उठाना आदि पराक्रम युक्त लीलाओं से, और सकल अङ्गों में सुन्दर अपनी मूर्त्ति से मनुष्यलोक को आनन्दित करा है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ यही दिखाने के निमित्त भगवान् के मुख की शोभा कहते हैं कि मकराकृति कुण्डलों से सुन्दर जो कान और दमकते हुए कपोलों से सुन्दर, जिस में विलासयुक्त हास्य है, और जिस में निरन्तर परमशोभा है ऐसे जिन श्रीकृष्णजीके मुख को, अनन्तदृष्टियों से आदरके साथ देखनेवाली स्त्रियें और पुरुष भी तृप्त नहींहुए किन्तु नेत्रों के पलक लगने खुलने में व्यवधान (रुकावट) को न सहतेहुए उस व्यवधान करनेवाले निमि के ऊपर कुपितहुए ॥ ६५ ॥ अब श्रीकृष्णजी का चरित्र संक्षेपसे वर्णन करते हैं कि—हे राजन् ! वह भगवान् श्रीकृष्णजी, पहिले मथुरा में अपने चतुर्भुजरूप से प्रकटहुए, फिर पिता के कारागार (जेलखाने) में से गोकुल में गये, तहाँ गोकुलवासी

शतानि कृतोरुदारः ॥ उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे आत्मानमात्मनिगमं प्रथयन् जनेषु ॥ ६६ ॥ पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन्कुरूणामन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्व ॥ दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य प्रोच्योद्धवाय च परं समगात्स्वधाम ॥ ६७ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टादशसाहस्र्यां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यवंशानुकीर्तने यदुवंशानुकीर्तनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ इति नवमः स्कन्धः समाप्तः ॥ ॥ ७ ॥

पुरुषों के धर्म आदि अर्थ को बढ़ातेहुए पूतना आदि शत्रुओं को मारकर फिर मथुरा में आये और सोलह सहस्र एक सौ आठ (१६१०८) स्त्रियों को ग्रहण करके उन में से प्रत्येक के दश दश इसप्रकार सैंकड़ों पुत्र उत्पन्न करके, अपना वेदमार्ग लोकों में प्रसिद्ध करने के निमित्त उन्होंने नानाप्रकार के यज्ञों से अपना आराधन करा ॥ ६६ ॥ और उन श्रीकृष्णजी ने, कौरव और पाण्डवों के मध्य में उत्पन्न हुए कलह के निमित्त से, पृथ्वी पर अत्यन्त बढ़ाहुआ भार दूर करने के निमित्त युद्ध में राजाओं की सेनाओं का अपनी दृष्टि से ही नाश करके, अर्जुन को जय प्राप्त कराई और फिर उद्धवजी को आत्मतत्त्व का उपदेश करके (निजधाम वैकुण्ठ धाम) को चलेगए ॥ ६७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में चतुर्विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥

इतिश्रीमद्भागवतमहापुराणस्य, पश्चिमोत्तरदेशीयरामपुरनिवासि—मुरादाबादप्रवासि-भारद्वाजगोत्र—गौड़वंश्य—श्रीयुतपण्डितभोलानाथात्मजेन, काशीस्थराजकीयप्रधान—विद्यालये प्रधानाध्यापक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र—महामहोपाध्याय-सत्सम्प्रदायाचार्य-पण्डितस्वामिराममिश्रशास्त्रिभ्योधिगतविद्येन, ऋषिकुमारोप—नामकपण्डितरामस्वरूपशर्मणा विरचितेनान्वयेन भाषानुवादेन च सहितो नवमस्कन्धः समाप्तः ॥

॥ समाप्तोऽयं नवमः स्कन्धः ॥



पुस्तक मिलने का ठिकाना—

शिवलाल गणेशीलाल

लक्ष्मीनारायण प्रेस

मुरादाबाद.



श्रीवृन्दावन-विहारिणे नमः



अथ दशमस्कन्धः प्रारभ्यते.

श्रीः ॥ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ राजोवाच ॥ कथितो वंशविस्तारो भवता

विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम् ॥
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमाम तत् ॥ १ ॥

जगत् के सर्ग विसर्गादि नौ लक्षणों करके लक्षित और जगत् के अधिष्ठान जो श्रीकृष्ण नामक परब्रह्मस्वरूप तिन को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान् की कीर्त्ति का वर्णन करने के निमित्त नव्वै (९०) अध्याय कहे हैं, तिनमे पहिले चार अध्यायों करके ब्रह्माजी की प्रार्थना से पृथ्वी का भार दूर करने के निमित्त प्रसङ्गसहित श्रीहरि का अवतार निरूपण कराहै, तदनन्तर पैंतीस अध्यायों करके गोकुल में वास करते हुए रामकृष्णकी वृन्दावन आदि के विषैं करी हुई लीला वर्णन करी हैं फिर एक अध्याय में यमुना के जल के विषैं अक्रूरजी की करी हुई स्तुति वर्णन करी है, तदनन्तर ग्यारह अध्यायों करके मधुवन अर्थात् मथुरापुरी के विषैं रहते हुए श्रीकृष्णजी की कंसवध आदि और विद्याभ्यास आदि लीलाओं का वर्णन करा है, शेष उनतालीस अध्यायों करके द्वारकापुरी की लीला वर्णन करी हैं, इस प्रकार नव्वै (९०) अध्यायों का सारांश है, तिनमें पहिले अध्याय में तौ 'देवकी के आठवें गर्भ से तेरी मृत्यु होयगी' ऐसी आकाशवाणी सुनकर भयभीत हुए कंस ने तिस देवकी के छः पुत्रों का वध करा, यह कथा वर्णन करी है नवम स्कन्ध के अन्त में संक्षेप से वर्णन करे हुए कृष्णावतार के चरित्रों के श्रवणरूपी अमृत से तृप्त हुए राजा परीक्षित्

सोमसूर्ययोः राज्ञाश्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥ यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ॥ तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥२॥ अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान्भूतभावनः ॥ कृतवान्यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥ निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ॥ क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विनापशुघ्नात् ॥ ४ ॥ पितामहा मे समरेऽमरंजयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिंगिलैः ॥ दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन्वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥५ ॥ द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदंगं संतानबीजं कु-

ने तिनही चरित्रों को विस्तार पूर्वक श्रवण करने की इच्छा से प्रश्न करा राजा ने कहा कि–हे शुकदेवजी ! चन्द्रसूर्य्य के वंश का विस्तार, तुमने मेरे अर्थ वर्णन करा, और दोनों वंशों मे उत्पन्न हुए राजाओं का आश्चर्यकारक चारित्र भी वर्णन करा, ॥ १ ॥ तिस में चन्द्रवंश में उत्पन्न हुआ अत्यन्त धर्म्मशील जो राजा यदु तिस के वंश का विस्तार और चारित्र भी वर्णन करा, अब तिस यदुवंश के विषैं अंश करके अवतार धारण करनेवाले श्रीविष्णुभगवान् के चारित्र मेरे अर्थ वर्णन करिये ? ॥ २ ॥ और यदि कहो, कि–वह तो नवम स्कन्ध में वर्णन करही चुके,सो ठीक है, परन्तु जगदात्मा और प्राणियोंके रक्षक विष्णुभगवान् ने,राजा यदुके वंशमें अवतार धारण करके जो चारित्र करे हैं वह हमारे अर्थ विस्तारपूर्वक वर्णन करो ? ॥ ३ ॥ इस लोक में मुक्त मुमुक्षु और विषयी यह तीन प्रकार के प्राणी हैं, तिन में भगवच्चारित्र का किसी को भी विराग नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं, कि–जिन की विषयभोग की इच्छा निवृत्त होगई है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों करके भी गानकरे हुए,मुमुक्षुपुरुषों को तो संसाररोग की औषधिरूप और विषयी पुरुषों के कर्णों को मधुर प्रतीत होनेवाले, श्रेष्ठकीर्त्ति भगवान् के गुणानुवाद से आत्मघाती को छोड़ दूसरा कौनसा पुरुष विरक्त होगा ? अर्थात् कोई नहीं होगा ॥ ४ ॥ अब अपने कुलदेव श्रीकृष्ण हैं इसकारण तिन की कथा ही नित्य श्रवण करना उचित है; इस आशय से कहते हैं, कि–हे ब्रह्मनिष्ठ ! मेरे पितामह (युधिष्ठिर आदि) जिस श्रीकृष्णरूप नौका का आश्रय करके, युद्ध में, देवताओं को भी जीतनेवाले भीष्म आदि अतिरथीरूप तिमिङ्गिल × नामक महामत्स्यों करके दुस्तर, कौरवों की सेनारूपी समुद्र को, बछड़े के चरण के चिन्ह की समान अतितुच्छ करके तरगए, अर्थात् उन्होंने अनायास में ही कौरवों की सेना को, जिनके अवलम्ब से जीतलिया तिन श्रीकृष्णजी के चरित्र मेरे अर्थ वर्णन करिये ? ॥५॥ श्रीकृष्ण जी ने केवल पाण्डवों की ही रक्षा करी ऐसा

× चार सौ कोस लम्बे मत्स्य (मच्छ) को 'तिमि' कहते हैं उसको भी निगलजानेवाला मत्स्य 'तिमिंगिल' होता है ।

रुपांडवानां ॥ जुगोप कुक्षिंगत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥ ६ ॥
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ॥ प्रयच्छतो मृत्युमुता-
मृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥ रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः
संकर्षणस्त्वया ॥ देवक्या गर्भसंबंधः कुतो देहांतरं विना ॥ ८ ॥ कस्मान्मु-
कुन्दो भगवान्पितुर्गेहाद्व्रजं गतः ॥ क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान्सात्वतां
पतिः ॥ ९ ॥ व्रजे वसन्किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ॥ भ्रातरं चावधीत्कंस-
मातुरद्धाऽतदर्हणम् ॥ १० ॥ देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ॥
यदुपुर्यां सहावात्सीत्पत्न्यः कत्यभवन्प्रभोः ॥ ११ ॥ एतदन्यच्च सर्वं मे मुने
कृष्णविचेष्टितम् ॥ वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥ १२ ॥ नैषा-
तिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ॥ पिबंतं त्वन्मुखांभोजच्युतं हरिकथामृ-

---

नहीं किन्तु अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से भस्म होतेहुए कौरव और पाण्डवों के वंश के मूल-बीज, इस प्रत्यक्ष मेरे शरीर की भी, शरणगईहुई मेरी माता (उत्तरा) के उदर में प्रवेश कर जिन्हो ने हाथ में चक्र लेकर रक्षा करी है ॥ ६ ॥ और जो संपूर्ण प्राणियों के भीतर और बाहर पुरुषरूप और कालरूपसे स्थित होकर अन्तर्दृष्टि और बाह्यदृष्टि पुरुषोंको मोक्ष और संसार देते हैं, तिन माया करके मनुष्य अवतार धारणकरनेवाले श्रीकृष्णभगवान् के पराक्रम मेरे अर्थ वर्णन करो? इसप्रकार कहने का अभिप्राय यह है, कि–जो अन्तर्दृष्टि पुरुषों को अन्तर्यामीरूप से मुक्ति देते हैं और बहिर्दृष्टि पुरुषों को कालरूप से जन्म मरणरूप संसारचक्र में डालते हैं तिनके चारित्र अन्तर्दृष्टि से ही श्रवण करने चाहियें ॥ ७ ॥ तिसप्रकार ही तुमने सङ्कर्षण बलराम जी को, रोहिणी का पुत्र कहा और फिर उन ही को देवकी का पुत्र कहा, सो देहान्तर हुए विना एक ही जन्म में दोनों के पुत्र किसप्रकार हुए सो मेरे अर्थ वर्णन करो? ॥ ८ ॥ तथा यादवों के पति जो श्रीकृष्णभगवान्, वह कंसादि का भय न होने पर भी पिता वसुदेव जी के स्थान को त्यागकर गोकुल में किस कारण से गए? और उन्हों ने नन्दादि गोपों के साथ कहां निवास करा? ॥ ९ ॥ तथा तिन श्रीकृष्णजी ने गोकुल में, मथुरा में और द्वारकापुरी में रहकर क्या क्या चरित्र करे? और उन्हों ने देवकी का भ्राता होने के कारण वध करने के अयोग्य ऐसे अपने कंस मामा का अपने आपही किसकारण वध करा? ॥ १० तथा उन्हों ने, मनुष्यशरीर को स्वीकार करके यादवों के साथ द्वारकापुरी में कितने वर्ष निवास करा? तिन प्रभु श्रीकृष्ण जी की स्त्री कितनी थीं? ॥ ११ ॥ हे सर्वज्ञ मुने! यह मेरे बूझेहुए और जो न बूझेहुए भी होयँ वह संपूर्ण श्रीकृष्णभगवान् के चारित्र श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेवाले मेरे अर्थ कृपा करके विस्तारपूर्वक वर्णन करिये ॥ १२ ॥ यदि कहो, कि–क्षुधा (भूँख) और तृषा (प्यास) करके

तम् ॥ १३ ॥ सूत उवाच ॥ एवं निशम्य भृगुनन्दनसाधुवादं वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातं ॥ प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥ १४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ॥ वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी मतिः ॥ १५ ॥ वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि ॥ वक्तारं पच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ ॥ १६ ॥ भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ॥ आक्रांता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥१७॥ गौर्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना क्रंदंती करुणं विभोः ॥ उपस्थितांऽतिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत ॥ १८ ॥ ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ॥ जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥ तत्र गत्वा ज-

व्याकुल हुए तुम्हें श्रवण करनेके विषय में स्वस्थता किसप्रकार है ? सो—जो यह क्षुधा पहिले मुझ अतिदुःसह प्रतीत होरहीथी वह क्षुधा इससमय जल का भी त्याग करनेवाले मुझको, "मैं तुम्हारे मुखकमल से प्रगटहोते हुए हरिकथारूप अमृतको पीरहा हूँ, इस कारण" पीड़ा नहीं देती है, परन्तु तिस हरिकथारूप अमृतका सेवन न होनेपर मेरे प्राण नहीं बचेंगे ॥ १३ ॥ सूतजी कहते हैं, कि—हे शौनक ! राजा परीक्षित् के इसप्रकार के उत्तम प्रश्नको सुनकर, भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ, तिन भगवान् शुकदेव जी ने, राजा की प्रशंसा करके, कलियुग के पातकों का नाश करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्रोंको वर्णन करना प्रारम्भ करा ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेवजी वोले, कि—हे राजर्षिश्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धि ने बड़ा सुन्दर निश्चय कराहै, क्योंकि-जिस बुद्धि के द्वारा तुम्हें वासुदेव भगवान् की कथा में निष्ठायुक्त प्रीति उत्पन्न हुई है ॥ १५ ॥ वासुदेवभगवान् की कथा के विषय में करा हुआ प्रश्नभी, जिसप्रकार वासुदेवभगवान् का चरणोदक (गङ्गा) दर्शन स्पर्श आदि करनेवाले को पवित्र करता है, तिसीप्रकार वर्णन करनेवाले प्रश्न करनेवाले और श्रवण करनेवाले ऐसे तीन प्रकार के पुरुषों को पवित्र करताहै॥ १६ ॥अव प्रथम भगवान् के अवतारका कारण वर्णन करतेहैं, कि-हेराजन् ! मदोन्मत्त होकर राजाओंकेसे वर्त्ताव करनेवाले जो दैत्य तिनकी लक्षों सेनाओं के अत्यन्तभार करके पीड़ितहुई भूमि, खिन्न होनेके कारण गौ का स्वरूप धारण करके करुणायुक्त विलाप करतीहुई और जिसके मुखपर दुःख से आंसू वह रहे हैं ऐसी होकर ब्रह्मा जी की शरणगई और उनके समीप में खड़ी होकर स्तुति करतीहुई तिन से अपना दुःख वर्णन करनेलगी ॥ १७ ॥ १८ ॥ ब्रह्मा जी, तिस भूमि के दुःख को श्रवण करके, तिसके साथ, देवताओं और महादेव जी को साथ में लेकर क्षीरसमुद्र के तीर पर गए ॥ १९ ॥ तहाँ जाकर उन्हों ने, एकाग्रचित होकर जगत् के नाथ, दे-

गन्नाथं देवदेवं वृषाकपिं ॥ पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥ २० ॥
गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ॥ गां पौरुषीं
मे शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥ २१ ॥ पुरैव पुंसाऽ-
वधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ॥ स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्व-
कालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥ २२ ॥ वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ॥
जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः ॥ २३ ॥ वासुदेवकलानन्तः सहस्रव-
दनः स्वराट् ॥ अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥ २४ ॥ विष्णो-
र्माया भगवती यया संमोहितं जगत् ॥ आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे संभवि-
ष्यति ॥ २५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यादिश्यामरगणान्प्रजापतिपतिर्विभुः ॥
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥ २६ ॥ शूरसेनो

वताओं के देव, भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले और तिसके दुःख को दूर करनेवाले भगवान् की पुरुषसूक्त से स्तुति करी ॥ २० ॥ तब तिन ब्रह्माजी ने समाधि के समय आकाश में उच्चारण करी हुई देववाणी को सुनकर समाधि को त्यागा और देवताओं से कहने लगे, कि– हे देवताओं ! समाधि के विषैं मेरी श्रवण करी हुई भगवान् की आज्ञारूप वाणी को, तुम मुझ से शीघ्रही सुनो और बड़ी शीघ्रता से उस के अनुसार वर्त्ताव करो देरी न करो॥२१॥ईश्वर ने हमारे प्रार्थना करने से पहिलेही भूमि के सन्ताप को जानलिया है, इस कारण तुम भी अपने अपने अंशों करके यादवों के विषैं, तिनके अवतार धारण करने से पहिले ही अवतार धारण करलो, और वह देवाधिदेव भगवान् अपनी कालशक्ति के प्रभाव से पृथ्वी का भार दूर करतेहुए जिस समय पर्य्यन्त पृथ्वी पर विचरैं तबतक उन की सहायता करने को तुम भी पृथ्वी पर रहो ॥ २२ ॥ वसुदेवजी के यहां साक्षात् भगवान् परमपुरुष, अवतार धारण करैंगे उन का प्रिय करने के निमित्त तुम्हारी स्त्रियें भी अवतार धारण करैं ॥ २३ ॥ सहस्रमुखवाले और अपने तेज से प्रकाशवान् जो वासुदेवभगवान् के अंश दिव्यरूप शेषजी, वहभी श्रीहरि का प्रिय करने की इच्छा से तिन से पहिले 'तिन के बडे भ्रातारूप से' अवतार धारण करैंगे ॥ २४ ॥ अधिक क्या कहूँ जिसने सम्पूर्ण ही जगत् को मोहित कर रक्खा है वह ऐश्वर्य्यादि गुणयुक्त विष्णुभगवान् की माया भी, भगवान् के आज्ञा करनेपर, देवकी के गर्भ का आकर्षण करना और यशोदा को मोहित करना, इत्यादि कार्य्य करने के निमित्त यशोदा के गर्भ में अवतार धारण करेगी ॥ २५ ॥ इस प्रकार मरीचि आदि प्रजापतियों के अधिपति प्रभु ब्रह्माजी, देवताओं को आज्ञा करके और पृथ्वीको, 'तेरा अहोभाग्य है, तू भगवान् के चरणकमलों से शीघ्रही भूषित होयगी' इस प्रकार के वचनों से धैर्यधरा कर, सर्वश्रेष्ठ अपने स्थान सत्यलोक को चलेगए ॥ २६ ॥ अब

यदुपतिर्मथुरामावसन्पुरीं ॥ माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान्बुभुजे पुरा ॥
॥ २७ ॥ राजधानी ततः साभूत्सर्वयादवभूभुजां ॥ मथुरा भगवान्यत्र नित्यं
सन्निहितो हरिः ॥२८॥ तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ॥ देवक्या
सूर्यया सार्द्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥ २९ ॥ उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचि-
कीर्षया ॥ रश्मीन्हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥ ३० ॥ चतुःशतं पारिबर्हं
गजानां हेममालिनां ॥ अश्वानमयुतं सार्द्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ॥ ३१ ॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलंकृते ॥ दुहित्रे देवकः प्रादाद्याने दु-
हितृवत्सलः ॥ ३२ ॥ शंखतूर्यमृदंगाश्च नेदुर्दुंदुभयः समम् ॥ प्रयाणप्रक्रमे
तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥ ३३ ॥ पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ॥
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हंता यां वहसेऽबुध ॥ ३४ ॥ इत्युक्तः स खलः पापो

कंस के बन्दीगृह (जेलखाना) में अवतार हुआ यह वर्णन करने के निमित्त भूमि-का बांधते हैं, कि—पहिले यादवों का अधिपति शूरसेन नामक राजा था, उस ने मथुरा नामक नगरी में निवास करके माथुर और शूरसेन नामक देशों का राज्य करा ॥२७॥ उस समय से यादवों में सब राजाओं की राजधानी (रहने का मुख्य स्थान) वह मथुरापुरी हुई, जिस मथुरा के विषैं भगवान् श्रीहरि नित्य निवास करते हैं ॥ २८ ॥ तिस मथुरापुरी के विषैं, एक समय शूरपुत्र वसुदेवजी विवाह करके नवीन पाणिग्रहण करी हुई देवकी स्त्री सहित अपने स्थान को जाने के निमित्त रथपर सवारहुए ॥२९॥ उस समय उग्रसेन का पुत्र जो कंस तिसने, अपनी बहिन का सन्मानपूर्वक प्रिय कर-ने की इच्छा से, सुवर्ण से मँढ़ेहुए सैंकड़ों रथों को अपने साथ में लेकर और स्वयं वसुदेवजी के रथ पै बैठकर घोडे की बागडोर लेलीं अर्थात् वसुदेव देवकी को रथ के भीतर बैठाकर अपने आप सारथि बना ॥३०॥ तब चलते समय कन्यापर प्रेम करने वाले देवक (देवकी के पिता) ने अपनी कन्या देवकी को, ' सुवर्ण की मालाओं से भूषित चार सौ हाथी, पन्द्रह सहस्र घोड़े, अठारह सौ रथ और नवीन यौवन को प्राप्त हुई आभूषण धारण करेहुए दो सौ दासी' इतना दहेज दिया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तब चलने के समय वरवधू को मङ्गलकारक शंख—नरसिङ्घे—मृदङ्ग और नगाड़े आदि बाजे एकसाथ बजने लगे ॥३३॥ मार्ग में घोड़ों की बागडोर पकड़नेवाले कंस से अरे अरे ! कंस ! ऐसा सम्बोधन करके अदृश्यरूप वाणी (आकाशवाणी) कहने लगी, कि-अरे मूर्ख कंस ! तू जिस अपनी बहिन को सन्मानपूर्वक पति के यहां पहुँचाता है तिस देवकी का आठवां गर्भ तेरा वध करेगा ॥ ३४ ॥ इस प्रकार आकाशवाणी के कहनेपर, भोज के

भोजानां कुलपांसनः ॥ भगिनीं हंतुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥ ३५ ॥
तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ॥ वसुदेवो महाभाग उवाच परिसांत्व
यन् ॥ ३६ ॥ वसुदेव उवाच ॥ श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान्भोजयशस्करः ॥ स कथं
भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥ ३७ ॥ मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह
जायते ॥ अद्य वाब्दशतांते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८ ॥ देहे पंच-
त्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ॥ देहांतरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९ ॥
व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ॥ यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः
॥ ४० ॥ स्वप्ने यथा पश्यति देहमेदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ॥ दृष्टश्रुताभ्यां

कुल में कलङ्करूप वह पापी दुष्ट कंस, बहिन के मारने को उद्यत हुआ और उस ने एक हाथ में खड्ग लेकर दूसरे हाथ से तिस देवकी की चोटी पकड़ली ॥ ३५ ॥ तब निर्लज्ज घातकी (कठोर) और निन्दित कर्म्म करनेवाले तिस कंस को, स्तुति, युक्ति समझाना और भेद के द्वारा समझातेहुए महाभाग्यवान (परमधर्मिष्ट) वसुदेवजी कहनेलगे, ॥ ३६ ॥ वसुदेवजी बोले, कि—हे कंस ! जरासन्ध आदि शूरों ने जिस तेरे, शूरता आदि गुणों का वर्णन करा है वह, भोजकुल में उत्पन्न हुए पुरुषों के यश को बढानेवाला तू, विवाहोत्सव में, स्त्री जाति को, तिसपर भी बहिन को कैसे वध करता है ? ॥ ३७ ॥ यदि ऐसा कहै, कि—मरण के भय से मारताहूं, सो—हे वीर ! जन्म धारण करनेवाले प्राणियों के शरीर के साथही मृत्यु उत्पन्न हुई है, यह ब्रह्माजीने ललाट में लिखही दियाहै तथापि अधिक काल जीवित रहने के निमित्त मारता हूँ, यदि ऐसा कहो, सो—आज अथवा सौ वर्ष के अनन्तर प्राणियों का मरण अवश्य ही होगा फिर अधिक काल जीवित रहने के निमित्त पापकर्म्म करना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥ और इस देह के जानेपर यदि दूसरा देह प्राप्त होय ही नहीं तो पापकर्म्म करकै भी तिस की रक्षा करना उचित होय, परन्तु तैसा है नहीं, इस देह के मरण को प्राप्त होने का समय आते ही तिस देह के विषैं विद्यमान कर्म्मानुसारी परतन्त्र जीव, कर्म्मके वशीभूत होकर यत्न के विनाही प्राप्त हुए दूसरे शरीर के मिलनेपर, पहिले शरीर को त्यागता है ॥ ३९ ॥ जैसे चलनेवाला पुरुष, आगे रक्खे हुए एक चरण से भूमि को पकड़कर और तिसचरणपर शरीर का भार डालकर खड़ा रहताहै, तदनन्तर पिछला चरण आगे को धरकै चलता है अथवा जिस प्रकार तृणोंपर का कीड़ा अपने देह के आगे के भाग से प्रथम दूसरे तृण को पकड़ लेता है तदनन्तर पिछले भाग से पकड़ेहुए तृण को छोड़ देता है तिसी प्रकार कर्म्ममार्ग के विषैं प्राप्त हुआ जीवभी पहिले दूसरे शरीर को प्राप्त होकर तदनन्तर पहिले शरीर को त्यागता है ॥ ४० ॥ स्वीकार करना अथवा परित्याग

मनसानुचिंतयन्प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥ ४१ ॥ यतो यतो धावति दै-
वचोदितं मनो विकारात्मकमाप पंचसु ॥ गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रप-
द्यमानः सह तेन जायते ॥ ४२ ॥ ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवे-
गानुगतं विभाव्यते ॥ एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्गुणेषु रागानुगतो वि-

करना, यह धर्म्म देह का ही है, यह वार्त्ता दर्शाने के निमित्त दूसरा दृष्टान्त कहते हैं, कि–जाग्रत् अवस्था में देखे हुए (राजादि शरीर) और श्रवण करे हुए (इन्द्रादि शरीर) पदार्थों को प्राप्त करने के निमित्त तिन पदार्थों का मन से चिन्तवन करनेवाला पुरुष, जिस प्रकार स्वप्न में तिन राजादि शरीरों की समानही किन्ही शरीरों को देखता है और तत्कालही ' वह मैं हूँ ' ऐसा मानता है और तदनन्तर तिस को जाग्रत् अवस्था के शरीर का विस्मरण होजाता है, अथवा दूसरा दृष्टान्त है, कि–जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में ही देखे और श्रवण करेहुए विषयों का मन से चिन्तवन करनेवाला पुरुष, मनोरथ के द्वारा, बुद्धि के तदाकार होजाने से, तिन देखे और श्रवण करेहुए ही किसी देह को प्राप्त होता है और वह ही मैं हूँ ऐसा मानता है तदनन्तर मूल (असली) देह की स्मृति रहित होजाता है तिसी प्रकार जीव इसजन्म में ही कर्म्म के वशीभूत होने के कारण दूसरे देह को प्राप्त होकरही पहिले देहका त्याग करताहै ॥४१॥ यदि कहो, कि–अनेक प्रकार के देह उत्पन्न होने के कारणरूप कर्म्मों के करनेपर, अमुकही शरीर मिलेगा, यह कैसे प्रतीत होसक्ता है ? तहाँ कहते हैं, कि–देहके मरणकालमें फलदेने वाले कर्मों का प्रेरणा कराहुआ, इस जीव का सङ्कल्पविकल्पात्मक मन, माया करके देवमनुष्यादि नानाप्रकार के देहरूप से रचेहुए गुणों के कार्य्यरूप पञ्चमहाभूतात्मक देहों में से जिस २ देहकी ओर को दौड़ता है अर्थात् जिस २ देह का चिन्तवन करता है और जिस २ देहको अभिमान करके प्राप्त करता है, तिस २ देह के विषैं, यह जीवात्मा, ' वह मैं हीं हूँ ' ऐसा मानकर उस के साथ उत्पन्न होताहै ॥ ४२ ॥ और यदि कहो, कि–कोई न कोई शरीर प्राप्त होयगा यह ठीक है, परन्तु इस अतिप्रियराजशरीर की रक्षा करने के निमित्त, निन्दित कर्म को भी करता हूँ ? सो हे कंस ! जिसप्रकार सूर्य चन्द्रमादि ज्योति, जल से भरे हुए घटादिकों के विषैं प्रतिबिम्बितहोनेपर, वायुसे कम्पायमान होते हुए से प्रतीत होते हैं, तिसी प्रकार अपनी अविद्या से रचेहुए देहादि के विषैं, यह जीवात्मा प्रेम से प्रवेश करने पर तिस के अभिमान को धारण करता है, इसप्रकार कहने का अभिप्राय यह है, कि–देहके अध्यास से-देह के कृशत्व (दुबलापन) आदि धर्म जिस प्रकार आत्माके विषैं प्रतीत होने लगते हैं तिसी प्रकार प्रेमास्पदत्व आदि आत्मा के धर्म भी देह के विषैं प्रतीतहोते हैं, इसकारण राजा

पुष्यति ॥ ४३ तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहमाचरेत्स तथाविधः ॥ आत्मनः क्षेममन्वि-
च्छन्द्रोग्धुर्वै परतो भयं ॥ ४४ ॥ एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्तिकोपमा॥
हंतुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः॥४५॥श्रीशुक उवाच ॥ एवं ससाम-
भिर्भेदैर्वोध्यमानोपि दारुणः॥ न न्यवर्त्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः॥४६॥नि-
र्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिंत्यानकदुंदुभिः ॥ प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं त-
त्रान्वपद्यत ॥ ४७ ॥ मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिवलोदयम् ॥ यद्यसौ न
निवर्त्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥ ४८ ॥ प्रदाय मृत्यवे पुत्रान्मोचये कृप-
णामिमां ॥ सुता मे यदि जायेरन्मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥ ४९ ॥ वि-

के अथवा श्वान शूकरादि के शरीर में किसी प्रकार की विशेषता न होने के कारण मृत्यु का उपाय करना व्यर्थ है ॥४३॥ अब भेद नामक उपाय का वर्णन करते हैं, कि– दूसरे से द्रोह करनेवाले पुरुष को इसलोक में जिससे द्रोहकरै उससे और उस के संबन्धियों से तथा परलोक में यमराज से भय प्राप्त होता है, इसकारण अपने कल्याण की इच्छा करनेवाला पुरुष, किसी से द्रोह न करे ॥ ४४ ॥ फिर साम उपायही कहते हैं, कि–हे कंस ! यह देवकी तो काठकी पुतलीकी समान, अपनी रक्षाकरनेमें असमर्थ, दीन और लाड़ करने योग्य, तेरी छोटी बहिन है, और तू दीनोंके ऊपर अनुग्रह करनेवाला है, इसकारण इस निरपराधिनी का वध करना तुझे उचित नहीं है॥४५॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं, कि–हे राजन् परीक्षित् ! इसप्रकार साममार्गों करकै और भेदों करकै देवकी के वधसे निवृत्त होनेके निमित्त समझाया हुआ भी वह कंस, अपने क्रूरस्वभाव से और तिसपरभी हिंसा करनेवाले राक्षसों का अनुगामी होने के कारण निवृत्त नहीं हुआ ॥ ४६ ॥ तव तो कंस का आग्रह जानकर, देवकी के प्राप्त हुए मृत्यु को हटाने के निमित्त, विचार करके वसुदेवजीने यह उपाय मन में सोचा, कि– ॥ ४७ ॥ जहां तक अपनी बुद्धि और बल का प्रभाव चले तहां तक बुद्धिमान् पुरुष अपनी तथा दूसरे को प्राप्त हुई मृत्यु को हटावै और प्रयत्न करनेपर भी यदि मृत्यु दूर नहीं होय तो फिर प्राणी का अपराध नहीं है, अन्यथा है ॥ ४८ ॥ इस कारण इस मृत्युरूप कंस को, आगे को उत्पन्न होनेवाले पुत्रों के देने का वचन देकर आज इस दीन देवकी को छुड़ाता हूँ, यदि कहो कि–ऐसा वचन देना भी उचित नहीं है, तहां कहते हैं, कि–इस देवकी के विषैं यदि आगे को मेरे पुत्र होयँगे तो उस समय जो होयगा सो होय, परन्तु आज तो यह वचजाय, कदाचित् तवतक यह ही मृत्यु को प्राप्त हो गया तो फिर कुछभीअनुचित नहींहै,और यदि मेरे पुत्र उत्पन्न होयँगे तथा तवतक इस कंसका मरण नहीं होयगा तो मेरे पुत्र से ही इसका मरण होजाय,ऐसा विपरीतपना क्या

पर्ययो वा किं न स्या-द्गतिर्धातु-दुरत्यया ॥ उपस्थितो निवर्त्तेत निवृत्तः
पुनरापतेत् ॥ ५० ॥ अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ॥
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१ ॥ एवं वि-
मृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् ॥ पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम्
॥ ५२ ॥ प्रसार्य वदनांभोजं नृशंसं निरपत्रपम् ॥ मनसा दूयमानेन विहंस-
न्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥ वसुदेव उवाच ॥ न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद्वै सा-
हाशरीरवाक् ॥ पुत्रान्समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥ ५४ ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् ॥ वसुदेवोपि तं प्रीतः

नहीं होसक्ता है ? यदि कहो, कि–ऐसे महाबली कंस की तेरे बालक से किस प्रकार मृत्यु होयगी ? तहां कहते हैं, कि–'इस का आठवां गर्भ तेरा वध करेगा' ऐसा कहनेवाले ईश्वर की शक्ति अचिन्त्य है इस कारण इस समय पुत्र देने का वचन देनाही श्रेष्ठ है, और ऐसा होनेपर आज प्राप्त हुआ देवकी का मरण हट जायगा तथा आज हट कर फिर किसी समय आजायगा तो मेरा दोष नहीं है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ अब प्राणियों के प्रारब्ध की दुर्वितर्कता का दृष्टान्त के द्वारा वर्णन करते हैं, कि–जिस प्रकार बन में वृक्षों को और नगर में स्थानों को जलानेवाला अग्नि, समीप के भी वृक्षों अथवा स्थानों को बीच में छोड़कर दूर के वृक्षों को तथा स्थानों को जलाने लगता है, उस अग्नि को काष्ठों का संयोग अथवा वियोग होने के विषय में, प्राणियों के पुण्य पापरूप अदृष्ट (प्रारब्ध) के सिवाय दूसरा कुछ भी निमित्त नहीं है; तिसही प्रकार जीव के भी शरीर के जन्म और मरण का हेतु तर्कना करने में नहीं आता है ॥ ५१ ॥ इस प्रकार वसुदेवजी ने अपनी बुद्धि की शक्ति के अनुसार विचार करके, पाप करने को उद्यत हुए तिस कंस का अति आदर पूर्वक 'स्तोत्र नमस्कार आदि के द्वारा सत्कार करा ॥ ५२ ॥ और भय के कारण कम्पायमान होरहा है मन जिन का ऐसे भी वह वसुदेवजी, तिस को विश्वास कराने के निमित्ति प्रसन्नमुखकमल होकर हँसते हँसते तिस क्रूर और निर्लज्ज कंस से कहने लगे ॥ ५३ ॥ वसुदेवजी बोले, कि हे सौम्य ! तिस आकाश वाणी ने, जैसा तुम से कहा है, वैसा ही मैंने भी निश्चय करा है, कि–इस देवकी से तुम्हें भय नही होयगा, क्योंकि–जिस पुत्र से तुम्हें भय उत्पन्न हुआ है, अर्थात् 'आठवां पुत्र वध करेगा' ऐसा आकाश वाणी ने कहा है, सो परस्पर की अपेक्षा से कदाचित् सब ही पुत्र अष्टम हों, इस कारण इस देवकी के सब ही पुत्र मैं तुम्हें समर्पण करदूँगा, फिर तुम उनको मारो या न मारो, इस का मुझे कुछ आग्रह नहीं है ॥ ५४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं, कि–हे राजन् ! तिन वसुदेवजी के वाक्य में की युक्ति और सत्यता को जाननेवाले उस कंस ने, उसी

प्रशंस्य प्राविशद्गृहम् ॥ ५५ ॥ अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता ॥ पुत्रा-
न्प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥ ५६ ॥ कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसा-
यानकदुन्दुभिः ॥ अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥ ५७ ॥ किं
दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ॥ किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं
धृतात्मनां ॥ ५८ ॥ दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिं ॥ कंसस्तु-
ष्टमना राजन्प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥ प्रतियातु कुमारोयं न ह्यस्मादस्ति
मे भयम् ॥ अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥ ६० ॥ तथेति
सुतमादाय ययावानकदुंदुभिः ॥ नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः

समय बहिन के वध करने का निश्चय त्याग दिया, तदनन्तर मनोरथ सिद्ध होने से प्रसन्नहुए वसुदेवजीने भी तिस कंस की 'तू बड़ा ज्ञानी और तत्त्वको जाननेवालाहै' इसप्रकार प्रशंसा करके देवकी सहित अपने स्थान में प्रवेश करा ॥ ५५ ॥ तदनन्तर सन्तानके उत्पन्न होने का समय आनेपर, केवल भगवान् का ही आराधन करनेवाली उस देवकी ने 'प्रत्येक वर्ष में एक २ इसप्रकार आठ पुत्र और एक कन्या को उत्पन्न करा॥५६॥ असत्य से अत्यन्त भयमाननेवाले, सत्यप्रतिज्ञ तिन वसुदेवजीने तिन आठों पुत्रों में से प्रथम उत्पन्न हुआ कीर्त्तिमान् नामक पुत्र, बडे दुःख से कंसको समर्पणकरा ॥ ५७ ॥ यदि कहो कि–मृत्यु के निमित्त पुत्र कैसे देदिया ? तहाँ कहते हैं, कि–सत्यप्रतिज्ञ साधु पुरुष कौन से दुःख को नहीं सहसक्ते ? अर्थात् सब दुःखों को सहलेते हैं, यदि कहो कि–पुत्र के लालनकी इच्छा क्यों त्यागदी ? तहाँ कहते हैं, कि–संसार में भगवान् ही सारहैं और सब असार है ऐसा जाननेवाले विवेकी पुरुषों को किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रहती है, यदि ऐसा कहो कि–अपने आपही लाएहुए बालक का कंस वध नहीं करैगा ऐसा समझकर लेगए होंगे, ? सो नहीं, क्योंकि–आत्मा-धर्मकार्य-पुत्र–स्त्री और सेवक आदिकों को पीड़ा देनेवाले कठोर पुरुषों को करने के अयोग्य कौनसा कार्य है ? अर्थात् कोई भी नहीं है, यदि कहोकि-देवकीने माता होकर अपना पुत्र किस प्रकार देदिया ? तहाँ कहतेहैं, कि–जो अपने चित्त में श्रीहरि को धारण करेहुए हैं उनको कौन वस्तु त्यागना कठिन है ? अर्थात् कुछ त्यागना कठिन नहीं है ॥ ५८ ॥ सो हे राजन् ! पुत्र को ले आने से वसुदेव जी की सुख दुःखमें समता और सत्यवचन में निष्ठा देखकर चित्तमें प्रसन्न हुआ कंस यह वचन बोला कि-॥ ५९ ॥ हे वसुदेव ! इस कुमार को लौटाकर लेजाओ, क्योंकि–इस से मुझे भय नहीं है,किन्तु तुम्हारे आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु है, ऐसा आकाशवाणी ने कहा है ॥ ६० ॥ तब वसुदेवजी, 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर पुत्र को ले अपने घर को चले आए, परन्तु तिस अव्यवस्थितचित्त

॥ ६१ ॥ नंदाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ॥ वृष्णयो वसुदे-
वाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥ ६२ ॥ सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि
भारत ॥ ज्ञातयो बंधुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥ ६३ ॥ एतत्कंसाय भ-
गवान् शशंसाभ्येत्य नारदः ॥ भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥
॥ ६४ ॥ ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून्मत्वा सुरानिति ॥ देवक्या गर्भसंभूतं
विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥ ६५ ॥ देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे
जातं जातमहन्पुत्रं तयोरजनशंकया ॥ ६६ ॥ मातरं पितरं भ्रातॄन्सर्वांश्च
सुहृदस्तथा ॥ घ्नंति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥ ६७ ॥ आ-
त्मानमिह संजातं जानन्प्राग्विष्णुना हतम् ॥ महासुरं कालनेमिं यदुभिः स
व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥ उग्रसेनं च पितरं यदुभोजांधकाधिपम् ॥ स्वयं निगृह्य
बुभुजे शूरसेनान्महाबलः ॥ ६९ ॥इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू०

दुष्ट कंस के वचन को सत्य नहीं माना ॥ ६१ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार कंस का शांति करना देवताओं के कार्य में अनुकूल नहीं होयगा ऐसा जानकर भगवान् नारदजी कंसके पास आए, और उस से एकान्त में कहनेलगे, कि-हे कंस ! गोकुल में जो नन्द आदिगोप हैं और यशोदा आदि जो उनकी स्त्रियें हैं, तथा वसुदेव आदि जो यादव हैं और उनकी भी देवकी आदिजो स्त्रियें हैं, तथा नन्द और वसुदेवजीके जो गोत्र के पुरुष बान्धव और मित्र हैं तथा तुम्हारे आश्रित रहनेवाले जो अक्रूर आदि हैं यह सवही प्रायः देवतारूप हैं और उन्होंने पृथ्वी के भाररूप हुए दैत्यों का वधकरने के निमित्त, भगवान् की प्रार्थना करने का उद्योग करा है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ इसप्रकार कंस को जताकर नारदजी तो चलेगए और कंस ने यादवों को देवता जानकर तथा अपना वध करने के निमित्त देवकी के गर्भ के विषैं उत्पन्न हुए विष्णुभगवान् ही हैं ऐसा जानकर देवकी और वसुदेव इन दोनों के पैरों में बेड़ी डालकर कारागार (जेलखाने) में डालदिया और विष्णुभगवान् की शङ्का से देवकी के जो २ पुत्र उत्पन्न हुआ उन सवका वध करतागया ॥ ६५ ॥ हेराजन् ! इस पृथ्वीपर अपने प्राणों को ही तृप्त करनेवाले और विषयभोग की कामना करनेवाले जो राजे होते हैं वह बहुधा माता, पिता भ्राता और सम्पूर्ण मित्रों का भी प्राणान्त करदेते हैं औरों कातो कहनाही क्या?॥ ६७॥ मैं पहिले जन्म में कालनेमि नामक दैत्य था और विष्णुभगवान् ने मेरा वध कराथा, वह ही मैं इसरूप से उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा जाननेवाला वह कंस 'यादव देवता हैं' ऐसा सुनकर उनके साथ विरोध करनेलगा ॥ ६८ ॥ और तदनन्तर यादव, भोज, अन्धक इनके अधिपति अपनेपिता राजा उग्रसेन को भी कारागार (जेलखाने) में डालकर वह महाबली कंस अपने आपही शूरसेन देशों का राज्य करनेलगा ॥ ६९ ॥ इति-

श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ प्रलंबबककचाणूरतृणावर्तमहाशनैः ॥ मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥ अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ॥ यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥ ते पीडिता निविविशुः कुरुपांचालकेकयान् ॥ शाल्वान्विदर्भान्निषधान्विदेहान्कोसलानपि ॥ ३ ॥ एके तमनुरुंधाना ज्ञातयः पर्युपासत ॥ हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥ सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ॥ गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः ॥ ५ ॥ भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ॥ यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥ गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम् ॥ रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध में प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ * ॥ अब इस द्वितीय अध्याय में कंस का वध करने के निमित्त देवकी के गर्भ में विराजमान श्रीहरि की ब्रह्मादिक देवताओं ने स्तुतिकरी और तिसदेवकी को धैर्यदिया यह कथा वर्णन होयगी कंस यादवों के साथ विरोध करनेलगा ऐसा वर्णन करा, तिस विरोध का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के निमित्त श्रीशुकदेव जी बोले, कि-हे राजन् प्रलम्बदैत्य, वक (पक्षिरूपधारीदैत्य) चाणूर (मल्ल), तृणावर्त (आँधीरूपी दैत्य), अघासुर (अजगररूपी दैत्य), मुष्टिक (मल्ल) , अरिष्ट (वृषभरूपी दैत्य), द्विविद (वानर) पूतना (राक्षसी), केशी (अश्वरूपीदैत्य), और धेनुक (गर्दभरूपी दैत्य); इन करके तथा बाणासुर नरकासुर इत्यदि और दैत्यरूपराजाओं करके युक्त तथा जरासंधका है आश्रय जिस को ऐसा वह महाबली कंस यादवों को दुःखदेनेलगा ॥ १ ॥ २ ॥ तिस कंस से पीड़ा को प्राप्त हुए वह यादव कोई कुरुदेशों में, कोई पाञ्चालदेशों में कोई कैकयदेशों में, कोई शाल्वदेशों में, कोई विदर्भदेशों में, कोई निषधदेशों में और कोई-कोसलदेशों में जाकर रहनेलगे ॥ ३ ॥ कितनेही अक्रूर आदि तिस कंसकी ही आज्ञा में रहकर उसकी सेवा करने लगे, जब कंस ने देवकी के छः पुत्रों का प्राणांत करदिया तिसके अनन्तर जिनको अनन्त कहते हैं वह विष्णुभगवान् का तेजरूपी अंश देवकीके सातवाँ गर्भ हुए वहगर्भ आनंदरूप भगवान्का अवतारहोने के कारण हर्षका और पहले गर्भों की समान दृष्टि को शोक का कारण भी हुआ।४।५। तदनन्तर विश्वरूप भगवान् ने,अपने आप ही हैं नाथ जिन के ऐसे यादवों को कंस से भय प्राप्त होरहा है ऐसा जानकर,अपनी शक्तिरूप योगमाया को आज्ञा करी कि—॥६॥हेदेवि ! हे भद्रे ! तू गोप और गौओं करके शोभायमान गोकुल में जा तिस नन्दजी के गोकुल में वसुदेवजी की रोहिणी नामक स्त्री है, यदि कहै कि—वह गोकुल में क्यों है ? तहां कहते हैं, कि—वह

नन्दगोकुले ॥ अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७ ॥ देवक्या
जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ॥ तत्संनिकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय
॥ ८ ॥ अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ॥ प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां
नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥ अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीं ॥
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदां ॥ १० ॥ नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि
च नरा भुवि ॥ दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥ ११ ॥ कु-
मुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ॥ माया नारायणीशानी शारदे-
त्यंबि--केति च ॥ १२ ॥ गर्भसंकर्षणात्तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि ॥ रा-
मेति लोकरमणाद्बलं बलवदुच्छ्रयात् ॥ १३ ॥ संदिष्टैवं भगवता तथेत्यो-
मिति तद्वचः ॥ प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाऽकरोत् ॥ १४ ॥ गर्भे
प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ॥ अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा वि-

---

ही केवल गोकुल में है यह नहीं किन्तु और भी वसुदेवजी की स्त्रियें कंस के भय से देशान्तरों में गुप्तरूप से निवास करती हैं ॥ ७ ॥ तहाँ जाकर यह कार्य्य कर कि—देवकी के उदर में शेष नामक मेरा अंश गर्भरूप से विराजमान है, उस को तहाँ से युक्ति से निकाल कर रोहिणी के उदर में ठीक २ स्थापनकर ॥ ८ ॥ हे शुभे ! तदनन्तर शीघ्र ही मैं परिपूर्ण स्वरूप से देवकी के पुत्ररूप को प्राप्त होऊँगा और तू नन्दपत्नी यशोदा के विषैं उत्पन्न होयगी ॥ ९ ॥ इसप्रकार मेरी आज्ञा को पालन करनेपर पुत्रादि कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ और भक्तों को इच्छित वर देनेवाली जो तू तिस तेरा, धूप दीप नैवेद्य और बलि आदि सामग्री से मनुष्य पूजन करेंगे ॥ १० ॥ और भूलोक में मनुष्य तेरे मन्दिर बनवावेंगे और तेरे दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका ऐसे नाम रक्खेंगे ॥ ११ ॥ १२ ॥ तू गर्भ को खैंचेगी इस कारण तिस रोहिणी के पुत्र का भूलोकवासी पुरुष 'सङ्कर्षण' नाम कहेंगे, वह पुरुषोंको प्रसन्न करेंगे इसकारण पुरुष उन को 'राम' इस नाम से पुकारेंगे और बलवानों में श्रेष्ठ होने के कारण तिन को 'बल' इस नाम से पुरुष पुकारेंगे ॥ १३ ॥ इसप्रकार श्रीभगवान् के आज्ञा करनेपर उस योगमाया ने 'तथास्तु' इसप्रकार और 'ॐ' इसप्रकार कहकर आदरपूर्वक तिन श्रीभगवान् के वचन को स्वीकार करा, और तिस कार्य्य को करने की सामर्थ्य प्राप्त होने के निमित्त भगवान् की प्रदक्षिणा करके भूलोकको चली गई और जिस प्रकार भगवान् ने आज्ञा करी थी सो सब कार्य्य तिसी प्रकार करदिया ॥ १४ ॥ उस समय तिस योगनिद्रा ने जब देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में पहुँचा दिया तब 'अहो देवकी का गर्भपात होगया' इसप्रकार खिन्न होतेहुए मथुरावासी पुरुष

शुशुचुः ॥ १५ ॥ भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः ॥ आविवेशांश-
भागेन मन आनकदुंदुभेः ॥ १६ ॥ स बिभ्रत्पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा
रविः ॥ दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां संबभूव ह ॥ १७ ॥ ततो जगन्मङ्गलम-
च्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी ॥ दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽ-
नंदकरं मनस्तः ॥ १८ ॥ सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न
रेजे ॥ भोजेंद्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥ १९ ॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभया जितांतरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मितां ॥ आहैष
मे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥ २० ॥

पश्चात्ताप करनेलगे परन्तु इस का तत्व उन्हों ने कुछ नहीं समझा ॥ १५॥ इधर भक्तों को अभय करनेवाले विश्वरूप भगवान् श्रीहरि ने,पूर्ण आनन्द से वसुदेवजी के मन में प्रवेश करा ॥१६॥ भगवत्सम्बन्धी तेज को धारण करे हुए वह वसुदेवजी सूर्य्य की समान प्रकाश को प्राप्त होने लगे, उस समय किसी प्राणी को उन के समीप जाने की तथा उन का तिरस्कार करने की शक्ति अपने में नहीं प्रतीत होती थी ॥ १७ ॥ तदनन्तर वसुदेवजी ने शुद्धमन से वैधदीक्षा + करके अर्पण करेहुए, अपने (देवकी के) विषैं पूर्व से ही विराजमान,संसार के मूर्त्तिमान् मङ्गलरूप और अखण्ड ऐश्वर्य्यस्वरूप भगवान् को तिस शुद्धसत्वरूप देवकी ने मन करके ही, जिस प्रकार पूर्वदिशा चन्द्रमा को धारण करती है तिस प्रकार धारण करा ॥ १८ ॥ तिस समय जगन्निवास भगवान् का निवास स्थान हुई वह देवकी, कंस के कारागार (जेलखाने) में पड़ी हुई थी इस कारण जिस प्रकार घडे आदि में बन्द करी हुई दीपक की ज्वाला संपूर्ण प्राणियों में प्रकाश करने वाली नहीं होती है और जिस प्रकार 'मेरी विद्या को दूसरा पुरुष न जान जाय' ऐसा विचारनेवाले ज्ञानवञ्चक पुरुष के विषैं गुप्त रहनेवाली वेदादि विद्या संपूर्ण प्राणियों को लाभदायक नहीं होती है तिसी प्रकार सब प्राणियों को आनन्दित न करके अत्यन्त शोभा को प्राप्त न हुई किन्तु स्वयं ही आनन्द का अनुभव करनेलगी ॥१९॥ उससमय जिस की कोख में भगवान् वास कररहे हैं, जो अपनी कान्ति से तिस स्थान को शोभायमान कररही है और जिस का हास्य आनन्दयुक्त है ऐसी तिस देवकी को देखकर कंस कहनेलगा, कि–यह देवकी पहिले तो ऐसी कांतियुक्त देखने में नहीं आती थी, इस से प्रतीत होता है, कि–मेरे (गज के) प्राणहरण करनेवाले हरि ही (सिंह ही)

+ "यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यानमात्रेण पोषयेत् । वैधदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये ॥ " अर्थात्–जैसे कछुआ अपने बच्चों का ध्यानमात्र से ही पोषण करता है तैसे तू ध्यानमात्र से परमेश्वर को धारण कर, ऐसे उपदेश को वैधदीक्षा कहते हैं, ऐसा कुलार्णव तन्त्र में कहा है ॥

किमद्य तस्मिन्करणीयमाशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ॥ स्त्रियाः स्व-
सुर्गुरुमत्या वधोऽयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥ २१ स एव जीवन्
खलु संपरेतो वर्तेत योऽत्यंतनृशंसितेन ॥ देहे मृते तं मनुजाः शपंति गंता
तमोऽधं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥ २२ ॥ इति घोरतमाद्भावात्सन्निवृत्तः स्वयं
प्रभुः ॥ आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥ २३ ॥ आसीनः संविशं-
स्तिष्ठन्भुंजानः पर्यटन्महीं ॥ चिंतयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत् ॥ २४ ॥
ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृष-
णमैरयन् ॥ २५ ॥ सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ॥

इस की कोख में (गुहा में) निःसन्देह विराजमान हैं ॥ २० ॥ सो अब मुझे इस विषय में क्या करना चाहिये ? यदि साम आदि उपायों से कार्य लेता हूँ तो—यह भगवान् देवताओं का कार्य करने के निमित्त उद्योग कररहे हैं, इसकारण मेरा वध करने के निमित्त पराक्रम अवश्य ही करेंगे, और यदि इस देवकी का प्राणान्त करदूँ सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि—कार्य सिद्ध करतेहुए पुरुष को अपना पराक्रम नष्ट नहीं करना चाहिये, और यह स्त्री तिसपर भी बहिन तिसपर भी गर्भिणी है इसकारण इस का प्राणान्त करनेपर तत्काल यश सम्पत्ति और आयु का नाश होयगा ॥ २१ ॥ और यदि अतिक्रूरपने से वर्त्ताव करूँ सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि—जो पुरुष अतिक्रूरता से वर्त्ताव करता है वह जीवित भी मृतक की समान होता है कारण यह है कि—उस के जीवित रहते ही पुरुष उस को धिक्कार देते हैं और देहत्याग (मरण) के अनन्तर पापियों को प्राप्त होनेवाले नरक में पड़ता है ॥ २२ ॥ इसप्रकार विचार करके देवकी के वधरूप अति भयंकर सङ्कल्प से वह स्वाधीन कंस अपने आप ही निवृत्त होकर चित्त में श्रीहरि से वैरभाव होने के कारण तिन श्रीहरि के जन्म की बाट देखता हुआ समय को व्यतीत करने लगा ॥ २३ ॥ तदनन्तर बैठते में, शयन करते में, खड़े रहते में, भोजन करते में, और पृथ्वीपर विचरते में, अर्थात् हरसमय वैरभाव से श्रीकृष्ण का चिन्तवन करनेवाले उस कंस ने संपूर्ण जगत् को श्रीकृष्णरूप ही देखा ॥ २४ ॥ एक समय नारदादि ऋषि, गन्धर्वादि अनुचर और इन्द्रादि देवताओं सहित ब्रह्माजी और महादेवजी तिन वसुदेव देवकी के समीप कारागार में आए और सब मिलकर सुन्दर वाणियों से मनोरथ पूर्ण करनेवाले तिन भगवान् की स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥ तहां पहिले तो भगवान् ने अपने कथन को सत्य करा इस कारण हर्षयुक्त हुए वह देवता तिन भगवान् की सत्यरूप से स्तुति करनेलगे, कि—जिन का व्रत (सङ्कल्प) सत्य है जिन के विषैं सत्यही सुन्दर प्राप्ति का साधन है, जो सृष्टि के पहिले प्रलय के अनन्तर

सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६ ॥ एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ॥ सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥ २७ ॥ त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च ॥ त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥ २८ ॥ बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ॥ सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानां ॥ २९ ॥

और स्थितिकाल में सत्यरूप से रहते हैं, जो पृथ्वी-जल-तेज-वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के कारण हैं, जो तिन पञ्चमहाभूतों के विषैं अन्तर्यामिरूप से विराजमान हैं, और तिन पञ्चमहाभूतों के लयस्थान हैं तथा जो मधुरवाणी और समदृष्टि के प्रवर्त्तक हैं ऐसे सबप्रकार से सत्यरूप तुम भगवान् की हम शरण में प्राप्तहुए हैं ॥ २६ ॥ यदि कहो कि—तुम भी लोकाधिपति होने के कारण मेरी समान ही हो फिर मेरी शरण क्यों आए हो ? सो ठीक नहीं है, क्योंकि—सम्पूर्ण सृष्टि आदि के मूलकारण और अद्वितीय सर्वेश्वर तुम ही हो, हम तो तुम्हारे आश्रय से ही रहनेवाले हैं, और लोकादिरूप द्वैत तुम से निराला नहीं है, ऐसा वर्णन करने के निमित्त द्वैतप्रपञ्च का वृक्षरूप से वर्णन करते हैं, कि—यह प्रपञ्च आदि वृक्षरूप है, प्रकृति ही जिस वृक्ष का एक थमला है; जिस के सुख दुःख यह दो फल हैं, सत्व रज और तम यह तीन मूल (जड़) हैं; धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष यह चार जिस में रस हैं, त्वचा—नेत्र—कर्ण—जिव्हा और घ्राण (नासिका) यह पांच जिस के जानने के प्रकार हैं, काम—क्रोध—लोभ—मोह मद और मत्सर यह छः जिसके स्वभाव हैं, त्वचा चर्म्म आदि सप्तधातु जिसकी छालहैं, पञ्चमहाभूत मन बुद्धि और अहङ्कार यह आठ जिस की शाखा हैं, मुख आदि नौ द्वार जिस की नौ खकोडल हैं, और दश प्राण ही जिस के दश पत्ते हैं, तथा जिस के ऊपर जीव और ईश्वर यह दो पक्षी बैठे हैं ॥ २७ ॥ ऐसे इस संसारवृक्ष रूप कार्य्य के तुम एक ही उत्पत्ति स्थान हो, तुम ही लयस्थान और तुम ही पालन करनेवाले हो, यदि कहो कि—ऐसे कार्य्य करनेवाले तो ब्रह्मा विष्णु और रुद्र प्रसिद्ध हैं, तहां कहते हैं कि—तुम्हारी माया से जिन का ज्ञान आच्छादित होरहा है वह तुम को ही ब्रह्मादिरूप करके नाना प्रकार का देखते हैं और जो मायामोह करके रहित विवेकी पुरुष हैं उन को ऐसी प्रतीति नहीं होती है किन्तु ब्रह्मादिरूप करके स्थित जो तुम तिन को एक रूप ही देखते हैं ॥ २८ ॥ यदि कहो, कि—मुझ देवकी के पुत्र का इस प्रकार वर्णन कैसे करते हो ? तहां कहते हैं कि—ज्ञानैकस्वरूप आत्मा जो तुम सो तुम ही स्थावर जङ्गमरूप जगत् का पालन करने के निमित्त धर्म्म के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले पुरुषों के सुखकारक और दुष्टों के नाशक शुद्ध सत्वगुणात्मक स्वरूप को धारण करते हो, तुम किसी के भी पुत्र नहीं हो ॥ २९ ॥

त्वय्यंबुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ॥ त्वत्पादपोतेन मह-
त्कृतेन कुर्वंति गोवत्सपदं भवाब्धि ॥ ३० ॥ स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ॥ भवत्पदांभोरुहनावमत्र ते निधाय याताः स-
दनुग्रहो भवान् ॥ ३१ ॥ येऽन्येऽरविंदाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादवि-
शुद्धबुद्धयः ॥ आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः ॥
॥ ३२ ॥ तथा न ते माधव तावका क्वचिद्भ्रश्यंति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ॥
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥

और केवल इतने के निमित्त ही नहीं किन्तु भक्तों को मोक्ष देने के निमित्त भी तुम अवतार धारण करते हो ऐसा वर्णन करते हैं, हे कमलनेत्र! शुद्धसत्त्वगुण है मूर्त्ति जिन की ऐसे आप के विषैं समाधि के द्वारा स्थापन करे हुए चित्त से विवेकी पुरुष, साधुओं के सेवन करे हुए तुम्हारे चरणरूप नौका का आश्रय करके संसारसमुद्र को गौ के बछडे के खुर के चिन्ह की समान करलेते हैं ॥ ३० ॥ यदि कहो कि—चरणरूप नौका के द्वारा पूर्वपुरुष इस संसारसमुद्र को तरगए परन्तु आजकल के पुरुषों की क्या गति होयगी? तहां कहते हैं, कि—हे स्वप्रकाशस्वरूप! जिस प्रकार सूर्य्य का आश्रय करने वाले पुरुषों को अन्धकार का भय नहीं होता है तिसी प्रकार तुम्हारा आश्रय करनेवाले भक्तों को संसार का भय नहीं होता है, इस कारण संपूर्ण प्राणियों से प्रेमभाव रखनेवाले तुम्हारे भक्त, तुम्हारे चरणरूप नौका के समीप पहुँचते ही, उन को संसार समुद्र बछडे के चिन्ह की समान होजाता है, फिर वह भक्त तुम्हारे चरणकमलरूप नौका को, अन्य पुरुषों के उपकार के निमित्त तहां ही छोडकर अर्थात् भक्तिमार्ग के सम्प्रदाय को चलाकर वह भक्तपुरुष, अन्य पुरुषों को भयदायक तथा दुस्तर संसारसमुद्र को अनायास में तरगए, इस का मुख्य कारण यह है, कि—तुम भक्तों के ऊपर अनुग्रह करनेवाले हो ॥ ३१ ॥ यदि यह कहो, कि—विवेकी पुरुषों को मेरा भजन करने से क्या लाभ है? क्योंकि-वह तौ मुक्त ही हैं, सो हे कमलनयन! जो कोई पुरुष अपने को स्वयं ही मुक्त माननेवाले हैं और तुम्हारे चरणों का आदर नहीं करते हैं तथा तुम्हारे विषैं भक्ति न होने के कारण जिन की बुद्धि शुद्ध नहीं हुई है वह पुरुष अनेकों जन्मों में करे हुए तप के प्रभाव से सत्कुल में जन्म, तप और शास्त्रपठन आदि मोक्ष के समीप की पदवी को प्राप्त होकर भी तहां से नीचे (नरक में) गिरपड़ते हैं, अर्थात् विघ्नों करके तिरस्कार को प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ हे माधव! तुम्हारे भक्त तो तुम्हारे विषैं दृढ़प्रेम करने के कारण अभक्तों की समान कदापि अपने भक्तिमार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं, किन्तु हे प्रभो! तुम्हारे रक्षा करे हुए वह भक्त काल कर्म्मादिकों के भय से रहित होकर विघ्नों की सेना के स्वामियों के भी मस्तक पर चरण धरकर विचरते हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण विघ्नों

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः॥वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥ ३४ ॥ सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ॥ गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥ ३५ ॥ न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ॥ मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥ ३६ ॥ शृण्वन्गृणन्संस्मरयंश्च चिंतयन्नामानि रूपाणि च मंगलानि ते ॥

को जीतकर अपने कार्य्यों को सिद्ध करते हैं ॥ ३३ ॥ साधुओं के सुखकारकरूप को धारण करते हो ऐसा कहा सो यदि कहो कि–वह कौन प्रकार का सुख देना है? तहां कहते हैं, कि-हे प्रभो! तुम जगत् का पालन करने के निमित्त प्राणियों को कर्म्मों का फल देनेवाले शुद्ध सत्त्वगुणीरूप शरीरको धारण करते हो इसकारण तिस शरीर करके युक्तहुए तुम्हारा, चारों आश्रमों को अङ्गीकार करनेवाले पुरुष, क्रम से वेदाध्ययन, कर्म्मानुष्ठान-वानप्रस्थ धर्म्म और समाधि के द्वारा पूजन करते हैं, यदि तुम अवतार धारण न करो तो, न तुम्हारा पूजन होय और न कर्म्मफल की सिद्धि होय ॥ ३४ ॥ हे जगत् के आधार! तुम्हारा यह सत्त्वगुणात्मक शरीर यदि प्रकट न होय तो अज्ञानियों को अज्ञान से उत्पन्नहुए द्वैतभेदको नष्ट करनेवाला अपरोक्षज्ञान कदापि नहीं होय, यदि कहो कि--जिस से बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का प्रकाश होता है उस ब्रह्म का ज्ञान होही जायगा? तहां कहते हैं, कि--ऐसा नहीं होसक्ता, क्योंकि--जिस के सम्बन्ध से यह घटपटादि पदार्थरूप गुण, बुद्धि के विषैं प्रतिबिम्बित हुए जिस के योग से प्रकाश को प्राप्त होते हैं, और तिस प्रकाश के द्वारा तुम सर्वसाक्षी परिपूर्ण हो ऐसा जो केवल अनुमान होता है वह काल्पनिक है इस कारण उस को प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहसक्ते, और तुम शुद्ध सत्त्वगुणरूप उत्पन्न होते हो,सो तुम्हारी सेवा से तदाकार हुए अन्तःकरणके विषैं तुम्हारे अनुग्रह से तुम्हारा साक्षात्रूप प्रत्यक्षज्ञान होता है ॥ ३५ ॥ हे देव! जो मन इन्द्रियादिकों का साक्षी है और जिसका मार्ग अनुमान करके ही जानने में आता है तिन तुम्हारे भक्तवात्सल्य आदि गुण, रामकृष्ण आदि जन्म और रावणवध आदि कर्म्म इन के साथ में स्वीकार करे हुए जो नाम और रूप हैं वह यद्यपि अभक्तों को मन से चिन्तवन करने को और वचन से कीर्त्तन करने को अशक्य हैं परन्तु तुम्हारी उपासना करनेवाले पुरुष उपासना के विषैं आप का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है ॥३६॥ इस कारण जो पुरुष तुम्हारे पुण्यकारक नामोंका, रूपोंका और कर्म्मोंका श्रवण करतेहुए, वर्णन करतेहुए, चिन्तवन करतेहुए और दूसरे पुरुषों को स्मरण क-

क्रियासु यस्त्वच्चरणारविंदयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥ ३७ ॥ दिष्ट्या
हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः ॥ दिष्ट्याऽङ्किता
त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकंपिताम् ॥ ३८ ॥ न तेऽभ-
वस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ॥ भवो निरोधः स्थि-
तिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥ ३९ ॥ मत्स्याश्वकच्छपनृ-
सिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ॥ त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथा-
ऽधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥ ४० ॥ दिष्ट्याऽम्ब ते कुक्षि-
गतः परः पुमानंशेन साक्षाद्भगवान्भवाय नः ॥ मा भूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-

रातेहुए, लौकिक कर्म्मों के विषैं भी, तुम्हारे चरणकमलों के विषैं चित्त को लगाए रखते हैं वह फिर संसार में जन्म नहीं लेते हैं अर्थात् कर्मबन्धन से छूटजाते हैं ॥ ३७ ॥ अब विशेष करके श्रीकृष्णावतार की प्रशंसा करते हैं, कि—हे हरे ! तुम ईश्वर के जन्म मात्रसे ही तुम्हारी चरणरूप इस पृथ्वीका भार दूरहुआ सा ही है यह बड़े मङ्गलकी वार्त्ता है, अब हम आप के वज्र अंकुश आदि शुभलक्षणयुक्त कोमल चरणों करके चिन्हित पृथ्वी को और आपके कृपा करेहुए स्वर्ग को भी देखेंगे यह भी हमारा भाग्य ही उदय होनेवाला है ॥ ३८ ॥ अब यदि ऐसा कहो कि-'आप के जन्म होने से भूभार दूरहुआ सा ही है' ऐसा कहने से क्या मुझे भी जीव की समान संसार है, ऐसा कहते हो ? सो नहीं, किन्तु हमारे कहने का प्रयोजन यह है, कि—हे नित्यमुक्त ! हे ईश्वर ! तुम जन्मरहित हो और तुम्हारे जन्म धारण करने का कारण, क्रीड़ा के सिवाय दूसरा हमारे तर्क करने में नहीं आता, तुम्हारे जन्म का कारण नहीं है यह वार्त्ता तो अलगरही किंतु जीवात्मा के विषैं भी जो उत्पत्ति मरण और स्थिति की प्रतीति होतीहै सो भी, तुम्हारे विषैं, देह,इंद्रिय अंतःकरण आदि के विषैं जो तादात्म्य अध्यासरूप अविद्या तिस के करेहुए हैं वास्तव में सत्य नहीं हैं ॥ ३९ ॥ अब प्रस्तुत कार्य की प्रार्थना करते हैं, कि—हे ईश्वर ! जिस प्रकार तुम मत्स्य, हयग्रीव, कूर्म्म, वराह, नृसिंह, हंस, श्रीराम और वामन आदि अवतार धारण करके हमारी और त्रिलोकी की रक्षा करते हो तिसीप्रकार इससमय भी पृथ्वी का भार दूर करिये, हे यादवश्रेष्ठ ! आप के अर्थ प्रणाम है, ऐसा कहकर सम्पूर्ण देवताओं ने मस्तक से नमस्कार करा ॥ ४० ॥ तदनन्तर देवता देवकी से कहनेलगे, कि—हे मातः ! जिन साक्षात् षड्गुणऐश्वर्यसम्पन्न परमपुरुष ईश्वर ने हम देवताओं के कल्याण के निमित्त पहिले श्रीराम आदि अवतार धारण करे थे वह ही इस समय तुम्हारी कोखके विषैं आकर प्राप्त हुए हैं यह बड़े ही आनन्दकी वार्त्ता है, अब कंस

गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥ ४१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा ॥ ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥ ४२ ॥ इति-श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ सर्वगुणोपेतः कालः प-रमशोभनः॥यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शांतर्क्षग्रहतारकम्॥१॥दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलो-डुगणोदयम्॥ मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा॥२॥ नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा-जलरुहश्रियः ॥ द्विजालिकुलसन्नादस्तवका वनराजयः ॥ ३ ॥ ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥ अग्नयश्च द्विजातीनां शांतास्तत्र समिन्धत॥ ॥ ४ ॥ मनांस्यासन्प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ॥ जायमानेऽजने तस्मिन्नदु-

के मरण का समय समीपही आगया है इसकारण तुम अब उससे भय मतमानो, तु-म्हारापुत्र यादवों का रक्षा करनेवाला होगा ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि—हे राजन् ! इसप्रकार जिनका स्वरूप 'यह अमुक हैं' ऐसे दिखाने में नहीं आता तिन सर्वान्तर्यामी पुरुष की स्तुति करके ब्रह्माजी और महादेवजी इन दोनों को आगे कर सब देवता स्वर्गलोक को चलेगए ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में द्वि-तीय अध्यायः समाप्त ॥ * ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ अब इस तृतीय अध्याय के विषै श्रीहरि स्वयं प्रकटहुए, देवकी वसुदेव ने उनकी स्तुति करी और कंस से भयभीत हुए वसुदेवजीने उनको गोकुलपुरी में पहुँचादिया, यह कथा वर्णन होयगी ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं, कि—हे राजन् परीक्षित् ! ब्रह्मादि देवताओं के चलेजाने के अनन्तर जिस समय भक्तजनों की अविद्या को दूर करनेवाले और काल कर्म्मादि के स्वाधीन जो जन्म तिस करके रहित वह स्वतन्त्र भगवान् प्रकट हुए वह सम्पूर्णगुणों करके युक्त,परम-कल्याण कारक समय प्राप्त हुआ उससमय शान्त स्वरूप नक्षत्रतारा और ग्रहों करकेयुक्त ब्रह्माजी का रोहिणी नक्षत्र था ॥ १ ॥ उस समय सम्पूर्ण दिशा प्रसन्न होगई,आकाश निर्म्मल और नक्षत्रादिकों के उदय से युक्त होगया, पृथ्वी जिन के विषै पुत्रजन्मादि अनेकों उत्सव होरहे हैं ऐसे नगर, ग्राम, गोशाला और रत्नादि की खानों करके युक्त होगई ॥ २ ॥ नदियें स्वच्छ जलयुक्त होगईं, बड़े २ सरोवर कमलों की शोभा से युक्त होगए, वन के वृक्षों की पंक्तियें जिनके ऊपर पक्षी और भ्रमरों के समूहों का मनोहर शब्द होरहा है ऐसे पुष्पों के गुच्छों करके युक्त होगईं ॥ ३ ॥ उस समय वायु स्पर्श होनेपर आनन्द देनेवाला, पवित्र, सुगन्धयुक्त, और शुद्ध चलनेलगा, और ब्राह्मणादि के कुण्डों के विषै शांतहुआ अग्नि स्वयं जाज्वल्यमान होनेलगा ॥ ४ ॥ कंसादि असुर जि-नसे द्वेष करते थे उन साधुओंके मन प्रसन्न होगए, तिन जन्मरहित परमेश्वरका जन्म

दुंदुभयो दिवि ॥ ५ ॥ जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ॥ विद्या-
धर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा ॥ ६ ॥ मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदा-
न्विताः ॥ मन्दं मंदं जलधरा जगर्जुरनुसागरं ॥ ७ ॥ निशीथे तम उद्भूते जा-
यमाने जनार्दने ॥ देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥ आविरासी-
द्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८ ॥ तमद्भुतं बालकमंबुजेक्षणं चतु-
र्भुजं शंखगदाद्युदायुधम् ॥ श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीतांबरं सांद्रपयो-
दसौभगम् ९ ॥महार्हवैदूर्यकिरीटकुंडलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुंतलम् ॥ उद्दाम-
कांच्यंगदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥१०॥स विस्मयेमोऽस्पृशन्मुदो
त्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुंदुभिस्तदा ॥ कृष्णावतारोत्सवसंभ्र-
द्विजेभ्योयुतमाप्लुतो गवां ॥११॥ अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः

होनेपर स्वर्गके विषैं दुन्दुभी बजनेलगीं ॥ ५ ॥ उस समय किन्नर और गन्धर्व भगवान् के गुणानुवाद गान करनेलगे, सिद्ध और चारण स्तुति करनेलगे, विद्याधरों की स्त्रियें अप्सराओंके साथ नृत्य करनेलगीं ॥ ६ ॥ हर्षसे पूर्णहुए ऋषि और देवता पुष्पों की वर्षा करनेलगे, समुद्रकी गम्भीर गर्जना का प्रारम्भ होते ही मेघभी मन्द२ गरजनेलगे॥७॥ घनान्धकारयुक्त अर्धरात्रिके समय, जिसप्रकार पूर्वदिशाके विषैं सोलहों कलायुक्त चन्द्रमाका उदय होता है तिसीप्रकार देवतारूप तिस देवकी के विषैं सबकी बुद्धियों में अन्तर्यामीरूप से निवास करनेवाले वह व्यापक विष्णुभगवान् चतुर्भुजरूप से प्रकटहुए ॥ ८ ॥ जिसके कमलकी समान सुन्दर नेत्र थे, जो चार भुजा और उन में शंख गदा चक्र तथा कमल धारण करेहुए, वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न और कण्ठ में शोभायमान कौस्तुभमणि धारण करेहुए, पीताम्बर पहिने और जल भरेहुए काले मेघमण्डलकी समान सुन्दर श्यामवर्ण था, जिसके केश बहुमूल्य के वैदूर्यरत्नों करके जटित किरीटकी और कानोंके कुण्डलों की कान्ति से प्रकाशित होरहे थे, और जो सुन्दर तगड़ी-बाजूबन्द-तथा कड़े आदि भूषणोंसे शोभायमानहोरहा था। ऐसे तिस अद्भुत बालक का वसुदेवजीने दर्शनकरा॥९।१०॥उस समय वह वसुदेवजी 'साक्षात् श्रीहरि मेरे पुत्ररूप से उत्पन्न हुए हैं' ऐसा देखकर आश्चर्य से प्रफुल्लनेत्र और कृष्णावतार के निमित्त करने योग्य उत्सव की शीघ्रता में लगकर अत्यन्त ही हर्षयुक्त हुए, और मन से ब्राह्मणों को दशसहस्र गौ दान करदीं क्योंकि—उस समय कारागार में बन्द होने के कारण प्रत्यक्ष तो गौओं का दान करही नहीं सक्ते थे इस कारण उन्हो ने गौओं के देने का मन से ही सङ्कल्प करलिया॥ ११ ॥ हे राजन्! तदनन्तर शुद्धबुद्धि और भगवान् के प्रभाव को जानने के कारण निर्भय हुए वह

कृतांजलिः॥स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयंतं गतभीः प्रभावविद् ॥१२॥ वसुदेव उवाच ॥ विदितोऽसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१३॥ स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ॥ तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥ १४ ॥ यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह ॥ नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयंति हि ॥ १५ ॥ सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यंतेऽनुगता इव ॥ प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह संभवः ॥ ॥ १६ ॥ एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ॥ अनावृ-

वसुदेवजी, अपनी कान्ति से सूति का गृह को प्रकाशित करनेवाले तिस बालक को, 'यह परमेश्वर हैं' ऐसा जानकर साष्टाङ्ग नमस्कार करा और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥ १२ ॥ वसुदेवजी कहने लगे, कि–हे ईश्वर ! मैंने तुमको जानलिया है, तुम इस समय यद्यपि मुझे पुत्र की समान दीखरहे हो तथापि तुम वास्तव में प्रकृति से पर और केवल अनुभव करने योग्य आनन्दस्वरूप हो, सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धियों को देखनेवाले अन्तर्यामी ईश्वर हो, तुम्हारा मुझे जो यह प्रत्यक्ष दर्शन हुआ सो यह मेरे भाग्य का उदय है ॥ १३ ॥ यदि कहो कि–देवकी के उदर में प्रविष्ट होनेवाले मेरी इतनी अधिक स्तुति क्यों करते हो ? तहां कहते हैं, कि–हे भगवन् ! वास्तव में तुम सच्चिदानन्द स्वरूप हो और सृष्टि की आदि में अपनी माया के द्वारा इस त्रिगुणमय जगत् को उत्पन्न करके तदनन्तर तिस में प्रविष्ट न होकर भी प्रत्यक्ष में अथवा सद्रूप से प्रविष्ट हुए से दीखते हो ॥ १४ ॥ इस विषय में दृष्टांत कहते हैं, कि–जिस प्रकार यह भिन्न स्वभाववाले महत्तत्त्वादि एक से एक भिन्न होकर जबतक भिन्न भिन्न रहते हैं तबतक किसी विशेष कार्य्य को उत्पन्न नहीं करसक्ते हैं और वह ही तत्त्व शब्दादि पांच विषय तथा ग्यारह इंद्रियें इस प्रकार सोलह विकारों के साथ एक स्थानमें मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करदेते हैं और उत्पन्न करने के अनंतर उस में प्रविष्ट हुए से दीखते हैं परंतु उस में वह प्रविष्ट नहीं होते हैं क्योंकि--कार्य्य उत्पन्न होने के प्रथम ही वह तहां होने के कारण कार्य्य उत्पन्न होने के अनंतर उन का तहां प्रवेश नहीं होता है ॥ १५ ॥ १६ ॥ इस प्रकार जिनका स्वरूप रूपादि विषयों के ज्ञान से अनुमान करने योग्य है ऐसी इंद्रियें और तिन इंद्रियों करके ग्रहण करने योग्य जो घटादि विषय तिनके साथ वर्त्तमान भी तुम रहते हो परंतु तिन विषयों के साथ तुम्हारा ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि–ऐसा नियम नहीं है कि–पदार्थों के साथ जितने गुण हों उन सबकाही प्रत्येक इन्द्रिय को ज्ञानहो किन्तु जिस इन्द्रिय में जिस विषय को ग्रहण करने की शक्ति है उस इन्द्रिय को उतने ही विषय का ज्ञान होता

तत्वाद्बहिरंतरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥ १७ ॥ य आत्मनो
दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ॥ विनानुवादं न च तं-
न्मनीषितं सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमान् ॥ १८ ॥ त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंय-
मान्विभो वदंत्यनीहादगुणादविक्रियात् ॥ त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते

है, जिसप्रकार आम्र आदि पकेहुए फलको दूरसे देखनेपर चक्षु इन्द्रिय से उस के पीले रूपमात्र की ही प्रतीति होगी परंतु उस के साथ में विद्यमान मधुररस और कोमल स्पर्श आदि गुणों का ज्ञान चक्षुइन्द्रिय से कदापि नहीं होगा, तिसीप्रकार हे प्रभो ! तुम विषयोंके साथ वर्त्तमान रहते हो परंतु विषयोंके ज्ञानके साथ तुम्हारा ज्ञान नहीं होता है, इसप्रकार यह वर्णन करा; कि–जो पदार्थ पहिलेही विद्यमान है उसका पीछे प्रवेश होना नहीं बनसक्ता; अब आपके स्वरूपका यदि कुछ प्रमाण (नाप) होता तो जिस प्रकार पक्षी आदि का घोंसले (निवासस्थान) में प्रवेश होता है तिसीप्रकार तुम्हारा प्रवेश होनाभी सम्भव था परन्तु तुम तो आवरणरहित सर्वरूप, सर्वात्मा, व्यापक और परमार्थ वस्तुहो इसकारण तुम्हारा बाहरका और भीतर का भाग, ऐसा विभाग है ही नहीं; फिर प्रवेश होना किसप्रकार बनसक्ता है ? अर्थात् कदापि नहीं बनसक्ता, इससे यह सिद्ध हुआ कि–तुम अन्तर्यामीरूप से सृष्टि में प्रवेश करते हो स्थूलरूप से नहीं, फिर देवकी के गर्भ में प्रविष्टहुए यह कहना तो कदापि बनही नहीं सक्ता, इसकारण आप केवल अनुभवगम्य आनन्दस्वरूपही हो, और तुम्हारा ज्ञान जो मुझे हुआ सो मेरा बड़ाभाग्योदय है ॥ १७ ॥ जो पुरुष आत्मासे प्रकाश को प्राप्त होनेवाले देहादिके विषैं, आत्मा से भिन्न भी यह देहादि सत् हैं ऐसा निश्चय करता है वह मूढ़ है, क्योंकि–विचार करनेपर वह सत् मानेहुए देहादि सम्पूर्ण पदार्थ केवल वाणी से उच्चारण करनेमात्र ही हैं इसके सिवाय उनमें और कुछ तथ्य नहीं है इसकारण विचारवान् पुरुषों ने जिन को, अवस्तु जानकर त्यागदिया है ऐसे देहादिपदार्थों को, सत् बुद्धिसे स्वीकार करनेवाला पुरुष, निःसंदेह मूर्ख ही है ॥ १८ ॥ हे सर्वव्यापक भगवन् ! सत्व रज और तम इन तीन गुणों करके रहित; किसी प्रकार का भी व्यापार न करनेवाले और विकार रहित जो तुम तिन तुम से ही इस जगत् के उत्पत्ति-पालन और संहार होते हैं ऐसा लोक और वेद वर्णन करहे हैं, यदि कहो कि–मुझ व्यापारशून्य के विषैं कर्तृत्व किस प्रकार होसकेगा ? और कर्तृत्व हुआ तो निर्विकारपना किस प्रकार होसकेगा ? तहां कहते हैं, कि– तुम ब्रह्मस्वरूप (सर्वव्यापक) और ईश्वर (सर्वशक्तिमान) हो इस कारण तुम्हारे विषैं कर्तृत्व और निर्विकारित्व यह दोनों धर्म्म विरुद्ध नहीं होते हैं, तुम्हारे विषैं कर्तृत्व कहने का अभिप्राय इतनाही है, कि–तुम गुणों के आश्रय हो इस कारण जिस प्रकार

त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥ १९ ॥ स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बि-
भर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ॥ सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं
तमसा जनात्यये ॥ २० ॥ त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽवतीर्णोऽसि
ममाखिलेश्वर ॥ राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥
॥ २१ ॥ अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे श्रुत्वाऽग्रजांस्ते न्यवधीत्सुरेश्वर ॥
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाऽधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ २२ ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ॥ देवकी तमुपाधा-
वत्कंसाद्भीता शुचिस्मिता ॥ २३ ॥ देवक्युवाच ॥ रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्त-
माद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ॥ सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स

सेवक के करेहुए कर्म्मों का कर्त्तृत्व राजा के विषैं मानते हैं तिसीप्रकार गुणों के करेहुए सृष्टि आदि कार्य्यों का कर्त्तृत्व तुम्हारे विषैं मानते हैं तथापि वास्तव में तुम अकर्त्ता और निर्विकार हो ॥ १९ ॥ वह ही तुम त्रिलोकी की रक्षा करने के निमित्त अपनी माया के द्वारा अपने शुभ्रवर्ण (सत्वगुणात्मक विष्णुमूर्त्ति) को धारण करते हो, तिसी प्रकार त्रिलोकी की उत्पत्ति करने के निमित्त रजोगुण करके वृद्धि को प्राप्तहुए ताम्रवर्ण (रजोगुणात्मक ब्रह्मारूप) को धारण करते हो और सम्पूर्ण प्राणियोंका प्रलय (नाश) करने के समय कृष्णवर्ण (तमोगुणात्मक रुद्रमूर्त्ति) को धारण करते हो ॥ २० ॥ हे व्यापक ! हे सर्वशक्तिमान् ! हे परमेश्वर ! इस समय इसलोक की रक्षा करने की इच्छा करनेवाले तुम, मेरे गृह में कृष्णरूप मूर्त्ति धारण करके अवतीर्ण हुए हो इसकारण साधुओं की रक्षा करने के निमित्त तुम, राजाओं का नाममात्र धारण करनेवाले जो करोड़ों दैत्य सेनापति हैं उन की इधर उधर नियत करके भेजीहुई सेनाओं का संहार करोगे ॥ २१ ॥ हे देवाधिदेव ! इस दुष्ट कंस ने तो, तुम्हारा जन्म हमारे घर होयगा ऐसा सुनकर तुम्हारे बड़े छः भ्राताओं का प्राणान्त करदिया, वह अब ही अपने दूतों के सूचित करेहुए तुम्हारे अवतार को सुनकर हाथ में शस्त्र धारण करके यहाँ को दौड़ताहुआ आवैगा इसकारण आप सावधान होजाइये ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! तदनन्तर कंस से भयभीत हुई देवकी, भगवान् के चतुर्भुजादि लक्षणों से युक्त इस अपने पुत्रको देखकर आनन्द से प्रसन्नमुख होती हुई तिस पुत्र की स्तुति करनेलगी ॥ २३ ॥ देवकी कहनेलगी, कि–हे ईश्वर ! वेदों ने जो परमार्थ स्वरूप वर्णन कराहै वह बुद्धि आदि इन्द्रियों के प्रकाशित करनेवाले साक्षात् विष्णु-तुमही हो, वह तुम्हारास्वरूप ऐसा है, कि–जो अव्यक्त (समझ में न आनेवाला) सब का आदिकारण, ब्रह्मरूप, प्रकाशरूप, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, सर्व प्रकार

त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥ २४ ॥ नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूते-
ष्वादिभूतं गतेषु ॥ व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः
॥ २५ ॥ योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबंधो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ॥
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥ मर्त्यो मृ-
त्युव्यालभीतः पलायन्लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ॥ त्वत्पादाब्जं प्राप्य
यदृच्छयाऽद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥ २७ ॥ स त्वं घोरादुग्रसेना-
त्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहाऽसि ॥ रूपं चेदं पौरुषं ध्यान-
धिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥ २८ ॥ जन्म ते मय्यसौ पापो मा
विद्यान्मधुसूदन ॥ समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥ २९ ॥ उपसंहर

के विशेष धर्मों करके और सम्पूर्ण क्रियाधर्मों करके रहित है इसकारण तुमको दूसरे से भयकी शङ्का नहीं है ॥ २४ ॥ अब महाप्रलय के समय भी शेष रहनेवाले तुम को किससे भय होसक्ता है ? ऐसा वर्णन करते हैं, कि—हे प्रभो ! काल के वेगसे ब्रह्मा जी का दो परार्द्ध आयु समाप्तहोने पर महाप्रलय के समय चराचर सम्पूर्ण प्राणी जब नष्टहोकर पञ्चमहाभूतों में लीन होजाते हैं तब 'यह जगत्, मेरेविषैं इसप्रकार लयको प्राप्त हुआ है फिर इसको इसप्रकार उत्पन्न करनाचाहियें' ऐसा जानने वाले एक तुमही शेष रहते हो ॥ २५ ॥ हे मायाके प्रेरक देव ! जिस करके यह जगत् चलरहा है, जो निमेषसे सम्वत्सर पर्यन्त भेदों करके युक्त और प्रलयका कारण है, वह यह महाकाल, प्रलयके विषैं अवधिभूत (मर्यादारूप) जो तुम तिन तुम्हारी ही लीला है ऐसा कहते हैं, तिन अभयस्थानरूपी परमात्मा की मैं शरण आई हूँ ॥ २६ ॥ अब भगवान् का निर्भयस्थानपना वर्णन करते हैं, कि—हे सृष्टिकर्त्तः ईश्वर ! मृत्युरूप सर्प से भयभीत हुआ यह मरणधर्मयुक्त संसारी जन, सम्पूर्ण लोकों में भागता फिरा परन्तु तहां तहां सब लोकों में मृत्यु होने के कारण इस को निर्भय स्थान नहीं मिला, परन्तु इस समय किसी भाग्योदय के कारण आप के चरण कमलों के समीप पहुँच गया इस से निर्भय होकर शयन करता है क्योंकि—इस से मृत्यु दूर रहता है ॥ २७ ॥ इस प्रकार देवकी स्तुति करके अब प्रस्तुत वार्त्ता की प्रार्थना करती है, कि—हे देव ! वह तुम भक्तों के सङ्कट को दूर करनेवाले हो इस कारण, घोर कर्म्म करनेवाले इस कंस से भयभीत हुए जो हम तिन हमारी रक्षा करो और मुमुक्षु पुरुषों के ध्यान करने योग्य जो यह आपका ईश्वरीय स्वरूप है तिस का मांसदृष्टि पुरुषों को प्रत्यक्ष दर्शन न दीजिये ॥ २८ ॥ इस का कारण यह है, कि—हे मधुसूदन ! यह पापी कंस, मेरे गर्भ से आप का जन्म हुआ है ऐसा न जाने, क्योंकि—इस कंस ने मेरे बहुत पुत्र मारडाले हैं इस कारण मैं अधीर बुद्धिवाली तुम्हारे निमित्त इस कंस से अत्यन्त ही भयभीत हूँ ॥ २९ ॥ हे विश्वमूर्त्ते !

विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ॥ शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥
विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते यथाऽवकाशं पुरुषः परो भवान् ॥ बिभर्ति सो-
ऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥ ३१ ॥ श्री-
भगवानुवाच ॥ त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायंभुवे सति ॥ तदाऽयं सुतपा
नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥ ३२ ॥ युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥ ३३ ॥ वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणा-
ननु ॥ सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥ ३४ ॥ शीर्णपर्णानिलाहारावु-
पशान्तेन चेतसा ॥ मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥ ३५ ॥ एवं
वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम् ॥ दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः
॥ ३६ ॥ तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे ॥ तपसा श्रद्धया नित्यं
भक्त्या च हृदि भावितः ॥ ३७ ॥ प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदि-

शंख चक्र गदा और पद्म की शोभा करके सेवन करे हुए इस अपने अलौकिक चतुर्भुज स्वरूप को गुप्त करिये ॥ ३० ॥ यदि कहो कि-इस स्वरूप को गुप्त क्यों करूँ ? ऐसे मुझ पुत्र से तेरी बड़ीभारी प्रशंसा होयगी, सो हे भगवन् ! जो परम पुरुष तुम प्रलय के समय इस सम्पूर्ण जगत् को अपने शरीर के विषैं निःसङ्कोचता से धारण करलेते हो वह ही तुम मेरे उदर में जन्म धारण करने को आए हो, ऐसा जो कहना है सो मनुष्यों में असम्भवरूप प्रतीत होने के कारण अत्यन्त हास्य करानेवाला होयगा इस कारण इस स्वरूपको गुप्तकरिये ॥ ३१ ॥ यह सुन श्रीभगवान् बोले, कि—हेपतिव्रते ! देवकि ! तुम इस से पहिले के तीसरे जन्म में स्वायंभुवमन्वन्तर में पृश्नि नामक स्त्री थीं, उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नामक प्रजापति थे और इनका आचरण परमशुद्ध था ॥ ३२ ॥ तदनन्तर जिस समय ब्रह्माजीने तुम्हे सृष्टिरचने की आज्ञादी उस समय तुम दोनों ने सम्पूर्ण इन्द्रियों का दमन करके परम उग्र तप करा ॥ ३३ ॥ वह ऐसा तप करा, कि वर्षा, वायु, धूप, सर्दी, पञ्चाग्निसाधन से प्राप्त हुई उष्णता और भिन्न २ ऋतुओं के धर्मों का वारम्वार सहन करके प्राणायाम के द्वारा अपने अन्तःकरण के मलको सर्वथा नष्टकरदिया, तथा गिरेहुए पत्ते और वायु का भक्षण करते हुए, मुझ से मनोरथ पूर्ण करालेने की इच्छा करनेवाले तुम दोनों ने एकाग्रचित्त से मेरा आराधन करा ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ इसप्रकार मेरे विषैं अन्तःकरण की वृत्तिको लगाकर अत्यन्त दुर्घट तीक्ष्ण तपस्या करनेवाले तुम दोनों को दिव्य वारहसहस्र वर्ष वीतगए ॥ ३६ ॥ हे पवित्रेदेवकि ! उससमय तप, श्रद्धा और निश्चलभक्ति से हृदय के विषैं चिन्तवनकरा हुआ मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर तुमको वरदेने की इच्छा से इस चतुर्भुजरूप को धारण करे

त्सया ॥ व्रियतां वरं इत्युक्ते माहशो वां वृतः सुतः ॥३८॥ अजुष्टग्राम्यवि-
षयावनपत्यौ च दंपती ॥ न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ देवमायया ॥ ३९ ॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ॥ ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां युवां प्रा-
प्तमनोरथौ ॥ ४० ॥ अदृष्ट्वाऽन्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् ॥ अहं सुतो
वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ॥ ४१ ॥ तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्य-
पात् उपेंद्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥ ४२ ॥ तृतीयेऽस्मिन् भ-
वेऽहं वै तेनैव वपुषा युवां ॥ जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति
॥ ४३ ॥ एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ॥ नान्यथा मद्भवं ज्ञानं
मर्त्यलिंगेन जायते ॥ ४४ ॥ युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ॥ चिं-
तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं परां ॥ ४५ ॥ यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि

हुएही तुम्हारे सन्मुख प्रकट हुआ और तदनन्तर जब मैंने तुमसे कहाकि–'वरमाँगो' तब तुमने मेरी समान पुत्रही वरमाँगा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ उससमय पर्यन्त तुमदोनोंने विषयभोग (मैथुनआदि)का किंचिन्मात्रभी अनुभवनहीं कियाथा और तुमको संतानकी प्राप्तिभीनहीं हुई थी इसकारण तुमने देवमाया से मोहित होकर मुझ से मोक्ष नहीं मांगी॥ ३९॥ जब 'तथास्तु' कहकर वरदान दे मैं चलागया तिस के अनन्तर तुम मेरी समान पुत्र को प्राप्त होकर पूर्णमनोरथ हुए और विषयभोगों को भोगने लगे ॥ ४० ॥ तदनन्तर इस लोक में स्वभाव उदारता और अन्यगुणों करके मेरी समान योग्यता वाला दूसरा कोई भी नहीं है ऐसा देखकर मैं ही पृश्निगर्भ इस नाम से प्रसिद्ध तुम्हारा पुत्र हुआ था ॥ ४१ ॥ फिर वह ही तुम दोनों अदिति कश्यपरूप से उत्पन्न हुए तब जो कश्यपजी से अदिति के विषैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' नाम करके प्रसिद्ध और छोटे शरीरवाला होने के कारण 'वामन' इस नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ वह भी फिर मैं ही हुआ था ॥ ४२ ॥ हेपति-व्रते देवकि ! अब तिन कश्यप अदितिरूप ही तुम्हारे इस तीसरे जन्म में पहिले दिखाए हुए तिस चतुर्भुज स्वरूप से ही फिर उत्पन्न हुआ हूँ, इस प्रकार, तुम्हारे, मेरी समान पुत्र होयगा, ऐसा जो मैंने कहा था सो सत्य हुआ ॥ ४३ ॥ पहिले मेरा इस प्रकार का जन्म हुआ था, ऐसा स्मरण कराने के निमित्त यह चतुर्भुजरूप मैंने तुम्हें दिखाया है क्योंकि–उस के विना मनुष्य की समान शरीर से मेरे स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, अब तुम्हारी इच्छा से मैं फिर बालकरूप होजाऊँगा ॥ ४४ ॥ यदि कहो कि–जो तुमप्रसन्न होगए थे तो फिर हमारा वारम्वार जन्म किसकारण हुआ ? सो अब आगे को नहीं होयगा, अब तुम इस जन्म में पुत्रभाव से अथवा ब्रह्मभाव से वारम्वार मेरा चिन्तवन अथवा मेरे में प्रीति करो तब तुम अन्त में परमसुन्दर मेरी मोक्षरूप गति को प्राप्त होओगे ॥ ४५ ॥ सो हे वसुदेवजी ! यदि तुम कंस से भय मानते हो तो तुम मुझे गोकुल को

मां गोकुलं नय ॥ मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसंभवां ॥ ४६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्त्वाऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ॥ पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥ ४७ ॥ ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ॥ यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नंदजायया ॥ ४८ ॥ तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ॥ द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृंखलैः ॥ ४९ ॥ ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यंत यथा तमो रवेः ॥ ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन्फणैः ॥ ५० ॥ मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा गंभीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ॥ भयानकावर्त्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिंधुरिव श्रियः पतेः ॥ ५१ ॥ नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपा-

पहुँचादो और तहाँ यशोदा के गर्भ में मेरी माया उत्पन्नहुई है तिस को लेकर शीघ्र ही यहाँ चलेआओ ॥ ४६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि–हे राजन् ! इसप्रकार कहकर श्री हरि मौन होगए और तिन माता पिता के देखते ही देखते तत्काल अपनी योगमाया से सांसारिक बालक की समान छोटा सा रूप धारण करलिया ॥ ४७ ॥ तदनंतर वसुदेवजी ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार जब ही पुत्र को लेकर सूतिकागृह से बाहर जाने की इच्छा करी उसीसमय भगवान् की अजन्मा योगमाया भी नन्द की स्त्री यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई ॥ ४८ ॥ जिस समय वसुदेवजी श्रीकृष्ण को लेकर चले उस समय, योगमाया ने द्वारपालों के ज्ञान की साधनभूत इन्द्रियों की सम्पूर्ण वृत्तियों को हर-लिया अर्थात् जागते हुए भी द्वारपालों को चित्र की समान चेष्टारहित कर-दिया और संपूर्ण नगरनिवासियों को निद्रित करदिया, तथा जो द्वार पहिले कंस ने बड़े २ कपाट–लोहे की कीलें और शृंखलाओं से बन्द करदिए थे और किसी से खुल नहीं सक्ते थे वह सब द्वार श्रीकृष्ण को लेकर वसुदेवजी के आनेपर, जिस प्रकार सूर्य्य के आने से अन्धकार विदीर्ण होजाता है तिसी प्रकार अपने आप खुलगए मन्द मन्द गर्जनेवाले मेघ मार्ग में पुरुषों का विचरना बन्द करने के निमित्त–वर्षा करने लगे और अपने फैले हुए सहस्र फणों से वर्षा के जल को रोकते हुए शेषजी वसुदेवजी के पीछे पीछे चलनेलगे ॥ ४९ ॥ ५० ॥ उस समय इन्द्र के वारंवार वर्षा करने के कारण यमुना नदी अगाधजल के प्रवाह के वेग से उत्पन्न हुई तरङ्गों के झागों से भररही थी और सैंकड़ों भयानक भँवर पड़ रहेथे, तिस यमुना नदी ने, जिस प्रकार पहिले सीता-पति श्रीरामचन्द्रजी को समुद्र ने मार्ग दिया था तिसी प्रकार श्रीकृष्ण को लेजानेवाले वसुदेवजीको मार्ग दिया॥५१॥फिरवह वसुदेवजी,नन्दकी गोकुल में जाकर,तहां निद्रारूप

न्प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ॥ सुतं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥ ५२ ॥ देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकां ॥ प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥ ५३ ॥ यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ॥ न तल्लिंगं परिश्रांता निद्रयापगतस्मृतिः ॥ ५४ ॥ इतिश्रीभागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॐ श्रीशुक उवाच ॥ बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः ॥ ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ १ ॥ ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् ॥ आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥ २ ॥ स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः ॥ सूतीगृहमगात्तूर्णं प्रस्खलन्मुक्तमूर्द्धजः ॥ ३ ॥ तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती ॥ स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥ बहवो

योगमाया करके नन्दादिगोपोंको गाढ़निद्रामें शयनकरतेहुए देखकर तिसपुत्रको यशोदाकी शय्यापर शयन करादिया और तिसकी कन्या को लेकर फिर अपने निवासस्थान को लौट आए ॥ ५२ ॥ तदनन्तर तिन वसुदेवजी ने देवकी की शय्यापर तिस कन्या को शयनकराकर अपने चरणों में लोहे की बेड़ियें बाँधलीं और पहिले की समान बन्दीगृह में स्थित होगए ॥ ५३ ॥ इधर गोकुल में नन्दकी स्त्री जो यशोदा तिस ने, 'मेरे कुछ सन्तति हुई है' केवल इतनाही जाना परन्तु कन्या हुईहै या पुत्र हुआ है यह नहीं जाना, क्योंकि वह प्रसूति की पीड़ा से व्याकुल होगई थी और तिसपरभी योगनिद्राने बेसुध करदिया था ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके पूर्वार्द्धमें तृतीय अध्याय समाप्त ॥ इस चौथे अध्याय के विषैं, हे मूढ़ ! मेरे मारने से क्या लाभ है ? तेरा मारनेवाला शत्रु कहीं न कहीं उत्पन्न होगया है" ऐसे, तिस योगमाया के कथन को सुनकर कंस अति भयभीत होगया और उस ने दुष्टमंत्रियों के साथ संगति करके 'छोटे बालकों का बध करना ही कल्याण कारक है' ऐसा निश्चय करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि—हे राजन् ! वसुदेवजी के बन्दीगृह में आजानेपर नगर के बाहर और भीतर के सब द्वार पहिले की समान बंद होगए, तदनंतर बालक का शब्द सुनकर बंदीगृह के रखवाले जागउठे ॥ १ ॥ और उन्होंने बड़ी शीघ्रता से कंस के पास जाकर उस कंस से ' वह जिस की, घबराहट से बाट देखता था तिस' देवकी के आठवें गर्भ के जन्म की सूचना दी ॥ २ ॥ तिस को सुनकर, यह मेरा काल उत्पन्न हुआहै ऐसा जानकर व्याकुल हुआ वह कंस, शय्या से घबड़ा के उठकर ठोकरें खाता हुआ, केश खुले हुए, जैसा का तैसा ही शीघ्रता से सूतिकागृह में चलागया ॥ ३ ॥ तहां तिस भ्राता से देवमाता देवकी, दीनतापूर्वक इस प्रकार कहनेलगी कि—हेकल्याणरूप कंस यह कन्या तुझे स्नुषा की समान पालन करनेयोग्य है इस स्त्री का वध करना तुझशूर को योग्य नहीं

हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः ॥ त्वया ॥ दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदी-
यताम् ॥ ५ ॥ नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ॥ दातुमर्हसि मं-
दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम्॥६॥श्रीशुक उवाच ॥ उपगुह्यात्मजामेवं रुदन्त्या
दीनदीनवत् ॥ याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥ तां
गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ॥ अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलि-
तसौहृदः ॥ ८ ॥ सा तद्धस्तात्समुत्पत्य सद्यो देव्यंबरं गता ॥ अदृश्यता-
नुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥ दिव्यस्रगंबरालेपरत्नाभरणभूषिता ॥
धनुःशूलेषुचर्मासिशंखचक्रगदाधरा ॥ १० ॥ सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरो-
रगैः ॥ उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥ किं मया हतया मन्द
जातः खलु तवांतकृत् ॥ यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान्वृथा ॥१२॥

है ॥ ४ ॥ हे भैय्या ! दैवके प्रेरणा करेहुए तूने मेरे अग्नि की समान तेजस्वी बहुत से पुत्र मारडाले हैं अब इस एक कन्या को तौ तू मुझे देदे ॥५॥ हे समर्थ कंस ! क्या मैं तेरी छोटी बहिन नहीं हूँ ? तैने मेरे पुत्र मारडाले इस कारण मैं अत्यन्त दीन होरही हूँ, सो मुझ हतभागिनी को इस अन्त की एक पुत्री के दैने की तो कृपाकरना चाहिये ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे, कि–हेराजन् ! इस प्रकार तिस देवकी के याचना करनेपर भी तिस कंस ने देवकी को ललकार कर, पुत्री को चिपटाकर अत्यन्त दीन की समान रोदनकरतीहुई तिस देवकी के हाथोंमेंसे तिस दुष्टने उस कन्याको खैंचकर छीनलिया ॥ ७ ॥ तदनन्तर अपने प्राणबचाने की इच्छा से या स्वार्थ की ओर ध्यानदेकर जिसने स्नेहरूप अंकुर को मनसे सर्वथा उखाडकर फेंकदिया है ऐसे तिस कंसने, तत्कालउत्पन्नहुई तिस बहिन की कन्या को चरणों से दाबकर, आँगन में स्नान करने के निमित्त स्थापन करीहुई शिलापर देमारा ॥ ८ ॥ उस समय वह विष्णु की छोटी बहिन शिलापर न गिरकर तिस के हाथों में से निकल उछलकर ऊपर आकाश में चलीगई और तहाँ तत्काल देवी होकर आयुध धारणकरेहुए बडी २ आठभुजाओं से युक्त दीखने लगी ॥ ९ ॥ दिव्य पुष्पों की माला, सुन्दरवस्त्र, लेप और रत्नजटित भूषणों से शोभायमान; धनुष, शूल, बाण, ढाल, तलवार, शंख, चक्र और गदा इनको धारण करनेवाली ॥ १० ॥ और बड़े २ उपहारों को अर्पण करनेवाले, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर, और नागों करके स्तुति करीहुई वह देवी, कंस से इसप्रकार कहने लगी ॥ ११ ॥ कि–रेमूर्ख कंस ! मुझे मारकर तैने क्या करलिया ? तेरा अन्त करनेवाला पूर्वजन्म का शत्रु अभी तेरे मारने निमित्त कहीं उत्पन्न होगया है, अब और दीन बालकों के व्यर्थ

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि॥ बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव
ह ॥ १३ ॥ तयाऽभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ॥ देवकीं वसुदेवं च
विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥ अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पा-
प्मना ॥ पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥ १५ ॥ स त्वहं त्यक्तका-
रुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः ॥ कांल्लोकान्वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन्
॥ १६ ॥ दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ॥ यद्विश्रम्भादहं पापः
स्वसुर्निहतवान् शिशून्॥ १७॥ मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतं भुजः ॥
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः समासते ॥ १८॥ भुवि भौमानि भूतानि यथा
यान्त्यपयान्ति च ॥ नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥ १९ ॥ यथा-

---

प्राण नष्ट मतकर ॥ १२ ॥ इसप्रकार वह भगवती मायादेवी. तिस कंस से कहकर इस
भूलोक में अनेक क्षेत्रों में अनेकों नामों से प्रसिद्ध होकर रही ॥ १३ ॥ तिस मायादेवी
के कहनेको सुनकर वह कंस 'उलटी आकाशवाणी कैसे हुई' इस आश्चर्य में पडगया
और देवकी वसुदेव को कारागार में रखना व्यर्थ समझकर उनको बन्धन से छुटादिया
और नम्रतापूर्वक उन से कहनेलगा, कि—हे बहिन ! हे भगिनिपते ! मुझपापी ने
राक्षसों की समान अपनेही बहुतसे बालक मारडाले, यह बड़ा अनर्थ हुआ॥ १४ ॥
॥ १५ ॥ तुम्हारे पुत्रों का मारनेवाला, निर्दयी, अपने कार्य्य के निमित्त बांधव
और मित्रों को त्यागनेवाला, खल और जीवित रहकर भी मृतक की समान मैं, ब्रह्मह-
त्यारे की समान नहीं जानता कौनसे नरकादि लोक में जाऊँगा ?॥१६॥ बड़े आश्चर्य की
बात है, केवल मनुष्य ही नहीं किंतु देवता भी मिथ्याभाषण करते हैं, आकाशवाणी के
ऊपर विश्वास रखकर मुझ दुष्ट ने, बहिन के बालक वृथा मारडाले ॥ १७ ॥ हे वसुदेव !
हे देवकि ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, इसकारण तुम, अपने प्रारब्ध कर्म्मों को भोगनेवाले
पुत्रों का शोक मत करो, सब ही प्राणी दैवाधीन होने के कारण सदा जीवित नहीं रहते हैं
और न एक स्थान में रहते हैं किंतु वियोग को प्राप्त होते रहते हैं ॥ १८ ॥ जिसप्रकार
आधारभूत भूमि के विषैं घटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तिसी
प्रकार आधार भूत आत्मा के विषैं देह उत्पन्न होते हैं तथा नाश को प्राप्त होते हैं और
घटादि पदार्थों के भिन्न भिन्नरूप और विकारयुक्त होनेपर भी जिस प्रकार भूमि विकार
को नहीं प्राप्त होती है तिसी प्रकार जन्म मरणादि से शरीर के विकार को प्राप्त होने
परभी आत्मा में विकार नहीं होता है किंतु आत्मा एकरूप ही रहता है, ऐसे विचार
करनेपर शोकादि को स्थान नहीं मिलता है ॥ १९ ॥ अज्ञान से तो कदापि संसार से

ऽनेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः॥देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्त्तते ॥ २० ॥ तस्माद्भद्रे स्वतनयान्मया व्यापादितानपि ॥ माऽनुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः ॥ २१ ॥ यावद्धतोऽस्मि हन्ताऽस्मीत्यात्मानं मन्यते स्वदृक् ॥ तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥ २२ ॥ क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ॥ इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ॥ २३ ॥ मोचयामास निगडाद्विश्रब्धः कन्यकागिरा ॥ देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥ २४ ॥ भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षांतरोषा च देवकी ॥ व्य-

मुक्ति नहीं होती है, ऐसा वर्णन करते हैं कि-आत्मा विकार रहित है ऐसा यथार्थ रीति से न जाननेवाले प्राणी को, देहादि के विषें आत्मबुद्धि होती है और ऐसा होनेपर 'मैं अन्य हूँ, वह अन्य है' इत्यादि भेदबुद्धि उत्पन्न होती है, फिर स्त्री पुत्रादि शरीरों के विषें संयोग वियोग का अनुभव होनेलगता है इसकारण जन्ममरणादिरूप संसार से मुक्ति नहीं होती है ॥ २० ॥ इसप्रकार विचारकरने से तो यह तेरे पुत्र नहीं थे 'और मैंने मारडाले' ऐसा कहनाभी नहीं बनता, अब अज्ञानदृष्टि से, तेरे पुत्रों को मैंने मारडाला ऐसा यदि तेरे मनमें होय तथापि हे भद्रे देवकि ! सम्पूर्ण ही प्राणी कर्मके अधीन होकर अपने करेहुए कर्मों के जन्ममरणादिरूप फल को भोगते हैं इस कारण यह सब चरित्र मेरे और उनपुत्रों के कर्म के अनुसार हुआ ऐसा मन में विचार कर, तू शोक मत कर ॥ २१ ॥ तो फिर ब्राह्मणादिकों के मारनेवाले का और मरनेवाले का प्रायश्चित्त कैसे सुनने में आता है ? तहाँ कहते हैं कि-वह अज्ञानमूलक ही है, क्योंकि जिस समयतक यह देहाभिमानी पुरुष 'मैं मारागया, अथवा मैं मारनेवाला हूँ' ऐसे मानकर देह के विषें होनेवाले कर्तृत्व को आत्मा के विषें मानताहै तबतक ही तिस मारनेवाले आदिका अभिमान धारण करनेवाला वह अज्ञानी पुरुष तिस से हुए पाप और दुःखों को प्राप्त होता है, और कुछ नहीं है ॥ २२ ॥ तथा देहाभिमान से 'मैंने पाप कर्म करके तुम्हें दुःखदिया है, ऐसा मानते हो तो-हे दीनवत्सल साधुओ ! मेरे दुष्टपने की मुझे क्षमा करो, ऐसा कहकर, फिर मुखपर दुःख के आँसू बहाकर तिस कंसने देवकी वसुदेव के चरण पकड़लिये ॥ २३ ॥ इसप्रकार हाथों में से छूटकर गई हुई कन्या के कथन से, वसुदेव देवकी निर्दोष हैं, ऐसा विश्वास जिसको होगया है ऐसे तिस कंस ने अपना प्रेमदिखाते हुए तिन देवकी वसुदेवको बेड़ियें दूरकरके बन्दीगृह से छुटादिया ॥ ॥ २४ ॥ देवकी ने भी भाई को पश्चात्ताप हुआ है ऐसा जानकर अपने क्रोध को शान्त करा और उसको अपने गृहको जाने को कहा, वसुदेवजी ने भी अपना क्रोध

सृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥ २५ ॥ एवमेतन्महाभाग यथा वदसि दे-
हिनाम् ॥ अज्ञानप्रभवाऽहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ॥ २६ ॥ शोकहर्षभय-
द्वेषलोभमोहमदान्विताः ॥ मिथो घ्नतं न पश्यंति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥
श्रीशुक उवाच ॥ कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः ॥ देवकीवसुदे-
वाभ्यामनुज्ञातोऽविशद्गृहम् ॥ २८ ॥ तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय
मंत्रिणः ॥ तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥ २९ ॥ आकर्ण्य भ-
र्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः ॥ देवान्प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥ ३० ॥
एवं चेत्तर्हि भोजेंद्र पुरग्रामव्रजादिषु ॥ अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य
वै शिशून् ॥ ३१ ॥ किमुद्यमैः करिष्यंति देवाः समरभीरवः ॥ नित्यमुद्विग्न-
मनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥ ३२ ॥ अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समंततः ॥
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥ ३३ ॥ केचित्प्रांजलयो दीना न्य-

---

शान्तकरा और भगवन्माया की महिमा को मन में विचारकर हँसतेहुए तिस कंससे कहा कि-॥ २५ ॥ हे महाभाग कंस ! तुम जैसा कहते हो ऐसा ही है अर्थात् सब प्राणियों को आत्माके अज्ञान से अहंबुद्धि उत्पन्न होती है और तिस से यह मेराहै, यह पराया है ऐसी भेददृष्टि उत्पन्न होती है ॥ २६ ॥ भेददृष्टि को धारण करनेवाले वह पुरुष,शोक हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह और मद इन करके युक्त होते हुए देवदैत्यादिस्वरूपों से परस्पर मारनेवाले देव दैत्यादिरूपी परमेश्वर को नहीं देखते हैं किन्तु हमही मारनेवाले और मरण को प्राप्त होनेवाले हैं ऐसा मानते हैं ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले कि-हे राजन् ! इसप्रकार प्रसन्नचित्तहुए देवकी और वसुदेव से निष्कपटपने से भाषण करनेवाला और गृह को जाने के लिये आज्ञादिया हुआ वह कंस अपने घरको चलागया ॥ २८ ॥ तदनन्तर तिसरात्रि के वीतजाने पर दूसरे दिन प्रातःकाल के समय कंस ने सभा में मंत्रियों को बुलाकर, योगनिद्रा ने जो कहाथा सो सब उनको सुनाया॥ ॥ २९ ॥ कंस के कथन को सुनकर दूरदृष्टि से शून्य वह देवताओं के शत्रु दैत्य, देवताओं के विषय में क्रोध का वेग दिखाते हुए तिस कंस से कहने लगे कि-॥ ३० ॥ हे भोजेंद्र ! यदि ऐसा है तो आजही नगर, ग्राम और गोकुल आदि के विषैं दशदिनके भीतर के और दशदिन जिनको होगए हैं ऐसे सबबालकों को हम मारडालते हैं, अब हमें आप आज्ञादीजिये और मानों कार्य होगया ॥ ३१ ॥ हे कंस ! तुम्हारे धनुष के रोदे की टंकार के शब्द से निरन्तर भयभीत होनेवाले और युद्धसे घबडानेवाले देवता उद्योग करके क्या करसक्ते हैं ? उनसे कुछभी नहीं होगा ॥३२॥ पहिले जो युद्ध हुआथा उसमें जब तुमने बाण छोडे तब तुम्हारे बाणोंसे चारों ओर ताडितहोकर 'बचनेकी इच्छा करनेवाले वह देवता' 'भागनाही बचने का उपायहै' ऐसा विचारकर भागगए थे ॥ ३३ ॥

स्तशस्त्रा दिवौकसः ॥ मुक्तकच्छशिखाः केचिद्भीताः स्म इति वादिनः ॥३४॥
न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्विरथान्भयसंवृतान् ॥ हंस्यन्यासक्तविमुखान्भग्नचापान-
युध्यतः ॥ ३५ ॥ किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ॥ रहोजुषा किं ह-
रिणा शंभुना वा वनौकसा ॥ ३६ ॥ किमिंद्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तप-
स्यता ॥ तथापि देवाः सापत्न्या-न्नोपेक्ष्या इति मन्महे ॥ ततस्तन्मूलखनने
नियुंक्ष्वास्माननुव्रतान् ॥ ३७ ॥ यथाऽमयोऽगे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते
रूढपदश्चिकित्सितुम् ॥ यथेंद्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान्बद्धबलो न
चाल्यते ॥ ३८ ॥ मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः ॥ तस्य च ब्रह्म-
गोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः ॥ ३९ ॥ तस्मात्सर्वात्मना राजन्ब्राह्मणान्ब्र-

कितने ही देवताहाथ में से शस्त्र छोड़कर दीनता पूर्वकआप के सामने हाथ जोड़कर खड़े होगए, कितनो ही की भागते भागते धोती खुलगई, कोई कहने लगे कि—हम भयभीत हैं ॥ ३४ ॥ तुम्हारी तौ ऐसी रीति है कि—शस्त्रास्त्र को भूले हुए, रथहीन हुए, भयभीत हुए, दूसरे के साथ युद्ध करते हुए, भागे हुए, जिनका धनुष टूटगया है और युद्ध न करनेवाले शत्रुओं के ऊपर तुम प्रहार नहीं करते हो ॥३५॥ फिर निर्भय स्थान में शूर वनकर रहनेवाले तथा युद्ध के सिवाय अन्यत्र अपनी वीरता को प्रसिद्ध करने वाले देवता इस समय भी उद्योग करके क्या करसक्ते हैं? यदि कहो कि—विष्णु या शिव से मुझे भय है, सो संपूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में प्रवेश करके कहीं बाहर न रहनेवाले ही अथवा जहां पुरुष किसी प्रकार नहीं जाते हैं ऐसे इलावृत नामक वन में रहनेवाले शिव क्या करसक्ते हैं? तिसी प्रकार अल्पपराक्रमी इन्द्र और तप करनेवाले ब्रह्मा क्या करसक्ते हैं? ॥ ३६ ॥ तथापि देवताओं में और हम में शत्रुता होने के कारण हमैं उन की उपेक्षा (उन से वेपरवाई)करना योग्य नहींहै किन्तु नीति के अनुसारही वर्त्तावकरना चाहिये, हमारी तौ ऐसी सम्मतिहै,सो तुम्हारे आज्ञाकारी हमको उनकी जड़ उखाड़कर फैंकदेनेकी आज्ञा दीजिये॥३७॥ जिसप्रकार शरीरमें उत्पन्न हुए ज्वरादि रोगकी स्नानपानादि कुपथ्य करनेवाले मनुष्यों के उपेक्षा करनेपर वह रोग,शरीर में व्याप्त होकर फिर और औषधादि का सेवन करनेसे भी दूरहोने कठिन होजातेहैं तथा जिसप्रकार इन्द्रियोंको पहिले से वशमें न करके उनको यथेष्ट वर्त्तनेदेनेसे फिर उनका वशमें करना अतिकठिनहोजाताहै तिसीप्रकार शत्रु भी जब सेना को इकट्ठी करके अधिक प्रबल होजाता है, तो फिर उस को जीतना अतिकठिन होजाता है ॥ ३८ ॥ सब देवताओं के मूल आधार विष्णु हैं वह तो जहाँ अनादिधर्म का वर्त्ताव होता है तहाँ रहते हैं और तिस धर्म के मूल, वेद, गौ, ब्राह्मण, तप और दक्षिणायुक्त यज्ञ यह हैं ॥ ३९ ॥ इसकारण हे राजन्! हम सब

ह्मवादिनः ॥ तपस्विनो यज्ञशीलान्गोश्चहन्मो हविर्दुघाः ॥ ४० ॥ विप्रा गा-
वश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः ॥ श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरे-
स्तनूः ॥ ४१ ॥ स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः ॥ तन्मूला देवताः
सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ॥ अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्
॥ ४२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं दुर्मंत्रिभिः कंसः सह संमन्त्र्य दुर्मतिः ॥ ब्र-
ह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥ ४३ ॥ संदिश्य साधुलोकस्य
कदने कदनप्रियान् ॥ कामरूपधरान्दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥ ४४ ॥ ते
वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः ॥ सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः
॥ ४५ ॥ आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ॥ हन्ति श्रेयांसि
सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥ ४६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जा-

प्रकार से यत्न करके वेद के जाननेवाले तपस्वी, यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण और दूध दही तथा घृत आदि को उत्पन्न करनेवालीं गौएँ इन को मारडालते हैं ॥ ४० ॥ ब्राह्मण, गौ,वेद, तप,सत्य, इन्द्रियनिग्रह, शांति, श्रद्धा, दया, सहनशीलता और यज्ञ यह विष्णु की मूर्त्ति हैं ॥ ४१ ॥ और वह ही सब देवताओं का स्वामी सब का अन्तर्यामी और असुरों का घात करनेवाला है, शिव और ब्रह्मदेव सहित सब देवताओं को तिस का ही आधार है, सो उस के वध करने का उपाय यही है कि—ऋषियों को मारडालना चाहिये ॥ ४२ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले कि—हे राजन्! इसप्रकार, मृत्यु के पाशों से बँधेहुए दुष्टबुद्धि तिस असुर कंस ने दुष्ट मंत्रियों के साथ विचार करके 'ब्राह्मणों की हिंसा करना ही उत्तम हितकारक है' ऐसा निश्चय करलिया॥ ४३॥तदनन्तर दूसरोंको दुःख देनाही जिनको प्रियहै ऐसे यथेच्छरूप धारण करनेवाले तिनराक्षसोंको साधुजनोंको दुःख देनेकेनिमित्तदशों दिशाओं को जाने की आज्ञा देकर कंस अपने गृह में चलागया ॥ ४४॥ प्रथम तो जिनका स्वभाव ही रजोगुणी है, तिस पर भी तमोगुण अर्थात् क्रोध के आवेश से जिन की बुद्धि नष्ट होगई है और जिनका मरणकाल समीप आगया है ऐसे वह दैत्य कंस की आज्ञा से साधुपुरुषों के साथ द्वेष करनेलगे ॥ ४५ ॥ हे राजन्! साधुओं से छल करने से केवल मरण ही नहीं होता है किन्तु ऐसा करने से पुरुष की आयु, संपत्ति, यश धर्म्म, उत्तम लोक की प्राप्ति, महात्माओं के दिए हुए 'आयुष्मान् हो, पुत्रवान् हो' इत्यादि आशीर्वाद और सब प्रकार के कल्याणों का नाश होजाता है ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्धके पूर्वार्द्ध में चतुर्थ अध्याय समाप्त॥*॥अब इस पांचवें अध्याय में बड़े उत्साह के साथ अपने पुत्रों का जातकर्म्म संस्कार करके नन्दजी, 'कर' देने के निमित्त मथुरा

तौह्लादो महामनाः ॥ आहूय विप्रान्वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ॥ १ ॥ वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ॥ कारयामास विधिवत्पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥ धेनूनां नियुते प्रादाद्विप्रेभ्यः समलंकृते ॥ तिलाद्रीन्सप्त रत्नौघशातकौंभांबरावृतान् ॥ ३ ॥ कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया ॥ शुध्यन्ति दानैः संतुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥ ४ ॥ सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवंदिनः ॥ गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुंदुभयो मुहुः ॥ ५ ॥ व्रजः संमृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहांतरः ॥ चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥ गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूपिताः ॥ विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकांचनमालिनः ॥ ७ ॥ महार्हवस्त्राभरणकंचुकोष्णीषभूषिताः ॥ गोपाः समाययू राजन्नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥ गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ॥ आ-

को गए तहां वसुदेवजी से भेट होने पर उन को परम आनन्द हुआ, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि-हे राजन् ! इधर गोकुल में उदारचित्त नन्दजी ने पुत्र के उत्पन्न होनेपर आनन्दयुक्त हो ज्योतिषी ब्राह्मणों को बुलाकर अपने आप स्नानादि से पवित्र होकर आभूषण धारण करे और तिन ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन करा कर अपने पुत्र का जातकर्म्म नामक संस्कार शास्त्रोक्त विधि से करवाया और पितरों का तथा देवताओं का नान्दीमुख श्राद्ध आदि करके पूजन कराया ॥ १ ॥ २ ॥ तदनन्तर तिन नन्दजी ने अलंकार आदि से भूषित करी हुई दो लाख गौ ब्राह्मणों को दीं, तथा रत्नसमूह और सुवर्ण के तार से शोभित वस्त्रों से ढके हुए तिलों के सात पर्वत(ढेर) दिए।३। काल से, अपवित्रहुए भूमि आदि पदार्थों की शुद्धि होती है, स्नान से देह की, धोने से अपवित्र पदार्थ लगेहुए वस्त्र पात्रादि की, संस्कारों से गर्भादि की, तप से इन्द्रियादिकों की, यज्ञों से ब्राह्मणादिकों की, दान से धान्यादि द्रव्यों की, संतोष से मन की और ब्रह्मविद्या से जीवात्मा की शुद्धि होती है ॥ ४ ॥ उससमय ब्राह्मण कल्याणकारक आशीर्वाद देनेलगे. सूत मागध और बन्दीगण स्तुति पाठादि करनेलगे, गवैये गानकरनेलगे, नफीरी और नगाडे आदि बाजे बजने लगे ॥ ५ ॥ उससमय धूलि आदि दूर करके स्वच्छकरी हुईहैं गोशाला जिस में तथा चन्दनादिसे छिड़काव करेहुएहैं द्वार आँगन और गृह के मध्यभाग जिस में ऐसा व्रज, टँगीहुई चित्रविचित्र प्रकार की ध्वजा, जय पताका, माला, वस्त्रों की झालर और कोमल पत्तोंकी बन्दनवारों करके शोभायमान हुआ॥६॥हरिद्रा और तैललगाकर शोभायमान करीहुई गौएँ बैल और छोटे२ बछड़े,गेरू आदि चित्रविचित्र धातु, मोरकेपङ्ख,पुष्पोंके हार,वस्त्रोंकी झूलें और सुवर्णके पुष्पों की मालाओंसे शोभायमानहुए७॥ उस समय गोप, बहुमूल्य वस्त्र, भूषण, अंगरखे और पगड़ी धारण करके हाथों में नाना प्रकार के वस्त्र-भूषणादि की भेटें लेकर नन्दजी के घर आनेलगे ॥ ८ ॥ गोपियें भी

र्स्मानं भूषयांचक्रुर्वस्त्राकल्पांजनादिभिः ॥ ९ ॥ नवकुंकुमकिंजल्पमुखपङ्कजभूतयः ॥ बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥ गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यश्चित्रांबराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ॥ नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुंडलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥ ता आशिषः प्रयुंजानाश्चिरं पाहीति बालके ॥ हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिंचन्त्यो जनमुज्जगुः ॥ ॥ १२ ॥ अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ॥ कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते १३ ॥ गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृतांबुभिः ॥ आसिंचंतो विलिंपन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४ ॥ नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ॥ सूतमागधबन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५ ॥ तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ॥ विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योद-

' यशोदा के पुत्र हुआ है' यह समाचार सुनकर आनन्दित होती हुई अपने शरीरोंको वस्त्र भूषण और काजल आदि से भूषित करनेलगीं ॥ ९ ॥ नवीन केसर पीसकर तिस के लगाने के कारण जिन के मुखकमलपर शोभा आरही है और जिन के कटिपश्चाद्भाग भारी हैं ऐसी वह गोपियें गोद भरने की वस्तुएँ हाथों में लेकर शीघ्रता से नंदजी के घर गईं उस समय चलते में उन के स्तन हलते जाते थे ॥ १० ॥ नंदजी के घर जानेवालीं वह गोपियें अत्यन्त ही शोभा को प्राप्त हुईं उन के कानों में उज्ज्वल करे हुए मणिजटित कुण्डल थे, उनके कण्ठों में सुवर्णकीमाला पचलरे आदि आभूषणथे, चित्र विचित्र वर्ण के वस्त्र पहिने हुए थीं, हाथों में जड़ाऊ कंकण धारण करे हुए थीं, उन की वेणी में से मार्ग में पुष्पों की वर्षा होती चली जाती थी, और हलते हुए कुण्डल, स्तन तथा हारों से उन की परमशोभा होरही थी ॥ ११ ॥ वह गोपियें नंदजी के घर जाकर बालक को तू गोकुल का राजा होकर चिरकालपर्यंत प्रजा की रक्षाकर, इस प्रकार आशीर्वाद देकर हरिद्रा का चूर्ण तेल और पानी आपस में शरीरों पै डालकर ऊँचे स्वर से गीत गाने लगीं ॥ १२ ॥ जगत् के स्वामी अनन्त श्रीकृष्णजी के नंदजी की गोकुल में जन्म धारण करके आनेपर बड़ा भारी उत्साह हुआ और उस समय नानाप्रकार के बाजे बजनेलगे ॥ १३ ॥ परम हर्ष को प्राप्त हुए गोप भी परस्पर एक के ऊपर एक, दधि, दूध, घृत और पानी छिडकते हुए, एक एक के मुखपर दधि आदि मलते हुए और नृत्य करते में दधि, दूध, घृत और पानी की कींच में एक एक को ढकेलकर गिराने लगे ॥ १४ ॥ उस समय उदारचित्त नन्दजी ने, गोप गोपियों को, सूत मागध बन्दियों को तथा जो गीतनृत्य आदि विद्याओं से आजीविका करनेवाले और अनाथ थे उनको, वस्त्र, भूषण, गौ, धन और जो पदार्थ जिसको इच्छित था वह उनको, विष्णुभगवान् के प्रसन्न होने के अर्थ तथा अपने पुत्र का कल्याण होने के अर्थ, उदारचित्त

अध्याय	विषय	पृष्ठाङ्क
२०	भगवान् का कपट जानतेहुए भी बलि का तीन पग पृथ्वी सङ्कल्पकरना और भगवान् का त्रिविक्रमरूप धारना.	१०२४
२१	भगवान् का बलि को बाँधना	१०२९
२२	भगवान् का प्रसन्न होकर बलिको सुतललोकदेना और उसके द्वारपाल बनना.	१०३२
२३	बलि का प्रह्लादजी के साथ सुतललोक में जाना.	१०३८
२४	मत्स्यावतार की लीला का वर्णन.	१०४२

नवमस्कन्ध.

अध्याय	विषय	पृष्ठाङ्क
१	वैवस्वत मनु के वंश में चन्द्रवंश का प्रवेश और सुद्युम्न को स्त्रीपना प्राप्त होने का वर्णन	१०५०
२	मनु के करूष आदि पाँच पुत्रों के वंश की कथा	१०५५
३	मनु के पुत्र शर्याति के वंश की सुकन्या और रैवत की बड़ी कथा	१०५९
४	मनु के पुत्र नभग और उन के पुत्र राजा अम्बरीष की कथा	१०६३
५	राजा अम्बरीष का, चक्र की स्तुति करके दुर्वासाऋषि को कष्ट से छुडाना.	१०७३
६	अम्बरीष का वंश, शशाद से लेकर मान्धाता पर्यन्त इक्ष्वाकु के वंश का और सौभरिऋषि का चरित्र.	१०७७
७	मान्धाता के वंश में पुरुकुत्स तथा हरिश्चन्द्र की कथा.	१०८४
८	रोहित के वंश की और उस में उत्पन्न हुए सगर के पुत्रों की कथा.	१०८८
९	राजा खट्वाङ्गपर्यन्त अंशुमान् का वंश उन के पौत्र भगीरथ का गङ्गाजीको लाना	१०९२
१०	राजा खट्वाङ्ग के वंश में प्रकट हुए श्रीरामचन्द्रजी के चरित्र का वर्णन	१०९९
११	श्रीरामचन्द्रजी का भ्राताओं के साथ राज्य करतेहुए, यज्ञों के करने का वर्णन	११०८
१२	श्रीरामचन्द्रजी के पुत्र कुश का वंश और इक्ष्वाकु के पुत्र शशाद के वंश की समाप्ति का वर्णन	१११३
१३	राजा निमि के वंश का वर्णन	१११५
१४	बृहस्पति की स्त्री के विषें चन्द्रमा से बुध और उन के वंशधरों का वर्णन	१११८
१५	पुरूरवा के वंश में गाधि और उन के पौत्र परशुरामजी का वर्णन	११२५
१६	जमदग्निऋषि का वध और परशुरामजी के करेहुए क्षत्रियवध का वर्णन	११३०
१७	आयु के क्षत्रवृद्ध आदि पाँच पुत्रों के वंश का वर्णन	
१८	राजा ययाति के पाँच पुत्रों में से छोटे के वृद्धावस्था ग्रहण करने का वर्णन	११३५

योग्य च ॥ १६ ॥ रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ॥ व्यचरद्दिव्य-
वासःस्रक्कंठाभरणभूषिता ॥ १७ ॥ तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धि-
मान् ॥ हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥१८॥ गोपान् गोकुलरक्षायां नि-
रूप्य मथुरां गतः ॥ नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥ १९ ॥ व
सुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम्॥ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्
॥ २० ॥ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतं ॥प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां
सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥ पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वाऽनामयमादृतः ॥ प्रस-
क्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशांपते॥२२॥दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य
ते ॥ प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत्समपद्यत ॥ २३ ॥ दिष्ट्या संसारच-

से देकर योग्यता के अनुसार सब का सत्कार करा ॥ १९ ॥ १६ ॥ उस समय महा
भाग्यवती रोहिणी को भी नन्दजी ने, 'तू यहाँ आई इसकारण तेरे चरणों के प्रतापसेही
मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ, तू वड़ी भाग्यवती है इत्यादि वचनों से' अपना आनन्द दिखाकर
प्रसन्न करा तब रोहिणी ने उत्तमवस्त्र माला और कंठ में अनेकों आभूषण धारण करके
घरकी मालकनी की समान, तिन श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव में आई हुई सब स्त्रियों का
सत्कार करा ॥ १७ ॥ हे राजन् ! श्रीकृष्ण के जन्मदिन से वह नंदजी का गोकुल
सब प्रकार की समृद्धियों से युक्त और श्रीहरि के निवास करने से सब को प्रिय लगना
आदि अपने गुणों से युक्त होकर लक्ष्मी के भी क्रीडा करने का स्थान हुआ ॥ १८ ॥
हे राजन् ! इस प्रकार श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव करके एक समय नन्दराजा गोकुल की
रक्षा करने को गोपों से कहकर, कंस का वार्षिक कर देने के निमित्त मथुरापुरी को गए
॥ १९ ॥ तदनन्तर वसुदेवजी ने अपने भ्राता की समान परममित्र नंदजी को आया
हुआ सुनकर और उन्हों ने राजा कंस को कर देदिया ऐसा जानकर उन के गाड़ों को
छोड़ने की जगह (पडाव में) मिलने के निमित्त गए ॥ २० ॥ आते हुए तिन अति
प्रिय वसुदेवजी को देखकर, देह में प्राण आनेपर जिस प्रकार वह देह उठवैठता है तिसी
प्रकार नन्दजी एकाएकी उठकर चित्त में प्रसन्न और प्रेम से विव्हल होगए और वसुदेव
जी को दोनों भुजाओं से हृदय से लगालिया ॥ २१ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर नन्दजी
ने पाद्य आसन आदि से पूजा करी और कुशल प्रश्न करके आदर करा, तव आसन पै
सुख से वैठे हुए वसुदेवजी अपने रामकृष्ण दोनों पुत्रों में आसक्त चित्त होकर नन्दजी
से इस प्रकार कहनेलगे, कि-॥ २२ ॥ हे भैय्या नन्द ! वृद्धावस्था को प्राप्त हुए, पुत्र
रहित और पुत्र होने की आशा न रहनेपर, हाल में ही मैंने सुना है कि-तुम्हारे पुत्र
हुआ है यह बडे आनन्द की वार्त्ता है ॥ २३ ॥ हे भैय्या नन्द ! जिस प्रकार भँवर में

क्रेऽस्मिन्वर्त्तमानः पुनर्भवः ॥ उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥
नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ॥ ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रो-
तसो यथा ॥२५॥ कच्चित्पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् ॥ बृहद्वनं तदधुना
यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥ भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ॥ तातं
भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥ २७ ॥ पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो
ह्यनुभावितः । न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥ २८ ॥ नन्द
उवाच ॥ अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ॥ एकाऽवशिष्टाऽवरजा
कन्या सापि दिवं गता ॥ २९ ॥ नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ॥

पड़े हुए पुरुषों का वचनाही दुर्लभ होता है फिर उन में एक को एक का दर्शन होना तौ अत्यंत ही कठिन है यदि ऐसा होय तौ दूसरे जन्म की समान होता है, तिसी प्रकार इस संसारचक्र में पड़े हुए तुम, फिर जन्म को प्राप्त हुए से आज मुझे मिले हो यह बड़े आनंद की वार्त्ताहै क्योंकि—प्रियमित्रों का दर्शन होना परमदुर्लभहै ।२४॥जिसप्रकार जल के प्रवाहके वेगसे वहकर जानेवाले तृणकाष्ठादिकी स्थिति एकस्थानपरनहीं रहसक्ती तिसीप्रकार चित्रविचित्र कर्म करनेवाले प्रियमित्रों का प्रियकारक समागम एक स्थानपर नहीं होता है ॥ २५ ॥ जहाँ इष्टमित्रों के साथ तुम हाल में रहते थे वह बड़ा वन इससमय गौ आदि पशुओं को हितकारक है ना ? तथा दोषरहित और बहुत सा जल, गौत तथा वेलों आदि से युक्त है ना ? ॥ २६ ॥ हे भैया ! मेरा पुत्र (बलराम) अपनी मैया सहित तुम्हारी गोकुल में बसै है, वह तुम्हें पिता की समान माने है और तुम दोनों उस का लालन पालन करो हो, वह प्रसन्न है ना ? ॥ २७ ॥ अब पुत्र के दर्शन न होनेका क्लेश कहते हैं—जिस पुरुष का, शास्त्र में कहाहुआ धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग अपने इष्टमित्रों को सुख मिलने के निमित्त है, वह त्रिवर्ग, इष्टमित्रों के क्लेश को प्राप्त होनेपर सुखदायक नहीं होता है ॥ २८ ॥ इसप्रकार वसुदेवजी के भाषण को सुनकर समझाते हुए कहनेलगे कि—हे भैया वसुदेव ! तेरे देवकी के विषैं उत्पन्न हुए बहुत से पुत्र कंस ने मारडाले, यह बड़ी अनर्थ की वार्त्ता हुई, एक पिछली कन्या शेषरही थी वह भी स्वर्ग को चलीगई ॥२९॥वास्तवमें इसप्राणी की सब स्थिति दैव के ही ऊपर निर्भर है, इसकारण जब इस का पुत्रादिसुख देनेवाला दैव क्षीण होजाता है तवही वह पुत्रादि नष्ट होजाते हैं और वह दैव ही जिसको सुख देनेवाला होताहै यदि उसको पुत्रादिकावियोग हुआ होय तौ भी वह दैवही फिर उनका संयोग करादेता है इसप्रकार अपने को सुखदुःखों के प्राप्त होनेका कारण दैवहीहै, ऐसा जो जानताहै वह कदापि मोह को प्राप्तनहीं होताहै, अर्थात् दैवयोग से मरण को प्राप्त हुओं का भी कालान्तर में दर्शन और वियोग को प्राप्त हुओं का भी काला-

अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥ ३० ॥ वसुदेव उवाच ॥ करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टौ वयं च वः ॥ नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥ ३१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति नंदादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः ॥ अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥ ३२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द० पू० वसुदेवसंगमो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ७ ॥ ७॥ श्रीशुक उवाच ॥ नंदः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिंतयन् ॥ हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशंकितः ॥ १ ॥ कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ॥ शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥ न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ॥ कुर्वंति सात्वतां भर्त्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥ ३ ॥ सा खेचर्ये-

न्तर में संयोग होने का संभव होने से तुम मन में किसी प्रकार का दुःख न मानो ॥३०॥ इस प्रकार नन्दजी के कथन को सुनकर दुःख को विसार के नन्दजी से वसुदेवजी कहने लगे कि-हे भैय्या नंद ! तुमने, कंस को जो वार्षिक कर देना था सो देदिया और हमारी तुम्हारी भेट भी होगई, अब आगे को यहां अधिक दिन न ठहरो, क्योंकि गोकुल में उत्पात होते हैं इस कारण तुम शीघ्रही लौटकर चले जाओ ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं, कि—इस प्रकार वसुदेवजी के कहनेपर वह नन्दादि गोप, उन की आज्ञा लेकर गाड़ियों में बैल जोतकर गोकुल को चलदिये ॥३२॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब इस षष्ठ अध्याय में, वसुदेवजी के कहने से नंदजी, गोकुल को जाते में मार्ग के विषैं मरण को प्राप्त हुई राक्षसी को देखकर और उस की मृत्यु को सुनकर आश्चर्य में होगए यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि—हे राजन् ! वसुदेवजी का कथन मिथ्या नहीं होसक्ता ऐसा विचार करते हुए वह नन्दजी, मेरे पुत्र को कोई न कोई भयंकर संकट प्राप्त हुआ होगा इस प्रकार मन में शंकित होकर मार्ग में ही सब दुःखों को दूर करनेवाले श्रीहरि की शरण गए ॥ १ ॥ इधर कंस ने छोटे २ बालकों को मारने के निमित्त भेजी हुई बालकों का घात करनेवाली पूतना नामक भयंकर राक्षसी, नगर, ग्राम, और गोकुल आदि के विषैं बालकों का वध करती हुई विचरने लगी ॥ २ ॥ हे राजन् ! जिन नगर आदिकों में अपने २ कार्यों के करने में लगेहुए पुरुष, भक्तपालक श्रीकृष्ण का, राक्षसों का नाश करनेवाला श्रवण कीर्त्तनादि नहीं करते हैं तहाँ ही वह राक्षसादि विघ्न करते हैं अर्थात् स्वधर्म्माचरण में भगवान् का श्रवण कीर्त्तनादि करनेवाले पुरुष जहाँ रहते हैं तहाँ भी राक्षसों की शक्ति नहीं चलती है फिर साक्षात् भगवान् के विषैं किसप्रकार चलसक्ती है ? ॥ ३ ॥ आकाश में विचरनेवाली यथेच्छ रूप धारण करने

केदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम् ॥ योषित्त्वा माययात्मानं प्राविशत्कामचारिणी॥ ॥ ४ ॥ तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमां ॥ सुवाससं कंपितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुंतलभूषिताननाम् ॥ ५ ॥ वल्गुस्मितापांगविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ॥ अमंसतांभोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥ बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्यदृच्छया नन्दगृहेसदंतकं ॥ बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥ विबुद्ध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः ॥ अनंतमारोपयदंकमंतकं यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥ तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यांतरा कोशपरिच्छदासिवत् ॥ वरस्त्रियं तत्प्र-

---

वाली वह राक्षसी पूतना, एकसमय अपनी माया से, श्रेष्ठ स्त्रीका वेष धारण करके नंदजी की गोकुल में जाय उन के घर में घुसगई ॥ ४ ॥ तिस स्त्री को, अपने पति को देखने के निमित्त हाथ में कमल लेकर आईहुई यह अति रूपवती लक्ष्मी ही है ऐसा सब गोपियों ने जाना, उस की वेणी में मल्लिका के पुष्प गुँथेहुए थे, उस के स्थूल कटिपश्चाद्भाग करके और बड़े २ स्तनों करके दोनों ओर को खिचने के कारण मानो उस का मध्यभाग (पेट) दुर्बल होरहा था, वह उत्तम वस्त्र पहिरेहुए थी, उसके हलतेहुए कर्णभूषणों (कर्णफूलों) की कांति से अधिक चमकनेवाले केशों करके उस का मुख शोभित होरहा था और वह सुन्दर हास्ययुक्त कटाक्षोंको फेंककर गोकुलवासी पुरुषों के चित्तों को खैंचलेतीथी इसकारण उन्होंने उसे रोका नहीं, गोपियों को तो, लक्ष्मी ही आई है ऐसा विदित हुआ इसकारण अलग ही रहीं अर्थात् किसीकी भी न रोकीहुई वहपूतना नंदजीके घर में चलीगई ॥ ५ ॥ ६ ॥ और तहां छोटे २ बालकों को ढूँढनेवाली तिस पूतना ने, प्रारब्धयोग से, शय्यापर सोए हुए, दुष्टों का संहार करनेवाले परन्तु राख से ढकेहुए अग्नि की समान जिन्होंने अपना प्रचण्ड तेज गुप्त कर रक्खा है ऐसे तिस श्रीकृष्णरूप बालक को देखा ॥ ७ ॥ तब चराचर जगत् के अंतरात्मा वह श्रीकृष्ण, तिस पूतना को, यह छोटे २ बालकों को मारने वाली पिशाची है, ऐसा जान अपने नेत्रों को मूँदकर सोते रहे, उस समय, जैसे कोई अज्ञानी पुरुष, रज्जु समझकर सोते हुए सर्प को उठालेता है तिसी प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूपको न जाननेवाली तिस पूतना राक्षसीने दुष्टोंकानाश करनेवाले तिन अनंत भगवान् को, 'यह बालक है ऐसा समझकर' उठाकर अपनी गोदी में लेलिया ॥ ८ ॥ यदि कहो कि-यशोदा और रोहिणी इन दोनों ने उसे निषेध क्यों नहीं करा ? तहां कहते हैं कि-वह यशोदा और रोहिणी दोनों माता, बाहर से कोमल और सुन्दर चित्र विचित्र दीखनेवाले, म्यान के भीतर विराजमान तीक्ष्ण तलवार की समान बाहर से माता की समान प्रेम करनेवाली और मनोहर आचरण दिखाती हुई परन्तु भीतर क्रूरस्वभाववाली

भया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठतां ॥ ९ ॥ तस्मिंस्तनं दुर्जरवीर्य-
मुल्बणं घोरांकमादाय शिशोर्ददावथ ॥ गाढं कराभ्यां भगवान्प्रपीड्य तत्प्रा-
णैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥ १० ॥ सा मुंच मुंचालमिति प्रभाषिणी नि-
ष्पीड्यमानाऽखिलजीवमर्मणि ॥ विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा
क्षिपती रुरोद ह ॥ ११ ॥ तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च
चचाल सग्रहा ॥ रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशं-
कया ॥ १२ ॥ निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसुर्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि
पि ॥ प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १३ ॥
पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यंतरद्रुमान् ॥ चूर्णयामास राजेंद्र महदासीत्तद-

तिस सुंदर स्त्री को एकाएकी घर में देखकर उस के तेज से चकाचौंध मे पड़ी हुई और 'इस बालक की माता यह है अथवा मैं हूँ ' इस विषय में मोहित होकर केवल उस की ओर को देखती हुई खड़ी रहीं अर्थात् तैंने बालक को क्यों उठालिया है इतना भी उन दोनो ने उस से नहीं कहा ॥ ९ ॥ तिस भयंकर पूतना ने तहां श्रीकृष्ण को गोदी में लेकर अति कठिन से पचनेयोग्य विष जिस में भरा हुआ है ऐसा अपना भयंकर स्तन दिया, तब तौ क्रोध युक्त हुए भगवान् ने दोनो हाथों से वह उस का स्तन जोर से पकडकर, वह प्रसूत नहीं हुई थी इस कारण उस के स्तनों में दूध कुछ भी नहीं था, केवल विष ही था सो भगवान् ने उस के प्राणों सहित विष को पीना प्रारंभ किया॥१०॥ तब तौ उस के जीव के सब मर्मस्थानों में पीडा होने लगी, सो छोड, छोड, बस! इस प्रकार कहनेवाली वह पूतना राक्षसी नेत्रों को फाड़कर हाथ पैरों को वारंवार पीटने लगी और उस के सब शरीर से पसीना टपकने लगा तब तौ वह बड़े शब्द से रोने लगी ॥ ११ ॥ बड़े गम्भीर वेगयुक्त उस के तिस शब्द से पर्वतों सहित पृथ्वी कांपने लगी, ग्रहों सहित अन्तरिक्ष लोक डगमगाने लगा, सात पाताल और आठों दिशाओं में वह शब्द गुञ्जारने लगा, क्या वज्रपात हुआ ? ऐसे भय से प्राणी पृथ्वीपर गिरनेलगे।१२। इस प्रकार प्राणों को खैंच कर भगवान् स्तनपान करने लगे तब स्तनों में प्राणनाशक पीड़ा उत्पन्न होनेपर मरणकाल में मृत्युपीडा से व्याकुल हुई वह राक्षसी पूतना, मायिक स्वरूप धारण करने में असमर्थ होगई तब तौ उस ने अपना वास्तविक (असली) स्वरूप धारण करलिया और वह अपने मुख को फैलाकर और केश तथा हाथ पैरों को फैलाकर प्राणों को त्यागती हुई वज्र से ताडना करे हुए वृत्रासुर की समान गोकुल में गिरपड़ी ॥ १३ ॥ हे राजश्रेष्ठ ! उस के देह ने गिरते गिरते भी छः कोस पर्य्यंत की भूमि पर के वृक्षों का चूर्ण करडाला, उस समय गौ मनुष्यादिकों को छोड कर केवल

द्भुतम् ॥१४॥ ईषामात्रोऽग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकंदरनासिकम् ॥ गण्डशैलस्तनं रौद्रं
प्रकीर्णारुणमूर्द्धजम् ॥ १५ ॥ अंधकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ॥ बद्धसे-
तुभुजोर्वंघ्रिशून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १६ ॥ संतत्रसुः स्म तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः क-
लेवरम् ॥ पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥ १७ ॥ बालं च तस्या
उरसि क्रीडंतमकुतोभयम् ॥ गोप्यस्तूर्णं संमभ्येत्य जगृहुर्जातसंभ्रमाः ॥१८॥
यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः ॥ रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छ-
भ्रमणादिभिः ॥ १९ ॥ गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसाऽर्भकम् ॥ रक्षां
चक्रुश्च शकृता द्वादशांगेषु नामभिः ॥ २० ॥ गोप्यः संस्पृष्टसलिला अंगेषु

वृक्षों ही का चूर्ण हुआ यह एक बडाही आश्चर्य्य हुआ ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जिस के मुख में हलके अग्रभागकी समान भयङ्कर दाढ़ें हैं, जिसकी नासिका के छिद्र पर्वतकी गुहा की समान हैं, जिस के ऊपर पर्वतसे गिरीहुई शिलाओं की समान स्तन हैं और जो भयङ्कर और फैलेहुए लालवर्ण के केशों करके युक्तहै ॥ १५ ॥ अंधेरिये कूप की समान जिस के नेत्र हैं, जो नदीके कड़ारों की समान जंघाओं से भयङ्कर है, जिस के फैलेहुए हाथ घुटुए और पैर नदी के ऊपर बँधेहुए पुल की समान लम्बे हैं और जिसका पेट सूखेहुए तालावकी समान है ॥ १६ ॥ ऐसे तिस भयङ्कर शरीर को देखकर पहिले तिसके बड़ेभारी शब्दके साथ रुदन करनेपर जिनके हृदय विदीर्ण होगए थे, कान गुम्म होगए थे और शिरों में पीड़ा होनेलगी थी वह सब गोप और गोपी; अत्यन्त भयभीत होगए ॥ १७ ॥ और तिस पूतना के वक्षःस्थलपर निर्भयपने से क्रीड़ा करनेवाले (हाथ पैर आदि चलानेवाले) बालक कृष्ण को देखकर जिनको परमस्नेह के कारण व्याकुलता होगई है ऐसी तिन गोपियों ने तत्काल उस के पास जाकर कृष्ण को उठाकरगोदीमें लेलिया ॥१८॥तदनन्तर तिन गोपियोंने यशोदा और रोहिणी के साथ में तिस बालकके सब अङ्गों के विषें गौ की पूँछ फिराना, उठावने उठाना इत्यादि करके तिसकी उत्तमप्रकार से रक्षा करी ॥ १९ ॥ प्रथम तिस बालकको गोमूत्र से स्नान कराया फिर गौके चरणों की धूलि और गौके गोबर से तिसके ललाट आदि बारह स्थानों में केशवादि बारह नामों से तिलक लगाकर रक्षा करी ॥ २० ॥ इस प्रकार राक्षसी के वक्षःस्थलपर पड़ेहुए तिस बालक को भूतबाधा होगई होयगी इसकारण प्रथम तो घबराहट में अपने आप आचमन आदि विनाकरेही उसकी रक्षा करी और जब उनकी घबराहट दूरहोकर कुछएक धैर्य हुआ तब उन गोपियों ने अपने हाथ पैरों को धोकर और आचमन करके प्रथम अपने हस्त आदि के बिषैं भिन्न २

करयोः पृथक् ॥ न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥ २१ ॥ अव्या-
दजोऽघ्रिमणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः ॥ हृत्के-
शवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥ २२ ॥
चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाऽजनश्च ॥ को-
णेषु शंख उरुगाय उपर्युपेंद्रस्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥ २३ ॥
इंद्रियाणि हृषीकेशः प्राणान्नारायणोऽवतु ॥ श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरो-
ऽवतु ॥ २४ ॥ पृश्निगर्भश्च ते बुद्धिमात्मानं भगवान्परः ॥ क्रीडंतं पातु गो-
विंदः शयानं पातु माधवः ॥ २५ ॥ व्रजंतमव्याद्वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः
पतिः ॥ भुंजानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥ २६ ॥ डाकिन्यो यातुधान्यश्च
कूष्मांडा येऽर्भकग्रहाः ॥ भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥ २७ ॥ को-

---

अजादि ग्यारह बीजों का न्यास करके अर्थात् हस्तशुद्धि के विषैं तीन बीज और दोनों हाथों की सन्धियों के विषैं चार चार बीज तथा फिर चरण आदि एक २ अवयव के विषैं अजादि एक २ बीज इसप्रकार अपने न्यासकरके तिन गोपियोंने बालक श्रीकृष्ण के अङ्गों मे भी तिसीप्रकार बीजों का न्यास करा ॥ २१ ॥ हे हमारी रक्षा करनेवाले बालक ! तेरे चरणों की अज (जन्म रहित ईश्वर) रक्षा करैं, तथा घुटनों की मणिमान्, जानुओं की यज्ञ, कमरकी अच्युत, उदरकी हयग्रीव, हृदय की केशव, तेरे वक्षःस्थल की ईश, कंठ की सूर्य, भुजाओं की विष्णु और तेरे मस्तक की ईश्वर रक्षा करैं २२। चक्रधारी हरि तेरे अग्रभाग में रहैं, गदाधारी हरि तेरे पृष्ठभाग में रहैं, धनुर्धारी मधुसूदन और खड्गधारी अजन(अजन्मा भगवान्) यह दोनों तेरेदोनों पार्श्व में रहैं, शंखधारी उरुगाय (अनेकों पुरुषों करके गान करे हुए भगवान्) तेरे चारों ओर रहैं, उपेन्द्र (वामनरूप भगवान्) तेरे ऊर्ध्वभाग में रहैं, गरुड़ तेरे अधोभाग में रहैं और हलधर बलरामजी तेरे सब ओर रहैं ॥ २३ ॥ इसप्रकार बाहर की रक्षा करके अन्तरंग रक्षा करती हैं, कि—हृषीकेश तेरी इन्द्रियों की रक्षा करें, नारायण तेरे प्राणों की रक्षा करैं, श्वेत द्वीप के स्वामी भगवान् तेरे चित्तकी और योगेश्वर तेरे मन की रक्षा करैं, ॥ २४ ॥ पृश्निगर्भ तेरी बुद्धि की रक्षा करैं, षड्गुणैश्वर्य्यसम्पन्न ईश्वर तेरे अहंकार की रक्षा करैं, क्रीडा करते में तेरी गोबिन्द रक्षा करैं, शयन करते में तेरी माधव रक्षा करैं ॥ २५ ॥ वैकुण्ठपति तेरी चलते में रक्षा करैं, बैठेहुए तेरी लक्ष्मीपति रक्षा करैं, सब पिशाचों को भय देनेवाले यज्ञभोक्ता भगवान् भोजनकाल में तेरी रक्षा करैं ॥ २६ ॥ डाकिनी (दुष्ट स्त्रियें), राक्षसी, कूष्मांड नामक रुद्र तथा जो बालग्रह हैं वह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और जो विनायक (विघ्नकर्त्ता) हैं ॥ २७ ॥ कोटरा, रे-

टरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः ॥ उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥ २८ ॥ स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये ॥ सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥ २९ ॥ इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् ॥ पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम् ॥ ३० ॥ तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः ॥ विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥ ३१ ॥ नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः ॥ स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुंदुभिः ॥ ३२ ॥ कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः ॥ दूरे क्षिप्त्वाऽवयवशो न्यदहन्काष्ठवेष्टितं ॥ ३३ ॥ दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः ॥ उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ३४ पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ॥ जिघांसयाऽपि हरये स्तनं दत्वाऽऽप सद्गति ॥ ३५ ॥

वती, ज्येष्ठा, पूतना, मातृका, आदि जो उन्माद हैं तथा जो देह, प्राण और इन्द्रियों को दुःख देनेवाले अपस्मार ग्रह हैं ॥ २८ ॥ तथा जो स्वप्न में दीखनेवाले बडे२ उत्पात हैं और जो आगे को दुःखकी सूचना देनेवाले ग्रह हैं तथा जो वृद्ध और बालकों के ऊपर झपटा करनेवाले ग्रह हैं वह सबही विष्णुभगवान् के नामों का उच्चारण करने से भयभीत होजाते हैं इसकारण वह सब पहिले कहेहुए नामों के उच्चारण करने से नष्ट होजायँ ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले, कि—हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णके विषैं परम प्रेम करनेवालीं तिन गोपियों ने, जिस की रक्षाविधि करी है ऐसे तिस बालक को यशोदा माता ने दूध पिलाकर शयन करादिया ॥ ३० ॥ इतनेही में मथुरा से गोकुल में आकर पहुँचेहुए नन्दादि गोप, तिस मरे पडेहुए पूतना के शरीरको देखकर बडे आश्चर्य में होगए ॥ ३१ ॥ और कहनेलगे, कि—अहो ! वसुदेवजी पूर्वजन्म में बडे तपस्वी ऋषि होंगे, वही यहाँ आकर जन्मे हैं, अथवा यह पूर्वजन्म में बडे ज्ञानी होंगे क्योंकि—तिन वसुदेवजी ने जो 'गोकुल में उत्पात होते हैं' ऐसा कहा था, वही देखो उत्पात हमारे दृष्टिगोचर होरहे हैं ॥ ३२ ॥ तदनन्तर गोकुल के रहनेवाले तिन गोपोंने उस पूतना के शरीर को कुल्हाडोंसे काटकर अलग२ टुकडे करादिये। ३३। दूसरा एक आश्चर्य यह हुआ कि—श्रीकृष्ण के स्तनपान करने से तत्काल पापरहित हुआ वह उस राक्षसी का शरीर, जब जलनेलगा तब उस में से अगर की सुगंधि की समान सुगन्धियुक्त धुआं निकला ॥ ३४ ॥ पुरुषों के बालकों को मारनेवाली और रक्त भक्षण करनेवाली पूतना सी राक्षसी जब मारने की इच्छा से भी श्रीकृष्ण को स्तनपान कराकर सद्गति को प्राप्त होगई तो फिर माताओं * की समान गौ तथा गोपियोंकी

* ब्रह्माजी ने, गोपों के बालक और बछडों को चुरालिया तब श्रीकृष्ण ने गोपों के बालक और बछडों का रूप धारण करा था इसकारण उससमय बछडे और गोपबालकरूप भगवान् की माता गौ और गोपी हुई उसी अभिप्राय से यहाँ 'माताओं' ऐसा बहुवचन दिया है ॥

किंपुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ॥ यच्छन्प्रियतमं किंनु रक्तास्त-
न्मातरो यथा ॥ ३६ ॥ पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वंद्याभ्यां लोकवंदितैः ॥
अंगं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत्स्तनम् ॥ ३७ ॥ यातुधान्यपि सा स्वर्ग-
मवाप जननीगतिम् ॥ कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा किमु गावो नु मातरः ॥ ३८ ॥
पयांसि यासामपिबत्पुत्रस्नेहस्नुतान्यलं ॥ भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिं-
लप्रदः॥३९॥तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ॥ न पुनः कल्पते राजन्सं-
सारोऽज्ञानसंभवः॥४०॥कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः ॥ किमिदं कुत एवेति
वदन्तो व्रजमाययुः ॥ ४१ ॥ ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् ॥ श्रुत्वा
तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन्सुविस्मिताः ॥ ४२ ॥ नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रे-
त्यागतमुदारधीः ॥ मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥ ४३ ॥ य ए-

समान तिन श्रीकृष्णजी के विषैं परमप्रीतियुक्त होकर तिन का परमप्रिय करने वाला आस्तिक्य बुद्धि और प्रेमलक्षण भक्ति से परमात्मा कृष्णको तुलसी आदि प्रियवस्तुओं का समर्पण करनेवाला भक्त, उत्तम गति को क्यों न प्राप्त होगा ? ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ भगवान् ने, त्रिलोकी के वन्दनीय तथा ब्रह्मादि देवताओं के भी प्रणाम करने योग्य और भक्तों के हृदयों में रहनेवाले अपने चरण से जिस के शरीर को खूँदकर स्तनपान करा वह पूतना राक्षसी भी यदि देवकी और यशोदाको प्राप्त होनेयोग्य गति को प्राप्त होगई तो जिन के स्तनोंका दूध श्रीकृष्णने पानकरा वह गौ और यशोदादि गोपी उस गतिको प्राप्त होंगी इस में कहना ही क्या है ? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सो हे राजन् ! कैवल्य (मोक्ष) आदि सब पुरुषार्थों को देनेवाले देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण ने, जिन के पुत्रस्नेह से टपकेहुए दूधों को संतोषपूर्वक पिया, तिन श्रीकृष्ण के विषैं निरन्तर पुत्रदृष्टि से स्नेह करनेवालीं गौ और गोपियों को, अज्ञान से प्राप्त होनेवाला संसार ही, फिर प्राप्त नहीं होसक्ता ॥ ३९ ॥ ४० ॥ पूतना के मृतक शरीर को भस्म करा तब, चिता में से नि-कलेहुए धूम की अगर की समान सुगन्धि को, पूतना राक्षसी के आने से पहिले ही गौ चरानेको दूरगएहुए गोकुलवासी पुरुष सूँघकर, 'यह क्या आश्चर्यहै ! कहाँ से यह सुगंधि आतीहै!' ऐसे आपसमें कहते कहते गोकुलमें आकर पहुँचे॥४१॥और तहाँगोपोंकेकहेहुए पूतनाके आगमन,उसकी सुंदरता,उसका कार्य्य तथा मरण और बालक की कुशल सुनकर वह गोप बडे आश्चर्य में हुए ॥४२॥ हेराजन् ! उदार बुद्धिनन्दजी ने तो, मृत्यु के मुख से वचे हुए पुत्र श्रीकृष्ण को गोदी में लेकर मस्तक के विषैं चुम्बन करा और परम आनन्द को प्राप्त हुए ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! जो मनुष्य, इस श्रीकृष्ण के अद्भुत बालच-

तत्पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम् ॥ शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविंदे लभते रतिम् ॥ ४४ ॥ इति० भा० म० द० पू० षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ येन येनावतारेण भगवान्हरिरीश्वरः ॥ करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥ १ ॥ यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ॥ भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥ अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् ॥ मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुंधतः ॥ ३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ॥ वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ॥ ४ ॥ नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ॥ अन्ना

रित्र को भक्तिपूर्वक श्रवण करता है उस को गोविन्द भगवान् के विषैं परम प्रीति प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कंध के पूर्वार्द्धमें षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ अब इस सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने शकटासुर को ऊपर को उडाकर तृष्णावर्त्त दैत्य को नीचे लुटाकर और माता को मुख में जगत् दिखाकर क्रीडा करी, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीकृष्ण की बाललीला को श्रवण करकै आनन्द को प्राप्त हुआ राजा फिर वही प्रश्न करने के निमित्त बोला, कि–हे समर्थ शुकदेवजी! भगवान् श्रीहरि ईश्वर, जिस जिस मत्स्यादि अवतार को धारण करके जो जो वेद का उद्धार आदि कर्म करते हैं वह वह संपूर्ण कर्म मेरे कानों को मधुर लगनेवाले और मन को आनंद देनेवाले हैं ।१। तथापि जिस चरित्र को श्रवण करनेवाले मनुष्यमात्र की मन की ग्लानि और तिस ग्लानि से उत्पन्न होनेवाली नानाप्रकार की तृष्णा तत्काल नष्ट होजाती हैं अन्तःकरण शुद्ध होजाताहै श्रीहरिके विषैं भक्ति उत्पन्न होती है और भगवद्भक्तों की मित्रता होती है, वह ही श्रीहरि का चरित्र यदि आप मेरे ऊपर अनुग्रह करतेहैं तो मेरे अर्थ वर्णन करिये ॥२॥ तथा इससमय मनुष्य लोकमें प्राप्त होकर मनुष्यजातिका अनुकरण करनेवाले श्रीकृष्ण के और बालचरित्र भी मेरे अर्थ वर्णन करिये ॥३॥ यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले, कि–हे राजन्! एक दिन श्रीकृष्ण ने करवट लिया, इसकारण उसके कौतुकसे मंगलस्नान कराना था और उसही दिन श्रीकृष्णका जन्मनक्षत्र (रोहिणी नक्षत्र) का योग आगया था इसकारण तिन दोनों उत्साहों के कारण गोकुल की सब सौभाग्यवती स्त्रियें इकट्ठी हुई थीं, उस समय यशोदा ने, बाजों का शब्द, गोपियों के गीत और ब्राह्मणों की वेदध्वनि कराकर श्रीकृष्णको उबटना करकै मंगलस्नान कराया ॥ ४ ॥ तदनन्तर तिस नन्दरानी यशोदा ने, जिस के–अंगा टोपी आदि वस्त्र पहिराना, गहने पहिराना, कस्तूरी कीसुगंधि लगाना, गोरोचनका तिलक लगाना, नेत्रोंमें काजल डालना इत्यादि कार्य्य करेहैं और अन्न,पात्र

घवासःस्रगभीष्टधेनुभिः संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥ औत्थानिकौ-
त्सुक्यमना मनस्विनी समागतान्पूजयती व्रजौकसः ॥ नैवाशृणोद्वै रुदितं
सुतस्य सा रुदन्स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥६॥ अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्प-
कप्रवालमृद्वंघ्रिहतं व्यवर्त्तत ॥ विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षवि-
भिन्नकूवरम् ॥७॥ दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समा-
गताः ॥ नंदादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ इति
ब्रुवन्तोऽतिविवादमोहिता जनाः समन्तात्परिवव्रुरातवत् ॥ ८ ॥ ऊचुरव्यव-
सितमतीन्गोपान्गोपीश्च बालकाः ॥ रुदताऽनेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥
॥ ९ ॥ न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत ॥ अप्रमेयं बलं तस्य बाल-
कस्य न ते विदुः ॥ १० ॥ रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशंकिता ॥ कृ-

---

वस्त्र, माला, इच्छित पदार्थ और गौ देकर उत्तम सत्कार करेहुए ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन कराकर जिसके रक्षाबन्धनादि मङ्गल कार्य्य करे हैं ऐसे नींद में आतेहुए श्रीकृष्ण को, छकड़े के नीचे पालने में धीरे धीरे झोंटे देकर गीत गाते गाते सुलादिया ॥ ५ ॥ तदनन्तर वह औत्थानिक उत्सव के उत्साह को पूरा करने में उत्कण्ठित हुई उदारचित्त यशोदा, अपने घर आईहुई गोपी आदि व्रजकी स्त्रियोंका, हरिद्रा कुंकुम देना, गोद भरना, वस्त्र भूषणादि देना इत्यादि से सत्कार करने में लगरही थी, सो उसने श्रीकृष्ण का रोना किञ्चिन्मात्र भी नहीं सुना, इधर दूध पीनेकी इच्छा से रोदन करनेवाले वह बालक श्रीकृष्ण, रोतेरोते अपने पैर ऊपर को चलाने लगे ॥ ६ ॥ तबतो छकड़े के नीचे सोते हुए तिस बालक के छोटे और नवीन पत्तेकी समान कोमल चरण से ताड़ना कराहुआ वहगाड़ा, जिसके ऊपर के चाँदी सोनेके सिवाय काँसी आदि के दूधदही से भरेहुए पात्र गिरपड़े हैं और जिसके पहिये तथा धुरे अस्तव्यस्त टूटपड़े हैं और जिसका नीचेका भागसब टुकड़े२ होगया है ऐसा होकर नीचे उलटकर गिरपड़ा ॥ ७ ॥ तब उस उत्सव में जो यशोदा आदि गोकुल की स्त्रियें इकट्ठी हुईथीं उन्हो ने और नन्दादि गोपोंने उस गाड़ेको उलटा हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य माना और सब घबड़ागए तथा गाडा आपसे आप कैसे उलट गया ऐसी वार्ता करते हुए उत्पात आदि अनेकों प्रकार की शङ्का करनेलगे और मोह में पड़ेहुए वह सब तिसबालक और गाडेके चारोंओर इकट्ठहोगए और यहकोई उत्पातहै ? अथवा अपने आपही गाडा गिरपडा है ! इस प्रकार संशय में पड़ेहुए तिन गोप और गोपियों से तहां खेलते हुए बालकों ने ऐसा कहाकि—रोतेहुए कृष्णने ही अपने पैरसे इस गाडेको उलटदिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥ ९॥ परन्तु उन नन्दादि गोपोंने, तिन बालकों का कहना सत्य नहीं माना क्योंकि—वह श्रीकृष्ण बालक के अपरिमित बल को नहीं जानते थे ॥ १० ॥ और रोतेहुए तिस बालक को गोदी में लेकर, इसको कोई पि-

तत्स्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥ पूर्ववत्स्थापितं गोपैर्ब-
लिभिः सपरिच्छदम् ॥ विप्रा हुत्वाऽर्चयांचक्रुर्दध्यक्षतकुशांबुभिः ॥ १२ ॥
येऽसूयानृतदंभेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः ॥ न तेषां सत्यशीलानामाशिषो वि-
फलाः कृताः ॥ १३ ॥ इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः ॥ जलैः पवि-
त्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥ वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः
समाहितः ॥ हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥
गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ॥ आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते
चान्वयुञ्जत ॥ १६ ॥ विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः ॥ ता
निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ॥ १७ ॥ एकदारोहमारूढं ला-
लयन्ती सुतं सती ॥ गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥ १८ ॥

शाचवाधा होगई है, ऐसी मनमें शङ्कित हुई यशोदा ने ब्राह्मणों से, राक्षसों का नाश करने वाले वेदमंत्रोंसे तिसके शरीर पर प्रोक्षण कराया और आशीर्वाद दिलाकर पीछे से स्तन पान कराया ॥ ११ ॥ अब भगवान् की सामर्थ्य को न जाननेवाले ब्राह्मणों का चरित्र कहते हैं कि—ब्राह्मणों ने बलवान् गोपों से उस गाडेको पहले की जगह रखवाकर सब पात्र उसमें रखवादिये और श्रीकृष्ण कोभी पहिलेकी समान पालने में लिटाकर ग्रहोंकी शान्ति के अर्थ नवग्रहों का पूजन करके श्रीकृष्ण तथा गाडेके सबओर आठों दिशाओं में आठ दिक्पालों को वलि दिया और दधि, अक्षत तथा कुशोदक आदिसे पूजन करा ॥ १२ ॥ जिन के चित्त को निश्चय है ऐसे नन्दगोपने भी, जो ब्राह्मण, गुणो में दोष लगाना, मिथ्याभाषण, पाखण्डीपन, शान्ति के साथ न रहना, हिंसा और अभिमान इन दुर्गुणों से रहित होते हैं उन सत्यस्वभाव ब्राह्मणों के दिएहुए आशीर्वाद निष्फल नहीं होते हैं, ऐसा मन में विचारकर उस बालक को अपने पास लेकर, उन ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन कराकर, अरिष्ट की शान्ति के निमित्त होम कराकर और सामवेद, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से संस्कार करे हुए और जिन में पवित्र औषधि डाली हैं ऐसे जलों से अभिषेक करके उन ब्राह्मणों को जिनमें छः रस हैं ऐसा अन्न अर्पण करा ॥१३॥१४ ॥ १५ ॥ और उन को, अपने पुत्र का कल्याण होने के निमित्त, सूधापन आदि सकल गुणयुक्त और वस्त्रों की झूलें, फूलों की माला तथा सुवर्ण के फूलों की माला पहिरे हुए गौ दीं, उस समय उन ब्राह्मणों ने भी आशीर्वाद दिये ॥ १६ ॥ हे राजन् ! जो ब्राह्मण मन्त्र जाननेवाले और योगाभ्यासी हैं वह जो आशीर्वाद कहेंगे सो तैसे ही होंगे; निष्फल कभी नहीं होंगे, यह स्पष्ट है ॥ १७ ॥ एक समय वह पतिव्रता यशोदा, अपने सुत को गोद में बैठाकर उस को लाड करती हुई खिला रही थी सो अचानक पर्वत के शिखर की समान भारी लगनेवाले

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ॥ महापुरुषमादध्यौ जगतामास
कर्मसु ॥ १९ ॥ दैत्यो नाम्ना तृणावर्त्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः । चक्रवातस्व-
रूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥ २० ॥ गोकुलं सर्वमावृण्वन्मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः ॥
ईरयन्सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥ २१ ॥ मुहूर्त्तमभवद्गोष्ठं रजसा त-
मसावृतम् ॥ सुतं यशोदानापश्यत्तस्मिन्न्यस्तवती यतः ॥ २२ ॥ नापश्य-
त्कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ॥ तृणावर्त्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः
॥ २३ ॥ इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाऽविलक्ष्य माता ॥ अति-
करुणमनुस्मरन्त्यशोचद्भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ॥ २४ ॥ रुदितम-
नुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ॥ रुरुदुरनुपलभ्य नन्द-

उन कृष्ण का भार सहन न कर सकी ॥ १८ ॥ तब श्रीकृष्ण के पेट में के प्राणियों के भार से पीडित होने के कारण आश्चर्य में हुई तिस यशोदा ने, उस बालक को भूमिपर बैठाकर (तृणावर्त्त से अपनी मृत्यु बचाने के निमित्त, मुझे गोद में से नीचे बैठाल देय इस इच्छा से कृष्ण के ही करे हुए भार को न जान कर) उस ने उत्पात की शङ्का से महापुरुष भगवान् का (हे परमेश्वर ! अपने दिये हुए पुत्र की तुम ही रक्षा करो) ऐसा ध्यान करा और घर के संसारी काम करनेलगी ॥ १९ ॥ इधर छोटे२ बालकों को मारने के निमित्त कंस का भेजा हुआ, कंस का सेवक तृणावर्त्त नामवाला दैत्य, चक्रवात (आंधी) के स्वरूप से गोकुल में आया और उस ने धूलि से सब गोकुल को ढककर सब के नेत्र धूलि से अत्यन्त भरदिये और भयङ्कर बडे भारी शब्द से पूर्व आदि दिशा तथा अग्नि आदि कोणों को शब्दायमान करके आंगनके विषैं भूमिपर बैठे हुए कृष्णको उठाकर आकाश में लेगया ॥ २० ॥ २१ ॥ उस समय दो घडी पर्यन्त सकल गोकुल, धूलि और अन्धकार से भरगया था; यशोदा ने जहां अपने बालक को बैठाया था वहां वह उस ने नहीं देखा ॥ २२ ॥ तृणावर्त्त की उत्पन्न करी हुई धूलि आखों में भरजाने से घबडाये हुए सब गोकुलवासी ऐसे होगये कि किसी ने अपनेको तथा दूसरे को देखा नहीं ॥ २३ ॥ इस प्रकार भयङ्कर आंधी से गोकुल में धूलि की वर्षा होनेलगी तब, बालक का मार्ग न देखकर उस को देखने का उपाय करने में असमर्थ हुई वह माता यशोदा, वारम्वार तिस बालक कृष्णके गुणों को स्मरण करती हुई, जैसे बच्चेके मर जाने पर गौ अति दीनता से रम्भाने लगती है तिसी प्रकार करुणस्वर से शोक करने लगी और, शोक से व्याकुल होकर मूर्छित हो भूमिपर गिरपडी ॥ २४ ॥ तदनन्तर धूलि की वर्षा का वेग कम होकर उस आंधी के झोकों के भी कम होनेपर, गोपियें, यशोदा का रोना सुनकर उस के समीप आईं और तहां श्रीकृष्ण को न पाकर लह अ-

सुतं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥ २५ ॥ तृणावर्त्तः शांतरयो वात्यारूपधरो ह-
रन् ॥ कृष्णं नभो गतो गन्तुं नाशक्नोद्भूरिभारभृत् ॥ २६ ॥ तमश्मानं मन्य-
मान आत्मनो गुरुमत्तया ॥ गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥२७॥ गलग्र-
हणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ॥ अव्यक्तरावो न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥ २८॥
तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालं ॥ पुरं यथा रुद्रशरेण
विद्धं स्त्रियो रुदन्त्यो ददृशुः समेताः ॥ २९ ॥ प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य
विस्मिताः कृष्णं च तस्योरसि लंबमानम् ॥ तं स्वस्तिमन्तं पुरुषा-
दनीतं विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तं ॥ गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम् ॥ ३० ॥ अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः ॥ हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः

अत्यन्त दुःखित चित्त हो और मुखपर दुःख के आंसू बहाकर रुदन करने लगीं ॥२५॥ इधर तृणावर्त्त भी आंधी का रूप धारण करके कृष्ण को उठाय किसी प्रकार ऊपर आकाश में गया, परंतु भगवान् उस को मारने के निमित्त फिर भारी होगए इस कारण वह कृष्ण को लेकर आगे को (मथुरा को) न जासका किंतु कृष्ण के भार से उस के जाने का वेग रुकगया ॥ २६ ॥ तब उस ने दैत्यरूप धारण करके कृष्ण को मारने का मन में विचार करा तब कृष्ण ने उस का गला पकडलिया;उस समय गलेमें पकडा हुआ वह दैत्य,अपनेसेभी अधिक भारी तिस अद्भुतबालक (श्रीकृष्ण) को पर्वतसमान मानता हुआ उनको,गला छुडाकर दूर करनेकोभी समर्थ नहीं हुआ।२७किन्तु गला पकडनेसे ही निश्चेष्ट हुआ तथा जिस के नेत्र बाहर निकल पडे हैं और शब्द बन्द होकर प्राणहीन हुआ वह दैत्य, बालकसहित गोकुल में, गोपालों ने दुहने आदि की सम्मति करने को बैठने के निमित्त एक बडीभारी शिला बिछारक्खी थी तिसपर आगिरा ॥ २८ ॥ उससमय एक स्थानपर इकट्ठी होकर रोतीहुई स्त्रियों ने, जैसे रुद्र के बाण से विधकर त्रिपुरासुर नीचे गिरा था तैसे ही आकाश में से, नीचे शिलापर पडेहुए और जिस के सकल अङ्ग टूटगए हैं ऐसे उस भयङ्कर दैत्य को देखा ॥ २९ ॥ और उस की छातीपर लटकेहुए श्रीकृष्ण को देखकर, उन गोपियों ने उन को शीघ्रता से उठाकर लेजाय उन की माता को दिया और वह सब आश्चर्य में होगईं. इसप्रकार आकाशमार्ग से राक्षस के लेगएहुए तथापि मृत्यु के मुख में से छूटकर कुशलपूर्वक आयेहुए तिन श्रीकृष्ण को फिर पाकर, यशोदा आदि गोपी और नन्द आदि सकल गोप अतिहर्ष को प्राप्तहुए ॥ ३० ॥ और परस्पर कहनेलगे कि–अहो ! यह कैसा बडाभारी आश्चर्य है कि–हम ने कहीं भी ऐसा न देखा न सुना है. यह बालक राक्षस के मारडालनेपर भी फिर आप ही मिलगया. इतने ही में

साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥ ३१ ॥ किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं-
पूर्त्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदं ॥ यत्संपरेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धू-
न्प्रणयन्नुपस्थितः ॥ ३२ ॥ दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ॥ वसुदेव-
वचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥ ३३ ॥ एकदाऽर्भकमादाय स्वांकमारोप्य
भामिनी ॥ प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥ ३४ ॥ पीतप्रायस्य ज-
ननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ॥ मुखं लालयती राजन् जृंभतो ददृशे इदम् ॥
॥ ३५ ॥ खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवन्हिश्वसनांबुधींश्च ॥ द्वीपान्न-
गांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजंगमानि ॥ ३६ ॥ सा वीक्ष्य विश्वं

दूसरे कहनेलगे कि—अहो ! इस में कौन आश्चर्य है ? यह ऐसा ही होना था; क्योंकि-यह दैत्य, क्रूरस्वभाव और हिंसक था इसकारण अपने ही पाप से मरण को प्राप्त होगया. साधु की सर्वत्र समदृष्टि होती है इसकारण वह भय से छूटजाता है, हमने वा हमारे बालक ने किसी की हिंसा आदि नहीं करी इसकारण यह मृत्यु से भी छूटगया है ॥ ३१ ॥ अहो ! हमने पूर्वजन्म में क्या कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप करा था, वा भगवान् का पूजन करा था अथवा कोई कूप तालाव आदि बनवाया था, या विधि विधान से पञ्चमहायज्ञ करे थे अथवा तुलादान आदि दान करा था, या सकल प्राणीमात्र का भगवान् की बुद्धि से सत्कार करा था, यह हम कुछ नहीं जानते; जिस के पुण्य से कि–मरण को प्राप्तहुआ भी यह बालक, हम अपने बांधवों को हर्षित करताहुआ फिर प्राप्तहुआ है सो वास्तव में हमारा अहोभाग्य है ॥ ३२ ॥ इसप्रकार तिस बृहद्वन नामक गोकुल में अतिआश्चर्यकारी चमत्कार देखकर विस्मितहुए नन्द गोप ने 'गोकुल में उत्पात होते हैं' ऐसा वसुदेवजी का वचन ही वारम्वार सत्य होता है, यह समझा ॥ ३३ ॥ अब, तृणावर्त्त दैत्य के आने के समय, अपना भारीपन देखकर सन्देह में हुई माता यशोदा को, विदित करने के निमित्त श्रीकृष्णजी ने अपने मुख में जम्भाई के समय ब्रह्माण्ड दिखाया सो वर्णन करते हैं—एकसमय पुत्र के स्नेह में भरीहुई परम सौभाग्यवती यशोदा ने, खेलतेहुए कृष्ण को लेकर अपनी जंघापर बैठाया और उन को दूध से टपकताहुआ स्तन पिलाया ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! प्रायः पेट भरनेयोग्य दूध पीलेनेपर तिन श्रीकृष्ण के सुन्दर हास्ययुक्त मुख को, चूमकर लाड़ करतीहुई तिस माता यशोदा ने, अकस्मात् जम्भाई लेतेहुए तिन के मुख में इस बाहर दीखते हुए सकल विश्व को देखा ॥ ३५ ॥ आकाश, स्वर्ग पृथ्वी, नक्षत्रमण्डल, दिशा, सूर्य. चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सात समुद्र, द्वीप, पर्वत और उन पर्वतों से उत्पन्न हुई नदी, वन और स्थावर जङ्गमरूप सकल प्राणी ॥ ३६ ॥

सहसा राजन्संजातवेपथुः ॥ संमील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत्सुविस्मिता ३७
इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० तृणावर्त्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः ७।
श्रीशुक उवाच ॥ गर्गः पुरोहितो राजन्यदूनां सुमहातपाः ॥ व्रजं जगाम नं-
दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥ तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ॥
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरं ॥ २ ॥ सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृ-
तया मुनिं ॥ नंदयित्वाऽब्रवीद्ब्रह्मन्पूर्णस्य करवाम किं ॥ ३ ॥ महद्विचलनं
नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ॥ निःश्रेयसाय भगवन्कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥४॥
ज्योतिषामयनं साक्षाद्यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् ॥ प्रणीतं भवता येन पुमान्वेद प-

इस प्रकार यह सकल जगत् देखकर हे राजन् ! वह मृगशावाक्षी यशोदा, एक साथ भयभीत होकर थरथर कांपने लगी और नेत्र मूँदकर, मैंने यह क्या देखा ऐसा मानकर आश्चर्य में होगई ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में सप्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब इस आठवें अध्याय में गर्गाचार्य के करे हुए श्रीकृष्ण जी के नामकरण और बाललीलारूप कौतुक में उन के ऊपर मट्टी खाने के दोष लगने पर उन के मुखमें यशोदाने विश्वरूप का दर्शन करा यह कथा वर्णनकरी है, और माता ने मेरा विश्वरूप देखा यह सुनकर मन में सन्देह करनेवाले पिता नंदजी को भी श्रीकृष्ण जी ने नामकरण करनेवाले गर्ग ऋषि के वाक्य से अपना तत्त्व सूचित करा, यह भी वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! महातपस्वी जो गर्गमुनि, वह यादवों के पुरोहित थे; इस कारण पुत्रों का नामकरण करने को वसुदेव जी ने उन से कहा तब वह एकसमय नन्दजी की गोकुल में आये ॥ १ ॥ उन को देखते ही परमप्रसन्न हुए नन्दजी ने, उठकर खडे रहकर हाथ जोडे और यह मुनि साक्षात् विष्णुही हैं ऐसी बुद्धिसे नमस्कार करके उन की पूजा करी ॥ २ ॥ तदनन्तर आदर सत्कार करेहुए उन मुनि के स्वस्थता से आसनपर विराजने के अनन्तर उन को मधुरवाणी से आनन्दितकरतेहुए नन्दजी कहनेलगे कि-हे ब्रह्मन् ! जिस के सकल मनोरथ पूर्ण हैं ऐसे आप की हम क्या शुश्रूषा करें ? ॥ ३ ॥ यदि कहो कि-पूर्ण मनोरथ था तो मैं तुम्हारे घर क्यों आया ? सो हे सर्वज्ञ ! आपसमान महात्माओं का अपने आश्रम से दूसरों के घर जाना प्रायः नहीं होता है, यदि कदाचित् होय भी तो वह दीनचित्त गृहस्थियों के कल्याण के निमित्त ही होता है इस के सिवाय अपने स्वार्थ के निमित्त कभी नहीं होता है ॥ ४ ॥ अब उन से बालकों का नामकरण करने को कहने के निमित्त उन के ज्ञान की अधिकता कहते हैं कि-हे गर्ग ऋषे ! इन्द्रियों से न होनेवाला ज्ञान जिस से मिलता है वह ज्योतिषशास्त्र तुमने आपही रचा है, जिस ज्योतिषशास्त्र से पुरुष को, वीते

रीत्वरम् ॥ ५ ॥ त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान्कर्तुमर्हसि ॥ बालयोरनयो-र्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥ ६ ॥ गर्ग उवाच ॥ यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वदा ॥ सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥ कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ॥ देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥ इति संचिंतयन् श्रुत्वा देवक्या दारिकावचः ॥ अपि हंतागताशंकस्तर्हि तन्नो ऽनयो भवेत् ॥ ९ ॥ नंद उवाच ॥ अलक्षितोऽस्मिन्रहसि मामकैरपि गोव्रजे ॥ कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं संप्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ॥ चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥ गर्ग उवाच ॥ अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन्सु-

हुए और होनहार का ज्ञान होता है ॥ ५ ॥ ऐसे तुम ज्योतिषी होकर मन्त्र जाननेवालों में श्रेष्ठ हो, तिस से इन बालकों के नामकरण आदि करने की कृपा करिये यदि कहो कि यह तो गुरु का काम है सो हे ऋषे ! यह ब्राह्मण जन्म पाते ही सकल मनुष्यों का गुरु होताहै ॥ ६ ॥ ऐसा कहकर अति उत्साह में भरे हुए नन्दजी से 'यह गुप्तरीति से करना चाहिये,ऐसे अभिप्रायसे' निषेध करते हुए गर्गजी कहने लगे कि—हे नन्द ! मैं सकल भूतलपर यादवों का आचार्य प्रसिद्ध हूँ इस कारण मेरे संस्कार करेहुए तुम्हारे पुत्र को कंस अपने मन में देवकी का ही पुत्र मानेगा ॥ ७ ॥ और यदि कहो कि—यादवों का पुत्र है ऐसा जाने, परंतु यह वसुदेव का ही उनकी देवकी स्त्री के विषैं ही उत्पन्न हुआहै, यह कैसे जानेगा ? सो हे नन्दजी ? वह पापबुद्धि कंस 'तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न होगया है' ऐसे देवकी की कन्या के कथन को सुनकर, देवकी का आठवां गर्भ स्त्री नहीं होसक्ता, ऐसी मन में नित्य चिन्ता करके साधारणतया देवकी का पुत्र कहीं तो है यह जानता है, तिस में तुम्हारी और वसुदेवजी की मित्रता है ऐसा मन में विचारकर,वही बालक तुम्हारे घर आया होगा, ऐसी तर्कना करता है, तिसपर मैं संस्कार करूँगा तौ 'यह वही है' ऐसा निश्चय करके यदि तुम्हारे बालक को उस ने मारडाला तो हमारा बड़ाभारी अन्याय होगा ॥ ८ ॥ ९ ॥ नन्दजी ने कहा कि—हे ऋषिवर्य ! यदि ऐसा है तो, जिस में मेरे समीप के पुरुष भी न देखसकें इसप्रकार तुम इस गोकुल के विषैं एकांत स्थान में पुण्याहवाचन करके इन रामकृष्ण का, जो कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विजातियों को आवश्यक है वह संस्कारमात्र करदीजिये बहुत विस्तार का विधान न करिये ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार प्रार्थना करेहुए उन गर्गमुनि ने, गुप्तरीति से अपना इच्छित ही वह बालकों का नामकरण एकांतस्थान में करा ॥ ११ ॥ गर्गजी ने कहा कि—हे नन्दजी ! यह रोहिणी का पुत्र,

हृदो गुणैः ॥ आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः ॥ यदूनामपृ-
थग्भावात्संकर्षणमुशन्त्युत ॥ १२ ॥ आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ॥
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १३ ॥ प्रागयं वसुदेवस्य क्वचि-
ज्जातस्तवात्मजः ॥ वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः संप्रचक्षते ॥ १४ ॥ बहूनि
संति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ॥ गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो
जनाः ॥ १५ ॥ एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः ॥ अनेन सर्वदुर्गाणि
यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १६ ॥ पुराऽनेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ॥ अरा-
जके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून्समेधिताः ॥ १७ ॥ य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं
कुर्वन्ति मानवाः ॥ नारयोऽभिभवन्त्येतान्विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ १८ ॥ तस्मा-
न्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ॥ श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व
समाहितः ॥१९॥ इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ॥ नन्दः प्रमुदितो मेने

अपने पालन पोषण आदि गुणों से सम्बन्धियों को आनंद देगा इसकारण यह आप ही 'राम' नाम से प्रसिद्ध होगा; लोकों की अपेक्षा अधिक बलवान् होने के कारण इस को 'बल' कहेंगे; तथा किन्ही कारणों से यादवों में कलह उत्पन्न होनेपर यह उन को सदुपदेश दे कर एक करेंगे इसकारण लोक इन को सङ्कर्षण कहेंगे ॥ १२ ॥ हे नन्दजी ! प्रति युग में देह धारण करनेवाले इस तुम्हारे बालक का श्वेत, लाल और पीला यह तीन तथा और भी वर्णन होते हैं, इससमय यह कृष्णवर्ण को प्राप्त हुआ है इसकारण इसका 'कृष्ण' नाम होयगा ॥ १३ ॥ यह श्रीमान् तुम्हारा पुत्र, पहिले कभी तो वसुदेवजी का पुत्र हुआ था इसकारण इसका दूसरा 'वासुदेव' नाम होयगा ॥ १४ ॥ इस तुम्हारे पुत्र के गुणोंके अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ आदि और कर्मोंके अनुसार गिरिवरधारी आदि बहुत से नाम और रूपहैं उन सब को मैं ही जानताहूँ और लोक नहीं जानतेहैं॥ १५ ॥ गोप और गौओंके कुल को आनन्द देनेवाला यह पुत्र तुम्हारा कल्याण करेगा, इस के द्वारा तुम सकल सङ्कटों को अनायास में ही तरजाओगे ॥ १६ ॥ हेगोकुलपति नन्दजी ! पहिले जब राजा वेनका मरण होगया था तब चोरों से पीडितहुए साधुपुरुषों की इस ने पृथुरूपसे रक्षा करी थी इसकारण बढ़ेहुए उन्हों ने तिन चोरों को जीतलिया ॥ १७ ॥ जो महाभाग पुरुष, इससे प्रीति करते हैं उनका शत्रु तिरस्कार नहीं करसक्ते हैं जैसे कि—दैत्य, विष्णु के रक्षाकरेहुए देवताओं का तिरस्कार नहीं करसक्ते हैं ॥ १८ ॥ तिस से हेनन्दजी ! यह तुम्हारा पुत्र, गुणों से,ऐश्वर्य से,कीर्त्ति से और पराक्रम से साक्षात् नारायण की समान है, तुम इसकी सावधानी से रक्षाकरो ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हेराजन् ! इसप्रकार नन्दजीसे कहकर गर्गमुनि, अपने घरसे चलेगए तब परमप्रसन्नहुए उन नन्दजी

आत्मानं पूर्णमाशिषं॥२०॥ कालेन व्रजता ऽल्पेन गोकुले रामकेशवौ॥ जानुभ्यां
सह पाणिभ्यां रिंगमाणौ विजह्रतुः॥२१॥ तावंघ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्र
घोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ॥ तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतु-
रन्ति मात्रोः ॥ २२ ॥ तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पंकांगरागरु-
चिरावुपगृह्य दोर्भ्यां ॥ दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिता-
ल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ॥२३॥ यर्ह्यंगनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबलाः
प्रगृहीतपुच्छैः ॥ वत्सैरितस्ततउभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा ज-
हृषुर्हसन्त्यः ॥ २४ ॥ शृंग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ
स्वसुतौ निषेद्धुम्॥ गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मन-
सोऽनवस्थां ॥ २५ ॥ कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले ॥ अघृष्टजा-

ने अपने को पूर्णमनोरथ माना ॥ २० ॥ अब बलरामसहित श्रीकृष्णजी ने, गोकुल में बालक्रीड़ा के मिष से अनेकोंप्रकार के चमत्कार करके नन्दजी और यशोदा को जो परम आनन्दित करा, तिस का वर्णन करते हैं—नामकरण होकर थोड़ा सा ही काल बीतनेपर, राम और कृष्ण यह दोनों ही गोकुल में हाथों से और घुटनोंसे चलतेहुए विहार करनेलगे ॥ २१ ॥ वह रामकृष्ण, फिर हाथ टेककर चलते में दोनों पैरों को सरकाते २ गोकुल में की गोमूत्रादि की कीचमें, कमर और पैरों में पहिरे हुए भूषणों में लगेहुए घूँघुरुओं के स्पष्ट शब्द के साथ मनोहरता से विचरते हुए, तिन घूँघुरुओं की झनकार से जिनका मन हर्षित हुआ है ऐसे वह मनुष्यलोक के अनुसार किसी परमनुष्य के दृष्टि पडते ही अनजान की समान भयभीत से होकर अपनी माताके समीप को लौटकर चलेजाते थे॥ २२॥ उस समय कृपा से जिनके स्तनोंमें दूध आकर टपकने लगाहै ऐसी उनकी माता (यशोदा और रोहिणी), कीच लगजाने से सुन्दर दीखने वाले अपने पुत्रों को भुजाओं से चिपटाकर उनके मुखमें स्तन देकर, उनके स्तन को पीनेपर, मन्दहास्य सहित, छोटे२ दातोंवाले मुखको देखकर परम आनन्द पातीथीं॥२३॥ फिरवह रामकृष्ण ग्राममें की स्त्रियोंको बाललीला दिखाने योग्य बडेहुए, उससमय वह गोकुल के बछड़ोंकी पूँछको कसकर पकड़ लेतेथे; फिर पूँछपकड़े हुए बछड़ोंसे जिधर तिधरको घसिटते हुए तिन रामकृष्णको देखनेवाली गोकुलकी, स्त्रियें अपने२ घरमें के करने योग्य कार्योंको छोड़कर वह चमत्कार देखकर अत्यन्त ही आनन्द पाती थीं॥२४॥ उन रामकृष्णकी माता (रोहणी और यशोदा) जब गौ भैंस आदि सींगवाले पशुओं से अग्नि से, कुत्ते वानर आदि दाढ़वाले पशुओं से, तरवार कुल्हाड़ी आदि शस्त्रोंसे, काक गिद्ध आदि पक्षियोंसे और कीकड़ आदिके काँटों से, अति चपल और खिलाड़ी अपने बालकों को रोकने में और घरके काम छोडने में समर्थ नहीं होती थीं तब उनका मन चक्कर में पडजाता था; हे राजन्! घरके सुखकी पराकाष्ठा यही है ॥ २५ ॥ हे राजर्षे ! फिर

नुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥ २६ ॥ ततस्तु भगवान्कृष्णो वयस्यैर्व्रजबाल-
कैः ॥ सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदं ॥ २७ ॥ कृष्णस्य गोप्यो रु-
चिरं वीक्ष्य कौमारचापलं ॥ शृण्वंत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समाग-
ताः ॥ २८ ॥ वत्सान्मुंचन क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ
दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः ॥ मर्कान् भोक्ष्यन्विभजति स चेन्नात्ति
भांडं भिनत्ति द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥ २९ ॥ ह-
स्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैश्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभां-

थोडेही काल में गोकुल में राम और कृष्ण यह दोनों ही घुटनों चलना छोडकर विना स-हारेके ही सहज मे पैरों २ चलने लगे ॥ २६ ॥ तदनन्तर वह भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम सहित गोकुल में, समान अवस्था के बालकों को साथ लेकर गोकुल की वसने वाली स्त्रियों को हर्षित करते हुए क्रीडा करने लगे ॥ २७ ॥ तिन कृष्ण का कुमार अवस्था का सुन्दर चपलपना (ढिठाई) देखकर अपने २ घर से निकल इकट्ठी होकर नन्दजी के घर आई हुई गोपियें, उन कृष्ण की माता यशोदा को सुनाती हुई इस प्रकार स्पष्ट कहने लगीं कि–॥ २८ ॥ अरी यशोदा! तेरौ वेटा, चाहें जव दूध दुहने को समय न होयतो भी हमारे बछड़ान को खोलदेय है, सो वह बछड़ा सव दूध पीजायँ हैं, यासों हमारी बडी हानि होय है और उन छोड़ेहुए बछड़ोंको पकडवेको घरके लोग दौडि कै जायँहैं तो रीते घरन में धसि कै हमारे सम्हारि कै धरेहुए दही दूधको,हमारे विनादिये ही चुराय कै खाजाय है; अरी या कृष्ण को ताड़ना करौ,बांध राखौ,ऐसौ भय दिखायवे को चिल्लावैं हैं तौ हँसन लागै है; भय नहीं मानै है; दही, दूध, माखन आदि पदार्थ ऊँचे पै रक्खे हैं तो उन्हें चुरायवे को उपाय करै है; केवल आप ही नहीं खाय है किन्तु अपने खायवे से पाहिले वह वानरों को बांट देय है, और तिन वानरन में जो तृप्त हुआ कोई वानर दही दूध नहीं खाय है तौ दही दूध के भरेहुए भाँडन को फोरिडारै है तथा घर में दही दूध आदि नहीं धरैं और याकौ नहीं मिलै तौ, 'मैं इन के घरन को जलायडारूँ हूँ' या प्रकार कहिकै क्रोध में भरि पलिकान पै सोयेहुए बालकन कौ नोंचि कै रुवाय देय है; 'यह कदाचित् घरन में आग नाहिं लगायदेय' या भय सों हमैं घरन में दही आदि रखनौ पडै है ॥ २९ ॥ या के चोरी करिवे के यह उपाय हैं कि–कौन से भाँडे में कौन सौ अच्छौ पदार्थ रख्यौ है सो जानने हारो तेरौ वेटा दही आदि पदार्थ, ऊँचे छींकान पै धरेहुए होन के कारण हाथ नाहिं आवैं हैं तौ उन को नीचै गिरायवे को तिन के नीचै पीढ़ा ओखली आदि रखिवे को उपाय करै है, तथापि जो वह भांडे नीचे नहीं उतर सकें हैं तो लकुटी आदि से वा में छेद करदेय है तव वामें से धार निकसि

डेषु तद्वित् ॥ ध्वांतागारे धृतमणिगणं स्वांगमर्थप्रदीपं काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥ ३० ॥ एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते ॥ इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिर्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी नह्युपालब्धुमैच्छत् ॥ ३१ ॥ एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ॥ कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥ सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी ॥ यशोदा भयसंभ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥ ३३ ॥ कस्मान्मृदमदांतात्मन्भवान्भक्षितवान् रहः ॥ वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥ ३४ ॥ नाहं भक्षितवानंब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ॥ यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥ ३५ ॥ यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान्हरिः ॥ व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥ ३६ ॥ सा तत्र ददृशे विश्वं

के ठीक बालकन के मुख में पडै है, घर में अँधेरो होय है तौ अनेकों चमकते रत्नन को धारण करे अपने शरीर को ही पदार्थन को प्रकाशक करै है; जा समय गोपी अपने घर के कामन में आसक्तचित्त होय हैं वाही समय यह ऐसे ऊधम मचावैहै॥३०॥और देवपूजा स्वयम्पाक आदि करिवेके निमित्त भली प्रकार झाड बुहारेहुए घरनमें मूत्र पुरीष (विष्टा)कर देय है, ऐसी अनेकन ढिठाई करै है, या प्रकार चोरी के उपायन सौं विलक्षण काम करिकै भी तेरे ढिंग आय सूधो सो होजाय है, इस प्रकार गोपियों के कहने से भयभीत हुए नेत्रों से शोभायमान श्रीकृष्णजी के मुख को देखनेवाली उन गोपियों के उलाहिना देनेपर यशोदा के मुख में हँसी आगई और उस नें कृष्ण को ललकारने आदि का मन में विचार नहीं करा ॥ ३१ ॥ एक समय किसी अपराध के कारण कृष्ण को ताडना चाहा था परन्तु उस समय तो बडाही आश्चर्य हुआ; वह यह कि–खेलतेहुए तिन बलराम आदि गोपों के बालकों ने यशोदा के समीप आकर कृष्ण के मट्टी खाने का वृत्तान्त कहा ॥ ३२ ॥ तब उन के हित की इच्छा करनेवाली यशोदा ने कृष्ण के हाथ पकडलिये और ललकार कर, भय से घबड़ाकर देखनेवाले नेत्रो करकै युक्त तिन कृष्ण से कहन लगी कि–॥३३॥ अरे चपलशरीर कृष्ण! तैंने एकान्त में जाकर मट्टी क्यों खाई है? हित चाहनेवाले यह बालक ही कहरहे हैं और देख ऐसे ही तेरा बड़ा भ्राता बलराम भी कहरहा है ॥ ३४ ॥ तब कृष्ण ने कहा कि–अरी मैया! मैंने मट्टी नहीं खाई है, यह तो सब ही मिथ्या कहरहे हैं और यदि तुझे यह निश्चय होय कि–यह सत्य कहरहे हैं तो तू प्रत्यक्ष मेरे मुख को देखले ॥ ३५ ॥ अच्छा यदि ऐसा है तो अपना मुख खोलकर दिखा, ऐसा माता के कहनेपर क्रीडा करने के निमित्त ही मनुष्यबालक हुए किन्तु अखण्डित ऐश्वर्यवान् तिन भगवान् श्रीकृष्ण ने, अपना मुख फैलाया ॥ ३६ ॥ तब यशोदा ने उस फैले हुए मुख

जगत्स्थास्नु च खं दिशः ॥ साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥ ३७ ॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान्वियदेव च ॥ वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो
मात्रा गुणास्त्रयः ॥ ३८ ॥ एतद्विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशय-
लिङ्गभेदम् ॥ सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्
॥ ३९ ॥ किं स्वप्न एतदुत देवमाया किंवा मदीयो बत बुद्धिमोहः ॥ अथो-
अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥ ४० ॥ अथो यथा-
वन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ॥ यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥ ४१ ॥ अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ॥ गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्मा-
ययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥ ४२ ॥ इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां

में विश्व को देखा–स्थावर, जङ्गम, ज्योतिश्चक्र (अन्तरिक्षलोक) दिशा, पर्वत, पूर्वादि द्वीप और समुद्रसहित भूलोक, प्रवह नामक वायु, विजलीरूप अग्नि, चन्द्रमा और तारों सहित स्वर्गलोक, जल, तेज, वायु और आकाश, सात्विक अहंकार से उत्पन्नहुए देवता, राजस अहङ्कार से उत्पन्नहुई इन्द्रियें, तामस अहङ्कार से उत्पन्नहुए शब्दादि विषय और तीन गुण; इसप्रकार पुत्र के छोटे से शरीर में तिसमें भी फैलेहुए छोटेसे मुखमें जीव, काल, स्वभाव, कर्म और अन्तःकरण के द्वारा स्थावर जङ्गम शरीरों के भिन्न २ भेदों से भराहुआ यह विचित्र जगत् एकसाथ देखकर, उस में एक कोने में अपने सहित गोकुल को भी देखकर वह यशोदा, मन में ऐसी शङ्का करनेलगी कि–॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ जो मैंने देखा यह क्या स्वप्न है ? तदनंतर मैं जागती हूँ ऐसा समझकर कहती है कि– यह भगवान् की माया है क्या ? या मेरी बुद्धि में कुछ मोह उत्पन्न होगया है ? अथवा इस मेरे बालक का ही यह कोई अचिन्त्यनीय स्वाभाविक ऐश्वर्य है ? ॥ ४० ॥ ऐसी अनेकों तर्कना कर अन्त का पक्ष स्वीकार करके कहती है–जिस परमेश्वर से, चित्त, मन, कर्म और वाणी के द्वारा अनायास में जिस की तर्कना करना कठिन है ऐसा, जिस के आश्रय से रहनेवाला यह जगत, जिस के द्वारा, जिस बुद्धि की वृत्ति से प्रतीत होता है तिन परमेश्वर के परम अचिन्त्य चरणकी मैं शरण हूँ ॥ ४१ ॥ मैं यशोदा, इन नन्द जी के सब प्रकार के द्रव्यों की रक्षा करनेवाली स्त्री हूँ; यह नन्दजी मेरे पति हैं, यह कृष्ण मेरा पुत्र है, गोधनसहित सकल गोपी और गोप यह मेरे ही (परिवार) हैं इस प्रकार की अनर्थकारिणी बुद्धि जिस की मायाने मेरे में उत्पन्न करी है वह भगवान् ही मेरी गति (माया से रक्षाकरनेवाले) होयँ ॥ ४२ ॥ इसप्रकार तिस यशोदा गोपीको

सं ईश्वरः ॥ वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥ ४३ ॥ सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम् ॥ प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद्यथा पुरा ॥ ४४ ॥ त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ॥ उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम् ॥ ४५ ॥ राजोवाच ॥ नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ॥ यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥ ४६ ॥ पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ॥ गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥ ॥ ४७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया ॥ करिष्यमाण आदेशान्ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥ ४८ ॥ जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ॥ भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाऽञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥

तत्त्वज्ञान होनेपर सर्वसमर्थ ईश्वर तिन श्रीकृष्णजी ने उसके ऊपर पुत्रस्नेहरूप अपनी माया फैलाई ॥ ४३ ॥ तब तत्काल जिसका पहिले का ज्ञान नष्ट होगया है ऐसी वह यशोदा पुत्र को गोदी में लेकर जैसे पहिले चित्त में बढ़ेहुए स्नेह से व्याप्त हुई थी तैसी ही फिर होगई ॥ ४४ ॥ अब मायाबलकी अधिकता कहते हैं—कर्मकाण्डरूप ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन के द्वारा इन्द्रादिरूप से, उपनिषद्भागों में ब्रह्मरूप से, सांख्यशास्त्रों में पुरुषरूप से, योगों में परमात्मारूप से और पंचरात्र आदि वैष्णव तंत्रों में भगवद्रूप से जिन का माहात्म्य गाया है उन श्रीहरि को तिस यशोदा ने अपना पुत्र माना ॥ ४५ ॥ राजा ने कहा कि—हे ब्रह्मन् ! नन्दजी ने भगवान् की बाललीला का अनुभवरूप परम फल देनेवाला जन्मान्तर में कौन सा कल्याण का साधन करा था ? तथा जिस की तृप्ति करने को यज्ञ आदि भी समर्थ नहीं होते हैं तिन श्रीहरि ने जिस का स्तन पिया है उस परम भाग्यवती यशोदा ने भी कल्याण का कौनसा साधन कराथा ? ॥ ४६ ॥ जिन के ऊपर प्रसन्न होकर भगवान् ने अवतार धारण करा है उन देवकी वसुदेव को भी कृष्ण के, जिस उदार बालचरित्र का का अनुभव नहीं मिला, बडे २ ज्ञानी जिस का अब भी गान करते हैं और जो श्रोता आदिकों के पापों का नाश करनेवाला है तिस बालचरित्र का जिन नन्द और यशोदा ने अनुभव करा उन्हों ने पहिले कौनसा पुण्य करा था ? ॥ ४७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! आठ वसु में परम श्रेष्ठ जो द्रोण नामक वसु, वह अपनी धरा नामवाली स्त्री सहित ब्रह्माजी की गोपालन आदि आज्ञा को स्वीकार करता हुआ उन से कहने लगा कि—॥ ४८ ॥ हम दोनों तुम्हारी आज्ञा को मानते हैं परन्तु भूमिपर उत्पन्न हुए हम दोनों को, देवाधिदेव विश्वनियन्ता श्रीहरि के विषैं ऐसी उत्तम भक्ति प्राप्त होय कि—जिस से संसारी जन अनायास में ही संसारदुःख को तरजाय (मुक्त होय) ॥ ४९ ॥ तद-

अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः ॥ जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥ ५० ॥ ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ॥ दंपत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारत ॥ ५१ ॥ कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः ॥ सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥ ५२ ॥ इतिश्रीभागवते द० पू० विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ॥ कर्मांतरनियुक्तासु निर्ममंथ स्वयं दधि ॥ १ ॥ यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ॥ दधिनिर्मंथने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥ क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकंपं च सुभ्रूः ॥ रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कंकणौ कुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं कवरविगलन्मालती निर्ममंथ ॥ ॥ ३ ॥ तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नंतीं जननीं हरिः ॥ गृहीत्वा

नन्तर ब्रह्माजी ने 'अच्छा ऐसा ही होगा,' इस प्रकार कहा तब वह द्रोण वसु, गोकुल में उत्पन्न हुआ, वही ऐश्वर्य आदि गुणयुक्त महायशस्वी 'नन्द' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ और उस की स्त्री जो धरा वह यशोदा हुई ॥ ५० ॥ हे राजन् ! उन ब्रह्माजी के आशीर्वाद से और गोप गोपियों की अपेक्षा तिन यशोदा नन्द की, पुत्ररूप से उत्पन्न हुए जनार्दन भगवान् के विषैं परमप्रीति हुई ॥ ५१ ॥ प्रभु श्रीकृष्ण ने भी, ब्रह्माजी का वरदान सत्य करने के निमित्त बलराम सहित गोकुल में वास करके पुत्रभाव के अनुसार अपनी लीला से तिन नन्दादिकों के हृदय में प्रीति उत्पन्न करी ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में अष्टम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ इस नवम अध्याय में दूध उफननेलगा तब यशोदा माता उधरगई इसकारण श्रीकृष्ण ने क्रोध से दही का पात्र फोड़कर मक्खन की चोरी करी तब यह देख यशोदा ने उन को डोरी से बाँधदिया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! नन्दजी के घर बहुत सी दासी थीं, वह एकसमय जिस तिस कार्य के करने में लगादीं थीं सो नन्दजी की स्त्री यशोदा, आप ही दही को मथनेलगी ॥ १ ॥ तब दही को मथतेसमय उस प्रसिद्ध श्रीकृष्ण बालक के इस लोक में पुराण आदि में और गोकुल में जो२ गान करेहुए जो२ चरित्र वह जानती थी उन को स्मरण करतीहुई गानेलगी ॥२॥ और जिस की भौं सुन्दर हैं और जिस की चोटीमें से मालतीके फूल गिररहे हैं वह यशोदा, पुष्ट कटितट में तागड़ी से लिपटीहुई रेशमी साड़ी, पुत्र के स्नेह से दूध टपकते हुए दोनों स्तन, डोरी खैंचने से थके हुए हाथों में चञ्चल कङ्कण, कानों में कुण्डल और पसीने से भीगे हुए मुख को धारण करती हुई वह यशोदा दही मथनेलगी ॥ ३ ॥ उस दही मथतीहुई माता के समीप, स्तन का दूध पीने की इच्छा करनेवाले श्रीहरि ने आकर,

दधिमंथानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥ तमङ्कमारूढमपाययत्स्तनं स्नेह-
स्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ॥ अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने
पयसि त्वधिश्रिते ॥५॥ संजातकोपः स्फुरितारुणाधरं संदश्य दद्भिर्दधिमंथभा-
जनम् ॥ भित्त्वा मृषाऽश्रुर्दृषदश्मना रहो जघास हैयंगवमंतरं गतः ॥ ६ ॥ उ-
त्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ॥ भग्नं विलोक्य
स्वसुतस्य कर्म तज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥ उलूखलांघ्रेरु-
परि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम् ॥ हैयंगवं चौर्यविशङ्किते-
क्षणं निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥ तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्त-
तोऽवरुह्यापससार भीतवत् ॥ गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं
तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥ अन्वंचमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रांतगतिः

दही मथने की रई को पकडकर, माता की प्रीतिकारक चेष्टा करते हुए मथने से रोक दिया ॥ ४ ॥ तब वह यशोदा, उन के हास्य युक्त मुख को देखती हुई, गोदी में बैठे हुए, उन के स्नेह से टपकनेवाला स्तन पिलाने लगी; इतने ही में चूल्हेंपर रक्खा हुआ दूध अधिक अग्नि लगने से उफनने लगा तब तृप्त न हुए कृष्ण को तैसाही छोड़कर वह झपटीहुई तिस दूध को उतारने के निमित्त चलीगई ॥ ५ ॥ तब माता पेटभर के विना पिलाये ही छोडकर चलीगई इस कारण क्रुद्धहुए श्रीकृष्ण कोप से कांपनेवाले अपने लाल अधर ओठ को दांतों से चबाकर, पत्थर से दही का भांडा फोड बनावटी रोने से नेत्रों में आंसू भरकर घर में जा एकान्त में माखन खानेलगे ॥ ६ ॥ इधर यशोदा, खूब औटा हुआ वह दूध उतारकर फिर मथने के स्थानपर आई सो तहां फूटाहुआ दही का भांडा देखकर, यह काम मेरे पुत्र का ही है ऐसा जाना और उस को भी तहां न देखती हुई वह हँसनेलगी ॥ ७ ॥ तदनन्तर उस ने उलटी करके डाली हुई ओखलीपर चढ़कर छींके पर रक्खाहुआ माखन अपनी इच्छानुसार वानरों को देनेवाले और जिस के नेत्र चोरी का काम करने से 'कहीं मय्या नहीं आजाय' इस भय से घबाड़ये हुए होरहे हैं ऐसे उन कृष्ण को दूर से ही देखकर, फिर चलते में होनेवाला चरणों का शब्द जैसे उस को सुनाई न देंय तिस प्रकार धीरे २ पीछे होकर उस के समीप गई ॥ ८ ॥ तब जिसने हाथ में लकडी ली है ऐसी आनेवाली उस माता को देखकर, शीघ्रता से वह श्रीकृष्णजी तिस ओखली पर से नीचे उतरकर डरेहुए से भागनेलगे. उस समय एकाग्रता से तदाकार हुए और प्रवेश करनें को समर्थ हुए योगियों के मन को भी जिस की प्राप्ति नहीं होती है ऐसे कृष्ण के पकडने को यशोदा उन के पीछे २ दौड़ने लगी ॥ ९ ॥ इस प्रकार कृष्ण के पीछे दौड़नेवाली, जिस की गति हिलते हुए नितम्ब के भार से रुकरही है, जिस की कमर

सुमध्यमा ॥ जवेन विस्रंसितकेशबंधनच्युतप्रसूनाऽनुगतिः परामृशत् ॥ १० ॥
कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषंतमंजन्मषिणी स्वपाणिना ॥ उद्वीक्ष्यमाणं
भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयंत्यवागुरत् ॥ ११ ॥ त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं
विज्ञायार्भकवत्सला ॥ इयेष किल तं बद्धुं दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा ॥ १२ ॥
न चांतर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ॥ पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो
जगच्च यः ॥ १३ ॥ तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षजम् ॥ गोपिको-
लूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥ तद्दामे बध्यमानस्य स्वार्भकस्य
कृतागसः ॥ द्व्यंगुलोनमभूत्तेन संदधेऽन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥ यदासीत्त-
दपि न्यूनं तेनान्यदपि संदधे ॥ तदपि द्व्यंगुलं न्यूनं यद्यदादत्त बंधनम् ॥
॥ १६ ॥ एवं स्वगेहदामानि यशोदा संदधत्यपि ॥ गोपीनामुत्स्मयंतीनां स्म-

अतिसुन्दर है और जिस के वेग से खुले हुए केशपाश में से बिखरे हुए पुष्प पीछे २ बिख-रते जाते हैं ऐसी तिस यशोदा ने कृष्ण को पकड़लिया ॥ १० ॥ और अपराध करने वाले, रोतेहुए, जिन में आंजा हुआ काजल चारों ओर फैलगया है ऐसे अपने नेत्रों को हाथ से मलते हुए, पिटने के भय से ऊपर को देखते हुए और जिनके नेत्र भय से कातर होरहे हैं ऐसे उन कृष्ण को हाथ से पकडकर वह यशोदा उन से अरे ! रे ! चोर !, मैं तुझे छड़ी से पीटूँगी कि–जिस से तू फिर ऐसी ढिठाई नहीं करेगा ऐसे भय देती हुई ललकारने लगी ॥ ११ ॥ तदनन्तर पुत्र के ऊपर प्रेम करनेवाली परंतु उसकी साम-र्थ्य को न जाननेवाली तिस यशोदा ने; पुत्र पिटने के भय से डर रहा है ऐसा जानकर, हाथ में छड़ी फैंककर, उन को डोरी से बांधने का मन में विचार करने लगी ॥१२॥ जिन कृष्ण की भीतर भाग नहीं, बाहरी भाग नहीं, पूर्व भाग नहीं और पश्चिमादि भाग भी नहीं, और व्यापक से व्याप्य का बन्धन होता है ऐसा देखनेपर, ज-गत् का पूर्वभाग, पश्चिमभाग (आदि और अन्त), अन्तर्भाग और बहिर्भाग है, यह सब जो है और जो जगद्रूप है तिस अव्यक्त होकर मनुष्यरूप धारण करनेवाले अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मानकर वह यशोदा, जैसे किसी साधारण बालक को उस की माता बाँधती है तैसे ऊखल से बाँधनेलगी ॥ १३ ॥ १४ ॥ तब भाँडा फोड़ना आदि अपराध करनेवाले तिस अपने बालक को वह गोपी बाँधनेलगी तो वह डोरी दो अंगुल कम पड़ी तब उस ने तिस डोरी में और एक डोरी जोडी ॥ १५ ॥ तब दोनों डोरी जोडकर जो एक डोरीहुई वह भी दो अंगुल कम होनेलगी तब उस में तीसरी डोरी बाँधी तब वह भी दो अंगुल कमहुई; फिर चौथी पांचवीं ऐसे जो २ डोरी जोडी वह २ ही दो अंगुल कमहुई ॥१६॥ इसप्रकार अपने घर की सब डोरियोंको जोडकर भी वह यशोदा,

यंती विस्मितोऽभवत् ॥ १७ ॥ स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ॥
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत्स्वबंधने ॥ १८ ॥ एवं संदर्शिता ह्यंग हरिणा
भृत्यवश्यता ॥ स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥ नेमं वि-
रिंचो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया ॥ प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विं-
मुक्तिदात् ॥ २० ॥ नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः ॥ ज्ञानिनां
चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥ कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मा-
तरि प्रभुः ॥ अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥ पुरा नारदशा-
पेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ॥ नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियाऽन्वितौ

दोअंगुलडोरीकम होनेके कारण जब कृष्णबाँधनेकोसमर्थनहीं हुइ तो अपना उद्योगनिष्फल हुआ देखकर मंद२मुसकरानेवाली सकलगोपियों में वहआपभी.मुसकरातीहुई बडेआश्चर्यमें पडी१७तब श्रीकृष्णजी, जिसके शरीर पर पसीना आरहाहै, और जिसके केशोंके जूडेमें से पुष्पमाला खसक रही हैं ऐसी अपनी माता को, मेरे बाँधने के निमित्त बडाश्रम हुआ है ऐसा देख कृपा करके वह आपही बँधगये; उस समय नन्द और रोहिणी तहाँ नहीं थे, यदि होते तो यशोदा को निषेध करते॥१८॥हे राजन् ! ब्रह्मादि पालन करनेवालों सहित यह सकल जगत् जिसके वशमें है,उन स्वतन्त्र और भक्तोंके सङ्कट दूर करनेवाले श्रीकृष्ण जीने, इसप्रकार माता के हाथ से बँधकर यह दिखाया कि—मैं भक्तोंके वशमें हूँ ॥ १९ ॥ अब, भगवान् का प्रसाद और भी भक्त पाते हैं परन्तु यहतो बडाही आश्चर्य है ऐसा रोमाञ्च सहित होकर कहते हैं कि-ब्रह्माजी (पुत्र) महादेव (अपना आत्मा) और जिसने हृदय में स्थान पाया है ऐसी लक्ष्मी (स्त्री) इन तीनोंही ने ईश्वर और कृपापात्र प्रसिद्ध होकर भी भगवान् से प्रसाद नहीं पाया ऐसा नहीं है किन्तु पायाही; तथापि मुक्ति देने वाले भगवान् से, उनको ही बाँधकर मनोरथ पूर्ण करना, जैसा दुर्लभ प्रसाद, जाति आचार आदि से हीनभी गोपीको प्राप्त हुआ ऐसा उन ब्रह्मादिकों को भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ २० ॥ सार यह है कि—यह यशोदानन्दन श्रीकृष्णजी, इससंसार में भक्तिमान् पुरुषों को जैसे सुलभ हैं तैसे देहाभिमानी तपस्वियों को अथवा भगवान् के आत्मस्वरूप देहाभिमान रहित ज्ञानियोंको भी सुलभ नहीं हैं ॥ २१ ॥ अब भक्तों के बांधेहुए भी भगवान् की दूसरों को मुक्त करने की शक्ति कहते हैं—तिन प्रभु श्रीकृष्णजी ने, माता यशोदा के, अपने को ओखली से बांधकर घर के काम में आसक्त होनेपर, नन्दजी मुझे छुड़ादें ऐसा, मन में बिचारकर तिन नन्दजी को शीघ्रही तहां बुलाने के निमित्त, तहां से समीप ही में अर्जुन नामक जुडेहुए दो वृक्षों को देखा; वह वृक्ष पहिले गुह्यक नामक देवयोनि में उत्पन्न हुए और नलकूवर मणिग्रीव इन नामों से प्रसिद्ध थे; वह सम्पत्तिमान् होने के कारण मदान्ध होगये, तब उन को नारदजी ने

॥ २३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीप्रसादो नाम न-
वमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य
कारणम् ॥ यत्तद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ॥ कैलासोपवने रम्ये मंदाकिन्यां म-
दोत्कटौ ॥ २ ॥ वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ॥ स्त्रीजनैरनुगाय-
द्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥ अन्तः प्रविश्य गंगायामंभोजवनराजिनि ॥
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभि॥४॥यदृच्छया च देवर्षिभगवांस्तत्र कौरव॥
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुद्ध्यत ॥ ५ ॥ तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो वि-
वस्त्राः शापशङ्किताः ॥ वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥
तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदांधौ सुरात्मजौ ॥ तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं-

शाप देकर वृक्षयोनि में पहुँचादिया ॥ २२ ॥ २३ ॥ इति श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में नवम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ इस दशवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने, ओखली को खचेडते हुए वीच में जाकर, जुडे हुए अर्जुन नामक वृक्षों को गिराया तव उन में से उत्पन्न हुए दो देवताओं ने श्रीकृष्णजीकी स्तुति करी यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ राजा ने कहा कि–हे भगवन् ! उन नलकूबर मणिग्रीव के शाप का कारण जो ऐसा निन्दित कर्म था कि–जिस से भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी को भी क्रोध आगया और उन को शाप दिया, सो मुझ से कहो ॥ १ ॥ ऐसा प्रश्न करनेपर श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–कुबेर श्रीमहादेवजी का मित्र था, उस के पुत्र जो नलकूबर और मणिग्रीव वह भी महादेवजी के सेवक थे; बडे घमण्डी और मदोन्मत्त होकर उन्हों ने महादेवजी की सेवा करना त्याग दिया और एक समय वह वरुण की बनाई हुई, बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाली, मदिरा को पीकर, जिन के नेत्र मद से घूम रहे हैं ऐसे होकर गङ्गा के समीप कैलास पर्वतपर सुन्दर पुष्पवाटिका में मिलकर गानेवाली स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए विचरनेलगे ॥ २ ॥ ३ ॥ तदनन्तर वह कुवेर के पुत्र,स्त्रियों के साथ, कमलों के वनों की पंक्तियों से फूले हुए गङ्गा के मध्य में घुसकर, जैसे हाथी हथनियों के साथ क्रीडा करते हैं तैसे क्रीडा करनेलगे ॥ ४ ॥ हे राजन् ! तहां अचानक आये हुए भगवान् देवर्षि नारदजी ने इन देवताओं को देखा और यह मत्त होरहे हैं ऐसा जाना ॥५॥ क्योंकि–उस समय उन के साथ क्रीडा करनेवाली अप्सरा नंगीं थीं, उन्हों ने नारदजी को देखतेही लज्जित होकर ' यह कहीं शाप न दे दें ' ऐसी शङ्का से शीघ्रता के साथ अपने वस्त्र पहिनलिये, परंतु नङ्गे वह दोनों गुह्यक विना वस्त्र पहिने ही खडेरहे ॥ ६ ॥ तव मदिरा के पीने से मत्त और लक्ष्मी के मद से अन्धे हुए उन कुवेर के पुत्रों को देख कर नारद ऋषि, उन के मद का नाश कर श्रीकृष्णजी का दर्शनरूप अनुग्रह

जगौ ॥ ७ ॥ नारद उवाच ॥ नह्यन्यो जुषतो जोष्यान्बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ॥ श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः ॥ ८ ॥ हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः ॥ मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्युनश्वरं ॥ ९ ॥ देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ॥ भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥ देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ॥ मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥ ११ ॥ एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ॥ को विद्वानात्मसात्कृत्वा हंति जंतूनृतेऽसतः ॥ १२ ॥ असतः श्रीमदांधस्य दारिद्र्यं परमांजनम् ॥

करने के निमित्त शाप देतेहुए इस प्रकार कहनेलगे ॥ ७ ॥ नारदजी ने कहा कि—प्रिय विषयों का सेवन करनेवाले पुरुष को जैसे लक्ष्मी का मद बुद्धि का भ्रष्ट करनेवाला होता है तैसा सत्कुल में जन्म और विद्या आदि अथवा रजोगुण के कार्य हर्ष आदि कोई भी मद बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाला नहीं होता है; क्योंकि—जिस श्रीमद में स्त्री—जुआ और मद्यपान आदि विषयों का सम्बन्ध होता है ॥ ८ ॥ जिस लक्ष्मीके मद,में नाशवान् भी इस शरीर को, यह जरामरण रहित है ऐसा माननेवाले, और मन को वश में न रखनेवाले निर्दयी पुरुष (भक्षण करनेके निमित्त) पशुओं की हिंसा करतेहैं, ॥ ९ ॥ देखो—यह शरीर जीते में नरदेव (राजा) भूदेव (ब्राह्मण) आदि नाम धारण करनेवाला होकर भी मरण के अनन्तर कुत्ते आदिकों ने खालिया तो विष्ठारूप होजाता है, पुत्र आदिकों ने जलादिया तो भस्मरूप होजाता है और वैसाही पडारहा तो कीडेरूप होजाता है, ऐसे शरीर के निमित्त जो पुरुष, प्राणियों से द्रोह करता है क्या वह अपने स्वार्थको जानता है? किन्तु नहीं जानता है, क्योंकि—जिस द्रोहसे नरक की पीडा प्राप्त होती हैं ॥ १० ॥ यह देह क्या स्वाधीन पनेसे प्रसिद्ध होनेके कारण अपना कहाजाय ? वा अन्न देनेवाले के अन्नसे रक्षित होनेके कारण अन्नदाताका कहाजाय ? अथवा पिताके वीर्यसे उत्पन्न होने के कारण पिताका कहाजाय ? या माता के उदर में से उत्पन्न होनेके कारण माता का कहाजाय ? अथवा माता का पिता (नाना) 'इस के पुत्र होगा वह मेरा होगा' ऐसा ठहराकर कन्या देता है उसका कहाजाय ? अथवा आज्ञा चलानेवाले बलवान् पुरुष का है ऐसा कहाजाय ? अथवा बेचनेवाले का कहाजाय ? वा अग्नि का अथवा कुत्तों का कहाजाय ? ॥ ११ ॥ इसप्रकार साधारण और प्रकृति से उत्पन्न होकर उसमें ही लीन होजानेवाले देह को 'यह मेरा ही है' ऐसा मानकर उस के सुख के निमित्त, मूर्ख पुरुष के सिवाय कौन सा ज्ञानीपुरुष, प्राणियों का प्राणान्त करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा ॥ १२ ॥ इसप्रकार लक्ष्मी के मद का वर्त्ताव करके अब उस के उपाय का निश्चय करते हैं—लक्ष्मी के मद से अन्ध होने के कारण 'यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये'

आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥ यथा कंटकविद्धांगो जंतो-
र्नेच्छति तां व्यथां ॥ जीवसाम्यं गतो लिंगैर्न तथाऽविद्धकंटकः ॥ १४ ॥
दरिद्रो निरहंस्तंभो मुक्तः सर्वमदैरिह ॥ कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य
परं तपः ॥ १५ ॥ नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः ॥ इंद्रियाण्य-
नुशुष्यंति हिंसाऽपि विनिवर्त्तते ॥ १६ ॥ दरिद्रस्यैव युज्यंते साधवः समद-
र्शिनः ॥ सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं ततं आराद्विशुद्ध्यति ॥ १७ ॥ साधूनां स-
मचित्तानां मुकुंदचरणैषिणां ॥ उपेक्ष्यैः किं धनस्तंभैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदांधयोः ॥ तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोर-

ऐसी दृष्टि न रखनेवाले विवेकहीन पुरुष को दरिद्रता ही श्रेष्ठ अञ्जन है; क्योंकि–दरिद्री पुरुष ही, मेरी समान ही सकल प्राणी हैं, ऐसा देखता है अर्थात् दरिद्रता के कारण अनेकों दुःख भोगनेवाला दरिद्री, ऐसे ही दुःख सब को प्राप्त होते होंगे, ऐसा निश्चय करके जानता है ॥ १३ ॥ इस विषय में दृष्टांत कहते हैं कि–जैसे शरीर में काँटे चुभाहुआ पुरुष, मुख की मलिनता आदि चिन्होंसे, सकल जीवों को सुख दुःख समान होते हैं ऐसा जानकर, दूसरे प्राणी के कांटा चुभने की इच्छा नही करताहै किंतु उसके कांटे को दूर करने की इच्छा करता है, तैसे ही जिस के कभी भी काँटा नहीं चुभा है वह दूसरे की पीड़ा को नहीं जानता है और उस के दूर करने की भी इच्छा नहीं करता है ॥ १४ ॥ और यह दारिद्र्य ही मोक्ष भी प्राप्त करा देता है; क्योंकि–इस संसार में दरिद्री पुरुष ही विद्या तप आदि के मदों से और अहङ्कार के उद्धतपने से रहित होकर प्रारब्धवश जो कुछ दुःख पाता है वही उस का परमतप होता है ॥ १५ ॥ क्षुधा से दुर्बल शरीर होकर नित्य अन्न की इच्छा करनेवाले दरिद्रियों की इंद्रियें प्रतिक्षण सूखती चलीजाती हैं और नरकादि दुःख की हेतुभूत हिंसा भी दूर होजाती है ॥ १६ ॥ और दरिद्रियों को ही, सर्वो में ब्रह्मरूप देखनेवाले साधुओं की सङ्गति प्राप्त होती है, तदनन्तर उन साधुओं का समागम करके वह दरिद्री पुरुष, विषयवासनारूप तृष्णा का क्षय करडालता है और वह फिर शीघ्रही जीवन्मुक्त होजाता है॥ १७॥ यदि कहो कि साधुओं को भी धनवान् ही प्रिय होता है दरिद्री प्रियनहीं होताहै, तहां कहतेहैं कि–जिन का चित्त शत्रु मित्रादि भाव से रहितहै ऐसे मुकुन्द भगवान् के चरण की इच्छा करनेवाले साधुओंको, धनके घमण्डी, उपेक्षा करनेयोग्य, दुराचरणी पुरुषोंका साथ करनेवाले दुर्जनोंसे क्या प्रयोजनहै? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहींहै १८ इसकारण लक्ष्मी के मदसे अन्ध और वारुणी मदिरा से अन्ध होकर स्त्रियों से जीते-हुए और मनको वशमें न करनेवाले इन नलकूबर और मणिग्रीवों का अज्ञान से उत्पन्न

जितात्मनोः ॥ १९ ॥ यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ॥ न वि-
वाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥ अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां
नैवं यथा पुनः ॥ स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥
वासुदेवस्य सांनिध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ॥ वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती
भविष्यतः ॥ २२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणा-
श्रमम् ॥ नलकूवरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३ ॥ ऋषेर्भागवतमुख्यस्य
सत्यं कर्तुं वचो हरिः ॥ जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥ २४ ॥ दे-
वर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ॥ तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्म-
हात्मना ॥ २५ ॥ इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ॥ आत्मनिर्वेशमा-
त्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥ बालेन निष्कर्षयताऽन्वगुलूखलं तद्दामो-

हुआ सम्पत्ति का मद, मैं दूरकरता हूँ ॥ १९ ॥ जो यह लोकपाल कुवेर के पुत्र होकर भी अज्ञान से भरेहुए और अतिखोटे मद से युक्त होकर नग्न हुए अपने शरीर को भी न जाननेवाले होगए हैं इस से यह कुछकालपर्यन्त वृक्षयोनि को प्राप्त होनेयोग्य हैं, जिस से कि—फिर ऐसे मदसे अन्धे कभी नहीं होंगे और उस वृक्षयोनि में भी मेरे अनुग्रह से इन को अपने खोटे कर्म का स्मरण रहैगा ॥ २० ॥ २१ ॥ तदनन्तर देवताओं के सौ वर्ष बीतजानेपर मेरे अनुग्रह से श्रीकृष्ण की समीपता को पाकर यह नलकूवर और मणिग्रीव फिर देवयोनि को प्राप्त होंगे और इनको उन श्रीकृष्णजी की भक्ति प्राप्त होगी ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! उन देवर्षि नारद जी ने ऐसे कहकर नरनारायण के आश्रम (वदरिकाश्रम) को गमन करा और नलकूवर मणिग्रीव यह गोकुल में यमलार्जुन वृक्ष होकर रहे ॥ २३ ॥ इसप्रकार राजा का बूझा हुआ शाप का कारण कहकर अब प्रस्तुतविषय को कहते हैं कि—भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी का कथन सत्य करने को ओखली में बँधेहुए श्रीकृष्णजी, जहाँ वह यमला-र्जुन वृक्ष थे तहाँ धीरे २ पहुँचगये ॥ २४ ॥ इस का अभिप्राय यह है कि—क्योंकि नारदजी मुझे अतिप्रिय हैं और यह कुवेर के पुत्र देवता होकर वृक्षयोनि को प्राप्त हो गये हैं इसकारण उन महात्मा नारदजी ने 'देवताओंके सौ वर्ष के अनन्तर श्रीकृष्णजी का दर्शन होनेपर यह शाप से छूटजायँगे', ऐसा जो कहा था उसको वैसेही साधता हूँ ॥२५॥ ऐसा मन में विचारकर वह श्रीकृष्णजी जुडेहुए उन अर्जुननामक वृक्षों के मध्य में गये, सो श्रीकृष्णजीके प्रवेश करतेही वह उनका खचेडा हुआ ऊखलभी तिरछा होकर चलतागया॥२६॥उससमय पीछे २ तिरछे लुढ़कते जानेवाले और वृक्षोंमें अटके हुए तिस ऊखल को वेग से खेंचनेवाले और डोरी से बँधेहुए उन श्रीकृष्ण बालक ने,जिनकी जड़ उखाड

दरेण तरसोत्कलितांघ्रिबन्धौ ॥ निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालवि-
टपौ कृतचंडशब्दौ ॥ २७ ॥ तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरंतौ सिद्धावुपे-
त्य कुजयोरिव जातवेदाः ॥ कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽखिललोकनाथं बद्धांजली
विरजसाविदमूचतुः स्म ॥ २८ ॥ कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः॥
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥ २९ ॥ त्वमेकः सर्व-
भूतानां देहास्वात्मेंद्रियेश्वरः ॥ त्वमेव कालो भगवान्विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥
॥ ३० ॥ त्वं महान्प्रकृतिः साक्षाद्रजःसत्वतमोमयी ॥ त्वमेव पुरुषोऽध्य-
क्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥ गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ॥

दी है और उन ही परमेश्वर के पराक्रम से जिन के गुद्द,पत्ते और डालियें अत्यन्त कम्पा-यमान होगई हैं ऐसे वह दोनों अर्जुन के वृक्ष बड़ा भयङ्कर कड़कड़ाहट का शब्द करके पृथ्वीपर गिरपड़े ॥ २७ ॥ और जैसे वृक्षों में होनेवाला अग्नि, उन में से मूर्त्ति धारण करे हुए प्रकट होता है तैसे ही उन वृक्षों में से प्रकट हुए और परमकान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले दोनों सिद्ध (नलकूबर और मणिग्रीव) श्रीकृष्णजी के समीप आये और सम्पत्ति के मद से रहित हुए उन्हों ने सकल लोकों के नाथ श्रीकृष्णजी को मस्तक से प्रणाम करके हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा कि—॥ २८ ॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अचिन्त्य प्रभाव ! तुम गोप के बालक नहीं हो किन्तु सकल जगत् के कारणभूत परमपुरुष हो, स्थूल सूक्ष्मरूप यह सकल जगत्, तुम्हारा ही स्वरूप है ऐसा ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ २९ ॥ जगत् के नियन्ता भी तुम ही हो, क्योंकि—सकल प्राणियों के जो देह, प्राण, अहङ्कार और इन्द्रियें हैं उन सब की रक्षा करनेवाले एक तुम ही हो यदि कहो कि काल इस जगत् का निमित्तकारण है, प्रकृति उपादान कारण है, प्रकृति से उत्पन्न हुआ महतत्त्व जगत् के आकाररूप से परिणाम को प्राप्त होता है, इस का कर्त्ता और नियन्ता पुरुष है इस में मैं क्या हूँ ? सो हे भगवन् अविनाशी, ईश्वर, विष्णु तुम ही हो इस कारण काल भी तुमही हो अर्थात् काल तुम्हारी लीला है ॥३०॥ महत्तत्त्व और रज, सत्त्व, तम इन तीन गुणों से युक्त प्रकृति नामवाली सूक्ष्म शक्ति भी तुम ही हो; तुम ही सर्वसाक्षी पुरुषहो और सबों के शरीर, इन्द्रिय तथा मनों के रोग, राग,और प्रीति आदि विकारों के जाननेवाले तुमही हो अतः सबकुछ तुमही हो ॥ ३१ ॥ मैं ही यदि सबकुछ हूँ तो घट आदि पदार्थों का ज्ञान होनेपर मेरा ज्ञान क्यों नहीं होता है ? और यदि ऐसा होना मानो तो सब पुरुष ब्रह्मज्ञानी होने चाहिये ? यदि ऐसा कहो तो हे भगवन् ! प्रकृति के गुणकार्यरूप बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रियें आदि जो दीखनेवाले विकार उन से सकलविश्व को देखनेवाले आपको ग्रहण नहीं होता है, तौ

को 'न्विहार्हति' विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥ ३२ ॥ तस्मैतु तुभ्यं
भगवते वासुदेवाय वेधसे ॥ आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥३३॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ॥ 'तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहि-
ष्वसंगतैः ॥ ३४ ॥ स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ॥ अवती-
र्णोऽशभागेन सांप्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५ ॥ नमः परमकल्याण नमः प-
रममङ्गल ॥ वासुदेवाय शांताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६ ॥ अनुजानीहि नौ
भूमंस्तवानुचरकिंकरौ ॥ दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात्॥ ३७ ॥ वाणी
गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः' ॥ स्मृत्यां
शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे 'दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनां ॥ ३८ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान्गोकुलेश्वरः ॥ दाम्ना चोलू-

फिर प्रकृति का कार्य न होनेके कारण जीवही मेरे स्वरूपको जाने. ऐसा कहो तो हे-भगवन् ! जीव आदि की उत्पत्ति होने से पहिले ही अपने प्रकाश से सिद्ध आप को, इस संसारमें देहादिकों से लिपटाहुआ कौन जीव जानने को समर्थ होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा ॥३२॥इसकारण षड्गुणऐश्वर्यवान्,वसुदेवजीके पुत्र,प्रजाओं की रचना करनेवाले और आप से प्रकाश पानेवाले सत्त्वादि गुणों से जिन की महिमा, मेघों से सूर्य के प्रकाश के ढकजाने की समान ढकीहुई है ऐसे ब्रह्मरूप आप को नमस्कार हो ॥ ३३ ॥ मैं ऐसा ईश्वर हूँ यह तुमने कैसे जाना ? यदि ऐसा कहो तो हे भगवन् ! देहधारी जीवों से भिन्न और जिनकी समान वा जिनसे अधिक किन्ही में नहीं है ऐसे तुम्हारे पराक्रमों से, शरीर रहित भी जिन तुम्हारे अवतार प्राणियों में समझेजाते हैं ऐसे चारप्रकार के पुरुषार्थों के स्वामी तुम; सकल लोकों की उन्नति के निमित्त और मोक्ष के निमित्त अपने परिपूर्ण स्वरूप से इससमय अवतीर्ण हुए हो ३४ ॥ ३५ ॥ हे परमकल्याण ! तुम्हें नमस्कार हो हे परममङ्गल ! तुम्हें नमस्कार हो; सर्वान्तर्यामी और शान्त तुम यादवों के पालक को नमस्कारहो ॥ ३६ ॥ हे व्यापक ! हम, तुम्हारे सेवक जो नारदजी तिन के दास हैं; हमें अपने स्थानको जानेकी आज्ञा दीजिये; हे भगवन् ! हमें आप का दर्शन, नारद ऋषि के अनुग्रह से ही हुआ है ॥ ३७ ॥ अपने स्थानको पहुँचनेपरभी हमारा फिर पहिले की समान दुष्टस्वभाव न हो, किन्तु हमारी वाणी तुम्हारे गुणगान करने में तत्पर हो, हमारे कान–तुम्हारी कथाओं के सुन ने में. हाथ तुम्हारी पूजा आदि कर्म करने में, मन–तुम्हारे चरणों का स्मरण करने में, शिर–तुम्हारे निवासस्थान जगत् को नमस्कार करने में और दृष्टि–तुम्हारी मूर्त्तिरूप सत्पुरुषों का दर्शन करने में तत्पर होय ॥ ३८ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार उन नलकूबरोंके स्तुति करनेपर,डोरीसे

खले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३९ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ ज्ञातं मम पुरै- वैत-
दृषिणा करुणात्मना ॥ यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥ ४० ॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् । दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽ-
क्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ ४१ ॥ तद्गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम् ॥ स-
ञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥ ४२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इ-
त्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ॥ बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमु-
त्तरां ॥ ४३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नारदशापो नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रु-
मयोः पततो रवम् ॥ तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥ भूम्यां
निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ॥ बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणं ॥२॥ उलू-

ऊखल में बँधेहुए वह गोकुलपति भगवान् श्रीकृष्णजी, हँसकर उन नलकूबर और मणिग्रीव से कहनेलगे ॥ ३९ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे गुह्यकों ! सम्पत्ति के मदसे अन्धहुए तुम्हारे ऊपर दयालुहुए नारदऋषि ने, वाणी के द्वारा लक्ष्मी का नाशरूप अनुग्रह करा है; यह मुझे पहिले से ही विदित है ॥ ४० ॥ और यह योग्य ही है, आश्चर्य नहीं है; क्योंकि—जैसे सूर्य के दर्शन से दृष्टि को रोकनेवाला अन्धकार दूर होजाता है तैसे ही आत्मज्ञानी साधुओं का उन में भी विशेष करके मेरे विषैं चित्त लगानेवाले साधुओं का दर्शन करके बन्धन नहीं प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥ इस कारण हे नलकूबर ! हे मणिग्रीव ! तुम मेरा ध्यान आदि करने में तत्पर होते हुए अपने स्थान को चलेजाओ, तुम को मेरे विषैं इच्छा करा हुआ परमप्रेम प्राप्त हुआ ही है, 'यह ही संसार बन्धन को दूर करनेवाला है ॥ ४२ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् के आज्ञा करे हुए वह नलकूबर मणिग्रीव ऊखल से बँधेहुए तिन श्रीकृष्णजी को वारंवार प्रदक्षिणा और नमस्कार करके उन की आज्ञा लेकर उत्तर दिशा की ओर को चलेगये ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में दशम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ इस ग्यारहवें अध्याय के विषैं वृन्दावन में आकर फिर बालकों के साथ वछड़ों की रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णजी ने, वत्सासुर और वकासुर इन दोनों का ही वध करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जी ने कहा कि—हे कुरुश्रेष्ठ राजन् ! नन्दादि गोप, गिरनेवाले उन वृक्षों का शब्द सुनकर वज्रपात के भय से शङ्कितचित्त होतेहुए तहाँ आये ॥ १ ॥ और उन्हों ने तहाँ भूमिपर पड़ेहुए वह यमलार्जुन वृक्ष देखे, परन्तु वह, गिरने का कारण प्रत्यक्ष होनेपर भी उसको लक्ष्य (ध्यान) में न लातेहुए भ्रम में पड़गये ॥ २ ॥ अर्थात् ओखलीको ख-

खलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ॥ कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥ बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥ विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥ ४ ॥ न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ॥ बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित्संदिग्धचेतसः ॥ ५ ॥ उलूखलं विकर्षतं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजं ॥ विलोक्य नंदः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥ ६ ॥ गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान्बालवत्क्वचित् ॥ उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयंत्रवत् ॥ ७ ॥ बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ॥ बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥ दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यतां ॥ व्रज-

घसीटतेहुए, डोरी से बँधेहुए उन श्रीकृष्ण बालकको न जानकर, यह किसी राक्षसादि का काम है ? यह किसकारण से हुआहै ! यह तो बड़ा आश्चर्य है ! यह क्या आनेवाले दुःख की सूचना देनेवाला उत्पात है ? ऐसा कहकर भय से व्याकुल होतेहुए वह नन्दादि गोप भ्रम में पड़गये अर्थात् वह कुछभी निश्चय नहीं करसके ॥ ३ ॥ तब उन से तहाँ खेलते हुए बालक कहने लगे कि—टेढ़ेपड़े हुए ऊखल को खसेड़ने वाले और वृक्षोंके मध्य में को गयेहुए इस कृष्णने ही वृक्षों को गिराया है, यह हमने देखा है;केवल इतना ही नहीं किन्तु उनवृक्षों में से निकले हुए दोदिव्य पुरुष भी हमने देखे थे ॥ ४ ॥ तब तहाँ जो गोप केवल तर्कना ही करनेवालेथे,उन्होंने,उस बालक के हाथ से ऐसे बड़े वृक्षोंका उखड़ जाना सम्भव नहीं है, ऐसी तर्कना से उन बालकों का कहना नहीं माना. कितनो हीनेतो—पूतना, तृणावर्त्त आदिकों का प्राणान्त प्रत्यक्ष देखाथा इसकारण वह, यह भी कृष्णका ही कार्य है या नहीं ? ऐसे सान्दिग्ध चित्तवाले होगये ॥ ५ ॥ डोरी में बँधे ऊखल-को खसेड़ते हुए अपने पुत्रको देखकर हँसनेवाले नन्दजी ने उसको शीघ्रही खोलदिया ॥६॥ फिर भगवान् ने 'मुझे लोक जानजायँगे' ऐसी शङ्कासे अत्यन्त ही बालभाव के अ-नुकरण करेकि—जब गोपियों ने इसप्रकार प्रशंसा करीकि-तू बड़ाअच्छा नृत्य करैहै तब भगवान् बालककी समान नृत्य करतेथे; तैसेही कभी गानेके निमित्त गोपियोंने उनकी प्रशंशा करीतो काठकी पुतली की समान उनके वशमें होकर अनजान बालक की समान जैसे उन को हर्ष आदि प्राप्त होय तैसे बड़े ऊँचे स्वर से गान करते थे ॥ ७ ॥ कभी गोपियों ने, पीढ़ा, पसेरी और पादुका आदि लाने की आज्ञा करी तो उन भारी वस्तुओं के लाने में असमर्थ होकर भी केवल हाथों से उन को उठाते थे; कभी हमारे साथ युद्धकर, ऐसा कहनेपर अपने गोकुलवासी भक्तों को और तिस चरित्र के देखने वालों को हर्षित करते हुए दण्डठोकना आदि मल्ललीला की क्रीडा करते थे ॥ ८ ॥ इस प्रकार लोक में जो उन के ऐश्वर्य को जाननेवाले ज्ञानी थे तिन को केवल अपना भक्तों के वश में होना

स्योर्वाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥ गृह्णीहि भो फलानीति श्रुत्वा
सत्वरमच्युतः ॥ फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥ १० ॥ फलविक्र-
यिणी तस्य च्युतधान्यकरद्वयम् ॥ फलैरपूरयद्रत्नैः फलभांडमपूरि च ॥ ११ ॥
सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ॥ जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः
शुचिः ॥ १२ ॥ पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान्स्वलंकृतान् ॥ त्वं च स्नातः
कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः ॥ १३ ॥ नोपेयातां यदाहूतौ क्रीडासंगेन पुत्रकौ ॥
यशोदां प्रेषयांमास रोहिणी पुत्रवत्सलां ॥ १४ ॥ इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ॥ हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं
कृतवत्यथोदयम् ॥ १५ ॥ क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ॥ यशोदा
ऽजोहवीत्कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥ १६ ॥ कृष्ण कृष्णारविंदाक्ष तात एहि

दिखाते हुए वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, बालक की समान क्रीडा करके गोकुलवासियों के चित्त में हर्ष उत्पन्न करते थे ॥ ९ ॥ एक समय बेर आदि फल बेचनेवाली मालिन ने अरे लोगों! फल मोल लेओ, ऐसा कहा सो उस के शब्द को सुनकर सकल फल देनेवाले श्रीकृष्णजी, फल लेने के निमित्त अन्न लेकर दौडतेहुए उस मालिन के समीप आये ॥ १० ॥ तब दौडकर बाहर आनेवाले उन श्रीकृष्णजी के, जिन में से मार्ग में कुछ अन्न बिखरता आया है ऐसे दोनों हाथ, फल बेचनेवाली मालिन ने, फलों से भर-दिये, श्रीकृष्णजीने, बिखरते२ हाथ में शेष रहेहुए अन्न के द्वारा उस का फलों का पात्र (टोकरी) मोती आदि रत्नों से भरदिया ॥ ११ ॥ तदनन्तर एकदिन यमुनाजी के तटपर जाकर खेलतेहुए अर्जुनवृक्ष के तोडनेवाले कृष्ण को माता ने पुकारा कि—अरे बेटा! आज तेरा जन्मनक्षत्र है सो तू स्नानादि से शुचि होकर ब्राह्मणों को गौओं का दानकर ॥ १२ ॥ अरे कृष्ण! देख, देख, यह तेरी समान अवस्था के बालक, माता के स्नान कराये हुए और आभूषण धारण करेहुए हैं, अरे! तू भी स्नान करके भोजन करले, और आभूषण धारण करके आनन्द से खेल ॥ १३ ॥ अपने पुकारनेपर वह रामकृष्ण, खेल में मगन होने के कारण जब नहीं आये तब उन को बुलाने के निमित्त रोहिणी ने, पुत्र पर प्रेम करनेवाली यशोदा को भेजा ॥ १४ ॥ हे राजन्! इस प्रकार स्नेहवश जिस की बुद्धि श्रीकृष्णजी के विषैं अत्यन्त आसक्त होरही है ऐसी वह यशोदा ब्रह्मादिकों के भी चूडामणि (परमपूजनीय) तिन अच्युत भगवान् को अपना पुत्र मान उन का बलराम सहित दोनों [illegible] हाथ पकडके अपने घरको लेगई और उनको स्नान भोजन कराकर गहने पहराये फिर जन्मनक्षत्र का उत्सव करा ॥ १५ ॥ फिर एक दिन पुत्र के स्नेह से जिस के स्तनों में से दूध टपक[illegible] रहा है ऐसी वह यशोदा, बहुत देरी से बालकों के साथ खेलनेवाले श्रीकृष्णजी को पुकारने [illegible] लगी कि— ॥ १७ ॥ हे कमलनयन! हेकृष्ण! हेकृष्ण! घरको

स्तनं पिब ॥ अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोसि पुत्रक ॥ १७ ॥ हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ॥ प्रातरेव कृताहारस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति ॥१८॥ प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः॥ एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥ १९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने ॥ नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥ २० ॥ तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोधिकः ॥ देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्रामकृष्णयोः ॥ ॥ २१ ॥ उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ॥ आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः ॥ २२ ॥ मुक्तः कथंचिद्राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ ॥ हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥ २३ ॥ चक्रवातेन नीतोयं दैत्येन विपदं वियत् ॥ शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥ ॥ २४ ॥ यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ॥ असावन्यतमो वाऽपि

आओ, बहुत खेलचुका, अरे बेटा ! तू खेलते२ बहुत थकगया है और भूँख से घबड़ारहा है इस कारण स्तन पीले ॥ १७ ॥ हे तात ! कुलनन्दन राम ! तू कृष्ण के साथ शीघ्रता से घर को आ, अरे ! तूने प्रातःकाल ही भोजन करा है सो तू अब शीघ्रता से भोजन करले ॥ १८ ॥ हे कृष्ण ! भोजन करने को उद्यत हुए गोकुलपति (नन्द) तेरी बाट देखरहे हैं इसकारण शीघ्रही घरको आ, हमदोनों को आनन्दित कर, अरे बालकों ! तुमभी अपने अपने घर को जाओ ॥ १९ ॥ इसप्रकार बृहद्वन में क्रीडा करके अब बृन्दावन में जानेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णजी के प्रेरणा करेहुए गोपोंकी सम्मति का वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि—नन्दआदि बृद्ध गोप, बृहद्वन में पूतना आई, इत्यादि बडे २ उत्पातों को भोगकर एक समय सब एक स्थानपर इकट्ठे हुए और गोकुल के हितकी सम्मति करनेलगे ॥ २० ॥ उन में उपनन्द नामवाला एक गोप, अधिक अवस्थावाला और सबसे बुद्धिमान् था, तथा कौन समय कैसा वर्त्ताव करने पर अपना कार्य सिद्ध होता है इसके तत्वको जाननेवाला और रामकृष्ण का प्रिय करनेवाला था; वह कहनेलगा कि ॥ २१ ॥ गोकुल का हित चाहनेवाले हमको यहाँसे उठकर दूसरे स्थानपर चलाजाना चाहिये; क्योंकि—यहाँ बालकों के नाश के कारण बडे २ उत्पात प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ देखो—यह बालक श्रीकृष्ण, बालकों को मारनेवाली तिस पूतना राक्षसी से दैववश ही छूटा है; तैसे ही निःसन्देह श्रीहरि की कृपा से ही इस के ऊपर छकड़ा नहीं गिरा ॥ २३ ॥ इस बालक को चक्रवातरूप (हवा की चक्राकार गाँठरूप) दैत्य, पक्षियों के विचरने के स्थान आकाश में लेगया था तहाँ और तहाँ से भी यह शिलापर आकर गिरा तब भी हमारे आराधना करेहुए देवताओं ने ही इस की रक्षा करी ॥ २४ ॥ उन दोनों यमलार्जुन वृक्षों के बीच में फँसकर यह कृष्ण वा दूसरा कोई भी बालक जो मरण को नहीं प्राप्त

तदिदं त्वच्युतरक्षणम् ॥ २५ ॥ यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः ॥
तावद्बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥ २६ ॥ वनं वृन्दावनं नाम
पशव्यं नवकाननम् ॥ गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ २७ ॥ तत्-
तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त मा चिरम् ॥ गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां
यदि रोचते ॥ २८ ॥ तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः ॥ व्र-
जान्स्वान् स्वान्समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ २९ ॥ वृद्धान्बालान् स्त्रियो
राजन् सर्वोपकरणानि च ॥ अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥
॥ ३० ॥ गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ॥ तूर्यघोषेण महता ययुः
सहपुरोहिताः ॥ ३१ ॥ गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ॥ कृष्णलीला
जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ॥ ३२ ॥ तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमा-
स्थिते॥रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोन्मुखे॥ ३३ ॥वृन्दावनं संप्रविश्य स-

हुआ वह भी भगवान् ने ही रक्षा करी ॥ २५ ॥ इसकारण जबतक और उत्पातों के कारण से अनर्थ गोकुल को स्पर्श न करे तबतक (तिस से पहिले ही) बालकों को लेकर गोधन और सेवकादिकों को साथ ले हम यहाँ से और स्थान को जायँगे ॥ २६ ॥ एक वृन्दावन नामवाला वन है; वह पशुओं का हितकारी, नये२ बागों से युक्त, गोपाल गोपी और गौओं के सेवन करनेयोग्य तथा पवित्र पर्वत, तृण और लताओं से युक्त है ॥ २७ ॥ तहाँ जाना यदि तुम सबोंको रुचै तो आजही चलेंगे; अपने अपने छकड़ों में सामान भर कर बैल जोतो, देरी न करो, गोधनों को आगे २ लेचलो ॥२८॥ ऐसा उपनन्द गोपका वचन सुनकर सब एकमति होकर बहुत अच्छी वार्त्ता है, बहुत अच्छी वार्त्ता है ऐसा कहते हुए अपने २ छकड़ों के समूह को जोड़कर उनके ऊपर घरकी सामग्री (सामान) लादकर चलदिये ॥ २९ ॥ हे राजन् ! वह गोपाल वृद्ध, बालक, स्त्रियें, और वर्त्तन भांडे आदि सब सामग्री को गाड़िओं पर लाद आप कमर बाँध सावधानी के साथ हाथमें धनुष लेकर, गोधन को आगेकर चारों ओरको नरसिंहा बजाकर बाजोंका बड़ाभारी शब्द करते हुए पुरोहित ब्राह्मणों के साथ चलदिये ॥ ३० ॥ ३१ ॥ उस समय जिनके कण्ठों में हमेलें हैं और सकल आभूषणों से शोभित हुईं तथा स्तनों में लगाए हुए नवीन केशर से जो शोभायमान होरही हैं और जिन्हों ने उत्तम वस्त्र पहिने हैं ऐसी रथों में बैठीहुईं गोपियें, बड़े आनन्द के साथ कृष्ण की लीलाएँ गानेलगीं ॥ ३२ ॥ तथा उन कृष्ण और रामके चरित्रों को सुनने में उत्कण्ठित हुईं यशोदा और रोहिणी उनही कृष्ण और राम को लेकर एकरथ में बैठकर चलते में शोभा को प्राप्त हुईं ॥ ३३ ॥ इसप्रकार नन्दआदि

वैकाल्सुखावहम् ॥ तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ ३४ ॥ वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ॥ वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥३५॥ एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ॥ कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ ३६ ॥ अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ॥ चारयामासतुर्वत्सान्नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥ ३७ ॥ क्वचिद्वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ॥ क्वचित्पादैः किङ्किणीभिः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः ॥ ३८ ॥ वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ॥ अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥३९॥ कदाचिद्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ॥ वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥ ४० ॥ तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः ॥ दर्शयन्बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥ ४१ ॥ गृहीत्वाऽपरपादाभ्यां सहलांगूलमच्युतः ॥ भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितं ॥ सकपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः

गोपोंने गरमी आदि सकल ही ऋतुओं में सुख देनेवाले उस वृन्दावन में प्रवेश करा और तहाँ उन्होंने अर्धचन्द्र के समान आकारसे छकड़ों को खडे करके गोकुलके बसनेका स्थान बनाया॥३४॥हेराजन् ! कृष्ण और बलरामनेभी वृन्दावन,गोवर्द्धन और यमुनाकी कछारों को देखकर,यह क्रीडा आदि करनेके योग्यस्थान हैं ऐसा मनमें विचारकर परम आनन्द माना।३५। इसप्रकार बालचरित्रों से और मधुर भाषणोंसे गोकुलवासी पुरुषों को प्रसन्न करने वाले वह बलराम और श्रीकृष्णजी,कुछकालमें बछड़े चरानेयोग्य अवस्था के होगए।३६॥ गोकुल से कुछएक दूर स्थान में गोपालों के बालकों के साथ मुरली, वेत आदि खेलने की सामग्री लेकर क्रीड़ा करनेवाले वह बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ों को चरानेलगे।३७। यह कभी मुरली बजाते थे, कभी गोफनों से पत्थर फेंकते थे, कभी पैरों में घूँघरू बांधकर नृत्य करते थे, कभी कम्बल की घोंघी आदि ओढकर बैलों का स्वांग बनानेवाले दूसरे गोपालों के बालकों के साथ आप भी तैसा ही बैलों का स्वांग धरकर गर्जना करते हुए परस्पर युद्ध करते थे, कभी तिन२जातियों के शब्दों से हंस मोर आदि का अनुकरण (नकल) करके साधारण बालकों की समान क्रीड़ा करते थे ॥३८॥३९॥ एक समय यमुना के तटपर अपने प्रेमी सखाओं के साथ बछडे चरानेवाले तिन बलराम और श्रीकृष्णजी को मारने की इच्छा करनेवाला एक दैत्य आया ॥ ४० ॥ बछड़ों के समूह में आये हुए उस बछडे का रूप धारण करनेवाले दैत्य को देखकर,भौं के सङ्केत (इशारे) से बलरामजी को दिखाते दिखाते, अनजान की समान वह अच्युत श्रीकृष्णजी धीरे २ उस के समीप आये ॥ ४१ ॥ और उन्हों ने पूँछ सहित उस के पिछले पैरों को पकड़ कर घर २ घुमाया और घुमाने से ही प्राणहीन हुए उस को एक कैथ के पेडपर फेंक

पपात ह ॥ ४२ ॥ तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति ॥
देवाश्च परिसंतुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ॥४३॥ तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकै-
कपालकौ ॥ सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयंतौ विचेरतुः॥४४॥स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे
पाययिष्यंत एकदा ॥ गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥४५॥ ते तत्र
ददृशुर्बाला महासत्वमवस्थितम् ॥ तत्रसुवज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृंगमिव च्युतम्
॥ ४६ ॥ स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् ॥ आगत्य सहसा कृष्णं
तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली ॥ ४७ ॥ कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ॥
बभूवुरिंद्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥ ४८ ॥ तं तालुमूलं प्रदहंतमग्नि-
वद्गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ॥ चच्छर्द सद्योऽतिरुषाऽक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं
पुनरभ्यपद्यत ॥ ४९ ॥ तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां-

---

दिया ॥ ४२ ॥ तब अन्तकाल में माया का स्वरूप न रहने के कारण बडा शरीर धारण करनेवाला वह दैत्य, गिराये हुए कैथ के फलों के साथ आप भी भूमिपर गिरपड़ा उस पडेहुए दैत्य को देखकर आश्चर्य में हुए सब ही बालक ' हे कृष्ण ! तुमने बहुत अच्छा करा, बहुत अच्छा करा ' इस प्रकार श्रीकृष्णजी की प्रशंसा करनेलगे; उस समय परम प्रसन्न हुए देवताओं ने भी पुष्पों की वर्षा करी ॥ ४३ ॥ इस प्रकार सकल लोकों के मुख्य पालक वह बलराम और श्रीकृष्णजी बछड़ों के पालक (रखवाले) होकर साथ में प्रातःकाल का भोजन लेकर बछडों को चरातेहुए विचरने लगे ॥ ४४ ॥ एक समय बलराम कृष्ण आदि सब ही गोपों के बालकों ने अपने अपने बछड़ों के समूह को, पानी पिलाने के निमित्त यमुनाजी की झीलपर जाकर पानी पिलाया और आप भी पिया॥४५॥ तदनन्तर उन बालकों ने यमुना की कछार में, इंद्र के वज्र से टूटकर भूमिपर गिरेहुए पर्वत के शिखर की समान बगले के रूप का एक बडाभारी प्राणी देखा और वह भयभीत होगये ॥ ४६ ॥ वह तीखी चोंच का बगुले का रूप धारण करनेवाला बक नाम वाला महाबली दैत्य था, उस ने एक साथ श्रीकृष्णजी के शरीरपर को झपटकर उन को निगल लिया ॥ ४७ तब कृष्ण को महाबक ने निगल लिया यह देखकर बलरामजी के सिवाय सब ही गोपों के बालक, जैसे प्राणों के विना इन्द्रियें चेष्टारहित होजाती हैं तैसे मूर्छित होगये ॥४८॥ इधर बक ने तालुए के मूल को अग्नि की समान जलानेवाले ब्रह्मा जी के भी पिता परंतु नन्दजीके बालक तिन श्रीकृष्णजी को,विना कुछ पीडाहुएही तत्काल वमन करके बाहर को उगल दिया और बडे क्रोध में भरकर चोंच से उन को मारने के निमित्त फिर उन के शरीरपर को झपटा ॥ ४९ । तब भक्तों के पालक और देवताओं को आनन्द देनेवाले उन श्रीकृष्णजी ने, वेग से आते हुए उस बकासुर की चोंच के

पतिः ॥ पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद्दिवौकसां ॥ ५० ॥
तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन्नन्दनमल्लिकादिभिः ॥ समीडिरे चा-
नकशंखसंस्तवैस्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥ ५१ ॥ मुक्तं बकास्या-
दुपलभ्य बालका रामादयः प्राण-मिवेंद्रियो गणः ॥ स्थानागतं तं परिरभ्य
निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥५२॥ श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गो-
प्यश्चातिप्रियादृताः ॥ प्रेत्यागतमि-वौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ५३ ॥
अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ॥ अप्यासीद्विप्रियं तेषां कृतं
पूर्वं यतो भयम् ॥ ५४ ॥ अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ॥ जिघां-
सयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतंगवत् ॥ ५५ ॥ अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः
सन्ति कर्हिचित् ॥ गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ५६ ॥ इति

'नीचे का और ऊपर का' दोनों भागों को अपने दोनों हाथों से पकड़कर सकल बालकों के देखतेहुए पतेल की समान सहज में चीरडाला ॥ ५० ॥ तब स्वर्गलोक में रहनेवाले देवताओं ने, नन्दनवन में के मल्लिका आदि फूलों की बकासुर के शत्रु (श्रीकृष्ण जी) के ऊपर वर्षा करी और नगाडे तथा शङ्ख के शब्द के साथ उत्तम २ स्तोत्रों से स्तुति करी, यह देखकर गोपों के बालक आश्चर्य में होगये ॥ ५१ ॥ तब बलराम आदि बालक बकासुर के मुख में से छूटे हुए उन श्रीकृष्णजी को पाकर अपने बैठने के स्थानपर आये हुए उन को आलिङ्गन करके, जैसे प्राणों के विना व्याकुल हुआ इंद्रियों का समूह, फिर अपने स्थान में आये हुए प्राण का संयोग पाकर आनन्द पाता है तैसे ही आनन्द को प्राप्त हुए और सायङ्काल के समय सब बछडों को इकट्ठा कर गोकुल में आकर वह बकासुर का वध आदि कृष्ण का चरित्र कहने लगे ॥ ५२ ॥ गोपों के बालकों के कहेहुए उस कृष्णचरित्र को सुनकर अति प्रीति से आनन्दयुक्त हुई गोपियें और, गोप मानो मरण को प्राप्त होकर फिर लौटकर आये हुए उन श्रीकृष्णजी की ओर को तृप्त न हुए और अमृत सा पीते हुए नेत्रों से देखने लगे ॥ ५३ ॥ औरकहने लगे कि—अहो ! क्या कहाजाय ! इसबालक को अनेकों वार मृत्यु के कारण (दैत्य आदि) प्राप्त हुए तथापि, उन्होंने पहिले दूसरों को भय दिया इस कारण उनका ही नाश होगया ॥५४॥ यद्यपि वह (दैत्य) देखनेमही प्राण हरणसे करेलेतेथे तथापि वह,इस बालक का जरा भी बाल बांकाकरने को समर्थ नहीं हुए, किंतु मारने की इच्छा से इस के समीप आकर ' जैसे अग्नि का नाश करने को आयेहुये पतङ्ग आपही नष्ट होजाते हैं तैसेही, आपही नाशको प्राप्त होगये ॥ ५५ ॥ अहो ! ब्रह्मज्ञानी ऋषियों की वाणी कभी भी मिथ्या नहीं होती है, क्योंकि—भगवान् गर्गऋषि ने, ' हेनन्दजी ! यह तुम्हारा पुत्र गुणों में नारायण की समान ही है' इत्यादि जो कहाथा सो तैसाही हमारे अनुभव में आया

नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ॥ कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववे-
दनां ॥ ५७ ॥ एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ॥ निलायनैः सेतुबं-
धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ५८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ क्वचिद्वना-
शाय मनो दधद्व्रजात्प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ॥ प्रबोधयन् शृंगरवेण
चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥ तेनैव साकं पृथुकाः सह-
स्रशः स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ॥ स्वान् स्वान्सहस्रोपरिसंख्ययान्वि-
तान्वत्सान्पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥ कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्वव-
त्सकान् ॥ चारयंतोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ फलप्रवालस्तवकसुम-
नःपिच्छधातुभिः ॥ काचगुंजामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

है ॥ ५६ ॥ इसप्रकार कहनेवाले नन्दादि गोपोंने, हर्षसे कृष्ण और बलरामकी कथा व-
र्णन करते हुए और उनके साथ में आनन्दित होतेहुए संसारबन्धन के तापका भी अनु-
सन्धान नहीं रक्खा ॥ ५७ ॥ यह कहेहुए तथा औरभी धाईबिछौना खेलना, पुलबाँधना
वानरों की समान कूदना इत्यादि छोटे बालकों के खेलखेलकर उन बलराम और श्रीकृष्ण
जी ने गोकुल में अपना बालपन विताया ॥५८ ॥ इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध के पू-
र्वार्द्ध में एकादश अध्याय समाप्त॥ * ॥ अब इस बारहवें अध्यायमें, अजगर सर्पका वेषधारण
करनेवाले और बछडों को तथा बछडोंके रखवालों को निगलजाने वाले अघासुर का, क्रोध में
भरेहुए श्रीकृष्णजी ने उसके गलेमें अपने शरीर को बढ़ाकर वधकरा यहकथा वर्णन करी
है पहिले बडेभारी बकासुरके गलेमें केवल अपनीही क्रीडाहुई यहकोई कौतुक की वातनहीं
है ऐसा दिखानेके निमित्त ही श्रीकृष्णजीने मानो अब अपने मित्रोंके साथ अघासुरके मुख
में प्रवेश करा ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन् ! एक समय, वनमें ही प-
हिले भोजन करनेके निमित्त प्रातःकाल उठकर मनोहर सींगके शब्दसे समान अवस्थाके
गोप बालकों को 'मैं वनमें को जाता हूँ तुम सबभी शीघ्रही आओ' ऐसा सूचित करनेवाले
श्रीकृष्णजी बछडों को आगे करके गोकुल से चलदिये ॥ १ ॥ तब उन श्रीकृष्णजी के
साथही उनके प्रेमी सहस्रों गोपों के बालक, प्रातःकाल के भोजनके सुन्दर छीके, वेत, सींग
और मुरली यह सामग्री लेकर सहस्रों से भी अधिक संख्या के अपने २ बछडों को आगे
आगे चलाते हुए बडे आनन्द के साथ गोकुल के बाहर निकले ॥ २ ॥ तदनन्तर वह बालक
श्रीकृष्णजी के असंख्य बछडोंमें अपने बछडों को मिलाकर चराते हुए उन वनोमें छोटेबालकों
के अनेकों प्रकार के खेल खेलने लगे॥ ३ ॥ उन को, उन की माताओं ने, पहिले काँच
(झूँठे मोती आदि), गुञ्जा (चोंटनी), रत्न और सुवर्ण आदि के गहनों से भूषित कर-
दिया था तथापि अति उत्सुकता से उन्हों ने फिर फलों के गुच्छे, पल्लव, फूलोंके गुच्छे,

मुष्णंतोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ॥ तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥५॥ यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ॥ अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥६॥ केचिद्वेणून्वादयन्तो ध्मांतः शृंगाणि केचन ॥ केचिद्भृंगैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥ विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः ॥ बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥ विकर्षंतः कीशबालानारोहंतश्च तैर्द्रुमान् ॥ विकुर्वंतश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥ साकं भेकैर्विलंघंतः सरित्प्रस्रवसंप्लुताः ॥ विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपंतश्च प्रतिस्वनान् ॥ १० ॥ इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं

मोरों के पंख और गेरु आदि धातुओं से अपने को भूषित करा ॥ ४ ॥ वह आपस में एक दूसरे के छींके सींग आदि चुराकर छुपादेते थे, और वह मेरे पास है ऐसा उसने जानलिया, यह समझते ही दूर को फेंकदेते थे; तदनन्तर उस को पाकर दूसरे और भी दूर को फैंकदेते थे, इस प्रकार जिस का छींका आदि फेंका जाताथा उस के रोने को होजानेपर, हँसते हुए छींका आदि लाकर दे देते थे ॥५॥ किसी समय श्रीकृष्णजी, यदि वन की शोभा देखने को दूर चले जाते थे तो उन को, 'मैं पहिले छूऊँगा, मैं पहिले छूऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके (बाजी बदकर) दौड़ते २ जाकर उन को स्पर्श और आलिङ्गन करके परम आनन्द पाते थे ॥ ६ ॥ कितने ही बालक मुरली बजाते हुए खेलते थे, कितने ही सींग बजाते थे, कितने ही भौंरों के साथ गाते थे, कितने ही कोकिलाओं के साथ वैसा ही शब्द करते थे, कोई पक्षियों की छायाओं के साथ दौड़ते थे कोई हंसों के साथ उन की समान मनोहर गति से चलते थे, कितने ही बगलों के समीप में उनकी समान ध्यान करते हुए बैठते थे, कोई मोरों के साथ उन का सा नृत्य करते थे, कितने ही वृक्षों की शाखाओं में नीचे को लटकती हुई पूँछों को खैंचते हुए और उन को पकड़ कर आप वृक्षोंपर चढ़ते थे, कोई वानरों के साथ उन को दांत निकालकर दिखाते थे, कोई वानरों के साथ वृक्षों की एक शाखा से दूसरी शाखापर को कूदकर जाते थे ॥ ७ ॥ ॥८॥९॥ कोई नदी की कछार में बहते हुए थोड़े से जल में गोता लगाकर मेंडकोंके साथ उन की समान छलांग मारमारकर कूदते थे, कोई नदी के जल में पडी हुई अपनी छायाओं को हँसते थे, कोई अपने ही शब्द की प्रतिध्वनि (गुञ्जार) निकलने पर, यह कोई दूसरा मनुष्य बोलरहाहै ऐसासमझकर उस को'अरे तू चोरहै'इत्यादि गालियें देतेथे १० इसप्रकार गोपों की क्रीड़ा का वर्णन करके विसमय में होतेहुए उन की प्रशंसा करते हैं— हे राजन् ! इसप्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषों को स्वप्रकाश परमसुखरूप, दासभाव रखनेवाले

भक्तानां परदैवतेन ॥ मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥ यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः ॥ स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥ १२ ॥ अथाघनामाऽभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ॥ नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥ १३ ॥ दृष्ट्वाऽर्भकान्कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ॥ अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥ १४ ॥ एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्र-

भक्तों को आत्मस्वरूप देनेवाले नाथ और माया का आश्रय करनेवाले पुरुषों को, मनुष्य-रूप से दर्शन देनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णजी के साथ, जिन्होंने बहुत से पुण्य करे हैं तिन गोपों के बालकों ने क्रीड़ा करी, इस से अधिक उन के भाग्य का क्या वर्णन करें ? ॥ ११ ॥ जिन भगवान् के चरणों की रज, अनेकों जन्मों में करेहुए तप से और समाधि आदि के कष्टों से जिन्होंने अपने मन को वश में करलिया है उन योगियों को भी दुर्लभ है, वही भगवान् आप ही जिन की दृष्टि के सन्मुख आकर बसरहे हैं, उन के भाग्य का क्या वर्णन करें ? वह वाणी के और मन के भी अगोचर हैं ॥ १२ ॥ इसप्रकार बलराम और श्रीकृष्णजी के साथ गोपों के बालकों की क्रीड़ा होनेपर, उस सुख से होतीहुई क्रीडा को देखना जिस को सहन नहीं हुआ है ऐसा एक अघासुर नामवाला बडाभारी दैत्य, उस वृन्दावन में अकस्मात् आगया, वह इतना बलवान् था कि—अमृत पीने के कारण अमरहुए देवताओं ने भी ' हम इस के हाथ से जीवित रहेंगे या नहीं ' ऐसी शङ्का करके जीवित रहने की इच्छा से वह, यह दुष्ट दुरात्मा कब और कैसे मरेगा, ऐसी निरन्तर बाट देखरहे थे, अथवा इस का ही दूसरा अर्थ यह होता है कि—उन बलराम श्रीकृष्णजी आदिकों की क्रीडा ऐसी थी कि—अमृत पीकर अमरहुए भी देवता, हमारे जीवित रहने की सफलता हो, ऐसा मन में विचारकर जिन की क्रीडा का मन में चिन्तवन करते थे अर्तात् केवल अमृत पीने से ही जीवन का साफल्य नहीं होता हैं किन्तु भगवान् की लीलाओं का स्मरण करने से ही होता है इस कारण उन का ही निरन्तर ध्यान करते थे ॥ १३ ॥ इधर कंस का आज्ञा करा हुआ, पूतना और बकासुर का छोटा भ्राता वह अघासुर, जिन में कृष्ण मुख्य हैं ऐसे बालकों को देखकर, यह कृष्ण ही मेरे भाई बहिन का मारनेवाला है इसकारण उन दोनों के स्थान में (बदले में) इस कृष्ण को बछडे और गोपालों के बालकों सहित मारडालूँगा ॥ १४ ॥ यदि कहो कि—इसको मारने परभी गोकुल में गोप आदि शेष रहेंगे ? तहाँ कहते हैं कि— इन बलराम और श्रीकृष्ण आदि सब बछड़े और गोपबालकों से जब मेरे भाई बहिन की

जौकसः ॥ प्राणे गते वर्ष्मसु कानुचिंता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥ १५ ॥ इति व्यवस्याजगरं बृहद्वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरं ॥ धृत्वाऽद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥ १६ ॥ धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननांतो गिरिशृंगदंष्ट्रः ॥ ध्वांतांतरास्यो विततध्वजिह्वः परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥ दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृंदावनश्रियं ॥ व्यात्ताजगरतुंडेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥ अहो मित्राणि गदत सत्वकूटं पुरः स्थितम् ॥ अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥ सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्धनम् ॥ अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययाऽरुणम् ॥ ॥२०॥ प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे ॥ तुंगशृंगालयोऽप्येतास्तदं-

---

तिलाञ्जली होजायगी तो गोकुल में के नन्द आदि सकल गोप मरेहुए से होजायँगे-क्यों कि-प्राण चलेजाने पर शरीर की चिन्ताही क्या?, जितने भी प्राणी हैं उन सब के पुत्र ही प्राण हैं ॥ १५ ॥ ऐसा निश्चय करके वह दुष्ट अघासुर, बलराम कृष्ण आदि को निगल जानेकी इच्छा से, चारकोस लम्बे, बड़े पर्वत की समान पुष्ट,गुफा की समान फैले हुए मुखवाले, और आश्चर्यकारी एक बड़े भारी अजगर का स्वरूप धारण करके उन बछड़े और बछड़ों के रखवालों के जानेके मार्ग में सोरहा ॥ १६ ॥ उस समय, वह दैत्य जिसका नीचेका ओठ भूमि में फैलाहुआ है, ऊपर का ओठ मेघमण्डल में पहुँचगया है, जिसके दोनों जाबडे पर्वत की छोटी गुफाओं की समान और दाढें पर्वत के शिखरों की समान हैं, जिसके मुखमें के भीतर का भाग अन्धकार से भरा है और जीभ एकलम्बे चौडे मार्ग की समान हैं, जिसकी नाकमें से कठोर वायुकी समान श्वास चलने के कारण जो वनकी अग्नि की समान भस्म करनेवाली दृष्टिसे युक्त है ॥ १७ ॥ अजगर का रूप धारण करनेवाले उस दैत्यको देखकर, सब गोपबालक, यह एक प्रकारकी वृन्दावनकी शोभा ही है ऐसा मानकर, तिस अजगर के फैलेहुए मुखके इकसारपने की कौतुक से उत्प्रेक्षा करने लगे ॥ १८ ॥ वह कहने लगे कि-अरेमित्रो! आगे दीखता हुआ यहवन, एकप्राणी की समान दीखरहा है या नहीं? कहो तिसपर भी हमको निगलने के निमित्त फैलेहुए अजगर सर्प के मुखकी समान दीखता है यानहीं? यह बताओ तो! ॥ १९ ॥ वास्तव में ऐसाही है, यह सूर्यकी किरणों से लालहुआ मेघ, उसके ऊपर के ओठकी समान दीखरहा है देखो-तैसेही उस मेघकी पडनेवाली छायासे लालवर्ण का दीखने वाला यह नदीका तट उसके नीचेके ओठकी समान प्रतीत होरहा है ॥ २० ॥ यह दाहिने और बायें ओरकी पर्वतों की गुफा, दोनों ओठों के प्रान्तभाग (जावडों) की समान दीखरहीं हैं देखो! यह

शृङ्गैभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥ आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति ॥ एषा-
मन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यंतराननम् ॥ २२ ॥ दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति
पश्यत ॥ तद्दग्धसत्त्वदुर्गंधोऽप्यंतरामिषगंधवत् ॥ २३ ॥ अस्मान्किमत्र ग्रसिता
निविष्टानयं तथा चेद्बकवद्विनंक्ष्यति ॥ क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्यो-
द्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥ २४ ॥ इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा वि-
चिन्त्येत्यमृषा मृषायते ॥ रक्षो विदित्वाऽखिलभूतहृत्स्थितः स्वानां निरोद्धुं
भगवान्मनो दधे ॥ २५ ॥ तावत्प्रविष्टास्त्वसुरोदरांतरं परं न गीर्णाः शि-
शवः सवत्साः ॥ प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकांतस्मरणेन रक्षसा ॥ २६ ॥
तान्वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान्स्वकरादवच्युतान् ॥ दीनांश्च

ऊँचे शिखरों के स्थानभी उस अजगर की दाढों की समान दीखरहे हैं देखो ! ॥ २१ ॥ यह लम्बा और चौडा मार्ग, उसकी जिव्हा की समान प्रतीत होरहा है, इन शिखरों के भीतरका यह अन्धकार भी उसके मुखमें के मध्यभाग की समान प्रतीत होरहा है ॥२२॥ अहो ! वनकी दौं से गरम हुआ यह प्रखर वायु उसके श्वासकी समान प्रतीत होता हैं देखो ! उस दौंसे जलेहुए प्राणियों का जो यह दुर्गन्ध आरहा है सोभी अजगर के पेट में के मांसकी दुर्गन्धि की समान प्रतीत होता है देखो ! ॥ २३ ॥ इतने ही में दूसरे बालक कहने लगेकि-- ठीकयह सर्पही है,तथापि हमइसमें भीतर चलेजायँतो यहहमको खाजायगा क्या? यदिऐसाहुआतोइनश्रीकृष्णजीकेहाथसेयहभीबकासुरकी समान एकक्षणमेंहीनाशको प्राप्त होजायगा; इसप्रकार परस्पर वार्त्तालाप करके वह सब ही बालक, बकासुर को मा-रनेवाले तिन श्रीकृष्णजी के सुन्दर मुख की ओर को देखकर ठट्ठा मारकर हँसते हुए ताली बजाते बजाते बछडों सहित उस के मुख में घुसगये ॥ २४ ॥ इधर सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी ने ' यह अजगररूप राक्षस है ' ऐसा न जान नेवाले उन बालकों के इस प्रकार मिथ्या ही परस्पर हुए भाषण को सुनकर, ' वास्तव में ही यह राक्षस है ' ऐसा जाना और यह निःसन्देह राक्षस होकर इन बालकों को अज-गर की समान वृन्दावन की शोभा प्रतीत होरहा है ऐसा विचारकर अपनें साथियों को भीतर जाने को निषेध करने का मन में विचार करा ॥ २५ ॥ त्यों ही तिन बछडों सहित सकल बालक, दैत्य के उदर में घुसगये, परंतु मरण को प्राप्तहुए पूतना और बक नामक अपनी बहिन भाई का स्मरण रखनेवाले और इस कारण ही बकारि (श्रीकृष्ण जी) का भीतर कब प्रवेश होय ? ऐसी बाट देखनेवाले उस ने मुख को बन्द करके निग-ला नहीं था क्योंकि--श्रीकृष्ण के साथ सब को निगल जाऊँ, ऐसा उस के मन में था ॥ २६ ॥ तब सब को अभय देनेवाले श्रीकृष्णजी, प्रारब्धवश बनेहुए अघासुर के मुख में प्रवेश करने से दीन हुए, जिन का दूसरा कोई भी रक्षक नहीं है ऐसे, अपने हाथ से

मृत्योर्जठराग्निर्घासान् घृणाऽर्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥ २७ ॥ कृत्यं किमत्रा-
स्य खलस्य जीवनं न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ॥ द्वयं कथं
स्यादिति संविचिन्त्य तज्ज्ञात्वाऽविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥ २८ ॥ तदा
घनच्छदा देवा भयाद्धा हेति चुक्रुशुः ॥ जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणं-
पास्त्वघबान्धवाः ॥ २९ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान्कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ॥
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥ ३० ॥ ततोऽतिकायस्य निरुद्धमा-
र्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ॥ पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन्विनि-
र्भिद्य विनिर्गतो बहिः ॥ ३१ ॥ तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान्सु-
हृदः परेतान् ॥ दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वक्त्रान्मुकुंदो भगवान्विनि-
र्ययौ ॥ ३२ ॥ पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो

छूटेहुए और मृत्युरूप अघासुर की जठराग्नि को तृण की समान हुए उन गोपबालकों को देखकर, विस्मित और दया से आर्द्र हुए ॥ २७ ॥ और उन सब को देखनेवाले श्रीहरि ने विचार करा कि–इस दुष्ट दैत्य का प्राण न बचे और इन मेरे भक्तों की हिंसा न हो, यह दोनों वार्त्ता कैसे होंगी ? और इस विषय में मुझे क्या कार्य करना चाहिये ? इस का विचार करके वह दोनों वार्त्ता होने का उपाय समझ कर उस अघासुर के मुख में घुसगये ॥ २८ ॥ तब मेघों के आड में रहनेवाले देवता, भगवान् के प्रभाव को भूलकर 'अब श्रीकृष्ण मरण को प्राप्त होजाँयगे' ऐसा मन में विचारकर और अघासुर के मरण से निराश होकर हाय हाय शब्द का उच्चारण करके विलाप करनेलगे और उस अघासुर के बान्धव तथा कंस आदि राक्षस हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २९ ॥ वह देवताओं का विलाप सुनकर, नाशरहित भगवान् श्रीकृष्णजीने, बालक और बछडों सहित अपना चूर्ण करने की इच्छा करनेवाले उस दैत्य के कण्ठ में, उस के निगलनेसे पहिले ही अपना वेग बढ़ाया ॥ ३० ॥ उस बढ़ने के कारण जिस का मार्गरूप कण्ठ रुकगया है, जिस के नेत्र बाहर को निकल पडे हैं और जो सटपटाने लगा है तिस बड़ाभारी शरीर धारण करनेवाले अघासुर के शरीर में रुका हुआ प्राणवायु, मस्तक मे के ब्रह्मरन्ध्र को फोडकर उसी द्वार से बाहर को निकलगया ॥ ३१ ॥ उस प्राणवायु के साथ ही सब ही इन्द्रियों के बाहर निकलजानेपर फिर छोटा स्वरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी, तिस अजगर के पेट में घुसकर मरण को प्राप्तहुए मित्रों को और बछडों को, अपनी अमृत की वर्षा करनेवाली दृष्टि से उठाकर, उन के साथ उस अघासुर के मुख में से फिर बाहर निकले ॥ ३२ ॥ तब बडे पुष्ट उस अजगर के शरीर में से निकलाहुआ, आश्चर्यकारी, बडाभारी, शुद्ध, सत्त्वगुणी तेज; अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रका-

देश ॥ प्रतीक्ष्य खेवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन्मिषतां दिवौकसां ॥ ३३ ॥
ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ॥ गीतैः सु-
गा वाद्यधराश्च वाद्यकैः स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४ ॥ तदद्भुतस्तो-
त्रसुवाद्यगीतिकाजयादिनैकोत्सवमंगलस्वनान् ॥ श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आ-
गतोऽचिराद्दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥ ३५ ॥ राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं
वृन्दावनेऽद्भुतम् ॥ व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥ एतत्कौ-
मारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणं ॥ मृत्योः पौगंडके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥
॥ ३७ ॥ नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ॥ अघोऽपि
यत्स्पर्शनधौतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥ सकृद्यदंगप्र-

शित करता, श्रीकृष्णजी के बाहर निकलने की बाट देखताहुआ आकाश में स्थित रहा वह, श्रीकृष्णजी के बाहर निकलते ही उन में, सब देवताओं के देखते २ प्रवेश करगया ॥ ३३ ॥ तदनन्तर अघासुर के वध से अतिहर्ष को प्राप्तहुए देवताओं ने, अपना कार्य करनेवाले श्रीकृष्णजी का सत्कार करा, उन में देवताओं ने उन के ऊपर पुष्पों की वर्षा करी, अप्सराओं ने नृत्य करा, गन्धर्व आदिकों ने गान करा, बाजा बजानेवाले विद्याधरादिकों ने बाजों का शब्द करा, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणों ने स्तुति करी और पार्षदों ने जय जयकार का शब्द करके सत्कार करा ॥ २४ ॥ उन आश्चर्यकारी, स्तोत्र और उत्तम बाजों का शब्द, गान, जयजयकार का शब्द आदि अनेकों उत्साहों से उत्पन्नहुए माङ्गलिक शब्दों को ब्रह्माजी अपने सत्यलोक के समीप सुनकर तिस वृन्दावन में आये और उन ईश्वर श्रीकृष्णजीकी महिमा देखकर आश्चर्यमें होगये।३५। हेराजन्! वह अद्भुतअजगर का चर्म वृन्दावन में (फैलायाहुआ) सूखकर बहुतकालपर्यन्त गोकुलकेपुरुषोंकेक्रीडाकरनेकी गुफा सा होगया था ॥३६॥ आश्चर्य में हुए सकल बालकों ने, जो अपने को श्रीकृष्णजी ने, प्रसिद्ध मृत्यु से छुडाया था और सर्परूप अघासुर को, उस के तेज का श्रीकृष्णजी के विषैं प्रवेश होता हुआ दीखने से, जो संसाररूप मृत्यु से छुडाया था वह श्रीकृष्णजी का कुमार अवस्था में (पांचवें वर्ष में) करा हुआ कर्म उस ही समय देखकर, वह पौगण्ड अवस्था (छठे वर्ष) में, आज ही हुआ है ऐसा गोकुल में जाकर कहा ॥ ३७ ॥ हे राजन्! जिन के स्पर्श से सकल पातक धुलकर वह अघासुर (पापरूप दैत्य), असज्जनों को अति दुर्लभ भगवान् की समान रूप को प्राप्त होगया; परंतु वास्तव में ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यन्त सकल उत्तम अधम वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले और माया से मनुष्य के पुत्रभाव को स्वीकार करनेवाले परमेश्वर श्रीकृष्णजी का, यह मृत्यु से बछडे और गोपोंके बालकोंको छुटाना और अघासुर की मुक्तिकरना आश्चर्य क्या है? ३८ ॥

तिमांऽतराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिं ॥ स एव नित्यात्मसुखानुभू-
त्यभिव्युदस्तमायोऽतर्गतो हि किं पुनः ॥ ३९ ॥ सूत उवाच ॥ इत्थं
द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रं ॥ पप्रच्छ भूयोऽपि तदे-
व पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥ राजोवाच ॥ ब्रह्मन्कालांतरकृतं
तत्कालीनं कथं भवेत् ॥ यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगंडकेऽर्भकाः ॥ ४१ ॥
तद्ब्रूहि मे महायोगिन्परं कौतूहलं गुरो ॥ नूनमेतद्धरेरेव माया भवति ना-
न्यथा ॥ ४२ ॥ वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः ॥ यत्पिबामो मुहु-
स्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथाऽमृतम् ॥ ४३ ॥ सूत उवाच ॥ इत्थं स्म पृष्टः स तु
बादरायणिस्तत्स्मारितानंतहृताखिलेंद्रियः ॥ कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः म-

क्योंकि—केवल मन में चिन्तवन करी हुई और एकवार बडे परिश्रम से हृदय में स्थापन करी हुई जिन की मूर्त्ति की प्रतिमा ने भी प्रल्हाद आदि कितने ही भक्तों को भगवत्स्वरूप की प्राप्तिरूप मुक्ति दी है फिर नित्य निजानन्दके अनुभव से माया को दूर करनेवाले वही साक्षात् परमेश्वर, आप ही जिस के शरीर में घुसे उस को मुक्ति प्राप्त हुई तो इस में आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ३९ ॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौनकादि ऋषियो ! इसप्रकार, श्रीकृष्णजी ने रक्षा करके धर्मराज आदि को दियेहुए वह राजा परीक्षित्, अपनी रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णजी का आश्चर्यकारी चरित्र सुनकर, उस सुनने से मनके और भी अति तत्पर होने पर फिरभी उसही पुण्यकारी श्रीकृष्णचरित को कहने के विषय में व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी से कहने लगे ॥ ४० ॥ राजाने कहा कि—हे ब्रह्मन् ! पाँचवर्ष के भीतर की कौमार अवस्था में श्रीहरि का करा हुआ अघासुर का वधरूप कर्म, दशवर्ष के भीतर की पौगण्ड अवस्था में बालकों ने गोकुल में कहा, यह जो तुमने मुझ से कहा है सो कालान्तर (कौमार अवस्था) का करा हुआ कर्म तत्कालीन (पौगण्ड अवस्था में करा हुआ) कैसे होगया अर्थात् पांचवें वर्ष में करा हुआ कर्म, छठे वर्ष में, आज ही करा है ऐसा उन बालकों को कैसे प्रतीत हुआ ? ॥ ४१ ॥ सो हे त्रिकाल का ज्ञान रखनेवाले गुरो ! मुझ से कहो, वह मुझे बडा कौतुक प्रतीत होरहा है, और यह निःसन्देह श्रीहरि की माया ही होगी, इस के विना ऐसा होना सम्भव ही नहीं है ॥ ४२ ॥ हे गुरो ! हम ब्राह्मणों का अपराध करने वाले होने से यद्यपि अधम क्षत्रिय हैं तो भी जो आप से पवित्र कृष्णकथारूप अमृत का वारम्वार पान कररहे हैं तिसकारण इस मनुष्यलोक में सब से धन्य हैं ॥ ४३ ॥ सूतजी ने कहा कि—हे भगवद्भक्तों में अति उत्तम शौनकजी ! इस प्रकार राजा परीक्षित् के प्रश्न करनेपर वह व्यासपुत्र शुकदेवजी, तिस प्रश्न से स्मरण कराये हुए अनन्त भगवान् ने जिन की सकल इन्द्रियों को खैंचा है ऐसे एकाग्रचित् होकर समाधि में स्थित

त्वाह तं भागवतोत्तमोत्तम ॥ ४४ ॥ इति श्रीभागवते म० द० पू० द्वादशो-
ऽध्यायः ॥ १२ ॥ ६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागव-
तोत्तम ॥ यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥ सतामयं सारभृतां
निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ॥ प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्स्त्रिया वि-
टानामिव साधु वार्ता ॥ २ ॥ शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ॥
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥ तथाऽघवदनान्मृत्यो र-
क्षित्वा वत्सपालकान् ॥ सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥४॥ अहोऽतिर-
म्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसंपन्मृदुलाच्छवालुकम् स्फुटत्सरोगंधहृतालिपत्रि-
कध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥ अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधा-

हुए, तदनन्तर फिर जयजयकार आदि शब्द के सुनने से जिन को बाहरीदृष्टि प्राप्त हुई ऐसे होकर वह राजा से कहने लगे ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में द्वादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब इस तेरहवें अध्याय में बछडे और बछडों के रखवालों को ब्रह्माजी ने चुरालिया तब श्रीकृष्णजीने अपनी माया से उन सब बछडे और गोपबालकों का रूप धारण करके एक वर्ष पर्यन्त पूर्ववत् बाललीला करी यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे महाभाग ! हे भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ ! राजन् ! तुम ने परम उत्तम प्रश्न करा है, क्योंकि–तुम ईश्वर की कथा को वारम्वार श्रवण करतेहुए भी फिर२ प्रश्न करके उस कथा को नवीन नवीन सी करदेते हो ॥ १ ॥ जैसे स्त्रीलम्पट पुरुषों को स्त्रियों के विलासों की वार्त्ता अनेकोंवार अनुभव करीहुई भी प्रतिक्षण नवीन२ सी ही प्रतीत होती हैं तैसे ही भगवान् की वार्त्ता ही जिनकी वाणियोंका, कर्णों का और अन्तःकरणों का विषय है ऐसे सार ग्रहण करनेवाले साधु पुरुषों को, अच्युत भगवान् की कथा ही क्षण २ में नवीन २ सी प्रतीत होती है, यह उनका स्वभावही है ॥ २ ॥ हे राजन् ! तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो, तुम्हारा बूझाहुआ भगवान् का चारित्र यद्यपि गुप्त है तौ भी मैं तुम से कहता हूँ, क्योंकि–अपने में और भगवान् में स्नेह करनेवाले शिष्यको गुरु, गुप्त वार्त्ता भी कहदेते हैं ॥ ३ ॥ पहिले वर्णन करने के अनुसार अघासुरके मुखरूप मृत्यु से भगवान् ने बछडों की और बालकों की रक्षा करी और उनको यमुना नदी के तटपर लिवालाकर वह उनसे यह कहनेलगे कि–॥ ४ ॥ अरे मित्रों ! यह यमुनाका तट बड़ा ही मनोहर है, यह हमारे क्रीडा करने के साधनों की सम्पत्ति से युक्त और चमकती हुई स्वच्छ रेती से रम्य है; तथा फूलेहुए कमलों की सुगन्धि के लोभी भ्रमरों की और पक्षियों की जल में होनेवाली प्रतिध्वनि (गुञ्जार) से तटपर के शोभायमान वृक्षों की घनी पंक्ति से व्याप्त होरहा है ॥ ५ ॥ दिन चढ़

ऽर्दिताः ॥ वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥ तथेति पाययित्वाऽर्भा वत्सानारुध्य शाद्वले ॥ मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥ कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ॥ सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाऽम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥ केचित्पुष्पैर्दलैः केचित्पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ॥ शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभोजनाः ॥ ९ ॥ सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ॥ हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥ १० ॥ बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ॥ तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासय-

आया, हमारे भोजन का समय होगया, इसकारण हम भूँख से परम व्याकुल हो रहेहैं, सो आओ हम यहाँही भोजन करें, बछड़े पानी पीकर समीपही कोमल घासको धीरे२ चरें ॥ ६ ॥ ऐसा भगवान् का कथन सुनकर उन बालकों ने 'बहुत ठीक है' ऐसा कहकर बछडों को पानी पिलाया और हरी २ घासकी भूमि में उन सबको इकट्ठा करके अपनी भोजन की पोटलियों को खोलकर बडे हर्षसे भगवान् के साथ भोजन करने लगे ॥ ७ ॥ तब उस वन में श्रीकृष्णजी के चारोंओर एकके बाहर एक इसप्रकार बैठीहुई बहुतसी गोलाकार पङ्क्तिओंसे कृष्णकी ओरको मुख करके और कृष्ण दर्शनसे-प्रफुल्लितनेत्र होकर, भीतर को छोटे २ और बाहर को बडे २ इसक्रम से एकसे एक भिड़कर बैठेहुए वह गोपालों के बालक, जैसे कमल में की कर्णिका के चारोंओर बाहर लगेहुए छोटे २ के अनन्तर बड़े२ कमल के पत्ते शोभित होते हैं तैसेही शोभित होनेलगे उस समय चारों ओरके सब बालकों को श्रीकृष्णजी का मुख अपने सन्मुख ही दीखता था ॥ ८ ॥ उनमें से कितने ही बालकों ने फूलों के अपने भोजन के पात्र बनाए, कितनोंही ने पत्तोंके, कितनोंही ने कोंपचों के, अङ्कुरों के, फलोंके, भोजन बाँधने के वस्त्रोंके, वृक्षोंकी छालोंके और पत्थरों के भोजन करने के पात्र बनाए और भोजन करने लगे ॥९॥ कृष्ण सहित वह सब ही बालक, अपने २ घरोंसे लाएहुए भोजन के पदार्थों का दूसरोंको भिन्न भिन्न प्रकार का स्वाद दिखाते हुए और 'भाई तुम्हारी माता बडी फूहड है, अच्छा भोजन आदि करना नहीं जानती है' इत्यादि नानाप्रकार के वाक्योंसे दूसरों की हँसी करते और अपनी हँसी कराते हुए भोजन करनेलगे ॥ १० ॥ उस समय पहिरेहुए वस्त्रमें वा फेंटमें मुरली उरसकर, बाईंकोख में सींग और बेंत दाबकर, बायेंहाथ की हथेली पर दही भातका ग्रास और उसही हाथकी अंगुलियों के पोरुओं पर निम्बू अदरख और चटनी आदि लेकर, सब बालकों के सन्मुख मध्य में खडे होकर और अपने चारोंओर बैठेहुए साथियों को, अपने

नर्मभिः स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥ ११ ॥
भारतैवं वत्सपेषु भुंजानेष्वच्युतात्मसु ॥ वत्सास्त्वंतर्वने दूरं विविशुस्तृण-
लोभिताः ॥ १२ ॥ तान्दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ॥ मित्राण्या-
शान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥ १३ ॥ इत्युक्त्वाद्रिदरीकुंजगह्वरेष्वा-
त्मवत्सकान् ॥ विचिन्वन् भगवान्कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥ १४ ॥ अं-
भोजन्मजनिस्तदंतरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं मंजुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सा-
नितो वत्सपान् ॥ नीत्वाऽन्यत्र कुरूद्वहांतरदधात् खेवस्थितो यः पुरा दृ-
ष्ट्वाऽघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥ १५ ॥ ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेपि
च वत्सपान् ॥ उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समंततः ॥ १६ ॥ क्वाप्यदृष्ट्वाऽन्तर्वि-

कहेहुए हास्य के वचनोंसे हँसाते हुए, उस समय बालकों की समान लीला करनेवाले वह यज्ञभोक्ता भगवान् श्रीकृष्णजी भोजन करनेलगे स्वर्गलोक में रहनेवाले देवता भी वह चमत्कार आश्चर्य के साथ देखरहे थे, ॥ ११ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी में जिन का मन मगन होरहा है ऐसे उन गोपबालकोंके भोजन करते समय, हरी घासमें चुगते हुए उनके बछडे तृणों के लोभ से दूर वन में चलेगये ॥ १२ ॥ तब बछडों के न दीखने से उन बालकों को भयभीत हुए देखकर, श्रीकृष्णजी कहने लगे कि—अरे मित्रो ! भय के हेतु व्याघ्र आदिकोंसे बछड़ोंको भयप्राप्त होगा ऐसा तुम मनमें विचार न करो और भोजन न छोड़ो, मैं बछड़ों को यहीं लाता हूँ ॥ १३ ॥ ऐसा कहकर पर्वत, पर्वतों की गुफा, लता झाड़ी आदि के कुञ्जवन और खाड़ियों में अपने और मित्रों के बछड़ों को ढूँढने के निमित्त वह भगवान् श्रीकृष्णजी, हाथ पर दही भातका ग्रास लिये हुए फिरने लगे ॥ १४ ॥ हे राजन् ! उससमय जो (ब्रह्माजी) आकाश में स्थित होकर श्रीकृष्णजी से होने वाले अघासुर के मोक्ष को देखकर परमविस्मय को प्राप्त हुए थे वह कमल से उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी, अपनी इच्छा से बालक का रूप धारण करके, उन श्रीकृष्णजीकी और कोई भी मनको आनन्द देनेवाली महिमा देखने के निमित्त 'श्रीकृष्ण भोजन में लगे और बछड़ों को ढूँढने के निमित्त वन में गये, यह 'बछड़ों को और गोपबालकोंको चुराने का' अवसर पाकर, वन में से उन के बछड़ोंको और भोजन करतेहुए गोपबालकों को दूसरे मायाशय नामक स्थान में लेजाकर सुलादिया और आप अन्तर्धान होगए ॥ १५ ॥ इधर श्रीकृष्णजी, टीले कुञ्जवन आदिकों में कहीं भी बछडों को न देखकर यमुनाकी रेती में आये और तहाँ गोपालबालकों को भी न देखकर, वन में चारों ओर उन को ढूँढनेलगे ॥ १६ ॥ वन में कहीं भी बछडे और रेती में बालक नहीं हैं ऐसा देखकर उन विश्वको

पिने वत्सान्पालांश्च विश्ववित् ॥ सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसाऽवजगाम ह ॥
॥ १७ ॥ ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणां च कस्य च ॥ उभयायितमात्मानं
चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥ यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्करांघ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषांबरम् ॥ यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो
यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽगवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥ १९ ॥
स्वयमात्मात्मगोवत्सान्प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ॥ क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्रा-
विशद्व्रजम् ॥ २० ॥ तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ॥ तत्तदा-
त्माऽभवद्राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान ॥ २१ ॥ तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उदु-
ह्य दोर्भिः परिरंभ्य निर्भरम् ॥ स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म

जाननेवाले श्रीकृष्णजी ने, तत्काल वह सब बछडे और गोपबालकों का चुरालेना, ब्रह्माजी का काम है ऐसा जानलिया ॥ १७ ॥ तदनन्तर उन जगत् की रचना करनेवाले ईश्वर श्रीकृष्णजी ने, मन में विचारा कि—यदि मैं मौन रहूँगा तो बछडों की और गोपों के बालकों की माताओं को (गौओं को और गोपियों को) दुःख होयगा तथा ब्रह्माजी के चुरायेहुए बछडे और गोपालों को ही यदि लौटालाऊँ तो ब्रह्माजी को मोह नहीं होगा और उनका उद्योग व्यर्थहोने के कारण उलटा उन को केवल खेदही होगा अतः ऐसा न करके उन बछडे गोपालों को तथा उन की माताओं को आनन्द होने के निमित्त अपने को ही बछडे और गोपालरूप से उत्पन्न करा ॥ १८ ॥ गिनती में जितने बछडे और ग्वालों के छोटे, बडे, काले, गोरे, कोमल आदि शरीर थे; जितने लम्बे चौडे हाथ पैर आदि अङ्ग थे, जिसप्रकार के उन के पैने सींग, मुरली, पत्ते और छीके आदि थे; जैसे उन के भूषण, और वस्त्र थे; जैसे उन के स्वभाव, गुण, आकार, अवस्था आदि थे और जैसा उनका चलना, बोलना, बुद्धि, स्मरणशक्ति आदि था, वैसे और उतने ही सकल स्वरूपोंसे वास्तवमें जन्मरहितभी भगवान् श्रीकृष्णजी, 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इस श्रुतिके स्वरूपकी समान शोभितहुए ॥ १९ ॥ और स्वयं आपही पुकारनेवाले बनकर, आत्मस्वरूप गौ बछडों को, आत्मस्वरूप गोपालों के द्वारा पीछे को लौटाकर, गेंद आदि आत्मस्वरूप खेलने की सामग्रियों से क्रीडाकरतेहुए सर्वात्मा भगवान् गोकुल में प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥ और हेराजन् ! जिधर२ को जिस २ गोपबालक के जाने का मार्ग फिरा था उधर २ को उस २ के ही बछड़ों को अलग करके उस २ की ही गोशाला में लेजाकर घुसादिया और उस २ केही स्वरूप से उस २ केही घर में चले गये. इसप्रकार तिन सबों का भिन्न२ स्वरूप धारण करनेवाले वह श्रीकृष्णजी हुए ॥ २१ ॥ अब गोपियों का मोह कहते हैं— उन गोपों के बालकों की माताओं ने मुरली का शब्द सुनतेही शीघ्रतासे उठकर अपने२ पुत्रों को आया मानकर, उन पर ब्रह्मरूप श्रीकृष्णजी कोही हाथों से ऊपरको उठाकर परम

सुतानपाययन् ॥ २२ ॥ ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपनालंकाररक्षातिलकाशनादिभिः ॥ संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्सायं गतो यामयमेन माधवः ॥ २३ ॥ गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुंकारघोषैः परिहूतसंगतान् ॥ स्वकान् स्वकान्वत्सतरानपाययन्मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥ २४ ॥ गोगोपीनां मातृताऽस्मिन्सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना ॥ पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५ ॥ व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहं ॥ शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥ इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ॥ पालयन्वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥ एक-

---

स्नेह के साथ छाती से लगाया. और उनको अमृतकी समान मधुर तथा मद्यकी समान मदकारी स्नेह से टपकते हुए स्तनों में का दूध पिलाया ॥ २२ ॥ हेराजन्! इसप्रकार, जिस २ समय जो जो क्रीड़ा होती थी वह २ करके दिन के चारों पहर बीतजानेपर सायङ्काल के समय मुरली बजाना आदि अपनी लीलाओं से माताओं को आनन्दित करते हुए वह बालकरूपी श्रीकृष्णजी, उन २ के घर में गये तब, उन माताओं ने उन के शरीर को सुगन्धित तेल उबटन आदि लगाना, स्नान कराना, चन्दन आदि लगाना, वस्त्र पहिराना, भूषण पहिराना, रक्षाबन्धन करना, तिलक लगाना, भोजन कराना, और शय्यापर सुलाना इत्यादि लाड़ करा ॥ २३ ॥ अब गौओं का मोह कहते हैं—जो गौ चरने के निमित्त वन को गईथीं वह गौएँ तहां से बड़ी शीघ्रता के साथ गोशाला में आकर हुङ्कारयुक्त शब्दों से बुलानेपर समीप आएहुए, अपना २ स्तन पीना छोडनेवाले भी पहिले बछड़ों को वारंवार चाटती हुई, ऐन को फोडकर टपकता हुआ दूध पिलानेलगीं॥२४॥ उस समय गौओं का और गोपियों का इन पुत्ररूप हुए श्रीकृष्णजी के ऊपर लालन पालन आदिरूप मातृभाव, एक स्नेह के अधिकपने को छोडकर पहिले की समान ही था केवल स्नेह की वृद्धिही अधिक हुई तथा उन गौ और गोपियों में श्रीकृष्णजी का बालकपनभी एकमाया को छोड और सब पहिले की समान ही था, उनको—यह मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ ऐसा मायाकल्पित मोहही नहीं था ॥ २५ ॥ जैसी गोकुलवासियों की, यशोदापुत्र श्रीकृष्णजी के विषैं पहिले अपने पुत्रोंसे भी अधिक प्रीति थी वैसी ही अब अपने पुत्रोंके विषैं भी एकवर्ष पर्यन्त स्नेहलता पहिले से भी अधिक प्रतिदिन धीरेधीरे निःसीम (वेहद्) बढ़ने लगी ॥ २६ ॥ इसप्रकार वह सर्वात्मा भगवान् गोकुल में बछड़ों के रखवाले होकर, बछड़ों के और उनके रक्षक बालकों के मिषसे आपही अपनी रक्षा करते हुए एकवर्ष पर्यन्त वनमें और गोकुल में क्रीडा करनेलगे ॥ २७ ॥ इतने समय पर्यन्त

दा चारयन्वत्सान्सरामो वनमाविशत् ॥ पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥ ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ॥ गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणं ॥ २९ ॥ दृष्ट्वाऽथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ॥ द्विपात्ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोऽगाद्धुंकृतैरास्नुपया जवेन॥३०॥ समेत्य गावोऽधो वत्सान्वत्सवत्योऽप्यपाययन् ॥ गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥ ३१ ॥ गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना ॥ दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥ ३२ ॥ तदीक्षणप्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ॥ उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्द्धनि घ्राणैरवापुः

(कुछकम वर्षभर पर्यन्त) बलरामजी को भी मोहही था, फिर उन्हों ने श्रीकृष्णजी के कहने से सब वृत्तान्त जाना ऐसा वर्णन करते हैं-एकसमय, वर्षपूरा होनेमें पाँच छः रात्रि कम थीं, उससमय बलराम सहित श्रीकृष्णजी बछडों को चराने के निमित्त वन में गये तब गोवर्धन पर्वत के शिखरपर चरनेवाली गौओं ने तहाँ दूर स्थानपर गोकुल के समीपकी घासमें चरनेवाले अपने बछडोंको देखा॥२८।२९॥और देखकर तत्काल वहगौओं का समूह, उन बछड़ों के स्नेह से परवश होकर, जिन को देह का मान नहीं रहा है, जिन्हों ने अपने पालक गोपालों को भी कुछ न गिनकर काँटे खाही आदि के ऊँचे नीचे मार्ग में को गमन करा है, जिन्हों ने अपनी ग्रीवा को तिरछा करके कन्धेपर को लिया है, जिन्हों ने मुख और पूँछ ऊपर को उठाई हैं, जो पैर उठाय छलाँग मारकर दौड़ती हुई जाने के कारण दोही पाँव से दौडतीहुई सी प्रतीत होती हैं और जिनका दूध ऐन में न समाने के कारण स्तनों में से जिधर तिधर को भूमि पर टपक रहा है ऐसी उन गौओंका समूह, हुङ्कारशब्द करताहुआ बड़े वेगसे बछडो के समीप को चलागया ॥३०॥ दुसरी वार प्रसूतहुई (ब्याहीहुई) भी वह गौएँ, गोबर्द्धन की तलैटी में चरते हुए पहिले बछडों के समीप आकर मानों उन के अङ्गों को निगलही रही हैं इसप्रकार चाटती हुई उन पहिले के बडे बछडों को ही अपने ऐनो में का दूध पिलाने लगीं ॥ ३१ ॥ गोपोंने भी गौओं को रोकने का परिश्रम निष्फल होने के कारण लज्जाके साथ प्राप्त हुए बड़े क्रोध में भरकर विकट मार्ग में को होकरही गोवर्धन से नीचे आकर गौ और बछडो के साथ आये हुए अपने बालकों को देखा ॥ ३२ ॥ यह बालकही गौओं के सामने बछडे ले आये हैं इसकारण गौओं ने ऐसा झञ्झट करा अतः इन बालकों कोही ताडना करना चाहिये,ऐसा विचारकर वह गोपाल आयेथे परन्तु उन बालकोंको देखनेसे उत्पन्नहुए प्रेमरस में उन के अन्तःकरण निमग्न होगये और उनका क्रोध दूर होगया तथा उन के हृदय में उन बालकों के ऊपर प्रीति उत्पन्न हुई तब उन गोपोंने तिन बालकों को अपनी भुजाओं

परमां मुदं ते ॥ ३३ ॥ ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ॥ कृच्छ्रा-
च्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४ ॥ व्रजस्य रामः प्रेमर्द्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यम-
नुक्षणम् ॥ मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५ ॥ किमेतदद्भुतमिव
वासुदेवेऽखिलात्मनि ॥ व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥ के-
यं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ॥ प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुर्ना-
न्या मेऽपि विमोहिनी ॥ ३७ ॥ इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान्सवयसा-
नपि ॥ सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥ ३८ ॥ नैते सुरेशा ऋषयो
न चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ॥ सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥ ३९ ॥ तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्य-

से उठाकर छाती से लगाया और उन के मस्तक का चुम्बन करके परम आनन्द का अनुभव करा॥३३॥तदनन्तर बालकों को छाती से लगानेसे परम तृप्तहुए वह वृद्ध गोप, तहां से बडे कष्टके साथ धीरे२फिर गोवर्द्धन पर्वतपर को चले आए,परन्तु तहां भी उन बालकों का वारंवार स्मरण आकर उनके नेत्रोंमें आनन्दके आंसू भरआतेथे॥३४॥इसप्रकार जिन का स्तनपीना छूटा है ऐसे बछडे और उन के रखवालों में गौ-वृषभरूप और गोपी गोपरूप गोकुल के प्रेम की वृद्धि की उत्कण्ठा देखकर, 'इस का क्या कारण है?' सो न जानते हुए बलराम जी चिन्तवन करने लगे कि-॥ ३५ ॥ सर्वात्मा वासुदेव भगवान् में (श्रीकृष्णजी के विषे) जैसा पहिले सब का प्रेम था, अब मुझ सहित सब गोकुल का इन बछड़े और वत्सपालों में भी अपूर्व प्रेम बढ़ रहा है, न जाने यह क्या आश्चर्य है ? ॥ ३६ ॥ इस को माया कहा जाय तब भी यह कौन है और कहां से आई है ? क्या यह देवताओं ने फैलाई है ? अथवा मनुष्यों ने वा असुरों ने फैलाई है ? परन्तु यह प्रायः मेरे स्वामी श्रीकृष्णजी की ही माया होनी चाहिये, क्योंकि यह मुझ को भी मोहित कर रही है इसकारण दूसरे किसी की नहीं है ॥ ३७ ॥ वह बलरामजी इस प्रकार चिन्ता करके ज्ञानचक्षु से देखने लगे तो उन को, सब बछडे और समान अवस्था के सकल बालक कृष्णरूप ही दीखने लगे ॥ ३८ ॥ तब वह बलरामजी श्रीकृष्णजी से कहने लगे कि-हे कृष्ण ! आज पर्यन्त मैं ऐसा समझता था, कि-पालन करने योग्य जो सकल बछडे हैं और पालन करनेवाले जो सकल बालक हैं वह देवताओं के अंश हैं अब तो वैसा नहीं है किन्तु लौकिक दृष्टि से यह बछडे हैं, यह बछडों के रखवाले हैं इत्यादि भेद प्रतीत होरहा है तथापि तत्त्व दृष्टि से यह ऋषि वा देवता कोई भी प्रतीत नहीं होते हैं; किन्तु तुम ही प्रतीत होते हो इस कारण हे ईश्वर ! यह सब कैसे हुआ है ? सो तुम मुझ से स्पष्ट करके कहो, ऐसा प्रश्न करनेपर प्रभु श्रीकृष्णजी ने वह सब वृत्तान्त संक्षेप से कहा तब उतने से ही बलरामजीने जानलिया ॥ ३९ ॥

नेहसा ॥ पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिं ॥ ४० ॥ यावंतो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि ॥ मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥ इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ॥ तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥ एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मनि ॥ सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥४३॥ एवं संमोहयन्विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ॥ स्वयैव माययाऽजोपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥ तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ॥ महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥ तावत्सर्वे वत्सपाला पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् ॥ व्यदृश्यंत

इतने ही में ब्रह्माजी ने अपने प्रमाण से त्रुटिमात्र काल में शीघ्रता से आकर देखा तो सब बछडे और उन के रखवालों सहित श्रीकृष्णजी पहिले की समान एक वर्ष पर्यन्त क्रीडा कररहेहैं ॥४०॥ और वह विचार करने लगे कि—गोकुल में जितने बालक हैं उन सबको ही मैं बछडों सहित दूसरे स्थान में लेगयाहूँ, इस में सन्देह नहीं है कि— मैंने मायाकल्पित स्थानमें उन को शयन करा दियाहै सो वह मोहित होकर अभीतक फिरउठनहींहैं॥४१॥ और यहाँ मेरी माया से मोहित होनेवालों के सिवाय दूसरे उतनेही एक बर्ष पर्यन्त श्री कृष्णजीके साथ क्रीडा करनेवाले यह बछडे और बालक कहाँ से आगये हैं ? ॥ ४२ ॥ इसप्रकार बछडे और बालकों के दो दो भेद हो जाने पर बहुत देरी पर्यन्त विचार करने वाले भी वह ब्रह्माजी, सत्य कौन से हैं और मायासे रचे हुए कौन से हैं (मेरे ले गये हुए सत्य हैं या यहाँ के सत्य हैं) यह जानने को किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हुए॥४३॥ इस प्रकार मोह रहित और जगत् को मोहित करनेवाले विष्णु भगवान् को मोह में डालने को प्रवृत्त हुए वह ब्रह्माजी भी अपनीही माया से आपही मोहित होगये॥ ४४ ॥ जैसे कुहर के घुटजाने से होनेवाला अन्धकार दिनमें लोकों को दिशाओं का भ्रम आदि करने वाला होता है परन्तु वह रात्रि के अन्धकार में अपनी कुछ शक्ति नहीं चला सक्ता है किन्तु उस में आपही लुप्त होजाता है अथवा जैसे पटबीजनेकी चमक रात्रि के समय प्रकाशित होती हुई भी दिन में वह मालूम भी नहीं होती है किन्तु वह सूर्य के तेज में लीन होकर अपने आश्रयरूप पटबीजने काही निस्तेजपना दिखाती है तैसेही बडे पुरुषों के ऊपर अपनी माया चलाने वाले नीच पुरुष की वह नीच माया, उन के ऊपर अपनी कुछ शक्ति चलाने को समर्थ न होकर अपने स्वामी की ही कुछ शक्ति को नष्ट करडालती है, तात्पर्य यह है कि—महामायावी श्रीकृष्णजी के ऊपर चलाई हुई ब्रह्माजी की माया, उन के ऊपर अपनी कुछ शक्ति चलाने को समर्थ न होकर उलटी ब्रह्माजी को ही मोह में डालने का कारण हुई ॥ ४५ ॥ जबतक ब्रह्माजी बछडे और बालकों में सत्य कौन से हैं और मायाकल्पित कौन से हैं, यह विचार कररहे

घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥ चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ॥ किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥ श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ॥ नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥ ४८ ॥ आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ॥ कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥ चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः । स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥ ५० ॥ आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्त्तिमद्भिश्चराचरैः ॥ नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥ अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ॥ चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥ ५२ ॥ कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ॥ स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्त्तिमद्भिरुपासिताः ॥ ५३ ॥ सत्यज्ञानानन्तानंदमात्रैकरसमूर्त्तयः ॥ अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशां

थे सो इतने ही में उन ब्रह्माजी के देखते हुए तत्काल बछडे और उन के रखवाले बालक लकड़ी, सींग आदि सब ही भगवान् के स्वरूप वाले दीखने लगे, वह सब मेघ की समान श्यामवर्ण, पीले रेशमी वस्त्र पहिने हुए, चतुर्भुज, शङ्ख चक्र गदा और पद्म को धारण करनेवाले, किरीट, कुण्डल, हार और वनमालाओं से भूषित थे ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ उन की भुजाओं में श्रीवत्सचिन्ह की प्रभा से युक्त बाहुभूषण थे, उन के हाथों में शङ्ख की समान तीन धारोंवाले रत्नजडे कङ्कण थे; वह—नूपुर, कड़े, तोड़े, और अँगूठी इन भूषणों से शोभित थे ॥ ४८ ॥ तथा सकल अङ्गों में, अनेकों जन्मों में पुण्य प्राप्त करने वाले भक्तजनों की समर्पण करी हुई तुलसी की कोमल नवीन मालाओं से चरणों से मस्तक पर्यन्त भरे हुए थे ॥ ४९ ॥ वह अपने लाल २ कटाक्षपातों से और चन्द्रमा के प्रकाश की समान स्वच्छ मन्द मुसकुरानों से, क्रम करके रजोगुण और सत्त्वगुण के द्वारा अपने भक्तों के मनोरथों को पूरा करनेवाले और मानों पालन करनेवाले ही हैं ऐसे दीखते थे ॥ ५० ॥ अपने से (ब्रह्माजी से) तृण पर्यन्त मूर्त्तिमान् चराचर प्राणियों से, अपने २ अधिकार के अनुसार नृत्य गान आदि अनेकों प्रकार की पूजाकी सामग्रियों से भिन्न २ प्रकार से आराधना किये जारहे थे ॥ ५१ ॥ भगवान् की महिमा से जिनका स्वतन्त्रपना नष्ट होगया है ऐसे मूर्त्तिमान् अणिमा महिमाआदि ऐश्वर्यों से, अजा अविद्या आदि शक्तियों से, जगत् के कारण महत् आदि चौवीस तत्त्वों से, और गुणों को क्षोभित करने वाला काल परिणाम का कारण स्वभाव, वासना का बोध कराने वाला संस्कार, भोग की इच्छारूप काम, लौकिक वैदिकादि व्यापार रूपकर्म और सत्त्वादि गुणों से घिरेहुए उपासना किये जारहे थे ॥ ५२॥ ५३ ॥ ब्रह्मादि और सबों के मूर्त्तिमान् होनेपर, भी उन बछड़े और बालक आदि उपासना करनेयोग्य मूर्त्तियों में यह विशेषता थी कि—वह मूर्त्तियें—सत्य, ज्ञानरूप, अनन्त और आनन्दरूप, आनन्दमात्र (विजातीय

॥ ५४ ॥ एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ॥ यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५ ॥ ततोऽतिकुतुकोद्वृत्य स्तिमितैकादशेंद्रियः ॥ तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥ इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ॥ अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोजाजवनिकां ॥ ५७ ॥ ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ॥ कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥ ५८ ॥ सपद्येवाभितः पश्यन्दिशोऽपश्यत्पुरः स्थितम् ॥ वृंदावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥ ५९ ॥ यत्र नैसर्गदु-

भेद रहित) और निरन्तर एकरसरूप थीं इसकारण उनका बडाभारी माहात्म्य, आत्मज्ञानरूप दृष्टिवाले पुरुषों को भी निःसन्देह समझने में आना कठिन था ऐसी वह (वत्सवत्सपालादिरूप भगवान् की) मूर्त्तियें दीखनें लगीं ॥ ५४ ॥ इसप्रकार उन ब्रह्माजीने, सवही बछड़े और ग्वालबालों को, एकसाथ उन परब्रह्मके स्वरूपवाला देखा कि जिन के तेज से यह चराचर विश्व प्रकाशित होता है ॥ ५५ ॥ तदनन्तर अति आश्चर्य से चकित होने के कारण अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके, उन भगवान् की मूर्ति के तेज से जिन की पाँचों ज्ञानेन्द्रियें, पाँचों कर्मेन्द्रियें और मन यह ग्यारहों स्तब्ध (काम न देनेवालीं) होगई हैं ऐसे वह ब्रह्माजी, निश्चल खड़े होगए, उस समय वह ऐसे प्रतीत होते थे कि—मानो गोकुलग्रामकी अधिष्ठात्री देवताके सामने चारमुख की पुतली खड़ी करदी है ॥ ५६ ॥ इसप्रकार वह सरस्वती के पति ब्रह्माजी, जिसकी तर्कना न होसके ऐसी परममहिमा से युक्त, स्वयंप्रकाश और सुखरूप, प्रकृति से पर, ब्रह्म से अन्य जड़ पदार्थों के त्याग से उपनिषदों के द्वारा जानने योग्य और ब्रह्मरूप अपने स्वरूप में ' यह क्या दीख रहा है ' इसप्रकार मोहित होकर देखने को भी समर्थ नहीं हुए तब श्रीकृष्णजीने, उनके मोह आदि क्लेश को जानकर तत्काल ' जिस से आश्चर्य दिखाया था वह, अपना मायारूप परदा दूर करादिया. अथवा यह लोकाभिमानी ब्रह्माजी, मेरा ऐश्वर्य देखने के योग्य नहीं हैं ऐसा जानकर उनके ऊपर माया का परदा डालदिया ॥ ५७ ॥ तदनन्तर जिन की इन्द्रियें बाहरी विषयों की ओर को प्रवृत्त हुई हैं ऐसे वह ब्रह्माजी, जैसे मराहुआ पुरुष उठ बैठै तैसे, उठकर बड़े सङ्कट से अपने नेत्रों को खोलकर उन्होंने अपने शरीरसहित यह सकल जगत् देखा ॥ ५८ ॥ तदनन्तर तत्काल सकल दिशाओं की ओर को देखने पर उन्होंने अपने आगे,जिसमें चारों ओर प्रिय पदार्थहैं और जो लोकों की जीविका चलानेवाले वृक्षों से भरा हुआ था ऐसे वृन्दावन को देखा ॥ ५९ ॥ तदनन्तर जहाँ से, श्रीकृष्णजी के निवास के कारण क्रोध, लोभ

वैराः सहासन्नृमृगादयः ॥ मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥ ६० ॥
तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ॥ वत्सान्सखी-
निव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥ ६१ ॥ दृष्ट्वा
त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ॥ स्पृष्ट्वा
चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥ ६२ ॥ उत्था-
योत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ॥ आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा
स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ६३ ॥ शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य वि-
नम्रकन्धरः ॥ कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥ ६४ ॥
इतिश्रीभागवते दशमस्कन्धे पू० त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ब्रह्मोवाच ॥

भय आदि दूर होगए हैं और जहाँ स्वभाव से ही परस्पर परमवैरभाव रखनेवाले मनुष्य व्याघ्र, विलाव और मूषक (चूहा) आदि प्राणी मित्रों की समान एक स्थान में रहते हैं ऐसे उस वृन्दावन में ब्रह्माजीने, पाहिले की समान ही नन्दगोप के पुत्ररूप से लीला करनेवाले, तहाँ अद्वितीय (विजातीयभेदरहित) होकर भी विजातीय बछड़ों को ढूँढनेवाले, एक (सजातीयभेदरहित) होकर भी सखाओं को ढूँढनेवाले, अगाधज्ञानस्वरूप होकर भी अनजानकी समान ढूँढनेवाले, अनन्त होकर भी जिधर तिधर ढूँढनेवाले, प्रकृतिसे पर होकर भी गोपबालक का रूप धारण करनेवाले, और आकार तथा हस्तपादादि अङ्गों से रहित होकर भी हथेलीपर दहीभातका ग्रास लेकर फिरनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा॥ ६० ॥ ६१ ॥ और देखकर शीघ्रता से अपने हंसरूपवाहन से (सवारी से) नीचे उतरकर पृथ्वी पर सुवर्ण के दण्डे की समान अपने शरीर को लिटाकर, चारों मुकुटों के अग्रभागों से उन श्रीकृष्णजीके दोनों चरणों को स्पर्श करके और नमस्कार करके आनन्दकी अश्रुधाराओं से उन का अभिषेक करा ॥ ६२ ॥ तदनन्तर पहिले देखी हुई श्रीकृष्णजी की महिमा को वारंवार स्मरण करके और वारंवार उठकर उन को नमस्कार करते हुए अन्त में चिरकालपर्यन्त श्रीकृष्णजी के चरणों में पड़े रहे ॥ ६३ ॥ तदनन्तर धीरे २ उठकर, आनन्द के अश्रुओं से भरेहुए अपने दोनों नेत्रोंको पूछकर, श्रीकृष्णजीकी ओर को देखकर,लज्जासे गरदन नीचे को करके आदरके साथ हाथ जोड़े हुए,नम्रतासे युक्त और भयसे थर थर काँपतेहुए वह ब्रह्माजी,एकाग्रचित्त होकर गद्गदवाणी से श्रीकृष्णजीकी स्तुति करनेलगे॥ ६४ ॥इतिश्रीमद्भागवत दशमस्कन्धके पूर्वार्द्ध में त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ इसचौदहवें अध्याय में भगवान् की आश्चर्यकारिणी लीला देखकर, पहिलेके बछड़े और ग्वालवाल कौन थे और नये कौन थे,इस का निश्चय करने को असमर्थ होकर मोहित हुए ब्रह्माजी ने, श्रीकृष्णजी की स्तुति करी यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ॥ वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥ अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ॥ नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥ ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ता ॥ स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ ३ ॥ श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधल-

---

अपने करे हुए अपराध के भय से थर २ कांपकर भगवान् की महिमा के जानने को असमर्थ हुए वह ब्रह्माजी, भगवान् के दीखते हुए ही स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–हे स्तुति के योग्य भगवन्! मैं तुम्हें प्रसन्न करने के निमित्त तुम्हारी ही स्तुति करता हूँ–तुम मेघ की समान श्यामसुन्दरमूर्त्ति, बिजली की समान चमकीले पीले वस्त्र पहिननेवाले, कानों में पहिने हुए गुञ्जाओं के कर्णभूषण और मस्तकपर धारण करेहुए मोरमुकुट से शोभायमान मुखवाले, और कोमल चरणोंवाले नन्दगोप के पुत्र हो, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ अब, स्तुति करता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा करके केवल देखे हुए स्वरूप का ही क्यों वर्णन करते हो? यदि ऐसा कहो तो हे देव! भक्तों की इच्छा के अनुसार प्रकटहुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले इस तुम्हारे अति सुलभ अवतार की भी महिमा के जानने को मैं ब्रह्मा वा दूसरा और कोई भी समर्थ नहीं है क्योंकि–यह अवतार अचिन्तनीय शुद्ध सतोगुणी है, इस अवतार की महिमा ही यदि नहीं जानी जाती तो केवल आत्मसुख के अनुभवमात्र तुम्हारे गुणातीत स्वरूप की महिमा को, एकाग्र करे हुए भी मन से जानने को कोई समर्थ नहीं है इस का तो कहना ही क्या? ॥ २ ॥ तो अज्ञानी पुरुष संसार को कैसे तरेंगे? ऐसा कहो तो हे भगवन्! ज्ञान की प्राप्ति में कुछ भी परिश्रम न करके केवल साधुओं के समीप में अपने २ स्थान पर बैठकर साधुओं करके स्वभाव से ही नित्य वर्णन करी हुई और आप ही कानों में आई हुई तुम्हारी कथाओं को जो पुरुष, तन मन वचन से सत्कार करते हुए ही जीवित रहते हैं और कुछ भी नहीं करते हैं उन पुरुषों ने हे अजेय परमेश्वर! तुम प्रायः त्रिलोकीमें औरोंसे यद्यपि नहींजीतेजाते हो तथापि तुम्हें जीतलिया है अर्थात् तुम उन को प्राप्तहोगये हो, फिर ज्ञानके निमित्त परिश्रम करके उन को क्या करना है? कुछ नहीं ॥ ३ ॥ हे प्रभो! जैसे सरोवर अनेकों सोतों से बहने वाला होता है तैसे ही धर्म–अर्थ–काम मोक्षरूप चार प्रकार के पुरुषार्थों को देनेवाले तुम्हारी भक्ति को त्यागकर जो पुरुष, केवल ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त शास्त्रों का अभ्यास आदि क्लेश करते हैं उन को,

ध्धये ॥ तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनां ॥ ४ ॥
पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ॥ विबुद्ध्य भक्त्यैव
कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं परां ॥ ५ ॥ तथाऽपि भूमन्म-
हिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलांतरात्मभिः ॥ अविक्रियात्स्वानुभवादरू-
पतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥ गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्वि-
मातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ॥ कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपां-
सवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७ ॥ तत्तेऽनुकंपां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान ए-

जैसे सूक्ष्म दीखने वाले कणयुक्त धान्यों को त्यागकर, भीतर से कणहीन और बाहरसे बड़े भारी धान्य की समान दीखनेवाले खोकले धान्यके कूटनेवालों को केवल क्लेशही शेष रहता है तैसेही, क्लेशही शेष रहता है दूसरा कोई फल प्राप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥ हे व्यापक अच्युत ! इसलोक में पूर्वकाल के अनेकों योगी, योगके साधनों से ज्ञान की प्राप्ति न होने के कारण अपना लौकिक व्यापार भी तुम्हें समर्पण करके तुम्हें समर्पण करे हुए उनकर्मों से ही चित्त की शुद्धि होने पर प्राप्तहुई और कथा सुनने आदि से बढ़ी हुई तुम्हारी प्रेमरूप भक्ति सेही आत्मस्वरूप को जानकर अनायास में ही तुम्हारी परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगये हैं ॥ ५ ॥ इसप्रकार सगुण और निर्गुण इन दोनों स्वरूपों का ज्ञान दुर्घट होने के कारण तुम्हारी कथा आदि सुनने सेही तुम्हारी प्राप्ति होती है और प्रकार से नहीं होती है, ऐसा वर्णन करा.अब, यद्यपि दोनों स्वरूपों का ज्ञान दुर्घट कहा है तथापि निर्गुणस्वरूप का ज्ञान कदाचित् होजाय परन्तु तुम अचिन्त्य और अनन्तगुणहो इस कारण तुम्हारे सगुण स्वरूपकाही ज्ञान नहीं होगा ऐसा वर्णन करते हैं—हे व्यापक ! यद्यपि तुम्हारी महिमा विषयासक्त पुरुषों केजानने में आना कठिन है तथापि इन्द्रियों को वशमेंकरलेनेवाले पुरुषोंको गुणातीत तुम्हारी महिमा इन्द्रियों का विषय न होने के कारण,उनकी प्रवर्त्तक होने से, विशेष आकार न होने के कारण जगत् की अधिष्ठान होने से और आत्माकार हुए अन्तःकरण में उसका साक्षात्कार होनेसे स्वप्रकाशरूपसे जानने के योग्य होतीहै केवल विषयरूप से जाननेमें नहीं आती है॥६॥हे प्रभो ! जिन अतिचतुर पुरुषों ने,बहुत से जन्मों के समय करके, पृथ्वी के रजों के कणों की तथा अन्तरिक्षलोकमें के तुषारों के कणों की और स्वर्गमें के चन्द्रमा सूर्यादि की जो किरणें तिन के परमाणुओं की गणना (गिनती) करी है ऐसे भी कौन से पुरुष, इस जगत् का पालन करने के निमित्त बहुत से गुण प्रकट करके अवतार धारण करने वाले, गुणों के अधिष्ठाता जो तुम परमेश्वर तिन के गुणों की (इतने हैं, ऐसी) गणना करने को समर्थ होयँगे ? अर्थात् कोई भी गणना नहीं करसक्ते ॥७॥ इस प्रकार तुम्हारा

वात्मकृतं विपाकम् ॥ हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दा-
यभाक् ॥ ८ ॥ पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमा-
यिनि मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥
अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ॥ अजाऽवलेपां-
धतमोऽधचक्षुष एषोऽनुकंप्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥ क्वाहं तमोमहद-
हंखचराग्निवार्भूसंवेष्टितांडघटसप्तवितस्तिकायः ॥ क्वेदृग्विधाविगणितांडपराणु-
चर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वं ॥ ११ ॥ उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः

ज्ञान होना दुर्घट है इसकारण हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा कब होयगी ? ऐसी बाट देखने वाला, अपने करेहुए कर्मों का फल (सुख वा दुःख) आसक्त न होकर भोगनेवाला और शरीर वाणी मन से तुम्हारी वन्दन आदि भक्ति करनेवाला जो पुरुष जीवित रहता है वह पुरुष, ' जैसे पिता की सेवा करनेवाला पुत्र पिता के धन का भागी होता है तैसे ही' मुक्तिफल का भागी होता है ॥ ८ ॥ इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके अब क्षमा कराने के निमित्त अपना अपराध कहते हैं—हेईश्वर ! मेरा यह मूढ़पना देखो कि—जिस मैंने, मायावी पुरुषों को भी मोहित करनेवाले, सब के कारण, सब के नियन्ता और नाशरहित तुम्हारे ऊपर भी अपनी माया फैलाकर तुम्हारा ऐश्वर्य देखने की इच्छा करी, ऐसा करने को मैं तुम्हारे सामने क्या हूँ ? अर्थात् कुछ नहीं हूँ ! जैसे अग्नि से उत्पन्न हुई लपट, दूसरों को जलाती है परन्तु वह अग्नि के ऊपर अपना कुछ प्रभाव नहीं चलासक्ती है तैसेही तुम से उत्पन्न हुआ मैं, औरों को मोहित करता हूँ परन्तु तुम्हारे ऊपर अपना कुछ भी प्रभाव चलाने को समर्थ नहीं हूँ ॥ ९ ॥ इस कारण हे अच्युत ! रजोगुण से उत्पन्न हुआ, तुम्हारे प्रभाव को न जाननेवाला, तुम से निराला मैं ही ईश्वर हूँ ऐसा अभिमान रखनेवाला और मैं जगत् का कर्त्ता हूँ ऐसे गाढ अन्धकार से जिसके नेत्र अन्ध हो रहे हैं ऐसे मेरे अपराधों की, ' मैं इस का नाथ (रक्षक) होऊँगा तबही इस की रक्षा होयगी नहीं तो नहीं होयगी इसकारण इस सेवक के ऊपर मुझे कृपा करना चाहिये ऐसा समझकर' क्षमाकरो ॥ १० ॥ अब, ब्रह्माण्डरूप धारण करनेवाला तू भी ईश्वर ही है, यदि ऐसा कहो तो हे देव ! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन आवरणों से लिपटा हुआ ब्रह्माण्ड घटही जिसका ' अपने प्रमाणसे' सात विलस्त का शरीर है ऐसा मैं कहाँ ? और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डरूप अणु परमाणुओं का यथेच्छ सञ्चार(जाना आना रूपगति)होने योग्य झरोखोंकी समान जिनके शरीर के रोमों के छिद्रहैं ऐसे आपका प्रभाव कहाँ ? इसकारण मुझ अतितुच्छ के ऊपर कृपा करके तुम मेरे अपराध क्षमा करो ॥ ११ ॥ और हे अधोक्षज ! गर्भ में स्थित

किं कल्पते मातुरधोऽक्षजागसे ॥ किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति
कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥ जगत्त्रयांतोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरना-
भिनालात् ॥ विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा किं त्वीश्वर त्वन्न
विनिर्गतोऽस्मि ॥ १३ ॥ नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्माऽस्यधीशो-
ऽखिललोकसाक्षी ॥ नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्तच्चापि सत्यं न तवैव
माया ॥ १४ ॥ तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ॥
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥

बालकका पेटों कोऊपर को उछालना(लात मारना)क्या माताके अपराध का कारण होता है ? किन्तु नहीं होता है. फिर है और नहीं है इन शब्दों से उच्चारण करीहुई कोई भी वस्तु, थोडीसी भी क्या तुम्हारे उदर से बाहर है ? अर्थात् कुछ नहीं है इसकारण सबही जब तुम्हारे उदर में है तो मैं भी उसके ही भीतर हूँ इसकारण तुम मेरे अपराधको माताकी समान सहन करो ॥ १२ ॥ और विशेष करके मेरा जन्म तुम से ही प्रसिद्ध है, देखो त्रिलोकी का प्रलय होने के समय सब समुद्रों के मिलकर एक होजाने पर, उस जल में नारायण के उदर में स्थित नाभिकमल में से ब्रह्माजी निकले हैं ऐसी जो वाणी है सो वास्तव में मिथ्या नहीं है, हे ईश्वर ! तुमही कहो, कि–मैं तुम से उत्पन्न हुआ हूँ या नहीं ? ॥ १३ ॥ मैं तुमसे बूझता हूँ कि–सकल जीवों के समूहको जिस का आश्रय है वह नारायण * तुमही नहीं हो क्या ? किन्तु तुमही हो. नर से (ईश्वरसे) उत्पन्न हुआ जो जल सो नार कहाता है वह जिस के रहने का स्थानहै, ऐसे अर्थ से प्रसिद्ध जो नारायण वह भी तुम्हारी ही मूर्त्ति है; वह भी तुम्हारा नारायण स्वरूप सत् नहीं है किन्तु वह तुम्हारी मायाही है अर्थात् लीला के निमित्त वह रूप तुम ने दिखाया है वास्तव में तुम व्यापक (सर्वत्र पूरेहुए) हो ॥ १४ ॥ हे अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् ! जगत् का आश्रय वह तुम्हारा जल में रहनेवाला शरीर सत्य था, यदि ऐसा कहो तो हे भगवन् ! उस ही समय कमल की दण्डी के मार्ग से जल में प्रवेश करके सौ वर्ष पर्यन्त ढूँढनेवाले भी मैंने, उस को तहां जल में क्यों नहीं देखा ? और हृदय में भी वह मेरी दृष्टि क्यों नहीं पड़ा ? और तप करने के अनन्तर तत्काल ही फिर वह भलीप्रकार दृष्टि क्यों नहीं पड़ा ? इसकारण वह माया ही है अर्थात् तुम्हारी मूर्त्ति का जो देशपरिच्छेद आदि भासता है सो सत्य नहीं है ॥ १५ ॥ हे माया को दूर

---

* नर से (पुरुष से) उत्पन्न हुए तत्त्वोंको विद्वान् ' नार ' कहते हैं, वह तत्त्व नारायण के पहिले अयन (आश्रय वा रहने का स्थान) थे इसकारण वह नारायण कहाते हैं ।

अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य ॥ कृत्स्नस्य चांतर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥ यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ॥ तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना ॥ ॥ १७ ॥ अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ॥ तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखि-लैः साकं मयोपासितास्तावंत्येव जगंत्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥ १८ ॥ अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भासि वितत्य मायां ॥ सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥ सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ॥ जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो

करनेवाले ईश्वर ! इस अवतार में ही बाहर प्रत्यक्ष दीखनेवाले सकल प्रपञ्च को तुमने अपने उदर में यशोदामाता को दिखाकर इस का असत्पना ही प्रकट करा है ॥ १६ ॥ प्रतिबिम्ब दीखने का ऐसा नियम है कि—वह बिम्ब का प्रतिकृति दीखता है, दर्पण का प्रतिबिम्ब उस ही दर्पण में नहीं दीखता है; फिर यशोदा को यह सकल जगत् यहां (बाहर) जैसा भासता था तैसा ही वह सब तुम्हारे उदर में भी तुम्हारे सहित भासमान हुआ, फिर तुम्हारे विषैं तुम सहित बाहर की समान जगत् का भासना क्या माया के बिना होसक्ता है ? अर्थात् कभी नहीं होसक्ता ॥ १७ ॥ हे देव ! तुम्हारे सिवाय इस सकल प्रपञ्च का मायाकल्पितपना तुमने क्या आज ही मुझे नहीं दिखाया है ? किन्तु दिखाया ही है मेरे बछडे और ग्वालबाल हरने से पहिले तुम एक श्रीकृष्ण थे, तदनन्तर गोकुल के बालक, बछडे, सींग आदि सब तुम ही होगये; तदनन्तर मेरे सहित सकल तत्त्वों करके सेवन करे हुए, गिनती में उतनी ही चतुर्भुज मूर्त्तिवाले तुम होगये, फिर उतने ही ब्रह्माण्डरूप होगये; उन प्रत्येक ब्रह्माण्डों में भी अस्मदादिकों से सेवन करे हुए थे अब अन्त में पहिले की समान एक कृष्णही रहे हो, इस से अपरिमित परिपूर्ण एकही तुम्हारा स्वरूप शेष रहता है ॥ १८ ॥ हे प्रभो ! तुम्हारा स्वरूप न जाननेवाले पुरुषों कोही अनात्मरूप प्रकृति में रहनेवाले आत्मातुम,उन के ऊपर स्वाधीनता से अपनी माया फैलाकर, जगत् की सृष्टि करने के विषय में मुझ ब्रह्मा की समान, पालन करने के विषय में इस अब दीखते हुए तुम विष्णु की समान और संहार के विषय में रुद्र की समान भासत हो ॥ १९ ॥ हे रक्षा करनेवाले ! हे प्रभो ! हे ईश्वर ! असज्जनों का दुष्टमद नष्ट करने के निमित्त और साधुओं के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त जन्मरहित भी तुम्हारे—देवताओं में वामन आदि, ऋषियों में परशुराम आदि, मनुष्यों में श्रीरामचन्द्र आदि, तिर्यक्योनियों में वराह आदि और जलचरों में मत्स्य आदि

विधांतः सदनुग्रहाय ॥ २० ॥ को वेत्ति भूमन् भगवन्परात्मन् योगेश्वरो-
तीः भवतस्त्रिलोक्यां ॥ क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड-
सि योगमायाम् ॥ २१ ॥ तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं
पुरुदुःखदुःखम् ॥ त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनंते मायात उद्यदपि यत्सदि-
वावभाति ॥ २२ ॥ एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनंत
आद्यः ॥ नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरंजनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
॥ २३ ॥ एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ॥
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृतांबुधिं ॥ २४ ॥ आ-
त्मानमेवात्मतयाऽविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपंचितम् ॥ ज्ञानेन भूयो-

अवतार हुए हैं ॥ २० ॥ हे व्यापक ! हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! जब तुम अपनी योगमाया को फैलाकर क्रीड़ा करते हो तब तुम्हारी लीला, इस त्रिलोकी में, कहाँ, कैसी, कितनी और कब होती हैं यह कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता है इसकारण तुम्हारी योगमाया का ऐश्वर्य अचिन्तनीय है ॥ २१ ॥ तिससे अनन्त और सत्यज्ञानानन्दरूप तुम्हारे विषैं प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत्, स्वप्नकी समान मिथ्या, ज्ञानशून्य, अनेकों दुःखों से युक्त होने के कारण उत्तरोत्तर दुःखरूप और मायासे उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होनेवाला होने के कारण नश्वर है तथापि इसके अधिष्ठानभूत तुम्हारी सत्ता से यह मिथ्या होकर भी सत्य की समान, अनित्य होकर भी नित्य की समान, दुःखरूप होकर भी सुख की समान और जड़ होकर भी चेतन की समान भासता है ॥२२॥ हे परमेश्वर ! तुम एक आत्मा (द्रष्टा) होने के कारण परमार्थरूप सत्य हो, पुरातन और अन्तर्यामी होने के कारण आद्य (प्रपंचसे पहिले भी होनेवाले) हो, नित्य होने के कारण अस्तित्वरूपविकार से रहित हो; पूर्ण, नित्यानन्दरूप, अक्षर और अमृत होने से वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश से रहित हो; अनन्त और अद्वयहोनेसे देश आदिपरिच्छेदसे(इतने देशमें रहनेवाले ऐसी अवधिसे)रहितहो, तथा स्वप्रकाश, निर्मल और उपाधिरहित होने के कारण उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति और संस्कार से रहित हो ॥ २३ ॥ इसप्रकार सकल ही जीवोंके स्वरूपभूत तुम भगवान् को जो पुरुष, गुरुरूप सूर्य से प्राप्त हुए उपनिषद्जनित ज्ञानरूप उत्तम नेत्र से अपने अन्तर्यामीस्वरूप करके देखते हैं वह पुरुष, संसाररूप मिथ्यासमुद्रको तरेहुए से होजाते हैं ॥ २४ ॥ जो पुरुष आत्माको ही सत्यस्वरूप से नहीं जानते हैं उन को तिस अज्ञान करके ही-तिस आत्मा में अहन्ता ममता आदिरूप सकल प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, वह प्रपञ्च फिर भी तिस आ-

पि चै तंत्मलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥ २५ ॥ अज्ञानसंज्ञौ भवबंधमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्तं ऋतज्ञभावात् ॥ अजस्त्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥ त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ॥ आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताऽज्ञता ॥ २७ ॥ अंतेभवेऽनंत भवंतमेव ह्यतत्त्यजंतो मृगयंति संतः ॥ असंतमप्यंत्यहिमन्तरेण संतं गुणं तं किमु यन्ति संतः ॥ २८ ॥ अथापि ते देव पदांबुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव

त्मस्वरूपके सत्यज्ञान करके ही, जैसे डोरी के अज्ञान से डोरी में भासनेवाला सर्पका शरीर फिर डोरी का सत्यज्ञान होने से ही नष्ट होता है तैसेही नष्ट होजाता है॥२५॥ अब, ज्ञानसे तरही जाते हैं, ऐसा होते हुए तरेहुए से होजाते हैं ऐसा क्यों कहा ? तहाँ कहते हैं कि—संसार से जो बन्धन और मोक्ष यह दोनों ही वास्तव में अज्ञानसे ही उन नामों को प्राप्तहुए हैं जैसे सूर्य में रात्रि और दिनरूपभेद हैंही नहीं तैसे ही अखण्ड अनुभवरूप केवल शुद्ध आत्माका विचार कियाजाय तो तिस सत्य ज्ञानस्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है ॥ २६ ॥ यदि कहो कि—परमार्थ के ज्ञान से अज्ञान कर के उत्पन्न हुए बन्धन को दूर होने दो, परमात्मा का स्वात्मस्वरूप से ज्ञान होना चाहिये ऐसाही आग्रह क्यों है? सो—जहाँ देहाभिमानरूप भ्रम से अपना सत्यस्वरूप नहीं भासताहुआसा हो रहा है, तिस शरीर में ही भ्रम दूर होकर आत्मज्ञान होना उचित है, यही ब्रह्माजी विस्मय में होकर कहते हैं कि—हे प्रभो ! तुम परमात्माके विषैं देह आदिकों का अध्यास करके और देहादिकों में आत्मा का अध्यास कर के (तादात्म्य मानकर) आत्मस्वरूपको न समझने के कारण खोयेहुए आत्मा को फिर बाहर ढूँढे तब अज्ञानी प्राणियों की यह कितनी मूढता है ! घर में खोई हुई वस्तु कहीं वन में खोजने से मिलती है? किन्तु कभी नहीं ॥ २७ ॥ इससे हे अनन्त ! इस चैतन्यजडरूप शरीर में ही, जड का त्याग करनेवाले विवेकी पुरुष, तुमसे अपने को अभिन्न समझकर तुम्हें ही खोजते हैं, यदि कहो कि—सत्यरूप के ज्ञान से ही कार्य सिद्धि होजायगी, जड पदार्थ के त्यागका कौन प्रयोजन है? तहाँ कहते हैं कि—समीप में सर्प के न होने पर भी सर्पका निषेध करे विना समीप में स्थित भी रज्जु को क्या विवेकी पुरुष जानतेहैं किन्तु नहीं जानते हैं इसकारण अन्तर्यामी आत्मासे अभेद मानकर तुम्हारा ज्ञान होने पर मुक्ति होती है नहीं तो नहीं होती है॥२८॥तो फिर ऐसे ज्ञान से ही प्राप्त होने वाले मोक्ष के विषय में भक्ति क्यों कही है? ऐसा कहो तो हे देव ! यद्यपि ज्ञान को हाथसे प्राप्त होनेयोग्यसा कहा है, तथापि तुम्हारे दोनो चरणकमलों के

हि ॥ जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥
॥ २९ ॥ तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ॥
येनाऽहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥ अ-
होऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ॥ यासां विभो वत्स-
तरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥ अहो भाग्यमहो-
भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ॥ यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनं ॥ ३२ ॥
एषां तु भाग्यमहिमाऽच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः ॥

प्रसादलेश ने जिस के ऊपर अनुग्रह करा है ऐसा पुरुष ही, तुम भगवान् की महिमा के तत्व को जानता है, दूसरा (तुम्हारी भक्ति न करनेवाला) एक भी पुरुष एकान्तमें वासकरके जड़पदार्थों के त्याग से शास्त्र के बल करके चिरकालपर्यन्त विचारकरे तब भी नहीं जानता है ॥२९॥ हेनाथ ! इस कारण इस ब्रह्मजन्म में, अथवा कर्मवश पशु आदि योनियोंमें प्राप्त होनेवाले जन्म में मुझे वही परमभाग्य प्राप्तहोय कि–जिसभाग्यसे, तुम्हारे भक्तजनो में कोई एकाद यत्किञ्चित् भक्तहोकर, तुम्हारे चरणपल्लवकी परमसेवा करूं ॥ ३० ॥ अब देवता आदिकों के जन्मों की अपेक्षा कहीं तुम्हारी भक्ति से युक्तही जन्म श्रेष्ठ है, ऐसी,उत्कण्ठा से सात श्लोको करके भक्तों के जन्म की प्रशंसा करते हैं कि–अहो ! इस गोकुल में की गौ और गोपियें परम धन्य (कृतार्थ) हैं,क्योंकि–हे सर्वव्यापक ! जिन तुम्हें तृप्त करने को सकलही यज्ञ, अवभी समर्थ नहीं हैं ऐसे प्रतिक्षण में तृप्त होते हुए तुमने बछड़ों के और वत्सपालों के स्वरूप से जिन गौ और गोपियोंके स्तनों का अमृत की समान मधुर दूध परम हर्ष से पिया है ॥ ३१ ॥ अहो ! नन्दगोप के गोकुल में वसनेवाले गौ गोपी आदि सवों का कैसा परम (अकथनीय) भाग्य है !! क्योंकि-जो परमानन्दरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म है वह अपना मन वाणी आदि के अगोचरपनारूप स्वभाव त्यागकर जिनका मित्र हुआ है, उनके भाग्यकाजितना वर्णन करें उतना थोड़ाही है ॥ ३२ ॥ हे अच्युत ! इन गोकुलवासी लोगों के भाग्य की महिमा तो अलगरही, उसका तो वर्णन ही कौन करसक्ता हैं ? परन्तु अहङ्कार,बुद्धि,मन और दश इन्द्रियें इन तेरहों के अधिष्ठाता रुद्र आदि तेरह देवताओं में हम ग्यारह×ही देवता परमभाग्यवान् हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि हम इन गोकुलवासियों के इंद्रियरूप पीने के पात्र (कटोरों) करके चित्त के अधिष्ठाता तुम वासुदेवके अमृतसमान मधुर और आसवकी समान मदकारी चरणकमल के मकरन्द का वारम्वार पान करते हैं

× दश इन्द्रियें, मन, बुद्धि और अहंकार इन के तेरह देवता हैं उनमें से वायु और उपस्थ इन दोनों इन्द्रियों से सेवामें लाभ न होनेके कारण उनके देवताओंको छोड़कर मूलमें ग्यारहकहाहै

एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥ ३३ ॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ॥ यं-
ज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
॥ ३४ ॥ एषां घोषनिवासिनामुत भवान्किं देव रातेति नश्चेतो विश्व-
फलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ॥ सद्वेषादिव पूतनापि सकुला
त्वामेव देवापिता यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५ ॥
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्॥तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न

इससे जब प्रत्येक इन्द्रिय के अभिमानी देवता हम, तुम्हारे कीर्त्ति, सुन्दरता सुगन्धि आदि एक २ गुण का सेवन करने से ही कृतार्थ हैं तो सकल इन्द्रियों के गुणों का सेवन करनेवाले व्रजवासियों के भाग्य का तो वर्णन ही क्या करें। ॥ ३३ ॥ इस कारण पहिले मैंने जिस की प्रार्थना करी है तिस परम भाग्य से युक्त, इस मनुष्यलोक में, तिस में भी वृन्दावन में, तिस में भी गोकुल मे कृमिकीट आदि कोई सा जन्म मुझे प्राप्तहो, जिससे कि-इन गोकुलवासी लोगों में से किसी के तो चरणकी रज का अभिषेक मेरे ऊपर होयगा, यदि कहो कि- गोकुलवासी ही क्यों धन्य है ? तो-जिनके चरण की रजको श्रुति भी अभी खोजती हैं ऐसे तुम भगवान् श्रीकृष्ण, जिन गोकुलवासियों के स्त्री पुत्र गृह आदि सहित आयुभी हुए हो इसकारण वह कृतार्थ हैं ॥ ३४ ॥ ऐसे इन गोकुलवासियों की कृतार्थता का कहांतक वर्णन करूं ! कि-जिन की भक्ति से षड्गुण ऐश्वर्यवान् तुमभी, ऋणी की समान होकर रहते हो, यदि कहो कि क्या मैं उनको चाहें सो देने को समर्थ नहीं हूँ जो उनका ऋणी रहूँगा ? सो-हे देव ! चाहे जोकुछ देने को समर्थ भी तुम, इन गोकुलवासियों को सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे अन्य दूसराकौन-सा फल दोगे ? इस विषय में हमारा चित्त सब स्थानों में विचारके साथ विचरता हुआ भी मोह को प्राप्त होता है, यदि कहो कि मैं अपना स्वरूपही देकर उन का अनृणी (बेकर्ज) होजाऊँगा ? सो नहीं नहीं यह नहीं होसक्त ; क्योंकि–भक्तों का वेष ही स्वीकार करने से पापिनी पूतना राक्षसी भी तुमने अपने स्वरूप को पहुँचादी है, फिर वही फल क्या उनकी भक्ति के योग्य होसक्ता है ? यदि कहोकि–इन के सम्बन्धी पुरुषों को भी मैं आत्मस्वरूप देदूँगा सो उस पूतना का अघासुर बकासुर आदि कुलसहित ही तुमने आत्मस्वरूप दिया है फिर इन को भी वही फल देना ठीक नहीं है. क्योंकि–जिन गोकुलवासियों के घर, धन, मित्र, स्त्री पति आदि, देह, पुत्र, प्राण और अन्त.करण यह सब तुम्हारे निमित्त ही हैं फिर ऐसे परमभक्तों को क्या प्राणनाशक राक्षसों को दिया हुआ ही फल देना चाहिये ? ॥ ३५ ॥ यदि कहोकि–वीतराग संन्यासियों को भी मुझ से दू-सरा फल ही नहीं है, फिर इनको वह ठीक क्यों नहीं होगा ? सो हे कृष्ण ! जबतक पुरुष,

ते जनाः ॥ ३६ ॥ प्रपञ्चं निष्प्रपंचोपि विडंबयसि भूतले ॥ प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥ ३७ ॥ जानंत एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ॥ मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥ ३८ ॥ अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् ॥ त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥ ३९ ॥ श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ॥ उ-

अनन्यभाव से तुम्हारी शरण में न आवें तबतक ही उन के विवेक धैर्य आदि धन को राग लोभ आदि चोर चुराते हैं, तबतक ही उनको यह घर कारागार (जेलखाने) की समान हैं और तबतक ही यह मोह उनको पैर में डाली हुई वेड़ी की समान रोकता है; तुम्हारे भक्तों के तो रागमोह आदि शत्रु भी तुम्हारे भजन में विशेष साधन होते हैं इस कारण इन गोकुलवासी वीतराग और संन्यासियों में कुछ भी भेद न होकर इनका भजनमात्र अधिक है ॥ ३६ ॥ यदि कहोकि—इसकारण ही मैं इनका पुत्रादि रूप हुआ हूँ सो हेप्रभो ! प्रपञ्च से परभी तुमअपनी शरण आयेहुए लोकोंको उत्तरोत्तर आनन्द ही प्राप्त होता है ऐसा प्रसिद्ध करने के निमित्त इस भूतलपर पुत्रादिरूप प्रपञ्च का अनुकरण (नकल) करते हो; सो कपट से स्वीकार करे हुए पुत्ररूप आदि करके उनकी सच्ची निःसीम भक्ति का आनृण्य (बेकर्जपना) नहीं होता है ॥ ३७ ॥ इसप्रकार प्रथम से आरम्भ करके ‘ अनन्तगुण होने के कारण ’ भगवान् के स्वरूप को अपने जानने में न आना वर्णन करके अब जोकोई ‘ हम भगवान् को जानते हैं ’ ऐसा अभिमान करतेहैं उनको हास्यसा करतेहुए कहतेहैं कि हेप्रभो! तुम्हारी महिमा को ‘हम जानतेहैं’ ऐसा कहनेवाले जो हैं वही जानें उनकी अधिक निन्दा करके क्या करना है ? मेरेतो मन को, शरीर को और वाणी को तुम्हारे ऐश्वर्य का ज्ञान होता नहीं है अर्थात् तुम्हारे ऐश्वर्यका चिन्तवन आदि करना मेरेमन आदिके अधिकार से बाहरहैं॥ ३८ ॥ अब जगदीश्वरपने आदिके अभिमान को त्यागकर कहते हैं कि—हे कृष्ण ! तुम सर्वसाक्षी होनेके कारण अपनी महिमा और अस्मदादिकों की ज्ञान बल आदि सबही सामर्थ्यों को जानते हो और अनन्त ब्रह्माण्डो के स्वामी भी तुमही हो इतनाही मैं समझता हूँ इसकारण ममता का स्थान यह जगत् और अहम्भाव का स्थान यह शरीर भी तुम्हें अर्पण करा है, अब मुझे सत्यलोक में जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ ३९ ॥ इसप्रकार स्तुति करके जातेसमय अति आदर से बहुत से सम्बोधन देकर नमस्कार करते हैं कि—यादवों के कुलरूप कमल को आनन्द देनेवाले हे सूर्यसमान ! भूमि, देवता, ब्राह्मण और गौ आदि पशु रूप समुद्र को बढानेवाले हे चन्द्रसमान ! पाखण्डधर्मरूप रात्रिके अन्धकार का नाश करनेवाले हेचन्द्र-

उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन्नमस्ते ॥ ४० ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ॥ नत्वाभीष्टं ज-
गद्धाता स्वंधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥ ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागव-
स्थितान् ॥ वत्सान्पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥ एकस्मिन्नपि याते-
ऽब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः ॥ कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्द्धं मेनिरेऽर्भकाः
॥ ४३ ॥ किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ॥ यन्मोहितं जगत्सर्व-
मभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥ ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ॥
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ ततो हसन् हृषी-
केशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः ॥ दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्त्तत वनाद्व्रजम् ॥ ४६ ॥

सूर्यसमान ! और उदय होतेही पृथ्वी पर के कंसादि राक्षसों से द्रोह करनेवाले हे सूर्य समान ! और हे सूर्यपर्यन्त सबके ही पूजनीय ! भगवन् श्रीकृष्ण ! आपको कल्पपर्यन्त नमस्कार हो ॥ ४० ॥ शुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! जगत् को रचनेवाले ब्रह्माजी इसप्रकार सर्वव्यापक होकर भी जगत् का हित करने के निमित्त मनुष्यरूप से विराजमान श्रीकृष्णजी की स्तुति करके, तीन प्रदक्षिणा कर और उनके चरणों में नमस्कार करके सब लोकों के पूजनीय अपने सत्यलोक को चलेगये ॥ ४१ ॥ श्रीकृष्णजी ने भी अपने से उत्पन्न हुए उन ब्रह्माजी को सत्यलोक को जानेकी आज्ञा देकर, तदनन्तर पहिलेही ब्रह्माजी के लाकर छोड़देने के कारण कोमल घासोंको चरतेहुए बछड़ों को पहिले की समान, अपने सखा जहां भोजन कररहेथे तिस अपने क्रीड़ा की सामग्री युक्त पुलिनस्थानपर ले आये ४२ यदि कहोकि-वह ग्वालबाल इतने समयपर्यन्त तहांही कैसेरहे और वह भूँख प्यास को कैसे भूलगये ? सो हे राजन् ! कृष्ण की माया से मोहितहुए उन बालकोंने, अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय उन श्रीकृष्णजी के विना एक वर्ष वीतजानेपर भी उस समय को आधे क्षणकी समान जाना ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! माया से मोहितचित्त हुए पुरुष इस जगत् में क्या क्या नहीं भूलजाते हैं ? सबही भूल जाते हैं; जिस मायासे मोहित हुआ यह जगत्; शास्त्र और आचार्यों के बोध करानेपर भी वारंवार अपने स्वरूप को भूलजाता है ॥ ४४ ॥ इस कारण ही वह मित्र श्रीकृष्णजी से यह कहने लगे कि—हे कृष्ण ! तुम बड़ी शीघ्रता से लौट आये यह बड़ा अच्छा हुआ; हमने तो तुम्हारे विना अभी एक ग्रास भी नहीं खाया है अब अपने स्थानपर आकर बैठो और स्वस्थता से भोजन करो ॥ ४५ ॥ तदनन्तर सर्वान्तर्यामी वह श्रीकृष्णजी हँसते२ उन बालकों के साथ भोजन करके उन को अघासुर के शरीर की खाँकड़ दिखाते हुए वन से गोकुल में आने के मार्ग में को चलदिये

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रितांगः प्रोद्दामवेणुदलशृंगरवोत्सवाढ्यः ॥ वत्सान्गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥४७॥ अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ॥ हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥४८॥ राजोवाच ॥ ब्रह्मन्परोद्भवे कृष्णे इयान्प्रेमा कथं भवेत् ॥ योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥४९॥ श्रीशुक उवाच ॥ सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ॥ इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥ तद्राजेंद्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ॥ न तथा ममतालंबिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥ देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ॥ यथा देहः प्रियतमस्तथा नह्यनु ये च तं ॥५२॥ देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः ॥ यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन्

॥ ४६ ॥ तदनन्तर मोरों के पर, पुष्प और गेरू पेवड़ी आदि नवीन धातुओं से चित्र विचित्र दीखनेवाले, सुन्दर मुरली, पत्तों के बनायेहुए बाजे और सींगों के शब्दों से होनेवाले उत्साह करके युक्त बछड़ों को अलग २ रक्खेहुए नामों से पुकारने वाले, साथ के बालकों ने जिन की पवित्र कीर्त्ति को गाया है और गोपियों की दृष्टियों को जिनका दर्शन आनन्ददायक है ऐसे उन श्रीकृष्णजी ने, गोकुल में प्रवेश करा ॥ ४७ ॥ गोकुल में जाने पर तहां सब बालकों ने, यह कहा कि-यशोदानन्द के पुत्र इस श्रीकृष्णने, वृन्दावन में आज एक बड़ाभारी अजगर सर्प मारा और उससे हमारी रक्षा करी ॥ ४८ ॥ राजा ने कहा कि-हे ब्रह्मन् ! गोकुलवासियों का एक वर्षपर्यंत पुत्ररूप हुए श्रीकृष्णजी के ऊपर अपने पुत्रों से भी अधिक अपूर्व प्रेम बढ़ा ऐसा जो तुमने कहा तिसमें यह शङ्का होतीहै कि-लोकों में तो दूसरों के अति गुणवान् भी पुत्रोंकी अपेक्षा अपने गुणहीन पुत्रों के ऊपरभी अधिक प्रेम होता है; ऐसा होनेपर गोकुलवासियों के अपने से उत्पन्न हुए पुत्रों के विषें भी जो प्रेम पहिले नहीं हुआथा वह अकथनीय प्रेम दूसरे से उत्पन्न हुए श्रीकृष्ण के ऊपर कैसे हुआ ? इसका कारण कहिये ॥ ४९ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि हे राजन् ! सबही प्राणीमात्र को अपना आत्माही परम प्रिय है और पुत्र धन आदि तो तिस आत्मा के सुखके साधन होने से ही प्रिय हैं स्वतः प्रिय नहीं हैं ॥ ५० ॥ इसकारण हे राजेंद्र ! प्राणीमात्र को जैसे अपने २ अहङ्कार के स्थान देह आदि में प्रीति होती है तैसी ममता के स्थान पुत्र, धन, घर आदिकों में नहीं होती है ॥ ५१ ॥ हे राजश्रेष्ठ ! यह देहही आत्मा है ऐसा कहनेवाले पुरुषों को भी जैसे देह अतिप्यारा है तैसे उस देह के अनुसार रहनेवाले पुत्र घर आदि अतिप्रिय नहीं हैं ५२ अब देह को देखो तो जड़ और अनात्मा होने के कारण घर पुत्र आदिकों की समानही ममता का स्थान है मैं आत्मा हूँ ऐसा कहनेवाले का विषय नहीं है, ऐसा यद्यपि देहा-

जीवितोशा वलीयसी ॥ ५३ ॥ तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ॥ तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरं ॥ ५४ ॥ कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनां ॥ जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥ वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ॥ भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किंचन ॥ ५६ ॥ सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ॥ तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यतां ॥ ५७ ॥ समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ॥ भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषां ॥ ५८ ॥ एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ यत्कौमारे हरि-

तीत आत्मदृष्टि से कहा है तथापि यह (ममता का स्थान) शरीर आत्माकी समान प्रिय नहीं है ऐसाही सिद्ध होता है क्योंकि-यह शरीर मरणकाल के अत्यन्त ही समीप होकर अब नहीं बचूँगा ऐसा निश्चय होने परभी तहां आत्मा की जीवित रहनेकी आशा अतिबलवान् होती है अर्थात् उस शरीर में जो प्रेम है वह उससे भिन्न आत्मा का अंश है और वह देह से अध्यास होने के कारण मिलरहा है इसकारण उसका देह के साथ होनेवाला अभाव किसी को भी प्रिय नहीं लगता है ॥ ५३ ॥ इसकारण सबही प्राणियों को अपना २ आत्माही अतिप्रिय है और उसके सुखके निमित्तही चर (स्त्री पुत्रादिक) अचर (घर क्षेत्र आदि) यह सब जगत् प्रिय होता है ॥ ५४ ॥यदि कहो कि-आत्मा सबको प्रिय होय कृष्ण सब के प्रिय कैसे हुए ? सो-हे राजन् ! इन कृष्णको 'सबप्राणी मात्रके आत्मा हैं' ऐसा जानो, तो इन्द्रियगोचर कैसे हुए,यदि ऐसा कहोतो-वह सर्वात्माभी जगत् के हित के निमित्त अपनी मायासे इस गोकुल में मनुष्यरूप करके विद्यमान से प्रतीत होरहेहैं ॥५५॥ परन्तु परमार्थदृष्टि से श्रीकृष्णजीको जाननेवाले पुरुषों को, इस संसार में स्थावर जंगमरूप सब ही जगत, भगवद्रूप प्रतीत होता है उन से भिन्नजगत्में और कुछ प्रतीत नहीं होताहै॥५६॥यदि कहोकि क्यों? तो-सबही वस्तुमात्रक परमार्थ प्रकृतिरूप कारणके विषैं स्थितहैं और तिसकारणके भी कारण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रहैं इस कारण कृष्णके सिवाय और क्या वस्तुहै सो कहो?॥५७॥श्रीकृष्णही परमार्थरूप हैं तिससे उन की ही शरण में जाने वालों को यत्न के बिना मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं— सत्पुरुषों के आश्रय, पवित्र कीर्त्ति श्रीकृष्ण के चरणपल्लवरूप नौका का जिन्हों ने आश्रय करा है उनको संसारसमुद्र बछड़े के चरणके चिन्ह की समान सहज में तरने योग्य होजाता है, वैकुण्ठनामक स्थान प्राप्त होता है, दुःखों का स्थान जो संसार सो फिर कभी भी प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति नहीं होतीहै ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! तुमने भगवान् की लीला के विषय में आश्चर्य से जो कौमार अवस्था में भग-

कृतं पौगण्डे परिकीर्तितं ॥५९॥ एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाद्वलजेमनं च ॥ व्यक्तेतरद्रूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥६०॥ एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ॥ निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥६१॥ इतिश्रीभा० म० दशमस्कंधे पू० ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ ततश्च पौगंडवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसंमतौ ॥ गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥ तन्माधवो वेणुमुदीरयन्वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ॥ पशून्पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥ तन्मंजुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःस्वच्छपयःसरस्वता ॥ वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भग-

---

वान् का कराहुआ अघासुर का मोक्ष सो पौगण्ड अवस्था में बालकों ने गोकुल में कैसे वर्णन करा इस विषय में जो मुझ से प्रश्न कराथा तिसका उत्तर यह सब मैंने तुम से कहा है ॥ ५९ ॥ हेराजन् ! जो यह श्रीकृष्णका मित्रों के साथ खेलने का चारित्र अघासुर का मोक्ष, पुलिनपर सखाओं के साथ भोजन, जड प्रपञ्च से भिन्न शुद्ध सत्वगुणी धारण कराहुआ बछडे और ग्वालवालों का स्वरूप तथा ब्रह्मा जीकी करीहुई स्तुति इन को जो पुरुष सुनता है वा पढता है वह पुरुष सबही पुरुषार्थों को पाता है ॥ ६० ॥ इसप्रकार कुमार अवस्थाके योग्य परस्पर एक दूसरे के छीके चुराना, आदि पहिले कहेहुए बिहारों से और अन्यभी धाईमिचौना खेलना, मट्टी के पुल बांधना और वानरों की समान कूदना आदि विहारों से गोकुल में उन बलराम और श्रीकृष्णजीने अपनी कुमार अवस्था बिताई ॥ ६१ ॥ इतिश्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धपूर्वार्द्ध में चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ इस पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्णका गौओंकी रक्षा करना, धेनुकासुरकानाश और कालिय सर्प के विष से गोपों की रक्षा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा कि हे राजन् ! कुमार अवस्था बीत जाने पर फिर जब उन बलराम और श्रीकृष्ण ने पौगण्ड अवस्था का आश्रय करा अर्थात् छः सातवर्ष के हुए तब वह गौओं का पालन करना, बाँधना, छोड़ना आदि कामों में नन्द आदि के सम्मत हुए, तदनन्तर उन्हों ने सखाओं के साथ गौएं चराते हुए सब स्थान में उभरे हुए अपने चरणों के चिन्हों से वृन्दावन को परम पवित्र करा॥१॥एकदिन उस वृन्दावन में क्रीड़ा करने की इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णजी ने मुरली बजाते २ अपना यश गानेवाले गोपोंके साथ और बलरामजी के साथ गौओंको आगे करके पशुओं के हितकारी और फूलोंकी खान ऐसे वृन्दावन में को प्रवेश करा ॥ २ ॥ तब मधुर शब्द करनेवाले भौंरे, हिरन और पक्षियों से भरे हुए जिस में साधुओं के

वान्मनो दधे ॥ ३ ॥ स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ॥
स्पृशच्छिखान्वीक्ष्य वनस्पतीन्मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥ श्री-
भगवानुवाच ॥ अहो अमी देववरामरार्चितं पादांबुजं ते सुमनःफला-
र्हणम् ॥ नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायंत आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ॥ प्रायो
अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवं ॥ ६ ॥
नृत्यंत्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वंति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन॥
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस ईयान् हि सतां निसर्गः

मन की समान स्वच्छ जल है ऐसे सरोवर में से कमलों के सुगन्ध को हरकर आये हुए पवन करके सेवन करे हुए तिस वृन्दावन को देखकर उन श्रीकृष्णजी ने वहां क्रीड़ा करने का मन में विचार करा ॥ ३ ॥ और वह आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णजी, उस वन में के अनेकों स्थानोंपर लाल २ पत्तों की शोभायुक्त फल और फूलों के अतिभार से जिन की शाखा चरणों को स्पर्श कर रही हैं ऐसे वृक्षों को देखकर, हर्ष से हँसते हुए बलरामजी से कहनेलगे ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले कि—हे देववर बलराम ! देखो कैसा आश्चर्य है यह वृक्ष अपनी शाखाओं से फूलफल आदि पूजा की सामग्री तुम्हारे आगे रखकर, ब्रह्मादि देवताओं के भी पूजनीय तुम्हारे चरणकमल को,जिस अज्ञान से अपने को वृक्ष का जन्म प्राप्तहुआ है तिस अज्ञान के नाश के निमित्त नमस्कार कर रहे हैं अथवा जिन तुम ईश्वर ने, सब का उपकारी होनेवाला वृक्ष जन्म हमें दिया है ऐसे प्रशंसनीय अपने जन्म में जो अज्ञानरूप अन्धकार है उस के नाश के निमित्त तुम्हें नमस्कार कररहे हैं ॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष ! यह भौंरे लोकदृष्टि से यद्यपि झङ्कार शब्द कररहे हैं ऐसा दीखता है तथापि वास्तव में यह वक्ता और श्रोताओं को पवित्र करनेवाले तुम्हारे यश को गाकर पग २ पर तुम्हारी सेवा कररहे हैं हे पवित्र बलराम ! प्रायः यह भौंरे तुम्हारे सेवकों में मुख्य ऋषियों के समूह ही हैं, यह, मनुष्य के वेष से वन में गुप्त रहनेवाले अपने देवता ऐसे तुम्हें त्यागते नहीं हैं अर्थात् तुम जब मनुष्य वेष से गुप्त हुए तब वह ऋषि भी भ्रमरों के वेष से गुप्त होकर तुम्हारी सेवा कर रहे हैं ॥ ६ ॥ हे स्तुतियोग्य बलराम ! यह मोर तुम्हारे आगे नृत्य कररहे हैं, तैसे ही यह हिरनी भी गोपियों की समान प्रेमयुक्त होकर अपने घर (वन में) आये हुए तुम्हारा कटाक्षों से प्रिय करती हैं तथा यह कोकिलाओं के समूह भी घर आये हुए तुम्हारा स्तोत्ररूप मधुर शब्दों से प्रिय करती हैं, इसकारण यह भ्रमर आदि सब अधम जाति के होकर भी कृतार्थ हैं; क्योंकि अपने पास जो कुछ होय वह घर आये हुए सत्पुरुष को अर्पण

॥ ७ ॥ धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः॥
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः
॥ ८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं वृंदावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ॥ रेमे
संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥ ९ ॥ क्वचिद्गायति गायत्सु मदांधालिष्व-
नुव्रतैः ॥ उपगीयमानचरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः ॥ १० ॥ क्वचिच्च कलहं-
सानामनुकूजति कूजितं ॥ अभिनृत्यति नृत्यंतं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥ ११॥
मेघगंभीरया वाचा नामभिर्दूरगान्पशून् ॥ क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालम-
नोज्ञया ॥ १२ ॥ चकोरक्रौंचचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ॥ अनुरौति स्म स-
त्वानां भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः ॥ १३ ॥ क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्संगोप-
बर्हणम् ॥ स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥ १४ ॥ नृत्यतो गायतः

करें यह ही सज्जनों का स्वभाव इन्हों ने स्वीकार करा है ॥७॥ हे राम ! तुम्हारे चरण के स्पर्श से यह पृथ्वी धन्य है, तुम्हारे चरणों को स्पर्श करनेवाले तृण और लता धन्य हैं, तुम्हारे हाथों के नखों के स्पर्श करे हुए वृक्ष और उन के समीप की यह लता धन्य हैं, तुम्हारे दयायुक्त देखने से नदी, पर्वत, वृक्ष और मृग यह धन्य हैं तथा लक्ष्मी भी जिस के आलिङ्गन की इच्छामात्र करती है उस तुम्हारे भुजाओं के मध्यभाग (वक्षःस्थल) का आलिङ्गन पाकर गोपी धन्य हैं ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इस प्रकार शोभायुक्त वृन्दावन की प्रशंसा करके प्रसन्नचित्त हुए वह श्रीकृष्णजी, गोवर्द्धन के समीप की भूमि के स्थानों में और यमुना नदी के कछारों में साथियों सहित गौओं को चराते हुए क्रीड़ा करनेलगे ॥ ९ ॥ कभी तो, साथी गोपों ने वा देवताओं ने जिन का चरित्र गाया है ऐसे पुष्पों की माला पहिने बलराम सहित वह श्रीकृष्णजी, मद से अन्ध हुए भौंरों के गान करनेपर आप भी गान करने लगते थे ॥ १० ॥ कभी राजहंसों के शब्दों के पीछे आप भी तैसा ही शब्द करते थे, कभी अपने सखाओं को हँसाते हुए नाचते हुए मोरों के समीप में आप भी नृत्य करते थे ॥ ११ ॥ किसी समय गौओं को और गोपों को प्रिय लगनेवाली मेघकी समान गम्भीरवाणी से धरेहुए नामों करके दूरगईहुई गौओं को प्रीति के साथ समीप को बुलाते थे ॥ १२ ॥ कभी, चकोर, क्रौंच, चकवे, भारद्वाज, और मोर इन पक्षियों के शब्दों का अनुकरण करते थे, कभी अन्यप्राणी व्याघ्र सिंह आदि का शब्द सुनकर भयभीत हो भागते हुए दूर को जाने लगते थे तो आप भी भयभीत से होकर दूर को भागजाते थे ॥ १३ ॥ कभी खेलते २ थककर गोपों की जङ्घाओं का तकिया करके सोये हुए अपने बड़े भ्राता बलरामको, वह श्रीकृष्णजी आपही चरणदबाना आदि से श्रम (थकावट) रहित

क्वापि वल्गतो युद्ध्यतो मिथः ॥ गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः
॥ १५ ॥ क्वचित्पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः ॥ वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपो-
त्संगोपवर्हणः ॥ १६ ॥ पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ॥ अपरे
हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७ ॥ अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि
महात्मनः॥ गायंति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥१८॥एवं निगूढात्मगतिः
स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडंबयन्॥रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः
समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥ १९ ॥ श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा॥
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥ २० ॥ राम राम महाबा-
हो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ॥ इतो विदूरे सुमहद्वनं तालालिसंकुलम् ॥ २१ ॥
फलानि तत्र भूरीणि पतितानि पतंति च ॥ संन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दु-

करते थे ॥१४॥ कभी परस्पर हाथ पकड़कर खड़े हुए वह रामकृष्ण,एकदूसरे के साथ मिलकर नाचनेवाले, गानेवाले और कुश्ती लड़नेवाले गोपों की,तुम नृत्य करनेमें विद्याधरों की समान हो, गाने में गन्धर्वों की समान हो और कुश्ती में त्रिलोकी को जीतनेवाले हो इसप्रकार हँसते २ प्रशंसा करते थे॥ १५ ॥ कभी बाहुयुद्ध (कुश्ती) के श्रम से थके हुए श्रीकृष्णजी, वृक्षके नीचे कोमल पत्तों के बिछौने पर गोपकी जंघापर शिर रखकर सोते थे ॥ १६ ॥ उससमय कितनेही गोप उन महात्मा श्रीकृष्णजी की चरणसेवा करते थे ' भगवान् के साथ क्रीडा करने से ही ' निष्पापहुए कितनेही गोप, पत्ते आदि के पंखों से उनकी बियार(हवा)करते थे ॥१७॥ हेमहाराज ! दूसरे कितनेही गोप, जिनकी बुद्धि स्नेहसे पसीजीहै ऐसे होकर उन महात्मा श्रीकृष्णजीकी शयनआदि लीलाओं के योग्य और उनको सुखकारी गीत धीरे२ जैसे उन की निद्रा न उछटे तिस रीति से गाते थे ॥ १८ ॥ इसप्रकार, जिनके चरणपल्लव का लक्ष्मीने लालन करा है ऐसे उन भगवान्ने, अपनी मायासे अपने सत्यस्वरूप को ढककर, अपने आचरणों से गोप के पुत्ररूप का अनुकरण करते हुए और बीच २ में ईश्वर की समान चरित्र करके दिखातेहुए ग्रामवासियों के साथ ग्रामवासी गोपकी समान होकर क्रीडा करी ॥ १९ ॥ अब उन का ईश्वरचरित्र दिखाने के निमित्त कहते हैं कि—बलराम और श्रीकृष्णजी का एक परममित्र श्रीदामा नामवाला गोपाल था वह और सुबल,स्तोककृष्ण आदिगोप इनसबों ने बलराम और श्रीकृष्णजी के समीप आकर प्रेम से यह कहा कि ॥ २० ॥ हे महापराक्रमी राम ! राम ! हे दुष्टनाशककृष्ण ! इस खेलने के स्थान के समीपही तालके वृक्षों की पंक्तियोंसे भराहुआ एक बडावन है ॥ २१ ॥ तहाँ बहुत से तालके वृक्षों के फल हैं, वह कितनेही नीचे पड़े हैं और कितनेही ऊपर पककर

रात्मना ॥ २२ ॥ सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ॥ आत्मतु-
ल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ २३ ॥ तस्मात्कृतनराहाराद्भीतैर्नृभिरमित्र-
हन् ॥ न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसंघैर्विवर्जितम् ॥ २४ ॥ विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि
फलानि सुरभीणि च ॥ एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥ २५ ॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ॥ वाञ्छाऽस्ति महती राम गम्यतां
यदि रोचते ॥ २६ ॥ एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ॥ प्रहस्य ज-
ग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥ २७ ॥ बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्संपरिकं-
पयन् ॥ फलानि पातयामास मतंगज इवौजसा ॥ २८ ॥ फलानां पततां शब्दं
निशम्यासुररासभः ॥ अभ्यधावत्क्षितितलं सनगं परिकंपयन् ॥ २९ ॥ समे-
त्य तरसा प्रत्यग्द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ॥ निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन्पर्यसरत्खलः
॥ ३० ॥ पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ॥ चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षि-

नीचे गिरते हैं परन्तु क्या करें ! दुष्टात्मा धेनुकासुर ने उनको रोकरक्खा है ॥ २२ ॥
हेराम ! हेकृष्ण ! गर्दभकारूप धारण करनेवाला वह महापराक्रमी असुर अपनी समान
बलवान् और बहुत से जातिवालोंसे घिराहुआ है ॥ २३ ॥ हेशत्रुनाशक कृष्ण ! वह
मनुष्यों को भक्षण कर लेता था इसकारण उस से भयभीतहुए मनुष्य उस वनमें नहीं
जाते हैं, वह वन गौ आदि पशुओं से और पक्षियों के समूहों से भी रहित करादिया है॥२४॥
पहिले कभी भी भक्षण न करेहुए सुन्दर सुगन्धवाले फल तहाँ हैं, यहदेखो जिधर तिधर
फैलाहुआ सुन्दर गन्ध आरहा है ॥२५॥ हे कृष्ण ! सुगन्ध से जिनका चित्त पानेका लोभी
हुआ है ऐसे हमें वह फल देओ; उन फलोंको भक्षण करने की हमें बड़ी इच्छा होरही है
परन्तु हेराम ! यदि तुम्हें हमारा कहना रुचेतो फल लेनेको चलो ॥ २६ ॥ इस प्रकार
मित्र गोपोंका कहना सुनकर हँसते हुए उन मित्रों का प्रिय करने की इच्छा से वह प्रभु
रामकृष्ण, गोपों से घिरकर उस तालवन में को चलेगये॥ २७ । बलरामने तो उसवन में
घुसकर अपनी भुजाओं के बल से तालके वृक्षोंको, मदोन्मत्त हाथीकी समान कँपाकर उस
के फल भूमिपर गिरादिये ॥ २८ ॥ तब गर्दभ का रूप धारण करनेवाला वह धेनुकासुर
गिरते हुए फलोंके शब्द को सुनकर वृक्ष पर्वतों सहित पृथ्वीतल को कँपाता हुआ बल-
राम को मारने के निमित्त उनके सन्मुखको दौड़ा ॥२९॥ और आकर पिछले दोनों पैरों
से बड़े वेगसे बलरामजी के वक्षःस्थल पर प्रहार करके गर्दभ जातिका शब्द करता हुआ
वह बलवान् खल धेनुकासुर, फिर प्रहार करने के निमित्त बलरामजी के सामने को भागने
लगा ॥ ३० ॥ और अत्यन्त क्रुद्ध हुआ वह धेनुकासुर, फिर बलरामजी के समीप आ-
कर उनकी ओरको अपनी पूँछ करके खडाहुआ और हे राजन् ! वह बलरामजी को मारने

पद्भ्यां ॥ ३१ ॥ स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ॥ चिक्षेप तृणराजाग्रे
भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥ ३२ ॥ तेनाहतो महातालो वेपमानो महाशिराः ॥ पा-
र्श्वस्थं कंपयन भग्नः स चान्यं सोपि चापरम् ॥ ३३ ॥ बलस्य लीलयो-
त्सृष्टखरदेहहताहताः ॥ तालाश्चकंपिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥ ३४ ॥ नै-
तच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ॥ ओतप्रोतमिदं यस्मिस्तंतुष्वंग यथा
पटः ॥ ३५ ॥ ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ॥ क्रोष्टारोऽभ्य-
द्रवन सर्वे संरब्धा हतबांधवाः ॥ ३६ ॥ तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप
लीलया ॥ गृहीतपश्चाच्चरणान्प्राहिणोत्तृणराजसु ॥ ३७ ॥ फलप्रकरसंकीर्णा
दैत्यदेहैर्गतासुभिः ॥ रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलं ॥ ३८ ॥ तयो-
स्तत्सुमहत्कर्म निशम्य विबुधादयः ॥ मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः॥

के निमित्त अपने पिछले पैर झाड़ने लगा ॥ ३१ ॥ तब बलराम ने उस दैत्यको एकही हाथसे पिछले पैरों के अग्रभाग में पकड़कर घर २ घुमाया, घुमाने से ही मरण को प्राप्त हुए तिसको एकताल के वृक्षकी जड़ में फेंकदिया ॥ ३२ ॥ उस बलराम के फैंकेहुए गर्दभ के शरीर से ताड़ित होनेके कारण काँपनेवाला, बड़े गुद्दोंवाला वह महाताल, अपने समीप के दूसरे ताल वृक्षको कँपाताहुआ उसके ऊपरही टूटपडा. वहभी दूसरे तालको कँपाता हुआ उसीके ऊपर टूटपडा, वहभी और दूसरे तालके ऊपर टूटपडा ॥ ३३ ॥ इस प्रकार बलराम ने लीला करके फेंकेहुए गर्दभ के शरीर से जो तालवृक्ष ताडित हुआथा उस से दूसरा और तिससे तीसरा इसप्रकार सबही तालके वृक्ष बडे वेगसे पवन के चलनेपर जैसे कम्पित होते हैं तैसे कम्पायमान हुए । ३४ ॥ हे राजन्! जिसमें यह जगत्, सीधेआडे तन्तुओं से बुनेहुए वस्त्रकी समान ओतप्रोत रचाहुआ है ऐसे जगदीश्वर अनन्त भगवान् के विषैं यह धेनुकासुर को घर २ घुमाकर मारना आदि आश्चर्य नहींहै॥३५॥इस प्रकार धेनुकासुरके मरण को प्राप्त होनेके अनन्तर उसकी जातिके जो गर्दभ थे वह सबभी अपना बन्धु माराजाने के कारण क्रुद्ध होकर,कृष्ण,बलराम और गोपों को मारने के निमित्त उनकेशरीरों के ऊपर को दौडे॥३६॥तब हे राजन्! श्रीकृष्ण और बलरामने ऊपर को दौडकर आने वाले उनगर्दभोंकोस्वाभाविकलीलासेपिछलेपैरपकडकरघर२घुमाकरतालकेवृक्षोंपरफेंकदिया॥३७॥ उस समय फलों के समूहों से और टूटे हुए तालवृक्षों के गुद्दों सहित प्राण हीन होकर पड़े हुए दैत्यों के देहों से भराहुआ वह भूतल, जैसे मेघों से भरा आकाश शोभित होता है तैसे शोभित होने लगा ॥ ३८ ॥ औरों को जिस का करना कठिन है ऐसे उस राम कृष्ण के बड़ेभारी कर्म को देखकर, देवता आदिकों ने पुष्पों की वर्षा आदि करी, उन में देवताओं ने फूलों की वर्षा करी, गन्धर्वों ने गाने के साथ बाजे बजाये और ऋषियोंने स्तुति

॥ ३९ ॥ अथ तालफलान्यादन्मनुष्या गतसाध्वसाः ॥ तृणं च पशवश्चेरुर्हत-
धेनुककानने ॥ ४० ॥ कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ॥ स्तूयमानो-
नुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥ ४१ ॥ तं गोरजश्छुरितकुंतलबद्धबर्हवन्य-
प्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासं ॥ वेणुं क्वणंतमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृ-
शोऽभ्यगमन् समेताः ॥ ४२ ॥ पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृंगैस्तापं जहुर्वि-
रहजं व्रजयोषितोऽह्नि ॥ तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासवि-
नयं यदपांगमोक्षं ॥ ४३ ॥ तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ॥ यथा-
कामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥ ४४ ॥ गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनो-
न्मर्दनादिभिः ॥ नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गंधमण्डितौ ॥ ४५ ॥ ज-
नन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ॥ संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे

करी ॥ ३९ ॥ तदनन्तर सब मनुष्य, धेनुकासुर के मरजानेपर उस वन में निर्भय होकर तालों के फल खाने लगे और गौ भैंस आदि पशु भी तृण चरने लगे ॥ ४० ॥ फिर कमलदलनयन और श्रोता वक्ताओं को जिन का श्रवण कीर्त्तन पुण्यकारी है ऐसे वह बलराम सहित श्रीकृष्णजी, देव, ऋषि आदिकों से तथा गोपों से स्तुति करे जाते हुए गोकुल में को लौटगये ॥ ४१ ॥ उस समय उन के दर्शन को जिन की दृष्टि उत्कंठित रही है ऐसी गोपियें इकट्ठी होकर, वन में से आनेवाले, गोरज से अटेहुए घुँघराले केशों में जिन्हों ने मोरों के पंख और वन के फूल धारण करे हैं, जिन का देखना मन को मोहित करनेवाला है, जिन का हास्य मनोहर है, जिनकी कीर्त्ति को साथी गोप गारहे हैं ऐसे मुरली बजानेवाले उन श्रीकृष्णजी को देखने के निमित्त सन्मुखगईं ॥ ४२ ॥ उन गोपियों ने, श्रीकृष्णजीके मुखका मधु, नेत्ररूप भ्रमरों से पीकर अर्थात् मुखकी सुन्दरता नेत्रों से देखकर दिन में जो उन श्रीकृष्णजीका विरह रहाथा उस के ताप को त्यागा श्रीकृष्णजीने भी, उन गोपियों ने लज्जायुक्त हास्य के साथ नम्रता दिखाकर अपनी ओर को जो कटाक्षों से देखा था उसही सत्कार को स्वीकार करके गोकुल में प्रवेश करा ॥ ४३ ॥ तब वन में से आये हुए उन रामकृष्ण नामवाले पुत्रों को, पुत्रवत्सल उन यशोदा और रोहिणी ने उन की इच्छा के अनुसार समय २ के योग्य भोजन वस्त्र आदि उत्तम भोग समर्पण करे ॥ ४४ ॥ तब वह रामकृष्ण, उन नन्दजीके घर में स्नान, सुगन्धित तेल आदि मलना, बाल काढना आदि से मार्ग के श्रमको दूर करके सुन्दर वस्त्र पहिन दिव्य पुष्पों की मालाओं से और चन्दन आदि उबटनों से भूषित हुए ॥ ४५ ॥ तदनन्तर वह रामकृष्ण, माताओं के परोसे हुए स्वादयुक्त अन्न भोजन करके उनही माताओं से, ताम्बूल अर्पण करना पवन करना आदि करके लालितहोते हुए पलङ्ग आदि पै पुष्प आदि बिछा कर बनाई हुई उत्तम शय्या

॥ ४६ ॥ एवं स भगवान् कृष्णो वृंदावनचरः क्वचित् ॥ ययौ रामम्टते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥ अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ॥ दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्त्ता विषदूषितम् ॥ ४८ ॥ विषांभस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ॥ निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलांते कुरूद्वह ॥ ४९ ॥ वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान्कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥ ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान्समजीवयत् ॥ ५० ॥ ते संप्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलांतिकात् ॥ आसन्सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परं ॥ ५१ ॥ अन्वमंसत तद्राजन् गोविंदानुग्रहेक्षितम् ॥ पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥ इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः

पर सुख से सोये ॥ ४६ ॥ हेराजन् इसप्रकार वह भगवान् श्रीकृष्णजी, वृन्दावन में गौएं चराते हुए, एक दिन बलरामके विनाही और गोपों को साथ लेकर कालिन्दी नदी के तटपर जल पीने को गये ॥ ४७ ॥ सो इतने ही में धूपकी गरमी से पीडित होकर पिलासे हुए कितने ही गौ और गोपों ने, पीछे से आते हुए कृष्णकी वाट न देखकर शीघ्रही आगे को जाकर कालिय सर्प के विषसे दूखित हुआ वह यमुना का जल पीलिया ॥ ४८ ॥ हे राजन्! जिन्हों ने जल नहीं पियाथा उन्हों ने भी उस विषैले जल में स्नान वा आचमन करलिया इसकारण प्रारब्धवश मोहितचित्त हुए वह सबही (गोप और गौएँ) प्राणहीन होकर जल में गिरपडे ॥ ४९ ॥ तब योगेश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्णजीने, मैं ही इनका रक्षक हूँ ऐसा समझकर प्राणहीन होकर पड़े हुए उन गौ और गोपों को अमृत वर्षानेवाली दृष्टि से देखकर जीवित करा ॥ ५० ॥ तब तत्काल स्मरण को प्राप्तहुए वह सबही गौ गोप जलके समीप से उठकर एक दूसरे की ओर को देखने लगे और बड़े आश्चर्यमें होगये ॥५१॥ और हेराजन्! उन्होंने विष पीकर मरे हुए अपने शरीरों का फिर उठाना उन श्रीकृष्णजी की कृपादृष्टि से देखने के कारण है ऐसा माना ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में पञ्चदश अध्यायसमाप्त ॥ * ॥ इस सोलहवें अध्याय में यमुना के कुण्ड में श्रीकृष्ण जीने, कालियसर्प को नाथा तब नागपत्नियों ने उन की स्तुति करी और कृष्ण ने उस कालिय के ऊपर अनुग्रहकरा यह कथा वर्णन करी है। तथा गर्दभरूपी दैत्यों को मारकर और इच्छानुसार ताल के फल खाकर सन्तुष्टहुए उन सर्वकलानिधि भगवान् श्रीकृष्णने तिस कालिय सर्प के फणरूप रङ्गमण्डपमें नृत्यकरा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा कि—हेराजन्! कालिय सर्प ने यमुनानदी दूषित करदी ऐसा देखकर उसकी शुद्धता

कृष्णाहिना विभुः ॥ तस्यां विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥ राजो-
वाच ॥ कथमंतर्जलेगाधे न्यगृह्णाद्भगवानहिं ॥ स वै बहुयुगावासं यथाऽसी-
द्विप्र कथ्यतां ॥ २ ॥ ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छंदवर्तिनः ॥ गोपालो-
दारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कालिंद्यां कालिय-
स्यासीद्ध्रदः कश्चिद्विषाग्निना ॥ श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः
॥ ४ ॥ विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ॥ म्रियंते तीरगा यस्य
प्राणिनः स्थिरजंगमाः ॥ ५ ॥ तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दु-
ष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ॥ कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य
गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥ ६ ॥ सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेगसंक्षोभितोरग-

होने की इच्छा करने वाले समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने, उस सर्प को तहाँ से निकाल दिया॥ १॥ राजा ने कहा कि—हे विप्र ! * भगवान् श्रीकृष्णजीने अथाह जलमें बहुत युगोंसे रहनेवाले तिस कालियसर्प को किसप्रकार नाथा तथा रमणक द्वीपमें रहनेवाला वह कालियसर्प भी जलचरों के न होतेहुए उस जल में आकर क्यो रहा ? सो मुझ से कहो ॥ २ ॥ हे-ब्रह्मन् ! अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले उन सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के, गोपालरूपसे करेहुए मोक्षदायक चरित्ररूप अमृत का सेवन करने-वाला भला कौनसा पुरुष तृप्त होगा ? इसकारण मुझसे कहो ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! यमुना नदी के पात्र में कालियके विषरूप अग्निसे जिसका जल अ-धहन की समान औंट रहा है, जिसमें ऊपर होकर जानेवाले पक्षी भी मरकर गिरजाते थे और जिस के विषैले जल की तरङ्गों से जल के कण लेकर आयेहुए पवन से स्पर्शहुए तीर के वृक्ष और पशु पक्षी आदि प्राणी मरजाते थे ऐसा एक कालियसर्प का कुण्ड था ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ तिस प्रचण्डवेगयुक्त विषकी शक्ति से बलवान् हुए कालियसर्पको और उस की विषयुक्त करीहुई यमुना नदीको देखकर दुष्टोंका दमन करने के निमित्त अवतार धारण करनेवाले श्रीकृष्णजीने उसको निकालने के निमित्त अपनी कमर वस्त्र से दृढ़ बाँधकर और अति ऊँचे कदम्बके वृक्ष के ऊपर चढ़कर हाथों से दण्ड ठोके और उस कदम्ब ÷ पर से नीचे विषैले जल से भरेहुए उस कुण्ड में को छलाँग मारी ॥ ६ ॥ उस समय जिस का जल, उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी के कूदने के वेग से क्षोभितहुए भीतर रहनेवाले सर्प के विष

* जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणमिति । याज्ञवल्क्यः ।

÷ इसके भाग्य में श्रीकृष्ण के चरण का स्पर्श होना था, इसकारण वह एक कदम्ब ही उस कुण्डके तटपर नहीं सूखा, क्योंकि अमृत को लातेहुए गरुड़जी उस के ऊपर बैठे थे, अतः वह बचारहा ।

विषोल्बणसितांबुराशिः ॥ पर्यक् प्लुतो विषकषायबिभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशत-मनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥ तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमंग वरवारणविक्रमस्य ॥ आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥ तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुंदरास्यं ॥ क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदरांघ्रिं संदश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९ ॥ तन्नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्त्ताः ॥ कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥ १० ॥ गावो वृषा वत्सतर्यः क्रंदमानाः सुदुःखिताः ॥ कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदन्त्य इव तस्थिरे ॥ ११ ॥ अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ॥ उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥ १२ ॥ तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा

से युक्त होकर ऊपर को उछल रहा है और जिस की तरङ्गें विष से लाल पीले आदि वर्णों की भयङ्कर हुई हैं वह कालिय सर्प का कुण्ड, चारों ओर को फैलता फैलता चार सौ हाथ पर्यन्त का चौड़ा होगया; हे राजन् ! अनन्तबली श्रीकृष्णजी के विषय में यह कुछ आश्चर्य नहीं है ॥ ७ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर कुण्डे में बडेभारी हाथी की समान लीला करके विहार करनेवाले उन श्रीकृष्णजी के भुजदण्डों से ताड़ित हुए जल का शब्द सुनकर, इन कृष्ण की क्रीड़ा से मेरे घर का नाश होजायगा ऐसा देखकर उस को न सहनेवाला वह कालिय सर्प कृष्ण के समीप को दौड कर आया ॥ ८ ॥ और उस ने देखने योग्य, सुकुमार, मेघ की समान श्यामवर्ण, श्रीवत्सलाञ्छन और पीला पीताम्बर धारण करनेवाले, मन्दमुसकरान से मनोहरमुख दीखनेवाले, निर्भयपने से क्रीड़ा करनेवाले और कमल के गर्भ की समान कोमल चरणों से युक्त तिन श्रीकृष्णजी को क्रोध से मर्मस्थानों में काटकर अपने देह से लपेट लिया ॥ ९ ॥ तब सर्प के देह से लिपटे हुए और हलना चलना रहित हुए उन कृष्ण को देखकर, जिन्हों ने अपना देह, मित्र, सम्पदा, स्त्री और इस लोक तथा परलोक के भोग श्रीकृष्ण को अर्पण करे हैं और जिन को वह कृष्ण ही प्रिय हैं ऐसे उन के सखा गोप, अत्यन्त दुःखित और दुःख के अनन्तर अति बढेहुए शोक और भय से जिन की बुद्धि विचाररहित होगई है ऐसे हो मूर्छित होकर गिरपड़े ॥ १० ॥ तथा गौ, बैल, और खिचरी यह सब भी श्रीकृष्ण जी की ओर को दृष्टि लगाकर, वह कृष्ण सर्प से लिपटजाने के कारण चेष्टारहित हो गये हैं ऐसा देखकर अत्यन्त दुःखित और भयभीत हो हाहाकार के साथ रोते हुए से खड़े होगये ॥ ११ ॥ उसी समय गोकुल में, आगे शीघ्रही भय को सूचित करनेवाले भूमिपर भूकम्प (हाला चाला) आदि, आकाश में उल्कापात आदि और देह में बायां नेत्र फड़कना आदि तीन प्रकार के अतिभयङ्कर उत्पात होनेलगे ॥ १२ ॥ हे राजन् !

नन्दपुरोगमाः ॥ विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥ १३ ॥
तैर्दुर्निमि--त्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ॥ तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःख-
शोकभयातुराः ॥ १४ ॥ आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ॥ निर्जग्मुर्गो-
कुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १५ ॥ तांस्तथा कातरान्वीक्ष्य भगवान्मा-
धवो बलः ॥ प्रहस्य किंचिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥ १६ ॥ तेऽन्वे-
षमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ॥ भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटं ॥
॥ १७ ॥ ते तत्र तत्राब्जयवांकुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ॥ मार्गे ग-
वामन्यपदांतरांतरे निरीक्षमाणा ययुरंग सत्वराः ॥ १८ ॥ अन्तर्ह्रदे भुजगभो-
गपरीतमारात्कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयांते ॥ गोपांश्च मूढधिषणान्प-
रितः पशूंश्च संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥ १९ ॥ गोप्योऽनुरक्तमनसो

उन को देखकर नन्द आदि सब गोप, बलराम के विना कृष्ण गौ चराने को वन में गया है ऐसा जानकर तदनन्तर उन होतेहुए उत्पातों से कृष्ण का मरण होगया ऐसा मन में विचार भय से व्याकुल हुए और (कृष्ण के वियोग से होनेवाले) दुःख (आगे को निर्वाह कैसे होयगा ऐसी चिन्तारूप) शोक और (अब कृष्ण के वियोग से हमारा मरण होजायगा ऐसे) भय से वह अत्यन्त कातर होगये, क्योंकि—वह कृष्ण के वास्तविक प्रभाव को नहीं जानते थे और उन के प्राण और मन कृष्णमें लगेहुएथे । १३।१४। तदनन्तर दीन और बछडों से छूटी हुई गौओं की समान डकरानेवाले वह सब गोप, बाल, बृद्ध और स्त्रियों सहित कृष्णके देखने को उत्कण्ठित होकर कृष्ण को खोजने के निमित्त गोकुल से चलदिये ॥ १५ ॥ वह नन्द आदि गोप, ऐसे व्याकुल होरहे हैं, यह देखकर, मधुकुल में उत्पन्न हुए और ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणों से पूर्ण तिनबलरामजी ने हँसकर कुछ कहा नहीं, क्योंकि वह श्रीकृष्णके प्रभावको जानते थे अर्थात् श्रीकृष्ण को कालियका भय नहीं है किन्तु उन के मन में यह आया है कि—कालियमर्दन देखने के निमित्त नन्द आदि यमुनाके तटपर आवें, यह जानते थे ॥ १६ ॥ वह नन्द आदि गोप, भगवान् को जतानेवाले लक्षणों से युक्त चरणके चिन्हों से सूचित करे हुए मार्ग से प्रिय श्रीकृष्ण को ढूँढते २ यमुनाके तटपर पहुँचगये ॥ १७ ॥ अर्थात् हेराजन् ! उन गोपों ने, गौओंके जाने के मार्ग में जहाँ तहाँ और गोप आदिकों के चरणोंके चिन्होंके बीच २ में कमल, यव, अंकुश, बज्र, ध्वजा इन चिन्हों से युक्त गोपाधिपति श्रीकृष्ण जी के चरण मार्ग में उभरे हुए देखकर, बडी शीघ्रतासे यमुनाके तीर पर गमनकरा ॥ १८ ॥ और वह दूर सेही कुण्ड में कालियसर्प के शरीर से लिपटकर चेष्टाहीन हुए श्रीकृष्ण को, तथा कुण्डे के तटपर मूर्छितहोकर पडेहुए गोपों को और चारों ओर से डकराते हुए गौ आदि पशुओं को देखकर, अति दुःखित हो परममूर्छा को प्राप्त हुए ॥ १९ ॥

भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ॥ ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृ-
शदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥ ताः कृष्णमातरमपे-
त्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ॥ तास्ताः प्रियव्रजकथाः क-
थयन्त्य आसन्कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥ २१ ॥ कृष्णप्राणान्निर्विशतो
नन्दादीन्वीक्ष्य तं ह्रदं ॥ प्रत्यषेधत्स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥ २२॥
इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ॥ आ-
ज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥ २३ ॥ तत्प्र-
थ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ॥
तस्थौ श्वसन् श्वसनरंध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥२४॥

उससमय कृष्णके प्रेम, मन्दहास्य, अवलोकन और प्रियवचनों का स्मरण करनेवाली और तिन अनन्त भगवान् में अनुरक्तचित्तहुई सकल गोपियें, प्रिय श्रीकृष्ण को कालियसर्प से लिपटाहुआ देखतेही परमदुःख से सन्तप्त हुई तथा प्रियकृष्ण से रहित त्रिलोकी को शून्य देखनेलगीं ॥ २० ॥ और उससमय कृष्णकी माता (यशोदा) कृष्णके समीप जाने को कालिय के कुण्ड में प्रवेश करनेलगी तव उस को हाथ से पकडकर उसकी समानही दुःखमाननेवाली और दुःख से आँसू वहानेवाली वह गोपियें उस को समझाने के निमित्त गोकुलप्रिय श्रीकृष्ण की पूतनावध आदि अनेकों कथा कहती रहीं अन्त में वहभी श्रीकृष्णके मुखकी ओर अपनी दृष्टि लगाकर शवसमान (मूर्छित) होगई ॥ २१ ॥ उससमय जिनके पाँच प्राण, इन्द्रियें और अन्तःकरण कृष्णकी ओर लगे हैं ऐसे वह नन्द आदि गोपभी, कालियके कुण्डे में प्रवेश करनेलगे ऐसा देखकर कृष्णके पराक्रम को जाननेवाले उन भगवान् वलरामने, उन को 'अव ही कृष्णकालिय का मर्दन करके वाहर आवेगा' तुम कुण्डे में न घुसो, ऐसा कहा । २२॥ इसप्रकार मनुष्यलीला का नाट्य करनेवाले तिन श्रीकृष्णजीने, दोघडी पर्यन्त कालिय सर्प के लपेटने में रहकर अपने वियोगसे स्त्री बालकों पर्यन्त सकल गोकुल दुःखित हुआ है यह देखकर और इन का रक्षक मैं ही हूँ दूसरा कोई नहीं है ऐसा जानकर कालियसर्पके करेहुए लपेटने रूप बन्धनसे बाहर निकलने के निमित्त अपने शरीरको फुलाया ॥ २३॥ तव उन श्रीकृष्णजी के बढ़ाये हुए शरीर से जिसके शरीर में व्यथाहुई है ऐसा वह कालियसर्प, कृष्ण को लिपटा हुआ अपना शरीर खोलकर लम्बी फुङ्कारें भरता हुआ क्रोध से अपने फन को उठाकर, जिसकी नाक में श्वासलेने के साथ वाहर विष निकलरहा है, जिस के पथराये हुए नेत्र भाड़ के तपेहुए खिपड़े की समान लाल २ दीखरहे हैं और जिस के मुख में घर २ घुमाई हुई मसाल की समान लहराती हुई जीभ हिलरही है ऐसा वह सर्प,

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ॥ क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥ एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ॥ तन्मूर्द्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादांबुजोखिलकलादिगुरुर्ननर्त्त ॥ २६ ॥ तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ॥ प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥ २७ ॥ यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन्ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ॥ क्षीणायुषो भ्रमत उल्वणमास्यतोऽसृङ्नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८ ॥ तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु यद्यत्समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ॥ नृत्यत्पदाऽनुनमयन्

कृष्ण को देखता हुआ डटाहुआ खड़ारहा ॥ २४ ॥ तब वह श्रीकृष्ण भी क्रीड़ा करते हुए हरएक मुख में दो अगली जीभों से दोनों ओठों के किनारों को चाटनेवाले और अतिभयङ्कर विषैली अग्नियुक्त दृष्टिवाले तिस कालिय सर्प के चारोंओर उस के फन के ऊपर को छलाँग मारने का अवसर पाने के निमित्त, गरुड़ की समान निर्भय फिरने लगे और वह सर्प भी कृष्ण को डसने का अवसर पाने के लिये अपने ही चारोंओर घर २ फिरने लगा ॥ २५ ॥ इसप्रकार अपने चारों ओर फिरने से ही शक्ति हीनहुए परन्तु ऊपर को फन उठानेवाले उसकालिय को नीचे को झुकाकर उस के बडेभारी फन के ऊपर चढ़ेहुए और नृत्य आदि चातुरी के आदिगुरु वह आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णजी, तहाँ नृत्य करनेलगे उससमय उन के चरण कमल, स्वयं ही लाल २ थे और वह उसकालिय के फणोंपर के रत्नों के स्पर्श से अधिक लाल २ चमकने लगे ॥ २६ ॥ तब गन्धर्व, सिद्ध, देवता, चारण और अप्सरा यह उनकी सेवकमण्डली, अपने स्वामी श्रीकृष्ण को नृत्य करनेके निमित्त उद्यत हुआ जानकर, शीघ्रता से तहाँ (आकाश में) आकर मृदङ्ग, नौबत नगाडे आदि बाजे बजाना, गाना, पुष्पों की वर्षा, नैवेद्य और स्तुति करके उनकी सेवा करने लगी ॥२७॥ हे राजन् ! उससमय खलों को दण्ड देनेवाले उन श्रीकृष्णजी ने, जिसके सौ मुख्य मस्तक हैं और जो क्षीणबल होकर मराहुआ सा होकर भी क्रोध के वश में होने के कारण बारंबार घरघर फिररहा है, उसकालिय का जो २ मस्तक अपना ढीठपना छोडकर नहीं नमता था उस २ मस्तक को नृत्य के मिष से चरण का प्रहार करके मर्दनकरा; तब वह सर्प, मुख में से और नाक के पुडों में से विष से मिलाहुआ भयङ्कर रुधिर उगलता हुआ परम मूर्छा को प्राप्तहुआ ॥ २८ ॥ तथापि फिर क्रोध से बडे २ श्वास भरनेवाले और नेत्रों में से विष की वमन करनेवाले तिस कालिय सर्प के मस्तकों में से जो जो मस्तक ऊपर को उठता था उस २ को श्रीकृष्णजी ने अपने नृत्य करने के चरण के प्रहार से तिरछा करके दबादिया;

ददृशुर्यांबभूव पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्पुराणः ॥ २९ ॥ तच्चित्रतांडवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन्नृप भग्नगात्रः ॥ स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३० ॥ कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रं दृष्ट्वाऽहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबंधाः ॥ ३१ ॥ तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ॥ साध्व्यः कृतांजलिपुटाः शमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२ ॥ नागपत्न्य ऊचुः ॥ न्याय्यो हि दंडः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ॥ रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥ ३३ ॥ अनुग्रहोऽयं भवता कृतो हि नो दंडोऽ-

इससमय हर्ष को प्राप्त हुए गन्धर्वादिकों ने, उन श्रीकृष्णजी को शेषशायी पुराण पुरुष की समान (श्रीनारायण की समान) पुष्पों से पूजा अथवा गन्धर्वादिकों से पुष्पों करके पूजा करेहुए उन श्रीकृष्णजी को गोपों ने शेषशायी श्रीनारायण की समान देखा ॥२९॥ हे राजन् ! उन श्रीकृष्णजी के अलौकिक ताण्डव नृत्य से जिसके छत्रकी समान बड़े २ फण टूटगये हैं और पहिले फूलनेवाले तिन श्रीकृष्णजी के शरीर से जिसके शरीर के हाड़ चूरा होकर खील २ होगये हैं वह कालिय सर्प, मुखसे बहुत से रुधिर की वमन करताहुआ तिन श्रीकृष्णजी को, यह चराचर के गुरु पुराण पुरुष भगवान् नारायण हैं ऐसा जानकर मन से शरणागत हुआ ॥ ३० ॥ उससमय, जिनके उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तिन श्रीकृष्णजी के अत्यन्त भार से दबेहुए और उनकी एड़ियों के प्रहार से जिसके फणरूप छत्र चिरगये हैं ऐसे उस कालिय सर्पको देखकर, दुःखित हुई उसकी स्त्रियें (नागपत्नी) शरण जानेकी शीघ्रता में जिनके वस्त्र, भूषण और केशों के बन्धन ढीले पड़गये हैं ऐसी होकर श्रीकृष्णजी के समीप पहुँची ॥ ३१ ॥ और अपने अपराधी पति का छुटकारा होनेकी इच्छा करनेवाली और अत्यन्त खिन्नचित्त हुई वह पतिव्रता नागिनीयें, अपने बच्चों को आगे करके भूमिपर (तहाँही जलके नीचे) अपने शरीर को दण्ड की समान लुटा हाथ जोड़कर, प्राणिमात्र के पालक और शरणागतों को आश्रय देनेवाले तिन श्रीकृष्णजी की शरण गई और उन्होंने उनको नमस्कार करा ॥ ३२ ॥ और वह नाग पत्नियें, पहिले कुपितहुए भगवान् को, दण्ड देनेकी सराहना करके शान्त करती हुई कहने लगीं कि—हे देव ! डसना और लपेटना आदि अपराध करने वाले इस सर्प के ऊपर तुम्हारा कराहुआ दण्ड योग्यही है क्योंकि—शत्रुके ऊपर और पुत्रोंके ऊपर समान दृष्टि रखनेवाले तुम्हारा यह अवतार खलोंको दण्ड देनेके निमित्त और साधुओं की रक्षा करने के निमित्त है इससे तुम, 'दुष्टों को पापनिवृत्ति आदि फल प्राप्त होगा' यह सूचित करते हुएही दण्ड देतेहो ॥ ३३ ॥ हे प्रभो ! तुमने जो हमारे ऊपर यह दण्डकरा है सो अनुग्रहही करा है,

सतां ते खलु कल्मषापहः ॥ यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव संमतः ॥ ३४ ॥ तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ॥ धर्मोऽथवा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥ कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ॥ यद्वांछया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान्सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥ न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ॥ न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥ ३७ ॥ तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ॥ संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद्विभवः समक्षः ॥ ॥ ३८ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ॥ भूतावासाय भूताय पराय

क्योंकि—तुम्हारा करा हुआ दण्ड वास्तव में दुष्टोंके सकल दोषोंको दूर करनेवाला है, क्योंकि—देहधारी इस कालिय को जन्मान्तरों के पापोंसे यह सर्प योनिका प्राप्तहोना दीखरहा है, तिससे इस सर्प योनि के कारणभूत पापको दूर करनेवाला और क्रोधरूप से प्रतीत होनेवाला यह तुम्हारा दण्ड भी 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्य, इत्यादि वाक्यों के प्रमाण होने के कारण, अनुग्रहही है ऐसा सत्पुरुषों ने माना है ॥ ३४ ॥ हेदेव ! सबकी जीविका चलानेवाले तुम जिस तप अथवा धर्मसे सन्तुष्ट होतेहो वह तप इसने पूर्वजन्म में स्वयं मान रहित होकर और दूसरों का सम्मान करके क्या कराथा ? अथवा सकल प्राणियोंके ऊपर दया करके कोई धर्म कराथा ? ॥३५॥ यह ब्रह्मादिक देवता भी तप आदि करके जिसके अनुग्रह की इच्छा करते हैं तिस, सकल स्त्रियें में श्रेष्ठ लक्ष्मीने भी जिस चरणरज के स्पर्श होनेका अधिकार पानेकी इच्छा से सकल भोगों को त्यागकर और आहार नियम आदि अनेकों प्रकार के व्रत धारण करके बहुतकाल पर्यन्त निरन्तर तपस्या करी, तिन तुम्हारी चरणरज के स्पर्श का अधिकार इस नीच कालिय को प्राप्त हुआ, यह इस के कौन से तपका वा पुण्य का प्रभाव है ? सो हम नहीं जानती हैं ॥ ३६ ॥ जिन तुम्हारे चरणरज को प्राप्तहुए भक्तजन, स्वर्गस्थान, सकल भूमण्डल का राज्य, ब्रह्मपद, पातालादि रसातलों का राज्य, अणिमादिक ऐश्वर्य अथवा मोक्ष की भी किञ्चिन्मात्र इच्छा नहीं करते हैं किन्तु इन सब को तुच्छ मानते हैं ॥ ३७ ॥ और जिस चरणरज के प्राप्त होने की इच्छा करके जन्ममरण आदि संसारचक्र में घूमते हुए भी प्राणी को अपने आप इच्छित सम्पत्ति प्राप्त होती हैं; हे नाथ ! ऐसा लक्ष्मी आदिकों को भी दुर्लभ तुम्हारा चरणरज, इस तमोगुण से उत्पन्न हुए और क्रोध के वशीभूत रहनेवाले भी मेरे पति नागराज ने पाया, इस से इस के भाग्य का हम कहां तक वर्णन करें ? ॥ ३८ ॥ इसकारण अचिन्त्य ऐश्वर्य आदि गुणरूप, अन्तर्यामी, परिमाणरहित, पञ्च-

परमात्मने ॥ ३९ ॥ ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनंतशक्तये ॥ अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च ॥ ४० ॥ कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे॥ विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥ ४१ ॥ भूतमात्रेंद्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ॥ त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥ नमोऽनंताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ॥ नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥ नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये॥प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः४४॥ नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ॥ प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥ मनोगुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ॥ गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्र-

महाभूत के आश्रय, तिन से पहिले भी होनेवाले और कारणरूप होकर कारण से निराले, तुम कारण को हम नमस्कार करते हैं ॥ ३९ ॥ तुम अनन्त शक्तियों से युक्त, प्रकृति के प्रवर्त्तक और चैतन्यशक्ति से पूर्ण ईश्वर होने से कारणरूप हो और गुणरहित निर्विकार तथा ज्ञानपूर्ण ब्रह्मरूप होने के कारण से पर हो, ऐसे उभयस्वरूप तुम्हें नमस्कार हो ॥ ४० ॥ अब अनन्त शक्ति होने के कारण कालशक्ति से विश्वसृष्टि आदि रूप तिन भगवान् को नमस्कार करती हैं—कालस्वरूप, कालशक्ति के आश्रय, सृष्टि काल प्रलयकाल आदि कालों के साक्षी, जगत्रूप, जगत् के साक्षी, जगत् के कर्त्ता, जगत् के कारण, सूक्ष्मभूत, इन्द्रियें, प्राण, मन, बुद्धि और चित्तस्वरूप तथा त्रिगुणमय अभिमान करके जिन्हों ने अपने अंशरूप जीवों का स्वानुभव गुप्त रक्खा है ऐसे तुम्हें नमस्कार हो ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ अनन्त, सूक्ष्म, निर्विकार, सर्वज्ञ, अनेक प्रकार के अस्ति, नास्ति, सर्वज्ञ, किञ्चिज्ज्ञ, बद्ध, मुक्त, एक, अनेक आदि वादों को माया के द्वारा अनुसरण करनेवाले तथा नाम और नामों के वाच्य इन शक्ति भेदों से नानाप्रकार के प्रतीत होनेवाले तुम्हें नमस्कार हो ॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के आधार (नेत्र आदि इन्द्रियरूप), स्वतः सिद्ध ज्ञानवान्, वेदरूप श्वासों वाले और अनेकों प्रकार के विधि निषेध दिखानेवाले वेदरूप तुम भगवान् को वारंवार नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे प्रभो ! सङ्कर्षण, वासुदेव,प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन चार मूर्त्तियों से उपासकों का पालन करनेवाले तुम कृष्ण को वारंवार नमस्कार हो ॥ ४५ ॥ मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन अन्तःकरण के चार भेदों को प्रकाशित करनेवाले, तिन ही भेदों से उपासकों को भिन्न २ फल प्राप्त होने के निमित्त, गुणों से अपने को ही ढककर नानाप्रकार से प्रकाशमान होनेवाले, चित्त आदि की चेतना निश्चय आदि वृत्तियों से प्रतीत होनेवाले उन वृत्तियों के साक्षी और स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् अर्थात् चित्त आदि जिन की खोज

ष्ट्रे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥ अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ॥ हृषीकेश नम-
स्तेस्तु मुनये मौनशीलिने ॥ ४७ ॥ परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ॥
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥ ४८ ॥ त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंय-
मान्प्रभो गुणैरनीहोऽकृतकालशक्तिधृक् ॥ तत्तत्स्वभावान्प्रतिबोधयन्सतः समी-
क्षयाऽमोघविहार ईहसे ॥ ४९ ॥ तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शांता अशांता
उत मूढयोनयः ॥ शांताः प्रियास्ते ह्यधुनाऽवितु सतां स्थातुश्च ते धर्मपरी-
प्सयेहतः ॥ ५० ॥ अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ॥ स्त्रीणां नः
साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५१ ॥ अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः
स्वप्रजाकृतः ॥ क्षंतुमर्हसि शांतात्मन्मूढस्य त्वामजानतः ॥ ५२ ॥ विधेहि

मात्र ही करते हैं परन्तु उन की समझ में नहीं आते ऐसे तुम्हें नमस्कार हो ॥ ४६ ॥ हे इन्द्रियप्रवर्त्तक ! अतर्क्य महिमा से युक्त, सब प्रकार के ज्ञान के मूलकारण, अपने स्वरूपमें मग्न रहनेवाले और उस ही स्वभाववाले आप को नमस्कारहो ४७ स्थूल और सूक्ष्म सकल तत्त्वों की गतिको जाननेवाले, सबों के अधिष्ठाता, जगत् के निषेधकी सीमा, जगत् के भासमान होने के आधार, जगत् के अध्यास और अपवाद के साक्षी तथा तिसजगत् का अध्यास और अपवाद होने के अविद्या और विद्या के द्वारा कारण ऐसे तुम्हें नमस्कार हो ॥ ४८ ॥ इसप्रकार दण्डदेने के अनुमोदन से और नमस्कारों से भगवान् को प्रसन्नकर के, अब, तुम्हारे वश में रहनेवाले प्राणियों का क्या अपराध है? इस आशय से प्रार्थना करते हैं कि-हेप्रभो ! तुम वास्तव में इच्छारहित होकर भी, अनादिसिद्ध कालशक्ति को स्वीकार करके जीवों को चारप्रकार के पुरुषार्थ देनेवाली सृष्टि आदि लीलाकरते हुए केवल देखनेमात्र करके संस्काररूप से रहनेवाले प्राणियों के नानाप्रकार के शान्त घोर आदि स्वभावों को जगाते हुए गुणों के द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करते हो ॥४९॥ तिन तुम्हारी ही त्रिलोकी में यह अनेक प्रकार की कोई शान्त (सतोगुणी) कोई अशान्त (रजोगुणी) और कोई मूढ (तमोगुणी) मूर्त्ति है उन में इससमय साधुओं के धर्म की रक्षा करने के निमित्त अवतार धारणकरनेवाले और वह (धर्मरक्षा) करते हुए तुम्हें शान्त (सतोगुणी) मूर्त्ति ही प्रिय हैं, और (रजोगुणी वा तमोगुणी) प्रिय नहीं हैं ॥ ५० ॥ हेभगवन् ! यह जो कालियसर्प प्राण छोडरहा है सो अब इसके ऊपर अनुग्रह करो और पराधीन होने के कारण साधुओं के भी शोक करने योग्य हम स्त्रियों को यह पतिरूप प्राण दीजिये ॥ ५१ ॥ अपनी प्रजा का करा हुआ अपराध स्वामी को एकवार सहना चाहिये, इस कारण हे शान्तचित्त कृष्ण ! तमोगुणी होने के कारण तुम्हें न जाननेवाले इस कालिय सर्प का अपराध तुम्हें क्षमा करना उचित है ॥ ५२ तुम्हारी आज्ञा

ते किंकरीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ॥ यच्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठन्वै मुच्यते सर्वतो भ-
यात् ॥ ५३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ॥
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४ ॥ प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः
शनकैर्हरिम् ॥ कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥ वयं
खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ॥ स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां
यदसद्ग्रहः ॥ ५६ ॥ त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ॥ नानास्वभा-
ववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥ ५७ ॥ वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरु-
मन्यवः ॥ कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयं ॥ ५८ ॥ भवान्
हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ॥ अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि
नः ॥ ५९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ॥

पालनेवाली हम दासियों को, हम क्या करें सो बताओ, क्योंकि–तुम्हारी आज्ञा का पालन करनेवाला पुरुष, नानाप्रकार के भययुक्त संसार से छूटजाता है ॥ ५३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! इस प्रकार नागपत्नियों से स्तुति नमस्कार आदि करके प्रार्थना करे हुए तिन भगवान् श्रीकृष्णजी ने, चरणों के प्रहारों से फण फटजानेपर मूर्छित हुए उस कालिय सर्प को छोड दिया और उस के आगे आप खड़े होगये ॥ ५४ ॥ तदनन्तर धीरे २ इन्द्रिय और प्राणों को प्राप्त हुआ वह दीन कालिय सर्प, बडे कष्ट से श्वास लेता हुआ हाथ जोड़कर उन श्रीकृष्णजी से कहने लगा ॥ ५५ ॥ कालिय ने कहा कि–हे देव! हम जन्मसे ही दूसरों को दुःख देनेवाले दुष्ट तामसी और दीर्घकोपी हैं; हे नाथ! सकल प्राणियों को अपना स्वभाव त्यागना बड़ा कठिन है, क्योंकि–उस स्वभाव से ही प्राणियों को देह आदि में अहन्ता ममतादिरूप दुराग्रह होता है ॥ ५६ ॥ हे सृष्टि करनेवाले देव! गुणों के द्वारा नानाप्रकार का रचा हुआ यह जगत, तुमने ही उत्पन्न करा है, इस में नानाप्रकार के शान्त, घोर आदि स्वभाव, देहशक्ति, इन्द्रिय शक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति, वासना और स्वरूप हैं ॥ ५७ ॥ हे भगवन्! उस सृष्टि में हम जाति से ही बड़े क्रोधी सर्प हैं, इस कारण जिस को ब्रह्मादिक भी न जीतसकें ऐसी तुम्हारी दुर्जय माया को, तिस माया से ही मोहित हुए हम तुम्हारे अनुग्रह के विना कैसे छोड़ें ॥ ५८ ॥ इसकारण उन शान्त घोर आदि स्वभावों के उत्पन्न होने के विषय में तुम सर्वज्ञ जगदीश्वर ही कारण हो इस कारण हमारे ऊपर अनुग्रह करना या हम को दण्ड देना जो उचित हो सो करो ॥ ५९ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! ऐसा कालिय का कथन सुनकर यमुना की शुद्धि और भक्तों की रक्षा आदि कार्य करने के निमित्त मनुष्य अवतार धारण करनेवाले वह भगवान् श्रीकृष्णजी, उस

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ॥ स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गो-
नृभिर्भुज्यतां नदी ॥ ६० ॥ य एतत्संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनं ॥ की-
र्तयन्नुभयोः संध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥ योऽस्मिन्स्नात्वा मदा-
क्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः ॥ उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥
द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ॥ यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पा-
दलांछितम् ॥ ६३ ॥ ऋषिरुवाच ॥ एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ॥
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥ दिव्यांबरस्रङ्मणिभिः
परार्ध्यैरपि भूषणैः ॥ दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥ ६५ ॥ पूजयित्वा
जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ॥ ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवाद्य
तं ॥ ६६ ॥ सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥ तदैव सोऽमृतजला य-
मुना निर्विषाऽभवत् ॥ अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥ ६७ ॥ इति-

से कहने लगे कि–हे सर्प तू इस कुण्ड में न रह, शीघ्र ही अपने जाति, बच्चे और स्त्रियों सहित समुद्र में के अपने रमणक द्वीप में चला जा यह यमुना नदी, गौ और मनुष्यों के जल पीने की है इस को आज से स्वच्छ जल वाली होनेदे ॥ ६० ॥ जो मनुष्य, तुझ से मेरी कही हुई इस आज्ञा का प्रातःकाल वा सन्ध्याकाल के समय स्मरण करेगा अथवा कीर्त्तन करेगा उस को तुम कभी भी भय मत दो ॥ ६१ ॥ जो मनुष्य मेरे क्रीड़ा करे हुए इस कुण्ड में स्नान करके इस में के जलों से देवादिकों का तर्पण करेगा और उपवास करके मेरा ध्यानपूर्वक पूजन करेगा वह सकल पापों से छूट जायगा ॥ ६२ ॥ हे कालिय ! तू जिस भय से अपने रमणक द्वीप को त्यागकर इस कुण्ड का आश्रय करके रहता है वह गरुड तुझे अब कभी भी नहीं खायगा, क्योंकि–तेरे फणों के ऊपर मेरे चरणों के चिन्ह होगये हैं ॥ ६३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इस प्रकार अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा तब उस कालिय सर्प ने, हर्षित हो आदर के साथ उन श्रीकृष्णजी की, दिव्यवस्त्र, माला, मणि, बहुमूल्य भूषण, दिव्य चन्दन के उबटने और कमलों की बड़ी २ माला समर्पण करके पूजा करी तैसे ही नागपत्नियों ने भी पूजा करी ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्रों सहित तिस कालिय सर्प ने, जगन्नाथ गरुडध्वज श्रीकृष्ण का पूजन करके उन को प्रसन्न करलिया तब उन्हों ने प्रसन्नता से ' जा ' ऐसी आज्ञा करी तब वह कालिय, स्वयं सन्तुष्ट होकर उन को प्रदक्षिणा और नमस्कार कर समुद्रमेंके अपने रमणक द्वीप को चलागया; उसी समय वह यमुना, क्रीडा करने के निमित्त मनुष्यरूप से अवतार धारनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी के अनुग्रह से विष के सम्बन्ध से रहित और अमृतसमान मधुर जलवाली

श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कालियनिर्यापणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः॥ कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमंजसम् ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ॥ वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः ॥ २ ॥ स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ॥ गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥ विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ॥ कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिं ॥ ४ ॥ तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन्भगवान्भगवत्प्रियः ॥ विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥ तमापतंतं तरसा विषायुधः प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः ॥ दद्भिः सुपर्णं व्यद-

होगई ॥६६॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में षोडश अध्याय समाप्त॥*॥ इस सत्रहवें अध्याय में, उस कालिय सर्प को रमणकद्वीप में भेजदेने के अनन्तर अपने दुःख से श्रम को प्राप्तहुए और तहाँ ही सोयेहुए नन्द आदि बान्धवों की श्रीकृष्णने वनकी अग्नि से रक्षा करी, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ राजाने कहाकि हे शुकदेवजी ! कालिय सर्प ने, रमणकद्वीप नामवाला अपना स्थान क्यों त्याग दिया था ? यदि कहोकि—गरुड़ के भय से, सो—तिस एक कालिय सर्प ने ही गरुड़ का कौनसा विगाड़ करा था ? ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे महापराक्रमी राजन् ! गरुड़ के भोजनरूप सर्पों ने, अपनी बाधा दूर होने के निमित्त रमणकद्वीप में पहिले एक वृक्ष के नीचे गरुड को जो एक बलि प्रतिमास की अमावास्या के दिन अर्पण करने का नियम * करा था, उसी प्रकार हर अमावास्या को सब सर्प अपनी रक्षा के निमित्त अपना २ भाग महापराक्रमी गरुड़ को देते थे ॥ २ ॥ ३ ॥ विष और पराक्रम के मद से भरेहुए उस कद्रू के पुत्र कालिय सर्प ने ही गरुड़ जी को तुच्छ मानकर उनको अपने बाँट का भाग कभी दिया ही नहीं और उलटा दूसरों का दियाहुआ भी उन का बलि, उस ने खालिया ॥ ४ ॥ हे राजन् ! यह वृत्तान्त सुनकर क्रोध में भरेहुए भगवान् के प्यारे वाहन वह भगवान् गरुड़जी, तिस कालिय को मारने की इच्छा करके वेग के साथ उस के ऊपर को दौडकर गये ॥ ५ ॥ तब वेग के साथ आनेवाले उन गरुड़ जी को देखकर, विष और दाँत ही जिसके शस्त्र हैं, जिसने अपने अनेकों फणों को ऊपर को खडा करलिया है और जिस की जीभ लक २ कररही है, जिस

* इस विषय में ऐसी आख्यायिका है कि—गरुड़ जी माता के वैर को स्मरण करके सदा जो मिलतेथे सवही सर्पों को खालेते थे और उदरभरजाने पर वृथा ही किन्हीं को मारडालते थे तब वासुकि आदि सर्प भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये तो ब्रह्माजी ने गरुड़ जी को बुला मेल कराकर नियम से प्रत्येक अमावास्या को सर्पोंसे बलि बँधवादी थी।

दशद्दायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६ ॥ तं ताक्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ॥ पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥ सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीवविह्वलः ॥ ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥ तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ॥ निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥ मीनान्सुदुःखितान्दृष्ट्वा दीनान्मीनपतौ हते ॥ कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥ अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान्स खादति ॥ सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद्ब्रवीम्यहं ॥ ११ ॥ तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ॥ अवात्सीद्गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥ कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससं ॥ महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥ उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः ॥ प्रमोदनिभृतात्मानो

के नेत्र लाल २ और भयङ्कर हैं ऐसा वह कालिय सर्प भी बड़े वेग से गरुडजी के ऊपर को युद्ध करने के निमित्त दौडा और उसने अपने दाँतों से गरुड़ जी को डसलिया ॥ ६ ॥ तब क्रोध में भरेहुए, भगवान्‌के वाहन, उग्रपराक्रमी और महावेगवान् तिन गरुडजी ने, उस कालिय को ललकारकर उसके ऊपर अपने सुवर्ण की समान कान्तिवाले दाहिने पक्ष का प्रहार करा ॥ ७ ॥ तब गरुड़जी के पक्ष से ताडित हुआ वह कालिय अत्यन्त विह्वल होकर जहाँ गरुडजी न जासकें ऐसे यमुना के कुण्ड में घुसगया ॥ ८ ॥ उस यमुना के कुण्ड के तटपर एक समय सौभरि ऋषिके निषेध करने पर भी उन गरुडजी ने भूखे होनेके कारण अपने को प्रियलगनेवाले एक बडे मत्स्यको बलात्कारसे(जबरदस्ती) मारकर भक्षण करलिया ॥९॥ तब उस मत्स्यराज के मारेजाने के कारण उस के कुटुम्ब के सकल मत्स्य दीन और अत्यन्त दुःखित होरहे हैं ऐसा देखकर, कृपाकरके तहां रहने वाले मत्स्योंको निर्भयपना करतेहुए वह सौभरिऋषि कहनेलगेकि—॥१०॥इस यमुनाके कुण्डमें घुसकर आजसे वह गरुड मत्स्यों को भक्षण करेगा तो तत्काल प्राणहीन होजायगा, यह मैं सत्यही कहता हूँ ॥ ११ ॥ ऐसे उस सौभरि ऋषि के शाप को केवल कालिय सर्पही जानताथा और कोई नहीं जानताथा इसकारण वह कालियसर्पही गरुडजी से भय मानकर तहाँ जाकर रहा था, उस को श्रीकृष्णजीने निकाल दिया ॥ १२ ॥ इस प्रकार प्रासङ्गिक कथा कहकर अब प्रस्तुतकथा कहते हैं—तदनन्तर कुण्ड में से बाहर निकले हुए, दिव्यमाला, चन्दन और वस्त्रधारण करनेवाले,बहुमूल्य रत्नों के समूहों से सब अंगों में भूषित और जाम्बूनद नामक सुवर्ण से शोभित श्रीकृष्णजी को देखकर उठे हुए सकल गोप, 'जैसे हाथ पैर आदि इन्द्रियें प्राण चले जाने पर मूर्छित होजाती हैं और फिर प्राण प्राप्त होजाने पर अपने २ कार्य करनेलगती हैं तैसे ही' आनन्द से

गोपाः प्रीत्याऽभिरेभिरे ॥ १४ ॥ यशोदा रोहिणी नंदो गोप्यो गोपाश्च कौ-
रव ॥ कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन्लब्धमनोरथाः ॥ १५ ॥ रामश्चाच्युतमालिंग्य
जहासास्यानुभाववित् ॥ नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥
नंदं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ॥ ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या
मुक्तस्तवात्मजः ॥ १७ ॥ देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ॥ नन्दः
प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदाऽदिशत् ॥ १८ ॥ यशोदाऽपि महाभागा
नष्टलब्धप्रजा सती ॥ परिष्वज्यांकमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥ १९ ॥ तां
रात्रिं तत्र राजेंद्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः ॥ ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिंद्या उ-
पकूलतः ॥ २० ॥ तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ॥ सुप्तं निशीथे
आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥ तत उत्थाय संभ्रांता दह्यमाना व्रजौकसः ॥
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम् ॥ २२ ॥ कृष्ण कृष्ण महाभाग हे

पूर्णचित्त होकर प्रीति से चारों ओर उन श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करनेलगे ॥ १३॥१४॥
हे राजन् ! उससमय यशोदा, रोहिणी, नन्द, गोपी और गोप यह सबही श्रीकृष्णजी
को पाकर मूर्छा को त्याग अपनी वास्तविक दशा में आये और पूर्णमनोरथ हुए ॥ १५॥
बलरामभी श्रीकृष्णजी को आलिङ्गन करके हँसनेलगे, क्योंकि-वह उन श्रीकृष्णजी के
प्रभाव को जानते थे वृक्षभी पहिले सूखगये थे वह तत्काल हरे होगये; गौ, बैल और
बछडे भी परम आनन्द को प्राप्त हुए ॥ १६ ॥ उससमय, जो स्त्रीसहित पुरोहित
ब्राह्मण थे वह तहाँ आकर नन्दजी से कहने लगे कि-हे नन्द ! कालियसर्प से ग्रसाहुआ
यह तुम्हारा पुत्र श्रीकृष्ण, छूटगया, यह बडे आनन्द की वार्त्ता हुई ॥ १७ ॥
इसकारण इस कृष्ण के छूटने के आनन्द में हम सपत्नीक ब्राह्मणों को दान दो,
तब हे राजन् ! प्रसन्नचित्त हुए नन्दजीने उन ब्राह्मणों को गौ और सुवर्ण का
दान दिया ॥ १८ ॥ उससमय जिसका खोया हुआ पुत्र फिर मिला है ऐसी उस महा
भाग्यवती पतिव्रता यशोदा ने भी ब्राह्मणों को दान देकर श्रीकृष्णजीको छातीसे लगाया
और गोदीमें बैठालकर वारंवार नेत्रों में से आनन्द के आँसू बहाने लगी ॥ १९ ॥ हे
राजश्रेष्ठ ! जिस दिन कालियमर्दन हुआ उस दिन भूख, प्यास, रोना और दौडना आदि
परिश्रम से व्याकुल हुए वह गोकुलवासी पुरुष और गौएँ उस रात्रि में तिस यमुना के
तटपर ही रहे ॥ २० ॥ उसरात्रि में आधीरात के समय ग्रीष्मऋतु में वन से उत्पन्न
हुआ दौं का अग्नि, सोए हुए गौओं सहित गोलोकवासी पुरुषों को एकसाथ चारों
ओर से घेर कर जलानेलगा ॥ २१ ॥ तब जलते हुए वह गोलोकवासी पुरुष, उठकर
बडे घबडागये और वह, माया से मनुष्य की समान प्रतीत होने वाले परन्तु वास्तव में
साक्षात् ईश्वर तिन श्रीकृष्णजी की शरण गये ॥ २२ ॥ हेकृष्ण ! हेकृष्ण ! हेमहाभा-

रामामितविक्रम ॥ एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥ २३ ॥
सुदुस्तरान्नः स्वान्पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ॥ न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुम-
कुतोभयं ॥ २४ ॥ इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ॥ तमग्निमपिबत्ती-
व्रमनंतोनंतशक्तिधृक् ॥ २५ ॥ इतिश्रीभा० म० द० पू० कालियदमनं नाम स-
प्तदशोध्यायः ॥ १७ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभि-
र्मुदितात्मभिः ॥ अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ व्रजे विक्री-
डतोरेवं गोपालच्छद्ममायया ॥ ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयान् शरीरिणां ॥२॥
स च वृंदावनगुणैर्वसंत इव लक्षितः ॥ यत्रास्ते भगवान्साक्षाद्रामेण सह केशवः॥३॥
यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्॥शश्वत्तच्छीकरर्जीपद्रुममण्डलमण्डितम्॥४॥
सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कल्हारकंजोत्पलरेणुहारिणा॥ न विद्यते यत्र वनौ

ग । हे परमपराक्रमी बलराम ! यह भयङ्कर अग्नि, तुम्हारे कहलानेवाले हमें भस्म करे देती है ॥ २३ ॥ इसकारण हे सर्वसमर्थ प्रभो ! अतिदुस्तर इस मृत्युरूप अग्निसे हम अपने मित्रों की रक्षाकरो. हे देव ! हम, सकलभयों को दूर करने वाले तुम्हारे चरणों का त्याग करने की इच्छा नहीं करते हैं अर्थात् हमें मृत्यु का भय नहीं है किन्तु तुम्हारे चरणों का वियोग होजायगा यही बडाभारी भय है ॥ २४ ॥ इसप्रकार निज जनोंकी व्याकुलता को देखकर, उन सकल शक्ति धारण करनेवाले जगदीश्वर अनन्त भगवान्ने, अतिदुःसहभी तिस अग्निको पीलिया ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध में सप्तदश अध्याय समाप्त ॥*॥ इस अठारहवें अध्याय में वसन्तऋतु के गुणों से युक्त ग्रीष्मऋतु के आनेपर श्रीकृष्णजीने सहजमें लीलामात्र सेही बलरामजी के हाथ से प्रलम्बासुर को मरवादिया यह कथा वर्णन करी हैं ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जीने कहा कि हेराजन् ! तदनन्तर प्रातःकाल होनेपर, कालियदमनसे और वनकी दौंसे अपनी रक्षा करने के कारण सन्तुष्टचित्त हुए गोपों से घिरेहुए वह श्रीकृष्णजी, उन सेही वारंवार गान करेजाते हुए, गौओं के समूहों से शोभायमान गोकुल में को चले गये ॥ १ ॥ इसप्रकार जिस में गोपालरूप का बहाना है ऐसी माया से, उन रामकृष्ण के गोकुल में क्रीडा करते हुए, प्राणीमात्र को अति प्रिय न लगनेवा । ग्रीष्मनामकऋतु प्राप्तहुआ ॥ २ ॥ परन्तु वह ग्रीष्मऋतुभी, जिस में साक्षात् बलराम सहित भगवान् श्रीकृष्णजी रहते हैं तिस वृन्दावनके (आगे कहे हुए) गुणों से बसन्तऋतु की समान लोकों की दृष्टि को प्रतीत होने लगा ॥३॥ जिस ग्रीष्मऋतु में भी वृन्दावन में सर २ वहने वाली झरनों की नदियों से झिल्ली नामवाले कीडों की कठोर ध्वनि सर्वथा लुप्त होगई थी; और उनही झरनों की फुहारों से भीजेहुए वृक्षों ने उस वृन्दावन को शो-भायमानकरा ॥ ४ ॥ जिस वन में रहनेवाले पुरुषों को, परम कोमलघाससे भरे हुए

कसादेनो निदाघवन्ह्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥ ५ ॥ अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरी-
ष्याः पुलिनैः समंततः ॥ न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं च
गृह्णते ॥ ६ ॥ वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजं ॥ गायन्मयूरभ्रमरं कूज-
त्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥ क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ॥ वेणुं
विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥ प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूष-
णाः ॥ रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥ कृष्णस्य नृत्यतः केचि-
ज्जगुः केचिदवादयन् ॥ वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥ १० ॥ गो-
पजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ॥ ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं
नृप ॥ ११ ॥ भ्रामणैर्लंघनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ॥ चिक्रीडतुर्नियुद्धेन

स्थानों मे नदी सरोवर और झरनों की तरङ्गों से गीले होकर आये हुए और सन्ध्या काल रात्रि तथा दिन में क्रम से खिलनेवाले कल्हार, कुमुद और उत्पल नामक कमलों मेंसे उनके सुगन्धित परागको उडाकर लानेवाले पवनसे,ग्रीष्मऋतुमें अग्नि और सूर्य से होनेवाला ताप किञ्चिन्मात्रभी नहीं होताथा ॥५॥जिस वृन्दावन में अपरम्पारजलवाली नदियों के तटोंपर लहरानेवाली तरङ्गोंसे पुलिनसहित चारों ओर की सिक्त हुई भूमिका'जिसपर कोमल घासहै ऐसा गीलापन,विष की समान अति प्रखरभी सूर्यकी किरणोंसे सूखा नहीं ॥ ६ ॥ और जहां शब्द करनेवाले चित्र विचित्र मृग और पक्षी हैं, गान करनेवाले मोर और भौंरे हैं, मनोहर शब्द करनेवाली कोकिला और सारस पक्षी हैं, उस प्रफुल्लित वृक्षों से भरे हुए, शोभायुक्त, वृन्दावन में क्रीडा करने की इच्छा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम के साथ गोप और गौओं से घिरकर मुरली बजाते हुए प्रवेश करा ॥ ७ ॥ ८ ॥ तदनन्तर बलराम कृष्ण आदि गोपाल, अपने शरीरों को गेरू पेवडी आदि धातुओं का रङ्ग लगाकर उस के ऊपर पत्ते मोरों के पर, फूलों के गुच्छे और मालारूप आभूषण धारण करके नृत्य, गान और परस्पर कुश्ती करनेलगे ॥ ९ ॥ उस समय जब कृष्ण नाचने लगे तो कितने ही गोपाल भी गानेलगे, कोई मुरली, ताली और सींग आदि बाजे बजाने लगे और कोई दूसरे ' वाह, वाह, बहुत अच्छा ' इसप्रकार उन की प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥ हे राजन् ! गोपों की जातियों में छुपकर गोपालरूप से अवतरे हुए देवता, उन श्री कृष्णजी की, ' जैसे खेल करने के स्थान में स्वाँग भरकर आये हुए नट दूसरे नटों की प्रशंसा करते हैं तैसे ' स्तुति करने लगे ॥ ११ ॥ घुँघराले केशोंवाले वह रामकृष्ण, कभी एक एक को पकड कर घर २ घूमना, टीलोंपर से कूदना, किसी वस्तु को फेंककर उठालाना, हाथों से दण्ड ठोकना, परस्पर खचेडना

काकपक्षधरौ क्वचित् ॥ १२ ॥ क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ॥ शशं-
सतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ॥ १३ ॥ क्वचिद्बिल्वैः क्वचित्कु-
म्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः ॥ अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४ ॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः ॥ कदाचित्स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया
॥ १५ ॥ एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ॥ नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु
काननेषु सरस्सु च ॥ १६ ॥ पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ॥ गोप-
रूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया ॥ १७ ॥ तं विद्वानपि दाशार्हो भग-
वान्सर्वदर्शनः ॥ अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥ १८ ॥ तत्रो-
पाहूय गोपालान्कृष्णः प्राह विहारवित् ॥ हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय य-
थायथम् ॥ १९ ॥ तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ॥ कृष्णसंघट्टिनः
केचिदासन् रामस्य चापरे ॥ २० ॥ आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्ष-

इत्यादि कुश्ती की रीतियों से क्रीडा करते थे । १२ ॥ हे महाराज ! कभी तो वह बलराम और कृष्ण, जब दूसरे कोई गोप नाचने लगते थे तो आप भी गाने लगते थे, बाजे बजाते थे और "वाह, धन्य, बहुत उत्तम है" ऐसे कहकर उनकी प्रशंसा करने लगते थे ॥ १३ ॥ कभी वह बेल के फलों से, कभी कुम्भ के फलों से, कभी आमलों की मुट्ठियों से, कभी न छूने के खेल से और कभी नेत्र मूँदकर तथा कभी पशु पक्षियों की लीलाओं से क्रीडा करते थे ॥ १४ ॥ कभी मेंडक की समान कूदकर कभी नाना प्रकार के उपहास करके, कभी वृक्षों की शाखाओं में झूलकर और कभी राजा आदि बनकर क्रीडा करते थे ॥ १५ ॥ इसप्रकार लोक में प्रसिद्ध खेल खेलते २ वह बलराम और कृष्ण, वृन्दावन में और नदी, पर्वत दोनों के समीप, पर्वतों की गुहा, कुञ्ज, बाग और सरोवरों के विषैं विचरते थे ॥ १६ ॥ एकसमय उस वन में गोपों सहित बलराम और कृष्ण गौएँ चरारहे थे सो उन दोनों को हरकर लेजाने की इच्छा से, गोपका रूप धारण करेहुए कोई एक प्रलम्ब नामवाला दैत्य तहाँ आया ॥ १७ ॥ तब दाशार्हकुल में उत्पन्नहुए सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्णजी ने, उस को जानलिया तथापि मनमें उसका वध करने का विचार करके उसके साथ मित्रता करने की गोपों को सम्मति दी ॥ १८ ॥ और अनेकों चमत्कारी खेलों को जाननेवाले वह श्रीकृष्णजी, तहाँ गोपालों को अपने समीप बुलाकर कहनेलगे कि-हे गोपो ! हम परस्पर बल और अवस्था के अनुसार सबों में दो२ के जोड मिलाकर खेलेंगे ॥ १९ ॥ तब गोपालों ने, हाँ हाँ अच्छी बात है ऐसा कहकर बलराम और कृष्ण दोनों को दोनों ओर का मुखिया बनालिया और कितने ही कृष्णकी ओर होगये और कितने ही बलराम की ओर होगये फिर वहगोप, एक पीठपर

णाः ॥ यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥ २१ ॥ वहन्तो वाह्यमा-
नाश्च चारयंतश्च गोधनम् ॥ भांडीरकं वटं नाम जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥ २२ ॥
रामसंघट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः ॥ क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो
नृप ॥ २३ ॥ उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ॥ वृषभं भद्रसे-
नस्तु प्रलंबो रोहिणीसुतम् ॥ २४ ॥ अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ॥
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परं ॥ २५ ॥ तमुद्वहन् धरणिधरेंद्रगौरवं महा-
सुरो विगतरयो निजं वपुः ॥ स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमा-
नुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥ २६ ॥ निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटो-
ग्रदंष्ट्रकम् ॥ ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाऽद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥

बैठे और दूसरा उस को नियमित करेहुए स्थान पर्यंत चढ़ाकर लेजाय, ऐसा ठहराकर नानाप्रकार के खेल खेलनेलगे, जिस खेल में जीतनेवाले चढ़ते हैं और हारनेवाले उठाते हैं ॥ २१ ॥ इसप्रकार उठानेवाले और पीठपर बैठनेवाले वह कृष्ण आदि गोपाल, गौएँ चरातेहुए भाण्डीरक नामवाले वड के समीप जापहुँचे, वही बड़, कन्धेपर से चढ़ेहुओं के नीचे उतरने की अवधि था ॥ २२ ॥ हे राजन् ! फिर जब खेल में बलराम जी के पक्ष के श्रीदामा वृषभ आदि गोपों ने, जय पाई तब उन को श्रीकृष्ण आदि अपने ऊपर चढ़ानेलगे ॥ २३ ॥ तब पराजय पायेहुए भगवान् श्रीकृष्णजी, श्रीदामा को अपने ऊपर चढ़ानेलगे, भद्रसेन वृषभ को और प्रलम्बासुर बलरामजी को अपने ऊपर चढाने लगा ॥ २४ ॥ उससमय दानवश्रेष्ठ वह प्रलम्बासुर, मन में, श्रीकृष्णजी को जीतना कठिन समझकर उन की दृष्टि से बचने के निमित्त बलरामको पीठपर चढाकर ले जाते हुए उतारने की अवधि से परली ओर अर्थात् उस भाण्डीर वृक्ष के परली ओर बडी शीघ्रता के साथ लेजाने लगा ॥ २५ ॥ तब वह महाअसुर, मेरु पर्वतकी समान भारी प्रतीत होने वाले उन बलदेवजीको शीघ्रता से लेजाता हुआ जब वेग से न चल सका तो ' गोपरूप शरीर से उठाना कठिन है ' ऐसा मन में विचार कर उस दैत्य ने अपना साक्षात् दैत्यरूप धार लिया तब सुवर्ण के आभूषण धारण करनेवाला वह दैत्य बिजली की कान्तियुक्त और चन्द्रमा को उठानेवाले मेघकी समान शोभित होने लगा ॥ २६ ॥ जिस स्वरूप में जलते हुए अग्निकी समान धक २ करते हुए नेत्र हैं, भौं पर्यन्त पहुँची हुई भयङ्कर दाढें हैं, अग्निकी लपटों की समान केश हैं और जो कडे, किरीट तथा कुण्डलों की कान्ति से आश्चर्यकारी दीख रहा है ऐसे, आकाश में अत्यन्त ही ऊपर को बढते चले जाते हुए तिस दैत्यरूप को देखकर बलदेवजी को कुछ एक

॥ २७ ॥ अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहाय सार्थमिव हरंतमात्मनः ॥
रुषाऽहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥ २८ ॥
स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ॥ महारवं
व्यसुरपतत्समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥ २९ ॥ दृष्ट्वा प्रलंबं
निहतं बलेन बलशालिना ॥ गोपाः सुविस्मिता आसन् साधु साध्विति वा-
दिनः ॥ ३० ॥ आशिषोभिगृणंतस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम् ॥ प्रेत्यागतमिवा-
लिंग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥ ३१ ॥ पापे प्रलंबे निहते देवाः परमनिर्वृताः ॥ अ-
भ्यवर्षन्बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति ॥ ३२ ॥ इतिश्रीभागवते महा-
पुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रलंबवधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ७ ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ॥ स्वैरं चरंत्यो विवि-

भयलगा ॥ २७ ॥ फिर तत्काल स्मरण आकर भय रहित हुए उन बलरामजीने, अपनी गोपालों की मण्डली को छोडकर मर्यादा के परली ओर को अपने को लेजाने वाले उस प्रलम्बासुर शत्रु के मस्तक में वज्रकी समान वेगवाली कठोर मुट्ठी से, 'जैसे इन्द्र, वज्र से पर्वत के ऊपर प्रहार करता है तैसे' क्रोधमें भरकर प्रहार करा॥२८॥इस प्रकार प्रहार करा हुआ वह दैत्य तत्काल मस्तक फूट जाने के कारण, स्मृतिरहित(बेहोश)होकर मुख में से रुधिर की वमन करताहुआ और बडा भयङ्कर शब्द उच्चारण करता हुआ प्राणहीन होकर,जैसे इन्द्रके वज्रसे प्रहार कराहुआ पर्वत खस पडता है तैसे भूमि पर गिरगया२९॥ तब महाबली बलरामजी के मारे हुए उस प्रलम्बासुर को देखकर बलराम जी से 'बहुत अच्छाकरा, बहुत अच्छा करा' इसप्रकार कहते हुए वह गोप परम विस्मित हुए ॥ ३० ॥ और परलोक में जाकर आये हुए की समान उन बलरामजी को हृदय से लगा कर प्रेम से विव्हलचित्त हुए वह गोप, 'हेराम ! तुम चिरंजीव रहो और इसी प्रकार निरन्तर हमारी रक्षा करते रहो' ऐसा आशीर्वाद देकर स्तुति करनेयोग्य उन बल-रामजीकी स्तुति करने लगे ॥ ३१ ॥ इसप्रकार सब के विघ्नकारी तिस प्रलम्बासुर का बलरामजीने प्राणान्त करदिया तब परम आनन्द को प्राप्त हुए देवताओं ने बलरामजीके ऊपर फूलों की वर्षा करी और 'हेराम ! तुमने बहुत अच्छा करा, ठीक है' इसप्रकार प्रशंसा करी ॥ ३२ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में अष्टादश अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे उन्नीसवें अध्यायमें श्रीकृष्णजीने मूँजके वन में घुसे हुए गोपोंकी और गौओं के समूहोंकी,वनकी अग्निको पीकर रक्षाकरी यह कथा वर्णन करीहै ॥*॥श्री शुकदेवजीने कहा कि—हेराजन् ! प्रलम्बासुर को मारने के अनन्तर, वह गोपाल खेल में मग्न होगये, तब इच्छानुसार चरती २ दूर पहुँची हुई उनकी गौएं चारे के लोभसे एक

दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध.

शुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥ अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम् ॥
इषीकाटवीं विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥ २ ॥ तेऽपश्यन्तः पशून्गोपाः
कृष्णरामादयस्तदा ॥ जातानुतापा न विदुर्विचिन्वंतो गवां गतिम् ॥ ३ ॥
तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ॥ मार्गमन्वगमन्सर्वे नष्टाजीव्या विचे-
तसः ॥ ४ ॥ मुंजाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम् ॥ संप्राप्य तृषिताः
श्रांतास्ततस्ते संन्यवर्तयन् ॥ ५ ॥ ता आहूता भगवता मेघगंभीरया गिरा ॥
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥ ततः समन्ताद्वनधूमकेतु-
र्यदृच्छयाऽभूत् क्षयकृद्वनौकसाम् ॥ समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकैर्विलेलिहानः
स्थिरजङ्गमान्महान् ॥ ७ ॥ तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य
भीताः ॥ ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥

घोर वन में को चलीगई ॥ १ ॥ वह सब गौएं, बकरियें और भैंसें इस वन से उसवन में और उस वन से दूसरे वनमें इसप्रकार जाती हुई ग्रीष्मऋतुके ताप से पियासी होकर डकराती २ अति ऊँचे एक घाससे भरे हुए सीकोंके वनमें चली गईं॥२॥इधर कृष्ण और बलराम जिनमें मुखिया हैं ऐसे उन सकल गोपों को जब पशु नहीं दीखे तब पश्चात्ताप करके ढूँढने लगे परन्तु ढूँढते हुए भी उन को बहुत देरी पर्यन्त गौओं का पता नहीं मिला; उससमय केवल कृष्ण बलरामकोही असह्य नहीं प्रतीत हुआ क्यों कि—वह जानते थे कि—गौएँ किधर गई हैं और आगे को क्या होनेवाला है ॥ ३ ॥ तदुनन्तर आजीविका की साधन गौओं के खोजाने से व्याकुलचित्त हुए वह सब गोपाल गौओं के चरणों के चिन्हवाले स्थानों से और तिन गौओं के खुर तथा दाँतों से टूटेहुए तृणों से गौओं के जाने का मार्ग पहिचानते हुए चल दिये ॥ ४ ॥ जाते २ मूँज के वन में, मार्ग भूलकर रम्भाते फिरते हुए अपने गोधन को पाकर, चलते २ थकगये और धूपके कारण प्यास से व्याकुल हुए वह गोप, गौओं को तहाँ से हाँककर पीछे को लौटे ॥ ५ ॥ उससमय भगवान् ने मेघकी समान गम्भीर वाणी से पुकारीहुई वह गौएँ अपने २ कारी धौरी आदि नामो का शब्द सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुईं और रम्भाने के शब्द से श्रीकृष्ण को पुकारने लगीं ॥ ६ ॥ सो इतने ही में उस वन में, प्राणियों के किसी दुर्भाग्य के कारण, वायुकी सहायता से बढ़ाहुआ और गोपों के नाशका कारण बड़ाभारी वनका अग्नि (दौं) चारोंओर लगगया और वह अपनी भयङ्कर लपटों से स्थावर जङ्गम सबको जलाने लगा ॥ ७ ॥ तब चारों ओरसे जलकर अपने समीप को आतेहुए उस वनके अग्निको देखकर गौ और गोपाल भयभीत हुए और वह जैसे मृत्युके भय से घबड़ायेहुए पुरुष श्रीहरि की शरण जातेहैं तैसे,

कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामितविक्रम ॥ दावाग्निना दह्यमानान्प्रपन्नांस्त्रातुम-
र्हथः ॥ ९ ॥ नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् ॥ वयं हि सर्व-
धर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ वचो निशम्य कृपणं
बन्धूनां भगवान् हरिः ॥ निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥
तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ॥ पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद्योगाधीशो
व्यमोचयत् ॥ १२ ॥ ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ॥ निशम्य
विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥ १३ ॥ कृष्णस्य योगवीर्यं तद्यो-
गमायाऽनुभावितम् ॥ दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ॥ १४ ॥
गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ॥ वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद्गोपै-
रभिष्टुतः ॥ १५ ॥ गोपानां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ॥ क्षणं यु-
गशतमिव यासां येन विनाऽभवत् ॥ १६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दश-

बलरामसहित श्रीकृष्णजी की शरण जाकर कहने लगे कि–॥८॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! तुम महाशक्तिमान् हो, हे बलरामजी ! तुम्हारे पराक्रम का अन्त नहीं है तुम दोनो, वनकी अग्निसे जलते हुए और तुम्हारी शरण में आये हुए हमारी रक्षा करने को समर्थ हो ॥९॥ हे सर्वधर्मज्ञ कृष्ण ! तुम्हारे सम्बन्धी बन्धु बान्धव भी निःसन्देह दुःख भोगने के योग्य नहीं हैं, फिर हमारे तो तुमही रक्षक हो और तुम्हारे ही आश्रय से रहते हैं ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार उन गोपालों का दीन वचन सुनकर वह भगवान् श्रीकृष्णजी उनसे कहने लगे कि–अरे गोपालो ! तुम भय न मानो और नेत्र मूँदलो तो तुम्हारा कल्याण होयगा ॥ ११ ॥ तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर गोपालों के नेत्र मूँदलेने पर, उन योगेश्वर भगवान् ने, उस भयङ्कर अग्नि को मुखसे पीकर उन गोपालों को, मूँजके वनमें जाना, भूख, प्यास और परिश्रम आदि से होनेवाले सङ्कट से छुटाकर एकक्षण में फिर भाण्डीरक बड के समीप लाकर पहुँचादिया. तदनन्तर उन गोपों ने नेत्र उघाडकर देखा तो अपने को और गौओं को श्रीकृष्णजी ने सङ्कट से छुटाया है ऐसा देख बडे आश्चर्य में हुए ॥ १२ ॥ १३ ॥ और योगमाया से रचेहुए वन के अग्नि से अपने को छुटानारूप वह श्रीकृष्णजी का अपूर्व सामर्थ्य देख उन गोपोंने, श्रीकृष्णजी को, यह मृत्युको भी दूर करदेनेवाले परमेश्वर हैं ऐसा माना ॥ १४ ॥ तदनन्तर बलरामसहित गोपों से स्तुति करेहुए वह श्रीकृष्णजी, गौओं को पीछेको लौटाकर सायङ्काल के समय मुरली बजाते २ गोकुल में चलेगये ॥ १५ ॥ तब, जिनको श्रीकृष्ण के विना एकक्षण का समयभी सौयुगकी समान बडा प्रतीत होताहै तिन यशोदादि गोपियों को गोविन्द का दर्शन होनेपर परम आनन्द प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध - पूर्वार्द्ध में

मस्कन्धे पूर्वार्धे दावाग्निपानं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ७ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः ॥ गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥१॥गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः॥ मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥ ततः प्रावर्त्तत प्रावृट् सर्वसत्वसमुद्भवा ॥ विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥ सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ॥ अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥ अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु ॥ स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥ तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ॥ प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥ तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी

एकोनविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगेके वीसवें अध्याय में वर्षाऋतु और शरद ऋतु के वर्णन से गोप और बलरामसहित श्रीकृष्णजी की वन में करीहुई वर्षा ऋतुमें की लीला वर्णन करीहैं ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि–हे राजन् ! श्रीदामा आदि गोपों ने वनकी दौंसे अपने सबोंको छुटाना और प्रलम्बासुर का बध करना यह उन बलराम कृष्ण के अद्भुत कर्म वृद्धगोपों से और यशोदा आदि स्त्रियों से कहे ॥ १ ॥ यह सुनकर अचरजमें हुए उन वृद्धगोपों ने और गोपियों ने, गोकुल में अवतार धारनेवाले रामकृष्ण को, यह कोई देवताओं में श्रेष्ठ देवता हैं ऐसा माना ॥ २ ॥ इसप्रकार ग्रीष्मऋतु के दिन वीतजाने के अनन्तर, सब जीवजन्तुओं की उत्पत्ति करनेवाली सकल प्राणियों का जीवन चलानेवाली, चन्द्रमा सूर्य के चारों ओर चक्राकार परिधि डालनेवाली, और मेघ के खण्डों को जिधर तिधर फिराकर आकाशमण्डल को क्षोभित करनेवाली वर्षाऋतु आई ॥ ३ ॥ उससमय बिजली और गर्जनासहित घिरकर आयेहुए घने श्याममेघों से आच्छादित हुआ और जिस में सूर्य चन्द्रमाआदि ग्रह स्पष्ट नहीं दीखते हैं ऐसाआकाश सत्त्वादि गुणों से ढके हुए और जिस का स्वयम्प्रकाशरूप स्पष्टरूप से अनुभव में न आवे ऐसे सगुण ब्रह्मकी समान शोभित होनेलगा ॥ ४ ॥ तब, जैसे राजे प्रजाओं से कर लेकर धन इकट्ठा करते हैं परन्तु समय आनेपर उस धन को उनकेही निमित्त व्यय (खर्च) करदेते हैं तैसेही, सूर्य–आठमास पर्यन्त अपनी किरणों से सुखाकर लिया हुआ भूमिका जलरूप धन, वर्षाकाल आने पर फिर पृथ्वी पर छोडनेलगा ॥ ५ ॥ जैसे दयालु पुरुष, भूख आदि से दुःखित हुए प्राणियों को देखकर आर्द्रचित्त होकर उन को बचाने के निमित्त अपने जीवनके साधन भी अन्नआदि का दान करते हैं तैसेही, बडे २ मेघभी, अपने बिजलीरूप नेत्रों से, तपे हुए जगत् को देखकर प्रचण्डवायु से कम्पायमान होते हुए, इसजगत् की वृद्धि करनेवाले और जीवनके साधन जलकी वर्षा करने लगे ॥ ६ ॥ उससमय ग्रीष्मऋतु से सूखीहुई भूमि, फिर जल से भीग जाने पर

मेही ॥ यथैवं काम्यतपसस्तनुः संप्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥ निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भांति न ग्रहाः ॥ यथा पापेन पाखंडा नहि वेदाः कलौयुगे ॥८॥ श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ॥ तूष्णीं शयाना: प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥ आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ॥ पुंसो यथाऽस्वतंत्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥ १० ॥ हरिता हरिभिः शष्पैरिंद्रगोपैश्च लोहिता ॥ उच्छिलींध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥ क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ॥ धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानतां ॥१२॥ जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ॥ अबिभ्रद्रुचिरं रूपं यथा हरिनिषे-

जैसे सकाम तप करनेवाले पुरुष का शरीर उस तप का फल (भोग) पाकर भोजनादि करके पुष्ट होता है तैसेही पुष्ट हुई ॥ ७ ॥ जैसे कलियुग में पाखण्डियों के ग्रन्थ, अज्ञान से होनेवाले पाप करके प्रकाश पाने लगते हैं, वेद प्रकाश नहीं पाते हैं तैसेही रात्रि के आरम्भ में पटवीजने, मेघों से होने वाले अन्धकार करके प्रकाश पानेलगे गुरु शुक्रआदि ग्रह प्रकाशित नहीं हुए ॥ ८ ॥ जैसे पहिले गुरु के नित्यकर्म के समय समीप में ही रहनेवाले शिष्य ब्राह्मण, गुरु का शब्द सुनने के अनन्तर पढने लगते हैं तैसेही पहिले मौन होकर सोये हुए मेंडक मेघों का शब्दसुनकर अपनी वाणी उच्चारण करनेलगे ॥ ९ ॥ जैसे जितेन्द्रिय पुरुष की यौवन आदि शरीर की सम्पदा और धन घर आदि द्रव्यसम्पदा, पहिले शान्तस्वभावका होकर पीछे से शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघन करके वर्त्ताव करने लगने पर, कुमार्ग में को जाने लगती है तैसेही पहिले सूखीहुई भी छोटी नदियें, वर्षा होने पर अपने २ पात्रों से बाहर को निकलकर इधर उधर के मार्गों में को होकर बहनेलगीं ॥१०॥ जैसे राजाओं की सेनारूप सम्पदा कितनों ही का हरा, कितनोंही का लाल वेष और कितनोंही के मस्तकपर धारण करे हुए स्वेत छत्रों से हरी लाल और स्वेत दीखती है तैसेही भूमि, कहीं २ उगेहुए हरे तृणों से हरी, कहीं २ इन्द्रगोप (वीरवहुट्टी) नामक कीडों से लाल और कहीं २ उगेहुए छत्रों से ढकी हुई होने के कारण स्वेत दीखने लगी ॥ ११ ॥ तैसेही खेत, अच्छी वर्षा होकर सुन्दरदीखनेवाले धान्यों से किसानों को आनन्द देनेलगी और फिर वर्षा बन्दहोने के कारण सूखनेवाले वही खेत, वर्षा होना और न होना यह दैवके अधीन है ऐसा न जाननेवाले उन खेतों के स्वामी किसानों को खेद भी देनेलगी ॥ १२ ॥ जैसे भगवद्भक्त, श्रीहरि की सेवा से साधकदशा में सुन्दररूप और सिद्धदशा में परमानन्दस्वरूप धारण करते हैं तैसेही जल में रहनेवाले मत्स्य आदि और भूमिपर रहनेवाले वृक्ष

वर्षाः ॥ १३ ॥ सरिद्भिः संगतः सिंधुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ॥ अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ॥१४॥ गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ॥ अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः ॥ १५ ॥ मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ॥ नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥ ॥ १६ ॥ लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ॥ स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥ धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ॥ व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवानुरुषो यथा ॥ १८ ॥ न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः ॥ अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥ मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः॥गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे

आदि सकल प्राणी, नवीन जल के सेवन से सुन्दररूप धारण करने लगे ॥१३॥ उससमय जैसे जिस का योगसाधन पूर्ण नहीं हुआ है ऐसे योगी का भोगवासनायुक्त हुआ चित्त, विषयों में लगकर चञ्चल होजाता है तैसेही नदियों से मिलेहुए और वायु से जिस में तरङ्ग उठरही हैं ऐसा समुद्र क्षोभित होनेलगा ॥ १४ ॥ जैसे परमेश्वर में मग्नचित्तहुए पुरुष, आध्यात्मिक आदि तापों से कितनी ही पीडा पानेपर भी डिगते नहीं हैं तैसेही गोवर्द्धन आदि पर्वत मेघों की धाराओं से बहुत कुछ प्रहार करेहुए भी कुछ दुःखको नहीं प्राप्तहुए ॥ १५ ॥ जैसे ब्राह्मणों के पाठकरेहुए भी वेद, कुछदिनों पर्यन्त आवृत्ति न करनेपर कालगति से विस्मृत से होकर अन्त में सन्दिग्ध होजाते हैं तैसेही इस वर्षा ऋतु में घाससे ढकेहुए और घासको दूर करके साफ न करेहुए मार्ग, उन मार्गों में को वारंवार जानेवाले पुरुषों के भी जानने में नहीं आये ॥१६॥ जैसे क्षणिक प्रेम करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियें देना आदि गुणों से युक्त भी पुरुषों के पास नहीं रहती हैं तैसेही सकल लोकों के ऊपर उपकार करनेवाले भी मेघों में बिजलियें स्थिरता के साथ नहीं रहीं ॥ १७ ॥ जैसे निर्गुण पुरुष, माया के सत्व आदि तीनों गुणों के मेल से प्रकटहुए प्रपञ्च में शोभित होता है तैसे ही जिस में डोरी है ही नहीं ऐसा इन्द्रका धनुष, गर्जना आदि गुणयुक्त आकाश में शोभित होनेलगा ॥ १८ ॥ जैसे अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाली अहंबुद्धि से ढकाहुआ जीवात्मा, 'मैंदाता हूं, मैं शूर हूं इत्यादि' गर्व से फूलते ही शोभा नहीं पाता है तैसेही, अपनीही कान्ति से प्रकाशित होनेवाले मेघों से ढकाहुआ चन्द्रमा शोभायमान नहीं हुआ ॥ १९ ॥ जैसे घरमें रहकर तीनों तापों से तपेहुए और विरक्तहुए पुरुष, भगवान् के भक्त का समागम होतेही आनन्द पाकर पूजा स्तुति नमस्कार आदि से उसका सत्कार करते हैं तैसेही पहिले ग्रीष्म के तापसे तपकर खिन्नहुए मोर, मेघों के आने से उत्साहयुक्त और हर्षित होकर अपना 'केका' शब्द और नृत्य आदि

॥२०॥पीत्वाऽपः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः।प्राक् क्षामास्तपसा श्रांता यथा
कामानुसेवया॥२१॥सरस्स्वशांतरोधस्सु न्यूषुरङ्गापि सारसाः।गृहेष्वशांतकृत्येषु
ग्राम्या इवं दुराशयाः ॥ २२ ॥ जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।पाखण्डि-
नामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥ व्यमुञ्चन्वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं
घनाः ॥ यथाऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः॥२४॥ एवं वनं तद्वर्षिष्ठं
पक्वखर्जूरजंबुमत् ॥ गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥ २५ ॥ धेनवो
मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ॥ ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः
॥ २६ ॥ वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः॥ जलधारा गि-रेर्नादानासन्ना

करके, उन का सत्कार करनेलगे ॥ २० ॥ जैसे पहिले तपस्या के क्लेशोंसे दुर्बल और शिथिल इन्द्रिय हुए सकाम तपस्वी, पुण्यके प्रभाव से इच्छित विषय भोग पाकर, उन भोगोंके निरन्तर सेवनसे पुष्ट होतेहैं तैसेही पहिले ग्रीष्मके तापसे सूखेहुए वृक्ष, अपनी जड़ो से जल को खेंचकर नये अङ्कुर, फूल, फल आदि से पुष्टहुए ॥ २१ ॥ हे राजन् ! जैसे खोटी बुद्धिवाले विषयवासनाओं से बंधेहुए गृहस्थ, घोरकार्यों से युक्त वा जिन में के कार्य कभी समाप्त ही नहीं होते ऐसे घरों में रहते हैं तैसे ही मत्स्य आदि का लोभ करनेवाले चक्रवाक (चकवे) पक्षी, जिनके किनारे काँटे कीच आदि से युक्त हैं ऐसेभी सरोवरों में रहने लगे॥२२॥जैसे वेदोंमें कहेहुए वर्णाश्रम धर्मों के मार्ग, पाखण्डी पुरुषोंकी कुतर्कोंसे कलियुगमें अस्तव्यस्त होजाते हैं तैसेही, इन्द्रके वर्षा करनेपर नदी और खेतों के बाँध, जलके प्रवाहसे टूटनेलगे ॥ २३ ॥ जैसे पुरोहितों के प्रेरणा करेहुए राजे, अथवा धनी पुरुष, समय २ पर दुःखित हुए पुरुषों को अन्न वस्त्र आदि उपभोगकी वस्तुओं का दान करते हैं तैसे ही वायु के प्रेरणा करेहुए मेघ, सकल प्राणियों के जीवनरूप जलकी समय २ पर वर्षा करने लगे ॥ २४ ॥ इसप्रकार वर्षा ऋतुकी सम्पदा से बढेहुए और पकेहुए फलों से झुके खजूर और जामुनों के वृक्षोंवाले तिस वृन्दावन में गौ और गोपालों से घिरेहुए वह बलराम सहित श्रीकृष्णजी, क्रीडा करने के निमित्त गये ॥ २५ ॥ तहाँ बड़े ऐन के भार से धीरे २ चलने वाली गौएँ, भगवान् ने अपने आप धरेहुए नामों से जब उन को बुलाया तो, प्रीति के कारण स्तनो में से दूध टपकाती हुई दौडती २ उन के समीप पहुँची ॥ २६ ॥ उससमय उसलीला को देखकर आनन्द पानेवाली उसवन में की कितनी ही भीलनियें भगवान् के देखने में आई; कभी वह कृष्ण परमात्मा, उस वन में मद टपकाने वाले वनों की पङ्क्तियें, पर्वत से नीचे गिरने के कारण घू घू बजनेवाली जलकी धारा और उन के समीपकी गुहाओं को देखते हुए तथा पक्षियो के नानाप्रकार के शब्द सुनते

ददृशे गुहाः ॥ २७ ॥ क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ॥ निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥ २८ ॥ दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलांतिके ॥ संभोजनीयैर्बुभुजे गोपैः संकर्षणाऽन्वितः ॥ २९ ॥ शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ॥ तृप्तान्वृषान्वत्सतरान् गांश्च स्वोधोभरश्रमाः ॥ ३० ॥ प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहां ॥ भगवान्पूजयांचक्रे आत्मशक्त्युपबृंहितां ॥ ३१ ॥ एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे ॥ शरत्समभवद्व्यभ्रा स्वच्छांब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥ शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ॥ भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥ ३३ ॥ व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पंकमपां मलं ॥ शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाऽशुभम् ॥३४॥ सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ॥ यथा त्यक्तैषणाः शांता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥ ३५ ॥ गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न

फिरते थे ॥ २७ ॥ कभी, कन्दमूल और फलों का भक्षण करनेवाले वह भगवान्, वर्षा होने पर वृक्षों के झाड़ों में और गुहा में घुसकर तहाँही क्रीडा करते थे ॥ २८ ॥ कभी, बलराम सहित वह श्रीकृष्णजी, अपने साथ भोजन करनेके योग्य सखा गोपालों के साथ, जल के समीप शिलापर बैठकर घरसे लाये हुए दही भातका भोजन करते थे ॥ २९ ॥ हरीघास से भरेहुए स्थानोंपर बैठकर जुँगाल करनेवाले और नेत्र मूँदकर तृप्त हुए वृषभों को, बछड़ों को और अपने ऐनके भारसे थकीहुई गौओं को देखकर, तैसे ही अपने प्रभावसे बढ़ीहुई और सकल प्राणियोंको आनन्द देनेवाली वर्षाऋतु में की तिस वृन्दावन की शोभाको देखकर भगवान् ने सराहना करी ॥ ३० ॥ ३१ ॥ इसप्रकार क्रीड़ा करतेहुए वह रामकृष्ण, गोकुल में रहते थे सो—जिसमें मेघनष्ट होगए हैं, जल स्वच्छ होगये हैं और वायु शान्त होकर चलने लगा है ऐसा शरदऋतु आगया ॥ ३२ ॥ उससमय जैसे कुसङ्ग से योगभ्रष्ट हुए पुरुषों के अन्तःकरण, फिर प्राणायाम आदियोग साधनोंके सेवन से ठीक होकर स्वच्छ होजाते हैं तैसेही बरसात में गदलेहुए नदी आदिकों के जल, कमलों को उत्पन्न करनेवाली उस शरदऋतुके आनेसे स्वच्छ और मधुर होगये॥३३॥जैसे श्रीकृष्ण भगवान् के विषैं होनेवाली भक्ति, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी, इनचारों आश्रमों के दुःखों का नाश करती है तैसेही शरदऋतु से, आकाश में के मेघ, प्राणीमात्र की सङ्कीर्णता, पृथ्वी की कींच और जल में के मल का नाश करा॥३४॥ उससमय, जैसे पुत्रेषणा, वित्तेषणा, और लोकेषणा आदि सब इच्छाओं को त्यागकर पापों से छूटेहुए शान्तस्वभाव ऋषि शोभापाते हैं तैसेही अपना सकल जल पृथ्वीपर छोड़कर स्वेतवर्ण के हुए मेघ शोभा पानेलगे ॥ ३५ ॥ जैसे ज्ञानीपुरुष, मोक्षसाधनरूप ज्ञानामृत का

मुमुचुः शिवम् ॥ यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥ ३६ ॥ नैवा-
विदन्क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ॥ यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुंबिनः
॥ ३७ ॥ गाधवारिचरास्तापमविंदन् शरदर्कजम् ॥ यथा दरिद्रः कृपणः कुटुंब्य-
विजितेंद्रियः ॥ ३८ ॥ शनैः शनैर्जहुः पंकं स्थलान्यामं च वीरुधः ॥ यथा-
हंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥ निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शर-
दागमे ॥ आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥ ४० ॥ केदारेभ्यस्त्वपोऽ-
गृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः ॥ यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः॥४१॥
शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ॥ देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रज-
योषिताम् ॥४२॥ खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ॥ सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं

किसी अधिकारी पुरुष को ही कृपा करके उपदेश करते हैं, कर्मविद्याका उपदेश करनेवाले उपाध्यायों की समान चाहेजिस को देकर सर्वत्र नहीं फैलाते हैं तैसेही पर्वत, अपने में विद्यमान कल्याण कारीजल, कहीं ही छोडते थे सर्वत्र नहीं ॥ ३६ ॥ जैसे कुटुम्बका पोषण करने में आसक्तहुए मूढपुरुष, प्रतिदिन क्षीण होतेहुए अपने आयु को नहीं जानते हैं तैसे ही थोडे जल में रहनेवाले जलजन्तुओं ने, उस शरद ऋतु में अपने जीवन का हेतु जल आगे को वरावर क्षीण होरहा है ऐसा नहीं जाना ॥ ३७ ॥ जैसे इन्द्रियों को वश में न रखने वाला दरिद्री और दीन कुटुम्बी पुरुष, संसार में अनेकों प्रकार के दुःख पाता है तैसे ही थोड़े जल में रहनेवाले जलचर प्राणी, शरद् ऋतु के सूर्य की किरणों से होनेवाले ताप को पानेलगे ॥ ३८ ॥ जैसे धैर्यवान् ज्ञानी पुरुष, धीरे २ इस जड शरीर आदि में की अहन्ता और ममता का त्याग करते हैं तैसेही सव स्थान कीच का और लता अपक्वता (कच्चापन) का त्याग करने लगीं ॥ ३९ ॥ जैसे ध्यान करनेवाला ऋषि, मन को उपराम होनेपर वेद घोष आदि कर्ममार्ग को छोडकर शान्त होजाता है तैसे ही शरद ऋतु के आनेपर समुद्र, गर्जना करना आदि छोड़कर निश्चल जलवाला हुआ ॥ ४० ॥ जैसे योगसाधन करनेवाले पुरुष, क्षोभ पानेवाली अपनी द्वाररूप इन्द्रियों में को स्रवने (क्षीणहोने)वाले ज्ञान की, इन्द्रियों को रोककर (वश में करके) रक्षा करते हैं तैसेही किसानलोग, अपने धान आदि के खेतों में से बाँध तोडकर जानेवाले जलोंको, उन बाँधों (मेंडों) को दृढता से बाँधकर रोकते थे ॥ ४१ ॥ जैसे ज्ञान होनेपर वह ज्ञान, देहाभिमान से होनेवाले तापका नाश करता है और जैसे श्रीकृष्णजी, गोकुल की स्त्रियोंके अपने विरह से उत्पन्नहुए ताप का नाश करते थे तैसेही, चन्द्रमा, प्राणियों को शरद ऋतु में के सूर्य की किरणों से होनेवाले ताप का नाश करनेलगा ॥ ४२ ॥ जैसे सत्त्वगुण से युक्त (शुद्ध) हुआ अन्तःकरण, वेदब्रह्म में की पूर्वोत्तरमीमांसा में निर्णय करेहुए अर्थोंको दिखाता हुआ शोभा पाता

शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥ अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ॥ यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥ ४४ ॥ आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ॥ जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥ ४५ ॥ गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाऽभवन् ॥ अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६ ॥ उदहृष्यन्वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद्विना ॥ राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून्विना नृप ॥ ४७ ॥ पुरग्रामेष्वाग्रयणैरिन्द्रियैश्च महोत्सवैः ॥ बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥ वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे ॥ वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान्काल आगते

है तैसेही मेघोंसे रहित हुआ आकाश, शरद् ऋतु करके तारागणोंको स्पष्ट दिखाताहुआ शोभा पानेलगा ॥ ४३ ॥ जैसे यादवसमूह से घिरेहुए यादवपति श्रीकृष्ण,पृथ्वीपर शोभापाते थे तैसेही तारागणों सहित षोडशकलापूर्ण चन्द्रमा, आकाश में शोभा पानेलगा ॥ ४४ ॥ उस शरद् ऋतु में सबोंने समशीतोष्ण (न अधिक शीतल न अधिक उष्ण) ऐसे, पुष्पों के वन में से आयेहुए वायुको शरीरसे लगाकर सकल तापोंको त्यागा परन्तु सकल गोपियें उसवायु के लगने से भी ताप के त्यागनेको समर्थ नहींहुई क्योंकि उनके मन श्री कृष्ण जी ने हरलियेथे॥४५॥ जैसे ईश्वराराधनरूप कर्मयोग,ईश्वरके सम्बन्धसे धर्मादि पुरुषार्थरूप फलों से युक्त होकर सकलभोगोंको उत्पन्न करनेवालेहोतेहैं तैसेहीगौएं,पक्षी और स्त्रियें,शरद ऋतु के निमित्त से अपने २ पतियों से सम्बन्ध को पाकर पुष्पवती (गर्भिणी) हुईं ॥ ४६ ॥ हेराजन् ! जैसे चोरों के सिवाय सकललोक, धार्मिक राजा करके निर्भय और हर्षयुक्त होते हैं तैसे ही चन्द्रमा के उदय में खिलनेवाली कमलिनियों के सिवाय सकल कमल सूर्योदय से प्रफुल्लितहुए ॥ ४७ ॥ उससमय जिधर तिधर धान्य पककर सम्पन्न हुई भूमि, नगर और ग्रामों में सर्वत्र होनेवाले नवान्नप्राशन आदि वैदिक महोत्सवों से और दीपावली आदि इन्द्रियों को प्रीति देनेवाले उत्सवों से शोभित होनेलगी, तिस परभी श्रीहरिके बलराम श्रीकृष्णरूप अवतारों से उन के दर्शन आदि उत्साहों से और भी अधिक शोभापानेलगी ॥ ४८ ॥ यज्ञ आदिकर्म, योगसाधन, मन्त्र सिद्धि और भगवान् की भक्ति आदि साधनों से सिद्ध हुए पुरुष, जैसे प्रारब्ध से आयु शेष होय तवतक जीते रहकर उस प्रारब्ध के समाप्त होतेही मृत्युकाल प्राप्त होने पर अपने यज्ञ आदि से सम्पादन करे हुए देव आदि शरीरों को पाते हैं तैसेही वैश्य (व्यापारी) संन्यासी, राजे और ब्रह्मचारी, वर्षाऋतु में जल पडना आदि कारणों से एकस्थान में रहकर उस शरद्ऋतु के आतेही अपने २ स्थान से निकलकर अपने २ व्यापार,

॥ ४९ ॥ इतिश्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पू० शरद्वर्णनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगंधिना ॥ न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥ कुसुमितवनराजिशुष्मिभृंगद्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ॥ मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥ तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ॥ काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥ तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरंत्यः कृष्णचेष्टितम् ॥ नाशकन्स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥४॥ बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ॥ रंध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृंदारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः

स्वच्छन्दता, दिग्विजय और विद्याका अभ्यास आदि कार्य करने लगे ॥ ४९ ॥ इतिश्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में विंशतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इक्कीसवें अध्याय में,शरद्ऋतु करके सुन्दर हुए वृन्दावन में श्रीकृष्णजी के जाने पर, उन के वेणुगीतके शब्द को सुनकर गोपियों के गाये हुए गीत वर्णन करे हैं ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा कि हेराजन् ! इसप्रकार शरद्ऋतु के आने से जहाँ जल स्वच्छहोगया है और जहाँ कमलों के समूह में को होकर आयाहुआवायु चलरहा है ऐसे तिस वृन्दावन में एक दिन, गौ गोपालोंसहित श्रीकृष्णजी गये ॥ १ ॥ जहाँ प्रफुल्लित हुई बन की पंक्तियों में मत्तहुए भौंरो के और पक्षियों के समूहों से सरोवर नदियें और पर्वत गुञ्जार रहे हैं ऐसे उसबन में गौ, गोपाल और बलरामजी सहित श्रीकृष्णजीने प्रवेश करके गौओं को चराते २ वंशी बजाई ॥ २ ॥ उस कामदेव को प्रदीप्त करनेवाले वेणुगीत को सुनकर तिस बन में जाकर तहाँ के वृत्तान्त का अनुभव करके आई हुई कितनी ही गोकुल की स्त्रियें अपनी सखियोंसे वर्णन करनेलगीं ॥ ३ ॥ हेराजन् ! उन्हों ने, उस कृष्णचरित्र के वर्णन का प्रारम्भ करा परन्तु कृष्णकी मूर्त्ति ध्यान में आतेही कामदेव के वेग से व्याकुल चित्त हुई गोपियें, वर्णन करने को समर्थ नहीं हुईं ॥ ४ ॥ अब, जिस प्रकार कृष्णका स्मरण उनके मनको क्षोभित करनेवाला हुआ सो कहते हैं— मस्तक पर मोरों के परोंका शिरोभूषण, नटकी समान सुन्दर शरीर, कानों में कनेर के वृक्ष के फूल, सुवर्ण की समान पीला जरीका पीताम्बर और वैजयन्ती (पाँच वर्ण के सुगन्धित फूलोंकी गूँथी हुई माला को धारण करनेवाले और गोपों के समूहों ने जिनकी कीर्त्तिको गाया है ऐसे वह श्रीकृष्णजी वंशी के छिद्रों को अधरामृत मुखकी वायु से पूर्ण करते (बजाते) हुए, जहाँ तहाँ भूमिपर दीखते हुए अपने चरणों के चिन्हों से सबको रम

॥ ५ ॥ इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ॥ श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥ गोप्य ऊचुः ॥ अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ॥ वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥ चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ॥ मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥ गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ॥ भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो

णीय प्रतीत होनेवाले वृन्दावनमें को गये ॥५॥ हे राजन्! इसप्रकार स्मरण करनेवाली वह गोकुलकी सकलस्त्रियें, सकल प्राणियोंका मन हरलेनेवाले वंशी के शब्दको सुनकर श्रीकृष्ण जी के स्वरूप की मधुरता आदिका वर्णन करती हुई पद २ पर, परमानन्द मूर्त्ति श्रीकृष्ण जी को मनसे आलिङ्गन करनेलगीं ॥ ६ ॥ गोपियों ने कहाकि—अरी सखियो! नेत्रधारी पुरुषों के नेत्रोंका यही मुख्य फल है और इससे दूसरे फल को हम नहीं जानतीं कि—समान अवस्था के मित्रों सहित गौओं को एक वनमें से दूसरे वनमें को लेजाने वाले नन्दनन्दन बलराम और श्रीकृष्ण के वंशी बजानेवाले और स्नेह युक्त कटाक्ष फेंकने वाला मुख जिन्होंने पिया है अर्थात् नेत्ररूप भ्रमरों से उसकी मधुरता का अनुभव कराहै उन्होंही ने नेत्रोंका फलपाया है दूसरे किसीने नहींपाया है ॥ ७ ॥ दूसरी गोपी कहने लगीं कि—अरी! आमके कोमल पत्ते, मोरों के पर, फूलोंके गुच्छे और भूमितथा जलमें उत्पन्नहुए कमल, इनकी चित्रविचित्र बनीहुई मालाओं से बीच २ में लगेहुए नीले और पीले पीताम्बरों से जिनका वेष विचित्र दीखरहा है ऐसे वह रामकृष्ण, गोपालोंकी सभा में जबकभी गान करनेलगते हैं तब जैसे रङ्गभूमि (खेल दिखानेके स्थान) में गानेवाले उत्तम नट शोभा पाते हैं तैसे शोभा पाने लगते हैं यह गोपों का कैसा अहोभाग्य है? ॥ ८ ॥ दूसरी कहने लगीं कि—अरी गोपियो! न जाने इस वंशी ने कौन पुण्य करा है? क्योंकि—यह वंशी, गोपियों के ही भोगने योग्य भी श्रीकृष्णजी की अधरसुधा को स्वतन्त्रता के साथ इच्छानुसार भोगती है और दूसरों के बाँटे में केवल अपने जूठेकरे हुए रसका अंश छोड़देती है; यदि कहो कि—यह कैसे जाना तो—उसके जतानेवाले चिन्ह कहते हैं कि—जैसे कुल वृद्ध पुरुष, हमारे वंश में भगवद्भक्त पुरुष उत्पन्न होकर उसको भगवान् का प्रसाद मिला ऐसा सुनकर रोमाञ्चयुक्तहो आनन्द के आँसू बहाते हैं तैसेही यह वंशी जिन के जल से पुष्टहुई है वह माता की समान नदियें, अपने में खिले हुए कमलों के समूहरूप से रोमाञ्चयुक्त हुई दीखती हैं और तैसेही यह वंशी जिनके कुल में उत्पन्न हुई है वह

यथाऽर्थाः ॥ ९ ॥ वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद्देवकीसुतपदां-
बुजलब्धलक्ष्मि ॥ गोविंदवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तस-
त्वम् ॥ १० ॥ धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनंदनमुपात्तवि-
चित्रवेषम् ॥ आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयाव-
लोकैः ॥ ११ ॥ कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपवेषं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुवि-
चित्रगीतम् ॥ देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्वि-
नीव्यः ॥१२॥ गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः॥

वृक्षभी, मदकी धाराओं के रूप से आनन्द के आँसू बहाते हुए से दीखते हैं ॥ ९ ॥ दूसरी गोपी कहनेलगीं कि–हे सखियों ! यह वृन्दावन, भूमि की कीर्त्ति स्वर्ग से भी अधिक फैलारहा है, क्योंकि–इसवृन्दावन ने, जहाँ तहाँ उमडेहुए श्रीकृष्णजी के चरण कमलों से शोभारूप सम्पदा पाई है; इस में गोविन्द की वंशी का शब्द सुनते ही मत्तहुए मोर, उनगोविन्दको, यह मन्द २ गर्जनेवाला श्याममेघ ही है ऐसा मानकर आनन्द से नृत्य करते हैं और उस नृत्य को देखकर, पर्वतों की गुहाओं में फिरनेवाले सकल जङ्गली जीव समूहके समूह इकठे होकर उस नृत्य को देखने के निमित्त और मुरली का शब्द सुनने के निमित्त बुत्त से खडे होजाते हैं; यह चमत्कार और लोकों में नहीं है इसकारण यह वृन्दावन भूमि की कीर्त्ति को फैलारहा है ॥ १० ॥ दूसरी कहनेलगीं–अरी सखियों ! तिर्यक्योनि में उत्पन्न होने के कारण विवेक से हीन भी यह हारिणियें कृतार्थ ही हैं, क्योंकि–जो वंशी के शब्द को सुनकर विचित्र वेष धारण करनेवाले नन्दकुमार की, प्रेमयुक्त कटाक्षों से रचीहुई पूजा (सन्मान) करती हैं और तिसपर भी अपने पतिकृष्णसार हरिणों के साथकरती हैं, देखो–हमारे पति तो हमें कृष्णकी ओर को देखतेहुए भी देखकर क्रुद्ध होते हैं ! ॥ ११ ॥ दूसरी गोपी बोलीं–अरीसखियों ! हम एक आश्चर्य कहतीं है सुनो–जिनका रूप और स्वभाव स्त्रियों के उत्साह को उत्पन्न करनेवाला है तिन श्रीकृष्णजी को देखकर और उनकी बजाईहुई मुरली के विचित्र गान को सुनकर विमान में बैठकर जातीहुई देवाङ्गना, अपने २ पतियों की गोदियों में बैठीहुई भी कामदेव के वेग से धैर्य नष्ट होजाने के कारण मोहित होजाती हैं, तब व्याकुल और अस्तव्यस्त हुई उनकी चोटियों में से पुष्प गिरनेलगते हैं तथा उनकी साडी शिथिल होजाती हैं, अर्थात् जब देवाङ्गना भी देखकर मोहित होजाती हैं तो फिर हमारे मोहित होने में कौन आश्चर्य है ? ॥ १२ ॥ उससमय गौएँ भी, कृष्णके मुख में से निकलाहुआ वेणुगीतरूप अमृत नीचे न गिरपडे इसकारण अपने ऊपरको खडे करेहुए कर्णरूप अञ्जलियों से उसको पीती हैं और श्रीकृष्णजी को नेत्रों के

शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविंदमात्मनि दृशाऽश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥प्रायो बतांब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ॥ आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वंति मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥१४॥ नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुंदगीतमावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ॥ आलिंगनस्थगित मूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णंति पाद युगलं कमलोपहाराः ॥१५॥ दृष्ट्वाऽतपे व्रजपशून्सह रामगोपैः संचारयंतमनु वेणुमुदीरयंतम् ॥ प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्यु र्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्॥१६॥पूर्णाः पुलिंद्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन

द्वारा गन में को लेजाकर दृढ आलिङ्गन करती हैं और नेत्रों में से आनन्द के आँसू बहातीहुई चुत्तसीखड़ी रहती हैं तैसे ही छोटे २ बछडे भी, दूध पीतेहुए, कृष्णकी मुरली का शब्द कानों में पड़ते ही देह के भानको विसारकर स्तनोंमें से खेंचकरलिये हुए दूध के ग्रास (घूँट) को गलफडों में से नीचे को टपकाते हुए निश्चेष्ट खड़े रहते हैं ॥ १३ ॥ एक गोपी कहनेलगी कि—अरी ! इस वन में जो पक्षी हैं वह प्रायः परम मनन करनेवाले ऋषि ही हैं, क्योंकि—जैसे मननशील ऋषि, जैसे श्रीकृष्ण का दर्शन होय तिस रीति से वेदोक्त कर्म फलोंको त्यागकर, वेदरूपवृक्षों की शाखाओं का आश्रय करके और सुन्दर पल्लवरूप कर्मों को ही स्वीकार करके श्रीकृष्ण की कथाओं का गान और श्रवण करते हैं तैसे ही यह पक्षी भी, जैसे श्रीकृष्ण का दर्शन होय तिस रीति से फलपुष्प आदि से रहित और सुन्दर वृक्षों के पत्तों से युक्त गुद्दों पर बैठकर कृष्णके प्रकट करे हुए मुरली के मधुरगीत को, किसी अकथनीय सुख के साथ नेत्रों को न मूँदकर और अपनी २ जाति के कलकलाहट शब्द को न करतेहुए सुनते हैं ॥ १४ ॥ दूसरी गोपी कहनेलगी कि—अरी ! जीवित प्राणियों की बात तो अलगरही परन्तु यह निर्जीव नदियें भी, वह कृष्णकी मुरली का गान सुनकर भँवरों के रूप से सूचित होनेवाले कामदेव ने इस के प्रवाह के वेग को रोक दिया है और वह कृष्णको कमलरूपी भेट अर्पण करती हुई अपनी तरङ्गरूपी भुजाओं से श्रीकृष्ण जी के चरणयुगल को, जैसे दृढता के साथ आलिङ्गन होय तैसे ग्रहण करती हैं ॥ १५ ॥ दूसरी कहनेलगी कि—यह मेघ श्रीकृष्णजीको अपना मित्र मानताहै और धूपमें बलराम तथा गोपों सहित गोकुल में की गौओं को चरानेवाले और गौओं के पीछे जाते में मुरली बजाते हुए उन श्रीकृष्णजी को देखकर पहिले उन के ऊपर आप प्रकट होता है और फिर प्रेम से वृद्धिको प्राप्त होकर पुष्पों की वर्षा सहित अपने शरीरका उस मित्र (श्रीकृष्ण) के ऊपर छत्र लगाता है (छायाडालता है) यहाँ देवताओं की करीहुई पुष्पवर्षा मेघोंने ही करी ऐसावर्णनकरा है ॥ १६ ॥ दूसरी अहङ्कारयुक्त गोपी कहनेलगी

दयितास्तन मंडितेन॥तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिंपंत्य आननकुचेषु जहुस्त-दाधिम् ॥१७॥हंतायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः॥मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्पानीयसूयवसकंदरकंदमूलैः ॥ १८ ॥ गा गोपकै-रनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ॥ अस्पंदनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रं ॥ १९ ॥ एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ॥ वर्णयंत्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥ २० ॥ इतिश्रीभागवतेमहापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

कि अरी सहेलियो ! वनमें रहनेवाली भीलिनियें वास्तव में कृतार्थ (धन्य) हैं जो भीलिनियें, प्रथम श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके स्तनोंमें लपन करेहुए फिर श्रीकृष्णके चरणकमलों को लगने के कारण उनके चरणों की लालीसे विशेष शोभाको प्राप्तहुए और श्रीकृष्णजी के वनमें फिरनेसे तृणों में लगेहुए केशरको देखतेही उसके दर्शनसे कामपीडा को प्राप्त होकर वह (तृणको लगाहुआ) केशरलेकर, कामसे तप्तहुए अपने मुख और स्तनोंके ऊपर लेपकर कामपीडा को दूरकरती हैं इसकारण वही धन्य हैं और जो वन में नहीं जातीहैं तथा उस केशर को पाकर अपनी कामपीडा को शान्त नहीं करती हैं ऐसी हमसमानस्त्रियों को धिक्कार है ॥ १७ ॥ दूसरी कहनेलगीं कि–अरी गोपियो ! क्या कहें ! यह गोव-र्धन पर्वत तो भगवद्भक्तों का शिरोमणि है; क्योंकि–यह बलराम और कृष्ण के चरणों का स्पर्श होने से आनन्दयुक्त तथा उगेहुए तृणों के रूप से रोमाञ्च को धारण करता हुआ, गौगोपालों सहित अपने ऊपर आयेहुए उन बलराम और श्रीकृष्ण का, जल, कोमलतृण, गुहा, कन्द तथा मूल के द्वारा सन्मान करता है ॥ १८ ॥ दूसरी कहने-लगीं कि–अरी सखियो ! गोपालों सहित प्रत्येक वन में गौओं को चरानेवाले और दूध दुहते समय गौओं के पैर बाँधने की डोरी मस्तक को लपेटकर और मरखनी गौओं का दूध दुहने के समय खैंचने के निमित्त वनायी हुई फन्देदार डोरी कन्धेपर रखकर श्रेष्ठ गोपों की शोभा से विराजमान होनेवाले बलराम कृष्णके मधुर शब्दों वाली मुरली की ध्वनियों से, शरीरधारी गौ मोर आदि जंगम प्राणियों में जो चलना वन्द होकर स्थावर धर्म दीखता है और वृक्ष आदि निर्जीव प्राणियों के शरीरोंपर रोमाञ्च खडे होकर उन में जङ्गम प्राणियों का धर्म दीखता है यह वड़ा ही आश्चर्य है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार वृन्दावनमें विचरनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों क्रीडाओं का वर्णन करनेवालीं वह गो-पियें, अन्त में तन्मयता को प्राप्त हुईं ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में एकविंशतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे बाईसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी, वस्त्र-हरण रूपलीलासे गोपकन्याओं को वर देकर यज्ञशाला में गये यह कथा वर्णन करी है *

श्रीशुक उवाच ॥ हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ॥ चेरुर्हविष्यं भुंजानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥ १ ॥ आप्लुत्यांभसि कालिंद्या जलांते चोदिते ऽरुणे ॥ कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥ गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलि-भिर्धूपदीपकैः ॥ उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥ ३ ॥ कात्यायानि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ॥ नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥ इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥ ४ ॥ एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ॥ भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ ५ ॥ उपस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्यावद्धबाहवः ॥ कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिंद्यां स्नातुमन्वहम् ॥ ६ ॥ नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ॥ वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ॥ ७ ॥ भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥ वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तत्कर्मसिद्धये ॥ ८ ॥ तासां वासांस्युपादाय

श्रीशुकदेवजी ने कहाकि–हे राजन् ! हेमन्तऋतु में तिसमें भी पहिले मार्गशीर्ष मास में नन्दकी गोकुल में की कन्याओंने, हविष्यान्न भोजन करने का नियम धारकर, कात्यायनी देवी का पूजनरूप व्रत करा अर्थात् श्रीकृष्णजी की प्राप्ति के निमित्त एकमासपर्यन्त प्रतिदिन कात्यायनीदेवी का पूजन करने का नियम करा ॥ १ ॥ हे राजन् ! उन कन्याओं ने, अरुणोदय के समय यमुनाके जल में स्नान करके, उस जल के तटपर वालूकी कात्यायनी देवी की प्रतिमा बनाकर उस देवी की चन्दन, सुगन्धयुक्त पुष्प, पल्लव, फल, तण्डुल, धूप, दीप, छोटे बड़े भक्ष्य आदि के नैवेद्य और दही भात आदि बलि समर्पण करके पूजा करी ॥ २ ॥ ३ ॥ हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे सर्वेश्वरि ! हे देवि ! नन्दगोप का पुत्र जो श्रीकृष्ण उस को मेरा पतिकर, तुझे नमस्कारहो, इसप्रकार प्रार्थना करके नमस्काररूपी मन्त्र का अपने२ मन में जप करके उन कन्याओं ने देवी की पूजा करी ॥ ४ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी की ओर को चित्त लगानेवालीं उन कन्याओं ने, एक महीनेपर्यन्त, हविष्यान्न व्रत करके, नन्दका पुत्र हमारा पति हो इस इच्छा से भद्रकाली नामक कात्यायनी देवी का पूजन करा ॥ ५ ॥ प्रतिदिन उषःकाल में (पौफटने के समय) वह कन्या उठकर भिन्न२ नाम से दूसरी कन्याओं को जगाकर एक एकका हाथ पकड़ेहुए यमुना में स्नान करने के निमित्त जानेलगीं और ऊँचे स्वर से श्रीकृष्णजी का गीत गानेलगीं ॥ ६ ॥ वह कन्या एकदिन यमुनाजी के तटपर जाकर तहाँ अपने २ वस्त्र पहिले की समान उतारके रखकर बड़े हर्ष के साथ श्रीकृष्णजी का गान करतीहुई जल में 'एक दूसरी के ऊपर को जल उछालकर' क्रीडा कररही थीं ॥ ७ ॥ इतने ही में योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णजी, वह उन का व्रतकरना अपनी प्राप्ति के निमित्त है ऐसा जानकर उन के कर्मों का फल देने के निमित्त मित्रों सहित तहाँ जापहुँचे ॥ ८ ॥

नीपमारुह्य सत्वरः ॥ हसद्भिः प्रहसन्बालैः परिहासमुवाच ह ॥ ९ ॥ अत्रागै-
त्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ॥ सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं
व्रतकर्शिताः ॥ १० ॥ न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः ॥ एकैकशः
प्रतीच्छध्वं सहैवेति सुमध्यमाः ॥ ११ ॥ तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रे-
मपरिप्लुताः ॥ व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥ १२ ॥
एवं ब्रुवति गोविंदे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ॥ आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रु-
वन् ॥ १३ ॥ माऽनयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ॥ जानीमोऽङ्ग
व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥ १४ ॥ श्यामसुन्दर ते दास्यः कर-
वाम तवोदितं ॥ देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे ॥ १५ ॥

और उन के वस्त्र उठाकर बडी शीघ्रता से कदम्ब के वृक्ष के ऊपर चढ़कर हँसनेवाले बालकों के साथ आप भी हँसतेहुए वह कृष्ण हास्यमें उन से कहनेलगे कि—॥ ९ ॥ हे स्त्रियों ! यहाँ (कदम्बके वृक्ष के नीचे) आकर यथेष्ट अपने २ वस्त्र लेजाओ, मैं यह सत्य कहता हूँ, उपहास नहीं है, क्योंकि—तुम व्रत करके श्रम को प्राप्त होरही हो इस कारण तुम्हारा उपहास करना योग्य नहीं है ॥ १० ॥ मैंने आजपर्यंत कभी मिथ्या बोला ही नहीं, सो यह गोप जानते हैं; इससे हे सुन्दर कटिवालियों ! तुम में से एक २ यहाँ आकर वा सब साथही आकर अपने २ वस्त्र पहिन लो, एक२ को ही आना चाहिये यह मेरा आग्रह नहीं है ॥ ११ ॥ तब उस, उन श्रीकृष्ण के वस्त्रहरण आदि रूप हास्य को देखकर प्रेम में भरीहुई और एक दूसरी की ओर को देखकर लज्जा से हँसतीहुई वह गोपियें जल में से बाहर निकलीं ॥ १२ ॥ और श्रीकृष्णजी के ऐसा कहनेपर हास्य से जिन के चित्त कृष्ण की ओर को खिचे हैं ऐसी शीतलजल में कण्ठपर्यंत छुपीहुई और थर २ काँपतीहुई वह गोपियें, वस्त्र हरनेवाले उन श्रीकृष्ण से कहनेलगीं ॥ १३ ॥ कि—हे कृष्ण ! तुम अन्याय न करो, बहुत से गोपों के साथ में कुलीन स्त्रियों को नग्न देखने की इच्छा करना तुम्हारा अन्याय है; तुम नन्दगोप के पुत्र, सब के प्यारे और गोकुल में प्रशंसा के योग्य हो, यह हम जानती हैं; यदि अन्याय करोगे तो देखो गोकुल में तुम्हारी अपकीर्त्ति होगी और हम को अप्रिय प्रतीत होगा इसकारण हमारे वस्त्र देदो, हम शीत के कारण बड़ी काँपरही हैं ॥ १४ ॥ दूसरी कहनेलगीं कि—हे श्यामसुंदर ! हम तुम्हारी दासी हैं इसकारण तुम्हारा सब कहना करती हैं, और दूसरी प्रौढ़ स्त्रियें कहनेलगीं कि—हे धर्मज्ञ ! नग्न स्त्री का देखना धर्मनहीं है यह तुम जानते हो इससे हमारे वस्त्र देदो, यदि नहीं दोगेतो यहतुम्हारी ढिठाई हम नन्द

श्रीभगवानुवाच ॥ भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ॥ अत्रागत्य
स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः १६ ॥ ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः
शीतवेपिताः ॥ पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥ १७ ॥ भ-
गवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ॥ स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रो-
वाच सस्मितम् ॥ १८ ॥ यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहे-
लनम् ॥ बद्ध्वांजलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम्
॥ १९ ॥ इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ॥ त-
त्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः ॥ २० ॥ तास्तथाऽव-
नता दृष्ट्वा भगवान्देवकीसुतः ॥ वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्करुणस्तेन तोषितः
॥ २१ ॥ दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ॥

राजा से कहेंगी ॥ १५ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि - हे मन्दहास्य करनेवाली स्त्रियो ! तुम मेरी दासी हो और मेरा कहना करने को उद्यत होतो और अधिक कुछ न कहकर यहाँ आय अपने २ वस्त्र लेजाओ॥१६॥तदनन्तर,भगवान् की आज्ञाका उल्लंघन करनायोग्य नहीं है ऐसा निश्चय करके शीतके कारण बाहरसे काँपनेवाली और अन्तःकरणमे क्लेशपानेवाली वह सबही कन्या हाथोंसे योनियोंको ढककर यमुनाके जलमेंसे बाहरनिकलीं॥१७॥तदनन्तर उन्होंने प्रेमरूप भक्तिसे जिनको प्रसन्न कराहै ऐसे सन्तुष्ट हुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी,ऋतु सम्पर्क नहोने की अवस्था में आईहुई उन सकल कन्याओं को देखकर कदम्ब के वृक्षके गुद्दोंपर उनके वस्त्र रखकर मन्द २ हँसतेहुए उनसे कहनेलगे ॥ १८ ॥ कि—हेस्त्रियो! तुमने व्रत धारण करनेवाली होकर भी जो नग्नपने से जलमें स्नान करासो 'जलमेंअग्नि और देवता रहते हैं इत्यादि अर्थकी श्रुति होनेके कारण' व्रत भङ्ग करने वाला देवताओं का अपराध ही हुआ है, सो उस पाप को दूर करने के निमित्त अपने मस्तक पर दोनों हाथों को जोड़कर नीचे को झुककर नमस्कार करो और अपने वस्त्र लो॥१९॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी के कहेहुए भाषण को सुनकर 'नग्नहोकर कराहुआ स्नानव्रतभङ्ग करनेवाला होता है ऐसा, मानकर तिस व्रत के पूर्ण होने की इच्छा करनेवाली उनकन्याओं ने, उसव्रतके तथा और भी सकलकर्मों के फलभूत तिन श्रीकृष्णजी को नमस्कारकरा, क्योंकि—वही सकलपापों के दूर करनेवाले हैं ॥ २० ॥ तब अपने कहने के अनुसार नमस्कार करनेवाली उनकन्याओं को देखकर उन के नमस्कार करने से प्रसन्नहुए उन करुणामूर्त्ति देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णजीने उनको वस्त्र दिये ॥ २१ ॥ हेराजन्! इसप्रकार श्रीकृष्णजीने, उनकन्याओं को यद्यपि, 'तुमने नंगी होकर जो स्नान करा इत्यादि कहकर' धोखा दिया, 'यहाँ आकरही अपने २ वस्त्रलो ऐसे आग्रह से'

वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन्प्रियसंगनिर्वृताः ॥ २२ ॥ परि-
धाय स्ववासांसि प्रेष्ठसंगमसज्जिताः ॥ गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन्लज्जा-
यितेक्षणाः ॥ २३ ॥ तासां विज्ञाय भगवान्स्वपादस्पर्शकाम्यया ॥ धृतव्रतानां
संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥ २४ ॥ संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां
मदर्चनम् ॥ मयाऽनुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २५ ॥ न म-
य्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ॥ भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजा
यनेष्यते ॥ २६ ॥ याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ॥
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥ २७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ॥ ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्नि-

उनकी लज्जा छुडाई; 'मैं सत्यही बोलता हूँ, मिथ्या नहीं इत्यादि कहकर' उनका हास्यकरा; 'मस्तकपर हाथरखकर नीचे को नमस्कार करके अपने २ वस्त्र लो ऐसाकहकर' खेलने की पुतलियोंकी समान खिलाई हुई उन के वस्त्र हरणकरे तथापि उनकन्याओं ने इन श्रीकृष्णजीकी निन्दा वा उनकी ओर को दोषदृष्टि से अवलोकनमात्रभी नहीं करा, क्योंकि–वह कन्या, उन प्रिय श्रीकृष्ण के समागम से ही आनन्दयुक्तहुई थीं ॥ २२ ॥ फिर अपने २ वस्त्र पहिनकर उन प्रिय श्रीकृष्ण के समागम से, उन के वश में हुई और उन्हों ने जिनके चित्त को हरालिया है ऐसी वह कन्याएँ,उन श्रीकृष्णकी ओर को लज्जा और विलासयुक्त नेत्रों से देखतीं हुई तहाँ ही चित्रलिखितसी खडी रहीं ॥ २३ ॥ तव, पतिभावसे अपने चरणस्पर्श की इच्छा करके कात्यायनी के पूजनरूप व्रत को करनेवालीं कन्याओं का सङ्कल्प जानकर, वह भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णजी उन स्त्रियों से कहने लगे कि– ॥ २४ ॥ अरी पतिवृता स्त्रियों ! मेरी सेवा करने का तुम्हारा मनोरथ है,यद्यपि वह तुम मुझ से लज्जा के कारण नहीं कहती हो तथापि मैंने जानलिया है और उस को मैंने स्वीकार भी करा है, वह मनोरथ कुछ सत्य होने के योग्य है ॥ २५ ॥ क्योंकि जैसे भुने हुए वा उवाले हुए धान्य प्रायः फिर अंकुर उत्पन्न होने के योग्य नहीं रहते हैं, केवल भक्षण करने केही कार्य में आते हैं तैसेही जिन्हों ने मेरे में अपनी बुद्धि को लगादिया है उनका विषयभोग का सङ्कल्प, वारंवार जन्ममरणरूप संसार में विषयभोग करनेवाला नहीं होता है किन्तु कुछ समय भोग भोगकर अन्त में उन को मुक्ति देनेवाला होता है ॥ २६ ॥ इसकारण हे अबलाओं ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ, अब गोकुल को जाओ, अरी सतियों ! तुम ने जो सङ्कल्प करके यह कात्यायनी का पूजनरूप व्रतकरा है सो तुम आगे को आनेवाली इस शरद्ऋतु में की रात्रियों में मेरे साथ क्रीडा करोगी ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हेराजन् ! इसप्रकार भगवान् की आज्ञा करी हुई और वरदान मिलने के कारण पूर्णमनोरथ हुई वह कुमारिका,

विविशुर्व्रजम् ॥ २८ ॥ अथ गोपैः परिवृतो भगवान्देवकीसुतः ॥ वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥ २९ ॥ निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ॥ आतपत्रायितान्वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥ ३० ॥ हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन ॥ विशालर्षभ तेजस्विन्देवप्रस्थ वरूथप ॥ ३१ ॥ पश्यतैतान्महाभागान्परार्थैकान्तजीविनः ॥ वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥ ३२ ॥ अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ॥ सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥ ३३ ॥ पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ॥ गंधनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान्वितन्वते ॥ ३४ ॥ एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ॥ प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत्सदा ॥ ॥ ३५ ॥ इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ॥ तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥ ३६ ॥ तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः ॥

भगवान् को त्यागना कठिन होने के कारण बड़ी कठिनता से उन के चरण कमलों का ध्यान करती तहाँ से गोकुल में को चलीगई ॥ २८ ॥ इधर गोपों से घिरेहुए वह देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णजी, बलरामजी के साथ गौओं को चराते २ वृन्दावनसे दूर चलेगये ॥२९॥ तदनन्तर कठोर गरमीकी धूपमें अपनी छायाओं से, अपने ऊपर छत्र समानहुए वृक्षों को देखकर वह भगवान् श्रीकृष्णजी, गोकुलवासी गोपोंसे कहने लगेकि—॥ ३० ॥ हे स्तोककृष्ण ! हे अंशो ! हे श्रीदामा ! हे सुबल ! हे अर्जुन ! हे विशाल ! हे ऋषभ ! हे तेजस्विन् ! हे देवप्रस्थ ! हे वरूथप ! केवल दूसरों के निमित्तही जीनेवाले इन भाग्यशाली वृक्षोंको तुम देखो, यह आप वायु, वर्षा, गरमी और शीतको सहकर हमारे, वह वायु, वर्षा आदि सब दूर कररहे हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अहो ! सकल प्राणियोंकी जीविका चलने का साधन इनका जन्म, सत्पुरुषों के जन्म की समान श्रेष्ठ है, देखो—जिन वृक्षों के पाससे याचक (समीप आएहुए प्राणी) कभी विमुख नहीं जातेहैं ॥३३॥ यह वृक्ष अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, काठ, सुगन्ध, गोंद, भस, सार और पल्लव आदि अङ्कुरों से दूसरों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं ॥ ३४ ॥ इससंसार में के प्राणियों के जन्म की इतनी ही सफलता है कि—अपने प्राणों से, धन आदिसे, हित चिन्तन से और हितके उपदेश आदिसे निरन्तर दूसरों का कल्याण करते हैं ॥ ३५ ॥ इसप्रकार वृक्षों की प्रशंसा करतेहुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी, पल्लव फूलों के गुच्छे, फल, फूल और पत्तोंके झुंडोंसे झुकीहुई शाखाओंवाले वृक्षों के मध्य में को होकर यमुना के तटपर को चलेगये ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! तहाँ उन सकल गोपोंने, स्वच्छ और आरो-

ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥ ३७ ॥ तस्या उपवने कामं चारयंतः पशून्नृप ॥ कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥ ३८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ छ ॥ गोपा ऊचुः ॥ राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिवर्हण ॥ एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छांतिं कर्तुमर्हथः ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान्देवकीसुतः ॥ भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥ प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ सत्रमांगिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥ तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ॥ कीर्तयंतो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥४॥ इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचंत ते तथा ॥ कृतांजलिपुटा विप्रान् दण्डवत्पतिता भुवि ॥५ ॥ हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः॥ प्राप्तान् जानीत

ग्यकारी यमुना का शीतल जल गौओं को पिलाकर फिर वह मधुर जल आप भी यथेच्छ पिया ॥ ३७ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! उस यमुना के उपवन में इच्छानुसार गौओं को चरानेवाले परन्तु भूँख से व्याकुल हुए वह गोप बलराम और श्रीकृष्णजी के समीप जाकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में द्वाविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे तेईसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने, गोपों से अन्न की याचना कराने के मिष से यज्ञ करनेवालों की स्त्रियों के ऊपर अनुग्रह करके उन यज्ञ के दीक्षितों को अनुतापयुक्त करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ गोपोंने कहा कि—हे महापराक्रम राम ! हे राम ! हे दुष्टनाशक श्रीकृष्ण ! यह बडीभारी भूँख हमको पीडित कररही है इस से तुम्हें उस को दूर करना योग्य है ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार गोपों ने, क्षुधा को दूर करने के निमित्त जिन की प्रार्थना करी है ऐसे वह देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी, अपनी भक्त ब्राह्मण की स्त्री के ऊपर प्रसन्न होतेहुए कहनेलगे कि—॥ २ ॥ अरे गोपो ! यहाँ से समीपही वेद के अर्थ का उपदेश करनेवाले ब्राह्मण, स्वर्गपाने की इच्छा से आङ्गिरस नामक सत्र कररहे हैं ॥ ३ ॥ सो तहाँ जाकर उन से भगवान् बलरामका और मेरा नामलेकर, हमारे भेजे हुए तुम,हमारे निमित्त उन से अन्न माँगो तब तुम्हारी भूँख दूर होगी ॥४॥ इसप्रकार भगवान् के आज्ञाकरेहुए वह गोप, तहाँ जाकर उन ब्राह्मणों के हाथ जोड़कर पहिले भूमि में दण्डे के समान लेटे और फिर भगवान् के कहने के अनुसार उन से अन्न की याचना करी ॥ ५ ॥ कहनेलगे कि—हे ब्राह्मणो ! तुम्हारा कल्याण हो, हम विनय करते हैं, इधर ध्यान दो, श्रीकृष्णजी की करीहुई आज्ञा को बजानेवाले और बलरामजी

भद्रं वो गोपान्नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥ गाश्चारयंतावविदूर ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ॥ तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥ ७ ॥ दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ॥ अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥ ८ ॥ इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ॥ क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥ ९ ॥ देशः कालः पृथक्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ॥ देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ १० ॥ तं ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवंतमधोक्षजम् ॥ मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥ ११ ॥ न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप ॥ गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥ १२ ॥ तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदी-

ने, तुम्हारे पास भेजेहुए हम गोप हैं ऐसा तुम जानो ॥ ६ ॥ यहाँ से समीप में ही गौओं को चराते२ आयेहुए बलराम और श्रीकृष्ण भूँख से बहुत व्याकुल होरहे हैं सो इस समय तुम से अन्न मिले ऐसी इच्छा कररहे हैं इसकारण हे धर्मजाननेवालों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! यदि तुम्हारे पास अन्न और उस के देनेकी श्रद्धा होय तो अन्न चाहनेवाले उन बलराम-कृष्ण को अन्न देओ ॥ ७ ॥ यदि कहो कि–हमारे दीक्षित होने के कारण हमारे पास के अन्नको भक्षण करनेवाला दोषी होता है तो हे ब्राह्मणों सुनो–पशुयाग दीक्षा में और सोम के उद्देश से पशुका आलम्भन होने से पहिले उन दीक्षितों का अन्न भक्षण करनेवाला ही दोषी होता है और समय दीक्षितोंका अन्न भक्षण करनेवाला पुरुष दोषी नहीं होता है यह शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥ इसप्रकार गोपोंके मुख से भगवान् की करीहुई याचनाको सुनकरभी उन ब्राह्मणों ने, मानों वह सुनीही नहीं इसप्रकार उधर कोचित्त नहीं दिया, क्योंकि–वह ब्राह्मण, स्वर्गादि के विषय में ही आशारखनेवाले, अनेकों क्लेशों से होनेवाले कर्मों में श्रद्धा करनेवाले, अज्ञानी और हमही ज्ञानियों में वृद्ध हैं ऐसा अभिमानकरनेवाले थे ॥ ९ ॥ अब, कर्मों के क्रम का उल्लंघन करके, देवताओं के उद्देश से कराहुआ अन्न दूसरे को कैसे दें, ऐसा कहो तो–हे ब्राह्मणों ! देश,काल चरुपुरोडाश आदि भिन्न पदार्थ, मन्त्र, तन्त्र (प्रयोग), ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और फल उत्पन्न करनेवाला धर्म यह सब जिन के स्वरूप हैं ॥ १० ॥ उन साक्षात् परब्रह्म, अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण का, मनुष्यशरीर पर 'हम ब्राह्मण बडे हैं ऐसा अभिमानरखनेवाले उन दुर्बुद्धि दीक्षितों ने 'यह मनुष्य है ऐसी दृष्टि से' आदर नहीं करा ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जब उनब्राह्मणों ने, अन्नदेते हैं ऐसा अथवा नहीं देते ऐसा भी नहीं कहा तब अन्नमिलने में निराशहुए उन गोपोंने, बलराम और श्रीकृष्णजी के समीप आकर सब वृत्तान्त कहसुनाया ॥ १२ ॥ वह गोपो का कहा हुआ

श्वरः ॥ व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयन् लौकिकीं गतिं ॥ १३ ॥ मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम् ॥ दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥ १४ ॥ गत्वाऽथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलंकृताः ॥ नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥ १५ ॥ नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः ॥ इतो विदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥ १६ ॥ गाश्चारयन्स गोपालैः सरामो दूरमागतः ॥ बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥ ॥ १७ ॥ श्रुत्वाऽच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ॥ तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसंभ्रमाः ॥ १८ ॥ चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ॥ अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥ १९ ॥ निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ॥ भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥ यमुनो-

ब्राह्मणों का वर्त्ताव सुनकर वह जगदीश्वर भगवान्, हँसकर उन गोपों से कहनेलगे कि-कार्यार्थी पुरुषों को खेद नहीं करना चाहिये, कौनसे याचक का अपमान नहीं होता है? भक्तिहीन पण्डित भी मोह में पड़ते हैं ऐसी लोकों की स्थितिहै ॥१३॥ हे गोपो! अब तुम, मैं यहाँ आकर बलरामसहित भूँखा हूँ यह वृत्तान्त उन ब्राह्मणों की स्त्रियों के पासजाकर कहो तब वह तुम्हें, जितना चाहोगे उतना अन्न देंगी; क्योंकि-वह देहमात्र से तहाँ (यज्ञशालामें)रहतीहैं परन्तु बुद्धिसेमेरे समीप रहकर मेरे ऊपरपरमप्रेम करनेवाली हैं ॥१४॥ तदनन्तर उन गोपोंने, फिर यज्ञमण्डप में जाकर तहाँ पत्नीशाला में बैठी हुई और आभूषण पहिने हुई ऋषिपत्नियों को देखकर नमस्कार करके नम्रताके साथ कहा कि- ॥ १५ ॥ हे विप्रपत्नियों! तुम्हें हम (गोप) नमस्कार करते हैं, तुम हमारे कथनको सुन लो; यहाँ से समीपही फिरते २ आये हुए श्रीकृष्णजीने, हमें यहाँ (तुम्हारे पास) भेजा है ॥ १६ ॥ गोप और बलराम सहित वह श्रीकृष्णजी, गौएँ चराते २ घरसे बहुत दूर यहाँ आगये हैं, उन को भूँख लगरही है इस से हम गोपों सहित भूँखेहुए उन को तुम अन्न दो ॥ १७ ॥ तब श्रीकृष्णजी समीपही आये हैं ऐसा सुनकर, उन को शीघ्रही अन्न परोस कर लेजाने के काम में वह अत्यन्तही घबड़ाई हुई सी होगईं; क्योंकि-वह कृष्णकी कथाओं से चित्त खिचने के कारण नित्य उन के दर्शन के निमित्त उत्सुक रहती थीं ॥ १८ ॥ और बहुत काल से यश सुनने के कारण उत्तमकीर्त्ति भगवान् के विषैं चित्त लगाने वालीं वह सब स्त्रियें, रससुगन्ध आदि अनेकों गुणों से युक्त, भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य ऐसा चार प्रकार का अन्न भिन्न २ पात्रों में लेकर पति, भ्राता, बन्धु, और पुत्रों के निषेध करने परभी उनका कहा न मानकर, जैसे समुद्रकी ओर को नदियें जाती हैं तैसे श्रीकृष्णकी ओर को चलदीं ॥ १९ ॥ २० ॥ तिन स्त्रियों ने, अशोक

पवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते ॥ विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥२१॥ श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ॥ विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासं ॥ २२ ॥ प्रायःश्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरंध्रैः अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाऽभिमतयो विजहुर्नरेंद्र ॥ २३ ॥ तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ॥ विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥ स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किं ॥ यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥ २५ ॥ नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः ॥ अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥ प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ॥ यत्संपर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥ २७ ॥ तद्यात

वृक्षों के नवीनपल्लवों से शोभायमान यमुना के उपवन में, गोपों को साथ में लेकर बलराम सहित विचरनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा ॥ २१ ॥ वह श्रीकृष्णजी, मेघकी समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, कण्ठ में पहरीहुई पुष्पों की माला, मस्तकपर धारण करेहुए मोर के पंख, शरीर पर लगाई हुई धातु और कानो में उरसे हुए कोमल पत्तों से नट की समान वेष धारण करनेवाले, मित्र के कन्धे पर हाथ रक्खेहुए, दूसरे हाथसे कमल को नचाने वाले, कपोलों पर घुँघराली अलकें लटकरही थीं और मुखकमल मन्दमुसकरान से युक्त था ॥ २२ ॥ हेराजन् ! जो स्त्रियें, पहिले अनेकों समय सुने हुए प्रियतम कृष्ण के उत्कर्षरूप, कानों को कृतार्थ करनेवाले कर्णभूषणों से श्रीकृष्ण के विषैं निमग्नचित्त होरही थीं, उन्होंने, इससमय उनही श्रीकृष्ण का नेत्रों के द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश कर के और चिरकालपर्यन्त उन से आलिङ्गन करके, जैसे अहङ्कार की वृत्तियें सुषुप्ति के साक्षी प्राज्ञ को आलिङ्गन करके (उस में लय पाकर) ताप को त्यागती हैं तैसे संसार के ताप को त्यागा ॥ २३ ॥ उससमय घरपति आदि सब की आशा छोडकर केवल अपने दर्शन की इच्छा से तिसप्रकार प्राप्तहुई उन स्त्रियों को, सकल बुद्धियों के साक्षी उन भगवान् ने जानकर हास्ययुक्त मुखसे कहा कि— ॥ २४ ॥ हेमहाभाग्यवतियो ! तुम आई यह बडी सुन्दर वार्त्ताहुई, बैठो, हम तुम्हारा कौनसा कार्य करें ? क्योंकि— तुम्हारे आने में विघ्न होने पर भी उसका तिरस्कार करके तुम हमें देखने की इच्छा से आई हो, यह तुम्हें योग्यही है ॥ २५ ॥ वास्तव में ऐसाहै कि--अपना पुरुषार्थ देखनेवाले विवेकी पुरुष, आत्मा और सब से अधिक प्रिय मेरेविषैं स्वयं ही फलकी इच्छा से रहित उत्तमप्रकार से अखण्डभक्ति करते हैं ॥ २६ ॥ जिस मेरे सम्पर्क से ही प्राण, बुद्धि, मन, जाति, देह, स्त्री, पुत्र, धन, आदि प्रिय हुए हैं ऐसे मुझ से दूसरा भला कौन प्रिय

देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ॥ स्वसत्रं पारयिष्यंति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥
॥ २८ ॥ पत्न्य ऊचुः ॥ मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व
निगमं तव पादमूलम् ॥ प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमति-
लंघ्य समस्तबन्धून् ॥ २९ ॥ गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुतौ वा न भ्रातृ-
बन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ॥ तस्माद्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या
भवेद् गतिररिंदम तद्विधेहि ॥ ३० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ पतयो नाभ्यसूये-
रन् पितृभ्रातृसुतादयः ॥ लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥ ३१ ॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यंगसंगो नृणामिह ॥ तन्मनो मयि युंजाना अचिरान्माम-

होगा ? ॥ २७ ॥ इसकारण मेरे दर्शनसे कृतार्थहुई तुम अब लौटकर यज्ञशाला में को ही चलीजाओ; क्योंकि तुम्हारे पति गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण हैं वह तुम तहाँ जाओगी तो तुम्हारे साथमें यज्ञ की समाप्ति करेंगे, इसकारण पतियोंके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त पीछेको ही लौटजाओ ॥ २८ ॥ इसप्रकार कहनेपर वह ब्राह्मणी कहनेलगीं–हे विभो ! आप को ऐसा कठोर भाषण करना उचित नहीं है; किन्तु, तुम अपने प्रतिज्ञारूप ('न मे भक्तः-प्रणश्यति' मेरा भक्त नाशको नहीं प्राप्त है । 'न स पुनरावर्त्तते' उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता है, ऐसे अपने) वाक्य को सत्य करो हम तो पति पुत्रादि सकल बान्धवों का तिरस्कार करके, तुम्हारी चरणसे अवज्ञा के साथ भी दीहुई तुलसी की माला को वड़े सन्मान के साथ मस्तकपर धारण करने के निमित्त (तुम्हारी दासी होने के निमित्त) तुम्हारे चरणों के समीप प्राप्त हुई हैं इसकारण अब हमें लौटकर जाना योग्य नहीं है ॥ २९ ॥ और अब, घर में से उनका कहा न सुनकर चली आईहुई हमें हमारे पति, माता, पिता अथवा पुत्र भी घर में नहीं घुसनेदेंयगे फिर भ्राता, जाति और मित्र आदि अपने घरों में हमें कहाँ से आनेदेंयगे ? अर्थात् कदापि नहीं आनेदेंयगे इसकारण हे कामलोभादि नाशक ! तुम्हारे चरणों के आगे जिनका शरीर पड़ा है ऐसी हमें अब तुमसे भिन्न स्वर्गादि गतिभी प्राप्त न हो इसप्रकार तुम हमें अपने दासभाव का ही उपदेश दो ॥ ३० ॥ इसप्रकार प्रार्थना करनेपर श्रीभगवान् फिर कहनेलगे कि–हे स्त्रियों ! मैंने भक्तरूप से स्वीकार करके घर जाने को आज्ञा करीहुई तुम्हारी तुम्हारे पति, मातापिता, भ्राता, पुत्र, आदि तथा दूसरे जो सकलपुरुष हैं उन में से कोई भी निंदा नहीं करेंगे ऐसा कहकर और उन को प्रत्यक्ष देवताओं को दिखाकर कहनेलगे कि–देखो यह देवता भी तुम्हें घर जाने की सम्मति देरहे हैं ॥ ३१ ॥ हे यज्ञपत्नियों ! इस संसार में जो मेरे अङ्गका सङ्ग होना है सो मनुष्यों के सुख के निमित्त वा अधिक स्नेह की वृद्धि के

चाप्स्यथ ॥ ३२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्ता मुनिपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः॥
ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥ ३३ ॥ तत्रैका विधृता भ-
र्त्रा भगवंतं यथाश्रुतम् ॥ हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥ ३४ ॥
भगवानपि गोविंदस्तेनैवान्नेन गोपकान् ॥ चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभु-
जे प्रभुः ॥ ३५ ॥ एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ॥ रेमे गोगोपगोपीनां
रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥ ३६ ॥ अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन्कृतागसः ॥
यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडंबयोः ॥ ३७ ॥ दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे
भक्तिमलौकिकीम् ॥ आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥ ३८ ॥
धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञतां ॥ धिक्कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं वि-

निमित्तही नहीं है इसकारण तुम शीघ्र मेरेविषैं मन को स्थापन करनेका ही यत्न करो ॥३२॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् की कहीहुई वह यज्ञपत्नियें, फिर यज्ञशाला में को चलीगई और उन ऋषियों ने भी स्त्रियों के ऊपर कोई दोष न लगा-कर अपनी२ स्त्रियों की सहायता से यज्ञकी समाप्ति करी ॥ ३३ ॥ उस यज्ञशाला में, पहिले जब स्त्रियें अन्न लेकर निकलकर गईथीं तब एक स्त्री को उस के पति ने पकड़कर रोकरक्खा था उस ने, पहिले भगवान् का जैसा स्वरूप सुना था उस के अनुसार मन में ध्यान करेहुए उन भगवान् के साथ मन से ही आलिङ्गन करके कर्म के अनुसार प्राप्तहुए शरीर को त्यागदिया अर्थात् वह अपना शरीर पति के समीप ही छोड़कर अपने चैतन्य करके भगवत्स्वरूप में जापहुँची (मुक्त होगई) ॥ ३४ ॥ इधर भगवान् प्रभु श्रीकृष्णजी ने भी, स्त्रियों के लाकर दियेहुए उस चार प्रकार के अन्न का गोपोंको भोजन कराकर आपभी भोजन करा ॥ ३५ ॥ इसप्रकार लीला के निमित्त मनुष्य शरीर धारनेवाले वह श्रीकृष्णजी, मनुष्यलोक का अनुकरण करतेहुए अपने स्व-रूप की सुन्दरता से, वाणी की मधुरता से और नानाप्रकार के चरित्रों से गौ, गोप तथा गोपियों को क्रीड़ाकराने के निमित्त आपभी क्रीड़ा करनेलगे ॥३६॥ इधर यज्ञ मण्डपमें के वह ब्राह्मण, हमने जो मनुष्यों का अनुकरण करनेवाले विश्वेश्वर बलराम कृष्णकी आज्ञा को टालाहै इसकारण हम अपराधी हैं ऐसा मनमें विचारकर पश्चात्ताप करनेलगे॥ ३७ ॥ उन्होंने, स्त्रियोंकी कृष्ण में अति उत्कट भक्ति देखकर और अपने को उस भक्तिसे रहित जानकर पश्चात्ताप करा और अपनीही निन्दा करते हुए कहने लगेकि– ॥ ३८ ॥ जो हम अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णजी से विमुखहैं ऐसे हमारे शौक्र(उत्पत्तिसे हुए) सावित्र (गायत्रीके उपदेशसे हुए)और दैक्ष (यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेसेहुए) ऐसे तीनप्रकार के जन्मको और वेदविद्या को धिक्कार है, तथा ब्रह्मचर्यव्रत को धिक्कारहै, बहुज्ञपने (बहुतकुछ

मूढा ये त्वधोक्षजे ॥ ३९ ॥ नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥ ४० ॥ अहो पश्यत नारीणा-
मपि कृष्णे जगद्गुरौ । दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥४१॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि । न तपो नात्ममीमांसा न
शौचं न क्रियाः शुभाः ॥ ४२ ॥ अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥ ४३ ॥ ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां
गृहेहया । अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥ ४४ ॥ अन्यथा
पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ॥ ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद्विडम्बनम् ॥ ४५ ॥
हित्वाऽन्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयाऽसकृत् । आत्मदोषापवर्गेण यद्या-
ञ्चा जनमोहिनी ॥ ४६ ॥ देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ॥ दे-
वता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ ४७ ॥ स एष भगवान् साक्षाद्वि-

जानने) को धिक्कार है, कुलको धिक्कार है और हमारी यज्ञमें की चातुरी को भी धिक्कार है ॥ ३९ ॥ हम जो लोकोंको उपदेश करनेवाले, गुरु और ब्राह्मण होकर भी स्वार्थ में मोहित होरहे हैं इस से यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि-भगवान् की माया योगियोंको भी मोह में डालनेवाली है ॥ ४० ॥ अहो ! स्त्रियोंको भी जगद्गुरु श्रीकृष्णजी के समीप जानेसे हमने रोका तौभी इनके ऊपर उनकी कैसी भक्तिहै देखो—जिसने गृहनामक मृत्यु पाशको तोड़डाला है ॥ ४१ ॥ इन स्त्रियोंको, ब्राह्मणों का जैसा उपनयन आदि संस्कार नहीं हैं, गुरुकुल में वसकर वेदाध्ययन आदि नहीं है, तप नहीं है, आत्म विचार नहीं है शुचिता नहीं है, तथा शुभकारी स्नान सन्ध्यादि कर्म नहीं है ॥४२॥ तथापि योगेश्वरों के भी ईश्वर उत्तमकीर्त्ति श्रीकृष्ण भगवान् के विषैं दृढ़ भक्ति है और वहभक्ति उपनयन आदि संस्कार युक्त होनेपर भी हममें नहीं है, देखो यह कैसे आश्चर्य की वात है ! ॥ ४३ ॥ इसकारण ही साधुओं की गतिरूप उन भगवान् ने, हम अपने स्वार्थ को न जाननेवाले और घरके कामोंमें निमग्न होनेके कारण विचार करने में असमर्थ हैं ऐसा गोपों के वाक्यों से हमें सूचित करा है यह उनका कितना अनुग्रह है ? ॥ ४४ ॥ नहीं तो चार प्रकार के पुरुषार्थ को देनेवाले और स्वयं पूर्ण मनोरथ तिन श्रीकृष्णजी को आज्ञा करके हमसे उन्हें क्या करना था ? तथापि उन प्रभुका, यह अन्न माँगना आदि केवल हमारे ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त मनुष्य लीला मात्रहै॥४५॥देखो लक्ष्मीभी, दूसरे (सेवा करनेवाले)ब्रह्मादिकों को त्यागकर तथा अपनी चञ्चलता गर्व आदि दोषोंको छोड़कर केवल चरण सेवाके मनोरथ से जिनकी वारम्वार सेवा करती है उनकी जो दूसरों से अन्न माँगना सो केवल लोकोंको मोह करनेवालाही है ॥४६॥ देश, काल, भिन्न २ चरुपुरोडास आदि द्रव्य मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म यह सबही जिनकी मूर्त्तिहैं॥४७॥

ष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ॥ जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥ ४८ ॥ अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ॥ भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥ ४६ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुंठमेधसे ॥ यन्मायागोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥ ५० ॥ स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनां ॥ अविज्ञातानुभावानां क्षंतुमर्हत्यतिक्रमम् ॥ ५१ ॥ इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ॥ दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद्भीता न चाचलन् ॥ ५२ ॥ इतिश्रीभा० म द० पू० यज्ञपत्न्युद्धरणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ॥ अपश्यन्निवसन् गोपानिंद्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥ तदभिज्ञोऽपि

वही यह योगेश्वर साक्षात् भगवान् विष्णु, यादवों में उत्पन्न हुए हैं, ऐसा यद्यपि हम ने बहुत स्थानों पर सुना है तथापि मूर्ख होने के कारण हमें उसका ध्यान नहीं रहता है ॥ ४८ ॥ इसप्रकार अपनी निन्दा करके अब भगवद्भक्त स्त्रियों की सङ्गति से अपनी कृतार्थता कहते हैं कि–अहो ! हम इसलोक में परम धन्य हैं, क्योंकि–हमारी ऐसी स्त्रियें हैं कि–जिनकी भक्ति की शक्ति से हमारी भी श्री हरिमें निश्चल बुद्धि हुई है ॥ ४९ ॥ ऐसा कहकर भगवान् से क्षमा माँगते हैं कि–हेप्रभो ! जिनकी बुद्धि सर्वत्र अकुण्ठित है ऐसे अन्तर्यामी तुम श्रीकृष्णभगवान् को नमस्कार हो, जिनकी माया से बुद्धि मोहित होजाने के कारण हम कर्ममार्ग में भ्रमरहे हैं ॥ ५० ॥ वही सब के कारण, सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णजी, आपकी माया से मोहितचित्त होने के कारण आप के प्रभाव को न जाननेवाले हमारे अपराध को क्षमा करने के योग्य हो ॥५१॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी की अवज्ञा करनेवाले वह दीक्षित ब्राह्मण, अपने अपराध को स्मरण करके उन बलराम और श्रीकृष्णजी के दर्शन की इच्छा करते थे परन्तु कंससे भय मानकर ' अर्थात् हम दर्शन करने को जायँगे तो कंस, मेरा शत्रु विष्णु यही है ऐसा जानकर यदि कदाचित् गोकुल का नाश करदेगा तो हमारा दूसरा अपराध होजायगा ऐसा मनमें विचारकर' उन के दर्शन करनेको नहीं गये किन्तु अपने आश्रममें ही उनकी भक्ति करतेरहे॥५२॥इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में त्रयोविंश अध्याय समाप्त॥*॥अब आगे चौवीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजीने अनेक प्रकारके कारणोंसे इन्द्रका यज्ञ छोडकर गोवर्द्धनके यज्ञ का उत्साह चलाया, और भूमिपर ब्राह्मणों के कर्मोंके गर्वको दूर करके स्वर्गपर देवताओंमें इन्द्रको हुए मदकानाश करनेके निमित्त श्रीकृष्णजीने उसकायज्ञबन्द करादिया यहकथा वर्णन करीहै।*। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! वह दीक्षित ब्राह्मण कंसके भय से श्रीकृष्णजी का दर्शन करने को न जाकर अपने आश्रम में ही भगवान् की भक्ति करते रहे; इधर बलदेवजी सहित भगवान् श्रीकृष्णजीने भी उसगोकुल में वसतेहुए एकसमय इन्द्रका यज्ञ करने के

भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ॥ प्रश्रयावनतोऽपृच्छद्वृद्धान्नंदपुरोगमान् ॥ २ ॥
कथ्यतां मे पितः कोऽयं संभ्रमो वै उपागतः ॥ किं फलं कस्य चोद्देशः के-
न वा साध्यते मखः ॥ ३ ॥ एतद् ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ॥
नहि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥ ४ ॥ अस्तस्वपरदृष्टीना-
ममित्रोदास्तविद्विषाम् ॥ उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥ ज्ञा-
त्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ॥ विदुषः कर्मसिद्धिःस्यात्तथा ना-
विदुषो भवेत् ॥ ६ ॥ तत्र तावत्क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ॥ अथवा
लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥ नंद उवाच ॥ पर्जन्यो भ-
गवानिंद्रो मेघास्तस्यात्ममूर्त्तयः ॥ तेऽभिवर्षंति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः
॥ ८ ॥ तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ॥ द्रव्यैस्तद्रेतसा सि-

निमित्त उद्योग करतेहुए गोपो को देखा ॥ १ ॥ और सर्वसाक्षी सर्वात्मा वह भगवान् श्रीकृष्णजी,इन्द्रके यज्ञके निमित्त यह उद्योग होरहाहै ऐसा जानकर भी नम्रतासे विनय के साथ नन्दआदि वृद्धगोपों से बूझने लगेकि—॥२॥ हे पितः ! तुम्हारायह बडी गडबडी का बडाभारी कौनसा उत्सव आगया है ! सो मुझ से कहो. यदि कहोकि—यह एक प्रकार का यज्ञ है तो इसका फलक्या है ? किस देवता के निमित्त से यह कर्म होरहा है ! और कौन इस यज्ञ को करसक्ता है ! ॥ ३ ॥ हे तात ! मुझे यह सब सुनने की बडी इच्छा होरहीं है इसकारण सुनने की इच्छा करनेवाले मुझ से वह सब कहो ! यदि कहोकि—यह गोपनीय हैं तो, इस व्यवहार में, जो सर्वत्र आत्मदृष्टि रखनेवाले साधु हैं, जिनकी दृष्टि में अपना और पराया नहीं है और जिनके मित्र, उदासीन तथा शत्रु नहीं हैं उन साधुओंका कोई भी कर्म गोपनीय नहीं होता है यदि कहोकि—साधुओं में और हम में थोडा सा भेद है तो—विचार के काम में शत्रु की समान उदासीन को भी त्यागदेय परन्तु जो मित्र होय उस को अपनी समान ही मानना चाहिये ॥ ४ ॥ ५ ॥ कोई भी काम हो मित्रों के साथ विचार करके करे, दूसरों की देखादेखी न करे, क्योंकि—यह मनुष्य, जानकर और न जानकर भी कर्म करता है तिस में जानकर करनेवाले को उस कर्मका जैसा फल मिलता है तैसा विनाजानें करनेवाले को नहीं मिलता है ॥ ६ ॥ सो यह तुम्हारा याग करने का उद्योग मित्रों के साथ शास्त्र के विचार से कराहुआ है अथवा लोक के व्यवहार के अनुसार आगया है यह सब बूझनेवाले मुझ से विचार के साथ कहिये ॥ ७ ॥ यह सुनकर नन्दजी ने कहाकि—हे कृष्ण ! यह भगवान् इन्द्र वर्षा के स्वामी हैं, यह मेघ उन की प्रियमूर्त्ति हैं, वह मेघ सकल प्राणियोंकी तृप्ति करनेवाले और जीवनका साधन जो जल तिसकी वर्षा करने वाले हैं॥८॥इसकारण हे तातकृष्ण ! हम तथा और भी मनुष्य,उन मेघोंके पति इन्द्र की,उन

द्रैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥ तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफल हेतवे ॥
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥ १० ॥ य एवं विसृजेद्धर्मं
पारंपर्यागतं नरः ॥ कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात्स वै नाप्नोति शोभनम् ॥ ११॥
श्रीशुक उवाच ॥ वचो निशम्य नंदस्य तथाऽन्येषां व्रजौकसाम् ॥ इंद्राय मन्युं
जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥ १२ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ कर्मणा
जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ॥ सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥
॥ १३ ॥ अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम् ॥ कर्त्तारं भजते सो-
ऽपि नह्यकर्त्तुः प्रभुर्हि सः ॥ १४ ॥ किमिंद्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुव-
र्तिनाम् ॥ अनीशेनान्यथाकर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥ १५ ॥ स्वभावतन्त्रो
हि जनः स्वभावमनुवर्त्तते ॥ स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ १६॥

की करीहुई वर्षासे उत्पन्न हुए अन्न आदि पदार्थोंके द्वारा यज्ञ करके आराधना करतेहैं॥९॥ और उस यज्ञ के होने पर शेषरहे अन्न आदि से धर्म अर्थ कामकी सिद्धि होनेके निमित्त अपनी जीविका को चलाते हैं;सब ही उद्योग करनेवाले पुरुषोंको इन्द्रही वर्षाके द्वाराफल का सिद्धि करने वाला है, वर्षा के विना कुछभी सिद्ध नहीं होसकता ॥ १० ॥ इसकारण वृद्ध परम्परा से होते चले आये हुए धर्मरूप इसयागका जो पुरुष, काम से लोभ से, भय से वा द्वेष से त्याग करेगा वह कदापि सुख नहीं पावेगा ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहाकि–हेराजन् ! ऐसे नन्दजी के तथा और भी गोकुलवासी गोपों के वचन सुनकर इन्द्रको क्रोधित करने के निमित्त अर्थात् क्रोध उत्पन्न करके इन्द्रको गर्वरूप पर्वत से नीचे उतारने के निमित्त वह श्रीकृष्णजी पितानन्दजी से इसप्रकार कहनेलगे ॥ १२ ॥ श्री भगवान् ने कहा कि हेतात ! सकलप्राणी जन्मान्तर में करे हुए कर्म से उत्पन्नहोतेहैं,कर्मो से ही लीन होते हैं; सुख, दुःख, भय वा कल्याण इनसबको कर्म करकेही पाते हैं ॥ १३ ॥ आपकर्मों से कल्पित और दूसरे का कर्मो का फल देनेवाला यदि कोई ईश्वर है तो वह–जो जिसकर्म को करता है उस कोही उसकर्म का फल देता है, कर्म न करने वाले को नहीं देता है ॥ १४ ॥ इसकारण कर्म सेही फलकी सिद्धि होती है और उस को अपने अधीन माननेवाला वह इन्द्र, बकरी के गले के स्तनकी समानहै और पूर्व जन्म के संस्कार से ही मनुष्यों से होनेवाले कर्म वा उन के सुखदुःख आदि फलोंको उल-टने में समर्थ नहीं है, तिस इन्द्रका यज्ञ करने से अपने २ कर्म के अनुसार फलपानेवाले लोकों को कौन लाभ है? ॥ १५ ॥ यह सकल प्राणी पुरातन संस्कारों केही अधीन है वह अपने तिस स्वभाव केही अनुसार धर्म अधर्मआदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, इसप्रकार देवता, असुर और मनुष्यों सहित यह सकल जगत, स्वभाव में ही रहरहा है ॥१६॥

देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ॥ शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरु-
रीश्वरः ॥ १७ ॥ आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति ॥ न तस्माद्विन्दते
क्षेमं जारं नार्यसती यथा ॥ १९ ॥ वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया
भुवः ॥ वैश्यस्तु वार्त्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २० ॥ कृषिवाणिज्य-
गोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ॥ वार्त्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥२१॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ रजसोत्पद्यते विश्वमन्योऽन्यं
विविधं जगत् ॥ २२ ॥ रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ॥ प्रजास्तै-
रेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥ २३ ॥ न नः पुरो जनपदा न ग्रामा
न गृहा वयम् ॥ नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥ २४ ॥ तस्माद्गवां

तिस से स्वभाव करके उत्पन्न होनेवाले कर्म सेही यह प्राणी बडे छोटे (देवमनुष्य आदि) शरीरों को पाकर कर्मकी समाप्ति होते ही उन को त्याग देता है और शत्रु, मित्र, उदासीन, गुरु तथा ईश्वर यह सब कर्मयोग सेही होते है ॥ १७ ॥ इसकारण अपने २ पुरातन संस्कारों के अनुसार अपने २ वर्णाश्रमआदि कर्म करनेवाला पुरुष कर्म का ही सम्मान करे अथवा यह प्राणी जिस से सुख के साथ जीवित रहे वही इसका देवता है अर्थात् उसके ही उद्देश से कर्म करे ॥ १८ ॥ जो पुरुष, एक देवता का, जीवन का उपाय मानकर सेवा करता है और फिर उस को न मानकर किसी दूसरे देवता की सेवा करता है वह पुरुष उस देवता से ' जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पति को त्यागकर जार पुरुष से कल्याण नहीं पाती है तैसे ' कल्याण नही पाता है ॥ १९ ॥ ब्राह्मण वेदाध्ययन आदि करके अपनी वृत्ति चलावे, राजाभूमि की रक्षाकरके, वैश्य (आगे कही हुई) वार्त्तावृत्ति करके और शूद्र द्विजों की सेवा करके अपनी वृत्ति चलावे ॥ २० ॥ उस में वैश्य की जो वार्त्तावृत्ति सो, खेती, व्यापार, गौओं की रक्षा और चौथा व्याज का देनलेन करना यह चार प्रकार की कहीहै; तिस हम गोपाल निरन्तर गौओंकी सेवा करके वृत्ति को चलानेवाले हैं॥२१॥ सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण क्रमसे जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और लय के कारणहैं उनमें रजोगुण से स्त्री पुरुष का सम्भोगहोकर यह नानाप्रकार का देव मनुष्य आदि जगत् उत्पन्नहुआ है ॥२२॥ रजोगुण केही प्रेरणा करेहुए मेघ, सर्वत्र नदी समुद्र आदिकोंमें भी जलकी वर्षाकरते हैं उन जलों से ही प्रजाओं की अन्नकी उत्पत्ति आदि कार्य सिद्धि होती है, इस में इन्द्र क्या करता है ? कुछ भी नहीं ॥ २३ ॥ तथापि अपना योगक्षेम चलने के निमित्त देवता की अपेक्षा है, यदि ऐसा कहो तो हे तात ! जिन की रक्षाके निमित्त इन्द्र देवता चाहिये वह हमारे नगर नहीं हैं, देश नहीं हैं, गाँव नहीं हैं और घरभी नहीं हैं फिर हम निरन्तर जङ्गलरूप घर वाले होने के कारण वन में पर्वतों पर रहनेवाले हैं ॥२४॥ इस कारण तुम जीवन की

ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ॥ य इन्द्रयागसंभारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥२५॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ॥ संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदो-
हश्च गृह्यतां ॥ २६ ॥ हूयन्तामग्नयः सम्यक् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ॥ अन्नं ब-
हुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥ २७ ॥ अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपति-
तेभ्यो यथाऽर्हतः ॥ यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥ स्वलं-
कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ॥ प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्व-
तान् ॥ २९ । एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ॥ अयं गोब्राह्मणाद्री-
णां मह्यं च दयितो मखः ॥ ३० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कालात्मना भगवता
शक्रदर्प्पं जिघांसता ॥ प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः॥३१॥तथा
च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ॥ वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्वि-
जान् ॥३२॥ उपहृत्य बलीन्सर्वानादृता यवसं गवाम् ॥ गोधनानि पुरस्कृत्य
गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम्॥३३॥ अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलंकृताः ॥

कारणरूप गौओं का और भूमिपर के प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मणों का और कन्द मूल, जल तृण आदि के द्वारा निर्वाह चलानेवाले गोवर्द्धन पर्वत का यज्ञ आज से प्रारम्भ करो, इंद्र के यज्ञकी जो सामग्री हैं उन से ही इस यज्ञ को करो ॥ २५ ॥ खीर से आदि ले मूँगकी दालपर्यंत नानाप्रकार के स्वयम्पाक करो, मोहनभोग, पूए, जलेबी और सकल गोरसोंको लेओ ॥ २६ ॥ वेद के जाननेवाले ब्राह्मणोंसे आहवनीय आदि अग्नियोंमें घृत आदिका हवन कराओ, तुम इन ब्राह्मणों को छहों रसयुक्त अन्न देओ और धेनुसहित दक्षिणा देओ दूसरे भी श्वान, चाण्डाल, पतितपर्यंत सब दीनों को योग्यताके अनुसार अन्न आदि दो, और गौओं को कोमल तृण देकर गोवर्द्धन पर्वत को पकान्न आदि का बहुत सा बलि (नैवेद्य) समर्पण करो ॥ २८ ॥ और तुम आभूषण पहिनकर, भोजन करके, शरीरपर उबटना आदि लगाकर तथा उत्तम वस्त्र पहिनकर गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा गोवर्द्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करो ॥२९॥ हे तात ! मेरी सम्मति में तो ऐसा कर्म करना चाहिये यदि तुम्हें रुचे तो करो, यह मेरा कहा हुआ यज्ञ, गौ, ब्राह्मण, पर्वत और मैं सब को प्रिय होगा ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हेराजन् ! इन्द्र का गर्व हरनेवाले कालरूप भगवान् श्रीकृष्णजीके कहेहुए वचन को सुनकर नन्द आदि गोपोंने उस को आदर के साथ स्वीकार करा ॥ ३१ ॥ और जैसा श्रीकृष्णजी ने कहा था वैसा ही सब करा अर्थात्–ब्राह्मणों से बड़े आदर के साथ पुण्याहवाचन कराकर इन्द्रयाग के निमित्त इकट्ठी करीहुई पकान्न आदि सामग्री से गोवर्द्धन पर्वत को बलि देकर ब्राह्मणोंको भोजन कराया तथा और भी सबों को अन्न देकर गौओं को यथेच्छ कोमल घास दी और ब्राह्मणोंके आशीर्वाद लेकर उन नन्द आदि गोपों ने और अलङ्कार धारण करनेवाली कृष्णके

गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥ ३४ ॥ कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ॥ शैलोऽस्मीति ब्रुवन्भूरि बलिमादद्बृहद्वपुः ॥ ३५ ॥ तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रे आत्मनात्मने ॥ अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥ एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ॥ हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥ ३७ ॥ इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ॥ यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥ ३८ ॥ इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ॥ गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥ १ ॥ गणं सांवर्त्तकं नाम मेघानां चांत-

---

चरित्र गाती हुई गोपियों ने सब गोधन को आगे करके बैल जुते हुए छकड़ों के ऊपर बैठकर गोवर्द्धन पर्वत की प्रदक्षिणा करी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ श्रीकृष्णजी तो, गोपों को, गोवर्द्धन में 'यह देवता है ऐसा' विश्वास उत्पन्न करानेवाला दूसरा ही एक स्वरूप धारण करके, भव्यस्वरूप होते हुए गोवर्धन के शिखरपर रहे और उन्हीं ने, मैं पर्वताभिमानी देवता हूँ ऐसा कहकर गोपों को अर्पण कराहुआ बडाभारी बलि भक्षण करा ॥ ३५ ॥ इधर श्रीकृष्ण ने गोपोंसे कहाकि–अरे ! आश्चर्य देखो–तुमने बहुतवार इन्द्र की पूजा करी परन्तु वह ऐसा मूर्त्तिमान् कभी देखने में नहीं आया; इस गोवर्द्धन पर्वत ने तो अपना प्रत्यक्षरूप दिखाकर हमारे ऊपर अनुग्रह करा और हमारा दिया हुआ बलि भक्षण करा यह पर्वत इच्छानुसार रूप धारण करके अपना तिरस्कार करने वाले वन में के मनुष्यों को सिंह व्याघ्र सर्प आदि के रूप से मारता है इस से अपने और गौओं के कल्याण के निमित्त आओ हम इस को नमस्कार करें; ऐसा कहकर गोकुलवासी सब पुरुषों के साथ उन कृष्ण ने आप ही तिस नवीन स्वरूप धारण करे हुए अपने को नमस्कार करा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इस प्रकार श्रीकृष्णजी के प्रेरणा करे हुए वह नन्द आदि गोप, गोवर्द्धन पर्वत, गौ और ब्राह्मणों का यथाविधि यज्ञ करके श्री कृष्णजी सहित गोकुलमें चलेगये॥ ३८॥इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध पूर्वार्द्धमें चतुर्विंश अध्याय समाप्त॥*॥अब आगे पचीसवें अध्यायमें गोकुल का नाश करने के निमित्त इन्द्र वर्षा करने लगा तब प्रभु श्रीकृष्णजी ने, गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर उस धाराओं की वर्षा से गोकुल की रक्षा करी यह कथा वर्णन करी है ॥*॥श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! उससमय गोपोंने, मेरी पूजा त्यागदी ऐसा जानकर, देवताओं का राजा इन्द्र, श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं उन नन्दादि गोपोंपर क्रुद्धहुआ ॥ १ ॥ और क्रुद्धहुए तथा मैं

कारिणाम् ॥ इंद्रः प्राचोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥ २ ॥ अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ॥ कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनं ॥ ३ ॥ यथा दृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः ॥ विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षति भवार्णवम् ॥ ४ ॥ वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पंडितमानिनम् ॥ कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥ ५ ॥ एषां श्रियाऽवलिप्तानां कृष्णेनाध्मापितात्मनाम् ॥ धुनुत श्रीमदस्तंभं पशून्नयत संक्षयम् ॥ ६ ॥ अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ॥ मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ॥ नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥ ८ ॥ विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनंतः स्तनयित्नुभिः ॥ तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९ ॥ स्थूणास्थूला वर्षधारा मुंचत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ॥ जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ॥ १० ॥

ही ईश्वर हूँ ऐसे अभिमानी तिस इन्द्र ने, प्रलयकारी साम्वर्त्तकनामक मेघोंके गण को गोकुल के नाश की आज्ञा करी और यह वाक्य भी कहा कि–॥ २ ॥ अहो ! जङ्गल में रहनेवाले गोपों की धनसम्पदा के गर्व का वैभव कैसा आश्चर्यकारी है, देखो–इन गोपों ने मर्त्य (मरणधर्मयुक्त) कृष्ण का आश्रय करके मुझ अमर देवता का तिरस्कार करा है ॥ ३ ॥ जैसे कोई अज्ञानी पुरुष, आत्मा का स्मरण करानेवाली विद्याको त्यागकर, तारने में असमर्थ नाममात्र से ही नौका की समान प्रतीत होनेवाले कर्मरूप यज्ञों से संसारसमुद्र को तरजाने की इच्छा करते हैं तैसे ही बहुत बोलनेवाले, बालक, उद्धत और अज्ञानी होकर अपने को ही पण्डित माननेवाले इस मनुष्य कृष्णका आश्रय करके गोपों ने मुझ देवता का अपमान करा है ॥ ४ ॥ ५ ॥ इस सम्पत्ति से मत्तहुए और कृष्ण ने जिनके शरीर फुलाये हैं ऐसे गोपोंके सम्पत्ति के मदयुक्त गर्व को तुम नष्ट करदो, इनके गौ आदि पशुओं का संहार करडालो ॥ ६ ॥ भय माननेवाले उन मेघों से फिर कहा कि–मैं भी ऐरावत हाथीके ऊपर बैठकर परमपराक्रमी देवताओं के साथ नन्दकी गोकुलका नाश करने के निमित्त गोकुल में आता हूँ ॥ ७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार इन्द्र के आज्ञा करेहुए और 'कहीं प्रलय नहीं करडालें इसकारण पहिले जिन्हें बाँध रक्खा था' वह, बन्धन से छूटेहुए मेघ, नन्द की गोकुल को धाराओं की वर्षाओं से बड़ी पीड़ा देनेलगे ॥ ८ ॥ ॥ बिजलियों से प्रकाशित होनेवाले, वज्रपात के साथ गर्जनेवाले, बड़े तीव्र आवह प्रवह आदि प्रलयकारी और पवनों के प्रेरणा करेहुए वह मेघ, जलके ओलों की वर्षा करनेलगे ॥ ९ ॥ वह मेघ, एकसमान खम्भकी समान मोटी वर्षाकी धाराएँ छोड़ने लगे तब पानीके प्रवाहों से डूबीहुई भूमि ऊँचीनीची कुछ नहीं दीखी

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ॥ गोपा गोप्यश्च शीतार्त्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥ शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥ १२ ॥ कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ॥ त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल ॥ १३ ॥ शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ॥ निरीक्ष्य भगवान्मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥ १४ ॥ अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ॥ स्वयागे निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥ १५ ॥ तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये ॥ लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ॥ १६ ॥ नहि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः ॥ मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥ १७ ॥ तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ॥ गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्द्धनाचलम् ॥ दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव

॥ १० ॥ उस समय, गौ आदि पशु गोप और गोपियें, अतिवर्षा से, अतिवायु से, और अतिशीत से थर २ काँपतेहुए गोविन्द की शरण गये ॥ ११ ॥ वर्षा से पीडितहुई और थर २ काँपनेवाली गौएँ तो अपने मस्तक और बछडोंको शरीरसे ढककर भगवान् के चरणके समीप पहुँचीं ॥ १२ ॥ गोप और गोपी कहने लगीं कि-हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग ! हे प्रभो ! हे भक्तवत्सल ! जिनके नाथ तुमही हो ऐसी गौओंके कुलोंकी और हमारी, क्रुद्ध हुए देवसे तुम्हें ही रक्षा करनी उचित है ॥ १३ ॥ तब प्रार्थना करने से पहिले ही ओलोंसहित वर्षाके पडने से ताडित होनेके कारण गोकुल को अचेतनसा (वेहोशसा) हुआ जान कर भगवान् श्रीहरि ने, 'यह क्रुद्धहुए इन्द्रका कार्य है' ऐसा जाना ॥ १४ ॥ यह समझाकि-वर्षाकाल नहोतेहुए अतिभयङ्कर, बडीपवन से युक्तऔर जिसमें पत्थरही अधिकहैं ऐसीवर्षा, 'हमने भागनहीं दिया इसकारण' गोकुल के नाश के निमित्त इन्द्र कररहा है ॥ १५ ॥ अच्छा, अब इसका उपाय मैं अपनी शक्ति से उत्तम प्रकार करता हूँ और मूर्खपने से लोकों का स्वामी मैं ही हूँ ऐसा अभिमान रखनेवाले इन्द्रादिलोकपालों का श्रीमदरूप अभिमान दूर करता हूँ ॥ १६ ॥ सत्त्वगुणी वा भक्तिमान् भी देवताओं को 'हमही ईश्वर हैं ऐसा' अभिमान होना योग्य नहीं है परन्तु इससमय वह दुष्ट होगए हैं इसकारण मुझ से उनका मानभङ्ग होने पर यह उन के ऊपर अनुग्रहही होगा ॥ १७ ॥ इसकारण मैं अपनी शक्ति से, जिसका रक्षक मैं ही हूँ और जिस को मैंने अपना कहा है उस अपनी शरण में आये हुए गोकुल की रक्षा करता हूँ, अब मेरा यह ही सङ्कल्प है ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर उन श्रीकृष्णजीने, स्वाभाविक लीला में एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर जैसे छोटा सा बालक छत्रक को धारण करलेता है तैसे दाहिने हाथ पर

धालकः ॥ १९ ॥ अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः ॥ यथोपजोषं विशत गिरिगर्त्तं सगोधनाः ॥ २० ॥ न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने ॥ वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः ॥ २१ ॥ तथा निर्विविशुर्गर्त्तं कृष्णाश्वासितमानसाः ॥ यथाऽवकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः ॥ २२ ॥ क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ॥ वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत्पदात् ॥ २३ ॥ कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ॥ निस्तम्भो भ्रष्टसंकल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत् ॥ २४ ॥ खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ॥ निशाम्योपरतम् गोपान् गोवर्द्धनधरोऽब्रवीत् ॥ २५ ॥ निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ॥ उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥ २६ ॥ ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ॥ शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥ २७ ॥ भगवानपि

धारण कर लिया ॥ १९ ॥ फिर वह भगवान् गोपों से कहने लगे कि हेमातः ! हेपितः हेगोकुलवासियो ! तुम सब अपने २ गोधन सहित सुख के साथ कुछ न घवडाकर इस पर्वत की खकोडल में घुसजाओ ॥ २० ॥ इस खकोडल में रहनेवाले तुम मेरे हाथ पर से पर्वत के नीचे गिरने की मनमें कुछ भी शङ्का न करो, अब तुम पवन और वर्षा से भी मन में भय मतमानो, क्यों कि उस से तुम्हारी रक्षा मैंने करली है ॥ २१ ॥ ऐसा कहने पर मन में विश्वास को प्राप्तहुए वह गोप,भगवान् के कहने के अनुसार अपना २ सामान गाडियों के ऊपर रखकर गोधनसहित और सेवक पुरोहित आदि सहित जैसे पिचपिच न होय तिस प्रकार पर्वत की उस खकोडल में घुसगये ॥ २२ ॥ तदनन्तर कृष्णदर्शन के आनन्द से, क्षुधा तृषा के दुःख और सुख की इच्छा को त्यागकर उन गोकुलवासी पुरुषों के देखते हुए वह श्रीकृष्णजी, पर्वत को धारण करे रहे और वह सातदिन पर्यन्त उस स्थान से हिले भी नहीं ॥ २३ ॥ कृष्ण की ऐसी सामर्थ्य देख कर अतिविस्मित, गर्वरहित और जिस के मनका विचार भङ्गहुआ है ऐसे इन्द्रने,अपने मेघों को निषेध करा ॥ २४ ॥ तब आकाश मेघरहित सूर्य के उदय से सहित हुआ और भयङ्कर पवन तथा वर्षा शान्त हुई, ऐसा देखकर गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्णजीने सब गोपों से कहा कि ॥ २५ ॥ अरेगोपो ! अब पवन और वर्षा शान्त होगई, नदियों का जल भी बहुत थोडा होगया, इससे अब तुम अपनी २ स्त्रियें, गोधन और बालकों सहित इस खकोडल में से बाहर निकलो, फिर भय प्राप्त होगा ऐसा मन में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न करो ॥ २६ ॥ तदनन्तर वह सब गोप, अपना २ सामान गाडियों पर रखकर अपने २ गोधन को लेकर स्त्री, बालक और वृद्धों सहित धीरे २ बाहर निकले

तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः ॥ पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया
॥ २८ ॥ तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः । गो-
प्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥ २९ ॥ यशोदा रो-
हिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ॥ कृष्णमालिंग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥
॥ ३० ॥ दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ॥ तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः
पुष्पवर्षाणि पार्थिव॥३१॥शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः॥जगुर्गन्धर्वपत-
यस्तुंबुरुप्रमुखा नृप॥३२॥ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजन्स गोष्ठं सबलोऽव्रज
द्धरिः॥तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥३३॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ७ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते ॥ अतद्वी-

---

॥ २७ ॥ तदनन्तर भगवान् प्रभु श्रीकृष्णजी ने भी सकललोकों के देखते हुए सहज में ही उस पर्वत को उसीस्थान में पहिले की समान रखदिया ॥ २८ ॥ फिर उन रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णजीको, प्रेम के वेग में भरेहुए गोकुलवासी सकल लोक, यथोचित आलिङ्गन आदि करके मिले तथा गोपियें भी स्नेहयुक्त आनन्द से दही, अक्षत और जल से पूजन करके उत्तम आशीर्वाद देनेलगीं ॥ २९ ॥ यशोदा, रोहिणी, नन्द और बलवानो में श्रेष्ठ बलरामजी यह सब, स्नेह से व्याकुलचित्त होतेहुए श्रीकृष्णको हृदय से लगाकर आशीर्वाद देनेलगे॥ ३० ॥ उससमय, श्रीकृष्ण जी के, इन्द्र का निग्रह करके गोकुल की रक्षा करनेपर भी स्वर्गलोक में रहनेवाले देवगण साध्य, सिद्ध, गन्धर्व और चारण खिन्न नहीं हुए किन्तु मन में सन्तुष्ट हुए और वाणी से स्तुति करके शरीर से फूलों की वर्षा करने लगे ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! उस समय स्वर्ग में देवताओं के बजाये हुए शंख और दुन्दुभि बजनेलगे, नारद तुम्बुरु आदि गन्धर्वों के अधिपति गाने लगे ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर प्रेमपूर्ण गोपों से घिरे हुए वह श्रीकृष्णजी, बलरामजी के साथ तहां से गोकुल में को चले गये; उस समय प्रेम भाव से श्रीकृष्ण को मन में प्रिय माननेवाली गोपियें भी, उन श्रीकृष्णजी के उस गोवर्द्धन को उठाने की समान और भी चरित्रों को गाती हुई आनन्द के साथ गोकुल में को चली गईं ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में पञ्चविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे छव्वीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण के अद्भुत कर्म देखकर विस्मित हुए गोपों से नन्दजी ने गर्ग ऋषि का कथन कहकर श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य वर्णन करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इस गोवर्द्धन को उठाने की समान और भी, श्रीकृष्णजी के अमानुष कर्म देखकर, उन श्रीकृष्ण का

यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥ १ ॥ बालकस्य यदेतानि कर्माण्य-
त्यद्भुतानि वै ॥ कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥ यः स-
प्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ॥ कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥
तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ॥ पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव
वयस्तनोः ॥ ४ ॥ हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ॥ अनोऽपतं
द्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥ ५ ॥ एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ॥
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन्कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥ क्वचिद्धैयंगवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उ-
लूखले ॥ गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७ ॥ वने संचारयन्व-
त्सान्सरामो बालकैर्वृतः ॥ हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥ ८ ॥
वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ॥ हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च

प्रभाव न जानने के कारण आश्चर्य में हुए गोप, नन्दजी के पास जाकर कहने लगे कि- ॥१॥ हे नन्दजी ! इस कृष्ण बालक के यह सब ही कार्य आश्चर्यकारी हैं तिस से यह हम ग्रामीण गोपों में, अपने को अनुचित जन्म पाने को कैसे योग्य होसक्ते हैं ? ॥२॥ जो सात वर्ष की अवस्था का बालक (कोई भी बड़ा कर्म करने को असमर्थ) होकर जैसे गजराज सूँड से कमल उखाड़कर धारण करके खड़ाहोजाता है तैसे एक हाथ से लीला करके गोवर्द्धन पर्वत को उखाड़कर इसने कैसे धारण करा ? ॥ ३ ॥ नेत्रों को मूँदेहुए (बहुत ही छोटे) इस ने महाबलवाली पूतना का स्तन, प्राणों सहित, जैसे काल शरीर के आयु को खैंचलेता है तिसीप्रकार कैसे पीलिया ? ॥ ४ ॥ गाड़े के नीचे सोकर ऊपर को चरण करनेवाले और तीनमास की अवस्थावाले रोते हुए इस कृष्ण ने चरण के अँगूठे से ढकेला हुआ गाड़ा कैसे उलटपड़ा ? ॥ ५ ॥ एकवर्ष के, आँगन में बैठे हुए (चलने में भी असमर्थ) और तृणावर्त्त दैत्यके द्वारा आकाश में गये हुए इन कृष्णने, गला दबाने से घबड़ाए हुए उस दैत्य को कैसे मारा ? ॥ ६ ॥ एकसमय माखन की चोरी करने पर क्रोध में हुई यशोदा माता ने इसे ऊखल में बाँधदिया था तब हाथ और घुटुओं से रेंगते २ अर्जुन के दो वृक्षों के मध्य में पहुँचे हुए इसने, वह अर्जुन के वृक्ष न जानें कैसे उखाड़डाले ? ॥ ७ ॥ एक समय बलराम सहित और बालकों से घिरेहुए इसने वन में बछड़ों को चराते हुए, अपने को चोंच से मारने के निमित्त, बगुले के वेष से आये हुए शत्रु (दैत्य) को नीचे और ऊपर की दोनों चञ्चुपुटों को हाथों से पकड़कर नजाने कैसे फाड़डाला ॥ ८ ॥ तथा अपने को मारने की इच्छा से, बछड़ों में बछड़े के रूप से घुस आने वाले वत्सासुर को सहज में ही मारकर, उसका शरीर कैथ के वृक्षपर फैंकके उस से कैथों को

द्गोपालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वाऽनुकंप्युत्स्मयन् ॥ उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो
लीलोच्छिलीध्रं यथा बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥ २५ ॥
इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥छ॥
श्रीशुक उवाच ॥ गोवर्द्धने धृते शैले आसाराद्रक्षिते व्रजे ॥ गोलोकादाव्रजत्कृ-
ष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥ विविक्त उपसंगम्य व्रीडितः कृतहेलनः ॥
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २ ॥ दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामि-
ततेजसः ॥ नष्टत्रिलोकेशमद इंद्र आह कृतांजलिः ॥ ३ ॥ इन्द्र उवाच ॥ वि-
शुद्धसत्वं तव धाम शांतं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ॥ मायामयोऽयं गुणसं-
प्रवाहो न विद्यते तेग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥ कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता

लगनेपर, वज्रपात, ओलों की वर्षा और तीव्रवायु से जिस में के गोपाल, पशु और स्त्रियें दुःखित हुए हैं और जिन के रक्षक आप ही हैं ऐसे गोकुल को देखकर दयालु हुए और हँसकर गोवर्द्धन को उठाने की छटा धारण करनेवाले जिन श्रीकृष्णजी ने, एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर, जैसे छोटा सा बालक लीला में छत्रक को उठाकर धारण करता है तैसे धारण करके गोकुल की रक्षा करी वह इन्द्र का गर्व हरनेवाले और गौओं के इन्द्र (स्वामी) श्रीकृष्ण, हम वक्ता श्रोताओं के ऊपर प्रसन्न हों ॥२५॥इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में षड्विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे सत्ताईसवें अध्याय में श्रीकृष्ण का बड़ाभारी प्रभाव देखकर कामधेनु और इन्द्र ने श्रीकृष्ण का गौओं के और गोकुल के आधिपत्य में जो अभिषेक करा तिस के उत्सव का वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि- हे राजन् ! श्रीकृष्णजी के गोवर्द्धन पर्वत को धारण करनेपर और धाराओं की वर्षा से गोकुल की रक्षा करनेपर स्वर्ग से इन्द्र और गोलोक से कामधेनु यह दोनों ही श्रीकृष्णजी के समीप आये ॥ १ ॥ उन में इन्द्र ने, आकर क्या किया सो कहते हैं कि—अपराध करने के कारण लज्जित हुए इन्द्र ने, एकान्त में श्रीकृष्णजी के समीप जाकर सूर्य की समान तेजयुक्त अपने किरीट से उन भगवान् के चरणों को स्पर्श करके नमस्कार करा ॥ २ ॥ असीमतेजयुक्त श्रीकृष्ण का गोवर्द्धन का उठाना आदि और पूतना को मारना आदि प्रभाव जिसने देखा और सुना है इस कारण 'मैं ही त्रिलोकी का राजा हूँ ऐसा' जिस का मद नष्ट होगया है वह इंद्र हाथ जोड़कर बोला ॥ ३ ॥ इन्द्र ने कहा कि—हे देव ! तुम्हारा स्वरूप एक, सर्वज्ञ और जहां रजोगुण और तमोगुण नाम को भी नहीं हैं ऐसा शुद्ध सतोगुणी है; तुम्हें हमारी समान दीखनेवाला यह माया का कार्यरूप अज्ञान से उत्पन्न हुआ संसार नाम मात्र को भी नहीं है ॥४॥ जब तुम्हें अज्ञान और अज्ञान का कार्यरूप देह का सम्बन्ध

लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ॥ तथाऽपि दण्डं भगवान् बिभर्त्ति धर्मस्य गु-
प्त्यै खलनिग्रहाय॥५॥पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदंडः ॥हि-
ताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम्॥६॥ये मद्विधाज्ञा ज-
गदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम्॥हित्वार्यमार्गं प्रभजंत्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥७॥ स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतागस-
स्तेऽविदुषः प्रभावम्॥क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मति-
रीश मेऽसती ॥ ८ ॥ तवावतारोऽयमधोक्षजेह स्वयंभराणामुरुभारजन्म-
नाम् ॥ चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥ नमः

ही नहीं है तो अज्ञान के करेहुए और फिर दूसरा देह उत्पन्न होने के कारण और अज्ञानी पुरुषों का आश्रय करके रहनेवाले लोभ मोह आदि कहां से होंगे ? तथापि हे ईश्वर ! ऐश्वर्य आदि गुणों से पूर्ण तुम, धर्म की रक्षा के निमित्त और दुष्टों को दण्ड देने के निमित्त उन का मान भङ्ग करनारूप दण्ड को धारण करते हो ॥ ५ ॥ यदि कहो कि–मुझ गोप के पुत्र में तुझे दण्ड देने की शक्ति कहां से आई ?, कारण क्या है ; और मैंने दण्ड ही कौन सा धारण करा है ? तो–हे प्रभो ! तुम सर्व जगतों को उत्पन्न करनेवाले उपदेश देनेवाले गुरु और आज्ञा करनेवाले हो इस कारण तुम्हें दण्ड धारण करने का कारण है, तुम दुस्तर कालरूप हो इस कारण तुम दण्ड धारण करने को समर्थ हो; सो तुम दण्ड धारण करके, जगदीश्वरपने का अभिमान करनेवाले जो हम तिनका हित करने के निमित्त अपने लीलावतारों से क्रीडा करते हो; तुम्हारी लीलाही मानभङ्ग करके हमारा हित करती है ॥ ६ ॥ जो मेरी समान अज्ञानी हो कर जगदीश्वरपने का अभिमान रखते हैं वह भयके समय भी निर्भय रहनेवाले तुम्हें देख कर, तत्काल जगदीश्वरपने के अभिमान को त्यागकर गर्वरहित होतेहुए तुम्हारी भक्ति रूप मार्ग से सेवा करते हैं, इससे तुम्हारी लीला दुष्टोंको भी दण्डरूप ही है ॥ ७ ॥ इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का और अभिप्राय का वर्णन करके अब क्षमा करनेकी प्रार्थना करता है कि–हेप्रभो ! ऐसे जगत्प्रसिद्ध तुम, वर्षा करके अपराध करनेवाले, ऐश्वर्य के मद में भरकर तुम्हारे प्रभाव को नजानने वाले और मूढचित्त जो मैं तिसके अपराध की क्षमा करनेको समर्थहो हे ईश्वर ! अब फिर ऐसी दुष्ट बुद्धि मुझे कभीभी प्राप्त नहोय॥८॥ यदि कहोकि ऐसा बडा अपराध कैसे सहाजाय ? तो–हे अधोक्षज देव ! इस भूमिपर हुआ यह तुम्हारा अवतार आप भार होकर बहुत से भारों को उत्पन्न करनेवाली सेनाओं के अधिपति राजाओं का नाश करने के निमित्त और तुम्हारे चरण की सेवा करनेवाले सा-धुओं के कल्याण के निमित्त है इसकारण तुम तुम्हारा सेवक होकरभी अत्यन्त अपराध क-

स्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने॥वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः॥१०॥
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये ॥ सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः
॥ ११ ॥ मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ॥ चेष्टितं विहते यज्ञे
मानिना तीव्रमन्युना ॥ १२ ॥ त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः ॥
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं सं-
कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ॥ मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्
॥ १४ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृह्णता ॥ म-
दनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥ १५ ॥ मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं
न पश्यति ॥ तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥ १६ ॥ ग-
म्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ॥ स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तै-
र्वः स्तम्भवर्जितैः ॥ १७ ॥ अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी ॥ स्व-
सन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥ १८ ॥ सुरभिरुवाच ॥ कृष्ण कृष्ण म-

रनेवाले मेरे अपराध को क्षमाकरो ॥ ९ ॥ सर्वान्तर्यामी, परिमाण रहित, वासुदेव और या-
दवोंके अधिपति तुम भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार हो॥१०॥यदि कहोकि मैं क्या यादव
हूँ? सोनहीं, किन्तु अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार देहको धारण करनेवाले, शुद्ध
ज्ञानही जिनका स्वरूप है ऐसे सर्वरूप सबके कारण, सकल प्राणियों के आत्मा तुम को
नमस्कार हो ॥ ११ ॥ अब इन्द्र अपना अपराध कहता है कि–हे भगवन् ! मेरे यज्ञ
को गोपोंने त्यागदिया तब अति क्रोध में भरेहुए और अभिमानी मैंने, गोकुलका नाश करने
के निमित्त यह वृष्टिरूप न करने योग्य कार्य करा है ॥ १२ ॥ तथापि हे ईश्वर ! तुम
ने मेरे उद्योग को व्यर्थ करके और मेरे गर्वको नष्ट करके मेरे ऊपर अनुग्रह करा है,
इसकारण अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मारूप आपकी शरण में आया हूँ ॥ १३ ॥
ऐसे इन्द्रके स्तुति करने पर भगवान् श्रीकृष्णजी, हँसते हुए मेघकी समान गम्भीरवाणी
करके उससे कहनेलगे॥१४॥श्रीभगवान् ने कहा कि–हे इन्द्र ! तेरे ऊपर अनुग्रह करने की
इच्छा करनेवाले मैंने, देवताओं के राज्य से निरन्तर अत्यन्त मत्तहुए तेरे यज्ञका भङ्ग
करा है ॥ १५ ॥ मैं जिसके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ उसको सम्पत्ति
से भ्रष्ट करदेता हूँ, क्योंकि–स्वामीपने के और सम्पदा के मदसे अन्ध (विवेकहीन)
हुआ पुरुष दण्ड धारण करनेवाले कालयमादिरूप मुझको देखताभी नहीं है ॥ १६ ॥हे इन्द्र !
तुम स्वर्गको जाओ और मेरी आज्ञाका पालन करो, इससेही तुम्हारा कल्याण होगा. गर्वरहित
और सावधान हुए वरुण आदि तुम सब अपने २ अधिकार पर रहो ॥ १७ ॥ तदनन्तर सन्तुष्ट
चित्तहुई कामधेनु, अपनी सन्तानरूप गौओं सहित, गोपरूप उन श्रीकृष्णजी को वन्दना
करके और हे कृष्ण! तुमने हमारी भलीप्रकार रक्षा करीहै ऐसी प्रशंसा करके कहनेलगी॥१८॥

हायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसंभव ॥ भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥ ॥ १९ ॥ त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ॥ भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥ २० ॥ इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ॥ अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ॥ जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥ २२ ॥ इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः ॥ अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥ २३ ॥ तत्रागतास्तुंबुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ॥ जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः ॥ २४ तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ॥ लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥ २५ ॥ नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन्मधुस्रवाः ॥ अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो

कामधेनु ने कहा कि—हे कृष्ण ! कृष्ण हे अचिन्त्यशक्तियुक्त ! हे विश्व को उत्पन्न करनेवाले ! हे जगत् की मूर्त्तिरूप ! हे अच्युत ! हे सकल लोकों के नाथ ! इन्द्रके मारनेपर भी आपने हमारी रक्षाकरी है ॥ १९ ॥ हे जगत्पते ! तुम हमारे सर्वोत्तम देवता हो, तिससे गौ, ब्राह्मण, देवता तथा और जो साधु हैं उन सबका कल्याण होने के निमित्त तुमही हमारे इन्द्र हो ॥ २० ॥ यदि कहो कि—तुम्हारा इन्द्र दूसरा है तो—तिस इन्द्र के इन्द्रपने से अब भरपाया; ब्रह्मा जी के भेजेहुए हम, तुम्हें ही अपने इन्द्रपने के अधिकार में अभिषेक करते हैं. यदि कहो कि देवता इन्द्र होता है मैं मनुष्य कैसे होऊंगा ? तो हे सर्वेश्वर ! तुमने भूमि का भार दूर करने के निमित्त अवतार धारण करा है, तुम मनुष्य नहीं हो ॥ २१ ॥ श्री शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार कामधेनु ने श्री कृष्ण जी की प्रार्थना करके अपने दूध से उनका अभिषेक करा तैसेही अदिति आदि देवमाताओं के भेजेहुए इन्द्रने भी, देवता और ऋषियों के साथ, ऐरावत हाथी की सूंड से निकालेहुए आकाशगङ्गा के जलों से श्री कृष्ण जी का गौओंके अधिपतिपने में अभिषेक करके उनका गोविन्दनाम रक्खा ॥ २२ ॥ २३ ॥ उस समय तहाँ आयेहुए तुम्बुरु, नारद, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण आदि देवता, तिन श्री कृष्ण जी का लोकोंके पापों को नाश करनेवाला यश गानेलगे हर्ष से युक्त हुई रम्भा आदि अप्सरा नृत्य करनेलगीं ॥ २४ ॥ देवताओं में जो मुख्य देवता थे वह श्री कृष्ण जी की स्तुति करनेलगे तथा नन्दनवन के पुष्पोंकी वर्षाओं से उनको छानेलगे, त्रिलोकी में सकल लोक परम आनन्द को प्राप्त हुए उस समय गौओं ने अपने दूध से पृथ्वी को भिगोडाला ॥ २५ ॥ नदियें सकल रसों को बहानेलगीं, वृक्ष मद टपकानेवाले

बिभ्रदुर्न्मणीन ॥ २६ ॥ कृष्णेऽभिषिक्ते एतानि सत्वानि कुरुनन्दन ॥ निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७ ॥ इति गोगोकुलपतिं गोविंदमभिषिच्य सः ॥ अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ ॥ २८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इंद्रस्तुतिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ॥ स्नातुं नंदस्तु कालिंद्यां द्वादश्यां जलमाविशत् ॥ १ ॥ तं गृहीत्वाऽनयद्भृत्यो वरुणस्यासुरोऽतिकेम् ॥ अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥ चुक्रुशुस्तमपश्यंतः कृष्ण रामेति गोपकाः॥ भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ॥ तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥ ३ ॥ प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ॥ महत्या पूजयि-

हुए; धान आदि सकल औषधि, भूमि के जोते विना ही पकनेलगीं, तैसेही पर्वत, अपने २ में गुप्तहुए रत्नों को बाहर प्रकटरूप से धारण करने लगे ॥ २६ ॥ हे तात कुरुनन्दन परीक्षित ! श्री कृष्ण का गौओं के इन्द्रपद में अभिषेक करनेपर स्वभाव से ही क्रूर रहनेवाले सर्प व्याघ्र आदि सकल प्राणी भी वैररहित हुए ॥ २७ ॥ इस प्रकार उस इन्द्र ने, श्री कृष्ण जी को गौओं के और गोकुल के आधिपत्य में अभिषेक करके तदनन्तर श्री कृष्ण जीके जाने के निमित्त आज्ञा करनेपर वह इन्द्र, देवादिकों के साथ स्वर्ग को चलागया ॥ २८ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्ध में सप्तविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अट्ठाईशवें अध्याय में श्री कृष्ण, वरुण के घर में से नन्द जी को छुटाकर लाए और गोपों को वैकुण्ठलोक दिखाया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्री शुकदेव जी ने कहा कि–हे राजन् ! एक समय एकादशी के दिन निराहार व्रत करने वाले नंद जी जनार्दन भगवान् का पूजन करके दूसरे दिन कलामात्र द्वादशी शेष रहने के कारण उतने ही समय में पारणा करने के निमित्त एकादशी की ही रात्रिमें राक्षसी वेला को न जानकर अरुणोदय* से पहिले ही स्नान करने के निमित्त यमुना के जलमें घुसे, तब उनको वरुण का सेवक असुर पकड़कर वरुण के पास लेगया ॥१॥२॥ इधर नन्दजी को न देखतेहुए सकल गोप, बडा हाहाकार करनेलगे कि–हे कृष्ण ! हेराम ! स्नान करने को गयेहुए नन्दजी कहीं भी नहीं दीखते हैं, यह सुनकर सर्वज्ञ और भक्तोंको अभय देनेवाले वह प्रभु श्रीकृष्णजी, नन्दजी को वरुण, दूत के द्वारा लेगया है यह जानकर उस के समीप गये ॥ ३ ॥ तब अपने पास आयेहुए श्रीकृष्णजी को देखकर उनके द-

* प्रतिदिन सूर्योदय से मध्यान्हपर्यन्त करने के सकल कर्म, अर्धकलामात्र द्वादशी होय तो मध्यरात्रि से लेकर सूर्योदय पर्यन्त करे ऐसी शास्त्र की आज्ञा है ।

त्वाद्य तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥ वरुण उवाच ॥ अद्य मे निभृतो देहः अद्यार्थोऽधिगतः प्रभो ॥ त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥ ५ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ॥ न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पनाद ॥ अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ॥ आनीतोऽयं तव पिता तद्भवान् क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥ ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् ॥ गोविंद नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥ ८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः ॥ आदायागात्स्वपितरं बंधूनां चावहन्मुदम् ॥ ९ ॥ नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ॥ कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥ १० ॥ ते त्वौत्सुक्यधियो राजन्मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ॥ अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥ ११ ॥ इति स्वानां स भगवान् वि-

र्शन से आनन्द युक्त हुए तिस वरुण ने, बडी सामग्री से श्रीकृष्णजी का पूजन करके कहा ॥ ४ ॥ वरुण ने कहा कि—हे प्रभो ! आज तुम्हारा दर्शन हुआ इससे आजही मेरे देहको धारण करने की सफलता हुई है और आजही मुझे धन मिला है अर्थात् सकल रत्नोंकी खानियों का स्वामी होकर भी आज से पहिले मुझे ऐसा धन कभी भी नहीं मिलाथा, क्योंकि—तुम्हारे चरण की सेवा करनेवाले भक्तजन, जन्ममरणादिरूप संसारमार्ग के अन्त को पागये हैं ॥ ५ ॥ इसकारण जिस तुम्हारे स्वरूप में, लोक सृष्टि की नानाप्रकार की रचना करनेवाली माया सुनने में भी नहीं आती है अर्थात् मानो हैही नहीं ऐसी रहती है ऐसे परमऐश्वर्यवान्, पूर्ण और सकल जीवों के नियन्ता आपको नमस्कार हो ॥ ६ ॥ हे देव ! करने योग्य कर्म और भगवद्धर्म को भी न जाननेवाला यह मेरा मूर्ख सेवक, इन तुम्हारे पिता को यहाँ लेआया है, तिस सेवक के द्वाराहुए मेरे अपराध की तुम क्षमा करने को समर्थ हो ॥ ७ ॥ और हे कृष्ण ! तुम सर्वसाक्षी होने के कारण मेरे ऊपर भी अनुग्रह करने को योग्य हो. हे पितृवत्सल गोविन्द ! इन अपने पिता (नन्दजी) को लेजाओ ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार वरुण के प्रसन्न करतेहुए और उन वरुण आदि लोकपालों के भी ईश्वर वह भगवान् श्रीकृष्णजी; अपने पिता नन्दजी को लेकर, व्रजवासी बान्धवों को हर्षित करतेहुए गोकुल में पहुँचगये ॥ ९ ॥ नन्दजी तो, कभी भी न देखाहुआ वह लोकपाल वरुण का ऐश्वर्य देखकर और उन वरुण आदिकों की श्रीकृष्ण के विषय में नम्रता देखकर विस्मय में होगये और उन्हों ने अपनी जाति के उपनन्द आदि सब गोपों से वह वरुण का ऐश्वर्य कहा ॥ १० ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उन कृष्ण को ईश्वर मानकर, उन का अचिन्त्य ऐश्वर्य देखने के निमित्त जिन की बुद्धि में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है ऐसे वह गोप, यह सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण, कभी भी न देखेहुए अपने ब्रह्मस्वरूप को और वैकुण्ठलोक को हमें पहुचावेंगेक्या ? अथवा दिखावेंगे क्या ? ऐसा सङ्कल्प करने

ज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ॥ सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥ १२ ॥
जनो वै लोके एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ॥ उच्चावचासु गतिषु न
वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥ १३ ॥ इति सञ्चिन्त्य भगवान्महाकारुणिको
हरिः ॥ दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥ १४ ॥ सत्यं
ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥ यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समा-
हिताः ॥ १५ ॥ ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ॥ ददृशुर्ब्रह्म-
णो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा ॥ १६ ॥ नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृ-
ताः ॥ कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥ १७ ॥ इतिश्री-
भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥ छ ॥

लगे ॥ ११ ऐसा अपने भक्तों का अभिप्राय उन सर्वसाक्षी भगवान् श्रीकृष्णजी ने, आप ही जानकर, उन के सङ्कल्प की सिद्धि होनेके निमित्त कृपाकरके यह विचारा कि–॥ १२॥ इस संसार में यह लोक, देहादिकों में अहङ्कार बुद्धि, शब्दस्पर्श आदि विषयभोगों का अ-भिलाष और नानाप्रकारके कर्म करके देवता पशु पक्षी आदि उत्तम अधम योनियोंमें घूमते-हुए अपनी परमार्थगति (स्वरूप) को निःसन्देह नहीं जानतेहैं ॥ १३॥ ऐसा विचारकर उन महादयालु भगवान् श्रीकृष्णजी ने, अपना प्रकृति से पर ब्रह्मस्वरूप और वैकुण्ठनामक लोक गोपों को दिखाया ॥ १४ ॥ देहादि से आच्छादित हुए गोपों को, उसका दर्शन होना कठिन था इसकारण पहिले देहादिकों से निरालाही ब्रह्मस्वरूप दिखाया, वह ब्रह्मस्वरूप त्रिकालमें रहनेवाला चैतन्यरूप, देशादि परिमाण से रहित, स्वप्रकाश और निरन्तर सिद्धथा और जिसको एकाग्रचित्त तथा मनन करनेवाले ज्ञानी सत्वादि तीनों गुणोंके दूरहोनेपर देखतेहैं वह कृपाकरके दिखाया॥ १५॥ तब वह सबगोप, ब्रह्मरूप सरोवरमें पहुँचने पर तहाँही निमग्न होगये, फिर तहाँ से श्रीकृष्णजीने बाहर निकाला तब समाधिसे उठेहुए से होकर उन्होंने उस ही ब्रह्म का वैकुण्ठनामकलोक देखा, यदि कहो कि–ब्रह्ममें निमग्न हुओं को फिर वैकुण्ठलोक का देखना अघटित है ? तो–जिन श्रीकृष्णजी के निमित्त से पहिले अक्रूरजी ने भी वैकुण्ठलोक देखा ÷ था अर्थात् अचिन्त्य ऐश्वर्यवान् श्रीकृ-ष्ण को कुछ अशक्य नहीं है ॥ १६ ॥ वह नंद आदि गोप तो उस वैकुण्ठलोक को देखकर और तहां मूर्त्तिमान् वेदों से स्तुति करे हुए श्रीकृष्णजी को देखकर परम आनन्द में भरगये और फिर श्रीकृष्णजी ने तहां से बाहर करा तो निद्रा से जगेहुए की समान विस्मय में होगये ॥ १७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध पूर्वार्द्ध में अष्टाविंश अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे उन्तीसवें अध्याय में रासलीला करने के निमित्त

÷ यह वार्त्ता शुकपरीक्षित के सम्वाद से पहिले होनेके कारण यहां भूतकाल कहा है ।

श्रीशुक उवाच ॥ भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ॥ वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥ तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ॥ स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥ दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ॥ वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥ निशम्य गीतं तदनंगवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ॥ आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥ दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिदो-

श्रीकृष्णजी का गोपियों के साथ वार्त्तालाप और गोपियों का श्रीकृष्णजी को उत्तर देना वर्णन करके रासक्रीड़ा में गोपियों को गर्व हुआ तब श्रीकृष्णजीके अन्तर्धान होनें का कौतुक वर्णन करा है और इस अध्याय से लेकर आगे के पांच अध्यायों में रासक्रीडा के महोत्सव का वर्णन करा है तिन में ब्रह्मादिकों को जीतने से गर्व में हुए कामदेव का गर्व नष्ट करने के निमित्त लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णजी गोपियोंके रासमण्डल को शोभायमान करते हुए उत्कर्ष को प्राप्त हुए यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! योगमाया का आश्रय करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी शरदऋतु के कारण जिनमें सुगन्धित पुष्प खिलरहे हैं और गोप कन्याओं से कहीहुई वह शरदऋतु की रात्रियें आगईं ऐसा देखकर क्रीड़ा करने का मन में विचारकरा ॥ १ ॥ उसी समय उन श्रीकृष्णजी की प्रीति के निमित्त, जैसे बहुत दिनों में दर्शन देनेवाला प्रियपति, विनोद के समय अपनी स्त्री का मुख, लालवर्ण के केशर से लिप्त करता है तैसे ही सब प्राणियों के ताप और ग्लानि को दूर करनेवाला वह प्रसिद्ध चन्द्रमा, अपनी अतिसुखकारिणी किरणरूपहाथों से उदय के रङ्ग करके, पूर्वदिशारूप स्त्री का मुखलाल२करताहुआउदय हुआ ॥२ ॥ तब श्रीकृष्णजी ने, लक्ष्मी के मुखकी कान्तिकी समान कान्तिवाले, नवीन केशर की समान लाल २ और कमलिनियों को प्रफुल्लित करनेवाले तिस पूर्ण चन्द्रमा को देखकर और उसकी सुखकारी किरणों से शोभायमान हुए वृन्दावन को देखकर स्त्रियोंके मनको हरनेवाला मधुर गान करा ॥ ३ ॥ उस कामदेव की वृद्धि करनेवाले गान को सुनकर, जिनके मन कृष्ण ने खैंचलिये हैं और सापत्न्यभाव उत्पन्न न हो इस प्रकार जिन्हों ने अपना कृष्ण के समीप जाने का उद्योग परस्पर जताया नहीं है ऐसी वह गोकुल में की स्त्रियें, जहाँ वह श्रीकृष्ण जी थे तहाँ गान की ध्वनि के मार्गसे चलीगईं, उस समय जाने की शीघ्रतासे उनके कानों के कुण्डल हिलते थे ॥ ४ ॥ श्रीकृष्ण जी को जतानेवाले शब्द के सुनने से श्रीकृष्ण जी की ओर को चित्त लगानेवाले पुरुषों के धर्म–अर्थ–काम के प्रतिपादन करनेवाले कर्मों

हं हित्वा समुत्सुकाः ॥ पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥ प-
रिवेषयंत्यस्तद्धित्वा पाययंत्यः शिशून्पयः ॥ शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नंत्यो
ऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥ लिंपन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजंत्यः काश्च लोचने ॥
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णांतिकं ययुः ॥ ७ ॥ ता वार्यमाणाः पतिभिः
पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ॥ गोविंदापहृतात्मानो न न्यवर्त्तंत मोहिताः ॥ ८ ॥ अं-
तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ॥ कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलो-
चनाः ॥९॥ दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ॥ ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या

की तत्काल निवृत्ति होती है, यह दिखाने के निमित्त गोपियें, आधा २ हुआ ही अपना कर्म छोड़कर चलीगईं यह वर्णन करते हैं—कितनी ही गोपियें गौओंका दूध दुहरहीं थीं, उन्हो ने आधा दूध दुहा इतनेही में श्रीकृष्ण की मुरली का शब्द सुनाई दिया सो वह श्रीकृष्ण जी को पाने में उत्कण्ठित होकर वह दूधका पात्र तहाँ ही छोड़कर चलीगईं कितनी ही गोपियें-दूध की हाँडी में के दूध को चूल्हेपर चढ़ाकर वह औटगया या नहीं सो विना देखे ही तैसे ही चलीगईं, दूसरी कितनी ही गोपियें—चूल्हे के ऊपर होतीहुई लपसी को विना उतारे तैसेही चलीगईं ॥ ५ ॥ कितनी ही पति पुत्रों को अन्न परोस रहीं थीं सो अधपरोसा ही छोड़कर चलीगईं, कितनी ही—अपने बालकों को स्तनो का दूध पिलारहीं थीं सो तैसाही छोड़कर चलीगईं,कितनीही—पतियों की सेवा कररही थीं वह अधबीच में ही छोड़कर चलीगईं, कितनी ही भोजन कररहीं थीं वह भोजन को छोड़कर चलीगईं ॥ ६ ॥ कितनी ही—शरीर को चन्दन आदि मलरही थीं कितनी ही—शरीर को उबटना लगारही थीं और दूसरी कोई नेत्रों में काजल आँजरही थीं, वह अपना काम आधा २ ही छोडकर उन श्रीकृष्ण जी के समीप को चलीगईं, कितनी ही वस्त्र आभूषण धारण कररही थीं वह उलटे ही वस्त्र पहिनकर, गले के भूषण चरणोंमें पहिनकर चरणों के भूषण गलेमें पहिनकर,नाक की नथ कानोंमें पहिनकर कानोंकी बाली नाक में पहिनकर श्रीकृष्णजी के समीप को चलीगईं ॥ ७ ॥ अब, जिनके मन श्रीकृष्णजी ने खैंचे हैं उन को विघ्न नहीं होते हैं ऐसा वर्णन करते हैं—गोविन्द के चित्त को खैंचने के कारण मोहित होकर श्रीकृष्णजी के समीपको जानेवालीं वह स्त्रियें,पति,माता, पिता और भाई बान्धवों के निषेध करनेपर भी पीछेको न लौटीं किन्तु श्रीकृष्णजीके समीप को ही चलीगईं ॥ ८ ॥ उससमय कितनी ही गोपियें तो—घरमें ही थीं उन को, उन के पतिपुत्रादिकों ने, द्वारों में जंजीरताले आदि लगाकर कृष्ण के समीप जाने से रोकलिया इस कारण उन को मार्ग नहीं मिला सो वह पहिले ही श्रीकृष्ण का ध्यान करनेवाली थीं परन्तु उससमय उन्होंने नेत्र मूँदकर एकाग्रता से श्रीकृष्णजी का ध्यान करा ॥ ९ ॥ और वह अतिप्रिय श्रीकृष्णजी के दुःसह विरह से होनेवाले तीव्र ताप करके, अनेक जन्मों के इकट्ठे

क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥ तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि संगताः ॥ जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबंधनाः ॥ ११ ॥ राजोवाच ॥ कृष्णं विदुः परं कांतं न तु ब्रह्मतया मुने ॥ गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥ १२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ॥ द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥ १३ ॥ नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ॥ अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४ ॥ कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ॥ नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५ ॥

हुए पापकर्मों का फल (दुःख) एकसाथ भोगकर शुद्धचित्त हुई; तैसेही ध्यान से प्राप्तहुए श्रीकृष्णके आलिङ्गन के परमसुख करके अनेक जन्मों के इकट्ठेहुए पुण्य कर्मोंका फल (सुखभी) भोगकर क्षीणपुण्य हुई इसप्रकार तत्काल जिनके पुण्यपापरूप बन्धन सर्वथा दूर होगये हैं ऐसी वह गोपियें, जारबुद्धि से भी इन परमात्मा श्रीकृष्णजीको प्राप्त होकर अपने गुणमय शरीरको त्याग सायुज्य मुक्ति को प्राप्तहुईं। १०। ११। यह सुनकर राजा ने कहाकि—हे शुकदेवजी ! उन गोपियों ने, श्रीकृष्णजी को जारबुद्धि से यह केवल सुन्दरपुरुष हैं ऐसा ही जाना, ब्रह्मस्वरूप से नाममात्र को भी नहीं जाना; फिर श्रीकृष्णके विषैं सुन्दरता आदि गुणों की बुद्धि रखनेवाली उन गोपियोंको, तिन श्रीकृष्णजी के ध्यान से देह छूटकर सायुज्यमुक्ति कैसे प्राप्तहुई अर्थात् पतिपुत्रादिक भी वास्तव में ब्रह्मरूप हैं और उनकी सेवा से जैसे मोक्ष नहीं होती है तैसेही ब्रह्मबुद्धि न होने के कारण श्रीकृष्णजीके ध्यान से भी उनकी मोक्ष न होनी चाहिये थी, सो कैसेहुई ? ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! इसका उत्तर तुमसे मैंने पहिले ही (सातवें स्कन्ध में) कहा है; उन इन्द्रियों के नियन्ता श्रीकृष्णजी से द्वेष करनेवाला शिशुपाल भी जब उत्तमप्रकार की सिद्धि (सायुज्यमुक्ति) को प्राप्तहुआ फिर श्रीकृष्ण का प्रिय करनेवाली और उन की अत्यन्त प्रिय वह गोपियें, उनके ध्यान से सायुज्यमुक्ति को प्राप्तहुईं इस में क्या आश्चर्य है ? अर्थात् जीवों में ब्रह्मभाव अज्ञान आदि से वेष्टित होता है इसकारण उन में ज्ञानकी आवश्यकता होती है, श्रीकृष्णजीका स्वरूप चैतन्य घन होने के कारण तहाँ ब्रह्मभाव में ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है ॥ १३ ॥ यदि कहोकि वह देहधारी कृष्ण अज्ञान आदि से युक्त न हों यह कैसे होसक्ता है ? तो सुनो—हे राजन् ! गुणों के नियन्ता, विकारशून्य, निर्गुण और बुद्धि के अगोचर भगवान् का यह प्रकट होना, केवल मनुष्यों के मोक्षरूप कल्याणके निमित्त ही है इसकारण उन को देहधारी जीवों की समान नहीं कहाजासक्ता ॥ १४ ॥ इसकारण उन श्रीहरिके विषैं गोपियों की समान काम, शिशुपाल की समान क्रोध, कंस की समान भय, यशोदा की समान स्नेह, ज्ञानियों की समान एकता, पाण्डवों की समान मित्रता और नारदादिकों की समान नित्य भक्ति करनेवाले

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ॥ योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्वि-
मुच्यते ॥ १६ ॥ ता दृष्ट्वांतिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ॥ अवदद्वदतां
श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥ १७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ स्वागतं वो महाभागाः
प्रियं किं करवाणि वः ॥ व्रजस्यानामयं कच्चिद्ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८ ॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्वनिषेविता ॥ प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः
सुमध्यमाः ॥ १९ ॥ मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ॥ विचिन्वन्ति
ह्यपश्यन्तो मा कृध्वं बन्धुसाध्वसम् ॥ २० ॥ दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकरर-
ञ्जितम् ॥ यमुनाऽनिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१ ॥ तद्यात मा चिरं
गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ॥ क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत

जो पुरुष हैं वह सायुज्य मुक्तिको पाते हैं॥ १५॥अब, भगवान् को यह बड़ाभार नहींहै ऐसा वर्णन करते हैं—हे राजन् ! उन योगेश्वरों के ईश्वर और कर्मकी अधीनता में होने वाले जन्म से रहित भगवान् श्रीकृष्णजी के विषैं मन लगानेवाली गोपियें मुक्त हुईं, इसमें तुम आश्चर्य न मानो; क्योंकि—जिन श्रीकृष्णजी से यह स्थावर जङ्गमरूप जगत् भी, उनकी कृपा होतेही मुक्त होजायगा ॥ १६ ॥ मुरली की ध्वनि से मोहित होकर अपने समीप आई हुई उन गोपियों को देखकर, कहने वालो में श्रेष्ठ वह भगवान् श्रीकृष्णजी, अपनी वाणीकी छटाओं से उनको मोहित करतेहुए कहने लगे ॥ १७ ॥ श्रीभगवान्ने कहाकि—हे महाभाग्यवतियों ! तुम मेरे समीप आईं यह बड़ा सुन्दर हुआ, मैं तुम्हारा प्रिय कौनसा कार्य करूँ ? इतने ही में, सब गोपियें घबड़ाई हुईसी आई हैं ऐसा देखकर भयभीत हुए से कहने लगेकि- हे गोपियों ! मेरे प्रिय गोकुल का कल्याण तो है ? तुम्हारे आनेका क्या कारण है सो कहो ? ॥ १८ ॥ लज्जासे मन्द २ हँसती हुई गोपियों को देखकर कहने लगेकि—अरी सुकुमारियो ! इसवन में स्त्रियों को रहना उचित नहीं है, इससे तुम लौटकर गोकुल को चलीजाओ; क्योंकि- यह रात्रि भयङ्कर है और इसमें व्याघ्र आदि भयङ्कर प्राणी फिरते हैं ॥ १९ ॥ और तुम्हें न देखते हुए तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भ्राता और पति तुम्हें ढूँढते होंगे इससे उन बान्धवोंको अपने न मिलने का कष्ट नदो॥२०॥ तब वह थोड़ेसे प्रेमयुक्त कोपसे दूसरी ओर को देखने लगीं तबउनसे कहने लगेकि-तुमने,पूर्ण चन्द्रमा की किरणोंसे प्रकाशित हुए और यमुनाके जलको स्पर्शकरके आनेवाले मन्द२पवनसे कम्पायमान होनेवाले वृक्षोंके पत्तोंसे शोभायमान दीखनेवाले और प्रफुल्लितहुए वृन्दावनको भी देखलिया ॥ २१ ॥ इस से हे सतियों ! तुम अब गोकुल में को जाओ, विलम्ब न करो; पतियों की सेवा करो, तुम्हारे बालक भूँखे होकर रो रहे होंगे उन को दूध पिलाओ

॥ २२ ॥ अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ॥ आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥ २३ ॥ भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ॥ तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४ ॥ दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ॥ पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ २५ ॥ अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ॥ जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥ २६ ॥ श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात् ॥ न तथा संन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ २७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविंदभाषितम् ॥ विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिंतामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥ कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्बिंबाधराणि चरणेन भुवं लिखंत्यः ॥ अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि तस्थुर्मृजंत्य

और गौओं के बछडे रम्भाते होंगे उनको दूध पिलाकर गौओं को दुहो॥२२॥फिर आवेशसे क्षुभित दृष्टि वाली देखकर गोपियों से कहनेलगे—अथवा मेरे स्नेह से तुम, मेरे वश में चित्त होजाने के कारण आई होओ तो यह तुम्हें योग्य ही है; क्योंकि—मुझ में सब ही प्राणी प्रीति करते हैं ॥ २३ ॥ हे कल्याणियों ! निष्कपटभाव से पति की सेवा करना और पति के जो बन्धु आदि होयँ उन से प्रेमभाव के साथ यथायोग्य वर्त्ताव करना और बालकों का पालन करना यह स्त्रियों का उत्तम धर्म है ॥ २४ ॥ जुआ आदि खेलने वाला होने के कारण दुष्ट स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और दरिद्री भी पति को, पुण्यलोक की इच्छा करनेवाली स्त्रियें न त्यागें,ब्रह्महत्यादि महापातकों से दूषित होय तब भी उस की दूर से ही सेवा करें, सम्पर्क न करें ॥ २५ ॥ कुलीन स्त्री को, परपुरुष से मिलने वाला जो सुख वह परलोक में स्वर्ग का और इस लोक में यश का नाश करनेवाला, तुच्छ, दुःखदायक, भयकारी और लोक में तथा स्त्रियों में भी निन्दित है ॥ २६ ॥ हे स्त्रियो ! मेरे विषैं जैसा सुनने से, देखने से,ध्यान से और मेरे गुणों को वर्णन करने से स्नेह अधिक होता है तैसा अङ्ग के संग से नहीं होता है इस कारण तुम अपने २ घर को चली जाओ ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! ऐसा घरजाने के विषय का प्रिय न लगने वाला वह गोविन्द का वचन सुनकर, भगवान् के साथ क्रीडा करने का सङ्कल्प भग्न होने के कारण खिन्न होती हुई वह गोपियें, परम दुस्तर चिन्ता को प्राप्त हुईं ॥ २८ ॥ जिन को बडा दुःख है ऐसी वह गोपियें, शोक से उत्पन्न हुए गरम श्वासों के वायु से, पकीहुई तन्दूरी से जिन के अधर होठ सूख गये हैं ऐसे अपने मुख नीचे को करके पैर के अँगूठे से ' मानो पृथ्वी से अपने को भीतर समालेने की प्रार्थना करती हुई ' भूमि को कुरेदने लगीं और नेत्रों में के काजल को

उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥ प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं
तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ॥ नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किंचित्संरम्भगद्गद-
गिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥ गोप्य ऊचुः ॥ मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं
नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ॥ भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यज-
ास्मान्देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥ यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृ-
त्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तं ॥ अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥ कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुश-
लाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ॥ तन्नः प्रसीद परमे-
श्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥ चित्तं सुखे-
न भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ॥ पादौ पदं न चल-

वहानेवाले दुःख के आँसुओं से स्तनोंपर के केशर को धोती हुई केवल चित्रलिखित सी खड़ी रहीं ॥ २९ ॥ तदनन्तर रोते में जल से भरे हुए नेत्रों को पूछकर, कुछ एक कोप के आवेश से जिन की वाणी गद्गद होरही है और उन कृष्ण को पाने के निमित्त ही जिन्होंने सकल विषयों को छोड दिया है तथा उन में ही प्रेम करनेवाली वह गोपियें अतिप्रिय होकर अप्रिय की समान भाषण करनेवाले उन श्रीकृष्णजी से कहने लगीं ॥ ३० ॥ गोपियों ने कहा कि—हे स्वच्छन्द प्रभो कृष्ण ! ऐसा निषेधरूप मर्मघाती स्पष्ट भाषण करना आप को योग्य नहीं है, किन्तु जैसे आदिपुरुष भगवान्, मोक्ष की इच्छा करनेवालों को अंगीकार करते हैं और उन की इच्छा को पूर्ण करते हैं तैसे ही सकल विषयों को त्यागकर तुम्हारे चरणतलका सेवन करनेवाली हमें तुम अंगीकार करो, त्यागोमत ॥३१॥ हे कृष्ण ! अब पति पुत्र और उन के बन्धुओं की शुश्रूषा आदि करना यह स्त्रियों का स्वधर्म है ऐसा जो धर्म को जाननेवाले तुमने हम से कहा सो सब, तुम सब के भोक्ता ईश्वर हो इस कारण उपदेशों का विषय तुम में ही रहे अर्थात् सकल बन्धुओं में जो कुछ करना है वह सब तुम में ही हो क्योंकि—तुम सब प्राणियों के आत्मा और हितकारी होने के कारण उन को परम प्रिय हो ॥ ३२ ॥ यह ही सदाचार के द्वारा कहकर दृढ़करती हुई प्रार्थना करती हैं कि—हे कमलनयन परमेश्वर ! शास्त्र में चतुर पुरुष, अपने नित्यप्रिय, अन्तर्यामी आत्मरूप तुम्हारे विषैं ही प्रीति करते हैं क्योंकि—इस लोक में संसारदुःख देनेवाले पति पुत्रादिकों से क्या करना है ? इसकारण तुमही हमारे ऊपर प्रसन्न होओ, बहुत काल से तुम्हारे में लगाई हुई तुम से मग्न होने की आशा को न तोडो ॥ ३३ ॥ और यह जो तुम ने कहा कि—अपने घर को लौटकर जाओ, सो हमसे यह होना भी कठिन है, क्योंकि—जो हमारा

तस्तत्र पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥ सिंचांग नं-
स्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निं ॥ नो चेद्वयं विरह
जाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥ यर्ह्यम्बुजाक्ष
तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ॥ अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति
नान्यसमक्षमंग स्थातुं त्वयाभिरमिता वत पारयामः ॥३६॥ श्रीर्यत्पदाम्बुजरज-
श्चकमे तुलस्या लब्ध्वाऽपि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टं ॥ यस्याः स्ववीक्षण-
कृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥ तन्नः प्रसीद
वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ॥ त्वत्सुन्दर-

चित्त, इतने समय पर्यन्त सुख से घर के कार्य में घुसरहाथा उसको अब तुमने हरलिया है ? जो हमारे हाथ घर के कामों में लगेहुए थे उनको तुमने चेष्टारहित करदिया है, अब यह हमारे पाँव भी तुम्हारे चरणतल के समीप से दूसरे स्थान में एक पग भर जाने को समर्थ नहीं है फिर हम गोकुल को कैसे जायँ ? और तहाँ जाकर हम करेंगी भी क्या? ॥ ३४ ॥ इससे हे कृष्ण ! तुम हमें अपने अधरामृत के प्रवाह से और अपने हास्य स-हित कटाक्ष से और अपने मधुर वेणुगीत से उत्पन्न हुए कामाग्नि को सींचो, अब यदि ऐसा नहीं करोगे तो—इस कामाग्नि से और विरह से होनेवाले दूसरे विरहाग्नि से हम अपने शरीरों को भस्म करके तुम्हारे ध्यान से योगियों की समान तुम्हारे चरण की समीपता को पावेंगी अर्थात् प्राण छोड़देंगी तब भी तुम्हें नहीं छोडेंगी ॥ ३५ ॥ यदि कहो कि अपने पतियों के समीप जाओ वही तुम्हारी कामाग्नि को सींचेंगे तो—सुनो हे कमलनयन कृष्ण ! जिस समय गोकुलवासी लोग जिन्हें प्रिय हैं ऐसे तुम्हारे, लक्ष्मी को भी 'सब समय नहीं ? किसी समय आनन्द देनेवाले चरण को, हम ने यमुना के तटपर स्पर्शकरा था और तहाँ तुमने हमें आनन्दित करा था उसदिन से दूसरे पति के सन्मुख खडी होने की भी हम इच्छा नहीं करती हैं अर्थात्—वह तुच्छ पति हमें प्रिय नहीं लगते हैं ॥ ३६ ॥ जो लक्ष्मी, कृपा करके हमारी ओर को देखे इस निमित्त दूसरे ब्रह्मादिक देवताओं का तप आदि साधनों के द्वारा उद्योग चलरहा है वह लक्ष्मी, उन ब्रह्मादिकों का अनादर करके, तुम्हारे वक्षःस्थल में सापत्न्यभावरहित स्थानको पाकरभी, अपनी सपत्नी (सौत) तुलसी के साथ भी, बहुत से सेवकों से सेवन करेहुए तुम्हारे चरणकमल के रज की ही जैसे इच्छा करती है तैसे हम भी, निःसन्देह उस चरणरज की ही शरण आई हैं ॥ ३७ ॥ हे दुःखनाशक सुन्दरता के समुद्र ! तुम्हारी सेवा करने की आशा रखनेवालीं हम, पतिपु-त्रादिकों सहित अपने घरों को त्यागकर योगियों की ही समान तुम्हारे चरण के समीप में प्राप्त हुई हैं तिस से तुम्हारी सुन्दर और मन्दहास्य शोभायमान छटा को देखने से

स्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यं ॥३८॥ वीक्ष्यालका-
वृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ॥ दत्ताभयं च
भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥ का-
स्त्र्यंग ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्यां ॥ त्रैलो-
क्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् । ४० ॥
व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता॥ तन्नो
निधेहि करपङ्कजमार्त्तबंधो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणां ॥४१॥ श्रीशुक
उवाच ॥ इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ॥ प्रहस्य सदयं गोपीरात्मा
रामोऽप्यरीरमत् ॥ ४२॥ ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखी

उत्पन्न हुआ जो तीव्रकाम तिस से जिन के चित्ततप रहे हैं ऐसी हमारे ऊपर तुम प्रसन्न होवो और अपना दासभाव दो ॥ ३८ ॥ यदि कहो कि—घर का स्वामीपना त्यागकर दासभाव को क्यों माँगती हो ? तो सुनो—जिस में कुण्डल की कान्ति से झलकनेवाले कपोल हैं, अधरोष्ठ में अमृत है और हास्यसहित अवलोकन है ऐसे तुम्हारे घुँघराले केशों से लिपटे हुए मुख को देखकर और जिन्होंने भक्तों को संसार से अभय दिया है ऐसे तुम्हारे दोनों भुजदण्डों को देखकर तैसे ही लक्ष्मी के अद्वितीय प्रीतिकारक तुम्हारे वक्षःस्थल को देखकर हम तुम्हारी दासी ही होती हैं ॥३९॥ यदि कहो कि- जार से सम्बन्ध रखना स्त्रियों को परम निन्दित है तो सुनो--हेकृष्ण ! मधुरपदों से युक्त और स्वर आलाप आदि भेदों के साथ जोरसे उच्चारण कराहुआ तुम्हारा वेणुगीत सुनकर तथा त्रिलोकी में परम सुन्दरता से युक्त तुम्हारा स्वरूप देखकर परममोहित हुई त्रिलोकी में की कौनसी स्त्री,अपने धर्म से चलायमान नहीं होगी ? क्योंकि—जिस वेणुगीत को सुनने से और स्वरूप को देखने से गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिणों ने भी अपने शरीर पर रोमाञ्च धारण करे हैं ॥ ४० ॥ हे आर्त्तबन्धो ! तुम केवल आदिपुरुष देवहो और तुम जैसे पहिले देवताओं की रक्षा करने के निमित्त वामन आदिरूप से अवतीर्ण हुए थे तैसे ही अब गोकुल के भय को और दुःखको दूर करने के निमित्त अवतरे हो यह निश्चय है; इसकारण तुम्हारी दासी हुई हमारे कामदेव के ताप से तप्तहुए स्तनोंपर और मस्तकों पर सकल तापों को दूर करने वाला अपना करकमल स्थापन करो ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् इस प्रकार उन गोपियों के परवशपने के करेहुए भाषण को सुनकर, अपने स्वरूप में रमण करनेवाले होकर भी अनेकरूप धारण करके सब को रमण कराने में समर्थ वह श्रीकृष्णजी पहिले उन का दुःख दूर करने के निमित्त दयाभाव के साथ हँसे और फिर उन गोपियों को क्रीडा कराई ॥ ४२ ॥ श्रीकृष्णजी के कृपापूर्वक देखने से जिन के

भिरच्युतः ॥ उदारहासद्विजकुंददीधितिर्व्यरोचतैणांक इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥ उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ॥ मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम् ॥ ४४ ॥ नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ॥ रेमे तत्तरलानंदकुमुदामोदवायुना ॥४५॥ बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरुनीवीस्तनालंभननर्मनखाग्रपातैः ॥ क्ष्वेल्याऽवलोकहसितैर्व्रजसुंदरीणामुत्तंभयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥ ४६ ॥ एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ॥ आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥ ४७ ॥ तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ॥ प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० भगवतो बालचरित्रवर्णनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः

मुख प्रफुल्लित हुएहैं ऐसी एकसाथ इकट्ठी हुई उन गोपियों से घिरे हुए और जिन की लीला गोपियों का मनोरथ पूर्ण करनेवाली है और जिन के उदारहास्य में तथा दाँतों में कुंद के पुष्पों की समान कान्ति झलक रही है ऐसे वह श्रीकृष्णजी, नक्षत्रों से घिरेहुए चन्द्रमा की समान शोभा को प्राप्त हुए ॥ ४३ ॥ स्त्रियों के समूह की रक्षा करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, जब गोपियें ऊँचे स्वर से उन का गान करनेलगीं तब आप भी ऊँचे स्वर से गान करनेलगे और पांच प्रकार के फूलों की गुथी हुई माला को धारण करके उस वृन्दावन को शोभायमान करते हुए उस में विचरनेलगे ॥ ४४ ॥ तदनन्तर उन्होंने यमुना की रेती के स्थान में उन गोपियों के साथ जाकर क्रीड़ा करी. वह स्थान उस यमुना की शीतलता से आनन्ददायक और चन्द्रमा का उदय होनेपर खिलनेवाले कमलों की सुगन्ध को लानेवाले वायु से शीतल रेतीवाला होरहा था ॥ ४५ ॥ दूरवाली को पकड़ने के निमित्त भुजा फैलाना, बलात्कार से खैंचकर आलिङ्गन करना, हाथ, केश, जङ्घा, वस्त्र का बन्धन और स्तनों का स्पर्श करना, हास्य की वार्त्ता करना, नखों के अग्रभागों से नोंचना, क्रीड़ा के साथ देखना और हँसना, इसप्रकार उन व्रजसुन्दरियों के कामदेव को उद्दीपित करतेहुए श्रीकृष्णजी ने उन को क्रीड़ा कराई॥ ४६ ॥ इसप्रकार विमुक्तचित्त भगवान् श्रीकृष्णजी से मनोरथ को प्राप्तहुई उन गोपियों ने, भूतलपरकी सकल स्त्रियों में हम ही परम श्रेष्ठहैं ऐसा मानकर गर्व करा॥ ४७ ॥ उनका वह सुन्दरता का मद (होश में न रहना) और गर्व देखकर ब्रह्माजी और महादेवजी को भी वश में करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, उन के गर्व का नाश करने के निमित्त और फिर उन के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त उस रेती के स्थानमें ही अन्तर्धान होगए ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में एकोनत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ अब आगे तीसवें अध्याय में कृष्णके विरह से दुःखित हुई गोपियों ने, उन्मत्त की स-

॥ २९ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजांगनाः ॥ अत-
प्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥ गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनो-
रमालापविहारविभ्रमैः ॥ आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृ-
हुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥ गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ-
मूर्तयः ॥ असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥
॥ ३ ॥ गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ॥ पप्रच्छुरा-
काशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥ दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ
प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ॥ नंदसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥ क-
च्चित्कुरबकाशोकनागपुन्नागचंपकाः ॥ रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मि-

मान अव्यवस्थितपने से वनमें के प्रत्येक स्थानमें फिरकर श्रीकृष्णजी को ढूँढा यह कथा वर्णन करी है ॥*॥ श्रीशुकदेवजी कहतेहैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्ण भगवान् अचानक अन्तर्धान होगए तब उन को न देखतीहुई तिन गोकुल की स्त्रियों ने 'जैसे कामातुरहुई हथिनी गजराज को न देखतीहुई पश्चात्ताप पातीहै तैसे' पश्चात्तापकरा ॥ १ ॥ और लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी की गतियोंसे प्रेमहास्यसहित विलासयुक्त कटाक्षों से, मनोहर वचनों से, क्रीड़ाओं से तथा और भी नानाप्रकार के विलासों से चित्तके आकर्षित होनेसे तन्मय हुई वह गोपियें उससमय श्रीकृष्णजी के तिन २ पूतना का स्तनपीना आदि लीलाओं का अनुकरण (नकल) करके (तैसी २ लीलाएँ करके) क्रीड़ा करने लगीं ॥ २ ॥ उन प्रिय श्रीकृष्णकी गति, हास्य, देखना और भाषण आदिकी ओरही उनका मन लगाहुआ था सो नहीं किन्तु देहभी एकता को प्राप्त होरहाथा, और कृष्णकी समान ही जिनके क्रीड़ा विलासों का प्रारम्भ होरहाथा ऐसी उन कृष्ण से एकता को प्राप्त हुई तिनकी ही प्रिय गोपियें, यह कृष्ण मैंहीहूँ, ऐसा परस्पर कहनेलगीं ॥ ३ ॥ वह एकसाथ मिलकर ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्ण का गान करती थीं और उन्मत्त की समान एकवन से दूसरे बनमें फिर तीसरे में इसप्रकार फिरती हुई श्रीकृष्णजी को ढूँढनेलगीं और उससमय आकाश की समान स्थावर जङ्गम प्राणीमात्र के भीतर और बाहर व्याप्त होकर रहनेवाले तिन पुराणपुरुष श्रीकृष्णजी का पता वृक्षों से बूझनेलगीं ॥ ४ ॥ तहाँ बड़े होनेके कारण इन्हों ने श्रीकृष्ण को देखा होयगा ऐसी आशा से वह गोपियें, पीपल आदिकों से कहने लगीं कि–हे पीपल ! हे पिलखन ! हेवड़ ! तुमने कहीं कृष्ण को देखा है क्या ? वह प्रेम युक्त हास्यविलास सहित नेत्रकटाक्षों से हमारा मन हरकर चोर की समान नजाने कहाँ चलागया है ? ॥ ५ ॥ अबबड़े होकर अपने पुष्पोंसे अनेकों के ऊपर उपकार करनेवाले वृक्षों से बूझती हैं कि–हे कुरवक ! हे अशोक ! हेनाग ! हे पुन्नाग ! हेचम्पक ! इसमार्गसे

तः ॥ ६ ॥ कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविंदचरणप्रिये ॥ सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥ मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ॥ प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥ चूतप्रियालपनसासनकोविदारजंब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदंबनीपाः ॥ येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसंतु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥ किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकितांगरुहैर्विभासि ॥ अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरंभणेन ॥ १० ॥ अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ॥ कांतांगसंगकुचकुंकुमरंजितायाः

जातेहुए कृष्ण तुमने देखेहैं क्या?वह मानिनीस्त्रियोंके गर्वको हरनेवाले हास्यको करनेवाले हैं अर्थात् उन्होंने अपने हास्यसे हमारे गर्वको चूर्ण२करडालाहै ॥६॥ हे गोविन्दचरणप्रिये कल्याणी तुलसि ! भौंरोंके झुण्डके साथ तुझे धारण करनेवाले श्रीकृष्ण, तूनेदेखे हैं क्या? क्योंकि तुझे वह परम प्रियहैं इसकारण तूने देखा होगा ? ॥ ७ ॥ उनसे उत्तरनहीं मिला तब परमगुणी और नम्र होनेके कारण इन लताओं ने देखाहोगा ऐसा मन में विचारकर बूझती हैं कि–हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाई ! हेजुही ! तुमने श्रीकृष्ण देखे हैं क्या ? वह फूल लेनेकी इच्छा करके हाथके स्पर्श से तुम्हें प्रसन्न करते हुए कदाचित् गयेहोंगे ॥ ८ ॥ उनसे भी उत्तर न मिलने पर फल आदिसे प्राणियों को तृप्त करनेवाले यहवृक्ष बतादेंगे इसकारण उनसे बूझतीहैं—हे चूत !हे प्रियाल ! हेपनस ! हेअसन ! हेकोविदार ! हे जामुन!हे आक ! हे बिल्व!हेबकुल ! हे आम्र ! हे कदम्ब ! हे नीप!और दूसरोंके निमित्त उत्पन्न होकर यमुना के तटपर रहनेवाले और भी हे सबवृक्षों ! तुम, कृष्णने चित्त को खैंचलिया है इससे चित्तशून्य हुई हमें कृष्णकी प्राप्ति का मार्ग बताओ ॥ ९ ॥ उनसे भी उत्तर न मिलने पर, कृष्ण कहीं नहींहों परन्तु उनका पृथ्वी से कभी वियोग नहीं होता है इसकारण इससे बूझें ऐसे आशय से बूझती हैं कि–हे पृथिवी ! तैंने कौनसा तप कराहै ? जो तू श्रीकृष्णजी के चरण के स्पर्श से उत्साहयुक्त होकर और कोमल तृण आदिके रूपसे शरीरपर रोमाञ्चित होकर शोभा पारही है; यह तेरा उत्साह क्या इस समयहुए श्रीकृष्णके चरणके स्पर्शसे उत्पन्नहुआहै?अथवापहिले वामनरूप भगवान्ने अपने चरणोंसे तुझे नापाथा इससे हुआहै ? अथवा उनसे भी पहिलेहोनेवालेवराहरूपभगवान् के आलिङ्गन से हुआहै?तात्पर्ययहहैकि–तूनेउनको अवश्यदेखाहोगा इससेहमेंदिखा॥ १०॥ फिर हरिणियों के डिवडिवातेहुए नेत्र देखकर उनको कृष्णका दर्शन हुआ है ऐसे अनुमान से बूझतीहैं—हे सखि हरिण की स्त्रियों ! तुम्हारी दृष्टियों को,अपने मनोहर मुख भुजा आदि अङ्गों से सुखी करनेवाले श्रीकृष्णजी, प्रिया स्त्री के साथ इस मार्गसे गये हैं क्या? क्योंकि

कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥ बाहुं प्रियांस उपधाय गृही-
तपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ॥ अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाऽभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥ पृच्छतेमा लता बाहून-
प्याश्लिष्टा वनस्पतेः ॥ नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥
इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ॥ लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रु-
स्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥ कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ॥ तो-
कायित्वा रुदत्यन्या पदाऽहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥ दैत्यायित्वा जहारान्या-
मेको कृष्णार्भभावनाम् ॥ रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥
कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ॥ वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्र-

---

यहाँ स्त्री के आलिङ्गन से उस के स्तनों के केशर से लिपीहुई उन श्रीकृष्णजी की कुन्द की कलियों की माला का सुगन्ध आरहा है ॥ ११ ॥ फिर फलों के भार से नमेहुए वृक्षों से, यह कृष्ण को देखकर नम्रहुए हैं ऐसा मानकर स्त्रीसहित उनके गतिविलासों को मनमें ला-तीहुई कहती हैं कि–हे वृक्षो ! दाहिने हाथ में लीला के निमित्त कमल धारण करनेवाले और जिनके पीछे तुलसी के सुगन्ध से मदान्धहुए भौंरों के झुण्ड जारहे हैं ऐसे वह श्रीकृष्ण जी, स्त्री के कन्धेपर वाम बाहु रखकर यहाँ फिरतेहुए, अपने प्रेमयुक्त कटाक्षों से तुम्हारे नमस्कार का धन्यवाद करते हैं क्या ? ॥ १२ ॥ दूसरी गोपी कहनेलगीं कि–अरी सखियो ! इन लताओं से बूझो, इन लताओं ने अपने वृक्षरूप पतियों का आलिङ्गन करा है तथापि यह निःसन्देह फूल तोड़ने को समीप आनेवाले श्रीकृष्ण के नखों की स्पर्श करीहुई हैं क्यों कि–यह शरीरों पर काँटे आदि के रूप से रोमाञ्च धारण कररहीहैं देखो इनका कैसा अहो-भाग्य है ! ॥ १३ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्ण के खोजने में अतिविव्हल और तन्मय होकर उ-न्मत्तों की समान भाषण करनेवालीं वह गोपियें, भगवान् की, पूतना का स्तन पीना आदि लीलाओं का अनुकरण करनेलगीं ॥ १४ ॥ पूतना की समान रूप धरनेवाली एक गोपी का कृष्ण की समान आचरण करनेवाली एक गोपी स्तन पीनेलगी; छोटे से बालक की स-मान आचरण करके रोनेवाली दूसरी एक गोपी ने शकट की समान बनीहुई दूसरी एक गोपी का चरण से प्रहार करा ॥ १५ ॥ एकगोपी तृणावर्त्त दैत्य की समान अपना रूप बनाकर कृष्ण की समान बालक बननेवाली दूसरी को हरकर लेगई, दूसरी एक गोपी पा-वटों के शब्दयुक्त अपने चरणों को खचेडतीहुई रींगनेलगी ॥ १६ ॥ दो गोपियें कृष्ण और बलराम की समानहुईं और कितनी ही गोपियें गोपों के बालकों के समान हुईं और ब-छड़े की समान बननेवाली एक गोपी को कृष्ण की समान बननेवाली गोपीने मारडाला, तथा

र्णी तु वकायतीम् ॥ १७ ॥ आहूय दूरगा यद्वत्कृष्णस्तमनुवर्ततीम् ॥ वेणुं
क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥ कस्यांचित्स्वभुजं न्यस्य
चलन्त्याहापरा ननु ॥ कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ॥ इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्यु-
न्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥ आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ॥ दुष्टाहे ग-
च्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥ तत्रैकोवाच हे गोपा दावा-
ग्निं पश्यतोल्बणम् ॥ चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥
बद्धाऽन्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ॥ भीता सुदृक् पिधायास्यं भे-
जे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥ एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ॥
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥ पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसू-

दूसरी एक अपने को ही कृष्ण माननेवाली गोपी, बकासुर की समान बनीहुई गोपीको मार-नेवाली हुई ॥ १७ ॥ जैसे कृष्ण गौओंको बुलाते थे तैसेही दूर गईहुई गौओंको बुलाकर उन कृष्ण का अनुकरण करके मुरली बजानेवाली और क्रीडाकरनेवाली गोपीकी, गोपबालकों की समान बनीहुई और गोपियें प्रशंसा करनेलगीं ॥ १८ ॥ कृष्ण की ओर मनकी लौ लगानेवाली एक गोपी, दूसरी गोपी के कन्धेपर अपना हाथ रखकर चलतीहुई कहनेलगी कि—हे सखाओ ! मैं कृष्ण हूँ मेरा चलना देखो ॥१९॥ दूसरी एक गोपी—तुम पवन और मेघों से भय न मानो, उन से तुम्हारी रक्षाकरने का उपाय मैंने करलिया है ऐसा कहकर गोवर्द्धन पर्वत को उठाने की छटा बनाकर उसने एक हाथ से ओढने का वस्त्र फैलाकर ऊपर को उठाया ॥ २० ॥ हे राजन् ! कृष्ण की समान आचरण करनेवाली दूसरी एकगोपी कालिय सर्प की समान बनीहुई दूसरी गोपी को चरण से दबाकर और उसके मस्तकपर च-ढकर कहनेलगी कि—अरे दुष्टसर्प ! तू इस कुण्ड में से निकलजा, मैं खलों को दण्ड देने के निमित्त उत्पन्न हुआ हूँ ॥ २१ ॥ उन गोपियों में कृष्ण की समान बननेवाली एक गोपी गोपों की समान बनीहुई दूसरी गोपियों से कहनेलगी कि—हे गोपो ! यह भयङ्कर आयाहुआ वनका अग्नि देखो और शीघ्रही अपने नेत्र मूँदो, तुमको मैं सहज में ही निर्भय करूँगा ॥२२॥ उन गोपियों में कृष्ण की समान बनी हुई एक सुकुमार गोपी को, यशोदा की समान वर्त्ताव करनेवाली दूसरी गोपी ने फूलों की माला से माखन चुराने के कारण ऊखल से बांधदिया तब भयभीत हुई उस ने, सुन्दर नेत्रों से युक्त अपना मुख हाथों से ढककर भय का अनुकरण करा ॥ २३ ॥ इस प्रकार कृष्णलीला का अनुकरण करनेवाली और वारंवार वृन्दावन में के लता और वृक्षों से प्रश्न करनेवाली उन गोपियों ने एक वन में पृथ्वीपर श्रीकृष्णजी के उभरे हुए चरणों के चिन्ह देखे ॥ २४ ॥ और आपसं

नोर्महात्मनः । लक्ष्यंते हि ध्वजांभोजवज्रांकुशयवादिभिः ॥ २५ ॥ तैस्तैः
पदैस्तत्पदवीमन्विच्छंत्योऽग्रतोऽबलाः ॥ वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः
समब्रुवन् ॥ २६ ॥ कस्याः पदानि चैतानि यातायाः नन्दसूनुना ॥ अंसन्य-
स्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥ अनयाराधितो नूनं भगवा-
न्हरिरीश्वरः ॥ यन्नो विहाय गोविंदः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ २८ ॥ धन्या
अहो अमी आल्यो गोविंदाङ्घ्र्यब्जरेणवः ॥ यान्ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्य-
घनुत्तये ॥ २९ ॥ तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वंत्युच्चैः पदानि यत् ॥ यै-
कापहृत्य गोपीनां रहो भुंक्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥ न लक्ष्यंते पदान्यत्र तस्या
नूनं तृणांकुरैः ॥ खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥ अत्र

में कहनेलगीं कि—निःसन्देह यह उदारचित्त श्रीकृष्णजी के चरणों के चिन्ह हैं क्यों कि—यह ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश और यव आदि चिन्हों से युक्त दीखरहे हैं ॥२५॥ तदनन्तर उन चरण के चिन्हों को जहां तहां खोजनेवाली उन गोपियों ने आगे वह श्रीकृष्णजी के चरणों के चिन्ह एक स्त्री के चरणों के चिन्हों से मिले हुए देखे और दुःखित होकर कहनेलगीं कि—॥ २६ ॥ हाथी के साथ जानेवाली हथिनी की समान श्रीकृष्ण के साथ गई हुई और जिस के कन्धेपर हाथ रक्खा है ऐसी यह कौनसी स्त्री है?॥२७॥ कृष्ण के साथ गई हुई इस स्त्री ने ही (राधा ने ही) वास्तव में श्रीहरि का आराधन करा है क्योंकि—हम सब गोपियों को त्यागकर, जिस की आराधना से सन्तुष्ट हुए गोविन्द उस को एकान्त स्थान में लेगये हैं ॥ २८ ॥ दूसरी गोपी ने कहा कि—अरी सखियो ! अहो ! यह गोविन्द के चरणकमलों की धूलि परमधन्य है. जिन को सकल दोषों के दूर होने के निमित्त ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी देवी यह सब ही अपने मस्तकपर धारण करते हैं इसकारण इस का शरीर पर अभिषेक करने से (मलने से) हमें भी श्रीकृष्ण की प्राप्ति होयगी ॥ २९ ॥ दूसरी कहनेलगी कि—ऐसा होय परन्तु सकल गोपियों के सर्वस्व श्रीकृष्णजी को इकला ही हरकर एकान्त में उन अच्युत के अधर को भोग रही है उस के जो यह उभरे हुए चरण के चिन्ह सो हमारे मन को बड़ा ही क्षोभित कर रहे हैं ॥ ३० ॥ इस प्रकार श्रीकृष्णजी को ढूंढनेवाली वह गोपियें आगे केवल श्रीकृष्णजी की ही चरण रेणुओं को देखकर अत्यन्त सन्ताप पाकर कहनेलगीं कि—यहां उस स्त्री के चरण के चिन्ह नहीं दीखते हैं सो उस सुकुमारी के चरणों के तलुओं को तिनकों की नोकें छिदजाने के कारण दुःख होनेलगा होगा इस कारण उस प्रिया स्त्री को, उठाकर प्रिय श्रीकृष्ण ने निःसन्देह कन्धेपर चढाया होगा ॥३१॥ अरी

प्रसूनावचयः प्रियाऽर्थे प्रेयसा कृतः ॥ प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥
॥ ३२ ॥ केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ॥ तानि चूडयता कां-
तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३३ ॥ रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः॥
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैवं दुरात्मताम् ॥ ३४ ॥ इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताः
श्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ॥ यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥
॥ ३५ ॥ सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ॥ हित्वा गोपीः का-
मयमाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३६ ॥ ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवम-
ब्रवीत् ॥ न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३७ ॥ एवमुक्तः
प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ॥ ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत

सखियो ! ऊँचे पैर के फूलों को तोड़ने के निमित्त पैरों के पञ्जों से भूमि में गढे हुए इस कारण ही आधे उभरे हुए यह श्रीकृष्णजीके चरणों के चिन्ह देखो; यहां प्रिय श्रीकृष्ण ने, उस प्रिय स्त्री के केशों में लगाने के निमित्त फूल तोड़कर उन को इकट्ठा करा है ॥ ३२ ॥ दूसरी गोपी, कृष्ण के घुटनों के मध्य में बैठी हुई स्त्री के भूमिपर उभरे हुए चिन्ह देखकर कहने लगी कि—यहां उस कामी कृष्ण ने, कामिनी स्त्री के केशों को विचूरकर चोटी बांधने आदि का काम करा है; क्योंकि उन के तोडे हुए फूल तिस स्त्री के केशोंको शोभित करें तिस रीतिसे बांधने को श्रीकृष्ण निःसन्देह यहां बैठे होंगे ॥३३॥हेराजन्! इसप्रकार गोपियों की करी हुई भावनाके अनुसार ही आप भी सन्तुष्ट, आत्माराम और स्त्रियों के विलासों से मोहित न होनेवाले श्रीकृष्णजी ने उस स्त्री के साथ विषयासक्त पुरुषों की दीनता और स्त्रियों की दुष्टता दिखाने के निमित्त क्रीडा करी थी ॥ ३४ ॥ इस प्रकार निरर्थक भाषण करनेवालीं और उन्मत्त सी हुई वह गोपियें वन में फिर रही थीं सो और स्त्रियों को वन में छोडकर जिस गोपी को श्रीकृष्णजी एकान्त में लेगये थे उस ने भी उस समय, कामातुर हुई सकल गोपियों को छोडकर यह प्रिय श्रीकृष्ण मेरे कहने के अनुसार मेरा सेवन कर रहे हैं इस कारण मैं ही सकल स्त्रियों में श्रेष्ठ हूँ ऐसा माना ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ और श्रीकृष्णजी के साथ कुछ दूरपर्यंत वन में जाकर वह गर्व में भर श्रीकृष्णजी से कहनेलगी कि—हे कृष्ण ! यहांसे आगे को मुझ से नहीं चलाजाता इस से मुझे कन्धेपर चढ़ाकर जहाँ तुम्हारा मन चाहे तहाँ लेचलो ॥ ३७ ॥ इसप्रकार स्त्रियों का उद्धतपना दिखाकर अब कामीपुरुषों की दीनता दिखाते हैं कि—उस गोपीके ऐसा कहनेपर भगवान् ने, ऐसा है तो तू कन्धेपर चढ़ जा इसप्रकार उस प्रिय स्त्रीसे कहा. अब भगवान् का अखण्डितपना वर्णन करते हैं कि—तदनन्तर उस स्त्री के कंधेपर चढने को उद्यत होने

॥ ३८ ॥ हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ॥ दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥ ३९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ॥ ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४० ॥ तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ॥ अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४१ ॥ ततोऽविशन्वनं चंद्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ॥ तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥ ४२ ॥ तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ॥ तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥ पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ॥ समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः ॥ ४४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० रासक्रीडायां त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥ ७ ॥

पर वह श्रीकृष्ण अचानक अन्तर्धान होगये तब वह स्त्री परम दुःख को प्राप्त हुई ।३८। और कहनेलगी कि–हा नाथ ! हा रमण ! हा अतिप्रिय ! हा महापराक्रमी ! हा सखे ! तुम कहां हो, कहां हो; तुम्हारे वियोग से अति दीन हुई मुझ दासी को तुम अपनी समीपता दिखाओ ॥ ३९ ॥ इस प्रकार प्रिय श्रीकृष्ण के वियोग से मोहित होकर दुःखित हुई सखी को, भगवान् का मार्ग खोजनेवाली उन गोपियों ने, समीप में देखा ॥ ४० ॥ तदनन्तर उस ने उन गोपियों से, श्रीकृष्ण से अपने को सन्मान प्राप्त होना और अपने दुष्ट स्वभाव के कारण (अन्तर्धान होकर अपना त्यागरूप) अपमान का प्राप्त होना कहा तब यह सुनकर उन को बडा आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥ तदनन्तर उस के साथ वह गोपियें, कृष्ण को ढूँढने के निमित्त जहां तक चंद्रमा का प्रकाश पडरहा था तहां तक वन में आगे को गईं, तदनतर घनी झाडी की छाया से होनेवाले अन्धकार से भरे हुए उस वन को देखकर तहां से पीछे को लौटीं ॥ ४२ ॥ इस प्रकार कृष्ण ही जिन के आत्मा हैं ऐसी उन गोपियों ने कृष्ण के न मिलनेपर भी कृष्ण की ओर को ही मन लगाकर, परस्पर कृष्ण की ही वार्त्ता करते हुए, कृष्ण की ही लीलाओं को करते हुए और कृष्ण के ही गुणों का गान करते हुए अपने घर का भी स्मरण नहीं करा ॥ ४३ ॥ किन्तु कृष्ण के आने की इच्छा करनेवालीं वह सब गोपियें एकस्थान पर इकट्ठी होकर जहाँ पहिले कृष्णके पास आईथीं उसही यमुना की रेती में फिर आकर कृष्ण का ध्यान करती हुईं कृष्णकाही गान करने लगीं ॥४४॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध पूर्वार्द्ध में त्रिंशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इकतीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण का दर्शन होनेके विषय में निराश होकर फिर यमुना की रेती में आईहुई गोपियों ने कृष्णकाही वारंवार गान करते हुए उनके आनेकी प्रार्थना करी

गोप्य ऊचुः ॥ जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इंदिरा शश्वदत्र हि ॥ दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥ शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ॥ सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥ विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ॥ वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥ न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ॥ विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ ४ ॥ विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां सं-

---

यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ गोपियों ने कहाकि–हे प्राणप्रिय कृष्ण ! तुम्हारा जन्म होने से यह गोकुल, वैकुण्ठ से भी अधिकही उन्नतिको प्राप्त होरहा है, यहाँ तुम्हारी दासी हम गोपियें तुम्हारी प्राप्ति के निमित्त ही किसी प्रकार प्राणों को धारण करके दश दिशाओं में तुम्हें खोजती फिररही हैं इसकारण तुम हमें प्रत्यक्ष दर्शनदो ॥ १ ॥ यदि कहोकि–तुम खोजतीफिरो मैं दर्शन किसकारण दूँ ? तो-हे इच्छित वरदेनेवाले सुरतनाथ ! शरद् ऋतु में के सरोवर में उत्पन्न होकर खिलेहुए कमल के भीतर के भाग की शोभा का तिरस्कार करनेवाली तुम्हारी दृष्टि से, हम विनामूल्य की दासियों को मारते हुए तुम्हारा करा हुआ यह वध क्या इस लोक में नहीं होता है ? अर्थात् क्या शस्त्र से करा हुआ वध ही वध होता है ? क्या दृष्टि से करा हुआ वध वध नहीं होता है ? किन्तु होताही है, इसकारण दृष्टि से हरेहुए प्राणों को लौटाकर देने के निमित्त तुम हम को दीखो ॥ २ ॥ हे सर्वोत्तम ! कालिय के कुण्ड में के विषैले जल को पीने करके प्राप्त हुए मृत्यु से, अघासुर दैत्य से, इन्द्र की करी हुई वर्षा से, वायु से और बिजली गिरकर उत्पन्न हुए अग्नि से, वृषभरूपी अरिष्टासुर से, व्योमासुर से तथा दूसरे भी सब प्रकार के भयों से, कालियदमन आदि करके तुम ने वारंवार हमारी रक्षा करी है और अब क्या कारण है कि–दृष्टि से कामदेव को पठाकर हमारा वध करतेहो? ॥ ३ ॥ हे सखे ! तुम निःसन्देह यशोदा के पुत्र नहीं हो किन्तु सकल प्राणियों की बुद्धियोंके साक्षी साक्षात् परमेश्वर ही हो; यदि कहो कि–फिर मनुष्यों की समान परमात्मा कैसे दीखता है ? तहां कहती हैं कि–वही परमात्मा तुम, ब्रह्माजी के प्रार्थना करनेपर जगत् की रक्षा करने के निमित्त यादवों के कुल में अवतरे हो; इसकारण अब तुम्हे भक्तों की उपेक्षा करना अत्यंत अनुचित है इस से तुम हमे दर्शन दो ॥ ४ ॥ और तुम्हारी भक्त जो हम तिन की चार प्रार्थनाओं को पूर्ण करो, हे सुन्दर ! हे यादवों में श्रेष्ठ ! जन्ममरणरूप संसार से भयभीत होकर अपने चरणों की शरण आये हुए भक्तों को

सृतेर्भयात् ॥ करसरोरुहं कांत कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥
व्रजजनार्त्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ॥ भज सखे भवत्किं-
करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥ प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृण-
चरानुगं श्रीनिकेतनम् ॥ फणिफणार्पितं ते पदांबुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि
हृच्छयम् ॥ ७ ॥ मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ॥ वि-
धिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८ ॥ तव कथामृतं तप्त-
जीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ॥ श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति
ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥ प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानम-

---

अभय देनेवाले, ब्रह्मादिकों के भी मनोरथ पूर्ण करनेवाले और साक्षात् लक्ष्मी के भी हाथ को ग्रहण करनेवाले अपने करकमल को तुम हमारे मस्तकपर स्थापन करो ॥५॥ हे वीर ! तुम गोकुलवासियों की सकल पीडाओं को दूर करनेवाले हो और तुम्हारा हास्य भक्तों के गर्व को नष्ट करनेवाला है इस कारण हे प्राणों के सखा ! निःसन्देह तुम्हारी दासी हमें स्वीकार करो और हम स्त्रियों को अपना कमल की समान सुन्दर मुख दिखाओ ॥ ६ ॥ हे कृष्ण ! अनन्यभाव से नम्र हुए प्राणियों के पाप का नाश करनेवाले, गौ आदि पशुओं की रक्षा करने के निमित्त दया करके उन के पीछे चलनेवाले, अतिसुन्दर होने के कारण लक्ष्मी के भी रहने के अचल स्थान और अति पराक्रमी होने के कारण कालिय सर्प के फणोंपर रक्खे हुए अपने चरणकमल को हमारे स्तनोंपर स्थापन करो और हमारे कामदेव का नाश करो ॥ ७ ॥ और हे कमलनयनवीर ! ज्ञानियों को भी प्रिय लगनेवाले और मनोहर वाक्यों से युक्त अपनी मधुरवाणी से,मोह को प्राप्त हुई हम दासियों को तुम अपना अधरामृत पिलाकर सावधान करो ॥ ८ ॥ तुम्हारे विरह से हमारा मरण तो हो ही गया था परन्तु वह मरण, तुम्हारी कथारूप अमृत पिलानेवाले पुण्यवान् पुरुषों ने इस समय पर्यन्त बचारक्खा है इस कारण तीनों तापों से तपे हुए पुरुषों को शान्त करनेवाले, ब्रह्मादिकों के स्तुति करने योग्य, काम्य कर्मों को दूर करनेवाले, सुनने मात्र से ही मङ्गलकारी और अत्यन्त शान्त तुम्हारे कथामृत को, विस्तार के साथ जो पुरुष इस भूमिपर गाते हैं वह बडे ही दाता होते हैं अर्थात् जो केवल कथारूप अमृत का दान करते हैं वह भी यदि अतिधन्य हैं तो फिर जो तुम्हें देखते हैं वह अति धन्य होंगे इसका कहना ही क्या? इससे हम प्रार्थना करती हैं कि-तुम हमें दर्शन दो ॥ ९ ॥ अब, मेरी कथा के सुनने से ही तुम सन्तुष्ट हो तो मेरे दर्शन का तुम्हें क्या करना है ? ऐसा कहो तो–हे नाथ ! तुम्हारे विलास से जिन का चित्त क्षुभित हुआ है ऐसी जो हम तिन की केवल तुम्हारी कथा को ही सुनने से तृप्ति

ञ्ज्लम् ॥ रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥ चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुंदरं नाथ ते पदम् ॥ शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कांत गच्छति ॥ ११ ॥ दिनपरिक्षये नीलकुंतलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतं ॥ घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥ प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ॥ चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन ॥ १३ ॥ सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुंबितम् ॥ इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥ अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटियुगा-

नहीं होती है, किंतु तुम्हारी प्राप्ति ही चाहिये, क्योंकि—हे प्रिय ! ध्यानमात्र से ही मंगलकारी तुम्हारा जो अति सुन्दर मन्दहास्य, प्रेमपूर्वक नेत्र कटाक्षों से करा हुआ अवलोकन और खेलना तैसे ही हृदय को प्रिय लगनेवाले जो सङ्केत से करे हुए विनोद के भाषण यह सब, हे कपटी ! हमारे मन को क्षोभित कर रहे हैं ॥ १० ॥ अब हम तुम्हारे ऊपर अति प्रेम होने से आर्द्रचित्त होरही हैं और तुम हमारे साथ न-जाने क्यों कपट करते हो यह दो श्लोकों करके वर्णन करते हैं—हे नाथ ! हे सुन्दर ! जिस समय गौओं को चरानेवाले तुम, गोकुल से बाहर जाते हो उस समय तुम्हारे कमल की समान चरण, कंकड़ी, तिनकों की नोक और कुश के अग्रभाग छिदकर क्लेश पाते होंगे इस कारण हमारा मन अस्वस्थता को प्राप्त होता है इसप्रकार हम तुम्हारे दुःख से चित्त में शङ्कित होती हैं ॥ ११ ॥ और हे वीर ! सायङ्काल के समय घुँघुराले केशों में ढकाहुआ, गौओं के पैरोंसे उडीहुई घनी धूलि से अटाहुआ अपना कमलसमान मुख धारण करते हुए और हमें वारंवार दिखातेहुए तुम, हमारे मन में केवल कामदेव को ही उत्पन्न करते हो और अपना दासभाव नहीं देते हो इससे तुम बड़े कपटी हो ॥ १२ ॥ इसकारण हे रमण ! हे सन्तापहारक ! शरणागतों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले ब्रह्मा जी से पूजित, पृथ्वीके भूषण, ध्यानमात्र सेही आपत्तियों को दूर करनेवाले और सेवा करतेसमय भी परम आनन्द देनेवाले अपने चरण कमल को कामका सन्ताप दूर होनेके निमित्त हमारे स्तनोंपर रक्खो॥ १३ ॥ और हे वीर! सुरत की वृद्धि करनेवाला, शोक का नाश करनेवाला, सुन्दर शब्द करनेवाली मुरली का उत्तम प्रकार से चुम्बन कराहुआ और जिनको उस की प्राप्ति होती है तिन को सार्वभौम आदि सुखों का भी भुलानेवाला अपना अधरामृत तुम हमें अर्पण करो ॥ १४ ॥ हे कृष्ण ! जब तुम दिन के समय वन में फिरते हो तब तुम्हें न देखनेवाले प्राणियों को त्रुटिमात्र का समय भी युग की समान होजाता है अर्थात् उतने समयतक बडा दुःख होता है और

यते त्वामपश्यताम् ॥ कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृ-
द्दृशाम् ॥ १५ ॥ पतिसुतान्वयभ्रातृबांधवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ॥
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितवयोषितः कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥ रहसि
संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ॥ बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम
ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥ १७ ॥ व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहं-
त्र्यलं विश्वमङ्गलं ॥ त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूद-
नम् ॥ १८ ॥ यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि
कर्कशेषु ॥ तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धी-
र्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पू० गोपी-

जब सन्ध्या के समय तुम लौटकर आते हो तब घुँघुराले केशों से युक्त और अतिसुन्दर तुम्हारे मुख को बडे प्रेम के साथ देखनेवाले प्राणियों को, नेत्रों के पलक बनानेवाला ब्रह्मा भी मूर्ख प्रतीत होने लगता है अर्थात् दर्शन में पलक लगानेमात्र का अन्तर भी नहीं सुहाता है तात्पर्य यह कि तुम्हारे दर्शन से परमसुख होता है ॥ १५ ॥ इसकारण हे अच्युत ! गान आदि सकल गतियों की जाननेवाली हम, तुम्हारे मधुरगान से मोहित होकर अपने पति, पुत्र, कुल, भ्राता, और बान्धव इन सबों को त्यागकर तुम्हारे समीप आई हैं इस से हे धूर्त ! ऐसी रीतिसे आपही रात्रि के समय चलीआईहुई स्त्रियों को तुम्हारे सिवाय दूसरा कौन पुरुष त्यागेगा ? ॥ १६ ॥ इसकारण कामदेव को उत्पन्न करनेवाले, तुम्हारे एकान्त में के भाषण, हास्ययुक्त मुख, प्रेमयुक्त अवलोकन और लक्ष्मी के रहने के स्थान विशाल वक्षःस्थल को देखकर हमे आप की समीपता की बडी इच्छा होती है और मन मोहित होता है ॥ १७ ॥ और हे कृष्ण ! तुम्हारा अवतार गोकुल में और वृन्दावन में रहनेवाले सकल प्राणियों के दुःखोंको दूर करनेवाला और सकल जगत् को मङ्गलरूप है इसकारण मन में तुम्हारी प्राप्ति की इच्छा करनेवाली हमें, स्वजनों के हृदय के रोग को नष्ट करनेवाला जो अतिगुप्त औषध तिसको तुम ही जानते हो वह तुम कृपणपना न करके हमेंदो ॥ १८ ॥ इसप्रकार कहकर अतिप्रेम से व्याकुल हुई वह गोपियें, अन्त में रोतीहुई कहनेलगीं कि-हे प्रिय ! हे सुन्दरकुल में उत्पन्नहुए ! जिस तुम्हारे सुकुमार चरणकमल को हम, अपने कठिनस्तनों के ऊपर डरतीहुई धीरे २ धारण करती थीं उस चरणकमल से ही तुम इससमय वन में फिररहे हो तो वह पदकमल, मार्ग में की कंकड़ी और कांटे आदि लगकर क्यों क्लेश नहीं पाता होगा ? इसप्रकार जिनकी आयु तुम ही हो ऐसी हमारी बुद्धि अब मोहित होती है, तुम मिलोगे इस आशा से अबतक हम जीवित रही थीं अब आगे को आशा नहीं अतः शीघ्र ही मिलो ॥ १९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में एकत्रिंश अध्याय समाप्त ॥

कृतकृष्णस्तुतिर्नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपंत्यश्च चित्रधा ॥ रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥ तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखांबुजः ॥ पीतांबरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥ तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदशोऽबलाः ॥ उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥ काचित्करांबुजं शौरेर्जगृहेऽजलिना मुदा ॥ काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनभूषितम् ॥ ४ ॥ काचिदंजलिनाऽगृह्णात्तन्वी तांबूलचर्वितम् ॥ एका तदंघ्रिकमलं संतप्ता स्तनयोरधात् ॥ ॥ ५ ॥ एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरंभविह्वला ॥ घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥ अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखांबुजम् । आपीतमपि नातृप्यत्संतस्तच्चरणं यथा ॥ ७ तं काचिन्नेत्ररंध्रेण हृदि कृत्य निमील्य

अब आगे वत्तीसवें अध्याय में, गोपियोंके विरहके प्रलापों से गद्गदचित्तहुए उनश्रीकृष्ण जीने, तहाँ प्रकट होकर उन गोपियों को सन्मान के साथ धैर्य दिया यह कथा वर्णनकरी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि-हे राजन्! श्रीकृष्ण का दर्शन करने में अतिउत्कण्ठित होकर ऐसे अनेकों प्रकार के गान करनेवालीं और नानाप्रकार के प्रलाप करती हुईं वह गोपियें, अन्त में ऊँचेस्वर से रोनेलगीं ॥ १ ॥ तब उन गोपियों में जिनका मुखकमल हास्ययुक्त है ऐसे पीताम्बरधारी, फूलोंकी माला धारण करेहुए और जगत् को मोहित करनेवाला जो कामदेव तिसको भी मोहित करनेवाले श्रीकृष्णजी प्रकटहुए ॥ २ ॥ उन आये हुए प्रियतम श्रीकृष्ण जीको देखकर प्रीति से जिनके नेत्रकमल प्रफुल्लित हुएहैं ऐसी वह सब गोपियें,जैसे अचेतन शरीरमें प्राण आतेही उसके हाथ पैर आदि अङ्ग एकसाथ हिलना चलना आदि चेष्टा करने लगते हैं तैसेही उठकर एकसाथ खड़ी होगई ॥ ३ ॥ एकने बड़े आनन्द से श्रीकृष्णजी का करकमल अपने दोनोहाथों से पकड़लिया दूसरीने चन्दनका उबटना लाकर भूषित कराहुआ उनका बाहु अपने कन्धेपर रक्खा॥४॥ एक सुन्दरी ने, उनका चाबाहुआ ताम्बूल अपनी अञ्जलि में लेलिया, उनके विरहसे दुःखित हुई एक गोपीने, उनका सुकुमार चरणकमल अपने स्तनपर रखलिया ॥ ५ ॥ प्रेमयुक्त कोपके आवेश से विव्हल हुई एक गोपीतो, अपना नीचे का ओठ चबाकर और भृकुटि को तिरछी करके नेत्रों के कटाक्षों के डालने से मानो श्रीकृष्णजी को प्रहारही कररही है क्या, इसप्रकार उनकी ओरको टकटकी लगाकर देखने लगी ॥ ६ ॥ दूसरी एक गोपी अपनें नेत्रोंके पलकों भी न हिलाती हुई, प्रेमके साथ देखेहुए भी उन के मुख को वार २ प्रीति के साथ देखती हुई जैसे सत्पुरुष वारम्वार उनके चरण का सेवन करते हुए भी तृप्त नहीं होते हैं तैसे तृप्त नहींहुई ॥ ७ ॥ किसी एकने तो—अपने नेत्रों के

चं ॥ पुलकांग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥ ८ ॥ सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः । जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥ ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ॥ व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥ ताः समादाय कालिंद्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ॥ विकसत्कुंदमंदारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥ शरच्चन्द्रांशुसंदोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ॥ कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥ तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथांतं श्रुतयो यथा ययुः ॥ स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबंधवे ॥ ॥ १३ ॥ तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरांतर्हृदि कल्पितासनः ॥

छिद्रों के द्वारा श्रीकृष्णजी को हृदय में लेजाकर और उनको आलिङ्गन करके फिरवह बाहर को न निकलजायँ इसकारण नेत्र मूँदकर, जिसके शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगये है ऐसी वह गोपी, आनन्द में निमग्न होकर, योगी की समान निश्चल बैठीरही ॥ ८ ॥ इसप्रकार उनसब गोपियों ने, श्रीकृष्णजी के दर्शनरूप परम उत्साह से आनन्दित हो कर, उनके विरह से उत्पन्न हुए तापको, जैसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुष ईश्वर को पाकर संसार के तापको त्यागते हैं तैसे त्यागा ॥ ९ ॥ हे तात परीक्षित् ! श्रीकृष्ण का दर्शन आदि करके जिनका विरहजनित शोक दूर होगया है ऐसी उन गोपियोंसे घिरेहुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी, प्रकृति आदि उपाधियों से युक्त अन्तर्यामी पुरुष की समान अधिक शोभा को प्राप्त हुए ॥ १० ॥ तदनन्तर उन गोपियोंको अपने साथ लेकर, जहाँ प्रफुल्लित हुए कुन्द और मन्दार के वृक्षों पर से आयाहुआ सुगन्धित पवन चलने के कारण उस गन्धके लोभी भौंरे उड़रहे हैं, जहाँ शरदृतु के चन्द्रमाकी किरणों के समूहों से रात्रिका अन्धकार नष्टहुआ है और जहाँ यमुना नदी की हाथरूप तरङ्गों से अतिकोमल बालुका फैलीहुई है ऐसे यमुना के सुखकारी पुलिन में जाकर उन गोपियों से युक्तहुए प्रभु श्रीकृष्णजी अधिक शोभा को प्राप्त हुए ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ तब, जैसे श्रुति, कर्मकाण्ड में परमेश्वर को न देखते हुए काम्य कर्मोंका प्रतिपादन करती हुई अपूर्ण मनोरथवाली सी होती हैं और वही श्रुति, ज्ञानकाण्ड में ईश्वर को देखकर उसका प्रतिपादन करती हुई पूर्ण मनोरथ होती हैं तैसेही उन भगवान् का दर्शन होनेके आनन्द से विरहजनित शोकरहित हुई वह गोपियें; मनोरथों के अन्त को प्राप्त हुई अर्थात् पूर्णमनोरथ हुई और उस दशामें ही उन्हों ने प्रेमके साथ भगवान् की सेवाकरी उन गोपियों ने स्तनोंका केशर लगेहुए अपने ओढने के वस्त्रों से सब जीवों के अन्तर्यामी उन श्रीकृष्णजी को बैठने के निमित्त आसन दिया ॥ १३ ॥ तब, सिद्धयोगियों के हृदयकमल में जिनका आसन बनाहुआ है वह ईश्वर भगवान् श्री

चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥ सभाजयित्वा तमनंगदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ॥ संस्पर्शनेनांककृतांघ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५ ॥ गोप्य ऊचुः ॥ भजंतोऽनुभजंत्येके एके एतद्विपर्ययम् ॥ नोभयांश्च भजंत्येके एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मिथो भजंति ये सख्यः स्वार्थैकांतोद्यमा हि ते ॥ न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥ भजंत्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा॥धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः१८भजतोऽपि न वै केचि

कृष्णजी, गोपियों की सभा में उन ओढ़ने के वस्त्रों के आसनपर वैठे; तव उन गोपियों के प्रीति के साथ पूजन करनेपर उनको त्रिलोकी में शोभाका अद्वितीय स्थान अपना शरीर दिखातेहुए शोभित होनेलगे ॥ १४ ॥ तदनन्तर हास्ययुक्त लीलाके अवलोकन से कटाक्ष फेंकनेवाली भृकुटि से युक्त वह गोपियें, मदन को प्रदीप्त करनेवाले तिन श्रीकृष्ण का ' अपनी गोद में रक्खेहुए उन के चरण और हाथों को दावने से ' सत्कार करके और ' यह शरीर कितना सुन्दर और सुकुमार है ' इत्यादि वचनों से उन की प्रशंसा करके; वह अन्तर्धान होगये थे इसकारण कुछएक कुपित हुई वह गोपियें,उन का अपराध उनके ही मुखसे कहलाने के निमित्त कहने लगीं कि--॥१५॥हेकृष्ण!इसजगत्में कोई पुरुष,अपनी सेवाकरनेवालोंके ही अनुकूल होकर उन की सेवाके अनुसार पलटेमें उन की सेवा करतेहैं;कितने ही पलटे में अपनी सेवा होने की अपेक्षा न करके सेवा न करनेवालों की भी सेवा करते हैं और कितने ही तो प्रत्युपकार करनेवालों की अथवा न करनेवालों की भी किंचिन्मात्र भी सेवा नहीं करते हैं सो इन तीनो में किस २ को गुण दोष का कैसा २ फल मिलता है सो तुम स्पष्टता के साथ हम से कहो ॥ १६ ॥ इस प्रकार प्रश्न करनेपर गोपियों के अभिप्राय को जान भगवान् कहने लगे कि—हे सखियो ! जो पुरुष परस्परके उपकार की इच्छा से परस्पर की सेवा करते हैं वह केवल स्वार्थ के निमित्त ही उस उद्योग को करनेवाले हैं अर्थात् उन का वह भजन केवल स्वार्थ के निमित्त ही होता है दूसरों के निमित्त नहीं इस कारण उन में सच्चा प्रेम और उस प्रेम से होनेवाला सुख वा धर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है ॥ १७ ॥ हे सुमध्यमा स्त्रियो ! और जो पुरुष, किसी प्रकार की चाहना न करके अपना कोई भी उपकार न करनेवालों की सेवा करते हैं वह दो प्रकार के होते हैं—एक दयालु(साधु) और दूसरे—जैसे माता पिता केवल स्नेह से सन्तानों की रक्षा करते हैं तैसे ही स्नेही होते हैं; इन में दयालु पुरुषों को निरपेक्ष उपदेशादि करने से निर्विवाद धर्म प्राप्त होता है और दूसरे स्नेही पुरुषों को सौहृद (प्रेम) वा उस से सुख प्राप्त होता है ॥ १८॥

भजंत्यभजंतः कुतः ॥ आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जंतून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ॥ यथाऽधनो
लब्धधने विनष्टे तच्चिंतयाऽन्यन्निभृतो न वेद ॥ २० ॥ एवं मदर्थोज्झितलो-
कवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ॥ मया परोक्षं भजता तिरोहितं
माऽसूयितुं माऽर्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥ २१ ॥ न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः । या माऽभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य

अब कितने ही तो पलटे में सेवा करनेवालों की भी सेवा नहीं करते हैं फिर पलटे में न करनेवालों की कहां से करेंगे ? वह पुरुष,चार प्रकार के होते हैं-एक अपने स्वरूप में रमण करनेवाले आत्माराम, दूसरे विषयों को देखतेहुए भी पूर्णकाम होनेके कारण भोगकी इच्छा न करनेवाले, तीसरे औरों के करेहुए भी उपकार का ध्यान रखनेवाले अकृतज्ञ (मूर्ख) और चौथे गुरुद्रोही अर्थात् जो अपने ऊपर उपकार करता है वह गुरु की समान पूजनीय होता है उसका भी दुष्टचित्त होने के कारण सत्कार न करके उलटा द्रोह करनेवाले (निर्दयी) होते हैं ॥ १९ ॥ ऐसा भगवान् का वचन सुनकर, यह कृष्ण बहिर्दृष्टि होने के कारण आत्माराम नहीं है, गानके द्वारा हमें बुलानेके कारण पूर्णकाम नहीं है और चतुर होने के कारण करेहुए उपकार को न जाननेवाला (मूर्ख) भी नहीं है किन्तु अन्तके पक्षका गुरुद्रोही (निर्दयी) है ऐसा मन में विचारकर नेत्र के सङ्केतों से परस्पर गुप्तरीति से हँसनेवाली उन गोपियोंको देखकर वह श्रीकृष्णजी कहनेलगे कि—अरी सखियों ! मैं तो इनमें से कोई भी नहीं किन्तु परम कारुणिक और परममित्र हूँ, क्योंकि—मैं, मेरी सेवा करनेवाले प्राणियों को 'उन को' निरन्तर मेरा ध्यान होय इस हेतु से, सेवन नहीं करता हूं; जैसे निर्धन पुरुष कदाचित् प्राप्तहुआ धन नष्ट होनेपर उस की चिन्ता से अत्यन्त व्याप्त होकर भूँख प्यास आदि और कुछ नहीं जानता है तैसे ही मेरा भक्त भी किसीसमय मुझे प्रत्यक्ष देखकर फिर मेरे गुप्त होजानेपर मेरी चिन्तामें ही निमग्न रहकर देहका भी अनुसन्धान नहीं रखताहै किन्तु निरन्तर मेराही ध्यानकरताहै॥२०॥इसीप्रकार हे स्त्रियों ! मुझे प्राप्त करनेके निमित्त जिन तुम ने,योग्य अयोग्यका विचार,धर्म अधर्म का विचार और बान्धवोंका स्नेह यह सब त्यागकराहै तिन तुम्हारी मेरे में निश्चलवृत्ति रहे इसकारण तुम्हारा प्रेम का भाषण गुप्त रीति से सुननेवाला मैं अन्तर्धान होगया थाः इससे हे प्रियसखियों ! तुम, तुम्हारा प्रिय करनेवाले मेरे ऊपर दोषदृष्टि रखने को योग्य नहीं हो ॥ २१ ॥ निष्कपटभाव से मेरी सेवा करनेवाली तुम्हारे सदाचरण का मैं अपने सदाचरण से प्रत्युपकार करने को देवताओं की आयु से भी समर्थ नहीं होऊँगा, क्योंकि—जो तुम ने कठिन से तोड़नेयोग्य गृहरूपी बेड़ियों को तोड़ कर मेरी सेवा करी है तिन तुम्हारे सत्कार्य का तुम्हारे सुन्दरस्वभाव से ही प्रत्युपकार

तेद्वः प्रतियांतु साधुना ॥ २२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दश० पूर्वा० द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ॥ जहुर्विरहजं तापं तदंगोपचिताशिषः ॥ १ ॥ तत्रारभत गोविंदो रासक्रीडामनुव्रतैः ॥ स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥ रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः ॥ योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥ प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥ यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसंकुलम् ॥ दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥ ततो दुंदुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ जगुर्गंधर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥ वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम् ॥ सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमंडले ॥ ६ ॥ तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः ॥ मध्ये म-

होय, मेरा चित्त बहुत से भक्तों के ऊपर प्रेम करनेवाला होने के कारण एकनिष्ठ नहीं है इसकारण मेरे हाथ से तुम्हारा प्रत्युपकार होना कठिन है ॥ २२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में द्वात्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे तैंतीसवें अध्याय में गोपियों के मण्डल में आयेहुए श्रीकृष्णजी ने, रासक्रीड़ा, जलक्रीडा और वनक्रीडा से उन गोपियों को आनन्दित करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् की मनोहर वाणी सुनकर उन के कर चरण आदि अङ्गों के स्पर्श से पूर्ण मनोरथहुईं उन गोपियों ने, विरह से उत्पन्नहुए अपने ताप को त्यागा ॥ १ ॥ तिस यमुना की रेती में, हर्षयुक्तहुईं और अपने कहने के अनुसार वर्त्ताव करनेवाली और परस्पर एक दूसरी का हाथ पकडकर खडीहुईं तिन रत्नरूप स्त्रियों के साथ श्रीकृष्णजी ने, रासक्रीडा (बहुत सी स्त्रियों के साथ नाचने की एक प्रकार की नृत्य की क्रीडा) का आरम्भ करा ॥ २ ॥ मण्डल बांधकर खड़ी हुईं उन दो २ गोपियों के बीच में एक २ स्वरूप से खड़े हुए, और जिन कृष्ण को सब ही स्त्रियें मेरे ही समीप खडे हैं ऐसा मानती थीं, ऐसे उन अचिन्त्यशक्ति श्रीकृष्णजी ने, जिन के कण्ठ में गलबाहीं डाली है ऐसी गोपियों के मण्डल से शोभायमान रास के उत्सव का प्रारम्भ हुआ, सो उसी समय रास को देखने की उत्कण्ठा से व्याकुलचित्त हुए स्त्रियोंसहित देवताओं के सैंकडों विमानों से आकाश भरगया ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ उस रास के आरम्भ में देवताओं की बजाई हुई दुन्दुभि बजनेलगीं, उन की करी हुई अनेकों प्रकार के पुष्पों की बहुत सी पुष्प वर्षा नीचे गिरने लगीं और विश्वावसु आदि श्रेष्ठ गन्धर्व स्त्रियोंसहित भगवान् का निर्मल यश गाने लगे ॥५॥ श्रीकृष्ण के साथ नृत्य करनेवाली तिन गोपियों के हाथों में के कङ्कणों का, पैरों में की पायलों का और कमरकी पेटीमें लगेहुए घूँघरुओंका एक साथ मिलकर बडाभारी शब्द हुआ॥६॥

णीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥ पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैर्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ॥ स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रंथयः कृष्णवध्वो गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥ उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ॥ कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥ काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ॥ उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ॥ तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ १० ॥ काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ॥ जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥ ११ ॥ तत्रैकांऽसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ॥ चन्दनालिप्तमा-

उस रासमण्डल में, जैसे सोने के दो २ दानों के बीच में नीलमणि विशेष शोभा पाता है तैसे ही सुवर्णसमान वर्णवाली गलवाहीं डालेहुए उन दो २ गोपियों के बीच में श्यामवर्ण भगवान् श्रीकृष्णजी, अत्यन्त ही शोभित होने लगे ॥ ७ ॥ तैसे ही पैर आगे पीछे रखना, हाथ नचाना, मन्दहास्य के साथ भृकुटियों को चलाना, कमर को लचकाना, वस्त्र और कुचों का हिलना, और कपोलोंपर वारंवार कुण्डलों का चमकना इन लक्षणोंवाली और जिन के मुखोंपर पसीने की विन्दु आगई हैं, केशों में और कमर की फेंटों में दृढ गांठ लगरही है और कृष्ण को गानेवाली वह गोपियें भी, जैसे मेघमण्डल में चमकती हुई विजली शोभापाती है तैसे कृष्ण के साथ में शोभापाने लगीं यहां अनेकों मूर्त्ति धारण करनेवाले कृष्ण मेघमण्डल की समान, वह गोपियें अनेक बिजलियों की समान, पसीने की बूँदें फुहार की समान और गाना गर्जने की समान जानना ॥ ८ ॥ उस समय नृत्य करनेवाली, कण्ठ में से नाना प्रकार के रागों का उच्चारण करनेवाली, श्रीकृष्ण के स्पर्श से आनन्दित हुई और कृष्ण की प्रीति को ही प्रिय माननेवाली वह गोपियें ऊँचे स्वर से ऐसा गानेलगीं कि–उस गाने से यह जगत् भरगया ॥ ९ ॥ कोई एक गोपी, श्रीकृष्ण के साथ षड्ज आदि स्वरों का आलाप करने पर, श्रीकृष्ण के चढाये हुए आलाप में न मिलनेवाले नवीन २ ही आलाप लेनेलगी तव उस को सुनकर श्रीकृष्ण ने ' बाह वाह, वाह वाह ' ऐसा कहकर उस का सत्कार करा तव उसने उस ही आलाप को ध्रुव नामक ताल के ऊपर ऊँचा चढादिया तव श्रीकृष्ण ने उस का वडाही सन्मान करा ॥ १० ॥ इस प्रकार नृत्य गान आदि के द्वारा श्रीकृष्ण से मान पाई हुई उन गोपियों का अति प्रीति से ऐसा विलासयुक्त वर्त्ताव हुआ कि–किसी एक अति सुकुमार गोपी को रासक्रीडा से थकन चढ़कर निर्बलता हुई सो उस के हाथों में के कङ्कण और केशों के जूडे में से मल्लिका के फूल गिरनें लगे तव उसने अपने पास विराजमान श्रीकृष्णजी का कन्धा हाथों से कसकर पकड लिया॥ ११ ॥ उन गोपियों में से एक गोपी ने तो–अपने कन्धेपर रक्खे हुए, जिसमें से कमलके सी सुग-

प्राय हृष्टरोमा चुचुंब ह ॥ १२ ॥ कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्॥ गण्डं गण्डे संदधत्या आदत्तांबूलचर्वितम् ॥ १३ ॥ नृत्यन्ती गायती काऽपि कूजन्नूपुरमेखला ॥ पार्श्वस्थाऽच्युतहस्ताब्जं श्रांताधात्स्तनयोः शिवम् ॥ १४॥ गोप्यो लब्ध्वाऽच्युतं कान्तं श्रिय एकांतवल्लभम् ॥ गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायंत्यस्तं विजहिरे ॥ १५ ॥ कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ॥ गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेशस्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥ एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ॥ रेमे रमेशो व्रजसुंदरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिंबविभ्रमः ॥ १७ ॥ तदङ्गसंगप्रमुदाकुलेंद्रियाः केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा॥ नांजः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो

न्ध आरही है ऐसे चन्दन का लेप लगे हुए श्रीकृष्णजी के बाहु को सूँघकर शरीरपर रोमाञ्च धारण करे और उस बाहु का चुम्बन करने लगी ॥ १२ ॥ उस समय नृत्य करने से हलते हुए कुण्डलों की कान्ति से शोभायमान अपना कपोल श्रीकृष्णजी के कपोल से मिलानेवाली एक दूसरी गोपी को श्रीकृष्णजी ने अपना चबाया हुआ ताम्बूल दिया ॥ १३ ॥ जिस के पैरों में पायल और कमर की पेटी के घूँघरू बजरहे हैं ऐसी नृत्य और गान करनेवाली एक गोपी ने, अपने थकजानेपर उस थकावट को दूर करके सुख देनेवाला, पास में विराजमान श्रीकृष्णजी का करकमल अपने स्तनोंपर रक्खा॥१४। हे राजन्! इस प्रकार लक्ष्मी के प्रियपति श्रीकृष्णजी को कान्त पाकर, उन की भुजाओं से कण्ठ में गलबाहीं डाली हुई उन सब गोपियों ने, उन का ही गान करते २ क्रीडा करी ॥ १५ ॥ उस समय बाजे बजानेवाले और गान करनेवाले गन्धर्व किन्नर आदि रस के आवेश से मोहित होकर वह आप ही नाचने लगे तब दूसरी ही बाजे की सम्पत्ति हुई तिस को दिखाते हुए रासक्रीडा का सम्भ्रम वर्णन करते हैं कि— कानोंपर उरसेहुए कमल और घुँघराले केशों से शोभायमान कपोलों से और पसीने के विन्दुओं से जिन गोपियो के मुखपर शोभा आरही है और जिन के केशों में से फूलों की माला नीचे गिरी पडती हैं ऐसी गोपियें, हाथों में के कङ्कण और पैरों में की पायलरूप बाजों के शब्द के साथ, भ्रमर ही जहां गवैये हैं ऐसी रास की सभा में भगवान् के साथ नृत्य करनेलगीं ॥ १६ ॥ जैसे गोपियों ने अनेकों विलास करके भगवान् के साथ क्रीड़ाकरी तैसेही श्रीकृष्ण ने भी, उन गोपियों के साथ, जैसे छोटासा बालक दर्पण में पडीहुई अपनी परछाहींके साथ क्रीडा करैतैसे हृदय से लगाना हाथों से अङ्गो को छूना, प्रेमकेसाथ देखना और भी अनेकों विलास करना तथा हास्य करना इत्यादि के द्वारा क्रीड़ाकरी ॥ १७ ॥ हे राजन्! उससमय उन भगवान् के अङ्ग के सङ्ग से प्राप्तहुए परम हर्ष करके जिनकी इन्द्रियें परवश हुई हैं और जिनके शरीरपर के माला

विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥ १८ ॥ कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचर-
स्त्रियः ॥ कामार्दिताः शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥ कृत्वा
तावंतमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ॥ रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि ली-
लया ॥ २० ॥ तासामतिविहारेण श्रांतानां वदनानि सः ॥ प्रामृ
जत्करुणः प्रेम्णा शंतमेनांग पाणिना ॥ २१ ॥ गोप्यः स्फुरत्पुरटकुंडलकुंत-
लत्विङ्गंडश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ॥ मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥ ताभिर्युतः श्रममपोहितुमंगसंगघृष्टस्र-
जः स कुचकुंकुमरंजितायाः ॥ गंधर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रांतो गजी-

और भूषण गिरपडे हैं ऐसी वह गोकुल की स्त्रियें, गाँठखुलकर अस्तव्यस्तहुए अपने केशों को, पहिरेहुए वस्त्रोंको और स्तनोंपर की चोलियोंको पहिले की समान सहज में ठीक २ धारण करने को समर्थ नहीं हुईं ॥ १८ ॥ केवल वहगोपियें ही मोहित नहीं हुईं किन्तु-ऐसी श्रीकृष्णजी की क्रीड़ा को देखकर काम से पीडित हुईं देवताओं की स्त्रियेंभी मोहित (मूर्छित) होगईं तथा शुक्र मङ्गलादि ग्रह-गणों सहित चन्द्रमा भी उस रासक्रीडा को देखकर आश्चर्य में होगया, इस से यह सूचित करा कि-आश्चर्य में हुआ चन्द्रमा जब अपनी गति को भूलगया तब, उसके पीछे के सबही ग्रह जहाँ के तहाँही रहगये, तिस से बहुत बडी रात्रि होजाने पर उस समय गोपियों ने सुखके साथ क्रीडा करी ॥ १९ ॥ और उन श्रीकृष्णजी ने, अपने स्वरूप में रमण करनेवाले आत्माराम होकर भी, पहिले कात्यायनी का व्रत करतेसमय गोपक-न्याओं से कहदिया था उसीके अनुसार सबका मनोरथ पूरा होनेके निमित्त जितनी गोप-स्त्रियें थीं लीलासे उतने ही अपने स्वरूप धारण करके उनके साथ क्रीडा करी ॥ २० ॥ हे राजन् ! अतिविहार करने से थकीहुईं उन गोपियों के पसीने से भीगेहुए मुखों को तिन दयालु श्रीकृष्ण ने, परमसुखदायक अपने हाथ से प्रेम के साथ पूँछा ॥ २१ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी के नखों के स्पर्श से अति हर्षको प्राप्त हुईं वह गोपियें, झलकते हुए सुवर्ण के कुण्डलों की और घुँघुराले केशों की कान्ति से कपोलों पर प्राप्तहुई परम शोभा से और अमृतसमान हास्यसहित अवलोकन से तिन जगत्पति श्रीकृष्णजी का सत्कार करती हुईं उनके पवित्रचरित्रों को गानेलगीं ॥ २२ ॥ तदनन्तर उन गोपियों सहित वह श्रीकृष्णजी, तिन गोपियों के अङ्ग के सङ्ग से मसलीहुई और उनके स्तनोंका केशर लगकर रँगी हुई अपने गलेकी माला के सम्बंध से, गंधर्वपतियों की समान गाते (झङ्कार शब्द करते) हुए भौंरे जिन के पीछे २ आरहे हैं ऐसे होते हुए, विहार करने से प्राप्तहुई थकावट को दूर करनेके निमित्त 'जैसे नदीके किनारे में टक्कर मार उसको तोड डालनेवाला गजराज' उस से होनेवाली थकावट को दूर करने के निमित्त हथनियों के साथ जल

भिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥ सोऽभस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽग ॥ वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेंद्रलीलः ॥ २४ ॥ ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगंधानिलजुष्टदिक्तटे ॥ चचार भृंगप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥ ॥ २५ ॥ एवं शशांकांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ॥ सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥ २६ ॥ राजोवाच ॥ संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ॥ अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥ स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताऽभिरक्षिता ॥ प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥ आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ॥ किमभिप्राय एतं नः संशयं छिंधि सुव्रत ॥ २९ ॥ श्रीशुक

में घुसता है तैसे ही उन्हों ने जल में प्रवेश करा ॥२३॥ हे राजन्! हास्य करनेवाली तरुणी स्त्रियों ने, जिनके ऊपर को चारों ओरसे अत्यन्त जल उछाला है और जिनको प्रेमके साथ देखा है तथा फूलों की वर्षा करनेवाले देवताओं ने जिनकी स्तुति करी है ऐसे वह भगवान् श्रीकृष्णजी, स्वयं आत्माराम होकर भी गजराज की समान लीला करते हुए जल में स्त्रियों के साथ क्रीडा करते रहे ॥ २४ ॥ फिर उन श्रीकृष्णजी ने, जल के और स्थल के पुष्पों की सुगंधि को उडानेवाले वायु से जहाँ के सबही दिशाओं में के स्थान व्याप्त होरहे हैं ऐसे यमुना के उपवन में भौंरों के और गोपियों के समूहों से घिरे हुए होकर, जैसे मद टपकाने वाला गजराज हथनियों के समूहों से घिरकर क्रीडा करता हुआ वनमें विचरे तैसे क्रीडा करते हुए विचरे ॥ २५ ॥ इसप्रकार प्रेम करनेवाली स्त्रियों के समूह में रहने वाले, सत्यसङ्कल्प और अपने में ही वीर्य को रोकनेवाले (अस्खलितवीर्य) तिन श्रीकृष्णजी ने, चन्द्रमा की किरणों करके प्रकाशयुक्तहुई और शरद् ऋतु में होनेवाले तथा काव्य में कहेहुए रसों की आश्रय उन सकल रात्रियों में इसप्रकार क्रीडा करी ॥ २६ ॥ राजाने कहाकि–हे शुकदेव जी! धर्म की भली प्रकार स्थापना करने को और अधर्म को दूर करने को ही अपने अंशरूप बलरामजी के साथ उन जगदीश्वर भगवान् ने अवतार धारा था॥२७॥फिर हेब्रह्मन्! उपदेश करके दूसरों से धर्मकी मर्यादा को प्रवृत्तकरनेवाले, आप आचरण करके दिखानेवाले और विरोधियोंका तिरस्कार करके सब प्रकारके धर्म की रक्षा करनेवाले उन श्रीकृष्णजीने ही परस्त्री का सम्भोगरूप यहबडा धर्मविरुद्धकार्य कैसे किया? यदि कहोकि-पूर्णमनोरथोंको यह अधर्म नहीं होता है तो-पूर्णकाम भी निन्दितकर्म नहीं करते हैं तब पूर्णमनोरथ श्रीकृष्णजी ने, किस अभिप्राय से यह परस्त्री सम्भोगरूप निन्दितकर्म करा? हेसदाचारी इसहमारे सन्देह को तुम काटो॥२९॥परमेश्वर को इसका

उवाच ॥ धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ॥ तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥ नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः ॥ विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ ३१ ॥ ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ॥ तेषां यत्स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥ ३२॥ कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ॥ विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥ किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ॥ ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥ यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता योगप्र-

दोष नहीं है यह सिद्ध करने को सामान्यरूप से महान् पुरुषों का वर्त्ताव कहतेहुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! ब्रह्माजी, इन्द्र, चन्द्रमा, विश्वामित्र इत्यादिकों में भी धर्म मर्यादा का उल्लंघन और हठ के साथ साहस भी देखने में आता है, परन्तु वह कर्म तेजस्वी पुरुषों को 'जैसे सकल अमङ्गल पदार्थ जलानेवाले भी अग्निको वह कर्म दोषनहीं देसक्ता तैसे ही' पाप नहीं लगासक्ता ॥ ३०॥ यदि कहो कि—और भी उनका कार्य देखकर वैसा ही करेंगे तो सुनो—देहादि के पराधीन होने के कारण जो तेजस्वी नहीं हैं उन को कदापि ऐसे शास्त्रविरुद्ध कर्म को करने का मनमें भी विचार भी नहीं करना चाहिये;यदि मूर्खतासे कोई ऐसा करेगा तो वह 'जैसे रुद्रभगवान् के सिवाय दूसरा पुरुष समुद्र में के कालकूट विषको पिये तो वह नाश को प्राप्त होता है तैसे नष्ट होजायगा ॥ ३१॥ यदि कहोकि तब सदाचार का प्रमाण कैसे मानाजायगा? तो सुनो—ज्ञान वैराग्य आदि के वेगयुक्त तेजस्वी पुरुषों का आज्ञारूप भाषण सत्य है इसकारण उन्हों ने जैसा आचरण कराहोय तैसाही आचरण करे परन्तु कहीं उन का आचरण लौकिकव्यवहार के प्रतिकूल भी होता है इसकारण बुद्धिमान् पुरुष, जो उन का आचरण उनने उपदेश से मिलता हो उतने का ही आचरण करे अर्थात् केवल महान् पुरुषों का आचरण देखकर ही वैसा न करनेलगे क्योंकि वह आचरण उन के ही स्वरूप और तेज के अनुसार है इससे महान् पुरुष जिस अपने आचरण का उपदेश दें उस को ही बुद्धिमान् स्वीकार करे ॥ ३२ ॥ यदि कहोकि—वह ऐसा साहस क्यों करते हैं? तो सुनो—हे समर्थ राजन्! उन निरहङ्कारी पुरुषों को धर्माचरण करने से इस लोक में वा परलोक में किसीप्रकार का फल वा सुख नहीं मिलता है और अधर्म करने से अनर्थ वा दुःख भी नहीं मिलेगा, क्योंकि—उनका कर्म केवल प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर्यन्त ही रहता है ॥ ३३ ॥ यह तो ईश्वर के सिवाय अन्य ज्ञानी पुरुषों की वार्त्ता हुई; इससे यह कैसे सिद्ध होसक्ता है कि—आज्ञा करके वर्त्ताव करानेयोग्य सर्प पक्षी आदि तिर्यक् योनि, और मनुष्य देवता आदि सकल प्राणियों को अपनी आज्ञा से वर्त्ताव कराने वाले श्रीकृष्ण को धर्माचरण करने से पुण्य का और अधर्माचरण से पाप का सम्बन्ध नहीं होता है ॥ ३४ ॥ जिन के चरणकमल के पराग की सेवा करके तृप्तहुए भगवद्भक्त, तैसे

भोगविधुताखिलकर्मबन्धाः ॥ स्वैरं चरंति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छे-
यात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥ गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहि-
नाम् ॥ योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३६ ॥ अनुग्रहाय
भूतानां मानुषं देहमास्थितः ॥ भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भ-
वेत् ॥ ३७ ॥ नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ॥ मन्यमानाः
स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥ ३८ ॥ ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वा-
सुदेवानुमोदिताः ॥ अनिच्छंत्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥
विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ॥
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ४० ॥

ही जिनके ध्यानरूप योग शक्ति से, सकल कर्मबन्धनों से छूटेहुए योगीजन और जिनकी एकताका चिन्तवन करनेवाले ज्ञानी भी किसी कर्म से बन्धन न पाकर अपनी इच्छानुसार विचरते हैं,उन अपनी इच्छा से कृष्ण अवतार धारनेवाले भगवान् को लोकविरुद्ध आचरण से कैसे बन्धन होसक्ता है ? ॥ ३५ ॥ इसप्रकार गोपियों को परस्त्री मानकर उत्तर कहा. अब सर्वान्तर्यामी भगवान् का यह परस्त्रीसेवन किसीप्रकार भी नहीं है ऐसा कहते हैं— जो गोपियोंके,उन के पतियों के और सबही प्राणियों के भीतर बुद्धि आदिकों के साक्षीरूप से विराजमान रहतेहैं वहीभगवान् अपनी लीला से यहां देहधारी हुए हैं;जिनको देहसे दोष लगे हम तुमसे देहधारी वह नहीं हैं॥३६॥तो फिर उन पूर्णकाम भगवान्की निन्दित कर्ममें प्रवृत्ति क्योंहुई?ऐसाकहो तो सुनो पूर्णकाम भी भगवान् ने प्राणीमात्र के ऊपर अनुग्रहकरने के निमित्त मनुष्यशरीर को स्वीकार करके ऐसी क्रीड़ा करीं कि- जिनको सुनकर शृंगार रससे जिसका चित्त खिंचाहुआहै ऐसा अत्यन्त बहिर्मुख भी पुरुष (भगवद्भक्ति में) तत्परहोय ॥ ३७॥ यदि कहो कि-अब दूसरे भी आचार भ्रष्ट कोई पुरुष कहेंगे कि–हमारा भी आचरण ऐसाही है तो सुनो–गोकुल में रहनेवाली गोपियों के पतियों ने श्रीकृष्ण जी की कुछ भी निन्दा नहीं करी, क्योंकि–वह उनकी माया से मोहित होकर अपनी२ स्त्रियों को,अपने समीप ही हैं ऐसा मानते थे; ऐसा प्रभाव विनाहुए केवल कृष्ण की समान परस्त्री सं-भोग करनेवाले पुरुषों को पापी जानो ॥ ३८ ॥ ब्रह्ममुहूर्त्त (पौ फटने का समय) होने पर श्रीकृष्ण जी ने जिनको घर जाने की आज्ञा दी है ऐसी वह भगवान् की प्रिय गोपियें, घरजाने की इच्छा न हनेपर भी बड़े कष्ट से अपने २ घरों को गईं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष, श्रद्धावान् होकर, गोकुल की स्त्रियों के साथ श्रीकृष्ण जी की इस क्रीड़ा को क्रमसे सुनेगा अथवा पढ़ेगा वह, उन श्रीकृष्ण भगवान् में उत्तम भक्ति पा-कर थोड़े ही काल में जितेन्द्रिय होताहुआ, हृदय में रहकर रोग की समान अनर्थ क-

इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिं-
शोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा देवयात्रायां गोपालाः
जातकौतुकाः ॥ अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥ तत्र स्नात्वा स-
रस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् ॥ आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृप तेऽ-
बिकां ॥ २ ॥ गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः ॥ ब्राह्मणेभ्यो ददुः
सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥ ३ ॥ ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ॥
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥ ४ ॥ कश्चिन्महानहिस्तस्मिन्विपि-
नेऽतिबुभुक्षितः ॥ यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥ ५ ॥ स चुक्रोशा-
हिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ॥ सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय
॥ ६ ॥ तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ॥ ग्रस्तं च दृष्ट्वा वि-

रनेवाले कामका अत्यन्त तिरस्कार करेगा ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में त्रयस्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे चौतीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण जी ने, अजगर के निगलेहुए नन्द जी को छुडाया और उस अजगररूपी सुदर्शन नामक विद्याधर को भी आङ्गिरस ऋषि के शाप से छुटाया तथा शङ्खचूड नामवाले यक्ष का वध करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि–हे राजन्! एक समय महादेव जी की यात्रा को जाने के निमित्त जिनके मन में कौतुक उत्पन्न हुआ है ऐसे नन्द आदि गोपाल, बैल जोडीहुई गाडियों पर बैठकर मथुरा से पश्चिम की ओर सरस्वती नदी के तटपर के अम्बिकावन में पहुँचे ॥ १ ॥ हे राजन्! तहाँ उन्हों ने सरस्वती नदी में स्नान करके गन्ध पुष्प आदि पूजा की सामग्रियों से भक्तों के मनोरथ पूरे करनेवाले रुद्रदेव की और अम्बिकादेवी की भक्ति के साथ पूजा करी ॥ २ ॥ और वह महादेव जी हमारे ऊपर प्रसन्न हों इस हेतु से उन सब गोपों ने, आदर के साथ गौ, सुवर्ण, वस्त्र और मधुसहित मधुर अन्न ब्राह्मणों को समर्पण करे ॥ ३ ॥ फिर वह महाभाग नन्द सुनन्द आदि गोप, केवल जलमात्र पीकर निराहार व्रत और ब्रह्मचर्य आदि नियम धारण करते हुए उस रात को उस सरस्वती के तटपर ही बसेरहे ॥ ४ ॥ उस जङ्गल में कोई एक बडा भारी अजगर सर्प बहुत भूखा था वह रात्रि में स्वाभाविक फिरता २ धीरे धीरे पेटके बल तहां आकर सोयेहुए नन्दजी को निगलगया ॥ ५ ॥ तब सर्प ने जिनको पैरोंकी ओर से निगल लिया है ऐसे वह नन्दजी ऐसे हाहाकार करने लगे कि–हे कृष्ण ! कृष्ण ! यह बडा भारी अजगर सर्प मुझे निगले जाता है इसकारण शरण में आयेहुए मुझ को तुम इस से छुडाओ ॥ ६ ॥ ऐसा उनका दीन बचन और रोना सुनकर जागकर शीघ्रतासे उठेहुए वह गोपाल, नन्द जी

भ्रांताः सर्प विव्यधुरुल्मुकैः ॥ ७ ॥ अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरंगमः ॥ तमस्पृशत्पदाऽभ्येत्य भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ८ ॥ स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ॥ भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९ ॥ तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम् ॥ दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥ १० ॥ को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः ॥ कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥ ११ ॥ सर्प उवाच ॥ अहं विद्याधरः कश्चित्सुदर्शन इति श्रुतः ॥ श्रिया स्वरूपसंपत्त्या विमानेनाचरम् दिशः ॥ १२ ॥ ऋषीन्विरूपानंगिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ॥ तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥ १३ ॥ शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ॥ यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥ १४ ॥ तं त्वाऽहं भवभीतानां

को सर्प ने निगल लिया ऐसा देखकर जलतेहुए काठों से उस सर्प को मारने लगे॥७॥ जलतेहुए काठोंसे जिसका शरीर झुलसगया है ऐसे भी उस अजगर सर्पने जब नन्दजीको नहीं छोडा तब भक्तरक्षक भगवान् श्रीकृष्णजी ने तहाँ आकर सर्प को चरण से ठुकराया ॥८॥ तब वह सर्प,भगवान् के भक्तोंके मनोरथों को पूराकरनेवाले चरण के स्पर्शसे जिस के शापरूप पातक नष्ट होगए हैं ऐसा होकर सर्पशरीरको त्यागकर विद्याधरों से पूजित अपने विद्याधरस्वरूप को प्राप्तहुआ ॥ ९ ॥ तब सुवर्ण के पुष्पों की माला धारण करके दमकतेहुए शरीर से अपने आगे नमस्कार करके खड़ेहुए उस पुरुष को देखकर सब के मन की बात जाननेवाले भी वह श्रीकृष्णजी, गोपों में अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के निमित्त अनजान की समान उससे बूझने लगे कि—॥ १० ॥ जो अब अद्भुत दीखने वाला तू परम शोभा से प्रकाश पारहा है सो तू कौन है ? तुझ उत्तम को पराधीनता प्राप्तहुए विना यह सर्प की योनि नहीं प्राप्तहुई है सो तुझे इस निन्दित सर्प की योनि में किसने कैसे डाला है ? सो मुझे बता ॥ ११ ॥ तब सर्प ने कहा कि—हे प्रभो ! मैं सुदर्शन नाम से प्रसिद्ध देवयोनि का एक विद्याधर हूँ सो मैं पहिले कान्ति से और स्वरूप की समृद्धि से युक्त हो विमान में बैठा दशों दिशाओंमें घूमाकरता था ॥ १२ ॥ सो एक समय कुरूपवान् आङ्गिरस ऋषियों को देखा और अपने रूप की सुन्दरता से गर्व में होकर उनकी हँसी करी, तब मेरे उपहास कोहुए उन ऋषियों ने, मेरे अपराध करने के कारण मुझे शाप देकर इस सर्पयोनि में पहुँचादिया था ॥ १३ ॥ उन दयावान् ऋषियों ने मेरे ऊपर अनुग्रह करने को ही यह अजगरयोनि का शाप दिया था जिससे कि—अब तुमने मुझे चरण से स्पर्श करा और उसके प्रभाव से मैं शाप से छूट गया ॥ १४ ॥ हे सकलपापनाशक ! संसार से भय मानकर तुम्हारी शरण में आ-

प्रपन्नानां भयापहम् ॥ आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥ १५ ॥ प्र-
पन्नोऽस्मि महायोगिन्महापुरुष सत्पते ॥ अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरे-
श्वर ॥ १६ ॥ ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ॥ यन्नाम गृह्णन्न-
खिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च ॥ सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा
हि ते ॥ १७ ॥ इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥ सुदर्शनो
दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥ १८ ॥ निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं
व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ॥ समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं नृपाययुस्त-
त्कथयन्त आदृताः ॥ १९ ॥ कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥ वि-
जह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥ २० ॥ उपगीयमानौ ललितं स्त्री-
जनैर्बद्धसौहृदैः ॥ स्वलंकृतानुलिप्तांगौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ ॥ २१ ॥ नि-
शामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ॥ मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥

येहुए लोकों का पाप दूर करने वाले तुम भगवान से तुम्हारे चरण का स्पर्श होने
के कारण शाप से छूटाहुआ मैं, अपने लोक को जाने की आज्ञा माँगता हूँ ॥ १५ ॥ हे
भक्तपालक ! महापुरुष ! हे सर्वलोकेश्वर ! महायोगिन् ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ इस
कारण मुझे अपने लोक में जाने की आज्ञा दो ॥ १६ ॥ हे अच्युत ! तुम्हारे दर्शन से मैं
तत्काल ब्रह्मशाप से छूटा हूँ. इस में कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि-जिन तुम्हारे नाम को
उच्चारण करनेवाला पुरुष, सकल श्रोताओं को और अपने को तत्काल पवित्र करता है,
फिर तुम्हारे चरण का स्पर्श कराहुआ मैं पवित्र हुआ इस में आश्चर्य ही क्या ! ॥ १७ ॥
इसप्रकार सुदर्शन नामवाला विद्याधर श्रीकृष्णजी की आज्ञा लेकर और उनको प्रदक्षिणा
तथा नमस्कार करके स्वर्ग लोक को चलागया और श्रीकृष्णजी ने नन्दजी को भी उस सर्प
शरीर के मुख में से निकालकर सङ्कट से छुटाया ॥ १८ ॥ हे राजन् ! गोकुलवासी गोप,
चरणके स्पर्शमात्र से ही अजगर सर्प से नन्दजी का और शाप से सुदर्शन विद्याधर का छू-
टनारूप वह श्रीकृष्णजी का बड़ाभारी प्रभाव देखकर विस्मय में होगये और उस अम्बिका-
वन में करने का जो कुछ नियम था उसको समाप्त करके बड़े आदरके साथ उसही श्रीकृष्ण
की प्रभाव की आपस में बातें करतेहुए तिस अम्बिकावन से फिर गोकुल को चलेआये ॥
१९ ॥ तदनन्तर एक समय श्रीकृष्णजी और महापराक्रमी बलराम यह दोनों, वन में
रात्रि के समय गोकुल की स्त्रियों में आकर क्रीडा कररहे थे ॥ २० ॥ उन प्रेमकरनेवाली
स्त्रियों ने भी उत्तम स्वर से जिनको गाया है ऐसे,आभूषण पहिने, शरीरपर चन्दन का लेप
करे, वनमाला पहिने और निर्मल वस्त्र पहिने जिस में चन्द्रमा और तारागणों का उदय हो-
रहा है मल्लिका की सुगन्ध से मत्तहुए भौंरे फिररहे हैं और चन्द्रमा के उदय में खिलनेवाले
कमलों की सुगन्धिको उड़ानेवाले पवन से सेवन करेहुए रात्रि के प्रवेशकी प्रशंसा कररहे

॥ २२ ॥ जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ॥ तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वर-
मण्डलमूर्च्छितम् ॥ २३ ॥ गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन्नृप ॥ स्रं-
सद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥ २४ ॥ एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः
संप्रमत्तवत् ॥ शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥ २५ ॥ तयोर्निरी-
क्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम् ॥ क्रोशंतं कालयामास दिश्युदीच्यामशंकितः॥
॥ २६ ॥ क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ॥ यथा गा दस्युना
ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥ २७ ॥ मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तर-
स्विनौ ॥ आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥ २८ ॥ स वीक्ष्य तावनु-
प्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ॥ विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥
॥ २९ ॥ तमन्वधावद्गोविंदो यत्र यत्र स धावति ॥ जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ
रक्षन् स्त्रियो बलः ॥ ३० ॥ अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ॥

थे ॥ २१ ॥ २२ ॥ वह बलराम और कृष्ण, दूसरों को जिसका मनमें विचार करना भी कठिन है ऐसे अनेकों स्वरों का एकसाथ चढाव उतार करके आलाप करतेहुए सुननेवाले सकललोकों के मनों को और कानों को जैसे सुखदायक होय तैसे गानेलगे ॥ २३ ॥ हे राजन् ! उनका वह गाना सुनकर मोहितहुई गोपियें, तिस मोहके होने से जिन के शरीरों पर के वस्त्र खसकगये हैं और जिन के केशोंपर की पुष्पमाला गिरपड़ी हैं ऐसी वह अपने देहों की सुध को भी भूलगईं ॥२४॥ इसप्रकार इच्छानुसार परम मत्तहुए से वह बलराम कृष्ण क्रीडा कररहे थे सो इतने ही में शङ्खचूडनाम से प्रसिद्ध एक कुबेरका सेवक आया ॥२५ ॥ और हे राजन् ! मनमें भय की शङ्का भी न करनेवाला वह शङ्खचूड उन बलराम कृष्ण के देखतेहुए उन को कुछ न गिनकर, वही जिनके रक्षक हैं ऐसी चिल्लातीहुई स्त्रियों के समूह को बलात्कार से पकडकर उत्तर दिशा की ओर को चलदिया ॥ २६ ॥ तब वाघकी पकडीहुई गौएँ जैसे डकराती हैं तैसे हे राम ! हे कृष्ण ! ऐसा पुकारतीहुई और अपनी करके मानीहुई उन गोपियों को उस से छुडाने के निमित्त वह दोनो ही भ्राता दौड़े ॥ २७ ॥ और गोपियोंका भय दूर करनेवाले 'डरोमत' ऐसा शब्द उच्चारण करते, हाथ में शाल के वृक्ष उखाडकर लियेहुए और बडे वेग से दौडनेवाले वह बलराम कृष्ण, वेग से शीघ्र ही गुह्यकों में अधम उस शङ्खचूड के पास जापहुँचे ॥२८॥ तब वह मूढ शङ्खचूड एक मूर्त्तिमान् मरणकाल और एक मूर्त्तिमान् मृत्यु ऐसे भयङ्कर आयेहुए उन बलराम कृष्णको देखकर डरगया और बचने की इच्छा से स्त्रियों को छोडकर भागनेलगा ॥२९॥ उससमय वह जिधर२ को भागा उधर२ को श्रीकृष्णजी भी, उस के मस्तकपर के मणि को हरने की इच्छा से दौड़नेलगे; इधर बलरामजी उन स्त्रियों की रक्षाकरतेहुए तहाँ ही रहे ॥ ३० ॥ हे राजन् ! फिर प्रभु श्रीकृष्णजी ने, समीप में ही उस के सामने आकर केवल

जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥ ३१ ॥ शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरं ॥ अग्रजायाददत्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषितां ॥ ३२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ॥ कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥ १ ॥ गोप्य ऊचुः ॥ वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ॥ कोमलांगुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥ व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ॥ काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥ हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ॥ नन्दसूनुरयमार्त्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥ वृन्दशो व्रजवृषा मृगगा-

अपने घूँसेसे ही मस्तकपर की मणिसहित उसदुष्ट शङ्खचूड का मस्तक हरलिया ॥३१॥ इसप्रकार शंखचूड को मारकर उस के मस्तकपर का तेज से दमकताहुआ मणिलेकर श्रीकृष्णजी, बलरामजी के पास आये और उन्होंने वडी प्रीति से वह मणि, सब स्त्रियों के देखतेहुए बलरामजी को देदिया ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में चतुस्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे पैंतीसवें अध्याय में दिनके समय श्रीकृष्णजी के वन को चलेजानेपर गोकुल में की स्त्रियों ने दो२ श्लोकों का एक२ऐसे युगमगीतों से दुःख में दिनविताए यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! दिन में श्रीकृष्णजी के वन को चलेजानेपर उन में ही जिनका चित्तलगा है ऐसी वह गोपियें, कृष्णकीलीलाओं को ही उत्तमता के साथ गातीहुई वडे कष्ट से दिन विताती थीं ॥ १ ॥ कोई गोपी दूसरी गोपियों से कहने लगीं कि—अरीगोपियो! वाईं भुजा की मूल में जिन्हों ने अपना वायाँ कपोल टेकाहै और जिन्होने अपनी भ्रकुटिको नचाया है ऐसेवह श्रीकृष्णजी, अपने हाथकी कोमल अंगुलियों से जिसके सातोंस्वरों के छिद्रों का आश्रय करा है ऐसी अधर ओठपर रक्खी हुई वेणु को जब वजाते हैं -॥२॥ तब विमानमें अपने पतियों के साथ वैठीहुई भी सिद्धों की स्त्रियें, उस वेणुगीत को सुनकर पहिले आश्चर्य में होती हैं फिर जिन्होंने अपने चित्त कामदेवके वाणोंको अर्पण करे हैं ऐसी (कामातुर) और लज्जायुक्त होकर इतनी मोहित होती हैं कि—जिनको कामपीडा से हुई उस तलावेली में, नाडे खुलकर गिरेहुए वस्त्रों का भी भान नहीं रहता है; सो ऐसे कृष्ण का विरह हम कैसे सहैं? ॥ ३ ॥ दूसरी वोलीं कि—हे गोपियो! यह वडा आश्चर्य सुनो, जिनका हास्य हारकी समान स्वेतहै और जिनके वक्षःस्थल पर विजलीकी समान दमकती हुई लक्ष्मी स्थिर रहती है ऐसे यह नंदकुमार श्रीकृष्णजी अपने विरहसे दुःखित हुई हम सखियों को सुख देने के निमित्त जब मुरली वजाते हैं ॥ ४ ॥

वो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ॥ दंतदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखित-
चित्रमिवासन् ॥ ५ ॥ बर्हिणस्तवकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडंबः ॥ कर्हि-
चित्सबल आलि सगोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः॥६॥ तर्हि भग्नगतयः सरितो
वै तत्पदांबुजरजोऽनिलनीतम् ॥ स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः
स्तिमितापाः ॥ ७ ॥ अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः ॥
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८॥ वनलतास्तरव
आत्मनि विष्णुं व्यंजयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ॥ प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रे-
महृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९ ॥ दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीम-
धुमत्तैः ॥ अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि संधितवेणुः॥१०॥ सरसि सा-

तब गोकुल में के बैल, गौएँ और वनमें के हिरनों के झुण्ड के झुण्ड, दूरसेही वेणुका शब्द सुनकर जिनका चित्त हरागया है ऐसे होते हुए, दाँतों से तोड़े हुए ग्रास विना चवाये ही मुखमें तैसेही रखकर कान खड़े करके नेत्र मूँदकर सोते हुए से और लिखेहुए चित्र की समान निश्चल होकर खड़े रहते हैं ॥ ५ ॥ दूसरी गोपी कहनेलगीं कि–हे सखि! मोरों केपरोंके, झूमके गेरु आदि धातु और कोमल पत्तोंसे मल्लोंकी समानरूप वनानेवाले बलराम और गोपों सहित वह श्रीकृष्णजी, जवकभी वेणुके शब्दसे गौओंको बुलाते हैं–॥ ६ ॥ तव उस वेणु के शब्द को सुनकर, जैसे हम (गोपियें) बहुतसा पुण्य नहोने के कारण, पवन के उड़ाकर लाएहुए उनके चरण कमल की धूलिकी इच्छा करती हुई कुण्ठितगति (चलने की शक्तिसे रहित) होकर खड़ी रहती हैं और हमारी भुजा प्रेमसे काँपनेलगती हैं तथा हमारे नेत्रोंमें जल निश्चल रूप मे भरजाता है तैसेही नदियें भी आगेको जानेका वेग वन्द होकर रुकजाती हैं उन के जल निश्चल होजाते हैं और उनकी तरङ्गरूप भुजा प्रेमसे काँपने लगती हैं ॥ ७ ॥ दूसरी गोपी कहनेलगीं कि–अरी सखियों! निश्चल स-म्पत्ति वाले आदिपुरुष भगवान् की समान और अनुचरों ने (सेवकदेवताओं ने वा गोपों ने) जिनका पराक्रम वर्णन करा है ऐसे वनमें फिरनेवाले वह श्रीकृष्णजी, गोवर्द्धन पर्वत के चारोंओर फिरनेवाली गौओंको, जब उनके नामोंसे युक्त वेणुगीत में बुलाते हैं–॥ ८ ॥ तब हममें विष्णुका प्रकाश है ऐसा सूचित करती हुई मानो पुष्पों से और फलों से युक्त होकर जिनकी शाखा भारसे झुकीहुई हैं और जिनके अङ्गपर प्रेम से काँटेरूपी रोमाञ्च खड़े होगयेहैं ऐसी वनमें की लता और ऐसे ही वृक्ष, अपनेमें से मदकी धारा वहातेहैं॥९॥ दूसरी गोपी कहने लगीं कि–सुन्दर पुरुषों में मुख्य और वनमाला में के दिव्य गन्धवाले तुलसी के मदसे मत्तहुए भौंरों के समूहों के ऊँचेस्वर से गाएहुए अनुकूल गानको आदर के साथ सुननेवाले वह श्रीकृष्ण जब वेणुको वजाने लगते हैं–॥ १० ॥ तब सरोवरों में

रसहंससारसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ॥ हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥ ११ ॥ सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ॥ हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरंभति विश्वम् ॥ १२ ॥ महदतिक्रमणशंकितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ॥ सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रं ॥ १३ ॥ विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ॥ तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥ ॥ १४ ॥ सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ॥ कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥ १५ ॥ निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र

रहनेवाले सारस, राजहंस और दूसरे पक्षी, उस सुन्दर गीतसे मोहित होकर एकाग्रचित्तपनेसे श्रीकृष्णजी के समीप आकर, मौनव्रत धारण करतेहुए और सुनने में सुख मिलने से नेत्रों को मूँदतेहुए श्रीहरि की उपासना करते हैं, यह कैसा आश्चर्य है ? ॥ ११ ॥ कोई गोपी कहनेलगीं कि-हे गोपियों ! कानों में उरसे हुए पुष्पों की मालाओं के तोड़ोंसे शोभायमान होनेवाले वह श्रीकृष्णजी, बलरामजी के साथ गोवर्द्धन पर्वत के चारोंओर की भूमि में फिरते हुए, आप हर्षयुक्त होकर जगत् को हर्षित करते हुए वेणुके शब्दसे जब वह जगत् को भरदेते हैं-॥ १२ ॥ तब पूजनीय तिन श्रीकृष्णजी को,मेरी भारी गर्जना से असह्य होगा ऐसी मन में शङ्का करनेवाला मेघ, श्रीकृष्णजी के पास नहीं आताहै और गर्जता भी नहीं है, किन्तु दूरसे ही वेणुके शब्द के पीछे २ मन्द २ गर्जना करता है और जगत् का ताप दूर करने की तथा श्यामता आदि गुणोंकी समता होनेसे उन अपने सखा श्रीकृष्णजी के ऊपर छाया करके छत्र धारण करता हुआ पुष्पों की वर्षा करता है यहाँ मेघों की आड में रहकर देवताओं की करीहुई पुष्पों की वर्षा की ही मेघमें कल्पना करके, वह मेघ ही करता है ऐसा वर्णन करा है ॥ १३ ॥ दूसरी गोपी बडा आश्चर्य करतीहुई कहनेलगीं कि-हे पतिव्रता यशोदा ! नाना प्रकार की गोपक्रीडा में चतुर यह तेरा पुत्र श्रीकृष्ण ! पकीहुई तन्दूरी की समान अपने लाल २ अधर ओठपर वेणुको लगाकर, वेणु बजाने में अनेकों प्रकार की अपनी कल्पना की शिक्षा जिनमें हैं ऐसे निषाद, ऋषभ आदि स्वरों के आलापों के भेदों को जब बजाकर दिखाते हैं-॥ १४ ॥ तब गान का तत्त्व जाननेवाले इन्द्र, शिव और ब्रह्मादि,देवताओं के अधिपतिभी जिधर से गाने का शब्द आताहै उधरको अपनी गर्दन झुकाकर और चित्त देकर मन्द,मध्यम और अति ऊँचा इन क्रमोंसे निश्चलता करके उस गान को सुनकर उसके तत्त्व को न समझने के कारण मोह को प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥ हम अपने मोहित होने की तो बातही क्या कहें ? हे यशोदा ! ध्वजा, वज्र, कमल और अंकुश आदि अनेकों

नीरजांकुशविचित्रललामैः ॥ व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥ १६ ॥ व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ॥ कुजंगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥ १७ ॥ मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः ॥ प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥ १८ ॥ क्वणितवेणुरववंचितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ॥ गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥ ॥ १९ ॥ कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ॥ नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥ २० ॥ मन्दवायुरनुवात्यनुकूलं मानयन्मलयजस्पर्शेन ॥ वंदिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥ ॥ २१ ॥ वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ॥ कृत्स्न-

प्रकार के चिन्हों से युक्त अपने चरणरूप कमल के पत्तों से गोकुलकी भूमि का गौओं के खुरों से खुदने के कारण प्राप्तहुआ दुःख दूर करतेहुए, गजराज की समान गति वाले वह कृष्ण, वेणु को वजाते हुए जब चलते हैं और विलासके साथ देखते हैं तब उन के चलने के और विलास के साथ देखने की रीति ने जिन को कामदेव का वेग दिया है और वृक्षों की समान निश्चल दशा को पहुँचादिया है ऐसी हम (गोपियें) मोहित होकर अपने पहनेहुए वस्त्र को और खुलेहुए केशोंके जूड़े को भी नहीं जानतीहैं ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥ गौओं की गिनती करने के निमित्त माला में पिरोये हुए मणियों को धारण करनेवाले तथा जिसका सुगन्ध प्यारा है ऐसी तुलसी की माला से शोभायमान श्रीकृष्ण किसी स्थानपर मणियों से गौओं की चारों ओर गणना करते हुए प्यारे मित्र के कन्धे पर अपनी बाहु रखकर जब वेणु को बजाते हैं—॥ १८ ॥ तब उस बजाईहुई वेणु के शब्द से जिन के चित्तों का आकर्षण हुआ है ऐसी काले हिरनों की स्त्रियें (हिरनियें), हम गोपियों की समान ही, घर द्वारों की आशा छोड़कर, मधुरता आदि गुण समूहों के समुद्ररूप श्रीकृष्णजी के चारों ओर निश्चल होकर खड़ी रहती हैं ॥ १९ ॥ दूसरी गोपियें कहने लगीं कि—अरी पवित्र यशोदा ! तेरा ढोटा, इतने ही में दूसरी कहनेलगीं कि—नन्द का पुत्र श्रीकृष्ण, वृन्दावन में क्रीड़ा करके गोपियों को आनन्द बांटने के निमित्त कुन्दके पुष्पों की मालाओं से कौतुकी वेष धारण करके सायङ्काल के समय गोप और गौओं सहित यमुना में, अपने ऊपर प्रेम करनेवाले गोपों को हर्षित करते हुए जब क्रीड़ा करते हैं—॥ २० ॥ तब चन्दन की समान सुगन्धयुक्त शीतल स्पर्श से तिन कृष्ण का सत्कार करनेवाला मन्द, पवन, अनुकूलता से चलने लगता है और उससमय स्तुति पढ़नेवालों की समान स्तुतिआदि करनेवाले गन्धर्वादि उपदेवताओंके समूह बजाना,गाना और पुष्पों की वर्षासे उनकी सेवा करतेहैं ॥ २१ ॥ तदनन्तरआने

गोधनमुपोह्य दिनांते गीतवेणुरनुगेडितकीर्त्तिः ॥ ॥ २२ ॥ उत्सवं श्रमरुचाऽपि दृशीनामुन्नयन्खुररजश्छुरितस्रक् ॥ दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३ । मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ॥ बदरपांडुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुंण्डललक्ष्म्या ॥ २४ ॥ यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनांते ॥ मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥ २५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः ॥ रेमिरेऽहस्सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥ २६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वृन्दावनक्रीडागोपिकागीतं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ * ॥

वाले श्रीकृष्ण को देखकर वह गोपियें हर्ष से आपस में कहनेलगीं कि–हे सखियो ! यह देखो देवकी के उदर में से उत्पन्न हुआ कृष्णरूपी चन्द्रमा, हम सुहृदों के मनोरथपूरे करने को आरहा है, यह सब गोकुल का और गौओं का हित करनेवाला है, क्योंकि इसने गोवर्द्धन पर्वत को धारण कराथा; यह सायंकाल के समय सब गौओं को इकट्ठाकर के वेणु बजाताहुआ गोकुल में को लौटकर आनेलगता है तब मार्गमें ब्रह्मादिक देवता भी इसके चरणोंको प्रणाम करतेहैं,गोप इसकी कीर्त्ति का वर्णन करतेहैं इसके गलेमें की माला गौओंके पैरोंसे उड़ीहुई धूलिसे मैली होरही हैं;यह थकाहुआ भी अपने शरीर की कान्तिसे हमारे नेत्रोंको परमहर्षित करताहुआ आरहा है ॥२२॥२३॥ कितनी ही गोपियें,समीप में आयेहुए श्रीकृष्ण को देखकर बड़ी घबड़ाकर कहनेलगीं कि–अरी गोपियो ! जिनके नेत्र थोड़े से मदसे विह्वल होरहे हैं, जिनका मुख पकते हुए बेर की समान पाण्डुवर्ण दीख रहा है, जिन्होंने वनके पुष्पों की माला धारण करी है, जो अपने प्रेमीभक्तों का सन्मान करनेवाले हैं, जिन का चलना गजराज की समान है और जिनका मुख आनन्दयुक्त है ऐसे यह यदुपति श्रीकृष्ण, अपने सुवर्णके कुण्डलों की कांति से अपने सुकुमार कपोलों को शोभित करते हुए, जैसे दिन में लोकों को होनेवाले तापको दूर करने के निमित्त सायंकाल को चन्द्रमा उदय होता है तैसे ही गोकुल में की गौओं का और हमारा दुर्निवार विरह का ताप दूर करतेहुए अत्यन्त समीप को आरहे हैं देखो ॥ २४ ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इस प्रकार जिनका निश्चयात्मक और सङ्कल्प विकल्पात्मक मन श्रीकृष्ण के विषैं लौलीन होरहा है ऐसी उत्साह में भरीहुईं गोपियें दिन के समय में भी विवाह के दुःख से ही कृष्णलीलाओं को गातीहुईं अपने चित्त को आनन्दित करती थीं ॥ २६॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में पञ्चत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे छत्तीसवें अध्याय में, श्रीकृष्ण ने अरिष्टासुर को

श्रीशुक उवाच ॥ अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ॥ महीं महाककुत्कायः
कंपयन् खुरविक्षतां ॥ १ ॥ रंभमाणः खरतरं पदा च विलिखन्महीम् ॥ उ-
द्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन्॥२॥ किंचित् किंचित् शकृन्मुंचन्मूत्रयं
स्तब्धलोचनः ॥ यस्य निर्ह्रादितेनांग निष्ठुरेण गवां नृणाम्॥ ३॥ पतंत्यका-
लतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै ॥ निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचल-
शङ्कया ॥ ४ ॥ तं तीक्ष्णशृंगमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ॥ पशवो दुद्रुवु-
र्भीता राजन्संत्यज्य गोकुलम् ॥ ५ ॥ कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं
ययुः ॥ भगवानपि तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम् ॥ ६॥ मा भैष्टेति गिरा-
श्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ॥ गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ॥ ७ ॥

मारा और कंस ने नारद जी के मुखसे, वलराम और श्रीकृष्ण यह वसुदेव के पुत्र हैं ऐसा जानकर,उनको मथुरा से लाने की अक्रूर को आज्ञा करी यह कथा वर्णन करी है *

श्रीशुकदेवजीने कहा कि हे राजन्! इस प्रकार देव गन्धर्व आदिकों के करेहुए गान, नृत्य, वाजावजाना और पुष्पों की वर्षा आदि के साथ आयेहुए श्रीकृष्ण को देखकर गोकुल में वड़ा उत्साह होनेलगा तव, उसको न सहनेवाला, जिसका कन्धे का पुट्ठा और शरीर वहुत वड़ा है ऐसा एक वैल के आकार का अरिष्ट नामवाला दैत्य अपने खुरों से खोदीहुई भूमि को कम्पायमान करताहुआ गोकुल में आ पहुँचा ॥ १ ॥ वह लोकों को कठोर लगनेवाला वैल की जातिका शब्द करताहुआ, पैरों से भूमि को खोदताहुआ, पूँछ ऊपरको उठाकर सींगो की नोकों से नदी के किनारों को खोदेडालता और थोड़ा२ गोवर करताहुआ, मूत्र करताहुआ नेत्रों को फाड़ेहुए गोकुल में को आया था; हे राजन्! जिस के भयङ्कर शब्द से गौओं के और स्त्रियों के गर्भों का स्राव ÷ और पात अकाल में ही होनेलगा, जिसके कन्धे पै के पुट्ठेपर ' मानो यह पर्वत ही है ऐसा समझकर ' मेघ वैठते थे ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥ ४ ॥ उस भयङ्कर सींगोंवाले वृषभ को देखकर गोपी और गोप वहुतही डरे; हे राजन्! सव पशु भी उसको देखकर भय के कारण गोकुल को छोड़कर भागने लगे ॥ ५ ॥ फिर वह गोप आदि सव ही हे कृष्ण! हे कृष्ण! रक्षाकरो, ऐसा कहतेहुए गोविन्द की शरण गये तव भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भय से व्याकुल हुए उस गोकुल को देखकर—॥ ६ ॥ तुम मत डरो, ऐसी वाणी से गोपों को धीरज वँधाकर उस वृषभासुर को अपने सामने वुलाया और कहा कि—अरे मन्दवुद्धि दुष्ट! गोपालों को और गौओं को भय देने से तुझे क्या फल मि-

÷" आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः । अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यात् " अर्थात् चार महीने के भीतर गर्भ गिरे तो उसको गर्भस्राव और पांचवें या छठे महीने गिरे तो उसको गर्भपात कहते हैं ॥

बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनां ॥ इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं त-
लशब्देन कोपयन् ॥ ८ ॥ सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ॥ सो-
ऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ॥ उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः
कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥ अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् ॥ क-
टाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिंद्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥ १० ॥ गृहीत्वा शृंगयोस्तं च अष्टादश-
पदानि सः ॥ प्रत्यपोवाह भगवान् गजं प्रतिगजो यथा ॥ ११ ॥ सोपाविद्धो
भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः ॥ आपतत् स्विन्नसर्वांगो निःश्वसन् क्रोधमूर्छितः
॥ १२ ॥ तमापतन्तं स निगृह्य शृंगयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ॥ नि-
ष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमंबरं कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥ १३ ॥
असृग्वमन्मूत्रशकृत्समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ॥ जगाम कृच्छ्रं नि-

लेगा ? ॥ ७ ॥ क्योंकि–तेरी समान दुर्बुद्धि दुष्टों के बलसहित गर्व का नाश करने वाला मैं हूँ, तू मेरे समीप आ; ऐसा कहकर वह श्रीकृष्णजी, हाथों की हथेलियों से भुजदण्डों को ठोककर तिस अरिष्टासुर को कोपयुक्त करतेहुए ॥८॥ सखा के कन्धेपर सर्प के शरीर की समान सुकुमार अपना हाथ फैलाकर श्रीहरि खडे होगये, इस प्रकार कोपित करने के कारण क्रोध में भराहुआ और जिसके नेत्र निश्चल एवं रुधिर की समान लाल२ हैं और जिसने अपने सींगों की नोकें आगे को करली हैं जिसकी ऊपर को जातीहुई पूंछ से मेघ तित्तर वित्तर होगए हैं ऐसा वह अरिष्टासुर, अपने खुरों से भूमि को खोदताहुआ श्रीकृष्णकी ओर को तिरछी दृष्टि से देखकर वेग के साथ इन्द्र के छोडेहुए वज्र की समान श्रीकृष्ण के ऊपर को दौडकर आया ॥ ९ ॥ १० ॥ तब उन भगवान् ने, उस के सींगों को पकडकर जैसे गजराज दूसरे हाथी को पीछेको ढकेल देताहै तैसे उसको अठारह पैर पीछे को ढकेल दिया॥ ११ ॥उससमय भगवान्के पीछे को ढकेलनेके कारण भूमिपर पडाहुआ वह अरिष्टासुर, फिर उठकर, जिस के शरीर मेंसे पसीना छूट निकला है और जिसको बडा क्रोध आयाहै ऐसा वह कृष्णके शरीरपर को झपटनेलगा ॥ १२ ॥ तब श्रीकृष्णजीने, ऊपरको आनेवाले तिस अरिष्टासुर को सींगोंके स्थान में पकड़कर भूमिपर गिराकर चरण से दवाकर 'जैसे गीलेवस्त्र को पैरसे दबाकर हाथसे अमेठते हैं और उस में का जल निचोड़कर बाहर निकालते हैं तैसेही, उसको अमेठकर उसके रोमों के छिद्रों में को रुधिर बाहर निकाला और उसका सींग उखाड़कर उसमेही उसके ऊपर प्रहार करा तब वह भूमिपर गिरकर–॥ १३ ॥ मुखमें से रुधिर की वमन करता हुआ, गोवर तथा मूत्र करताहुआ और अपने पैरोंको तडफडाताहुआ, नेत्र फिराकर बडी कष्टदशा को प्राप्तहुआ और अन्त में मृत्यु के घरको पहुँचा, तब सब देवताओं ने, श्रीकृष्णजी के ऊपर फूलों की

र्दुनेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥ १४ ॥ एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ॥ विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥ ॥ १५ ॥ अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ॥ कंसायाथाह भगवान् ना-रदो देवदर्शनः ॥ १६ ॥ यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ॥ रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥ न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ॥ १७ ॥ निशम्य तद्भोजपतिः कोपात्प्रचलितेंद्रियः ॥ नि-शातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥ १८ ॥ निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्यु-मात्मनः ॥ ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ॥ १९ ॥ प्रतियाते तु दे-वर्षौ कंसं आभाष्य केशिनम् ॥ प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ ॥२०॥ ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान् ॥ अमात्यान् हस्तिपांश्चैवसमाहूयाह भोजराट्॥२१॥भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूरमुष्टिकाः॥नंदव्रजे किलासाते सुता-

वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करी ॥ १४ ॥ इसप्रकार वृषभासुर को मारकर गोपों से स्तुति करेहुए और गोपियों के नेत्रों के मूर्त्तिमान् उत्सवरूप वह श्रीकृष्णजी बलराम जी के साथ गोकुल में को चलेगये ॥ १५ ॥ इसप्रकार अद्भुतकर्म करनेवाले श्रीकृष्णजी ने अरिष्टासुर को मारडाला तब,जिनका दर्शन देवताओं की समान है ऐसे भगवान् नारद ऋषि मथुरा में कंससे मिलकर कहने लगे कि-॥१६॥ हे कंस ! देवकी के आठवें गर्भके नाम से प्रसिद्ध तेरे हाथ से छूटकर गईहुई जो कन्या थी वह,यशोदा की कन्या थी और जो यशोदा का पुत्र कहकर प्रसिद्ध है वह कृष्णदेवकी का आठवां पुत्रहै और रोहिणी कापुत्र जोबलराम वह देवकीका सातवाँ पुत्र है,यह दोनों वसुदेव के पुत्र हैं,और उनको, तुझ से भय माननेवाले वसुदेवजीने अपने मित्र नन्दजी के यहाँ गुप्तरूप से रखदिया है;और उनबलराम कृष्णने ही तेरे पूतना- आदि दैत्य मारे हैं ॥१७॥ ऐसा नारदजी का भाषण सुनकर जिसकी इन्द्रियें खलबला गईहैं ऐसे उस भोजपति कंसने,वसुदेवजीको मारनेके निमित्त हाथमें तीखी धारकी तलवार उठाई ॥१८॥ तब वसुदेवजीको मारडालेगा तो—यह सुनकर, बलरामकृष्ण गोकुल मेंसे भागजायँगे,फिर उन शत्रुओंका वध तेरे हाथ से नहीं होसकेगा.इसकारण तू शीघ्रता से वसुदेवजी का बन्धन करके उन अपने शत्रुओं के मारने का उपाय कर, ऐसी सम्मति देनेवाले नारदजीने उस कंसको रोका,तब वसुदेवके पुत्र बलरामकृष्ण मेरे मृत्युरूप हैं ऐसा जानकर उस कंसने, लोहेकी बेडियों से देवकीसहित वसुदेवजी को बाँधलिया ॥ १९ ॥ फिर नारद ऋषि के चलेजाने पर कंसने, केशी दैत्य को बुलवाकर, हे केशिन ! तू गोकुल में जाकर बलराम कृष्ण का वधकर ऐसी आज्ञा देकर उसको गोकुल में भेजदिया ॥ २० ॥ तद-नन्तर वह भोजराज कंस,मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशलक आदि मल्लों को, महावतों को और मंत्रियों को बुलवाकर कहने लगाकि-॥२१॥ अरे ! रे ! वीरों ! हे चाणूर ! हेमुष्टिक !

वानकदुंदुभेः॥२२॥रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ॥ भवद्भ्यामिह
संप्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया॥२३॥मंचाः क्रियंतां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः॥पौरा
जानपदाःसर्वेपश्यंतु स्वैरसंयुगम्॥२४॥महामात्र त्वया भद्र रंगद्वार्युपनीयतां॥द्विपः
कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥ २५ ॥ आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां
यथाविधि ॥ विशसंतु पशून्मेध्यान् भूतराजाय मीढुसे ॥ २६ ॥ इत्याज्ञाप्यार्थ-
तंत्रज्ञ आहूय यदुपुंगवं ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥ २७ ॥
भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ॥ नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोज-
वृष्णिषु ॥ २८ ॥ अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनं ॥ यथेंद्रो विष्णु-
माश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः ॥ २९ ॥ गच्छ नंदव्रजं तत्र सुतावानकदुंदुभेः ॥

तुम यह मेरा आज्ञारूप भाषण सुनो ! नन्द की गोकुल में निःसन्देह वसुदेव के पुत्र बलराम कृष्ण हैं, उनसे निःसन्देह मेरी मृत्यु होगी, ऐसा आकाशवाणी ने कहा है इसकारण यहाँ आयेहुए उनको तुम (चाणूर और मुष्टिक से) मल्लछीला करके मरवा डलवाओ ॥ २२ ॥ २३ ॥ अरे सेवकों ! मल्लोंका युद्ध होने के स्थान के चारों ओर एक से एक सटाहुआ इसप्रकार बैठने के निमित्त ऊँचेऊँचे मचान बनवाओ, जिससे कि पुरवासी और देशवासी सब पुरुष उनके ऊपर बैठकर यथेच्छ मल्लयुद्ध को देखें ॥२४॥ हे कल्याणकारक महावत ! तू कुवलयापीड नामवाले हाथी को, रङ्गमण्डप के द्वारपर लेजाकर खडारह, उस से, आनेवाले मेरे शत्रु जो रामकृष्ण उनको मरवादेना ॥२५॥ अरे शिवभक्तों ! अब आनेवाली चतुर्दशी तिथि के दिन तुम,शिवशास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार धनुषयज्ञ का (धनुष में शिव जी का आवाहन करके पूजन करने के यज्ञ का) आरम्भ करो और उसमें भक्तों का मनोरथ पूरा करनेवाले उन शिव जी को प्रसन्न करने के निमित्त पवित्र पशुओं का वध करो ॥ २६ ॥ इस प्रकार उपाय करने के निमित्त पुरुषों को आज्ञा देकर, अपने कार्य के सिद्धान्त को जानने वाले वह कंस, यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर जी को बुलवाकर, उनके सन्मान के निमित्त अपने हाथ से उनका हाथ पकडकर, बडा आनन्द दिखाताहुआ उन से कहने लगा कि-॥ २७ ॥ हे दानपति अक्रूरजी ! तुम मेरा मित्रभाव का कार्य करो; क्योंकि-इन भोज और वृष्णि नामक सकल देशों में आदर के साथ मेरा उत्तम हित करनेवाला तुमसे दूसरा कोई नहीं है ॥ २८ ॥ इस से हे मेरा प्रिय कार्य करनेवाले अक्रूर जी ! जैसे अवस्था में बडे भी इन्द्र ने, अवस्था में छोटे भी वामनरूप भगवान् का आश्रय करके, बलिराजा की छीनी हुई भी त्रिलोकी की सम्पदा को फिर पालिया था तैसेही, मैंने भी अपना बडाभारी कार्य साधने के लिये तुम्हारा आश्रय करा है ॥ २९ ॥ इस कारण तुम, नन्दजीकी

आस्थाते तावितहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥ ३० ॥ निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ॥ तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥ ३१ ॥ घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना ॥ यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥ ३२ ॥ तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान् ॥ तद्बन्धून्निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥ ३३ ॥ उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ॥ तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥ ३४ ॥ ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ॥ जरासंधो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥ ३५ ॥ शंबरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः ॥ तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥ ३६ ॥ एतज्ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ ॥ धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥ ३७ ॥ अक्रूर उवाच ॥ राजन्मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ॥

गोकुल में जाओ और तहाँ वसुदेवजी के पुत्र बलराम कृष्ण हैं उनको इस मेरे रथ के ऊपर बैठाकर लिवालाओ; इस काम में विलम्ब मत करो ॥ ३० ॥ विष्णु भगवान् का आश्रय करनेवाले देवताओं ने, उन बलराम कृष्ण से मेरी मृत्यु होयगी ऐसा निश्चय कररक्खा है; इस कारण उनको मारडालने का मेरा अभिप्राय गुप्त रखकर ' धनुर्यज्ञ देखने के निमित्त, तुम दूध दही आदि भेट लेकर राजा की आज्ञा से चलो ऐसा कहकर ' नन्द आदि गोपों सहित उन बलराम कृष्ण को यहाँ लिवालाओ ॥ ३१ ॥ तब यहाँ आयेहुए उनको मैं, मृत्युसमान कुवलयापीड हाथी से मरवादूँगा, यदि कदाचित् उस से वह छूटगये तो वज्रकी समान दृढ शरीरवाले चाणूर मुष्टिक आदि मल्लों से मरवादूँगा ॥ ३२ ॥ उनके मरण को प्राप्त होजानेपर शोक से तप्तहुए उनके वसुदेव आदि बान्धवों को और वृष्णि, भोज तथा दाशार्हों को मैं ही मारडालूंगा ॥ ३३ ॥ फिर बूढे होकर भी राज्य की इच्छा करनेवाले उग्रसेन पिता को तथा उनके भ्राता देवक को और जो दूसरे मेरे शत्रु हैं तिन सबों को मारडालूंगा ॥ ३४ ॥ हे मित्र ! फिर यह पृथिवी शत्रुरहित होजायगी; क्योंकि—जरासन्ध राजा ससुर होने के कारण मेरा पूजनीय ही है, द्विविद नामक वानर मेरा मित्र है; शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर इन्होंने मेरी ही मित्रता करी है. इस से अब उन जरासन्ध आदिकों की सहायता से मैं देवताओं का पक्ष करनेवाले सकल राजाओं को मारकर पृथ्वी का राज्य करूंगा ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ यह मेरे मनकी बात जानकर तुम, धनुर्यज्ञ देखने के निमित्त और मथुरा नगरी की शोभा देखने के निमित्त राजा ने तुम्हें बुलाया है ऐसा कहकर ! शीघ्र ही उन बालक बलराम कृष्ण को लिवालाओ ॥ ३७ ॥ अक्रूर जी ने कहा कि हे महाराज ! आपका यह विचार आपकी मृत्यु को हटानेवाला होने से बडा सुन्दर

सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनं ॥ ३८ ॥ मनोरथान्करो-
त्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ॥ युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥ ३९॥
एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ॥ प्रविवेश गृहं कंसस्तथाऽक्रूरः
स्वमालयम् ॥ ४० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अक्रूरसं-
प्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ केशी तु कंसप्रहितः
खुरैर्महीं महाहयो निर्जरयन् मनोजवः ॥ सटावधूताभ्रविमानसंकुलं कुर्वन्नभो
हेषितभीषिताखिलः ॥ १ ॥ विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलम-
हाघनोपमः॥दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कंपयन् ॥२॥
तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ॥ आत्मानमाजौ

है, तथापि मनुष्य को, किसी भी कार्य में आग्रह न करके फलकी सिद्धि वा असिद्धि के विषय में मनकी समता रखना चाहिये, क्योंकि–फल उत्पन्न करनेवाला दैव (ईश्वर) है ॥३८॥ यह प्राणी, दैव के उलटे करेहुए भी मनोरथों को करके उन की सिद्धि के लिये परमयत्न करता है परन्तु उन मनोरथों की सिद्धि होगई तो हर्ष से नहीं तो शोकसे युक्त होता है; ऐसा व्यवहार है तथापि मैं सेवक होनेके कारण तुम्हारी आज्ञा को पूरा करता हूँ अर्थात् रामकृष्ण को लेने के निमित्त गोकुल में जाता हूँ ॥ ३९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार वह कंस, अक्रूरजी से कहकर फिर सब मंत्रियों को विदाकरके अपने राजमन्दिर में चलागया, इधर अक्रूरजी भी अपने घर को चलेगये ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में षट्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥

अब आगे सैंतीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने केशी दैत्य का प्राणान्त करदिया तब नारद जी ने आगे को होनेवाले काम की सूचना करके उन श्रीकृष्णजी की स्तुतिकरी फिर क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्णजीने, व्योमासुर का वध करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि–हे राजन् ! कंस का भेजाहुआ केशी दैत्य तो, बड़े घोड़े का स्वरूप धारण करके गरदनपर के केशों की झपेट से इधर उधर को उड़ायेहुए मेघोंसे और देवताओं के विमानों से आकाश को घचाघच करताहुआ और खुरों से पृथ्वी को खोदताहुआ, जिस का वेग मन के वेगकी समान तीव्र है, जिस ने अपने हिनहिनाहट के शब्दों से सकल जगत् को भयभीत करदिया है ॥ १ ॥ जिस के नेत्र विशाल हैं, जिसके मुख का जावडा भयङ्कर है, जिसका कण्ठ पुष्ट है, जो बडेभारी काले मेघमण्डलकी समान बडा है, जिसका चित्त दुष्ट है, वह केशी दैत्य कंस का हित करने की इच्छा करके भूमि को डगमगाताहुआ नन्द जी की गोकुल में पहुँचा ॥ २ ॥ तब अपनी गोकुल को घोडेकीसी हिनहिनाहट से भय देनेवाले और पूँछ के बालों से मेघों को तित्तर वित्तर करदेनेवाले और युद्ध के निमित्त

मृगयन्तमग्रणीरुपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ ३ ॥ स तं निशाम्याभिमुखो मु-
खेन खं पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षण ॥ जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं दुरासदश्च-
ण्डजवो दुरत्ययः ॥ ४ ॥ तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परि-
विध्य पादयोः ॥ सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थित:
॥ ५ ॥ स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा व्यादाय केशी तरसाऽपतद्धरिम् ॥
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ६ ॥ दन्ता
निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशस्ते केशिनस्तप्तमयःस्पृशो यथा ॥ बाहुश्च तद्देहगतो महा-
त्मनो यथाऽऽमयः संववृधे उपेक्षितः ॥ ७ ॥ समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरु-
द्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ॥ प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लण्डं विसृ-
जन् क्षितौ व्यसुः ॥ ८ ॥ तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्व्यसोरपाकृष्य भुजं

अपने को (कृष्णको) खोजतेहुए उस केशी दैत्यको, आगे बढ़कर उन भगवान् श्री-कृष्णजीने, अपने सन्मुख बुलाया, तब उस दैत्य ने, सिंहकी समान बडीभारी गर्जनाकरी ॥३॥ और दूसरे जिसका तिरस्कार न करसकें तथा जिसके आगे भी न आसकें ऐसा वह बडे वेगवाला दैत्य,तिनकोदेखकर मानोमुख से आकाशको पिये ही जाताहै! ऐसाहोताहुआ, अपना मुख फैलाकर श्रीकृष्णजी के ऊपर को दौडा और उसने अपने पीछेके पैरों से उन कमलनयन श्रीकृष्ण के ऊपर प्रहार करा ॥ ४ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णजीने, उसके प्र-हार (वार) को बचाकर, और अपने को मारने के निमित्त क्रोध से फैलाएहुए उसके च-रणों को पकडकर घर २ घुमाडाला और चार सौ हाथ की दूरीपर तिरस्कार के साथ फें-कदिया और जैसे गरुड, सहज में ही सर्प को फैंककर निर्भयपने से रहता है तैसे ही वह श्रीकृष्णजी निर्भय खडेरहे ॥ ५ ॥ इसप्रकार भगवान् ने जिसको फेंकदिया है ऐसावह केशी दैत्य, पहिले मूर्छित होगया और फिर सावधान होकर उठा तथा क्रोध से अपना मुख फैलाकर वेग के साथ श्रीकृष्णजी को निगलडालने के निमित्त उनके ऊपरको दौडा तब उन श्रीकृष्णजी ने भी हँसते हँसते ही उस के मुख में अपने बायें हाथ को, ' जैसे चुहे को पकडने के निमित्त उस के भट्टे में सपेरा साँपको घुसाता है तैसे ' घुसेड दिया ॥ ६ ॥ तब, जैसे तपायेहुए लोहे के टुकडे से छुएहुए दाँत गिरपडते हैं तैसे ही भगवान् के हाथसे छुएहुए उस केशी दैत्य के सब दाँत गिरपडे और उसके शरीर में घुसाहुआ भगवान् का हाथ, जैसे औषध सेवन न करने से जलोदर आदि रोग बढ़ता है तैसे बढ़नेलगा ॥ ७ ॥ उससमय अत्यन्त ही बढ़तेहुए श्रीकृष्णजी के हाथ से जिसका प्राण घुटनेलगा है, शरीर पर पसीना छूटनिकला है और जिसके नेत्र फिरगये हैं ऐसा वह केशी दैत्य, पैरों को फेंक-ताहुआ और लीद करताहुआ मरकर भूमिपर गिरपडा ॥ ८ ॥ तब प्राणहीनहुए उस केशी

महाभुजः ॥ अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ॥ ९ ॥
देवर्षिरुपसंगम्य भागवतप्रवरो नृप ॥ कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥
॥ १० ॥ कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर ॥ वासुदेवाखिलावास
सात्वतां प्रवर प्रभो ॥ ११ ॥ त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ॥
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥ १२ ॥ आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मा-
यया ससृजे गुणान् ॥ तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥ १३ ॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ॥ अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय
च ॥ १४॥ दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयाऽयं हयाकृतिः ॥ यस्य ह्रेषित-
संत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥ चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्॥
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥ १६ ॥ तस्यानु शंखयवनमु-

दैत्य के, पकेहुए फूट के फल की समान जहाँ तहाँ फटे हुए शरीर में से उन महापराक्रमी श्रीकृष्णजीने, अपना हाथ निकाललिया. तब विना उद्योग केही शत्रुको मारनेवाले और गर्व न करनेवाले उन श्रीकृष्णजीके ऊपर विस्मय में हुए देवताओं ने फूलों की वर्षा करके उनकी स्तुति करी ॥९॥ हेराजन्! तदनन्तर एकसमय, भगवान् के भक्तों में अति श्रेष्ठ नारद ऋषि प्रशंसा के योग्य कर्म करनेवाले उन श्रीकृष्णजीके समीपएकान्त में आकरकहनेलगे कि—१० हे कृष्ण! कृष्ण! हे अपरिच्छिन्नस्वरूप! हे योगेश! हे जगदीश्वर! हे वासुदेव! हे जगन्निवास! हे यादवों में श्रेष्ठ! हे प्रभो! तुम पृथ्वी के भाररूप दैत्योंका संहारकरने के निमित्त भूमि पर अवतरे हो, इसकारण उस अवतारके योग्य कार्य करके जगत्की रक्षा करो, हे कृष्ण! जैसे अग्नि काठ में गुप्तरूप से रहता है तैसेही एक तुमही सकल प्राणियों की बुद्धियों के भीतर रहनेवाले, आत्मा साक्षी, महापुरुष, ईश्वरहो; इसकारण पराधीन जीवों की, तुम्हारी प्रेरणाके विना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होसक्ती है, तुम स्वतन्त्रहो, इसकारण तुम्हें साधन की आवश्यकता नहीं है, तुमने आपही अपनी मायाशक्ति के द्वारा सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को उत्पन्न करा है और उन गुणों के द्वारा, तुम सत्यसङ्कल्प ईश्वर, इस जगत् को उत्पन्न करते हो वही तुम अब राजाओं के रूप में प्रकट हुए दैत्य, प्रमथ और राक्षसों का नाश करने के निमित्त और धर्ममर्यादा की रक्षा करने के निमित्त प्रकट हुए हो ॥११ ॥१२॥ १३॥ १४॥ इस घोड़े का रूप धारण करनेवाले दैत्य को तुमने लीलासे ही मारादिया है, इससे सबों का कल्याण हुआ है, जिसके शब्दमात्र से भयभीत हुए देवता, स्वर्गलोक को छोडकरभाग जाते थे ॥ १५ ॥ हे प्रभो! आजही यहां अक्रूर आवेंगे, कल तुम मथुरा को जाओगे और परसों को चाणूर, मुष्टिक तथा दूसरे भी मल्ल, कुवलयापीड हाथी और कंस इन को मारोगे, सो मैं देखूंगा ॥ १६ ॥ फिर पञ्चजन का पुत्र, शङ्खासुर, कालयवन, मुर-

राणां नरकस्य च ॥ पारिजातापहरणमिंद्रस्य च पराजयम् ॥१७॥ उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ॥ नृगस्य मोक्षणं पापाद्द्वारकायां जगत्पते ॥ ॥ १८ ॥ स्यमंतकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ॥ मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥ १९ ॥ पौंड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च दीपनम् ॥ दन्तवक्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥ २० ॥ यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन्भवान् ॥ कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥ २१ ॥ अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ॥ अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥ २२ ॥ विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थममोघवांछितम्॥ स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥ २३ ॥ त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ॥ क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वतां ॥ २४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ॥ प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः

दैत्य और नरकासुर का वध, पारिजात वृक्षका लाना, इन्द्रको हराना ॥ १७ ॥ और पराक्रम दिखाना, यह जिसके मूल्य आदि हैं ऐसी राजकन्याओं का विवाह और हे जगत्पते ! द्वारका में वसते समय, ब्राह्मण की गौका हरण करने के कारण गिरगटयोनि को प्राप्त हुए राजा नृगको उस पापसे छुटाना, जाम्बवती सहित स्यमन्तक मणि को फेरकर लाना, मरण को प्राप्तहुए ब्राह्मण के पुत्र को महाकालपुर से लौटाकर लादेना ॥ १८ ॥ १९ ॥ पौंड्रक का वध, काशीपुरी का जलाना, दन्तवक्र का वध और धर्मराजके राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का वध ॥ २० ॥ यह तथा और भी, द्वारका में वसनेवाले तुम, भूमिपर कवियों के गाने योग्य जो दूसरे चरित्र करोगे वह सब मैं देखूंगा ॥ २१ ॥ फिर भूमि का भार दूर करने की इच्छा करनेवाले तुम, अर्जुन के सारथी होकर जो अक्षौहिणियों गिनती की सेनाओं का संहाररूप कर्म करोगे वहभी मैं देखूंगा ॥ २२ ॥ हे कृष्ण ! केवल शुद्धज्ञानमूर्त्ति,अपनी परमानन्दस्वरूप दशा में ही सकल मनोरथपूर्ण हुए,सत्यसङ्कल्प और चैतन्यशक्ति से रचाहुआ मायाका कार्यरूप संसारप्रवाह जिन से सदा हटा हुआ है ऐसे परमैश्वर्यवान तुम भगवान् की मैं शरण आया हूँ ॥ २३ ॥ ईश्वर, स्वतन्त्र, अपने वश में रहनेवाली माया से महत्तत्त्वादि सबप्रकार के विषयों की कल्पना करनेवाले परन्तु इससमय क्रीडा के निमित्त मनुज शरीर धारने वाले, यादव, वृष्णि और सात्वतों में आगे गिननेयोग्य तुम भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी के दर्शनसे आनन्दयुक्त हुए वह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ नारद ऋषि,यादवपति श्रीकृष्णजी को

॥ २५ ॥ भगवानपि गोविंदो हत्वा केशिनमाहवे ॥ पशूनपालयत्पालैः प्री-
तैर्व्रजसुखावहः ॥ २६ ॥ एकदा ते पशून्पालाश्चारयन्तोद्रिसानुषु ॥ चक्रुर्नि-
लायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥ २७ ॥ तत्रासन्कतिचिच्चोराः पालाश्च के-
तिचिन्नृप ॥ मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥ २८ ॥ मयपुत्रो
महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ॥ मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून्
॥ २९ ॥ गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ॥ शिलया पिदधे
द्वारं चतुःपंचावशेषिताः ॥ ३० ॥ तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः
सतां ॥ गोपान्नयंतं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥ ३१ ॥ स निजं रूप-
मास्थाय गिरींद्रसदृशं बली ॥ इच्छन्विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद्ग्रहणातुरः ॥३२॥
तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ॥ पश्यतां दिवि देवानां पशुमारम
मारयत् ॥३३॥ गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान्निःसार्य कृच्छ्रतः ॥ स्तूयमानः सु-

नमस्कार करके जाने के निमित्त उनके आज्ञा देनेपर चलेगये ॥२५॥ भगवान् श्रीकृष्णजी भी, युद्ध में केशिदैत्य को मारकर गोकुलको सुखी करते हुए प्रसन्न हुये गोपालोंके साथ पशुओं की रक्षा करनेलगे ॥२६॥ एकसमय वह बलरामकृष्ण आदि गोपाल, गोवर्द्धनपर्वत के चारों ओर गौओं को चरातेहुए कहीं चोर कहीं रक्षक होकर, चुराकर छुपाने का खेल खेलनेलगे ॥ २७ ॥ हे राजन् ! उन गोपों में कितने ही चोरहुए और कितनेही (बल राम कृष्ण आदि) उन के रक्षक हुए और कितने ही मेंढें बने उनमें चोर मेंढोंको चुरा कर छुपाकर रक्खें और रखवाले उन को ढूंढकर लावें, ऐसे सब गोपाल निर्भयहोकर खेलनेलगे ॥ २८ ॥ तब मयासुर का पुत्र बडा मायावी व्योमासुर, गोपालों का वेष धारकर आप चोरबना और वारम्वार मेंढे बने गोपालों को लेजानेलगा ॥ २९ ॥ वह महादैत्य, लेलेजाकर गोपालों को पर्वत की गुफा में रखकर उसका द्वार शिला से ढक देताथा; ऐसा होते २ अन्त में मेंढे बने हुए गोपाल पांच चारही शेष रहगये ॥३०॥ तब सत्पुरुषों को आश्रय देनेवाले श्रीकृष्णजी ने, उसके तिस कर्म को जानकर, गोपों को लेजानेवाले तिस व्योमासुर को, जैसे सिंह बलसे भेडिये को पकडता है तैसे एकाएकी पकडलिया ॥ ३१ ॥ तब उस बलवान् दैत्यने, गोपके स्वरूप को त्यागकर महापर्वत की समान अपना स्वरूप धारण करलिया और अपने को छुटाने के निमित्तबडा उद्योगकरा, परन्तु श्रीकृष्णजी के पकड लेनेके कारण व्याकुल हुआ वह अपने छुटाने को समर्थ नहीं हुआ ॥ ३२ ॥ भगवान् ने उसको दोनों हाथों से पकडकर भूमिपर पटकदिया और आकाशमें खडेहुए सकल देवताओंके देखते हुए, जैसे यज्ञके पशुको मारतेहैं तैसे श्वास घोट कर घूंसोसे मारडाला ॥ ३३ ॥ फिर जिस शिलासे उसने गुफाका द्वार बन्द कराथा वह

रैगोपैः प्रविवेशं स्वगोकुलं ॥ ३४॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७॥ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अक्रूरोऽपि चँ तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ॥ उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नंदगोकुलं॥१॥गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यंबुजेक्षणे॥ भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिंतयत् ॥२॥ किं मया चरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः॥ किं वाऽथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवं॥ ३ ॥ ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनं ॥ विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः॥४॥ मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनं ॥ ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५ ॥ ममाद्यामंगलं नष्टं

शिला, फोडकर अलगकरी तथा गोपों को उस सङ्कट में से छुटाकर, देवता और गोपों के स्तुति करेहुए वह श्रीकृष्णजी, अपनी गोकुल में को चलेगये॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में सप्तत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब अडतीसवें अध्याय में अक्रूरजी जैसा ध्यान करतेहुए गोकुल में गये तैसेही बलराम कृष्णने उनको घर लेजाकर उनका सत्कार करा यहकथा तथा चतुर्दशी के दिन होनेवाले धनुषयज्ञ को देखने के निमित्त एकादशी के दिन बलराम कृष्ण को लानेके निमित्त अक्रूरजी को कंसकी आज्ञा हुई, द्वादशी के दिन प्रातःकाल केशिदैत्य का वध हुआ, फिर नारदऋषि श्रीकृष्णजी की स्तुति करके चलेगये तब तीसरे पहर को व्योमासुर का वधहुआ और सायङ्काल को अक्रूरजी गोकुल में पहुँचे ऐसा कथाका क्रम वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हेराजन्! परम बुद्धिमान् वह अक्रूरजी भी, जिस रात्रि में कंसने आज्ञादीथी उस रात्रिको मथुरा में रह कर प्रातःकाल के समय रथपर बैठकर नन्दराजा की गोकुल को जानेके निमित्त चलदिये॥१॥ वह महाभाग अक्रूरजी, मार्ग में जातेहुए, कमलनेत्र भगवान् के विषें परम भक्तिको प्राप्त हो मनमें ऐसा विचार करनेलगे॥ २ ॥ कि—मैंने ऐसा कल्याणकारक कौनसा कर्म (यज्ञ आदि) कराथा? वा कौनसा परम तप (व्रत उपवास आदि) कराथा अथवा सत्पात्र ब्राह्मण को कौनसा दान दियाथा? कि—जिसके कारण से आज मुझे भगवान् का दर्शन होयगा ॥ ३ ॥ मुझेतो ऐसा प्रतीत होता है कि-शूद्रकी जाति में उत्पन्न होनेवाले पुरुष को जैसे वेदका पढ़ना आदि दुर्लभ है तैसेही विषयों में फँसेहुए मुझको उत्तमकीर्त्ति भगवान् का दर्शन होना दुर्लभ है ॥ ४ ॥ अथवा ऐसा नहींतो मुझ अधम को भी भगवान् का दर्शन होयगाही; क्योंकि—जैसे नदी के प्रवाह से वहते हुए तिनुके काठ आदि पदार्थों में से एकादपदार्थ, किसी समय तरकर पार लगही जाता है तैसेही कालरूप नदीके प्रवाह के वहाएहुए जीवों में से भी कोई एकादजीव तरकर कर्मके बल से पार लगही जाता है ॥ ५ ॥ इसकारण आज इस गोकुल में जाने का

फलवांश्चैव मे भवः ॥ यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपंकजं ॥ ६ ॥
कंसो वताऽद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रि पद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ॥ कृताव-
तारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन्यन्नखमंडलत्विषा ॥ ७ ॥ यदर्चितं ब्रह्मभवादि-
भिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ॥ गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यं
द्गोपिकानां कुचकुंकुमांकितम् ॥ ८ ॥ द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मिताव-
लोकारुणकंजलोचनं ॥ मुखं मुकुंदस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरंति वै
मृगाः ॥ ९ ॥ अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया ॥
लावण्यधाम्नो भवितोपलंभनं मह्यं न न स्यात्फलमंजसा दृशः ॥ १० ॥ य
ईक्षिताऽहंरहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसाऽपास्ततमोभिदाभ्रमः ॥ स्वमाययात्मन्
रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते॥ ११॥ यस्याखिलामीवहभिः

ध्यान होनेसेही मेरे पाप निःसन्देह नष्ट होगए हैं और मेरा जन्म सफल हुआ है ऐसा निश्चय होता है,क्योंकि–आजमैं,योगियों के ध्यान करने योग्य भगवान् के चरणकमल को नमस्कार करूँगा ॥६॥ अहो! भगवान् के भक्तों से वैर करनेवाले भी कंस ने आज मेरे ऊपर बडाही अनुग्रह करा है, क्योंकि–जिसका भेजाहुआ मैं अवतार धारण करनेवाले श्रीहरि के चरणकमल को देखूंगा; हृदय में ध्यान करेहुए जिस चरणकमल के नखों की कान्ति से, पहिले के ध्यान करनेवाले अम्बरीष आदि भक्त,दुस्तरभी संसाररूप अन्धकार को तरगये हैं ॥ ७ ॥ और जिस चरणकमल की,ब्रह्मा महादेव आदि देवता,लक्ष्मी देवी और भक्तों सहित ऋषिपूजा करते हैं, इससे जो परमैश्वर्यरूप, परम सौभाग्यरूप और परमपुरुषार्थ रूप है प्रेमी भक्तों को अति सुलभ है ॥ ८ ॥ अक्रूरजी और मनोरथ करतेहैं कि–हरिण,मुझे दाहिनी ओर छोडकर जारहे हैं इससे मैं आज भगवान् का मुख देखूंगा इस में सन्देह नहीं है–जिस मुख में सुन्दरकपोल और नासिका शोभायमान हैं, जिसमें लालकमल की समान नेत्र हैं हास्य के साथ चितवन है और जो घुंघुराले केशोंसे लिपटाहुआ है ॥ ९ ॥ और पृथ्वी का भार दूर करने को अपनी इच्छा से मनुष्य की सी लीला धारण करने वाले और परमसुन्दरता के आश्रय ऐसे विष्णुभगवान् का यदि मुझ को दर्शन होयगा तो क्या सहज में ही मेरे नेत्रों की सफलता नहीं होयगी ? किन्तु होयगी ही ॥ १० ॥ जो ईश्वर, अपने देखनेमात्र से ही कार्यों को नष्ट करनेवाले उत्पन्न करनेवाले होकरभी अहङ्कार रहित हैं और अपने तेजसे (सच्चिदानन्दस्वरूप के साक्षात्कार से) अज्ञानभेद और भ्रम (जो आत्मा नहीं हैं उन वस्तुओं का आत्मा मानना) से रहित हैं तथापि वह ईश्वर अपने वश में रहनेवाली मायाके द्वारा केवल अवलोकनमात्र से ही, प्राण, इन्द्रियें और बुद्धि सहित अपने में रचेहुए जीवों के साथ वृन्दावन में और गोपियों के घरों में लीलासे क्रीड़ा करतेहुए, कर्म करनेवाले कीसमान और आसक्तहुए से प्रतीत होते हैं॥ ११॥

सुमंगलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्माभिः ॥ प्राणीन्त शुंभन्ति पुनन्ति वै जगद्या
स्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥ स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये स्वसेतुपा-
लामरवर्यशर्मकृत् ॥ यशो वितन्वन्व्रजे आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम्
॥ १३ ॥ तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकांतं दृशिमन्महोत्सवम् ॥
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥ १४ ॥ अ-
थावरूढः सपदीशयो रथात्प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ॥ धिया धृतं योगि-
भिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकसः ॥ १५ ॥ अप्यंघ्रिमूले
पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपंकजम् ॥ दत्ताभयं कालभुजङ्गरं-
हसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणां ॥ १६ ॥ समर्हणं यत्र निधाय कौशि-

जिन भगवान् की सब लोकों के पापों का नाश करनेवाली और महामङ्गलरूप भक्तवत्सलता आदि गुणों करके, गोवर्धन को उठाना आदिकर्मों करके तथा बलराम कृष्ण आदि जन्मों से मिलीहुई अर्थात् उन गुण आदिकों का वर्णन करनेवाली कथारूप वाणियें, कहनेवाले सुननेवाले आदि सबों के जन्म को सार्थक करती हैं, सज्जनोंकी सभाओं को शोभायमान करती हैं और जगत् को पवित्र करती हैं, तथा जो वाणी, भगवान् के गुणों के वर्णन से रहित हैं वह, पदों की सुन्दरता आदि अलङ्कारोंसे शोभायमान होयँ तोभी, वस्त्र आदि से शोभायमान शवों (मुरदों) की समान हैं ऐसा सज्जन मानते हैं १२ वही भगवान् ईश्वर, निःसन्देह अपने रचेहुए वर्णाश्रम धर्मों की मर्यादा का पालन करनेवाले इन्द्रादिलोकों को सुख देने के निमित्त यादवों के कुलमें श्रीकृष्णरूप से अवतारधारण करके यश फैलाते हुए गोकुलमें रहते हैं, जिनके सब का मङ्गल करनेवाले यशको देवता गाते हैं ॥ १३ ॥ सत्पुरुषों के गुरु और गतिरूप, त्रिलोकी में सुन्दर, नेत्रवालोंको परम आनन्द देनेवाले और लक्ष्मी के भी प्रियस्थान ऐसे स्वरूप को धारण करनेवाले तिन श्रीकृष्ण भगवान् को आज मैं निःसन्देह देखूँगा; क्योंकि—आज मुझे उषःकाल (पौफटनेका समय) शुभसूचक शकुनोंका दिखानेवाला हुआ है ॥ १४ ॥ भगवान् का दर्शन होने के अनन्तर तत्काल रथसे नीचे उतरकर मैं, तिन प्रधान पुरुष बलराम और श्रीकृष्णजी के चरणों को, कि—जिन का योगियों ने भी साक्षात् दर्शन होने के निमित्त केवल बुद्धि से ध्यान करा है उनको साक्षात् नमस्कार करूँगा और उनके साथ में रहनेवाले उनके सखा गोपोंको भी नमस्कार करूँगा ॥ १५ ॥ और उस समय चरणतल में नमस्कार करके पड़ेहुए मेरे मस्तकपर वह प्रभु श्रीकृष्णजी, अपना करकमल रक्खेंगे जो करकमल कालरूप सर्प के वेगसे अत्यन्त भय पानेवाले और शरण जानेवाले मनुष्यों को अभय देनेवाला है ॥ १६ ॥ जिस करकमल पर इन्द्रने तथा राजा बलि ने पूजन और दानका

कंस्तथा बलिश्चापि जगत्त्रयेन्द्रतां ॥ यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौ-
गंधिकगन्ध्यपानुदत् ॥ १७ ॥ न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्र-
हितोऽपि विश्वदृक् ॥ योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन
चक्षुषा ॥ १८ ॥ अप्यंघ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया
दृशा ॥ सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशंक ऊर्जितां ॥
॥ १९ ॥ सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ मां ॥
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः
॥ २० ॥ लब्ध्वांगसंगं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ॥
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥ २१ ॥
न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ॥ तथाऽ-

---

जल समर्पण करके त्रिलोकी का इन्द्रपद पाया है और सौगन्धिक नामक कमलकी समान सुगन्धवाले जिस करकमल ने, अपने स्पर्श से रासक्रीडा में गोकुल की स्त्रियों का श्रम दूर करा है, यह कितना आश्चर्य है ! ॥ १७ ॥ यद्यपि मैं कंस का भेजा हुआ उसका दूत हूँ तथापि भगवान् श्रीकृष्णजी, मेरे ऊपर यह शत्रुके पक्ष का है ऐसी बुद्धि नहीं करेंगे, क्योंकि—वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होने के कारण अपने निर्मल ज्ञानचक्षु से मेरे मनके बाहरकी और भीतर की सब चेष्टाओं को जानते हैं; क्योंकि—मैं यद्यपि बाहर से कंस का पक्ष करता हूँ परन्तु भीतरसे उनकाही पक्ष करता हूँ यह उनको विदित है ॥ १८ ॥ और भी यदि वह भगवान्, चरणके समीप में एकाग्रता से हाथ जोड़कर खड़े हुए मेरी ओरको अपने हास्यसहित कृपामृत से भीजीहुई दृष्टि से देखेंगे तो, तत्काल मैं, सकल पापों से और पुनर्जन्म आदि आशङ्काओं से छूटकर परम आनन्द पाऊँगा ॥ १९ ॥ और दर्शन होनेके अनन्तर वह भगवान्, यदि अपनी भुजाओं को लम्बाकरके उन से ' जिसका भगवान्के सिवाय दूसरा कोई भी इष्टदेव नहीं है ऐसे ' अति स्नेही मुझ सम्बन्धी को आलिङ्गन करेंगे, तो उसी समय मेरा देह अति पवित्र होयगा और उस आलिङ्गन से देह का कर्मरूप बन्धन भी शिथिल होजायगा ॥ २० ॥ तदनन्तर भगवान् के साथ आलिङ्गन पायेहुए और नमस्कार करके हाथ जोड़े खड़ेहुए मुझे, वह महाकीर्तिमान् श्रीकृष्णजी, हे काकाअक्रूर! इत्यादि सम्बोधन करके वार्त्तालाप करनेलगेंगे तो मेरे जन्म की सफलता होयगी. सब के पूजनीय भगवान् ने, जिसका कुछभी आदर नहीं करा तिस पुरुष के जन्म को धिक्कार हो ॥ २१ ॥ यद्यपि उन भगवान् को कोई भी पुरुष प्रिय नहीं है, अप्रिय नहीं है, अत्यन्त मित्र नहीं है, द्वेष करनेयोग्य नहीं है और उदासीन भी

पि भक्तान्भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥ २२ ॥ किंचाग्रजो
माऽवनतं यदूत्तमः स्मयन्परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ॥ गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसं-
सत्कृतं संप्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥ २३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति संचिंत-
यन्कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ॥ रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥
॥ २४ ॥ पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः ॥ ददर्श गोष्ठे
क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवांकुशाद्यैः ॥ २५ ॥ तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसं-
भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकलाकुलेक्षणः ॥ रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोर-
मून्यंघ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥ देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्॥
सन्देशाद्यो हरेर्लिंगदर्शनश्रवणादिभिः ॥ २७ ॥ ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे

नहीं है तथापि जैसे कल्पवृक्ष अपना आश्रय करनेवालों को ही फल देता है औरोंको नहीं देता है तैसे ही यह परमात्मा, भक्तों का ही मनोरथ पूर्ण करनेवाले होते हैं औरों का मनोरथ पूर्ण करनेवाले नहीं ॥ २२ ॥ यादवों में श्रेष्ठ तिन श्रीकृष्णजी के बड़े भ्राता बलरामजी भी हर्षयुक्त होकर, नमस्कार करनेवाले मुझे, हृदय से लगावेंगे और उससमय जो मैं अ- ञ्जलि करूँगा सो मेरी अञ्जलि को ही पकड़कर घर में लिवाजायँगे और तहां अर्घ्य पाद्य आदि से मेरा सत्कार करके तदनन्तर मुझ से, कंस ने जो उनके मातापिता आदि बान्धवों को दुःख दिये हैं सो बूझेंगे ॥ २३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! इसप्रकार श्व- फल्कके पुत्र अक्रूरजी, मार्ग में श्रीकृष्णजी का चिन्तवन करतेहुए, रथ में बैठकर गोकुल में पहुँचे उसी समय सूर्यनारायण भी अस्ताचल को पहुँच गये ॥ २४ ॥ उससमय तिन अक्रूरजी ने, जिन के चरण की रेणु को, सकल लोकपालों ने, अपने किरीटों में धा- रण करा है तिन श्रीकृष्णजी के, पृथ्वी के आभूषणरूप और कमल, यव, अङ्कुश आदि चिन्हों से शोभित, धूलि में उमड़ेहुए चरणों के चिन्ह देखे ॥ २५ ॥ तब उन चरणों के चिन्हों के दर्शन से होनेवाले आनन्द करके अत्यन्त व्याकुल हुए, प्रेमके कारण जिन के शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगये हैं और आनन्द से प्राप्तहुए आँसुओं के कारण जिनके नेत्र भरगये हैं ऐसे वह अक्रूरजी, अहो ! यह श्रीकृष्णजी के चरणों की रज ब्रह्मादिकों को भी दुर्लभ है ऐसामन में विचार, रथ से नीचे कूदकर उन चरणरज में लोटनेलगे ॥ २६ ॥ हे राजन् ! कंसकी आज्ञा होने से लेकर यहाँ पर्यन्त जो यह श्रीहरि के चिन्हों के दर्शन आदि के द्वारा होनेवाला अक्रूरजी का प्रकार (ढंग) वर्णन करा, इतनाही यह पुरुषार्थ, देहधारी प्राणियों को गुरु के उपदेश से, पाखण्डीपना, भय और शोक को त्यागकर, श्री हरि की मूर्त्तियों के दर्शन श्रवण आदि से प्राप्त होनेयोग्य है इस से अन्य और कुछ प्राप्त होने योग्य नहीं है ॥ २७ ॥ तदनन्तर उन अक्रूरजी ने, श्रीकृष्ण और बलराम को देखा

गोदोहनं गतौ पीतनीलांबरधरौ शरदंबुरुहेक्षणौ ॥ २८ ॥ किशोरौ श्यामल-
श्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ॥ सुमुखौ सुंदरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥ २९ ॥
ध्वजवज्रांकुशांभोजैश्चिन्हितैरंघ्रिभिर्व्रजम् ॥ शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोश-
स्मितेक्षणौ ॥ ३० ॥ उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ॥ पुण्यगन्धा
नुलिप्तांगौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ ३१ ॥ प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जग-
त्पती ॥ अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥ ३२ ॥ दिशो वितिमिरा
राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया ॥ यथा मरकतः शैलो रौप्यश्च कनका-
चितौ ॥ ३३ ॥ रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ॥ पपात चरणोपांते
दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥ ३४ ॥ भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ॥ पुलका-
चितांग औत्कण्ठ्यात्स्वाख्याने नाशकन्नृप ॥ ३५ ॥ भगवांस्तमभिप्रेत्य र-

---

वह बलराम कृष्ण—गौओं का दूध दुहने के स्थान में गयेहुए थे; पीला और नीला पीताम्बर धारण करनेवाले, शरद् ऋतु में के कमल की समान नेत्रवाले, ॥२८॥ ग्यारहवर्षकी अवस्थावाले श्याम और श्वेतवर्ण लक्ष्मी के आश्रयस्थान पुष्ट और लम्बी भुजावाले सुमुख अत्यन्तही सुन्दर, हाथी के पाठेकी समान चाल चलनेवाले, ॥२९॥ ध्वजा, वज्र अंकुश और कमल की रेखाओंवाले अपने चरणों से गोकुल को शोभायमान करनेवाले, उदारचित्त, कृपाकी छटा और हास्ययुक्त अवलोकन करनेवाले, ॥ ३० ॥ वर्णन करनेवाले और सुननेवाले पुरुषों को इच्छित फल देनेवाली मनोहर क्रीड़ा करनेवाले, रत्न आदिकी और वनके पुष्पों की माला धारण करनेवाले, शरीरको सुगन्दयुक्त चन्दन वा लेपन करे हुए, स्नान करे, निर्मल वस्त्र पहिने, ॥ ३१ ॥ प्रधान पुरुष, सृष्टि से पहिले भी होनेवाले, जगत् के कारण, जगत् के पालक, जगत् की रक्षा करने के निमित्त मूर्त्ति के भेद से बलराम और कृष्ण अवतार धारण करनेवाले ॥ ३२ ॥ तथा हे राजन्! अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले, और जैसे सुवर्ण से मँढ़ेहुए मरकत मणि का और चाँदी का ऐसे दो पर्वत दीखें तैसे दीखते थे ॥ ३३ ॥ उस समय स्नेह से विह्वल हुए वह अक्रूर जी, शीघ्रता के साथ रथ से नीचे उतरकर बलराम और श्रीकृष्ण जी के चरणों के समीप में दण्डे की समान पड़गये ॥ ३४ ॥ हे राजन्! भगवान् के दरशन से होनेवाले आनन्द के कारण आयेहुए आँसुओं से जिनके नेत्र भरगये हैं और जिनके शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगए हैं ऐसे वह अक्रूर जी कण्ठ गद्गद होजाने के कारण, मैं अक्रूर नमस्कार करता हूँ, ऐसा कहने को भी समर्थ नहीं हुए ॥ ३५ ॥ उस समय शरणागतवत्सल भगवान् ने भी. हमें लिवाने को यह

थांगांकितपाणिना ॥ परिरेभेभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥ ३६ ॥ संकर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत्सानुजो गृहम् ॥३७॥ पृष्ट्वाऽथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ॥ प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत् ॥३८॥ निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रांतमादृतः ॥ अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः ॥ ३९ ॥ तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ॥ मुखवासैर्गंधमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात्पुनः ॥ ४० ॥ पप्रच्छ सत्कृतं नंदः कथं स्थ निरनुग्रहे ॥ कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥ योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशंत्या असुतृप् खलः ॥ किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥ ४२ ॥ इत्थं सूनृतया वाचा नंदेन सुसभाजितः ॥ अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥ ४३ ॥ इतिश्रीभागवते महा-

अक्रूर आये हैं, ऐसा जानकर, सन्तुष्ट हो, हम में कंस को मारने की शक्ति है ऐसा दिखाते हुए ही मानों, चक्र के चिन्ह से चिन्हित अपने हाथसे उन को समीप में को उठाकर दृढ़ता के साथ हृदय से लगाया ॥ ३६ ॥ तदनन्तर उदारचित्त बलरामजी भी, नमस्कार करनेवाले उन अक्रूरजी को आलिङ्गन देकर अपने हाथ से उनके जोड़ेहुए हाथों को पकड़कर श्रीकृष्णजी के साथ उनको घर में लेगये ॥ ३७ ॥ तदनन्तर कुशलप्रश्न करके और श्रेष्ठ आसन देकर विधि के साथ अक्रूरजी के चरण धोये और मधुपर्क से पूजाकरी ॥ ३८ ॥ फिर बड़े आदर के साथ प्रभु बलरामजी ने, उन अतिथि अक्रूरजी के सन्तोष के निमित्त गौ समर्पण करके और चरणों की सेवा आदि से उनकी थकावट दूरकरके बड़ी प्रीति के साथ उनको शुद्ध और छहों रसों का भोजन कराया ॥ ३९ ॥ तदनन्तर भोजन करेहुए उनको फिर, परमधर्मज्ञ उन बलरामजी ने, ताम्बूल, चन्दन आदि का लेपन और सुगन्धित पुष्पों की माला देकर परम सन्तुष्ट करा ॥ ४० ॥ इस प्रकार सत्कार करेहुए उन अक्रूरजी से नन्दराजा ने बूझा कि हे यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर ! अतिक्रूर कंस के जीवित रहते 'जैसे बधिकही जिनका रक्षक है ऐसी भेड़ों को सुख मिलने का तो नामही क्या किन्तु बचना भी कठिन होता है तैसेही' तुम कैसे जीवित रहते हो ? अर्थात् जिनका जीवित रहना भी दुर्लभ है उनसे दूसरा कुशलप्रश्न तो क्या कियाजाय ? ॥ ४१ ॥ केवल प्राणों की तृप्ति करने वाले जिस दुष्ट कंस ने, विलाप करनेवाली अपनी बहिनके छोटे २ बालकों की भी हिंसा करी, उसकी प्रजा होकर रहनेवाले तुम्हारी क्या कुशल बूझें ? ॥ ४२ ॥ इस प्रकार पहिले अक्रूरजी ने जिनसे कुशल बूझी हैं ऐसे नन्द जी ने मधुर वाणी से जिनका भली प्रकार सत्कार करा है ऐसे अक्रूरजी ने, मार्ग में के सकल परिश्रम (थकावट आदि)

पुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे अक्रूरागमनं नाम अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥
श्रीशुक उवाच सुखोपविष्टः पर्यंके रामकृष्णोरुमानितः ॥ लेभे मनोरथा-
न् सर्वान् पथि यान्स चकार ह ॥१॥ किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने॥
तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किंचन॥२॥सायंतनाशनं कृत्वा भगवा-
न्देवकीसुतः ॥ सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥ श्रीभग-
वानुवाच ॥ तात सौम्यागतः कच्चित्स्वागतं भद्रमस्तु वः ॥ अपि स्वज्ञातिबं-
धूनामनमीवमनामयम् ॥ ४ ॥ किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ॥
कंसे मातुलनाम्न्यंग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥ ५ ॥ अहो अस्मदभूद्भूरि
पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ॥ यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बंधनं तयोः ॥ ६ ॥ दिष्ट्या-
ऽद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य कांक्षितम् ॥ संजातं वर्ण्यतां तात तवागम-

---

को त्यागा ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्ध में अष्टत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे उनतालीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी मथुरा को जानेलगे तब गोपियों ने जो भाषण करा तिसका और यमुना में अक्रूरजी ने जो विष्णुलोक देखा तिसका वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! तदनन्तर पलँगपर सुखसे बैठेहुए और बलराम श्रीकृष्णजी के द्वारा बहुत आदर सत्कार करेहुए उन अक्रूर जी के, उन्हों ने मार्ग में जितने मनोरथ करे थे वह सब परिपूर्ण करे ॥ १ ॥ हे राजन्! लक्ष्मीपति भगवान् के प्रसन्न होनेपर, कौन पदार्थ दुर्लभ है ? तथापि जो भगवान् के भक्त हैं वह किसी पदार्थ की भी इच्छा नहीं करते हैं ॥ २ ॥ तब देवकी के पुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी ने, सायङ्काल के भोजन आदि से निवटने पर स्वस्थता के साथ उन अक्रूर जी से, ' कंस का यादवों के साथ कैसा वर्त्ताव है ? यह तथा और भी जो कुछ बूझना था सो सब ' बूझा ॥ ३ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे तात ! हे सौम्य ! तुम्हारा यहाँ आना निर्विघ्नता के साथ तो हुआ है ? क्योंकि—ऐसाही हमारा इच्छित है, तुम्हारा कल्याण हो, हमारे मित्रों का, ज्ञातिवालों का और बान्धवों का दुःख रहित आरोग्य तो है ? ॥ ४ ॥ हे अक्रूरजी ! इस समय ऐसा बूझना भी मुझे योग्य नहीं है, क्योंकि—नाममात्र का हमारा मामा परन्तु वास्तव में हमारे कुल का रोगरूप जो कंस तिस के वृद्धि को प्राप्त होनेपर, अपनी ज्ञातिवालों का और उनके बालबच्चों की क्या कुशल बूझें ? ॥ ५ ॥ यह बड़े दुःख की बात है कि—हमारे निमित्त से पूजनीय माता पिता देवकी वसुदेव को अत्यन्त दुःख हुआ, देखो हमारे निमित्त से उनके पुत्रो की मृत्यु हुई और वह कारागार (जेलखाने) में पडे ॥ ६ ॥ हे प्रिय अक्रूरजी ! मुझे, तुम अपनों के दर्शन की, ' तहां के लोकों का वृतान्त जानने के निमित्त ' बहुत दिनों से इच्छा थी सो आज दर्शन हुआ है, इससे मुझे बड़ा आनंद

नकारणम् ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः॥
वैरानुबंधं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥ यत्संदेशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः
स्वयम् ॥ यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुंदुभेः ॥ ९ ॥ श्रुत्वाऽक्रूर-
वचः कृष्णो बलश्च परवीरहा ॥ प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञादिष्टं विजज्ञतुः ॥
॥ १० ॥ गोपान् समादिशत्सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः ॥ उपायनानि गृ-
ह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥ ११ ॥ यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृ-
पते रसान् ॥ द्रक्ष्यामः सुमहत्पर्व यान्ति जानपदाः किल ॥ एवमाघोषयत्क्ष-
त्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥ १२ ॥ गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम्॥
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥ १३ ॥ काश्चित्तत्कृतहृत्तापश्वासम्लो-

---

प्राप्त हुआ इसकारण हे तात ! तुम्हारे आने का क्या कारण है सो विस्तार से कहो ! ॥ ७ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् के प्रश्नकरने पर अक्रूरजी ने,यादवों के ऊपर जो कंस वैरभाव रखता था और वसुदेवजी को मारडालनेका उद्योग करना आदि सब वर्णन करा ॥ ८ ॥ जो धनुषयज्ञ देखने का उसका कपट का सन्देशा था और जिस निमित्त (चाणूर आदिकों से मरवाने के निमित्त भेट सहित लिवा लाने को) आने से दूतका काम करने को कहकर कंसने भेजाथा और जो नारदजीने वसुदेवजी से इनका (श्रीकृष्ण का) जन्म होना कंस से कहाथा सो सब उन अक्रूर जी ने श्रीकृष्णजी को वर्णन कर सुनाया ॥ ९ ॥ ऐसा अक्रूरजी का कथन, शत्रुरूप वीरों को मारनेवाले वह श्रीकृष्ण और बलराम सुनकर हँसे और ' अपने को मारने का कंस का अभिप्राय गुप्त रखकर ' धनुषयज्ञ देखने को हमें राजाने बुलवाया है ऐसा नंद राजा से निवेदन करा ॥ १० ॥ तब उन नन्दगोपने भी अपने गोकुल में व्रजकी रक्षा करने में नियुक्त करेहुए प्रधान के द्वारा ढँढोरा पिटवाकर सब गोपों को यह सूचना देदी कि–हे गोपो ! तुम सब, राजा कंस को भेट (नजराना) देने के निमित्त दही दूध आदि सब प्रकार का गोरस और सैंतकर रक्खेहुए उत्तम पदार्थों को लेलो, छकड़ों में बैलजोतो कल प्रातःकाल हम सब मथुरापुरी को जायँगे,कंसराजा को गोरस समर्पण करेंगे,होनेवाला बड़ाभारी धनुषयज्ञ का उत्सव देखेंगे, यह उत्सव देखने को सब देशों के लोक चले आरहे हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥ तब कृष्णही जिनका जीवन हैं ऐसी गोपियें, बलरामकृष्ण को मथुरा नगरी में लिवा जाने के निमित्त गोकुल में अक्रूर आया है ऐसा समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखित हुईं ॥ १३ ॥ कितनी ही गोपियों की तो–मुखकी कान्ति उससमाचार को सुनकर उत्पन्नहुए हृदयके तापसे प्रबलहुए श्वासोंके पवनों से मलीन होगई कितनी ही

नमुखश्रियः ॥ स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थयश्च काश्चन ॥ १४ ॥ अन्याश्च तदनु-
ध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः ॥ नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥ १५ ॥
स्मरंत्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ॥ हृदि स्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः
स्त्रियः ॥ १६ ॥ गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ॥ शोकापहानि
नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥ १७ ॥ चिंतयन्त्यो मुकुन्दस्य लीलाविरहका-
तराः ॥ समेताः संघशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः ॥ १८ ॥ गोप्य ऊचुः ॥
अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ॥ तांश्चाकृ-
तार्थान्वियुनंक्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥ १९ ॥ यस्त्वं
प्रदर्श्यासितकुंतलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ॥ शोकापनोदस्मित-
लेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥ २० ॥ क्रूरस्त्वमक्रूर-
समाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ॥ येनैकदेशेऽखिलसर्ग-

गोपियों के दुःख से दुर्बल होने के कारण पहिरेहुए वस्त्र और हाथों में के कंकण निकल कर गिरनेलगे और चोटी के बन्धन खुलकर उन में के फूल खसकने लगे ॥ १४ ॥ उन भगवान् के निरन्तर ध्यान से, दूसरी कितनी ही गोपियों की, चित्त की सकल वृत्तियें हटकर, जैसे मुक्तहुए पुरुषों को अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती है तैसे उन गोपियों को शरीर की भी सुध न रही ॥ १५ ॥ दूसरी कितनीही गोपियें, प्रेमयुक्त हास्यकी प्रेरणा करीहुई मनोहर और चित्रविचित्र पदों से युक्त श्रीकृष्णकी वातोंको स्मरणकरके मोहको प्राप्त होगईं ॥ १६ ॥ उससमय श्रीकृष्णकी अति सुन्दरगति, रासक्रीड़ा आदि चेष्टा, प्रेमयुक्त हास्यके साथ देखना, शोक दूर करनेवाली चौल की वातें और परमउदार गोवर्द्धन को उठाना आदि चरित्रों का चिंतवन करनेवालीं, यह सब वातें अब छूटजांयगी इससे डरीहुईं, विरहसे व्याकुल हुईं, श्रीकृष्णजी की ओर को चित्त लगानेवालीं और नेत्रों में से दुःख के आँसू बहानेवालीं कितनी ही गोपियें, ठट्टके ठट्ट इकट्ठी होकर कहने लगीं ॥ १७ ॥ १८ ॥ गोपियों ने कहा कि—अरे ब्रह्मा! तुझे किसी अंश में भी दया नहीं है, क्योंकि तू सकल प्राणियों को मित्रभावसे और स्नेह से इकट्ठा करके सुखका भोग प्राप्त होने से पहिले ही उनका परस्पर वियोग करडालता है, इससे यह तेरी लीला छोटे बालक के खेल की समान निरर्थक है ॥ १९ ॥ जो तू, काले घुंघुराले केशोंसे ढका हुआ, सुन्दर कपोल और ऊंची नासिका से युक्त तथा शोक दूर करने वाले गूढ़ हास्य से सुन्दर भगवान् का मुख कमल, हमें दिखाकर फिर उसको हमारी दृष्टि से अलग करता है इस कारण तेरा कर्म बड़ा निंदित है ॥ २० ॥ तू जो अपने ही दियेहुये हमारे चक्षुको, विना कुछ विचारे मूर्ख की समान छीनता है इससे तू बड़ाक्रूर है, यदि कहे कि तुम्हारा चक्षुतो अक्रूर हरकर लिये जाता है मुझे दोष क्यों

सौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥ २१ ॥ न नंदसूनुः क्षणभंगसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा वत ॥ विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान्पतींस्तद्दास्यं मद्धोपगता नवप्रियः ॥ २२ ॥ सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या वभूवुः पुरयोषितां ध्रुवं ॥ याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपांगोत्कलितस्मितासवं ॥ २३ ॥ तासां मुकुंदो मधुमंजुभाषितैर्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि ॥ कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन्॥२४॥अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजांधकवृष्णिसात्वतां ॥ महोत्सवः श्रीरमणं गुणा-

देती हो ?. तो सुन—जो क्रूर न होय वह अक्रूर होता है वह कभी भी ऐसा नहीं होसक्ता, इसकारण इस अक्रूरनाम से निःसन्देह तू ही यहां आया है; यदि कहे कि मैं कृष्ण को लियेजाता हूँ तुम्हारे चक्षु को नहीं तो सुन—जिस तेरे दियेहुए चक्षु से श्रीकृष्णके नेत्र मुख आदि चाहें जिस एक अंगपर भी, तेरी सव सृष्टि की चतुराई हम देखती थीं, उन श्रीकृष्ण का वियोग होनेपर दूसरी कोई वस्तु भी देखनेयोग्य न होने के कारण, इन्होंने मेरी सव चतुराई का रहस्य जानलिया ऐसे क्रोध से तू कृष्ण का वियोग करके हमें अन्धा करदेता है ॥ २१ ॥ फिर आपस में ही कहने लगीं कि—अरी ! श्रीकृष्णही एक क्षण में स्नेह को तोड़नेवाले और नवीन २ स्त्रियों को प्रियमानेनवाले हैं, देखो—हम घर, स्वजन, पुत्र और पति इन सव को त्यागकर साक्षात् उन की ही दासी वननेको गईं और उनके करेहुएही मन्दहास्य आदि से परवश हुईं, ऐसा होतेहुए भी अव यह कृष्ण हमारी ओर को देखते भी नहीं हैं ॥ २२ ॥ मथुरानगरी में की स्त्रियों को यह आनेवाली रात्रि वड़ी सुप्रभात (सुखसूचक शकुन होनेवाले प्रातःकाल से युक्त) होयगी और उन के मनोरथ भी निःसन्देह सत्य होंगे, क्योंकि—वह पुरवासिनी स्त्रियें, नगरी में प्रवेशकरनेवाले श्रीकृष्णके कटाक्ष देखने से वढेहुए हास्यरस से युक्त मुख को आदर के साथ देखेंगीं ॥ २३ ॥ यदि कहोकि—दो तीन दिन ऐसा होय, परन्तु फिर हमारे स्नेह के खैंचेहुए और नन्द आदिकों के पीछे को लौटाएहुए वह कृष्ण फिर गोकुल को आजायँगे ? तो हे गोपियों सुनो—यह श्रीकृष्ण यद्यपि आप धीरजवान् हैं और नन्दादिकों की आज्ञा में भी हैं तथापि उन नगरकी स्त्रियों की मधुर (शहत) समान मीठे और मञ्जुल वातों से चित्त के खिचने से और उनके लज्जायुक्त हास्यों से तथा सुन्दर विलासों से उनमें ही आसक्त होजायँगे फिर ग्राम में रहनेवालीं (चतुराई रहित) हमारी ओर को कैसे आवेंगे ? अर्थात् नहीं आवेंगे ॥ २४ ॥ और अव हमारे उत्साह का सेवन करनेवाले दूसरे ही होंगे, क्योंकि आज उस मथुरापुरी में, लक्ष्मी के पति और सुन्दरता आदि गुणों के आश्रय ऐसे देवकी के पुत्र को जो देखेंगे उन—दाशार्ह, भोज, अन्धक, वृष्णि और सात्वत आदि यादवों की और मार्ग में जानेवाले

संपदं द्रक्ष्यंति ये चाध्वानि देवकीसुतं ॥ २५ ॥ मैतद्विधस्याकरुणस्य
नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ॥ योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं
जनं प्रियात् प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥ २६ ॥ अनार्द्रधीरेष समास्थितो
रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ॥ गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवं
च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥ २७ ॥ निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नो-
ऽकरिष्यन्कुलवृद्धबांधवाः ॥ मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्द्धदुस्त्यजाद्दैवेन विध्वंसितदीन-
चेतसां ॥ २८ ॥ यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलाऽवलोकपरिरंभणरासगो-
ष्ठ्याम् ॥ नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम
तमो दुरन्तं ॥ २९ ॥ योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपैर्विशन्

तिन श्रीकृष्णजी को देखनेवाले और लोकोंकी भी दृष्टियों को आज अवश्य परम ही आनन्द प्राप्त होयगा ॥ २५ ॥ अब बडबडातीहुई अक्रूरजी से कहती हैं कि–ऐसा दुष्टकर्म करनेवाले निर्दयी पुरुष का, ' अक्रूर ' यह श्रेष्ठनाम ही योग्य नहीं है, क्योंकि–यह तो बडा ही क्रूर है, देखो–जो यह अक्रूर, अत्यन्त दुःखित हुई हमें विना समझाये ही, प्राणोंकी अपेक्षा भी अतिप्रिय श्रीकृष्णको, जहाँ हमारी दृष्टि न पडेंगे ऐसे स्थान में लिवाये जाता है ॥ २६ ॥ अरे ! यह कठोरचित्त श्रीकृष्ण जाने के निमित्त रथपर बैठे हैं और उनके पीछे यह मदोन्मत्त गोप भी छकडोंपर बैठकर जाने की शीघ्रता कररहे हैं, भला इन का अन्याय देखकर उपनन्द आदि बूढेगोप भी तो नहीं रोकते हैं, इससे प्रतीत होता है कि–हमारा दैवही प्रतिकूल होकर यह ऐसे कार्य कररहा है यदि हमारा दैव अनुकूल होताता इनमें से एकाद को तो कुछ विघ्न होता अथवा अचानक वज्रही टूटपडता अथवा और ही कुछ अनिष्ट होजाता, सो कुछ भी नहीं होता है इसकारण जब दैवही प्रतिकूल है तो हमारे जीवन को भी धिक्कार है ॥ २७ ॥ अब साहस करने का निश्चय करती हैं कि–हम सब एकत्र इकट्ठी होकर कृष्णके समीप जाकर मथुराजाने को उन्हें निषेध करआवें; यदि कहो कि ऐसा करनेसे वृद्ध पुरुषों को कोप होयगा तो सुनो–आधेपल को भी जिसका त्यागना कठिनहै ऐसे कृष्णके संगसे प्रारब्धवश वियोग होने के कारण दीनचित्त हुई हमारा, कुल के वृद्ध पुरुष और बान्धव क्या करेंगे ? इसदशा को पहुँचीहुई हमेंतो इससमय मृत्यु का भी भयनहींहै ॥ २८ ॥ हे गोपियो ! जिन कृष्ण की, स्नेह के साथ होनेवाले सुन्दर हास्य, मनोहर भाषण, लीला केसाथ कटाक्ष से देखना और आलिङ्गन से युक्त रासक्रीडारूप सभा में, हमने बहुतसीरात्रियें एक क्षणकी समान विताई हैं ऐसे इन श्रीकृष्ण केविना अब दुःसहविरहदुःख को कैसे सहें ? वहतो सहनकरना बडा कठिन है ॥ २९ ॥ दुःख सहना दूर रहो परन्तु हमार

खुररजश्छुरितालकस्रक् ॥ वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥ ३० श्रीशुक उवाच ॥ एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसः ॥ विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविंद दामोदर माधवेति ॥ ३१ ॥ स्त्रीणामेवं रुदंतीनामुदिते सवितर्यथ ॥ अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथं ॥ ३२ ॥ गोपास्तमन्वसज्जन्त नंदाद्याः शकटैस्ततः ॥ आदायोपायनं भूरि कुंभान् गोरससंभृतान् ॥ ३३ ॥ गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरंजिताः ॥ प्रत्यादेशं भगवतः कांक्षत्यश्चावतस्थिरे ॥ ३४ ॥ तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ॥ सांत्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥ ३५ ॥ यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ॥ अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥ ३६ ॥ ता निराशा निववृतुर्गोविंदविनिव-

---

जीवितरहनाभी कठिनहै ऐसावर्णनकरतेहैं कि जोश्रीकृष्णप्रतिदिनसायङ्कालकेसमय, बलराम के साथ गोपोंसे घिरेहुए और गौओं के खुरों से उड़ीहुई धूलिसे जिन के कण्ठकी माला और घुंघुराले केश मलिन होरहे हैं ऐसे होकर गोकुल में प्रवेश करतेहैं और मुरली बजातेहुए मन्द मुसकुरान के साथ हमारे चित्तको हरते हैं उन कृष्ण के विना अवहम जीवित भी कैसे रहें ? ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! इसप्रकार कहती हुई. जिनके चित्त श्रीकृष्ण के विषैं अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं और आगे को होनेवाले श्रीकृष्णजी के विरह से घवड़ाईहुई वह सब गोपियें, लज्जाको त्यागकर बडे ऊँचे स्वर से हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव! इसप्रकार पुकार पुकार कर रोनेलगीं ॥ ३१ ॥ इसप्रकार स्त्रियोंके रोतेहुए, सूर्योदय होनेपर स्नान सन्ध्या आदि नित्यकर्म से निवटेहुए तिन अक्रूरजीने, जिस के भीतर बलराम कृष्ण बैठे हैं ऐसा रथ मथुरा की ओर को हाँकदिया ॥ ३२ ॥ तदनन्तर राजाकंस के देनेयोग्य बहुतसीभेट (नजराने) और गोरस से मुँहपर्यन्त भरेहुए कलश लेकर नन्द आदि गोप, अपनी अपनी गाडियों पर बैठकर उसरथके पीछे चलदिये ॥ ३३ ॥ उस समय सबही गोपियें, तिन प्रिय श्रीकृष्णजी के पीछे चलने लगीं तब, उन्हों ने रथमें से पीछे को फिरकर देखने के कारण वह कुछ एक आनन्द को प्राप्तहुईं और अपने को लौटजाने के विषय में भगवान् की आज्ञा होनेकी वाट देखती हुई तहांही खडीरहीं ॥ ३४ ॥ तब यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्णजी ने, अपने मथुरा को जानेके कारण अत्यन्त दुःख को प्राप्तहुई उन गोपियों को देखकर 'मैं शीघ्रही आऊँगा' ऐसा दूतसे कहलाकर भेजेहुए प्रेमयुक्त भाषणों से उनको समझाया ॥ ३५ ॥ तब जिन्होंने अपने मन श्रीकृष्णजी के साथ भेजदिये हैं ऐसी वह गोपियें, जबतक श्रीकृष्णजी के रथकी ध्वजा दीखती रही और तदनन्तर जबतक उस रथसे उडीहुई धूलि दीखती रही तबतक जैसे चित्र में बनाईहुई स्त्रियें निश्चल रहती हैं तैसे निश्चल रहकर–॥ ३६ ॥ तदनन्तर दूरगये हुए श्रीकृष्ण के पीछेको फिरने

त्तने ॥ विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥ ३७ ॥ भगवानपि
संप्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ॥ रथेन वायुवेगेन कालिंदीमघनाशिनीम् ॥ ३८ ॥
तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ॥ वृक्षखण्डमुपव्रज्य सरामो रथमा-
विशत् ॥३९॥ अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ॥ कालिन्द्या ह्रदमागत्य
स्नानं विधिवदाचरत् ॥ ४० ॥ निमज्ज्य तस्मिन्सलिले जपन्ब्रह्म सनातनम्॥
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥ ४१ ॥ तौ रथस्थौ कथमिह
सुतावानकदुंदुभेः ॥ तर्हि स्वित्स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥
॥ ४२ ॥ तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ॥ न्यमज्जद्दर्शनं यन्मे
मृषा किं सलिले तयोः ॥ ४३ ॥ भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत्स्तूयमानमहीश्वरं॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥ ४४ ॥ सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौ-
लिनम् ॥ नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥ तस्यो-

में निराश हुई वह गोपियें, तहाँसे पीछेको लौटीं और प्रिय कृष्ण के चरित्रों को गाकर शोक रहित होती हुई एक २ रात्रि और एक २ दिनको विताने लगीं ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! इधर बलराम और अक्रूरजी सहित वह श्रीकृष्णजी भी, वायुकी समान वेगवाले रथके द्वारा पापोंका नाश करनेवाली यमुना के तटपर पहुँचे ॥ ३८ ॥ तहाँ वृक्षोंकीझाडी में रथको खडा करके उसकेऊपर से बलरामसहित श्रीकृष्णजी नीचे उतरे और उस यमुना के निर्मल तथा इन्द्रनीलमणि की समान श्यामवर्ण जलसे हाथपैर और मुखको धोकर तथा जल पीकर फिर वृक्षों की झाडी में आकर वह बलरामसहित श्रीकृष्णजी रथपर बैठगये ॥३९॥ तब, जिनको शत्रुसे शङ्का हुई है ऐसे अक्रूरजी भी, बलराम कृष्ण को रथपर बैठाकर फिर उनसे आज्ञा लेकर मध्यान्ह का कृत्य करने के निमित्त यमुना के गम्भीर जल में घुसे और तहाँ उन्हों ने विधिपूर्वक स्नान करने का प्रारम्भ करा ॥४०॥ और उस जल में डुबकी मारकर सनातन ब्रह्मरूप प्रणवादि मंत्र का जप करनेलगे, उससमय उन अक्रूरजी ने तहाँ एकस्थान में को बलराम कृष्ण कोभी देखा ॥४१॥ तब वह अक्रूरजी वह रथपर बैठेहुए वसुदेव के पुत्र यहाँ कहां से आये ? यदि रथपर से उतरकर यहाँ आयेहोंगे तो रथपर नहीं होंगे, ऐसी तर्कना करके उन्हों ने ऊपर को मस्तक उठाकर रथकी ओर को देखा ४२ सो तहाँ वह पहिले की समान बैठे हैं ऐसा उनकी दृष्टि पडा तब जलमेंजो मुझे दर्शन हुआ वह झूँठाहै वा सच्चा,इसका निश्चय करनेके निमित्त अक्रूरजीने फिरजलमें डुवकी लगाई ॥४३॥सो तहांभी फिर उन्हो ने,शिर झुकाएहुए सिद्ध,चारण,गंधर्व और असुर जिनकी स्तुति कररहे हैं, सहस्र मस्तकोंवाले,सहस्र फणों के ऊपर किरीट धारण करनेवाले,देदीप्यमान,काले वस्त्र धारण करनेवाले, कमल के कंद (भसींड)की समान श्वेतवर्ण और जैसे चांदीका कैलाश पर्वत सुवर्ण के शिखरों से शोभायमान होता है तैसे फणों के ऊपर के कि-

रसंगं घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ पुरुषं चतुर्भुजं शांतं पद्मपत्रारुणेक्षणम्
॥ ४६ ॥ प्रसन्नचारुवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ॥ सुभ्रूनसं चारुकर्णं सुकपो-
लारुणाधरं ॥ ४७ ॥ प्रलंबपीवरभुजं तुंगांसोरस्थलश्रियं ॥ कंबुकंठं निम्ननाभिं
वलिमत्पल्लवोदरं ॥४८॥ बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितं ॥ चारुजानुयुगं
चारुजंघायुगलसंयुतं ॥ ४९ ॥ तुंगगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतं ॥ नवां-
गुल्यंगुष्ठदलैर्विलसत्पादपंकजं ॥ ५० ॥ सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकांगदैः ॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुंडलैः ॥५१॥ भ्राजमानं पद्मकरं शंखचक्रगदाधरं ॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनं ॥ ५२ ॥ सुनंदनंदप्रमुखैः पार्षदैः
सनकादिभिः ॥ सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥५३॥ प्रह्लादनारदवसु-
प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः ॥ स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥ ५४ ॥
श्रिया पुष्ट्या गिरा कांत्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ॥ विद्ययाऽविद्यया शक्त्या

रीटों से शोभायमान होनेवाले शेषजी को देखा ॥४४॥४५॥ उनके कुण्डलाकार करेहुए आधे शरीरपर शयन करेहुए मेघ की समान श्यामवर्ण, पीला रेशमी पीताम्बर पहिने चारभुजा वाले, शान्त, कमल के पत्रकी समान कुछएक लालनेत्रवाले ॥ ४६ ॥ सुन्दर और प्रसन्नमुख, सुंदर हास्यके साथ देखनेवाले, सुन्दर भ्रुकुटि, ऊँची नासिका, सुंदरकान, मनोहर कपोल और लाल२ अधरओठ वाले॥ ४७॥ घुटनोपर्यंत लम्बी और पुष्ट भुजा, ऊँचे कंधेवाले और वक्षःस्थलपर लक्ष्मी को धारण करेहुए, शङ्ख की समान तीन रेखाओं से युक्त कण्ठ, गहरीनाभि और त्रिवलीयुक्त पीपल के पत्ते की समान पेटवाले॥ ४८ ॥ विस्तारवाले कमर के पीछे के भाग से और हाथी की सूंड़ की समान सुन्दर दोनो ऊरु से युक्त, सुन्दर दोनो जानुओं से और मनोहर दोनों जङ्घाओं से युक्त ॥ ४९ ॥ थोड़ीसी ऊँची जो एंड़ी और लाल २ जो नखों का समूह उसकी कान्ति से युक्त, नवीन अंगुलि और अंगूठे ही मानों जिनमें पखडी हैं ऐसे चरणकमलों से युक्त ॥ ५० ॥ बहुत मोल के रत्नों के समूहों से जडेहुए किरीट, कडे, तोडे, बाजूबन्द, कमर की जंजीर, यज्ञोपवीत, हार, नूपुर, और कुण्डलों से प्रकाशवान दाहिने हाथ में कमल धारण करे और शेष तीन हाथों में शंख चक्र और गदा को धारण करने वाले, वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह, कण्ठ में कौस्तुभमणि और वनमाला पहिने ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तथा निर्मलचित्त नन्द सुनन्द आदि पार्षदों करके 'अपने स्वामी हैं' इस बुद्धि से, सनकादि ऋषियों करके ब्रह्मबुद्धि से, ब्रह्मा रुद्र आदि देवेश्वरों करके महेश्वर बुद्धि से, मरीचि आदि श्रेष्ठ नौ ब्राह्मणों करके प्रजापतिबुद्धि से और प्रल्हाद, नारद, वसु आदि उत्तम भगवद्भक्तों करके 'भगवान् हैं' ऐसी बुद्धि से अर्थात् सब भक्तों से भिन्न २ अभिप्रायों करके स्तुति करेहुए ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ और लक्ष्मी, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि,

मायया च निषेवितं ॥ ५५ ॥ विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया
युतः ॥ हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥ गिरा गद्गदयाऽस्तौषीत्
सत्त्वमालंब्य सात्वतः ॥ प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृतांजलिपुटः शनैः ॥५७॥
इ० भा० म० द० पू० अक्रूरप्रतियाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥
अक्रूर उवाच ॥ नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययं ॥
यन्नाभिजातादरविंदकोशाद्ब्रह्माऽऽविरासीद्यत एष लोकः ॥१॥ भूस्तोयमग्निः
पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इंद्रियाणि ॥ सर्वेंद्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये
हेतवस्ते जगतोऽगभूताः ॥ २ ॥ नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोऽना-
त्मतया गृहीताः ॥ अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात्परं वेद न ते स्व-
रूपं ॥ ३ ॥ त्वां योगिनो यजंत्यद्धा महापुरुषमीश्वरं ॥ साध्यात्मं साधिभूतं

इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति, और माया इन बारह शक्तियों करके सेवा करेहुए ॥ ५५ ॥ ऐसे देव को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए, उत्तम भक्तिमान्, जिनके शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगए हैं और प्रीति की अधिकता से गद्गदचित्त होकर आनन्द के आँसुओं से नेत्र भरआये हैं ऐसे वह अक्रूर जी, धीरे २ धीरज का आश्रय करके, मस्तक से भगवान् को नमस्कार कर और हाथ जोड़कर एकाग्रचित्त होतेहुए गद्गद हुई वाणी से उन भगवान की स्तुति करने लगे ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के पूर्वार्धे में एकोनचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे चालीसवें अध्याय में अक्रूर जी ने, यह श्रीकृष्ण ब्रह्मादिकों के भी ईश्वर हैं ऐसा जान भक्ति के साथ नमस्कार करके उनकी सगुण निर्गुण भेदों से स्तुति करी, ऐसी कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ अक्रूर जी ने कहा कि–हे कृष्ण! सब कारणों के कारण, आदि, पुरुष और अविनाशी ऐसे तुम नारायण को मैं नमस्कार करता हूँ; जिन तुम्हारी नाभि में से प्रकटहुए कमलकोश में से ब्रह्माजी उत्पन्नहुए हैं और फिर उन ब्रह्माजी से यह सृष्टिरूप सकल लोक प्रकटहुआ है ॥ १ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व, माया, पुरुष, मन, इन्द्रियें, विषय और देवता यह जितने जगत् के कारण हैं सो सब ही तुम्हारी श्रीमूर्त्तिसे उत्पन्नहुएहैं ॥२॥ यह मायादिक सबही पदार्थ, सबके आत्मा जो तुम तिनके स्वरूप को नहीं जानतेहैं, क्योंकि–यह प्रत्यक्ष आदि कारणोंसे जडरूपसे ग्रहण करेगयेहैं. अब यह पदार्थ, जड़होने के कारण मुझे न जानो परन्तु इन सबों को और अपने को भी जाननेवाला जो जीव वह तो मुझे जानता होगा, ऐसा कहो तो–उत्तम कोटि का जीव (ब्रह्मा) भी, मायाके गुणों से बँधाहुआ होनेके कारण, तिन गुणों से भी पर ऐसे तुम्हारे स्वरूप को नहीं जानता है फिर दूसरा जीव कहां से जानेगा ? अर्थात् कभी नहीं जानसक्ता ॥ ३ ॥ अब यदि कोईनहीं जानसक्ता तो जीवोंका संसार से छुटकारा कैसे होयगा ऐसा कहोगे तो–

च सांधिदैवं च साधवः ॥ ४ ॥ त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः ॥ यजंते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥ ५ ॥ एके त्वाऽखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ॥ ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजंति ज्ञानविग्रहं ॥ ६ ॥ अन्ये-च संस्कृतात्मानो विधिनाऽभिहितेन ते ॥ यजंति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येक-मूर्त्तिकम् ॥७॥ त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ॥ बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥ ८ ॥ सर्व एव यजंति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ॥ येऽप्य-न्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥ यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्या-पूरिताः प्रभो ॥ विशन्ति सर्वतः सिंधुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥ १० ॥ सत्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ॥ तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः

साक्षात् अगोचर भी तुम्हारा किसी मार्ग से भजन करनेवालों को तुम प्राप्त होते हो, ऐसा वर्णन करते हैं—योगसाधन करनेवाले कितने ही योगी, साक्षात् महापुरुष और अन्तर्यामी ईश्वररूप तुम्हारी आराधना करते हैं दूसरे कितने ही आत्मज्ञानी पुरुष, शरीर के नेत्र हृदय आदि अङ्गों के, सकल प्राणीमात्र के और सकल देवताओं के साक्षी ऐसे तुम्हारी आराधना करते हैं ॥ ४ ॥ कितने ही यज्ञ आदि करनेवाले ब्राह्मण, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में विस्तार के साथ कहीहुई यज्ञ करने की रीतियों के द्वारा इन्द्र, वरुण आदि अनेकों देवताओं के नामोंसे तुम्हाराही पूजन करते हैं ॥ ५ ॥ कितने ही ज्ञानी पुरुष, सकल कर्मोंको त्यागकर और शान्तभाव का आश्रय करके समाधि के द्वारा तुम ज्ञानमूर्त्तिकी ही आराधना करते हैं ॥ ६ ॥ दूसरे जो पञ्चरात्र में कहीहुई विधि से वैष्णवदीक्षा के संस्कार को प्राप्त हुएहैं वह तुम्हारे स्वरूप करके अपने आत्माका चिन्तवन करते हुए, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन भेदोंसे बहुत मूर्त्तिवाले और नारायणरूप से एक मूर्त्तिवाले ऐसे तुम्हारी उपासना करते हैं ॥७॥ हे भगवन्! दूसरे कितने ही उपासक, शिवजी के कहेहुए पाशुपतआदि मार्ग से और अनेकों आचार्यों के कहेहुए उनमें के नानाप्रकार के भेदों से, शिवरूप तुम्हारी ही उपासना करते हैं ॥ ८ ॥ हेप्रभो! जोकोई दूसरे क्षुद्र देवताओं के भक्त हैं वहभी, यद्यपि तिन २ देवताओं में परमेश्वरबुद्धि रखनेवाले हों तथापि वह सबही सकल देवताओं के अन्तर्यामी तुम परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ हेप्रभो! जैसे पर्वतों में से उत्पन्नहुई नदियें, मेघोंके जलसे भरते ही चारोंओर से समुद्र में ही प्रवेश करतीहैं, तैसेही नाना प्रकार के भजन करने के मार्गभी, तिन२ देवताओं के द्वारा अन्त में तुम्हारीही प्राप्ति करादेने वाले होते हैं ॥ १० ॥ क्योंकि—सत्त्व, रज और तम, यह तुम्हारी शक्तिरूप प्रकृति के गुण हैं अतः तिनमें ही प्रकृतिकार्योपाधिक ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सकल जीव, अपनी उपाधि के द्वारा ओतप्रोत हैं, वह गुण प्रकृति में तथा वह प्रकृति तुममें प्रविष्ट हो

॥ ११ ॥ तुभ्यं नमस्ते ऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ॥ गुणप्रवा-
होऽयमविद्यया कृतः प्रवर्त्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥ १२ ॥ अग्निर्मुखं ते ऽवनिर-
ङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ॥ द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव
बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥ रोमाणि वृक्षौषधयः शिरो-
रुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ॥ निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिर्मेढ्र-
स्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥ १४ ॥ त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः
सपाला बहुजीवसंकुलाः ॥ यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा म-
शका मनोमये ॥ १५ ॥ यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ॥ तै-
रामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १६ ॥ नमः कारणमत्स्याय

रही है इसकारण क्रमसे सबही तुम्हारे विषैं प्रवेश करते हैं ॥ ११ ॥ यदि मुझेभी तुम्हारे कथनानुसार प्रकृति का सम्बन्ध है तो प्रकृति के कार्यरूप जीवों में और मुझमें अन्तरही क्यारहा ? यदि ऐसा कहोतो हे प्रभो ! तुम्हारी बुद्धि गुणोंमें लिप्त नहींहोती है, तुमसबों के आत्मा और सबोंकी बुद्धियों के साक्षी हो, ऐसे तुम्हें, तुम्हारी प्राप्ति होने के निमित्त मेरा नमस्कार हो, अविद्या का कराहुआ यह संसार तो–देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि देहाभिमानी जीवोंको ही प्राप्त होताहै तुम्हें नहीं प्राप्तहोताहै इसकारण उनजीवोंमें और तुम में बड़ा अन्तरहै॥ १२ ॥ हेदेव ! जो यह अग्निहै सो तुम्हारा मुखहै, सात पातालों सहित भूमि यह–तुम्हारे कमरपर्यन्त चरण हैं, सूर्य, चक्षु, आकाश नाभि और दिशा कान, सत्यलोक, मस्तक, यह इन्द्रादिक देवता तुम्हारे बाहु, समुद्र, कोख, वायु– प्राण तथा बल कल्पित है ॥ १३ ॥ वृक्ष और औषधि–तुम्हारे रोम, मेघ–तुम्हारे मस्तक पर के केश, पर्वत तुम परमेश्वर के नख और हाड़ हैं, रात्रि और दिन–तुम्हारा पलक लगाना और खोलना है ब्रह्माजी–तुम्हारी गुह्य इन्द्रिय हैं और वर्षा–तुम्हारा वीर्य है, ऐसा सबों ने माना है ॥ १४ ॥ इतना ही नहीं किन्तु–बहुत से जीवोंसे भरेहुए यह लोकपालों सहित लोक, अविनाशी और केवल मनसे ग्रहण करने योग्य तुम पुरुषरूप के विषैं कल्पित हैं और वह–जैसे जल में मच्छी आदि जलके जीव जितना स्थान मिलता है उस में विचरते हैं अथवा जैसे गूलर के वृक्षपर असंख्य फल होते हैं और उनमें परस्पर की बातको भी न जाननेवाले सहस्रों भुनगे रहते हैं तैसेही एकही तुम्हारे विषैं अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनके भीतर लोकों में परस्पर की बात भी न जाननेवाले अनन्त जीव रहते हैं ॥ १५ ॥ इस लोक में क्रीड़ा करने के निमित्त तुम, जो २ मत्स्यादि रूप धारण करते हो तिनके द्वारा, आध्यात्मिक आदि दुःखों को नाश करनेवाले तुम्हारे यश को जो जीव आनन्दके साथ गाते हैं वह तरजाते हैं ॥ १६ ॥ सत्यव्रत राजाकी रक्षा और वेदोंका उद्धारकरने के

प्रलयाब्धिचराय च ॥ हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ १७ ॥ अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ॥ क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्त्तये ॥ ॥ १८ ॥ नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ॥ वामनाय नमस्तुभ्यं क्रांतात्रिभुवनाय च ॥ १९ ॥ नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ॥ नमस्ते रघुवर्याय रावणांतकराय च ॥ २० ॥ नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ २१ ॥ नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ॥ म्लेच्छप्रायक्षत्रहंत्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ २२ ॥ भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ॥ अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २३ ॥ अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ॥ भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥ २४ ॥ अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहं ॥ द्वंद्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥ २५ ॥ यथाबुधो जलं हित्वा

निमित्त मत्स्यरूप धारण करके प्रलयकाल के समुद्र में विचरनेवाले तुम्हें नमस्कार हो; मधुकैटभनामक दैत्यों को मारने के निमित्त हयग्रीव अवतार धारण करनेवाले तुम्हें नमस्कार हो ॥ १७ ॥ मन्दराचल पर्वत को धारण करनेवाले, महाकूर्मरूपी तुम्हें नमस्कार हो; पृथ्वी का उद्धार करने के निमित्त क्रीडा करनेवाले वराहावताररूप तुम्हें नमस्कार हो ॥ १८ ॥ हे साधुपुरुषों का भय हरनेवाले देव ! अद्भुत नृसिंहमूर्त्ति धारण करनेवाले तुम्हें नमस्कार हो; त्रिलोकी को व्याप्त करडालनेवाले वामनरूप तुम भगवान् को नमस्कार हो ॥ १९ ॥ घमण्डी क्षत्रियकुलरूप वन को काटनेवाले भृगुकुल के अधिपति तुम परशुराम को नमस्कार हो, रावण का नाश करनेवाले तुम रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार हो ॥ २० ॥ भक्तों का पालन करनेवाले, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप चतुर्व्यूह मूर्त्ति धारण करनेवाले तुम श्रीकृष्ण को वारम्वार नमस्कार हो ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवों को मोहित करनेवाले परन्तु वास्तव में शुद्धरूप तुम बुद्ध मूर्त्ति को नमस्कार हो, म्लेच्छरूप क्षत्रियों का संहार करनेवाले कल्किरूप तुम्हें नमस्कार हो ॥ २२ ॥ हे भगवन् ! यह सबही जीवलोक तुम्हारी माया से मोहित होरहा है इस कारण तुच्छ देहादिकों में, मैं और मेरा ऐसा अभिमान रखकर कर्ममार्ग में भ्रमता रहता है ॥ २३ ॥ केवल लोक ही भ्रमण करता रहता हो ऐसा नहीं किंतु, हे विभो ! मैं भी स्वप्नसमान—देह, पुत्र, घर, स्त्री, धन और स्वजनो में मूर्खता से सत्यता की बुद्धि रखकर भ्रमण कररहा हूँ अर्थात् आसक्त होरहा हूँ ॥ २४ ॥ अनित्य कर्मों के फलको नित्य माननेवाला, अनात्मरूप देह को आत्मा माननेवाला और दुःखरूप घर आदि को सुखरूप माननेवाला, सुखदुःखादि द्वन्द्वों में मग्न रहनेवाला, और अज्ञान से भराहुआ मैं, अपने परमप्रेम के स्थान तुम्हें नहीं जानता हूँ ॥ २५ ॥ जैसे अज्ञानी पुरुष, जलसे ही उत्पन्न

गदीश्वरः ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥ भवान् प्रवि-
शतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ॥ वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम्
॥ १० ॥ अक्रूर उवाच ॥ नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ॥ त्यक्तुं
नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ११ ॥ आगच्छ याम गेहान्नः सनाथा-
न्कुर्वधोक्षज ॥ सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥ पुनीहि पादरज-
सा गृहान्नो गृहमेधिनाम् ॥ यच्छौचेनानुतृप्यंति पितरः साग्नयः सुराः ॥ १३ ॥
अवनिज्यांघ्रियुगलमासीत् श्लोक्यो बलिर्महान् ॥ ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चै-
कांतिनां तु या ॥ १४ ॥ आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकाञ्छुचयोऽपुनन् ॥
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥ १५ ॥ देवदेव जगन्नाथ पु-
ण्यश्रवणकीर्तन यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोस्तु ते ॥ १६ ॥ श्रीभगवानु-
वाच ॥ आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः ॥ यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये

पहुँचे तब अपने हाथसे अक्रूरजी का हाथ पकड़कर हँसतेहुए से तिन नम्र अक्रूरजी से कहने लगे कि–॥ ९ ॥ हे तात अक्रूरजी! हमें ले आये यह समाचार कंस से कहने के निमित्त आगे नगरी में जाओ, रथसहित तुमजाओ और कंससे यह समाचार कहकर तत्काल अपने घरको जाओ, क्योंकि हमारे नगरीमें प्रवेश करनेके समय कुछ झगडा होजाना सम्भवहै इस कारण हम अब अपना असबाब आदि उतारकर विश्राम लेकर फिर मथुरा नगरी की शोभा देखेंगे ॥ १० ॥ अक्रूर जीने कहाकि–हेप्रभो! तुमदोनों से रहित मैं इकलाही मथुरा में प्रवेश करने की इच्छा नहीं करता हूँ, हे नाथ! हे भक्तवत्सल! तुम मुझ अपने भक्त को त्याग करने का मन में विचार नकरो ॥ ११ ॥ हे अधोक्षज! हे परममित्र! बलराम, गोपाल और मित्रों के साथ तुम हमारे घरचलो, हम सब इकट्ठे होकर जायँगे, तुम हमें सनाथ करो ॥ १२ ॥ अपने चरणरज से मुझ गृहस्थाश्रमी के घरको पवित्र करो, जिस तुम्हारे चरण को धोने के जल (गङ्गाजल) से तर्पण करेहुए पितर, अग्नि और देवता क्षण२ में तृप्त होते हैं ॥ १३ ॥ तुम्हारे दोनों चरणों को धोकर राजाबलि, परमकीर्त्तिके विषय में योग्य और गुणोंसे बडा हुआ तथा उस ने इससमय सुतलमें और आगे को स्वर्ग में अतुल ऐश्वर्य पाया है और उस ने निष्कामभक्तों की तुम्हारे स्वरूप की प्राप्तिरूप उत्तमगति भी पाईहै॥ १४ ॥ तुम्हारे चरण को धोनेसे पवित्रहुए जलोंने, तीनों लोकों को पवित्र कराहै, क्योंकि जिन जलों को, शिवजी धारण करते हैं और जिन के स्पर्शमात्र से सगर राजा के पुत्र स्वर्ग को चलेगए हैं ॥ १५ ॥ हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे पुण्यश्रवणकीर्तन! हे यदुवंशोत्तम! हे उत्तमकीर्त्ति! हे नारायण! तुम्हें नमस्कार हो ॥ १६ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि–हे अक्रूरजी! मैं पहिले यादवकुल से वैर करनेवाले कंस को मारकर फिर बलराम

सुहृत्प्रियम् ॥ १७ ॥ एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ॥ पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥ १८ ॥ अथापराह्ने भगवान् कृष्णः संकर्षणाऽन्वितः ॥ मथुरां प्राविशद्गोपै-र्दिदृक्षुः परिवारितः ॥ १९ ॥ ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुरद्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणां ॥ ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥ २० ॥ सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृतांम् ॥ वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥ ॥ २१ ॥ जुष्टेषु जालामुखरंध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ॥ संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्यांकुरलाजतण्डुलाम् ॥ २२ ॥ आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ॥ सवृंतरंभाक्रमुकैः सकेतुभिः स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥ २३ ॥ तां संप्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वय-

सहित तुम्हारे घर आऊंगा और तुम्हारा ही क्या किन्तु सब ही सुहृदों का प्रिय करूंगा॥ १७॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् के कहेहुए अक्रूरजी, कुछ खिन्न से होकर, नगरी में को चलेगये और बलराम कृष्ण को लिवालाया ऐसा, कंस से कहकर वह अपने घरको चलेगये ॥ १८ ॥ तदनन्तर मथुरा नगरी को देखने की इच्छा करने वाले गोपों से घिरेहुए और बलरामसहित उन श्रीकृष्णजी ने, तीसरे पहरके समय मथुरा में प्रवेश करके वह नगरी देखी ॥ १९ ॥ जिस नगरी में स्फटिकमणियों के नगर के द्वार और घरों के द्वार थे, सुवर्ण के बडे २ किवाड़ और चौखट थीं, तांबे और लोहे के अन्न आदि रखने के कोठे थे, जो चारों ओर खाइयों के होनेसे भीतर प्रवेश करनेको अशक्य और दूर के बागों तथा समीप के बगीचों से अति शोभायमान थी ॥ २० ॥ जो सुवर्ण के चौराहे, साहूकारों के घर और घरोंके योग्य बगीचों से तथा कारीगरों की दुकानों और घरों से शोभायमान थी; जो वैदूर्यमाणी, हीरे, स्फटिक, नीलम, मूँगे और पुखराजों से बनायेहुए घरों के छज्जोंपर, वेदियोंपर, झरोखोंपर और बैठकों पर बैठेहुए कबूतरों के मोरों के शब्दों से गुञ्जार रही थी; जिस में राजमार्ग (आम सड़कें), बाजारों में की गलियें, और मार्ग तथा चौक झाड़े बुहारे हुए थे और जहां तहां फूल, अंकुर तथा अक्षत बिखरे हुए थे ॥ २१ ॥ २२ ॥ तिस नगरी में प्रत्येक घरके द्वारों के दोनों ओर तंदुल के ऊपर दही और चन्दन से सींचेहुए जल के भरे घट स्थापन करेहुए थे, उन घड़ों के चारों ओर फूलों की माला और गले में दमकती हुई रेशमी वस्त्र की पट्टियें, मुख में आम आदि के पल्लव उनके ऊपर पात्र में दीपों की पंक्तियें, फिर बहुत से फलों से युक्त केले और सुपारी के खड़ेहुए वृक्ष तथा टांगीहुई ध्वजा और बांधीहुई वन्दनवारें थीं॥ २३॥ हेराजन् ! इसप्रकार की तिस नगरी में अपने मित्रों के साथ राजमार्ग में को जानेवाले तिन बलराम

स्यैनरदेववर्त्मना ॥ द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृ-
पोत्सुकाः ॥ २४ ॥ काश्चिद्विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथा-
पराः ॥ कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम् ॥२५॥
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य भोजनमभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ॥ स्वपन्त्य
उत्थाय निशम्य निःस्वनं प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥ २६ ॥ मनांसि
तासामरविंदलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकैः ॥ जहार मत्तद्विरदेंद्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवं ॥ २७ ॥ दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं त-
त्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ॥ आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं हृष्यत्त्व-
चो जहुरनन्तमरिंदमाधिम् ॥२८॥ प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः॥

कृष्ण को देखने के निमित्त उत्कण्ठित होकर शीघ्रता में भरीहुई नगरकी स्त्रियें अपनेघरों में से निकलकर तिन बलराम कृष्णके सन्मुख आईं और जो घरों में से बाहर जाने के योग्य नहीं थीं वह कुल की स्त्रियें, अपने२ घरों की अटारियों पर चढ़गईं ॥२४॥ कितनी ही स्त्रियों ने भड़भड़ी में पैरों के गहने हाथों में और हाथो के गहने पैरों में पहिनकर, पहिरने का वस्त्र ओढ़कर और ओढ़ने का वस्त्र पहिनकर तैसे ही चलीगईं, कितनियों ही ने, कुण्डल और कङ्कन आदि जो दो २ भूषण कान और हाथ आदि में धारण करने के थे उनमें से एक २ भूलकर एक२ को ही धारण करके चलीगईं,कोई दोनों कानों में के कर्णफूल एकही कान में और दोनों पैरों में की पायजेवें एकही पैर में पहिनकर चलीगईं कितनी ही एक नेत्र में काजल आंजकर दूसरे में विना आंजे ही चली गईं ॥२५॥ कितनी ही भोजन कररहीं थीं वह भोजन को छोड़कर तैसे ही चलीगईं, कितनियों ही के शरीर को सखियों ने तेल मला था वह स्नान करे विना तैसे ही चलीगईं, कितनी ही सोरही थीं वह ' भगवान् आये ऐसा ' मार्ग में के लोगों का कलकलाहट का शब्द सुनकर गड़बड़ी में तैसे ही उठकर चलीगईं, कितनी ही माताएं—बालकों को दूध पिलारहीं थीं वह बालकों को छोड़कर तैसे ही चलीगईं ॥ २६ ॥ उससमय मतवाले हाथी की समान चलनेवाले तिन कमलनेत्र भगवान् श्रीकृष्णजी ने, अपनी प्रौढ़ लीलाओं से, हास्यों से, चितवनों से और लक्ष्मी को भी आनन्द देनेवाले शरीर से उनकी दृष्टियों को आनन्द देकर उनके मनों को खैंच लिया ॥ २७ ॥ हे कामादि शत्रुओंको जीतनेवाले राजन्! वह स्त्रियें कृष्ण के गुण वारम्वार सुनने के कारण पहिले ही श्रीकृष्ण के विषैं चित्त लगाएहुए थीं, अब वह कृष्ण को प्रत्यक्ष देखकर उनकी चितवन से और हास्यरूप अमृतके छिड़कने से सत्कार करीहुईं होकर अपने खुलेहुए नेत्ररूप द्वार से अन्तःकरण में प्रवेश कराए हुए उन आनन्दमूर्त्ति श्रीकृष्ण को आलिंगन करके, और शरीरपर रोमाञ्च धारण करके पहिले उन के न मिलने के कारण जो मन में अनन्त दुःख था उस को त्यागा ॥ २८ ॥

अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥ २९ ॥ दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्र-
ग्गन्धैरभ्युपायनैः ॥ तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥ ३० ॥ ऊचुः
पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन्महत् ॥ या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहो-
त्सवौ ॥ ३१ ॥ रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ॥ दृष्ट्वाऽयाचत वा-
सांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥ ३२ ॥ देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि
चार्हतोः ॥ भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥ ३३ स या-
चितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ॥ साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः
॥ ३४ ॥ ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः ॥ परिधत्त किमुद्वृत्ता रा-
जद्रव्याण्यभीप्सथ ॥ ३५ ॥ याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा॥
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥ ३६ ॥ एवं विकत्थ-
मानस्य कुपितो देवकीसुतः ॥ रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत्

उससमय जो स्त्रियें महलों की अटारियों पर चढीहुई थीं वह, श्रीकृष्णजी को देखकर आनन्द से प्रफुल्लित मुखकमलवाली होगईं और उन्हों ने ढेरों पुष्प लाकर बलराम कृष्णके ऊपर फूलों की वर्षा करी ॥२९॥ उससमय हर्ष को प्राप्तहुए ब्राह्मणों ने, मार्ग में जहां तहां तिलक करने के निमित्त दही और अक्षत, चरण धोने के निमित्त जल के पात्र, पूजन करने को पुष्पों की माला, चन्दन, मिष्टान्न और फल आदि लेकर उन बलराम कृष्ण की पूजा करी ॥ ३० ॥ उससमय नगर की स्त्रियें आपस में कहने लगीं कि—अहो ! जो गोपियें, मनुष्यलोक को परम आनन्द देनेवाले इन बलराम कृष्णको क्षण २ में देखती हैं उन्होंने पहिले जन्मों में कौनसा बडाभारी तपकरा होगा ? ॥ ३१ ॥ इसप्रकार लोकों के बातचीत करतेहुए श्रीकृष्णजी ने, मार्गमें आतेहुए, वस्त्र धोनेवाले और वस्त्रों को रँगनेवाले भी एक रजक को देखा और उस के पास धुलेहुए अति उत्तम वस्त्र थे वह मांगे ॥ ३२ ॥ कहा कि—हे रजक ! वस्त्रादि करके सत्कार करनेयोग्य हमें तू यह योग्य वस्त्र दे, निःसन्देह देनेवाले तेरा परम कल्याण होगा ॥ ३३ ॥ इसप्रकार सब पदार्थों से सबदेश में और सब काल में परिपूर्ण उन भगवान् ने जिस से याचना करी है ऐसा वह कंस का सेवक मदोन्मत्त रजक क्रोध में होकर निन्दा करताहुआ कहने लगा कि— ॥ ३४ ॥ अरे उद्धतपुरुषो ! तुम जो राजा के पहिनने के वस्त्र मांगते हो सो अरे ! पर्वतोंपर और वनो में फिरनेवाले तुम ने आजपर्यन्त कभी ऐसे उत्तमवस्त्र पहिने भी हैं ? ॥ ३५ ॥ अरे मूर्खो ! यहां से तुम दूसरे स्थान को चलेजाओ और अब आगे को तुम्हें जीवित रहने की इच्छा होय तो तुम अब ऐसे बढ़िया वस्त्र किसी से भी न मांगना, क्योंकि—राजा के जो हरकारे हैं वह निःसन्देह तुमसे उद्धतपुरुषों को बाँध के डालदेते हैं, मार डालते हैं और उनके पास के सब पदार्थ लूटलेते हैं ॥ ३६ ॥ इसप्रकार अट्टसट्ट बातें करनेवाले उस रजक (धोबी) का

॥३७॥ तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान् विसृज्य वै ॥ दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं
वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥ ३८ ॥ वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः संकर्षणस्तथा
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥ ३९ ॥ ततस्तु वाय
कः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ॥ विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥ ४० ॥
नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ॥ स्वलंकृतौ बालगजौ पर्वणीव सि-
तेतरौ ॥ ४१ ॥ तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात्सारूप्यमात्मनः ॥ श्रियं च
परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥ ४२ ॥ ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य
जग्मतुः ॥ तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥ ४३ ॥ तयोरासन-
मानीय पाद्यं चार्घार्हणादिभिः ॥ पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः
॥ ४४ ॥ प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ॥ पितृदेवर्षयो मह्यं
तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥ ४५ ॥ भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परं ॥

शिर उन क्रोध में हुए देवकीपुत्र श्रीकृष्णजी ने, अपने नखों से ही देह से अलग करके
भूमिपर गिरादिया ॥ ३७ ॥ तब उस रजक के सब सेवक वस्त्रों की गठरियों को तहां ही
छोड़कर सब मार्गों में को भागनेलगे, फिर श्रीकृष्णजी ने वह वस्त्र लेलिये ॥ ३८ ॥ उस
समय श्रीकृष्णजी ने और बलराम जी ने, अपने को अच्छे लगनेवाले पीले और नीले वस्त्र
पहिनकर कितने ही वस्त्र गोपों को दिये, जो शेष रहे सो भूमि में डालकर तहां से आगे को
चलदिये ॥ ३९ ॥ आगे एक प्रेमी तन्तुवाय (दरजी) ने, चित्रविचित्र वर्ण के वस्त्रों के
बनाएहुए भूषणों से तिन बलराम कृष्णके यथायोग्य वेष की रचना करदी ॥ ४० ॥ तब
जैसे किसी उत्सव में आभूषण पहिनेहुए स्वेत और कृष्ण वर्ण के दो हाथी शोभा पाते हैं
तैसे, नानाप्रकार के वस्त्र के बने आभूषणों से भूषितहुए वह बलराम कृष्ण अत्यन्त शो-
भायमान होनेलगे ॥ ४१ ॥ तब उस तन्तुवाय (दरजी) के ऊपर प्रसन्नहुए भगवान्ने,
उस को, देह छूटने के अनन्तर अपनी समानरूपता (सारूप्यमुक्ति) देनेका सङ्कल्प करा
और इस लोक में (जबतक जीवित रहे तबतक) उस को उत्तम सम्पत्ति, शरीर का बल
ऐश्वर्य, अपनी स्मृति और इन्द्रियों की पटुता (यथोचित कार्य करनेकी उत्तम शक्ति)
दी ॥ ४२ ॥ तदनन्तर वह बलराम कृष्ण सुदामानामक माली के घर गये, उन को
देखते ही वह शीघ्रतासे उठा और उस ने भूमिपर मस्तक नवाकर नमस्कार करा ॥ ४३ ॥
और उनको आसन देकर, पाद्य अर्पण करके तदनन्तर गोपोंसहित उन भगवान् की
माला, ताम्बूल, चन्दन का लेपन तथा और भी पूजन की सामग्रियें अर्पण करके पूजा करी
॥ ४४ ॥ और कहने लगाकि—हे प्रभो ! तुम मेरे घर आये तिससे मेरे ऊपर पितर, देवता
और ऋषि प्रसन्न हुए हैं, तुमने मेरा कुल पवित्र करा इस कारण आज मेरा जन्म सफल
हुआ है ॥ ४५ ॥ तुम निःसन्देह सकल जगत के परमकारण हो और साधुओं का पालन

अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥ ४६ ॥ नहि वां विषमादृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः ॥ समयोः सर्वभूतेषु भजतं भजतोरपि ॥ ४७ ॥ तावाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वां ॥ पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥ इत्यभिप्रेत्य राजेंद्र सुदामा प्रीतमानसः ॥ शस्तैः सुगंधैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ ॥४९॥ ताभिः स्वलंकृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ ॥ प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥ ५० ॥ सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ॥ तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां परां ॥ ५१ ॥ इति तस्मै वरं दत्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीं ॥ बलमायुर्यशः कांतिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥ इतिश्रीभागवते म० द० पूर्वार्धे पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ व्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीतांगविलेपभाजनां ॥ विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यांतीं

करने के निमित्त तथा उनकी उन्नति करने के निमित्त मूर्त्तिभेद से इस लोक में अवतरे हो ॥४६॥ तुम जगत् के आत्मा, सब के मित्र, सब प्राणियों पर समानदृष्टि रखनेवाले और अपनी भक्ति करनेवालोंका सेवन करनेवाले हो,तुम्हारी कहीं भी भेददृष्टि नहीं है ॥४७॥ तुम जगत् के ईश्वर, मुझ दास को आज्ञा करो कि–तुम्हारा मैं कौनसा दासकार्य करूँ ? क्योंकि–तुम अपना कहकर स्वीकार करेहुए पुरुष को जो आज्ञा करते हो सो तुम्हारा उसके ऊपर बड़ाही अनुग्रह होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४८ ॥ हे महाराज ! ऐसी प्रार्थना करके और एकाएकी श्रीकृष्णजी का अभिप्राय जानकर प्रसन्नचित्तहुए तिस सुदामा माली ने, सुगन्धित फूलों की गूंथीहुई माला तिन कृष्ण बलराम आदि सकल गोपों को अर्पण करीं ॥ ४९ ॥ तब उन मालाओं से गोपोंसहित भूषित और प्रसन्नचित्तहुए उन वरद मूर्त्ति बलराम कृष्ण ने,नम्रहुए तिस सुदामा माली को, इच्छित वर मांगने की आज्ञा दी ॥ ५० ॥ सुदामा माली ने भी उन सर्वात्मा श्रीकृष्णजी में अचलभक्ति, उनके भक्तों में मित्रता और सकल प्राणीमात्र के ऊपर परमदया यह वरदान मांगलिये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार उसके मांगेहुए वरदानों को देकर तथा उसके विना माँगे भी, वंश की वृद्धियुक्त सम्पदा, बल, आयु, यश और कान्ति यह देकर वह श्रीकृष्णजी बलरामसहित तहां से आगे को गये ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्ध में एकचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ आगे बयालीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने कुब्जा को सूधाकरा, धनुष तोड़ा और उसके रक्षकों का वध करा तथा कंस के कुशकुन देखना और रंगभूमिका उत्साह यह कथा वर्णन करी हैं ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! तदनन्तर राजमार्ग में को जातेहुए वह श्रीकृष्ण जी, हाथ में चन्दन आदि के लेपन का पात्र लेकर, जानेवाली सुन्दरमुखी परन्तु तीन

प्रहसन् रसप्रदः ॥ १ ॥ का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व
साधु नः ॥ देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते न चिराद्भविष्यति ॥२॥
सैरन्ध्र्युवाच ॥ दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ॥ मद्भावितं
भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥ रूपपेशलमाधुर्यह-
सितालापवीक्षितैः ॥ धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥ ततस्ता-
वङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना ॥ सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥
प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ॥ ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन्
दर्शने फलम् ॥६॥ पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना ॥ प्रगृह्य चुबुके-
ऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥ ७ ॥ सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ॥
मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥८॥ ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ॥

स्थान में टेढ़ी एक कुब्जा नामवाली तरुण स्त्री को देखकर हँसे और उसको सुख देते हुए ऐसा कहनेलगे ॥ १ ॥ हे श्रेष्ठ ऊरुवाली ! इस नगरी में तू किस की कौन है ? और यह शरीर को लगाने का लेपन तू किस के निमित्त लियेजारही है ? हे सुन्दरि ! यह हम से सत्य कह, तू किसी के भी निमित्त लेपन क्यों न लियेजाती हो परन्तु यह उत्तम लेपन तू हमें दे, ऐसा करेगी तो शीघ्र ही तेरा कल्याण होगा ॥ २ ॥ कुब्जा ने कहा कि हे सुन्दर ! मैं त्रिवक्रा+नामवाली कंस की, अंग को लेपन लगाने के काम में उस की मानीहुई दासी हूँ; मेरे कुब्जा (कुबड़ी) होने के कारण निर्बलता से धीरे२ महीन घिसाहुआ चन्दन कंस को बहुत अच्छा लगता है; इस चन्दन के योग्य तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन है ? ॥ ३ ॥ ऐसा कहकर भगवान् के रूप, सुकुमारता, रसिकता, हास्य, वार्त्तालाप और चितवन से चित्तमें मोहितहुई तिस कुब्जा ने, तिन बलराम कृष्ण को वह गाढ़ा २ चन्दन का लेपन दिया ॥ ४ ॥ तदनन्तर बलराम कृष्ण के श्वेत और श्यामवर्ण से अन्य (लाल और पीले) वर्णोंसे अति शोभायमान और नाभिके ऊपर शरीरपर लगाएहुए उस लेपन से रँगेहुए वह बलराम कृष्ण शोभा पानेलगे ॥५॥ तब प्रसन्न हुए भगवान् ने, अपने दर्शन का फल दिखाने के निमित्त तीन स्थान में टेढी तिस सुन्दरमुखी कुब्जा को सूधा करने का मन में विचार करा ॥ ६ ॥ और अपने दोनों पैरों से उस के पैरों के पंजे दबाकर दो अंगुल ऊपर को उठाएहुए अपने हाथ से उस की ठोडी को पकड़कर उस का देह ऊपर को उठाया ॥७॥ तब वह कुब्जा श्रीकृष्णजी के स्पर्श करने से ही सीधेहुए शरीरवाली और जिसके नितम्ब तथा स्तन स्थूल हैं ऐसी, स्त्रियों में उत्तम स्त्री हुई ॥ ८ ॥ और रूप गुण तथा उदारता से युक्त और कामातुर होकर वह

+ कण्ठ, वक्षःस्थल और कमर इन तीन स्थानों में टेढी होने के कारण उस का त्रिवक्रा नाम था ।

उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥ ९ ॥ एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ॥ त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥ १० ॥ एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ॥ मुखं वीक्ष्यानुगानां च प्रहसंस्तामुवाच ह ॥ ११ ॥ एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम् ॥ साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥ १२ ॥ विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन्मार्गे वणिक्पथैः ॥ नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः ॥ १३ ॥ तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः ॥ विस्रस्तवासःकवरवलयालेख्यमूर्तयः ॥ १४ ॥ ततः पौरान्पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ॥ तस्मिन्प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतं ॥ १५ ॥ पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ॥ वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥ १६ ॥ करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यतां ॥ नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥ १७ ॥ धनुषो भज्यमानस्य शब्दः

कुब्जा हँसती हुई, श्रीकृष्णजी के ओढने के वस्त्रको पकडकर कहने लगी कि– ॥९॥ हे वीर! आओ घरको चलें,तुमें यहाँ त्यागने को मेरा उत्साह नहीं होता है, हे पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हारे निमित्त काम से क्षुभितचित्त हुई मेरे ऊपर तुम प्रसन्न होओ ॥१०॥ ऐसे उस कुब्जा स्त्री के प्रार्थना करनेपर श्रीकृष्णजी बलरामजी के देखतेहुए, गोपों के मुख की ओर को देखकर मुसकुराये और उस से कहनेलगे ॥ ११ ॥ कि–हे सुन्दरभ्रुकुटिवाली स्त्री! मुझे कुछ कार्य करना हैं उसको करने के अनन्तर, पुरुषों के मनका सन्ताप दूर करनेवाले तेरे घरआऊँगा; क्योंकि–हम बटोही पुरुषों को तेरा ही बड़ा आश्रय है ॥ १२ ॥ इसप्रकार की मधुर वाणी से उसको छोड़कर, आगेको बलरामजी के साथ जानेवाले तिन श्रीकृष्णजी की,मार्गमें बड़े २ साहूकारों ने, अनेक प्रकार की भेट,ताम्बूल, माला और चन्दन आदिका लेपन अर्पण करके पूजाकरी ॥ १३ ॥ उन भगवान् के दर्शन से उत्पन्न हुआ जो मदन तिसके क्षोभसे स्त्रियोंकीतो ऐसीदशा होगई कि–उनको अपने शरीरकी,खुले हुए वस्त्रकी,केशपाशकी,और कङ्कनोंकी भी सुध नहीं रही;वह केवल चित्रोंकी समान निश्चल होकर खड़ी होगईं ॥ १४ ॥ फिर भगवान् ने, पुरवासियों से धनुष का स्थान बूझते २ धनुषयज्ञ की शाला में जाकर, तहाँ इन्द्र के धनुष की समान अद्भुत धनुष देखा॥ १५ ॥वह बहुतसे पुरुषों से रक्षा कराहुआ,पूजन कराहुआ और सुवर्ण के आभूषण आदिकी समृद्धि से युक्त था, उसको देखकर उसके रखवालों के निषेध करनेपर भी श्रीकृष्णजी ने बलात्कार से (जबरदस्ती) वह धनुष उठालिया ॥ १६ ॥ और महापराक्रमी उन श्रीकृष्णजी ने, बाएं हाथसे सहज में उठाया हुआ वह धनुष, ठीक करके, सब लोकों के देखते हुए एक निमेष में ही खैंचकर, जैसे मदान्ध हुआ हाथी ईख (गन्ने) के दण्डे को तोड़ डालता है तैसे, बीचमें से तोड़डाला ॥ १७ ॥

खं रोदसी दिशः ॥ पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥ १८ ॥ तद्र
क्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ॥ ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां वध्यता-
मिति ॥ १६ ॥ अथ तान्दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ ॥ क्रुद्धौ धन्वन
आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥ २० ॥ बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखा-
त्ततः ॥ निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसंपदः ॥ २१ ॥ तयोस्तदद्भुतं वीर्यं
निशम्य पुरवासिनः ॥ तेजः प्रागल्भ्यरूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥ २२ ॥
तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ॥ कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छ-
कटमीयतुः ॥ २३ ॥ गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताशिष ऋता
मधुपुर्यभूवन् ॥ संपश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरान्नु भजतश्चकमेऽ-
ऽयनं श्रीः ॥ २४ ॥ अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ॥ ऊष-
तुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥ २५ ॥ कंसस्तु धनुषो भंगं र-

तब उस टूटतेहुए धनुप के शब्द ने आकाश, स्वर्ग, भूमि और सब दिशाओं को भरदिया, उस शब्द को सुनकर कंसको बडा भय हुआ ॥१८॥ तब उस धनुषके जो रखवाले थे उन्हों ने अपने अनुचरोंसहित क्रोध में भरकर और शस्त्र धारण करके बलराम कृष्णको पकडने की इच्छा करते हुए और पकडो, मारो ऐसा कहते हुए उनको चारों ओर से घेर लिया ॥ १९ ॥ उस समय मारने की इच्छा करनेवाले उन धनुष के रखवालों को देखकर, क्रुद्ध हुए बलराम कृष्ण ने, धनुष के टुकडे लेकर उनको मारडाला ॥ २० ॥ उससमय कंस की भेजीहुई सेनाको भी मारकर, वह बलराम कृष्ण उस धनुषयज्ञ की शालामें से बाहर निकले और नगरमें की सम्पत्तिको देखकर हर्षित हो निर्भयपने से नगरमें फिरनेलगे॥२१॥ उन बलराम कृष्ण का वह धनुष को तोडना आदि आश्चर्यकारी कर्म सुनकर और तेज, प्रौढ़ता तथा सुन्दरता देखकर पुरवासी लोगोंने समझा कि-यह कोई देवताओंमें श्रेष्ठहैं॥२२। इसप्रकार अपनी इच्छानुसार उनको नगर में फिरते २ सूर्य अस्त होगया, तब गोपों से घिरेहुए वह बलराम कृष्ण, नगर में से अपने ठहरने के स्थान को लौटकर आये ॥२३॥ श्रीकृष्णजी के गोकुल मेंसे जातेसमय उनके विरह से व्याकुलहुई गोपियों ने, अब मथुरावासी लोगोंके सब मनोरथ पूरे होंगे ऐसा जो कथन करा था सो तब तहां श्रीकृष्णजी के शरीर की शोभा देखनेवाले लोगों के सत्यहुए, क्योंकि-जो श्रीकृष्णजी का शरीर, लक्ष्मी ने भी अपनी सेवा करनेवाले ब्रह्मादि अन्य देवताओंको त्यागकर अपना आश्रय मानकर स्वीकार करा है ॥ २४ ॥ इधर बलरामजी ने हाथ पैर धोकर दूध पूरी आदि अन्न का भोजन करा और कंस का कर्त्तव जानकर उस रात में सुखसे शयन करा२५

क्षिणां स्वबलस्य च ॥ वधं निशम्य गोविंदरामविक्रीडितं परम् ॥ २६ ॥ दी-
र्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ॥ बहून्याचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकरा-
णि च ॥ २७ ॥ अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ॥ असत्यपि द्वितीये
च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥ २८ ॥ छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुप-
श्रुतिः ॥ स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥ २९ ॥ स्वप्ने प्रेतपरिष्वंगः
खरयानं विषादनं ॥ यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगंबरः ॥ ३० ॥
अन्यानि चेत्थंभूतानि स्वप्नजागरितानि च ॥ पश्यन्मरणसंत्रस्तो निद्रां लेभे
न चिंतया ॥ ३१ ॥ व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ॥
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवं ॥ ३२ ॥ आनर्चुः पुरुषा रंगं तूर्य-
भेर्यश्च जघ्निरे ॥ मंचाश्चालंकृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥ ३३ ॥ तेषु
पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ॥ यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः

इधर वह दुष्टबुद्धि कंस तो--धनुष का टूटना, धनुष के रखवालों का माराजाना और अपनी सेना का नाश करना उन बलराम-कृष्ण का केवल खेल होगया ऐसा सुनकर डरगया और उस सारी रातभर उस को नींद नहीं आई और उसने स्वप्नमें तथा जागते में मृत्यु के सूचक बहुतसे अपशकुन देखे ॥ २६ ॥ २७ ॥ दर्पण में वा जल में अपनी परछाही में अपना शिर नहीं दीखना, चन्द्रमा-दीपक आदि और नेत्रों के मध्य में अंगुलि आदि कुछ रुकावट न होने पर भी उन चन्द्रमा-दीपक आदि के दो २ रूप दीखना ॥ २८ ॥ परछाही में चलनी के से छेद दीखना, कान को बन्द करने पर जो घुं घुं शब्द सुनाई देता है उस को प्राणघोष कहते हैं उस का, कान बन्द करने पर सुनाई न देना, वृक्षों में सुवर्ण की समान पीला वर्ण दीखना, धूलि वा कीच आदि में उभरेहुए अपने चरणों के चिन्ह न दीखना, यह कुशकुन उस कंस ने जागते हुए ही देखे॥ २९॥ और उस ने स्वप्न में प्रेत के साथ आलिंगन करना, गदहे पर चढ़कर जाना, विष खाना और जपा के फूलों की माला पहिनकर शरीर को तेल लगाकर नङ्गे होकर इकले ही जाना यह कुशकुन देखे ॥ ३० ॥ ऐसे ही और भी स्वप्न में तथा जागते में मरण के सूचक कुशकुन देखकर मरण से भयभीत हुऐ उस कंस को चिन्ता से नींद नहीं आई ॥ ३१ ॥ बड़े कष्ट से उस रात के बीतजाने पर जब जल में से सूर्य का उदय हुआ तब उस दिन भी उस कंस ने मल्लों की क्रीड़ारूप (कुश्ती का) बड़ा उत्साह कराया ॥ ३२ ॥ कंस के सेवक, मल्लयुद्ध होने के स्थान रङ्गमण्डप को झाड़ बुहार कर फूलों की माला आदि से शोभायमान करने लगे, देखनेवालों के बैठने के बड़े २ आसन माला, पताका, वस्त्र, वन्दनवार आदि से भूषितहुए ॥ ३३ ॥ और उन के ऊपर पुर-वासी तथा देशवासी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि लोग आकर बैठे और स्थान२ पर बिछाए हुए

॥ ३४ ॥ कंसस्तु संवृतोऽमात्यै राजमंच उपाविशत् ॥ मंडलेश्वरमध्यस्थो हृद-
येन विदूयता ॥ ३५ ॥ वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ॥ मल्लाः स्वलं-
कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समागताः ॥ ३६ ॥ चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तो-
शल एव च ॥ ते आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥ ३७ ॥ नंदगोपादयो
गोपा भोजराजसमाहुताः ॥ निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन्मंचे आविशन्
॥ ३८ ॥ इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे मल्लरंगोपवर्णनं नाम
द्विचत्वारिंशोध्यायः ॥ ४२ ॥ ॥ छ ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥
श्रीशुक उवाच ॥ अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परंतप ॥ मल्लदुंदुभिनिर्घोषं
श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १ ॥ रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन्नागमवस्थितम् ॥ अपश्यत्कुवल-
यापीडं कृष्णोऽबष्ठप्रचोदितम् ॥ २ ॥ बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिला

सिंहासनों पर राजेलोग भी सुखसे आकर बैठे ॥ ३४ ॥ राजा कंस तो अपने मंत्रियों की मण्डली के साथ माण्डलिक राजाओं के मध्य में, कुशकुन देखने के कारण हृदय में कांपता हुआ मुख्य सिंहासन पर आकर बैठा ॥ ३५ ॥ तदनन्तर जिस में मल्लों की ताल सब की अपेक्षा अधिक सुनाई आती है ऐसे अनेकों बाजे बजने लगे तब बड़े २ मल्ल अपने २ सिखानेवाले आचार्यों (उस्तादों) के साथ सजेहुए,बड़े गर्व के साथ उस मण्डप में आने लगे ॥ ३६ ॥ चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि मल्ल, सुंदर बाजों का शब्द सुनकर उस मल्लभूमि में (अखाड़े में) आने लगे ॥ ३७ ॥ तथा कंस के बुलाएहुए नन्दगोपादि गोप भी, लाईहुई भेंटें (नजराने) कंस को अर्पण करके एक मचान पर बैठ गये॥३८॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्धमें द्विचत्वारिंश अध्याय समाप्त॥*॥अब आगे तितालीसवें अध्याय में बलराम कृष्णने कुवलयापीड़ हाथी को मारकर रङ्गमण्डप में प्रवेश करा और फिर श्रीकृष्णजी की चाणूर के साथ बातचीत हुई यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन् ! नन्दादिकों के रङ्ग-मण्डप में चलेजाने पर ' हमने,धनुष तोड़ना ओर धनुप के रखवालों का वध करना आदि कर्म करके अपना ऐश्वर्य सूचित करा तब भी, यह कंस हमारे माता-पिता को नहीं छोड-ता है और हमारे भी मारने की इच्छा करता है इस कारण अब इस मामा का भी वध करने पर हमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं लगेगा, ऐसा पहिले दिन ही जिन्हों ने अपने अपराध का परिहार करलिया है वह ' बलराम-कृष्ण , शौच से निवट मुख धोकर, मल्लों की तालों का और दुन्दुभियों का शब्द सुनकर मल्लयुद्ध देखने के निमित्त चलदिये ॥ १ ॥श्रीकृष्ण जी, रङ्गमण्डपके द्वार के सामने आये सो उसी समय तहां आयाहुआ कुवलयापीड नामक हाथी, महावत ने अपने ऊपर को बड़े वेग से चलाया है ऐसा देखा ॥ २ ॥ तब श्रीकृष्ण जी ने, कमर बांधकर और बिखरेहुए घुंघुराले केशों को पीछे को

लकान् ॥ उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया ॥ ३ ॥ अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं
नौ देह्यपक्रम मा चिरम् ॥ नो चेत्सकुञ्जरं त्वाऽद्य नयामि यमसादनम् ॥४॥
एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ॥ चोदयामास कृष्णाय कालां-
तकयमोपमम् ॥ ५ ॥ करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाऽग्रहीत् ॥ कराद्विगलितः सोऽ-
मुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥ ६ ॥ संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ॥
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥ ७ ॥ पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पं-
चविंशतिम् ॥ विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥ ८ ॥ स पर्यावर्त्त-
मानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ॥ बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः ॥
॥ ९ ॥ ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ॥ प्राद्रवन्पातयामास स्पृश्य-
मानः पदे पदे ॥ १० ॥ स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ॥ तं

करके मेघ की गर्जना की समान गम्भीर वाणी में तिस महावत से कहा कि—॥ ३ ॥ अरे महावत ! अरे महावत ! हमें मार्ग दे मार्ग में से एक ओर को हो, विलम्ब न कर, तू मार्ग नहीं देगा तो आज ही तुझे यम के घर पहुंचादूंगा ॥ ४ ॥ ऐसे ललकारने पर क्रुद्धहुए तिस महावत ने, अंकुश आदि मारकर कोपित कराहुआ और अन्त करनेवाला मृत्यु, तिस मृत्यु का निमित्त काल तथा तिस मृत्यु का प्रेरक यम इन तीनों का काम एकसाथ करने-वाले तिस कुवलयापीड़ हाथी को श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त उन के ऊपर को लपकाया फिर उस हाथी ने बड़े वेग से श्रीकृष्णजी के सामने जाकर अपनी सूँड से उन को पकड़लिया तब वह श्रीकृष्णजी भी उस सूँड में से नीचे गिरकर उस हाथी के शरीर पर घूँसा मारकर उस के पैरोंमें छुपगये ॥६॥ तब श्रीकृष्ण के नदीखने के कारण अत्यन्त क्रोध में हुए नाक से सूंघकर छुपीहुई वस्तु ढूँढनेवाले तिस हाथी ने, अपनी सूँड से श्रीकृष्णजी को ढूँढकर पकड लिया. फिर वह श्रीकृष्णजी, बलात्कार से (जबरदस्ती) उस की सूँड में से छूटकर पीछे की ओर को गये ॥ ७ ॥ और उन्हों ने अतिबलवान् भी हाथी की पूँछ को पकड़कर, जैसे गरुड़ सर्प को पकडकर खैंचता है तैसे सहज में ही लीला से पचीस धनुष (१०० हाथ) पीछे को खेंचा ॥८॥ फिर वह श्रीकृष्णजी, पूँछ पकडनेवाले अपने को पकडने के निमित्त जोवह हाथी दाहिनी ओर को लौटा सो उस को बाईं ओर को खैंचतेहुए और जो वह बाईं ओर को लौटा तो उस को बलात्कार से (जबरदस्ती) दाहिनी ओर को घुमाते थे, इसप्रकार बाईं दाईं ओरको घुमाएहुए तिस हाथी के साथ, जैसे पूँछ पकडकर फिरायेहुए गौ के बछडे के साथ छोटासा बालक घूमता है तैसे घूमनेलगे ॥ ९ ॥ फिर भगवान् ने उस हाथी की पूँछ को छोडकर उस के सामने आ, अपने हाथ का उस के ऊपर प्रहार करा और उसके चारों ओर को दौडते में पग २ पर उसको अपना स्पर्श करनेदिया, नीचे बैठकर उठकर अपनी दौडने की चातुरी से उस को वारंवार भूमि पर ढकेलकर गिराया ॥ १० ॥ तदनन्तर वह भगवान्, दौडने की

मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम् ॥ ११ ॥ स्वविक्रमे प्रतिहते
कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः ॥ चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥ १२ ॥ तमापतन्त-
मासाद्य भगवान्मधुसूदनः ॥ निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥ १३ ॥
पतितस्य पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ॥ दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चा-
हनद्धरिः ॥ १४ ॥ मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ॥ अंसन्यस्त-
विषाणोऽसृङ्मदबिंदुभिरङ्कितः ॥ विरूढस्वेदकणिकावदनांबुरुहो बभौ ॥ १५ ॥
वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ॥ रङ्गं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ
॥ १६ ॥ मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनो-
ऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ॥ मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं
परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥ १७ ॥

लीला से हाथी को धोखा देने के निमित्त भूमिपर गिरकर, तत्काल उस को न दीखतेहुए उठ कर एकओर को होगए; तब क्रोध में भरेहुए उस हाथी ने, श्रीकृष्ण भूमि पर गिरपड़े ऐसा जानकर उस भूमिपर आकर दाँतों का प्रहार करा ॥ ११ ॥ तब अपना पराक्रम निरर्थक होने पर अतिक्रोध में भराहुआ और तिस पर भी महावत के अंकुश मारने से खिसिआया हुआ वह हाथी वेगसे श्रीकृष्ण के ऊपर को झपटा ॥ १२ ॥ मधुसूदन भगवान् ने उस हाथी को आतेहुए देखकर उस की सूंड हाथ से पकडली और उस को भूमि पर पटकादिया ॥ १३ ॥ और गिरायेहुए उस के शरीर को चरण से दवाकर, जैसे सिंह हाथी को दवाकर उस का दाँत उखाडता है तैसे सहज में ही लीला से उस का दाँत उखाडकर उस दाँत से ही उस हाथी को और महावत को मारडाला ॥ १४ ॥ फिर मरेहुए हाथी को छोडकर हाथ में दाँत लियेहुए वह भगवान् रङ्गमण्डप में को चलदिये, उससमय कंधे पर हाथी का दाँत रखनेवाले तथा जिन के शरीर पर चारोंओर रुधिर की बूँदें छिडकीहुई हैं और जिनके मुखकमल पर पसीने की बूँदें छारही हैं ऐसे वह श्रीकृष्ण शोभायमान होनेलगे ॥ १५ ॥ हे राजन् ! उन इकले श्री-कृष्णजी ने ही रङ्गमण्डप में प्रवेश नहीं किया किन्तु-कितने ही गोपों से घिरेहुए वह दोनों भ्राता बलराम कृष्ण, हाथीके दाँतरूप श्रेष्ठ आयुधों को धारण करके रङ्गमण्डप में घुसे ॥ १६ ॥ उस समय मानो शृङ्गारादि सब रसोंकी मूर्त्तिही हैं ऐसे वह भगवान् श्रीकृष्ण जी, मण्डप में के सकल लोकों को हरएक की इच्छा के अनुसार भिन्न २ रूप के प्रतीत हुए ऐसा वर्णन करते हैं कि-चाणूर मुष्टिक आदि मल्लोंको वज्र की समान (रौद्ररसरूप), मनुष्यों को राजा की समान (अद्भुतरसरूप), स्त्रियों को मूर्त्तिमान कामदेव की समान (शृङ्गार-रसरूप) नन्दादि गोपों को स्वजन की समान (हास्यरसरूप) दुष्ट राजाओं को दण्ड देने वाले की समान (वीररसरूप), देवकी वसुदेव को बालक की समान (करुणारसरूप), कंस को मृत्यु की समान (भयानकरसरूप) उन का प्रभाव न जाननेवाले अनजान पुरुषों

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ॥ कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥ १८ ॥ तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगंबरौ ॥ यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥ १९ ॥ निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ॥ प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥ २० ॥ पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥ २१ ॥ ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥ २२ ॥ एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि ॥ अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥ २३ ॥ एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् ॥ कालमेतं वसन् गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि॥ २४ ॥ पूतनाऽनेन नीताऽन्तं चक्रवातश्च दानवः ॥ अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये

को परमपराक्रम करनेवाले की समान (वीभत्सरसरूप) योगियों को परम तत्व की समान (शान्तरसरूप) और यादवों को परम देवता की समान (भक्तिरसरूप) प्रतीतहुए वह श्रीकृष्णजी बलरामजी के साथ रङ्गमण्डप में गये ॥ १७॥ हे राजन्! कुवलयापीड हाथी मारा गया और उन बलराम कृष्ण को भी जीतना कठिन है ऐसा देखकर उस समय धैर्यवान् भी वह कंस अत्यन्त भयभीत होगया ॥ १८ ॥ तब विचित्र वेष, आभूषण, माला और उत्तम वस्त्र धारण करके रङ्गमंडप में आयेहुए वह महा पराक्रमी बलराम कृष्ण अपनी कान्ति से देखनेवाले लोकों के चित्तों को खैंचतेहुए जैसे सभा में उत्तम वेष धारण करनेवाले नट शोभा पाते हैं तैसे शोभा पानेलगे ॥ १९ ॥ हे राजन्! उन दोनों उत्तम पुरुषों को देखकर, मचानों पर बैठेहुए नगरवासी और देशवासी पुरुष, उत्तम हर्ष के वेग से जिन के नेत्र और मुख प्रफुल्लित हुए हैं ऐसे होकर अपने नेत्रों से उन के मुख को आदर के साथ पीतेहुए भी तृप्त नहीं हुए ॥ २० ॥ वह पुरुष, नेत्रों से मानो रामकृष्ण की मूर्त्तियों को पी ही रहे हैं, मानो जिव्हा से चाट ही रहे हैं, नासिका के नथुनों से मानो सूँघ ही रहे हैं और भुजाओं से मानो आलिङ्गन ही कररहे हैं ऐसे दीखनेलगे ॥ २१ ॥ और वह पुरुष, दृष्टि पडेहुए, सुन्दरता आदि गुण, प्रेमयुक्त हास्य आदि मधुरता और प्रौढ़पने से उन के पराक्रम का स्मरण करायेहुए से होकर देखीहुई और सुनीहुई उन की लीलाओं का परस्पर वर्णन करनेलगे ॥ २२ ॥ कहनेलगे कि—यह बलरामकृष्ण, साक्षात् श्रीहरि नारायण के अंश हैं और यहाँ वसुदेव के घर अवताररूप से प्रकट हुए हैं ॥ २३ ॥ यह श्रीकृष्ण, देवकी के विषैं उत्पन्न हुए हैं और इन को वसुदेवजी ने गोकुल में लेजाकर रखदिया; सो इतने समयपर्यन्त दूसरे किसी के जानने में न आकर नन्द के घर रहते रहे ॥ २४ ॥ इन्हों ने ही पूतना राक्षसी मारी है; और चक्रवात

च तद्विधाः ॥२५॥ गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ॥ कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥ २६ ॥ सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना ॥ वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलं ॥ २७ ॥ गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखं ॥ पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरंति स्माश्रमं मुदा ॥ २८ ॥ वदंत्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ॥ श्रियं यशो महत्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥ २९ ॥ अयं चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः ॥ प्रलंबो निहतो येन वत्सको ये बकादयः ॥ ३० ॥ जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च ॥ कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥ हे नंदसूनो हे राम भवंतौ वीरसंमतौ ॥ नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥३२॥ प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विंदंति वै प्रजाः ॥ मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥ ३३ ॥ नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ॥ वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडंतश्चारयंति गाः ॥ ३४ ॥

दैत्य भी मारा है; यमलार्जुन वृक्ष गिराये हैं; शंखचूड, केशी, धेनुक, और तैसे ही दूसरे भी बहुत से दैत्य मारे हैं ॥ २५ ॥ इन्हों ने ही गोपोंसहित गौएँ वन की दौंसे बचाई हैं; कालिय सर्प का दमन करा और इन्द्रको भी गर्वरहित करा है ॥ २६ ॥ इन कृष्ण ने, सातदिन पर्यन्त एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को धारण करके वर्षा, पवन और बिजुली से गोकुल की रक्षा करी है ॥ २७ ॥ नित्य आनन्दयुक्त और सहास चितवनवाले इन के मुख को देखनेवालीं गोपियें, विनापरिश्रम ही अनेकप्रकार के तापों को तरगई हैं ॥२८॥ इन का रक्षा कराहुआ यह यदुराजा का वंश, बहुत प्रसिद्ध होकर, सम्पत्ति, कीर्त्ति और बडाई को पावेगा ॥ २९ ॥ और यह कमलनेत्र तथा परम सुन्दरतायुक्त बलरामजी,इन श्रीकृष्ण के ही बडे भ्राता हैं; इन्हों ने प्रलम्बासुर, वत्सासुर और जो बक आदि दैत्य तिन को मारा है ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार लोकों के आपस में भाषण करतेहुए, और बाजे के बजतेहुए, उस लोकों के भाषण को सहन न करनेवाला चाणूर नामवाला मल्ल,कृष्ण और बलराम को पुकारकर यह वाक्य कहनेलगा कि—॥३१॥ हे नन्दपुत्र कृष्ण ! हे राम ! तुम दोनों ही वीरपुरुषों के माननीय और मल्लयुद्ध में (कुश्ती लडने में) चतुर हो, ऐसा सुनकर तुम्हारा मल्लयुद्ध देखने की इच्छा करनेवाले इन राजा-कंस ने तुम्हें यहाँ बुलवाया है ॥ ३२ ॥ मन से, कर्म से और वाणी से राजा का प्रिय करनेवाली प्रजा, राजा से पुरस्कार (इनाम) आदि पाकर कल्याण पाती हैं और वह प्रजा राजाकी इच्छा के प्रतिकूल वर्त्ताव करें तो राजा से बन्धन और मरण आदि उलटा फल भी पाती हैं ॥ ३३ ॥ यदि कहो कि—हम मल्लयुद्ध में प्रवीण नहीं है तो—वत्सों का पालन करनेवाले गोपों के बालक और गौ चरानेवाले गोप, आनन्दयुक्त होकर नित्य मल्लयुद्ध से

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे ॥ भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥ ३५ ॥ तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ॥ नियुद्धमात्मनोभीष्टं मन्यमानोभिनंद्य च ॥ ३६ ॥ प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ॥ करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥ ३७ ॥ बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितं ॥ भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ॥ ३८ ॥ चाणूर उवाच ॥ न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ॥ लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्वभृत् ॥ ३९ ॥ तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै ॥ मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥ ४० ॥ इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कुवलयापीडवधो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥*॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं चर्चितसङ्कल्पो

क्रीडा करतेहुए ही बछडे और गौओं को चराते हैं ऐसा लोक में प्रसिद्ध है इसकारण तुम मल्लयुद्ध में प्रवीण हो इस में सन्देह नहीं है ॥ ३४ ॥ इस से तुम और हम मिलकर राजा के प्रिय मल्लयुद्ध को करें; राजा के प्रसन्न होनेपर हमारे ऊपर सब लोक प्रसन्न होंगे, क्योंकि–राजा सर्वभूतमय है ॥ ३५ ॥ ऐसे यह चाणूर का वचन सुनकर, मल्लयुद्ध हमें मान्य है ऐसा समझकर श्रीकृष्णजी ने उस कहने का सत्कार करा और तिस स्थान तथा तिस काल के योग्य वचन कहा कि–॥ ३६ ॥ जंगल में रहनेवाले हम और नगर में रहने वाले तुम सब, इन राजा कंस की प्रजा हैं और निरन्तर इन का प्रिय करते हैं, इसकारण यह हमें जो आज्ञा करेंगे वह हमारे ऊपर परम अनुग्रह ही है ॥ ३७ ॥ तथापि हम बालक हैं इसकारण हमारी समान बलवाले बालकों के साथ ही क्रीडा (कुश्ती) होना चाहिये, अधिकबली मल्लों के साथ नहीं; ऐसा होने से ही यथायोग्य मल्लयुद्ध होयगा और मल्लों की सभा में बैठनेवाले सभासदों को भी अधर्म का स्पर्श नहीं होयगा ॥ ३८ ॥ यह सुनकर चाणूर फिर कहनेलगा कि–कृष्ण ! जब तू ने हजार हाथी के बलवाला हाथी सहज में लीला से ही मारडाला तब तू बालक वा किशोर नहीं है और बलराम भी बालक वा किशोर नहीं है किन्तु बलवानो में श्रेष्ठ है इस कारण तुम्हारे साथ बलवान् मल्लों को ही युद्ध करना चाहिये, इस में कुछ भी अन्याय नहीं है; इसकारण तू मेरे ऊपर अपना पराक्रम चला और मुष्टिक बलरामके साथ युद्धकरेगा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्ध में त्रिचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे चौवालीस वें अध्याय में बलराम कृष्ण का कराहुआ मल्लों का और कंस का मर्दन, कंस की स्त्रियों को समझाना और माता पिता का दर्शन करना वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् !

भगवान्मधुसूदनः ॥ आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥ हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ॥ विचकर्षतुरन्योऽन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २ ॥ अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ॥ शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योऽन्यमभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥ परिभ्रामणविक्षेपपरिरंभावपातनैः ॥ उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योऽन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४ ॥ उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ॥ परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः ॥ ५ ॥ तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ॥ ऊचुः परस्परं राजन् सानुकंपा वरूथशः ॥ ॥ ६ ॥ महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ॥ ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥ क्व वज्रसारसर्वांगौ मल्लौ शैलेंद्रसन्निभौ ॥ क्व चातिसुकुमारांगौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥८॥ धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भ-

इस प्रकार चाणूरादिकों के वध का निश्चय करनेवाले भगवान् मधुसूदन श्रीकृष्ण चाणूर के साथ युद्ध करने को सम्हले तथा बलराम जी भी मुष्टिक के साथ युद्ध करने को उद्यत हुए ॥ १ ॥ तब वह कृष्ण-चाणूर और बल-मुष्टिक, हाथों से हाथों को पकड़कर और पैरों से पैरों में अलेवटें डालकर एक दूसरे को जीतने के निमित्त बलात्कार से एक दूसरे को खैंचनेलगे ॥ २ ॥ अपनी दोनों कलाइयों से दूसरे की दोनों कलाइयों को घुटनोंसे घुटनोंको मस्तक से मस्तकको और छातीसे छातीको परस्परमें प्रहारकरनेलगे ३ हाथमें पकड कर चारों ओर को घुमाना, दूर को फेकदेना, भुजाओं से जकडलेना, नीचे गिराना, दूसरे को पीछे छोडकर आप आगे जाना, इन रीतियों से वह कृष्ण-चाणूर और बलराम मुष्टिक परस्पर युद्ध करनेलगे ॥४॥ पैर और रानों को एकस्थानमें करके पडेहुए को ऊपर उठाना, हाथों से उठाकर लेजाना, गले में चिपटेहुए को दूर को ढकेलदेना, और हाथपैरों को एकत्र करके गाँठलेना, इस प्रकार जय मिलने की इच्छा करनेवाले वह दोनों एक दूसरों के शरीरको क्लेश देनेलगे॥५॥ हे राजन्! उस समय समूह के समूह जमकर खडीहुई और श्रीकृष्ण के ऊपर दयालु हुईं सब स्त्रियें, एक ओर बलवान् और दूसरी ओर बलहीन ऐसे उस युद्ध को देखकर परस्पर कहनेलगीं कि-॥ ६ ॥ इस राजा के सभासदों का यह बडा अधर्म है, जिन सभासदों ने कम और अधिक बलों से युक्त होतेहुए इस युद्ध को राजा देखेगा तो निषेध करेगा, इस का कुछ ध्यान न करके, वह सभासद् तिस युद्ध को राजा के देखते हुए आप भी देखने की इच्छा कररहे हैं ॥ ७ ॥ जिनके सब अंग वज्र की समान कठोर हैं ऐसे यह मेरुपर्वत की समान बडे चाणूर और मुष्टिक मल्ल कहां! और अतिसुकुमार अङ्गोंवाले तथा युवावस्था को भी न प्राप्तहुए बल राम कृष्ण कहाँ ॥ ८ ॥ इसकारण इस सभा के हाथ से यह धर्म का उल्लंघन निःस-

वेत् ॥ यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥ ९ ॥ न सभां प्रवि-
शेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ॥ अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते
॥ १० ॥ वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजं ॥ वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं
पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥ ११ ॥ किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनं ॥
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितं ॥ १२ ॥ पुण्या बत व्रजभुवो यदयं
नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ॥ गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च
वेणुं विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥ १३ ॥ गोप्यस्तपः किम-
चरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ॥ दृग्भिः पिबन्त्य-
नुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥ १४ ॥ या दोहनेऽवहनने

न्देह होगा, जिस सभा में अधर्म होता है तहाँ चतुर पुरुष को कभी न वसना चाहिये ॥ ९ ॥ सभासदों के दोष को जाननेवाले पुरुष को पहिले तो सभा में ही नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वह पुरुष यदि सभासदों के दोष को जानकर भी नहीं बोलेगा अथवा सभासदों के प्रसन्न करने को धर्म के प्रतिकूल बोलेगा अथवा बूझने पर भी मैं नहीं जानता ऐसा कहेगा तो उस को पाप लगेगा॥ १०॥दूसरी कहने लगीं कि शत्रु के चारों-ओर दौड़नेवाले श्रीकृष्ण का मुखकमल,'जैसे जल की बूंदों से भरी कमल की कली दीखती है तैसे' परिश्रम के पसीने से व्याप्त हुआ दीखरहा है देखो। ॥ ११ ॥ दूसरी बोलीं कि–अहो! थोड़े लाल हुये नेत्रोंवाला, मुष्टिक के ऊपर क्रोधित हुए परन्तु हास्य के कारण शोभायमान दीखनेवाला वह बलराम का मुख, तुम्हारी दृष्टि में नहीं पड़रहा है क्या ? ॥ १२ ॥दूसरी कहने लगीं कि–इस सभा को धिक्कार हो,जिस सभा में इन श्रीकृष्ण का तिरस्कार होता है;गोकुल की भूमि धन्य है,जहाँ महादेव और लक्ष्मी ने भी जिन के चरणों का पूजन करा है; ऐसे यह श्रीकृष्ण जी मनुष्यशरीर से छिपेहुए साक्षात् पुराणपुरुष होकर भी, वन में नानाप्रकार के रंगो के फूल धारण करके बलरामसहित गौओं की रक्षा करतेहुये, मुरली बजातेहुए और नानाप्रकार की क्रीड़ा करतेहुए फिरते हैं ॥ १३ ॥ यह बड़े दुःख की बात है कि–हमने बहुत ही थोड़ा पुण्य करा है इसकारण इन कृष्ण की दुःखदशा के समय हमें इन का दर्शन हुआ, अहो ! उन गोपियों ने, न जाने पूर्व जन्मों में कौन पुण्य करा होगा ? कि–जिस के प्रभाव से इन कृष्ण के–जिस की समान और जिन से अधिक किसी की भी सुन्दरता नहीं है ऐसे सुन्दरता के सार,स्वयंसिद्ध,यश, लक्ष्मी और ऐश्वर्य के एकान्तस्थान, पुण्यवानों के बिना दूसरों को देखने को भी दुर्लभ और प्रतिदिन नवीन की समान प्रतीत होनेवाले स्वरूप को, नेत्रों से मानो पीही रही हैं ऐसे परम आसक्ति के साथ देखती हैं ॥ १४ ॥ जो गोपियें, गौओं का दूध दुहते समय

मथनोपलेपप्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ॥ गायंति चैनमनुरक्तधियो
ऽश्रुकंठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ १५ ॥ प्रातर्व्रजाद् व्रजत
आविशतश्च सायं गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ॥ निर्गम्य तूर्ण-
मबलाः पथि भूरिपुण्याः पश्यंति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥ १६ ॥ एवं
प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ॥ शत्रुं हंतुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ
॥ १७ ॥ सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचातुरौ ॥ पितरावन्वतप्येतां पु-
त्रयोरबुधौ बलं ॥ १८ ॥ तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ ॥ युयुधाते
यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥ भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः ॥ चा-
णूरो भज्यमानांगो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥ २० ॥ स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टी-
कृत्य करावुभौ ॥ भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥ २१ ॥ नाचलत्त-
त्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ॥ बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः ॥

धान आदि कूटते समय, दही को मथते में; लीपते मे, सोतेहुए बालकों के झूले को झोटा देते में, रोतेहुए बालकों को चुपाते में और बुहारी देते में चित्त में प्रेमयुक्त और गद्गद-कण्ठ होकर इन कृष्ण का गान करती हैं वह घर के सब काम करते हुए भी कृष्ण की ओर चित्त लगानेवालीं गोकुल की स्त्रियें धन्य हैं ॥ १५ ॥ जो गोपियें, गोपों के साथ प्रातःकाल के समय वन को जानेवाले और सायंकाल को मुरली बजातेहुए गोकुल में को आनेवाले जिन श्रीकृष्ण की मुरली के शब्द को सुनकर घरों में से शीघ्रता के साथ बाहर निकलकर मार्ग में इन श्रीकृष्ण के दयादृष्टियुक्त और मन्दहास्यसहित मुख को देखती हैं वह परमपुण्यवती हैं ॥ १६ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार स्त्रियों के वातें करतेहुए, भक्तों के दुःख दूर करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णजी ने,मन में शत्रु का वध करने का विचार करा ॥ १७ ॥ तब, भयसहित उन स्त्रियों की बातों को सुनकर, पुत्रों के बल को न जाननेवाले देवकी–वसुदेव, पुत्रों के स्नेह के कारण होनेवाले शोक से व्याकुल होकर दुःख को प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ इसप्रकार, जैसे कृष्ण–चाणूर परस्पर नानाप्रकार की घुमाना आदि युद्ध की रीतियों से युद्ध करते थे तैसे ही बलराम-मुष्टिक भी परस्पर युद्ध करते थे ॥ १९ ॥ तब वज्र के लगने की समान असह्य जो भगवान् के अङ्गों के प्रहार तिन से जिस के अङ्ग चूर २ होगए हैं ऐसा वह चाणूर बारम्बार घबड़ाने लगा ॥ २० ॥ उस समय क्रोध में भरेहुए और श्येन (बाज) पक्षी की समान वेगवाले उस चाणूर ने अपने दोनों हाथों के घूंसे बनाकर एक साथ कुलाँच मारी और वासुदेव भगवान् के वक्षःस्थल पर प्रहार करा ॥ २१ ॥ इसप्रकार उस के ताड़न करने पर भी उस के प्रहार से वह श्रीकृष्णजी, जैसे फूलों की माला से ताड़ना कराहुआ हाथी, हिलता भी नहीं है तैसे ही

॥ २२ ॥ भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ॥ विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥ २३ ॥ तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ॥ बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥ २४ ॥ प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ॥ व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥ २५ ॥ ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः ॥ अवधील्लीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिना ॥ २६ ॥ तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः ॥ द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः ॥ २७ ॥ चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ॥ शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ २८ ॥ गोपान्वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः ॥ वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥ २९ ॥ जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ॥ ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधु साध्विति ॥ ३० ॥ हतेषु म-

हिले भी नहीं, किन्तु उन्हों ने शीघ्रता से उस चाणूर की भुजाओं को पकडकर बहुत देर पर्यन्त घर २ घुमाया फिर उस घुमाने से ही क्षीणायु हुए तिस को भूमि पर पटक दिया तब वह चाणूर, शरीर पर के भूषण और केश अस्तव्यस्त होकर, जैसे गौडदेश में ध्वजा पताकाओं से भूषित एक पुरुष के आकार का बडाभारी झंडा खडा करते हैं वह किसी कारण से एकाएकी गिरपडता है तैसे भूमि पर गिरपडा ॥ २२ ॥ २३ ॥ तिसीप्रकार मुष्टिक मल्ल भी, जिस ने अपने घूँसे से पहिले बलरामजी को ताडन करा था उस को, उन ही बली बलरामजी ने हाथ के चपेटे से ताडना करा तब वह अत्यन्त पीडित और कम्पित होकर मुख में से रुधिर की वमन करताहुआ, जैसे प्रचण्डवायु से उखाडाहुआ, वृक्ष गिरता है तैसे भूमि पर प्राणहीन होकर गिरपडा ॥ २४ ॥ २५ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर शरीर पर को आयेहुए कूटनामक मल्ल को, योधाओं में श्रेष्ठ तिन बलरामजी ने, तिरस्कार के साथ सहज लीला में बाएँ हाथ के घूंसे से मारकर गिरादिया ॥ २६ ॥ उससमय श्रीकृष्णजी की लातों के प्रहार से शलनामक मल्ल का मस्तक फूटगया और तोशल मल्ल के श्रीकृष्णजी ने, चीरकर दो टुकड़े करदिये, इसप्रकार वह दोनों ही मल्ल मरकर गिरपडे ॥ २७ ॥ इस प्रकार चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, और तोशलक इन मुख्य मल्लों के मरण को प्राप्त होने पर शेष रहे हुए सब मल्ल अपने प्राण बचाने की इच्छा से भाग गए ॥ २८ ॥ तदनन्तर वह बलराम–कृष्ण, समान अवस्थावाले गोपों को तिस अखाड़े में बुलाकर, उन के हाथ पकड़े और उन को खैंचकर तथा आलिङ्गन आदि करके, जो बाजे बजरहे थे उन की ताल के साथ नृत्य आदि करके नूपुरों का शब्द करते हुए उन के साथ मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करने लगे ॥ २९ ॥ उस समय एक कंस को छोड़कर और जो ब्राह्मणादि सब सज्जन पुरुष तहां थे वह, 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ऐसा कहते हुए उन राम कृष्ण के

ल्लवयेषु विद्रुतेषु च भोजराट्॥ न्यवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह॥
॥ ३१ ॥ निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ॥ धनं हरत गोपानां नन्दं
बध्नीत दुर्मतिं ॥ ३२ ॥ वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ॥ उग्रसेनः पिता
चापि सानुगः परपक्षगः ॥ ३३ ॥ एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽ
व्ययः ॥ लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥ ३४ ॥ तमाविशन्तमालो-
क्य मृत्युमात्मन आसनात् ॥ मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥३५॥
तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ॥ समग्रहीद्दुर्वि-
षहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥ ३६ ॥ प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रंगोपरि तुङ्गमंचात् ॥ तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय
आत्मतन्त्रः ॥३७॥ तं संपरेतं विचकर्ष भूमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः॥
हा हेति शब्दः सुमहांस्तदाऽभूदुदीरितः सर्वजनैर्नरेंद्र ॥३८॥ स नित्यदो

तिस कर्म से हर्ष को प्राप्त हुए॥ ३० ॥ इसप्रकार मल्लों में मुख्य जो चाणूर मुष्टिक आदि उन के मरण को प्राप्त होने पर जब शेष मल्ल भागगए तब, भोजराज कंस ने, बजाने को आज्ञा करे हुए अपने बाजों को वन्द कराकर अपने सेवकों से यह वाक्य कहा कि—॥ ३१॥ इन दुराचारी बलराम—कृष्ण को नगर से बाहर निकालदो; गोपों का धन छीन लो, मेरे वैरियों को छुपा रखनेवाले दुष्टबुद्धि नन्द को बाँधलो ॥ ३२ ॥ तथा पुत्रों को चुराकर दूसरे स्थान में रखने के कारण अतिदुष्ट और दुर्बुद्धि इस वसुदेव को, तुम शीघ्र हीं मार-डालो तथा शत्रुओं के पक्षपाती पिता उग्रसेन को भी अनुचरों—सहित मारडालो ॥ ३३ ॥ इसप्रकार कंस बड़बड़ानेलगा तब, अत्यन्त क्रोध में भरेहुए अविनाशी वह श्रीकृष्णजी, लघिमा सिद्धि के बल से कुलाँच मारकर शीघ्रता से तिस ऊँचे मंचान के ऊपर जा चढ़े ॥ ३४ ॥ उन चढ़नेवाले अपने मृत्युरूप श्रीकृष्णजी को देखकर उस धैर्यवान् कंस ने, आसनपर से शीघ्र ही उठकर हाथ में ढाल और तलवार उठाई ॥ ३५ ॥ उससमय अ-सह्य और उग्रतेजवाले उन श्रीकृष्णजी ने, हाथ में तलवार लेकर दाहीं ओर, बाहीं ओर और ऊपर आकाश में श्येन (बाज) पक्षी की समान शीघ्रता से घूमनेवाले उस कंस को, जैसे गरुड़ बलात्कार से (जबरदस्ती) सर्प को पकड़ता है तैसे पकड़लिया ॥ ३६ ॥ तब पकड़ने से ही जिस का किरीट एक ओर को जा पड़ा है ऐसे उस कंस को केशों के स्थान में पकड़कर, उस ऊंचे मचानपर से नीचे रंग मंडप में गिरादिया और उस के ऊपर सकल जगत् के आश्रय और स्वतन्त्र वह भगवान् चढ़बैठे ॥ ३७ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी ने, मरण को प्राप्तहुए कंस को, सब लोकों के देखतेहुए भूमिपर, जैसे सिंह हाथी को खेंचता है तैसे खेंचा; हे राजन् ! उससमय सब लोकों का उच्चारण कराहुआ बड़ाभारी हाहाकार शब्द

द्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्नदन्वा विचरन्स्वपन्श्वसन् ॥ ददर्श चक्रायुधमग्रतो यतस्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥ ३९ ॥ तस्याऽनुजा भ्रातरोऽष्टौ कंकन्यग्रोधकादयः ॥ अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥ ४० ॥ तथाऽतिरभसांस्तांस्तु संयत्तान् रोहिणीसुतः ॥ अहन्परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥ ४१ ॥ नेदुर्दुंदुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ॥ पुष्पैः किरंतस्तं प्रीत्या शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥ ४२ ॥ तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ॥ तत्राभीयुर्विनिघ्नंत्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥ ४३ ॥ शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिंग्य शोचतीः ॥ विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजंत्यो मुहुः शुचः ॥४४॥ हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ॥ त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥ ४५ ॥ त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ॥ न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥ ४६ ॥ अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम् ॥ तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम् ॥ ४७ ॥

हुआ ॥ ३८ ॥ वह कंस प्रतिदिन आठों पहर भय से भरीहुई बुद्धि से, उन ही चक्रधारी ईश्वर को, खाते में, पीते में, बोलते में, चलते में, सोते में और श्वास लेते में अपने सामने खड़ा देखता था। इसकारण अन्त में उन के ही दुर्लभ स्वरूप को प्राप्तहुआ ॥ ३९ ॥ उस कंस के, कङ्क, न्यग्रोध, आदि आठ छोटे भ्राता थे वह अतिक्रुद्ध होकर, भ्राता कंस से उऋण होने के निमित्त श्रीकृष्णजी के ऊपर को दौड़े॥ ४०॥ तब तैसे ही अतिवेग से युद्ध करने को उद्यत होकर आयेहुए उन कंस के भ्राताओं को, बलरामजी ने तहाँ का ही एक परिघ उठाकर उस से, जैसे सिंह पशुओं को मारता है तैसे मारडाला ॥ ४१ ॥ उससमय स्वर्गलोक में देवताओं के बजाएहुए नगाडे बजनेलगे तथा ब्रह्मा-महादेव-आदि ईश्वरकी विभूतियें, प्रीति से श्रीकृष्ण के ऊपर फूलों की वर्षा करके प्रशंसा करनेलगे और अप्सरा नृत्य करनेलगीं ॥ ४२ ॥ हे महाराज! उन कंस आदिकों की स्त्रियें, अपने पतियों के मरण से दुःखित होकर अपने शिर पीटतीहुईं और नेत्रों में से दुःख के आँसू बहातीहुई तहाँ पहुँचीं ॥ ४३ ॥ और वीर शय्यापर सोयेहुए अपने पतियों को आलिंगन करके शोक करनेवाली वह स्त्रियें, वारंवार दुःख के आंसू बहातीहुई ऊंचे स्वर से विलाप करनेलगीं ॥ ४४ ॥ हा नाथ ! हा प्रिय ! हा धर्मज्ञ ! हा दयालो ! हा अनाथवत्सल ! तुम मरण को प्राप्तहुए तिस से हम, घर और पुत्रोंसहित मरीहुई सी होगई हैं ॥ ४५ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम पति के विना जैसे हम उत्साह और मंगलरहित हुई हैं तैसे ही यह मथुरा नगरी भी उत्साह और मङ्गलरहित होकर शोभाहीन होगई है ॥ ४६ ॥ हे प्राणप्रिय ! तुमने निरपराधी प्राणियों से बड़ा भयङ्कर द्रोह करा था तिससे ही ऐसी दशा को पहुँचे हो; प्राणिमात्र का द्रोह करनेवाला कोई भी पुरुष क्या सुख पावेगा ? ॥४७॥

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ॥ गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते ॥ ४८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः ॥ यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥ ४९ ॥ मातरं पितरं चैव मोचयित्वाऽथ बंधनात् ॥ कृष्णरामौ ववंदाते शिरसा स्पृश्य पादयोः ॥ ॥ ५० ॥ देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ॥ कृतसंवंदनौ पुत्रौ सस्वजाते न शंकितौ ॥ ५१ ॥ इतिश्रीभा० म० द०पू० कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः॥मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीं॥१॥उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः॥प्रश्रयावनतः प्रीणन्नंब तातेति सादरं॥२॥ नास्मत्तो युवयो-

यह श्रीकृष्ण, सकल प्राणीमात्र को उत्पन्न करनेवाले, उनका नाशकरनेवाले और रक्षा करनेवाले हैं, उन से द्रोह करनेवाला पुरुष कहीं भी सुख से वृद्धि नहीं पावेगा ॥ ४८॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि हे राजन्! इसप्रकार कहतीहुई उन राजरानियों को, लोकों का पालन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी ने धीरज बँधाकर, फिर,मरण को प्राप्त हुए तिन कंसादिकों की जो मरण के अनन्तर की क्रिया कही हैं सो सब करवाई ॥ ४९ ॥ तदनन्तर उन बलराम-कृष्ण ने, देवकी माता और वसुदेव पिता को बन्धन से छुटा उन के चरणों पर मस्तक रखकर वन्दना करी ॥ ५० ॥ तब उन देवकी-वसुदेव ने, वन्दना करनेवाले उन बलराम-कृष्ण पुत्रों को, पुत्र की भ्रान्ति छोड़ यह जगदीश्वर हैं ऐसा माना और उन को आलिङ्गन नहीं करा किन्तु शङ्कायुक्त होकर उन के आगे वह दोनों हाथ जोडकर खडे हुए ॥५१॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में चतुश्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे पैंतालीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने देवकी, वसुदेव और नन्द आदि गोपों को समझाकर, उग्रसेन को राज्याभिषेक करा. तथा गुरु के घर वास करके सब विद्याओं को पढ़कर फिर मथुरा में आगमन करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! पुरुषोत्तम भगवान् ने, देवकी, वसुदेव को, अपने में पुत्रबुद्धि होने से प्राप्त होनेवाले सांसारिक परमसुख के भोग से पहिले ही, हम दोनो सर्वेश्वर हैं ऐसा ज्ञान होगया यह देखकर, और मेरे प्रसन्न होनेपर क्या ज्ञान इन को दुर्लभ होगा? किन्तु नहीं, हाँ मेरे में पुत्रभाव से प्रेम ही दुर्लभ है, ऐसा जानकर, अभी इन को ज्ञान न हो इसकारण सकल प्राणियों को मोहित करनेवाली अपनी माया उनके ऊपर फैलाई ॥ १ ॥ बलरामसहित वह यादवों में श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी, मोहितहुए उन देवकी-वसुदेव के समीप जाकर, विनय से नम्र होकर बडे आदर के साथ–हेमातः! हेतात! ऐसा सम्बोधन करके कहनेलगे कि– ॥ २ ॥ हे तात! तुम दोनों, हम पुत्रों के

स्तात नित्योत्कंठितयोरपि ॥ बाल्यपौगंडकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्न क्व-
चित् ॥ ३ ॥ न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदंतिके ॥ यां बालाः पितृगेहस्थ-
विंदन्ते लालिता मुदम् ॥ ४ ॥ सर्वार्थसंभवो देहो जनितः पोषितो यतः ॥
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥ ५ ॥ यस्तयोरात्मजः कल्प
आत्मना च धनेन च ॥ वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयंति हि ॥६॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतम् शिशुम् ॥ गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पो
ऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥ ७ ॥ तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ॥ मो
घमेते व्यतिक्रांता दिवसा वामनर्चतोः ॥ ८ ॥ तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ
परतन्त्रयोः ॥ अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥ ९ ॥ श्रीशुक उवाच॥
इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ॥ मोहितावंकमारोप्य परिष्वज्यापतु-

निमित्त निरन्तर उत्कण्ठित रहे तथापि तुम्हे हम से बालकपन, पौगण्ड और किशोर अवस्थाओं में प्राप्त होनेवाले सुख किञ्चिन्मात्र भी प्राप्त नहीं हुए ॥ ३ ॥ केवल तुम्हारे ही सुख की हानि नहीं हुई किन्तु हम प्रारब्धहीनों का भी तुम्हारे समीप वास नहीं हुआ; तिसकारण माता-पिता के घर रहनेवाले और उन के लालन-पालन करेहुए बालक, जो आनन्द पाते हैं सो तुम से हमें नहीं मिले ॥ ४ ॥ और तुम्हारी शुश्रूषा नहीं बनसकी इसकारण हमारे धर्म की हानि भी हुई है, क्योंकि-सकल पुरुषार्थों को प्राप्त करानेवाला शरीर जिन्हों ने उत्पन्न करा और पोषा है उन माता-पिताओं का ऋण चुकाना इस मनुष्य के हाथ से सौ वर्ष की आयु होने से भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ तिसपर जो पुत्र, समर्थ होकर भी अपने शरीर से और धन से तिन माता-पिताओं की अन्न-वस्त्रादि से आजीविका नहीं चलाता है तिस पुत्र को परलोक में यम के दूत उस का अपना ही मांस खवाते हैं ॥ ६ ॥ और जो पुत्र, समर्थ होकर बूढ़े माता-पिता की, पतिव्रता स्त्री की, बालक पुत्रों की, गुरु की, ब्राह्मणों की और शरणागतों की रक्षा नहीं करता है वह जीताहुआ ही मरे के समान है ॥७॥ इसकारण तुम दोनों का सत्कार न करनेवाले हमारे, यह ग्यारह वर्ष के दिन वृथा ही बीते, इस का कारण यह है कि— आजपर्यन्त हम, कंस से नित्य चित्त में घबडाए हुए रहने के कारण तुम्हारी रक्षा करने को समर्थ नहीं हुए ॥ ८॥ हे पितः! हे मातः! दुष्टबुद्धि कंस के दुःख दिये हुए और कारागार में बन्द करके रक्खेहुए तुम्हारी सेवा करने के समय में भी सेवा न करनेवाले हमारे अपराध को अब तुम 'माता पिता होने के कारण' क्षमा करो ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! माया से मनुष्यरूप परन्तु जगत् के अन्तर्यामी श्रीकृष्णजी की ऐसी वाणी से मोहितहुए वह देवकी—वसुदेव, तिन बलराम-कृष्ण को गोद में बैठा

मुदम् ॥ १० ॥ सिंचन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ॥ न किंचिदूचतू राजन्
बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥ ११ ॥ एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ॥
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥ १२ ॥ आह चास्मान्महाराज प्रजा-
श्चाज्ञप्तुमर्हसि ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥ १३ ॥ मयि भृत्य उपासीने
भवतो विबुधादयः ॥ बलिं हरंत्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥ १४ ॥ सर्वान् स्व-
ज्ञातिसंबंधान् दिग्भ्यः कंसभयाकुलान् ॥ यदुवृष्ण्यंधकमधुदाशार्हकुकुरादिकान्
॥ १५ ॥ सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान ॥ न्यवासयत्स्वगेहेषु
वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥ १६ । कृष्णसङ्कर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ॥
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः ॥ १७ ॥ वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मु-
कुन्दवदनांबुजम् ॥ नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥ १८ ॥ तत्र प्रवयसो-

---

कर और छाती से लगाकर आनन्दित हुए ॥ १० ॥ और उससमय हे राजन् ! आँसुओं की धाराओं से उन को भिगोनेवाले, उन की माया से मोहितहुए, स्नेहरूप फांसी से बँधेहुए और गद्गदकण्ठ हुए तिन देवकी—वसुदेव ने; कुछ भी नहीं कहा ॥ ११ ॥ इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जी ने देवकी—वसुदेव को समझाकर, फिर मातामह (नाना) उग्रसेन का यादवों की मुख्य गद्दी पर अभिषेक करा ॥ १२ ॥ और उन से कहा कि—हे महाराज ! आप हम सेवकों को और सब प्रजाओं को आज्ञा करने को समर्थ हो, यदि कहो कि-तू ही प्रजाओं को आज्ञा कर तो सुनो-ययाति राजा के शाप से यदुवंशियों को राजा के आसन पर बैठना नहीं चाहिये, और तुम यादव हो तथापि मेरी आज्ञा से दोष नहीं है ॥ १३ ॥ यदि कहो कि मुझे ऐसी शक्ति नहीं है तो-सुनो-मुझ सेवक के आपकी सेवा करते हुए, देवता आदिक भी नम्र होकर तुम्हें पूजा समर्पण करेंगे फिर और राजे तो रहे ही क्या ? ॥ १४ ॥ तदनन्तर, उन विश्वकर्त्ता भगवान् ने, कंस के भय से व्याकुल होकर चारों दिशाओं में को भागकर गएहुए अपने—यादव, वृष्णि, अन्धक, मधु, दशार्ह और कुकुर आदि सब जातिवालों को और सम्बन्धियों को तिन २ दिशाओं से बुलाकर परदेश में बसने के कारण दुर्बलहुए उन को धीरज बँधाकर, सत्कार करके और वस्त्र-पात्र-द्रव्य आदि के दान से सन्तुष्ट करके उन को अपने २ घरों में बसादिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ तब कृष्ण और बलराम की भुजाओं के बल से शत्रुओं से रक्षाकरेहुए, और बलराम-कृष्ण के ही प्रताप से दुःख दूर होकर पूर्णमनोरथहुए वह यादव, कृतार्थ होतेहुए अपने २ घरों में मग्न रहनेलगे ॥ १७ ॥ उस मथुरा में रहनेवाले वृद्धपुरुष भी नित्य आनन्द में भरेहुए शोभायुक्त और दयायुक्त हास्यसहित अवलोकन से युक्त श्रीकृष्णजी के मुखकमल को प्रतिदिन देखने के कारण

ऽभ्यासन् युवानोऽतिबलौजसः ॥ पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥ १९ ॥ अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः ॥ संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥ २० ॥ पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम् ॥ पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥ २१ ॥ स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ॥ शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥ २२ ॥ यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ॥ ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥ एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युतः ॥ वासोलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥ इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ॥ पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥ २५ ॥ अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ॥ पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिं ॥२६॥ तेभ्योऽदाद्दक्षिणां गावो रुक्ममाल्यः स्वलंकृताः ॥ स्वलंकृतेभ्यः संपूज्य सवत्साः

श्रीकृष्णजी के मुखकमल के अमृत का वारंवार सेवनकरतेहुए तरुण की समान अतिवलवान् और पराक्रमी हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥ हे राजन्! तदनन्तर देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी और बलरामजी यह दोनों नन्दजी के समीप आये और उन को आलिङ्गन करके कहनेलगे ॥ २० ॥ हे तात! प्रेम करनेवाले तुम दोनों ने, अपने देह से भी अत्यन्त अधिक हमारा पोषण और लाड़ करा है और यह कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि-लोक में माता पिताओं का पुत्रों के ऊपर अपने शरीर से भी अधिक प्रेम होता है, ऐसा प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥ और तुम देवकी—वसुदेव के पुत्र हो; हमारे नहीं हो ऐसा तुम कदापि न कहो, क्योंकि—पोषण करने में और रक्षा करने में असमर्थ माता पिताओं के त्यागेहुए हम छोटे २ पुत्रों का जो तुमने (नन्द यशोदा ने) अपने पुत्रों की समान पालन करा है इस से तुम निःसन्देह हमारे माता—पिता हो ॥ २२ ॥ हे नन्दजी! अब तुम सब गोप गोकुल को चलो; हम भी यहाँ रहनेवाले अपने सब सुहृदों को सुखी करके फिर हमारे स्नेह के कारण दुःखित हुए तुम ज्ञातियों को देखने के निमित्त आवेंगे ॥ २३ ॥ इसप्रकार व्रजवासी गोपोंसहित नन्दजी को, भगवान् श्रीकृष्णजी ने समझाया फिर वस्त्र आभूषण और सोने चाँदी आदि के पात्र देकर उन का बड़े आदर से सत्कार करा ॥ २४ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्ण जी के कहने पर वह नन्दराजा स्नेह से विव्हल हुए और उन बलराम-कृष्ण को आलिङ्गन करके आँसुओं से नेत्रों को भरतेहुए गोपोंसहित गोकुल को चलेगये ॥ २५ ॥ हे राजन्! फिर वसुदेवजी ने, अपने पुरोहित गर्गाचार्य से और ब्राह्मणों से विधिपूर्वक बलराम—कृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार करवाया ॥ २६ ॥ और उन ब्राह्मणों की पूजा करके उन उत्तम अलङ्कृत ब्राह्मणों को दक्षिणा और सुवर्णके फूलोंकी माला पहिनेहुए, उत्तमभूषित और बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों की झूलें ओढ़ेहुए बछड़ोंसहित गौएं दान दीं

क्षौममालिनीः ॥ २७ ॥ याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ॥ ताश्चा-
ददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥ २८ ॥ ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं
प्राप्य सुव्रतौ ॥ गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्ब्रह्मचर्यं व्रतमास्थितौ ॥ २९ ॥ प्रभवौ स-
र्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ॥ नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥३०॥
अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ॥ काश्यं सांदीपनिं नाम ह्यवन्तिपुरवा-
सिनम् ॥ ३१ ॥ यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिंदिताम् ॥ ग्राहयन्तावु-
पेतौ स्म भक्त्या देवमिवाहतौ ॥ ३२ ॥ तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानु-
वृत्तिभिः ॥ प्रोवाच वेदानखिलान्सांगोपनिषदो गुरुः ॥३३॥ सरहस्यं धनु-
र्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा ॥ तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्वि-
धाम् ॥ ३४ ॥ सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्त्तकौ ॥ सकृन्निगदमात्रेण तौ
सञ्जगृहतुर्नृप ॥ ३५ ॥ अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ॥ गुरुद-

॥२७॥ तैसे ही तिन महा बुद्धिमान् वसुदेवजी ने, बलराम-कृष्ण के जन्मनक्षत्र के समय जो गौएं मन से सङ्कल्प कर के दी थीं; परन्तु कंस ने अधर्म से छीन लीं थीं, उन का भी स्मरण कर के दान करा ॥ २८ ॥ इसप्रकार उपनयन संस्कार को प्राप्त होकर द्विजत्व को प्राप्त हुए और उत्तम नियम धारण करनेवाले उन बलराम, कृष्ण ने, यदुकुल के आचार्य गर्ग ऋषि से ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करा ॥ २९ ॥ यद्यपि वह दोनों ही जगदीश्वर, सकल विद्याओं के उत्पत्तिस्थान और सर्वज्ञ थे तथापि वह मनुष्य की चेष्टाओं से अपने स्वतः सिद्ध निर्मल ज्ञान को गुप्त रखते थे इसकारण लोकों को शिक्षा देने के निमित्त वह विद्या सीखने को गुरु के घर वसने की इच्छा कर के, काशगोत्र में उत्पन्न हुए, अवन्ती नगरी में रहनेवाले सान्दीपनि नामवाले गुरु के पास गये ॥ ३० ॥ ३१ ॥ उचित रीति से गुरु के समीप जाकर इन्द्रियों को वश में करके रहनेवाले और गुरु के भी आदर करे हुए वह, गुरु की उत्तम सेवा कैसे करे इस की, और लोकों को शिक्षा देतेहुए, देवताओं की समान भक्ति के साथ गुरु की सेवा करने लगे ॥ ३२ ॥ तब निष्कपट स्नेह करने वाले उन की सेवा से उन के ऊपर प्रसन्न हुए, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ उन सान्दीपनि गुरु ने, बलराम-कृष्ण को, शिक्षा, कल्प (सूत्र) व्याकरण आदि वेदों के छः अङ्ग और ईश, केन, कठ, प्रश्न आदि दश उपनिषदों सहित ऋग्वेदादि चारों वेद पढ़ाए ॥ ३३ ॥ मंत्रों के और देवताओं के ज्ञानसहित धनुर्वेद, मनु आदि धर्मशास्त्र तथा मीमांसा आदि न्यायमार्ग, तर्क विद्या और सन्धि आदि छः प्रकार की राजनीति पढ़ाई ॥ ३४ ॥ हे राजन्! श्रेष्ठ मनुष्यों में भी श्रेष्ठ और सकल विद्याओं के प्रवर्त्तक तिन बलराम कृष्ण ने, गुरु के एक वार ही उपदेश करने पर उतने ही में वह वेदादि सब सीखकर पढ़ालिये ॥ ३५ ॥ तदनन्तर उन दोनों जितेन्द्रियों ने, चौसठ अहोरात्र (रातादिन) में गान करना, वाजेवजाना

क्षिणयार्चायै छन्दयामासतुर्नृपं ॥ ३६ ॥ द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य
राजन्नति मानुषीं मतिं ॥ संमन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे व-
रयांबभूव ह ॥ ३७ ॥ तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं प्रभासमासाद्य दुरन्तवि-
क्रमौ ॥ वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं सिंधुर्विदित्वाऽर्हणमाहरत्तयोः ॥ ३८ ॥
तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयतां ॥ योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको मह-
तोर्मिणा ॥ ३९ ॥ समुद्र उवाच ॥ नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो म-
हान् ॥ अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥ ४० ॥ आस्ते तेनाहृतो
नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ॥ जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ॥ ४१ ॥ ततः संयमनीं नाम यमस्य
दयितां पुरीम् ॥ गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ॥ ४२ ॥ शङ्ख-
निर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ॥ तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युप-

---

आदि चौसठ कला सीखलीं और इच्छानुसार गुरुदक्षिणा मांगने को गुरु से प्रार्थना करी ॥३६॥ तब हे राजन् ! उन सांदीपनि ब्राह्मण ने, उन बलराम-कृष्ण की वह अद्भुत महिमा और मनुष्यों में असम्भव प्रतीत होनेवाली बुद्धि देखकर अपनी स्त्री से सम्मति करी तब प्रभास क्षेत्र में समुद्र में डूब कर मरण को प्राप्त हुआ अपना पुत्र लाकर देने की गुरुद-क्षिणा मांगी ॥ ३७ ॥ तब, बहुत अच्छा, ऐसा कहकर अपार–पराक्रमी महारथी वह दोनो बलराम–कृष्ण, रथ में बैठकर प्रभासक्षेत्र पर पहुँचे और तहां समुद्र के तटपर जा कर क्षणभर बैठेरहे; तब यह परमेश्वर हैं, ऐसा उस समुद्र ने जानकर, मनुष्य के रूप में पूजा की सामग्री लेकर उन के समीप आकर उन की पूजा करी ॥ ३८ ॥ उससमय भगवान् उस से कहने लगे कि-हे समुद्र ! यहां बड़ी तरङ्ग से जो तू ने बालक डुबालिया है वह हमारे गुरु का पुत्र है; इसकारण तू शीघ्र ही लादे ॥ ३९ ॥ समुद्र ने कहा–हे देव कृष्ण ! उस गुरु के पुत्र को मैंने हरण नहीं करा है, किन्तु मेरे जल में रहनेवाला और शङ्ख का रूप धारण करनेवाला एक पंचजन नामवाला बड़ाभारी दैत्य असुर है निः-सन्देह तुम्हारे गुरु के पुत्र को वह लाया है; यह सुनकर उन सर्वसमर्थ श्रीकृष्णजी ने, शीघ्र ही जल में प्रवेश कर के उस को मार पेट फाडकर देखने लगे तो श्रीकृष्णजी ने वहां गुरु का पुत्र नहीं देखा, फिर उस पंचजन के शरीर से उत्पन्न हुए पांचजन्य नामक शंख को लेकर वह रथपर बैठ के लौट आये ॥ ४० ॥ ४१ ॥ फिर उन श्रीकृष्णजी ने, बलराम के साथ यमराज की प्रिय संयमनी नामक नगरी में जाकर शंख बजाया ॥ ४२ ॥ तब शंख का शब्द सुनकर प्रजाओं को वश में रखनेवाले तिस यम ने

बृंहिताम् ॥ ४३ ॥ उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ॥ लीला-
मनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाम किम् ॥ ४४ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ गुरु-
पुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ॥ आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥
॥ ४५ ॥ तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ॥ दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणी-
ष्वेति तमूचतुः ॥ ४६ ॥ सम्यक् संपादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ॥
को नु युष्मद्विधगुरोः कामो नामावशिष्यते ॥ ४७ ॥ गच्छतं स्वगृहं वीरौ की-
र्तिर्वामस्तु पावनी ॥ छंदांस्ययातयामानि भवंत्विह परत्र च ॥ ४८ ॥ गुरु-
णैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ॥ आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥४९॥
समनंदन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ॥ अपश्यंत्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना
इव ॥५०॥ इ०भा० म० द०पू० पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥ श्रीशुक उवाच

भक्ति के साथ बडी भारी पूजा करी ॥ ४३ ॥ और वह नम्र होकर सकल प्राणियों के अन्तर्यामी तिन श्रीकृष्णजी से कहने लगा कि—लीला के निमित्त मनुष्य का शरीर धारण करनेवाले हे विष्णो ! तुम्हारा कौनसा काम करें सो कहो ? ॥ ४४ ॥ श्री-भगवान् ने कहा कि—हे महाराज यम ! अपने कर्म से बन्धन को प्राप्तहुए गुरुपुत्र को, तुम्हारे दूत यहाँ ले आये हैं, उस को तुम मेरी आज्ञा मान, लाकर मुझे देदो; मेरी आज्ञा से लाकर देनेवाले तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा ॥ ४५ ॥ तदनन्तर बहुत अच्छा, ऐसा कहकर तिन यमराज के लाकर दियेहुए गुरुपुत्र को लेकर आयेहुए तिन बलराम-कृष्ण ने, वह अपने गुरु को समर्पण करा और फिर दूसरा वर मांगो, यह प्रार्थना करी ॥ ४६ ॥ तब गुरु ने कहा कि—हे बेटा कृष्ण ! तुम दोनों ने मुझे उत्तम प्रकार की गुरु दक्षिणा दी है, तुमसमान पुरुषों का गुरु होकर मेरे मनोरथों में से कौनसा शेष रहसक्ता है ? अर्थात् कोई नहीं रहसक्ता, इसकारण अब मुझे कुछ मांगने की इच्छा नहीं है ॥ ४७ ॥ हे वीरो ! अब तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी कीर्त्ति लोकों को पवित्र करनेवाली है और तुम्हारे पढेहुए वेद इस लोक में तथा परलोक में सफल हों ॥ ४८ ॥ हे तात राजन् ! इसप्रकार गुरु के आज्ञा करने पर वह बलराम कृष्ण, वायु की समान वेग और मेघ की समान शब्दवाले रथ में बैठकर अपने नगर में पहुँचे ॥ ४९ ॥ तब बहुत काल से बलराम-कृष्ण को न देखनेवाली सब प्रजाएं, उन को देखकर, जैसे जिन का धन खोयागया हो ऐसे पुरुष उस धन के फिर मिलजाने पर आनन्दित होते हैं तैसे ही अत्यन्त आनन्दित हुईं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में पञ्चचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे छयालीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने, उद्धव जी को गोकुल में भेजकर उन की वाणी से नन्द-यशोदा का शोक दूर कराया, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने,

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ॥ शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥ तमाह भगवान्प्रेष्ठं भक्तमेकांतिनं क्वचित् ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥ गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ॥ गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय ॥ ३ ॥ ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ॥ ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥ मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ॥ स्मरंत्योऽङ्ग विमुह्यंति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५ ॥ धारयंत्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ॥ प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्त उद्धवो राजन्संदेशं भर्तुरादृतः ॥ आदाय रथमारुह्य प्रययौ नंदगोकुलम् ॥

कहाकि—हे राजन् ! वृष्णियों के वंशधरों में श्रेष्ठ, साक्षात् बृहस्पतिजी के शिष्य, अतिश्रेष्ठ बुद्धिवाले और श्रीकृष्णजी के परमप्यारे मित्र उद्धवनामवाले एक मुख्य मंत्री थे ॥ १ ॥ शरणागतों के दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी ने, एक समय एकान्त में अपने हाथ से उन अनन्यभक्त प्रिय उद्धव जी का हाथ पकड़कर, कहा कि—॥ २ ॥ हे सौम्य उद्धव ! तुम गोकुल में जाओ और हमारे माता-पिता (यशोदा नन्द) को हमारे वियोग से दुःख होरहा है उस को दूर करके हर्ष उत्पन्न करो तथा गोपियों के भी मेरे वियोग से उत्पन्न हुए मन के दुःख को मेरा सन्देशा कहकर दूरकरो ॥ ३॥ गोपियों को विशेष सन्देशा कहने का कारण यह है कि—वह गोपियें, मुझ में मन लगानेवाली, मेरे निमित्त ही प्राण धारण करनेवाली, और मेरी प्राप्ति होने के निमित्त ही पति-पुत्रादिकों का त्याग करनेवाली होकर दयावान् और मन से मुझे प्राप्त होरही हैं; जो पुरुष, मेरे निमित्त इस लोक में प्राप्त होनेवाले सुखों का और उन के साधनों का त्याग कर रहते हैं उन का मैं पालन करता हूँ और उन को सुख देता हूँ ॥ ४ ॥ हे उद्धव ! प्यारे पदार्थों से भी अत्यन्त प्यारा लगनेवाला मैं दूर रहता हूँ इसकारण वह गोकुल में की स्त्रियें मेरा स्मरण करके विरह के कारण होनेवाली मेरी उत्कण्ठा से विह्वल होकर मोहित होजाती हैं ॥ ५ ॥ और प्रायः वह मेरी प्यारी ग्वालिनियें, मेरे गोकुल से मथुरा को आते समय 'मैं शीघ्र ही लौट कर आऊंगा, ऐसा जो' मैंने कहदिया था तिस से मेरे ऊपर अपना अन्तर्यामी आत्मा रखकर बड़ी कठिनता से प्राणों को धारण कररही हैं, तात्पर्य यह है कि—उन का आत्मा यदि उन के देह में होता तो वह विरह के ताप से भस्म ही होगया होता, परन्तु उन का वह आत्मा मुझ में होने के कारण वह किसीप्रकार जीवन धारण कररही हैं ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हे राजन् ! इसप्रकार, कहकर भगवान् के सत्कार करेहुए वह उद्धव जी अपने स्वामी श्रीकृष्णजी का 'तुम्हारा और मेरा वियोग कभी नहीं होसक्ता'

॥ ७ ॥ प्राप्तो नंदव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ॥ छन्नयानः प्रविशतां प-
शूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥ वासितार्थेऽभियुद्ध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ॥
धावंतीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥ इतस्ततो विलंघद्भिर्गो-
वत्सैर्मडितं सितैः । गोदोहशब्दाभिरवैर्वेणूनां निःस्वनेन च ॥ १० ॥
गायंतीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ॥ स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च
सुविराजितम् ॥ ११ ॥ अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ॥ धूप-
दीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमं ॥ १२ ॥ सर्वतः पुष्पितवनं द्विजा-
लिकुलनादितम् ॥ हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ॥ १३ ॥ तमागतं
समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ॥ नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्च-
यत् ॥ १४ ॥ भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ॥ गतश्रमं पर्यपृच्छ-
त्पादसंवाहनादिभिः ॥ १५ ॥ कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ॥

ऐसा सन्देशा मस्तक पर धारकर रथ में बैठ नन्दजी की गोकुल को चलेगये ॥ ७ ॥ वह श्रीमान् उद्धवजी सूर्यास्त होने के समय, आगे २ गोकुल में को जानेवाले पशुओं के खुरों की रजों से जिन का रथ ढकगया है ऐसे होकर नन्दजी की गोकुल में पहुंचे ॥८॥ वह गोकुल, गर्भधारण के समय को प्राप्त हुई गौओं के निमित्त परस्पर युद्ध करने वाले मदोन्मत्त बैलों के रम्भाहट शब्दों से युक्त और ऐनों के भार से युक्त ऐसी अपने २ बछड़ों की ओर को दौड़नेवाली दूध देती हुई गौओं से भूषित था ॥ ९ ॥ तथा जिधर तिधर को कुलाचें मारनेवाले श्वेतवर्ण के बछड़ों से शोभायमान और गौओं के दूध दुहने के शब्दों के साथ 'बछडे को छोड,मत छोड,उस को लेजा,वह सा पात्र दे, यह ले इत्यादि' गोपों के शब्दों से और मुरलियों की गुञ्जार से शोभित था ॥ १० ॥ बलराम-कृष्ण के पापनाशक-कर्मों को गानेवाली और उत्तम आभूषण पहिननेवाली गोपियों तथा गोपों से अत्यन्त शोभायमान था ॥ ११ ॥ अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितर और देवताओं की पूजा जहाँ होती है ऐसे गोपों के घरों से और जहाँ तहाँ स्थित धूप तथा दीपकों से युक्त था ॥ १२ ॥ और वह गोकुल-हंस, कारण्डव, जलकाक आदि से व्याप्त, ऐसे कमलों के समूहों से शोभायमान सरोवरों के तटों पर रहनेवाले पक्षियों के और भ्रमरों के शब्दों से युक्त ऐसे खिलेहुए वनों से चारों ओर भूषित था ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णजी के प्यारे सेवक उद्धवजी आये हैं ऐसा सुनकर प्रसन्न हुए नन्दजी ने उन के निकट आकर उन्हें छाती से लगा वासुदेवबुद्धि से (यह कृष्ण ही आये हैं ऐसी बुद्धि से) उन का सत्कार करा ॥ १४ ॥ तदनन्तर खीर आदि उत्तम अन्न का भोजन कराकर गद्दे के बिछौने पर सुख से बैठे हुए और चरण दबाने आदि से श्रमरहित हुए उद्धवजी से नन्दजी ने बूझा कि ॥ १५ ॥ हे मित्र ! हे महाभाग उद्धव !

आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥ १६ ॥ दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ॥ साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥ १७॥ अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ॥ गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥ अप्यायास्यति गोविंदः स्वजनान् सकृदीक्षितुम् ॥ तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥ दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ॥ दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥ स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलाऽपांगनिरीक्षितम् ॥ हसितं भाषितं चांग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥ सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ॥ आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥ मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ॥ सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥ २३ ॥ कंसंनागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ॥

हम गोकुलवासियों के सखा वसुदेवजी बन्धन से छूटकर बान्धव और मित्रोंसहित अपने पुत्रादिकों के साथ सुख से तो रहते हैं ? ॥ १६ ॥ पापी कंस अपने ही पाप से छोटे भ्राताओंसहित और चाणूर आदि मल्लोंसहित मरण को प्राप्त हुआ, यह वार्ता बड़े ही आनन्द की हुई ; क्योंकि-वह धर्मात्मा और साधु यादवों से निरन्तर द्वेष रखता था ॥ १७ ॥ और श्रीकृष्ण कभी भी हम सुहृदों का, माता यशोदा, सखा गोप, आप ही जिस के रक्षक हैं ऐसी गोकुल,गौएं, वृन्दावन और गोवर्द्धन पर्वत का स्मरण करते हैं क्या ? ॥ १८ ॥ भला, श्रीकृष्णजी, स्वजनों को देखने के निमित्त एक बार भी इधर को आवेंगे क्या ? आवें तो सुन्दर नासिका और मन्दहाससहित चितवनवाले उन के मुख को हम देखें । १९ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी के करे हुए उपकारों का स्मरण आदि करके परमआनन्द में भरकर कहने लगे कि-हे उद्धव ! महात्मा श्रीकृष्ण ने वन की दौं, आँधी-सहित वर्षा, अरिष्टासुर और अघासुर इन से तथा दूसरे भी अनेकों दुस्तर मृत्युसमान सङ्कटों से हमारी रक्षा करी है ॥ २० ॥ हे मित्र ! श्रीकृष्ण के गोवर्द्धन को उठाना आदि चरित्र, लीलायुक्त कटाक्षों के साथ अवलोकन, हास्य और वार्त्तालापों का स्मरण करतेहुए हमारे सब ही कार्य शिथिल होगये हैं ॥ २१ ॥ केवल शिथिल ही नहीं हुए हैं किन्तु कितने ही दिनों से कुछ भी हुए ही नहीं हैं,क्योंकि—जिस में कालियदमन आदि क्रीडा करी थीं ऐसी यमुना नदी, श्रीकृष्ण के चरणों के चिन्हों से भूषित गोवर्द्धन पर्वत, वन में के स्थान और उनके क्रीडा करने के स्थानों को देखते में हमारा मन निरन्तर कृष्णरूप होजाता है॥ २२॥ मैं तो गर्गाचार्यजी के गम्भीर अर्थयुक्त भाषण से ऐसा मानता हूँ कि-बलराम और कृष्ण यह दोनों, देवताओं में श्रेष्ठ (वासुदेव और सङ्कर्षण) हैं और देवताओं का,दैत्यों का वध आदि कार्य करने को भूतलपर अवतरे हैं ॥ २३ ॥ अहो ! जिन्हों ने, दश सहस्र

अवधिष्टां लीलयैवं पशूनिवं मृगाधिपः ॥ २४ ॥ तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ॥ बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥ २५ ॥ प्रलंबो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्त्तबकादयः ॥ दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ॥ अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥ २७ ॥ यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ॥ शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ २८ ॥ तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ॥ वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥ २९ ॥ उद्धव उवाच ॥ युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ॥ नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ३० ॥ एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ॥ अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥ ३१ ॥ यस्मिन् जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशु-

हाथियों की समान बलवाले कंस को गजराज को, चाणूर और मुष्टिक नामवाले महाबली मल्लों को, जैसे छोटा भी सिंह बडे भी हाथी आदि पशुओं को मारडालताहै तैसे मारडाला॥२४॥ तैसे ही जिन कृष्ण ने तीनताड, (२००हाथ) लम्बे और अत्यन्त दृढ़ धनुष को जैसे हाथी लाठी को तोडडालता है तैसे तोडडाला और सात दिनपर्यन्त एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को धारण करा ॥ २५ ॥ तैसे ही गोकुल में देव दैत्यों को जीतनेवाले-प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, अरिष्टासुर, तृणावर्त्त और बकासुर आदि दैत्यों को सहज में लीला से ही मारडाला॥ २६ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन्! इसप्रकार श्रीकृष्णजी का वारंवार स्मरण करके श्रीकृष्णजी के विषैं प्रेमबुद्धि रखनेवाले नन्दजी, प्रेम के प्रवाह से व्याकुल होकर, कंठ रुकजाने से चुपरहे आगे को कुछ नहीं कहसके ॥ २७॥ तब नन्द राजा के वर्णन करेहुए चरित्रों को सुननेवाली यशोदा तो, जिस के स्तनों में से दूध टपकरहा है ऐसी होकर नेत्रों में से टप २ दुःख के आँसू बहानेलगी ॥ २८ ॥ इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णजी के विषैं तिन नन्द-यशोदा की परमप्रीति देखकर, बडे हर्ष के साथ उद्धवजी नन्दजी से कहने लगे॥२९॥ उद्धवजी ने कहा कि-हे सन्मान करनेवाले नन्द! तुम दोनो निःसन्देह इस लोक में के सकल प्राणियों में परम प्रशंसा करने के योग्य हो, जिन तुम ने सकल जगत् के गुरु नारायणरूप श्रीकृष्णजी के विषैं ऐसी प्रेमयुक्त बुद्धि लगाई है ॥३०॥ क्योंकि-यह बलराम-कृष्ण, दोनों ही सकल जगत के पुरुष और प्रधानरूप बीज कारण हैं, और यही सकल प्राणियों में प्रवेश करके तिन प्राणियों के और तिन २ उपाधियों करके भिन्न २ प्रतीत होने वाले जीवों के नियन्ता पुराणपुरुष हैं ॥ ३१ ॥ हे नन्दजी! जिन में कोई भी प्राणी, प्राणान्त के समय क्षणमात्र को भी अपना शुद्ध

दम् ॥ निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥ ३२ ॥ तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ॥ भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किंवाऽवशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥ ३३ ॥ आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ॥ प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥ हत्वा कंसं रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ॥ यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥ मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ॥ अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥ न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियोऽवास्त्यमानिनः ॥ नोत्तमो नाधमो वाऽपि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ३७ ॥ न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ॥ नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ३८ ॥ न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ३९ ॥ सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ॥ क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्य-

करा हुआ मन स्थापन करके और उस के द्वारा कर्मवासनाओं का त्याग कर के ब्रह्ममय और सूर्य की समान प्रकाशवान् होता हुआ तत्काल परमगति पाता है. उन सब के आत्मा, कारण और भूमि का भार हरने के निमित्त मनुष्यावतार धारण करनेवाले परिपूर्ण नारायण के विषै तुम दोनों भक्ति करते हो फिर अब तुम्हें और कौनसा शुभकर्म करना शेष रहा? ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ वह भक्तों के पति भगवान् श्रीकृष्णजी, थोडे ही समय में गोकुल को आवेंगे और तुम माता-पिताओं का दर्शन आदि मनोरथ पूर्ण करेंगे ॥३४॥ सकल यादवों के शत्रु कंस को रंगमंडप में मारकर तदनन्तर, श्रीकृष्णजी ने तुम्हारे समीप आने को जो तुम से कहदिया है कि–' तुम गोकुल को चलो; हम यादवों को सुख देकर फिर आवेंगे' उस को सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥ हे महाभागो! तुम खेद न करो, हमारे समीप में ही कृष्ण हैं ऐसा देखो, वहसब प्राणियों के हृदयों में रहते हैं परन्तु जैसे काठ में का अग्नि, काठ को मथना आदि उपायों के विना नहीं दीखता है ऐसे ही सर्वत्र रहनेवाले भी वह भगवान् भक्ति के विना नहीं मिलते हैं ॥ ३६ ॥ अहङ्काररहित और सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाले इन परमेश्वर को कोई प्रिय नहीं है, कोई अप्रिय भी नहीं है, कोई उत्तम नहीं है और कोई अधम वा विषम भी नहीं है ॥ ३७ ॥ इन के माता नहीं है, पिता नहीं है स्त्री नहीं है और पुत्रादि भी नहीं है, कोई अपना नहीं है और कोई पराया भी नहीं है, इन के देह नहीं है, जन्म नहीं है, और कर्म भी नहीं है; तथापि वह भगवान्, इस लोक में साधुओं की रक्षा करने के निमित्त और क्रीडा करने के निमित्त सात्त्विक, राजस और तामस ऐसी देव–तिर्यक्–मनुष्य आदि योनियों में अवतार धारते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ वह वास्तव में निर्गुण होकर भी अपनी क्रीडा के साधनरूप से सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को

वाँति हंन्त्यजः ॥ ४० ॥ यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ॥ चित्ते कर्त्तरि तत्रात्मा कर्त्तेवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥ युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः ॥ सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥ दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ॥ विनाऽच्युताद्वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥ ४३ ॥ एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ॥ गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥ ४४ ॥ ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ॥ चलन्नितंबस्तनहारकुण्डलत्विष्यत्कपोलारुणकुंकुमाननाः ॥ ४५ ॥ उद्गायतीनामरविंदलोचनं व्रजांगनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ॥ दध्नश्च निर्मंथनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥ ४६ ॥ भगवत्युदिते सूर्ये व्रजद्वारि व्रजौकसः ॥ दृष्ट्वा रथं शातकौंभं कस्यायमिति चाब्रुवन्

स्वीकार करते हैं और जन्मरहित तथा क्रीडारहित होकर भी अपनी इच्छा से क्रीडा करने लगते हैं तब गुणों से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं ॥ ४० ॥ जैसे आप ही चारोंओर को, घर २ घूमनेवाले मनुष्य को, घूमती हुई दृष्टि से, पृथ्वी चक्कर बाँधेहुए घूमरही है ऐसा प्रतीत होता है तैसे ही जब चित्त कर्म करने लगता है तब तिस में अहङ्कार की बुद्धि से भ्रम को प्राप्तहुए पुरुष का आत्मा भी कर्मों के वश में हुआसा प्रतीत होता है ॥ ४१ ॥ यह भगवान् हरि श्रीकृष्णजी, तुम दोनों के ही पुत्र हों ऐसा नहीं है किन्तु सबों के ही पुत्र, आत्मा, पिता और माता वह ईश्वर ही हैं ॥ ४२ ॥ देखने में वा सुनने में आनेवाला, जो भूत, भविष्य, वर्त्तमान, स्थावर, जङ्गम, छोटा वा बड़ा कोई भी पदार्थ उच्चारण करने में आता है वह भगवान् के विना कुछ भी नहीं है किन्तु वह भगवान् ही सर्व रूप और सबों के परमार्थरूप हैं ॥ ४३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार उन उद्धव और नन्दजी को आपस में वार्त्तालाप करते हुए, वह सारी रात बीतगई, तब गोपियें, उठकर दीपक जलाकर, घरों को झाड़बुहारकर और चन्दनादि से उन को पूजित करके दही मथनेलगीं ॥ ४४ ॥ तब जिन के मथने की डोरी को खैंचनेवाले हाथों में कङ्कण और पहुँची हैं, जिन के नितम्ब, स्तन और हार हलरहे हैं, जिन के कपोल कुण्डलों से चमक रहे हैं और जिन्हों ने मुखपर लाली लियेहुए केशर लगाया है ऐसी वह गोपियें दीपक के तेज से, दमकनेवाले तागड़ी आदि के ऊपर जड़ेहुए रत्नों से शोभायमान होनेलगीं ॥ ४५ ॥ तब श्रीकृष्णजी का यश ऊँचे स्वर से गानेवाली गोपियों का, दही मथने के शब्द से मिला हुआ वह बडाभारी शब्द स्वर्गपर्यन्त जा पहुँचा, जिस शब्द से सकल दिशाओं के पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ४६ ॥ तदनन्तर भगवान् सूर्य का उदय होनेपर, गोकुल की स्त्रियों ने, नन्दजी के द्वार के आगे सुवर्ण का रथ देखकर वह, यह रथ किस का है ऐसा कहनेलगीं

॥ ४७ ॥ अक्रूर आगतः किंवा यः कंसस्यार्थसाधकः ॥ येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥ किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ॥ इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नंदशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ * ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलंबबाहुं नवकंजलोचनं ॥ पीतांबरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविंदं परिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥ शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ॥ इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदांबुजाश्रयं ॥२॥ तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ॥ रहस्यपृच्छन्नुप-

॥ ४७ ॥ वह क्रोध के साथ कहनेलगीं कि—अहो! जो कमलनयन श्रीकृष्ण को मथुरा को लेगया था वह कंस का कार्य साधनेवाला अक्रूर तो कहीं नहीं आया है? ॥ ४८ ॥ कंस को मरवाकर फिर काहे को आवेगा? ऐसा सन्देह करके परस्पर कहनेलगीं कि—करेहुए कार्य से प्रसन्न हुए अपने स्वामी (कंस) का प्रेतकर्म, अब हमें लेजाकर साधेगा क्या? अर्थात् हमारे मांस के पिण्ड बनाकर उस को देगा क्या? ऐसे वह स्त्रियें कहरही थीं, इतने ही में यमुना पर स्नान संध्या आदि कर्म समाप्त करके उद्धव जी तहाँ आगए ॥ ४९ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्ध में षट्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे सैंतालीसवें अध्याय में, उद्धवजी ने श्रीकृष्णजी की आज्ञा के अनुसार गोकुल की गोपियों से श्रीकृष्ण का सन्देशा कहकर तत्त्व का बोध कराया फिर नंदादि सबों की आज्ञा लेकर मथुरा को लौट आये यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! जिन की भुजा घुटनोपर्यन्त लम्बी हैं, जिनके नेत्र नवीन कमल की समान सुन्दर हैं, जिन्हों ने पीताम्बर और कमलों की माला धारण करी हैं, जिन का मुखकमल शोभायमान है और जिन के कुण्डल मणियों से जड़े दमक रहे हैं ऐसे उन श्रीकृष्ण के सेवक उद्धवजी को देखकर. पवित्रहास्य करनेवाली गोकुल की सब स्त्रियें, स्त्रियों को अत्यन्त ही मनोहर दीखनेवाला और श्रीकृष्ण की समान ही पीताम्बर आदि वेष तथा आभूषण धारण करनेवाला यह किस का कौन है? कौन से देश से यहां आया है? ऐसा तर्क करनेवाली तथा उनको जानने के निमित्त उत्कंठित हुई वह सब गोपियें, उत्तमकीर्त्ति भगवान् के चरणकमल का आश्रय करनेवाले उन उद्धवजी के चारोंओर जमकर खड़ी होगईं॥ १ ॥ २ ॥ फिर, श्रीकृष्ण का संदेशा लेकर आया है, ऐसा जानकर गोपियों ने उन को एकान्त में बुलाया और लज्जा तथा हास्य के साथ अवलोकन और मधुरभाषण आदि से उन का सत्कार करके आसनपर बैठायेहुए उन को न-

विसृष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥ जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं स-
मुपागतं ॥ भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥ अन्यथा गोव्रजे
तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ॥ स्नेहानुबंधो बंधूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडंबनं ॥ पुंभिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव-
षट्पदैः ॥ ६ ॥ निःस्वं त्यजंति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ॥
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणं ॥ ७ ॥ खगा वीतफलं वृक्षं
भुक्त्वा चातिथयो गृहं ॥ दग्धं मृगास्तथाऽरण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्
॥ ८ ॥ इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ॥ कृष्णदूते व्रजं या-
ते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥ गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ॥
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥ काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा

मस्कार करा और नम्रता के साथ बूझनेलगीं कि—॥ ३ ॥ हम तुम्हें, 'तुम श्रीकृष्ण के सेवक यहाँ आये हो ऐसा' जानती हैं. श्रीकृष्ण ने अपने माता पिता का (नन्द यशोदाका) प्रिय करने की इच्छा से तुम्हें यहाँ भेजा होगा ! ॥ ४ ॥ क्योंकि—माता पिता आदि बान्धवों के स्नेह का सम्बन्ध छोड़देना, मुनि और ऋषियों को भी कठिन है, नहीं तो कंस को मारकर राज पानेवाले उन श्रीकृष्ण को गोकुल में स्मरण करनेयोग्य हम कुछ भी नहीं देखती हैं ॥ ५ ॥ बान्धवों को छोड़कर दूसरों के ऊपर जो प्रीति होती है वह केवल अपना कार्य साधने की समाप्तितक ही होती है और वह प्रीति मित्रता का अनुकरणमात्र(नकल) होती है, सच्ची नहीं होती है; वह मैत्री जैसे पुरुषों की स्त्रियों में कामदेव के कारण होती है वह कामदेव की निवृत्ति होते ही दूर होजाती है अथवा जैसे भौंरों की फूलोंपर उन के पराग के कारण करीहुई मित्रता,पराग दूर होते ही दूर होजाती है तैसे ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जैसे वेश्या निर्धनहुए पुरुष को त्याग देती हैं, वा प्रजा पालन पोषण आदि करने में असमर्थ हुए राजा को, जैसे विद्या पढ़ेहुए शिष्य गुरु को, जैसे ऋत्विज् दक्षिणा देचुकनेवाले यजमान को, जैसे पक्षी फलहीन हुए वृक्ष को, जैसे अतिथि भोजन करने के अनन्तर गृहस्थी के घर को और जैसे हिरन वन की दौं से जलतेहुए जंगल को त्यागदेते हैं तैसे ही जारपुरुष, प्रीति से रतहुई स्त्री को भोग होने पर तत्काल ही त्यागदेते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेव जी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी के दूत वह उद्धवजी, गोकुल में गये तब लोकव्यवहार को छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर शरीर,वाणी और मन लगानेवाली वह गोपियें, प्यारे श्रीकृष्ण के किशोर और बाल अवस्था में करेहुए कर्मों को वारंवार स्मरण कर २ के गातीहुईं और निर्लज्जता के साथ रोतीहुईं उद्धवजी से बूझने लगीं कि—॥ ९ ॥

ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ॥ प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
गोप्युवाच ॥ मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांघ्रिं सपत्न्याः कुचविलुलितमाला-
कुंकुमश्मश्रुभिर्नः ॥ वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं
यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२॥ सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा सुमनस
इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् ॥ परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा ह्यपि
बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥ किमिह बहु षडंघ्रे गायसि त्वं यदू-
नामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ॥ विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्र-
सङ्गः क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥ दिवि भुवि च र-
सायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः कपट रुचिरहासभ्रूविजृंभस्य याः स्युः ॥ चरण-

॥ १० ॥ उन में से कोई एक गोपी, श्रीकृष्ण के समागम का ध्यान करते में एक भौंरे को देखकर उस के ऊपर, यह श्रीकृष्णजी ने हमारी प्रसन्नता करने को दूत भेजा है ऐसी कल्पना करके इसप्रकार कहने लगी ॥ ११ ॥ गोपी ने कहा कि–अरे भौंरे! अरे कपटी के मित्र! तू हमारे चरणों को स्पर्श करके नमस्कार से हमारी प्रार्थना मत कर, तेरी मूछें, सौत के स्तनों से मसलीहुई भगवान् की वनमाला के केशर से रंगी हुई हैं, जिन का तू ऐसा (मूछें रंगाहुआ) दूत है वह यादवपति श्रीकृष्णजी, यादवों की सभा में निन्दा होने के योग्य उन मानवती नगरवासिनी स्त्रियों की ही प्रसन्नता करें ॥ १२ ॥ जैसे तू दुष्टचित्त है तैसे ही तेरे स्वामी श्रीकृष्ण भी हैं; जैसे तू फूलों की सुगन्ध लेकर तत्काल ही उन को त्यागदेता है तैसे ही श्रीकृष्णजी ने भी मोहित करनेवाला अपना अधरामृत एकवार ही पिलाकर हमें तत्काल त्यागदिया है, अहो! लक्ष्मी तो उन कृतघ्नी के चरणकमल की सेवा न जाने कैसे करती है? मेरी समझ में तो उत्तमकीर्त्ति भगवान् की वनावटी वातों से ही उस लक्ष्मी का मन आकर्षित होगया है परन्तु हम उस लक्ष्मी की समान अनजान नहीं हैं ॥१३॥ तदनन्तर अनेकों प्रकार के गुञ्जारशब्द कर नेवाले उस भौंरे को, यह हमारी प्रसन्नता के निमित्त कृष्ण का गान कर रहा है ऐसा मानकर कहने लगी कि–अरे भौंरे! तू यहां हम वनचरी स्त्रियों के आगे तिन पुराणपुरुष यादवपति श्रीकृष्णजी का अधिक गान काहे के निमित्त करता है? इससमय श्रीकृष्णजी की जो सखियें हैं उन के आगे ही उन की कथा का गानकर क्योंकि-जिन का कामज्वर श्रीकृष्ण ने शान्त करा है, वह श्रीकृष्णजी की प्रिय स्त्रियें ही तुझे जो चाहेगा सो देंगी ॥ १४ ॥ हे मातः! ऐसा न कहो, तुम्हें स्मरण करके कामदेव से विह्वल हुए श्रीकृष्ण ने, तुम्हें प्रसन्न कर ने को मुझे यहां भेजा है ऐसा कहे तो–अरे कपटी भौंरे! सुन्दर हास्य युक्त भौं चलानेवाले उन श्रीकृष्ण को स्वर्ग, भूमि और पाताल में जितनी स्त्रियें हैं उन

रज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥ विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैरनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ॥ स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥ १६ ॥ मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानां ॥ बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद्यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७ ॥ यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ॥ सपदि गृहकुटुंबं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह वि-

में से भला कौनसी दुर्लभ है ? अर्थात् कोई दुर्लभ नहीं है; अरे ! लक्ष्मी भी जिन के चरणरज की सेवा करती है उन के यहां हमारी कौन गिनती है ? तथापि तू श्रीकृष्ण के पास जाकर यह कहना कि–दीन पर दया करनेवाले पुरुष को ही बड़ा यशस्वी कहते हैं ॥ १५ ॥ तदनन्तर पैरों पर बैठने को आये हुए उस भौंरे को, यह कृष्ण के समीप से हमारे समीप क्षमा कराने को आया है ऐसा समझकर कहने लगी कि–अरे भौंरे ! तू मेरे पैरों पर मस्तक न रख, कृष्ण के पास से सीखकर आयेहुए और दूतकर्मों से तथा प्रियकारी वचनों से दूसरे की प्रार्थना करने में चतुर बनेहुए तेरे सब कपट को मैं जानती हूँ, कृष्ण की समान तू भी विश्वास करने के योग्य नहीं है; यदि कहे कि तू इतना तिरस्कार करती है भला उन कृष्ण ने तेरा ऐसा कौनसा अपराध करा है ? तो सुन–उन कृतघ्नी श्रीकृष्ण ने, उन के निमित्त ही जिन्हों ने पुत्र,स्त्री और स्वर्ग आदि परलोक का त्यागकरा है ऐसी हमें त्याग दिया;यह अपराध करा है फिर अब उन के साथ मिलकर क्या करना है ! ॥ १६ ॥ और कृष्ण के पहिले के कर्म मन में लाकर मैं उन से बहुत ही डरती हूँ, जिन्हो ने, रामावतार में व्याध की समान क्रूरपना स्वीकार कर के वालि को मारा और सीता के वश में होकर जिस ने कामातुरदशा में आई हुई सूपनखा के नाक–कान काट कर उस को कुरूप कर दिया तथा उस से भी पहिले वामनावतार में, जैसे काक किसी वस्तु को थोड़ासा खाकर भी फिर उस को नीचे गिरादेता है तैसे ही जिन्हों ने राजा बलि से पूजा ग्रहण करके भी उस को वरुण के पाशों से बांधा ऐसे कृष्ण से मेल रखकर अब हम भरपाई; यदि कहै कि ऐसा है तो फिर निरन्तर उन के ही गीत क्यों गाती हो ? तो–सुन–उन की कथारूप अर्थ को त्यागना तो बड़ा कठिन है ॥ १७ ॥ और उन की कथा भी धर्म-अर्थ–कामरूप लता को उखाड़कर फेंकदेनेवाली है, यद्यपि ऐसा हम जानती हैं तथापि उस के त्यागने की हम में शक्ति नहीं है, क्या करें ! जिस भगवान् के चरित्ररूप कर्णामृत के एक कण का एकवार भी सेवन कर ने से जिन के राग द्वेष आदि नष्ट हो गए हैं ऐसे बहुत से पुरुष होकर भी न हुएसे होकर दुःखित हुए अपने घर में के स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब को तत्काल त्यागकर आप भी भोगरहित होतेहुए पक्षियों की समान पेट

हंसा भिक्षुचर्यां चरंति ॥ १८ ॥ वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ॥ ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुज उपमंत्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥ १९ ॥ प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं वरय किमनुरुंधे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ॥ नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥ २० ॥ अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ॥ क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥ २१ ॥

भरने के निमित्त भीख मांगते फिरतेहैं अर्थात् जिन की कथा को एकवार भी सुनने से रागद्वेष आदि दोषरहित होने के कारण संसारी जीवों की समान नाश को न प्राप्त होनेवाले कितने ही परमहंस योगी, तुच्छ घरोंसहित कुटुम्ब को तत्काल त्यागकर सकल सङ्गरहित होतेहुए परमहंस धर्म का आचारण करते हैं इसकारण श्रीकृष्णकी कथारूप अर्थ परमपुरुषार्थरूप होने से छूटना कठिन है ॥ १८ ॥ अच्छा जब तुम ऐसी चतुर हो तो—पहिले श्रीकृष्ण के साथ मित्रता करके उन के वश में कैसे होगई थीं? यदि ऐसा कहे तो सुन-जैसे काले हिरन की भोली हिरनियें, व्याधे का मधुर गान सुनकर उस को सत्य मानती हुई उस के समीपजाकर बाणों से विधते ही दुःख को भोगती हैं; तैसे ही हम अनजान स्त्रियें उन ही कपटी श्रीकृष्ण के 'मैंने कभी भी मिथ्याभाषण नहीं करा इत्यादि ' वार्त्तालाप को सत्यमानती हुई, उन श्रीकृष्ण नखोंके स्पर्शसे अत्यन्त वृद्धि को प्राप्तहुए कामदेव की पीड़ा से युक्त होकर वारंवार इस दुःख को देखचुकी हैं. इस से हे दूत ! स्मरण करनेमात्र से ही मन में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली उनकृष्ण की कथा को रहने दे,तू और कोई दूसरी ही कथा वर्णन कर॥ १९॥ दूरजाकर फिर लौटकर आये हुए उस भौंरे से कहनेलगी कि—हे प्राणसखा के मित्र!श्रीकृष्ण का भेजाहुआ तू फिर आया है क्या ? हे दूत ! तू मेरा पूजनीय है,तुझे क्या चाहिये ? जो चाहिये सो मांगले यदि कहे कि—मैं तुम्हें कृष्ण के समीप लेजाऊँगा तो सुन—जिन के समागम को छोड़ना परम कठिन है उन श्रीकृष्ण के समीप,यहाँ रहनेवाली हमें तू कैसे लेजायगा ? यदि कहे कि - लेजाने में कौन कठिनता है तो सुन—हे सौम्य ! जिन के वक्षःस्थल में ही लक्ष्मी नामक स्त्री निरन्तर वास करती है उन की हमें कौन आवश्यकता है ? ॥ २० ॥ उस के कुछ गुप्त भाषण करने पर वह गोपी उस से फिर कहनेलगी कि—हे सौम्य ! मैं तुझ से यह बूझती हूँ कि—नन्दराजा के पुत्र श्रीकृष्ण, यज्ञोपवीत होनेपर विद्या सीखने को गुरु के घर गये थे, वह तहाँ से आकर अब मथुरा में आनन्द तो हैं ? और वह यशोदा—नन्दसहित अपना घर का और बान्धव गोपों का स्मरण करते हैं क्या ? वह कभी हम दासिओं की वातचीत करते हैं क्या ? कभी अगर की समान सुगन्धयुक्त अपना हाथ हमारे मस्तक पर रक्खेंगे क्या ?

श्रीशुक उवाच ॥ अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ॥ सांत्वयन्प्रिय-
संदेशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२ ॥ उद्धव उवाच ॥ अहो यूयं स्म पूर्णार्था भ-
वत्यो लोकपूजिताः ॥ वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २३ ॥ दा-
नव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ॥ श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि
साध्यते ॥ २४ ॥ भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ॥ भक्तिः प्रवर्तिता दि-
ष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥ दिष्ट्या पुत्रान्पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि
च ॥ हित्वाऽवृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६ ॥ सर्वात्मभावो-
ऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ॥ विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥२७॥
श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ॥ यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रह-
स्करः ॥ २८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना
क्वचित् ॥ यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥ तथाहं च म-
नःप्राणभूतेंद्रियगुणात्मना ॥ २९ ॥ आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये॥

॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी के दर्शन के विषय
में उत्कंठित हुई उन गोपियों को देखकर वह उद्धवजी, प्रिय श्रीकृष्ण के सन्देशों से उन
को समझाते हुए ऐसा कहनेलगे ॥ २२ ॥ उद्धवजी ने कहा कि–अरी गोपियो ! तुम कृतार्थ
हो और सब लोकों की पूजनीय हो, क्योंकि–जिन तुम्हारा मन, भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण
के विषैं ऐसा अर्पित और स्थिर होरहाहै॥२३॥दान,व्रत,तप,होम,मंत्रादिकों का जप,वेदपाठ
इन्द्रिओं को वश में करना तथा नानाप्रकार के दूसरे भी कल्याण के साधनों से श्रीकृष्णजी के
विषैं भक्ति ही साधीजाती है ॥ २४ ॥ हे गोपियो ! तुम ने उत्तमश्लोक भगवान् के विषैं जो
प्रेमलक्षण एकान्त भक्ति प्राप्त करी, यह बड़ी ही सुन्दर वार्त्ता हुई, क्योंकि–यह भक्ति
मनन करनेवाले ऋषियों को भी परम दुर्लभ है ॥ २५ ॥ और तुमने, अपने पुत्र, पति,
देह, स्वजन तथा घरद्वार को छोड़कर जो श्रीकृष्ण नामक परमपुरुष को स्वीकार करा,
यह भी बड़ी सुन्दर वार्त्ता हुई॥२६॥हे महाभागो ! तुम्हें विरह से भगवान्श्रीकृष्णके विषैं
जो प्रेमलक्षण एकान्त भक्ति प्राप्त हुई, सो तुमने मुझे सहज में ही दिखादी, ऐसा करके तुमने
मेरे ऊपर भी बड़ा अनुग्रह करा है अर्थात् उसको देखकर मैंभी कृतार्थ हुआ हूँ ॥२७॥ इस से
हे कल्याणियो ! मैं श्रीकृष्ण का गुप्तकार्य करनेवाला दूतहूँ, सो मैं उन प्रिय श्रीकृष्ण का तुम्हें
सुख देनेवाला जो सन्देशा कहने को लाया हूँ उस को अब कहता हूँ सुनो ॥ २८ ॥ श्री-
भगवान् ने तुम से यह कहा है कि–तुम्हारा और मेरा किसी भी देश में वा किसी भी काल
में वियोग कुछ भी नहीं है क्योंकि–मैं सब का आत्मा हूँ, जैसे आकाश, वायु, तेज, जल
और पृथ्वी यह पञ्चमहाभूत स्थावर जंगमरूप सब पदार्थों में रहते हैं तैसे ही मैं भी, मन,
प्राण, भूत, इन्द्रियें और गुणों के अधिष्ठानरूप से सबों में व्यापरहा हूँ ॥ २९ ॥ और मैं

आत्ममायाऽनुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥ ३० ॥ आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो
व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ॥ सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥ ये-
नेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ॥ तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्य-
पद्यत ॥ ३२ ॥ एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ॥ त्यागस्तपो दमः
सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥ ३३ ॥ यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो
दृशां ॥ मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥ यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन
आविश्य वर्त्तते ॥ स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥ म-
य्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ॥ अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरा-

अपनी माया के प्रभाव से अपने ही स्वरूप में, भूत, इन्द्रिय और गुण इन के रूप से आप ही अपने को उत्पन्न करता हूँ, संहार करता हूँ और पालन करता हूँ ॥ ३० ॥ क्योंकि—आत्मा शुद्ध और गुणों में न मिलाहुआ होने के कारण गुणों से भिन्न ज्ञानरूप है, वह माया के कार्य मन की सुषुप्ति स्वप्न और जागृतरूप वृत्तियों के कारण विश्व--तैजस-प्राज्ञरूपों से प्रतीत होता है स्वयं प्रतीत नहीं होता है ॥ ३१ ॥ जैसे जगाहुआ पुरुष, स्वप्न में देखेहुए पदार्थ मिथ्या हैं ऐसा मानता है तैसे ही ज्ञानीपुरुष, जिन को मिथ्या मानते हैं तिन शब्दादि विषयों का जिस मन से चिन्तवन होता है और चिन्तवन होते में जिस मन से इंद्रियों को और इंद्रियुक्त देह को अध्यास से वह सब इंद्रियादि मैं ही हूँ ऐसा प्राणी मानता है, उस मन का निरोध (वश में करना) आलस्य को छोड़कर करना चाहिये ॥ ३२ ॥ वेद (वेद में कहेहुए साधनों का समूह) अष्टांग योग, विचारवान् पुरुषों का आत्मानात्मविवेक, संन्यास, स्वधर्म, इंद्रियों को जीतना और सत्य यह सब ही रीतियें, जैसे सब नदियें अन्त को समुद्र में ही जाकर मिलजाती हैं तैसे ही ' मन को वश में कर ने में ही समाप्ति पाती हैं अर्थात् अन्त का फल सब का मन को वश में करना ही है ॥ ३३ ॥ अब, हे कृष्ण ! तुम और भक्तों की समान हमें भी आत्मज्ञान का उपदेश देकर लालच में लाते हो क्या ? हम तो सबों में सुन्दर और सब गुणों के समूह से भूषित जो तुम तिन के विरह को नहीं सहसक्ती हैं, ऐसा कहो तो अरी गोपियों ! तुम्हारा परम प्यारा मैं, जो तुम्हारी दृष्टि से दूर रहता हूँ उस का कारण यह है--कि--तुम्हें वारम्वार मेरा ध्यान होय और तुम अपना मन मुझ में ही लगाए रहो ॥ ३४ ॥ जैसे स्त्रियों का तथा और भी प्रेमियों का मन, परदेश में रहनेवाले पति और मित्रादिकों में पहुँचकर निश्चलभाव से लगा रहता है तैसे, समीप (नेत्रों के सामने) आने पर निश्चल नहीं रहता है ॥ ३५ ॥ इसकारण तुम, सकल व्यापारों से छुटाहुआ अपना मन, पूर्णरीति से मेरे विषैं स्थिर करके प्रतिक्षण मेरा ही चिन्तवन करो तब शीघ्र ही मेरे स्वरूप को प्राप्त हो

न्मामुपैष्यथ ॥ ३६ ॥ या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः ॥
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं
प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ॥ ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः
॥ ३८ ॥ गोप्य ऊचुः ॥ दिष्ट्याऽहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ॥ दि-
ष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३७ ॥ कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य
करोति पुरयोषिताम् ॥ प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥
कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ॥ नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुपू-
जितः ॥ ४१ ॥ अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ॥ गोष्ठीमध्ये
पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥ ४२ ॥ ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा

जाओगी ॥ ३६ ॥ इस मेरे कहने को केवल मधुरसा प्रतीत होनेवाला ही न समझो, क्योंकि—हे कल्याणियो ! इस वृन्दावन में रात्रि के समय क्रीड़ा करनेवाले मेरे साथ जो रासक्रीड़ा नहीं करसकीं वह पतियों के रोकलेने के कारण गोकुल में रहीहुई गोपियें, मेरी लीलाओं का चिन्तवन करके ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होगई हैं इसकारण तुम भी मेरे चिन्तवन से ही निःसन्देह मेरे स्वरूप को प्राप्त होजाओगी ॥ ३७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी का कहाहुआ सन्देशा सुनकर जिन को कृष्ण की लीलाओं का स्मरण आया है ऐसी वह तृप्त हुईं गोपियें, उद्धवजी से कहनेलगीं ॥ ३८ ॥ गोपियों ने कहा कि—हे उद्धवजी ! यादवों को दुःख देनेवाला कृष्ण का शत्रु कंस, अपने भ्राताओंसहित जो मरण को प्राप्त हुआ तिस से हमें बड़ा आनन्द प्राप्तहुआ और पहिले की समान धन आदि सकल सम्पत्तियों को प्राप्त हुए वसुदेव आदि अपने सम्बन्धियों के साथ श्रीकृष्णजी अब आनन्दमङ्गल हैं यह वार्त्ता भी बड़े आनन्द की हुई ॥ ३९ ॥ अच्छा हे सौम्य उद्धवजी ! हम तुम से यह बूझती हैं कि—हमारे पहिले स्नेह युक्त और लज्जासहित हास्य से तथा उदार चितवन से सत्कार करेहुए भगवान् श्रीकृष्ण जी, हमारे ऊपर करनेयोग्य प्रीति, इससमय मथुरा की स्त्रियों के ऊपर करते हैं क्या? ४० दूसरी कहने लगी कि-अरी यह क्या बूझो हो ! रतिसुख के सकल प्रकारों को जाननेवाले उत्तम स्त्रियों के प्रिय और तिन उत्तम स्त्रियों करके अपने भाषणों से तथा नानाप्रकार के विलासों से सत्कार करेहुए वह श्रीकृष्ण, उन में भला क्यों न आसक्त होंगे ? ॥ ४१ ॥ फिर और गोपी कहने लगीं कि—इस चिन्ता से हमें क्या करना है ? हे साधो ! पुरवासिनी स्त्रियों की सभा में यथेष्ट क्रीड़ा करने की वार्त्ता चलने पर वह श्रीकृष्ण, हम भोली ग्वालिनियों का कभी स्मरण करते हैं क्या ? ॥ ४२ ॥ दूसरी कहनेलगी कि-गोकुल में रहते समय, चन्द्रमा का उदय होनेपर खिलनेवाले कमल,

याभिर्वृंदावने कुमुदकुन्दशशांकरम्ये ॥ रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्यामस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥ अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ॥ संजीवयन्नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमंबुदैः ॥४४॥ कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ॥ नरेंद्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥ किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ॥ श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥ परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला ॥ तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाऽप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥ क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ॥ अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरंगान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८॥ सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ॥ संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो

कुन्द के पुष्प और चन्द्रमा के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले वृन्दावन में चरणों में के नूपुरों की झनकारयुक्त रास की सभा में हम स्त्रियों के साथ भगवान् ने, जिन रात्रियों में क्रीड़ा करीथी और हमने उन की मनोहर कथाओं की स्तुति करी उन रात्रियों को कृष्ण कभी स्मरण करते हैं क्या? ॥ ४३ ॥ जैसे इन्द्र मेघों में से वर्षा करके सूखेहुए वन को सजीव करता है तैसे ही अपने मुख हाथ आदि अङ्गों के दर्शन स्पर्श आदि से, अपनी विरहाग्नि से तपीहुई हमें सजीव करतेहुए वह श्रीकृष्ण अब इस गोकुल में कभी आवेंगे क्या? ॥ ४४ ॥ दूसरी बोलीकि—कृष्ण यहाँ क्यों आवेंगे? पहिले वेवश होने के कारण वह यहाँ रहते थे, अब उन्हों ने राज्य पालिया, शत्रुओं का संहार करलिया, अब वह राजाओं की कन्याओं को वरकर स्त्रियों से युक्त और पिता-पुत्र आदि सकल सुहृदों से घिरेहुए हैं ॥ ४५ ॥ तब कितनी ही गोपियें तो परमार्थ वर्णन करती हुई कहनेलगीं कि—लक्ष्मी के पति पूर्णमनोरथ और निरन्तर पूर्णरूप तिन महात्मा भगवान् का जङ्गल में रहने वाली हम से वा राजकन्याओं से कौनसा काम सधेगा? ॥ ४६ ॥ जारकर्म करनेवाली पिङ्गलानामक वेश्या ने भी ऐसा कहाहै कि—आशा न करना ही परमसुख है और आशा करना ही परम दुःखहै, देखो—यह बात हम जानती हैं तथापि इन कृष्ण में हमारी दुर्निवार आशा लगरही है ॥४७॥ इस का कारण यह है कि—उन उत्तमश्लोक भगवान् की एकान्त में की वार्त्ता को छोड़देने को कौनपुरुष समर्थ होगा? अर्थात् कोई नहीं होसक्ता; देखो वह भगवान् लक्ष्मी की कुछ भी इच्छा नहीं करते हैं तथापि उन के वक्षःस्थलरूप अङ्ग से वह लक्ष्मी कभी भी अलग नहीं होती है॥४८॥और कृष्ण का विस्मरण होजाय तो हमें कुछ भी दुःख न हो परन्तु वह विस्मरण ही तो नहीं होता है; क्योंकि हे प्रभो उद्धव! बलरामसहित श्रीकृष्णजी के सेवन करेहुए और सुन्दरतारूप सम्पत्ति के आश्रय स्थान ऐसे श्रीकृष्णजी के चरणों से चिन्हित हुए यह नदी, पर्वत और वन के स्थान तथा गौ और मुरली

॥४९॥ पुनः पुनः स्मारयन्ति नंदगोपसुतं वत ॥ श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं
नैव शक्नुमः॥५०॥गत्या ललितयोदारहासलीलाऽवलोकनैः ॥ माध्व्या गिरा
हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥५१॥ हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिना-
शन ॥ मग्नमुद्धर गोविंद गोकुलं वृजिनार्णवे ॥५२॥ श्रीशुक उवाच॥ ततस्ताः
कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ॥ उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥५३॥
उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ॥ कृष्णलीलाकथां गायन्
रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥ यावंत्यहानि नंदस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ॥
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्त्तया ॥ ५५ ॥ सरिद्वनगिरिद्रोणी-
र्वीक्षन् कुसुमितान्द्रुमान् ॥ कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥
॥ ५६ ॥ दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ॥ उद्धवः परमप्रीतस्ता
नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥ एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविंद एव

के शब्द वारंवार हमें उन नन्दकुमार का स्मरण कराते हैं इसकारण उन कृष्ण को भूलने की हम में शक्ति नहीं है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ श्रीकृष्णजी का सुन्दर चलना, उदारहास्य, लीला के साथ देखना और मधुर बोलना इनसे बुद्धि के खिचने के कारण हम भला उनको कैसे भूलें? ॥ ५१ ॥ ऐसा कहकर भगवान् के विरह से होनेवाले दुःख के दूर करने को भगवान् ही समर्थ हैं ऐसा निश्चय करके कहने लगीं कि–हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशक! हे गोविन्द! दुःख के समुद्र में डूबेहुए इस गोकुल का तुम ही उद्धार करो ॥ ५२ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! तदनन्तर उन से उद्धवजी ने फिर पहिले कहाहुआ ही श्रीकृष्णजी का सन्देशा कहा तब, यह श्रीकृष्ण हमारा आत्मा है ऐसा जानकर, विरह से उत्पन्न हुआ सन्ताप जिन का दूर होगया है ऐसी उन गोपियों ने, उद्धव जी की गुरुबुद्धि से पूजा करी ॥ ५३ ॥ फिर वह उद्धवजी गोपियों का शोक दूर करने के निमित्त कितने ही महीनेपर्यन्त गोकुल में रहे, तवतक उन्हों ने कृष्ण की लीलायुक्त कथाओं का गान करके सकल गोकुल को आनन्दित करा ॥ ५४ ॥ वह उद्धवजी जितने दिनों नन्दजी की गोकुल में रहे थे, गोकुलवासियों के उतने दिन, श्रीकृष्णजी की कथाके कारण क्षण की समान होगए ॥ ५५ ॥ उन भगवद्भक्त उद्धवजी ने, नदी, वन, पर्वत, पर्वतों की गुफा और फूलेहुए वृक्षों को देखकर तहां २ कृष्ण की लीलाओं के प्रश्न करके गोकुलवासी लोकों को कृष्ण का स्मरण कराकर आप भी आनन्द का अनुभव करा॥५६॥ पहिले कहने के अनुसार कृष्ण के विषें मन का लय होने के कारण गोपियों को विव्हलता प्राप्त हुई देखकर परमप्रसन्न हुए वह उद्धव जी, उन गोपियों को नमस्कार करतेहुए उन की बड़ाई का इसप्रकार गान करनेलगे ॥ ५७ ॥ कि-अहो! इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों ने ही अपने जन्म की सफलता करली है,

निखिलात्मनि रूढभावाः ॥ वांछंति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनंतकथारसस्य ॥ ५८ ॥ क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ॥ नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि सांक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥ ५९ ॥ नायं श्रियोऽङ्ग उ नितांतरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगंधरुचां कुतोऽन्याः ॥ रासोत्सवेऽस्य भुजदंडगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥ ६० ॥ आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनां ॥ या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यां ॥ ६१ ॥ या वै श्रिया-

क्योंकि यह गोपियें सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णजी के विषें ही परमप्रेम करनेवाली हुई हैं; जिस परमप्रेम को संसार से डरनेवाले मुमुक्षु, मुक्त और हम भी चाहते हैं. क्योंकि-भगवान् की कथा में प्रेम रखनेवाले प्राणी की अपेक्षा ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने से, गायत्री के उपदेश से और यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करने से प्राप्त होनेवाले शौक्र, सावित्र और याज्ञिक नामवाले तीनों प्रकार के जन्मों में अथवा ब्रह्मा के जन्म में भी कौन विशेषता है? अर्थात् किसी भी जाति का हो भगवान् की भक्ति करनेवाला ही श्रेष्ठ है ॥ ५८ ॥ और ईश्वर की प्रसन्नता होना ही बड़ाई का कारण है और वह प्रसन्नता तो जाति, आचार वा ज्ञान से नहीं होती है किन्तु केवल भजन से ही होती है; देखो जंगल में फिरनेवाली और व्यभिचार के दोष से दूषित हुई वह ग्वालिनियें कहाँ? और परमात्मा श्रीकृष्ण में जड़ाहुआ यह निश्चल प्रेम कहाँ? इस से ऐसा सिद्ध होता है कि—जैसे अमृत, सेवन करनेपर वह अपना प्रभाव न जाननेवाले भी प्राणी को अमर करता है तैसे ही सब कुछ करने को समर्थ प्रभु ईश्वर भी, अपना निरन्तर भजन करनेवाले अज्ञानी पुरुषों का आप ही कल्याण करते हैं अर्थात् उन को सर्वोत्तम फल देते हैं ॥ ५९ ॥ और यह गोपियों के ऊपर हुआ भगवान् का अनुग्रह तो अत्यन्त ही अपूर्व है, क्योंकि—रासक्रीड़ा में इन श्रीकृष्ण के भुजदण्डों से कण्ठ में आलिङ्गन होनेके कारण पूर्णमनोरथ हुई इन गोपियों को जो यह भगवान् का, प्रसाद मिला है सो, कमल की समान सुगन्ध और कान्तिवाली उर्वशी आदि अप्सराओं को भी नहीं मिला, अधिक तो क्या परन्तु, वक्षःस्थल में अनन्यभाव से रमण करनेवाली लक्ष्मी को भी प्राप्त नहीं हुआ, फिर दूसरी स्त्रियें नहीं पासक्तीं इस का तो कहना ही क्या? ॥ ६० ॥ अहो! उन गोपियों का भाग्य तो रहने दो, परन्तु मेरी उन प्रभु से यह प्रार्थना है कि-इन गोपियों के चरणों की रेणु को सेवन करनेवाली वृन्दावन में उत्पन्न हुई लता और औषधियों में से कोई मैं होऊँ, क्योंकि—जिन गोपियों ने, जिनका त्यागना कठिन है ऐसे अपने स्वजन और धर्ममार्ग को त्यागकर, श्रुतियों को भी जिस का मिलना दुर्लभ है

ऽर्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ॥ कृष्णस्य त-
द्भगवतश्चरणारविंदं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥ वन्दे
नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ॥ यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्
॥ ६३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नंदमेव च ॥ गोपा-
नामंत्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥ तं निर्गतं समासाद्य नानो-
पायनपाणयः ॥ नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥ मनसो वृ-
त्तयो नः स्युः कृष्णपादांबुजाश्रयाः ॥ वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणा-
दिषु ॥ ६६ ॥ कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ॥ मंगलाचरितै-
र्दानैर्रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥ एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या न-
राधिप ॥ उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥ कृष्णाय प्रणिप-
त्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ॥ वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

ऐसा श्रीकृष्णजी की प्राप्ति का मार्ग स्वीकार करा है अर्थात् भगवत्परायण हुई हैं और जिन्होने. लक्ष्मी का भी पूजन कराहुआ तथा ब्रह्माजी का और पूर्णमनोरथ योगेश्वरों का भी अपने हृदय में चिन्तवन कराहुआ जो भगवान् का चरणकमल उस को रासमण्डल में अपने स्तनों पर रखकर और उस को आलिङ्गन करके अपना ताप दूर करलिया है।६१।६२॥ जिन गोपियों का भगवान् की कथाओं का गाना, त्रिलोकी को पवित्र करता है उन नन्द के गोकुल में की स्त्रियों के चरणरेणु को मैं वारंवार नमस्कार करता हूँ ॥ ६३ ॥ श्रीशुकदेव जीने कहाकि—हे राजन्! तदनन्तर वह उद्धवजी, गोपियों की, यशोदा की, नन्दजी की, और गोपों की आज्ञा लेकर मथुरा के जाने को रथपर बैठे।६४।तब उनको जाने को उद्यत हुआ देखकर, नन्द आदि सकल गोप, बलरामकृष्ण के अर्पण करने के निमित्त नानाप्रकार की भेंट हाथ में लेकर बड़े प्रेमके साथ नेत्रों में से आँसू बहाते हुए कहनेलगे कि—॥ ६५ ॥ हे उद्धव! तुम हमारे कृष्णतत्त्व को उपदेश करनेवाले गुरु हो इसकारण तुम से हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि हमारे मन की वृत्ति निरन्तर श्रीकृष्ण के चरणकमल का आश्रय करने वाली हों, हमारी वाणियें कृष्ण के नामों का उच्चारण करनेवाली हों और हमारा शरीर कृष्णको नमस्कार आदि करने में प्रवृत्त हो॥६६॥ईश्वर की इच्छा से कर्मवश देव मनुष्यादि किसी भी योनियों में भ्रमण करें परन्तु हमारे अन्य जन्मों में वा इस जन्म में करेहुए मङ्गल कारक कर्मों के वा दान के प्रभाव से कृष्णरूप ईश्वर में हमारी प्रीति हो ॥ ६७ ॥ हेराजन्! ऐसे श्रीकृष्णजी की भक्ति से गोकुलवासी लोकों के पूजा करेहुए वह उद्धवजी, फिर श्रीकृष्णजी की रक्षाकरी हुई मथुरा नगरी को लौटगए ॥ ६८ ॥ फिर श्रीकृष्ण, वसुदेव, बलराम और उग्रसेन को यथायोग्य नमस्कार करके उन्हो ने, उनसे गोकुलवासी पुरुषों की भक्ति के आधिक्य का वर्णन करा और नन्द आदि की दीहुई सब भेंठ अर्पण करी

इ० भा० म० द० पू० उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ ७ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ॥ सैरंध्र्याः का-
मतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥ १ ॥ महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितं ॥
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनादिभिः धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गंधैरपि मं-
डितम् ॥ २ ॥ गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्सद्यः समुत्थाय हि जातसं-
भ्रमा ॥ यथोपसंगम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास सदासनादिभिः ॥ ३ ॥
तथोद्धवः साधुतयाऽभिपूजितो न्यषीदद्दुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ॥ कृष्णोऽपि
तूर्णं शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥ सा मज्जनालेपदुकूलभू-
षणस्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ॥ प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीला-
लोत्सिपतविभ्रमेक्षितैः ॥ ५ ॥ आहूय कांतां नवसंगमह्रिया विशंकितां कंकण-

॥ ६९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में सप्तचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥
अब आगे अड़तालीसवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने कुब्जा के साथ क्रीडा करी और अ-
क्रूरजी के घर जाकर उन को हस्तिनापुर भेजा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ * ॥
श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! तदनन्तर सर्वात्मा और सर्वदर्शी उन भगवान्
श्रीकृष्णजी ने, कामतप्त हुई कुब्जा का कामसन्ताप जानकर, उस का प्रिय करने के निमित्त
उस के घर गमन करा ॥ १ ॥ वह उस का घर—बहुत मूल्य के पात्र आदिकों से युक्त,
कामशास्त्र में कहेहुए कामोद्दीपक पदार्थों से बढ़ाहुआ और मोतियों की माला-ध्वजा-क-
पड़छत-शय्या-कोमल आसन अगर के धूप-मणियों के दीपक-फूलों की माला और चन्दन
के लेप आदि से शोभित था ॥ २ ॥ घर आनेवाले उन श्रीकृष्णजी को देखते ही घब-
ड़ाई हुई वह कुब्जा, आसनपर से उठकर, सखियों के साथ यथायोग्य रीति से सन्मुख जाकर
उसने श्रीकृष्णजी की, उत्तमप्रकार से आसन, पाद्य आदि सामग्री समर्पण करके पूजा करी ॥ ३ ॥
तैसे ही उद्धवजी का भी उस ने उत्तम प्रकार से पूजन करा सो वह आसन को स्पर्श कर
के भूमिपर ही बैठगये, तदनन्तर लोकरीति का वर्त्ताव करनेवाले श्रीकृष्णजी ने भी, नवीन
(जिस के ऊपर पहिले किसी ने भी शयन नहीं करा ऐसे) बहुत मूल्य के पलँगपर प्रवेश करा
॥४॥ तब वह कुब्जा भी स्नान करना, अङ्ग को उबटन लगाना, उत्तम वस्त्र पहिरना, भूषण
और माला धारण करना, ताम्बूल और अमृत की समान मधुर मदकारी वस्तु का सेवन
करना इत्यादि प्रकारों से भगवान् के साथ क्रीडा करने को अपने शरीर को सम्हालकर,
लज्जायुक्त मन्द हास्य और विलास के साथ देखती हुई श्रीकृष्णजी के समीप आई ॥ ५ ॥
श्रीकृष्णजी के नवीन समागम के कारण लज्जा से स्वयं समीप आने में लज्जायुक्त हुई तिस

भूषिते करे ॥ प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥
साऽनंगतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनंतचरणेन रुजो मृजन्ती ॥ दोर्भ्यां
स्तनांतरगतं परिरभ्य कान्तमानंदमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥ सैवं
कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ॥ अंगरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत
॥ ८ ॥ आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ॥ रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं
संगं तेम्बुरुहेक्षण ॥ ९ ॥ तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ॥ सं-
होद्धवे[illegible] सर्वेशः स्वधामागमदर्चितः ॥ १० ॥ दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं
सर्वेश्वरेश्वरम् ॥ यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥ ११ ॥ अक्रूरभवनं
कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ॥ किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूर[illegible]प्रियकाम्यया ॥ १२ ॥

कुब्जा को श्रीकृष्णजी ने अपने समीप बुलाकर उस के कङ्कणों से भूषित [illegible] हाथ को पकड कर शय्यापर बैठाया और उस के साथ क्रीडा करी, चन्दन का लेपन करने [illegible] सिवाय जिस का दूसरा कोई भी पुण्य नहीं था, उस कुब्जा का देखो कितना भाग्य है ! ॥ [illegible] ॥ तदनन्तर अनन्तशक्ति श्रीकृष्णजी के चरणों की सुगन्ध ही सूँघती है मानो, ऐसी ति[illegible]स कुब्जा ने, मदन से तप्तहुए अपने स्तन, वक्षःस्थल और नेत्रों में उन के चरणों को रख[illegible] कर तिस से अपने स्तनादि की कामपीडा दूर कर के, स्तनों के मध्यभाग में प्राप्तहुए उन आनन्दमूर्त्ति अतिप्रिय श्रीकृष्णजी के भुजाओं से आलिङ्गन कर के अपना बहुत दिनों का ताप दूर करा ॥ ७ ॥ अहो ! इसप्रकार चन्दन का लेपन अर्पण करने से ही उन दुष्प्राप्य भी, मोक्ष के स्वामी श्रीकृष्णजी को पाकर भाग्यहीन भी वह कुब्जा उन से यह याचना करनेलगी कि—॥ ८ ॥ हे अतिप्रिय कमलनयन ! तुम्हारा सङ्ग छोडने को मैं उत्साह नहीं कर सक्ती हूँ इसकारण कुछ दिनोपर्यन्त तुम मेरे साथ क्रीडा करो और इस मेरे घर में ही रहो ॥९॥ इसप्रकार याचना करेहुए भक्तों का सन्मान करनेवाले वह सर्वेश्वर श्रीकृष्णजी, उस को इच्छित वर देकर और कुछ दिनों पर्यंत उस के घर रहकर, वस्त्र भूषण आदि देने से उसका मनोरथ पूराकरके फिर उद्धवजी के साथ सकल सम्पदायुक्त अपने घरको लौट आये ॥ १० ॥ उस कुब्जा की तो बात ही क्या ? परन्तु और भी जो कोई पुरुष, भक्ति के विना सहस्रों उपायों से भी आराधनाकरने में कठिन और ब्रह्मादिकों के भी ईश्वर तिन सर्वेश्वर विष्णुभगवान् की आराधना करके उन से मिथ्याभूत और तुच्छ विषय सुख को मांगता है उस को कुबुद्धि समझना चाहिये ॥ ११ ॥ तदनन्तर एकदिन अक्रूरजी को हस्तिनापुर में भेजने के निमित्त और अक्रूरजी का भी प्रिय करने के निमित्त वह श्रीकृष्णजी बलराम और उद्धवजी के साथ अक्रूरजी के घर गये ॥ १२ ॥

स तान्नरवरश्रेष्ठानारादीक्ष्य स्वबान्धवान् ॥ प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्या
भिनन्द्य च ॥ १३ ॥ ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ॥ पूजया-
मास विधिवत् कृतासनपरिग्रहान् ॥ १४ ॥ पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा
नृप ॥ अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥ १५ ॥ अर्चित्वा शिरसानम्य
पादावङ्कगतौ मृजन् ॥ प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥ १६ ॥ दिष्ट्या
पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ॥ भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम्
॥ १७ ॥ युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ॥ भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति
न चापरम् ॥ १८ ॥ आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ॥ ईयते
बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥ १९ ॥ यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्या-
दयो योनिषु भान्ति नाना ॥ एवं भवान् केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो
बहुधा विभाति ॥ २० ॥ सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः

तब श्रेष्ठमनुष्यों में भी श्रेष्ठ आयेहुए अपने २ बान्धवरूप बलरामकृष्ण को दूरसेही देखकर हर्ष युक्तहुए उन अक्रूरजी ने, बड़ी शीघ्रता से उठकर उन को आलिङ्गन करा और उन के आने का धन्यवाद करके उन बलराम कृष्ण को प्रणाम करा, तदनन्तर उन तीनों ने भी पहले से उन अक्रूरजी को अभिवन्दन करा तब उन अक्रूरजी ने आसनपर बैठाएहुए उन की विधि-पूर्वक पूजा करी ॥ १३ ॥ १४ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उन के चरणों की धोवन का जल मस्तक पर धारण करनेवाले, उन अक्रूरजी ने उन का, अर्घ्य आदि सामग्री, दिव्य वस्त्र, माला और उत्तम भूषणों से पूजन करके तथा मस्तक से नमस्कार करके गोदी में रक्खे हुए उन के चरण की सेवा करनेवाले और नम्रतायुक्त वह अक्रूरजी, कृष्ण–बलराम से कहने लगे कि–॥ १५ ॥ १६ ॥ तुम ने मल्ल आदिकोंसहित पापी कंस को मारा यह बड़ी उत्तम वार्त्ता हुई. यह तुम्हारा कुल, तुम ने अपार दुःख से बाहर निकाला इसकारण वृद्धि को प्राप्त हुआ है ॥ १७ ॥ तुम जगत् के कारण और जगन्मय प्रकृति–पुरुषरूप हो, तुम्हारे सिवाय दूसरा कारण वा कार्य कुछ नहीं है ॥ १८ ॥ हे ब्रह्मस्वरूप ! अपनी रजोगुण आदि शक्तियों से आप ही उत्पन्न करेहुए इस जगत् में तुम कारणरूप से होने के कारण प्रविष्ट न होकर भी प्रवेश करेहुए से प्रतीत होकर, देखने में और सुनने में आने वाले पदार्थों के स्वरूप से नानाप्रकार के भासते हो ॥ १९ ॥ जैसे पृथ्वी आदि कारण, रूपान्तर से अपने ही प्रकट होने के स्थान चराचर प्राणीमात्र में कारणरूप से पहिले हो कर भी तदनन्तर प्रविष्टहुएसे होकर कार्यरूप से अनेकप्रकार के भासते हैं तैसे, ही स्वतन्त्र आत्मा तुम, आप ही कारण हुए सकल भूतभौतिक कार्यों में तिस २ स्वरूप से भासते हो ॥ २० ॥ तुम ही अपनी शक्तिरूप रजःसत्त्वतमोगुणों से जगत् की उत्पत्ति,

स्वशक्तिभिः ॥ न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥ २१ ॥ देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ॥ अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥ २२ ॥ त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः ॥ बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्त्ति ॥ २३ ॥ स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ॥ अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांशराज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥ २४ ॥ अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्त्तिः ॥ यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥ २५ ॥ कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं स-

स्थिति, संहार करते हो तथापि उन गुणों से और कर्मों से बँधते नहीं हो, क्योंकि- ज्ञानरूप तुम में बन्धन की कारण होनेवाली अविद्या कहां है ? ॥ २१ ॥ तुम्हें बन्धन होने की शङ्का भी नहीं यह तो अलग रहा परन्तु अविद्योपाधिक जीवात्मा को भी वास्तव में जन्म और जन्म के कारण भेदभाव यह दोनों किंचन्मात्र भी नहीं हैं, क्योंकि—देहादिक उपाधियों का किसी भी प्रकार से निरूपण करने में नहीं आता, अब बन्धन नहीं है ऐसा कहनेवाला तू मोक्ष को स्वीकार करता है क्या ? ऐसा कहो तो सुनो—बन्धन के विना मोक्ष कैसा ? तब क्या बन्धन प्राप्त होना ही चाहिये ? ऐसा कहो तो सुनो—आप को अविद्या न होने के कारण बन्धन वा मोक्ष दोनों ही नहीं हैं; यदि कहो कि-तूने तो मुझे ऊखल में बँधाहुआ सुना है और यमुना के कुण्ड में से मुक्त होते हुए भी देखा है फिर बंध मोक्ष नहीं हैं ऐसा क्यों कहता है यदि ऐसा कहो तो सुनो—हमारी समझ में तुम्हें बन्ध-मोक्ष हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु वह केवल हमारा अज्ञान ही है ॥ २२ ॥ तो मेरे अवतार और चरित्र सब ही कल्पित हैं क्या ? नहीं २ वह तो तुम्हारी लीला है, क्योंकि—जगत के हित के निमित्त तुम्हारा कहाहुआ जो यह पुरातन वेदमार्ग है सो जब २ दुष्ट पाखंड मार्गों से पीडित होता है तब २ तुम अपना शुद्ध सतोगुणी अवतार धारण करते हो॥२३॥ हे प्रभो ! वही तुम अब दैत्यों के अंशभूत कंसादि राजाओं की सैंकड़ों अक्षौहिणी सेनाओं के वध से भूमि का भार दूर करने के निमित्त और यादवकुल के यश को फैलाने के निमित्त इस भूलोक में वसुदेवजी के घर अपने अंशभूत बलरामजी के साथ अवतरे हो ॥ २४ ॥ हे अधोक्षज ईश्वर ! जो तुम पंचमहायज्ञ के देवता, पितर, भूत और राजाओं के रूप से बने हो और जिन के चरण को धोने का जल (गङ्गा) त्रिलोकी को पवित्र करता है ऐसे जगद्गुरु तुम ने जिन में प्रवेश करा है वह हमारे घर आज तपोवनों से भी अधिक भाग्यवान् हैं अर्थात् अत्यन्त पवित्र हुए हैं ॥ २५ ॥ अब मेरा मनोरथ पूराहुआ ऐसा संतोष मानते हुए कहते हैं कि—हे प्रभो ! भक्तप्रिय, सत्यवक्ता, सर्वों के हितकर्त्ता और भक्तों

मीयांश्रक्तमियाहतांगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ॥ सर्वान् ददाति सुहृदो भजतो-
ऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥ २६ ॥ दिष्ट्या जनार्दन भ-
वानिह नः प्रतीतो योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ॥ छिन्ध्याशु नः सुतक-
लत्रधनाप्तगेहदेहादिमोहरशनां भवदीयमायां ॥२७॥ इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन
भगवान् हरिः ॥ अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव ॥ २८ ॥ श्री-
भगवानुवाच ॥ त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ॥ वयं तु
रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥ २९ ॥ भवद्विधा महाभागा
निषेव्या अर्हसत्तमाः ॥ श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥
नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ॥ ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनां-

की करीहुई भक्ति को जाननेवाले तुम्हें छोड़कर बुद्धिमान् पुरुष दूसरे किस की शरण जायगा ? क्योंकि–तुम, भक्ति करनेवाले भक्त को उस की इच्छानुसार सब ही पुरुषार्थ देते हो, अधिक तो क्या परन्तु तुम अपने को भी उन के वश में करते हो, ऐसा करने का कारण यह है कि–तुम्हारी उन्नति अवनति कुछ नहीं होती है ॥ २६ ॥ हे जनार्दन ! सनकादिक योगेश्वरों को और इन्द्रादिक देवेश्वरों को भी जिन के स्वरूप का ज्ञान दुर्लभ है ऐसे तुम, मुझ अविवेकी के घर प्रत्यक्ष आकर प्राप्त हुए हो, इसकारण मुझे बड़ा आनन्द हुआ; अब, पुत्र, स्त्री, धन, माता–पिता, घर और देह आदि के ऊपर मेरी यह मोहपाशरूप तुम्हारी माया है तिस को तुम शीघ्र नष्ट करो ॥ २७ ॥ इसप्रकार भक्त अक्रूरजी के पूजा करेहुए और स्तुति करेहुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी, मन्दहास्य के साथ वार्त्तालापों से अक्रूरजी को मोहित करते हुए से कहनेलगे ॥ २८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–तुम हमारे निरन्तर हित करनेवाले और काका होने के कारण हमारे प्रशंसा करने योग्य हो, हम तो तुम्हारे बालक हैं इसकारण तुम करके, शत्रु आदिकों से रक्षा करने को, पोषण करने को और दया करने को योग्य हैं ॥ २९ ॥ तुम्हारी समान महाभाग जो अत्युत्तम पुरुष हैं वही कल्याण की इच्छा करनेवाले मनुष्यों के सेवा करनेयोग्य हैं यदि कहो कि–मनुष्यों को तो देवताओं की सेवा करना प्रसिद्ध है तो सुनो–देवता स्वार्थी होने के कारण साधु नहीं हैं, साधु तो केवल दूसरों के ऊपर अनुग्रह करनेवाले ही हैं, परमार्थदृष्टि से देखाजाय तो साधु ही यथार्थ देवता हैं उनकी ही सेवा करे ॥ ३० ॥ तो क्या पाषाण आदि की मूर्त्तियों के अधिष्ठात्री देवता ही नहीं हैं ? यदि ऐसा कहो तो सुनो- जलमय तीर्थ नहीं ऐसा नहीं है और मृत्तिकापाषाणमय देवता नहीं ऐसा भी नहीं है निःसन्देह वह तीर्थ तथा वह देवता हैं परन्तु उनमें और साधुओं में बड़ा अन्तर है–वह तीर्थ और वह देवता तो बहुत समयपर्यन्त सेवा करने से पवित्र करते हैं और साधुपुरुष दर्शनमात्र

देव साधवः ॥ ३१ ॥ स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया ॥ जि-
ज्ञासार्थं पांडवानां गच्छ स्वं त्वं गजाह्वयम् ॥ ३२ ॥ पितर्युपरते बालाः सह
मात्रा सुदुःखिताः ॥ आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥ ३३ ॥
तेषु राजाऽम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ॥ समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवश-
गोऽन्धदृक् ॥ ३४ ॥ गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ॥ विज्ञाय तं-
द्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥ ३५ ॥ इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान्
हरिरीश्वरः संकर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभाग-
वते महापुराणे द० पू० अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् ॥ ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं
पृथां ॥ १ ॥ सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमं ॥ कर्णं सुयोधनं द्रौणिं
पांडवान् सुहृदोपरान् ॥ २ ॥ यथावदुपसंगम्य बंधुभिर्गांदिनीसुतः ॥ संपृष्ट-

सेही पवित्र करदेते हैं ॥ ३१ ॥ सो तुम वैसे साधु और हमारे सब ही सुहृदों में श्रेष्ठ हो;
इसकारण पाण्डवों का कल्याण करने की इच्छा से उन का वृत्तान्त जानने के निमित्त तुम
हस्तिनापुर को हो आओ ॥ ३२ ॥ पिता (राजापंडु) के मरण को प्राप्त होने पर वह
युधिष्ठिर आदि बालक, राजा धृतराष्ट्र के अपने हस्तिनापुर में लायेहुए तहाँ अपनी कुन्ती
माता के साथ अतिदुःख से रहते हैं ऐसा हमने सुना है ॥ ३३ ॥ क्योंकि—वह धृतराष्ट्र
अन्धा, कृपणबुद्धि और अपने दुर्योधन आदि कुपुत्रों के वश में होनेके कारण उन पाण्डवों
में अपने पुत्रोंकासा ठीक वर्त्ताव नहीं रखता है ॥ ३४ ॥ इसकारण तुम हस्तिनापुर में
जाकर इससमय उस धृतराष्ट्र का पाण्डवों के विषय में वर्त्ताव उत्तम रीति का है वा दुष्ट-
भाव का है यह जानकर चलेआओ तब समझकर जैसे उन सुहृदों को सुख मिलेगा
सो कियाजायगा ॥ ३५ ॥ इसप्रकार वह भगवान् ईश्वर श्रीकृष्णजी अक्रूरजी
को आज्ञा देकर फिर उद्धव और बलरामजी के साथ अपने घर को चलेगये ॥ ३६ ॥
इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में अष्टचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥
अब आगे उनचासवें अध्याय में अक्रूरजी हस्तिनापुर को जाकर धृतराष्ट्र की अपने भ्राता
के पुत्रों में भेदबुद्धि है ऐसा देखकर फिर मथुरापुरी में लौटकर आगये यह कथा वर्णन
करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! तदनन्तर वह अक्रूरजी, कुरुकुल
में श्रेष्ठ राजाओं के यशों से अर्थात् उन के बनवाये हुए देवताओं के और ब्राह्मणों
के गृहादिकों से चिन्हित तिस हस्तिनापुर में जाकर, तहां धृतराष्ट्र, भीष्मजी,
विदुर और कुन्ती से मिले ॥ १ ॥ तैसे ही बाल्हीक, सोमदत्त, द्रोणाचार्य,
कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और दूसरे भी सुहृदों से यथायोग्य
रीति से मिलकर तिन बान्धवों ने अपने बन्धुओं का (यादवों का) कुशलक्षेम

रतैः सुहृद्भिर्वा स्वयं चोपृच्छदव्ययम् ॥ ३ ॥ उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया ॥ दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्त्तिनः ॥ ४ ॥ तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ॥ प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥ ५ ॥ कृतं च धार्त्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ॥ आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥ पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ॥ उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा ॥ ७ ॥ अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ॥ भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥ ८ ॥ भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ॥ पैतृष्वस्रेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥ ९ ॥ सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ॥ सांत्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ १० ॥ कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन्विश्वभावन ॥ प्रपन्नां पाहि गोविंद शिशुभिश्चावसीदतीं ॥ ११ ॥ नान्यत्

बूझा तब उन अक्रूरजी ने भी उन से आरोग्य आदि कुशलक्षेम बूझा ॥ २ ॥ ३ ॥ तदनन्तर उस हस्तिनापुर में वह अक्रूरजी, धृतराष्ट्र का वर्त्ताव जानने की इच्छा से कई मास पर्यन्त रहे; क्योंकि—वह धृतराष्ट्र, दुष्टपुत्रवाला, मन्दबुद्धि और कर्ण आदि दुष्टों की इच्छानुसार वर्त्ताव करनेवाला था ॥ ४ ॥ अक्रूर जो तहाँ बहुत दिनों पर्यन्त रहे सो तहाँ पाण्डवों की शत्रुओं को जीतने की शक्ति, इन्द्रियों की शक्ति, शरीर का बल, शूरता और नम्रता आदि उत्तम गुणों को तथा उन के ऊपर जो प्रजा का प्रेम था तिस को न सहनेवाले दुर्योधनादिकों ने जो विष देना आदि दुष्ट कर्म करा था और उन के मन में जो लाख के स्थान में बन्द करके मारडालने का विचार था सो सब ही उन अक्रूरजी से कुन्ती ने और विदुर जी ने स्पष्टरूप से कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥ इस कहने से पहिले को कुन्ती का यह वृत्तान्त है कि—मेरे भ्राता अक्रूर आये हैं ऐसा सुनकर कुन्ती, उन के समीप गई और अपनी जन्मभूमि का स्मरण करती हुई नेत्रों में दुःख के आँसू भरकर कहनेलगी कि—॥ ७ ॥ हे सौम्य अक्रूर ! मेरी माता, पिता, भ्राता, बहिन, भाई के पुत्र, कुल की स्त्रियें और सखियें यह सब मुझे स्मरण करती हैं क्या ? ॥ ८ ॥ तथा भक्तों के ऊपर दया करनेवाले और शरण जाने योग्य मेरे भ्राता के पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण और कमलनेत्र बलराम, यह दोनो, अपनी बुआ के पुत्र धर्मराज आदि का स्मरण करते हैं क्या ? ॥ ९ ॥ मैं तो, जैसे भेड़ियों में पड़ीहुई हिरनी शोकाकुल होती है तैसे इन शत्रुओं में पड़ीहुई शोक में डूबी रहती हूँ; इसकारण वह श्रीकृष्ण, मुझे और इन पिताहीन हुए बालकों को धीरज बँधावेंगे क्या ? ॥ १० ॥ इस प्रकार अक्रूरजी से कहकर, प्रेम के वेग से भगवान् मेरे समीप ही हैं ऐसा मानकर उन की प्रार्थना करती है कि—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे जगदात्मन् ! हे जगत्पालक ! हे गोविन्द ! बालकों सहित क्लेश पानेवाली और तुम्हारी शरण में आईहुई मेरी तुम रक्षा

त्तव पदांभोजात्पश्यामि शरणं नृणाम् ॥ बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गि-
कात् ॥ १२ ॥ नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ योगेश्वराय यो-
गाय त्वामहं शरणं गता ॥ १३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृ-
ष्णं च जगदीश्वरम् ॥ प्रारुदद्दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥ १४ ॥
समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः ॥ सान्त्वयामासतुः कुंतीं तत्पुत्रोत्प-
त्तिहेतुभिः ॥ १५ ॥ यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ॥ अवदत्सु-
हृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥ १६ ॥ अक्रूर उवाच ॥ भो भो वैचि-
त्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्त्तिवर्द्धन ॥ भ्रातर्युपरते पांडावधुनासनमास्थितः १७॥
धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रंजयन् ॥ वर्त्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्-
त्तिमवाप्स्यसि ॥ १८ ॥ अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ॥ त-
स्मात्समत्वे वर्त्तस्व पांडवेष्वात्मजेषु च ॥ १९ ॥ नेह चात्यंतसंवासः क-

करो ॥ ११ ॥ हे प्रभो ! मृत्युसंसार से डरनेवाले प्राणियों को मोक्ष देनेवाले तुम ईश्वर के चरणकमल के सिवाय दूसरा रक्षा करनेवाला कोई भी मैं नहीं देखती हूँ ॥ १२ ॥ इसकारण धर्ममूर्त्ति, अपरिच्छिन्नरूपी, जीवों के सखा, अणिमादि सम्पत्तियुक्त और ज्ञानात्मा तुम कृष्ण को नमस्कार करतीहुई मैं शरण आई हूँ ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इसप्रकार स्वजनों का और जगदीश्वर कृष्ण का स्मरण करके उन के वियोग आदि से दुःखित हुई वह तुम्हारी परदादी कुन्ती, अन्त में रुदन करने लगी॥१४॥ तव उस कुन्ती की समान ही जिन का दुःख और सुख है ऐसे अक्रूरजी और महायशस्वी विदुरजी इन दोनो ने,तेरे और माद्रीके यह पुत्र-धर्म,वायु,इंद्र और अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न हुए हैं सो महापराक्रमी हैं इसकारण तू कुछ खेद मत कर, ऐसा कहकर उस कुन्ती को समझाया ॥ १५ ॥ तदनन्तर उन अक्रूरजी ने, मथुरा को जाते समय, भीष्म आदि बन्धुओं की सभा में वैठेहुए और अपने पुत्रों के ऊपर ही प्रेम बुद्धि रखकर पाण्डवों में भेदबुद्धि रखनेवाले उन राजा धृतराष्ट्र के समीप जाकर, उन से कृष्ण बलराम आदि बान्धवों ने जो प्रेम के साथ कह दिया था सो कहसुनाया ॥ १६ ॥ अक्रूरजी ने कहा कि-हे कौरवों की कीर्त्ति बढ़ानेवाले विचित्रवीर्यनन्दन ! धृतराष्ट्र ! तुम पाण्डुराजा के (भ्राता के) मरण को प्राप्त होने पर पुत्रों के विद्यमान होते हुए भी इस सिंहासन पर वैठे हो ॥ १७ ॥ सो तुम, धर्म से पृथ्वी का पालन करते हुए और अपनी सुशीलता से प्रजाओं को आनन्दित करतेहुए, पण्डु के पुत्र और अपने पुत्रों में समानभाव से वर्त्ताव रक्खोगे तो कल्याण और कीर्त्ति पाओगे ॥ १८ ॥ नहीं तो (इस के विपरीत वर्त्ताव करोगे तो) इस लोक में मनुष्य तुम्हारी निन्दा करेंगे और परलोक में नरक को जाओगे इसकारण तुम पाण्डव के और अपने पुत्रों में एक समान वर्त्ताव रक्खो ॥ १९ ॥

हिंचित्केनचित्सह ॥ राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥ एकः प्रसूयते जंतुरेक एव प्रलीयते ॥ एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २१ ॥ अधर्मोपचितं वित्तं हरंत्यन्येऽल्पमेधसः ॥ संभोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥ २२ ॥ पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपंडितम् ॥ तेऽकृतार्थं प्रहिन्वंति प्राणा रायः सुतादयः ॥ २३ ॥ स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ॥ असिद्धार्थो विशत्यंधं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥ ॥ २४ ॥ तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम् ॥ वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ यथा वदति क-

यदि कहो कि-अपने पुत्रों के ऊपर और दूसरे के पुत्रों के ऊपर समानभाव कैसे हो सक्ता है ? तो सुनो-हे राजन् ! इस लोक में किसी भी जीवात्मा का किसी भी पुत्र आदि के साथ निरन्तर एक स्थान पर सहवास नहीं होसक्ता; अपने इस परमप्यारे देहके साथ भी 'निरन्तर सहवास' नहीं रहसक्ता, फिर स्त्रीपुत्रादिकों के साथ रहने का तो पता ही क्या ? ॥ २० ॥ देखो यह जीव इकला ही जन्म लेता है, स्त्री पुत्रादिकों के साथ जन्म नहीं लेता है, और इकला ही मरता है, स्त्री पुत्रादिकों के साथ नहीं मरता है; तैसे ही पुण्य का फल सुख इकला ही भोगता है और पाप का फल दुःख भी इकला ही भोगता है ॥२१॥ और जिससमय स्त्रीपुत्रादि इसके साथ होते हैं उससमय भी, विचार करनेपर,वह स्त्री-पुत्र-आदि शत्रु ही हैं;क्योंकि-वह हम पोषण करनेयोग्य हैं ऐसा बहाना दिखाकर इसमूढबुद्धि पुरुषका अधर्मसे पायाहुआ धन,जैसे मच्छके जीवित रहने के साधन जल को उस के स्त्री-पुत्रादि हरलेते हैं तैसे ही हरलेते हैं ॥ २२ ॥ और यह अपने हैं ऐसा मानकर,जिन का अधर्म करके पोषण करताहै ऐसे यहप्राण,धन और पुत्र स्त्री आदि भी पूर्णमनोरथ न हुए तिस को, (मरण को प्राप्त होने पर वा जीवितदशा में ही) छोड़कर चले जाते हैं ॥ २३ ॥ फिर स्वार्थ के विषय में मूढ़, अपने धर्म से भ्रष्ट और मनोरथ पूर्ण होने से पहिले ही स्त्री-पुत्रादिकों का त्यागाहुआ वह पुरुष, आप ही उन के पोषण के निमित्त करेहुए पापमात्र को लेकर अन्धतामिस्र आदि नरकों में जाता है ॥ २४ ॥ इसकारण हे प्रभो राजन् ! यह पुत्रादिकों के ऊपर आसक्ति होना अनर्थ का कारण है, इसकारण धन-पुत्रादिसहित यह लोक, स्वप्न माया वा मनोरथ की समान अनित्य है ऐसा देखकर अपनी बुद्धि से ही अपने मन को वश में करके तुम शान्त और सब में समानभाव रखनेवाले रहो ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र ने कहा कि-हे दानपते अक्रूरजी !

ह्यायाणीं वोत्तान्दीनपते भवान् ॥ तथा स्रवां न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम् ॥
॥ २६ ॥ तथाऽपि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ॥ पुत्रानुरागविषमे
विद्युत्सौदामनी यथा ॥ २७ ॥ ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ॥
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥ २८ ॥ यो दुर्विमर्शपथया निज-
माययेदं सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ॥ तस्मै नमो दुरवबोधविहारत-
न्त्रसंसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥ २९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यभिप्रेत्य नृपते-
रभिप्रायं स यादवः ॥ सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥ ३० ॥ शशंस
रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ॥ पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्व-
यम् ॥ ३१ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां संहितायां दशम-
स्कन्धे पू० एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥ * ॥ * ॥

तुम जो कल्याणकारी वचन कहते हो उन तुम्हारे वचनों से, जैसे मरनेवाला प्राणी, अमृत भोजन करके भी तृप्त नहीं होता है तैसे ही मैं भी तृप्त नहीं होता हूँ अर्थात् तुम्हारे इस कथन को पर्याप्त नहीं मानता हूँ ॥ २६ ॥ तथापि हे सौम्य ! यह तुम्हारी मधुर और हितकारक वाणी पुत्रों के प्रेम से भेदभावयुक्त होकर चञ्चल हुए मेरे हृदय में, जैसे स्फटिकमय सुदामा पर्वत पर चमकनेवाली बिजली स्थिर नहीं रहती है किन्तु तत्काल नष्ट होजाती है तैसे ही स्थिर न होकर व्यर्थ होती है ॥ २७ ॥ अच्छा ऐसा जानतेहुए भी तुझे ऐसा मोह क्यों होरहा है? यदि ऐसा कहो तो सुनो-ईश्वर के मन में जो करनी होगा उस के पलटने को कौन पुरुष समर्थ होसक्ता है ? कोई नहीं; जो ईश्वर भूमि का भार उतारने के निमित्त यदु के कुल में श्रीकृष्णरूप से अवतरे हैं ॥ २८ ॥ जो अपनी अतर्क्य माया से इस सकल जगत् को उत्पन्न करके उस में अन्तर्यामिरूप से प्रविष्ट होतेहुए सकल प्राणियों को कर्म और उन कर्मों के भिन्नभिन्न फल देते हैं और समझने में न आनेवाली अपनी क्रीड़ा से ही उत्पन्न हुए संसारचक्र को फिराते हैं तिन परमेश्वर को नमस्कार हो ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इसप्रकार उन अक्रूरजी ने, राजा धृतराष्ट्र का अभिप्राय जानकर पाण्डवों के मथुरा को जानेकी आज्ञा देनेपर फिर मथुरापुरी को गमन करा ॥ ३० ॥ हे राजन् ! तदनन्तर जिसके निमित्त (धृतराष्ट्र का वर्त्ताव जानने के निमित्त) भगवान् ने स्वयं उन अक्रूरजी को भेजा था वह पाण्डवों के विषय में धृतराष्ट्र का विष देना आदि सब वृत्तान्त, उन्होंने बलरामकृष्ण से कहा ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में एकोनपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥

दशमस्कन्धे पूर्वार्धं समाप्तिमगमत् ॥

अथ दशमस्कन्धोत्तरार्द्धप्रारम्भः



श्रीशुक उवाच ॥ अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ॥ मृते भर्त्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥ पित्रे मगधराजाय जरासंधाय दुःखिते ॥ वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥ स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ॥ अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥ अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः ॥ यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत्सर्वतो दिशम् ॥ ४ ॥ निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ॥ स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥ ५ ॥ चिंतयामास भगवान्हरिः कारणमानुषः ॥

॥ ॐनमो भगवते वासुदेवाय ॥ अब आगे पंचासवें अध्याय में, जरासन्ध के भय से ही मानो श्रीकृष्णजी ने समुद्र में द्वारका नगरी बनवाकर उस में अपने सब यादवों को पहुँचादिया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीकृष्णजी ने पूतना केशी आदि कपटी दैत्यों को कपट से अनायास में ही जीतलिया, वह सब वृत्तान्त पूर्वार्द्ध में कहकर अब अपने को धर्मात्मा कहने वाले जरासन्ध को धर्म से ही जीता यह कथा वर्णन करने के निमित्त श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे भरतकुल में श्रेष्ठ राजन्! अस्ति और प्राप्ति नामवाली कंस की दो स्त्रियें थीं, वह पति (कंस) के मरण को प्राप्त होने पर दुःख से पीड़ित हो पिता (जरासन्ध) के घर चलीगईं ॥ १ ॥ और दुःखित हुईं उन दोनो ने, अपना पिता मगध देश का राजा जो जरासन्ध उस को अपने विधवा होने का कारण (कृष्ण चरित्र) आदि से अन्तपर्यन्त कह सुनाया ॥२॥ हे राजन्! उस ने तिस अप्रिय वार्त्ता को सुनकर, कंस के विषय में शोक और श्रीकृष्ण के विषय में क्रोध के आवेश से युक्त होकर, पृथ्वी को यादवों से रहित करने का बड़ाभारी उद्योग करा ॥ ३ ॥ उद्योग से मिलीहुई बीस अक्षौहिणी और अपनी तीन अक्षौहिणी इसप्रकार सब तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर उस ने यादवों की राजधानी जो मथुरा तिस को चारों ओर से घेरलिया॥४॥ उस समय श्रीकृष्णजी ने, मर्यादा को लांघनेवाले समुद्र की समान जिधर तिधर को फैली हुई उस की सेना को देखकर और उस के नगर को घेरलेने के कारण भयभीत हुए अपने कुटुम्बियों को देखकर—॥ ५ ॥ भूमि का भार उतारने को मनुष्य हुए तिन भगवान् श्रीहरि ने, इस देश में और इस काल में उचित मेरे अवतार का क्या प्रयोजन है? अर्थात् इस सेना का वध करके जरासन्ध को छोड़दूँ अथवा जरासन्ध को मारकर सेना को अपने

तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६ ॥ हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि
भारं समाहितं ॥ मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजां ॥ ७ ॥ अक्षौहिणी-
भिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ॥ मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम्
॥ ८ ॥ एतदर्थोऽवतारोयं भूभारहरणाय मे ॥ संरक्षणाय साधूनां कृतोऽ-
न्येषां वधाय च ॥ ९ ॥ अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया ॥ वि-
रामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥ १० ॥ एवं ध्यायति गोविंद आ-
काशात्सूर्यवर्चसौ ॥ रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥ आयुधानि
च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ॥ दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः संकर्षणमथाब्रवीत् ॥ १२ ॥
पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ॥ एष ते रथ आयातो दयितान्या-
युधानि च ॥ १३ ॥ यानमास्थाय जह्येतद्व्यसनात्स्वान्समुद्धर ॥ एतदर्थं हि
नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥ १४ ॥ त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारम-

हाथ में करलूँ अथवा जरासन्धसहित सब सेना को मारडालूँ इस विषय का चिन्तवन करके निश्चय करा कि—॥ ६ ॥ पृथ्वी का भाररूप इस सेना का ही वध करूँगा, क्योंकि जरासन्ध, अपने अधीन सब राजाओं के सिपाही, घोड़े, रथ और हाथियों की तेईस अक्षौहिणी सेना को इकट्ठा करके यहां लाया है; जरासन्ध को तो मारूँ नहीं, छोड़ दूँ तो वह फिर दुष्टों की सेना इकट्ठी करने का उद्योग करेगा ॥ ७ ॥ ८ ॥ इस निमित्त ही अर्थात - भूमि का भार हरने के निमित्त, साधुओं की रक्षा करने के निमित्त तथा दुष्टों का वध करने के निमित्त मैंने यह अवतार धारण करा है॥ ९॥ केवल यही अवतार धारण नहीं करा है किन्तु और भी शरीर (अवतार) धर्म की रक्षा के निमित्त और किसी समय वृद्धि को प्राप्तहुए अधर्म को दूर करने के निमित्त मुझे धारण करनेपड़ते हैं ॥ १० ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी के विचार करते हुए उसीसमय सारथीसहित और ध्वजा—कवच आदि सामग्रीसहित, सूर्यकी समान तेजवाले दो रथ आकाश में से नीचे उतरकर बलराम कृष्ण के समीप आपहुँचे ॥ ११ ॥ तथा पुरातन के चक्र—गदा आदि दिव्य शस्त्र अकस्मात् उनरथों के साथ ही स्वयं तहाँ आपहुँचे, तब उन को देखकर श्रीकृष्ण भगवान् बलरामजी से कहनेलगे ॥ १२ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे आर्य प्रभो ! तुम जिन के रक्षक हो उन यादवों को, जरासन्ध ने अपनी सेना से घेरलिया है इस से यह कैसा दुःख आपड़ा है; देखो यह तुम्हारे निमित्त रथ आया है तथा तुम्हें प्रिय लगनेवाले यह हल—मूसल आदि आयुध भी आये हैं ॥ १३ ॥ इस से इस रथपर बैठकर इस सेना को मारडालो, और अपने यादवों का सङ्कट से उद्धार करो इस निमित्त ही हमदोनों का जन्म होकर वह दुष्टोंका दमन करके साधुओं को सुख देनेवाला है ॥ १४ ॥ सो यह तेईस अक्षौहिणी सेनारूप भूमि का भार

पाकुरु ॥ एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥ १५ ॥ निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसा वृतौ ॥ शंखं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥ १६ ॥ ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ॥ तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥ १७ ॥ न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया ॥ गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बंधुहन् ॥ १८ ॥ तव राम यदि श्रद्धा युद्ध्यस्व धैर्यमुद्वह ॥ हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥ १९ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ न वै शूरा विकत्थंते दर्शयंत्येव पौरुषं ॥ न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसावृणोत् ॥ ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥ २१ ॥ सुपर्णतालध्वजचिन्हितौ रथावलक्षयंत्यो हरिरामयोर्मृधे ॥ स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः

दूर करो, इसप्रकार परस्पर सम्मति करके वह बलराम—कृष्ण कवच धारण कर रथ पर चढे और शङ्खचक्र आदि अपने आयुधों से युक्त तथा थोड़ीसी चतुरङ्ग सेना को चारोंओर लेकर उस मथुरा नगरी से बाहरनिकले तब जिनका दारुक नामवाला सारथी है ऐसे श्रीकृष्णजी ने, नगर से बाहर निकलते ही पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया ॥ १५ ॥ १६ ॥ उस शंख के शब्द से जरासन्ध की सेना के हृदय में भय के मारे कपकपी उत्पन्न होगई, तब उन बलराम-कृष्ण को देखकर जरासन्ध कहनेलगा कि—हे कृष्ण ! हे पुरुषाधम ! तुझ इकले बालक के साथ में लज्जा के कारण युद्ध करने की इच्छा नहीं करता हूँ, हे मन्दबुद्धे ! हे मामा का वध करनेवाले ! स्वजनों को केवल भेग से ही रक्षा करनेयोग्य तेरे साथ में युद्ध करता ही नहीं इसकारण तू पीछे को लौटजा ॥ १७ ॥ १८ ॥ ऐसा कृष्ण से कहकर बलरामजी से कहने लगा कि—हे राम ! तुझे यदि मेरे साथ युद्ध करने की श्रद्धा होय तो युद्ध कर परन्तु धीरज धर, मेरे बाणों से छिन्न-भिन्न हुए शरीर को त्यागकर स्वर्ग को जा अथवा बलवान् होय तो मेरा वध कर ॥ १९ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि हे राजन् ! शूर पुरुष अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं किन्तु स्तुति का कारण अपना पराक्रम ही दिखाते हैं; तू जो सन्निपात वाय आये हुए पुरुष की समान आतुर होरहा है तिससे यह तेरा अपनी प्रशंसा का भाषण हम नहीं ग्रहण करते हैं ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार कहेहुए उस जरासन्ध ने, सेना, रथ, ध्वजा, घोड़े और सारथियों के साथ आयहुए उन बलराम-कृष्ण के समीप में आकर अपनी बलवती बड़ीभारी सेना के समूह से उन को, जैसे वायु, मेघ और धूलि से सूर्य और अग्नि को ढकदेता है तैसे ढकदिया ॥ २१ ॥ उससमय नगर में की ऊंपर की अटारी महल और बाहर के द्वारों पर बैठीहुई स्त्रियें, युद्ध की भूमि में गरुड़ध्वज और

संमुमुहुः शुचार्दिताः ॥ २२ ॥ हरिः परानीकपयोमुचा मुहुः शिलीमुखात्युल्वणवर्षपीडितम् ॥ स्वसैन्यमालोक्य सुराऽसुराऽर्चितं व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥ २३ ॥ गृह्णन्निषंगादथ संदधच्छरान्विकृष्य मुंचन् शितबाणपूगान् ॥ निघ्नन् रथान्कुंजरवाजिपत्तीन्निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥ २४ ॥ निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतुरनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः ॥ रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥ २५ ॥ संछिद्यमानद्विपदेभवाजिनामंगप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ॥ भुजाऽहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः ॥ २६ ॥ करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरंगायुधगुल्मसंकुलाः ॥ अच्छूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥ २७ ॥ प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परं ॥ वि-

तालध्वज इन चिन्हों से युक्त बलराम-कृष्ण के रथों को न देखने के कारण शोक से व्याप्त होकर मूर्छित होगईं ॥ २२ ॥ तब श्रीकृष्णजी ने, शत्रुकी सेनारूप मेघों की वारंवार होनेवाली बाणरूप अतिभयानक वर्षा से पीड़ित हुई अपनी सेना को देखकर, देवदैत्यों करके श्रेष्ठ मानकर सन्मान करेहुए अपने शार्ङ्ग नामवाले श्रेष्ठ धनुष का टङ्कार शब्द करा ॥ २३ ॥ तदनन्तर तरकस में से बाणों को लेतेहुए और उनको रोदेपर चढ़ातेहुए तथा रोदेको खेंचकर उन तीखे बाणों के समूह को छोड़तेहुए और उन बाणों से, रथ, हाथी, घोड़े, तथा पैदलों को मारतेहुए श्रीकृष्णजी ने, जैसे जलतेहुए काठ को घुमाने पर वह चक्राकार होजाता है तैसे उस धनुष को एकसमान अपने हाथ में घुमाया ॥ २४ ॥ उससमय गण्डस्थल कटकर गिरेहुए अनेकों हाथी. और बाणों से गरदन कटेहुए अनेकों घोड़े मरकर गिरपड़े, तथा जिन के घोड़े, ध्वजा, सारथी और स्वामी नष्ट होगए हैं ऐसे अनेकों रथ छिन्न-भिन्न होकर गिरपड़े तथा जिन की भुजा, जंघा और कंठ कटगए हैं ऐसे अनेकों सिपाही मरकर गिर गये ॥ २५ ॥ उस समय भगवान् के बाणों से कटेहुए जो सिपाही. हाथी और घोड़े उनके शरीरों में से निकलेहुए रुधिर की सैकड़ों नदियें वहनेलगीं कि-जिन में कटी हुई भुजा ही सर्प और पुरुषों के मस्तक ही कछुए हैं जो मरण को प्राप्तहुए हाथीरूप द्वीपों (टापुओं) से और घोड़ेरूप नाकों से भरीहुई हैं ॥ २६ ॥ जिन में कटेहुए हाथ और जंघा ही मत्स्य और मनुष्यों के केश ही सिवार है. जो धनुषरूप तरङ्गों से और आयुधरूप गुल्मों से भरीहुई तथा चक्ररूप भँवरों से भयङ्कर हैं; जिन में महामणियों के समूह ही पाषाण और भूषण ही बालु हैं ॥ २७ ॥ जो डरपोकों को भय देनेवाली और वीरों को परस्पर हर्ष उत्पन्न करनेवाली हैं, ऐसी नदी वहने लगीं; इसप्रकार श्रीकृष्णजी का

निघ्नताऽरीन्मुसलेन दुर्मदान् संकर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥ २८ ॥ बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ॥ क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥ २९ ॥ स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ॥ न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥ ३० ॥ जग्राह विरथं रामो जरासंधं महाबलम् ॥ हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥ ३१ ॥ बद्ध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः ॥ वारयामास गोविंदस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ ३२ ॥ स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः ॥ तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ॥ वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ॥ स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः ॥ ३४ ॥ हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ॥ उपे-

करा हुआ सेना का नाश कहकर अब बलरामजी ने जो किया सो कहते हैं—जिन का शत्रुओं का तिरस्कार करनेवाला प्रभाव अपरिमित है ऐसे और दुर्मद शत्रुओं को मूसल से कुचलडालनेवाले उन बलरामजी ने भी, अन्तपाररहित और समुद्र की समान प्रवेश करने को अशक्य तिस भयंकर जरासन्ध की रक्षा करीहुई सेना नाश को प्राप्त करदी; हे राजन्! इस प्रकार जो बलराम कृष्ण के कर्म कहे सो उन जगदीश्वर का खेल ही था, उन्होंने पराक्रम नहीं किया था॥२८॥२९॥ और यह आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि-जो अनन्तगुण भगवान्, अपने सङ्कल्पमात्र से ही त्रिलोकी की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं उन का शत्रु की सेना को दमनकरना आश्चर्य नहीं है तथापि मनुष्य का अनुकरण (नकल) करनेवाले उन का यह कर्म आश्चर्य की समान वर्णन करा है ॥३०॥ तदनन्तर जिस की सेना मारीगई है और जिस का प्राणमात्र शेष रहा है ऐसे तिस रथहीन हुए महाबली जरासन्ध को, बलरामजी ने, जैसे सिंह सिंह को पकड़ता है तैसे पराक्रम से पकड़लिया ॥ ३१ ॥ और जिस ने पहिले बहुत से शत्रु मारे हैं तिस महाबली जरासन्ध को बलरामजी, वरुण की पाशों से और मनुष्यों की पाशों से बांधने लगे, तब, श्रीकृष्णजी ने, उस के द्वारा दुष्टदमनरूप कार्य करने की इच्छा से उस को बाँधने का निषेध करदिया ॥ ३२ ॥ तब बलराम-कृष्ण का छोड़ाहुआ और वीरों का माननीय वह जरासन्ध, लज्जित हुआ और तप करने का सङ्कल्प करके वन में को जानेलगा तब मार्ग में शिशुपाल आदि राजाओं ने, धर्मोपदेश के शब्दों से युक्त, नीति के तथा 'तुच्छ यादवों से तुझ बलवान् का यह तिरस्कार केवल कर्मवश हुआ है इसकारण तू लज्जित न हो ऐसे' लौकिक उपदेशयुक्त वाक्यों से समझाकर उस को रोका ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ इसप्रकार सब सेनाओं के मरण को प्राप्त होने पर भगवान् का उपेक्षा कराहुआ वह राजा

क्षितो भगवता मगधान्दुर्मना ययौ ॥ ३५ ॥ मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः ॥ विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥ ३६ ॥ माथुरैरुपसंगम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ॥ उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः ॥ ३७ ॥ शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ॥ वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥ ३८ ॥ सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम् ॥ निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥ ३९ ॥ निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ॥ निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥ ४० ॥ आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ॥ यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥ ४१ ॥ एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ॥ युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥ ४२ ॥ अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा ॥ हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः ॥ ४३ ॥ अष्टादशमे संग्रामे आगामिनि तदन्तरा ॥ नारदप्रेषितो

जरासन्ध, खिन्न होकर मगध देशों को लौटगया ॥ ३५ ॥ इधर जिन की सेना के घाव भी नहीं आया है और जिन्हों ने अनायास में ही शत्रु की सेनारूप समुद्र का पार पाया है ऐसे उन श्रीकृष्णजी को भी, देवताओं ने 'बहुत अच्छा किया बहुत अच्छा किया' ऐसा धन्यवाद देकर उन को फूलों से छादिया ॥ ३६ ॥ तदनन्तर दुःखरहित और प्रसन्नचित्त होकर सन्मुख आयेहुए मथुरावासी लोकों से मिलकर सूत, मागध और बन्दियों ने जिन के यश को गाया है ऐसे वह श्रीकृष्णजी, नगरी में को चल दिये ॥ ३७ ॥ उन प्रभु के नगरी में प्रवेश करतेसमय, शङ्ख, दुंदुभि, नौबत, डंके, वीणा, मुरली, मृदङ्ग आदि अनेकों बाजे बजने लगे ॥ ३८ ॥ वह नगरी—चंदन आदि के जिस के मार्ग छिड़के गये हैं ऐसी, हर्ष को प्राप्त हुए प्राणियों से युक्त, पताका आदि से अलङ्कृत, वेदध्वनि से गुञ्जारती हुई और उत्सवों के कारण जिस में वन्दनवार बँधे हैं ऐसी थी ॥ ३९ ॥ स्त्रियों ने, फूल, दही, अक्षत और दुर्वांकुर आदि की जिन के ऊपर वर्षा करी है ऐसे और जिन के नेत्र प्रीति से प्रफुल्लित होरहे हैं ऐसे नगर के पुरुषों करके बड़े प्रेम के साथ देखे हुए वह श्रीकृष्णजी तिस नगरी में को गये ॥ ४० ॥ तहां उन प्रभु ने, युद्धभूमि में पड़ेहुए वीरों का भूषणरूप जो असंख्यात धन लाये थे सो सब राजा उग्रसेन को समर्पण करा ॥ ४१ ॥ इसप्रकार तेईस२ अक्षौहिणी सेना लेकर राजा जरासन्ध ने, श्रीकृष्णजी के रक्षा करेहुए यादवों के साथ सत्रह वार युद्ध करा ॥ ४२ ॥ श्रीकृष्ण के तेज से युक्त तिन यादवों ने, वह उस जरासन्ध की सब सेना मारडाली; इसी प्रकार अपनी सकल सेना के मरण को प्राप्त होने पर बलराम कृष्ण का उपेक्षा करा हुआ वह राजा जरासन्ध अपने नगर को लौट आया ॥ ४३ ॥ फिर अठारहवाँ संग्राम होनेवाला था सो तिस से पहिले ही नारदजी का भेजाहुआ कालयवन नामवाला वीर, मथुरा

वीरो यवनः मत्र्यदृश्यत॥४४॥रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः॥नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसंमितान् ॥ ४५ ॥ तं दृष्ट्वाऽचिंतयत्कृष्णः संकर्षणसहायवान् ॥ अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत् ॥ ४६ ॥ यवनोऽयं निरुंधेऽस्मानद्य तावन्महावलः ॥ मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वा गमिष्यति ॥ ४७ ॥ आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागंता जरासुतः ॥ वंधून्वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं वली ॥ ४८॥ तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम्॥ तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥ ४९ ॥ इति संमन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम् ॥ अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाऽद्भुतमचीकरत् ॥५०॥ दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्॥रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितं॥५१॥सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम्॥हेमशृंगैर्दिविस्पृग्भिः स्फटिकाट्टालगोपुरैः॥५२॥

के समीप आपहुँचा, तब उस को मथुरा के पुरुषों ने देखा॥४४॥ वह मनुष्यलोक में, जिस की वरावर का दूसरा योधा है ही नहीं ऐसा था; उस ने नारदजी से, मेरी वरावर के योधा यादव हैं ऐसा सुनकर उन के साथ युद्ध करने के निमित्त तीन करोड म्लेच्छों के साथ मथुरापुरी के समीप आकर उस ने तिस को चारोंओर से घेरलिया ॥ ४५ ॥ तिस कालयवन को देखकर वलरामजी के साथ श्रीकृष्णजी सम्मति करनेलगे कि –अहो ! यादवों को दोनों ओर से (कालयवन से और जरासन्ध से) वडा ही दुःख प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥ आज तो यह महावली कालयवन हमें रोकरहा है और आज, कल, वा परसों जरासन्ध भी आपहुँचेगा ॥४७॥ इस कालयवन के साथ हम दोनों के युद्ध करने में लगजाने पर यदि जरासन्ध आगया तो वह वलवान् होने के कारण हमारे वान्धवों को मारडालेगा अथवा अपने नगर में लेजायगा॥४८॥इसकारण जहां मनुष्य न जासकें ऐसे समुद्र में एक किला और उस में एक नगर वनवाकर तहाँ ज्ञातिवान्धवों को रखकर इस यवन को मारेंगे ॥ ४९ ॥ इसप्रकार भगवान् ने, वलरामजी के साथ सम्मति करके समुद्र में किला और उस में सकल आश्चर्यों से युक्त वारह योजन लम्वा द्वारका नामवाला नगर विश्वकर्मा से वनवाया ॥ ५० ॥ जिस नगर में विश्वकर्मा के ज्ञान को सूचित करनेवाला क्रियाकौशल दीखरहा है, और जिस के प्रत्येक घरकी अगली ओर राजमार्ग (आमसड़क) पीछे की ओर गलियें, दोनों ओर आँगन हैं, उन के भीतर कोठे, उन के भी भीतर सुवर्ण के घर, उन के ऊपर चौवारे, उन के ऊपर सोने के कलश ऐसी वहुतसी मंजिलों के वनाने की यथोचित रीति के अनुसार वने हुए थे ॥ ५१ ॥ जिन में कल्पवृक्ष और कल्पलता हैं ऐसे वागों से और चित्रविचित्र वाटिकाओं से युक्त था, जिस के शिखर सुवर्ण के हैं ऐसे अति ऊँचे स्फटिकमणियों के चौवारे और वाहरी द्वारों से वनाहुआ था॥ ५२ ॥ चाँदी और

राजतारकूटैः कोष्ठैर्हेमकुंभैरलंकृतैः ॥ रत्नकूटैर्गृहैर्हेममहामारकतस्थलैः ॥५३॥
वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वल्लभीभिश्च निर्मितम् ॥ चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृ-
होल्लसत् ॥ ५४ ॥ सुधर्मां पारिजातं च महेंद्रः प्राहिणोद्धरेः ॥ यत्र चावं-
स्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥ ५५ ॥ श्यामैककर्णान्वरुणो हयाञ्छुक्ला-
न्मनोजवान् ॥ अष्टौ निधिपतिः कोशांन् लोकपालो निजोदयान् ॥ ५६ ॥
यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ॥ सर्वं प्रत्यर्पयामासु-हरौ भूमिगते नृ-
पे ॥ ५७ ॥ तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं हरिः ॥ प्रजापालेन रामेण
कृष्णः समनुमंत्रितः ॥ निर्जगाम पुरद्वारात्पद्ममाली निरायुधः ॥ ५८ ॥ इति
श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कंधे उत्तरार्धे दुर्गनिवेशनं नाम पंचाशत्तमो-
ऽध्यायः ॥ ५० ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तं विलोक्य विनिष्क्रांतमुज्जि-

पीतल की बनीहुई, सुवर्ण के शिखरों से भूषित घुड़साल और अन्न के भण्डारों से युक्त था, तथा पद्मरागमणि के शिखरों से और बहुमूल्य मरकतमणि की भूमियों से युक्त ऐसे सुवर्ण के मन्दिरों से युक्त था ॥५३॥ जहाँ तहाँ नगर में और घरों में बनाएहुए देव-मन्दिरों से और चन्द्रशालाओं से युक्त था और ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोकों से भरा-हुआ और यादवश्रेष्ठों के राजमन्दिरों से अतिशोभायमान था ॥ ५४ ॥ उस नगर में श्रीकृष्णजी को महेन्द्र ने, सुधर्मा नामवाली सभा पारिजातक कल्पवृक्ष यह दोनों भेज दिये जिस सुधर्मा सभा में बैठा हुआ मनुष्य, भूख, प्यास, शोक, मोह आदि मनुष्य के धर्मों से युक्त नहीं होता है । ५५ ॥ वरुण ने जिन का एक कर्ण श्यामवर्ण है ऐसे सब शरीर में श्वेतवर्ण और मन की समान वेगवाले घोड़े भेजदिये तथा लोकपालक कुवेर ने पद्म महापद्म आदि आठ निधि भेजदिये,दूसरे भी लोकपालों ने अपने २ ऐश्वर्य भेजदिये ॥ ५६ ॥ हे राजन्! श्रीहरि के भूमिपर आकर प्राप्त होने पर सब माण्ड लिक राजाओं ने और सिद्ध आदि देवताओं ने भी, भगवान् ने जो २ ऐश्वर्य अपने को दिये थे वह २ सब अपने २ अधिकार की निश्चल सिद्धि होने के निमित्त तिन श्रीहरि को अर्पण करे ॥ ५७ ॥ तिस द्वारका में श्रीहरि ने 'जैसे कालयवन को और सकल लोकोंकी समझ में न आवे तैसे योगशक्ति से' सब को लेजाकर और 'तुम यहाँ रहकर प्रजा की रक्षाकरो मैं कालयवन को मारने के निमित्त धावा करता हूँ ऐसी बलरामजी के साथ सम्मति करके कमलों की माला धारण करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, कोई आयुध धारण न करतेहुए नगर के द्वार से बाहर निकले ॥ ५८॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में पंचासवां अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इक्यावनवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी ने, मुचुकुन्द की दृष्टि से कालयवन का प्राणान्त करवाया, तदनन्तर मुचुकुन्द के स्तुति करने पर उस के ऊपर अनुग्रह करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन्!

हानमिवोडुपम् ॥ दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १ ॥ श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २ ॥ नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥ मुखारविंदं बिभ्राणं स्फुरन्मकर-कुण्डलम् ॥ ३ ॥ वासुदेवो ह्यय--मिति पुमान् श्रीवत्सलांछनः ॥ चतुर्भुजो ऽरविंदाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४ ॥ लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ॥ निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥ इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवंतं पराङ्मुखम् ॥ अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनां ॥६॥ हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ॥ नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रि-कन्दरम् ॥ ७ ॥ पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ॥ इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥ ८ ॥ एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिरिकन्दरम्॥ सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९ ॥ नन्वसौ दूरमानीय

नगर के द्वार से बाहर निकलेहुए तिन श्रीकृष्णजी को कालयवन ने देखा; वह श्रीकृष्णजी ऐसे थे कि--उदय होतेहुए चन्द्रमा की समान देखने में परमसुन्दर श्यामवर्ण, पीला रेशमी पीताम्बर पहिरे हुए ॥ १ ॥ वक्षःस्थल में श्रीवत्सलाञ्छन से युक्त, जिन का कण्ठ देदीप्यमान कौस्तुभमणि से शोभित है, जिन की चारों भुजा पुष्ट और रानोपर्यन्त लम्बी हैं, जिन के नेत्र नवीन कमल की समान कुछ २ लाल हैं ॥ २ ॥ नित्य आनन्दयुक्त, शोभायुक्त सुन्दर कपोलोंवाले, और शुद्धहास्ययुक्त तथा जिस में मकराकृति कुण्डल दमक रहेहैं ऐसे मुख कमल को धारण करनेवाले ॥ ३ ॥ ऐसे श्रीकृष्णजी को देखकर नारदजी के कहे हुए लक्षणों से पुराणपुरुष, श्रीवत्सलाञ्छन, चतुर्भुज, कमलनयन, वनमाली और अतिसुन्दर ऐसे यह ही वासुदेव होसक्ते हैं, दूसरा कोई नहीं होसक्ता, परन्तु यह विना शस्त्र के ही पैदल आरहे हैं इसकारण मैं भी विना शस्त्र के ही पैरों से चलनेवाला होकर इन के साथ युद्ध करूँगा॥४।५॥ऐसा निश्चय करके वह कालयवन, अपनी ओरको पीठकरके भागनेवाले, योगियों को भी दुर्लभ तिन श्रीकृष्णजी को पकडने के निमित्त उन के पीछे २ दौडनेलगा॥६॥ तब हर एक पग पर अपने को हाथ में आयाहुआ सा दिखानेवाले श्रीहरि, उस यवनों के स्वामी को दूर एक पर्वत की गुफा में लेगए ॥ ७ ॥ उस समय, यदुकुल में उत्पन्न हुए तुम्हें यह भागना उचित नहीं है, ऐसी निन्दा करतेहुए पीछे २ भागनेवाले परन्तु जिस के कर्म क्षीण नहीं हुए हैं ऐसे उस कालयवन को श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं हुई ॥ ८ ॥ इस प्रकार कालयवन के निन्दा करने पर भी उन भगवान् श्रीकृष्णने, उस से मुचुकुन्द को जगवाने के निमित्त और मुचुकुन्द की दृष्टि से उस को भस्म कराने के निमित्त पर्वत की गुहा में प्रवेशकरा, उस कालयवन ने भी तिस पर्वत की गुफा में घुसकर तहाँ सोयेहुए दूसरे किसी एक पुरुष को देखा ॥ ९ ॥ और यह वासुदेव मुझे इतनी दूर लाकर

शेते मामिह साधुवत् ॥ इति मत्वाऽच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥ १० ॥
स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ॥ दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षी-
दवस्थितम् ॥ ११ ॥ स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ॥ देहजेनाग्निना
दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥ १२ ॥ राजोवाच ॥ को नाम स पुमान्ब्रह्म-
न्कस्य किंवीर्य एव च ॥ कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः ॥
॥ १३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स इक्ष्वाकुकुले जातो मांधातृतनयो महान् ॥ मु-
चुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः ॥ १४ ॥ स याचितः सुरगणैरि-
न्द्राद्यैरात्मरक्षणे ॥ असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥ १५ ॥
लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ॥ राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भ-
वान्नः परिपालनात् ॥ १६ ॥ नरलोके परित्यज्य राज्यं निहतकं-
टकं ॥ अस्मान्पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥ १७ ॥ सुता महि-
ष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमंत्रिणः ॥ प्रजाश्च तुल्यकालीया नाऽधुना संति

यहां साधुपुरुष की समान सोरहा है, ऐसी बुद्धि से उस सोयेहुए पुरुष को ही वासुदेव मानकर उस मूढ़ने, अपने पैर की ठोकर से ताड़ना करा ॥ १० ॥ वह बहुत समय पर्यन्त सोयाहुआ पुरुष ठोकर लगने से जगकर उठबैठा और धीरे धीरे अपने नेत्र उघाड़कर सब दिशाओं में को देखनेलगा सो उसने अपने समीप एकओर खड़ेहुए तिस कालयवन को देखा ॥ ११ ॥ हे राजन्! इतने ही में वह कालयवन, निद्राभङ्ग होने के कारण क्रोध में हुए उस पुरुष की दृष्टि पड़ने से प्रदीप्त हुए उस के देह में के अग्नि से ही जलकर तत्काल भस्म होगया ॥ १२ ॥ राजा ने कहा कि—हे ब्रह्मन्! उस पुरुष का नाम क्या था? वह किस के कुल का था? किस का पुत्र था? और कैसे पराक्रमवाला था कि जिस ने दृष्टिमात्र से ही कालयवन को भस्म करादिया और वह पुरुष, किस कारण से गुहा में घुसकर सोरहा था? ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! वह इक्ष्वाकुराजा के कुल में उत्पन्न हुआ, मान्धाता का पुत्र, गुणों से बड़ा, ब्राह्मणों का भक्त और धर्मयुद्ध करनेवाला मुचुकुन्द इस नाम से प्रसिद्ध था ॥ १४ ॥ पहिले दैत्यों से भय मानेहुए इन्द्रादिक देवगणों ने, अपनी रक्षा के निमित्त उस की प्रार्थना करी तब उस ने बहुत कालपर्यन्त उन की रक्षा करी थी ॥ १५ ॥ तदनन्तर उन को स्वर्ग की रक्षा करनेवाले सेनापति स्वामिकार्त्तिकेय मिलगये तब उन्होंने, मुचुकुन्द से कहा कि—हे राजन्! हमारी रक्षारूप कष्ट से अब तुम विश्राम लो ॥ १६ ॥ हे वीर! मनुष्यलोक में के अपने शत्रुसहित राज्य को छोड़कर केवल हमारी रक्षा करनेवाले तुम्हारे सब ही विषयभोग छूटगये हैं ॥ १७ ॥ तुम्हारे पुत्र, स्त्री, जाति, अमात्य मंत्री और तुम्हारे राज्य करते

कालिताः ॥ १८ ॥ कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥ प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥ १९ ॥ वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः ॥ एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः ॥ २० ॥ एवमुक्तः स वै देवानभिवंद्य महायशाः ॥ "निद्रामेव ततो वव्रे स राजा श्रमकर्षितः ॥ २१ ॥ यः कश्चिन्मम निद्राया भंगं कुर्यात्सुरोत्तमाः ॥ स हि भस्मीभवेदाशु तथोक्तश्च सुरैस्तदा" ॥ अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया २२॥ स्वापं यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः ॥ स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥ २३ ॥ यवने भस्मसान्नीते भगवान्सात्वतर्षभः ॥ आत्मानं दर्शयामास मुचुकुंदाय धीमते ॥ २४ ॥ तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससं ॥ श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥ २५ ॥ चतुर्भुजं रोचमानं वैजयंत्या च मालया ॥ चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ २६ ॥ प्रेक्षणी-

---

समय की सकलप्रजा काल से चलायमान होने के कारण अब नहीं रही हैं ॥ १८ ॥ हे राजन्! यह काल, सब बलवानो में भी बलवान् है और अविनाशी भगवान् ईश्वर है, वह क्रीडा करते समय, जैसे पशुओं की रक्षा करनेवाला पुरुष; पशुओं को इधर उधर लेजाता है तैसे ही प्रजाओं को इधर उधर करता रहताहै॥१९॥हेराजन्! तुम्हारा कल्याण हो;तुम अव एक मोक्ष के सिवाय जो इच्छा हो वह वरदान हम से मांगलो ;मोक्ष देनेवाले एक अविनाशी भगवान् ही हैं दूसरा कोई नहीं है ॥ २० ॥ इसप्रकार देवताओं के कहेहुए वह महायशस्वी राजा मुचुकुन्द,देवताओं को वन्दना करके,बहुत दिनोपर्यन्त जागने के कारण श्रम को प्राप्त होगए थे इसकारण उन्होंने देवताओं से निद्रा ही मांग ली ॥२१॥ कहा कि—हे श्रेष्ठ देवताओं ! जो कोई पुरुष, मेरी निद्रा का भङ्ग करे वह तत्काल भस्म हो, ऐसा वर मांगा तब उससमय देवताओं ने कहा कि—जो तुम्हें न जाननेवाला पुरुष, तुम्हारे अपने आप उठने से पहिले तुम्हें जगावेगा उस की ओर को तुम्हारे देखते ही वह तत्काल भस्मरूप होजायगा; ऐसा वर मिलनेपर वह मुचुकुन्द, तिस गुहा में घुसकर के वताओं की दीहुई निद्रा से सोरहे ॥ २२ ॥ २३ ॥ इसप्रकार यवन के भस्म [illegible] थी पर, भक्तपालक भगवान् श्रीकृष्णजी ने, उस बुद्धिमान् मुचुकुन्द को अपना [illegible] पुत्र हूँ खाया ॥ २४ ॥ तब मुचुकुन्द ने मेघ की समान श्यामवर्ण, पीला रेशमी पी[illegible]नेमिनामक वक्षःस्थल पर दक्षिणावर्त्त रोमरेखा में सुवर्ण की रेखा की समान चिन्ह आदि दैत्य भी मारे कौस्तुभमणि से विराजमान ॥२५॥ चतुर्भुज, अनेकों वर्ष [illegible] भस्म करडाला है ॥४३॥ से शोभायमान; जिन का मुख सुन्दर और प्रसन्न, मैं आया हूँ, पहिले बहुत वार तूने मुझ

यं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ॥ अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥
॥ २७ ॥ पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ॥ शङ्कितः शनकै राजा
दुर्धर्षमिव तेजसा ॥ २८ ॥ मुचुकुन्द उवाच ॥ को भवानिह संप्राप्तो विपिने
गिरिगह्वरे ॥ पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥ २९ ॥ किंस्वित्ते-
जस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ॥ सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालो-
परोपि वा ॥ ३० ॥ मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ॥ यद्बाधसे
गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥ ३१ ॥ शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुंगव ॥
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥ ३२ ॥ वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐ-
क्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ॥ मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥ ३३ ॥
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयापहतेन्द्रियः ॥ शयेऽस्मिन्विजने कामं केनाप्युत्थापि-
तोऽधुना ॥ ३४ ॥ सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ॥ अनन्तरं

झलकरहे हैं ॥ २६ ॥ जो मनुष्यलोक के देखने योग्य हैं, जिन का मन्दहास्य और चित-
वन प्रेमयुक्त है, जिन की अवस्था तरुण और अतिमनोहर है, जो मत्त गजराज की समान
गति से और उदार पराक्रम से युक्त हैं और जो अपने तेज के कारण दूसरे से तिरस्कार
पाने को अशक्य हैं ऐसे उन श्रीकृष्णजी को देखकर, 'यह अतितेजस्वी कौन है?' ऐसी
शंका से युक्त और उन के तेज से चौंधाएहुए से वह महाबुद्धिमान् राजा मुचुकुन्द, धीरे२
बूझनेलगे॥२७॥२८॥ मुचुकुन्द ने कहा कि—यहां आयेहुए तुम कौन हो? इस वन में तिसपर
भी पर्वत के प्रवेश करने को अशक्य स्थान में तिस में भी अनेकों काँटों से भरेहुए प्रदेश में,
कमल के पत्र की समान कोमल चरणों से तुम कौन विचररहे हो? ॥२९॥ तुम तेजस्वी पुरुषों
के मूर्त्तिमान तेज ही हो क्या? अथवा भगवान् अग्नि हो? वा सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र किंवा कोई
दूसरे लोकपाल हो? ॥ ३० ॥ जो तुम, अपनी कान्ति से 'जैसे दिन अन्धकार का नाश
करता है तैसे' पर्वत की गुहा में के अन्धकार का नाश कररहे हो तिस से इन्द्रादि देवताओं
में भी श्रेष्ठ जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवता तिन तीनो में भी पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् तुम
हो, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ३१ ॥ हे पुरुषोत्तम! सुनने की इच्छा करनेवाले हमें निष्क-
मानेसे अपना जन्म, कर्म और गोत्र यदि कहने योग्य हो तो कहिये? ॥ ३२ ॥ हे
बहुत कहम तो इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हुए क्षत्रिय हैं; तिन में भी हे प्रभो! मैं मुचुकुन्द
वाले सेनापी यौवनाश्व का पुत्र हूँ ॥ ३३ ॥ सो मैं, देवताओं की प्रार्थना से उन की रक्षा
हमारी रक्षारूप क्षपर्यंत होनेवाले जागरण से श्रम को प्राप्तहुआ और मेरी इन्द्रियें निद्रा
शत्रुसहित राज्य को छोड़ एकान्त स्थान में अपनी इच्छानुसार सोरहा था; अब किसी
छूटगये हैं ॥ १७ ॥ तुम्हारे पुत्र, सज्जे उठाया वह भी अपने ही पाप से भस्मरूप हो-

भर्त्रीन् श्रीमाँल्लक्षितोऽमित्रशातनः ॥ ३५ ॥ तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं
न शक्नुमः ॥ हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥ ३६ ॥ एवं सं-
भाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः ॥ प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगभीरया
॥ ३७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ॥
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयाऽपि हि ॥ ३८ ॥ क्वचिद्रजांसि विममे
पार्थिवान्युरुजन्मभिः । गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥ ३९ ॥
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ॥ अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति पर-
मर्षयः ॥ ४० ॥ तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम ॥ विज्ञापितो विरिञ्चेन
पुराऽहं धर्मगुप्तये ॥ भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥ ४१ ॥ अ-
वतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ॥ वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्
॥ ४२ ॥ कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ॥ अयं च यवनो दग्धो
राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥ ४३ ॥ सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः ॥

गया है; तदनन्तर शत्रु का नाश करनेवाले और श्रीमान् तुम मेरी दृष्टि पड़े हो ॥ ३५ ॥ हे महाभाग ! हम तो सहन न होनेवाले तुम्हारे तेज से, चकित होकर बहुत समयपर्यन्त तुम्हारी ओर को देखनेको भी समर्थ नहीं होते हैं तथापि मेरीसमान देहधारियोंके तुम सेवन करनेयोग्य हो ॥ ३६ ॥ इसप्रकार उस राजा मुचुकुन्द के सत्कारपूर्वक प्रश्न करने पर, वह भक्तपालक भगवान् हँसकर, मेघ की गर्जना की समान गम्भीरवाणी करके उस राजा से कहनेलगे ॥ ३७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे राजन् ! मेरे जन्म, कर्म और नाम सहस्रों हैं सो वह अनन्त होने के कारण मुझ से भी नहीं गिनेजासके ॥ ३८ ॥ कदाचित् कोई सूक्ष्मदर्शी पुरुष बहुत से जन्मों में पृथ्वी के रजों के कणोंकी भी गणना करलेय परन्तु वह भी मेरे गुणकर्म नाम और जन्मों की गणना कभी भी नहीं करसकेगा ॥ ३९ ॥ बड़े २ ऋषि भी भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल के मेरे जन्मों का और कर्मों का क्रमसे वर्णन करतेहुए अभीतक वह अन्त को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ तथापि हेराजन् ! इससमय के अपने जन्म आदि तुझ से कहता हूँ उन को तू मुझ से सुन; धर्म की रक्षा करने के निमित्त और पृथ्वी के भाररूपहुये असुरों का नाश करने के निमित्त ब्रह्माजी ने पहिले मेरी प्रार्थना करी थी इसकारण मैं यदुकुल में वसुदेवजी के घर अवतीर्ण हुआ हूँ, मैं वसुदेव का पुत्र हूँ इस से मुझे 'वासुदेव' कहते हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ कंसरूप से उत्पन्न हुआ कालनेमिनामक असुर मैंने मारा है तथा धार्मिक पुरुषों से द्वेष करनेवाले प्रलम्ब बकासुर आदि दैत्य भी मारे हैं; हेराजन् ! यह कालयवन तेरी तीक्ष्णदृष्टि के निमित्त से मैंने ही भस्म करडाला है ॥ ४३ ॥ सोमैं, तेरे ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त इस गुहा में आया हूँ, पहिले बहुत वार तूने मुझ

प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥ ४४ ॥ वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ॥ मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥ ४५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ॥ ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४६॥ मुचुकुंद उवाच ॥ विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ॥ सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित्पुरुषश्च वंचितः ॥ ४७ ॥ लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथंचिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ॥ पादारविंदं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥ ४८ ॥ ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ॥ मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य

भक्तवत्सल की आराधना करी थी इसकारण हे राजर्षे! तू मुझ से इच्छित वर माँगले; मैं तुझे सब विषय देता हूँ, क्योंकि मेरी शरण आयाहुआ कोई भी जन, फिर शोक करने के योग्य नहीं होता है अर्थात् औरों के दियेहुए वरदानों के नष्ट होनेपर जैसे शोक करता है तैसे मेरी शरण आयाहुआ पुरुष शोक नहीं करता है. क्योंकि—मेरे दियेहुए वरदान अक्षय होते हैं॥४४॥४५॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—इसप्रकार श्रीभगवान् के कहने पर; उस कहने से ही 'अट्ठाईसवें युग में भगवान् वसुदेव के घर अवतार धारण करेंगे' ऐसे वृद्धगर्ग के कहने का जिस को स्मरण आया है ऐसा वह मुचुकुन्द, उन श्रीकृष्ण को, यह नारायणदेव हैं ऐसा जानकर; हर्ष से भरगया और उन को नमस्कार करके कहनेलगा ॥ ४६ ॥ मुचुकुन्द ने कहा कि—हे ईश्वर! स्त्री और पुरुष इनदोनों प्रकार का ही यह जन, तुम्हारी माया से मोहित होरहा है इसकारण यह संसार में सत्यता की दृष्टि रखकर, परमार्थस्वरूप तुम्हारी सेवा नहीं करता है; किन्तु परस्पर धोखा खाकर सुख की इच्छा से दुःखों को ही उत्पन्न करनेवाले घरों में आसक्त होता है॥ ४७॥ विषयसुख तो सूकरादि योनियों में भी मिलसक्ता है, भगवान् की सेवा मनुष्यजन्म के सिवाय नहीं होसक्ती इसकारण मनुष्यजन्म प्राप्त होने पर जो तुम्हारी भक्ति नहीं करता है वह अतिमूढ है ऐसा वर्णन करते हैं—हे पवित्र! तुम्हारे अनुग्रह से अनायास में सकल अङ्गयुक्त और इस भरतखण्डरूप कर्मभूमि में दुर्लभ इस मनुष्यशरीर के प्राप्त होने पर जो पुरुष, तुम्हारे चरणारविन्द का भजन नहीं करता है वह विषयसुखों में आसक्तचित्त होकर, जैसे पशु तृण के लोभ से अन्धेरिये कुए में जापड़ता है तैसे ही घररूप अन्धेरिये कुए में पड़ता है॥ ४८ ॥ यह केवल लोकों की गति है ऐसा ही नहीं किन्तु मेरी भी तैसी ही गति है ऐसा वर्णन करते हैं हे अजित! मरणधर्मयुक्त देह में आत्मबुद्धि रखनेवाला, भूपति, राजसम्पदा से मदान्ध और पुत्र, स्त्री, भण्डार घर तथा भूमि के विषैं अपार चिन्ता से आसक्त हुए मेरा यह (आजपर्यन्त का) समय

दुरंतचिंतया ॥ ४९ ॥ कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसंनिभे निरूढमानो नरदेव इ-
त्यहम् ॥ वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥ ५० ॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिंतया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ॥ त्वमप्रमत्तः स-
हसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमंतकः ॥५१॥ पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्च-
रन्मतंगजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ॥ स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभ-
स्मसंज्ञितः ॥५२॥ निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवंदितः ॥
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥ ५३ ॥ करोति
कर्माणि तपःसु निष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत् ॥ पुनश्च भूयेयमहं स्व-

---

निष्फल बीत गया ॥४९॥ अब अपना मदोन्मत्तपना कहते हैं कि—घडे और भीत (दीवार) की समान दीखनेवाले तथा जड इस शरीर में 'मैं राजा हूँ' ऐसा अभिमान रखनेवाला मैं, कालरूप तुम्हारी ओर को कुछ ध्यान न देकर, रथ, हाथी, घोडे और पैदलों की सेना के स्वामियों से युक्त होकर भूमि पर विचरता हुआ, अत्यन्त दुष्टमद से युक्त हुआ हूँ इसकारण मेरा समय निष्फल गया ॥ ५० ॥ यह २ कार्य ऐसे २ करना चाहिये, इसप्रकार की चिन्ता से अत्यन्त मत्तहुआ, विषयों में 'अमुक पदार्थ न जाने कब मिलेगा ऐसी' आशा रखनेवाला और कदाचित् वह विषय प्राप्तहुआ तो उस में अति तृष्णायुक्त हुए प्राणी को, सावधान रहनेवाले कालरूप तुम, जैसे अपने भट्ट में अन्न इकट्ठा करनेवाले मूषक को क्षुधा से, जावडों को चाटनेवाला सर्प, अकस्मात् निगलजाता है तैसे ही एकाएकी आक्रमण करते हो ॥ ५१ ॥ और कालरूप तुम्हारा जकड़ाहुआ शरीर, ऐसा होता है कि—पहिले जीवित अवस्था में सुवर्ण के भूषणों से भूषित रथों में अथवा मदोन्मत्त हाथियों के ऊपर बैठकर फिरतेहुए जिस शरीर को 'राजा' यह नाम प्राप्त था वही शरीर, अटल कालरूप तुम्हारे आक्रमण करनेपर श्वान काक आदि ने भक्षण करलिया तो विष्ठा, उन्होंने भक्षण न करा तो कीड़े और जलादिया गया तो भस्म इन नामों को पाता है ॥५२॥ और मरण से पहिले ही दिङ्मण्डल को जीतकर जिस का किसी के साथ भी युद्ध नहीं है ऐसा और सिंहासन पै बैठने पर जिस के समता वाले पहिले राजे वन्दना करते हैं ऐसा भी वह पुरुष, हे ईश्वर ! मैथुन ही जिस में सुख है ऐसी स्त्रियों के मन्दिरों में स्त्रियों से वानर की समान जिधर तिधर को नचायाजाता है ॥ ५३ ॥ और उस राज्य पर स्थित होने के समय भी उन राजादिशरीर को धारण करनेवाला वह पुरुष, फिर भी जन्मान्तर में मैं इन्द्र होऊँ अथवा ऐसा ही चक्रवर्त्ती राजा होऊँ ऐसी भोग की प्रबल इच्छा धारण करके, उन इन्द्रपद आदि को प्राप्त करने के निमित्त विषयभोग छोड़देता है और भूमि में सोना ब्रह्मचर्य व्रत धारना आदि तप के साधनों में स्थित होकर, चक्रवर्त्तीपद आदि के साधनरूप

राडिति अवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥ ५४ ॥ भवापवर्गो भ्रमतो यदा
भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ॥ सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे
त्वयि जायते मतिः ॥ ५५ ॥ मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धाप-
गमो यदृच्छया ॥ यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमि-
पैः ॥ ५६ ॥ न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ॥
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥ ५७ ॥
तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्वगुणानुबन्धनाः ॥ निरञ्जनं निर्गु-
णमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥ ५८ ॥ चिरमिह वृजिनार्त-
स्तप्यमानोऽनुतापैरवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ॥ शरणद समुपेत-

कर्मों को करता है, इसप्रकार सुख भोगने को समर्थ नहीं होता है ॥५४॥ इसप्रकार आठ श्लोकों में भगवान् से विमुख रहनेवाले पुरुषों के संसार को स्पष्टरूप से कहकर अब भक्ति करके उस संसार के दूर होने का क्रम कहते हैं कि—हे अच्युत! संसार पानेवाले जन के बन्धन का जब तुम्हारे अनुग्रह से नाश होनेका समय आता है, तब ही उस को तुम्हारे भक्तों का समागम होता है और जब साधुसमागम होता है तब ही उन के उपदेश आदि से साधुओं को प्राप्त होनेयोग्य और कार्यकारणों के नियन्ता तुम्हारे विषैं उस की प्रेमरूप भक्ति उत्पन्न होती है और फिर वह मुक्त होजाता है ॥ ५५ ॥ हे ईश्वर! मुझे तो साधुसमागम के पहिले अनायास में ही जो राज्य आदि सम्बन्ध का विछोह हुआ सो तुमने मेरे ऊपर बड़ा ही अनुग्रह करा है, ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि जिस राज्य के सम्बन्ध से विलग होने के निमित्त, इकले ही विचरतेहुए तप करने के निमित्त वन में जाने की इच्छा करने-वाले और विचारवान् चक्रवर्त्ती राजे भी तुम से प्रार्थना करते हैं ॥ ५६ ॥ इसप्रकार विषयसेवन का और भगवत्सेवा का मार्ग कहकर अब, यह जो कहा था कि—वर मांगले तिस का उत्तर राजा कहता है कि—हे विभो! हे हरे! अभिमान से छूटेहुए भी पुरुषों के प्रार्थना करनेयोग्य, तुम्हारी चरणसेवा से दूसरे वर की मैं इच्छा नहीं करता हूँ, क्योंकि-मोक्ष देनेवाले तुम्हें प्रसन्न करके, भला कौनसा विवेकी पुरुष, तुम से अपने को बन्धन में डालनेवाले विषयभोग को मांगेगा? ॥ ५७ ॥ तिस से हे ईश्वर! रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण से प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य आदि, शत्रुमारण आदि और धर्म आदि सकल विषयों का त्याग कर के, ज्ञानस्वरूप, निर्गुण, निरंजन और अद्वय तुम परम ईश्वर की मैं शरण आया हूँ ॥ ५८ ॥ अरे! पहिले विषयों को भोग, मोक्ष तो हाथ में ही है, इस प्रकार फिर वरदान का लोभ देनेवाले श्रीकृष्णजी का चरण पकड़कर राजा प्रार्थना करता है कि-हे शरण देनेवाले परमात्मन् ईश्वर! इस संसार में कर्मफलरूप पापों से पीडित,

त्स्त्वत्पदाब्जं परात्मन्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥ ५९ ॥ श्रीभगवा-
नुवाच ॥ सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता ॥ वरैः प्रलोभितस्यापि
न कामैर्विहता यतः ॥ ६० ॥ प्रलोभितो वरैर्यस्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ॥
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥ ६१ ॥ युञ्जानानामभक्तानां
प्राणायामादिभिर्मनः ॥ अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥ ६२ ॥
विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ॥ अस्त्वेवं नित्यदा तुभ्यं भक्ति-
र्मय्यनपायिनी ॥ ६३ ॥ क्षात्रधर्मे स्थितो जन्तून्न्यवधीर्मृगयादिभिः ॥ समाहित-
स्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥ ६४ ॥ जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ॥
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥ ६५ ॥ इतिश्रीभागवते म० द०
उ० मुचुकुन्दस्तुतिर्नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥

उन पापों की वासनारूप तापों से तपाहुआ और जिस के इंद्रियरूप छः शत्रु निराश नहीं हुए हैं ऐसा मैं किसीप्रकार दैवयोग से, सत्य–अभय और शोकरहित तुम्हारे चरणकमल की शरण आया हूँ इसकारण तिस आपत्तियों से घिरे हुए मेरी तुम संसारदुःख से रक्षा करो ॥ ५९ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे सार्वभौम ! हे महाराज ! मेरे वरदानों से लोभयुक्त करने पर भी जो तेरी बुद्धि, विषयों से नहीं खिची तिस से तेरी बुद्धि राग लोभ आदि मलरहित होकर परमार्थ का दर्शन करने के विषय में योग्य होगई है॥६०॥ मैंने जो तुझे वरदानों का लोभ दिया सो–' लोक में भक्तों की बुद्धि विषयों में आसक्त नहीं होती है ' यह दिखाने के निमित्त ही ऐसा किया था, ऐसा जान; क्योंकि–मेरे में अनन्यभक्ति करनेवाले पुरुषों की बुद्धि, विषयभोग प्राप्त होने पर भी, मुझे छोड़कर उन विषयों में आसक्त नहीं होती है ॥ ६१ ॥ और हे राजन् ! प्राणायाम आदि से रोकने का यत्न करनेवाले भी अभक्तों का मन, वासनाओं के नाश को प्राप्तहुआ न होने के कारण फिर उठकर विषयों की ओर को झुकताहुआ देखने में आता है ॥ ६२ ॥ तेरी तो मुझ में सदा अनन्यभक्ति है इसकारण तू अपना चित्त मेरे विषैं स्थापन करके अपनी इच्छानुसार पृथ्वी पर विचर ॥ ६३ ॥ तू राज्य पर था उस समय तू ने,लोकों की रक्षा के उपयोगी न होनेवाले मृगया (शिकार) आदि से प्राणियों का वध करा है इसकारण अब तपस्या के द्वारा, जितेन्द्रिय और मेरा ही आश्रय करनेवाला होकर तिस पाप का नाश कर ॥ ६४ ॥ हे राजन् ! तू, अब ऐसा करेगा तो अगले जन्म में सकल प्राणियों का परममित्र श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर परमानन्दरूप मुझ को प्राप्त होजायगा ॥ ६५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकपंचाश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे बावनवें अध्याय में मानो जरासन्ध के भय से ही भागनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः ॥ तं परिक्रम्य संनम्य निश्चक्राम गुहामुखात्॥१॥स वीक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्वनस्पतीन् ॥ मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥ तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः॥ समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ॥ ३ ॥ बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ॥ सर्वद्वन्द्वसहः शांतस्तपसाराधयद्धरिम् ॥ ४ ॥ भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टितां ॥ हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥ नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ॥ आजगाम जरासंधस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥ विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ॥ मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दुद्रुवतुर्द्रुतम् ॥ ७ ॥ विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ॥ पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेलतुर्बहुयोजनम् ॥ ८ ॥ पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्र-

ने, द्वारका में आकर फिर सुदेव ब्राह्मण के वर्णन करेहुए रुक्मिणी के सन्देशे को स्वीकार करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इसप्रकार इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हुए उस मुचुकुन्द राजा के ऊपर श्रीकृष्णजी ने अनुग्रह करा तव वह राजा,श्रीकृष्णजी को प्रदक्षिणा और नमस्कार करके गुहा के द्वारमें से बाहर निकला॥१॥ फिर वह छोटे २ उत्पन्न हुए मनुष्य, पशु, लता और वृक्षों को देख कलियुग को आया जानकर तप करने के निमित्त उत्तर दिशा की ओर को चलागया ॥ २ ॥ तप करने में श्रद्धावान्, धैर्यवान्, किसी में भी आसक्ति न रखनेवाला और संशयरहित वह राजा, श्रीकृष्णजी के विषें अपने मन को स्थिर करके गन्धमादन पर्वत पर को चलागया ॥ ३ ॥ तहां भी वह बदरिकाश्रम में नरनारायण के स्थान को पहुँचकर, सुख दुःख, सरदी-गरमी आदि सकल द्वन्द्वों को सहकर और काम-क्रोध आदि से रहित होकर तप करके श्रीहरि की आराधना करनेलगा ॥ ४ ॥ इधर भगवान् श्रीकृष्णजी, यवनों की घेरीहुई मथुरा नगरी में फिर आकर, म्लेच्छो की सकल सेना को मारकर, उन का भूषण आदि धन द्वारका पुरी को लेजाने के निमित्त उद्यत हुए॥५॥ सो श्रीकृष्णजी के आज्ञा करेहुए मनुष्य और उन मनुष्यों ने जिनकी पीठपर गोंदें लादी हैं ऐसे बैल, धन को लेजानेलगे तब ही, तेईस अक्षौहिणी सेना का स्वामी जरासन्ध, आगया । ६ ॥ उससमय हे राजन्! शत्रुकी सेना का अत्यन्त वेग देखकर, मनुष्यलीला करनेवाले वह बलराम-कृष्ण,अति शीघ्रता से भागनेलगे ॥७॥ और लियेजातेहुए यवन सेना के बहुत से धन को भी तहां ही छोड़कर, वह वास्तव में निर्भय थे तथापि डरपोकों से भी अधिक भय मानकर कमलपत्र की समान अपने चरणों से बहुत योजन पर्यन्त भागते चलेगये ॥ ८ ॥ ईश्वर के प्रमाण (अमर्याद प्रभाव) को न जाननेवाला जरासन्ध भी, उन

हसन्बली ॥ अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥ ९ ॥ प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ॥ प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ॥ १० ॥ गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ॥ ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥ तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ॥ दशैकयोजनात्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि ॥१२॥ अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ॥ स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥ ॥१३॥ सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ॥ बलमाकृष्य सुमहन्मगधान्मागधो ययौ ॥ १४ ॥ आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम् ॥ ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलायेति पुरोदितम् ॥ १५ ॥ भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह ॥ वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥ १६ ॥ प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् ॥ पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥ १७ ॥ राजोवाच ॥ भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिरान-

---

को भागतेहुए देखकर, हास्य करता उन को पकडने के निमित्त रथों की सेनासहित उन के पीछे भागनेलगा ॥ ९ ॥ वह बलरामकृष्ण, दूरपर्यन्त भागकर थकगये और ग्यारह योजन ऊँचे एक प्रवर्षण नामक पर्वत पर चढ़गये, जिस पर्वत पर भगवान् इन्द्र बारहों महीने वर्षा करते हैं ॥ १० ॥ हेराजन्! तब जरासन्ध ने, वह पर्वत पर दुबकरहे ऐसा जानकर उनको ढूँढतेहुए भी उन के दुबकने का स्थान न मिलने के कारण उन को जलाने के निमित्त पर्वत को चारोंओर काठों से घेरदिया और अग्नि लगाकर पर्वत को भस्म करदिया ॥ ११ ॥ उस समय जिसका तट जलने लगा है ऐसे ग्यारह योजन ऊँचे उस पर्वतपर से, बलराम—कृष्ण, वेग के साथ कूदकर, जरासन्ध के घेरेहुए स्थान के परलीओर भूमिपर नीचे उतरे ॥ १२ ॥ हेराजन्! तब सेनासहित शत्रु जरासन्ध के न देखेहुए वह बलराम—कृष्ण, समुद्र ही जिस की खाई है ऐसी अपनी द्वारका नगरी में फिर आगये ॥ १३ ॥ वह जरासन्ध भी व्यर्थ ही 'बलराम—कृष्ण भस्म होगये, ऐसा मानता हुआ, अपनी बडी भारी सेना को लेकर मगधदेशों को लौटगया ॥ १४ ॥ अब श्रीकृष्णजी का विवाह वर्णनकरने के निमित्त नवमस्कन्ध में कहेहुए बलदेवजी के विवाह का स्मरण कराते हैं—आनर्तदेशों के स्वामी श्रीमान् राजा रैवत ने, ब्रह्माजी की आज्ञा से अपनी रेवती नामवाली कन्या बलदेवजी को अर्पण करी, ऐसा पहिले नवम स्कन्ध में तुम से कहा है ॥ १५ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ! भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी सब लोगों के देखतेहुए, शिशुपाल का पक्षपात करके आयेहुए शाल्व आदि राजाओं का तिरस्कार करके, विदर्भदेश में उत्पन्न हुई लक्ष्मी की कला जो भीष्मक राजा की रुक्मिणी नामवाली कन्या उसको, जैसे गरुड़जी ने देवताओं का तिरस्कार करके अमृत का हरण करा था तैसे हरण करलिया ॥ १६ ॥ १७ ॥ राजा ने कहा कि—हे भगवन्! राजा भीष्मक की रुक्मिणी नामवाली सुमुखी कन्या को, श्रीकृष्ण

नाम्नः ॥ राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥ १८ ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामः
कृष्णस्यामिततेजसः ॥ यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥ १९ ॥
ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ॥ को नु तृप्येत शृण्वानः
श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधि-
पतिर्महान् ॥ तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥ २१ ॥ रुक्म्यग्रजो रुक्म-
रथो रुक्मबाहुरनन्तरः ॥ रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती ॥ २२ ॥
सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ॥ गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं
पतिं ॥ २३ ॥ तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् ॥ कृष्णश्च सदृशीं
भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥ २४ ॥ बंधूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ॥
ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत ॥ २५ ॥ तदवेत्यासितापांगी वै-
दर्भी दुर्मना भृशम् ॥ विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् २६ ॥

भगवान् ने युद्ध में हरण करने की राक्षसविधि से वरा ऐसा मैंने सुना है ॥ १८ ॥ सो हे सर्वज्ञ ! जैसे श्रीकृष्णजी ने जरासन्ध शाल्व आदिकों को जीतकर रुक्मिणी का हरण करा हो वह महापराक्रमी श्रीकृष्णजी का चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ इसकारण वह मुझ से कहिये ॥ १९ ॥ हे ब्रह्मन् ! सुनने और पढ़नेवालों को पवित्र करनेवाली, कानों को मधुर लगनेवाली, लोकों के पापों को दूर करनेवाली और क्षण २ में आश्चर्य की समान प्रतीत होकर नई २ सी प्रतीत होनेवाली तिन श्रीकृष्णजी की कथाओं को सुनने के सार को जाननेवाला भला कौनसा श्रोता तृप्त होगा? ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! विदर्भदेशों का स्वामी, गुणों से बड़ा एक भीष्मक नामवाला राजा था, उस के पाँच पुत्र और सर्वाङ्गसुन्दरी एक कन्या थी ॥ २१ ॥ उन के नाम-सब में बडा तो रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश, रुक्ममाली और इन की बहिन श्रेष्ठगुणवती रुक्मिणी, यह थे ॥ २२ ॥ उस रुक्मिणी ने, अपने घर आयेहुए लोकों के वर्णन करेहुए श्रीकृष्णजी के सुन्दरता, पराक्रम, गम्भीरता, उदारता आदि गुण और सम्पत्ति को सुनकर, उन श्रीकृष्णजीको ही अपनेयोग्य पति माना ॥ २३ ॥ इधर द्वारका में श्रीकृष्णजी ने भी; अपने घर आयेहुए लोकों के मुख से, उस रुक्मिणी को बुद्धि, लक्षण, उदारता, स्वरूप और सुशीलता का आश्रय सुनकर और यही अपनेयोग्य स्त्री है ऐसा मानकर उस को वरने का मन में विचार करा ॥ २४ ॥ ऐसा होनेपर और दूसरे भ्राताओं के तिस रुक्मिणी को श्रीकृष्णजीके अर्थ देने की इच्छा करनेपर भी हे राजन् ! उन को निवारण (मना) करके रुक्मी ने, उस को, शिशुपाल के अर्थ देने का निश्चय करा ॥ २५ ॥ यह भ्राता का निश्चय जानकर, जिस के श्यामवर्ण नेत्रों के कोये हैं ऐसी तिस रुक्मिणी ने, चित्त में अत्यन्त दुःखित होकर श्रीकृष्णजी को पाने के उपाय का विचार करा और तहाँ आयेहुए किसी एक सुशील ब्राह्मण

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं कांच-
नासने ॥ २७ ॥ दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ॥ उपवेश्याहयांचक्रे
यथात्मानं दिवौकसः ॥ २८ ॥ तं भुक्तवंतं विश्रांतमुपगम्य सतां गतिः ॥
पाणिनाऽभिमृशन्पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥ २९ ॥ कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते
वृद्धसंमतः ॥ वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥ ३० ॥ संतुष्टो यर्हि
वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ॥ अहीयमानः स्वाद्धर्मात्स ह्यस्याखिलकामधु-
क् ॥ ३१ ॥ असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ॥ अकिंचनोऽ-
पि संतुष्टः शेते सर्वांगविज्वरः ॥ ३२ ॥ विप्रान्स्वलाभसंतुष्टान्साधून्
भूतसुहृत्तमान् ॥ निरहंकारिणः शांतान्नमस्ये शिरसा ऽसकृत् ॥ ३३ ॥

को पत्र देकर, उस को शीघ्रता से श्रीकृष्णजी को लिवालाने के निमित्त भेजा ॥ २६ ॥ तदनन्तर, उस ब्राह्मण ने द्वारका में पहुँचकर तहाँ द्वारपालों के भीतर भवन में प्रवेश कराने पर, सुवर्ण के सिंहासनपर वैठेहुए जगत् के कारण पुराणपुरुष श्रीकृष्णजी को देखा॥ २७॥ इधर ब्राह्मणों के हितकारी श्रीकृष्णदेव ने, उस ब्राह्मण को देखते ही अपने आसन पर से नीचे उतरकर, उस ब्राह्मण को तिस आसन पर वैठाया और जैसे देवता अपनी (श्रीकृष्ण जी की) पूजा करते हैं तैसे पूजा करी ॥२८॥ उस के मार्ग में के परिश्रम को दूर करने के निमित्त थोड़ीदेर विश्राम लेकर भोजन करनेके अनन्तर एकान्त स्थान में सुख पूर्वक आसन पर वैठेहुए उस ब्राह्मण के पास भक्तपालक श्रीकृष्णजी ने जाकर अपने हाथ से उस के चरण को धीरे २ दवातेहुए स्वस्थता के साथ बूझा कि— ॥ २९ ॥ हे द्विजवर श्रेष्ठ ! सन्तुष्टचित्त तुम्हारा वृद्ध पुरुषों का माननीय धर्म, अनायास में निरन्तर चला तो जाता है ? वह मुझे परम प्रिय है॥ ३०॥ जव विना यत्न के ही प्राप्तहुए देह धारण की पूर्त्ति के योग्य धान्य आदि से सन्तुष्ट रहनेवाला ब्राह्मण, अपने वर्णाश्रमधर्म से भ्रष्ट न होकर उत्तम रीति से वर्त्ताव करनेलगता है तव ही उस का वह सन्तोष के साथ आचरण कराहुआ धर्म, उस के सकल मनोरथों को पूर्ण करनेवाला होता है ॥ ३१ ॥ इन्द्र होकर भी यदि असन्तोषी होय तो वह इस लोक से तिस लोक में और तिस लोक से अन्य लोक में सुख की प्राप्ति के निमित्त फिरताहुआ एक स्थान में स्वस्थता के साथ नहीं रहता है और यदि सन्तुष्ट होय तो वह, भोजन वस्त्र आदि की पूर्त्ति के योग्य धन आदि से रहित होय तो भी वाणी हाथ आदि अंगों में तापरहित होताहुआ सुख से रहता है ॥ ३२ ॥ इसकारण दैववश पायेहुए अन्न-वस्त्रादि से सन्तुष्ट, साधु (आचारवान्), प्राणीमात्र के मित्र, निरभिमानी और शान्त ब्राह्मणों को मैं वारम्वार अपना मस्तक नमा-

कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः ॥ सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥ ३४ ॥ यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया ॥ सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥ ३५ ॥ एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ॥ लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥ ३६ ॥ रुक्मिण्युवाच ॥ श्रुत्वा गुणान् भुवनसुंदर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ॥ रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥ ३७ ॥ का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्याववयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यं ॥ धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृ-

कर नमस्कार करता हूँ ॥ ३३ ॥ इस से हे ब्राह्मण! तुम्हारी राजा से तो कुशल है? जिस राजा के देश में रक्षा करीहुई प्रजा सुख से रहती हैं वह राजा मुझे प्रिय होता है ॥ ३४ ॥ इसकारण जिस स्थान से जिस कार्य की इच्छा कर के, दुर्गम समुद्र को तरकर इस द्वारका नगरी में तुम आये हो, वह गुप्त न होय तो हम से सब कहो और हम तुम्हारा कौनसा कार्य करें सो कहो ॥ ३५ ॥ इसप्रकार लीला करने के निमित्त मनुष्यावतार धारण करनेवाले तिन परमेश्वर श्रीकृष्णजी ने, जिस से बूझनेयोग्य प्रयोजन बूझा है ऐसे तिस ब्राह्मण ने, तिन श्रीकृष्णजी से, बन्धुओं के मन में रुक्मिणी तुम्हें देने की है और बड़े भ्राता रुक्मीने शिशुपाल को देने का निश्चय करा है इत्यादि सब वर्णन करा ॥ ३६ ॥ (रुक्मिण्या स्वयमेकान्ते लिखित्वा दत्तपत्रिकाम् ॥ मुद्रामुन्मुच्य कृष्णाय प्रेमचिन्हाम-दर्शयत् ॥ अर्थात्—रुक्मिणी की अपनेआप एकान्त में लिखकर दीहुई पत्रिका, उस ब्राह्मण ने उत्तम वस्त्र की थैली में से बाहर निकाली और रुक्मिणी ने जिस के ऊपर प्रेम की मुद्रा (मोहर) लगाई है ऐसी वह पत्रिका श्रीकृष्णजी को दिखाई फिर वह ब्राह्मण ही श्रीकृष्णजी की आज्ञा से पत्रिका को वांचता है) रुक्मिणी कहती है कि—हे त्रिभुवन में सुन्दर अच्युत! सुननेवाले पुरुषों के कानों के छिद्रों में को होकर हृदयके भीतर प्रवेश करके आध्यात्मिक आदि तापों को दूर करनेवाले तुम्हारे गुणों को सुनकर तथा नेत्र वाले पुरुषों के नेत्रों को देखने योग्य सकल विषयों का लाभ करा देनेवाले तुम्हारे स्वरूप को सुनकर निर्लज्ज हुआ मेरा चित्त तुम्हारे विषैं आसक्त हुआ है ॥ ३७ ॥ यदि कहो कि—तुझ कुलीन कन्या को ऐसा उद्धतपना योग्य नहीं है तो सुनो—यह सन्देह मन में न लाओ क्योंकि—हे मुक्तिदातः! मनुष्यश्रेष्ठ! कुलीन, गुणों कर के उदार धीरजवती कौनसी कन्या, सत्कुल में जन्म, सुंदरस्वभाव, सुंदररूप, चौदह विद्या और चौंसठकला, तरुणाई, धन का सञ्चय और तेज कर के अनूपम तथा मनुष्यलोक के मन को आनन्द देने वाले तुम्हें, विवाह के योग्य समय में पतिरूप से न वरेगी?

सिंहि नरलोकमनोभिरामं ॥ ३८ ॥ तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ॥ मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आ-
राद्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥ ३९ ॥ पूर्त्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्च-
नादिभिरलं भगवान्परेशः ॥ आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे
न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥ ४० ॥ श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ॥ निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य मां रा-
क्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्कां ॥ ४१ ॥ अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूंस्त्वा-
मुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ॥ पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां
बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥ ४२ ॥ यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्यु-

---

अर्थात् सब ही वरेंगी ॥ ३८ ॥ इसकारण हे विभो ! मैंने तुम्हें पति वर लिया है और अपना आत्मा भी तुम्हें अर्पण करदिया है इसकारण तुम यहां आकर मुझे अपनी भार्या करके लेजाओ, हे कमलनयन ! जैसे सिंह के भाग को शृगाल (गीदड़) स्पर्श नहीं करता है तैसे ही तुम वीर का भाग जो मैं तिस को शिशुपाल शीघ्र आकर स्पर्श न करे !, तुम नहीं आये अथवा विलम्ब लगा तो–तैसा होना सम्भव है ॥ ३९ ॥ मैंने, जन्मान्तर में पूर्त्त (बावड़ी कुआ आदि), इष्ट (अग्निहोत्र आदि), दान (सुवर्णदानआदि) नियम (तीर्थयात्रा आदि) और व्रत (कृच्छ्रचान्द्रायण आदि) इन करके तथा देवता ब्राह्मण, गुरु आदि की पूजा आदि करके, ब्रह्मादिकों के नियन्ता भगवान् की यदि यथा शक्ति आराधना करी हो तो उस से प्रसन्न हुए वह भगवान् श्रीकृष्ण ही आकर मेरा पाणिग्रहण करें, दूसरे शिशुपाल आदि न करें ॥ ४० ॥ यदि कहोकि--तेरे बान्धवों ने तू शिशुपाल को देदी है फिर हम तहाँ आकर क्या करेंगे ? तो सुनो–हे अजित ! दूसरे दिन विवाह होनेपर तुम एकदिन पहिले गुप्तरूप से विदर्भ देशों में आकर फिर सेनापतियों से घिर कर और शिशुपाल जरासन्ध आदि राजाओं की सेनाओं का तिरस्कार करके बलात्कार कर के (जबरदस्ती) राक्षसविधि से, पराक्रम दिखाना ही जिस का मूल्य है ऐसी मुझ को वरकर लेजाओ ॥ ४१ ॥ यदि कहो कि–रणवास में रहनेवाली तुझ को हरने में तेरे बन्धुओं का बध करने का अवसर आजायगा, उन को बिना मारे तुझे कैसे वरूँगा तो सुनो–इस कुल में विवाह से पहिलेदिन कुलदेवी के दर्शन की बड़ी भारी यात्रा है, जिस यात्रा में नवीन वधू नगर के बाहर की गिरिजा देवी का दर्शन करने के निमित्त जाती है, सो अम्बिका के मंदिर में से ही मेरा हरण करना सुलभ है ॥ ४२ ॥ इसप्रकार अपने को स्वीकार करने की भगवान् से प्रार्थना करके, ऐसा नहीं हुआ तो अपना निश्चय कहती है कि–हे कमलनेत्र ! महादेव तथा उन की समान दूसरे ब्रह्मादिक भी अपने

मापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ॥ यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ॥ ४३ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ इत्येते गुह्यसंदेशा यदुदेव मयाहृताः ॥ विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ४४ ॥ इति-श्रीभागवते म० द० उ० रुक्मिण्युद्वाहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ * ॥ श्रीशुक उवाच ॥ वैदर्भ्याः स तु संदेशं निशम्य यदुनन्दनः ॥ प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ॥ वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥ तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे ॥ मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशि-खामिव ॥ ३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ॥ रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥ स चाश्वैः शैव्यसुग्रीवमे-

---

अज्ञान के दूर होने के निमित्त जिस, तुम्हारे चरणरज के कणों से स्नान करने की इच्छा करते हैं ऐसे तुम्हारा, स्वीकारकरना रूप प्रसाद में नहीं पाऊँगी तो, उपवास आदि व्रतों से देह को सुखाकार व्याकुलहुए प्राणों को त्यागदूँगी, ऐसा ही वारम्वार करूँगी तव किसी जन्म में तो तुम्हारा प्रसाद होगा ही ॥ ४३ ॥ ब्राह्मण ने कहा कि—हे यादवों में श्रेष्ठ ! ऐसा यह रुक्मिणी का गुप्त सन्देशा मैं लाया हूँ, इस विषय में अब तुम्हें जो कुछ करना होय उस का विचार करके शीघ्र करो ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में द्विपञ्चाशत् अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे तरेपनवें अध्याय में, अद्भुतलीला धारण करनेवाले श्रीकृष्णजी ने, विदर्भदेश में जाकर, सब शत्रुओं के देखतेहुए, बलात्कार से रुक्मिणी का हरण करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! उन श्रीकृष्णजी ने, रुक्मिणी का सन्देशा सुनकर, अपने हाथ से उस ब्राह्मण का हाथ पकड़कर हँसते २ कहा ॥ १ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जैसे वह विदर्भकुमारी व्याकुलचित्त होरही है तैसे ही मुझे भी व्याकुल होने के कारण रात्रि में निद्रा भी नहीं आती है, क्योंकि—मेरे द्वेष से ही रुक्मी ने मेरे विवाह का निषेध करा है, यह मैं तुम्हारे विना कहे भी जानता हूँ ॥ २ ॥ इसकारण राजाओं में अधम उन शिशुपाल आदिकों का युद्ध में तिरस्कार करके जिस को मैं ही पतिरूप से माननीय हूँ उस सर्वाङ्गसुन्दरी रुक्मिणी को मैं, जैसे वायु जलतेहुए काठ में से अग्नि की ज्वाला को हरण करता है तैसे हरण करूँगा ॥ ३ ॥ ऐसा कहकर फिर उन श्रीकृष्णजी ने रुक्मिणी के विवाह का नक्षत्र परसों के दिन की रात्रि है ऐसा, जानकर, हे दारुक ! शीघ्रही रथ में घोड़े जोड़कर ले आ, ऐसा सारथी से कहा ॥ ४ ॥

घपुष्पवलाहकैः ॥ युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५ ॥ आरुह्य
स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ॥ आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥६॥
राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ॥ शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्य-
न्कर्माण्यकारयत् ॥ ७ पुरं संमृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ॥ चित्रध्वजप-
ताकाभिस्तोरणैः समलंकृतम्॥८॥स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः ॥ जुष्टं
स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः ॥ ९ ॥ पितॄन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिव-
न्नृप ॥ भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥ १० ॥ सुस्नातां सुद-
तीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ॥ अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ ११॥
चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ॥ पुरोहितोऽथर्वविद्वै जुहाव ग्रहशां-
तये ॥ १२ ॥ हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् ॥ प्रादाद्धेनूश्च वि-

वह दारुक भी, शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और वलाहक नामवाले चार घोड़ों से जुताहुआ रथ श्रीकृष्णजी के समीप लाकर हाथ जोड़कर आगे खड़ा होगया ॥ ५ ॥ फिर श्रीकृष्णजी ने, उस ब्राह्मण को रथ पर बैठाकर और आप भी चढ़कर शीघ्र चलनेवाले उन घोड़ों के द्वारा आनर्त्तदेशों से चलकर एक रात्रि में ही विदर्भदेशों में गमन करा ॥ ६ ॥ इधर विदर्भदेशों का स्वामी, पुत्र के स्नेह से उस की इच्छा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाला वह राजा भीष्मक, अपनी कन्या रुक्मिणी शिशुपाल को देने के निमित्त, नगर को सजवाना और देवताओं की पूजा प्रारम्भ कराना आदि कार्यों को करनेलगा ॥ ७ ॥ उस समय, जिस में, झाड़ेहुए और छिड़केहुए मार्ग, गली और चौहाटे हैं ऐसा वह नगर, चित्रविचित्र ध्वजाओं में बाँधीहुई पताकाओं करके और स्थान २ पर बाँधीहुई वन्दनवारों करके उत्तम रीति से सजायागया था ॥ ८ ॥ तथा माला, गन्ध, पुष्प, भूषण और स्वच्छ वस्त्रों से भूषित स्त्रीपुरुषों करके सेवन कराहुआ और अगर से सुगन्धित हुए स्थानों से युक्त था ॥ ९ ॥ हे राजन्! राजा भीष्मक ने, पितर देवता और ब्राह्मणों का विधिपूर्वक पूजन करके तैसे ही ब्राह्मणों को उत्तम प्रकार से भोजन करवाकर उन ब्राह्मणों से कन्या का पुण्याहवाचन करवाया ॥ १० ॥ तैसे ही विवाहसूत्र (कँगना) बाँधकर जिस का मंगल करा है और जिस को उत्तम प्रकार से स्नान करवाया है ऐसी उस सुन्दर दाँतोंवाली कन्या को कोरे वस्त्र उढ़ाकर और दूसरे पहिराकर उत्तम गहनों से भूषित करा ॥ ११ ॥ और उससमय उस को श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने, सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों से अभिमंत्रण कराहुआ भस्म लगाकर उस कन्या की रक्षाविधि करी. अथर्ववेद में के शान्तिकल्प को जाननेवाले पुरोहित ने, प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति के निमित्त अग्नि में ग्रहयाग करा ॥ १२ ॥ उस समय शास्त्र में कही हुई रीतियों को जाननेवालों में श्रेष्ठ तिस राजा भीष्मक ने

प्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः ॥ १३ ॥ एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ॥ कारयामास मंत्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥ १४ ॥ मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यंदनैर्हेममालिभिः ॥ पत्त्यश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुंडिनं ययौ ॥ ॥ १५ ॥ तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ॥ निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने ॥ १६ ॥ तत्र शाल्वो जरासंधो दंतवक्रो विदूरथः ॥ आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौंड्रकाद्याः सहस्रशः ॥ १७ ॥ कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ॥ यद्यागत्य हरेत्कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः ॥ १८ ॥ योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः ॥ आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥ १९ ॥ श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम् ॥ कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशंकितः ॥ २० ॥ बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ॥ त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥ २१ ॥ भीष्मके-

---

ब्राह्मणों को, सुवर्ण, चाँदी, वस्त्र और गुड़ मिलेहुए तिल तथा गौओं का दान दिया ॥१३॥ ऐसे ही चेदिदेशों का स्वामी जो दमघोष नामक राजा तिस ने अपना पुत्र जो शिशुपाल तिस के भी विवाह के विषय में उचित जो कर्म सो सब मंत्र जाननेवाले ब्राह्मणों से करवाये ॥१४॥ तदनन्तर सुवर्ण के फूलों की माला धारण करनेवाले और जिनके मद टपक रहा है ऐसे हाथियों के समूहों से, रथों से, पैदलों से और घुड़सवारों से भरी हुई सेनाओं से घिराहुआ वह शिशुपाल, अपने नगर से कुण्डिनपुर को चलदिया ॥ १५ ॥ फिर उस को अपने नगर के समीप आयाहुआ सुनकर विदर्भ देशों के स्वामी राजा भीष्मक ने, उस शिशुपाल की अगवानी में जाकर और उस की सीमान्त पूजा करके, वरके ठहरने के योग्य जो दूसरा स्थान नियत कररक्खा था उस में ठहरवाया ॥ १६ ॥ उस कुण्डिनपुर में शिशुपाल के पक्षपाती, बलराम-कृष्ण से द्वेष करनेवाले-शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र, विदूरथ और पौंड्रक आदि सहस्रों राजे, 'यदि बलराम आदि यादवों से युक्त श्रीकृष्ण,आकर कन्या का हरण करेगा तो हम सब मिलकर उस के साथ युद्ध करेंगे' ऐसा मन में निश्चय करके सावधानी के साथ अपनी २ सकल सेना और वाहनो से युक्त हो, शिशुपाल को कन्या दिलवाने के निमित्त आये थे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ इधर द्वारका में भगवान् बलरामजी ने, शत्रु का पक्ष करनेवाले राजाओं का यह उद्योग सुनकर, तथा सहायकों के विना इकले ही श्रीकृष्ण को कन्या हरण करने के निमित्त गयाहुआ सुनकर और तहाँ श्रीकृष्ण का और तिन राजाओं का कलह होगा मन में ऐसा सन्देह करके, भ्राता श्रीकृष्णजी के ऊपर जो स्नेह तिस से व्याप्त होतेहुए वह हाथी, घोडे, रथ और पैदलों से युक्त बडीभारी सेना के साथ कुण्डिनपुर को चल दिये ॥ २० ॥ २१ ॥ इधर

न्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ॥ प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा।
॥ २२ ॥ अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः ॥ नागच्छत्य-
रविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ॥ २३ ॥ सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्संदेश-
हरो द्विजः ॥ अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किंचिज्जुगुप्सितम् ॥ मत्पाणिग्र-
हणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥ २४ ॥ दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो
महेश्वरः ॥ देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ॥ २५ ॥ एवं
चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ॥ न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले
॥ २६ ॥ एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ॥ वाम ऊरुर्भुजो नेत्रम-
स्फुरन् प्रियभाषिणः ॥ २७ ॥ अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ॥
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥ २८ ॥ सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रा-

जिस का कटिस्थान सुन्दर है ऐसी रुक्मिणी सूर्योदय से पहिले ही श्रीहरि के आने की इच्छा करती हुई, अभी तक ब्राह्मण का लौटकर आना क्यों नहीं हुआ ऐसा जानकर उस समय मन में चिन्ता करने लगी कि— ॥ २२ ॥ अहो! मुझ मन्दभागिनी का विवाह होने के मध्य में एक ही रात्रि रही है, अब भी भगवान् श्रीकृष्णजी क्यों नहीं आये इस का क्या कारण है? सो मैं नहीं जानती हूँ ॥ २३ ॥ और मेरा सन्देशा लेकर गयाहुआ वह ब्राह्मण भी अभी नहीं आया ; इस से यह अनुमान होता है कि—स्तुतियोग्य स्वरूपवाले उन भगवान् ने, पहिले इधर आने का उद्योग करा था इसकारण उस ब्राह्मण को भी लौटाकर नहीं भेजा. फिर प्रस्थान के समय श्रीकृष्णजी ने मेरा कोई उद्धतपने का दोष मन में विचारकर मेरा पाणिग्रहण करने को आगमन नहीं किया है और ब्राह्मण को लौटा दिया होगा इसकारण उस को भी आने में विलम्ब लगा है ॥२४॥ ऐसी भाग्यहीन मेरे विधाता और महादेव भी अनुकूल (कार्यसाधक) नहीं हैं तथा हिमालय की कन्या पतिव्रता रुद्राणी गौरीदेवी भी मेरे प्रतिकूल हुई है ॥२५॥ वह बाला रुक्मिणी इसप्रकार चिन्ता कररही थी और अब भी श्रीकृष्णजी के आने का समय नहीं हुआ ऐसा मानकर, जिसका चित्त गोविन्द ने हर लिया है ऐसी वो दुःख के आंसुओं से भरेहुए नेत्रोंको मूँदकर बैठगई॥ २६ ॥ हे राजन्! इसप्रकार गोविन्दके आने की वाट देखनेवाली तिस रुक्मिणी को शुभ सूचना देनेवाले बाईं भुजा और बायां नेत्र यह उस के अङ्ग फड़कने लगे ॥२७॥ फिर, श्री कृष्णजी ने,मैं आगया ऐसी रुक्मिणी को सूचना दो,यह कहकर भेजेहुए तिस ही श्रेष्ठ ब्राह्मण ने,रणवास में रहनेवाली तिस रुक्मिणी देवी को देखा॥ २८ ॥ तब वह रुक्मिणी, जिस के शरीर की दशा घबड़ाई हुई न होकर शान्त है ऐसे हर्षयुक्त मुखवाले तिस

तद्गतिं सती ॥ आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥ २९ ॥ तस्या
आवेदयत्प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम् ॥ उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥
॥ ३० ॥ तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा ॥ न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रि-
यमन्यन्ननाम सा ॥ ३१ ॥ प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ ॥ अभ्य-
यात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥ ३२ ॥ मधुपर्कमुपानीय वासांसि वि-
रजांसि च ॥ उपायनान्यभीष्टानि विधिवत्समपूजयत् ॥ ३३ ॥ तयोर्निवे-
शनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ॥ ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥
॥ ३४ ॥ एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः ॥ यथाबलं यथावित्तं सर्वैः
कामैः समर्हयत् ॥ ३५ ॥ कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ॥ आगत्य

ब्राह्मण को देखकर, भगवत्परायण और कार्य सिद्ध करनेवाले दूत के लक्षण जाननेवाली पवित्र हास्ययुक्त वह, 'कार्य करके आये ?' ऐसा कहकर बूझनेलगी ॥ २९ ॥ तब उस रुक्मिणी को तिस ब्राह्मण ने 'श्रीकृष्ण आगये हैं' ऐसी सूचना (खबर) दी और उस के समीप श्रीकृष्णजी की प्रशंसा भी करी, तथा रुक्मिणी को लेजाने के विषय में, 'युद्ध में दुष्ट राजाओं को जीतकर उस को मैं लाता हूँ ऐसा' जो भगवान् ने सत्य कहा था वह भी तिस ब्राह्मण ने सुनाया ॥ ३० ॥ श्रीकृष्णजी आये हैं ऐसा जानकर जिस का मन हर्षयुक्त हुआ है ऐसी तिस रुक्मिणी के, परमानन्दरूप श्रीकृष्णजी को लाकर समर्पण करनेवाले इस ब्राह्मण को क्या भेट दूँ ? ऐसा विचार करते हुए इसकार्य के बदले में नमस्कार के सिवाय यदि सर्वस्व देदूँ तो भी वह पूरा न होकर कम ही है ऐसा देखतीहुई उस ने तिस समय उसे केवल नमस्कार ही करा और फिर बहुतसा द्रव्य भी दिया ॥ ३१ ॥ उससमय, मेरी कन्या का विवाह देखने को उत्कण्ठित हुए बल-राम-कृष्ण आये हैं ऐसा सुनकर राजा भीष्मक, गाजेबाजे और पूजा की सामग्रीसहित उन की अगवानी को गया ॥ ३२ ॥ फिर, उस भीष्मक ने उन को मधुपर्क नवीन बढ़िया वस्त्र और प्रिय उत्तम २ वस्तुओं की भेट अर्पण करके; वह बुद्धिमान् था इस कारण, श्रीकृष्ण निःसन्देह कन्या को वरने के निमित्त ही आये हैं ऐसा जानकर उसने, वरपूजा की विधि से उन का पूजन करा और सेनासहित तथा सेवकादिकों सहित तिन बलराम–कृष्ण को, भोग की सामग्री आदि सम्पदा से युक्त, ठहरने का स्थान निवेदन करके उन का उत्तम रीति से सत्कार करा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ इसप्रकार और भी सब आयेहुए राजाओं को उन का जैसा पराक्रम, जैसी अवस्था, जैसा बल और जैसा ऐश्वर्य था उस के अनुसार सकल भोग अर्पण कर के राजा भीष्मक ने उन का सत्कार करा ॥ ३५ ॥ श्रीकृष्णजी आगये हैं ऐसा सुनकर उस विदर्भपुर में के लोगों ने जिधर

नेत्रांजलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥ ३६ ॥ अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्य-र्हति नापरा ॥ असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥ ३७ ॥ किं-चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ॥ अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिम-च्युतः ॥ ३८ ॥ एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः ॥ कन्या चान्तःपुरा-त्प्रागाद्भटैर्गुप्ताऽम्बिकालयम् ॥ ३९ ॥ पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ॥ सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४० ॥ यतवा-ङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ॥ गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायु-धैः ॥ मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ॥ ४१ ॥ नानोपहारवलिभिर्वारमु-ख्याः सहस्रशः ॥ स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलंकृताः ॥ ४२ ॥ गायन्त-श्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः॥ परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥४३॥ आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा ॥ उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशां-

तिघर से श्रीकृष्णजी के समीप आकर अपने नेत्ररूप अञ्जुलियों से, उन के मुखकमल के अमृत को पिया ॥ ३६ ॥ और आपस में ही ऐसा कहने लगे कि–इन श्रीकृष्णजी की स्त्री होने को तो रुक्मिणी ही योग्य है, दूसरी कोई नहीं; और रुक्मिणी के भी,प्रशं-सनीय शरीरवाले यह श्रीकृष्णजी ही पति होने के योग्य हैं ॥ ३६ ॥ इस से हमारा जन्मान्तर में कराहुआ यदि कुछ पुण्य होय तो उस से यह त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीकृष्ण जी, प्रसन्न होकर हमारे ऊपर अनुग्रह करें और रुक्मिणी का पाणिग्रहण करें ॥ ३८॥ इसप्रकार प्रेम के अंश से बँधे हुए पुरवासी लोक कहनेलगे, इधर वह कन्या, रणवास में से शूर पुरुषों से रक्षा करी हुई अम्बिका देवी के मठ में जाने को चलदी॥ ३९॥ वह उत्तम प्रकार से श्रीकृष्णजी के चरणकमल का वारम्वार ध्यान करती हुई पैदल चलकर ही भवानी देवी के चरणपल्लव देखने के निमित्त चली ॥ ४० ॥ वह मौनव्रत धारण करनेवाली और धाइयों से तथा सखियों से घिरीहुई थी, कवच (वख्तर) धारण करनेवाले और शस्त्र ऊपर को उठाकर धारण करनेवाले शूर योधाओं से रक्षाकरी हुई थी ॥ ४१ ॥ उससमय मृदङ्ग, शंख, पणव, डंके, और दुन्दुभि नामवाले वाजे बजने लगे. नानाप्रकार की पूजा की सामग्री. पकान्न आदि नैवेद्य, और फलों के थाल भरकर लेजानेवालीं सहस्रों श्रेष्ठ स्त्रियें;माला, गन्ध, वस्त्र और भूषणों से सजीहुई ब्राह्मणों की स्त्रियें, गानेवाले गवैये और वाजे वजानेवाले वजवैये तथा स्तुति आदिकरनेवाले सूत, मागध और वन्दी यह सब, उसकन्या को चारों ओर से घेरकर चलदिये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ वह रु-क्मिणी, देवी के मन्दिर के समीप पहुँची तहाँ उसने करचरणकमलों को धोकर और जल

विकांऽतिक्रम्य ॥ ४४ ॥ तां वै प्रवयसो बाला विधिज्ञा विप्रयोषितः ॥ भ-
वानीं वन्दयांचक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥ ४५ ॥ नमस्ये त्वांबिकेऽभीक्ष्णं स्वसंता-
नयुतां शिवाम् ॥ भूयात्पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥ ४६ ॥ अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वा-
सःस्रङ्माल्यभूषणैः ॥ नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥ ४७ ॥ विप्रस्त्रियः
पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् ॥ लवणापूपताम्बूलकंठसूत्रफलेक्षुभिः ॥ ४८ ॥ तस्यै
स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः ॥ ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः
॥ ४९ ॥ मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ॥ प्रगृह्य पाणिना भृत्यां
रत्नमुद्रोपशोभिना ॥ ५० ॥ तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां
कुण्डलमण्डिताननाम् ॥ श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्त-
लशंकितेक्षणाम् ॥ ५१ ॥ शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिशोणायमानद्विज-

का आचमन करके पवित्र तथा शान्त हो अम्बिका देवी के समीप गई ॥ ४४ ॥ उस समय अवस्था में वृद्ध और देवी के पूजन की रीति को जानने वाली, सौभाग्यवती पुरोहित के घरकी स्त्रियों ने, महादेवजी की अर्द्धाङ्गिनी भवानी देवी को तिस रुक्मिणी से दण्डवत करवाई ॥ ४५ ॥ उससमय रुक्मिणी को अपनेआप इसप्रकार मंत्र का अर्थ स्फुरण हुआ कि—हे अम्बिके ! अपनी गणेश आदि सन्तानयुक्त और मङ्गलरूप तुझे मैं वारंवार नमस्कार करती हूँ; भगवान् श्रीकृष्ण मेरे पति हों, इस विषय में तू अनुग्रह कर ॥ ४६ ॥ इसप्रकार नमस्कारपूर्वक वर की प्रार्थना करके फिर शुद्ध जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, फूलों की माला, पुष्प, भूषण, नानाप्रकार के नैवेद्य और अन्य भी नारियल आदि पूजाकी सामग्री तथा आरती आदि भिन्न २ पदार्थ समर्पण करके रुक्मिणी ने देवी का पूजन करा ॥ ४७ ॥ तिनही पदार्थों से तथा लवण, पुए, ताम्बूल, कंठसूत्र, फल और ईख (गन्ने) से युक्त बायने समर्पण करके सौभाग्यवती ब्राह्मणों की स्त्रियों का पूजन करा ॥ ४८ ॥ फिर, उन स्त्रियों ने तिस रुक्मिणीको, देवी का नैवेद्य आदि प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये—रुक्मिणीने, देवी को और उन सौभाग्यवतियों को नमस्कार करके तिस नैवेद्य आदि के प्रसादको ग्रहण करा ४९ ॥ तदनन्तर मौनव्रत को त्यागकर रत्नजड़ी अंगूठियों से शोभायमान अपने हाथ से सखी का हाथ पकड़कर वह रुक्मिणी, तिस अम्बिका के मठ में से बाहर निकली ॥ ५० ॥ तब उस को देखकर तहां आयेहुए वह यशस्वी वीर, तिस रुक्मिणी के दर्शन से उत्पन्न हुए कामदेव से पीड़ित होकर मोह को प्राप्त होगये; मानो देव(भगवान्)की माया ही है ऐसी वीरों को मोह उत्पन्न करनेवाली, जिस की कटि (कमर) पतलीहै, जिस का मुख कानो में के कुण्डलों से अतिशोभायमान है, जिस को रजोदर्शन का समय नहीं प्राप्तहुआहै, जिस की कमर में रत्नजड़ी मेखला है, जिस के तरुणाई के सूचक स्तन-प्रकटहुए हैं। जिस के नेत्र घुँघुराले केशों से शंका मानकर ही मानो चंचल होरहेहैं ॥ ५१ ॥ जिस का हास्य पवित्र है, जिसके दाँत-

दशमस्कन्ध—उत्तरार्द्ध.

कुन्दकुड्मलाम् ॥ पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं सिंजत्कलानूपुरधामशोभिना ॥
॥ ५२ ॥ विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ॥
॥ ५३ ॥ यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः॥
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥
॥ ५४ ॥ सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ॥ उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान्ददृशेऽच्युतं सा ॥ ५५ ॥ तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ॥ ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥ ५६ ॥ तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं परे जरासंधवशा न सेहिरे ॥ अहो धिगस्मान्यश आत्तधन्विनां गोपै-

पकीहुई तन्दूरी की समान अधर ओठ की कान्ति से लाल २ होकर कुन्दकी कलीकी समान दमक रहे हैं, जो राजहंस की समान चलनेवाली है और शब्द करनेवाले शोभायुक्त नूपुरों की कान्ति से शोभायमान चरणों से चलरही है ऐसी तिस रुक्मिणी को देखकर वह वीर मोहित होगये ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ वह केवल मोहित ही नहीं हुए किन्तु सवारियों पर से नीचे भी गिरपड़े ऐसा वर्णन करते हैं कि–तहां आयेहुए श्रीहरि को जाने के मिष से अपनी शोभा दिखानेवाली तिस रुक्मिणी को देखकर, हाथी, रथ और घोड़ों के ऊपर चढ़ेहुए वह जरासन्ध आदि राजे, उस के सुखदायक हास्य से और लज्जा युक्त चितवन से जिन के चित्त आकर्षित हुए हैं ऐसे मूर्छित होकर भूमिपर गिरपड़े ॥ ५४ ॥ इसप्रकार वह रुक्मिणी भगवान् कब मिलेंगे ऐसी बाट देखती हुई, कमल की कलियों की समान अपने चरण धीरे २ धरतीहुई और दाहिने हाथ के नखों से अपने बिखरे केश पीछे को सम्हाल कर, आयेहुए राजाओं की ओर को लज्जा से देखनेवाली उस ने, अकस्मात् श्रीकृष्णजी को देखा और उन के रथ की ओर जाने को उद्यत हुई ॥ ५५ ॥ तब श्रीकृष्णजी ने, रथपर चढ़ने को इच्छा करनेवाली तिस राजकन्या को, शिशुपाल आदि सब शत्रुओं के देखते हुए, रथ खड़ा कर के उस को हाथ पकड़ाकर अपने गरुड़ध्वज आदि चिन्ह युक्त रथपर को खैंचलिया और सकल राजमण्डली को कुछ न गिनकर, जिन में बलराम अग्रणी हैं ऐसे यादवों के साथ, जैसे सिंह गीदड़ों के समूह में से अपने भाग को निर्भयपने से धीरे २ उठाकर लेजाता है तैसे ही श्रीकृष्णजी धीरे २ लेकर चलदिये ॥ ५६ ॥ तब दुरभिमान धारण करनेवाले और जरासन्ध के अधीन रहनेवाले शत्रुओं ने, कन्या हरण के द्वारा अपना तिरस्कार और अपने यश का नाश हुआ मानकर उस को सहन नहीं करा और चिल्लाने लगे कि–अहो ! कैसा आश्चर्य है जो हम धनुषधारियों का

हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥ ५७ ॥ इति० भा० म० द० उ० रुक्मिणीहर-
णं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति सर्वे सु-
संरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ॥ स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः
॥ १ ॥ तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ॥ तस्थुस्तत्संमुखा राजन्
विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥ २ ॥ अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ॥
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥ ३ ॥ पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वी-
क्ष्य सुमध्यमा ॥ सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥ ४ ॥ प्रहस्य भगवानाह
मा स्म भैर्वामलोचने ॥ ॥ विनंक्ष्यत्यधुनैवैतत्तावकैः शात्रवं बलम् ॥ ५ ॥
तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसंकर्षणादयः ॥ अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान्
रथान् ॥ ६ ॥ पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ॥ सकुण्डलकि-
रीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥ ७ ॥ हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊ-

भी यश, जैसे सिंहों का यश हिरन हरलें तैसे गोपों ने हरलिया ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में त्रिपञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे चौअनवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी ने शत्रु के पक्षपाती राजाओं को जीतकर और रुक्मी को विरूप करके द्वारका में रुक्मिणी का पाणिग्रहण करा यह कथा वर्णन करीहै ॥*॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! ऐसा भाषण करनेवाले वह सब राजे, अत्यन्त क्रोध में भरगये और कवच पहिनकर, धनुष धारण करके तथा अपने २ वाहनो पर चढ़कर अपनी २ सेनाओं को चारों ओरलेकर श्रीकृष्णजी के पीछे भागनेलगे ॥ १ ॥ तदनन्तर हे राजन्! वह शत्रु पीछे से आरहे हैं ऐसा देखकर यादवसेना के अधिपति, अपने २ धनुषों का टङ्कार शब्द करके उन के सन्मुख खड़ेहुए ॥ २ ॥ तव युद्ध में चतुर वह जरासन्ध आदि वीर, घोडे की पीठपर हाथी के कंधेपर और रथ के आगेके भाग में वैठकर जैसे मेघ पर्वतपर जल की धारा छोड़ते हैं तैसे वाणों की वर्षा करनेलगे ॥ ३ ॥ तव कोमलचित्त वह रुक्मिणी, पति(श्रीकृष्णजी)की सेना, वाणों की वर्षाओं से ढकगई ऐसा देखकर जिसके नेत्र भय से विह्वल हुए हैं ऐसी होकर लज्जा के साथ उन श्रीकृष्णजी के मुख की ओर को देखने लगी ॥ ४ ॥ तव भगवान् ने हँसकर कहा कि–हे सुन्दरनयने! तू भय न कर, तेरी सेना में के पुरुषों से शत्रुओं की यह सेना अब ही नाश को प्राप्त होजायँगी ॥ ५ ॥ सो इतने ही में जरासन्ध आदि के उस पराक्रम को न सहनेवाले गदसङ्कर्षण आदि वीर, अपने वाणों से उन के घोडे, हाथी और रथों का संहार करने लगे ॥ ६ ॥ उस समय रथियों के घोड़ों के सवारों के और महावतों के कुण्डलकिरीटोंसहित तथा मण्डील और पगड़ी आदि शिर के वेष्टनोंसहित करोडों मस्तक वाणों से कटकर गिरने लगे ॥ ७ ॥ तरवार,

रथांऽघ्रयः ॥ अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥ ८ ॥ हन्यमानबलानीका
वृष्णिभिर्जयकांक्षिभिः ॥ राजानो विमुखा जग्मुर्जरासंधपुरःसराः ॥ ९ ॥ शि-
शुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरं ॥ नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥
॥ १० ॥ भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ॥ न प्रियाप्रिययो रा-
जन् निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥ ११ ॥ यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया॥
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥ १२ ॥ शौरेः सप्तदशाहं वै संयु-
गानि पराजितः ॥ त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्ये एकमहं परम् ॥ १३ ॥ त-
थाऽप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ॥ कालेन दैवयुक्तेन जानन्वि-
द्रावितं जगत् ॥ १४ ॥ अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ॥ पराजिताः
फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥ १५ ॥ रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मा-
नुसारिणि ॥ तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥ एवं प्र-

---

गदा और धनुषों सहित हाथ, हाथों के पंजे, जंघा और पैर कटकर गिरपडे; तथा घोडे, खिचर, हाथी, ऊँट, गदहे और वीरों के मस्तक कट २ कर गिरनेलगे ॥ ८ ॥ उस समय जय की इच्छा करनेवाले यादवों ने, जिन की सेना का समूह मारडाला है ऐसे वह जरासन्ध आदि राजे युद्ध को पीठ देकर भागगये ॥ ९ ॥ वह राजे, मानो स्त्री ही हरी गई है इसकारण व्याकुल हुए, तेजरहित, उत्साहशून्य और जिस का मुख सूख गया है ऐसे शिशुपाल के पास जाकर कहने लगे कि— ॥ १० ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ! अपना विवाह रुकजाने से प्राप्त हुए इस खेद को तुम त्यागो, क्योंकि— हेराजन्! सुख और दुःख प्राणियों में स्थिररूप से कभी भी देखने में नहीं आता है ॥ ११ ॥ जैसे काठ की पुतली नचानेवाले की इच्छा के अनुसार नाचती है तैसे ही ईश्वर के अधीन हुआ यह जीव भी अपने सुख दुःख की खटपट करता है सो परवश होने के कारण सुख पाने का यत्न करता हुआ भी कभी दुःख पाता है ॥ १२ ॥ जरासन्ध ने कहा कि-सत्रहवार युद्ध में तेईस २ अक्षौहिणी सेना को साथ में लेकर युद्ध करनेवाला भी मैं श्रीकृष्ण से तिरस्कार को प्राप्त हुआ परन्तु अगला अठारहवां एक युद्ध मैंने जीता है अर्थात् उस समय श्रीकृष्ण को मैंने भगाया है ॥ १३ ॥ तो भी (हार वा जीत होने पर भी) परमेश्वर के प्रेरणा करेहुए काल से सकल जगत् को उलट पुलट कराहुआ जानकर मैं कभी भी शोक वा हर्ष नहीं करता हूँ. इस समय वीरों के जो समूहों के समूह तिन के अधिपति भी हम सब, थोड़ीसी सेनावाले श्रीकृष्ण के रक्षा करेहुए यादवों से तिरस्कार को प्राप्त हुए हैं॥१५॥ सो शत्रुओंने, समय अपने अनुकूल होने पर इससमय हमें जीतलिया है परन्तु जब समय हमारे अनुकूल होगा तो हम भी इन को जीतडालेंगे

बोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात्सानुगः पुरं ॥ हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं
स्वं पुरं नृपाः ॥ १७ ॥ रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः ॥ पृष्ठतो-
ऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ॥ १८ ॥ रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां
सर्वभूभुजां ॥ प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥ १९ ॥ अहत्वा समरे
कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ॥ कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः
॥ २० ॥ इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः ॥ चोदयाश्वान्यतः कृष्ण-
स्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥ २१ ॥ अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ॥
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥ २२ ॥ विकत्थमानः कुमतिरीश्व-
रस्याप्रमाणवित् ॥ रथेनैकेन गोविंदं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत् ॥२३॥ धनुर्विकृष्य

॥ १६ ॥ इसप्रकार जरासन्ध आदि मित्रों ने समझाया तब शिशुपाल, मरने से शेष रहेहुए अपने सेवक आदिकों के साथ नगर में को चलाआया और युद्ध में शेष रहेहुए वह जरासन्ध आदि राजे भी फिर अपने २ नगर को लौटगये ॥ १७ ॥ इधर, बलवान् और कृष्ण से द्वेष करनेवाला रुक्मी तो अपनी बहिन को श्रीकृष्णजी का राक्षसविधि से हरण करना न सहताहुआ एक अक्षौहिणी सेना अपने चारों ओर लेकर श्रीकृष्णजी के पीछे उन को जीतने को दौड़ा ॥ १८ ॥ तिस दौडने से पहिले रुक्मिणी का हरण सह्य न होने के कारण अतिक्रोध में भरे, कवच पहिरे और धनुष धारण करेहुए तिस महाबली रुक्मी ने, सब राजाओं के सुनतेहुए यह प्रतिज्ञा करी कि-- ॥ १९ ॥ हे राजाओ ! मैं युद्ध में श्रीकृष्ण को मारेविना और अपनी छोटी बहिन रुक्मिणी को पीछे को लौटाकर लायेविना, अपने कुण्डिनपुर में ही नहीं घुसूँगा, यह तुम से सत्य कहता हूँ ॥ २० ॥ ऐसा कहकर वह रथपर बैठा और शीघ्रता में भराहुआ सारथी से कहने लगा कि--जहां श्रीकृष्ण है तहां को शीघ्र ही घोडे हांक जिस से कि उस कृष्ण के साथ मेरा युद्ध हो ॥ २१ ॥ आज मैं तीखे बाणों से, जिस ने मेरी बहिन का बलात्कार से हरण करा है तिस दुष्टबुद्धि * गोपाल + की (कृष्ण की) वीरता का मद ढाउँगा ॥ २२ ॥ ऐसी बडबड करनेवाला, दुष्टबुद्धि और तिन श्रीकृष्ण के बल आदि की इयत्ता (हद) को न जाननेवाला वह रुक्मी, एकही रथ से श्रीकृष्णजी के पीछे भागताहुआ 'खडारह २' ऐसा कहकर उन गोविन्द को पुकारनेलगा ॥ २३ ॥ उस ने

* वास्तविक अर्थ यह है कि-दुष्टों के ऊपर जिस की बुद्धि उत्तम (दयायुक्त) है ।
+ गो कहिये वेदवाणी तिस का पालक ।

सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः॥आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन॥२४॥कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वांक्षवद्धविः ॥ हरिष्येऽद्य मदं मंद मायिनः कूटयोधिनः ॥ २५ ॥ यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुंच दारिकाम् ॥ स्मयन्कृष्णो धनुश्छित्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥ २६ ॥ अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ॥ स चान्यद्धनुराधाय कृष्णं विव्याध पंचभिः२७॥ तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ॥ पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः ॥ २८ ॥ परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ ॥ यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः ॥ २९ ॥ ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया ॥ कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतंग इव पावकं ॥ ३० ॥ तस्य चापततः

अपने अतिदृढ़ धनुष को खेंचकर उसपर वाण चढ़ा तीन वाणों से श्रीकृष्णजी के ऊपर प्रहार करा और वह कहनेलगा कि–हे यादवों के कुलपांसन * (कुलदूषण) तू मेरे आगे क्षणभर को खडा रह ॥ २४ ॥ हे मन्द ! + जैसे ध्वांक्ष × (कौआ) यज्ञ में होम के द्रव्य को लेजाता है तैसे मेरी बहिन को चुराकर तू कहां को चलदिया ? तुझ कपटयुद्ध करनेवाले और मायावी का गर्व मैं अब ढाये देता हूँ ॥ २५ ॥ जबतक मेरे वाणों से ताड़ित होकर भूमि पर मरकर नहीं गिरे तब तक कन्या रुक्मिणी को तू छोडदे; तब तो श्रीकृष्णजी ने भी हँसकर उस का धनुष तोडकर उस रुक्मी को छः वाणों से वेधडाला ॥ २६ ॥ आठ वाणों से चार घोडे मारे, दो वाणों से सारथी को मारा और तीन वाणों से ध्वजा तोडी तब उस रुक्मी ने दूसरा धनुष लेकर पाँच वाणों से श्रीकृष्णजी को वेधा ॥ २७ ॥ तब पाँच वाणों से ताड़न करेहुए भी उन श्रीकृष्णजी ने, उस धनुष को भी काटदिया, तब उस ने फिर दूसरा धनुष लिया उस को भी श्रीकृष्णजी ने काटडाला ॥ २८ ॥ फिर उस रुक्मी ने श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त-परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तरवार, शक्ति, तोमर आदि जो २ शस्त्रग्रहण करे उन २ सब को तत्काल श्रीकृष्णजी ने काटडाला ॥२९॥ फिर क्रोध में भराहुआ वह रुक्मी, रथ से नीचे कुलाँच मारकर और हाथ में तरवार लेकर श्रीकृष्णजी को मारने के निमित्त उन के ऊपर को, जैसे पतंग कीडा अग्नि का नाश करने के निमित्त उस के ऊपर को, दौडता है तैसे दौड़ा ॥३०॥ तब दौडकर आनेवाले

* यहां कुलप और असन दो पद हैं सो कुलप कहिये कुल की रक्षा करनेवाला और असन कहिये शत्रुओं का घात करनेवाला ऐसा अर्थ करना । + हे स्थिर ऐसा अर्थ करना । × यहां अध्वांक्षवत् ऐसा पद निकालकर उस का अर्थ इन्द्र की समान, यह करना ।

खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ॥ छित्त्वासिमादंदे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥
॥ ३१ ॥ दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला ॥ पतित्वा पादयोर्भर्तु-
रुवाच करुणं सती ॥ ३२ ॥ योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते ॥ हन्तुं
नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥ ३३ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तया प-
रित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ॥ कातर्यविस्रंसितहेममाल-
या मृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥ ३४ ॥ चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं स-
श्मश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ॥ तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं यदुप्रवीरा नलिनीं य-
था गजाः ॥ ३५ ॥ कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ॥ तथाभूतं हत-
प्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः ॥ विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत् ॥ ३६ ॥
असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितं ॥ वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सु-

रुक्मी की तरवार के और ढाल के तिल २ की समान टुकड़े करके वह श्रीकृष्णजी, अपने हाथ में तीखी तलवार लेकर उस रुक्मी के मारने को उद्यत हुए ॥ ३१ ॥ तब अपने भ्राता के मारेजाने का उद्योग देखकर भय से विह्वल हुई वह सती रुक्मिणी, पति के चरणों पर पडकर बड़ी करुणा के साथ कहनेलगी कि— ॥ ३२ ॥ हे योगेश्वर ! हे अप्रमेयस्वरूप ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे कल्याण ! और हे महापराक्रमी ! तुम मेरे भ्राता को मारने को योग्य नहीं हो अर्थात् इस के प्राणों की मुझे भिक्षा दो ॥ ३३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार कहकर अत्यन्त भय से जिस के हाथ पैर आदि अंग थर २ काँपरहे हैं, जिस का मुख शोक से सूखाजाता है, जिस का कण्ठ भर आया है और विह्वल होने के कारण नमस्कार करतेसमय जिस के कण्ठ में की सुवर्ण के फूलों की माला नीचे निकलपडी है ऐसी तिस रुक्मिणी ने जिन के चरण पकडलिये हैं ऐसे वह श्रीकृष्णजी उस रुक्मी को मारने से रुके ॥ ३४ ॥ तदनन्तर खोटा कर्म करनेवाले तिस रुक्मी को श्रीकृष्णजी ने, उस के ही वस्त्र से बाँधकर, कहीं कहीं दाढ़ी मूछें और केश शेष रहें ऐसी रीति से उस ही तलवार से मुंडन करके उस को कुरूप करदिया ; इतने ही में हाथी घोडे आदिकों से अद्भुत तिस शत्रु की सेना को, वीरयादवों ने, जैसे हाथी कमलिनियों को मसले तैसे मसलडाला ॥ ३५ ॥ और उन्होंने कृष्ण के पास आकर तहाँ कुरूप करने के कारण मृतकसमान हुए तिस रुक्मी को देखा ; और बलरामजी ने भी बाँधेहुए और तिस प्रकार मुंडन करने से मृतसमान हुए तिस रुक्मी को देखकर बन्धन से छुटाया और वह प्रभु दयालु भगवान् बलराम श्रीकृष्णजी से बोले कि— ॥ ३६ ॥ हे कृष्ण ! रुक्मी की दाढ़ी मूछ और केश जो मूँडे सो यह अच्छा कार्य नहीं करा ; क्योंकि-ऐसा करना हम को बडा निन्दनीय है और सम्बन्धी पुरुषों की

हतो वधः ॥ ३७ ॥ मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया ॥ सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान् ॥ ३८ ॥ बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति ॥ त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥ ३९ ॥ क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः ॥ भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतमस्ततः ॥ ४० ॥ राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ॥ मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥ ४१ ॥ तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ॥ यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥ ४२ ॥ आत्ममोहो नृणामेव कल्पते देवमायया ॥ सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥ ४३ ॥ एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ॥ नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥ ४४ ॥ देहं आ-

दाढ़ीमूछ तथा केश मूँडकर जो कुरूप करना सो उन का वध करने की समान ही है ॥३७॥ ऐसा कहकर रुक्मिणी को समझाते हैं कि–हे सुशीला रुक्मिणी! भ्राता का रूप कुरूप हुआ ऐसा मन में विचारकर तू हमारे ऊपर दोष न लगा, क्योंकि–पुरुष को दुःख वा सुख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है किन्तु वह पुरुष ही अपने करेहुए कर्मों से ही सुख दुःखों को भोगता है ॥ ३८ ॥ फिर श्रीकृष्णजी से कहनेलगे कि-वधकरने के योग्य दोष करनेवाला भी बन्धु, अपने बन्धु से वध पाने के योग्य नहीं होता है किन्तु वह छोड़देने के ही योग्य होता है; क्योंकि–अपने करेहुए दोष से ही जो मृतकसमान होगया उस को फिर मारे ही क्या! छिःछिः उस को मारने से केवल अपजस ही होता है ॥ ३९ ॥ फिर रुक्मिणी से कहनेलगे कि-जिस धर्म से युद्ध में भाई भी अपने भाई को मारता है तिस कारण यह क्षत्रियों का धर्म ब्रह्माजी ने अतिदारुण रचा है इस से उस में हमारा कौन अपराध है ? अर्थात् कोई अपराध नहीं है ॥ ४० ॥ फिर श्रीकृष्णजी से कहने लगे कि–हे कृष्ण! सम्पदा के घमण्ड से अन्धा (विवेकहीन) हुआ प्राणीमात्र,राज्य के,भूमि के,द्रव्य के,स्त्री के, प्रतिष्ठा के, तेज के अथवा और भी किसी वस्तु के निमित्त से अपने बंधुओं का तिरस्कार करते हैं परन्तु हमें वैसा करना योग्य नहीं है ॥ ४१ ॥ फिर रुक्मिणी से बोले कि–सकल प्राणियों का अहित (बुरा) करनेवाले अपने भ्राता का जो तू अनजान पुरुष की समान निरन्तर कल्याण चाहती है सो यह तेरी बुद्धि ठीक नहीं है, क्योंकि–इस में उन बन्धु आदिकों का ही अमङ्गल है ॥ ४२ ॥ क्योंकि देह ही आत्मा है ऐसा अभिमान रखनेवाले पुरुषों को, मित्र, शत्रु और उदासीन इसप्रकार का बुद्धि का मोह होरहा है सो भगवान् की माया का रचाहुआ है ॥ ४३ ॥ अर्थात् सब ही प्राणियों का आत्मा एक और देह आदि से अलग है तथा उस को, वह माया से मूढ़ हुए पुरुष, शत्रु मित्रादिभाव से शत्रु-मित्र आदि नाना प्रकार का मानते हैं. जैसे अज्ञानी पुरुष जल में प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमा आदिकों के तेज को अथवा घट मठ आदिकों में के आकाश को नाना प्रकार का मानते हैं तैसे ही ॥४४॥

ह्येतन्नानेव द्रव्यप्राणगुणात्मकः ॥ आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम्
॥ ४५ ॥ नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्च सतः सति ॥ तद्धेतुत्वात्तत्प्र-
सिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥ ४६ ॥ जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः
क्वचित् ॥ कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥ ४७ ॥ यथा श-
यान आत्मानं विषयान्फलमेव च ॥ अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो
भवम् ॥ ४८ ॥ तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ॥ तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य

आत्मस्वरूप में अविद्या से कल्पना कराहुआ यह अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवरूप आदि अन्तवाला देहाभिमान ही, संसाररहित भी प्राणी को संसार में डालता है अर्थात् उस का शुद्धस्वरूप प्रतीति में न आताहुआसा होजाता है ॥ ४५ ॥ हे पतिव्रते ! सद्भाव रहित दूसरे अधिभूतादिकों से आत्मा का संयोग वा वियोग कुछ भी नहीं है, उन भूतइन्द्रियादिकों की उत्पत्ति और प्रकाश का कारण आत्मा ही होने से जैसे-प्रकाश्य और प्रकाशक रूप से प्रसिद्ध भी चक्षुइन्द्रियादि की और रूप की प्रसिद्धि सूर्य से ही होती है और उस इन्द्रिय को तथा रूप को राजसत्व होने से उन का परस्पर अभेद होता है तैसे ही प्रकाश्य और प्रकाशकभाव से परस्पर प्रसिद्ध भी देहइन्द्रियादिकों का प्रकाश चैतन्य के अधीन है और वह देह इन्द्रियादि चैतन्य के कार्य होने के कारण तिस चैतन्य के विना उन का असत्व है ॥ ४६ ॥ अब आत्मा को देह का सम्बन्ध न होने के कारण जन्म आदिक भी नहीं हैं ऐसा कहने के निमित्त, यह जन्मादिक देह के धर्म हैं ऐसा वर्णन करते हैं कि-यह जन्म आदि विकार देह के ही हैं, देह में स्थित रहनेवाले भी आत्मा के नहीं हैं; फिर मैं उत्पन्न हुआ, मैं बालक हूँ, इसप्रकार आत्मा में जन्म आदि की प्रतीति कैसे होती है ? ऐसा कहे तो सुन— देह का जन्मादि होने से ही ऐसा होता है, जैसे कलाओं की उत्पत्ति वृद्धि आदि से ही चन्द्रमा के जन्म आदि का व्यवहार होता है परन्तु वह पृथक् जन्म आदि चन्द्रमा के नहीं हैं तैसे ही देह के जन्म आदि से आत्मा के जन्मादि का भी व्यवहार होता है परन्तु वह जन्मादि उस आत्मा को वास्तव में नहीं प्राप्त होते हैं तैसे ही इस जीवात्मा का मरण भी जैसे—अमावास्या के दिन चन्द्रमा की कलाओं का नाश होनेपर चन्द्रमका ही क्षय हुआ ऐसा कहते हैं तिसी प्रकार देह का नाश होने पर जीवात्मा का ही नाश हुआ ऐसा कहते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है ॥ ४७ ॥ जैसे सोयाहुआ पुरुष देहादि सम्बन्धरूप अर्थ के न होनेपर भी देहादिरूपी भोक्ता बनेहुए अपने को, शब्दादि विषयों का और फल का भोगरूप अनुभव लेता है तैसे ही अज्ञानी जीवात्मा जन्मादिरूप संसार को पाता है ॥ ४८ ॥ इसकारण हे पवित्र हास्यवाली रुक्मिणि ! अपने को सुखानेवाले और विशेष करके मोह उत्पन्न करने-

ईश्वस्था मैव शुचिस्मिते॥४९॥श्रीशुक उवाच॥एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता॥ वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे॥५०॥प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः॥ स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः।५१।अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम्॥ कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा॥५२॥ भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान्॥ पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह॥५३॥ तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे॥ अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप॥५४॥ नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः॥ पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः॥५५॥सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभिर्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः॥बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः॥५६॥सिक्तमार्गा म-

वाले इस अज्ञानमूलक शोक को तत्त्वज्ञान से दूर करके तू स्वस्थचित्त हो॥ ४९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् इसप्रकार भगवान् बलरामजी की समझाई हुई तिस सुकुमाराङ्गी रुक्मिणी ने, रुक्मी को विरूप करने के कारण से होनेवाले शोक का त्याग करा और विचाररूप बुद्धि से अपने मन को समझालिया॥ ५० ॥ ऐसा सुननेवाले भी रुक्मी का अज्ञान दूर नहीं हुआ यह दिखाते हुए कहते हैं कि—श्रीकृष्ण आदि शत्रुओं ने जिसकी सेना और तेज को नष्ट करडाला है जिस के प्राणमात्र शेष रहे हैं ऐसा वश में करके छोड़ा हुआ वह रुक्मी, अपने मनोरथ की पूर्णता को न पाताहुआ श्रीकृष्णजी की करीहुई अपनी कुरूपदशा को स्मरण करता 'दुर्मति कृष्ण को बिनामारे और रुक्मिणी को लौटाकर बिना लाये कुण्डिनपुर में प्रवेश नहीं करूँगा ऐसी करीहुई अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के निमित्त' जहाँ विरूप कियागया था क्रोधित होकर तहाँ ही रहा इसकारण फिर तहाँ भोजकट नामवाला बड़ाभारी नगर बसा॥ ५१ ॥ ५२ ॥ हे राजन् भगवान् श्रीकृष्ण ने इसप्रकार युद्ध में राजाओं को जीतकर और भीष्मक की कन्या जो रुक्मिणी तिस को अपनी द्वारका नगरी में लाकर विधिपूर्वक उस के साथ विवाह करलिया।५३॥ उसदिन हेराजन्! उस द्वारका में यादवपति श्रीकृष्ण से विना प्रयोजन के ही प्रेम करनेवाले लोकों के घरघर बड़ाभारी उत्साह हुआ॥ ५४ ॥ उत्तमगय निर्मल मणिजटित कुण्डल धारण करके आनन्द युक्त हुए पुरुष और स्त्रियें, विचित्र वस्त्र पहिरनेवाले उन वरवधू को, विवाह के समय देनेयोग्य आभूषण आदि भेट समर्पण करनेलगे॥ ५५ ॥ तब वह द्वारका नगरी खड़ी करीहुई ऊँची ध्वजाओं से अनेकों रङ्गों के फूल वस्त्र और रत्नोंकी बनी वन्दनवारों से और हरएक घर के द्वारपर स्थापन करेहुए मङ्गलकारी खीलें—दूर्वाङ्कुर—फूल—भरेहुए घड़े—अगर की धूप और दीपकों से शोभित होनेलगी॥ ५६ ॥ तैसे ही जिसमें मार्ग छिड़के हुए हैं

देच्युद्धिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् ॥ गजेन्द्रद्वास्सु परामृष्टरंभापूगोपशोभिता ॥ ५७ ॥
कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुंतयः ॥ मिथो मुमुदिरे तस्मिन् संभ्रमात्परिधावताम्
॥ ५८ ॥ रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ॥ राजानो राजकन्याश्च
बभूवुर्भृशविस्मिताः॥५९॥द्वारकायामभूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम्॥रुक्मिण्या र-
मयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिं ॥ ६० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशम-
स्कन्धे उ० रुक्मिण्युद्वाहोत्सवे चतुःपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ ७ ॥ श्रीशुक
उवाच ॥ कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना ॥ देहोपपत्तये भूयस्तमेव
प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥ स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः॥ प्रद्युम्न इति विख्यातः
सर्वतोऽनवमः पितुः ।२। तं शंबरःकामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशं । स विदित्वात्मनः

ऐसी वह नगरी, उत्सव देखने को बुलायेहुए अतिप्रिय राजाओं के मद टपकानेवाले हाथियों से और द्वारोंपर खड़े करेहुए केलों के खंभों से और पूगीफलों से भूषित हुई थी ॥ ५७ ॥ उस नगरी में चाव से जिधर तिधर दौडतेहुए बन्धुओं में कुरु सृञ्जय, कैकय, विदर्भ, यादव और कुन्ति परस्पर मिलकर आनन्द को प्राप्त हुए ॥५८॥ जहां तहां देशों में सूत मागध और वन्दियों के गायेहुए इस रुक्मिणी के हरणरूप भगवान् के चरित्र को सुनकर राजे और राजकन्याएं परम आश्चर्य को प्राप्त हुए ॥५९॥ हे राजन्! उस द्वारका में लक्ष्मी का अवताररूप तिस रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण को देखकर पुरवासियों को बडा आनन्द प्राप्त हुआ ॥ ६० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में चतुःपञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे पचपनवे अध्याय में श्रीकृष्णजी से प्रद्युम्न के उत्पन्न होने पर उन को शम्बरासुर ने चुरालिया, फिर उन्हों ने तिस शम्बरासुर को मारकर स्त्रीसहित द्वारका में आगमन करा तथा शम्बरासुर के प्रद्युम्न को लेजाने के कारण हुई जो हानि तथा फिर उन के आने से हुआ जो लाभ इत्यादि के द्वारा श्रीकृष्णजी ने, कुटुम्बियों को सन्तान आदि से सुखदुःखादि कैसे प्राप्त होते हैं सो दिखाया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन्! चित्त से उत्पन्न होने के कारण और सृष्टि का कारण होने से वासुदेव का अंश जो काम वह, पहिले जन्म में महादेवजी के क्रोध से भस्म होगया था सो वही फिर देह प्राप्त होने के निमित्त तिन वासुदेव श्रीकृष्ण के अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर रहा ॥ १ ॥ वह ही काम, श्रीकृष्णजी के वीर्य में स्थित होता हुआ रुक्मिणी के गर्भ में उत्पन्न होकर प्रद्युम्न इस नाम से प्रसिद्ध हुआ. वह सुन्दरता, आकार और भाषण आदि सब गुणों में श्रीकृष्णजी की समान ही था ॥ २ ॥ तब, कामदेव के शत्रुरूप से प्रसिद्ध शम्बरासुर ने उस प्रद्युम्न को 'यह मेरा शत्रु कामदेव है ऐसा' नारदजी के मुख से सुनकर गुप्तरूप से उस बालक को दश

शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहम् ॥३॥ तं निर्जगार बलवान्मीनः सोऽप्यपरैः सह ॥
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः॥४॥ तं शंबराय कैवर्ता उपाजह्रुरु-
पायनं ॥ सूदा महानसं नीत्वाऽवद्यन्स्वधितिनाऽद्भुतम् ॥ ५ ॥ दृष्ट्वा तदुदरे
बालं मायावत्यै न्यवेदयन् । नारदोऽकथयत् सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ॥
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनं ॥ ६ ॥ सा च कामस्य वै पत्नी
रतिर्नाम यशस्विनी ॥ पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥ ७ ॥ निरू-
पिता शंबरेण सा सूपौदनसाधने ॥ कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदाऽ
र्भके ॥ ८ ॥ नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः ॥ जनयामास ना-
रीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥ ९ ॥ सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलंब-
बाहुं नरलोकसुंदरम् ॥ सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिरंग सौ-
रतैः ॥ १० ॥ तामाह भगवान्कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ॥ मातृभावमति-

दिन का होने से पहिलेही चुरालिया और समुद्र में डालकर वह शम्बरासुर अपने घर को चला गया ॥ ३ ॥ उस बालक को किसी एक बलवान् मत्स्य ने निगललिया, फिर मत्स्य मारकर जीविका चलानेवाले कहारों ने दूसरे मत्स्यों के साथ बडेभारी जाल से उस मत्स्य को भी फांसकर पकडलिया ॥ ४ ॥ फिर उन कहारों ने वह बडाभारी मत्स्य शम्बरासुर को भेटरूप से अर्पण करा, फिर रसोइयों ने उस अद्भुत मत्स्य को रसोई के घर में लेजाकर अपने शस्त्र से चीरा ॥ ५ ॥ तब उस के उदर में अद्भुत बालक देखकर उन्होंने वह मायावती को सौंपदिया. तब यह बालक कौन है ? ऐसा मन में सन्देह करनेवाली उस मायावती को, तिस बालक का कामदेवस्वरूप होना, श्रीकृष्ण से रुक्मिणी के विषें उत्पन्न होना, शम्बरासुर का उस को चुराना और मत्स्य के उदर में जाना यह सब कहसुनाया ॥ ६ ॥ वह मायावती निःसन्देह कामदेव की रतिनामवाली स्त्री थी और रुद्रभगवान् के क्रोध से जिस का देहभस्म होगया है ऐसे अपने पति का शरीर उत्पन्न होने की वाट देखनेवाली पतिव्रता थी ॥ ७ ॥ उस को शम्बरासुर ने रसोई करने के काम में लगाया था उस ने नारदजी से वह बालक कामदेव है ऐसा जानकर उस में स्नेह करा ॥ ८ ॥ फिर थोडे ही समय में वह श्रीकृष्ण का पुत्र तरुण अवस्था को प्राप्त हुआ और अपने सुन्दरता आदि गुणों से अपनी ओर को देखनेवाली स्त्रियों को अत्यन्त मोहित करनेलगा ॥ ९ ॥ तब हे राजन् ! जिस के नेत्र कमल के पत्र की समान विशाल हैं, जिस की भुजा जानुपर्यन्त लम्बी हैं और जो मनुष्यलोक में सुन्दर है ऐसे तिस अपने पति को लज्जायुक्त हास्य से, कटाक्षयुक्त तिरछी दृष्टि से देखनेवाली वह मायावती नामवाली रति, सुरत के अभिप्रायों से उन का सेवन करनेलगी ॥ १० ॥ तब वह भगवान् कृष्णपुत्र, उस से कहने लगे कि–हे मातः ! तेरी बुद्धि उलटी दीखती है,

क्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥ ११ ॥ रतिरुवाच ॥ भवान्नारायणसुतः शंब-
रेणाहृतो गृहात् ॥ अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो ॥ १२ ॥
एष त्वाऽनिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छंबरोऽसुरः ॥ मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादिह प्राप्तो
भवान्प्रभो ॥ १३ ॥ तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ॥ मायाशतविदं
त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥ १४ ॥ परिशोचति ते माता कुररीव गतप्र
जा ॥ पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥ १५ ॥ प्रभाष्यैवं ददौ
विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ॥ मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥ १६ ॥
स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ॥ अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्संजनय-
न्कलिम् ॥ १७ ॥ सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पदाहत इवोरगः ॥ निश्चक्राम
गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥ १८ ॥ गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महा-
त्मने ॥ प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरं ॥ १९ ॥ तामापतन्तीं

अर्थात् तू इससमय अपना माता का धर्म त्यागकर कामातुर स्त्री की समान वर्त्ताव करती है, यह क्या ? ॥ ११ ॥ तब रति ने कहा कि–तुम नारायण (श्रीकृष्ण) के पुत्र हो और शम्बरासुर उन के घर से तुम्हें ले आया है; हे प्रभो ! मैं तुम्हारी अधिकार से प्राप्त स्त्री रति हूँ और तुम मेरे पति कामदेव हो ॥ १२ ॥ हे प्रभो ! इस शम्बर दैत्य ने, तुम्हें जन्म लेकर दशदिन का होने से पहिले ही लेजाकर समुद्र में डालदिया था; तहां तुम्हें एक मत्स्य ने निगललिया और मत्स्य को कहारों ने मारकर यहां शम्बरासुर को भेट में लाकर दिया था; उस के पेट में से तुम यहाँ आये हो ॥ १३ ॥ इसकारण सैंकड़ों माया जाननेवाले और तिरस्कार करने को कठिन इस अपने दुर्जय शत्रु को, अपनी मोहन आदि मायाओं से मोहित करके मारडालो ॥ १४ ॥ इस में कुछ विलम्ब न करो, क्योंकि–तुम्हारी माता रुक्मिणी, पुत्र नष्ट होजाने के कारण दीन और पुत्र स्नेह से व्याकुल होकर, बछड़ा नष्ट होने से शोकातुर हुई गौ की समान और कुररी की समान डकरातीहुई रोरही है ॥ १५ ॥ ऐसा कहकर उस मायावती ने, महापराक्रमी भी तिस प्रद्युम्न को शत्रु की सकल मायाओं का नाश करनेवाली अपनी महामाया नामवाली विद्या दी ॥ १६ ॥ तब वह प्रद्युम्न भी शम्बरासुर के समीप जाकर, जिन का सहना कठिन है ऐसे तिरस्कार के वचनों से उस को ललकारकर कलह उत्पन्न करतेहुए युद्ध करने के निमित्त उस से कहनेलगे ॥ १७ ॥ उससमय दुर्वचनों से निन्दा कराहुआ वह शम्बरासुर, पांव से दबायेहुए सर्प की समान क्रोध से नेत्र लाल२ करके और हाथ में गदा लेकर युद्ध करने के निमित्त घर में से बाहर निकला ॥ १८ ॥ और वेग से गदा घुमाकर महात्मा प्रद्युम्न को मारने के निमित्त वह उस के ऊपर को फेंकी और वज्रपात होनेपर जैसे बड़ाभारी शब्द होता है तैसे उसने बड़े

भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम् ॥ अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां नृप ॥ २० ॥ स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ॥ मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥ २१ ॥ बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः ॥ सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥ २२ ॥ ततो गौह्यक-गांधर्वपैशाचोरगराक्षसीः ॥ प्रायुंक्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत्स ताः॥२३॥ निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ शंबरस्य शिरः कायात्ताम्रश्मश्र्वो-जसाहरत् ॥ २४ ॥ आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ॥ भार्ययांबरचारिण्या पुरीं नीतो विहायसा ॥ २५ ॥ अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशत-संकुलम् ॥ विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥ २६ ॥ तं दृष्ट्वा जलद-श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ प्रलंबबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥ २७ ॥ स्वलंकृतमुखांभोजं नीलवक्रालकालिभिः ॥ कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्यु-

ओर से गर्जना करी ॥ १९ ॥भगवान् प्रद्युम्न ने भी आतीहुई तिस गदा का,अपनी गदा से चूरा करके हे राजन्! क्रोध में भरेहुए उन्हों ने,शम्बरासुर को मारने के निमित्त अपनी गदा फेंकी ॥२०॥ उस शम्बरासुर ने भी मयासुर की उपदेश करीहुई अन्तर्धान होजानारूप विद्या का आश्रय करके, आकाश में स्थित हो, प्रद्युम्न के ऊपर शस्त्रों की वर्षा करी ॥ २१ ॥ तब शस्त्रों की वर्षा से पीड़ा को प्राप्तहुए भी वह रुक्मिणी के पुत्र महारथी प्रद्युम्न, सकल दैत्यमायाओं का नाश करनेवाली अपनी सत्वगुणी महाविद्या का प्रयोग करनेलगे ॥ २२ ॥ तदनन्तर फिर उस दैत्य ने, गुह्यकों की,गन्धर्वों की, पिशाचों की, सर्पों की और राक्षसों की सैंकड़ों माया प्रद्युम्नजी के ऊपर चलाईं, सो उन कृष्णपुत्र प्रद्युम्नजी ने, उन सब मायाओं का नाश करा ॥ २३ ॥ फिर उन प्रद्युम्नजी ने, तीखी तलवार उठाकर उस से,जिस में लाल २ दाढ़ीमूछें हैं ऐसा वह किरीटसहित और कुंडलोंसहित शम्बरासुर का शिर, बलात्कार से काटडाला ॥२४॥ तब स्तुति करनेवाले देवताओं करके पुष्पांजलियों से छायेहुए उन प्रद्युम्न पति को लेकर,आकाशमार्ग में अपनेआप जाने वाली और दूसरे को भी लेजानेवाली वह मायावती स्त्री आकाशमार्ग से द्वारका में लेगई॥२५॥ तब हे राजन्! मानो बिजलीसहित काला मेघ ही आकाश में से नीचे उतरा क्या? ऐसे वह प्रद्युम्न, स्त्रीसहित नीचे उतरकर सैंकड़ों उत्तम स्त्रियों से भरेहुए श्रीकृष्णजी के श्रेष्ठ रणवास में चलेगये ॥ २६ ॥ तब उन मेघ की समान श्यामवर्ण, पीले जरी के रेशमी वस्त्र धारण करनेवाले, आजानुबाहु, आरक्तनेत्र, मन्दहास्ययुक्त, सुन्दरमुख और जिन का मुखकमल काले घुंघुराले केश स्वरूप भौंरों से उत्तम शोभायमान है ऐसे उन प्रद्युम्न को देखकर, यह श्रीकृष्ण ही हैं ऐसा मानकर लज्जित हुई स्त्रियें, जहाँ तहाँ ओट में को

स्तत्र तत्र ह ॥ २८ ॥ अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ॥ उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः ॥ २९ ॥ अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ॥ अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ ३० ॥ को न्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ॥ धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥ ३१ ॥ मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात् ॥ एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥ ३२ ॥ कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ॥ आकृत्याऽवयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥ ३३ ॥ स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ॥ अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥ ३४ ॥ एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः ॥ देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ॥ ३५ ॥ विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ॥ नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम् ॥ ३६ ॥ तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ॥ अभ्यनन्दन्बहूनब्दान्नष्टं मृतमिवागतम् ॥ ३७ ॥

होने लगीं ॥ २७ ॥ २८ ॥ तदनन्तर वह स्त्रियें, धीरे २ श्रीकृष्णजी की अपेक्षा कुछ भेद से अर्थात् इन में श्रीवत्स कौस्तुभ आदि नहीं हैं इसकारण यह कृष्ण नहीं हैं ऐसा निश्चय करके हर्षयुक्त और विस्मित होतीहुई श्रेष्ठ स्त्रीसहित आयेहुए उन प्रद्युम्न के समीप आईं ॥ २९ ॥ फिर उन के देखने पर तिस रणवास में, नीले कटाक्ष और मधुर भाषणवाली रुक्मिणी, स्नेह से स्तनो में धार छुटने के कारण अपने पुत्र का स्मरण करने- लगी ॥ ३० ॥ और कहने लगी कि—यह कमलनयन मनुष्यों में श्रेष्ठ नजाने कौन है? किस का पुत्र है? कौनसी माता ने इस को अपने उदर में धारण करा है? और इस को मिली हुई यह स्त्री भी कौन है? ॥ ३१ ॥ मेरा भी जो पुत्र, सोवर के घर में से किसी के चुराकर लेजाने के कारण नष्ट होगया है वह यदि कहीं जीवित होयगा तो इस के समान ही अवस्था और रूप में होगा! ॥ ३२ ॥ इस ने, सूरत, अंग, चाल, स्वर, हँसना और चितवन से श्रीकृष्णजी की समानता नजाने कैसे पाई है? ॥३३॥ निःसन्देह जो बालक मैंने गर्भ में धारण करा था यह वही होगा और इस में मेरा प्रेम बढ़ता है तथा मेरी बाईं भुजा भी फड़करही है ॥ ३४ ॥ इसप्रकार रुक्मिणी के तर्क करतेहुए, देवकी वसुदेव के साथ पुण्यकीर्त्ति श्रीकृष्णजी भी तहाँ आपहुँचे ॥ ३५ ॥ तब, प्रद्युम्न को शम्बरासुर लेगया था इत्यादि वृत्तान्त को जानतेहुए भी वह भगवान् श्रीकृष्णजी, मौन ही रहे; उसी समय आयेहुए नारदजी ने, प्रद्युम्न को शम्बरासुर लेगया था इत्यादि सब वृत्तान्त उन वसुदेवादिकों से कहा ॥३६॥ वह नारदजीका कहा हुआ बडा भारी आश्चर्य सुनकर श्रीकृष्णजी के रणवास में की स्त्रियें, बहुत वर्षों का नष्टहुआ होने से मानो मरण को प्राप्त होकर ही फिर मिला ऐसे प्रद्युम्न को देखकर आनन्द को प्राप्त हुईं

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ॥ दंपती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥ ३८ ॥ नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ॥ अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति ह्यब्रुवन् ॥ ३९ ॥ यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावास्तन्मातरो यदभजन् रह रूढभावाः ॥ चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिंबबिंबे कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः ॥ ४० ॥ इतिश्रीभागवते म० दशमस्कंधे उ० पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ॥ स्यमंतकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥ १ ॥ राजोवाच ॥ सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन्कृष्णस्य किल्बिषं ॥ स्यमंतकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः ॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ आसी

॥ ३७ ॥ और देवकी, वसुदेव, श्रीकृष्ण, बलराम, रुक्मिणी और स्त्रियें यह सब, तिन प्रद्युम्नरतिरूप दम्पती को आलिङ्गन करके आनन्द को प्राप्तहुए ॥ ३८ ॥ द्वारकावासियों ने, नष्टहुए प्रद्युम्न फिर आगये हैं ऐसा समाचार सुनकर, अहो ! जैसे कोई मरण को प्राप्त होकर फिर आजाय तैसे प्रद्युम्नआये यह बडे आनन्द की वार्त्ताहुई ऐसा भाषणकरा ॥ ३९ ॥ स्वरूप से सब प्रकार श्रीकृष्णजी की समान जिस प्रद्युम्न में यह ही मेरे भर्त्ता हैं ऐसी वारम्बार भावना करनेवाली उन की माता (श्रीकृष्णजी की स्त्री) भी एकान्त में उन के सेवन को मन में विचारती थीं अथवा कामातुर हुईं अर्थात् कामातुर होकर एकान्त में दुबक जाती थीं; ऐसा जो हुआ सो कुछ स्मरणमात्र से ही क्षोभ उत्पन्न करनेवाले और तिसपर भी श्रीकृष्णजी की श्रीमूर्त्ति के प्रतिविम्ब * (पुत्र) प्रत्यक्ष दीखनेवाले उन कामरूप प्रद्युम्न में निःसन्देह आश्चर्य नहीं है; जब उन की माता की यह दशा हुई तो और स्त्रियें उन को देखकर मोहित होंगी इस का तो कहनाही क्या ? ॥४०॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में पञ्चपञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे छप्पनवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी, अपने ऊपर मिथ्यादोष लगने पर उस को दूर करने के निमित्त जाम्बवन्त से स्यमन्तक मणि लाये और उसी अवसर में श्रीकृष्णजी को जाम्बवान् की जाम्बवती नामवाली कन्या और सत्राजित की कन्या सत्यभामा यह दो स्त्रियें प्राप्त हुईं यह कथा वर्णन करी है ॥*॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! श्रीकृष्ण का अपराध करनेवाले सत्राजित ने, उस अपराध की शान्ति के निमित्त आप ही उद्योग करके स्यमन्तकमणिसहित अपनी कन्या सत्यभामा श्रीकृष्णजी को अर्पण करी ॥ १ ॥ राजा ने कहा कि—हे ब्रह्मन् ! सत्राजित् ने श्रीकृष्णजी का कौनसा अपराध करा था ? उस को स्यमन्तकमणि कहां से मिली थी ? और उस ने किस कारण से श्रीकृष्णजी को कन्या दी

---

* बिम्ब की समान ही प्रतिविम्ब में बुद्धि होती है इस में कुछ सन्देह नहीं है ।

त्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ॥ प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः
स्यमन्तकम् ॥ ३ ॥ स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ॥ प्रविष्टो द्वार-
कां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥ ४ ॥ तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्ट-
यः ॥ दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥ ५ ॥ नारायण नमस्तेऽस्तु
शङ्खचक्रगदाधर ॥ दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥ ६ ॥ एष आयाति
सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ॥ मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः
॥ ७ ॥ नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः ॥ ज्ञात्वाऽद्य गूढं
यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥ ८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ निशम्य बालवचनं
प्रहस्याम्बुजलोचनः ॥ प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥ ९ ॥
सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ॥ प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवे-
शयत् ॥ १० ॥ दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो ॥ दुर्भिक्षमार्य-

---

सो मुझ से कहो ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—सत्राजित् ने वन में जाकर सूर्य की भक्ति करी, तिस से उस के पूज्य और स्वामी भी वह सूर्य उस के मित्र की समान होगये. उन सूर्य ने तिस सत्राजित् की भक्ति से प्रसन्न और उस के ऊपर स्नेहयुक्त होकर उस को स्यमन्तक नामवाली एक मणि दी ॥ ३ ॥ तब हे राजन्! वह सत्राजित् तिसमणि को कण्ठ में धारण करके, उस के तेज से सूर्य की समान प्रकाशवान् होने के कारण कोई भी 'यहसत्राजित् हैं ऐसा' नहीं जानता था इसप्रकार द्वारका में गया॥४॥उस सत्राजित् को द्वारकावासियों ने दूर से ही देखकर दृष्टि चौंधाजाने से यह सूर्य है ऐसी शङ्का करी और फाँसो से खेलतेहुए श्रीकृष्ण भगवान् के पास जाकर कहने लगे कि- ॥५॥ हे नारायण ! हे शंख-चक्र-गदाधर ! हे दामोदर ! हे कमलनेत्र ! हे गोविन्द ! हे यादवों के आनन्दकारक ! तुम्हें नमस्कार हो ॥ ६ ॥ हे जगत्पते ! तुम्हें देखने की इच्छा करनेवाला यह तीखी किरणोंवाला सूर्य, अपनी किरणों के समूह से मनुष्यों के नेत्रों को चौंधाताहुआ आरहा है ॥ ७ ॥ यह कुछ असम्भव नहीं है, क्योंकि—निःसन्देह ब्रह्मादिक श्रेष्ठदेवता भी त्रिलोकी में तुम्हारे मार्ग को ढूँढते हैं इसकारण इससमय यादवों में मनुष्यावतार धारण करनेवाले तुम्हें जानकर हे प्रभो ! सूर्य तुम्हारे दर्शन करने को आरहा है ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! वह आनेवाला कौन है इस तत्त्व को न जाननेवाले अनजान पुरुषों का वह कथन सुनकर श्रीकृष्ण कहने लगे कि—यह सूर्य नहीं है किन्तु स्यमन्तकमणि से प्रकाशवान् होनेवाला सत्राजित् है ॥ ९ ॥ इधर सत्राजित् ने कौतुक से, जहां वन्दनवार बाँधना आदि मङ्गल करे हैं ऐसे शोभायमान करेहुए अपने घरमें प्रवेश करके ब्राह्मण से उस मणि की देवमन्दिर में स्थापना करवाई ॥ १० ॥ हे राजन् ! वह

रिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ॥ न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥ ११ ॥ स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा ॥ नैवार्थकार्मुकः प्रादाद्याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ॥ १२ ॥ तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ॥ प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने ॥१३॥ प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी ॥ गिरिं विशन जांबवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥ सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले ॥ अपश्यन् भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पर्यतप्यत ॥१५॥ प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः॥ भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे

मणि प्रतिदिन सोने के आठभार÷उत्पन्न करता था और जहाँ पूजा कराहुआ वह मणिहो तहाँ दुर्भिक्ष (महँगी), महामारी, ग्रहपीड़ा, सर्प का भय, मनका दुःख रोग और मायावीदैत्य आदि दुःखों के कारण, नहीं रहते हैं ॥ ११ ॥ एक समय श्रीकृष्णजी ने, ऐसीप्रभावशाली मणि राजा के पास होनी चाहिये ऐसा मनमें विचारकर, राजा उग्रसेन के निमित्त सत्राजित से उस मणि की प्रार्थना करी तब, उस द्रव्य के लोभी ने, भगवान् की आज्ञा टलती है इसका मन में विचार न करके मणि नहीं दिया; इस से यह सूचित करा कि—भगवान् को विना अर्पण करे स्वयं ही भोगीहुई सकल अनिष्टों को दूर करनेवाली भी वस्तु अनिष्ट का कारण होती है ॥ १२ ॥ यह ही दिखाने के निमित्त कहते हैं कि—बड़ी कान्तिवाले तिस मणि को, एकसमय सत्राजित् का भ्राता जो प्रसेन था वह अपने कंठ में बाँध घोड़ेपर बैठ के वन में मृगया (शिकार) करने को गया ॥ १३ ॥ तब एक सिंह ने घोड़ेसहित उस प्रसेन को मारकर मणि लेली, सो वह उस मणि को लिये पर्वतपर फिर रहा था तब उस मणि की इच्छा करनेवाले जाम्बवान् ने उस सिंह को मारडाला ॥ १४ ॥ उस जाम्बवान् ने भी अपने रहने के स्थान पर्वत की गुफा में उस मणि को अपने कुमार के खेलनें का खिलोना कर दिया; इधर सत्राजित्. अपने भ्राता को न देखताहुआ दुःखित होकर कहने लगा कि— ॥ १५ ॥ मेरा भ्राता प्रसेन कंठ में मणि धारण करके बन में गया था, उस को प्रायः मणि के लोभ से श्रीकृष्ण ने ही मारा है, क्योंकि—पहिले श्रीकृष्णजी के मणि को मांगने पर वह मैं ने नहीं दी थी इसकारण उन को यह अवसर मिला है, इसप्रकार का कथन सुनकर द्वारका-

÷ भारकी तोल- 'चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुंजं गुञ्जान् पञ्च पणं पणान् । अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम् ॥ तुलां पलशतं प्राहुर्भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः ॥ ' अर्थात्—चार जौ की एक गुंजा, पाँच गुंजाका एक पण, आठ पण का एक धरण, आठ धरण का एक कर्ष, चार कर्ष का एकपल, सौ पल की एक तुला और बीस तुला का एक भार होता है ऐसे आठ भार कई मन हुए ।

कर्णेऽजपन् जनाः ॥१६॥ भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि ॥ मार्ष्टुं प्रसेन-
पदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥ हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने ॥ तं
चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥ ऋक्षराजाबिलं भीममन्धेन तमसा वृतं ॥
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥ १९ ॥ तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बाल-
क्रीडनकं कृतं ॥ हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥ २० ॥ तमपूर्वं नरं
दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ॥ तच्छ्रुत्वाऽभ्यद्रवत्क्रुद्धो जांबवान्बलिनां वरः ॥
॥ २१ ॥ स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ॥ पुरुषं प्राकृतं मत्वा कु-
पितो नानुभाववित् ॥ २२ ॥ द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः ॥ आयुधा-
श्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥ २३ ॥ आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमु-
ष्टिभिः ॥ वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥ २४ ॥ कृष्णमुष्टिविनिष्पातनि-
ष्पिष्टांगोरुबन्धनः ॥ क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥ २५ ॥

वासी पुरुष भी, एक दूसरे के कान में धीरे २ यही कहने लगे ॥१६॥ फिर भगवान् ने भी वह वचन सुनकर, अपने ऊपर लगाहुआ अपजस दूर करने के निमित्त नगरवासी लोगों के साथ प्रसेन के मार्ग का पता लगाने के निमित्त वन में गमन करा ॥ १७ ॥ तब वन में सिंह के मारेहुए प्रसेन को और घोडे को देखकर उस सिंह को भी पर्वत के ऊपर जाम्बवान् का माराहुआ सब लोकों ने देखा ॥ १८ ॥ फिर गुहा के द्वार के बाहर सब लोगों को खडा करके, इकले ही भगवान् अन्धकार से भरीहुई और भयङ्कर तिस जाम्बवान् की गुफा में चलेगये ॥ १९ ॥ और उस बिल में बालक का खिलोना कराहुआ स्यमन्तक नामवाला श्रेष्ठ मणि देखकर उस को छीनने की इच्छा से उस बालक के समीप जाकर खड़े होगये ॥ २० ॥ तब, पहिले कभी भी न देखेहुए मनुष्यरूप श्रीकृष्ण को देखकर उस बालक की माता भयभीत हुई सी चिल्लाई; उसको सुनकर क्रोध में भराहुआ जाम्बवान् तहां आया ॥ २१ ॥ भगवान् का प्रभाव न जाननेवाले तिस जाम्बवान् ने उन को साधारण पुरुष मानकर और क्रुद्ध होकर पहिले (रामावतार में) अपने स्वामी होनेवाले तिन श्रीकृष्ण भगवान् के साथ ही युद्ध करा ॥ २२ ॥ परस्पर जीतने की इच्छा करनेवाले उन दोनों का, उस मणि के निमित्त गदा आदि आयुधों से, पत्थरों से भुजाओं से और वज्रपात की समान कठोर परस्पर घूँसों के प्रहारों से अतिभयानक द्वन्द्वयुद्ध हुआ वह युद्ध, जैसे मांस के निमित्त दो बाज पक्षियों का होता है तैसे रातदिन बराबर अट्ठाईस दिनतक एक समान होतारहा ॥ २३ ॥ २४ ॥ तब, श्रीकृष्णजी के घूँसे लगने से जिस के हाथ पैर आदि अङ्ग और शरीर के जोड़ चूरा २ होगए हैं, जिस का धीरज और बल क्षीण होगया है और जिस के शरीर में से पसीना छूट निकला है ऐसा वह जाम्बवान्, लोकों में यह मुझ से अधिक बलवान् नजाने कौन है ? ऐसा मानकर आश्चर्य में हो तिन

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ॥ विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥ २६ ॥ त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ॥ कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनां ॥ २७ ॥ यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिंगिलोऽब्धिः ॥ सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लंका रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥ २८ ॥ इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः ॥ व्याजहार महाराज भगवान्देवकीसुतः ॥ २९ ॥ अभिमृश्यारविंदाक्षः पाणिना शंकरेण तम् ॥ कृपया परया भक्तं प्रेमगम्भीरया गिरा ॥ ॥ ३० ॥ मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ॥ मिथ्याऽभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनाऽमुना ॥ ३१ ॥ इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ॥ अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥ ३२ ॥ अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः ॥ प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णजी से बोला कि—॥ २५ ॥ सकल प्राणियों का जो प्राण तिस में जो इन्द्रियबल, अन्तःकरणबल और शरीरबल सो सब तुम ही हो, ऐसा मुझे प्रतीत होता है; क्योंकि—विष्णु, पुराणपुरुष, पराक्रमी और सबों के नियन्ता तुम ही हो ॥ २६ ॥ तुम ही विश्वस्रष्टा ब्रह्मादिकों के निमित्त हो और महत्तत्त्व आदि रचनेयोग्य पदार्थों के उपादान कारणभी तुम ही हो;नाश करनेवाले सब के नियन्ता काल तैसे ही सकलजीवों के परमात्मा तुम हो॥२७॥ तुम जो इसप्रकार के हो तिस से मेरे इष्टदेवता अर्थात् जिन के कुछएक भड़केहुए क्रोध से फेंकेहुए कटाक्षों करके जिसमें नाके और बड़े २ मच्छ खलबलागये हैं ऐसे समुद्र ने लङ्का में जाने को मार्ग दिया तब भी उस के ऊपर जिन तुमने अपना यशोरूप सेतु बाँधा और लङ्का भस्म करडाली और जिन के बाणों से कटेहुए रावण के शिर भूमि पर गिरे वह रामचन्द्र तुम हो ऐसा मैं जानता हूँ ॥ २८ ॥ हे महाराज! इसप्रकार अपना स्वरूप जिस ने जाना है ऐसे तिस जाम्बवान् को, देवकीपुत्र भगवान् कमलनेत्र श्रीकृष्ण पहिले उस की पीड़ा दूर करने के निमित्त सुखदायक अपने हाथ से स्पर्श करके, परमकृपालु होतेहुए मेघ की गर्जना की समान गम्भीरवाणी से कहने लगे कि— ॥२९॥ ॥ ३० ॥ हे रिच्छराज! हम बहुत से यादव, इस स्यमन्तकमणि के निमित्त बिलके द्वार के समीप आये हैं,उन में से,अपने को लगाहुआ मिथ्या दोष इस मणि के द्वारा दूर करने के निमित्त मैं यहा आया हूँ ॥ ३१ ॥ ऐसे कहने पर हर्ष में भरेहुए तिस जाम्बवान् ने, भगवान् का पूजन करने के निमित्त मणि के साथ अपनी जाम्बवती नामक कन्या श्रीकृष्णजी को अर्पण करी ॥३२॥ इधर बिलके बाहर रहेहुए पुरुष बारह दिनपर्यन्त बाट देखकर भी, बिल में गयेहुए श्रीकृष्णजी लौटकर नहीं आये ऐसा देखकर दुःखित

निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः ॥ सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् बि-
लात्कृष्णमनिर्गतं ॥ ३४ ॥ सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः ॥ उ-
पतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥ ३५ ॥ तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्या-
दिष्टाशिषा स च ॥ प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥ ३६ ॥ उप-
लभ्य हृषीकेशं मृत्वा पुनरिवागतम् ॥ सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहो-
त्सवाः ॥ ३७ ॥ सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ ॥ प्राप्तिं चाख्याय
भगवान्मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मु-
खस्ततः ॥ अनुतप्यमानो भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥ ३९ ॥ सोऽनुध्यायं-
स्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः ॥ कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाऽच्युतः कथम्
॥ ४० ॥ किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ॥ अदीर्घदर्शनं

होतेहुए अपनी द्वारकानगरी में को चलेगये ॥३३॥ उन के मुख से, आज भी श्रीकृष्ण बिल से बाहर नहीं आये ऐसा सुनकर, देवकी, देवी रुक्मिणी, वसुदेवजी, मित्रगण और सब यादव शोक करनेलगे ॥ ३४ ॥ और दुःख को प्राप्तहुए वह द्वारकावासी पुरुष, सत्राजित् को दुर्वाक्य कहकर शाप देतेहुए श्रीकृष्ण की प्राप्ति के निमित्त भगवान् की शक्तिरूप चन्द्रभागा नामवली दुर्गादेवी की स्तोत्र नमस्कार और महापूजा आदि से आराधना करनेलगे ॥ ३५ ॥ उन आराधना करनेवाले द्वारकावासी पुरुषों को, देवी ने प्रसन्न होकर, यह आशीर्वाद दिया कि तुम शीघ्र ही कृष्ण को देखोगे। सो उसी समय स्यमन्तक मणि को पायेहुए और सबों को हर्षित करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, जाम्बवतीसहित द्वारका में आगये ॥ ३६ ॥ उस समय, द्वारकावासी सब लोग, जैसे लोक में मरेहुए बन्धु को फिर पाकर आनन्दयुक्त होते हैं तैसे स्त्रीसहित आयेहुए और जिन के कण्ठ में स्यमन्तकमणि है ऐसे श्रीकृष्णजी से मिलकर, बडे उत्साहयुक्तहुए ॥३७॥ तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णजी ने, सभा में उग्रसेन राजा के सामने उस सत्रा-जित् को बुलवाकर और उस से उस मणि के पाने का वृत्तान्त कहकर वह मणि समर्पण करदी ॥ ३८ ॥ तब वह सत्राजित् भी, श्रीकृष्णजी को मिथ्या दोष लगाने के कारण लज्जित होकर नीचे को मुख करेहुए पश्चात्ताप करताहुआ उस सभा में से मणि लेकर अपने घर को चलागया॥३९॥तदनन्तर बलवान् श्रीकृष्णजी के साथ विरोध होजाने से व्याकुल हुआ वह सत्राजित्, उस अपने करेहुए अपराध का चिन्तवन करताहुआ तथा, अब मैं अपने अपराध को कैसे दूर करूं? श्रीकृष्ण मेरे ऊपर कैसे प्रसन्न होंगे?क्या करने से मेरा कल्याण होगा?आगे पीछे का विचार न करनेवाला, कृपण, मन्दबुद्धि और धन का लोभ करने-

क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥ ४१ ॥ दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ॥ उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥ ४२ ॥ एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित्स्वसुतां शुभां ॥ मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥ तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ॥ बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥ भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप ॥ तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥४५॥ इ० भा० म० दशमस्कन्धे उ० षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ विज्ञातार्थोऽपि गोविंदो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ॥ कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥ १ ॥ भीष्मं कृपं सविदुरं गांधारीं द्रोणमेव च ॥ तुल्यदुःखौ च संगम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥ २ ॥ लब्ध्वैतदन्तरं

वाला जो मैं तिस की जिसप्रकार लोग निन्दा न करें ऐसा कौनसा उपायकरूं ? ॥ ४० । ४१ ॥ ऐसा विचारकर उस ने यह निश्चय करा कि—मैं उन श्रीकृष्णजी को, स्त्रियों में रत्नरूप अपनी कन्या देता हूँ और फिर दहेज में वह मणि भी देता हूँ; यह ही विरोध के शांत होने का उत्तम उपाय है; ऐसा करेविना उस विरोध की शांति नहीं होगी ॥४२ ॥ इस प्रकार बुद्धि से निश्चय करके उस सत्राजित् ने, शुभलक्षणोंवाली अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तक मणि, आपही उद्योग करके श्रीकृष्णजी को दीं ॥ ४३ ॥ कृतवर्मा, शतधन्वा आदि बहुतों की याचना करीहुई और श्रेष्ठस्वभाव, सुन्दरता, उदारतारूप गुणों से युक्त तिस सत्यभामा को भगवान् ने विवाह की विधि से वरलिया ॥ ४४ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णजी सत्राजित् से बोले कि—हम मणि को नहीं लेंगे, तुम सूर्य के भक्तहो इसकारण यह मणि अपने पासही रहने दो; तुम्हारे पुत्रहीन होने के कारण पीछे से धन आदि के अधिकारी हम ही हैं ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में षट्पञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे सत्तावनवे अध्याय में, शतधन्वा के वध से फिर प्राप्तहुआ अपयश, श्रीकृष्णजी ने, अक्रूरजी की लाईहुई मणि के द्वारा दूर करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ अब सत्राजित् के, श्रीकृष्ण की आज्ञा भङ्गकरने का फल स्पष्ट कहने के निमित्त श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! एससमय पाण्डव, लाखाघर में से विदुरजी के रक्खे हुए बिल (सुरङ्ग) के द्वार से बाहर निकलगये, भस्म नहीं हुए; यह वृत्तान्त जाननेवाले भी श्रीकृष्णजी, लोकों के मुख से पाण्डवों का और कुन्ती का लाखाघर में भस्म होना सुनकर, कुल के योग्य (खबर सुधलाना) व्यवहार के निमित्त कुरुदेश में के हस्तिनापुर को बलरामजी के साथ गये ॥ १ ॥ तहां भीष्मजी कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और द्रोणाचार्य से मिलकर उन के ही दुःख की समान जिन को दुःख हुआ है ऐसे वह बलराम कृष्ण, उन से कहनेलगे कि—यह बड़े दुःख की बात

मर्धावत्संत्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा ॥ २० ॥ पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्ति-
ग्मनेमिना ॥ चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम् ॥ २१ ॥ अलब्ध-
मणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ॥ वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्य-
ते ॥ २२ ॥ तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ॥ कस्मिंश्चित्पुरुषे न्य-
स्तस्तमन्वेष पुरं व्रज ॥ २३ ॥ अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ॥
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन्विवेश यदुनन्दनः ॥ २४ ॥ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय
मैथिलः प्रीतमानसः ॥ अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥ २५ ॥
उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ॥ ततोऽशिक्षद्गदां काले
धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥ मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ॥ २६ ॥
केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ॥ अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः
प्रियकृद्विभुः ॥ २७ ॥ ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ॥ साकं

भयभीत हुआ वह शतधन्वा पैदल ही भागनेलगा तब श्रीकृष्णजी भी क्रोध से उसके पीछे होलिये ॥ २० ॥ तब पैदल चलनेवाले भगवान्, पैदल भागनेवाले उस शतधन्वा का मस्तक तीखी धारवाले चक्र से काटकर उस के पहिरे और ओढ़ेहुए वस्त्र में मणि को ढूँढनेलगे अर्थात् अक्रूरजी के पास मणि है यह सर्वज्ञ होने के कारण जानते थे तथापि बलरामजी को वंचन करने के निमित्त उन्होंने ढूँढा ॥ २१ ॥ तब जिन को मणि नहीं मिली ऐसे वह श्रीकृष्णजी, बलरामजी के पास जाकर कहने लगे कि–मैंने शतधन्वा को व्यर्थ ही मारा, उस के पास स्यमन्तक मणि नहीं है ॥ २२ ॥ फिर बलरामजी ने, यह सर्वज्ञ कृष्ण का इसप्रकार करना मुझे धोखा देने के निमित्त है ऐसा जानकर क्रोध को गुप्त रखकर श्री-कृष्णजी से कहा कि–शतधन्वा ने वह मणि किसी के पास रखदी है सो ढूँढने के निमित्त तुम द्वारका को चलो ॥ २३ ॥ मैं तो, अपने अत्यन्त प्रियमित्र राजा जनक को देखने की इच्छा करता हूँ; हे राजन्! इसप्रकार बलरामजी ने श्रीकृष्णजी से कहकर मिथिला नगरी में प्रवेश करा ॥२४॥ उन बलरामजी को देखकर प्रसन्नचित्तहुए राजा जनक ने, शीघ्रता से उठकर पूजा करने के योग्य तिन बलरामजी की पाद्य, अर्घ्य, माला, चन्दन आदि सामग्रियों से विधिपूर्वक पूजा करी ॥ २५ ॥ फिर प्रीतियुक्त और उदारचित्त उन राजा जनक के सत्कार करेहुए वह बलरामजी, उस मिथिला नगरी में कई वर्षपर्यन्त रहे तब अवसर मिलने के कारण उन बलरामजी से धृत-राष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने गदायुद्ध सीखलिया ॥ २६ ॥ इधर सत्यभामा का प्रिय करने वाले उन प्रभु श्रीकृष्णजी ने द्वारका में आकर सत्यभामा से कहाकि–हमने शतधन्वा को मारडाला परन्तु उस के पास मणि नहीं मिली ॥ २७ ॥ फिर उन श्रीकृष्णजी ने, जोजो

सुहृद्भिर्भगवान्याः याः स्युः सांपरायिकाः॥२८॥अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ॥ व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥ २९ ॥ अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन्वै द्वारकौकसां ॥ शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥ ३० ॥ इत्यंगोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ॥ मुनिर्वासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥ ३१ ॥ देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै ॥ स्वसुतां गांदिनीं प्रादात्ततोऽवर्षत्स्म काशिषु ॥ ३२ ॥ तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह ॥ देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः ॥ ३३ ॥

किया मरण को प्राप्त हुए को परलोक में हित कारक होती हैं वह २ सब अपने श्वसुर सत्राजित् की क्रियाएँ उस के सुहृदों से करवाई ॥ २८ ॥ अक्रूर और कृतवर्मा यह दोनों, शतधन्वा का वध सुनकर, उन्हों ने प्राण लेने में शतधन्वा को उकसाया था इसकारण भय से अतिडरकर द्वारका से दूसरे स्थान को भागगये ॥ २९ ॥ फिर वाराणसी (बनारस) में,मणि को हाथ में करेहुए अक्रूरजी,दानपति नाम से प्रसिद्ध होकर सुवर्ण की वेदियें बनाकर बड़े २ यज्ञों से भगवान् का आराधन करते थे, सो यह समाचार पाकर लोग कानोंकान ही कहनेलगे कि—श्रीकृष्णजी ने ही अक्रूरजी को बनारस भेजदिया है और सत्यभामा बलराम कोभी यही विश्वास होगया तब लोकापवाद को दूर करने के निमित्त भगवान् ने अक्रूरजी को बुलवाकर वह वृत्तान्त ललकार कर बूझा ; भगवान् का यह मत गुप्त रखकर कितने ही ऋषि, अक्रूरजी को बुलानेका दूसरा ही कारण वर्णन करते हैं उन के मत का दूषण करने के निमित्त अनुवाद करते हैं कि—अक्रूरजीके द्वारकामें से निकलकर चले जाने के कारण द्वारकावासी लोकों को दुःख प्राप्तहुए, शरीर के व्याध्रभय आदि, मनके चिन्ता आदि, दैवी अवर्षा आदि और भौतिक सर्प का डसलेना आदि तापों को वारंवार भोगने लगे ॥ ३० ॥ इस मत का दूषण करते हैं कि—हे राजन् ! मैंने जो पहिले श्रीकृष्णजी का माहात्म्य कहा उस को भूलकर कितने ही इसप्रकार का उपदेश करते हैं; उस द्वारका में श्रीकृष्णजी का निवास होतेहुए केवल अक्रूरजी के चलेजाने से दुःखों का दर्शन कैसे होसक्ता था ? अर्थात् भगवान् की इच्छा के विना तहाँ दुःखों का आना कदापि नहीं होसक्ता था ॥ ३१ ॥ फिर उनके मतका ही वर्णन करते हैं कि—पूर्वकाल में काशिदेशों में इन्द्र ने वर्षा नहीं करी तब काशिदेशों के स्वामी ने, तहाँ आयेहुए श्वफल्क को अपनी गान्दिनी नामवाली कन्या दी तिस के अनन्तर काशिदेशों में इन्द्र वर्षा करनेलगा ऐसा प्रसिद्ध है ॥ ३२ ॥ तिस श्वफल्क के पुत्र यह अक्रूरजी भी उस श्वफल्क की समान ही प्रभाव शाली थे इसकारण वह जहाँ २ वास करते हैं तहाँ २ इन्द्र वर्षा करता है और शरीर के दुःख आदि तथा महामारी आदि उपद्रव भी नहीं होते हैं इसकारण अक्रूरजी के परदेश

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ॥ इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥ ३४ ॥ पूजयित्वाऽभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ॥ विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥ ३५ ॥ ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना ॥ स्यमंतको मणिः श्रीमान्विदितः पूर्वमेव नः ॥ ३६ ॥ सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ॥ दायं निनीयापः पिण्डान्विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥ ३७ ॥ तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ॥ किंतु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥ ३८ ॥ दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शांतिमावह ॥ अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तंते रुक्मवेदयः ॥ ३९ ॥ एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिं ॥ आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥ ॥ ४० ॥ स्यमंतकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ॥ विमृज्य मणिना भूय-

चलेजाने से ही ऐसे उत्पात होते हैं ॥ ३३ ॥ इसप्रकार की अक्रूरजी की महिमा वर्णन करनेवाले वृद्धहोने के अभिमानी, पुरुषों के वाक्य सुनकर—ऐसा ठीक है परन्तु इतनाही कारण नहीं है किन्तु मणि चलागया यह भी कारण है ऐसा समझकर दूतों से अक्रूरजी को बुलवाकर श्रीकृष्णजी उन से कहनेलगे ॥ ३४ ॥ अर्थात् आयेहुए अक्रूरजी की पहिले पूजा करके तथा और नानाप्रकार की प्रिय बातें कहकर, सर्वज्ञ होने के कारण अक्रूरजी के चित्तकोजाननेवाले भगवान् इन, महाभागको मेरेदियेहुएभी मणिकीचाहनानहींहैक्योंकि— मेरेबुलवानेपर यहमणिसहित ही चलेआयेहैं ऐसा जानकर हँसतेहुए कहनेलगे कि—॥ ३५ ॥ हे दानपते ! शतधन्वा का रक्खाहुआ सुन्दर स्यमन्तक मणि तुम्हारे पास है सो हमें पहिले से ही मालूम है ॥ ३६ ॥ सत्राजित् के पुत्रहीन होने के कारण उसकी कन्या (सत्यभामा) के पुत्र, सत्राजित् को तिलोदक और पिण्डदान देकर और जो कुछ ऋण होय उसको चुकाकर शेष रहेहुए धन को ग्रहण करनेवाले हैं ॥ ३७ ॥ सो वह मणि उन के लेनेका है तथापि दूसरे पुरुषों को उसे वर्त्ताव में लाना कठिन है इसकारण आचारवान् तुम अपने पास ही रहने दो; परन्तु बलरामजी मणि के विषय में मेरे ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं अर्थात् मन में समझते हैं कि—इसने ही मणि छुपालिया है ॥ ३८ ॥ इससे हे महाभाग ! तुम मणि दिखाओ और बन्धुओं के चित्त को शान्त करो; मणि नहीं है ऐसा न कहो, क्योंकि—सुवर्ण की वेदी बनायेहुए यज्ञ तुम्हारे निरन्तर प्रारम्भ होरहे हैं इस कारण तुम्हारे पास ही मणि होने का अनुमान होता है ॥ ३९ ॥ इसप्रकार साम (समझाने) की रीतियों से समझायेहुए अक्रूरजी ने, वस्त्र में लपेटकर रक्खाहुआ सूर्य की समान कान्तिमान् वह श्रीकृष्णजी को दिया ॥ ४० ॥ तब प्रभु श्रीकृष्णजी ने, बलराम आदि बान्धवों को मणिदिखलाकर उस मणि के द्वारा अपने को लगाहुआ मिथ्यादोष दूरकरके फिर,

स्तस्मै प्रत्यर्पयत्प्रभुः ॥ ४१ ॥ यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोर्वीर्याढ्यं वृजि-
नहरं सुमङ्गलं च ॥ आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य
याति शान्तिं ॥ ४२ ॥ इति॰ भा॰ म॰ द॰ उ॰ स्यमन्तकोपाख्याने सप्तप-
ञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा पाण्डवान्द्रष्टुं प्र-
तीतान्पुरुषोत्तमः ॥ इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान्युयुधानादिभिर्वृतः ॥ १ ॥ दृष्ट्वा त-
मागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ॥ उत्तस्थुर्युगपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम्
॥ २ ॥ परिष्वज्याच्युतं वीरा अंगसंगहतैनसः ॥ सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य
तस्य मुदं ययुः ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवंदनम् ॥ फाल्गुनं
परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः ॥ ४ ॥ परमासन आसीनं कृष्णा कृष्ण-
मनिंदिता ॥ नवोढा व्रीडिता किंचिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत ॥ ५ ॥ तथैव सा-

---

इस मणि को व्यवहार में लाना दूसरों को अशक्य है इस मिष से, अक्रूरजी को ही फिर देदिया ॥ ४१ ॥ जो पुरुष, भगवान् ईश्वर विष्णु के प्रभाव से युक्त पातकों का नाश करनेवाले और पुण्यदायक इस आख्यान को पढ़ता है, सुनता है तथा स्मरण करता है वह पुरुष, अपनी दुष्कीर्त्ति तथा दुष्कीर्त्ति के कारण पाप को दूर करके मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में सप्तपञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अट्ठावनवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा इन पांच स्त्रियों के साथ विवाह करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! एकसमय, नष्ट होगए ऐसा सुनेहुए परन्तु फिर द्रुपद के घर सबों के देखेहुए पाण्डवों को देखने के निमित्त श्रीमान् श्रीकृष्णजी ने, सात्यकि आदि यादवों के साथ इन्द्रप्रस्थ (देहली) को गमन करा ॥ १ ॥ तब वह शूर पाण्डव, तिन आयेहुए सर्वनियन्ता श्रीकृष्णजी को देखकर, जैसे मूर्छित हुई इन्द्रियें, प्राण अपान आदि पांच प्रकार के भेदवाले मुख्य प्राण के आजाने पर एकसाथ चेष्टायुक्त होजाती हैं तैसे ही एकसाथ उठकर खड़े होगए ॥ २ ॥ और उन धर्मराज आदिकों ने, श्रीकृष्णजी को आलिङ्गन करके और उन के अङ्ग के संग से पापरहित होकर उन के प्रेमयुक्त मन्दहास्यवाले मुख को देखा और आनन्द को प्राप्तहुए ॥ ३ ॥ उससमय श्रीकृष्णजी ने बडे धर्मराज और भीमसेन के चरणों को वन्दना करके समान अवस्थावाले अर्जुन को हृदय से लगाया तदनन्तर छोटे नकुल सहदेव ने उन श्रीकृष्णजी को प्रणाम करा ॥ ४ ॥ तदनन्तर वह श्रीकृष्णजी उत्तम सिंहासनपर बैठे तब पाँच की स्त्री होकर भी अनिन्दित और तब ही विवाह होकर आने के कारण कुछएक लज्जित हुई द्रौपदी ने धीरे २ श्रीकृष्णजी के समीप आकर उन को वन्दना करी ॥ ५ ॥

त्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवंदितः ॥ निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्यु-
पासिताः॥६॥पृथां समागत्य कृताभिवादनस्तयातिहार्दार्द्रदृशाऽभिरंभितः ॥आपृ-
ष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबांधवः ॥ ७ ॥ तमाह प्रेमवैक्ल
व्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना ॥ स्मरन्ती तान्वहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥८॥
तदैवं कुशलं नोभूत्सनाथास्ते कृता वयम् ॥ ज्ञातीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता
मे प्रेषितस्त्वया ॥ ९ ॥ न तेऽस्ति स्वपरभ्रांतिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः ॥ त-
थाऽपि स्मरतां शश्वत् क्लेशान्हंसि हृदि स्थितः ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥
किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ॥ योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो
दृष्टः कुमेधसां ॥ ११ ॥ इति वै वार्षिकान्मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम् ॥
जनयन्नयनानन्दमिंद्रप्रस्थौकसां विभुः ॥ १२ ॥ एकदा रथमारुह्य विजयो वा-

---

जैसे पाण्डवों ने श्रीकृष्णजी की पूजा करी तैसे ही सात्यकि ने भी पूजा करके उन को प्रणाम करा फिर वह भी आसन पर बैठा तैसे ही और भी यादव पाण्डवों से पूजित होतेहुए श्रीकृष्णजी के चारों ओर बैठे ॥ ६ ॥ फिर श्रीकृष्णजी ने कुन्ती के पास जाकर उस को प्रणाम करा तब अतिस्नेह से जिस के नेत्र जल से भर आये हैं ऐसी तिस कुन्ती ने, श्रीकृष्ण को छाती से लगाकर वसुदेव आदि बाँधवों का कुशल बूझा और श्रीकृष्णजी ने भी पुत्रवधूसहित तिस पिता की बहिन (बुआकुन्ती) से कुशल बूझा तब— ॥ ७ ॥ प्रेम के कारण जो व्याकुलता तिस से जिस का कण्ठ गद्गद होगया है और जिस के नेत्रों में दुःख के आंसू आगये हैं ऐसी वह कुन्ती, पहिले भोगेहुए बहुतसे क्लेशों को स्मरण करतीहुई, भक्तों के क्लेश दूर करने के निमित्त अपना स्वरूप दिखानेवाले तिन श्रीकृष्णजी से कहने लगी कि— ॥ ८ ॥ हे कृष्ण! जब हम बन्धुओं का स्मरण करनेवाले तुम ने, हमारा वृत्तान्त जानने के निमित्त, मेरे भ्राता अक्रूर को भेजा था तब ही हमारा कुशल होगया, तथा तुम ने भी हम अनाथों को सनाथ करा है ॥ ९ ॥ हे कृष्ण! जगत् के मित्र और आत्मा तुम को 'यह अपना है और यह पराया है इसप्रकार की' भ्रान्ति नहीं है तथापि स्मरण करनेवाले भक्तों के हृदय में तुम निरन्तर रहकर उन के क्लेशों का नाश करते हो ॥ १० ॥ धर्मराज ने कहा कि—हे सर्वेश्वर! योगेश्वरों को भी कठिनता से दर्शन देनेवाले तुम जो, हम विषयासक्त पुरुषों के दृष्टिगोचर हुए हो सो हमने कौन पुण्य करा था, यह मैं नहीं जानता ॥ ११ ॥ इसप्रकार धर्मराज ने जिनकी स्तुति पूजा आदि करके प्रार्थना करी है ऐसे वह भगवान् श्रीकृष्णजी, इन्द्रप्रस्थ में रहनेवाले लोकों के नेत्रों को आनन्द देतेहुए चारमास पर्यन्त सुखके साथ तहां रहे॥ १२ ॥एकसमयशत्रुओं

नरध्वजम् ॥ गांडीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥ १३ ॥ साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्तुं गहनं वनम् ॥ बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत्परवीरहा ॥१४॥ तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान्सूकरान्महिषान् रुरून् ॥ शरभान् गवयान् खड्गान्हरिणान् शशशल्लकान् ॥ १५ ॥ तान्निन्युः किंकरा राज्ञे मेध्यान्पर्वण्युपागते ॥ तृट्परीतः परिश्रांतो बीभत्सुर्यमुनामगात् ॥ १६ ॥ तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ ॥ कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥ १७ ॥ तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननां ॥ पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमां ॥ १८ ॥ का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतोऽसि किं चिकीर्षसि ॥ मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥ १९ ॥ कालिंद्युवाच ॥ अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ॥ विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥ २० । नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम् ॥ तुष्यतां मे स भगवान्मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥ २१ ॥ कालिंदीति समाख्याता वसामि यमुना-

का नाश करनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णजी के साथ, जिस की ध्वजा पर हनुमानजी की मूर्त्ति है ऐसे रथपर बैठकर, गाण्डीव नामक धनुष, जिसमें कभी बाण कम नहीं होते ऐसे तरकस लेकर और कवच पहिनकर मृगया (शिकार) करने को, बहुतसे अजगर और हिरनों से भरेहुए भयङ्कर वन में गमन करा ॥ १३ ॥ १४ ॥ और तिस वन में बाणों से बाघ, सूकर, महिष, काले हिरन, शरभ, गवय, गैंडे, हरिण, खरगोश, और सेई इन का वध करा ॥१५॥ उन में से श्राद्ध आदि कर्म के योग्य कितने ही मृग, पर्व युक्त अष्टकाश्राद्ध आदि कर्म आने पर धर्मराज के पास सेवकों से पहुँचवा दिये फिर पियास से व्याकुल और थकेहुए अर्जुन यमुनाके तटपरगये॥१६॥तहाँ उन महारथी श्रीकृष्ण और अर्जुन ने, यमुना में स्नान करके और उस का निर्मलजल पीकर उस यमुनाके तटपर विचरतीहुई सुन्दरस्वरूपवाली एक कन्या देखी ॥ १७ ॥ तब सखा श्रीकृष्णजी के भेजे हुए अर्जुन ने, जिस की जंघा सुन्दर हैं, जिस के दांत उत्तम हैं और जिस का मुख सुन्दर है ऐसी उस श्रेष्ठ स्त्री के समीप जाकर बूझा कि- ॥ १८ ॥ हे सुश्रोणि! तू कौन है? किस की है? तू यहाँ कहाँ से आई है? और यहां आकर तू क्या करने की इच्छा कर रही है? मैं तो तुझे पति की इच्छा करनेवाली है ऐसा समझता हूँ इस से हे शोभने! तू यह सब मुझे बता ॥ १९ ॥ कालिन्दी बोली कि-मैं सूर्यदेव की कन्या हूँ, इच्छित वर देनेवाले श्रेष्ठ विष्णु भगवान् मुझे वर मिलें-ऐसी इच्छा करके यहाँ परम तप करती रहती हूँ ॥ २० ॥ हे वीर! अर्जुन! लक्ष्मी के भी आश्रयस्थान तिन विष्णुभगवान् से दूसरे पति को मैं नहीं वरूंगी; वह अनाथों के आश्रय मुकुन्द भगवान् ही मेरे ऊपर प्रसन्न

जले ॥ निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥ २२ ॥ तथाऽवददुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि तां ॥ रथमारोप्य तद्विद्वान्धर्मराजमुपागमत् ॥ २३ ॥ यदैव कृष्णः संदिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ॥ कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥ २४ ॥ भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियचिकीर्षया ॥ अग्नये खांडवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥ २५ ॥ सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयान् श्वेतान् रथं नृप ॥ अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥ मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् ॥ यस्मिन्दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः ॥२७॥ स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ॥ आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः ॥ ॥ २८ ॥ अथोपयेमे कालिंदीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ॥ वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥ २९ ॥ विंदानुविंदावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ॥ स्वयंवरे

हों॥२१॥कालिन्दी नाम से प्रसिद्ध मैं,जब श्रीकृष्णजी का दर्शन नहीं होगा तब तक के लिये इस यमुना के जलमें पिता(सूर्यदेव)के रचना करेहुए घरमें बसती हूँ॥२२॥फिर अर्जुन ने श्रीकृष्णजीके पास आकर जैसे कालिन्दी ने कहा था तैसे ही वह वृत्तान्त श्रीकृष्णजी से कहदिया,वहँ श्रीकृष्णजी भी, मेरी प्राप्ति के निमित्त यह तप कररही है ऐसा पहिले से ही जाननेके कारण उस को रथपर बैठालकर हस्तिनापुर में धर्मराज के समीप लाये ॥२३॥ हमारे रहने को नगर नहीं है सो बनवाओ ऐसी पाण्डवों ने जब श्रीकृष्णजी की प्रार्थना करी तब उन पाण्डवों के रहने के निमित्त विश्वकर्मा से, परम आश्चर्यकारी और नानाप्रकार की शिल्परचनाओं से शोभायमान नगर उत्पन्न करवाया ॥ २४ ॥ और तहाँ अपने पाण्डवों का प्रिय करने की इच्छा से रहनेवाले वह भगवान् श्रीकृष्णजी, एक समय अर्जुन को धनुष आदि प्राप्त कराने के निमित्त तथा अग्नि को इन्द्र का खाण्डवनामक वन देने के निमित्त अर्जुन के सारथी हुए ॥ २५ ॥ हे राजन्! फिर खाण्डव वन को जलानेवाला वह अग्नि प्रसन्न हुआ और उसने अर्जुन को विजयी रथ, गाण्डीव धनुष, स्वेत घोड़े, अक्षय तर्कस और जिस को शस्त्रधारी न वेधसकें ऐसा कवचदिया ॥ २६ ॥ और उससमय खाण्डव वन को जलानेवाले अग्नि से जिसकी रक्षाकरी है ऐसे मयासुर ने भी अर्जुन को एक बड़ी भारी सभा रचकर दी. जिस सभा में दुर्योधन को जल में स्थल की बुद्धि और स्थलमें जल की बुद्धिरूप दृष्टि का भ्रम होता था ॥ २७ ॥ फिर तिस अर्जुन ने, आज्ञा दी और युधिष्ठिर आदि सुहृदों ने भी स्वीकार करलिया तब वह श्रीकृष्णजी,सात्यकि आदि यादवों के साथ फिर द्वारका को आगये ॥ २८ ॥ फिर विवाह के योग्य ऋतु और नक्षत्र के होने पर ग्रहबलादियुक्त मुहूर्त्त में यादवों को परममङ्गलकारी परमानन्द उत्पन्न करनेवाले श्रीकृष्णजी ने, तिस कालिन्दी के साथ विवाह करलिया ॥ २९ ॥ अवन्तीदेश के राजे विन्द

स्वंभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यपेधतां ॥ ३० ॥ राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविंदां पितृष्वसुः ॥ प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यतां ॥ ३१ ॥ नग्नजिन्नाम कौसल्य आसीद्राजाऽतिधार्मिकः ॥ तस्य सत्याऽभवत्कन्या देवी नाग्नजिती नृप ॥ ३२ ॥ न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् ॥ तीक्ष्णशृंगान्सुदुर्धर्षान् वीरगंधासहान् खलान् ॥३३॥ तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान्सात्वतां पतिः ॥ जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः ॥३४॥ स कोसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ अर्हणेनापि गुरुणापूजयत्प्रतिनंदितः ॥ ३५ ॥ वरं विलोक्याभिमतं समागतं नरेंद्रकन्या चकमे रमापतिम् ॥ भूयादयं मे पतिराशिषोऽनलाः करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः ॥ ३६ ॥ यत्पादपंकजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीरब्जजः सगिरिशः सह लोकपालैः ॥ लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयेशः काले दधत्स भगवान्मम केन तुष्येत् ॥ ३७ ॥ अचिं-

---

और अनुविन्द दुर्योधन के वश में रहते थे इसकारण उस की ही संमति से कार्य करते थे, उन्हों ने स्वयम्वर में श्रीकृष्णजी को वरने के निमित्त उद्यत हुई अपनी वहिन को निषेध करा ॥ ३० ॥ तदनन्तर हे राजन् ! पिता की वहिन राजाधिदेवी की कन्या तिस मित्रविन्दा को सब राजाओं के देखतेहुए ही बलात्कार से श्रीकृष्णजी ने हरलिया ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! कोसल देशों का स्वामी, अयोध्या में रहनेवाला नग्नजित् नामवाला परमधर्मात्मा राजा था, उस के ही नाम से नाग्नजिती नाम से प्रसिद्ध, कान्तियुक्त सत्या नामवाली उस की कन्या थी ॥ ३२ ॥ उस को वरने के विषय में, तीखे सींगोंवाले, वीरों की गन्ध को भी न सहनेवाले, मरखने और जिन को वश में करना कठिन था ऐसे सात मत्त वृषभों को जीतेविना कोई भी राजे (कन्या लेजानेको) समर्थ नहीं हुए ॥ ३३ ॥ तव उन वृषभों को जीतनेवाले पुरुष को ही वह कन्या मिलेगी ऐसा सुनकर, यादवों के पति श्रीकृष्णजी, बड़ीभारी सेना को साथ लेकर कोसलदेशों के विषै तिस अयोध्या नगरी में गये ॥३४॥ तव वह कोसलपति राजा नग्नजित्. तिन श्रीकृष्णजी को आया हुआ देखकर उठकर अगवानी को सामने गया और आसन पाद्य आदि बड़ाभारी सामग्री से उन का पूजन करके, आप का शुभागमन हुआ इत्यादि वाणी से भी उन का सत्कार करा ॥ ३५ ॥ तव राजकन्या ने उन आयेहुए अपने मनमाने लक्ष्मीपति वर को देखकर, उन की इच्छा करी और कहने लगी कि–यदि मैंने व्रतादि नियमों से इन का मन में चिन्तवन करा होय तो यह मेरे पति होयँ और मनोरथों को सफल करें ॥ ३६॥ जिन के चरण कमल की धूलि, लक्ष्मी, शिव और लोकपालों सहित ब्रह्माजी मस्तकपर धारण करते हैं वह अपनी करीहुई मर्यादा की रक्षा करने की इच्छा से, धर्म का लोप होनेके समय लीलावतार धारण करनेवाले भगवान् ईश्वर, मेरे ऊपर कैसे प्रसन्न होंगे ? वह केवल कृपा करके ही मुझे

तं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ॥ आत्मानंदेन पूर्णस्य करवाणि किमल्प-
कः ॥ ३८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तमाह भगवान् हृष्टः कृतासनपरिग्रहः ॥ मे-
घगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ॥ ३९ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ नरेंद्र
याच्ञा कविभिर्विगर्हिता राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ॥ तथाऽपि याचे तव सौ-
हृदेच्छया कन्यां त्वदीयां नहि शुल्कदा वयम् ॥ ४० ॥ राजोवाच ॥ को
ऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः ॥ गुणैकधाम्नो यस्यांगे श्रीर्वसे
त्यनपायिनी ॥ ४१ ॥ किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ ॥ पुंसां
वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया ॥ ४२ ॥ सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरव
ग्रहाः ॥ एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥ ४३ ॥ यदीमे निगृ
हीता स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ॥ वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते ४४॥
एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः ॥ आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्ली-
लयैव तान् ॥ ४५॥ बद्ध्वा तान्दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः ॥ व्यकर्ष-

स्वीकार करें ॥३७॥ इधर पूजा करेहुए तिन भगवान् से राजा नग्नजित् कहने लगा कि–हे नारायण ! हे जगत्पते ! आत्मानन्द से ही परिपूर्ण ऐसे तुम्हारा, छोटासा मैं कौनसा कार्य करूँ ? अर्थात् किस कार्य से तुम्हारी प्रसन्नता होगी सो आज्ञा करिये ॥ ३८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! उससमय जिन्होंने आसन आदि ग्रहण करा है ऐसे वह भगवान् श्रीकृष्णजी, हर्षयुक्त होकर मेघ की गर्जना की समान गम्भीर वाणी में मन्दहास्य के साथ कहनेलगे कि–॥ ३९ ॥ हे राजेन्द्र ! अपने धर्म से वर्त्ताव करनेवाले क्षत्रिय को, याचना करना, यद्यपि कवियों ने लोक और शास्त्र से निषेध करा है तथापि तुम्हारा बन्धुत्व से स्नेह होय इस इच्छा से तुम्हारी कन्या की हम तुम्हारे समीप याचना करते हैं ॥४०॥ राजा ने कहा कि–हे नाथ ! तुम से अधिक उत्तम इस लोक में कन्या का इच्छित दूसरा वर कौन है ? गुणों के एकही स्थान जिन तुम्हारे वक्षःस्थल में लक्ष्मी निरन्तर वास करती है ॥ ४१ ॥ परन्तु हे यादवश्रेष्ठ ! बड़े को कन्या देय ऐसा उचित है इसकारण कन्या को तैसा वर प्राप्त होने की इच्छा से, पुरुषों के बल आदि की परीक्षा होने के निमित्त हमने पहिले एक प्रतिज्ञा करली है ॥ ४२ ॥ हे वीर ! यह सात वृषभ विना सिखायेहुए और दूसरों के वश में न होनेवाले हैं; इन्होंने तो बहुतसे राजपुत्रों का तिरस्कार करा है और उन के अंग घायल करडाले हैं ॥ ४३ ॥ इस से हे यदुनन्दन ! यदि तुम इन को वश में करके नाथ डाल दो तो हे लक्ष्मीपते ! तुम ही मेरी कन्या के माननीय वर हो॥४४॥ ऐसी प्रतिज्ञा सुन दुपट्टा कमर से बाँधकर तिन प्रभु श्रीकृष्णजी ने, लीला से ही, अपने सातस्वरूप करके उन सात वृषभों के एकसाथ नाथ डालदी ॥ ४५ ॥ और जिन का बल नष्ट तथा घमण्ड दूर हुआ है ऐसे उन वृषभों को रस्सों से बाँधकर, उन बँधेहुओं को श्रीकृ-

ल्लीलया बद्धान्बालो दारुमयान्यथा ॥ ४६ ॥ ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ॥ तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान्विधिवत्सदृशीं प्रभुः ॥ ४७ ॥ राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिं ॥ लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥ ४८ ॥ शंखभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः ॥ नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलंकृताः ॥ ४९ ॥ दश धेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद्विभुः ॥ युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससां ॥ ५० ॥ नव नागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् ॥ रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान्नरान् ।५१। दंपती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ ॥ स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः ॥ ५२॥ श्रुत्वैतद्रुरुधुर्भूपा नयंतं पथि कन्यकां ॥ भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥ ॥५३॥ तानस्यतः शरव्रातान्बन्धुप्रियकृदर्जुनः ॥ गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ५४ ॥ पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ॥ रेमे यदूना-

ष्णजी ने, जैसे काठ के बैलों को बालक खैंचते हैं तैसे खैंचा ॥ ४६ ॥ फिर आश्चर्ययुक्त और प्रसन्नचित्तहुए तिस नग्नजित् राजा ने, श्रीकृष्णजी को अपनी कन्या समर्पण करी; तब अपने योग्य तिस सत्या को भगवान् श्रीकृष्णजीने विवाह की रीति से स्वीकार करा ॥ ४७ ॥ उससमय राजरानियें भी, कन्या को प्रियपति श्रीकृष्णजी प्राप्तहुए ऐसा देखकर परमानन्द को प्राप्तहुई और उससमय बड़ा भारी उत्साह हुआ ॥ ४८ ॥ शंख नगाड़े और चौघड़े बजनेलगे, गान सहित बाजों का प्रारम्भ हुआ, ब्राह्मणों को आशीर्वाद प्रारम्भ हुए, नगर में के पुरुष और स्त्रियों ने आनन्दयुक्त होकर वस्त्र, माला और आभूषण धारण करे ॥ ४९ ॥ उस समय देने को समर्थ तिस राजा नग्नजित् ने, दश सहस्र गौएं दहेज में दीं, तैसे ही जिनके कण्ठ में कठले पड़े हैं और जिन्हों ने बहुमूल्य के वस्त्र पहिने हैं ऐसी तीन सहस्र दासियें दीं ॥ ५० ॥ नौ सहस्र हाथी और उन के सौगुणे (नौ लाख) रथ, उन के सौ गुणे (नौ करोड) घोडे और उन के सौ गुणे (नौ पद्म) सेवक दिये ॥ ५१ ॥ फिर जिस का हृदय स्नेह से आर्द्र हुआ है ऐसे उस कोसलदेशों के स्वामी राजा नग्नजित् ने, उस सत्या और श्रीकृष्ण इन दोनों को, रथपर बैठाकर बडी सेना के साथ विदा करके भेजदिया ॥ ५२ ॥ यह श्रीकृष्णजी की यात्रा सुनकर, यादवों के और उन सात वृषभों के पहिले पराजय करेहुए तथा उस पराजय को और श्रीकृष्णजी के उस कन्या के वरने को न सहनेवाले कितने ही राजाओं ने कन्या को लेकर जानेवाले श्रीकृष्णजी को मार्ग में घेरलिया ॥ ५३ ॥ तब बाणों के समूह छोडतेहुए उन राजाओं को, श्रीकृष्णजी ने प्रिय करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन से तीखे बाण छुडवाकर जर्जर (बेहाल) करके जैसे साधारण हिरनों को सिंह भगाता है तैसे भगादिया ॥ ५४ ॥ तदनन्तर यादवश्रेष्ठ भगवान्

मृषभो भगवान्देवकीसुतः ॥ ५५ ॥ श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः ॥ कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः संतर्दनादिभिः ॥ ५६ ॥ सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युतां ॥ स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥ ५७ ॥ अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन्सहस्रशः ॥ भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ॥ ५८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ यथा हतो भगवता भौमो येने च ताः स्त्रियः ॥ निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः १। श्रीशुक उवाच ॥ इंद्रेण हृतछत्रेण हृतकुंडलबंधुना ॥ हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो

श्रीकृष्णजी, श्वसुर के दियेहुए उस सब दहेज को लेकर उस सत्या के सहित द्वारका में में आ,आनन्द को प्राप्तहुए ॥ ५५ ॥ श्रुतकीर्त्ति नामवाली जो पिता की बहिन उस की केकयदेशों में उत्पन्नहुई भद्रा नामवाली कन्या थी, उस को उसके संतर्दन आदि बांधवों के देनेपर श्रीकृष्णजी ने वरलिया ॥ ५६ ॥ हे राजन्! जैसे ही मद्रदेश के स्वामीकी शुभलक्षणों से युक्त लक्ष्मणा नामवाली कन्या थी, जैसे इंद्रादि देवताओं का तिरस्कार करके गरुडजी ने सुधा (अमृत) हरण करी थी तैसे ही इकले ही श्रीकृष्णजी ने, स्वयंवर में सब राजाओं का तिरस्कार करके हरण करी ॥५७॥ इसप्रकार रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा इन आठ पटरानियों का विवाह कहकर अब और भी स्त्रियों का विवाह कहते हैं कि-हे राजन्! और भी ऐसी ही श्रीकृष्णजी की नरकासुर को मारकर उस के बन्दीघर में से तिन श्रीकृष्णजी की ही लाईहुई सहस्रों सुन्दर स्त्रियें थीं ॥ ५८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में अष्टपञ्चाशत्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे उनसठवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने, भौमासुर को मारकर उस की लाकर रक्खीहुई सहस्रों कन्या वरीं और स्वर्ग से पारिजातक वृक्ष लाये, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ राजा ने कहा कि-जिस भौमासुर ने, वह स्त्रियें रोककर रक्खीं थीं उस भौमासुर को भगवान् ने जिसकारण से और जिसप्रकार मारा हो वह शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णजी का चरित्र मुझ से कहो ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन्! पहिले भौमासुर ने, वरुण का छत्र, इन्द्र की माता अदिति के कुण्डल और मेरुपर्वत के ऊपर का इन्द्र का मणिपर्वत नामवाला स्थान यह सब बलात्कार से छीन लिये थे इसकारण वह भौमासुर का दुष्ट वर्त्ताव सत्यभामा के घर आकर भगवान् से इन्द्र ने कहा तब उस सत्यभामा को कौतुक दिखाने के निमित्त श्रीकृष्णजी ने उसके साथ*

* भौमासुर भूमि का पुत्र था, और तेरी आज्ञा से ही तेरे पुत्र को मारूँगा ऐसा वरदान देदिया था, उस के सत्य करने के निमित्त सत्यभामा भी भूमि का अंश थी इसकारण उस को साथ लेकर श्रीकृष्णजी ने गमन करा, अथवा नारदजी का लायाहुआ पारिजात का फूल रुक्मिणी को देनेपर रूठीहुई सत्यभामा को समझाने के निमित्त श्रीकृष्णजी ने कहा कि-तुझे पारिजातक वृक्ष ही लायेदेता हूँ सो पारिजातक वृक्ष भी लाने के निमित्त उस को साथ लेगये ।

भौमचेष्टितम् ॥ सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥ २ ॥ गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् ॥ मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ॥ ३ ॥ गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः ॥ चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथाऽसिना ॥ ४ ॥ शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ॥ प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः ॥ ५ ॥ पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् ॥ मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥ ६ ॥ त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः ॥ ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखैरभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः ॥ ७ ॥ आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्स पञ्चभिः ॥ स रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८ ॥ तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा ॥ मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ९॥

गरुडजी के ऊपर बैठकर भौमासुर के प्राग्ज्योतिष नामवाले नगर पर चढ़ाई करी ॥ २ ॥ गरुडजी के ऊपर बैठकर जाने का कारण यह था कि– वह नगर सब ओर के पर्वतों के दुर्गों (किलों) से, शस्त्रों के किलों से और जल, अग्नि तथा वायु के कारण प्रवेश करने को कठिन तथा और आनेवाले शत्रुओं को खेंचनेवाले तथा जिन का काटना कठिन है ऐसे सहस्रों पाशों से चारों ओर घिराहुआ था ॥ ३ ॥ भगवान् ने तहाँ जाकर गदा से पर्वतों का चूरा २ करदिया, वाण छोड़कर शस्त्रों के किले को तोड़डाला, चक्र से अग्नि, जल और वायु को नष्टप्राय करदिया तथा तरवार से मुर दैत्य का पाश तोड़डाला ॥ ४ ॥ शंख के नाद से प्रवेश करते में रोकनेवाले यन्त्रों को और मुरदैत्य आदि शूरों के हृदयों को विदीर्ण करा और उन गदाधारी श्रीकृष्णजी ने, बड़ीभारी गदा से छारदीवारी को तोड़ डाला ॥ ५ ॥ उससमय प्रलयकाल के वज्रपात के शब्द की समान भयङ्कर उस पाञ्चजन्य शंख के शब्द को सुनकर, गढ़हे में के जल में सोयाहुआ पाँच शिरवाला वह मुरदैत्य तहाँ से उठा ॥ ६ ॥ और प्रलयकाल के सूर्याग्नि की समान कान्तिमान् भयङ्कर और कठिनता से देखने योग्य तिस दैत्य ने, त्रिशूल उठाकर अपने पांच मुखों से मानो त्रिलोकी को निगले ही लेता है ऐसे अपने मुखों को फैलाकर, जैसे सर्प गरुड़ को मारने के निमित्त दौड़ता है तैसे उन श्रीकृष्णजी के मारने को दौड़ा ॥ ७ ॥ और उस ने अपने त्रिशूल को वर २ घुमाकर वेग के साथ गरुडजी के ऊपर फेंका और अपने पाँचों मुखों से गर्जकर तिस शब्द के द्वारा स्वर्ग, भूमि, आकाश और सब दिशाओं को भरकर ब्रह्मकटाह को भी व्याप्तकर दिया ॥ ८ ॥ वह त्रिशूल गरुड़जी के मारने के निमित्त आरहा है ऐसा देखकर श्रीकृष्णजी ने, दो वाणों से उस के तीन टुकड़े करडाले और उस मुरदैत्य के भी पाँचों मुखोंमें पाँच वाणों से प्रहार करा तब तिस मुरदैत्य ने भी क्रोध से श्रीकृष्णजी के ऊपर गदा छोडी

तामापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा॥ उद्यम्य बाहूनभि धावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥ १० ॥ व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो निकृत्तशृङ्गोद्रि रिवेन्द्रतेजसा॥ तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥ ११ ॥ ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुर्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ॥ पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगन् धृतायुधाः ॥ ॥ १२ ॥ प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः॥ तच्छस्त्रकूटं भगवान्स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥ १३ ॥ तान्पीठ- मुख्याननयद्यमालयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः ॥ स्वानीकपानच्युतचक्र- सायकैस्तथा निरस्तान्नरको धरासुतः ॥ निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैर्गजैः पयोधिजैर्भवैर्निराक्रमत् ॥ १४ ॥ दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं सूर्योपरिष्टा- त्सतडिद्घनं यथा ॥ कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं योधाश्च सर्वे युगपत्स्म

॥ ९ ॥ युद्ध में वह उस मुरदैत्य की गदा के आनेपर श्रीकृष्णजी ने अपनी गदा से उस के सहस्रों टुकडे करडाले फिर भुजा फैलाकर सामने को भागकर आनेवाले उस मुरदैत्य के पाँचों ही शिर श्रीकृष्णजी ने लीला करके चक्र से काटगिराये ॥ १० ॥ तब शिर कटजाने के कारण प्राणहीन हुआ वह मुरदैत्य, जैसे इन्द्र के वज्र से जिस के शिखर टूटगये हैं ऐसा पर्वत भूमिपर गिर पड़ता है तैसे ही गढ़हे में के जल में गिरपडा फिर उस के सात पुत्र पिता के वध से दुःखित और बदला लेने के निमित्त क्रोध युक्त होकर युद्ध करने को उद्यत हुए ॥ ११ ॥ उन के नाम–ताम्र, अन्तरिक्ष, पवन्, विभावसु, वसु, नभस्वान्, और सातवां अरुण यह थे, वह भौमासुर के आज्ञादियेहुए, आयुध लेकर युद्ध में पीठ नामक सेनापति को आगे करके नगर से निकले ॥ १२ ॥ उन भयानकों ने संमुख आकर श्रीकृष्णजी के ऊपर बाण, तरवार, गदा, शक्ति, रिष्टि और शूल यह आयुध छोडे तब अमोघपराक्रमी श्रीकृष्णजी ने, अपने बाणों से उन के शस्त्रों के समूहों को काटकरतिलकी समान टुकडे २ करदिये ॥ १३ ॥ और मस्तक, जंघा, हाथ, पैर, तथा जिनके कवच तोडडाले हैं ऐसे उन पीठ आदि दैत्यों को यमलोक भेजदिया तब मेरे सेनापति श्रीकृष्णजी के चक्र से और बाणों से मरण को प्राप्त होगये ऐसा देखकर, इस दशा को न सहनेवाला भूमि का पुत्र नरकासुर, गण्डस्थल में से मद टपकानेवाले और ऐरावत के कुलमें उत्पन्न हुए हाथियों को साथ में लेकर युद्ध करने को चला ॥ १४ ॥ तब उस भौमासुर ने, जैसे सूर्य के ऊपर बिजलीसहित काला मेघदीखे तैसे गरुडजी के ऊपर सत्यभामा सहितबैठेहुए श्रीकृष्णजी को देखकर उनके ऊपर शतघ्नी नामवाली शक्ति छोडी, तैसे ही उस भौमासुर

विव्यधुः ॥ १५ ॥ तद्भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः
शिलीमुखैः ॥ निकृत्तबाहूरुशिरोधराविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् ॥
॥ १६ ॥ यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ॥ हरिस्तान्यच्छिनत्ती-
क्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ॥ १७ ॥ उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता
गजान् ॥ गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः ॥ १८ ॥ पुरमेवाविश-
न्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ॥ दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ॥
॥१९॥ तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ॥ नाकम्पत तया
विद्धो मालाहत इव द्विपः ॥ २० ॥ शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथो-
द्यमः ॥ तद्विसर्गात्पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ॥ अपाहरद्गजस्थस्य च-
क्रेण क्षुरनेमिना ॥ २१ ॥ सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं

के योधाओं ने भी अपने २ आयुधों से श्रीकृष्णजी के ऊपर एकसाथ प्रहार करा ॥ १५ ॥ उससमय भगवान् श्रीकृष्णजी ने, चित्रविचित्र परोंवाले तीखे बाणों से उस भौमासुरकी सेना को, जिस के भुजा, जंघा, कंठ, और देह कटगये हैं तथा जिस में हाथी और घोड़े मरण को प्राप्त हुए हैं ऐसी करा ॥ १६ ॥ हे राजन् ! उस सेना के मारेजाने से पहिले ही जिन योधाओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़दिये थे वह, श्रीकृष्णजी ने, तीन २ तीखेबाणों से एक २ इसप्रकार सब ही काटडाले अर्थात् उन के छोड़े हुए शस्त्र अस्त्रों के आकर पहुँचने से पहिले ही उस सब सेना को मारकर फिर वह शस्त्र अस्त्र, एक २ के ऊपर तीन २ बाण छोडकर काटडाले यह आश्चर्य है ॥ १७ ॥ वह भगवान्, अपने पङ्खों से हाथियों को मारनेवाले गरुड़जी के ऊपर स्थित थे सो उस युद्ध के समय गरुडजी ने, अपनी चोंच पंख और नखों से प्रहार करा तो कितने ही हाथी, अतिपीडित होने के कारण नगर में को भागगये; उससमय इकला नरकासुर ही रणभूमि में युद्ध करनेलगा; तिस भौमासुर ने, गरुडजी ने पीडित करके मेरी सेना को भगादिया है ऐसा देखकर जिसशक्ति से वज्र को भी पीछे को लौटादिया था उस शक्ति से गरुडजी के ऊपर प्रहार करा उस से ताडन करेहुए वह गरुडजी, जैसे माला से ताडना कराहुआ हाथी हिलता भी नहीं है तैसे हिले भी नहीं ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ इसप्रकार गरुडजी के ऊपर जिस का उद्योग व्यर्थ हुआ है तिस भौमासुर ने श्रीकृष्णजी को मारने के निमित्त त्रिशूल हाथ में लिया; उस का प्रहार करने से पहिले ही श्रीहरी ने, तीखी धारवाले वज्र से हाथीपर बैठे हुए तिस नरकासुर का शिर काट दिया ॥ २१ ॥ तब कुण्डलों सहित, सुन्दर किरीट और भूषणों से युक्त दमकताहुआ वह नरकासुर का शिर, भूमिपर गिरने पर शोभित

समुज्ज्वलत् ॥ हा हेति साध्विव्यृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ई-
डिरे ॥ २२ ॥ ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ॥
सवैजयन्त्या वनमालयाऽर्पयत्प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥ २३ ॥ अस्तौ-
षीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् ॥ प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया
धिया ॥ २४ ॥ भूमिरुवाच ॥ नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ॥ भक्ते-
च्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥ नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्क-
जमालिने ॥ नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २६ ॥ नमो भगवते
तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ॥ पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥ २७ ॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ परावरात्मन् भूतात्मन्परमात्मन्न-
मोऽस्तु ते ॥ २८ ॥ त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बि-

होनेलगा, उससमय नरकासुर के सम्बन्धी पुरुषों ने, हाहाकार शब्द का उच्चारण करा, ऋषियों ने 'साधु साधु' इस शब्द का उच्चारण करा; श्रेष्ठ देवता तो श्रीकृष्णजी के ऊपर फूलों की वर्षा करते हुए स्तुति करनेलगे ॥ २२ ॥ तदनन्तर नरकासुर की माता मूर्त्ति धारिणी भूमि ने श्रीकृष्णजी के समीप आकर उन को, रत्न मिले उत्तम फूलों से गुथी हुई वनमाला सहित, तपाएहुए सुवर्ण पर कुन्दन करके बैठाएहुए रत्नों से दमकतेहुए अदिति के कुण्डल, वरुण का छत्र और मेरु पर्वत पर के मणिपर्वतरूप स्थान का अधिकार यह सब अर्पण करे ॥ २३ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! हाथ जोडकर मस्तक नमायेहुए वह भूमि, भक्ति से एकाग्र हुई बुद्धि करके, ब्रह्मादिकों से पूजित तिन श्रीकृष्णजी की स्तुति करने लगी ॥ २४ ॥ भूमि ने कहा कि-हे देवदेवेश ! हे शङ्खचक्रगदाधर ! तुम्हें नमस्कार हो, हे परमात्मन् भक्तों की इच्छा के अनुसार स्वरूप धारण करनेवाले तुम्हें नमस्कारहो ॥ २५ ॥ अब जिस मन्त्र से पहिले कुन्ती के ऊपर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए थे तिस मन्त्र से नमस्कार करती है-जिन की नाभि में जगत् का कारणरूप कमल है उन को नमस्कार हो, जिन के कण्ठ में सत्कीर्त्तिमय कमलों की माला है उन को नमस्कार हो, जिन के नेत्रकमल की समान ताप को शान्त करनेवाले हैं तिन को नमस्कार हो, जिन के चरणकमल की समान सुख से सेवन करने योग्य हैं ऐसे तुम्हें नमस्कार हो ॥ २६ ॥ परम ऐश्वर्य से युक्त, सकल प्राणियों के आश्रय और व्यापक तुम कारण को नमस्कार हो, जगद्रूप, सर्व कार्यों से पहिले ही विद्यमान, जगत् की कारण जो माया तिस के भी कारण और पूर्णज्ञानरूप तुम कारण को नमस्कार हो ॥ २७ ॥ स्वयं जन्मरहित होकर भी जगत् को उत्पन्न करनेवाले, ब्रह्मरूप और अनन्तशक्ति तुम कारण को नमस्कार हो. हे स्थावर जङ्गमों के उत्पन्न करनेवाले ! हे पृथिवी आदि पंचभूतों को उत्पन्न करने-वाले ! हे परमात्मन् तुम्हें नमस्कार हो ॥ २८ ॥ जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण

भिष्यसंवृतः ॥ स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान्परः
॥ २९ ॥ अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ॥
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥ ३० ॥ त-
स्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ॥ तत्पालयैनं कुरु
हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ ३१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
इति भूम्यार्थितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया ॥ दत्त्वाऽभयं भौमगृहं प्रा-
विशत्सकलर्द्धिमत् ॥ ३२ ॥ तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ॥
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ॥ ३३ ॥ तं प्रविष्टं
स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः ॥ मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसा-

जो गुण, तिन का कारण जो प्रधान (प्रकृति) तिस का क्षोभित करनेवाला जो पुरुष और तहाँ निमित्त काल प्रसिद्ध है मैं इस में कौन हूँ? ऐसा कहो तो हे प्रभो! जगत्पते! तुम ही सृष्टि करने की इच्छा करते हो तब सृष्टि करने में उन्मुख हुए रजोगुण को धारण करते हो अर्थात् रजोगुणप्रधान ब्रह्मारूप होकर सृष्टि को उत्पन्न करते हो तथा जगत् का नाश करने में उत्कट तमोगुण को धारण करते हो तब तमोगुणप्रधान रुद्ररूप होकर संहार करते हो तैसे ही जगत् का पालन करने के निमित्त उत्कट सत्वगुण को स्वीकार करते हो तब सत्वगुणप्रधान विष्णुआदिरूप होकर पालन करते हो. इतना करके भी तुम उन गुणों से लिप्त नहीं होते हो. तैसे ही तुम काल, प्रधान और पुरुषरूप होकर भी वास्तव में उन से पृथक् ही हो॥ २९॥ हे भगवन्! मैं भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध, इन्द्रियों के देवता, मन, चक्षु आदि इन्द्रियें, अहङ्कार और महत्तत्त्व (बुद्धि) इसप्रकार का जो चराचर जगत्, अद्वितीय ब्रह्मरूप तुम्हारे विषैं प्रतीत होता है सो यह प्राणियों का भ्रम (बुद्धिमोह ही) है ॥३०॥ हे शरणागतों के दुःखों का नाश करनेवाले! यह भगदत्त नामवाला तिस भौमासुर का पुत्र, मैंने तुम्हारे चरणों में डाला है परन्तु यह भय मानरहा है इसकारण तुम इस की रक्षा करो और सकल दोषों को दूर करनेवाला अपना करकमल इस के मस्तक पर स्थापन करो ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! इसप्रकार भक्ति से नम्र हुई भूमि की वाणियों से प्रार्थना करेहुए भगवान् श्रीकृष्णजी भगदत्त को अभय देकर सकल भोग-सम्पदाओं से युक्त तिस भौमासुर के घर में प्रवेश करा ॥ ३२ ॥ तहां पराक्रम करके, भौमासुर की राजाओं के यहां से और देवता सिद्ध आदिकों के यहां से लाई हुई सो-सहस्र एक सौ कन्या थीं उन को भगवान् ने देखा ॥ ३३ ॥ तब दैव ने अपने सम पहुँचायेहुए और घर में आयेहुए मनुष्यश्रेष्ठ तिन श्रीकृष्णजी को देखकर अत्यन्त मोहि

दितम् ॥ ३४ ॥ भूयात्पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ॥ इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥ ३५ ॥ ताः प्राहिणोद्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोम्बराः ॥ नरयानैर्महाकोशान् रथाश्वान् द्रविणं महत् ॥ ३६ ॥ ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ॥ पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥ ३७ ॥ गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वाऽदित्यै च कुण्डले ॥ पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥ ३८ ॥ नोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति ॥ आरोप्य सेन्द्रान्विबुधान्निर्जित्योपानयत्पुरम् ॥ ३९ ॥ स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ॥ अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात्तद्गन्धासवलम्पटाः ॥ ४० ॥ ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ॥ सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥ ४१ ॥ अथो मुहूर्त्त एकस्मिन्नाना-

हुई उन स्त्रियों ने, अतिप्रिय तिन पति को मन से वर लिया ॥ ३४ ॥ यह मेरे निमित्त पति हों; ऐसी मेरी इच्छा को ब्रह्माजी सत्य करें; ऐसे अभिप्राय से तिन सब कन्याओं ने श्रीकृष्णजी में अपना हृदय स्थापन करा ॥ ३५ ॥ तदनन्तर स्नान करीहुई और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली उन कन्याओं को भगवान् ने पालकियों में बिठवाकर द्वारका को भेज दिया ॥ ३६ ॥ और श्रीकृष्णजी ने, जिन के चार २ दाँत हैं और जो अतिवेगवान् स्वेतवर्ण के चार दांतवाले और ऐरावत के वंश में उत्पन्नहुए हैं ऐसे चौंसठ हाथी भेजे ॥ ३७ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी ने, इन्द्र के घर जाकर अदिति को कुण्डल दिये तब इन्द्राणी सहित इन्द्र ने, सत्यभामा सहित तिन श्रीकृष्णजी की पूजा करी ॥ ३८ ॥ फिर लौटकर आते में सत्यभामा के स्मरण दिलाने पर श्रीकृष्णजी ने तहाँ के पारिजातक नामवाले वृक्ष को उखाड़कर गरुड़जी के ऊपर रख लिया और इन्द्रसहित सकलदेवताओं को जीतकर वह वृक्ष द्वारका में लाये ॥ ३९ ॥ सत्यभामा के मन्दिर के समीप के बाग को अतिशोभा देनेवाला वह पारिजातक वृक्ष उस बाग में ही लगादिया, उस की सुगन्ध के मद के लोभी भौंरे स्वर्ग से उस के पीछे २ ही द्वारका में आये ॥ ४० ॥ ' इन्द्रसहित सब देवताओं को जीतकर ' ऐसा जो कहा तिस से इन्द्र का और श्रीकृष्णजी का संग्राम होना प्रतीत होता है, सो अपना मनोरथ पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्णजी के साथ इन्द्र का संग्राम कैसे होगया ? इसशंका को दूर करने के निमित्त कहते हैं कि-जिस इन्द्र ने पहिले अपना मस्तक नमाकर किरीट के अग्रभागों से चरणों को स्पर्श करके भक्तों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले तिन श्रीकृष्णजी की प्रार्थना करी पीछे अपना कार्यसिद्ध होजाने पर वही इन्द्र, इन दुःसाध्य कर्म करनेवाले स्वामी के साथ विरोध करता है; अहो ! देवताओं को भी ऐसा बड़ा क्रोध ! तब तो धनवान्पने को धिक्कार है ॥ ४१ ॥

गारेषु ताः स्त्रियः ॥ यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥४२॥ गृहेषु तासामनपाय्यतर्ककृन्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ॥ रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥ ४३ ॥ इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयां ॥ भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयाऽनुरागहासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥ ४४ ॥ प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचतांबूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ॥ केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यं ॥ ४५ ॥ इतिश्रीभा० म० दश० उ० पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ॥ पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन स-

फिर द्वारका में जाने के अनन्तर एक ही महूर्त में, जितनी (१६१००) जो स्त्रियें थीं उतने ही घरों में उतने ही रूप धारण करनेवाले और उतने ही, देवकी आदि बान्धवों से युक्त श्रीकृष्णजी ने उन स्त्रियों के साथ विधिपूर्वक विवाह करलिया ॥ ४२ ॥ भोग के पदार्थों की सम्पदा से जिन के समान वा जिन से अधिक उत्तम दूसरे किसी के भी घर नहीं हैं ऐसी उन सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के घरों में निरन्तर रहनेवाले, अतर्क्य कार्य करनेवाले और निजानन्द से परिपूर्ण वह श्रीकृष्णजी, जैसे कोई साधारण पुरुष, गृहस्थ धर्मों को करताहुआ स्त्रियों से रमण करता है तैसे लक्ष्मी की अंशरूप तिन स्त्रियों के साथ रमण करने लगे ॥४३॥ इसप्रकार, ब्रह्मादिक देवता भी जिन की प्राप्ति होनेका मार्ग नहीं जानते हैं वह लक्ष्मी पति श्रीकृष्णजी, विवाह के सम्बन्ध से पति प्राप्त होनेपर प्रेमहास्यसहित चितवन के साथ जो नया २ समागम तिस में जो विनोद के भाषण उन में जिन को लज्जा प्राप्त होरही है ऐसी वह स्त्रियें, निरन्तर बढ़नेवाली प्रीति से उनका सेवन करनेलगीं॥४४॥ जिनकी सैकड़ों दासियें हैं ऐसी वह स्त्रियें, बाहर से आयेहुए श्रीकृष्णजी को देखकर सन्मुख जाना आसनदेना, अर्घ्य आदि से पूजन करना, चरण धोना, ताम्बूल देना, चरणों की सेवा करके श्रम दूर करना, चँवर पंखे आदि से वायु करना, गन्ध पुष्प आदि अर्पण करना, केशों को सुगन्धित तेल लगाकर काढ़ना, शय्या स्नान का जल और भक्ष्य भोज्य के पदार्थ समर्पण करना इत्यादि प्रकारों से उन प्रभु पतिका आपही दासकार्य करती थीं ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकोनषष्टितम अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे साठवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने प्रेम के कलह में विनोद के वाक्यों से रुक्मिणी को क्रोधित करके फिर उस को समझाया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! एकसमयमन्दिर में अपने पलँग पर सुख से बैठेहुए जगद्गुरु श्रीकृष्ण पति की, सखियों से घिरीहुई रुक्मिणी पंखे से पवन करके सेवा करनेलग

खीजनैः ॥ १ ॥ यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः । स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः॥२॥ तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलंबिना॥ विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥ ३ ॥ मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते ॥ जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥ ४ ॥ पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ॥ धूपैरगुरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥ ५ ॥ पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यंके कशिपूत्तमे ॥ उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥ ६ ॥ वालव्यजनमादाय रत्नदंडं सखीकरात् ॥ तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम् ॥ ७ ॥ सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता ॥ वस्त्रान्तगूढकुचकुंकुमशोणहारभासा नितंबधृतया च पराध्यर्काञ्च्या ॥ ८ ॥ तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य या लीलया धृततनोरनुरू-

॥ १ ॥ अब उस रुक्मिणी का श्रीकृष्णजी के विषै परम प्रेम कहने के निमित्त सत्य स्वरूप का स्मरण कराते हैं कि—जो ईश्वर लीलामात्र से इस जगत् को उत्पन्न करता है, पालन करता है और संहार करता है वही आप जन्म रहित होकर भी अपनी रची धर्ममर्यादा की रक्षा करनेके निमित्त यादवो में उत्पन्न हुआ है ॥ २ ॥ वह श्रीकृष्णजी का मन्दिर चमकीले मोतियों के गुच्छे लगीहुई झालरों की कपडछत्त से सोभायमान और रत्नमय दीपकों से प्रकाशवान् था ॥ ३ ॥ मल्लिका की मालाओं से तथा और भी अनेकों प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से युक्त और भ्रमरों के झुण्ड से गुञ्जार रहा था; झरोखों के छिद्रों में को भीतर आईहुई चन्द्रमा की स्वच्छ किरणों से शोभायमान था ॥ ४ ॥ आरामबाग में शोभायमान पारिजातके वृक्ष से आयेहुए सुगन्धकारी वायुसे तैसे ही झरोखों में को बाहर जानेवाले भीतर के अगर के धुओं से शोभायमान था ॥ ५ ॥ हे राजन् ! ऐसे उन प्रसिद्ध घरके भीतर पलँगपर बिछायेहुए दूध के झागों की समान कोमल और स्वेत उत्तम गद्दी पर आनन्द से बैठेहुए जगत् के नियन्ता पति की रुक्मिणी सेवा करने लगी ॥ ६ ॥ अपनी सखी के हाथ में से रत्नजडे दण्डेवाली चौंरी लेकर तिस से जगत्पालक अपने पति की पवन करके सेवा करनेलगी ॥ ७ ॥ श्रीकृष्णजी के समीप में जिस के हाथ के पहुँचे में कङ्कण, रत्नजडी मुद्रिका और चँवरी है, जिस के चरणों में मणिमय पायलों की झनकार होरही है और जो आप ही अत्यन्त प्रकाशवान् होरही है ऐसी वह रुक्मिणी, मणिजडे नूपरों से और मोहरों के कण्ठों से ढकेहुए स्तनों पर लगेहुए केसर से लाल २ हुए हारकी कान्ती से और कमर में धारण करीहुई बहुत मूल्य की मेखला से विशेष शोभायमान होनेलगी ॥ ८ ॥ जो लक्ष्मी ही मनुष्यावतार धारण करनेवाले भगवान के योग्य अपना स्वरूप

परूपा ॥ प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराब-
भाषे ॥ ९ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ॥
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः॥१०॥तान्प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन्
स्मरदुर्मदान् ॥ दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान् ॥ ११ ॥
राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् ॥ बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्य-
क्तनृपासनान् ॥ १२ ॥ अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषां ॥ आस्थिताः
पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः ॥१३॥ निष्किंचना वयं शश्वन्निष्किंचन-
जनप्रियाः ॥ तस्मात्प्रायेण नह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥ १४ ॥ ययोरात्मसमं
वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः॥तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥१५॥

धारण करती है, जो कभी भी भगवान् से वियोग को नहीं प्राप्त होती और पीठ पर बिखरेहुए केश, दोनों ओर कानों में मकराकृति-कुण्डल आगे कण्ठ में धारण करेहुए पचलड़ा आदि आभूषण, इसप्रकार चारों ओर से शोभायमान, जिस के मुख पर मन्द-हास्यरूप अमृत विलास कररहा है ऐसी उस मूर्त्तिधारिणी लक्ष्मी को देखकर प्रसन्नहुए भगवान् श्रीकृष्णजी कुछ हँसकर बोले ॥ ९ ॥ श्रीभगवान् कहनेलगे कि—हे राजपुत्रि! लोकपालों की समान ऐश्वर्यों से युक्त महापराक्रमी, धनवान् और सुन्दरता, उदारता तथा बल से उत्तम होने के कारण वरनेयोग्य राजाओं ने पहिले तेरी इच्छा करी है और तेरे भ्राता तथा पिता ने भी उन को ही तू देदी है इसकारण याचना करनेवाले और कामदेव से दुर्मदहुए (कामातुर पुरुष, स्त्रियों के सकल मनोरथों को पूर्ण करते हैं) और अपनेआप आयेहुए उन शिशुपाल आदि राजाओं को छोड़कर हम अयोग्यों को भला तैंने काहे को वरा?॥ १० ॥ ११ ॥ हे सुन्दर भ्रुकुटीवाली! हम तो प्रायः जरासन्ध आदि राजाओं से डरनेवाले, समुद्र की शरण गयेहुए (समुद्र के टापू में रहनेवाले) बलवान् राजाओं से बैर बाँधलेनेवाले और ययाति के शाप से राज्य के अधिकार से रहित हैं ॥ १२ ॥ हे सुभ्रु! जिन का आचार स्पष्ट रीति से समझ में नहीं आता ऐसे और स्त्रियों की इच्छा के अनुसार बर्ताव न करनेवाले पुरुषों के मार्ग को प्राप्तहुई स्त्रियें प्रायः क्लेश पाती हैं ॥ १३ ॥ हम निरन्तर धन आदि सम्पदारहित और दरिद्री पुरुषों को प्रिय अथवा दरिद्री पुरुषों से प्रेम रखनेवाले हैं इसकारण हे सुमध्यमे! धनादि सम्पदायुक्त पुरुष, प्रायः मेरी सेवा नहीं करते हैं, यह निश्चय है ॥ १४ ॥ जिन दोनों पुरुषों का परस्पर के योग्य जाति, कुल, ऐश्वर्य, स्वरूप, सुन्दरता और धनकी प्राप्ति यह समान होते हैं उन का ही परस्पर विवाह और मित्रता योग्य होते हैं; उत्तम और अधमों के परस्पर विवाह और मित्रता कभी भी योग्य नहीं होते हैं ॥ १५ ॥ हे रुक्मिणि!

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया ॥ वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्ला-
घिता मुधा ॥ १६ ॥ अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ॥ येन त्वमा-
शिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥ १७ ॥ चैद्यशाल्वजरासंधदन्तवक्रादयो
नृपाः ॥ मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥ १८ ॥ तेषां वीर्यम-
दान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ॥ आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरताऽसताम्
॥ १९ ॥ उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ॥ आत्मलब्ध्यास्महे
पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एतावदुक्त्वा भगवा-
नात्मानं वल्लभामिव ॥ मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥ २१ ॥ इति
त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ॥ आश्रुत्य भीता हृदि
जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥ २२ ॥ पदा सुजातेन नखारुण
श्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ॥ आसिञ्चती कुंकुमरूषितौ स्तनौ त-

इस कहीहुई हमारी अयोग्यता को न जानकर दूर का विचार न करनेवाली तूने, नारदादि भिक्षुकों से व्यर्थ स्तुति करेहुए परन्तु गुणहीन हमें व्यर्थ वरलिया है ॥ १६ ॥ इसकारण अब भी, जिस का सेवन करके इसलोक में और परलोक में तू अपने इच्छित पदार्थों को पावेगी तिस अपने योग्य किसी क्षत्रिय को स्वीकार कर ॥ १७ ॥ यदि कहे कि—तुम मुझे क्यों लाये थे ? तो सुन-शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि राजे, तथा तेरा बड़ा भ्राता रुक्मी यह सब मुझसे द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥ इसकारण पराक्रम से मदान्ध और घमण्डी उन शिशुपाल आदिकों का गर्व दूर करने के निमित्त, दुष्टों का तेज हरनेवाला मैं तुझे लाया हूँ ॥ १९ ॥ परन्तु हम, निजानन्द का अनुभव मिलने से पूर्णमनोरथ होने के कारण स्त्री, पुत्र और सम्पत्तियों की इच्छा नहीं करते हैं; किन्तु जैसे उत्तम दीपक की ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र होती है तैसे ही हम साक्षिमात्र होकर सकल क्रियाओं से रहित तथा देह और घरों में भी निरन्तर आसक्तिरहित रहते हैं ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-इसप्रकार वियोग न होने के कारण, मैं ही प्रिय स्त्री हूँ ऐसा मानकर घमण्ड में हुई तिस रुक्मिणी से, उस का गर्व दूर करनेवाले भगवान् ऐसा कहकर मौन होगये ॥२१॥ ब्रह्मादिकों के पालक अपने पति के इसप्रकार के पहिले कभी भी न सुनेहुए तिस अप्रिय वचन को सुनकर 'भगवान् मुझे त्यागदेंगे' ऐसी चिन्ता से डरीहुई इसकारण ही जिस के हृदय में कपकपी उत्पन्न हुई है और रोनेवाली वह रुक्मिणी देवी उससमय अपार चिन्ता को प्राप्त हुई ॥ २२ ॥ अब चिंता के लक्षण कहते हैं कि—उससमय, जिस की कान्ति नखों के कारण लाली लियेहुए है ऐसे अपने कमलसमान परमकोमल चरण से (बायें चरण के अँगूठे से) भूमि को कुरेदनेवाली तथा काजल से कालेहुए दुःख के आँसुओं

स्थितावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥ २३ ॥ तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेर्ह-
स्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ॥ देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन् रं-
भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ॥ २४ ॥ तद्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः प्रियायाः
प्रेमबन्धनम् ॥ हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकंपत ॥ २५ ॥ पर्यंका-
दवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ॥ केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत्पद्मपाणिना ॥
॥ २६ ॥ प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा ॥ आश्लिष्य बा-
हुना राजन्ननन्यविषयां सतीं ॥ २७ ॥ सांत्वयामास सांत्वज्ञः कृपया
कृपणां प्रभुः ॥ हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥ २८ ॥ श्रीभगवा-
नुवाच ॥ मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणां ॥ त्वद्वचः श्रोतुका-

से केशर लगेहुए स्तनों को सींचनेवाली और अतिदुःख से जिस का कण्ठ रुकगया है ऐसी वह रुक्मिणी, नीचे को मुख करके मौन होरही ॥ २३ ॥ तब अप्रिय भाषण को सुनने से होनेवाले अतिदुःख, त्यागने की संभावना से उत्पन्न हुए भय और अब आगे को कैसे होयगी! ऐसे प्राप्तहुए शोक के कारण जिसकी बुद्धि नष्टहुई है ऐसी तिस रुक्मिणी के, उससमय के दुःख से होनेवाली दुर्बलता के कारण जिसमें से कङ्कन नीचे निकलपड़ा है ऐसे हाथमें से चँवरी गिरपड़ी और विकलबुद्धिहुई तिस का शरीर भी एकाएकी मूर्छित होकर, जैसे पवन का उखाडा हुआ केले का खंभ गिरपडता है तैसेही केशों का जूड़ा खुलने के कारण उसमें के केश अस्तव्यस्त होकर भूमिपर गिरपडा॥२४॥ तब उस गिरने को, और विनोद (चौल) की गम्भीरता को न जाननेवाली रुक्मिणी का अपने में प्रेमबन्धन देखकर करुणायुक्त हुए तिन भगवान् श्रीकृष्णजी ने, उसके ऊपर कृपाकरी ॥ २५ ॥ उस को उठाना, आलिङ्गन करना, और मुख पूछनाआदि कार्य एकसाथ करने के निमित्त चतुर्भुज रूपहुए भगवान् श्रीकृष्णजीने, शीघ्रता से पलङ्गपर से नीचे उतरकर पडीहुई उस को उठाया और उसके केशों को बांधकर कमल की समान कोमल हाथ से उसका मुख पूछा ॥ २६ ॥ तदनन्तर आँसुओं की बूंदों से शोभायमान उस के नेत्र पोंछकर तथा शोक के आंसुओं से भीगे हुए उस के स्तनों को पोंछकर, बाहु से उस को आलिंगन करके हे राजन्! समझाने का उपाय जाननेवाले तिन भक्तपालक प्रभु श्रीकृष्णजी ने, हास्य की वातों से चित्त में भ्रम को तथा दीनदशा को प्राप्तहुई और हास्य करने के अयोग्य तिस दूसरे का ध्यान न करनेवाली पतिव्रता रुक्मिणी को कृपा करके समझाया ॥ २७ ॥ २८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे रुक्मिणि! तू मेरे ऊपर, 'बिना कारण दुःख दिया ऐसा ?' दोष न लगा, क्योंकि—तू मेरे ही आश्रय से रहनेवाली है ऐसा मैं जानता हूँ तथापि हे सुन्दरि! मेरी वातों से रूठीहुई तू क्या कहेगी, तिस को सुनने की इच्छा करनेवाले मैंने हास्य में

मेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ॥ २९ ॥ मुखं च प्रेमसंरंभस्फुरिताधरमीक्षितुम् ॥
कटाक्षेपारुणापांग सुंदरभ्रुकुटीतटम् ॥ ३० ॥ अयं हि परमो लाभो
गृहेषु गृहमेधिनां ॥ यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥ ३१ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ सैवं भगवता राजन्वैदर्भी परिसांत्विता ॥ ज्ञात्वा तत्परि-
हासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ॥ ३२ ॥ बभाषे ऋषभं पुंसां वीक्षंती भगव-
न्मुखम् ॥ सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापांगेन भारत ॥ ३३ ॥ रुक्मिण्युवाच ॥
नन्वेवमेतदरविंदविलोचनाह यद्वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ॥ क्व स्वे
महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥ ३४ ॥ सत्यं
भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमांतः शेते समुद्र उपलंभनमात्र आत्मा ॥ नित्यं क-

---

यह ऐसा भाषण करा है, सत्य नहीं ॥२९॥ और जहां तेरा अधर ओठ प्रेम के कोप से फड़करहा है, जहां तेरे तिरछी दृष्टि से युक्त और लाल २ हुए नेत्र हैं तथा जहां सुन्दर (तिरछा) भ्रुकुटि का तट है ऐसा तेरा मुख देखने के निमित्त मैंने यह भाषण करा है ॥ ३० ॥ यदि कहे कि—कलह में क्या कौतुक वा सुख है ? तो—हे डरपोक स्त्रि ! स्त्री के साथ हास्य चौल के भाषणों से समय विताना ही दुःखरूप घर में रहनेवाले गृहस्थों को परमलाभ (सुखरूप फल देनेवाला) है शेष सब दुःख ही है ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् की समझाई हुई उस रुक्मिणी ने, यह भगवान् का विनोद से कराहुआ भाषण है ऐसा जानकर, 'मुझे पति जाने त्याग देंगे क्या ! ' ऐसे हृदय के भय को त्याग दिया ॥ ३२ ॥ और हे राजन् ! फिर लज्जा युक्त हास्य के कारण सुन्दर प्रेमयुक्त कटाक्ष से भगवान् के ऐश्वर्य युक्त मुख को देखनेवाली वह रुक्मिणी, पुरुषों में श्रेष्ठ तिन श्रीकृष्णजी से कहने लगी ॥ ३३ ॥ तिस में श्रीकृष्णजी ने जो कहा था कि—समानभावरहित हमें तू ने क्यों वरा ? सो समानता न होना ठीक ही है ऐसा दिखाने को कहती है कि—हे कमलनेत्र ! व्यापक और ऐश्वर्य आदि गुणों से परिपूर्ण तुम्हारे समान मैं नहीं हूँ ऐसा जो तुम ने कहा सो सर्वथा सत्य है, देखो—निजानन्दस्वरूप में रमण करनेवाले वैराग्य आदि गुणों से पूर्ण और ब्रह्मादिकों के नियन्ता तुम कहां ? और सत्वरजतमोगुण का स्वभाववाली और सकाम पुरुषों से आराधना करीहुई मैं कहां ? अर्थात् तुम में और मुझ में बहुतही अन्तर है ॥ ३४ ॥ अब, ' राजाओं से डरने वाले और समुद्र की शरण गयेहुए हैं ' ऐसा जो कहा तिस के विषय में कहती है कि—हे उरुक्रम ! (अपने चरण से त्रिलोकी को व्याप्त करनेवाले), शब्दादि गुणही, प्रकाश पानेवाले होने के कारण ' राजे हुए उन से भयभीत होने के कारण ही मानो समुद्र की समान् अथाह हृदय के भीतर चैतन्यघनरूप आत्मा तुम शयन करते हो (निश्चलता कर

दिंद्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽधम् ॥ ३५ ॥ त्वत्पादपद्ममकरंदजुषां मुनीनां वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ॥ यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवंतम् ॥ ३६ ॥ निष्किंचनो ननु भवान्न यतोऽस्ति किंचिद्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरंत्यजाद्याः॥ न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतांधाः प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥ ३७ ॥ त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वांछया सुमतयो विसृजंति

के प्रकाश पाते हो). अब, बलवान् पुरुषों के साथ वैर बांधलेनेवाले हम हैं ' ऐसा जो कहा सो भी सत्य ही है; क्योंकि–बहिर्मुख हुई इन्द्रियों के समूह के साथ अथवा जिनकी इन्द्रियों का समूह विषयों में आसक्त है तिन के साथ तुम सदा कलह करनेवाले हो अर्थात् उन में तुम्हारी प्रीति नहीं होती है, अब, ' हम राज्यासन को त्यागे हुए हैं' ऐसा जो कहा सो भी योग्य ही है, क्योंकि–राजा का आसन अविवेकयुक्त होने के कारण गाढ़ अन्धकारयुक्त ही है उस को तुम्हारे सेवकों ने ही त्यागदिया है तो फिर तुमने त्यागदिया इस का तो कहना ही क्या? ३५ अब,' जिन का मार्ग स्पष्ट नहीं और लोकमार्ग के अनुसार वर्त्ताव न करनेवाले' ऐसा जो कहा सो भी ठीक ही है, क्योंकि–तुम्हारे चरणकमल के मकरन्द का (परमानन्दरूपरस का) सेवन करनेवाले मुनियों का भी मार्ग स्पष्टरूप से समझमें नहीं आता है और वह मनुष्य के आकारवाले पशुओं को वास्तव में तर्कना करने को भी अशक्य है इस कारण तुम्हारा मार्ग स्पष्ट नहीं समझाजाता इस का तो कहना ही क्या ! और हे व्यापक ! जो तुम्हारे अनुगामी (भक्त) पुरुष हैं उन का ही करना अलौकिक सा है फिर तुम ईश्वर का करना अलौकिक है उस का क्या कहना ! ॥३६॥ अब, 'हमारे निष्किञ्चन (दरिद्री) होने और निर्धनों को प्रियलगनेवाले होने अथवा निर्धनों से प्रेम रखनेवाले होने के कारण धनी पुरुष हमारी सेवा नहीं करते हैं ' ऐसा जो कहा तिस का परिहार करती है कि–हे प्रभो ! जिन से कुछ दुर्लभ नहीं ऐसे तुम निष्किञ्चन (सकल ऐश्वर्यवान्)हो,क्योंकि–दूसरों से पूजित होनेवाले ब्रह्मादिक भी जिन तुम्हें पूजा अर्पण करते हैं ऐसे तुम परमेश्वर में दूसरे दरिद्रीपने का निष्किञ्चनपना बन ही नहीं सकता. दूसरों से पूजा ग्रहण करनेवाले ब्रह्मादिक लोकेश्वरों को तुम प्रिय हो और वह भी तुम्हें प्रिय हैं. धनादि सम्पदा के अभिमान से अन्धे (विवेकहीन) हुए पुरुष, आयु हरनेवाले कालरूप तुम्हें नहीं जानते हैं इसकारण वह केवल अपने प्राणमात्र की ही तृप्ति करते हैं तुम्हारी सेवा नहीं करते हैं ॥३७॥ अब, ' जिन दोनो का समान बल होता है ' इत्यादि से कहेहुए अयोग्यपने का परिहार करती है कि–तुम धर्म आदि सकल पुरुषार्थमय और परमानन्दरूप हो, तुम्हारी प्राप्ति होने की इच्छा से श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष, सबप्रकार

कृत्स्नम् ॥ तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुः-
खिनोर्न ॥ ३८॥ त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव आत्मात्मदश्च जगतामिति मे
वृतोऽसि ॥ हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतो
ऽन्ये ॥ ३९॥ जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ
मां त्वम् ॥ सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं
प्रपन्नः ॥ ४० ॥ यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्यजायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किं

व्यवहारों का त्याग करते हैं, हे विभो ! उन विवेकी पुरुषों का ही तुम्हारा सेव्यसेवक-भावरूप सम्बन्ध प्यारा है ; पुरुष और स्त्री मिलकर परस्पर रमण करनेवाले और उस से प्राप्तहुए सुखदुःखों से व्याकुल होनेवाले तिन स्त्री-पुरुषों को तुम्हारा सम्बन्ध प्यारा नहीं लगता है ॥३८॥ 'नारदादि भिक्षुकों से व्यर्थ स्तुति करेहुए' ऐसा जो कहा तिस का परिहार करती है कि—जिन्हों ने प्राणियों को पीडा देनारूप दण्ड त्याग दिया है ऐसे मुनियों ने जिन का प्रभाव वर्णन करा है ऐसे तुम सकल जगत् के आत्मा और भक्तों को आत्मस्वरूप देनेवाले हो, ऐसा जानकर ही मैं ने तुम्हें वरा है, इस के द्वारा 'तू ने दूरदृष्टि न रखकर मुझे वरा है', ऐसा जो कहा था तिस का भी परिहार करा. अब, जो मैं ने तुम्हें वरा है सो तो—तुम्हारी भ्रुकुटि के चलानेमात्र से उत्पन्नहुए काल के वेग से जिन के विषय भोग नष्ट हो जाते हैं तिन ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादिकों का भी त्याग करके तुम्हें जानकर ही वरा है फिर दूसरे तुच्छ पुरुषों को त्यागकर वरा इस का तो कहना ही क्या? ॥३९॥ इसप्रकार अपने अज्ञान का परिहार करके अब दूसरे पुरुषों के वर्णन से प्रदीप्तहुए कोप के आवेश से भगवान् के ऊपर ही अज्ञान की स्थापना करती है कि—हे गदाग्रज ! हे ईश्वर ! जैसे सिंह महिषादि पशुओं को भगाकर अपना भाग हरण करलेता है तैसे ही जिन तुमने शार्ङ्गधनुष के शब्द से ही जरासन्ध आदि राजाओं को भगाकर अपना भागरूप मेरा हरण करा है ऐसे तुम्हारा, 'तिन राजाओं के भय से समुद्र की शरण गया', इसप्रकार का जो कहना सो केवल जाड्य (अनन्वित)है अर्थात् ऐसा नहीं होसकता ॥ ४० ॥ अब, और भी दूसरा जो—'जिन का मार्ग स्पष्ट नहीं है ऐसे पुरुषों की अनुगामिनी स्त्रियें दुःख पाती हैं' ऐसा जो कहा सो भी ठीक नहीं है ऐसा वर्णन करती है कि—हे कमलनेत्र ! जिन तुम्हारी प्राप्ति की इच्छा से अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति, और गय आदि राजाओं के शिखामणि, जिस में एक ही स्वामी है ऐसे अपने राज्य को त्यागकर तुम्हें पाने का साधन जो तुम्हारी आराधना तिस को करने के निमित्त वन में चलेगये, वह तुम्हारे मार्ग का आश्रय करनेवाले राजे, इस संसार में और पुरुषों

॥ ४१ ॥ काऽन्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्धमाघ्राय सन्मुखरितं जनताऽपवर्गं ॥ लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥ ४२ ॥ तं त्वाऽनुरूपमभजं जगतामधीशमात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ॥ स्यान्मे तवांघ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतोपवर्गः ॥ ४३ ॥ तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वविडालभृत्याः ॥ यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद्युष्मत्कथा मृडविरिंचसभासु गीता ॥ ४४ ॥ त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ॥ जीवच्छवं भजति कांतमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरंदम-

की समान क्लेश पाते हैं क्या ? क्लेश नहीं पाते किन्तु तुम्हारे स्वरूप को ही प्राप्तहुए हैं॥ ४१॥ अब, 'अपने योग्य दूसरा पति वर' ऐसा जो कहा था तिस का उत्तर कहती हैं कि– अपने भले बुरे का विचार करने में कुशल और मरणधर्म से युक्त ऐसी स्वयंवर करनेवाली भला कौनसी चतुर स्त्री तुम्हारे, जन समूह को मोक्ष देनेवाले, लक्ष्मी के स्थान और सत्पुरुषों करके वर्णन करेहुए चरणकमल का सुगन्ध लेकर (एकबार चरणकमल का प्रभाव सुनकर) और फिर उस का अनादर करके, जिस को निरन्तर अधिक ही भय है ऐसे तुम से अन्य पुरुष का सेवन करेगी ? कोई नहीं करेगी ॥ ४२ ॥ इसकारण जगत् के अधिपति सब के आत्मा और इस लोक में तथा परलोक में सकल मनोरथ पूर्ण करनेवाले तुम योग्य वर को मैंने वरा है इसकारण संसार की निवृत्ति करनेवाले तुम, भक्त को आत्मस्वरूपी करते हो ऐसे तुम भगवान् का चरण देवता तिर्यक् आदि जन्मों के द्वारा भ्रमतीहुई मुझे सेवन करनेयोग्य होकर आश्रय हो ॥ ४३ ॥ अब, राजाओं के जो बहुतसे गुण कहे थे उन के विषय में ईर्षा से शाप देतीहुई और अंगूठा मोडतीहुई कहती है कि–हे अच्युत ! हे शत्रुनाशक ! महादेवजी और ब्रह्माजी करके अनेकों सभाओं में वर्णन करीहुई तुम्हारी कथा जिस के कानों के मार्ग में कुछ भी न पहुँची हो ऐसे भाग्यहीन स्त्री के, तुमने जिन के गुण वर्णन करके कहा है ऐसे पति स्त्रियों के घरों में गर्दभों की समान उन का बोझा उठानेवाले, वृषभों की समान सदा क्लेश पानेवाले, श्वानों की समान तिरस्कार पानेवाले और घर आदि की रक्षा करने में तत्पर, बिलावों की समान कृपण और हिंसक तथा सेवकों की समान किंकर रूपी पति हों; मेरे वरने के योग्य तो वह नहीं हैं ॥ ४४ ॥ जिस स्त्रीने, तुम्हारे चरणकमल के मकरन्द का सुगन्ध कभी ग्रहण नहीं करा है अर्थात् तुम्हारे चरण का माहात्म्य कथा में कुछ भी नहीं सुना है वह ही स्त्री, यह पुरुष सुन्दर है ऐसा मानकर अत्यन्त मोहित होतीहुई, बाहर के त्वचा, दाढी मूछ, रोम, नख और केशों से ढकेहुए और भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कीडे, विष्टा, कफ, पित और वात से भरेहुए ऐसे जीवित

जिघ्रती स्त्री ॥ ४५ ॥ अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग आत्मन् रतस्य
मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ॥ यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो मामीक्षसे तदु ह
नः परमाऽनुकम्पा ॥ ४६ ॥ नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ॥ अम्बा-
याँ इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित् ॥ ४७ ॥ व्यूढायाश्चापि पुं-
श्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ॥ बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः
॥ ४८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलंभिता ॥
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि ॥ ४९ ॥ यान्यान्कामयसे कामा-
न्मय्यकामाय भामिनि ॥ सन्ति ह्येकांतभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥ ५० ॥
उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ॥ यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्म-

ही मृतक (मुरदे) की समान पुरुष को सेवन करती है ॥ ४५ ॥ ' अब, हम उदासीन हैं ' इत्यादि जो कहा तिस का उत्तर कहती है कि–हे कमलनयन ! निजानन्दस्वरूप में रमण करने के कारण मुझ में आसक्तदृष्टि न रखनेवाले भी तुम्हारे चरण में मुझे प्रीति प्राप्त हो. यदि कहो कि उस प्रीति से तुझे कौन लाभ होगा ? तो सुनो–जिससमय इस जगत् की वृद्धि के निमित्त रजोगुण की उत्कण्ठा को स्वीकार करनेवाले तुम मेरी ओर (माया की ओर) को देखते हो वह तुम्हारा देखना ही हम सब शक्तियों के ऊपर तुम्हारी परम कृपा है ॥४६॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी के सब कथन का उलटा व्याख्यान करके प्रसन्न चित्त होती हुई सम्मति का उपदेश करती हुई कहती है कि–हे मधुसूदन ! तुम्हारा कथन मिथ्या है ऐसा मैं नहीं मानती हूँ क्योंकि–इसलोक में जैसी काशीराज की अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका इन नामोंवाली तीन कन्याओं में अम्बा की बाल्यावस्था में ही शाल्व राजा में प्रीति होगई थी तैसे प्रायः किसी ही कन्या को किसी ही पुरुष में प्रीति उत्पन्नहोती है ॥ ४७ ॥ तैसे ही जिसका विवाह होगया है ऐसी भी जारिणी का मन नवीन २ पुरुष की ओर को जाता है ऐसा व्यवहार होतेहुए विवेकी पुरुष जारिणी स्त्री को स्वीकार न करे, जारिणी का पोषण करनेवाला पुरुष इसलोक से और परलोक से भ्रष्ट होता है अर्थात् उस को कहीं भी सुख नहीं होता है ॥ ४८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे साध्वि ! हे राजकन्ये ! यह तेरा भाषण ही सुनने की इच्छा करनेवाले मैंने तेरा उपहास करा है, मेरे भाषण का जो तैंने व्याख्यान करा है सो सब ठीक ही है ॥ ४९ ॥ हे भामिनि ! हे कल्याणि ! ' विषयवासना छूटने के निमित्त तुम्हारे चरण मेरी शरण हों तुम्हारे चरण में मेरी प्रीति हो ' इत्यादि जो २ मनोरथ मुझ से प्राप्त होने की इच्छा करती है सो सब ही अनन्यभक्त तुझ सब काल में हैं ही इसकारण उनकी तुझे प्रार्थना करना पड़े और मुझे वह देना पड़े ऐसा नहीं है ॥ ५० ॥ हे दोषरहित रुक्मिणी ! मेरे वाक्यों के द्वारा चलायमान करीहुई तेरी बुद्धि जो मेरे में न्यूनता देखकर

दुपकर्णिता ॥ ५१ ॥ ये मां भजन्ति दांपत्ये तपसा व्रतचर्यया ॥ कामात्मा
नोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥ ५२ ॥ मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसंपदं वां-
छन्ति ये संपद एव तत्पतिं ॥ ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसंगमः ॥ ५३ ॥ दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृ-
ताऽनुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ॥ सुदुष्कराऽसौ सुतरां दुराशिषो ह्यसुंभराया
निकृतिं जुषः स्त्रियाः ॥ ५४ ॥ न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु प-
श्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ॥ प्राप्तान्नृपान्नवगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥ ५५ ॥ भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जि-

दूसरे स्थानपर को कुछ भी चलायमान नहीं हुई तिससे मुझ पतिपर तेरा परम प्रेम और पातिव्रत्य मैंने देखा है ॥ ५१ ॥ इसप्रकार उनकी अनन्यभक्ति की प्रशंसा करके अब उस को ही दृढ़ करने के निमित्त सकाम भक्तोंकी निन्दा करते हैं कि—जो पुरुष विषयों की कामना करतेहुए, पञ्चाग्निसाधन आदि तप के द्वारा और एकादशी आदि व्रतोंके द्वारा मोक्ष देनेवाले भी मेरी, स्त्री पुरुषों के मिलकर भोग करनेयोग्य सुख के निमित्त सेवा करते हैं उन को मेरी माया से मोहितहुआ जानो ॥ ५२ ॥ क्योंकि—हे भामिनि ! जिस मुझ से मोक्ष और सम्पत्ति प्राप्त होती हैं तिस मोक्ष और सम्पत्तियों के पति मुझ को प्रसन्न करके जो केवल सम्पत्ति ही प्राप्त होने की इच्छा करते हैं मेरी प्राप्ति की इच्छा नहीं करते हैं वह मन्दभाग्य ही होते हैं, जो मनुष्यों के विषय, नरकसमान श्वान शूकर आदि योनियों में भी सुलभ हैं वह ही, यदि मोक्ष के साधन मेरे भजन का अधिकारवाले पुरुष इच्छा करें तो उन पुरुषों को विषयात्मा होने के कारण नरक भी श्रेष्ठ प्रतीत होगा इसकारण आप ही अपना अनर्थ करनेवाले वह पुरुष मन्दभाग्य होते हैं ॥ ५३ ॥ इस से हे घर की स्वामिनि ! तू ने जो मेरी वारंवार निष्काम सेवा करी है यह बहुत अच्छा हुआ, इस से मुझ को बडी प्रसन्नता हुई. इस निष्काम सेवा को खल पुरुष दुःख झेलकर भी नहीं करसक्ते और दुष्ट वासना धारण करनेवाली केवल इन्द्रियों की तृप्ति के निमित्त तत्पर रहनेवाली और दूसरों को धोखा देनेवाली स्त्री को तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ५४ ॥ मेरे ऊपर निष्काम प्रेम करके वर्त्ताव करनेवाली बहुतसी स्त्री हैं परन्तु तेरी समान स्त्रीको मैं कहीं भी नहीं देखता हूँ ऐसा कहकर उस की भक्ति की प्रशंसा करते हैं कि—हे मानिनि ! जिस तू ने, अपने विवाह के समय अपने को वरने के निमित्त आयेहुए राजाओं का तिरस्कार करके जिसकी श्रेष्ठ कथा सुनी हैं ऐसे मेरे पास गुप्त सन्देशा पहुँचानेवाला ब्राह्मण भेजा ऐसी तेरी समान प्रेमवती दूसरी स्त्री इस गृहस्थाश्रम में मैं नहीं देखता ॥ ५५ ॥ और युद्ध में मेरे जीतेहुए रुक्मी भ्राता का कुरूप करना, तथा अनिरुद्ध

तस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्यां ॥ दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥ ५६ ॥ दूतस्त्वयात्मलभने
सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ॥ मत्वा जिहास इदं-
मंगमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥ ५७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
एवं सौरतसंलापैर्भगवान् जगदीश्वरः॥ स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडंबयन्
॥ ५८ ॥ तथाऽन्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ॥ आस्थितो गृहमेधीयान्
धर्माल्लोकगुरुर्हरिः ॥ ५९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उ०
कृष्णरुक्मिणीसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः ॥ अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वा-
त्मसंपदा ॥१॥ गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ॥ प्रेष्ठं न्यमंसत

विवाहोत्सव के समय द्यूतसभा में हुआ उस का बध, इस से उत्पन्नहुए दुःख को हमारे साथ से वियोग होने के भय के कारण तू ने सहन करा है, उस के विषय में तू ने कोई कठोर भाषण नहीं करा इस सहनशीलता से तू ने बलराम आदि हम सबों को वश में करा है ॥ ५६ ॥ और मेरी प्राप्ति के निमित्त, निश्चय कराहुआ संदेशा कहकर तू ने मेरे पास दूत भेजा है और करेहुए संकेतपर्यन्त मेरे प्राप्त न होने पर इस जगत् को शून्य मानकर, दूसरे किसी के भी योग्य नहीं ऐसे इस अपने शरीर का त्याग करने की इच्छा करती हूँ, ऐसा जो निश्चय करा यह तेरा कृत्य तुझ में ही रहे हम तो उस के उत्तर दाता होने को असमर्थ हैं और केवल वह तुझ को सूचित करके हर्षही उत्पन्न करतेहैं॥५७॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—इसप्रकार उपहास की वार्त्ता कहकर अपने स्वरूप में मग्न रहने वाले भी तिन भगवान् श्रीकृष्णजी ने, मनुष्य लोक के अनुसार वर्त्ताव करनेवाली, लक्ष्मी का अवतार जो रुक्मिणी तिस के साथ क्रीड़ा करी ॥ ५८ ॥ इसीप्रकार दूसरी भी स्त्रियों के घरों में उतने ही रूप धारण करके रहनेवाले सब लोकों के गुरु श्रीहरि ने, गृहस्थाश्रमी की समान, गृहस्थाश्रम के योग्य धर्मों का आचरण करतेहुए तिन स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करी ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में षष्टितम अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे इकसठवें अध्याय में श्रीकृष्णजी की पुत्र पौत्र आदि सन्तान कही है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! पहिले कहीहुई तिन श्रीकृष्णजी की रुक्मिणीआदि स्त्रियों में से प्रत्येक के स्वरूपसुन्दरतादि सब सम्पदा से श्रीकृष्णजी की ही समान दश२ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ उन प्रत्येक स्त्रियों ने, अपने २ घर में से कभी भी दूसरे स्थान को न जाकर सर्वदा घर में ही रहनेवाले और सम्भोग आदि में तत्पर श्रीकृष्णजी को देखकर,

स्वं स्वं न तत्त्वविदः स्त्रियः ॥२॥ चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्रसप्रेमहा-
सरसवीक्षितवल्गुजल्पैः ॥ संमोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमैः
समशकन्वनिता विभूम्नः ॥ ३ ॥ स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमण्डलप्र-
हितसौरतमन्त्रशौण्डैः ॥ पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनंगबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं क-
रणैर्न शेकुः ॥ ४ ॥ इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न
विदुः पदवीं यदीयाम् ॥ भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयानुरागहासावलोकनवसङ्गमला-
लसाद्यम् ॥ ५ ॥ प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमा-
ल्यैः ॥ केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यं
॥ ६ ॥ तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ॥ अष्टौ महिष्यस्तत्पु-
त्रान्प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते ॥ ७ ॥ चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्य-

अपना २ शरीर ही श्रीकृष्णजी को अत्यन्त प्यारा माना, क्योंकि—वह स्त्रियें इस तत्त्वको नहीं जानती थीं कि—श्रीकृष्णजी आत्माराम हैं ॥ २ ॥ भगवान् का कमल की कली की समान सुन्दर जो मुख, लम्बी भुजा और विशाल नेत्र, प्रेम के साथ हास्यरसयुक्त देखना और मनोहर भाषणों से अत्यन्त मोहितहुई वह स्त्रियें, अपने अनेकों विलासों से, तिन निजानन्दपूर्ण श्रीकृष्णजी का मन वश में करने को समर्थ नहीं हुईं ॥ ३ ॥ गुप्त हास्य के साथ कटाक्षोंके द्वारा देखनेसे सूचित हुआ जो अभिप्राय तिससे मन हरनेवाले भ्रुकुटिमण्डल करके फेंकेहुए और सुरत की सम्मत्तियों में चतुर तथा कामशास्त्र में प्रसिद्ध अनेकों प्रकार के कामदेव के बाणों से जिन का मन चलायमान करने को सोलह सहस्र एक सौ आठ स्त्रियें भी समर्थ नहीं हुईं॥४॥इसप्रकार, ब्रह्मादिक देवता भी जिन की प्राप्ति होने का मार्ग नहीं जानते हैं वह लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी रूप, पति के प्राप्त होने पर निरन्तर बढीहुई प्रीति से तिन स्त्रियों ने, जिस में प्रेमपूर्वक हास्य, देखना, और नवीन समागम में उत्सुकता यह मुख्य हैं ऐसे अनेकों विलासों का यद्यपि सेवन करा तथापि उन का मन वश में करने को समर्थ नहीं हुईं ॥ ५ ॥ सैंकडों दासियों से युक्त भी वह स्त्रियें, बाहर से आयेहुए श्रीकृष्ण जी को देखकर सन्मुख जाना, आसन देना, अर्घ्यदान आदि करके पूजाकरना, चरण धुलाना, ताम्बूल देना, चरणों की सेवा आदि करके थकावट दूर करना, चौंरी पंखे आदिसे पवन करना, गन्ध पुष्प आदि देना, केशों को सुगन्धित तेल लगाकर काढ़ना, शय्या बिछाना, स्नान कराना और भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थ अर्पण करना इत्यादि प्रकारों से वह अपने आप प्रभु पति का दास कार्य करती थीं ॥ ६ ॥ दश २ पुत्रवाली श्रीकृष्णजी की उन सब स्त्रियों में, पहिले कहीहुई रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों के प्रद्युम्न आदि पुत्र मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ ७ ॥ श्रीकृष्णजी के रुक्मिणी के विषैं प्रद्युम्न है मुख्य

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ॥ रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ॥ जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबंधनः ॥ २५ ॥ तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ॥ पुरं भोजकटं जग्मुः सांबप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥ तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिंगप्रमुखा नृपाः ॥ दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥ २७ ॥ अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ॥ इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥ २८ ॥ शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणं ॥ तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिंगः प्राहसद्बलम् ॥ दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः ॥ २९ ॥ ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णात् ग्लहं तत्राजयद्बलः ॥ जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥ ३० ॥ मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव

मती नामवाली रुक्मिणी की कन्या को वरा॥२४॥फिर उस रुक्मी ने, 'शत्रु का अन्न भक्षण न करे और शत्रु को भोजन न करावे' इत्यादि रीति से लोकविरुद्ध,शत्रु के साथ विवाह सम्बन्धरूप अधर्मको जाननेवाले भी और श्रीकृष्णजीके साथ वैरभाव रखते हुए भी अपनी बहिन रुक्मिणी का प्रिय करने की इच्छा से स्नेह रूप पाशी में बँधकर, अपनी कन्या के पुत्र और श्रीकृष्णजी के पोते अनिरुद्ध को ही रोचना नामवाली अपनी पोती दी ॥२५॥ अब उस लोकविरुद्ध कार्य करने का फल कहने के निमित्त कहते हैं कि-हे राजन्! वह अनिरुद्ध के विवाह का उत्सवरूप निमित्त प्राप्त होने पर, रुक्मिणी, बलराम, श्रीकृष्ण, साम्ब, प्रद्युम्न आदि पुरुष भोजकट नामवाले नगर में गये थे ॥ २६ ॥ उस विवाह के उत्सव का प्रारम्भ होने पर उस उत्सव में जो कालिङ्ग आदि राजे आये थे, वह घमण्ड में भरकर एक दिन रुक्मी से कहनेलगे कि-तेरे मन में यदि यादवों को जीतने की है तो तू द्यूत (जुए) के साधन फासों से बलराम को जीत ॥ २७ ॥ क्योंकि-हे राजन्! यह बलराम द्यूत की चतुराई को नहीं जानते हैं तो भी इन को द्यूत खेलने का बडाभारी व्यसन है, ऐसा राजाओं के कहने पर रुक्मी ने बलरामजी को बुलवाकर उन के साथ फासों से खेलने लगा ॥२८॥ उस जुए मे पहिले बलरामजी ने, सुवर्ण की सौ मुद्राओं का, तदनन्तर सहस्र मुद्राओं का, फिर दश सहस्र मुद्राओं का पण (दांव) लगाया; वह तीनों संख्या का पण (दांव), रुक्मी ने चतुराई से फाँसे फेंककर जीतलिया तब कालिङ्ग राजा ने अपने दांत दिखाकर बलरामजी की बहुत थट्टा मारकर हँसी करी, उस हँसने को बलरामजी ने सहन नहीं करा ॥२९॥ फिर रुक्मी ने, सुवर्ण की लाख मुद्राओं का दांव लगाया।तिससमय वह दांव बलरामजीने जीत लिया तब कपट का आश्रय करनेवाले तिस रुक्मी ने,कहा कि-यह दाँव मैंने ही जीता है और उस दांव के धन को लेलिया ३०॥ तब,धनसे परिपूर्ण और स्वभाव से ही लाल२ नेत्रवाले उन बलरामजीने,जैसे समुद्र पूर्णिमा के

पर्वणि ॥ जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥ ३१ ॥ तं चापि जि-
तवान् रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः ॥ रुक्मी जितं मयाऽत्रेमे वदन्तु प्राश्नि-
का इति ॥ ३२ ॥ तदाऽब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः ॥ धर्मतो वचने-
नैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥ ३३ ॥ तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ॥ सं-
कर्षणं परिहसन्बभाषे कालनोदितः ॥ ३४ ॥ नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगो-
चराः ॥ अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥ ३५ ॥ रुक्मिणैवम-
धिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ॥ क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि ॥
॥ ३६ ॥ कालिंगराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ॥ दंतानपातयत्क्रुद्धो योऽहँ-
सद्विवृतैर्द्विजैः ॥ ३७ ॥ अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः ॥ राजानो
दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥ ३८ ॥ निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवी-
त्साध्वसाधु वा ॥ रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभंगभयाद्धरिः ॥ ३९ ॥ ततोऽनि-

दिन उभर उठता है तैसे ही झूठा वचन सुनने पर क्रोधमें भरकर क्रोध के आवेश से दशकरोड़ सुवर्ण की मुद्राओं का पण लगाया ॥ ३१ ॥ वह भी दाँव फाँसे धर्म से डालते २ बलरामजी ने ही जीता, तब कपट का आश्रय करनेवाले रुक्मी ने, यह धन मैंने ही जीता है, इस विषय में यह समीप बैठेहुए कालिंग आदि राजे साक्षी देंगे, ऐसा कहा ॥ ३२ ॥ उस समय आकाशवाणी हुई कि—यह दाँव फाँसे डालने के धर्म से बलरामजी ने ही जीता है, रुक्मी तो वचनमात्र से ही 'मैंने जीता है ऐसा' मिथ्या वचन कहरहा है ॥ ३३ ॥ तिस आकाशवाणी का अनादर करके, मृत्युकाल का प्रेरणा कराहुआ और कालिंगआदि दुष्ट राजाओं का लमसाया हुआ वह रुक्मी, उन बलरामजी का हास्य करताहुआ कहनेलगा कि—॥ ३४ ॥ तुम फाँसों से जुआ खेलने में चतुर न होकर जङ्गल में रहनेवाले गोपाल हो; मुझसे राजे ही फाँसों से क्रीड़ा और बाणों से युद्ध करते हैं, तुम से पशुओं के रखवाले नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥ ऐसे वचनों से रुक्मी के तिरस्कार करेहुए और कालिंग आदि राजाओं के हास्य करेहुए उन बलरामजी ने क्रोध में भरकर, एक लोहे का दण्डा उठा उस से तिस माङ्गलिक सभा में ही उस रुक्मी का वधकरा ॥ ३६ ॥ और जो दाँत निकालकर बलराम के ऊपर हँसा था उस, शीघ्रता से भागनेवाले कालिंग राजा को दशवें पगपर ही पकड़कर क्रोधमें भरेहुए बलरामजी ने उस के दाँततोड़ गिराये ॥ ३७ ॥ और भी जो रुक्मी के पक्ष के राजे थे उनको भी बलरामजी ने तिस ही परिघ से ताडनाकरा तब जिन की भुजा, जङ्घा और मस्तक छिन्नभिन्न होगये हैं ऐसे वह रुधिर में भीगकर और भयभीतहोकर भागगये ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार बलरामजी के, साले रुक्मी का वध करने पर श्रीकृष्णजी ने, रुक्मिणी और बलरामजी के स्नेह का भङ्ग होने के भय से भला वा बुरा कुछ नहीं कहा अर्थात् अच्छा कहने से रुक्मिणी को बुरा लगेगा और बुरा कहूँगा तो बलरामजी को बुरा

रुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीं ॥ रामादयो भोजकटा-
द्शार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥ ४० ॥ इति० भा० म० द० उ०
अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥
बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ॥ तत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ॥
एतत्सर्वं महायोगिन्समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ बाणः
पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ॥ येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥
॥ २ ॥ तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ॥ मान्यो वदान्यो धी-
मांश्च सत्यसंधो दृढव्रतः ॥ ३ ॥ शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत्पुरा ॥
तस्य शंभोः प्रसादेन किंकरा इव तेऽमराः ॥ सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवे-

लगेगा इसकारण कुछ भी नहीं कहा ॥ ३९ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी का आश्रय वाले और जिन का अनिरुद्ध का विवाह तथा शत्रु का वध आदि कार्य सिद्ध हुआ है ऐसे उन बलराम आदि सब यादवों ने, नई वरीहुई चारुमती नामवाली स्त्रीसहित अनिरुद्ध को श्रेष्ठ रथ में बैठालकर तिस भोजकट नामक नगर से द्वारका को चलेगये॥४०॥ इति श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकषष्टितम अध्याय समाप्त॥ * ॥अब आगे बासठवें अध्याय में सहस्रभुजावाले बाणासुर ने, अपनी कन्या के साथ रमण करनेवाले अनिरुद्ध को बन्धन में रक्खा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥राजा ने कहा कि हे महा योगिन्! यादवों में श्रेष्ठ अनिरुद्ध ने,बाणासुर की ऊषा नामवाली कन्या को वरा, इस के विषय मे श्रीहरि और श्रीशङ्कर का परस्पर भयङ्कर युद्ध हुआ यह हमने सुना है सो सब चरित्र विस्तार के साथ कहने को तुम समर्थ हो इसकारण कहने की कृपा करिये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन्! जिसने वामनरूप धारण करनेवाले श्री हरि को भूमि का दान दिया तिस महात्मा राजा बलि का सौ पुत्रों में बड़ा बाणासुर नामवाला पुत्र था ॥ २ ॥ बलि का औरस + पुत्र वह बाणासुर, निरन्तर शिव की भक्ति में तत्पर, लोकों म सन्मान पाने के योग्य, अति उदारचित्त, सत्य प्रतिज्ञा करनेवाला और श्रीशङ्कर की उपासना का दृढ़ व्रत धारण करनेवाला था ॥ ३ ॥ वह पहिले शोणितपुर नामवाले नगर में राज्य करता था, उस को श्रीमहादेवजी से वर प्राप्त होने के कारण, लोक में आराधना करने के योग्य सब देवता भी उस के किंकर की समान होकर रहते थे, क्योंकि-सहस्र भुजा होने के कारण जिसने एक समय, शिवजी के ताण्डव नृत्य करते में अपनी सहस्र भुजाओं से एकसाथ बहुत से बाजे बजाकर

+ दत्तक, पालन कराहुआ बिकनेमें मोल लियाहुआ इत्यादि पुत्र होते हैं,उनकी शंका न हो इस निमित्त यहाँ 'औरस' शब्द कहा है ।

तोषयेन्मृडम् ॥ ४ ॥ भगवान्सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ॥ वरेणच्छंद-
यामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥ स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्य-
दुर्मदः ॥ किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदांबुजम् ॥ ६ ॥ नमस्ये त्वां महादेव
लोकानां गुरुमीश्वरम् ॥ पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥ ७ ॥ दोःस-
हस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ॥ त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते
समम् ॥ ८ ॥ कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ॥ आद्यायां चू-
र्णयन्नद्रीन्भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥ ९ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते
भज्यते यदा ॥ त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥ १० ॥ इत्युक्तः कु-
मतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ॥ प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥ ११ ॥
तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिं ॥ कन्याऽलभत कान्तेन

उन को प्रसन्न करा ॥ ४ ॥ तब सकल भूतों के स्वामी, शरण जानेयोग्य और भक्त-वत्सल तिन भगवान् शङ्कर ने, उस से कहा कि—इच्छित वर मांग तब, उस ने उन श्रीशङ्कर से 'तुम निरन्तर मेरी नगरी की रक्षा करते रहो' ऐसा वर मांगलिया और उन्हों ने भी वह उस को दिया ॥ ५ ॥ एकसमय पराक्रम से दुर्मद हुए तिस बाणासुर ने, अपने समीप में विद्यमान तिन शङ्कर के चरणकमल को सूर्य की समान वर्ण के अपने किरीट से स्पर्श करके कहा कि—॥ ६ ॥ हे महादेव ! सकल प्राणिमात्र के गुरु और अपूर्ण-मनोरथ पुरुषों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षरूप तुम ईश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥ तुमने वरदानरूप से जो मुझे सहस्र भुजा दी हैं वह केवल मुझे भार (बोझा) रूप ही हुई हैं, क्योंकि सहस्र भुजा धारण करना युद्ध के निमित्त हैं और उस युद्ध के विषय में तो तुम्हारे सिवाय दूसरा मेरे साथ युद्ध करनेवाला और बल में मेरी समान योधा त्रिलोकीभर में मुझे नहीं मिला है ॥ ८ ॥ हे आद्य परमेश्वर ! युद्ध करने की इच्छा करनेवाला मैं, खुजली से भरीहुई बाहुओं से पर्वतों का चूरा करते २ दिग्गजों के समीप गया था, परन्तु मुझे देखते ही भयभीतहुए वह भी दूर को भागगये ॥ ९ ॥ यह बाणासुर का भाषण सुनकर क्रुद्धहुए भगवान् शङ्कर कहने लगे कि—अरे मूढ़ ! जब तेरी ध्वजा अपने आप टूटपडेगी तब तेरे गर्व का नाश करनेवाले मेरी समान योधा के साथ तेरा युद्ध होयगा ॥ १० ॥ हे राजन् ! इसप्रकार श्रीशङ्कर के कहने पर वह कुबुद्धि (बाणासुर) हर्षयुक्त होकर, महादेवजी के कहेहुए मेरे पराक्रम का नाश करनेवाले ध्वज का टूटना कब होयगा ऐसी बाट देखताहुआ अपने घर में को चलागया ॥ ११ ॥ उस की ऊषा नामवाली कन्या थी, उस को, विवाह होने से पहिले ही, जिस को कभी भी न देखा था न सुनाथा ऐसे

प्रागदृष्टश्रुतेन च ॥ १२ ॥ सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ॥
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥ १३ ॥ बाणस्य मन्त्री कुं-
भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ॥ सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥१४॥
कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः कीदृशस्ते मनोरथः ॥ हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपु-
त्र्युपलक्षये ॥ १५ ॥ ऊषोवाच ॥ दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः ॥
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयंगमः ॥ १६ ॥ तमहं मृगये कांतं पाययि-
त्वाऽधरं मधु ॥ क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥ १७ ॥
चित्रलेखोवाच ॥ व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते ॥ तमाने-
ष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचा-
रणपन्नगान् ॥ दैत्यविद्याधरान्यक्षान्मनुजांश्च यथाऽलिखत् ॥ १९ ॥ मनुजेषु
च सा वृष्णीन् शूरमानकदुंदुभिं ॥ व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य ल-

सुन्दर अनिरुद्ध के साथ स्वप्न में रतिसुख का लाभ हुआ॥१२॥फिर वह ऊषा, उस स्वप्न में अनिरुद्ध को न देखतीहुई विह्वल होकर, हे कान्त! तुम कहाँ गये ? ऐसा कहतीहुई सखियों के मध्य में जागकर उठखड़ीहुई और अत्यन्त लज्जित हुई॥ १३ ॥ बाणासुर का कुंभाण्ड नामवाला मंत्री था और उस की चित्रलेखा नामवाली कन्या ऊषा की सखी थी, वह आश्चर्य से युक्त होकर उस अपनी सखी से बूझनेलगी कि—॥ १४ ॥ हे सुभ्रु ! हे राजकुमारी ! तेरा पाणिग्रहण करनेवाला पति मैंने अभीतक नहीं देखा, ऐसा होनेपर भी तू यहाँ 'हे कान्त' ऐसा कहकर किस को ढूँढती है ? और तेरा मनोरथ कैसा है?॥ १५॥ तब ऊषा ने कहा कि—हे सखि चित्रलेखे ! मैंने स्वप्न में श्यामवर्ण कमल नयन, पीताम्बर-धारी, पराक्रम से शोभायमान भुजाओं से युक्त और स्त्रियों के मन को अतिप्रिय लगने-वाला कोई एक पुरुष देखा ॥ १६ ॥ वह मुझे अधर का अमृत एकवार पिलाकर फिर उस की इच्छा करनेवाली मुझ को विरहसमुद्र में धक्का देकर न जाने कहां चलागया है ? उस सुन्दर पति की मैं खोज कररही हूँ ॥ १७ ॥ तब चित्रलेखा ने कहा कि—हे सखि ! ऊषे ! तेरा दुःख मैं दूर करूँगी, परन्तु वह पुरुष त्रिलोकी में होना चाहिये; तो मैं उस पुरुष को तेरे समीप ले आऊंगी, मैं चित्र खैंचती हूँ, उन में तूने स्वप्न में देखाहुआ, तेरे मन को हर-नेवाला पुरुप कौनसा है सो मुझे तू उसको बतादे; सो जान काम सिद्ध होगया ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर उसने देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्य इन सबों के साक्षात् चित्र बनाए ॥ १९ ॥ और उसने मनुष्यों में यादवों के, उन में शूरों के, वसुदेव के और बलराम-कृष्ण के चित्र बनाए और प्रद्युम्न का चित्र बनाते ही उस को देखकर, यह श्वशुर हैं इस दृष्टि से ऊषा लज्जित हुई ॥ २० ॥

ज्जिता ॥ २० ॥ अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ॥ सोऽसा-
वसाविति मोह स्मयमाना महीपते ॥ २१ ॥ चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं
कृष्णस्य योगिनी ॥ ययौ विहायसा राजन्द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥ २२ ॥
तत्र सुप्तं सुपर्यंके प्राद्युम्निं योगमास्थिता ॥ गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियम-
दर्शयत् ॥ २३ ॥ सा च तं सुंदरवरं विलोक्य मुदितानना ॥ दुष्प्रेक्ष्ये स्व-
गृहे पुंभी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥ २४ ॥ परार्ध्यवासःस्रग्गन्धधूपदीपास-
नादिभिः ॥ पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयाऽर्चितः ॥ २५ ॥ गूढः क-
न्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया ॥ नाहर्गणान्स बुबुधे ऊषयापहृतेंद्रियः ॥२६॥
तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ॥ हेतुभिर्लक्षयांचक्रुराप्रीतां दुरवच्छदैः
॥ २७ ॥ भटा आवेदयांचक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् ॥ विचेष्टितं लक्षयामः क-
न्यायाः कुलदूषणम् ॥२८॥ अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ॥ कन्याया

तदनन्तर लिखेहुए अनिरुद्ध को देखकर, हे राजन्! तिस ऊषा ने लज्जा से नीचे को मुख करलिया और प्रेम से मुख को हास्ययुक्त करके कहा कि–जो मैं ने स्वप्न में देखा था वह यही है ॥२१॥ हे राजन्! चित्रलेखा ने, ऊषा के बतायेहुए उस को श्रीकृष्ण का पौत्र (पोता-नाती) जान लिया और वह योगिनी बनकर उस को लाने के निमित्त आकाशमार्ग से श्रीकृष्णजी की रक्षा करीहुई द्वारका को चलीगई ॥२२॥ तहाँ सुन्दर पलँग पर सोयेहुए अनिरुद्ध को योगसिद्धि के प्रभाव से लेकर फिर शोणित नगर में आगई और उस ने ऊषा सखी को उस का प्रियपति दिखाया ॥ २३ ॥ उस ऊषा ने भी अतिसुन्दर तिस अनिरुद्ध को देख हर्षितमुखी होकर, जिस को कोई देख भी न सके ऐसे अपने घर में-उस के साथ क्रीडा करनेलगी ॥ २४ ॥ नित्य जिस का स्नेह बढ़रहा है ऐसी तिस ऊषा ने, उस को कन्याभवन में गुप्त रखकर अमोलक वस्त्र, माला, सुगन्ध का लेपन, धूप, दीप, आसन, नानाप्रकार के सरबत, पक्वान्नों के भोजन और अनेकों प्रकार के भक्ष्य अर्पण करके मधुरभाषण के साथ शुश्रूषा से उस का सत्कार करा तब मोहितचित्तहुए तिस अनिरुद्ध ने, मुझे यहाँ बहुत से दिन बीत गये, यह कुछ न जाना ॥ २५ ॥ २६ ॥ अनिरुद्ध करके तिसप्रकार गुप्तरूप से भोगीहुई, अत्यन्त प्रसन्न हुई और छुपाने को कठिन ऐसे गर्भधारण आदि हेतुओं से, पुरुष का सम्पर्क जिस में नहीं ऐसा कन्यापन का व्रत जिसका नष्ट होगया है ऐसी तिस ऊषा को द्वारपालों ने देखा ॥ २७ ॥ और उन्होंने वह समाचार राजा बाणासुर को सुनाया कि–हे राजन्! तुम्हारी अविवाहिता कन्या का कुल को दूषण लगानेवाला परपुरुष का सम्भोगरूप दुरा-चरण हमारे देखने में आया है ॥२८॥ हे राजन्! दूसरे किसी स्थ न पर भी न जाती

दूषणं पुंभिर्दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे ॥२९॥ ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदू-
षणः ॥ त्वरितः कन्यकाऽगारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ॥३०॥ कामात्मजं तं भुव-
नैकसुंदरं श्यामं पिशंगाम्बरमंबुजेक्षणम् ॥ बृहद्भुजं कुण्डलकुंतलत्विषा स्मिता-
वलोकेन च मण्डिताननम् ॥३१॥ दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभिनृम्णया तदङ्ग-
सङ्गस्तनकुंकुमस्रजम् ॥ बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य
विस्मितः ॥३२॥ स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिर्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः ॥
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथाऽन्तको दण्डधरो जिघांसया ॥३३॥ जि-
घृक्षया तान्परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत् ॥ ते हन्यमाना भ-
वनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्द्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥ ३४ ॥ तं नागपाशैर्बलिनं-
दनो बली घ्नंतं स्वसैन्यं कुपितो बबंध ह ॥ ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला

हुई और घर में जिस की सावधानी के साथ हमने रक्षा करी है तथा परपुरुष को देखने को भी कठिन ऐसी तुम्हारी कन्या का परपुरुष से दुराचरण कैसे हुआ सो हम नहीं जानते ॥२९॥ जिसने पुत्री का दुराचरण सुना है ऐसा परमदुःखित हुआ वह बाणासुर तिस स्थान से शीघ्रता के साथ कन्या के घर में जाकर तहाँ उस ने अनिरुद्ध को देखा ॥ ३० ॥ वह काम का अवताररूप प्रद्युम्न का पुत्र, सकल भुवन में एकही सुन्दर, श्यामवर्ण पीताम्बरधारी कमलनयन, बलयुक्त भुजाओंवाला, कुण्डल और केशों की कान्ति से तथा मन्दहास्ययुक्त अवलोकन से जिस का मुख शोभायमान है ऐसा, सौभाग्य के चिन्ह और बहुमूल्य के आभूषण आदि धारण करके सब प्रकार से दमकती हुई तिस प्रिया ऊषा के साथ पासों से क्रीड़ा करनेवाला, अङ्ग सङ्ग के समय उस के स्तनों का केशर लगी मल्लिका के फूलों की बड़ी भारी माला वक्षःस्थल पर धारण करनेवाला ऐसे उस ऊषा के सामने बैठेहुए तिस अनिरुद्ध को देखकर वह बाणासुर विस्मय में होगया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तब शस्त्र ऊपर को उठाकर धारण करनेवाले वीरों से घिरेहुए अपने समीप को आनेवाले तिस बाणासुर को देखकर, उस अनिरुद्ध ने, लोहे का एक मोटासा परिघ लेकर मारने की इच्छा से, जैसे दण्ड धारण करनेवाला यम खडा रहता है तैसे उस के सामने खडा रहा ॥ ३३ ॥ और पकडने की इच्छा से अपने चारोंओर आनेवाले उन शस्त्रधारी वीरों को जैसे सूकरों का राजा, अपने पकडने को आनेवाले कुत्तों को मारता है तैसे ताडना करनेलगा तब ताडित हुए और मस्तक, जङ्घा तथा बाहु टूटेहुए वह वीर, उस घर में से बाहर निकलकर अपने प्राण लेकर भागगये ॥३४॥ तब कोप में भरेहुए तिस महाबली बाणासुर ने, अपनी सेना को मारने वाले उस अनिरुद्ध को नागपाशों से बाँधलिया तब बँधेहुए अनिरुद्ध को देखकर शोक

बंद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ॥ ३५ ॥ इति भा० म० द० उ० अनि-
रुद्धबंधो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अपश्यतां
चानिरुद्धं तद्बंधूनां च भारत ॥ चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचतां १॥
नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ॥ प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्ण-
देवताः ॥ २ ॥ प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः ॥ नंदोपनंदभ-
द्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥ ३ ॥ अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो
दिशम् ॥ रुरुधुर्बाणनगरं समंतात्सात्वतर्षभाः ॥ ४ ॥ भज्यमानपुरोद्यानप्रा-
कारट्टालगोपुरम् ॥ प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥ ५ ॥ बा-
णार्थे भगवान् रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः ॥ आरुह्य नंदिवृषभं युयुधे रामकृष्ण-
योः ॥ ६ ॥ आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ कृष्णशङ्करयो राजन्
प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥ कुंभांडकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ॥ साम्बस्य

और खेद से विव्हल हुई ऊषा, नेत्रों में आँसू लाकर रोनेलगी ॥३५॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में द्विषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे तरेसठवें अध्याय में बाणासुर और यादवों के युद्ध में बाणासुर की भुजाओं को काटनेवाले श्रीकृष्णजी की, ज्वर ने और श्रीरुद्र ने स्तुति करी यह कथा कही है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! इधर द्वारका में अनिरुद्ध को न देखनेवाले और निरन्तर उस का शोक करनेवाले उस के बान्धवों को (यादवों को) आषाढ़, श्रावण भादों और आश्विन यह चारमास वीतगए ॥ १ ॥ फिर, नारदजी से, बाणासुर के बांधेहुए तिस अनिरुद्ध का समाचार और उस का युद्धादिरूप कर्म(चित्रलेखा का उस को शोणितपुर में लेजाना, उस का ऊषा के साथ क्रीड़ा करना और ऊषा का गर्भवती होना आदि) सुनकर उस को छुटाकर लाने के निमित्त, बलराम और कृष्ण जिन में मुख्य हैं और कृष्ण ही जिन के देवता हैं ऐसे प्रद्युम्न, युयुधान, गद, साम्ब,सारण,नंद, उपनन्द और भद्र आदि यादव बारह अक्षौहिणी सेना साथ लेकर शोणित नामक नगर की ओर को गये और उन श्रेष्ठ यादवों ने, बाहर से सब दिशाओं में उस बाणासुर की नगरी को घेरलिया ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ तब शत्रुओं के तोड़ेहुए बगीचे और फोड़ेहुए बुरजों से, अटारियों से और नगर के द्वारों से विध्वंस हुए अपने नगर को देखकर क्रोध में भराहुआ वह बाणासुर, बारह ही अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध करने के निमित्त नगर से बाहर निकला ॥ ५ ॥ बाणासुर की सहायता करने को, स्कन्द आदि पुत्रोंसहित, और प्रमथ आदि गणोंसहित रुद्रभगवान्, नन्दिकेश्वर के ऊपर बैठकर बलराम-कृष्ण के साथ युद्ध करनेलगे ॥ ६ ॥ उस समय श्रीकृष्ण का और रुद्रभगवान् का आश्चर्य कारी,देखनेवालों के शरीरों पर रोमाञ्च खड़े करनेवाला और निरन्तर शस्त्र चलने के कारण

वाणपुत्रेण वाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥ ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्ध-
चारणाः ॥ गंधर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥ ९ ॥ शंकरानुचरान्
शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ॥ डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान् ॥१०॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च कूष्मांडान्ब्रह्मराक्षसान् ॥ द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः
शार्ङ्गधनुश्च्युतैः ॥ ११ ॥ पृथग्विधानि प्रायुंक्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे ॥
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥ १२ ॥ ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं
वायव्यस्य च पार्वतम् ॥ आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥
मोहयित्वा तु गिरिशं जृंभणास्त्रेण जृंभितं ॥ वाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिग-
देषुभिः ॥ १४ ॥ स्कंदः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समंततः ॥ असृग्विमुंचन्
गात्रेभ्यः शिखिनाऽपाक्रमद्रणात् ॥ १५ ॥ कुंभांडः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसला-
र्दितौ ॥ दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥ १६ ॥ विशीर्यमाणं स्वबलं
दृष्ट्वा वाणोऽत्यमर्षणः ॥ कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिं ॥ १७ ॥

भयङ्करयुद्ध हुआ तैसे ही प्रद्युम्न और स्कन्द का, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण नामवाले बाणासुर के दो मन्त्रियों का बलराम के साथ युद्धहुआ, साम्ब का बाणासुर के पुत्र के साथ और सात्यकि का बाणासुर के साथ युद्धहुआ ॥ ७॥८॥ उससमय देवताओं के स्वामी ब्रह्मादिक, ऋषि, सिद्ध चारण, गन्धर्व, अप्सरा और यक्ष यह सब ही विमानोंमें बैठकर तिसयुद्धको देखने के निमित्त आये ॥ ९ ॥ तब श्रीकृष्णजी के, शार्ङ्गधनुष में से, छोड़ेहुए तीखी नौक वाले बाणों से भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, राक्षस, वेताल, विनायक, प्रेत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस नामवाले शिवजी के सेवकों को भगादिया॥१०॥११॥ तब पिनाकपाणी शङ्कर ने, शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णजी के ऊपर नानाप्रकार के अस्त्र छोडे तब, विस्मय न माननेवाले श्रीकृष्णजी ने प्रत्यस्त्रों से अर्थात् उन अस्त्रों को, उन के प्रतिकूल अस्त्रों से शांतकरा ॥ १२ ॥ ब्रह्मास्त्र के ऊपर ब्रह्मास्त्र, वाय्वस्त्र के ऊपर पर्वतास्त्र, अग्न्यस्त्र के ऊपर पर्जन्यास्त्र, और पाशुपतास्त्र के ऊपर नारायणास्त्र छोड़ा ॥ १३ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी ने जृम्भणास्त्र छोड़कर शिवजी को जंभाई लेते हुए बैठने योग्य मोहित करके, खड्ग, गदा और बाणों से बाणासुर की सेना का संहार करा ॥ १३ ॥ इधर स्कन्द (स्वामि कार्त्तिकेय), प्रद्युम्न के बाणों के समूहों करके चारोंओर से पीड़ित हुए तब, अपने हाथ पैर आदि अंगों से रुधिर टपकाते हुए अपने वाहन (सवारी) मोर के ऊपर चढ़कर युद्ध भूमि से भागगये ॥१५॥ बलरामजी के मूसल से ताड़ना करेहुए कुंभाण्ड और कूपकर्ण यह दोनो ही मंत्री मरण को प्राप्त होगये तब मारेगये हैं स्वामी जिस के ऐसी उन की सेना सब ओर को भागनेलगी ॥ १६ ॥ इसप्रकार अपनी सेना को जिधर तिधर को भागतेहुए देखकर अतिक्रोध में भराहुआ बाणासुर, समरभूमि में से अपने

धनूंष्याकृष्य युगपद्बाणः पंचशतानि वै ॥ एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ संदधे रण-
दुर्मदः ॥ १८ ॥ तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः ॥ सारथिं रथम-
श्वांश्च हत्वा शंखमपूरयत् ॥ १९ ॥ तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ॥
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥ २० ॥ ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरी-
क्षन गदाग्रजः ॥ बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाऽविशत्पुरम् ॥ २१ ॥ विद्रा-
विते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ॥ अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश
॥ २२ ॥ अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ॥ माहेश्वरो वैष्णवश्च
युयुधाते ज्वरावुभौ ॥ २३ ॥ माहेश्वरः समाक्रन्दन्वैष्णवेन बलार्दितः ॥ अ-
लब्ध्वाऽभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ॥ शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रय-
ताञ्जलिः ॥ २४ ॥ ज्वर उवाच ॥ नमामि त्वाऽनन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं
केवलं ज्ञप्तिमात्रं ॥ विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥

साथ युद्ध करनेवाले सात्यकि को छोड़कर श्रीकृष्णजी के शरीरपर को दौड़नेलगा ॥ १७ ॥ और युद्ध करने में अति घमण्डी उस बाणासुर ने, एकसाथ अपने पांचसौ हाथों से, पांचसौ धनुष लेकर, दूसरे पांचसौ हाथों से प्रत्येक धनुषपर दो २ इसप्रकार सहस्र बाण चढ़ाये ॥ १८ ॥ उन बाणों को छोड़ने से पहिले ही श्रीकृष्णजी ने, वह सब धनुष तोड़डाले और सारथि, रथ तथा घोड़ों को मारकर जय का शंख बजाया ॥ १९ ॥ उससमय, बाणासुर की जो कोटरा नामवाली माता थी वह उस पुत्र के प्राणों की रक्षा करने की इच्छा से अपने केशों के जूडे को खोलकर और नंगी होकर श्रीकृष्णजी के सामने खडी होगई ॥ २० ॥ तब श्रीकृष्णजी ने, उस नंगी स्त्री को न देख दूसरी ओर को मुख फेरलिया सो इतने ही में रथ-हीन हुआ और जिस का धनुष टूटगया है ऐसा वह बाणासुर अपने शोणितनगर में को चलागया ॥ २१ ॥ इधर श्रीकृष्णजी ने, शिवजी के भूतगणों को भगादिया तब, तीन मस्तक और तीन चरणवाला माहेश्वर ज्वर, अपने ताप से दशों दिशाओं को जलाताहुआ युद्धकरने के निमित्त श्रीकृष्णजी के ऊपर को दौड़कर आया ॥ २२ ॥ फिर नारायणदेव (श्रीकृष्ण जी) ने, उस को देखकर उस के ऊपर अपना शीतज्वर छोडा तब माहेश्वर और वैष्णव दोनो ज्वर युद्ध करनेलगे ॥ २३ ॥ उन में वैष्णव ज्वर करके बलात्कार से पीडित करा हुआ माहेश्वर ज्वर, बडा विलाप करताहुआ, जब श्रीकृष्णजी से दूसरा अभय देनेवाला स्थान नहीं मिला तब भयभीत और रक्षा की इच्छा करनेवाला वह (माहेश्वर ज्वर) हाथ जोडकर श्रीकृष्णजी की स्तुति करनेलगा ॥ २४ ॥ वह अपने आप को ही परम शक्तिमान् मानकर श्रीकृष्णजी को ताप देने के निमित्त प्रवृत्त होनेपर जब आपही ताप को प्राप्त हुआ तो उन श्रीकृष्णजी को परमेश्वर जानकर स्तुति करताहुआ कहनेलगा ज्वर ने कहा कि--हे प्रभो ! ब्रह्मादिकों के नियन्ता, सकल प्राणीमात्र को अन्तर्यामीरूप से प्रकाश कह

॥ २५ ॥ कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ॥ तत्संघातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥ २६ ॥ नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैर्देवान् साधून्लोकसेतून्बिभर्षि ॥ हंस्युन्मार्गान्हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥ २७ ॥ तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शांतोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ॥ तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन्यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥ श्रीभगवानुवाच ॥ त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्व-

नेवाले, शुद्ध, चैतन्यघन, अनन्तशक्ति तुम परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ; जगत् की उत्पत्ति-स्थित-संहार के विषय में कारण और वेदोंने तात्पर्यवृत्ति से जिन को प्रकाशित करा है ऐसे सकल क्रियाओं से रहित जो ब्रह्म सो तुम ही हो॥ २५ ॥ अब, जितने साकार पदार्थ हैं उन में हम पराक्रम चलाते हैं परन्तु निराकार तुम्हारे विषैं किसी की भी प्रभुता नहीं चलती किन्तु तुम ही सब के प्रभु हो ऐसे स्पष्ट करताहुआ स्तुति करता है कि—गुणों का क्षोभ करनेवाला काल, उस का निमित्त कर्म, वही फल देने को उद्यत होकर प्रकट होने पर दैव, उस का संस्कार जो स्वभाव, उस से युक्त होने के कारण सुख और दुःखों का भोक्ता जीव, शब्दादि सूक्ष्मभूतरूप द्रव्य, शरीर, प्राण, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियें और पञ्चमहाभूत मिलकर सोलह प्रकार का विकार, उन पृथिवी आदिकों का समूहरूप लिङ्गशरीर और तिस लिङ्गशरीर का बीज अङ्कुर की समान प्रवाह अर्थात् जैसे बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है और अङ्कुर से फिर बीज उत्पन्न होता है तैसेही देह से कर्म और कर्म से फिर देह होता है, यह सब प्रकार की तुम्हारी माया ही है तिस माया का निषेध (तिरस्कार) जिस स्वरूप में बनसक्ता है ऐसे तुम परमात्मा की मैं शरण आया हूँ ॥ २६ ॥ यदि कहो कि—मुझ देवकीपुत्र की ऐसी सामर्थ्य कहाँ से होसक्ती है तो सुनो—सकल उपाधियों से रहित भी तुम, जैसे लीला करके धारण करेहुए मत्स्य आदि अनेकों प्रकार के अवतारों से देवताओं का पालन करते हो, उन के निमित्त ही वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करते हो और उन के निमित्त ही उन धर्मों का आचरण करनेवाले साधुओं की और उस का अङ्ग होने के कारण, धर्ममार्ग को छोड हिंसामार्ग का अवलम्बन करनेवाले दैत्य आदिकों का संहार करते हो, इसीप्रकार यह भी तुम्हारा अवतार भूमि का भार दूर करने के निमित्त है, तुम किसी के पुत्र नहीं हो ॥ २७ ॥ हे प्रभो! प्रथम शान्त और पीछे से असह्य प्रतीत होनेवाले, तुम्हारे तेजःस्वरूप अतिभयङ्कर ज्वर से मैं सन्ताप को प्राप्त होरहा हूँ, हे भगवन्! प्राणियों को तबतक ही ताप होते हैं कि—जबतक वह आशाओं में बँधेहुए तुम्हारे चरणतल को सेवन नहीं करते हैं ॥२८॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे तीन शिरवाले! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, मेरे ज्वर से जो तुझे

राद्भयम् ॥ यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥ २९ ॥ इ-
त्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ॥ बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्यो-
त्स्यन् जनार्दनम् ॥ ३० ॥ ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ॥ मुमोच
परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥ ३१ ॥ तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरने-
मिना ॥ चिच्छेद भगवान् बाहून शाखा इव वनस्पतेः ॥ ३१ ॥ बाहुषु च्छि-
द्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ॥ भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत॥३३॥
श्रीरुद्र उवाच ॥ त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ॥ यं पश्यं-
त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥ ३४ ॥ नाभिर्नभोग्निर्मुखमम्बु रेतो
द्यौः शीर्षमाशाः श्रुतिरंघ्रि-रुर्वी ॥ चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं
समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥ ३५ ॥ रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिंचो

भय प्राप्त होरहा है सो दूर हो, और जो कोई हम दोनों के (तेरे और मेरे) इस सम्वाद को स्मरण करें उन को तुझ से भय न हो ॥ २९ ॥ इसप्रकार भगवान् का कहाहुआ वह माहेश्वर ज्वर अच्युत भगवान् श्रीकृष्णजी को मस्तक नमा प्रणाम करके तहां से चलागया; इधर बाणासुर रथपर चढकर युद्ध करने की इच्छा करताहुआ जनार्दन श्रीकृष्ण भगवान् के समीप पहुँचा ॥ ३० ॥ हे राजन्! तदनन्तर परम क्रोध में भराहुआ सहस्रों भुजाओं में नानाप्रकार के शस्त्र धारण करेहुए वह बाणासुर चक्रधारी श्रीकृष्णजी के ऊपर बाणों को छोड़नेलगा ॥ ३१ ॥ निरन्तर अस्त्रों को छोडतेहुए तिस बाणासुर की भुजाओं को भगवान् ने चक्र से वनस्पति (वृक्ष) की शाखाओं की समान काटडाला ॥ ३२ ॥ इसप्रकार बाणासुर के बाहु काटडालने पर, भक्तों के ऊपर दया करनेवाले भगवान् शंकर, समीप जाकर उन चक्रधारी श्रीकृष्णजी से ऐसा कहने लगे ॥ ३३ ॥ श्रीरुद्र भगवान् ने कहा कि-हे श्रीकृष्ण! तुम्हें न जानकर यह तुम्हारे साथ युद्ध करता है, यह कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि-जो शब्दरूप वेद में वाणी का अगोचर वर्णन करा हुआ और सूर्य आदि का प्रकाशक ब्रह्म है वह ही तुम हो; जिन तुम को शुद्धचित्त हुए पुरुष, आकाश की समान व्याप्त होकर रहनेवाले और सर्वदोषरहित देखते हैं ॥ ३४ ॥ अब, तुम निर्गुण का ज्ञान तो अलग रहे परन्तु तुम्हारे लीला से स्वीकार करेहुए इस ब्रह्माण्ड देह का भी ज्ञान नहीं होता है ऐसा कहने के निमित्त विराट्स्वरूप की स्तुति करते हैं कि-जिन तुम्हारी नाभि आकाश है, मुख अग्नि है, वीर्य जल है, मस्तक स्वर्ग है, कान दिशा हैं, चरण भूमि है, मन चन्द्रमा है, दृष्टि सूर्य है, अहङ्कार मैं शिव हूँ, पेट समुद्र है और बाहु इन्द्र है ॥ ३५ ॥ जिनके रोम ओषधि हैं, केश मेघ हैं, बुद्धि

धिषणा विसर्गः ॥ प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान्पुरुषो लोक
कल्पः ॥ ३६ ॥ तवावतारोऽयमकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ॥
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥ ३७ ॥ त्वमेक
आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः ॥ प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥ ३८ ॥ यथैव सूर्यः पिहितः स्वच्छायया छायां
च रूपाणि च सञ्चकास्ति॥एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च
भूमन् ३९ यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु॥उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता
वृजिनार्णवे॥४०॥देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ॥ यो नाद्रियेत त्व-
त्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः॥४१॥यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमी-

ब्रह्माजी हैं, शिश्न प्रजापति हैं, और जिन का हृदय धर्म है, ऐसे तुम सब लोकों करके वर्णन करेहुए विराट्रूप हो ॥३६ ॥अब, सात विलस्त के देहवाले मेरे नाभि आदि अंग आकाश आदिरूप कैसे होसक्के हैं? ऐसा कहो तो–हे अच्युतस्वरूप! यह तुम्हारा श्रीकृष्णावतार, धर्म की रक्षा करने के निमित्त, जगत् के कल्याण के निमित्त, जगत् की उन्नति के निमित्त, और हमारे ऊपर भी अनुग्रह करने के निमित्त हुआ है; क्योंकि–हम सब ही लोकपाल, तुम हमारी रक्षा करो तब ही भूलोकादि भुवनो की रक्षा करते हैं, नहीं तो स्वतन्त्र नहीं हैं ॥ ३७॥ स्वतन्त्र ईश्वर तो तुम ही हो, क्योंकि– तुम ही एक जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंवाले जीवों के प्रकृतिभूत पुरुष, शुद्ध, स्वप्रकाशज्ञानरूप, अद्वितीय, सब के कारण और वास्तव में कारणरहित ईश्वर हो. तथापि सब विषयों का प्रकाश होने के निमित्त अपनी माया से देव-तिर्यक्-मनुष्य आदि स्वरूपवाले प्रतीत होते हो ॥ ३८॥ तो क्या फिर मैं संसारी हूँ ऐसा कहते हो? नहीं नहीं हे व्यापक! जैसे सूर्य अपनी मेघरूप छाया से लोकदृष्टि में ढकाहुआसा दीखता है परन्तु वह उस मेघ को और मेघ की आड़ में हुए घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, इसीप्रकार जीवों को ढकनेवाले कार्यरूप अहङ्कार से जीवों की दृष्टि में आच्छादित हुएसे दीखनेवाले भी तुम, स्वप्रकाश होने के कारण उन देह इन्द्रियादि गुणों को और उन गुणों से युक्त जीवों को प्रकाशित करते हो ॥ ३९ ॥ जिन तुम्हारी माया से मोहित बुद्धिहुए पुरुष, पुत्र स्त्री, घर आदिकों में आसक्त होकर दुःखसागर के विषैं कभी तो देवता आदि योनियों में और कभी स्थावर आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥ ४० ॥ इस से, कर्मों के अध्यक्ष जो तुम तिन तुम्हारा दियाहुआ यह मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी, रात-दिन विषयों में आसक्त हुआ जो पुरुष, तुम्हारे चरण की सेवा नहीं करता है वह अपने को ही धोखा देनेवाला होने के कारण शोचनीय है ॥ ४१ ॥ क्योंकि-जो मनुष्य

श्वरम्॥विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन्॥४२॥ अहं ब्रह्माऽथ विबुधा मुनय-
श्चामलाशयाः॥सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्॥४३॥तं त्वां जगत्स्थि-
त्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवं ॥ अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गा-
य भजाम देवम् ॥ ४४ ॥ अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्य
देव ॥ संपाद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥ ४५ ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ यदात्थ भगवंस्त्वन्नः करवाम प्रियं तव ॥ भवतो यद्व्य-
वसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥ ४६ ॥ अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसु-
तोऽसुरः ॥ प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥ ४७ ॥ दर्पोप-
शमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ॥ सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं
भुवः ॥ ४८ ॥ चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यत्यजरामराः ॥ पार्षदमुख्यो

तुम से भिन्न पुत्रादि विषयों के निमित्त, आत्मा प्रिय तुम प्रभु को त्याग देता है (सेवा नहीं करता है) उस पुरुष को ऐसा समझना चाहिये जैसे अमृत को छोडकर विष खाता है ॥४२॥इसकारण मैं, ब्रह्माजी, अन्यदेवता और शुद्धचित्त हुए सब ऋषि, यह सब ही हम, अपने आत्मा अतिप्रिय तुम ईश्वर की सवप्रकार शरणहैं॥४३॥ और संसार का नाश होने के निमित्त, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण, सर्वों में समान, अत्यन्त शान्त, समानादि भेदरहित, एक, जगत् के और जीवों के अधिष्ठान, बुद्धि के प्रेरणा करनेवाले, सर्वात्मा और ईश्वर ऐसे आप की ही सेवा करते हैं ॥ ४४ ॥ इसप्रकार आप ही भक्ति रहने की प्रार्थना करके अब अपने भक्त (बाणासुर) का कल्याण होने की इच्छा करते हैं—यह बाणासुर मेरा सेवक होने के कारण मुझे प्रिय और प्रेम करनेवाला है इसकारण हे देव! मैंने इस को अभय दिया है, सो जैसे तुमने प्रह्लाद के ऊपर अनुग्रह करा है तैसे ही इसके ऊपर भी तुम अपना अनुग्रह करो अर्थात् इस को मैंने जो अभयवचन दिया है सो सत्य करो ॥ ४५ ॥ इसप्रकार प्रार्थना करनेपर प्रसन्नहुए श्रीभगवान् कहनेलगे कि—हे भगवन्! (शङ्कर) मुझ से जो तुमने कहा सो तैसे ही तुम्हारा प्रिय कार्य मैं करता हूँ. अबबाहु काटीं यह भी, ' निश्चय मुझसमान के साथ तेरा घमण्ड दूर करनेवाला युद्ध होयगा ऐसा ' जो कहा था उस का ही मैंने, तिसीप्रकार उत्तमता से समर्थन करा है इस में तुम्हारा कुछ अनिष्ट नहीं हुआ ॥ ४६ ॥ राजा बलि मेरा भक्त था इसकारण उस के पुत्र इस असुर को, मुझे भी मारना उचित नहीं हैं, क्योंकि—मैंने प्रह्लाद को यह वरदान दिया था कि—तेरे वंश के पुरुषों का वध नहीं करूँगा॥ ४७ ॥दर्प दूर करने के निमित्त मैंने इस की भुजा काटी हैं और पृथ्वी का भाररूप जो बहुतसी सेना थी उस को भी मैंने मारडाला है॥४८॥ अब इस की चार भुजा शेष रही हैं सो अजर अमर होंगी ;तैसे ही यहदैत्य होकर

भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥ ४९ ॥ इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः ॥ प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥ ५० ॥ अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलंकृतम् ॥ सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥ स्वराजधानीं समलंकृतां ध्वजैः सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ॥ विवेश शंखानकदुन्दुभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥ ५२ ॥ य एवं कृष्णविजयं शंकरेण च संयुगम् ॥ संस्मरेत्प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात्पराजयः ॥५३॥ इतिश्रीभा०म०द०उ०त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः ॥ विहर्तुं सांबप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥ क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वंतः पिपासिताः ॥ जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्वमद्भुतं ॥२॥ कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ॥ तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रु-

भी जो तुम्हें प्रियहुआ है इसकारण यह तुम्हारे पार्षदों में मुख्य होगा और कहीं भी जिस को भय नहीं ऐसा (निर्भय) होयगा ॥ ४९ ॥ इसप्रकार भगवान् के वचन से अभय प्राप्त होनेपर, वह बाणासुर, मस्तक से श्रीकृष्णजी को नमस्कार करके, ऊषा स्त्री सहित अनिरुद्ध को रथपर बैठालकर तहाँ लाया ॥ ५० ॥ फिर श्रीरुद्रभगवान् ने द्वारका में जाने के निमित्त जिन को अनुमति दीहै ऐसे श्रीकृष्णजी, दहेज में दीहुई एकअक्षौहिणी सेना को चारोंओर लेकर और उत्तम वस्त्र आदिकों से भूषित तिस स्त्रीसहित अनिरुद्ध को आगे करके चलदिये ॥ ५१ ॥ तदनन्तर द्वारका में के पुरुषों ने, मित्र और ब्राह्मणों के साथ सन्मुख आकर जिन का सत्कार करा है ऐसे तिन श्रीकृष्णजी ने, शंख, नगाड़े दुन्दुभि आदि बाजों के शब्द के साथ, बन्दनवारों सहित झंडियों से शोभायमान और जिस में मार्ग और आँगनों को छिड़कागया है ऐसी उस अपनी द्वारका राजधानी में प्रवेश करा ॥ ५२ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी के विजय का और शङ्कर भगवान् के साथ हुए युद्ध का जो पुरुष प्रातःकाल के समय उठकर स्मरण करेगा, शत्रुओं से उस की पराजय कभी भी नहीं होगी ॥ ५३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में त्रिसष्टितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इस चौंसठवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने राजा नृग को पाप से छुटाया, और घमंडी राजाओं को ब्राह्मणों का धन हरने का दोष वर्णन करके शिक्षाकरी, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि-हेराजन् ! एक समय प्रद्युम्न, चारु, भानु, गदआदि यादवकुमार क्रीडा करने के निमित्त बगीचे में गये ॥ १ ॥ और उस बगीचे में बहुत समयतक क्रीडा करके पियास से घबड़ाए हुए उन्हों ने जल को ढूँढतेहुए, एक जलहीन कुए में रहनेवाला एक अद्भुत प्राणी देखा ॥२॥ उस पर्वत की समान बड़े गिरघट को देखकर विस्मितचित्त और कृपायुक्तहुए वह

रेते कृपयान्विताः ॥ ३ ॥ चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः ॥ नाशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥ ४ ॥ तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावनः ॥ वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५ ॥ स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ॥ संतप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालंकरणांबरस्रक् ॥ ६ ॥ पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः । कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥ ७ ॥ दशामिमां वा कतमेन कर्मणा संप्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र ॥ आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥ ८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्त्तिना ॥ माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥ ९ ॥ नृग उवाच ॥ नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ॥ दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥ १० ॥ किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ॥ का-

कुमार, उस को कुए में से बाहर निकालने का उद्योग करनेलगे ॥ ३ ॥ वह बालक कुए में पड़ेहुए घिरघट को चमड़े की और सूतकी डोरियोंसे बाँधकर बाहर को निकालने लगे परन्तु उस को कुए में से बाहर निकालने को वह समर्थ नहीं हुए तब उस को बाहर निकालने के विषय में उत्कंठितहुए तिन बालकों ने वह समाचार श्रीकृष्णजी को सुनाया ॥ ४ ॥ तब विश्वपालक वह भगवान् श्रीकृष्णजी, तहाँ आये और उस को देखकर उन्हों ने बायें हाथ से ही अनायास में कुए से बाहर निकाल लिया ॥ ५ ॥ तब उत्तमश्लोक भगवान् के हाथ से स्पर्श कराहुआ वह प्राणी, तत्काल घिरघट के स्वरूप को त्यागकर, जिस का वर्ण तपायेहुए सुवर्ण की समान सुन्दर है, जो अद्भुत आभूषण वस्त्र और माला धारण करेहुए है ऐसा देवतारूप होगया ॥ ६ ॥ उस का घिरघट का जन्म होने के कारण को जाननेवाले भी श्रीकृष्णजी ने उस को लोक में प्रसिद्ध करने के निमित्त उस से बूझा कि–हे महाभाग ! अतिसुन्दर स्वरूप तू कौन है ? मैं तो तुझे श्रेष्ठ देवता समझता हूँ ॥ ७ ॥ हे कल्याणमूर्त्ते ! इस घिरघट की योनि को प्राप्त न होने योग्य भी तू इस दशाको किस कर्म से प्राप्तहुआ है ? तथा पहिले तू कौन था ? यह सब तेरे मुख से सुनने की इच्छा करनेवाले हमें, यदि तुझे हम से कहने के योग्य प्रतीत होता होय तो तू अपना वृत्तान्त हम से कथन कर ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार अनन्तमूर्त्ति श्रीकृष्णजी से प्रश्न कराहुआ वह राजा नृग, सूर्य की समान वर्ण के किरीट को धारण करेहुए अपने मस्तक से श्रीकृष्णजी को नमस्कार करके कहनेलगा कि ॥ ९ ॥ राजा नृग ने कहा कि–हे प्रभो ! मैं इक्ष्वाकु राजा का पुत्र नृग नामवाला राजा हूँ, दान करनेवाले पुरुषों का वृत्तान्त चलतेसमय, मेरी वार्त्ता भी आप के कानों में कभी तो पहुँची होगी ! ॥ १० ॥ हे नाथ ! सकल प्राणियों की बुद्धियों के साक्षी और जिन का ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता

लेनाऽव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥ ११ ॥ यावन्त्यः सिकता भूमेर्या-
वन्त्यो दिवि तारकाः ॥ यावन्त्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ॥ १२ ॥ प-
यस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः कपिला हेमशृंगीः ॥ न्यायार्जिता रू-
प्यखुराः सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहं ॥ १३ ॥ स्वलंकृतेभ्यो गुणशील-
वद्भ्यः सीदत्कुटुंबेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ॥ तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो
द्विजपुंगवेभ्यः ॥ १४ ॥ गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिल-
रूप्यशय्याः ॥ वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पू-
र्तम् ॥ १५ ॥ कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ॥ संपृक्ताऽविदुषा सा
च मया दत्ता द्विजातये ॥ १६ ॥ तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति
तम् ॥ ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति ॥ १७ ॥ विप्रौ विवद-

ऐसे तुम को न समझाहुआ क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है तथापि आपने बूझा इसकारण मैं आप के प्रश्न का उत्तर कहता हूँ ॥ ११ ॥ भूमि में जितने बालु के कण हैं, अथवा आकाश में जितने तारे हैं अथवा वर्षा होते समय जितनी जल की धारा गिरती हैं उतनी ही गौऐं मैंने दान दी हैं ॥ १२ ॥ वह गौएँ, बहुतसा दूध देनेवाली, पहलौन ब्याहीहुई, सुन्दर स्वभाव और सुन्दर रूपवाली, बहुतसा घी उत्पन्न होने के गुण से युक्त, कपिल-वर्ण, सींगो में सुवर्ण से मंढीहुई, न्याय से पाईहुई, चांदी से खुर मंढीहुई, झूलें, सुवर्ण के फूलों की माला और भूषण धारण करेहुए बछडों सहित मैंने दी हैं ॥ १३ ॥ और वह भी तो वैराग्य आदि गुणों से तथा शान्ति आदि स्वभावों से युक्त, कुटुम्बवत्सल, सदाचार, तपस्या से प्रसिद्ध शिष्यों को वेद पढ़ाने में अति उदार, समचित्त तरुण और अलङ्कारों से पूजित श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दी हैं ॥ १४ ॥ केवल गौ ही नहीं दी हैं किन्तु भूमि, सुवर्ण, घर, घोडे, हाथी, दासियों सहित कन्या, तिलों के पर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, पात्र और रथ भी दिये हैं, अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये, बावडी, कुए, तालाव, और देवमन्दिर भी बनवाये तैसे ही अन्न के सत्र भी लगाए हैं ॥ १५ ॥ ऐसा होते २ मुझे एक यह सङ्कट प्राप्त हुआ कि—प्रतिग्रह न लेनेवाले किसी एक ब्राह्मण की गौ, जहाँ बँधी थी उस स्थान से बछडे सहित खुलकर मेरी गौओं में आमिली और वह, यह ब्राह्मण की है ऐसा न जाननेवाले मैंने दूसरे ब्राह्मण को देदी ॥ १६ ॥ उस दीहुई गौ को ब्राह्मण के लेजाते में उस के स्वामी ने देखकर उस ब्राह्मण से कहा कि—यह गौ मेरी है और उस दानरूप से गौ को लेजानेवाले ब्राह्मण ने भी कहा कि—यह गौ मेरी है और मुझे अब ही राजा नृग ने दी है ॥ १७ ॥ इसप्रकार परस्पर विवाद

मानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ॥ भवान् दाताऽपहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥ १८ ॥ अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै ॥ गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥ १९ ॥ भवन्तावनुगृह्णीतां किंकरस्याविजानतः ॥ समुद्धरत मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥ २० ॥ नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ॥ नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥ २१ ॥ एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ॥ यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥ ॥ २२ ॥ पूर्वं त्वमशुभं भुंक्षे उताहो नृपते शुभम् ॥ नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः ॥ २३ ॥ पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पते-

करनेवाले और स्वार्थसाधक (मेरे मुख से निर्णय होजाने पर गौ को लेजाने को उत्कण्ठित) वह दोनों ही ब्राह्मण, मेरे समीप आकर मुझ से कहनेलगे, उन में से प्रतिग्रह लेनेवाले ने कहा कि–हे राजन्! तुम ने अभी मुझे यह गौ दी है इसकारण यह मेरी है, ऐसा होतेहुए यह ब्राह्मण मेरी है ऐसा कहता है. गौ के स्वामी ने कहा कि–'यह गौ मेरी है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है,वह तुम ने अपहार करके ब्राह्मण को दी है ; उन दोनों का भाषण सुनकर मैं व्याकुल हुआ ॥ १८ ॥ और दूसरे की गौ दूसरे को देना यह अपहार कहाता है; अब जिस की तिस को दिलवाऊँ तो प्रतिग्रह लेनेवाले से अपहार होता है,इस प्रकार दोनों ओर से धर्मसङ्कट में पड़ेहुए मैंने उन दोनों ब्राह्मणों से प्रार्थना करी कि–दूसरी उत्तम लाख गौएँ तुम दोनों में से एक को देता हूँ, वह यह गौ दूसरे को (स्वामी दान लेनेवाले को अथवा दान लेनेवाला स्वामी को) देदेय ॥ १९ ॥ तुम दोनों, न जाननेवाले मुझ सेवक के ऊपर अनुग्रह करो. गौ के अपहाररूप दोष से अमङ्गलरूप नरक में पड़नेवाले मेरा, इस परिवर्त्तन में लाख गौ लेनेरूप अनुग्रह से उद्धार करो ॥२०॥ तब गौ का स्वामी कहनेलगा कि–हे राजन्! तुम लाख गौ देने को समर्थ हो तथापि गौ का वेचना निषिद्ध है इसकारण मैं बदले में दीहुई तुम्हारी लाख गौओं की भी इच्छा नहीं करता हूँ ऐसा कहकर वह अपनी गौ लेकर चलागया और प्रतिग्राही (दान लेनेवाला) भी, 'हे राजन्! लक्ष तो क्या परन्तु तिस के ऊपर यदि और भी दशसहस्र गौएँ देय तो भी इस गौके विना मैं उन की इच्छा नहीं रखता हूँ' ऐसा कहकर वह भी चलागया ॥ २१ ॥ धर्म में इतना अन्तर पड़ने के कारण मरण को प्राप्त होनेपर मुझे यमके दूत यमलोक में लेगये; हे देवदेव! हे जगत्पते! तहाँ मुझसे यम ने बूझा कि–॥ २२ ॥ हे राजन्! पाहिले तू क्या पाप का फल भोगेगा? अथवा पुण्यकर्मों का फल भोगता है? तेरे दानपुण्यों का, धर्मपुण्यों का और स्वर्गादिलोक प्राप्ति के प्रकाशित होनेवाले पुण्यफलों का मैं अन्त नहीं देखता हूँ ॥ २३ ॥ तब मैंने कहा कि–हे धर्मराज! मैं पहिले पापकर्म

ति सः ॥ तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥ २४ ॥ ब्रह्मण्यस्य
वदान्यस्य तव दासस्य केशव ॥ स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः
॥ २५ ॥ स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशाऽमलहृ-
द्विभाव्यः ॥ साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भ-
वाऽपवर्गः ॥ २६ ॥ देवदेव जगन्नाथ गोविंद पुरुषोत्तम ॥ नारायण हृषीकेश
पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥ २७ ॥ अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो ॥
यत्र क्वापि गतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥ २८ ॥ नमस्ते सर्वभावा-
य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥ २९ ॥
इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ॥ अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुह-

---

का फल भोगता हूँ तब उन यमराज ने कहा कि—जा तू नीच योनि में, हे प्रभो ! इतने ही में नीचयोनि में जानेवाले अपने को मैंने गिरघटरूप देखा ॥ २४ ॥ हे केशव ! ब्राह्मणों का भक्त, दानशूर, तुम्हारा दास और तुम्हारे दर्शन से ही पापरहित हुआ ऐसे मेरी स्मरणशक्ति अब भी नष्ट नहीं हुई है ॥ २५ ॥ अब दुर्घट श्रीकृष्णजी के दर्शन से विस्मित होकर अपने भाग्य की प्रशंसा करता है कि—हे विभो ! जो तुम,योगेश्वरों को भी उपनिषद्रूप दृष्टि से, निर्मल हृदय में केवल ध्यान करने के योग्य ऐसे साक्षात् अधोक्षज परमात्मा हो ऐसे तुम, अनेकों व्यसनो से अन्धबुद्धिहुए मेरी दृष्टि के सामने किस भाग्य के उदय से हुए हो ? क्योंकि—इस संसार में जिन पुरुषों के संसार की समाप्ति होय उन को ही तुम प्रत्यक्ष दर्शन देते हो औरों को नहीं ॥ २६ ॥ अब भक्ति के वशी-भूत होकर बहुतसे सम्बोधन देतेहुए कहतेहैं कि-हेदेवदेव ! हेजगन्नाथ ! हे गोविन्द! हे पुरुषोत्तम ! हे नारायण ! हे हृषीकेश ! हे पुण्यकीर्त्ते ! हे अच्युत ! हे अविनाशिस्वरूप हे प्रभो ! हे कृष्ण ! अब स्वर्गलोक को जानेवाले मुझ को जाने की आज्ञा दीजिये, कर्म के वश में होकर कहीं भी होनेवाले मेरा चित्त तुम्हारे चरण ही जिसका विषय (स्मरण करने के योग्य आश्रय) हैं ऐसा हो ॥ २७ ॥ २८ ॥ जाते में नमस्कार करता है कि—जिन के द्वारा सर्व जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो कर्त्ता होकर भी निर्विकार हैं,जिन की मायानामक शक्ति अनन्त है, जो सकल प्राणियों के आश्रय हैं और जो इष्टापूर्त्त × आदि कर्मों का फल देनेवाले हैं ऐसे तुम कृष्ण (सदानन्दरूप ; को नमस्कार हो ॥ २९ ॥ इसप्रकार कहकर उन श्रीकृष्णजी की प्रदक्षिणा करके अपने मस्तक से उन के चरणों को स्पर्श करतेहुए नमस्कार करके, उन के आज्ञा देनेपर सकल मनुष्यों के देखतेहुए वह आयेहुए

× इस से यह जताया कि-परमानन्दरूप तुम्हें छोड़कर जाने की इच्छा करनेवाला भी मैं, तुम्हारे दियेहुए कर्मफल को भोगने जाता हूँ ॥

त्पश्यतां नृणां ॥ ३० ॥ कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ॥ ब्रह्मण्य-
देवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥ ३१ ॥ दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्ने-
र्मनागपि ॥ तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनां ॥ ३२ ॥ नाहं हाला-
हलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ॥ ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्र-
तिविधिर्भुवि ॥ ३३ ॥ हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ॥ कुलं
समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥ ३४ ॥ ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति
त्रिपूरुषं ॥ प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥ ३५ ॥ राजानो राज-
लक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ॥ निरयं येऽभिमन्यंते ब्रह्मस्वं साधु बा-
लिशाः ॥ ३६ ॥ गृह्णंति यावतः पांसून् क्रंदतामश्रुबिंदवः ॥ विप्राणां हृतवृ-

श्रेष्ठ विमान में चढा ॥ ३० ॥ तदनन्तर ब्राह्मणों के हितकारी देव, धर्मात्मा, भगवान् श्रीकृष्णजी, राजाओं को शिक्षा देतेहुए तहाँ आयेहुए लोकों से कहनेलगे कि—॥ ३१ ॥ अरे लोगो ! क्या आश्चर्य कहूँ ! थोड़े से भी ब्राह्मण के धन का भोग करनेपर वह ब्रह्मधन, अग्नि की समान तेजस्वी पुरुष से भी किसीप्रकार जीर्ण (हजम) करने में नहीं आता फिर हम समर्थ हैं ऐसा व्यर्थ अभिमान रखनेवाले राजाओं से जीर्ण (हजम) कियाजायगा इसका तो कहना ही क्या ? ॥ ३२ ॥ मैं तो, जिस के दूर करने का उपाय है ऐसे लोकों को जलानेवाले हालाहल नामक विषको भी विष नहीं मानता हूँ; किन्तु ब्राह्मणों के धन को ही विष मानता हूँ; क्योंकि—जिस को हटाने का उपाय है ही नहीं ॥ ३३ ॥ अब विष और अग्निसे भी ब्राह्मण का धन भयङ्कर है ऐसा कहते हैं—विष एक भक्षण करनेवाले को ही मारडालता है, दूसरों को नहीं मारता है, अग्नि जलों से शान्त होजाता है, कदाचित् वह वन आदि को जला भी डाले तो उस की मूल (जड़ें) शेष रहजाती हैं परन्तु ब्राह्मण के धनरूप अरणिकाठ से उत्पन्नहुआ अग्नि तो कुल को समूल भस्म करडालता है ॥ ३४ ॥ धरोहड़ रक्खेहुए ब्राह्मण का धन, स्वामी की आज्ञा के विना भोगनेपर वह तीन पुरुषपर्यंत कुल को अधोगति में पहुँचाता है, और बल से हठ करके भोगाहुआ द्रव्य हरण करनेवाले के पहिले दश और आगे के दश तथा इक्कीसवां आप, इतनों को अधोगति में पहुँचाता है ॥ ३५ ॥ इसकारण राज्यलक्ष्मी से अन्धेहुए जो मूर्ख राजे, नरक में पहुँचानेवाले, ब्राह्मण के धन की इच्छा करते हैं वह यह नहीं देखते कि—हमारा नरकपात होगा ॥ ३६ ॥ वेदों का दान, (पढ़ाना) करनेवाले, कुटुम्बवत्सल और आजीवका का हरण होने से रोनेवाले ब्राह्मणों के नेत्रों में से गिरीहुई आँसुओं की बूंदें जितनी पृथिवी की धूलि के कणों को भिगोती

त्तीनां वदान्यानां कुटुंबिनां ॥ ३७ ॥ राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दा-
न्निरंकुशाः ॥ कुंभीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥ ३८ ॥ स्वदत्तां पर-
दत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ॥ षष्टिवर्षसहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः॥३९॥
न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृद्ध्वाऽल्पायुषो नृपाः॥पराजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्यु-
द्वेजि-नोऽहयः ॥ ४० ॥ विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ॥ घ्नन्तं
बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ ४१ ॥ यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं
समाहितः ॥ तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥ ४२ ॥
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ॥ अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौ-
रिव ॥४३॥ एवं विश्राव्य भगवान्मुकुंदो द्वारकौकसः ॥ पावनः सर्वलोकानां
विवेश निजमंदिरम् ॥ ४४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उ०

हैं उतने वर्षोंतक उन ब्राह्मणों की आजीविका छीननेवाले निरंकुश राजे तथा उस राज-
कुल का आश्रय करनेवाले मंत्री आदि कुंभीपाक नरक में क्लेशों को भोगते हैं ॥ ३७ ॥
॥ ३८ ॥ अपनी दीहुई वा दूसरे की दीहुई ब्राह्मण की आजीविका का जो पुरुष हरण
करता है वह, साठ सहस्र वर्षोंतक विष्टा में कीड़ा होता है ॥ ३९ ॥ इसकारण मुझ को
ब्राह्मण का द्रव्य हरण करने की इच्छा कभी नहो, जिस धन की इच्छा करनेवाले पुरुष,
थोड़ी आयुवाले, और राज्य से भ्रष्ट होजाते हैं तथा मरण के अनन्तर वह दूसरोंको भय
देनेवाले सर्प होते हैं॥४०॥इस से हे लोगों ! तुम मेरे हो इसकारण तुम से कहता हूँ सुनो—
अपराध करनेवाले, बहुत शाप आदि देनेवाले अथवा किसी अवसर पर ताड़ना भी कर-
नेवाले ब्राह्मणों से तुम कभी भी द्रोह न करो; किन्तु उन को नित्य नमस्कार ही करो
॥ ४१ ॥ जैसे मैं प्रातःकाल मध्यान्ह और सायंकाल के समय तथा और दूसरे किसी
भी समय एकाग्रचित्त से ब्राह्मणों को नमस्कार करता हूँ तैसे ही तुम भी नमस्कार करो,
इसप्रकार जो नहीं करेगा वह मुझ से दण्ड पावेगा ॥ ४२ ॥ ब्राह्मण का धन हरनेपर
वह धन उस हरनेवाले को नरक में डालता है, यह केवल भय दिखाना ही नहीं है किन्तु
प्रत्यक्ष है देखो—उस ब्राह्मण की गौ,न जाननेवाले भी इस महादानी राजा नृग के, अधो-
योनि में पड़ने का कारण हुई फिर जानबूझकर हरण कराहुआ ब्राह्मण का धन, उस
हरण करनेवाले के अधःपात का कारण होगा इस का तो कहना ही क्या ! ॥ ४३ ॥ इस
प्रकार सब लोकों को पवित्र करनेवाले और मुक्ति देनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी, द्वारका-
वासी लोकों को धर्म का रहस्य सुनाकर फिर अपने स्थान को चलेगये ॥ ४४ ॥ इति
श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में चतुःषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे

नृगोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ॥ सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगो-
कुलम् ॥ १ ॥ परिष्वक्तश्चिरोत्कंठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ॥ रामोऽभिवाद्य पि-
तरावाशीर्भिरभिनंदितः ॥ २ ॥ चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः
इत्यारोप्यांकमालिंग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥ ३ ॥ गोपवृद्धांश्च विधिवद्य-
विष्ठैरभिवंदितः ॥ यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥ समुपे-
त्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः ॥ विश्रांतं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्यु-
पागताः ॥ ५ ॥ पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा ॥ कृष्णे कमलपत्राक्षे
संन्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥ कच्चिन्नो बांधवा राम सर्वे कुशलमासते ॥ क-
च्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७ ॥ दिष्ट्या कंसो हतः पा-
पो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः॥निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः॥८

पैंसठवें अध्याय में, गोकुल को आयेहुए बलरामजी ने, गोपियों के साथ क्रीड़ा करतेहुए यमुना नदी का आकर्षण करा यह कथा वर्णन करी है ॥*॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन्! एकसमय, नन्द आदि बान्धवों को देखने की इच्छा करनेवाले और उन में प्रेम करनेवाले भगवान् बलरामजी, रथपर बैठकर नन्दजी की गोकुल को गये ॥ १ ॥ तब बहुत कालपर्यन्त दर्शन आदि की इच्छा करनेवाले गोपोंने और गोपियोंने उन को हृदय से लगाया और उन बलरामजी ने यशोदा और नन्द इन दोनों माता पिताओं को प्रणाम करा तब उन्होंने आशीर्वाद देकर इन का अभिनन्दन करा ॥ २ ॥ कि-हे बलराम! तुम जगदीश्वर हो इस से श्रीकृष्ण सहित तुम चिरकालपर्यन्त हमारी रक्षा करो, ऐसा कहकर उन यशोदा नन्द ने, उन को गोदी में बैठाकर हृदय से लगाकर आनन्द के आँसुओं से भिगोदिया ॥ ३ ॥ फिर उन्होंने वृद्ध गोपों को भी यथाविधि प्रणाम करा तब छोटी अवस्थावाले गोपों ने उन को प्रणाम करा; फिर जैसी अपनी अवस्था, मित्रभाव और सम्बंध था उस के अनुसार वह सब गोपों से, हास्य, हाथ पकड़ना इत्यादि से मिलकर सुख से आसन पर बैठ श्रमरहित होने पर उन के चारों ओर आकर बैठेहुए, उन के कुशल बूझेहुए और कमलदलनयन श्रीकृष्णजी की प्राप्ति के निमित्त सकल विषयों का त्याग करनेवाले सब गोप उन से प्रेम के कारण गद्गदहुई वाणी से यादवों का कुशल बूझनेलगे ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे राम! वसुदेव आदि हमारे सब बान्धव आनन्द तो हैं? और हेराम! अब स्त्री और पुत्रोंसे युक्त हुए तुम, कभी हमारा स्मरण करते हो क्या? ॥ ७ ॥ दुराचारी कंस मरण को प्राप्त हुआ यह बड़े आनन्द की वार्त्ता हुई और हमारे वसुदेव आदि मित्रजन भी उस के उपद्रव से छूटे यहभी अच्छा हुआ तथा कालयवन को और जरासन्ध आदि शत्रुओं को मारकर तथा जीतकर तुम द्वारकारूप किले में आकर रहे यह भी बहुत

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामं संदर्शनादृताः ॥ कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्री-
जनवल्लभः ॥ ९ ॥ कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च सः ॥ अप्यसौ
मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ॥ अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः
॥ १० ॥ मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ॥ यदर्थे जहिम दाशार्ह-
दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥ ११ ॥ ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संछिन्नसौ-
हृदः ॥ कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥ १२ ॥ कथं नु गृ-
ह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ॥ गृह्णन्ति वै चित्रक-
थस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥ १३ ॥ किं नस्तत्कथया
गोप्यः कथाः कथयतापराः ॥ यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव
नः ॥ १४ ॥ इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् ॥ गतिं प्रेमपरिष्वंगं

अच्छा हुआ ॥ ८ ॥ उस समय बलरामजी के प्रेम के साथ देखने से आदर को प्राप्तहुई गोपियें, आनन्द के साथ हँसती हुई उन से बूझने लगीं कि–अब नगर में की स्त्रियों को प्रेम करनेवाले वह श्रीकृष्ण, द्वारका में सुख से तो रहते हैं ? ॥ ९ ॥ और वह अपने गोप बान्धवों का, पिता नन्दजी का और माता यशोदा का भी कभी स्मरण करते हैं क्या ? और वह अपनी माता को देखने के निमित्त एकाधवार आवेंगे क्या ? और वह महापराक्रमी श्रीकृष्णजी, हमारी, तत्पर होकर करीहुई सेवा का कभी स्मरण करते हैं क्या ? ॥ १० ॥ हे दाशार्ह प्रभो ! त्यागने को कठिन ऐसे माता, पिता, भ्राता, पति, पुत्र, बहिन आदि स्वजनों को, जिनकी प्रीति के लिये हमने त्यागदिया था वह हमें तत्काल त्यागकर, प्रेमबन्धन को अत्यन्त तोड़कर चलेगये, यदि कहोकि-तुमने जातेसमय उन को रोक क्योंनहींलिया तो सुनो–'मैं तुम्हारे उपकार का पलटा करने को कभी समर्थ नहीं होऊँगा' इत्यादि उन मनोहर भाषणों का स्त्रियें भला कैसे विश्वास न करें ? किन्तु विश्वास करना ही पड़ताहै सो उन्होने हमें विश्वास देकर धोखा दिया है ॥ ११ ॥ १२ ॥ दूसरी गोपी कहने लगीं कि–हम तो चित्त ठिकाने न होने के कारण चतुर नहीं है परन्तु अब नगर की चतुर स्त्रियें, चञ्चल प्रेमयुक्त और कृतघ्नी उन कृष्ण की वातों को विश्वास से कैसे ग्रहण करती होंगी ? दूसरी कहने लगीं कि–हमारी समान ही उनकी चित्रविचित्र कथाओं के सुनने से मोहित होकर और उन के सुन्दर हास्ययुक्त अवलोकन से उद्दीपित हुए कामदेव के वश में होकर उन की वातों को ग्रहण करलेती होंगी इस में सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥ दूसरी कहने लगींकि–अरी गोपियों ! उन कृष्ण की कथा से हमें कौन फल प्राप्त होता है ? उन के स्मरण से केवल दुःखही बढ़ता है, इस से दूसरे की कथा वर्णन करो और उनका हमारे विना समय बीतता है तो उन के विना हमारा भी बीतही जाता है परन्तु विशेषता इतनी है कि–उन का सुख से बीतता है और हमारा दुःखसे ॥ १४ ॥ इसप्रकार कहनेवालीं और उन श्री-

संस्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥ १५ ॥ संकर्षणस्ताः कृष्णस्य संदेशैर्हृदयंगमैः ॥
सांत्वयामास भगवान्नानाऽनुनयकोविदः ॥ १६ ॥ द्वौ मासौ तत्र चावा-
त्सीन्मधुं माधवमेव च ॥ रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्
॥ १७ ॥ पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ॥ यमुनोपवने रेमे सेविते
स्त्रीगणैर्वृतः ॥ १८ ॥ वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ॥ प-
तन्ती तद्वनं सर्वं स्वगंधेनाध्यवासयत् ॥ १९ ॥ तं गन्धं मधुधाराया वायु-
नोपहृतं बलः ॥ आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥ २० ॥ उपगीय-
मानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ॥ वनेषु व्यचरत्क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥ २१ ॥
स्रग्व्येककुंडलो मत्तो वैजयंत्या च मालया ॥ बिभ्रत्स्मितमुखांभोजं स्वेदप्रा-
लेयभूषितम् ॥ २२ ॥ स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ॥ निजं वाक्य-

---

कृष्ण के—हास्य, भाषण, सुन्दर अवलोकन, चलना और प्रेमयुक्त आलिङ्गन का स्मरण करती हुई वह स्त्रियें रोनेलगीं ॥ १५ ॥ उससमय नाना प्रकार की समझाने की रीतियों में चतुर तिन भगवान् बलरामजी ने, मनोहर और विश्वासकारी श्रीकृष्ण के सन्देशे कहकर उन गोपियों को समझाया ॥ १६ ॥ तदनन्तर वह भगवान् बलरामजी, रात्रि में श्रीकृष्णजी के साथ हुई रासक्रीड़ा के समय जो छोटी थीं और जो उत्पन्न नहीं हुई थीं ऐसी गोपियों को रतिसुख देतेहुए चैत्र और वैशाख इन दो महीनेपर्यन्त तिस गोकुल में रहे ॥ १७ ॥ तब, पूर्णचन्द्रमा की किरणों से प्रकाशवान् और चन्द्रमा के उदय होने पर खिलनेवाली कमलिनियों के सुगन्धयुक्त वायु से सेवन करीहुई यमुना के तट की वाटिका में स्त्रियों से घिरेहुए उन बलरामजी ने क्रीडा करी ॥ १८ ॥ बलरामजी की सेवा करने के निमित्त वरुण की भेजी हुई, अमृत के साथ उत्पन्न हुई वारुणी नामक मदिरा, वृक्षों की खोकलों में से नीचे को टपककर अपनी गन्ध से उस सब वन को सुगन्धित करनेलगी ॥ १९ ॥ तब वायु ने अपनी घ्राणइन्द्रिय (नासिका) के समीप पहुँचाएहुए मधुधारा के उस सुगन्ध को ग्रहण करके बलरामजी ने तहाँ जाकर स्त्रियों के साथ उस मदिरा का पान करा ॥ २० ॥ और देवगन्धर्वादिकों ने जिनका चरित्र गाया है ऐसे मत्त और मद से जिनके नेत्र विह्वल हुए हैं ऐसे वह बलरामजी, स्त्रियों के साथ क्रीडा करतेहुए वन में विचरने लगे ॥ २१ ॥ कण्ठ में पुष्पों की माला और एक ही कान में कुण्डल धारण करनेवाले, स्वभाव से ही मत्त की समान दीखनेवाले, नौरत्नों से जड़ी और पैरों पर्यन्त लटकती हुई वैजयन्ती नामवाली माला से शोभायमान, पसीनारूप तुषार के कणों से भूषित और हास्ययुक्त मुखकमल को धारण करनेवाले वह प्रभु बलरामजी, जहाँ आप थे तहाँ ही क्रीडा करने के निमित्त यमुनानदी को बुलानेलगे, तब यह मत्त हैं ऐसा जानकर, अपने

मनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ॥ अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥ २३ ॥
पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मया हुता ॥ नेष्ये त्वां लांगलाग्रेण शतधा
कामचारिणीम् ॥ २४ ॥ एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ॥ उवाच
च चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥ २५ ॥ राम राम महाबाहो न जाने
तव विक्रमम् ॥ यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥ २६ ॥ परं भावं
भगवतो भगवन्मामजानतीम् ॥ मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥
॥ २७ ॥ ततो व्यमुंचद्यमुनां याचितो भगवान् बलः ॥ विजगाह जलं स्त्रीभिः
करेणुभिरिवेभराट् ॥ २८ ॥ कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासितांबरे ॥
भूषणानि महार्हाणि ददौ कांतिः शुभां स्रजम् ॥ २९ ॥ वसित्वा वाससी
नीले मालामामुच्य कांचनीम् ॥ रेजे स्वलंकृतो लिप्तो माहेंद्र इव वारणः ॥
॥ ३० ॥ अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना ॥ बलस्यानंतवीर्यस्य वीर्यं

वाक्य का अनादर करके तहाँ न आनेवाली यमुना को उन्होंने कोप में भरकर, हल की नोक से खैंचलिया ॥ २२ ॥ २३ ॥ और कहनेलगे कि—अरी दुष्टे! मेरे बुलाने पर भी जो मेरा अनादर करके तू नहीं आती है तिस से तू जैसे मेरी इच्छानुसार जायगी तैसे तुझे हल की नोक से सैकडों प्रवाहों से लेजाऊँगा ॥२४॥ हे राजन्! इसप्रकार ललकारने के कारण डरकर चकित हुई वह यमुनानदी, देवतारूप से चरणों में गिर-कर उन बलरामजी से ऐसा कहनेलगी ॥ २५ ॥ कि—हे राम! हे राम! हे महाबाहो! मैं तुम्हारे पराक्रम को भूलगई हूँ; हे जगत्पते! जिन तुम्हारे सहस्र मस्तकों में से एक मस्तकने ही यह पृथ्वी धारण करी है ॥ २६ ॥ हे भगवन्! हे विश्वात्मन्! हे भक्त-वत्सल! तुम भगवान् की परमसामर्थ्य को न जाननेवाली परन्तु अब शरण आईहुई मुझ को 'अज्ञान से करेहुए अपराध को सहकर' तुम छोडदेने की कृपा करो ॥ २७ ॥ इसप्रकार प्रार्थना करेहुए उन भगवान् बलरामजी ने यमुना को छोडदिया फिर उन्होंने स्त्रियों के साथ उस के जल में घुसकर, जैसे गजराज हथिनियों के साथ क्रीडा करता है तैसे, क्रीडा करी ॥ २८ ॥ यथेष्ट क्रीडा करके जल से बाहर निक-लनेवाले उन बलरामजी को, नीलवर्ण के वस्त्र, बहुत मूल्य के भूषण और सुवर्ण के कमलों की माला यह साक्षात् लक्ष्मी ने तहाँ प्रकट होकर दिये ॥२९॥ तब नीले वस्त्र पहनकर और नीले कमलों की माला गले में डालकर दूसरे भी आभूषणों से शोभायमान और चन्दनादि का लेपन लगायेहुए वह बलरामजी इन्द्र के ऐरावत हाथी की समान शोभायमान होने लगे ॥ ३० ॥ हे राजन्! अनन्तपराक्रमी बलरामजी की सामर्थ्य को प्रकट करनेवाली

सूचयतीव हि ॥ ३१ ॥ एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ॥ रामस्या-
क्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥ ३२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्क-
न्धे उत्तरार्धे बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ नंदव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ॥ वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं
कृष्णाय प्राहिणोत् ॥ १ ॥ त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ॥ इति प्रस्तो-
भितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥ दूतं च प्राहिणोन्मंदः कृष्णायाव्यक्तवर्त्म-
ने ॥ द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥ ३ ॥ दूतस्तु द्वारकामेत्य
सभायामास्थितं प्रभुम् ॥ कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥ ४ ॥ वासु-
देवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ॥ भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याऽभि-
धां त्यज ॥ ५ ॥ यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत ॥ त्यक्त्वैहि

वह यमुनानदी अब भी हल से खोदेहुए मार्ग में को बहती हुई निःसन्देह दीखती है ॥ ३१ ॥ इसप्रकार गोकुल की स्त्रियों के विलासों से जिन का चित्त, रतिक्रीड़ा में तत्परहुआ है ऐसे गोकुल में क्रीड़ा करनेवाले तिन बलरामजी को चैत्र और वैशाख इन दो महीनोंकी सब रात्रियें एक रात्रि की समान बीतगई ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में पञ्चषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे छासठवें अध्याय में श्री-कृष्णजी ने, काशी में जाकर पौंड्रक का और उस के मित्र काशिराजा का वध करा फिर सुदर्शन के द्वार वध आदि चरित हुआ यह कथा वर्णन करी है। * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार बलरामजी के नन्दजी की गोकुल में जानेपर इधर द्वारका में, करूषदेशोंके स्वामी अज्ञानी राजा पौंड्रक ने, वासुदेव मैं हूँ ऐसा मानकर श्रीकृष्णजीके पास दूत भेजा ॥ १ ॥ इसको ही स्पष्टरूप से कहते हैं कि—जगत् का पालन करनेवाला भगवान् वासुदेव तूही प्रकट हुआ हैं इसप्रकार अज्ञानी पुरुषों के प्रशंसा करेहुए तिस पौंड्रक ने, मैं ऐश्वर्यादिगुणपूर्ण भगवान् वासुदेव हूँ ऐसा माना ॥ २ ॥ और जैसे किसी अज्ञानी बालक को खेलते में दूसरे बालक राजा बनालेते हैं तब वह अपने को ही राजा मानता है तिसी प्रकार मैं ही वासुदेव हूँ ऐसा माननेवाले उस मंदबुद्धि पौंड्रक ने, जिनका माहात्म्य विदित नहीं है ऐसे श्रीकृष्णजी के पास द्वारका में दूत भेजा ॥ ३ ॥ वह दूत द्वारका में जाकर, सुधर्मासभा में बैठेहुए कमलदलनयन प्रभु श्रीकृष्णजी से पौंड्रक का सन्देशा कहनेलगा ॥ ४ ॥ पौंड्रक का वचन दूत कहता है कि—भगवान् वासुदेव एक मैं ही हूँ और प्राणियों के ऊपर दया करने के निमित्त उत्तीर्ण हुआ हूँ, दूसरा कोई वासुदेव नहीं है; तू तो झूँठा वासुदेव नाम धारण करता है; इसकारण तू इस नाम का त्याग कर ॥ ५ ॥ और हे कृष्ण! तू मूढता से जो मेरे शंख चक्र आदि चिन्ह

मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौंड्रकस्याल्पमेधसः ॥ उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥ उवाच दूतं भगवान्परिहासकथामनु ॥ उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८ ॥ मुखं तदपिधायाज्ञ कंकगृध्रवटैर्वृतः ॥ शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥ इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ॥ कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥ १० ॥ पौंड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ॥ अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम् ॥ ११ ॥ तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ॥ अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौंड्रकं हरिः ॥ १२ ॥ शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ॥ बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वन-

धारण करता है उन को त्यागकर मेरी शरण आ, नहीं तो मेरे साथ युद्ध करनेको उद्यत (तयार) हो ॥६॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन् ! मन्दभाग्य पौंड्रक के दूत का कहा हुआ वह दुर्वचन सुनकर,उससमय सभा में बैठेहुए उग्रसेन आदि सभ्य बडे शब्द के साथ हँसनेलगे ॥ ७ ॥ फिर सभा में बहुत देरपर्यन्त उस पौंड्रक का हास्य होते रहने पर भगवान् श्रीकृष्णजी ने दूत से कहा कि-तू पौंड्रक से मेरा वाक्य इसप्रकार कहना कि-हे मूर्ख ! जिन धारण करेहुए बनावटी चिन्हों से तू अपनी प्रशंसा करता है वह चिन्ह मैं तुझ से छुटवाता हूँ अथवा वह मैं अपने चक्रादि चिन्ह युद्ध में तेरे ऊपर और तू जिनके साथ अपनी प्रशंसा करता है उन चिन्हों के ऊपर छोडता हूँ ॥ ८ ॥ मेरी शरण आ, ऐसा जो कहा तिसका उत्तर यह है कि-अरे मूढ! जिस मुख से तू ऐसी बड २ करता है, सो तू मेरे हाथ से मारेजाने पर उस मुख को फैलाकर, कंक गिद्ध और वट नामवाले पक्षियों से घिराहुआ जब रणभूमि में शयन करेगा तब तहाँ फिर नेवाले श्वानादिकों की शरण में जायगा अर्थात् वह तुझे तोड२ कर खायँगे॥ ९ ॥ इस-प्रकार भगवान् के कहेहुए निन्दा के वचनों को सुनकर वह दूत अपने स्वामी पौंड्रक के पास गया और वह सब वृत्तान्त सुनाया उस समय वह राजा पौंड्रक अपने मित्र की काशी नामकनगरी में था इसकारण श्रीकृष्णजी ने भी रथ में बैठकर उस काशीनगरी पर चढ़ाई करी ॥ १० ॥ महारथी पौंड्रक भी, श्रीकृष्णजी का युद्ध करने का उद्योग देखकर दो अक्षौहिणी सेना साथ में लेकर युद्ध करने के निमित्त शीघ्र ही नगर में से बाहर निकला ॥ ११ ॥ हे राजन् ! काशिराजा उस पौंड्रक का मित्र था इसकारण वह उस का सहायक होने के निमित्त अपनी तीन अक्षौहिणी सेना के साथ उस की सहायता करने को गया तब श्रीकृष्णजी ने पौंड्रक को देखा ॥ १२ ॥ शंख, चक्र, खड्ग, शार्ङ्ग और श्रीवत्स आदि चिन्होंसे प्रतीत होनेवाला, कौस्तुभमणि धारणकरे

मालाविभूषितम् ॥ १३ ॥ कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ॥ अमू-
ल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ १४ ॥ दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यवेषं कृत्रि-
ममास्थितं ॥ यथा नटं रंगगतं विजहास भृशं हरिः ॥ १५ ॥ शूलैर्गदाभिः
परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः ॥ असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिं ॥ १६ ॥
कृष्णस्तु तत्पौंड्रककाशिराजयोर्बलं गजस्यंदनवाजिपत्तिमत् ॥ गदासिचक्रेषु-
भिरार्दयद् भृशं यथा युगांते हुतभुक् पृथक्प्रजाः ॥ १७ ॥ आयोधनं तद्रथवा-
जिकुंजरद्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखंडितैः ॥ बभौ चितं मोदवहं मनस्विनामाक्रीडनं
भूतपतेरिवोल्बणम् ॥ १८ ॥ अथाह पौंड्रकं शौरिर्भो भो पौंड्रक यद्भवान् ॥
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥ १९ ॥ त्याजयिष्येऽभिधानं मे
यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतं ॥ व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥ २० ॥
इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौंड्रकम् ॥ शिरोऽवृश्चद्रथांगेन वज्रेणेंद्रो

हुए, वनमाला से भूषित, रेशमी पीताम्बर पहिने, बनावटी गरुड़ पर चढ हुए, अमूल्य किरीट तथा और भी आभूषणों को धारण करनेवाला तथा जिस के कानो में मकराकार कुण्डल झलक रहे हैं ऐसा था ॥ १३ ॥ १४ ॥ और जैसे नृत्य के स्थान में राजा आदि का वेष धारण करनेवाला नट होता है तैसेही, बनावटी, अपनी समान वेष धारण करनेवाले उस पौंड्रक को देखकर श्रीकृष्णजी ने बहुत ही हास्य करा ॥ १५ ॥ तदनन्तर वह शत्रु शूल, गदा, परिघ, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, खड्ग्, पट्टिश और बाणों से श्रीकृष्णजी के ऊपर प्रहार करनेलगे ॥ १६ ॥ श्रीकृष्णजी ने तो, हाथी, रथ, घोडे और पैदलों से युक्त उन पौंड्रक और काशिराज की सेना को, गदा, खड्ग, चक्र और बाणों से, जैसे प्रलयकाल में अग्नि जरायुज आदि चार प्रकार के प्राणियों को पीडित करता है तैसेही पीडित करके मारडाला ॥ १७ ॥ उससमय चक्र से चूरा करडाले हुए रथ, घोडे, हाथी, सिपाही, गर्दभ और ऊँटों से भरहुआ वह युद्ध का स्थान, शूर पुरुषों को हर्षित करताहुआ, प्रलय काल के भयङ्कर श्रीरुद्रभगवान् के क्रीडास्थान की समान शोभा पानेलगा ॥ १८ ॥ फिर श्रीकृष्णजी पौंड्रक से कहनेलगे कि—अरे रे ! पौंड्रक ! 'जो हमारे चिन्ह धारण करता है उन को त्यागदे ऐसा' जो तूने दूतके द्वारा मुझ से कहलाकर भेजा था वह अस्त्र तेरा वध करनेके निमित्त आज तेरे ऊपर छोडता हूँ ॥ १९ ॥ और अरे मूर्ख ! वासुदेव जो मेरा नाम मिथ्याही तू धारण करता है तिस को मैं तुझ से छुटवाता हूँ और यदि युद्धकी इच्छा नहीं होयगी अर्थात् युद्धसे भय मानूंगा तो अब तेरी शरण आऊँगा ॥ २० ॥ इसप्रकार भाषण से उसको धिक्कार करके, श्रीकृष्णजीने उस पौंड्रकको तीखे बाणोंसे रथहीन

यथा गिरेः ॥ २१ ॥ तथा काशिपतेः कायाच्छिरः उत्कृत्य पत्रि-
भिः ॥ न्यपातयत्काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥ २२ ॥ एवं मत्सरिणं
हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ॥ द्वारकामाविशत्सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥ २३ ॥
स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ॥ बिभ्राणश्च हरे राजन्स्वरूपं तन्म-
योऽभवत् ॥ २४ ॥ शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ॥ 'किमिदं
कस्य वा वक्त्रमिति' संशयिरे जनाः ॥ २५ ॥ राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः
पुत्रबान्धवाः ॥ पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥ २६ ॥ सुद-
क्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ॥ निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यप-
चितिं पितुः ॥ २७ ॥ इत्यात्मनाऽभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ॥ सुद-
क्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥ २८ ॥ प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै
वरमदाद्विभुः ॥ पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥ २९ ॥ दक्षिणाग्निं

करदिया और जैसे इन्द्रवज्र से पर्वतके शिखरतोडताहै तैसेचक्रसे उनकेमस्तककाटडाले॥२१॥ तैसे ही उस का मित्र जो काशिराजा था उसका शिर बाणों से शरीर पर से काटकर उस को, जैसे पवन कमलों की कलियों को तोड़कर दूर लेजाकर डालदेता है तैसे ही काशीनगरी में लेजाकर डालदिया ॥ २२ ॥ इसप्रकार काशिराजासहित पौंड्रक को मारकर, जिन की कथारूप अमृत को सिद्धों ने गाया है ऐसे वह श्रीकृष्णजी द्वारका को लौटगये॥ २३॥ हे राजन्! फिर वैरबुद्धि से, भी करेहुए भगवान् के ध्यान से जिस के कर्मवासनारूप बन्धन नष्ट होगये हैं ऐसा वह पौंड्रक, श्रीहरि की समान रूप धारण करके अन्त में तन्मय होगया ॥२४॥ इधर काशी में राजा के द्वार के समीप कुण्डलोंसहित पडाहुआ वह मस्तक देखकर सबलोग, पहिले 'यह क्या है' ऐसा कहकर तदनन्तर कुण्डलसहित मस्तक है, ऐसा जानकर 'किस का मस्तक है ऐसा,सन्देह करनेलगे ॥२५॥ फिर काशिपतिराजा का ही यह मस्तक है ऐसा निश्चय करके, उस की स्त्रियें, पुत्र, भ्राता और पुरवासी लोग, हे राजन्! हे नाथ! हे नाथ! तुम्हारे मरण को प्राप्त होने से तुम्हारे अनुयायी हम सब भी मरण को प्राप्तहुएसे होगये हैं, ऐसा कहतेहुए रोनेलगे ॥२६॥ उस काशिराजा का सुदक्षिण नामवाला पुत्र था, उस ने पिता की अन्तक्रिया करके, अपने पिता को मारनेवाले श्रीकृष्णजी को मारकर मैं पिता के ऋण से छूटूंगा ऐसा, अपनी बुद्धि से निश्चय करके, उपाध्याय के साथ वह अतिउदार सुदक्षिण, चित्त की एकाग्रता के साथ अविमुक्तक्षेत्र में श्रीरुद्रभगवान् की आराधना करनेलगा ॥ २७ ॥ २८ ॥ तदनन्तर भगवान् रुद्र ने प्रसन्न होकर उस से कहा कि-वर मांग,तब उस सुदक्षिणने, अपना इच्छित, पिता को मारनेवाले के वध का उपायरूप वरदान मांगलिया ॥ २९ ॥ तब श्रीरुद्र ने कहा कि-तू

परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम् ॥ अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः
॥ ३० ॥ साधयिष्यति संकल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ॥ इत्यादिष्टस्तथा चक्रे
कृष्णायाभिचरन्व्रती ॥ ३१ ॥ ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ॥
तप्तताम्रशिखश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥ ३२ ॥ दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः
स्वजिह्वया ॥ आलिहन् सृक्विणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलत् ॥ ३३ ॥ पद्भ्यां
तालप्रमाणाभ्यां कंपयन्नवनीतलम् ॥ सोऽभ्यधावद्वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन्
दिशः ॥ ३४ ॥ तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ॥ विलोक्य तत्रसुः
सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥ ३५ ॥ अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ॥
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥ ३६ ॥ श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा
स्वानां च साध्वसम् ॥ शरण्यः संप्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणों के साथ, शत्रु को मारने के निमित्त कहीहुई विधि से अपने में हवन करनेवाले की इच्छा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले दक्षिणाग्नि की आराधना कर, तब वह अग्नि, ब्राह्मणों की भक्ति न करनेवाले पुरुष के ऊपर चालयाजायगा तो मेरे प्रमथगणों से युक्त होकर तेरे संकल्प को पूरा करेगा (इस से ब्राह्मणों के भक्त श्रीकृष्णजी के ऊपर चलावेगा तो निरर्थक होगा यह सूचित करा) इसप्रकार आज्ञा कराहुआ वह सुदक्षिण, अभिचारकर्म (मारण का विधान) करताहुआ, भोजन आदि का नियम धारण करके अग्नि की आराधना करनेलगा॥ ३० ॥ ३१ ॥ तदनन्तर कुण्ड में से अतिभयानक अग्नि उत्पन्न हुआ, जिस की शिखा और दाढ़ी-मूछ तपेहुए तांबे की समान हैं, जिस के नेत्र अंगारे उगलनेवाले हैं ॥ ३२ ॥ जिस का मुख दाढ़ों से और उग्र भ्रुकुटिदण्डों से क्रूर दीखरहा है, जो अपनी जिह्वा से नीचे के और ऊपर के ओठों के जावड़ों को चाटरहा है और जो नंगा होकर हाथ में तीन नोकवाले त्रिशूल को घुमारहा है ॥ ३३ ॥ ऐसा वह अभिचार का अग्नि भूत प्रमथ आदि गणों से घिरकर दशों दिशाओं को जलाताहुआ ताल के वृक्ष की समान अपने चरणों से भूमण्डल को कँपाता कँपाता द्वारका पर चढ़कर गया ॥ ३४ ॥ उस आनेवाले अभिचार के अग्नि को देखकर द्वारकावासी पुरुष, वन को जलाने पर जैसे हिरन, डरकर भागजाते हैं तैसे ही सब भागगये ॥ ३५ ॥ और सभा में फांसों से क्रीडा करनेवाले भगवान्, श्रीकृष्णजी से, भय से घवडाएहुए वह द्वारकावासी पुरुष, हे त्रिलोकीनाथ ! इस द्वारकानगरी को जलातेहुए आनेवाले इस अग्नि से तुम हमारी रक्षाकरो, रक्षाकरो ऐसी प्रार्थना करनेलगे ॥ ३६ ॥ वह पुरुषों की व्याकुलता सुनकर तैसेही तिन अपने भक्तों का दुःख देखकर, रक्षा करनेवाले वह भगवान्, हँसकर कहने लगेकि—तुम कुछ भय न मानो मैं तुम्हारी रक्षा करनेवाला हूँ ॥ ३७ ॥ फिर सब

त्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ॥ सुदर्शनीयसर्वांगं ललनायूथमध्यगं ९॥
गायंतं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ॥ विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव
वारणं ॥ १० ॥ दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन्द्रुमान् ॥ चक्रे किल-
किलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥ ११ ॥ तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जा-
तिचापलाः ॥ हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥ १२ ॥ तां हेलयामास
कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ॥ दर्शयन्स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः॥१३॥
तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ॥ स वंचयित्वा ग्रावाणं मदिरा-
कलशं कपिः ॥ गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ॥ १४ ॥ नि-
र्भिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फालयद्बलम् ॥ कदर्थीकृत्य बलवान्विप्रचक्रे म-
दोद्धतः ॥ १५ ॥ तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥ क्रुद्धो मुसल-
मादत्त हलं चारिजिघांसया ॥ १६ ॥ द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य

तिस रैवतक के बगीचे में यादवों के अधिपति बलरामजी को उस ने देखा; वह बल-
रामजी कमलों की माला धारण करनेवाले,तथा जिन के सकल अंग देखनेयोग्य हैं ऐसे
और स्त्रियों के समूह में प्रवेश करेहुए, वारुणी मदिरा पीकर गानकरनेवाले, मदिरा के
मद से विह्वलनेत्रवाले और मदोन्मत्त हाथी की समान अपने शरीर से प्रकाशवान् थे
॥ ९ ॥ १० ॥ वह दुष्ट वानर वृक्षों के ऊपर चढ़कर वृक्षों को हिलाता हिलाता आप
ही, बलरामजी और स्त्रियों की दृष्टि के सामने पडताहुआ वानर जाति का किलकिल
शब्द करनेलगा ॥ ११ ॥ उस वानर का उद्धतपना देखकर, स्वभाव से ही चञ्चल और
जिनका हास्य प्यारा है तथा जिनको बलदेवजी का आश्रय है ऐसी वह तरुणी स्त्रियें,
हास्य करनेलगीं ॥१२॥ तब वह द्विविद वानर, बलरामजी के देखतेहुए उन का अना-
दर करके भ्रुकुटि चलाना, शरीर पर को झपटकर जाना, दाँत दिखाना इत्यादि करके
उन को अपनी गुदा दिखाताहुआ तिन स्त्रियों का तिरस्कार करनेलगा ॥ १३ ॥ तब
प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ तिन बलरामजी ने, क्रोध में भरकर उस के एक पत्थर फेंक-
कर मारा तब उस धूर्त वानर ने भी, बलरामजी को क्रोध दिलाने के निमित्त उन के
फेंकेहुए पत्थर को बचाकर उन के मद्य के कलश को लेकर भागगया और उन का
तिरस्कार करा ॥ १४ ॥ तदनन्तर तिस उद्धत वानर ने, वह कलश फोडकर स्त्रियों
के वस्त्र खेंचकर फाड़डाले ; इस प्रकार मद से ज्ञानहीन हुए तिस वानर ने, बलरामजी
को तुच्छ मानकर ऐसा अपराध करा ॥ १५ ॥ उस वानर का वह दुष्टपना और उस
के दुःखित करेहुए देशों को देखकर क्रोध में भरेहुए बलरामजी ने, उस शत्रु को मारने
के निमित्त हल और मूसल उठाया ॥ १६ ॥ तब उस महापराक्रमी द्विविद ने भी,

पाणिनां ॥ अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ॥ १७ ॥ तं तु संकर्षणो मूर्ध्नि पतंतमचलो यथा ॥ प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तं ॥ ॥ १८ ॥ मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥ गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिंतयन् ॥ १९ ॥ पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥ तेनाहनत्सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाऽच्छिनत् । २० ॥ ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाऽच्छिनत् ॥ २१ ॥ एवं युद्ध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ॥ आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥ २२ ॥ ततोऽमुंचच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ॥ तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः २३ ॥ स बाहू तालसंकाशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ॥ आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥ ॥ २४ ॥ यादवेंद्रोपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललांगले ॥ जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन् ॥ २५ ॥ चकम्पे तेन पतता सटंकः सवनस्पतिः ॥

हाथ से साल का वृक्ष उखाडकर वेग से आ, उस शाल के वृक्ष से बलरामजी के मस्तक पर प्रहार करा ॥ १७ ॥ मस्तक पर गिरनेवाले उस शाल के वृक्ष को, पर्वत की समान निश्चल तिन बलरामजी ने, हाथ से पकडलिया, और तिन बलवान् सङ्कर्षण ने, सुनन्द नामवाले मूसल से उस के ऊपर प्रहार करा ॥ १८ ॥ उस समय मूसल की चोट से जिस का मस्तक फटगया है ऐसा वह वानर, मस्तक में से बहनेवाली रुधिर की धारा से, जैसे लाल २ गेरुआ बहतेहुए प्रवाह से पर्वत शोभा पाता है तैसे शोभायमान होनेलगा; तदनन्तर उस प्रहार को कुछ न गिनकर क्रोध में भरेहुए तिस वानर ने फिर दूसरा शाल का वृक्ष उखाडकर और उस के पत्ते अलग करके उस से बडे वेग के साथ बलरामजी के ऊपर प्रहार करा, उस शाल के वृक्ष के भी बलरामजी ने सैकडों टुकडे करडाले ॥ १९ ॥ २० ॥ तदनन्तर उस वानर ने, दूसरे शाल के वृक्ष से क्रोध में भरकर बलरामजी के ऊपर प्रहार करा, उस के भी बलरामजी ने सैंकडों टुकडे करडाले ॥ २१ ॥ इसप्रकार भगवान् बलरामजी के साथ युद्ध करनेवाले तिस वानर ने, वारंवार शाल के वृक्ष फेंके और वह टुकडे २ होगये तब सब वृक्षों को उखाडकर वह वन वृक्षहीन करदिया ॥ २२ ॥ तदनन्तर क्रोध में भराहुआ वह वानर, बलरामजी के ऊपर पत्थरों की वर्षा करनेलगा, वह सब पत्थरों की वर्षा, मूसलरूप शस्त्र धारण करनेवाले तिन बलरामजी ने, अनायास में ही चूरा २ करडाली ॥ २३ ॥ तब उस वानरराज ने शाल के वृक्ष की समान मोटे अपने हाथों के घूंसे बनाकर, बलरामजी के समीप जा उन दोनों घूंसों का उन के वक्षःस्थल पर प्रहार करा ॥ २४ ॥ बलरामजी ने भी मूसल और हल को छोडकर अपने हाथों से उस वानर के कंठ और भुजाओं के पुट्ठों पर प्रहार करा तब वह वानर रुधिर की वमन करताहुआ भूमिपर गिरकर मरगया ॥ २५ ॥ हे राजन्! गिरनेवाले तिस वानर से, पानी

पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवांभसि ॥ २६ ॥ जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चांबरे ॥ सुरसिद्धमुनींद्राणामासीत्कुसुमवर्षिणां ॥ २७ ॥ एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ॥ संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ॥ २८ ॥ इतिश्रीभागवते म० द० उ० द्विविदवधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः६७

श्रीशुक उवाच ॥ दुर्योधनसुतां राजँल्लक्ष्मणां समितिंजयः ॥ स्वयंवरस्थामहरत्सांबो जांबवतीसुतः ॥ १ ॥ कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोयमर्भकः ॥ कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ॥ २ ॥ बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ॥ येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीं ॥ ३ ॥ निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ॥ भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥ ४ ॥ इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ॥ सांबमारेभिरे बद्धुं

से भरेहुए बिलोंसहित और वृक्षोंसहित वह रैवतक पर्वत,जैसे पवनसे जलमें नौका कम्पायमान होती है तैसे, कम्पायमान हुआ ॥ २६ ॥ तब बलरामजी के ऊपर फूलों की वर्षा करनेवाले सिद्ध और ऋषीश्वरों का, आकाश में यथायोग्य जयजयकार शब्द, नमोनमः शब्द और बहुत अच्छा हुआ बहुत अच्छा हुआ इसप्रकार का शब्द होनेलगा ॥ २७ ॥ इसप्रकार जगत् का नाश करनेवाले द्विविद् वानर का वध करके जनों से स्तुति करेहुए वह भगवान् बलरामजी, अपनी द्वारकानगरी में को चलेगये ॥२८॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में सप्तषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अड़सठवें अध्याय में कौरवों ने युद्ध में कृष्णपुत्र साम्ब को घेरलिया तब उस को छुटाने के लिये बलरामजी ने, हस्तिनापुर का आकर्षण करा यह कथा वर्णन करी है ॥*॥ बलरामजी का दूसरा चरित्र वर्णन करने के निमित्त श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! शत्रुओं को जीतनेवाले जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने, स्वयम्वर में दुर्योधन की लक्ष्मणा नामवाली कन्या का हरण करा ॥ १ ॥ तब भीष्म आदि कौरव क्रोध में भरकर कहनेलगे कि–वह बालक साम्ब उद्धत है, जिसने हमें तुच्छ समझकर इच्छा न करनेवाली कन्या का बलात्कार से हरण करा है ॥ २ ॥ इसकारण इस उद्धत साम्ब को बाँधलो, उग्रसेन आदि यादव हमारा क्या करेंगे? यदि वह क्रोध भी करें तो हमारा कुछ नहीं करसक्ते, क्योंकि जो हमारे पराक्रम से बढ़ेहुए और हमारी दीहुई सम्पत्ति को भोगते हैं वह कोई राजे नहीं हैं ॥ ३ ॥ अब, यदि कदाचित्, हम ने साम्ब को बाँधरक्खा है यह सुनकर वह यादव युद्ध करने को यहाँ आवेंगे तो घमण्ड नष्ट होने पर, प्राणायाम आदि करके वश में करीहुई इन्द्रियों की समान शान्त होजायँगे ॥ ४ ॥ ऐसा निश्चय करके कर्ण, शल, भूरि, यज्ञकेतु और दुर्योधन यह भीष्मजी के सम्मति देने पर उन भीष्मजी के

कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥ ५ ॥ दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान्महारथः ॥ प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः॥६॥तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ॥ आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥ ७ ॥ सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ॥ नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥ ८ ॥ विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान्विव्याध सायकैः ॥ कर्णादीन् षड्रथान्वीरस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् ॥ ९ ॥ चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ॥ रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥ १० ॥ तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान्॥ एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम्॥११॥ तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ॥ कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥ १२ ॥ तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन्संजातमन्यवः ॥ कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥ १३ ॥ सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान्

छहोंजने साम्ब को बाँधने के निमित्त उद्यत हुए ॥५॥ तब उस महारथी साम्ब ने, अपने पीछे दौड़नेवाले उन धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदिकों को देखा और, सुन्दर धनुष लेकर वह सिंह की समान इकला ही खड़ारहा ॥ ६ ॥ अब जिन में कर्ण मुख्य है ऐसे, क्रुद्ध हुए और उस को पकड़ने की इच्छा करनेवाले, तथा उस से 'खडा रह, खड़ा रह' ऐसा कहनेवाले वह धनुषधारी छहों वीर, उस के समीप आये और उन्होंने बाणों से उस को छादिया ॥ ७ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! कौरवों ने चारोंओर से जिस के ऊपर प्रहार करे हैं परन्तु अचिन्त्यपराक्रमी भगवान् के पुत्र साम्ब ने, वह उन का ताडन, जैसे तुच्छ मृगों से ताड़ना कराहुआ सिंह उस ताडना को सहन नहीं करता है तैसे सहन नहीं करा ॥ ८ ॥ किन्तु उस वीर ने सुन्दर धनुप का टंकारशब्द करके उन सब कर्ण आदि छहों रथियों को एक साथ निराले निराले छः छः बाण मारकर प्रत्येक को वेधडाला ॥ ९ ॥ वह छः २ बाण इसप्रकार मारे कि—प्रत्येक रथी के चार २ घोडों को चार २ बाणों से, एक २ सारथिको एक २ बाण से, और एक २ रथी को एक २ बाण से वेधा तब बडेभारी धनुषधारी भी कर्ण आदिकों ने साम्ब के उस कर्म की प्रशंसा करी ॥ १० ॥ उन कर्ण आदिकों ने तो सब ने ही मिलकर तिस इकले साम्ब को रथहीन करा, वह इसप्रकार कि—चार ने चार घोडे मारे, एक ने सारथि को मारा और छठे ने धनुष तोडा ॥ ११ ॥ इसप्रकार युद्ध में उस साम्ब को अतिकठिनता से रथहीन करके और बाँधकर जय को प्राप्तहुए वह कौरव, तिस कुमार को और अपने दुर्योधन की कन्या को लेकर हास्तिनापुर में चलेगये ॥ १२ ॥ इधर द्वारका में नारदजी के वाक्य से वह साम्ब का बन्धनरूप वृत्तान्त सुनकर बडे क्रोध में भरेहुए और राजा उग्रसेन के आज्ञा करेहुए यादवों ने, कौरवों के साथ युद्ध करने का उद्योग करा ॥ १३ ॥ तब कौरवों में और यादवों में कलह न होय ऐसी इच्छा करनेवाले

वृष्णिपुंगवान् ॥ नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥ १४ ॥
जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ॥ ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः
॥ १५ ॥ गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ॥ उद्धवं प्रेषयामास धृत-
राष्ट्रं बुभुत्सया ॥ १६ ॥ सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ॥
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतमब्रवीत् ॥ १७ ॥ तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं
रामं सुहृत्तमम् ॥ तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥ १८ ॥ तं सङ्गम्य
यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ॥ तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा
बलम् ॥ १९ ॥ बन्धून्कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ॥ परस्परमथो
रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥ २० ॥ उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ॥
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥ २१ ॥ यद्यूयं बहवस्त्वेकं
जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ॥ अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥ २२ ॥

और कलह के मल को दूर करनेवाले बलरामजी ने, युद्ध करने के निमित्त जाने को उद्यत हुए तिन वीर यादवों को समझाकर, शुक्र आदि ग्रहों से युक्त चन्द्रमा की समान ब्राह्मण और कुलवृद्ध मंत्रियोंसहित वह बलरामजी, सूर्य की समान दमकतेहुए रथ में बैठकर हस्तिनापुर को गये ॥ १४ ॥ १५ ॥ और शत्रु के नगर में प्रवेश न करे, इस नीति के अनुसार हस्तिनापुर के समीप जाकर बाहर के बगीचे में ठहरगये और उन्होंने कौरवों का अभिप्राय जानने की इच्छा से धृतराष्ट्र के पास उद्धवजी को भेजा ॥ १६ ॥ तब उन उद्धवजी ने, सभा में जाकर धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, बाह्लिक और दुर्योधन को यथाविधि प्रणाम करके कहा कि—तुम्हारे बगीचे में बलरामजी आयेहुए हैं ॥ १७ ॥ उससमय, परममित्र बलरामजी आये हैं यह सुनकर आनन्द को प्राप्तहुए उन भीष्म आदिकों ने, पहिले उन उद्धवजीका अर्घ्य पाद्य आदि से पूजन सत्कार करके फिर हाथ में मंगलकारक भेंट (नजराना) लेकर वह सब ही बलरामजी के समीप गए ॥ १८ ॥ तदनन्तर अपनी अवस्था और सम्बन्ध आदि योग्यता के अनुसार तिन बलरामजी से मिल भेंटकर उन को गौ और पूजन की सामग्री अर्पण करी, उन में जो उन के बल का प्रभाव जाननेवाले थे उन्होंने बलरामजी को मस्तक से नमस्कार करा ॥ १९ ॥ तदनन्तर बलरामजी ने और उन्होंने परस्पर कुशल मङ्गल बूझा और सब बान्धव आनन्द हैं ऐसा सुनने के अनन्तर बलरामजी ने दीनतारहित होकर ऐसा भाषण करा कि—॥ २० ॥ सब राजाओं के स्वामी और समर्थ उग्रसेन राजा ने, तुम को जो आज्ञा करी है सो तुम एकाग्रचित्त होकर मुझ से सुनकर शीघ्र ही उस के अनुसार वर्त्ताव करो ॥ २१ ॥ जो तुम बहुतसों ने मिलकर, धर्मयुद्ध करनेवाले इकले साम्ब को, अधर्म से जीतकर बाँध लिया है सो वह तुम्हारा अपराध मैंने, हम–तुम बान्धवों में एकता रहे इस इच्छा से

वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः ॥ कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥ २३ ॥ अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ॥ आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥ २४ ॥ एते यौनेन संबद्धाः सहशय्यासनाशनाः ॥ वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥ चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पांडुरम् ॥ किरीटमासनं शय्यां भुंजन्त्यस्मदुपेक्षया॥२६ ॥ अलं यदूनां नरदेवलांछनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतं ॥ येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत॥२७॥कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ॥ अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः ॥२८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ जन्मबंधुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ॥ आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन् ॥ २९ ॥

सहलिया है किन्तु अब शीघ्र ही उस साम्ब को लाकर समर्पण करो ॥२२॥ इसप्रकार पराक्रम उत्साह और शरीर की सामर्थ्य से उच्छृंखल और अपनी ईश्वरीय शक्ति के योग्य बलरामजी का भाषण सुनकर, उस भाषण से अत्यन्त क्रोध में भरेहुए कौरव कहने लगे कि—॥ २३ ॥ अहो! जिस को दूर करना कठिन है ऐसी कालगति से यह कैसा बडा आश्चर्य हुआ है कि—इससमय चर्मपादुका (जूती) किरीट करके सेवन करेहुए मस्तक पर चढने की इच्छा करती है अर्थात् चर्मपादुका की समान यह यादव, किरीट से शोभायमान मस्तक की समान जो हम तिन को आज्ञा करते हैं यह वडे आश्चर्य की वात है! ॥ २४ ॥ यह यादव, कुन्ती का विवाह होने के समय से हम से मिले हैं, इसकारण हमने इन को, साथ सोना, वैठना, भोजन करना आदि से अपनी समानता को पहुँचादिया है और हमने ही इन को राजसिंहासन दिया है ॥२५॥ चँवर, मोरछल, शंख, स्वेतछत्र, किरीट, सिंहासन और शय्या को हमारी उपेक्षा से ही भोगते हैं ॥ २६ ॥ परन्तु जैसे सर्प की रक्षा करने के निमित्त पिलायाहुआ दूध, पिलानेवाले को ही दुःखदायक होता है तैसे ही, देनेवाले के ही प्रतिकूल हुए इन यादवों के राजचिन्ह वस अब पूरे होलिये, अब आगे को वह चिन्ह छीनलेने चाहियें; क्योंकि—जो यादव हमारी प्रसन्नता से बढे हैं वही अब निर्लज्जता से हम को स्पष्ट आज्ञा करते हैं, यह कैसा आश्चर्य है! ॥ २७ ॥ जैसे सिंह की स्वीकार करीहुई वस्तु, उस के दियेविना मेंढे को नहीं मिल सक्ती तैसे ही, भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदिकों की न दीहुई वस्तु को इन्द्र भी क्या बलात्कार से (जवरदस्ती) ले सकेगा? ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे भरतकुलश्रेष्ठ! श्रेष्ठकुल में हुआ जन्म, बान्धव और सम्पदा से जिन को अत्यन्त मद हुआ है ऐसे उन असभ्य कौरवों ने, इसप्रकार बलरामजी को कठोर भाषण सुनाकर, हस्तिनापुर में प्रवेश

दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि चाच्युतः ॥ अवोचत्कोपसंरब्धो दु-
ष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः ॥ ३० ॥ नूनं नानामदोन्नद्धाः शांतिं नेच्छंत्यसाधवः ॥
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥ ३१ ॥ अहो यदून्सुसंरब्धा-
न्कृष्णं च कुपितं शनैः ॥ सांत्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥ ३२ ॥
त इमे मंदमतयः कलहाभिरताः खलाः ॥ तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान्मानिनो-
ऽब्रुवन् ॥ ३३ ॥ नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यंधकेश्वरः ॥ शक्रादयो लोक-
पाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥ ३४ ॥ सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमरांघ्रिपः ॥
आनीय भुज्यते सोसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥ ३५ ॥ यस्य पादयुगं सा-
क्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ॥ स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ३६ ॥
यस्यांघ्रिपंकजरजोऽखिललोकपालैर्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ॥ ब्रह्मा
भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥

करा ॥ २९ ॥ कौरवों की दुष्टता देखकर और अवाच्य कथन सुनकर कोप से खल-बलाकर भयङ्करस्वरूप हुए वह बलरामजी वारम्वार हँसतेहुए कहनेलगे कि-॥ ३० ॥ धन, कुटुम्ब, भूमि आदि मदों से उच्छृंखल हुए जो दुर्जन हैं वह शान्ति की इच्छा नहीं करते हैं, जैसे गधे-बैल आदि पशुओं को दण्ड ही ढँग पर लाता तैसे ही दुष्ट कौरवों को दण्ड ही शान्त करेगा, शान्ति से कार्य नहीं होसक्ता ॥ ३१ ॥ अहो! अति क्रोध में भरेहुए यादवों को और श्रीकृष्णजी को धीरे २ समझाकर, इन को समझाने की इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ ॥ ३२ ॥ सो मन्दबुद्धि, वृथा अभिमान करनेवाले, दुर्जन, दुष्ट और कलह करने में तत्पर इन कौरवों ने, तिस उपकार करनेवाले भी मेरा तिरस्कार करके वारम्वार दुर्वचन कहे ॥ ३३ ॥ इन्द्रादिक लोकपाल भी जिनकी आज्ञा के अनुसार वर्त्ताव करते हैं, वह भोज, वृष्णि और अन्धकों के स्वामी राजा उग्रसेन, क्या केवल भूमिपर के भी राजाओं को आज्ञा करने में समर्थ नहीं हैं?॥ ३४ ॥ जिनसे सुधर्मानामक देवसभा पैरों से कुचली जातीहै, जिनसे, देवताओं का कल्पवृक्ष (पारिजातक) लाकरउपभोग कियाजाता है वह श्रीकृष्णजी भी मनुष्य राजाओंके सिंहासन के योग्य नहीं हैं क्या?॥ ३५ ॥ सकल सम्पदा देनेवाली लक्ष्मी, प्रत्यक्ष जिन के दोनों चरणों की उपासना करती है वह लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी, राजाओं के छत्र चँवर आदि [illegible] योग्य नहीं हैं क्या? ॥ ३६ ॥ सबकी सेवन करीहुई गङ्गा को भी तीर्थपना मिलने के का[illegible], क चरणकमल के रज को, सब लोकपालों ने अपने किरीटयुक्त मस्तकपर धारण करा है तथा ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और मैं (शेष) जिन के अंश के अंश से उत्पन्न होकर, जिन के चरणकमल के रज को मस्तक पर चिरकाल से धारण करते हैं ऐसे श्रीकृष्णजी को सिंहासन का अधिकार

॥ ३७ ॥ भुंजते कुरुभिर्दत्तं भूखंडं वृष्णयः किल ॥ उपानहः किल वयं
स्वयं तु कुरवः शिरः ॥ ३८ ॥ अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनां ॥
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥ ३९ ॥ अद्य निष्कौरवीं
पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ॥ गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥
लांगलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ॥ विचकर्ष स गंगायां प्रहरिष्यन्नमर्षि-
तः ॥ ४१ ॥ जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ॥ आकृष्यमाणमालोक्य
कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥ ४२ ॥ तमेव शरणं जग्मुः सकुटुंबा जिजीविषवः ॥
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्रांजलयः प्रभुम् ॥ ४३ ॥ राम रामाखिलाधार
प्रभावं न विदाम ते ॥ मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षंतुमर्हस्यतिक्रमम् ॥ ४४ ॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ॥ लोकान् क्रीडनकानीश क्री-
डतस्ते वदन्ति हि ॥ ४५ ॥ त्वमेव मूर्ध्नीदमनंत लीलया भूमण्डलं बिभर्षि

नहीं है क्या? ॥ ३७ ॥ कौरवों का दियाहुआ टुकड़ा यादव भोगते हैं क्या? हम चर्मपादुका हैं क्या? और यह कौरव स्वयं मस्तक हैं क्या? ॥ ३८ ॥ अहो! मद्य आदि से मत्तहुए की समान ऐश्वर्य से मत्तहुए अभिमानी पुरुषों की कठोर और असङ्गत वाणी को, उन को शिक्षा देनेवाला कौन पुरुष सहेगा? ॥ ३९ ॥ इस से आज पृथ्वी को कौरवहीन करदूँगा, ऐसा निश्चय करके मानो त्रिलोकी को जलाए ही देते हैं ऐसे अतिक्रोध में भरेहुए वह बलरामजी, हाथ में हल लेकर खड़ेहुए ॥ ४० ॥ और क्रुद्धहुए तिन बलरामजी ने, हस्तिनापुर को उखाड़कर गङ्गा में उलटदेने के निमित्त, उस को दाहिनी ओर से तट के नीचे लगाए हुए हल के अग्रभाग से खैंचा ॥ ४१ ॥ तब खैंचने के कारण जल में के डोंगे की समान डगमगानेवाले और गङ्गा में को गिरतेहुए उस हस्तिनापुर को देखकर जिन को घबड़ाहट हुई है ऐसे बचने की इच्छा करनेवाले वह कौरव, लक्ष्मणा सहित साम्ब को आगे करके, कुटुम्ब के साथ हाथ जोड़ेहुए तिनही प्रभु बलरामजी की शरण गये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ और स्तुति करनेलगे कि—हे राम! हे राम! हे जगत् के आधार! हम तुम्हारी सामर्थ्य को नहीं जानते हैं इसकारण अज्ञान से मोहित होने से कुबुद्धि हुए जो हम तिन के अपराधों की क्षमा करने को तुम समर्थ हो ॥ ४४ ॥ हे ईश्वर! तुम वास्तव में आश्रयरहित हो, और इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार के एक ही कारण हो, इसकारण यह सब लोक, क्रीडा करनेवाले तुम्हारे खेल की सामग्री हैं ऐसा ऋषि वर्णन करते हैं ॥ ४५ ॥ हे सहस्र मस्तकवाले अनन्त! तुम ही इस भूमण्डल को अनायास में मस्तक पर धारण करते हो और प्रलयकाल के समय अपने स्वरूप में सकल जगत् का

सहस्रमूर्धन् ॥ अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्य-
माणः ॥ ४६ ॥ कोपस्ते खिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ॥ बिभ्रतो भगव-
न्सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥ ४७ ॥ नमस्ते सर्वभूतात्मन्सर्वशक्तिधराव्यय ॥
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥ ४८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं
प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ॥ प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ
॥ ४९ ॥ दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान् ॥ ददौ च द्वादशशतान्य-
युतानि तुरङ्गमान् ॥ ५० ॥ रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ॥
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥ ५१ ॥ प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं
भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥ ५२ ॥
ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ॥ शशंस सर्वं यदुपु-
ङ्गवानां मध्येसभायां कुरुषु स्वचेष्टितं ॥ ५३ ॥ अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचय-

उपसंहार (समाप्ति) करके शेषशय्यापर शयन करनेवाले अथवा शेष रहनेवाले जो अद्वितीय नारायण सो तुमही हो ॥ ४६ ॥ अब, हमारे ऊपर कोप करना आप को योग्य नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं कि–हे भगवन् ! सत्त्वगुण धारण करनेवाले तुम्हारा, सकल जगत् का पालन करने में तत्पर यह कोप, कुमार्ग से चलनेवाले सकल प्राणियों को शिक्षा देने के निमित्त है, द्वेष से वा डाह से नहीं है ॥ ४७ ॥ हे सर्वभूतात्मरूप ! हे सर्वशक्तिधर ! हे अविनाशिन् ! तुम्हें नमस्कार हो; यह जगत् जिनकी रचना है ऐसे हे विश्वकर्मन् ! तुम्हें नमस्कार हो, हम तुम्हारी शरण आये हैं ॥ ४८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार जिनका नगर काँपरहा है ऐसे अत्यन्त भयभीत होकर शरण में आयेहुए तिन कौरवों के प्रार्थना करनेपर अतिप्रसन्न हुए तिन बलरामजी ने, भय न मानो ऐसा कहकर अभयवचन दिया ॥ ४९ ॥ तब कन्या के ऊपर प्रेम करनेवाले दुर्योधन ने, तिस लक्ष्मणा के साथ साम्ब को साठवर्ष की अवस्था के बारह सौ हाथी, एकलाख बीस सहस्र घोड़े, सुवर्ण से मढेहुए सूर्य की समान चमकते हुए तेज के समूहरूप छः सहस्र रथ और जिन के कण्ठों में मोहरें पड़ी हैं ऐसी सहस्र दासियें दहेज में दीं ॥ ५० ॥ ५१ ॥ वह दुर्योधन का दियाहुआ सब दहेज लेकर यादवों में श्रेष्ठ भगवान् बलरामजी, साम्ब पुत्रसहित और पुत्रवधू लक्ष्मणा को साथ में लेकर, यादवों से सत्कार को पायेहुए होकर द्वारका नगरी को चलेगये ॥ ५२ ॥ तदनन्तर वह बलरामजी, अपने नगर में जाकर, जिन का चित्त प्रेमयुक्त है ऐसे बान्धवों (यादवों) से मिले और उन्होंने श्रेष्ठ यादवों की सभा में जाकर, कुरुदेशों में जो अपना (नगर को उखाडकर उलटना आदि) चरित हुआ था सो सब कहा ॥ ५३ ॥ अब भी यह हस्तिनापुर, बलरामजी के पराक्रम को सूचित

द्रामविक्रमम् ॥ समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥ ५४ ॥ इतिश्रीभाग-
वते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे हास्तिनपुरकर्षणसंकर्षणविजयो नामाष्ट-
षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं
च योषिताम् ॥ कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥ १ ॥ चित्रं बतै-
तदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ॥ गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥ २ ॥
इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ॥ पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादि-
ताम् ॥ ३ ॥ उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः ॥ छुरितेषु सरस्सूच्चैः कू-
जितां हंससारसैः ॥ ४ ॥ प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ॥ महामर-
कतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥ ५ ॥ विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः शालास-
भाभी रुचिरां सुरालयैः ॥ संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवा-

करताहुआ, दक्षिण की ओर को ऊँचा और गंगा की ओर को झुकाहुआ देखने में आरहा है ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भा० दश० स्कन्ध उत्तरार्द्ध में अष्टषष्टितम अध्या० समाप्त॥ * ॥ अब आगे उनहत्तरवें अध्याय में, नारदजी ने प्रत्येक मन्दिर में होताहुआ श्रीकृष्णजी का गृहस्थधर्म देखा और उन की स्तुति करके चलेगये यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्री-शुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! श्रीकृष्णजी ने नरकासुर को मारा और उन इकले ही श्रीकृष्णजी के साथ बहुतसी स्त्रियों का विवाह हुआ, यह समाचार सुनकर नारदजी ने, श्रीकृष्णजी का उन स्त्रियों के साथ गृहस्थाश्रम का धर्म कैसा चलरहा है यह जानने की इच्छा करी ॥ १ ॥ जो एक भगवान् एक स्वरूप से अवतीर्ण हुए, उन्हों ने एक ही काल में पृथक् २ मन्दिरों में सोलह सहस्र एक सौ स्त्रियों से विवाह कर लिया यह बड़े आश्चर्य की बात है, सो देखना चाहिये ॥ २ ॥ ऐसे उत्साह से युक्त वह नारदजी, उन श्रीकृ-ष्णजी को देखने के निमित्त द्वारका में आपहुँचे; वह द्वारका—खिलेहुए आरामबागों में और दूसरे भी बगीचों में के पक्षियों के समूहों के शब्दों से गुञ्जार रही थी ॥ ३ ॥ खिलेहुए इन्दीवर, अम्भोज, कल्हार, कुमुद और उत्पल नामवाले कमलों से भरेहुए सरोवरों में हंस और सारसपक्षियों से शब्दायमान करी जारही थी ॥ ४ ॥ सुवर्ण के और रत्नों के जिस में पात्र भाण्ड आदि हैं ऐसे बहुमूल्य मरकतमणियों से प्रकाशित होनेवाले स्फटिक के और चांदी के बड़े २ नौ लाख राजमन्दिरों से युक्त थी ॥ ५ ॥ भिन्न २ गलियें, राजमार्ग (सड़कें), चौहट्टे, बाजार, भोजनस्थान, सभा स्थान और देवमन्दिरों से सुन्दर थी; छिड़केहुए मार्ग, चौहट्टे, गलियें और देहलों से युक्त थी तथा फहराती हुई पताकाओं से और ध्वजाओं से जिस में धूप दूर करीगई है

रितातपा ॥ ६ ॥ तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ॥ हरेः स्वकौ-
शलं यत्र त्वष्ट्रा कात्स्न्येन दर्शितं ॥ ७ ॥ तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलं-
कृतम् ॥ विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥ ८ ॥ विष्टब्धं विद्रु-
मस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमैः ॥ इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥ ९ ॥
वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ॥ दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः
॥ १० ॥ दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलंकृतम् ॥ पुंभिः सकंचुको-
ष्णीषसुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥ ११ ॥ रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचि-
त्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ॥ नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षैर्निर्यान्तमीक्ष्य
घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥ १२ ॥ तस्मिन् समानगुणरूपवयःसुवेषदासीसहस्रयुत-
याऽनुसवं गृहिण्या ॥ विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परि-
वीजयन्त्या ॥ १३ ॥ तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्रीपर्यङ्कतः सकलध-

ऐसी थी ॥ ६ ॥ उस द्वारका में, जहाँ विश्वकर्मा ने, पूर्णरीति से अपनी चतुराई दिखाई है और जो इन्द्रादि सब लोकपालों से पूजित हैं ऐसे सोलह सहस्र एक सौ आठ मन्दिरों से शोभायमान और भोग की सामग्रियों की सम्पदा से युक्त है ऐसे श्रीहरि के रणवास में जाकर, तहाँ श्रीकृष्णजी की स्त्रियोंके घरोंमें से एक बडे (रुक्मिणी के) घर में गये ॥७॥ ॥ ८ ॥ उस घर का वर्णन करते हैं कि—वह घर मूँगोंके खम्भों से और वैदूर्यमणियों की बड़ी२ चौखटों से वनाहुआ था, इन्द्रनीलमणि की भीतों से और जिन की कांति सूर्यादि की कान्ति से भी कम नहीं होती है ऐसी इन्द्रनील मणि की ही भूमि से शोभायमान था ॥ ९ ॥ विश्वकर्मा की रचीहुई और मोतियों की लडों की झालरें जिन में लटक रही हैं ऐसी कपडछत्तों से शोभायमान था; उत्तम मणियों से भूषित हाथीदाँत की चौकियों से और शय्याओं से शोभायमान था ॥ १० ॥ कण्ठों में कण्ठे पहिरे और उत्तम वस्त्र धारण करनेवाली दासियों से तथा सुन्दर अंगरखे, शिर में बाँधने के वस्त्र और मणिजडे कुण्डलों को धारण करनेवाले सेवकों से शोभायमान था ॥ ११ ॥ रत्नों के दीपकों के समूहों की कान्तियों से जिस में का अन्धकार नष्ट होगया है और जहाँ छज्जों के अग्रभागों पर बैठेहुए मोरपक्षी, झरोखों में को बाहर निकलनेवाले, भीतर के अगर के धुएं को, यह मेघ की श्यामघटा है क्या ? ऐसी बुद्धि से शब्द करतेहुए नृत्य कररहे थे ॥ १२ ॥ उन घरों में सब समय, अपनी समान ही जिनके गुण, रूप, अवस्था और आभूषण हैं ऐसी सहस्र दासियों से युक्त और सुवर्ण की दण्डी की चौंरी हाथ में लेकर उस से स्वयं वायु करनेवाली रुक्मिणी सहित विद्यमान यादवपति श्रीकृष्णजी को नारदजी ने देखा ॥ १३ ॥ उन नारदजी को देखकर सकलधर्म के पालन करनेवालों में

र्मभृतां वरिष्ठः ॥ आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीटजुष्टेन साञ्जलिरवीविशद् आसने स्वे ॥ १४ ॥ तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ॥ ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थं ॥ १५ ॥ संपूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ॥ वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं प्राह प्रभो भगवते करवामहे किं ॥ १६ ॥ नारद उवाच ॥ नैवाऽद्भुतं तत्र विभोऽखिललोकनाथ मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानां ॥ निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥ १७ ॥ दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिंत्यमगाधबोधैः संसारकूपपतितोत्तरणावलंबं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्याद् ॥ १८ ॥ ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः

श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णजी ने, रुक्मिणी के पलँग पर से शीघ्रता के साथ उठकर, किरीट से सेवित (युक्त) अपने मस्तक से उन के दोनो चरणों को नमस्कार करके हाथ जोडकर उन को अपने आसन पर बैठाया ॥ १४ ॥ जिनके चरण को धोने का गंगारूपजल, सकल जगत् को पवित्र करनेवाला है वह भगवान् स्वयं ब्रह्मादिकों में श्रेष्ठ होकर भी धर्माचरण करनेवाले पुरुषों के पालक होने के कारण उन्होंने सबों को शिक्षा देने के निमित्त उन नारदजी के चरणों को धोकर वह जल मस्तक पर धारण करा, इसकारण ही ब्राह्मणों के हितकारी देव ऐसा गुण के अनुसार नाम उनको प्राप्तहुआ है ॥ १५ ॥ इसप्रकार नर के सखा जो पुरातन ऋषि नारायण उन्होंने शास्त्र में कहीहुई विधि के अनुसार देवता और ऋषियों में श्रेष्ठ नारदजी का पूजन करके और अमृत की समान मधुरी तथा मितवाणी से सत्कार करके,हे प्रभोनारदजी ! निजानन्द से परिपूर्णतुम्हारी हम क्या शुश्रूषा करें ? ॥ १६ ॥ इसप्रकार कहने पर नारदजी बोले कि–हे सकललोक नाथ ! हे वेद में गान करेहुए ! सकल साधु पुरुषों में मित्रभाव करना और दूसरों को पीड़ा देनेवाले दुष्टों को दण्ड देना यह तुम्हारे में कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि–जगत् की रक्षा और धारण के द्वारा सबों को धर्मआदि चार प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि होने के निमित्त तुम्हारा यह अपनी इच्छा के अनुसार अवतार है ऐसाहम भलीप्रकार जानते हैं ॥ १७ ॥ हे प्रभो ! संसाररूप कूप में पड़ेहुए पुरुषों को, उस में से बाहर निकलने के निमित्त आश्रय करनेयोग्य, अगाधज्ञानी ब्रह्मादिकों ने भी केवल जिन का हृदय में चिन्तवनही करा है ऐसे सब लोकों को मोक्षफल देनेवाले दोनों चरण मैंने देखे, सो यद्यपि इन के दर्शन से ही मैं कृतार्थ होगया हूँ तथापि जिसप्रकार मुझे निरन्तर उन चरणों की स्मृति रहे तैसा मेरेऊपर अनुग्रह करो जिस से कि–उनका ही ध्यान करताहुआ मैं विचरूँ ॥ १८ ॥ श्रीशुकदे-

स नारदः योगेश्वरेश्वरस्यांग योगमायाविवित्सया ॥ १९ ॥ दीव्यन्तमक्षैस्तत्-
त्रापि प्रियया चोद्धवेन च ॥ पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥
॥ २० ॥ पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ॥ क्रियते किं नु पूर्णा-
नामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥ २१ ॥ अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु ॥
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम् ॥ २२ ॥ तत्राप्याचष्ट गोविंदं
लालयंतं सुतान् शिशून् ॥ ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥
॥ २३ ॥ जुह्वंतं च वितानाग्नीन्यजन्तं पंचभिर्मखैः ॥ भोजयन्तं द्विजान् क्वापि
भुंजानमवशेषितम् ॥ २४ ॥ क्वापि संध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ॥
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥ २५ ॥ अश्वैर्गजै रथैः क्वापि वि-
चरन्तं गदाग्रजम् ॥ क्वचिच्छयानं पर्यंके स्तूयमानं च वंदिभिः ॥ २६ ॥
मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ॥ जलक्रीडारतं क्वापि वा-

वजी ने कहा कि—हे राजन्! तदनन्तर उस घर में से निकलकर नारदजी, योगेश्वरों के भी ईश्वर तिन श्रीकृष्णजी की अचिन्त्यशक्ति को देखने की इच्छा से, दूसरी एक श्रीकृष्ण जी की स्त्री के घर में चलेगये ॥ १९ ॥ उस घर में भी प्रिया के साथ और उद्धवजी के साथ श्रीकृष्णजी को फांसों से खेलते हुए देखा तहाँ भी श्रीकृष्णजी ने उठकर सन्मुख जाना आसन देना इत्यादि करके उन नारदजी की परम भक्ति के साथ पूजा करी ॥२०॥ और अनजान की समान उन से बूझा कि—आप द्वारका में कब आये? धन-पुत्र आदिकों में आसक्त रहनेवाले हमसमानो के हाथ से पूर्णमनोरथ आपका कौनसा कार्य होसक्ता है? ॥ २१॥ तथापि हे ब्रह्मन्! कुछ तो कार्य हम से कहकर हमारे इस जन्म को सफल करो, ऐसी हमारी प्रार्थना है,तब नारदजी ने अचम्भे में होकर कुछ उत्तर न दिया और उठकर दूसरे घर में को चलेगये॥२२॥तहाँ भी उन्हों ने छोटे२ बालकों को लाड करतेहुए श्रीकृष्णजी को देखा॥२३॥ तिस से भी दूसरे घर में स्नान करने को उद्यत हुए श्रीकृष्णजी को देखा और दूसरे घर में आहवनीय अग्नि के विषैं हवन करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा, कहीं पंचयज्ञों से देवादिकों का आराधन करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा, कहीं ब्राह्मणों को भोजन करातेहुए और कहीं ब्राह्मणों के भोजन करलेने पर शेष रहे अन्न को भोजन करतेहुए ॥ २४ ॥ कहीं सन्ध्या करने को बैठेहुए, कहीं मौनव्रत धारण करके गायत्रीमंत्र को जपतेहुए, और कहीं हाथ में ढाल-तलवार लेकर तलवार चलाने के प्रकार दिखातेहुए ॥ २५ ॥ कहीं घोड़ोंपर, हाथियों पर और रथों में बैठकर जानेवाले, कहीं पलँग पर सोयेहुए और सूत-मागधों से स्तुति करेहुए श्रीकृष्णजी को देखा ॥ २६ ॥ कहीं उद्धव आदि मंत्रियों के साथ प्रजाओं के कल्याण की सम्मति करनेवाले, कहीं मुख्य २ श्रेष्ठ स्त्रियों से घिरकर

रमुरुर्व्यांबलात्वृतम् ॥ २७ ॥ कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ॥ इतिहासपुराणानि शृण्वंतं मङ्गलानि च ॥ २८ ॥ हसंतं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ॥ क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥ २९ ॥ ध्यायंतमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परं ॥ शुश्रूषंतं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया॥ ॥ ३० ॥ कुर्वंतं विग्रहं कैश्चित्संधिं चान्यत्र केशवम् ॥ कुत्रापि सह रामेण चिंतयंतं सतां शिवम् ॥ ३१॥ पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम् ॥ दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयंतं विभूतिभिः ॥ ३२ ॥ प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ॥ वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥ ३३ ॥ यजंतं सकलान्देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ॥ पूर्तयंतं क्वचिद्धर्मं कूपारामप्मठादिभिः ॥ ३४ ॥ चरंतं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैंधवम् ॥ घ्नंतं ततः पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुंगवैः ॥ ३५ ॥ अव्यक्तलिंगं प्रकृतिष्वंतःपुरगृहादिषु ॥ क्वचिच्च-

जलक्रीडा करने में तत्पर हुए और कहीं मुख्य ब्राह्मणों को भूषित गौएँ दान करनेवाले और कहीं मंगलकारी इतिहास पुराणों को सुननेवाले श्रीकृष्णजी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ किसी घर में अपनी स्त्री के साथ हँसी की वार्त्ताओं से हास्य करनेवाले, कहीं धर्म का सेवन करनेवाले और कहीं अर्थ तथा काम का सेवन करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा ॥ २९ ॥ कहीं एकान्त में बैठकर, प्रकृति से पर पुरुषोत्तम एक आत्मा का ध्यान करनेवाले, कहीं पूजन की सामग्री और वस्त्रभूषणादि विषयभोग समर्पण करके अपने गुरुओं की सेवा करनेवाले, कहीं किन्हीं के साथ कलह करनेवाले और दूसरे स्थान में किन्ही के साथ सन्धि (मेल) करनेवाले और कहीं बलरामजी के साथ साधुओं के कल्याण की सम्मति करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कहीं समय २ पर पुत्रों का उन के योग्य स्त्रियों के साथ और कन्याओं का उन के योग्य वरोंके साथ शास्त्रोक्त रीति से विवाह करने को ठहरानेवाले, और विवाह होनेपर ऐश्वर्य आदि देकर सम्पन्न करनेवाले, कहीं कन्याओं को सुसराल मे भेजना और जामाताओं को घर बुलाना यह करनेवाले और कहीं बालकों के जात कर्म आदि संस्कार का परम उत्सव करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा; योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्णजी के जिन बालकों के महोत्सवों को देखकर सबही लोक विस्मय को प्राप्त हुए ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ कहीं अपने ही अंश जो देवता तिनका बहुत दक्षिणावाले यज्ञों से आराधन करनेवाले, कहीं कुए बनवाना, आरामबाग लगवाना और मठ आदि बनवाना इत्यादि से पूर्त्तनामवाले स्मार्त्तधर्म का आचरण करनेवाले, कहीं श्रेष्ठ २ यादवों के साथ सिन्धुदेश के घोडों पर सवार होकर मृगया करनेवाले और उस मृगया में श्राद्ध आदि के योग्य पशुओं का वध करनेवाले श्रीकृष्णजी को देखा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रन्तं योगेशं तच्छ्रीवबुभुत्सया ॥ ३६ ॥ अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ॥ योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिं ॥ ३७ ॥ विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनां ॥ योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥ ३८ ॥ अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाप्लुतान् ॥ पर्यटामि तवोद्गायन् लीला भुवनपावनीं ॥ ३९ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताऽहं कर्ता तदनुमोदिता ॥ तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥ ४० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान् गृहमेधिनाम् ॥ तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥ ४१ ॥ कृष्णस्यानंतवीर्यस्य योगमायामहोदयं ॥ मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥ ४२ ॥ इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ॥ सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ॥ ४३ ॥ एवं मनुष्यपदवीमनुव-

कहीं मंत्रियों का और रणवास में रहनेवाले तिन २ पुरुषों का अभिप्राय जानने की इच्छा से दूसरे वेष से अपने चिन्हों को ढककर विचरनेवाले तिन योगेश्वर श्रीकृष्णजी को देखा ॥ ३६ ॥ इसप्रकार मनुष्यों की आकृति ग्रहण करनेवाले भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के ऐश्वर्य को देखकर वह नारदजी हँसतेहुए उन श्रीकृष्णजी से कहनेलगे कि- ॥ ३७ ॥ हे योगेश्वर! हे आत्मस्वरूप ! तुम्हारी योगमाया को प्रत्यक्षरूप से देखना माया करनेवाले ब्रह्मादिकों को भी कठिन है, यह ठीक है परन्तु तुम्हारे चरणों की सेवा के प्रभाव से, तुम्हारे स्वरूप में ही स्फुरित होती है यह हम जानते हैं तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को हम कुछ नहीं समझते हैं॥ ३८ ॥ हे देव ! ब्रह्माण्ड को पवित्र करनेवाली तुम्हारी लीलाओं का गान करताहुआ तुम्हारे यशसे व्याप्तहुए लोकों में मैं जैसे विचरूँ तैसे तुम मुझ को आज्ञा दो॥ ३९ ॥ ऐसा नारदजी का भाषण सुनकर श्रीभगवान् ने कहा कि- हे नारदऋषे! मैं शास्त्र के द्वारा धर्म का उपदेश करनेवाला, स्वयं उस का आचरण करनेवाला और दूसरे को सम्मति देनेवाला हूँ, इस से लोकों को शिक्षा मिलने के निमित्त ही मैं यह धर्म का आचरण करता हूँ, सो हे पुत्र नारद ! मेरा उलटा भगवान् ने चरण धोना आदि करा ऐसा मन में लाकर खेद न कर ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इसप्रकार अनुग्रह करेहुए वह नारदजी, गृहस्थाश्रमियों को पवित्र करनेवाले और श्रेष्ठ धर्म का आचरण करके दिखानेवाले तिन श्रीकृष्णजी को यह सब घर में एक ही हैं ऐसा देखनेलगे ॥ ४१ ॥ और उससमय अनन्तपराक्रमी श्रीकृष्णजी की अचिन्त्य शक्ति के बल का प्रभाव वारम्वार देखकर वह नारद ऋषि, कौतुकयुक्त और विस्मय में हुए ॥ ४२ ॥ इसप्रकार धर्म, अर्थ और काम में जिन का चित्त श्रद्धावान् है ऐसे श्रीकृष्णजीके उत्तम सत्कार करने के कारण सन्तुष्ट हुए वह नारदजी, तिन श्रीकृष्णजी का ही वारंवार स्मरण करतेहुए चलेगए ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार मनुष्य की

तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ॥ रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गना-
नां सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥ ४४ ॥ यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ॥ यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा भक्ति-
र्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥ ४५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे कृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नाम एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ छ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् ॥ गृहीतकण्ठ्यः
पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥ वयांस्यरूरुवन्कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ॥
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥ मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृ-
ष्यदतिशोभनम् ॥ परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥ ब्राह्मे मुहूर्त

रीति से वर्त्ताव करनेवाले और सकल प्राणीमात्र की उन्नति के निमित्त नानाप्रकार की शक्ति ग्रहण करनेवाले वह नारायण श्रीकृष्णजी, सोलह सहस्र एक सौ आठ सुन्दर स्त्रियों के लज्जायुक्त प्रेम के साथ अवलोकन से और हास्य से सेवित होतेहुए उन के साथ रमण करनेवाले हुए ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण भगवान् श्रीहरि ने, इस श्रीकृष्ण अवतार में, जिन को और पुरुष न करसकें ऐसे कर्म करे हैं, उन को जो पुरुष गाता है, सुनता है वा दूसरों के गानेपर उन की प्रशंसा करता है तिस पुरुष को, मोक्ष देनेवाले तिन भगवान् के विषैं भक्ति प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकोनसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब इस सत्तरवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी के आन्हिक (प्रतिदिन के) कर्मों का क्रम से वर्णन होकर, राजदूत के और नारदजी के सूचित करेहुए कार्य को सिद्ध करने के निमित्त श्रीकृष्णजी ने विचार करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन्! अब श्रीकृष्णजी के आन्हिक कर्म की रीति कहते हैं सुनो— प्रातःकाल समीप आने पर, अनेकों कृष्णमूर्त्तियों से कण्ठ में आलिङ्गन करीहुई श्रीकृष्णजी की स्त्रियें, आगे होनेवाले कृष्ण के विरह से दुःखित होतीहुई, प्रभातकाल को जताने-वाले शब्द को सुनकर, सोयेहुए श्रीकृष्णजी को जगानेवाले कुक्कुटों (मुरगों) को 'तुम शीघ्र ही मर क्यों न जाओ ऐसा शाप देनेलगीं ॥ १ ॥ उस समय मन्दारवन के पवनो से पुष्पों का रस ग्रहण करने में आसक्तहुए भौंरे, गुञ्जारशब्द करनेलगे तब जगेहुए पक्षी, स्तुति पढनेवालों की समान, सोयेहुए श्रीकृष्णजी को जगातेहुए अत्यन्त शब्द करनेलगे ॥ २ ॥ उस समय प्रिय श्रीकृष्णजी की भुजाओं में विद्यमान (श्रीकृष्णजी की आलिङ्गन करीहुई) रुक्मिणी आदि सब स्त्रियों ने, आलिङ्गन का वियोग होने के कारण स्नानपूजनादि के योग्य अतिपवित्र भी तिस ब्राह्ममुहूर्त्त को अच्छा नहीं माना

उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः । दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥
॥ ४ ॥ एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ॥ ब्र-
ह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥ अथा-
प्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ॥ चकार संध्योप-
गमादि सत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥ उपस्थायार्कमुद्यन्तं
तर्पयित्वात्मनः कलाः ॥ देवानृषीन्पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥
॥७॥ धेनूनां रुक्मशृंगीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजां ॥ पयस्विनीनां गृष्टीनां सव-
त्सानां सुवाससां ॥८॥ ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ॥ अलंकृतेभ्यो
विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥९॥ गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः ॥
नमस्कृत्यात्मसंभूतीर्मंगलानि समस्पृशत् ॥ १० ॥ आत्मानं भूषयामास नर-
लोकविभूषणम् ॥ वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥ ११ ॥ अवेक्ष्याज्यं

॥ ३ ॥ श्रीकृष्णजी ने तो उस ब्राह्ममुहूर्त्त के समय उठकर हाथ-पैर आदि धो, जल का आचमन करके, प्रसन्न इन्द्रियों से युक्त होकर प्रकृति से पर आत्मा का ध्यान करा ॥ ४ ॥ अखण्ड, स्वप्रकाश, निरुपाधिक, नित्य, जिस में निरन्तर अविद्यादि दोष स्वरूपस्थिति से दूरहुए हैं ऐसे और जिस के सत्ता और आनन्द यह धर्म, इस जगत् की उत्पत्ति, नाश के कारण रजःसत्त्वादि गुणरूप शक्तियों से समझने में आते हैं ऐसे ब्रह्म-नामक अपने स्वरूप का ध्यान करा ॥ ५ ॥ तदनन्तर सत्पुरुषों में श्रेष्ठ तिन श्रीकृष्णजी ने, शुद्ध जल में स्नान करके और वस्त्र पहिनकर सन्ध्योपासन आदि सकल कर्मों को शास्त्र में कहीहुई विधि से करा. तिस में श्रीकृष्णजी की कण्व शाखा होने के कारण उन्होंने, सूर्योदय से पहिले ही अग्नि में हवन करके मौनव्रत से गायत्री के मंत्र का जप करा ॥ ६ ॥ फिर उदयहुए सूर्य का उपस्थान करके, अपने ही अंशरूप देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करके, स्वरूपसाक्षात्कार से युक्त उन्होंने, वृद्धों का और ब्राह्मणों का पूजन करा और जिनको आभूषण अर्पण करे हैं ऐसे उन ब्राह्मणों को, जिनके सींग सुवर्ण से मँढेहुए हैं, जिनके कण्ठों में मोतियों की माला पडीहुई हैं, जिनके ऊपर उत्तम वस्त्रों की झूलें पडीहुई हैं और जिनके खुर चाँदी से मँढेहुए हैं ऐसी बहुतसी दूध देनेवाली, सूधे स्वभाव की, पहलोन ब्याहीं बछडोंसहित गौएँ एक एक बद्व १३०८४ प्रतिदिन प्रत्येक घर में रेशमी पाटम्बर, कृष्णमृगछाला और तिलोंसहित दान करीं ॥७॥८॥९॥ फिर उन्होंने अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और सकल प्राणियों को नमस्कार करके कपिला गौ आदि मङ्गलवस्तुओं का स्पर्श करा ॥ १० ॥ फिर मनुष्यलोक के विशेष करके भूषणरूप अपने शरीर को पीताम्बर आदि वस्त्रों से, कौस्तुभ आदि भूषणों से और दिव्य मालाओं से तथा अनुलेपनों से भूषित करा

तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ॥ कामांश्च सर्ववर्णानां पौरांतःपुरचारिणां ॥ प्रा-
दाय्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥ संविभज्याग्रतो विप्रान्
स्रक्तांबूलानुलेपनैः ॥ सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुंक्त ततः स्वयम् ॥ १३ ॥ ता-
वत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ॥ सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्याग्रेस्थितो-
ग्रतः ॥ १४ ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् ॥ सात्यक्युद्धवसं-
युक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥ १५ ॥ ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवी-
क्षितैः ॥ कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥ १६ ॥ सुधर्माख्यां
सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥ प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यंग षः-
डूर्मयः ॥ १७ ॥ तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्बभौ स्वभासा ककुभोवभा-
सयन् ॥ वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥ १८ ॥

॥ ११ ॥ तदनन्तर मङ्गल के निमित्त घृत में, और दर्पण में अपना मुख देखकर तैसे ही गौ, वृषभ, ब्राह्मण और देवताओं का दर्शन करके नगर में रहनेवाले सब वर्णों को और रणवास में के सब जनों को, इच्छित पदार्थ देकर और मंत्री आदिकों को इच्छित पदार्थों से प्रसन्न करके आनन्द को प्राप्त हुए ॥ १२ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी ने, पहिले ब्राह्मण, मित्र, मंत्री और स्त्रियों को माला, ताम्बूल और लेपन आदि भोग के पदार्थ बाँटकर फिर उन को भोग करने के निमित्त आप भी स्वीकार करा ॥ १३ ॥ इतने ही में दारुक सारथी ने, सुग्रीव आदि नामवाले घोड़ों से जुताहुआ परम आश्चर्यकारी रथ समीप लाकर खड़ा करा और आप आगे प्रणाम करके खड़ा होगया तब ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णजी, अपने हाथ से उस के जोड़ेहुए हाथ पकड़कर सात्यकि और उद्धव के साथ उस रथ के ऊपर जैसे उदयाचल पर्वत पर सूर्य चढ़ता है तैसे चढे॥ १५ ॥ उससमय लज्जा और प्रेमसहित रणवास में की स्त्रियों की दृष्टियों से अवलोकन करे जाते हुए, क्षणभर धीरे २ चलाएहुए रथ में बैठकर फिर उन स्त्रियों के भी अवलोकन के द्वारा बड़े दुःख से जाने की आज्ञा देने पर, कुछ हँसकर उन का मन हरतेहुए चलेगये ॥ १६॥ इसप्रकार सब घरों में से भिन्न २ रूप से निकलकर फिर एक ही रूप से, सब यादवों से घिरेहुए होकर उन श्रीकृष्णजी ने सुधर्मानामक देवसभा में प्रवेशकरा हे राजन् ! जिस सभा में प्रवेश करनेवालों को भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढापा और मृत्यु यह छः विकार नहीं होते हैं ॥ १७ ॥ उस सभा में उत्तम आसन पर बैठेहुए मनुष्यों में श्रेष्ठ, यादवों से घिरेहुए वह प्रभु भगवान् श्रीकृष्णजी, अपनी कान्ति से दिशाओं को प्रकाशयुक्त करतेहुए, जैसे आकाश में तारागणों से घिराहुआ चन्द्रमा, सब दिशाओं को प्रकाशयुक्त करताहुआ

तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ॥ उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥ १९ ॥ मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ॥ ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥ २० ॥ तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ॥ पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥२१॥ तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ॥ विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ २२ ॥ स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ॥ राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥ २३ ॥ ये च दिग्विजये तस्य संनतिं न ययुर्नृपाः ॥ प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥ २४ ॥ कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ॥ वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥ २५ ॥ लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ॥ यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्य-

शोभायमान होता है तैसे, शोभित हुए ॥ १८ ॥ हे राजन् ! उस सभा में आनन्द के साथ हास्यरसयुक्त भाषण करनेवाले पुरुष नानाप्रकार की हास्य की वातों से तिन प्रभु श्रीकृष्णजी को प्रसन्न करनेलगे, तैसे ही नटों के आचार्य (उस्ताद) मृदंग, वीणा, तबले, सारङ्गी, मुरली, झाँज और शंखों के शब्दों के साथ अलग २ अपने २ समूहों से ताण्डव नृत्य के द्वारा तिन भगवान् की सेवा करने लगे; तैसे ही नृत्य और गान करनेवाली वारांगना, अपने २ समूहों से, मृदंग आदि वाजों के साथ नृत्य और गान करनेलगीं तैसे सूत, मागध और वन्दी भगवान् की स्तुति करनेलगे ॥ १९ ॥ २० ॥ उस सभामें बैठेहुए कितने ही ब्राह्मण, वेदमंत्रों का व्याख्यान करनेलगे कितने ही बोलने में चतुर पुराणों के वक्ता, पुण्य यशवाले पहिले राजाओं की कथा कहने लगे ॥ २१ ॥ इसप्रकार प्रतिदिन व्यवहार चलतेहुए हे राजन् ! एकदिन कभीभी किसी का न देखाहुआ एक पुरुष, सभा के द्वारपर आकर प्राप्त हुआ तब, द्वारपालों ने, भगवान् को सूचना देकर उनकी आज्ञा से तिस पुरुष का सभा में प्रवेश कराया ॥ २२ ॥ तब उस ने हाथ जोड़कर कालकर्मों के भी नियन्ता श्रीकृष्णजीको नमस्कार करके, हाथ जोड़ेहुए, जरासन्ध ने कारगार (जेलखाने) में वन्द करलिया तिस से राजाओं को जो दुःख प्राप्तहुआ था सो कहा ॥ २३ ॥ अर्थात् उस जरासन्ध के दिग्विजय के समय जो राजे नम्र नहीं हुए थे उन वीस सहस्र आठ सौ राजाओं को गिरिव्रज नामवाले दुर्ग (किले) में तिस जरासन्ध ने बलात्कार से रोक रक्खा था उनका दुःख निवेदन करा ॥ २४ ॥ कि—हेकृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयस्वरूप ! हे शरणागतभयनाशक ! जन्ममरणादिरूप संसार से डरे हुए और भेदबुद्धि धारनेवाले हम तुम्हारी शरण आये हैं ॥ २५ ॥ इस संसार में का यह प्राणी, जबतक काम्य और निषिद्ध कर्मों में अत्यन्त रमकर तुम्हारे कहेहुए तुम्हारे पूजनरूप अपने कल्याणकारी धर्म में सावधान नहीं रहता है तबतक जो कालरूप ब-

श्छिन्नत्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २६ ॥ लोके भवान् जगदिनः कलयाऽ-
वतीर्णः सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ॥ कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेश-
मीश किंवा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २७ ॥ स्वप्नायितं नृपसुखं
परतंत्रमीश शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ॥ हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनी-
हलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥ २८ ॥ तन्नो भवान्प्रणतशोक-
हरांघ्रियुग्मो बद्धान्वियुंक्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ॥ यो भूभुजोऽयुतमतंगजवीर्य-
मेको बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥ २९ ॥ यो वै त्वया द्विनव-
कृत्व उदात्तचक्र भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ॥ जित्वा नृलोकनिरतं

लनान् तुम, इस के जीवित रहने की आशा को ही तत्काल तोड़डालते हो, ऐसे निरन्तर सावधान रहनेवाले कालरूप तुम भगवान् को नमस्कार हो ॥ २६ ॥ यह तो लोकों की गति हुई, हम तो तुम्हारे भक्त हैं फिर हमें यह दुःख क्यों भोगनापड़ता है ? यह आश्चर्य प्रतीत होता है, क्योंकि—हे ईश्वर ! अपने भक्तों की रक्षा करने के निमित्त और दुष्टों को दण्ड देने के निमित्त, अपने संकर्षणरूप अंशसहित तुम जगदीश्वर उत्पन्नहुए हो ऐसा होतेहुए, दूसरे कोई एक (जरासन्ध आदि) यदि हमें दुःख देते हैं तो क्या ? 'मेरा भक्त नाश को नहींप्राप्त होता है, मैं भक्तों का योगक्षेम चलाता हूँ इत्यादि' तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करता है अथवा तुम्हारा रक्षा कराहुआ भी हमसमान प्राणी अपने कर्म से ही उत्पन्न हुए अपने दुःख को भोगता है ? सो हम नहीं जानते अर्थात् यह दोनोंही बातें हमें योग्य नहीं प्रतीत होतीं ॥ २७ ॥ हे ईश्वर तुम्हारे अनुग्रह से निष्काम पुरुषों को मिलानेवाले और अपने ही में जो स्वरूपसुख तिस को त्यागकर, हम स्वप्न में के सुखकी समान और स्त्री पुत्रादिकों के वश में होनेवाले राजसुख को पाने की इच्छा करते हैं और उस के निमित्त जहाँ निरन्तर भय है ऐसे प्रेत की समान शरीर से केवल पुत्र स्त्री आदि की चिन्ता कोही धारण करते हैं, इसी प्रकार इस संसार में तुम्हारी माया से अतिदीन (विषयासक्त) होकर क्लेश पाते हैं॥२८॥ इसकारण तुम्हारी माया के करेहुए कर्मबन्धन को तुमही दूर करो, क्योंकि-तुम्हारेचरण, शरणागतों के शोकदूरकरनेवाले हैं इसकारण तुमही जरासन्धरूप कर्मपाश से बँधेहुए हम को उस से छुटाओ यदि कहोकि—तुमही पराक्रम करके तहाँ से छूटजाओ तो हे भगवन् ! दश सहस्र मदोन्मत्त हाथियों का बल धारण करनेवाले जिस इकले जरासन्ध ने, हम राजाओं को, जैसे सिंह मेंढो को घेरलेता है तैसे घेर रक्खा है इसकारण ही हम प्रयत्न करके उस से नहीं छूटसक्ते हैं॥२९॥हे अजित ! हे चक्र को उठाकर धारण करनेवाले देव ! जो जरासन्ध, अठारह वार तुम्हारे साथ युद्ध हुआ उस में सत्तरह वार युद्ध में तुमने वास्तव में उसका तिरस्कार करा तथापि अठारहवीं वार म-

सकृद्दृढदर्पो युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥ ३० ॥ दूत उवाच ॥
इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकांक्षिणः ॥ प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं
विधीयताम् ॥ ३१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः प-
रमद्युतिः ॥ बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥ ३२ ॥ तं दृष्ट्वा भ-
गवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ॥ ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो
मुदा ॥ ३३ ॥ सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ॥ बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः
श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥ ३४ ॥ अपिस्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ॥
ननु भूयान भगवतो लोकान्पर्यटतो गुणः ॥ ३५ ॥ नहि तेऽविदितं किञ्चि-
ल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ॥ अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥ ३६ ॥
श्रीनारद उवाच ॥ दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च

तुच्छचेष्टा से लीला करनेवाले अनन्तपराक्रमी तुम भगवान् को एकवार जीतकर घमण्ड में होगया है सो हम तुम्हारे हैं इस सम्बन्ध से हमें बहुत ही दुःख देता है इसकारण उस के विषय में जो योग्य होय सो करिये ॥ ३० ॥ राजाओं के दूतने कहाकि—हे प्रभो! इसप्रकार जरासन्ध के बन्धन में डालेहुए और तुम्हारे दर्शन की इच्छा करनेवाले राजे, तुम्हारे चरणतल की शरण आये हैं इसकारण उन दीनों को सुख होय तैसा उपाय करो ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार राजाओं के दूत के कहतेहुए में, तहाँ सूर्य की समान परमकान्ति से युक्त और पीलेवर्ण की जटा धारण करनेवाले नारद ऋषि अकस्मात् (अचानक) आगये ॥ ३२ ॥ उन को देखते ही, ब्रह्मादिक सब लोकेश्वरों के भी पालक तिन भगवान् श्रीकृष्णजी ने, बड़ी शीघ्रता से समासदों के साथ और सेवकों के साथ उठकर हर्ष के साथ मस्तक से प्रणाम करा ॥ ३३ ॥ फिर शास्त्रकी रीति के अनुसार उन का पूजन करके आसन को ग्रहण करनेवाले उन नारदजी को, श्रद्धा से और मधुर भाषण से सन्तुष्ट करते हुए कहने लगेकि—॥ ३४ ॥ हे नारदजी! इससमय तीनों लोकों को किसी से भय तो नहीं है? अहो! लोकों में विचरने वाले आप से हम को सब लोकों का वृत्तान्त मिलता है, यह बड़ा ही लाभ है ॥ ३५ ॥ क्योंकि जिन का कर्त्ता ईश्वर है ऐसे तीनों लोकों में तुम्हारा न जानाहुआ कुछ भी नहीं है; इसकारण, इससमय पाण्डवों के मन में क्या है सो तुम से हम बूझते हैं ॥ ३६ ॥ इसप्रकार सर्वज्ञ के भी अनजान की समान, जरासन्ध के वध के निमित्त पाण्डवोंका अभिप्राय बूझने पर नारदजी, 'यह देवमाया है' ऐसा जानकर कहनेलगे कि—हे प्रभो! सर्वव्यापक! विश्व रचनेवाले जो ब्रह्माजी तिन को भी मोहित करनेवाले, अपनी विद्या आदि शक्तियों से सकल प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से रहनेवाले और राख से ढकेहुए अग्निकी

मायिनः ॥ भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिर्वन्हेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥
॥३७॥ तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ॥
यद्विद्यमानात्मतयाऽवसीयते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥ ३८ ॥ जीव-
स्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ॥ लीलावतारैः स्व-
यशः प्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥ ३९ ॥ अथाप्याश्रावये ब्रह्म
नरलोकविडंबनम् ॥ राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥ ४० ॥
यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ॥ पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवान-
नुमोदतां ॥ ४१ ॥ तस्मिन्देव क्रतुवरे भवंतं वै सुरादयः ॥ दिदृक्षवः समे-
ष्यंति राजानश्च यशस्विनः ॥ ४२ ॥ श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयंतेऽतेवसायि-
नः ॥ तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाऽभिमर्शिनः ॥ ४३ ॥ यस्यामलं दिवि य-

---

समान अपनी शक्तियों से ही अपने तेज को ढककर रहनेवाले तुम भगवान् की, जिनका उल्लंघन न होसके और जो जानी न जायँ ऐसी बहुतसी माया मैंने देखी हैं, इसकारण तुम सर्वज्ञ होकर जो मनुष्यलीला से अनजान की समान प्रश्न करते हो, यह मुझे आश्चर्य नहीं प्रतीत होता है ॥ ३७ ॥ हे देव ! मिथ्याभूत यह जगत्, जिन तुम्हारी माया से सब सत्य है ऐसा प्रतीत होता है, ऐसे अपनी इच्छा के अनुसार जगत् को उत्पन्न करनेवाले और संहार करनेवाले तुम्हारे मन में के अभिप्राय को भलीप्रकार से जानने को कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है इसकारण अचिन्त्यरूप तुम भगवान् को केवल नमस्कार ही है ॥ ३८ ॥ अज्ञानरूप अन्धकार से घिरने के कारण, दुःखदायक शरीर से संसार पानेवाले और तिस ही अज्ञान करके उस शरीर से मोक्ष का उपाय न जाननेवाले जीव को, श्रवण आदि से मोक्ष प्राप्त होने के निमित्त, जिन तुमने, लीलावतारों से अपना यशःस्वरूप दीपक प्रज्वलित कर रक्खा है ऐसे तुम भगवान् की मैं शरण आया हूँ॥३९॥ अब, सब के साक्षी आप का न जानाहुआ यद्यपि कुछ भी नहीं है तथापि मनुष्यलोक के अनुसार तुम्हें, तुम्हारी बुआ के पुत्र और भक्त धर्मराज के मन का मनोरथ सुनाता हूँ ॥ ४० ॥ चक्रवर्त्तीपना प्राप्त होने की इच्छा करनेवाले वह पाण्डु के पुत्र धर्मराज, यज्ञों में श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ के द्वारा तुम्हारा आराधन करने की इच्छा करते हैं, उन को आप सम्मति और आज्ञा दें ॥ ४१ ॥ और यहाँ बैठे ही बैठे ऐसा न करिये किन्तु तहां जाइये भी, क्योंकि–हे देव ! तिस श्रेष्ठ यज्ञ में तुम्हारे दर्शन की इच्छा करनेवाले इन्द्रादिक देवता और यशस्वी राजे, अवश्य आवेंगे ॥ ४२ ॥ और वह सब ही तुम्हारे दर्शन से पवित्र होयँगे, क्योंकि–हे ईश्वर ! मनुष्याकार ब्रह्मरूप तुम्हारी कथा को सुनने से कीर्तन करने से और ध्यान करने से चाण्डाल भी पवित्र होते हैं फिर दर्शन और स्पर्श आदि करनेवाले पुरुष, दर्शन स्पर्श आदि करके पवित्र होंगे इसका क्या कहना ? ॥ ४३ ॥ हे

ङ्ग: प्रथितं रसायां भूमौ च ते भुवनमंगल दिग्वितानम् ॥ मंदाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो गङ्गेति चेह चरणांबु पुनाति विश्वम् ॥४४॥ श्रीशुक उवाच ॥ तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया ॥ वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥ ४५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ तथाऽत्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥ इत्युपामंत्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ॥ निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥ इतिश्रीभा०म० द० उ० भगवद्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ॥ सभ्यानां मतमा-

सब भुवनो के मंगलरूप ! जिन तुम्हारा, सब दिशाओं का छत्रसमान भूषणरूप और निर्मल यश,स्वर्ग, पाताल और भूमि में प्रसिद्ध होकर जगत् को पवित्र करता है, तैसे ही जिन तुम्हारे चरण का जल, स्वर्गपर मन्दाकिनीरूप से, पाताल में भोगवतीरूप से और इस भूलोक में गंगारूप से प्रसिद्ध होता हुआ त्रिलोकी को पवित्र करता है, तिन तुम्हारे प्रत्यक्ष आने से सब मंगल और पवित्र होगा इस का क्या कहना ॥४४॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! तिस सभा में नारदजी के कहेहुए धर्मराज की ओर के वृत्तान्त को सुननेवाले यादव, जरासन्ध को जीतने की इच्छा से, हस्तिनापुर को जाने के विषय में नारदजी के कथन को मान्यरूप से ग्रहण नहीं करते थे तब, श्रीकृष्णजी ने कुछ हँसकर, मधुरी वाणी में अपने भक्त उद्धवजी से कहा ॥ ४५ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे उद्धव ! क्योंकि तुम हमारे उत्तम चक्षु इन्द्रिय की समान पदार्थों के प्रकाशक होकर विचार से साधने योग्य फलों का तत्त्व जाननेवाले मित्र हो, तिस से इससमय नारदजी की और दूत की बताई हुई दोनो बातों में जो हम को करना उचित हो सो कहो, उस तुम्हारे कहने पर ही हम विश्वास करेंगे और तैसा ही करेंगे ॥४६॥ इसप्रकार सर्वज्ञ भी भगवान् के अनजान की समान सम्मति के निमित्त प्रेरणा करेहुए उद्धवजी, भगवान् की आज्ञा को मस्तक पर धारण करके उत्तर देनेलगे ॥४७॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में सप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इकहत्तरवें अध्याय में उद्धवजी की कहीहुई सम्मति के अनुसार श्रीकृष्णजी ने इन्द्रप्रस्थ को गमन करा तब पाण्डवों को परमानन्द हुआ, यह कथा वर्णन करी है, राजसूययज्ञ का निमित्त करके भीम और दुर्योधन आदिकों में कलह उत्पन्न करके उस के द्वारा प्रभु ने भूमि का भार हरा ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि– हे राजन् ! पहिले कथन के अनुसार राजसूययज्ञ के निमित्त जाना चाहिये ऐसा नारदजी का मत, जरासन्ध को जीतकर राजाओं की रक्षा करें ऐसा सभासदों का मत और दोनो कार्य

श्रीय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥ उद्धव उवाच ॥ यदुक्तमृषिणा देव सा-
चिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ॥ कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २ ॥ यष्ट-
व्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ॥ अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो
मम ॥ ३ ॥ अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ॥ यशश्च तव गोविंद
राज्ञो बद्धान्विमुञ्चतः ॥ ४ ॥ स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ॥
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥ द्वैरथे स तु जेतव्यो मा
शताक्षौहिणीयुतः ॥ ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥ ६ ॥
ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ॥ हनिष्यति न संदेहो द्वैरथे तव
सन्निधौ ॥ ७ ॥ निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ॥ हिरण्यगर्भः

करें ऐसा श्रीकृष्णजी का मत जानकर वह महाबुद्धिमान् उद्धवजी कहने लगे कि—हे देव! यज्ञ करनेवाले फुफेरे भ्राता धर्मराज की सहायता करें ऐसा जो नारदजी ने कहा है सो आप करें और तैसे ही शरण आयेहुए राजाओं की रक्षा भी करें ॥ १ ॥ २ ॥ इस में पहिले राजसूय यज्ञ के निमित्त चलें फिर राजाओं की रक्षा करना उचित है ऐसा कहते हैं कि—सब दिशाओं को जीतनेवाला पुरुष, राजसूय यज्ञ के द्वारा यजन करे ऐसी विधि होने के कारण दिग्विजय के प्रसङ्ग से होनेवाला जो जरासन्ध का जय सो राजसूय के निमित्त और शरणागतों की रक्षा करने के निमित्त भी होयगा ऐसा मेरे विचार में आता है ॥ ३ ॥ इस जरासन्ध के वध से हमारा भी बडाभारी निर्भयरूप कार्य सिद्ध होयगा और हे गोविन्द! बन्धन में पडेहुए राजाओं को छुटानेवाले तुम्हारा यश भी प्रसिद्ध होयगा ॥ ४ ॥ अब, अतिउत्कण्ठितपने से शीघ्र ही जरासन्ध को मारने की इच्छा करनेवाले यादवों से कहनेलगे कि—वह प्रसिद्ध राजा जरासन्ध, बल में दश सहस्र हाथियों की समान है, सो उस की समान ही बलधारी भीमसेन के विना, दूसरे उस से अधिक बलधारियों को भी, बडी कठिनता से भी उस को जीतना अशक्य है, क्योंकि—भीमसेन से ही उस का मरण होना कहा है ॥ ५ ॥ उस जरासन्ध को द्वन्द्वयुद्ध में ही जीतना चाहिये; सैंकडों अक्षौहिणी सेनाओं से घेरकर भी जीतने का कार्य नहीं है; यदि कहो कि—वह अपनी सेना को युद्ध करने के निमित्त भेजेगा तो फिर उस के साथ द्वन्द्वयुद्ध कैसे होयगा तो सुनो—वह ब्राह्मणों का भक्त है इसकारण ब्राह्मणों के याचना करने पर वह उन को कभी भी निषेध नहीं करेगा ॥ ६ ॥ इसकारण भीमसेन ब्राह्मण का वेष धारण करेहुए उस के समीप जाकर द्वन्द्वयुद्ध की भिक्षा मांगे, तब वह भीमसेन, समानबली होनेपर भी तुम्हारे समीप में उस को मारडालेगा इस में सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥ यदि कहो कि—मेरे समीप में क्या होगा तो सुनो—रूपरहित

शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥ गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ॥ गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥९॥ जरासंधवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ॥ प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥ १० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युद्धववचो राजन् सर्वतो भद्रमच्युतं ॥ देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥ ११ ॥ अथादिशत्प्रयाणाय भगवान्देवकीसुतः ॥ भृत्यान्दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून्विभुः ॥ ॥ १२ ॥ निर्गमय्यावरोधान्स्वान्ससुतान् सपरिच्छदान् ॥ संकर्षणमनुज्ञाप्य यदु-

कालरूप तुम ईश्वर के, जैसे ब्रह्मा और शिव, जगत् की उत्पत्ति और संहार के विषयमें केवल निमित्तमात्र हैं, वास्तव में सब के कर्त्ता तुम ही हो; तैसे ही यहां तुम ही समीप होने मात्र से मारनेवाले होओगे और भीमसेन केवल निमित्तमात्र होगा ॥ ८ ॥ सो इस उपाय से तुम उस को शीघ्र ही मारडालोगे, तो जरासन्ध के बन्धन में डालेहुए राजाओं की स्त्रियें, अपने घरों में बालकों को वहलाने के समय 'हे बेटा ! रोवे मत; श्रीकृष्णजी अब ऐसा करेंगे ! इसप्रकार कहकर' अपने शत्रु (जरासन्ध) का वध और प्राणप्रिय पति का छुटाना इस तुम्हारे कीर्त्तिकारी कर्म को गाती हैं; वह भी तो—जैसे गोपियें, शङ्खचूड नामक तुम्हारे शत्रु के वध का और उस से अपने छुटाने का गान करती हैं, अथवा तुम्हारा आश्रय पायेहुए ऋषि,जैसे तुम्हारे पहिले अवतारों में होनेवाले नक्रवध और गजेन्द्र मोक्ष तथा रावण के वध और सीता के मोक्ष का गान करते हैं, अथवा हम यादव, जैसे कंस के वध का और देवकी वसुदेव के छूटने का गान करते हैं; तैसे ही गान करती हैं, सो सब सत्य होयगा ॥ ९ ॥ और हे श्रीकृष्णजी ! यह जरासन्ध का वध, शरणागतों की रक्षा, राजसूय यज्ञ, तुम्हारी श्रेष्ठ कीर्त्ति और भूमि के भार का दूर होना इत्यादि बहुत से कार्यों के सिद्ध होने का साधन होयगा और ऐसा होने से आगे को शिशुपाल आदि का वध करना भी सुखसाध्य होजायगा और कर्मफल के परिपाक से अर्थात् राजाओं के पुण्य के फल से और जरासन्ध के पाप के फल से तुम्हें भी यह प्रिय ही है; सो तुम राजसूय यज्ञ में जाओगे तो यह सब कार्यसिद्ध होजायँगे ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते कि—हे राजन् ! ऐसा, सबप्रकार से कल्याणकारी और युक्तियों से दृढ वह उद्धवजी का कथन, नारदजी, यादवों में वृद्ध पुरुष और श्रीकृष्णजी इन सबों ने अत्यन्त प्रिय माना ॥ ११ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी ने, वसुदेवादि गुरुजनों की आज्ञा लेकर और बलरामजी तथा उग्रसेन की भी आज्ञा लेकर, दारुक आदि विजयी सेवकों को राजसूय यज्ञ में जाने को ठीकठाक करने की आज्ञा करी और पुत्रोंसहित तथा सामग्री (सामान) सहित अपनी स्त्रियों को भी

राजं च शत्रुहन् ॥ सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजं ॥ १३ ॥ ततो रथद्विपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया ॥ मृदङ्गभेर्यानकशंखगोमुखैः प्रघोषघोषितककुभो निराक्रमत् ॥ १४ ॥ नृवाजिकांचनशिविकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ॥ वरांबराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥ ॥ १५ ॥ नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ॥ स्वलंकृताः कटकुटिकंबलांबराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥ १६ ॥ बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ॥ दिवांऽशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथांऽर्णवः क्षुभिततिमिंगिलोर्मिभिः ॥ १७ ॥ अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ॥ निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुंदसंदर्शननिर्वृतेंद्रियः ॥ १८ ॥ राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ॥ मा भैष्ट

भिजवाकर फिर वह गरुड़ध्वज श्रीकृष्णजी, सारथी के लाएहुए अपने रथपर चढे ॥१२॥१३॥ फिर रथ,हाथी,पैदल औरघुडसवारों से भयङ्कर अपनी सेना से घिरेहुए वह श्रीकृष्णजी, मृदङ्ग, नोवत, डङ्के, शंख और नफीरी इन बाजों के शब्दों से गूँजतीहुई तिस पश्चिम दिशा की ओर को गये ॥ १४ ॥ तब उन श्रीकृष्णपति के पीछे, अपने पुत्रोंसहित, श्रेष्ठ वस्त्र,भूषण,लेपन और मालाओं को धारण करनेवाली,हाथ में तलवार ढाल लेनेवाले मनुष्यों से रक्षा करीहुई वह पतिव्रता रुक्मिणी आदि श्रीकृष्णजी की स्त्रियें, म्याने और रथों में तथा सुवर्ण से मँढीहुई पालकियों में बैठकर गई ॥ १५ ॥ उस समय, जिन की झोंपड़ियें, खस आदि के तृणों की हैं और जिन की सामग्री (सामान) कम्बल हैं उन सेवकों की स्त्रियें और वारांगना, अपनी २ सब सामग्री (सामान) बैल आदिकों के ऊपर चारों ओर से दृढ़ता के साथ बाँधकर और स्वयं अलङ्कार धारण करके डोलियें, ऊँट, बैल, भैंसे, गदहे, खिच्चर, गाड़ी और हाथियों पर बैठकर चल दिये ॥ १६ ॥ तब रथों की घरघराहट और घोडों की हिनहिनाहट आदि के भयानक शब्दों से युक्त वह सेना, बडे २ झण्डे, पताका, छत्र, चँवर, उत्तम प्रकार के आयुध, भूषण, किरीट और कवचों से, जैसे समुद्र दिन के समय, सूर्य की किरणों से और खलबलायेहुए मगर नाके आदिकों से तथा तरङ्गों से शोभा पाता है तैसे ही शोभित हुई ॥१७॥ इसप्रकार चलदेने के अनन्तर श्रीकृष्णजी ने जिन को सत्कार करके पूजा समर्पण करी है और श्रीकृष्णजी के दर्शन से जिन की सब इन्द्रियें तृप्त हुई हैं ऐसे वह नारदमुनि, उन श्रीकृष्णजी का राजसूययज्ञ में जाने का निश्चय जानकर उन को नमस्कार करके उन को ही हृदय में धारण करतेहुए आकाशमार्ग से चलेगये ॥ १८ ॥ तदनन्तर भगवान्, मधुरवाणी से राजदूत को प्रसन्न करतेहुए कहनेलगे कि–तू राजाओं को यह समाचार दे

दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥ १९ ॥ इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथाव-
दवदन्नृपान् ॥ तेऽपि संदर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षंश्च मुमुक्षवः ॥ २० ॥ आन-
र्त्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ॥ गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरा-
न् ॥ २१ ॥ ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ॥ पञ्चालानथ म-
त्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥ २२ ॥ तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृ-
णां ॥ अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥ २३ ॥ गीतवादित्रघोषेण
ब्रह्मघोषेण भूयसा ॥ अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः ॥ २४ ॥
दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ॥ चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः
पुनः ॥२५॥ दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ॥ लेभे
परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥ २६ ॥ तं मातुलेयं
परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन्प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ॥ यमौ किरीटी च सुहृत्तमं

कि–तुम भय न करो, तुम्हारा कल्याण होगा, मैं जरासन्ध को शीघ्र ही मारता हूँ ॥१९॥ इसप्रकार भगवान् के कहने पर उस दूत ने, तहाँ से जाकर राजाओं को, भगवान् के कहने के अनुसार सब समाचार सुनाया, वह राजे भी जरासन्ध से छूटने की इच्छा करतेहुए, भगवान् का दर्शन होने की बाट देखते रहे ॥ २० ॥ इधर श्रीकृष्णजी ने, आनर्त्त, सौवीर और मारवाड़ इन देशों को और कुरुक्षेत्र को लाँघकर, कितनी ही नदियों के पार होकर, पर्वत, नगर, गांववालों के झोंपड़े और बड़ी २ खानों का उल्लंघन करा ॥२१॥ फिर दृषद्वती और सरस्वती नदी के पार होकर आगे पाँचाल देश तथा मत्स्यदेश को उल्लंघन करके इन्द्रप्रस्थ (देहली) में गमन करा ॥२२॥ तब जिनका दर्शन मनुष्यों को दुर्लभ है ऐसे वह श्रीकृष्णजी समीप आये यह सुनकर, प्रसन्नचित्तहुए धर्मराज, उपाध्याय (पाधा) और मित्रमण्डली सहित, उन को लाने के निमित्त नगर से बाहर सन्मुख गये ॥ २३ ॥ वह गानों के और बाजों के शब्दसहित हृषीकेश भगवान् को, जैसे इन्द्रियें बड़े आदर के साथ मुख्य प्राण के सन्मुख जाती हैं तैसे ही, सन्मुख गये ॥ २४ ॥ फिर स्नेह से आर्द्र-चित्त हुए उन धर्मराज ने, बहुत समय में दृष्टि पड़ेहुए परमप्रिय श्रीकृष्णजी को देखकर वारंवार हृदय से लगाया ॥२५॥ लक्ष्मी के निर्मल स्थान श्रीकृष्णजी के शरीर को, भुजाओं से आलिंगन करके जिन के पाप नष्ट होगये हैं, जिन के नेत्रों में आनन्द के आँसू भरआये हैं, जिन के शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगये हैं और जिन को लोकव्यवहार की भी सुध नहीं रही है ऐसे वह धर्मराज परम सन्तोष को प्राप्तहुए ॥ २६ ॥ तैसे ही भीम, मामा के पुत्र तिन श्रीकृष्णजी को आलिंगन करके हास्य करतेहुए प्रेम के वेग से नेत्रों को आनन्द के आँसुओं से भरकर परम आनन्द में निमग्नहुए, तैसे ही नकुल, सहदेव और अर्जुन ने

मुदा भवृद्धभाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥ २७ ॥ अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ॥ ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथाऽर्हतः ॥ २८ ॥ मानितो मानयामास कुरुसृंजयकैकयान् ॥ सूतमागधगंधर्वा वंदिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥ मृदङ्गशंखपटहवीणापणवगोमुखैः ॥ ब्राह्मणाश्चारविंदाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥ एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ॥ संस्तूयमानो भगवान्विवेशालंकृतं पुरम् ॥ ३१ ॥ संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैश्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुंभैः ॥ मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्रग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥ ३२ ॥ उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्म जालनिर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ॥ मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृंगैर्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥ प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्रमौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ॥ सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेंद्रमार्गे ॥ ३४ ॥ तस्मिन्

भी, नेत्रों को आनन्द के आँसुओं से भरकर परममित्र श्रीकृष्णजी को आलिंगन करा ॥२७॥ उन में-समान अवस्थावाले होने के कारण अर्जुन ने, उन का केवल आलिंगन करा, नकुल सहदेव ने आलिंगन के साथ प्रणाम करा और श्रीकृष्णजी ने भी ब्राह्मणों को प्रणाम करके अवस्था में अपने से बड़े धर्मराज आदि को यथा योग्य प्रणाम करा ॥ २८ ॥ उन के सन्मान करेहुए श्रीकृष्णजी ने, सन्मुख आयेहुए कुरु सृंजय और कैकय इन का भी सन्मान करा; तदनन्तर सूत मागध, गन्धर्व, वन्दीजन, पास में बैठनेवाले पुरुष और ब्राह्मण यह सब एक साथ मृदंग, शंख, पटह, वीणा, पणव, गोमुख आदि बाजों के शब्द के साथ श्रीकृष्णजी की स्तुति और गान करनेलगे और बारांगना नृत्य करनेलगीं ॥२९॥ ॥ ३० ॥ इसप्रकार पाण्डवों से मिलेहुए वह पुण्यश्लोक शिखामणि भगवान् श्रीकृष्णजी ने, पाण्डवों से घिरेहुए और सूतादिकों से स्तुति करेहुए होकर अलङ्कृत (सजायेहुए) हस्तिनापुर में प्रवेश करा ॥ ३१ ॥ वह नगर, हाथियों के मद की गन्धवाले जलों से मार्ग छिड़काहुआ था; तथा चित्रविचित्र ध्वजाओं से, सुवर्ण के फूलों की वन्दनवारों से, तैसे ही जल से मुहपर्यन्त भरेहुए और फूलों की मालाओं से शोभित करेहुए कलशों से, स्नान आदि करके नवीन वस्त्र, भूषण, माला और चन्दनादि के लेपन को धारण करनेवाले पुरुषों से तथा स्त्रियों से सुशोभित था ॥ ३२ ॥ प्रत्येक घर में लाकर रक्खेहुए उत्तम दीपकों से और तोड़कर स्थापन करेहुए पुष्पफलादि पदार्थों से युक्त था, झरोखों में से बाहर को निकलनेवाले अगर के धूपों से और झलकनेवाली पताकाओं से युक्त तथा, जिन के शिरपर सुवर्ण के कलश हैं ऐसे चाँदी के बड़े २ शिखरों से शोभायमान घरों से घचापच भराहुआ था; ऐसे उस धर्मराज के नगर को भगवान् ने देखा ॥३३॥ तब पुरुषों के नेत्रों के आदर

सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ॥ नार्यो वि-
कीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥ ३५ ॥ ऊचुः
स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीस्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ॥ यच्च-
क्षुषां पुरुषमौलिरुदारहासलीलाऽवलोककलयोत्सवमातनोति ॥ ३६ ॥ तत्र
तत्रोपसंगम्य पौरा मङ्गलपाणयः ॥ चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः
॥ ३७ ॥ अंतःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ॥ ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्रा-
विशद्राजमन्दिरम् ॥ ३८ ॥ पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ॥
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥ ३९ ॥ गोविन्दं गृहमानीय देव-
देवेशमादृतः ॥ पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥ ४० ॥ पितृष्वसु-

---

पूर्वक देखने के पात्र ऐसे वह श्रीकृष्णजी, आये हैं ऐसा सुनकर उत्कण्ठा से दौडते में जिन के केशों की और पहिरे वस्त्रों की गांठ ढीली होगई हैं ऐसी तरुणी स्त्रियें, तत्काल घरके कामों को पलँगपर सोयेहुए पतियों को छोड़कर राजमार्ग (आमसड़क) से जानेवाले श्रीकृष्णजी को देखने के निमित्त चलीगईं ॥ ३४ ॥ तदनन्तर घरों के ऊपर की छत्तों पर चढीहुई उन स्त्रियों ने, हाथी, घोडे, रथ और सिपाही इसप्रकार चतुरंगिणी सेना से अत्यन्त भरगयेहुए तिस राजमार्ग में स्त्रियों सहित आयेहुए उन श्रीकृष्णजी को देखकर, उन के ऊपर फूलों की वर्षा करी और मन से उनको आलिंगन करके आनन्द के साथ देखने से ही उन का स्वागत करा ॥ ३५ ॥ उससमय, चन्द्रमा के साथ स्थित तारागणों की समान, श्रीकृष्णजी के साथ स्थित उन की स्त्रियों को मार्ग में देखकर स्त्रियें कहने लगीं कि—जिन के नेत्रों को सकल मनोरथ पूर्ण करनेवाले यह पुरुषोत्तम, उदारहास्ययुक्त लीला के साथ अवलोकन के लेश से सुख देते हैं ऐसी इन श्रीकृष्णजी की स्त्रियों ने जन्मान्तर में न जाने कौन पुण्य करा होगा ॥ ३६ ॥ उससमय, जहाँ तहाँ मार्ग में नगरवासी बडे २ सेठ-साहूकार पुरुष, गन्ध, पुष्प-ताम्बूल आदि शुभ वस्तु हाथ में लेकर श्रीकृष्णजी के सन्मुख जाकर उन की पूजाकरके निष्पापहुए ॥ ३७ ॥ फिर घबराहट में हुए और प्रफुल्लित नेत्र ऐसे रणवासमें के पुरुषों ने, बडी प्रीति के साथ आगे जाकर जिन का सत्कार करा है ऐसे उन श्रीकृष्णजी ने राज-भवन में प्रवेश करा ॥ ३८ ॥ तब, अपने भ्राता के पुत्र त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णजी आये हैं ऐसा सुनकर प्रसन्न चित्तहुई कुन्ती ने, पलँगपर से उठकर, द्रौपदी सहित आगे जाकर उन को हृदय से लगाया ॥ ३९ ॥ तब आदरयुक्त उन धर्मराज ने, देवदेवों के भी नियन्ता तिन श्रीकृष्णजी के अपने घर आनेपर, परम आनन्द में भरेहुए उन धर्मराज को, श्रीकृष्णजी की पूजा करने के क्रम का भी स्मरण न रहा ॥ ४० ॥

गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ॥ स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः ॥ ४१ ॥ श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ॥ आर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जांबवतीं तथा ॥ ४२ ॥ कालिंदीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ॥ अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः ॥ ४३ ॥ सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ॥ ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥ ४४ ॥ तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ॥ मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥ ४५ ॥ उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया । विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥ ४६ ॥ इतिश्रीभा० म० द० उ० कृष्णस्येंद्रप्रस्थगमनमेकसप्ततितमोऽध्यायः॥७१॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ॥ ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बंधिबान्धवैः ॥ शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥

उससमय श्रीकृष्णजी ने, पिता की बहिन कुन्ती को और बडी स्त्रियों को प्रणाम करा, और उन को भी द्रौपदी तथा सुभद्रा ने प्रणाम करा ॥ ४१ ॥ तब कुन्ती की प्रेरणा करीहुई द्रोपदी ने, पतिव्रता-रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा एवं नाग्निजिती का तथा और भी जो श्रीकृष्णजी की स्त्रियें आई थीं उन सबों का वस्त्र, माला और कुंकुम आदि सौभाग्य के पदार्थों से पूजन करा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तदनन्तर, धर्मराज ने सेना, सेवक और मंत्रियोंसहित तथा स्त्रियोंसहित श्रीकृष्णजी को, प्रतिदिन नये २ सत्कारों से, उन को जैसे सुख प्राप्त हो तैसे ठहरादिया ॥ ४४ ॥ एक समय अर्जुन के साथ और अर्जुन के सहायक हुए जिन्होंने, इन्द्र के खाण्डव नामवाले वन से अग्नि को तृप्त करके उस में जलतेहुए मयासुर को छुडाया; फिर उस मयासुर ने धर्मराज को, एक दिव्य सभा बनादी वह श्रीकृष्णजी धर्मराज का प्रिय करने की इच्छा से, अर्जुन के साथ रथ पर बैठकर और साथ में कुछ योधाओं को लेकर विचरतेहुए कितने ही महीने पर्यन्त उस हस्तिनापुर में रहे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे बहत्तरवें अध्याय में धर्मराज ने श्रीकृष्णजी को राजसूययज्ञ का कार्य निवेदन करा तब, जरासन्ध को जीतना कठिन है ऐसा जानकर तिन श्रीकृष्णजी ने, भीमसेन से उस जरासन्ध का वध करवाया यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन्! एक समय सभा में सिंहासन पर बैठेहुए और ऋषि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भीमसेन आदि भ्राता, आचार्य, कुल के वृद्ध, जाति, सम्बन्धी और कुटुम्बियों से घिरेहुए धर्मराज, उन ऋषि आदि सबों के सुनतेहुए-हे कृष्ण! हे भक्तवत्सल! ऐसा सम्बोधन देकर

क्रतुराजेन गोविंद राजसूयेन पावनीः ॥ यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः
प्रभो ॥ ३ ॥ त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरंति ध्यायंत्यभद्रनशने शुचयो
गृणंति ॥ विंदन्ति ते कमलनाभ भवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश
नान्ये ॥ ४ ॥ तद्देवदेव भवतश्चरणारविंदसेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः॥
ये त्वां भजंति न भजंत्युत वोभयेषां निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृंज-
यानां॥ ॥५॥ न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभू-
तेः ॥ संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवाऽनुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥
॥ ६ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन ॥ क-
ल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥ ७ ॥ ऋषीणां पितृदेवानां सुहृ-

श्रीकृष्णजी से कहा ॥ १ ॥ २ ॥ युधिष्ठिर ने कहा कि—हे गोविन्द ! हे प्रभो ! यज्ञों में श्रेष्ठ राजसूययज्ञ के द्वारा, तुम्हारी ही पवित्र विभूति ऐसे इन्द्रादि देवताओं की आराधना करने की मैं इच्छा करता हूँ उस मेरे मन के कार्य को सिद्ध करदेने की आप कृपा करें ॥ ३ ॥ यदि कहो कि यह चक्रवर्त्ती राजाओं का मनोरथ तू क्यों करता है तो सुनो-हे कमलनयन ईश्वर ! जो पुरुष तुम्हारी पापनाशक पादुकाओं का अपने शरीर से निरन्तर सेवन करते हैं, मन से ध्यान करते हैं और वाणी से उन का प्रभाव वर्णन करते हैं वही पुरुष शुद्धचित्त होकर संसार के नाशक मोक्ष पद को पाते हैं और वही यदि विषयभोग की इच्छा करें तो उन को वह विषय भी प्राप्त होते हैं जो दूसरे चक्रवर्त्ती राजाओं को भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ तिस से हे प्रभो ! हे देवदेव ! इस संसार में का यह प्राणियों का समूह, तुम्हारे चरणकमल की सेवा के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखलेय ; कर्म आदि को ही मुख्य माननेवाले कितने ही जो कौरव और सृंजय हैं वह भगवद्भक्ति का बहुत सन्मान नहीं करते हैं उन का मोह दूर होने के निमित्त तुम, जो तुम्हारी सेवा करते हैं और जो सेवा नहीं करते हैं उन दोनो प्रकार के ही पुरुषों की निष्ठा (फल) दिखाओ ॥५॥ यदि कहो कि—रागद्वेषादिरहित मुझ में यह भेदभाव कैसे होयगा तो सुनो—समदृष्टि, सर्वात्मा, और अपने आनन्द का अनुभव करनेवाले तुम निरुपाधिक ब्रह्मरूप को, यद्यपि, यह अपना है, यह पराया है इसप्रकार की भेदबुद्धि नहीं है तथापि जैसे सब में समभाव रखनेवाले कल्पवृक्ष की सेवा करनेवालों को ही उस से फल मिलता है तैसे ही सेवा करनेवाले पुरुषों को ही, तुम से, सेवा की न्यूनता अधिकता का फल मिलता है ; इस में तुम में भेदभाव वा निर्दयीपना आदि दोष नहीं आता है ॥ ६ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि—हे शत्रुनाशक राजन् ! तुमने बहुत अच्छा निश्चय करा है जिस राजसूयनामक यज्ञ को करके तुम्हारी पुण्यकारिणी कीर्त्ति सब लोकों में फैलेगी ॥ ७ ॥

दामपि नः प्रभो ॥ सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥ विजि-
त्य नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ॥ संभृत्य सर्वसंभारानाहरस्व महाक्र-
तुम् ॥ ९ ॥ एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः ॥ जितोऽस्म्यात्म-
वता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥ १० ॥ न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा य-
शसा श्रिया ॥ विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥ ११ ॥ श्री-
शुक उवाच ॥ निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ॥ भ्रातॄन्दिग्विजयेऽ-
युङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥ १२ ॥ सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ॥
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ॥ प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः के-
कयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥ ते विजित्य नृपान्वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ॥
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥ १४ ॥ श्रुत्वाऽजितं जरासंधं नृप-

हे प्रभो ! ऋषियों को, देवताओं को, सकल प्राणीमात्र को और हम मित्रों को भी यहश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ इच्छित है ॥ ८ ॥ उस में मुझे वा दूसरे किसी को क्या करना है ? किन्तु यह राजसूय सहज में होनेवाला है, इस से सब राजाओं को जीतकर, सब पृथ्वी को वश में करके और यज्ञकी सब सामग्री इकट्ठी करके राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करो॥९॥यदि कहो कि सब राजाओं को कैसे जीतेंगे तो सुनो—हेराजन्!यह तुम्हारे भ्राता,वायु इन्द्र आदि लोकपालों के अंश से उत्पन्न हुए हैं इसकारण इन के द्वाराही तुम्हें सब राजाओं का जीतना सुखसाध्य है और इन्द्रियों को वश में न करनेवाले पुरुषों से कठिनता से भी वशमें करने को अशक्य ऐसेमुझे, जितेन्द्रिय तुमने वश में करलिया है इसकारण तुम्हें कुछभी दुःसाध्य नहीं है ॥ १० ॥ अब तुम्हारी तो बात दूर रहै परन्तु अतिदीन ऐसे भी मेरे भक्त का तिरस्कार करने को कोई भी समर्थ नहीं होता है ऐसा कहते हैं कि—मैं ही जिन का परम उपासनीय देवता हूँ उन का तिरस्कार करने को इसलोक में कोई देवता भी अपने पराक्रम से, यश से, सम्पदा से और सेनाआदि सामग्रियों से समर्थनहीं होसक्ता फिर राजा (मनुष्य) समर्थ नहीं होगा इसका तो कहनाही क्या ? ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् के कहेहुए भाषण को सुनकर प्रसन्न और प्रफुल्लमुखकमल हुए उन धर्मराज ने, श्रीकृष्णजी के तेज से बढ़ेहुए अपने भीम आदि भ्राताओं को दिग्विजय करने के कार्य में लगाया ॥ १२ ॥ सहदेव को सृंजयदेश के राजाकी सहायता देकर दक्षिणदिशा की ओर नियत करा, नकुल को मत्स्यदेश के राजा के साथ पश्चिम दिशा की ओर भेजा; अर्जुन को केकय राजा के साथ उत्तरदिशा को भेजा और भीम को मद्रक राजाओं के साथ पूर्वदिशा की ओर भेजा ॥ १३ ॥ हे राजन् ! उनभीम आदि वीरोंने, अपने पराक्रम से राजाओं को जीतकर यज्ञ करनेवाले धर्मराज को बहुतसा धन लाकर समर्पण

तेऽध्यायतो हरिः ॥ आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥ १५ ॥ भीमसे-
नोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिंगधरास्त्रयः ॥ जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥
॥ १६ ॥ ते गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ॥ ब्रह्मण्यं समयाचेरन् रा-
जन्या ब्रह्मलिंगिनः ॥ १७ ॥ राजन्विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् ॥
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥ १८ ॥ किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किं-
मकार्यमसाधुभिः ॥ किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ॥ नाचिनोति स्वयंकल्पः स वा-
च्यः शोच्य एव सः ॥ २० ॥ हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उंछवृत्तिः शिबिर्बलिः ॥

करा ॥ १४ ॥ तब जरासन्ध राजा जीतने में नहीं आसक्ता ऐसा सुनकर, उस को कैसे जीतें इसप्रकार की चिन्ता करनेवाले धर्मराज से, सब के कारण श्रीकृष्णजी ने, अपने से उद्धवजी ने जो 'भीमसेन, द्वन्द्वयुद्ध में उस को मारडाले ऐसा' जो उपाय कहाथा वह बताया ॥ १५ ॥ हे राजन्! फिर भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्णजी यह तीनो, ब्राह्मण का वेष धारकर, जहाँ जरासन्ध था तिस गिरिव्रज नामक स्थान में चलेगये ॥ १६ ॥ और ब्राह्मणकावेष धारण करनेवाले वहतीनो ही राजे,दानकरने के समय उसके घर जाकर गृहस्थाश्रमी और ब्राह्मणभक्त तिस जरासन्ध से याचना करनेलगे ॥ १७ ॥ कि-हेराजन्! हम तीनोही बहुतदूर से आयेहुए याचक अतिथि हैं, ऐसा तुम जानो, और जिसकी हम-इच्छा करते हैं सो हम को समर्पण करो ॥ १८ ॥ यदि कहो कि—जो तुम चाहते हो सो बताओ, नहीं तो भला पुत्रादि वा राज किरीट आदि मांगलिये तो वह कैसे देदूँगा? सो हे राजन्! जैसे विषयासक्त पुरुषों को न करने योग्य कुछ नहीं है तैसेही सहनशील पुरुषों को कुछ भी दुःसह नहीं है, अतिउदार पुरुषों को न देनेयोग्य कुछनहीं है और सर्वत्र समान ब्रह्म है ऐसा देखनेवालों को पराया कोई नहीं है इसकारण हम को अमुक पदार्थ चाहिये इस के कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १९ ॥ और जो प्राणी स्वयं समर्थ होकर भी अपने अनित्य शरीर से, साधुओं के गान करनेयोग्य सदा रहनेवाले यश को नहीं प्राप्त करता है वह निन्दनीय और 'क्या यह इसका भाग्य हीनपना है इसप्रकार' शोक करने के योग्य होता है ॥ २० ॥ हे राजन्! हरिश्चन्द्र विश्वामित्र का ऋण चुकाने के निमित्त स्त्री पुत्र आदि सब बेचकर, अपने आप चांडालपने को प्राप्त होनेपर भी खिन्न नहीं हुए इसकारण अयोध्यावासी पुरुषोंसहित स्वर्ग को गये. रन्तिदेव ने, कुटुम्बसहित अपने को अडतालीस दिनपर्यन्त जल भी प्राप्त न होने पर, तदनन्तर प्राप्तहुआ अन्न जल आदि याचकों को देकर ब्रह्मलोक को गमन करा. मुद्गल ब्राह्मण, छः मासपर्यंत कुटुम्बसहित उपवास (निराहार व्रत) करके भी प्राप्तहुआ

व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥ २१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स्वरै-
राकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ॥ राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्त-
यत् ॥ २२ ॥ राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ॥ ददामि भिक्षि-
तं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥ २३ ॥ बलेर्नु श्रूयते कीर्त्तिर्वितता
दिक्ष्वकल्मषा ॥ ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥ २४ ॥
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ॥ जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमा-
णोपि दैत्यराट् ॥ २५ ॥ जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ॥
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥ २६ ॥ इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जु-

---

अन्न आदि, अतिथि को देकर ब्रह्मलोक को गया. राजा शिबि,शरण आयेहुए कबूतर की रक्षा करने के निमित्त अपना मांस श्येन (बाज) पक्षी को देकर स्वर्ग को गया. राजा बलि ने, ब्राह्मण का वेष धारणकरनेवाले श्रीहरि को सर्वस्वदेकर उनको ही द्वारपाल बनालिया. कपोत ने, व्याधरूप अतिथि को कपोतीस्त्रीसहित अपना मांस देकर विमान में बैठ स्वर्ग को गमन करा. व्याध ने, उन दोनों का धैर्य देखकर स्वयं विरक्त होकर महाप्रस्थान में वन में की अग्निमें देहको जलानेके कारण निष्पाप होकर स्वर्गगति पाई इसी प्रकार और भी बहुत से पुरुष, नाशवान् शरीर के द्वारा अविनाशीलोक को प्राप्त होगये ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार कहाहुआ वह जरासन्ध, स्वरों से, शरीर के अङ्गों की गठन से और धनुष की डोरी के घट्टे पडेहुए हाथों के पहुँचों से उन भीम आदिकों को यह कोई राजे हैं और इन को पहिले मैं ने कहीं (द्रौपदी-स्वयंवर आदि में) देखा है ऐसा अनुमान करके विचारनेलगा कि–॥ २२ ॥ यह निःसन्देह राजाओं के कुल में उत्पन्नहुए और भय से ब्राह्मणों के चिन्ह धारण करेहुए हैं इसकारण इन्हें, कठिन से त्यागनेयोग्य अपने शरीर को भी (इन के मांगने पर) देता हूँ ॥ २३ ॥ क्योंकि इन्द्र की सम्पत्ति 'बलि से' हरण करने की इच्छा करनेवाले और कपट से ब्राह्मणका वेष धारण करनेवाले विष्णु करके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करेहुए भी राजा बलि की, पवित्र और दशों दिशाओं में फैलीहुई कीर्त्ति निःसन्देह सुनने में आती है ; क्या उस बलि के धैर्य का वर्णन होसक्ता है ? शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी और 'यह विष्णु मेरा सर्वस्व हरलेंगे ऐसा' जानकर भी उस दैत्यराज बलि ने, ब्राह्मणस्वरूप विष्णु को पृथ्वी का दान दिया ॥ २४ ॥ २५ ॥ प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले और ब्राह्मण के कार्य के निमित्त बडाभारी यश प्राप्त न करके जीवित रहनेवाले इस क्षत्रिय शरीर से कौन प्रयोजन सिद्ध होता है ? कोई नहीं ॥ २६ ॥ इसप्रकार विचारकर वह उदारबुद्धि जरासन्ध, श्रीकृष्ण अर्जुन और भीमसेन से कहनेलगा कि–हे

नवृकोदरान् ॥ हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः । २७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ॥ युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकांक्षिणः ॥ २८ ॥ असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्जुनो ह्ययम् ॥ अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥ २९ ॥ एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ॥ आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥ ३० ॥ न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा । मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥ ३१ ॥ अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ॥ अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥ ३२ ॥ इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदां ॥ द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥ ३३ ॥ ततः समेखले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ । जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥ ३४ ॥ मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ॥

ब्राह्मणों ! जो तुम्हें अच्छा होय सो मांगलो, मैं अपना मस्तक भी, तुम्हें अच्छा लगेगा तो दूँगा ॥ २७ ॥ तब श्रीभगवान् ने कहा कि हे राजेन्द्र ! यदि तू जो इच्छित है सो देने की इच्छा करता है तो तू हमें द्वन्द्वयुद्ध (दोपुरुषों करके ही करने योग्य युद्ध) दे हम युद्ध की इच्छा करनेवाले राजे, यहां आये हैं, हम अन्न की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण नहीं हैं ॥ २८ ॥ यह कुन्तीनन्दन भीम है, यह इस का भ्राता अर्जुन है और इन दोनो के मामा का पुत्र मैं तेरा शत्रु कृष्ण हूँ, ऐसा जान ॥ २९ ॥ इसप्रकार भगवान् का जतायाहुआ वह राजा जरासन्ध ऊँचे स्वर से हँसनेलगा और क्रुद्ध होकर बोला कि—अरे मूढो ! यदि तुम्हें युद्ध ही इच्छित है तो वह देता हूँ ॥ ३० ॥ परन्तु डरपोक और युद्ध में विव्हलचित्त होजानेवाला जो तू तिस के साथ तो मैं युद्ध करूँगा नहीं, क्योंकि—तू भय से अपनी मथुरा नगरी को त्यागकर समुद्र की शरण गया है ॥ ३१ ॥ यह अर्जुन तो मेरे साथ युद्ध करने के योग्य नहीं है, क्योंकि—यह अवस्था में मेरी समान न होकर बल में भी अधिक नहीं है और शरीर में भी मेरी समान पुष्ट नहीं है फिर इस के साथ द्वन्द्वयुद्ध (दूपरदूयुद्ध) करना, लज्जाकारक, निन्दाकारक और अपयशकारक है, केवल भीम ही मेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध करेगा, क्योंकि—वह मेरे समान बलधारी है ॥ ३२ ॥ ऐसा कहकर जरासन्ध अपनी ही एक बडीभारी गदा भीमसेन को देकर और तैसीही दूसरी गदा आप लेकर नगर से बाहर निकला ॥ ३३ ॥ तदनन्तर ऊँचीनीची नहीं और बालु का डालकर कोमल करीहुई युद्ध की भूमि में युद्ध करने में दुर्मद वह जरासन्ध और भीम दोनो वीर, परस्पर मिलकर समान गदाओं का परस्पर प्रहार करनेलगे ॥ ३४ ॥ दाहिने और बायें जैसे होय तैसे चित्रविचित्र मण्डल (पैंतरे) करनेवाले उन दोनो का

चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रंगिणोः ॥ ३५ ॥ ततश्चटचटाशब्दो वज्रनि-
ष्पेपसन्निभः ॥ गदयोः क्षिप्तयो राजन्दंतयोरिव दन्तिनोः ॥ ३६ ॥ ते वै
गदे भुजजवेन निपात्यमाने अन्योऽन्यतोऽसकटिपादकरोरुजत्रून् ।चूर्णीबभूवतुरु-
पेत्य यथार्कशाखे संयुद्धयतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः॥३७॥ इत्थं तयोः प्रहतयोर्ग-
दयोर्नृवीरौ क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टां॥ शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवा-
सीन्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥ ३८ ॥ तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षा-
बलौजसोः ॥ निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥ ३९ ॥ एवं तयोर्महाराज
युद्धयतोः सप्तविंशतिः ॥ दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः ॥ ४० ॥
एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन्वृकोदरः ॥ न शक्तोऽहं जरासंधं निर्जेतुं
युधि माधव ॥ ४१ ॥ शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम् ॥ पार्थमा-

युद्ध, रंगभूमि में आयेहुए नटों की समान शोभा पानेलगा ॥ ३५ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! एक ने दूसरे के ऊपर छोडीहुई गदाओं के पडने से उत्पन्न हुआ चटचट शब्द, युद्ध करनेवाले मद से अन्धेहुए हाथियों के दाँतों के शब्द की समान और वज्र गिरने के शब्दकी समान अतिभयङ्कर होनेलगा ॥ ३६ ॥ परस्पर के शरीरपर मारीहुई वह गदा, एक दूसरे के कन्धे, कमर, पैर,हाथ, जंघा और भुजाओं के पुट्ठोंपर पड़कर, जैसे अतिक्रोध में भरकर आक के वृक्षों की शाखाओं से परस्पर युद्ध करनेवाले हाथियों के कन्धे आदि अङ्गोंपर उन की मारीहुई वह (आक की) शाखा चूर्ण होजाती हैं तैसे ही चूर्ण होगई ॥ ३७ ॥ इसप्रकार उन दोनो की ही गदाओं के टूटजानेपर, क्रोध में भरेहुए वह दोनो मनुष्यश्रेष्ठ भीमसेन और जरासन्ध लोहे के घन की समान लगनेवाली अपनी दृढ मुट्ठियों (घूंसों) से परस्पर ताडना करनेलगे तब हाथी की समान परस्पर प्रहार करनेवाले उन के हाथों के चपेटों से उत्पन्न हुआ शब्द, मेघ के विना होनेवाले वज्रपात के शब्दकी समान भयानक प्रतीत होनेलगा ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार जिन का अभ्यास, शरीर का बल और इन्द्रियों की शक्ति भी समान हैं ऐसे क्षीणबल न होकर प्रहारकरनेवाले उन भीम और जरासन्ध का अनुपम युद्ध हुआ ॥ ३९ ॥ हे महाराज ! इस प्रकार युद्धकरनेवाले और रात्रि के समय तिस जरासन्ध के घर मित्र की समानरहनेवाले उन भीमसेन और जरासन्ध को सत्ताईस दिन बीतगये ॥ ४० ॥ हे राजन् ! एकसमय भीमसेन, अपने मामा के पुत्र श्रीकृष्णजी से कहनेलगे कि–हे माधव ! युद्ध में जरासन्ध के जीतने को मैं समर्थ नहीं हूँ, सो अब क्या करूँ ? ॥ ४१ ॥ तब उसजरासन्ध का जन्म दोटुकडों से हुआ है और मरण भी तैसे ही दोटुकडे होनेपर होयगा यह जाननेवाले और जरानामवाली राक्षसी ने उन दोनोंटुकडों को मिलाकरकेरहुए जीवनको भी जाननेवाले

प्यायथत्स्वेन तेजसाचिंतयद्धरिः ॥ ४२ ॥ सञ्चिंत्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ॥ दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥ ४३ ॥ तद्विज्ञाय महासत्वो भीमः प्रहरतां वरः ॥ गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४४॥ एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ॥ गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥ ४५ ॥ एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ॥ एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥ ४६ ॥ हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ॥ पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥ ४७ ॥ सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः॥अभ्यषिंचदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः॥मोचयामास राजन्यान्संरुद्धा मागधेन ये ॥ ४८ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे जरासंधवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अयुते द्वे

वह हरि श्रीकृष्णजी,अपने तेजसे भीमका बल बढातेहुए'फिर इसके टुकडे कैसेहोयँगे यह' चिन्तवन करनेलगे ॥ ४२ ॥ तदनन्तर सफलज्ञानी श्रीकृष्णजी ने, उस का उपाय जानकर,एकवृक्ष की शाखा को चीरकर दिखातेहुए'जैसे मैं शाखा को चीरता हूँ ऐसे तू इस जरासन्ध को चीरडाल,ऐसे 'संकेत से भीमसेन को शत्रुके वध का उपाय दिखाया॥४३॥तब महाबली और प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ तिस भीमसेन ने,भगवान् के संकेत करेहुए उपायको जानकर शत्रु के पैर पकडकर भूमिपर पटका॥४४॥और उस का एकपैर अपने पैरसे दबाकर तथा दूसरा पैर हाथों से पकडकर उन भीमसेन ने, जैसे बडाभारी हाथी अनायास में ही शाखा को फाडडालता है तैसे उस को गुदा के द्वार से लेकर मस्तकपर्यन्त फाडडाला ॥ ४५ ॥ उससमय तहां की प्रजाओं ने, उस के—चरण, जंघा, अण्डकोष, कमर, पीठ, स्तन, कन्धे, बाहु,नेत्र, भ्रुकुटि और कर्णवाले दो टुकडेहुए देखे॥४६॥ इसप्रकार जरासन्ध के मरण को प्राप्त होने पर उस की प्रजाओं का बडाभारी हाहाकार शब्दहुआ; उससमय अर्जुन और श्रीकृष्ण इन दोनो ने, भीमसेन को हृदय से लगाकर प्रशंसा करके सत्कार करा॥ ४७ ॥ अब दुष्ट वर्त्ताव होने के कारण ही इस जरासन्ध को मारा राज्य के लोभ से नहीं मारा यह दिखातेहुए कहते हैं कि—अप्रमेयस्वरूप,भूतपालक प्रभु भगवान् ने, तिस जरासन्ध के सहदेव नामक पुत्र को राज्याभिषेक करके मगध देशों का स्वामी करदिया और उस जरासन्ध ने जो राजे रोकरक्खे थे उन को तहाँ से छुटाया॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में द्विसप्ततितमअध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे तिहत्तरवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने राजाओं को छुटाकर और उन को राजयोग्य भोग अर्पण करके उन को अपने २ देश में भेजदिया और आप भीमसेन तथा अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ को चलेगये यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! जो

शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ॥ ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः ॥ १ ॥ क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ॥ ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥ श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ॥ चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥ पद्महस्तं गदाशंखरथांगैरुपलक्षितं ॥ किरीटहारकटककटिसूत्रांगदाचितम् ॥ ४ ॥ भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ॥ पिबंत इव चक्षुर्भ्यां लिहंत इव जिह्वया ॥ ५ ॥ जिघ्रंत इव नासाभ्यां रंभंत इव बाहुभिः ॥ प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥६॥ कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ॥ प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्रांजलयो नृपाः ॥ ७ ॥ राजान ऊचुः ॥ नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ॥ प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥ नैनं नाथानसूयामो मागधं

बीस सहस्र आठ सौ राजे, जरासन्ध ने युद्ध में सहज में ही जीतकर गिरिद्रोणी नामक कारागार में वन्द कररक्खे थे, वह वन्द करने के कारण क्लेश को पायेहुए, मलिनमुख, क्षुधा से निर्बल, मलिन वस्त्र धारण करेहुए और शरीरपर मैल थुपेहुए राजे तहां से निकाले तब, उन्हों ने श्रीकृष्णजी को देखा, वह श्रीकृष्णजी मेघ की समान श्यामवर्ण और पीताम्बर धारण करे थे ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीवत्सलांछन धारण करनेवाले, चार भुजाओं से युक्त, कमल की गोभ की समान लाल २ नेत्रवाले, सुन्दर और प्रसन्नमुख से युक्त, दमकतेहुए मकराकार कुण्डलों से शोभायमान ॥ ३ ॥ हाथ में कमललिये, शंख-चक्र-गदा से सुशोभित और मस्तकपर किरीट, गले में हार, हाथों में कडेतोडे, कमर में जंजीर और भुजाओं में बाजूबन्दों से सजेहुए थे ॥ ४ ॥ तैसे ही जो कण्ठ में श्रेष्ठ कौस्तुभमणि से झलकतेहुए और गले से पैरोंपर्यन्त लटकतीहुई वनमाला से लिपटेहुए थे तिन भगवान् को नेत्रों से पीतेहुएसे, जीभ से चाटतेहुएसे, नासिका के पुडों से सूंघतेहुएसे और भुजाओं से आलिंगन करतेहुएसे तथा उन के दर्शन से पापरहितहुए तिन राजाओं ने, श्रीहरि के चरणपर अपना २ मस्तक रखकर नमस्कार करा ॥ ५ ॥ ६ ॥ और श्रीकृष्णजी का दर्शन करने से प्राप्तहुए आनन्द से जिन का कारागार में पडने का खेद दूर होगया है ऐसे वह राजे, हाथ जोडकर उन श्रीकृष्ण भगवान् की वाणियों से प्रशंसा करनेलगे ॥ ७ ॥ राजाओं ने कहा कि—हे देवदेवों के स्वामिन्! हे शरणागतों के दुःख दूर करनेवाले! हे अखण्डस्वरूप श्रीकृष्ण! तुम्हें नमस्कार हो, तुम्हारे कारागार में से छुडाएहुए और दुःख का अनुभव करके सकल विषयों में विरक्त होकर तुम्हारी शरण आयेहुए हमें इस भयानक संसार से छुटाओ ॥ ८ ॥ हे नाथ! हे मधुसूदन! इस जरासन्ध नें हमें बाँध-

मधुसूदन ॥ अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥ राज्यैश्वर्यमदो-
न्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ॥ त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते संपदोऽचलाः॥
॥ १० ॥ मृगतृष्णां यथा बाला मन्यंत उदकाशयम् ॥ एवं वैकारिकीं माया-
मयुक्ता वस्तु चक्षते ॥ ११ ॥ वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो जिगीषयास्या इतरे-
तरस्पृधः ॥ घ्नंतः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः।
॥१२॥ त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ॥ कालेन
तन्वा भवतोऽनुकंपया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥ १३ ॥ अथो न राज्यं
मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ॥ उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १४ ॥ तं नः समादिशोपायं येन ते
चरणाब्जयोः ॥ स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥ कृष्णाय

कर डालिया इस हेतु से हम इस की ओर को वारम्वार दोषदृष्टि से नहीं देखते हैं, क्योंकि-हे विभो! जरासन्ध से हम राजाओं का जो राज्य छुटा सो तुम्हारा अनुग्रह ही है ऐसा हम समझते हैं ॥९॥ क्योंकि-राज्य और ऐश्वर्य से होनेवाले मद करके उच्छृंखल हुआ राजा, तुम्हारी माया से मोहित होकर, अनित्य सम्पत्तियों को यह नित्य हैं ऐसा मानता है और उन से कल्याण नहीं पाता है ॥१०॥ जैसे अज्ञानी बालक, मृगतृष्णा के जल को यह तालाव वा नदी है ऐसा मानतेहैं तैसे ही अज्ञानी पुरुष, सृष्टि में माला, चन्दन स्त्री आदि अनेकों विकारों से परिणाम को प्राप्त हुई माया को ही यह परम-पुरुषार्थ है ऐसा मानते हैं ॥ ११ ॥ हे प्रभो! जो हम पहिले राज्य करते समय, लक्ष्मी के मद से अन्धे होकर इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से परस्पर डाह करते थे, वह आगे को होनेवाले मृत्युरूप तुम्हें कुछ न गिनतेहुए दुष्ट मद से युक्त होकर अति निर्दयी-पने से अपनी ही प्रजाओं को धन आदि के निमित्त मारते थे ॥ १२ ॥ हे कृष्ण! वही हम इससमय गम्भीर (न दीखनेवाले) वेग से युक्त और जिस को हटाना कठिन है ऐसे बलवान् तुम शरीररूपी काल से, सम्पत्तियों से भ्रष्ट होने के कारण गर्वरहित होकर तुम्हारी कृपा से ही तुम्हारे चरण का स्मरण करते हैं ॥ १३ ॥ इसकारण अब आगे को वह हम प्रतिक्षण में क्षीण होते जानेवाले और रोगों की उत्पत्ति के स्थान ऐसे अपने शरीर करके सेवन करनेयोग्य और मृगतृष्णा के जल की समान शीघ्र नाश को प्राप्त होनेवाले राज्य की कुछ इच्छा नहीं करते हैं, तैसे ही हे विभो! स्वर्गादि परलोक में जाकर सेवन करने का और केवल कानो को ही प्रिय लगनेवाला जो क्रियाफल (सुख) उस को भी इच्छा नहीं करते हैं ॥ १४ ॥ इसकारण हे प्रभो! इस संसार में अनेकों योनियों के विषैं भ्रमण पानेवाले भी हमें, तुम्हारे चरणकमलों का स्मरण जिस उपाय

वासुदेवाय हरये परमात्मने ॥ प्रणतक्लेशनाशाय गोविंदाय नमो नमः ॥१६॥ श्रीशुक उवाच ॥ संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ॥ तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥ १७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ॥ सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥१८॥ दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ॥ श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणां ॥ १९ ॥ हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ॥ श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥ २० ॥ भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमंतवत् ॥ मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥ २१ ॥ संतन्वन्तः प्रजात-

से लुप्त न होय वह उपाय तुम हम से कहो ॥ १५ ॥ वासुदेव, हरि, परमात्मा और शरणागतों के क्लेश नष्ट करनेवाले तथा गोविन्द तुम कृष्ण को वारम्वार नमस्कार हो ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे तात राजन्! जरासन्ध के करेहुए बन्धन से छूटनेवाले राजाओं ने, इसप्रकार स्तुति करी तब, शरणागतवत्सल और दयालु वह भगवान् श्रीकृष्णजी, मधुरी वाणी में उन से कहनेलगे ॥ १७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे राजाओं! तुम ने जैसी प्रार्थना करी है सो सब मैंने स्वीकार करा है, आज से तुम्हें, सबों के ईश्वर और आत्मा मेरे विषैं दृढ़ भक्ति उत्पन्न होय ॥ १८ ॥ हे राजाओं! तुमने जो मेरा स्मरण ही करने का निश्चय करा है सो आनन्दकारी है, तुम सत्य बोलनेवाले हो, सम्पदा और ऐश्वर्य के मद से अपना स्वेच्छाचाररूप जो उद्धतपना सो मनुष्यों को बडा उन्मत्त करनेवाला है, ऐसा मेरे देखने में आया है ॥ १९ ॥ देखो–सहस्राबाहु सार्वभौम राजाहुआ तौभी उस ने, जमदग्नि की कामधेनु का हरण करा इसकारण पुत्रों सहित उसको परशुरामजी ने मारडाला.राजा नहुष देवेन्द्रपने को प्राप्तहुआ तब भी, इन्द्राणी के सम्भोग के निमित्त ब्राह्मणों से पालकी उठवाने के कारण वह उन ब्राह्मणों के शाप से इन्द्रपद से भ्रष्ट होकर अजगर योनि को प्राप्तहुआ; राजावेन भी उन्मत्त होकर ब्राह्मणों की निन्दा करनेलगा.इसकारण उस को ब्राह्मणों ने हुङ्कार से ही मारडाला; रावण राक्षसों का स्वामी था तब भी उसने सीता को हरा इसकारण उस को श्रीरामचन्द्रजी ने मारडाला; नरकासुर ने दैत्यों का स्वामी होकर अदिति के कुण्डल हरण करे इसकारण उस को मैंनेही मारा है, और भी बहुतसे देवताओं के, दैत्यों के तथा मनुष्यों के अधिपति राजे, लक्ष्मी के मद के कारण अपने स्थान से भ्रष्ट होगये ॥ २० ॥ इसकारण तुम, इस उत्पन्न होनेवाले देहादि को अनित्य जानकर सावधान चित्त रहोतथा यज्ञयागादि के द्वारा मेरा पूजन करके धर्म के साथ प्रजाओं की रक्षा करो ॥ २१ ॥ और

न्तुन्सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥२२॥ उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ॥ मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ॥२३॥श्रीशुक उवाच॥इत्यादिश्य नृपान्कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः॥ तेषां न्ययुंक्त पुरुषान्स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥ २४॥ सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ॥ नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥ २५ ॥ भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान्समलंकृतान्॥भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः॥२६॥ते पूजिता मुकुंदेन राजानो मृष्टकुंडलाः॥विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्प्रावृडंते यथा ग्रहाः ॥२७॥ रथान्सदश्वानारोप्य मणिकांचनभूषितान् ॥ प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान्प्र-त्ययापयत् ॥ २८ ॥ त एवं मोचिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ॥ ययुस्तमेव ध्यायंतः कृतानि च जगत्पतेः ॥ २९ ॥ जगदुःप्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचे-

पुत्रादिक सन्तान का विस्तार करके तथा सुख, दुःख, लाभ, हानि आदि जो जो प्राप्तहोय उस २ को समानभाव से सेवन करके और मेरेविषैं चित्त को लगाकर काल व्यतीत करो ॥ २२ ॥ और देह, धन तथा पुत्रादि के विषैं उदासीन; आत्मस्वरूप में रमेहुए और पूजा नमस्कार आदि का नियम धारण करनेवाले होकर एकाग्र करेहुए मन को मेरेस्वरूप में स्थापन करके रहो तो अन्त में ब्रह्मरूप मुझ को प्राप्तहोओगे॥२३॥श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णजी ने राजाओं को आज्ञा करके उन का उबटनास्नान आदि कार्य करने में सेवकपुरुषों को और स्त्रियोंको नियुक्त करा ॥ २४ ॥ हे राजन् जरासन्ध का पुत्र जो सहदेव नामवाला था उस से तिन राजाओं को, राजयोग्य वस्त्र, भूषण, माला और चन्दनादि का अनुलेपन इत्यादि दिलवाकर सत्कार करवाया ॥ २५ ॥ इसप्रकार उत्तम स्नान करेहुए और आभूषण धारण करेहुए उन राजाओं को श्रेष्ठ अन्न का भोजन करवाकर फिर उन को और भी राजाओं के योग्य नाना प्रकार के ताम्बूल आदि भोग अर्पण करे ॥२६॥ तब श्रीकृष्णजी ने जिन को क्लेश से छुटाया है और सत्कार करा है ऐसे वह राजे, स्वच्छ कुण्डल धारण करके जैसे शरद् ऋतु के अन्त में चन्द्रमा आदि ग्रह शोभा पाते हैं तैसे शोभित होनेलगे ॥२७॥ तदनन्तर मणियों से जड़े सुवर्ण आदि के आभूषणों से भूषित तिन राजाओं को, मधुर भाषणों से हर्षयुक्त करके और उत्तम घोड़े जुतेहुए रथपर बैठालकर उन २ के देशों को भेजदिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार अति उदारचित्त श्रीकृष्णजी के सङ्कट से छुटायेहुए वह राजे; उनही जगत्पति श्रीकृष्णजी का ध्यान और उन के ही कर्म का स्मरण करते हुए अपने अपने देश को चलेगये ॥२९॥ फिर उन्हों ने वह जरासन्ध का मारना आदि श्रीकृष्णजी का कार्य अपने मंत्रियों

ष्ठितम् ॥ यथाऽन्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतंद्रिताः ॥ ३० ॥ जरासंधं घात यित्वा भीमसेनेन केशवः ॥ पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात्सहदेवेन पूजितः ॥३१॥ गत्वा ते खांडवप्रस्थं शंखान्दध्मुर्जितारयः ॥ हर्षयंतः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥ ३२ ॥ तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इंद्रप्रस्थनिवासिनः ॥ मेनिरे मागधं शांतं राजा चाप्तमनोरथः ॥ ३३ ॥ अभिवंद्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ॥ सर्वमाश्रावयांचक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥ ३४ ॥ निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकंपितम् ॥ आनन्दाश्रुकलां मुंचन्प्रेम्णा नोवाच किंचन ॥ ३५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उ० कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं युधिष्ठिरो राजा रासंधवधं विभोः ॥ कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः ॥ वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसै-

से वर्णन करा और जैसे भगवान् ने, आज्ञाकरी थी उस के अनुसार सावधान रहकर राज्य करनेलगे ॥ ३० ॥ इसप्रकार भीमसेन से जरासन्ध को मरवाकर उसके सहदेव पुत्रसे पूजन करेहुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी भीमसेन और अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ को चलदिये॥ ३१॥ तदनन्तर शत्रुओं को जीतेहुए वह भीमसेन अर्जुन और श्रीकृष्णजी, इन्द्रप्रस्थ में पहुँचे और तहां जाकर उन्होंने, अपने मित्रों को हर्षित करने के निमित्त और शत्रुओं को खिन्न करने के निमित्त अपना २ शंख बजाया ॥ ३२ ॥ तब वह शंखों का शब्द सुनकर प्रसन्नचित्तहुए इन्द्रप्रस्थ में के रहनेवाले पुरुषों ने, जरासन्ध मरण को प्राप्त होगया ऐसा समझा और धर्मराज भी पूर्णमनोरथ हुए । ३३ ॥ तदनन्तर उन भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्णजी ने, धर्मराज को वन्दना करके अपने करेहुए सब कार्य उन को सुनाये ॥ ३४ ॥ तब श्रीकृष्णजी ने कृपा करके वह जरासन्ध को मारन रूप कार्य सिद्धकरा ऐसा सुनकर धर्मराज, नेत्रों में से आनन्दाश्रुओं के बिन्दु बहातेहुए प्रेम से गद्गद होकर कुछ समयपर्यन्त कुछ भी कहने को समर्थ नहीं हुए मौन बैठे रहे॥ ३५॥इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में त्रिसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे चौहत्तरवें अध्याय में धर्मराज ने जो ब्राह्मणों से राजसूययज्ञ कराया तिस का और आगे पूजा होने के प्रसङ्ग में हुए शिशुपाल के वध का वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! इसप्रकार धर्मराज, जरासन्ध का वध और प्रभुश्रीकृष्णजी का वह प्रभाव सुनकर सन्तुष्टचित्त होतेहुए श्रीकृष्णजी से कहनेलगे ॥ १ ॥ युधिष्ठिर ने कहा कि–जो त्रिलोकी को सन्मार्ग का उपदेश करनेवाले ब्रह्मादिक हैं और जो सब लोकों के पालक इन्द्रादिक हैं वह सब, जिन तुम्हारे आज्ञा के वचन को, दुर्लभ और अपने

वाँनुशासनम् ॥ २ ॥ स भवाँनरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ॥ धत्ते-
ऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥ नह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः
परमात्मनः ॥ कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥ ४ ॥ न वै ते-
ऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ॥ त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव
वैकृता ॥ ५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋ-
त्विजः कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥ द्वैपायनो भर-
द्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः वशिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७ ॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ॥ पैलः पराशरो गर्गो वैशंपायन
एव च ॥ ८ ॥ अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ॥ वीति-
होत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९ ॥ उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्म-
कृपादयः ॥ धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥ १० ॥ ब्राह्मणाः क्षत्रिया
वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ॥ तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥ ११ ॥

अहोभाग्य से ही मिलाहुआ मानकर बडे सन्मान के साथ पालन करते हैं ॥ २ ॥ हे व्यापक! ऐसे कमलनयन तुम, स्वयं दीन होकर राजा होने का व्यर्थ अभिमान करनेवाले जो हम, तिन के आज्ञा के वचन को धारण करते हो सो केवल मनुष्यचेष्टा का अनुकरण है वास्तव में आप के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ अथवा जैसे सूर्य का तेज, उदय से, अस्त से वा ऊँचनीच सम्बन्धों से बढता घटता नहीं है तैसे ही एक, अद्वितीय, ब्रह्म, परमात्मा जो तुम तिन तुम्हारा तेज, दूसरों को आज्ञा करने से वा दूसरों की आज्ञा का पालन करने से बढता घटता नहीं है अर्थात् आप की कृपा से ही यह सब बातें होती हैं ॥ ४ ॥ हे अजित माधव! तुम्हारे भक्तों को भी देह और पुत्रादिकों के ऊपर 'मैं और मेरा इसप्रकार की' तथा औरों के ऊपर 'तू और तेरा इसप्रकार की' पशुओं की समान शरीरों के विषय में भेदबुद्धि नहीं होती है फिर तुम्हें कहाँ से होयगी ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन्! इसप्रकार कहकर, जिन को श्रीकृष्णजी ने यज्ञ करने के विषय में सम्मति दी है ऐसे उन धर्मराज् ने, यज्ञ के योग्य समय में, ब्रह्मज्ञानी योग्य ब्राह्मणों को होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विज वरा ॥ ६ ॥ उन के नाम-वेदव्यास, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित ॥ ७ ॥ विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन ॥ ८ ॥ अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन और अकृतव्रण यह थे ॥ ९ ॥ हे राजन्! तैसे ही भीष्म, द्रोण, कृपादिक राजे, पुत्रों सहित धृतराष्ट्र, परमबुद्धिमान् विदुर और दूसरे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बुलाये गये थे; वह सब राजे और उन के मंत्री आदि सब लोक यज्ञ देखने को उत्सुक होकर तहां

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलांगलैः ॥ कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयांच-
क्रिरे नृपम् ॥ १२ ॥ हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ॥ इन्द्रादयो
लोकपाला विरिंचिभवसंयुताः ॥ १३ ॥ सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहो-
रगाः ॥ मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ॥ १४ ॥ राजानश्च समाहूता
राजपत्न्यश्च सर्वशः ॥ राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पांडुसुतस्य वै ॥ मेनिरे
कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ॥ १५ ॥ अयाजयन्महाराजं याजका देववर्च-
सः ॥ राजसूयेन विधिवत्प्राचेतसमिवामराः ॥ १६ ॥ सौत्येहन्यवनीपालो
याजकान्सदसस्पतीन् ॥ अपूजयन्महाभागान् यथावत्सुसमाहितः ॥१७॥ स-
दस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ॥ नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात्सहदेवस्त-
दाब्रवीत् ॥ १८ ॥ अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान्सात्वतां पतिः ॥ एष वै
देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥ १९ ॥ यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च य-
दात्मकाः ॥ अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ॥ २० ॥ एक ए-
वाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ॥ आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति

आये थे ॥ १० ॥ ११ ॥ तदनन्तर उन ब्राह्मणों ने, यज्ञभूमि को सुवर्ण के हलों से खोदकर, शुद्ध करके तहाँ विधिपूर्वक धर्मराज को यज्ञ की दीक्षा धारण करवाई ॥ १२ ॥ जैसे पहिले वरुण के राजसूययज्ञ में, सुवर्ण के पात्र आदि थे तैसे ही सब उपकरण (सामान) इस यज्ञमें भी थे ब्रह्मा-रुद्रसहित इन्द्रादि लोकपाल,गणोंसहित सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, बड़े २ नाग, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी, किन्नर,चारण, राजे और रजरानियें यह सब, राजा के बुलवाने से सब स्थानों से,पाण्डुपुत्र धर्मराजके राजसूय यज्ञ में आये और उन्हों ने कृष्णभक्त उन धर्मराज का वह राजसूय यज्ञ विस्मय न मानकर सब प्रकार से ठीक माना ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ उससमय देवताओं की समान तेजस्वी ऋत्विजों ने, जैसे पहिले देवताओं ने वरुण से यजन करवाया था तैसे राजसूय यज्ञ की विधि के अनुसार उन धर्मराज से यजन करवाया ॥ १६ ॥ तदनन्तर एकाग्रचित्त तिन राजा ने सोमवल्ली से रस निकालने के दिन महाभाग ऋत्विजों का और सभापति का विधिपूर्वक पूजन करने का प्रारम्भ करा ॥ १७ ॥ उससमय, सभासदों में पहिले पूजा करनेयोग्य कौन है ? इस का विचार करनेवाले सभासदों से,बहुतसे योग्यपुरुषों के होने के कारण जब एक का निश्चय करने में नहीं आया तब सहदेव ने कहा कि—॥ १८ ॥ हे सभासदो ! यादवों के पति भगवान् श्रीकृष्ण ही, सर्वदेवतारूप और देशकालधनादिरूप हैं ॥ १९ ॥ और सब यज्ञ तथा यह सब जगत् जिन का स्वरूप है, अग्नि, आहुति, मंत्र, ज्ञान और उपासना यह जिन की प्राप्ति के साधन हैं ॥ २० ॥ वह यह सृष्टि के पहिले सजातीय आदि भेदरहित एक ही थे, तदनन्तर उत्पन्न हुआ यह जगत् इन का ही स्वरूप है; क्यों

हन्त्यजः ॥ २१ ॥ विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ॥ ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २२ ॥ तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ॥ एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥ २३ ॥ सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ॥ देयं शांताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता॥२४॥ इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ॥ तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥ २५ ॥ श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदां ॥ समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥ २६ ॥ तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ॥ सभार्यः सानुजामात्यः सकुटुंबोवहन्मुदा॥२७॥वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः॥ अर्हयित्वाऽश्रुपूर्णाक्षो नाशकत्समवेक्षितुम्॥२८॥ इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्रांजलयो जनाः ॥ नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ २९ ॥ इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्ण-

कि—हे सभासदो ! यह दूसरे की अपेक्षा न करके स्वयं जन्मरहित होकर भी अपने ही द्वारा इस जगत् को उत्पन्न करते हैं, पालन करते हैं और संहार करते हैं ॥ २१ ॥ और, क्योंकि यह सब ही लोक जिन के अनुग्रह से तप योग आदि नानाप्रकार के सत्कर्म करके धर्म आदि पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं ॥ २२ ॥ तिस से इन महात्मा श्रीकृष्णजी की पूजा पहिले करना चाहिये; ऐसा करनेपर मानो सकल जीवों की और आत्मा की भी पूजा करी हुई होजायगी ॥ २३ ॥ इस से दियेहुए का अनन्तफल मिले ऐसी इच्छा करनेवाला पुरुष, सब जीवों के अन्तर्यामी, भेदभावरहित, शान्त और पूर्णरूप श्रीकृष्णजीका ही पहिले पूजन करे ॥ २४ ॥ ऐसा कहकर श्रीकृष्णजी के प्रभाव को जाननेवाले वह सहदेव, मौन हो वैठे; इस को सुनकर सब ही श्रेष्ठ ब्राह्मण 'बहुत ठीक कहा, बहुत ठीक कहा' इसप्रकार उन की प्रशंसा करनेलगे ॥ २५ ॥ ब्राह्मणों का वचन सुनकर और सभासदों का अभिप्राय जानकर सन्तुष्ट और प्रेम से विह्वल हुए तिन धर्मराज ने, श्रीकृष्णजी की पहिले पूजा करी ॥ २६ ॥ उन के चरणों को धोकर लोकों को पवित्र करनेवाला वह जल, स्त्री—बन्धु—मंत्री और कुटुम्बसहित प्रेम के साथ मस्तक पर धारण करा ॥ २७ ॥ पीले रेशमी वस्त्रों से और बहुत मूल्य के भूषणों से श्रीकृष्णजी की पूजा करके, आनन्द के अश्रुओं से नेत्र भरजाने के कारण वह अच्छी प्रकार देखने को भी समर्थ नहीं हुए ॥ २८ ॥ इसप्रकार पूजा करेहुए भगवान् को देखकर सब लोकों ने हाथ जोड़कर 'नमो जय' ऐसा कहते हुए तिन श्रीकृष्णजी को वन्दना करी उससमय; श्रीकृष्णजी के ऊपर आकाश में से पुष्पों की वर्षा गिरीं ॥ २९ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी के गुणों का वर्णन सुनकर दमघोष का पुत्र शिशुपाल, अपने आसन

नजातमन्युः ॥ उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषा-
ण्यभीतः ॥ ३० ॥ ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ॥ वृद्धानामपि
यद् बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥ ३१ ॥ यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्यध्वं बा-
लभाषितम् ॥ सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्संमतोऽर्हणे ॥ ३२ ॥ तपोविद्या-
व्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ॥ परमर्षीन्ब्रह्मनिष्ठांल्लोकपालैश्च पूजितान् ॥
॥ ३३ ॥ सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ॥ यथा काकः पुरोडाशं
सपर्यां कथमर्हति ॥ ३४ ॥ वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ स्वैरवर्ती
गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥ ३५ ॥ ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहि-
ष्कृतम् ॥ वृथा पानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ॥ ३६ ॥ ब्रह्मर्षिसेविता-

पर से उठकर, भगवान् के गुणों का वर्णन सहन न होने के कारण क्रोधित हो, सभा में अपना हाथ ऊपर को उठाकर भगवान् को कठोर वचन सुनाताहुआ इसप्रकार कहनेलगा कि—॥ ३० ॥ यह समय सब कुछ करने को समर्थ है और उस को उल्लंघन करने को कोई समर्थ नहीं है, ऐसा काल का माहात्म्य कहनेवाली जो श्रुति है वह यथार्थ है, क्योंकि—काल के प्रभाव से ही ज्ञान और अवस्था में वृद्ध पुरुषों की बुद्धि भी बालक के वाक्यों से भ्रम में पडजाती है॥३१॥ हे सभापतियो ! तुम सब ही पूजा के पात्र (योग्य) को जान-नेवालों में में श्रेष्ठ हो, इसकारण पूजा के विषय में श्रीकृष्ण संमत (सबप्रकार योग्य) है ऐसा जो बालक (सहदेव) का कहना है उस को ठीक न मानो ॥ ३२ ॥ क्योंकि—तप, विद्या और व्रत धारण करनेवाले, ज्ञान के प्रताप से पापरहितहुए, ब्रह्मज्ञानी और लोकपालों करके पूजन करनेयोग्य बडे २ सभापति ऋषियों का अनादर करके, गोपाल× और क्षत्रियकुल में दूषणरूप, यह कृष्ण पूजा के विषय में कैसे योग्य होसक्ता है ? किन्तु जैसे कौआ देवताओं के पुरोडाश के योग्य नहीं होसक्ता है तैसे ही योग्य नहीं है॥३३॥ ॥३४॥ वर्ण ·।· आश्रम और कुल से भ्रष्ट, सकलधर्मों से निकालाहुआ, यथेष्ट आचरण करने वाला और गुणहीन यह कृष्ण पूजा के योग्य कैसे होसक्ता है ? ॥ ३५ ॥ ययाति + राजा ने इस के कुल को शाप दिया है इसकारण वह कुल सत्पुरुषों में से बाहर कराहुआ है और

× इस का ही वास्तविक अर्थ—गो कहिये वेदादि वाणी का पाल कहिये रक्षा करनेवाला और कुलपांसन कहिये कुलप जो पाखण्डी तिन का अंस न कहिये नाश करनेवाला, इत्यादि समझना ।

·।· यह कृष्ण ब्रह्मरूप होने के कारण वर्ण आश्रम और कुलों से रहित, अनधिकारी होने के कारण सर्व-धर्मबहिष्कृत, स्वच्छन्द होने के कारण यथेच्छाचारी और तम आदि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण हैं इसकारण ही केवल जीवों के योग्य जो पूजा तिस के योग्य कैसे होसक्ते हैं ? ।

+ इन के कुल को ययाति राजा ने शाप दिया इसकारण वह साधुओं से बहिष्कृत करेहुए हैं क्या ? नहीं, किन्तु शिर से वन्दना करनेयोग्य है, और अस्मदादि के कुलों की समान वह व्यर्थ मद्यपान करने वाले हैं क्या ? नहीं, किन्तु सदाचारसम्पन्न हैं ।

न्देशान् हित्वैते ब्रह्मवर्चसम् ॥ समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥
॥ ३७ ॥ एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ॥ नोवाच किंचिद्भगवा-
न् यथा सिंहः शिवारुतम् ॥ ३८ ॥ भगवन्निंदनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ॥
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥ ३९ ॥ निंदां भगवतः शृण्वंस्त-
त्परस्य जनस्य वा ॥ ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः
॥ ४० ॥ ततः पांडुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृंजयाः ॥ उदायुधाः समुत्तस्थुः
शिशुपालजिघांसवः ॥ ४१ ॥ ततश्चैद्यस्त्वसंभ्रांतो जगृहे खड्गचर्मणी ॥ भ-
र्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत ॥ ४२ ॥ तावदुत्थाय भगवान्स्वा-
न्निवार्य स्वयं रुषा ॥ शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥ ४३ ॥ शब्दः

निरन्तर वह कुलव्यर्थ मद्यपान करने में तत्पर है, वह पूजा के योग्य कैसे होसक्ता है ? ॥ ३६ ॥ यह चोर * यादव ब्रह्मर्षियों के सेवन करेहुए मथुरादिदेशों का त्याग करके, वेदपाठ के तेज से रहित और दुर्गम समुद्र का (उस में की द्वारका नगरी का) आश्रय करके प्रजाओं को पीडा देते हैं ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! इत्यादि दूसरे बहुत से अमङ्गल वचन, क्षीणपुण्यहुआ वह शिशुपाल कहनेलगा तब, गीदड के अमंगल रुदन को सुनकर भी जैसे सिंह कुछ नहीं बोलता है तैसे भगवान् श्रीकृष्णजी ने कुछ भी नहीं कहा ॥ ३८ ॥ तब भगवान् की वह दुःसह निन्दा सुनकर सभासद् पुरुष, क्रोध से शिशुपाल को 'हा दुष्ट दुरात्मा मर क्यों न जाय ? ऐसा शाप देतेहुए' अपना २ कान बन्दकरके उस सभा में से उठकर चलेगये ॥ ३९ ॥ क्योंकि-भगवान् की वा भगवान् के भक्तों की निन्दा सुनकर जो मनुष्य, तहाँ से नहीं उठजाता है वह पुण्य से रहित होकर नरक में जाकर पडता है ॥ ४० ॥ सभासदों के उठजाने पर पाण्डव, मत्स्य, कैकेय, और सृंजय यह राजे, क्रोधित हो हाथ में शस्त्र लेकर शिशुपाल को मारने की इच्छा करतेहुए उठकर खडेहुए ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर, वह निर्भय शिशुपाल भी कृष्ण की ओर के तिन धर्मराज आदिकों को ललकारता हुआ, उन को मारने के निमित्त हाथ में ढाल-तलवार लेकर खडाहुआ ॥ ४२ ॥ इतने ही में भगवान् ने विचार करा कि—यह मेरा पार्षद मेरी समान बलवान् है, यदि इस को मैं नहीं मारूँगा तो यह इन सबों को मारडालेगा, ऐसा विचारकर आप ही आसन पर से उठकर अपने उन पाण्डवादिकों को निषेध करके क्रोध से, छुरे की समान धारवाले चक्र से, अपने ही शरीर पर को झपटकर आनेवाले तिस शत्रु का मस्तक

* यह यादव, ब्रह्मर्षियों करके सेवन करेहुए मथुरा आदि देशों का आश्रय करके वेदविरुद्ध और कठिन से जानने योग्य पाखण्ड के चिन्ह धारण करनेवाले लोकों को, उन से वह चिन्ह छुटवाकर दण्ड देते हैं और चोरी करनेवाले प्रजारूप पुरुषों को दण्ड देते हैं, फिर यादवों से दूसरा कौन धर्मात्मा है ? कोई भी नहीं है ।

कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान् । तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥ ४४ ॥ चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ॥ पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥ ४५ ॥ जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ॥ ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणं ॥ ४६ ॥ ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ॥ सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥ ४७ ॥ साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥ उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ॥ ४८ ॥ ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ॥ ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥ ४९ ॥ वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ॥ वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ॥५०॥ राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ॥ ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुररा-

---

काटलिया ॥४३॥ इसप्रकार शिशुपाल को मारने पर, तहाँ बडा कलकलाहट का शब्द होनेलगा और उस के पक्षपाती राजे भी अपने प्राणों को बचाने की इच्छा करके जिधर तिधर को भागगये ॥ ४४ ॥ उस समय शिशुपाल के देह में से निकलाहुआ जो जीवरूपी तेज सो, सब लोकों के देखतेहुए, जैसे आकाश में से नीचे गिराहुआ उल्का रूप तेज, भूमि में घुसजाता है तैसे श्रीकृष्णजी के देह में प्रविष्ट होगया अर्थात् उन की सायुज्यता को प्राप्त हुआ ॥ ४५ ॥ अब, ऐसे निन्दक का वासुदेव भगवान् के विषैं कैसे प्रवेश हुआ? ऐसा कोई कहे तो हिरण्यकशिपु, रावण और शिशुपाल इन तीन जन्मों में बढेहुए द्वेष से घबडाई हुई बुद्धि के द्वारा भगवान् का ध्यान करनेवाला वह शिशुपाल, तन्मयता को प्राप्त हुआ अर्थात् फिर वैकुण्ठ में भगवान् का पार्षद होकर रहा; इसप्रकार निरन्तर चिन्तवन होना ही ध्येयरूप (भगवद्रूप) का आकार होने में कारण हुआ था ॥ ४६ ॥ तदनन्तर चक्रवर्त्ती राजा तिन युधिष्ठिर ने, सभासदोंसहित ऋत्विजों को बहुत दक्षिणा दी और पूजा करने के योग्य दूसरे सबों का भी पूजन करके विधिपूर्वक यज्ञ के अन्त का स्नान करा ॥ ४७ ॥ इसप्रकार धर्मराज का राजसूययज्ञ सिद्ध करके, कुन्ती और पाण्डवों ने जिन से रहने की प्रार्थना करी है ऐसे वह योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णजी, कितने ही महीने पर्यन्त तहाँ रहे थे ॥ ४८ ॥ फिर, अपने जाने की इच्छा न करनेवाले भी धर्मराज से बूझकर वह देवकी-पुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी, स्त्रियोंसहित और मंत्रियोंसहित अपनी द्वारका को चलेगये ॥ ४९ ॥ हे राजन्! वैकुण्ठवासी जयविजयों का सनकादिकों के शाप से बारम्बार जो जन्म आदि हुआ उस के विषय का यह कथानक मैं ने तुम से बहुत विस्तार के साथ कहा है ॥५०॥ राजसूययज्ञ का अवभृथ स्नान करेहुए वह धर्मराज, ब्राह्मणों से और क्षत्रियों से युक्त

दिव ॥ ५१ ॥ राज्ञा संभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ॥ कृष्णं क्रतुं च शंसंतः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥ ५२ ॥ दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ॥ यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पांडुसुतस्य तां ॥ ५३ ॥ य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ॥ राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम् ॥ सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः ॥ १ ॥ दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः ॥ इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ॥ २ ॥ ऋषिरुवाच ॥ पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ॥ बांधवाः परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥ भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ॥ सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ४ ॥ गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः

सभा में इन्द्र की समान शोभायमान होनेलगे ॥ ५१ ॥ धर्मराज के पूजन करेहुए सब ही देवता, मनुष्य और प्रमथ आदि गण, श्रीकृष्णजी की और यज्ञ की प्रशंसा करतेहुए अपने अपने स्थान को चलेगये ॥ ५२ ॥ उस समय जिस ने सब को आनन्द देनेवाली और बढीहुई वह युधिष्ठिर की सम्पत्ति देखकर सहन नहीं करी, तिस एक कलियुग के अंशरूप, पापाचारी और कुरुकुलनाशक दुर्योधन के सिवाय सबों को वह यज्ञ देखकर आनन्दहुआ ॥५३॥ जो पुरुष, इस शिशुपालवध आदि विष्णुभगवान् के कर्म, जरासन्ध ने बन्धन में डालकर रक्खेहुए राजाओं के मोक्ष और यज्ञ के बड़ेभारी उत्साह का कीर्त्तन, श्रवण और स्मरण करेगा वह सब पापों से छूटजायगा ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में चतुःसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ * ॥ अब आगे इस पिछत्तरवें अध्याय में राजसूय यज्ञ के अवभृथ स्नान का उत्सव और दृष्टि में भ्रम होनेपर भी, सह्य नहोने के कारण दुर्योधन का मानभङ्ग वर्णन करा है ॥ * ॥ एक दुर्योधन को ही दुःख होने का कारण बूझने के निमित्त राजा ने कहाकि–हे ब्रह्मन् ! शुकदेवजी ! एक दुर्योधन को छोडकर, जो तहाँ श्रेष्ठ मनुष्य, राजे और देवता आये थे वह सब ही धर्मराज का राजसूय महोत्सव देखकर आनन्द को प्राप्त हुए; ऐसा मैंने तुम से सुना सो उन में एक दुर्योधन की ही अप्रसन्नता होने का कारण क्या है सो कहिये ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! तुम्हारे दादा जो महात्मा युधिष्ठिर उन के राजसूय यज्ञ में प्रेम से बँधेहुए उन के सब ही बाँधव, यज्ञ के नानाप्रकार के कार्य करतेथे ॥ ३ ॥ भीमसेन पाकशाला (रसोघर) का अध्यक्ष था, सुयोधन (दुर्योधन) धनका अध्यक्ष (खजानची) था, सहदेव तिस उत्सव में आनेवालों का पूजा सत्कार करने

कृष्णः पादावनजने ॥ परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥ युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ॥ बाल्हीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥ निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ॥ प्रवर्त्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ७ ॥ ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ॥ चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८ ॥ मृदंगशंखपणवधुंधुर्यानकगोमुखाः ॥ वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे॥९॥नर्त्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ॥वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत्॥१०॥ चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यंदनार्वभिः ॥ स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः॥ ११॥ यदुसृंजयकाम्बोजकुरुकैकयकोसलाः ॥ कम्पयंतो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसरा ॥१२ ॥ सदस्यर्त्विक्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा॥ देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः॥१३॥ स्वलंकृता नरा

वाला था, नकुल अनेकों प्रकार की वस्तुओं को इकट्ठा करनेवाला था ॥ ४ ॥ पूजनीय लोकों की चन्दन के लेपन आदि से शुश्रुषा करने में अर्जुन था, श्रीकृष्णजी चरण धुलाने के कामपर थे; भक्ष्यभोज्य आदि पदार्थों के परोसने पर द्रोपदी थी, अति उदारचित्त कर्ण दानाध्यक्ष था ॥ ५ ॥ तैसेही हे राजेन्द्र! सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर आदि, बाल्हीक राजा के पुत्र भूरिआदि तथा सन्तर्दन आदि बान्धव वह सब ही उस महायज्ञ में अनेक कार्यों के करने में नियुक्त करे थे, सो वह धर्मराज का प्रिय करने की इच्छा से पूर्वोक्त अपने २ कार्य को करते थे ॥ ६ ॥ ७ ॥ ऋत्विज्,सभासद्,बड़े२ ज्ञानी और मित्र आदिकों का मधुरभाषण, भूषण और दक्षिणा आदि से सत्कार होनेपर, तथा शिशुपाल के भी भक्तपालक श्रीकृष्णजी के चरण में प्रवेश करने पर सबोंने भागीरथी में अवभृथ स्नान करा ॥ ८ ॥ उस अवभृथ (यज्ञ के अन्त के) स्नान के उत्सव में मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, नौबत, नगाड़े, नफीरी आदि नानाप्रकार के चित्र विचित्र बाजे बजनेलगे ॥ ९ ॥ उस समय हर्ष को प्राप्तहुई वारांगना नृत्य करनेलगीं, गवैयों के समूह गानेलगे; उससमय उन वीणा, मुरली और घंटों के बड़ेभारी शब्द से आकाश गूँजउठा ॥ १० ॥ उससमय, सुवर्ण के पुष्पों की माला धारण करनेवाले राजे, जिनकी ध्वजाओं के और पताकाओं के अग्रभाग चित्रविचित्र रंगों के हैं ऐसे अपने हाथी, रथ, घोड़े और उत्तम आभूषण धारण करेहुए सिपाही ऐसी चतुरंगिणी सेनाओं से घिरकर नगर के बाहर निकले ॥ ११ ॥ तथा, यदु, सृंजय, काम्बोज, कुरु, केकय और कोसलवंशो के क्षत्रिय, यह सब धर्मराज को आगे करके सेनाओं से पृथ्वी को डगमगातेहुए चले ॥ १२ ॥ तैसे सदस्य, ऋत्विज् तथा दूसरे भी श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़ाभारी वेदघोष करतेहुए चले, उससमय देवता ऋषि, पि-

नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ॥ विलिम्पत्योऽभिषिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥ १४ ॥ तैल गोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ॥ पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥ १५ ॥ गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ॥ ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥ १६ ॥ ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ॥ औत्सुक्यमुक्तकवराच्च्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥ १७ ॥ स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ॥ व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥ १८ ॥ पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ॥ आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥ १९ ॥ देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ॥

तर और गन्धर्व पुष्पों की वर्षा करतेहुए स्तुति करनेलगे ॥ १३ ॥ नगर में के पुरुष और स्त्रियें, चन्दन का लेपन, पुष्पों की माला, भूषण और वस्त्रों से उत्तम सजधजकर अनेकों प्रकार के रंगरसों से परस्पर लेपन करतेहुए और भिगोते हुए, क्रीड़ा करनेलगे ॥ १४ ॥ उससमय, तेल, गोरस, सुगन्धित जल, हलदी और गाढ़े केशर आदि से पुरुषों के द्वारा लेपन करीहुई वारांगना, पलटे में उन पुरुषों का लेपन करतीहुई क्रीडा करनेलगीं ॥ १५ ॥ उससमय तिस उत्साह को देखने के निमित्त, जैसे देवांगना उत्तम विमानों में बैठकर आई थीं तैसेही देवताओं की स्त्रियें भी, योधाओं से उत्तम रक्षाकरी हुई अवभृथ स्नान करनेको रथ आदि में बैठकर नगर से बाहर भागीरथी के तीरपर आई; वह युधिष्ठिर आदिके ममेरे भाई और उनकी स्त्रियोंसे जल और गोरसादि करके भिगोई हुई, लज्जायुक्त हास्य से प्रफुल्लित मुख होकर शोभा पानेलगीं ॥ १६ ॥ वह राजरानियें, जब जल उछालने के चमड़े के यंत्रों से (फुवारोंसे) और पिचकारियोंसे अपने देवरों के और उनकी स्त्रियोंके ऊपरको जल उड़ानेलगीं तब उन के सूक्ष्म वस्त्र, अत्यन्त भीगगये थे, इसकारण उनके शरीर, कुच, जंघा और पेट प्रकट दीखते थे और उन की तिस जलक्रीडा की परमउत्कण्ठा से बन्धन खुलेहुए केशोंके जूड़ों में से फूल गिरते थे; इसप्रकार के सुन्दर विहारों से वह राजरानियें, कामीजनों के कामवासना-युक्त मन को चलायमान करनेलगीं ॥ १७ ॥ उससमय वह सार्वभौम राजा युधिष्ठिर, सुवर्ण के पुष्पों की मालाओं से युक्त और उत्तम घोड़े जुतेहुए अपने रथों पर स्त्रियों के साथ बैठे तब, वह प्रयाज अनुयाज आदि अङ्ग क्रियाओं सहित मूर्त्तिमान् प्रकट हुआ राजसूययज्ञ ही है क्या इसप्रकार शोभायमान होनेलगे ॥ १८ ॥ तिन ऋत्विजों ने, पत्नीसंयाज नामवाला याग, और अवभृथ के सम्बन्धी कर्म करके आचमन करेहुए द्रौपदी सहित तिन धर्मराज को गङ्गा में बड़े उत्साह के साथ स्नान करवाया ॥ १९ ॥ उस समय मनुष्यों की दुन्दुभियों के साथ देवताओं की भी दुन्दुभीएं बजनेलगीं और

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥ २० ॥ सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः ॥ महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥ अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः ॥ ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥ २२ ॥ बन्धुज्ञातिनृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ॥ अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥ २३ ॥ सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुंडलस्रगुष्णीषकंचुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ॥ नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृंदजुष्टवक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥ २४ ॥ अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ॥ ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः ॥ २५ ॥ देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ॥ पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥ २६ ॥ हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ॥ नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ॥ २७ ॥ ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबंधिबांधवान् ॥ प्रेम्णा निवारयामास कृष्णं च

देवता, ऋषि, पितर तथा मनुष्य, तिन युधिष्ठिर के ऊपर पुष्पों की वर्षा करनेलगे ॥ २० ॥ इसप्रकार यजमान का स्नान होने पर ब्राह्मणादि चारों वर्णों के और ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमों के सब पुरुषों ने तिस गङ्गा में स्नान करा; क्योंकि—यह अवभृथ स्नान होने पर, ब्रह्महत्यादि महापातक करनेवाला भी पुरुष तिन पापों से तत्काल छूटजाता है ॥ २१ ॥ तदनन्तर उन धर्मराज ने, नवीन रेशमी वस्त्र पहिनकर और भी अलङ्कार धारण करे और भूषण वस्त्र आदि देकर ऋत्विज्, सभासद तथा ब्राह्मणों का सत्कार करा ॥ २२ ॥ वह युधिष्ठिर नारायण में तत्पर थे इसकारण उन सर्वात्मा नारायण की प्रीति के अर्थ उन्होंने, बन्धु, जाति, राजे, मित्र और सुहृदों का तैसे ही और भी सब लोकों का वारम्वार सत्कार करा ॥ २३ ॥ उस समय, सब पुरुष, मणि जड़े कुण्डल, माला, पगड़ी, अंगरखे, दुपट्टे और बहुत मूल्य के हार धारण करके देवताओं की समान दमकउठे, तैसे ही सब स्त्रियें भी, दोनों कानों में के कुण्डलों से और अलकों के समूह से मुख पर तेजयुक्त होतीहुई, कमर में धारण करीहुई सुवर्ण की मेखला से शोभायमान होनेलगीं ॥ २४ ॥ हे राजन्! तदनन्तर सुशील ऋत्विज्, ब्रह्मज्ञानी सभासद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और तहाँ जो राजे आये थे वह ॥ २५ ॥ तैसे ही देवता, ऋषि, पितर, भूत और अनुचरोंसहित लोकपाल यह सब, दानमान के द्वारा धर्मराज से सत्कार को प्राप्त होतेहुए अपने २ स्थान को चलेगये ॥ २६ ॥ हरिभक्त राजर्षि युधिष्ठिर के तिस राजसूय के बड़ेभारी उत्साह की प्रशंसा करनेवाले पुरुष, जैसे अमृत को पीनेवाला मनुष्य तृप्त नहीं होता है तैसे तृप्त नहीं हुए ॥ २७ ॥ उससमय वियोग को न सहनेवाले धर्मराज ने, अपने मित्र, सम्बन्धी, बान्धव और श्रीकृष्णजी को

त्यागेकातरः ॥ २८ ॥ भगवानपि तत्रांग न्यवात्सीत्तत्प्रियंकरः ॥ प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीं ॥ २९ ॥ इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ॥ सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥ ३० ॥ एकदाऽन्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियं ॥ अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥ ३१ ॥ यस्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीर्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ॥ ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ ३२ ॥ यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ॥ मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुंतलाढ्यम् ॥ ३३ ॥ सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोधिराट् ॥ वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥ ३४ ॥ आसीनः कांचने साक्षादासने मघवानिव ॥ पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वंदिभिः ॥ ३५ ॥ तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभि-

प्रेम के कारण टिकालिया ॥ २८ ॥ हे राजन्! उन धर्मराज का प्रिय करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी, साम्ब आदि यादव वीरों को द्वारका को भेजदिया, आप तहाँ ही रहे॥२९॥ इसप्रकार धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, औरों को दुस्तर ऐसे भी राजसूय यज्ञ की समाप्ति की इच्छारूप महासमुद्र का श्रीकृष्ण रूप मल्लाह के आश्रय से तरकर निश्चिन्त हुए॥ ३० ॥ एकसमय, भगवद्भक्त उन राजा युधिष्ठिर के रणवास में सम्पदा तथा राजसूय यज्ञ का गौरव देखकर अपने को वह प्राप्त न होने के कारण दुर्योधन मन में सन्तापयुक्त हुआ ॥ ३१ ॥ क्योंकि—हे राजन्! धर्मराज के जिस रणवास में मयासुर की रचीहुई नरपति दैत्यपति और देवपतियों की अनेकों प्रकार की सम्पदा शोभायमान थीं उन के साथ द्रौपदी अपने युधिष्ठिर आदि पतियों की सेवा कररही थी उस सम्पत्तियुक्त द्रौपदी के ऊपर आसक्तचित्त हुआ वह दुर्योधन अपने मन में सन्ताप पाता था ॥ ३२ ॥ और जिस रणवास में उससमय (दुर्योधन का हास्य करते समय) नितम्ब के भार से धीरेधीरे चलने के कारण भूषणों के द्वारा शब्द करतेहुए चरणों से शोभायमान कुचों के केशर से लाल २ हार को धारण करनेवाली, हलतेहुए कुण्डलों से, और केशपाश से, शोभायमान मुखवाली और दुर्बल कमरवाली श्रीकृष्णजी की सहस्रों स्त्रियें शोभायमान थीं ॥ ३३ ॥ उस रणवास में मयासुर की रचना करीहुई सभा के विषैं एकसमय अपने छोटे भ्राताओं सहित और हित अहित जतानेवाले श्रीकृष्णजी के साथ वह सार्वभौम धर्मराज सुवर्ण के सिंहासनपर साक्षात् इन्द्र की समान विराजमान होकर छत्रचामरादि शोभा से सेवा किये जारहे थे तब, वन्दिजनों ने उनकी स्तुति करना आरम्भ करी ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

नृप ॥ किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा ॥ ३६ ॥ स्थलेऽभ्यगृह्णा-द्वस्त्रांतं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ॥ जले च स्थलवद्भ्रांत्या मयमायाविमोहितः ॥ ॥ ३७ ॥ जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ॥ निवार्यमाणा अप्यंग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥ ३८ ॥ स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ॥ हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतामजातशत्रुर्वि-मना इवाभवत् ॥ बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥ ।३९।एतत्तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया॥सुयोधनस्य दौरात्म्यं राज-सूये महाक्रतौ॥४०॥इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे दुर्योधनमा-नभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥७५॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथान्य-दपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ॥ क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥

हे राजन्! तिस समय उस सभा में, अभिमानी दुर्योधन, अपने दुःशासन आदि भ्राताओं सहित, हाथ में तरवार, मस्तकपर किरीट और कंठ में माला धारण करके, क्रोध से द्वार-पालों को धमकी देताहुआ प्रविष्ट हुआ ॥३६॥ फिर उसने मयासुर की माया से मोहित होकर स्थल में 'यह जल है' ऐसा मानकर पहिरेहुए वस्त्र का जो भागनीचे को लटक रहाथा वह ऊपर को उठाकर पकडलिया; तैसेही वह, जल में 'यह थल है' ऐसे भ्रम से एकाएकी फिसलकर गिरपड़ा ॥ ३७ ॥ उस को देखकर भीमसेन हँसा तैसेही स्त्रियें और दूसरे राजे भी, धर्मराज के निषेध करने पर भी श्रीकृष्णजी की कटाक्ष से (इशारे से) अनुमति होने के कारण हँसनेलगे ॥ ३८ ॥ तब वह दुर्योधन, तिस हास्य से लज्जित हुआ और नीचे को मुख करके क्रोधाग्नि से भस्म होताहुआ अपने घर को जानेके विषय में राजा से आज्ञा विना लिये ही सभा में से उठकर हास्तिनापुर में के अपने घर को चला गया। उससमय सत्पुरुषों में आगे को होनेवाले अनर्थ का सूचक बड़ाभारी हाहाकार शब्द हुआ और धर्मराज भी खिन्नसे होगये, तैसेही जिन की दृष्टिमात्र से दुर्योधन, भ्रान्ति को प्राप्त हुआ, वह पृथ्वी का भार हरने की इच्छा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी भी मौनही रहे ॥ ३९ ॥ हे राजन्! तुमने जो मुझ से, इस राजसूय महायज्ञ में दुर्योधन की अप्रस न्नता का कारण बूझा था सो यह दुर्योधन का दुष्टचित्तपना मैंने तुम्हारे अर्थ वर्णन करा है ॥४०॥इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में पञ्चसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे छियत्तरवें अध्याय में, यादवों के और शाल्व के महासंग्राम में, शाल्व के द्युमान् नामवाले मन्त्री की गदा के प्रहारसे युद्धमें से प्रद्युम्न निकलकर चलेगये, यहकथा वर्णन करी है॥*॥श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! अब, क्रीडा करने के निमित्त मनुष्य का शरीर धारण करनेवाले श्रीकृष्णजी का दूसरा भी अद्भुतकर्म सुनो, कि–जिस प्रकार उन्होंने

॥ १ ॥ शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः ॥ यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासंधादयस्तथा ॥ २ ॥ शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजां ॥ अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥ इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ॥ आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥ ४ ॥ संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ॥ वरेण च्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥ ५ ॥ देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसां ॥ अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६ ॥ तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ॥ पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयं ॥ ७ ॥ स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ॥ ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥ ८ ॥ निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ॥ पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥ ९ ॥ सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः ॥ विहारान्स विमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्र-

शाल्व का वध करा ॥ १ ॥ शिशुपाल का मित्र शाल्व, रुक्मिणी के विवाह में आया था, तब यादवों के साथ जो युद्ध हुआ उस में वह शाल्व तथा जरासन्धादिक दूसरे भी राजों को यादवों ने जीत लिया था ॥ २ ॥ उस समय, सब राजाओं के सुनतेहुए शाल्व ने प्रतिज्ञा करी थी कि—हे राजाओं! मैं इस पृथ्वी को यदुकुलरहित करदूँगा, मेरा पराक्रम देखो ॥ ३ ॥ हे राजन्! वह मूढ शाल्व, इसप्रकार प्रतिज्ञा करके, प्रतिदिन एकबार मुट्ठीभर धूलि खाकर, प्रभु, देव शङ्कर भगवान् की आराधना करनेलगा ॥ ४ ॥ श्रीशङ्कर भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले हैं तथापि उन्होंने, श्रीकृष्ण का द्वेष करनेवाले शाल्व के पास मेरा वरदान व्यर्थ होगा ऐसा मानकर पहिले उस की उपेक्षाकरी फिर एक वर्ष के अनन्तर, शरण में आयेहुए तिस शाल्व से, तू वर मांगले ऐसा कहा ॥ ५ ॥ तब उस शाल्व ने, देवता, दैत्य, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प और राक्षस, यह जिस को न भेदसकें ऐसा अपनी इच्छा के अनुसार जानेवाला, और यादवों को भय देनेवाला एक विमान माँगलिया ॥ ६ ॥ तब तथास्तु ऐसा कहकर श्रीशङ्कर ने, शत्रुओं के नगर जीतनेवाले मयासुर को आज्ञाकरी और उस से केवल फौलाद का सौभ नामक विमान बनवाकर शाल्व को देदिया ॥ ७ ॥ तब वह शाल्व, अन्धकार के स्थान, जिस को शत्रु न लेसकें ऐसे और अपनी इच्छानुसार चलनेवाले विमान के मिलने पर, उस में बैठकर यादवों के करेहुए वैर का स्मरण करताहुआ, उन की द्वारका नगरी के ऊपर चढाई करने को चल दिया ॥ ८ ॥ हे राजन्! वह शाल्व अपनी बडीभारी सेना से द्वारका नगरी को चारों ओर से घेरकर, फलों के बाग और फूलों के बगीचे सब तोडनेलगा ॥ ९ ॥ तथा नगर के द्वार, घरों के द्वार, राजमंदिर, अटारियें और उन से भी ऊपर को उठीहुई भीतों को

वृष्टयः ॥ १० ॥ शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्करा ॥ प्रचण्डश्चक्रवातोभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥ ११ ॥ इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ॥ नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥ प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ॥ मा भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः ॥ १३ ॥ सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ॥ हार्दिक्यो भानुविंदश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १४ ॥ अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ॥ निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥ १५ ॥ ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ॥ यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १६ ॥ ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ॥ क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७ ॥ विव्याध पंचविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ॥ शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १८ ॥ शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ॥ दशभिर्दशभिर्नेतॄन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९ ॥ तदद्भुतं

तथा क्रीडा के स्थानों को तोडनेलगा और उस श्रेष्ठ सौभनामक विमान में से शस्त्रों की वर्षा भी पडनेलगी ॥ १० ॥ शिला, वृक्ष, वज्रपात, सर्प, जल की धारा और बालू की वर्षा होनेलगी; प्रचण्ड आँधी का पवन चलनेलगा, सब दिशा धूलि से ढकगई ॥ ११ ॥ हे राजन्! इसप्रकार सौभ विमान से अत्यन्त पीडित हुई वह श्रीकृष्णजी की द्वारका नगरी, जैसे त्रिपुरासुर की पीडित करीहुई पृथ्वी सुखहीन हुई थी तैसे ही सुख को न प्राप्त हुई ॥ १२ ॥ उस समय भगवान् प्रद्युम्न ने, अपनी सब प्रजा को पीडित हुई देखकर; सबों से कहा कि—डरो मत, और वह यशस्वी प्रद्युम्न रथ पर चढकर युद्ध के स्थान में गये ॥ १३ ॥ तैसे ही दूसरे भी बडे २ धनुषधारी रथों के समूहों के स्वामियों के स्वामी सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, छोटे भ्राताओंसहित अक्रूर, हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक और सारण, यह सब ही रथ हाथी, घोडे और पैदल रूप चतुरङ्गिणी सेना से रक्षित होतेहुए, कवच (बख्तर) पहिनकर युद्ध करने को बाहर निकले ॥ १४ ॥ १५ ॥ तदनन्तर शाल्व के पुरुषों का यादवोंके साथ, जैसे पहिले असुरोंका देवताओं के साथ युद्ध हुआ था तैसे भयङ्कर और सुनने तथा देखनेवाले पुरुषोंके शरीरपर रोमाञ्च खडे करनेवाला युद्धप्रारम्भ हुआ ॥ १६ ॥ तब प्रद्युम्न ने अपने दिव्य अस्त्रों से शाल्व की वह शस्त्रों की वर्षारूप माया एक क्षणमें, जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार का नाश करता है तैसे नष्ट करडाली ॥ १७ ॥ और शाल्व का जो सेनापति था उस को, सुवर्ण के पर और लोहे के अग्रभागवाले और जिन की गाँठे नीची हैं ऐसे पचीस बाणों से बेधडाला ॥ १८ ॥ फिर सौ बाणों से शाल्व को, एक २ बाण से उस के योधाओं को, दश २ बाणों से सारथियों को और तीन २

महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ॥ दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥
॥२०॥बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ॥ मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परै-
रभूत् ॥ २१ ॥ क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ॥ अलातच-
क्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥ २२ ॥ यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सह-
सैनिकः ॥ शाल्वस्ततस्ततोमुंचन् शरान सात्वतयूथपाः ॥ २३ ॥ शरैरग्न्य-
र्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ॥ पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः॥२४॥
शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ॥ न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वय-
जिगीषवः ॥२५॥ शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ॥ आसाद्य
गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥ २६ ॥ प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थल-
मरिंदमम् ॥ अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥ २७ ॥ लब्धसंज्ञो मुहू-

वाणों से उस के हाथ घोडे रथ आदिकों को ताडन करा ॥ १९ ॥ महात्मा प्रद्युम्न का वह बडा अद्भुत कर्म देखकर यादवों की और शाल्व की सेना में के सब वीरों ने उन प्रद्युम्न की प्रशंसा करी ॥ २० ॥ मयासुर का रचाहुआ वह मायामय सौभ विमान, कभी तो बहुतरूपों से, कभी एक रूप से दीखाता था और कभी दीखाता ही नहीं था ऐसा वह सौभ शत्रुओं को तर्कना करनेको भी अशक्य हुआ॥२१॥कभी तो पृथ्वीपर, कभी आकाश में, कभी पर्वत के शिखरपर, और कभी जल में फिरनेवाला वह सौभ विमान, जलीहुई लकडी के चक्र (बॅंटी) की समान एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता था॥२२॥ इसकारण उस विमान और सेना के पुरुषों के साथ वह शाल्व,जहाँ २ दीखता था तहाँ २ यादवों के प्रद्युम्न आदि सेनापति वाण छोडते थे ॥ २३ ॥ जिन का स्पर्श अग्नि की समान भस्म करनेवाला और सूर्य के प्रकाश की समान सर्वव्यापक है और जो सर्प की समान एक स्थान में स्पर्श होते ही मारडालनेवाले हैं ऐसे यादवों के छोडेहुए दुःसह वाणों से जिस का सौभ विमान और सेना पीडितहुए हैं ऐसा वह शाल्व घबडागया ॥ २४ ॥ शाल्व के सेनापति के अस्त्रों के समूहों से अत्यन्त पीडितहुए भी यादव वीरों ने, इस लोक में यश और परलोक में सुख के मिलने की इच्छा करके अपने २ युद्ध का स्थान नहीं छोडा. ॥ २५ ॥ शाल्व का द्युमान् नामवाला मंत्री था, 'जिस को पहिले प्रद्युम्न ने पीडित करा था' उस बलवान् मंत्री ने, प्रद्युम्न के समीप आकर उस को लोहे की गदा से ताडन करा और 'जीतलियारे जीतलिया' ऐसा कहकर बडाभारी शब्द करा॥२६॥तव शत्रुओं को दवानेवाले परन्तु जिन का वक्षःस्थल गदा से घायल होगया है ऐसे उन प्रद्युम्न को, दारुक (श्रीकृष्ण के सारथी) के पुत्र धर्मवेत्ता सारथि ने, शीघ्र ही युद्ध की भूमि से बाहर निकालिया ॥ २७ ॥ वह प्रद्युम्न पहिले मूर्छित होगये थे फिर दो घडी में सावधान होकर

तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ॥ अहो असाध्विदं सूत यद्रणेमेऽपसर्पणम् ॥ २८ ॥ न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ॥ विना मत् क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् २९ ॥ किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ ॥ युद्धात्सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३० ॥ व्यक्तं मे कथयिष्यंति हसंत्यो भ्रातृजामयः ॥ क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१ ॥ सारथिरुवाच ॥ धर्मं विजानताऽयुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ॥ सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥ एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ॥ उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥ ३३ ॥ इ० भा० म द० उ० षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स उपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ॥ नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिं ॥ १ ॥ विधमंतं स्वसैन्यानि द्युमंतं रुक्मिणीसुतः प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ २ ॥ चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमे-

सारथी से कहने लगे कि—हे सूत ! तू जो मुझे युद्ध भूमि में से एक ओर को निकाल लाया यह तू ने बडा बुरा कार्य करा ॥ २८ ॥ क्योंकि नपुंसक (अधीर) की समान चित्तवाले तुझ सारथि के द्वारा अपयश पायेहुए एक मुझे छोडकर दूसरा यादवों के कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष, युद्ध में से भागाहुआ सुनने में नहीं आता है । २९ ॥ सो अब युद्ध में से प्रसिद्ध रूप से भागाहुआ मैं, बलरामकृष्ण पिता के समीप जाकर उन के बूझनेपर तहाँ अपने योग्य क्या उत्तर कहूँगा ? ॥ ३० ॥ और मेरी भौजाइयें हँसतीहुई मुझ से स्पष्ट कहेंगी कि—हे वीर ! रण में शत्रुओं के साथ युद्ध करते में तुझे व्याकुलता कैसे२ हुई ? कि जिस से तू भागगया सो बता ॥ ३१ ॥ सारथि ने कहा कि—हे चिरंजीव प्रभो ! मैंने तो अपना धर्म जानकर यह कार्य करा है, क्योंकि सारथी को संकट में पडेहुए रथी की रक्षा करना चाहिये और रथी सारथी की रक्षा करे ॥ ३२ ॥ यह जानकर ही मैं आप को युद्ध में से एक ओर को लेगया; क्योंकि—शत्रु ने गदा का प्रहार करा था इसकारण मूर्छा को प्राप्त होकर आप के ऊपर प्राणसङ्कट आपहुँचा था ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में षट्सप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब इस सतत्तरवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी ने हस्तिनापुर से आकर अनेकों माया जाननेवाले शाल्व को मारा और उस के सौभ विमान का भी चूर्ण करा यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते है कि—हे राजन ! तिस प्रद्युम्न ने जल का आचमन करके कवच धारण करा तथा हाथ में धनुष लिया और सारथी से यह कहा कि—तू मुझे उस द्युमान् वीर के समीप ले चल ॥ १ ॥ फिर तहाँ पहुँचाएहुए रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्न ने, अपनी सेना का नाश करनेवाले उस द्युमान को रोककर हँसते २ आठ बाणों से वेधा ॥ २ ॥

केन चोदहनत् ॥ द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥ ग-
दसात्यकिसांबाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ॥ पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्न-
कन्धराः ॥ ४ ॥ एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ॥ युद्धं त्रिणवरात्रं
तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ५ ॥ इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ॥ राज-
सूयेऽथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ६ ॥ कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च स-
सुतां पृथाम् ॥ निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ ॥ ७ ॥ आह चा-
हमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः ॥ राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ८ ॥
वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ॥ सौभं च शाल्वराजं च दारुकं
प्राह केशवः ॥ ९ ॥ रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ॥ संभ्रमस्ते
न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥ १० ॥ इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ॥
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥ ११ ॥ शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायब-

चार बाणों से चार घोड़ों को, और एक बाण से सारथि को मारकर; दो बाणों से धनुष और
ध्वजा तोडडाले और एक बाण से मस्तक फोडदिया ॥ ३ ॥ तैसे ही गद, सात्यकि और
साम्ब आदि यादव भी शाल्व की उस सेना को मारनेलगे तब सौभ विमान में रहनेवाले
सब ही वीर, मस्तक कटकर समुद्र में गिरपडे ॥ ४ ॥ इसप्रकार यादव और शाल्व के वीरों
के परस्पर युद्ध करनेपर, वह उन का युद्ध, सत्ताईस दिनपर्यन्त घचापच और भयानक
हुआ ॥ ५ ॥ अब दूसरे ऋषियों का मत कहते हैं कि—धर्मराज के बुलाने के कारण इन्द्र
प्रस्थ में गयेहुए श्रीकृष्णजी, राजसूय यज्ञ होजाने पर और शिशुपाल के भी मरण को
प्राप्त होजानेपर कुछ दिनों पर्यन्त तहाँ रहे थे ॥ ६ ॥ उन्होने तहाँ अतिभयानक कुशकुन
देखकर, बलरामजी के साथ मैं यहाँ आया हूँ सो शिशुपाल के पक्षपाती राजाओं ने, मेरी
द्वारकानगरी का निःसन्देह नाश करा होगा; ऐसा मन में विचारकर भीष्म आदि कुरुवंश
के वृद्धों की, पुत्रोंसहित कुन्ती की और सकल ऋषियों की आज्ञा लेकर द्वारका को चले
गये ॥ ७ ॥ ८ ॥ और तहाँ जाकर उन श्रीकृष्णजी ने, अपनी प्रजाओं की, शाल्व
की दीहुई उस पीडा को देखकर तैसे ही सौभविमान और शाल्व राजा को देखकर न-
गर की रक्षा करने के विषय में बलरामजी को नियुक्त करा और दारुक से कहा कि—॥ ९ ॥
हे सारथी ! मेरा रथ, शाल्व के समीप शीघ्रही पहुँचा, यह शाल्व राजा बड़ा मायावी है
तथापि तू मन में किसी प्रकार का भय मतकर ॥ १० ॥ इसप्रकार आज्ञा करेहुए उस
दारुक ने रथपर बैठकर घोडे चलाये, तब यादवों की और शाल्व की सेना में के वीरों ने,
युद्ध में प्रवेश करनेवाले श्रीकृष्णजी की ध्वजापर के गरुडजी को देखा ॥ ११ ॥ तब
प्रायः जिसकी सेना के अधिपति मरगये हैं ऐसे तिस शाल्व ने, युद्ध में श्रीकृष्णजी को देख

लेश्वरः ॥ अहरत्कृष्णसूतायै शक्तिं भीमरवां मृधे ॥ १२ ॥ तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ॥ भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥ १३ ॥ तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ॥ अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ १४ ॥ शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ॥ बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥ १५ ॥ हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ॥ विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥ १६ ॥ यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ॥ प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥ १७ ॥ तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ॥ नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥ १८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ॥ पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥ १९ ॥ इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया ॥ तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥ २० ॥ गदायां सन्निवृत्तायां शा-

कर उन के सारथी के ऊपर भयङ्कर शब्द करनेवाली शक्ति छोड़ी ॥ १२ ॥ तब आकाश में उत्पन्न हुई उल्काकी समान सब दिशाओं को प्रकाशित करती हुई वेग के साथ आनेवाली तिस शक्ति के, श्रीकृष्णजी ने बाणों से सैंकड़ों टुकड़े करडाले ॥ १३ ॥ और तिस शाल्व को सोलह बाणों से वेधकर, आकाश में घूमनेवाले उस के सौभ विमान को भी बाणों के समूहों से, जैसे सूर्य किरणों से आकाश को सहज में ही वेधलेता है तैसे वेधडाला ॥ १४ ॥ शाल्व ने भी, शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णजी के शार्ङ्ग धनुष सहित बाएँ हाथ को बाण से वेधदिया तब उन श्रीकृष्णजी के हाथ में से शार्ङ्ग धनुष नीचे गिरपडा, यह बड़ा आश्चर्यहुआ ॥ १५ ॥ तहाँ उस आश्चर्य को देखनेवाले सब लोकों में बडा हाहाकार शब्दहुआ तब, सौभ विमान में बैठकर शोभायमान होनेवाला शाल्व राजा, बडी गर्जना करके श्रीकृष्णजी से ऐसे कहनेलगा कि—॥ १६ ॥ अरे मूढ़ ! जो तूने मेरे देखतेहुए मेरे सखा शिशुपाल की स्त्री (रुक्मिणी) को हरण करा है तैसे ही वह सावधान होकर न आया हुआ हमारा सखा (शिशुपाल) सभा के विषैं, तू ने मारडाला है, तिस, मुझे कोई जीतने वाला ही नहीं है ऐसे तुझ को, यदि मेरे आगे थोडे समय खडारहेगा तो अब ही तीखेबाणों से मरणदशा को पहुँचाऊँगा ॥ १७ ॥ १८ ॥ ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णजी ने कहाकि—अरे मूर्ख ! तू वृथाही बडबड कररहा है, समीप आयेहुए अपने मृत्यु को नहीं देखता है; जो शूर होते हैं वह युद्ध में बहुतसी बातें नहीं बनाते हैं किन्तु पराक्रम ही दिखाते हैं ॥ १९ ॥ इसप्रकार भगवान् ने कहकर और क्रोध में भरकर भयंकर वेग से युक्त गदा के द्वारा उस शाल्व के कन्धे पर प्रहार करा, तब वह रुधिर डालताहुआ काँपनेलगा ॥ २० ॥

त्वस्तत्रांतरधीयत ॥ ततो मुहूर्तमागत्य पुरुषः शिरसाऽच्युतम् ॥ देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २१ ॥ कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ॥ बद्ध्वाऽपनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥ २२ ॥ निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ॥ विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥ २३ ॥ कथं राममसंभ्रांतं जित्वाऽजेयं सुरासुरैः ॥ शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥ २४ ॥ इति ब्रुवाणे गोविंदे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ॥ वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥ २५ ॥ एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ॥ वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥ २६ ॥ एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ॥ उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥ २७ ॥ ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषंगतः ॥ महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं मायां

फिर गदा के पीछे को जानेपर वह शाल्व अचानक अन्तर्धान होगया; तदनन्तर दो घडी में (शाल्व के भेजेहुए) एक पुरुष ने आकर, श्रीकृष्णजी को मस्तक से प्रणाम करके रोते २ 'मुझे देवकी ने भेजा है' ऐसा वाक्य कहा ॥ २१ ॥ कि—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे पिता पर प्रेम करनेवाले ! जैसे सौनिक (कसाई) पशु को मारने के निमित्त बाँधकर लेजाता है तैसे ही शाल्व, तुम्हारे पिता वसुदेवजी को बाँधकर लेगया ॥ २२ ॥ यह उस का अप्रिय भाषण सुनकर, मनुष्य के स्वभाव के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, साधारण संसारी पुरुष की समान वसुदेवजी के विषय में स्नेह और दयायुक्त तथा खिन्नचित्त होकर कहनेलगे कि—॥ २३ ॥ देवता और दैत्यों करके भी जीतने को अशक्य, नगरकी रक्षा करने में नियत (मुकर्रर) करेहुए और सावधान रहनेवाले बलरामजी को जीतकर, अति तुच्छ शाल्व मेरे पिता वसुदेवजी को कैसे लेगया ? अहो ! दैव बडा बलवान् है ॥ २४ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी भाषण कररहे थे सो इतने ही में तहाँ, वसुदेवजी के आकार के एक (मायारचित) पुरुष को लेकर शाल्व आया और वह श्रीकृष्णजी से कहनेलगा कि—॥ २५ ॥ अरे मूर्ख कृष्ण ! जिस के निमित्त इस संसार में तू जी रहा है, वह यह तेरा उत्पन्न करनेवाला पिता है; देख अब तेरे देखतेहुए मैं इस का वध करता हूँ ; यदि तू समर्थ होय तो इस की रक्षा कर ॥ २६ ॥ इसप्रकार मायावी शाल्व ने, श्रीकृष्णजी को ललकार कर, उन (मायिक) वसुदेवजी का मस्तक तरवार से काटा और उन को लेकर आकाश में के सौभ विमान में चढा ॥ २७ ॥ उससमय, स्वयंसिद्ध ज्ञानवान् भी वह भगवान् श्रीकृष्णजी, वसुदेवरूप स्वजन के सम्बन्ध से दो घडीपर्यन्त मनुष्य के स्वभाव के अनुसार शोक में निमग्न होकर, फिर उन्हों ने यह जानलिया कि—यह वसुदेवजी का दीखना, शिर कटना

स शाल्वमेसृतां मयोदिताम् ॥ २८ ॥ न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ २९ ॥ एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ॥ यत्स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥ ३० ॥ क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसंभवाः ॥ क्व चाखंडितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥ ३१ ॥ यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया हिन्वंत्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ॥ लभंत आत्मानमनंतमैश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥ ३२ ॥ तं शस्त्रपूगैः प्रहरंतमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ॥ विद्ध्वाऽच्छिनद्वर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥ ३३ ॥ तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं पपात तो-

आदि सब ही मयासुर की सिखाईहुई और शाल्व की फैलाईहुई माया है ॥ २८ ॥ जब, जैसे जागाहुआ पुरुष स्वप्न में देखेहुए पदार्थों को नहीं देखता है तैसे ही युद्ध में श्रीकृष्णजी ने उस दूत को नहीं देखा और वसुदेवजी का शरीर भी नहीं देखा, किन्तु केवल, सौभ विमान में बैठकर आकाश में फिरनेवाले शत्रु (शाल्व) को देखा और वह श्रीकृष्णजी उस को मारने को उद्यतहुए ॥ २९ ॥ इसप्रकार कहेहुए परमत का अब खण्डन करते हैं कि—हे राजर्षे ! इसप्रकार कितने ही आगे पीछे का विचार न करनेवाले ऋषि कहते हैं परन्तु यह कहना उन के अपने ही विरुद्ध होता है ऐसा वह स्मरण नहीं रखते हैं अर्थात् पूर्व के वचन में श्रीकृष्णजी राजसूययज्ञ में बलरामजी के साथ गये ही नहीं थे, किन्तु बलरामजी की आज्ञा लेकर गये थे ऐसा है; और यहाँ श्रीकृष्णजी ने बलरामजी के साथ इंद्रप्रस्थ से आकर उनसे नगर की रक्षा करनेको कहा,इसप्रकार उनके वचन में विरोध आताहै॥ ३०॥ और यह कहना सम्भव भी नहीं हो सक्ता,क्योंकि—अज्ञानी पुरुषों में होनेवाले-शोक,मोह, भय,स्नेह कहाँ और जिन का ज्ञान,विज्ञान तथा ऐश्वर्य कभी खण्डित नहीं होता ऐसे पूर्णानन्दरूप भगवान् कहाँ ? ॥ ३१॥ और जिन की चरणसेवा से वृद्धि को प्राप्त हुई आत्मसाक्षात्काररूप विद्या के द्वारा सत्पुरुष, अनादिकाल से होनेवाली देहात्मबुद्धि (देह आदि को ही आत्मा मानना ऐसी बुद्धि) को त्यागकर अनन्त आत्मस्वरूप ईश्वर का पद पाते हैं; तिन सर्वोत्तम और सत्पुरुषों की गतिरूप भगवान् को मोह कहाँ से होगा ? अर्थात् कभी नहीं होसक्ता इसकारण वह उन का कहना ठीक नहीं है ॥ ३२ ॥ किन्तु ठीक इतना ही है कि—अनेकों शस्त्रों से प्रहार करनेवाले उस शाल्व को उन अमोघ पराक्रमी श्रीकृष्णजी ने, वेग से छोडेहुए बाणों के द्वारा वेधकर, उस का कवच, धनुष और मस्तक पर की मणि यह छिन्नभिन्न करदिये और शत्रु के सौभ नामक विमान को भी गदा से तोडफोडडाला ॥ ३३ ॥ श्रीकृष्णजी के हाथ से फेंकीहुई गदा करके सहस्रों टुकडे होकर

ये गदया सहस्रधा ॥ विसृज्य तज्जलं भूतलगोऽस्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युत-
मभ्यगाद् द्रुतम् ॥ ३४ ॥ आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्त्वाऽथ रथांग-
मद्भुतं ॥ वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥
॥ ३५ ॥ जहार तेनैव शिरः सकुंडलं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ॥ वज्रे-
ण वृत्रस्य यथा पुरंदरो बभूव हा हेति वचस्तदा नृणां ॥ ३६ ॥ तस्मि-
न्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ॥ नेदुर्दुंदुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ॥
सखीनामपचितिं कुर्वन्दंतवक्रो रुषाऽभ्ययात् ॥ ३७ ॥ इतिश्रीभागवते
महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥
॥ ७७ ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ शिशुपालस्य शाल्वस्य पौंड्रकस्यापि
दुर्मतिः ॥ परलोकगतानां च कुर्वन्पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥ एकः पदातिः सं-
क्रुद्धो गदापाणिः प्रकंपयन् ॥ पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत

चूरा हुआ वह सौभ विमान समुद्र के जल में गिर पडा तब शाल्व उस सौभ विमान को छोडकर भूमि पर उतरा और गदा उठाकर बडे वेग से श्रीकृष्णजी के ऊपर को झपटा ॥ ३४ ॥ तब श्रीकृष्णजी ने, अपने शरीर पर को झपटकर आनेवाले उस शाल्व की गदासहित भुजा बाण से काटकर गिरादी फिर उस का वध करने को प्रलयकाल काल के सूर्य की समान अद्भुत चक्र धारणकरा तब उस समय वह श्रीकृष्णजी, जैसे सूर्य सहित उदयाचल पर्वत शोभायमान होता है तैसे शोभायमान होनेलगे ॥ ३५ ॥ तदनन्तर उस ही चक्र से श्रीकृष्णजी ने, बहुत माया जाननेवाले उस शाल्व का कुण्डल किरीट सहित मस्तक, जैसे पहिले इन्द्र ने वज्र से वृत्रासुर का मस्तक काट गिराया था तैसे काट गिराया; उस कृत्य को देखनेवाले शाल्व के पक्ष के मनुष्यों का बडा हाहाकार शब्द हुआ ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! उस पापी शाल्व के मरण को प्राप्त होने पर और उस सौभ नामक विमान का भी गदा से चूरा होजाने पर, स्वर्ग में हर्ष के साथ देवताओं की बजाई हुई दुन्दुभि बजनेलगीं. तब मरण को प्राप्त हुए शाल्व आदि मित्रों के उपकार का उन के पीछे पलटा देने के निमित्त क्रोध में भराहुआ दन्तवक्र, श्रीकृष्णजी के साथ युद्ध करने को आया ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में सप्तसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अठत्तरवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी, दन्तवक्र--विदूरथ का वध करके द्वारका नगरी में आनन्द के साथ रहे और बलरामजी ने सूत (रोमहर्षण) का वधकरा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि--हे महाराज ! परलोक में गयेहुए शिशुपाल, शाल्व और पौंड्रक इन के पीछे करनेयोग्य मित्र का कार्य करने के निमित्त, इकला, पैदल, महाबली, हाथ में गदा लेकर चलते में पैरों से इस पृथ्वी को डगमगानेवाला और अत्यन्त क्रुद्ध हुआ वह दुष्टबुद्धि दन्तवक्र,

॥ २ ॥ तं तथायांतमालोक्य गदामादाय सत्वरः ॥ अवप्लुत्य रथात्कृष्णः
सिंधुं वेलेव प्रत्यधात् ॥ ३ ॥ गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ॥
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥ त्वं मातुलेयो नः कृष्ण
मित्रध्रुङ्मां जिघांससि ॥ अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥
तयानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ॥ बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देह-
चरं यथा ॥ ६ ॥ एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ॥ गदयाऽताड-
यन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७ ॥ गदयाऽभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदू-
द्वहः ॥ कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनांतरे ॥ ८ ॥ गदानिर्भिन्न-

---

श्रीकृष्णजी के साथ युद्ध करने को आया॥ १॥२॥उस,तैसे क्रोध से आनेवाले दन्तवक्त्र को
देखकर,श्रीकृष्णजी ने,आप भी हाथ में गदा लेकर शीघ्रता से रथ से नीचे को कुलाँच मारी
और मर्यादा (हद) जैसे समुद्र को रोकती है तैसे उस को रोका ॥३ ॥ उससमय,मद से
उन्मत्त हुए तिस दन्तवक्त्र ने,हाथ में की गदा ऊपर को उठाकर श्रीकृष्णजी से कहा कि-
तू आज मेरी दृष्टि के मार्ग में (सामने) आया यह बडे आनन्द की वार्त्ता हुई॥ ४॥
हे कृष्ण ! यद्यपि तू हमारे मामा का पुत्र होने के कारण मारने के योग्य नहीं है तथापि तू ने
जो हमारे शिशुपाल आदि मित्रों का वध करा है और मुझे मारने की इच्छा करता है तिस से
हे मन्द ! + इससमय मैं इस वज्रकल्प × कहिये वज्रसमान गदा से तुझे मारता हूँ॥ ५॥ हे अज्ञ !
§ देह में ÷ विचरनेवाले व्याधि ¶ को (हत्वा)नाश करके जैसे पितर आदिकों के अनृणत्व
(बेकर्जपने) को प्राप्त होते हैं तैसेही मित्रों के ऊपर प्रेम करनेवाला मैं, तुझ बन्धुरूप शत्रु
को (हत्वा) * मारकर अपने मित्रों के ऋण से छूटूँगा ॥ ६ ॥ इसप्रकार, जैसे अङ्कुश
आदि से हाथी को पीडित करते हैं तैसे कठोर वचनो से श्रीकृष्णजी को पीड़ित करके
उन के मस्तक पर गदासे प्रहार करा और वह सिंहकी समान गरजा भी॥७॥ गदा से ताड़ना
करेहुए भी वह यादवों में श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी, युद्ध में हलेतक भी नहीं किन्तु उन्होंने अपनी
बड़ीभारी कौमोदकी गदा से उस दन्तवक्त्र के हृदय पर प्रहार करा ॥ ८ ॥ तब गदा के

+ हे अमन्द ! (सर्व सहने को समर्थ) ।
× ' अवज्रकल्पया ' ऐसा पदच्छेद करना (कमलों की मालाकी समान परम कोमल) ।
§ हे अज्ञ ! ' न विद्यते ज्ञः यस्मात् अर्थात् जिस से दूसरा कोई जाननेवाला नहीं है ऐसे हे सर्वज्ञ) ।
÷ देहमें अन्तर्यामीरूप से रहनेवाले ।
¶ विशेषेण आधीयते मनसि चिन्त्यते इति व्याधिः-विशेष करके चिन्तवन करने के योग्य ईश्वर को ।
* क्षात्रधर्मेण आराध्य अर्थात् ब्राह्मण के शाप से शत्रुरूप प्रतीत होनेवाले तुम्हारी क्षत्रिय धर्म से
आराधना करके ।

हृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ॥ प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतद्व्यसुः ॥
॥ ९ ॥ ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् । पश्यतां सर्वभूतानां यथा
चैद्यवधे नृप ॥ १० ॥ विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ॥ आगच्छद-
सिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११ । तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरने-
मिना ॥ शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥ एवं सौभं च शा-
ल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ॥ हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥ १३ ॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः । अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किं-
नरचारणैः ॥ १४ ॥ उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ॥ वृतश्च वृष्णि-
प्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीं ॥ १५ ॥ एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ॥
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥ १६ ॥ श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः
कुरूणां सह पांडवैः ॥ तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ १७ ॥

प्रहार से जिसका हृदय घायल होगया है ऐसा वह दन्तवक्र, मुख से रुधिर की वमनकरता हुआ केश और हाथपैर फैलाकर प्राणहीन हो भूमिपर गिरपड़ा ॥ ९ ॥ हे राजन् ! जैसे पहिले शिशुपाल के वध के समय उसका तेज भगवान् के स्वरूप में प्रविष्ट होगया था तैसेही दन्तवक्र के शरीर मेंसे भी बाहर निकला हुआ आश्चर्यकारी अतिसूक्ष्म जीवरूप तेजभी, सबलोकों के देखतेहुए श्रीकृष्णजी के स्वरूप में प्रविष्ट होगया ॥ १० ॥ तदनन्तर उस दन्तवक्र का भ्राता विदूरथ, भाई के शोक में भरकर, उन श्रीकृष्णजी को मारनेकी इच्छा से हाथ में ढालतलवार लेकर क्रोध से सुसकारियें छोड़ता हुआ श्रीकृष्णजी के ऊपर को झपटा ॥ ११ ॥ हे राजेन्द्र ! वह आरहा था, इतने ही में श्रीकृष्णजी ने, छुरे की समान धारवाले अपने चक्र से उसका किरीट कुण्डलोंसहित मस्तक काटडाला ॥ १२ ॥ इस प्रकार दूसरों के जीतने में न आनेवाले—सौभ विमान, शाल्व राजा, दन्तवक्र और उस के भ्राता विदूरथ को मारकर, देवता और मनुष्यों से स्तुति करेहुए; मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, अप्सरा, पितर, यक्ष, किन्नर, तथा चारणोंने जिनका विजय वर्णन करा है ऐसे और पुष्पों की वर्षा से छायेहुए वह श्रीकृष्णजी, श्रेष्ठ यादवों से घिरकर, ध्वजा—पताका आदि खड़े करके सजाईहुई द्वारका नगरी में गये ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ इसप्रकार, योगेश्वर और जगदीश्वर वह भगवान् श्रीकृष्णजी, अनायास में ही महाबलियों को भी निरन्तर जीतते ही हैं तथापि अविचारी पुरुषों को कभी, जरासन्ध आदि ने उन को जीतलिया ऐसे प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी ने, पूतना राक्षसी से लेकर विदूरथ पर्यन्त, दानवकुल का संहार करके, फिर वह युद्ध के कार्य से उपराम (छुटकारा) पागए, अब कुछ बलरामजी का चरित्र कहते हैं कि—बलरामजी ने, कौरवों का पाण्डवों के साथ युद्ध करने का उद्योग चलताहुआ सुनकर 'हम द्वारका में रहेंगे तो किसीका तो पक्षपात स्वीकार करना पड़ेगा'

स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ॥ सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ १८ ॥ पृथूदकं बिंदुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ॥ विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥ १९ ॥ यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ॥ जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥ २० ॥ तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ॥ अभिवन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥ २१ ॥ सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ॥ रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥ २२ ॥ अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणांजलिम् अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधव ॥२३॥कस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः॥ धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः॥२४॥ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च॥ सेतिहा-

उस को स्वीकार करने का मन में विचार न करके वह तीर्थयात्रा के मिष करके द्वारकानगरी में से चलेगए ॥ १७ ॥ उन्होंने अपने साथ ब्राह्मणों को लेकर प्रभास तीर्थ में स्नान करके तहाँ तर्पण और ब्राह्मणों को भोजन कराना आदि करके, देवता, ऋषि, पितर और मनुष्योंको तृप्त करा तथा वह सरस्वती नदी के सोते आनेवाली दिशा को चलदिये ॥ १८॥ उन्होंने, पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पश्चिमवाहिनी सरस्वती इन की यात्रा करी ॥ १९ ॥ फिर हे राजन् ! यमुना के तटपर और गङ्गा के तटपर जो तीर्थ हैं उन की यात्रा करके फिर वह, जहाँ शौनक आदि ऋषि सत्र कररहे थे उस नैमिषारण्य में गए ॥ २० ॥ तिन बलरामजी को आयाहुआ जानकर सहस्र सम्वत्सर में समाप्त होनेवाले सत्र का अनुष्ठान करनेवाले उन शौनकादि ऋषियों ने, आसन पर से उठकर आगे जाकर उन को नमस्कार करा और 'और आपका आगमन, यह बड़ी सुन्दर वार्त्ता हुई ऐसे' अभिनन्दन करके यथाविधि उन का पूजन करा ॥ २१ ॥ तब परिवारसहित पूजा करेहुए और आसन पर जाकर वैठेहुए उन बलरामजी ने, तहाँ बैठेहुए व्यासजी के शिष्य रोमहर्षण को देखा ॥२२॥ और जिन्होंने अपने को अभ्युत्थान नहीं दिया (उठकर शिष्टाचार नहीं किया), झुककर नमस्कार नहीं किया और हाथ भी नहीं जोड़े तथा जो प्रतिलोमज होकर भी उन सब ब्राह्मणों की अपेक्षा ऊँचे आसन पर बैठे थे ऐसे उन सूतजी को देखकर वह बलरामजी क्रोध में भरगये ॥ २३ ॥ और अपने से ही ऐसा कहनेलगे कि—यह सूत प्रतिलोमज होकर भी इन सब ब्राह्मणों की अपेक्षा और धर्मरक्षक हमारी भी अपेक्षा ऊँचे आसन पर काहे से बैठा है !! इस अपराध के कारण यह दुर्बुद्धि वध करने के योग्य है ॥ २४ ॥ यह भगवान् वेदव्यास का शिष्य होकर उन से इतिहासों सहित बहुतसे

सपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥ अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः ॥ न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥ २६ ॥ एतदर्थो हि लोकेस्मिन्नवतारो मया कृतः ॥ वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥ २७ ॥ एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोऽसद्वधादपि ॥ भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ॥ २८ ॥ हा हेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ॥ ऊचुः संकर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥ २९ ॥ अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ॥ आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥ ३० ॥ अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ॥ योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥ ३१ ॥ यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ॥ चरिष्यति भवाँल्लोकसंग्रहोऽनन्यचोदितः ॥ ३२ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ करिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ॥

पुराण पढकर तैसे ही सब धर्मशास्त्र भी पढकर ऊँचे आसन पर बैठा है ॥ २५ ॥ सत्य है कि बहुरूपिये की समान दूसरों को धोखा देने के निमित्त, प्रतिष्ठितों का वेष धारण करनेवाला, अजितेन्द्रिय, अवशचित्त, विनयरहित और व्यर्थ पण्डितपने का अभिमानी होता है उस को वह शास्त्रादि का अभ्यास भी गुणकारी नहीं होता है ॥२६॥ इसकारण ऐसे लोकों का वध करने के निमित्त ही इस लोक में मैंने अवतार धारण करा है.इस से उत्तम वेष धारण करके धार्मिकपना दिखानेवाले और वास्तव में धर्म की मर्यादाओं को तोड़नेवाले जो पुरुष हैं वह मुझ से वध पाने के योग्य हैं, क्योंकि—वह अधर्मियों की अपेक्षा भी प्रसिद्धरूप से अधिक पाप करनेवाले हैं ॥ २७ ॥ उन प्रभु बलरामजी ने ऐसा भाषण करके, दुष्टों के वध से निवृत्त होगये थे तो भी 'अवश्य होनहार बात के अटल होने से' उन रोमहर्षण के ऊपर हाथ में के दर्भ से ही प्रहार करा ॥२८॥ उससमय हाहाकार उच्चारनेवाले और खिन्नचित्तहुए वह सब ही ऋषि, उन संकर्षणदेव (बलराम) से ऐसा कहनेलगे कि—हे प्रभो ! तुम ने यह अधर्म करा है ॥ २९ ॥ यदि कहोकि—अधार्मिक प्रतिलोमज का वध करा इस में अधर्म ही क्या है ? तो सुनो—हे यदुनन्दन ! जबतक यह (सहस्रसम्वत्सरात्मक) सत्र समाप्त होयगा तबतक को, हमारे अर्थ पुराण कथा सुनाने के निमित्त इस रोमहर्षण को हमने ही ब्रह्मासन दिया था और इस के शरीर को क्लेश न हो ऐसा आयु भी दिया था ॥ ३० ॥ इसकारण, यह सब न जाननेवाले ही तुमने, ब्रह्मवध की समान इस का वध करा है. हे लोकपावन ! हे योगेश्वर ! तुम्हें, 'ब्राह्मण का वध न करे ऐसा' वेद भी यद्यपि प्रायश्चित्त देने को समर्थ नहीं है तथापि तुम दूसरे के विना कहे अपने आप ही यदि इस ब्रह्महत्या के पाप का प्रायश्चित्त करोगे तो लोकों की प्रायश्चित्त के विषय में प्रवृत्ति होयगी, नहीं तो नहीं होयगी ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ श्रीभगवान् बलराम ने कहाकि—हे ऋषियो ! लोकवर्त्ताव की इच्छा से मैं इस होनेवाले

नियमः प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ॥ ३३ ॥ दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ॥ आशासितं यत्तदब्रूत साधये योगमायया ॥ ३४ ॥ ऋषय ऊचुः ॥ अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ॥ यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥ ३५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ॥ तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिंद्रियसत्त्ववान् ॥ ३६ ॥ किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ॥ अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिंत्यतां बुधाः ॥ ३७ ॥ ऋषय ऊचुः ॥ इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ॥ स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥ ३८ ॥ तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ॥ पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥ ३९ ॥ ततश्च भारतं

पाप का प्रायश्चित्त करता हूँ इसकारण जो सब से मुख्य पक्ष का प्रायश्चित्त होय वह तुम मुझ से कहो ॥ ३३ ॥ और हे ऋषियो इस रोमहर्षण को-दीर्घ आयु, बल, इन्द्रियों की शक्ति और दूसरा जो कुछ तुम्हें अपेक्षित हो सो सब मुझ से कहो, मैं अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से वह सब ठीक करदूँगा ॥ ३४ ॥ यह सुनकर ऋषि कहनेलगे कि-हे बलराम ! तुम्हारे छोड़ेहुए शस्त्रकी, तुम्हारे पराक्रम की और रोमहर्षण के मरण की जिस प्रकार सत्यता होय और 'जबपर्यन्त यहसत्र है तब पर्यन्त तु दीर्घायु और पुराणवक्ता हो ऐसा' (रोमहर्षण से) हमारा कहाहुआ वचन भी जैसे सत्य होय तैसा करो ॥ ३५ ॥ श्रीभगवान् बलराम ने कहा कि-पिता का आत्माही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है ऐसा वेदका कथन + है इसकारण इस रोमहर्षण का पुत्र जो उग्रश्रवा है वह यहही है ऐसा समझो; वह ही तुम्हें पुराण सुनानेवाला होगा और आयु, इन्द्रियों की शक्ति तथा शरीर के बल आदि से वह युक्त होयगा, तात्पर्य यह कि-उस के साक्षात् जीवित न रहने से मेरे अस्त्र की मृत्यु की और आयु आदि की सिद्धि से तुम्हारे वचन की भी सत्यता होयगी ॥ ३६ ॥ हे श्रेष्ठ ऋषियो ! तुम्हारा दूसरा कौनसा मनोरथ है वह मुझ से कहो तो मैं उस को पूर्ण करूं तदनन्तर मुझ से ब्रह्मदण्ड लेकर सूतहत्या के प्रायश्चित्त को न जाननेवाले मुझे, तुम सर्वज्ञ हो इसकारण, जो प्रायश्चित्त यथायोग्य होय वह विचारकर बताओ ॥ ३७ ॥ ऋषियों ने कहा कि-इल्वल का पुत्र बल्वल नामवाला एक बडा भयङ्कर दानव है वह प्रतिपूर्णिमा को आकर हमारे सत्र (यज्ञ) को दूषित करता है ॥ ३८ ॥ हे बलराम ! उस पापी दानव को तुम मारडालो, अर्थात् यही हमारी उत्तम शुश्रूषा होयगी, क्योंकि-वह हमारे यज्ञ के स्थान में आकर पीव, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य और मांस की चारों ओर से वर्षा करता है ॥ ३९ ॥ तदनन्तर तुम एक वर्ष (बारहमास

+ 'अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्' इत्यादि वेद का वचन है।

वर्षं परीत्य सुसमाहितः ॥ चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे ॥४०॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उ० बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः ॥ भीमो वायुरभूद्राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥ १ ॥ ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ॥ अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥ २ ॥ तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नांजनचयोपमम् ॥ तप्ततामशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥ सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ॥ हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥ तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ॥ मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥ सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन ॥ मुंचन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥ संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ॥ अभ्यषिंचन्म

पर्यन्त) एकाग्रचित्त से भरतखण्ड की प्रदक्षिणा करके, तीर्थों का स्नान करतेहुए कृच्छ्रों +का सेवन करोगे तो सूत का वध करने के पाप से छूट जाओगे ॥४०॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में अष्टसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे उन्नासीवें अध्याय में बलरामजी ने, ब्राह्मणों की प्रसन्नता के निमित्त बल्वल नामक दानव का वध करके तीर्थस्नान आदि से सूत की हत्या का प्रायश्चित्त करा, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! फिर पूर्णिमा का पर्व आने पर उस दिन धूलि की वर्षा करनेवाला प्रचण्ड और भयङ्कर पवन चलनेलगा और जिधरतिधर पीब का दुर्गन्ध फैलनेलगा ॥ १ ॥ फिर बल्वल की रचना करीहुई विष्ठा मूत्र आदि की अमङ्गल वर्षा यज्ञशाला में होनेलगी, तदनन्तर शूल धारण करनेवाला वह बल्वल नामवाला दैत्य दीखनेलगा ॥ २ ॥ तब, फटेहुए काजल के पर्वत की समान काला, बडेभारी शरीरवाला, तपायेहुए ताँबे की समान लाल २ शिखा और दाढ़ी-मूछ धारण करनेवाला, दाढ़ों से भयङ्कर और भ्रुकुटि चढायेहुए मुखवाले तिस बल्वल को देखकर बलरामजी ने, शत्रुसेना का विदारण करनेवाले मूसल और दैत्यों का दमन करनेवाले अपने हल का स्मरण करा सो वह तत्काल आकर प्राप्त होगये ॥३॥४॥ तब बलरामजी ने, क्रुद्ध होकर आकाश में विद्यमान तिस ब्रह्मद्रोही बल्वल को हल के अग्रभाग से खैंचकर मूसल से उस के मस्तक पर प्रहार करा ॥ ५ ॥ तब शिर फूटाहुआ वह बल्वल, रुधिर की उलटी करताहुआ और पीडित होने के कारण हाय २ करताहुआ, जैसे इन्द्र के वज्र से फूटाहुआ और गेरू से लाल २ हुआ पर्वत गिरता है तैसे भूमि पर गिरपडा ॥ ६ ॥ इसप्रकार उस का वध करने पर प्रसन्नहुए उन महाभाग ऋषियों ने, बलरामजी की स्तुति करके और सफल आशी-

+ प्रायश्चित्त के साधकव्रत विशेषों को कृच्छ्र कहते हैं ।

हाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥ वैजयंतीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लान-
पंकजाम् ॥ रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥
अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ॥ स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयु-
रास्रवत् ॥ ९ ॥ अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ॥ स्नात्वा संतर्प्य
देवादीन् जगाम पुलहाश्रमं ॥ १० ॥ गोमतीं गंडकीं स्नात्वा विपाशां
शोण आप्लुतः ॥ गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गंगासागरसंगमे ॥ ११ ॥ उ-
पस्पृश्य महेंद्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ॥ सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं
ततः ॥ १२ ॥ स्कंदं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ॥ द्रविडेषु महा
पुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेंकटं प्रभुः ॥ १३ ॥ कामकोष्णीं पुरीं कांचीं कावेरीं च स-
रिद्वराम् ॥ श्रीरंगाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः ॥ १४ ॥ ऋषभाद्रिं
हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ॥ सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥
तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ॥ कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुला-

वाद देकर उन का, जैसे वृत्रासुर के वध से प्रसन्नहुए देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक करा था तैसे अभिषेक करा ॥ ७ ॥ और उन्होंने तिन बलरामजी को दिव्य वस्त्र, दिव्य भूषण और शोभा की स्थान कमी भी न कुमलानेवाली कमलों की वैजयन्ती माला अर्पण करी ॥ ८ ॥ फिर उन ऋषियों के आज्ञा करेहुए वह बलरामजी, ब्राह्मणों के साथ कौशकी नदी पर जाकर तहाँ स्नान करके फिर जहाँ से सरयू नदी उत्पन्न हुई है तिस सरोवर पर आये ॥ ९ ॥ फिर वह बलरामजी, सरयू के किनारे २ प्रयाग को जाकर तहाँ स्नान और देवादिकों का तर्पण करके फिर हरिद्वार को गये ॥ १० ॥ फिर उन्होंने, गोमती, गंडकी और विपाशा इन नदियों में स्नान करके शोण नामवाले नद में स्नान करा फिर गया में जाकर तहाँ पितरों की 'पिता के जीवित होने के कारण' ब्राह्मण भोजन आदि से आरा-धना करके फिर गङ्गा और समुद्र के संगम में स्नान करा ॥ ११ ॥ फिर महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का दर्शन करके और उन को नमस्कार करके आगे सप्तगोदावरी, वेणा, पंपा और भीमरथी इन नदियों में स्नान करा ॥ १२ ॥ फिर, उन बलरामजी ने, स्वामिकार्त्तिकेय का दर्शन करके शङ्कर के समान श्रीशैल पर्वत पर गमन करा ; तहाँ से उन प्रभु ने द्रविड देशों में के महापवित्र वेंकट पर्वत का दर्शन करके कामकोष्णी नदी में स्नानकर काँची नगरी में गमन करा तदनन्तर नदियों में श्रेष्ठ जो कावेरी तिस में स्नान करके आगे जहाँ श्रीहरि समीप रहते हैं ऐसे परमपवित्र-श्रीरङ्गक्षेत्र में गमन करा ॥ १३ ॥ १४ ॥ तदनन्तर श्रीहरि के क्षेत्र ऋषभपर्वत की तैसे ही दक्षिण मथुरा की यात्रा करके महापा-तकों का नाश करनेवाले समुद्र के सेतुबन्धपर गमन करा ॥ १५ ॥ तहाँ उन बलरामजी ने, ब्राह्मणों को दश सहस्र गौ दान दीं, फिर उन्होने कृतमाला और ताम्रपर्णी नदी में स्नान

चलम् ॥ १६ ॥ तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ॥ योजितस्तेन
चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥ दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श
सः ॥ १७ ॥ ततः फाल्गुनमासाद्य पंचाप्सरसमुत्तमम् ॥ विष्णुः सन्निहितो
यत्र स्नात्वाऽस्पर्शद्गवायुतं ॥ १८ ॥ ततोऽभिव्रज्य भगवान्केरलांस्तु त्रिगर्त-
कान् ॥ गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥ १९ ॥ आर्यां द्वैपायनीं
दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ॥ तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥ २० ॥
प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ॥ मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनराग-
मत् ॥ २१ ॥ श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ॥ सर्वराजन्यनिधनं
भारं मेने हृतं भुवः ॥ २२ ॥ स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युद्ध्यतोर्मृधे ॥
वारयिष्यन्विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥ २३ ॥ युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ
कृष्णार्जुनावपि ॥ अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥ २४ ॥ गदा-
पाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ॥ मंडलानि विचित्राणि चरंताविदम-

---

करके कुलाचल मलयपर्वत पर गमन करा ॥ १६ ॥ तहाँ के अगस्त्य ऋषि को उन्होंने नमस्कार करके उन की पूजा करने पर उन ऋषि ने आशीर्वाद देकर जाने की आज्ञा दी तब, दक्षिण समुद्र के तटपर गमन करा, तहाँ उन्होंने कन्यानामक दुर्गादेवी का दर्शन करा ॥ १७ ॥ तदनन्तर अनन्तपुर में जाकर फिर पञ्चाप्सरस नामवाले सरोवरपर गमन करा, जहाँ विष्णुभगवान् की समीपता रहती है ऐसे तिस सरोवर में स्नान करके ब्राह्मणों को दश सहस्र गौ दीं ॥ १८ ॥ फिर वह भगवान् बलरामजी, केरलदेश और त्रिगर्तदेश में जाकर जहाँ शिवजी की समीपता है ऐसे गोकर्णनामक शिवक्षेत्र में गये ॥ १९ ॥ फिर, द्वीप (टापू) का आश्रय करके रहनेवाली आर्यादेवी का दर्शन करके वह बलरामजी शूर्पारक नामवाले देश को गये, फिर तापी, पयोष्णी, और निर्विन्ध्या नदी में स्नान करके, दण्डकारण्य में जाकर, जिस के तटपर माहिष्मतीनामक नगरी है तिस नर्मदानदी के समीप गये, तहाँ स्नान करके फिर मुनि तीर्थ में स्नान करके, फिर प्रभास क्षेत्र में पहुँचे ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ तहाँ ब्राह्मणों के कहने से, कौरवपाण्डवों के युद्ध में सब राजे मरण को प्राप्त होगये ऐसा सुनकर उन्होंने 'पृथ्वी का भार उतरगया' ऐसा माना ॥ २२ ॥ फिर वह बलरामजी, संग्राम में भीमसेन और दुर्योधन गदाओं से परस्पर युद्ध कररहे हैं ऐसा सुन-कर, उन को निषेध करने के निमित्त कुरुक्षेत्र में गये ॥ २३ ॥ तब, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उन को देखकर, नमस्कार करा और यह बलरामजी क्या कहने के निमित्त यहाँ आये हैं ? ऐसा विचारतेहुए मौन ही खडेरहे ॥ २४ ॥ वह बलरामजी, क्रोध में भरेहुए जय की इच्छा करनेवाले और हाथ में गदा लेकर चित्रविचित्र

ब्रवीत् ॥ २५ ॥ युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ॥ एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥ २६ ॥ तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ॥ न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥ २७ ॥ न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ॥ अनुस्मरंतावन्योऽन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥ दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ॥ उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥ २९ ॥ तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ॥ क्रत्वंगं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥ ३० ॥ तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान्व्यतरद्विभुः ॥ येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥ ३१ ॥ स्वपत्न्याऽवभृथस्नातो ज्ञातिबंधुसुहृद्वृतः ॥ रेजे स्वज्योत्स्नयेवेंदुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः ॥ ३२ ॥ ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ॥ अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य

पैंतरोंसे फिरनेवाले उन दोनो भीमसेन और दुर्योधनको देखकर ऐसा कहनेलगे कि—॥२५॥ हे राजा दुर्योधन ! हे वृकोदर भीमसेन ! तुम दोनो समान बलधारी वीर हो; तुम में एक को (भीम को) यह ' दुर्योधन की अपेक्षा ' बल में अधिक है ऐसा मैं समझता हूँ और एक को (दुर्योधन को) ' भीमसेन की अपेक्षा ' यह गदा छोडने की शिक्षा की चतुराई में अधिक है ऐसा समझता हूँ ॥ २६ ॥ इसकारण समान बलधारी तुम दोनो में से एक का इस युद्ध में जय वा पराजय होयगा, ऐसा नहीं दीखता इसकारण यह तुम्हारा निष्फल युद्ध बन्द होय ॥ २७ ॥ हे राजन् ! यद्यपि वह बलरामजी का वाक्य दोनो के ही क्लेश को दूर करनेवाला था तथापि उन्होंने माना नहीं; क्योंकि—वह दोनो परस्पर के दुर्वचन और दुष्कर्मों को वारम्वार स्मरण करके बद्धवैर होगये थे ॥ २८ । तब बलरामजी, यह मेरा वाक्य इन्होने माना नहीं ऐसा जानकर उन का दैवही ऐसा है यह समझकर फिर द्वारका को चलेगये तब प्रसन्नहुए उग्रसेन आदि ज्ञाति के यादव, सन्मुख आकर उन से मिले ॥ २९ ॥ इसप्रकार तीर्थस्नान आदि करके सूतहत्या के दोष को दूर करके फिर नैमिषारण्य में आयेहुए उन यज्ञमूर्त्ति बलरामजी से ऋषियों ने आनन्द के साथ सब प्रकार के यज्ञ करवाकर परमेश्वर का यजन करवाया ॥ ३० ॥ तब, उन प्रभु बलरामजी ने, उन ऋषियों को, संशय विपर्यय आदि रहित शुद्ध ज्ञान सुनाया कि—जिस के द्वारा उन ऋषियों ने आत्मा में यह जगत् विद्यमान है और जगत् में आत्मा व्याप रहाहै ऐसा साक्षात् अनुभव से जानलिया ॥ ३१ ॥ तदनन्तर अपनी रेवती नामवाली स्त्री के साथ यज्ञान्त स्नान करा, उत्तम वस्त्र पहिनकर उत्तम आभूषण धारण करेहुए और ज्ञाति, बन्धु तथा मित्रजनों से युक्त वह बलरामजी, जैसे चाँदनीसहित चन्द्रमा शोभायमान होता है तैसे शोभित होनेलगे ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! महाबली, अनन्त अप्रमेय, और माया से मनुष्यरूपी तिन बलरामजी के इसप्रकार के और भी अनन्त

संति हि ॥ ३३ ॥ योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ॥ सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥ ३४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ ॥ ॥ राजोवाच ॥ भगवन्यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ॥ वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥ १ ॥ को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ॥ विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥ सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ॥ स्मरेद्वसन्तं स्थिरजंगमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥ शिरस्तु तस्योभयलिंगमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ॥ अंगानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥ सूत उवाच ॥ विष्णुरातेन संपृष्टो भगवान्बादरायणिः ॥ वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो

चरित्र हैं ॥ ३३ ॥ आश्चर्यकारी कर्म करनेवाले, शेषावताररूप बलरामजी के कर्मों को जो पुरुष, सायङ्काल और प्रातःकाल के समय स्मरण करेगा वह विष्णु भगवान् को परम प्रिय होगा ॥ ३४ ॥ इतिश्रीमद्भागवत् के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकोनाशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अस्सीवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने, द्रव्य की इच्छा करके अपने घर आयेहुए सुदामा देव की पूजा करके उस से, गुरु के घर उस के और अपने रहते समय की बातें बूझीं यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ बलरामजी के चरित्र सुनकर फिर श्रीकृष्णजी के ही चरित्र सुनने के निमित्त राजा कहनेलगा कि—हे भगवन्! प्रभो शुकदेवजी! मोक्ष देनेवाले अनन्तपराक्रमी महात्मा श्रीकृष्णजी के जो और चरित्र हों उन को सुनने की हम इच्छा करते हैं ॥ १ ॥ हे भगवन्! उत्तमकीर्ति श्रीकृष्णजी की मनोहर कथा एकवार भी सुनकर उन से, सारग्रहण करनेवाला और विषयों की खोज करते करते खेद को प्राप्त हुआ कौनसा पुरुष, तृप्त होगा? कोई नहीं होसकता ॥ २ ॥ जिसवाणी से तिन भगवान् के ऐश्वर्य आदि गुणों का पुरुष वर्णन करता है वहीवाणी सफल है, जो भगवान् की सेवारूप कर्म करते हैं वही हाथ सफल हैं, जो स्थावर जङ्गम में रहने वाले भगवान् का स्मरणकरे वही मन सफल है, जो उन की पवित्र कथाओं को सुनें वही कान सफल हैं ॥ ३ ॥ जो स्थावर जङ्गमरूप भगवान् की मूर्त्ति को नमस्कार करता है वही मस्तक सफल है, जो भगवान् का दर्शन करते हैं वही नेत्र सफल हैं, जो भगवान् के अथवा भगवद्भक्तों के चरणोदक का नित्य सेवन करते हैं वही अङ्ग सफल होते हैं ॥ ४ ॥ सूतजी ने, कहाकि—इसप्रकार परीक्षित् राजा के प्रश्न करने पर भगवान् शुकदेवजी ने, भगवान् वासुदेव के विषैं निमग्नचित्त होकर कहा ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगेकि—हेराजन्!

ब्रह्मवित्तमः ॥ विरक्त इंद्रियार्थेषु प्रशांतात्मा जितेंद्रियः ॥ ६ ॥ यदृच्छयोपप-
न्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ॥ तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥७॥
पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ॥ दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाऽ-
भिगम्य च ॥ ८ ॥ ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षात् श्रियः पतिः ॥ ब्रह्म-
ण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥ तमुपैहि महाभाग साधूनां च प-
रायणम् ॥ दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥ १० ॥ आस्तेऽधु-
नाद्वारवत्यां भोजवृष्ण्यंधकेश्वरः ॥ स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ॥
॥ ११ ॥ किं त्वर्थकामान्भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥ स एवं भार्यया विप्रो
बहुशः प्रार्थितो मृदु ॥ अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥ इति
संचिंत्य मनसा गमनाय मतिं दधे ॥ अप्यस्त्युपायनं किंचिद्गृहे कल्याणि

कोई एक ब्राह्मण श्रीकृष्णजी का मित्र था, वह बड़ा ब्रह्मज्ञानी, विषयों से विरक्त, अ-
त्यन्तशान्तचित्त और जितेन्द्रिय था ॥ ६ ॥ वह प्रारब्धवश प्राप्तहुए अन्न आदि से आजी-
विका चलाकर गृहस्थधर्म का आचरण करता था; तिस मलिन वस्त्र धारण करनेवाले
ब्राह्मण की स्त्री भी, मलिन वस्त्र धारण करनेवाली पतिव्रता और क्षुधा से दुर्बल हुए तिस
पति को जो कुछ अन्न आदि मिले सो खिलाकर आप क्षुधा से जीर्ण होरही थी ॥ ७ ॥
एकसमय,दरिद्र से पीड़ित,पतिको भोगप्राप्त करानेको अशक्त होनेके कारण दुःखपानेवाली
औरभयसेकाँपनेवालीवहपतिव्रतास्त्री,पतिकेसमीपजाकरसूखेहुएमुखसेकहनेलगीकि— ॥ ८ ॥
हे ब्रह्मन् ! वैराग्य आदि गुणवान् भी तुम्हारे, साक्षात् लक्ष्मीपति, ब्राह्मणों के हितकारी,
शरणागतवत्सल और यादवों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णजी, सखा हैं ऐसा मुझे मालूम है
॥ ९ ॥ इस से हे महाभाग ! साधुओं की परमगति तिन श्रीकृष्णजी से मिलने को तुम
जाओ तब दरिद्रभाव से क्लेश पानेवाले और कुटुम्बवत्सल तुम्हें, वह बहुतसा धन देंगे
॥ १० ॥ भोजों के, वृष्णियों के और अन्धकों के स्वामी वह श्रीकृष्णजी इससमय द्वा-
रका में हैं- उन के तुम्हारा सत्कार करनेपर वह भोजनादिक भी तुम्हें द्रव्य देंगे. वह भग-
वान् द्रव्य देंगे या नहीं ? इस विषय में तुम सन्देह न करो; क्योंकि—वह चरणकमल का
स्मरण करनेवाले पुरुष को अपना स्वरूपानन्द भी देदेते हैं ॥ ११ ॥ फिर वह जगद्गुरु,
अपनी भक्ति करनेवाले पुरुष को अतिप्रिय न लगनेवाले अर्थकाम देते हैं इसका तो कहना
ही क्या ? इसप्रकार स्त्री ने ब्राह्मण की अतिकोमलता से वारम्वार प्रार्थना करी तब उस
ने,उत्तमकीर्ति भगवान् का दर्शन होयगा यह ही बड़ा लाभहै॥ १२ ॥ऐसा मन में विचारकर,
कृष्णदर्शन के निमित्त जाने का निश्चय करा और स्त्री से कहनेलगा कि—हे कल्याणि ! घरमें

दीयतां ॥ १३ ॥ याचित्वा चतुरो मुष्टीन्विप्रान् पृथुकतण्डुलान् ॥ चैलखण्डेन
तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥ स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वा-
रकां किल ॥ कृष्णसंदर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिंतयन् ॥ ॥ १५ ॥ त्रीणि
गुल्मान्यतीयाय तिसृभिः कक्षाश्च स द्विजः ॥ विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्व-
च्युतधर्मिणां ॥ १६ ॥ गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ॥ वि-
वेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानंदं गतो यथा ॥ १७ ॥ तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रि-
यापर्यंकमास्थितः ॥ सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरंगसंगातिनिर्वृतः ॥ प्रीतो व्यमुंचदब्बिंदून्नेत्राभ्यां पु-
ष्करेक्षणः ॥ १९ ॥ अथोपवेश्य पर्यंके स्वयं सख्युः समर्हणम् ॥ उपहृत्याव-
निज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥ २० ॥ अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लो-
कपावनः ॥ व्यलिंपद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुंकुमैः ॥ २१ ॥ धूपैः सुरभिभि-
र्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा अर्चित्वावेद्य तांबूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥

कुछ श्रीकृष्ण को भेट लेजाने के योग्य पदार्थ होय तो दे ॥ १३ ॥ तब उस स्त्री ने, ब्राह्मणों के घरों से चार मुट्ठी च्यूड़ों के चावल माँग के लाकर, वस्त्र के चीथडे में उन की पोटली बाँधकर वह भर्त्ता को भेट दी ॥ १४ ॥ तब वह श्रेष्ठ ब्राह्मण (सुदामा) उन चौलों को लेकर द्वारका को चल दिया, और मुझे श्रीकृष्ण का दर्शन कैसे होयगा ? ऐसा विचार करता २ द्वारका की रक्षा के निमित्त सेना की स्थापन करी हुई तीन छावनियों को और उन के आगे लगाई हुई चौकियों को उल्लंघन करके और ब्राह्मणों के साथ वह ब्राह्मण, श्रीकृष्ण की भक्ति न करनेवाले पुरुषों के प्रवेश करने को अशक्य, अन्धक और वृष्णियों के घरों में के श्रीकृष्णजी के सोलह सहस्र एक सौ आठ घरों में के एक शोभायमान घर में घुसा तब वह ब्राह्मण ब्रह्मानन्द को प्राप्तहुए की समान आनन्दित हुआ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ उस ब्राह्मण को दूर से ही देखकर प्रिया के पलँगपर बैठेहुए भगवान् श्रीकृष्णजी ने, शीघ्रता से उठकर और सन्मुखजाकर हर्ष के साथ आलिंगन करा ॥ १८ ॥ तब, अपने मित्र तिन विप्रर्षि के अंग के स्पर्श से अति आनन्दयुक्त और तृप्तहुए तिन कमलनयन भगवान् ने, अपने नेत्रों में से आनन्द के आँसू बहाये ॥ १९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर उस प्रिय और मित्र ब्राह्मण को पलँग पर बैठाकर आप ही पूजा की सामग्री लाकर, उस सखा के चरण धोकर, वह जल श्रीकृष्णजी ने, अपने आप लोक को पवित्र करनेवाले होकर भी मस्तक पर धारण करा और दिव्य, गन्ध, चन्दन, अगर तथा केसर से उन के अङ्ग को लेपन करा ॥ २० ॥ २१ ॥ फिर सुगन्धयुक्त धूप और दीपकों की पंक्ति (आरती) से तिस मित्र का पूजन करके तथा तन्दुल और गौ अर्पण करके स्वागतप्रश्न करा (कुशल मङ्गल

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् ॥ देवी पर्यचरच्छैब्या चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥ अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ॥ विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितं ॥ २४ ॥ किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ॥ श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ॥ २५ ॥ योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन संभृतः ॥ पर्यंकस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥ कथयांचक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ॥ आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ॥ समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८ ॥ प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा ॥ नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥ २९ ॥ केचित्कुर्वंति कर्माणि कामैरहतचेतसः ॥ त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥ ३० ॥ कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ॥

बूझा) ॥२२॥ उससमय पुराने वस्त्र धारण करनेवाले, मलिन, दुबले और रगों से घिरे तिस ब्राह्मण की, साक्षात् रुक्मिणी देवी ने, चँवरी और पंखे से पवन करके शुश्रूषा करी ॥२३॥ तब, निर्मल है कीर्त्ति जिन की ऐसे श्रीकृष्णजी ने, उस मलीन ब्राह्मण का अति प्रीति के साथ सत्कार करा ऐसा देखकर रणवास में के पुरुष अचम्भा करने लगे कि—॥ २४ ॥ निर्धन, निन्दित और अधम इस अवधूत भिक्षुक ने, इस लोक में ऐसा क्या पुण्य करा था कि—॥ २५ ॥ जिस से लक्ष्मीनिवास और त्रिलोकी के गुरु श्रीकृष्णजी ने, पलँगपर विद्यमान लक्ष्मी को भी त्यागकर इस को बड़े भ्राता की समान हृदय से लगाया और इस का उत्तम सन्मान करा ॥ २६ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! वह सुदामा और कृष्ण दोनो परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़कर पाहिले गुरु के घर रहते समय की अपनी मनोहर कथा कहने लगे ॥ २७ ॥ श्रीभगवान् ने, कहा कि—हे धर्मज्ञ ब्राह्मण ! गुरु को गुरुदक्षिणा देकर गुरु के यहाँ से घर को आकर समावर्त्तन करनेवाले तुम ने, अपने योग्य स्त्री वरी या नहीं? ॥ २८ ॥ हे विद्वन् ! तुम्हारा चित्त, और लोगों के चित्त की समान बहुधा घर में तैसे ही गौ, भूमि, सुवर्ण आदि धन में, विषयों से अपनी ओर को खेंचा हुआ नहीं दीखता है; इसकारण तुम विषयों में अधिक लम्पट नहीं हो, ऐसा मैंने पाहिले ही समझलिया है ऐसा तुम विद्वान् को योग्य ही है ॥ २९ ॥ ईश्वर की माया से रचेहुए विषयों का त्याग करनेवाले कितने ही पुरुष, विषयों में आसक्त न होकर भी, जैसे मैं लोकशिक्षा के निमित्त कर्म करता हूँ तैसे ही लोक की मर्यादा के निमित्त कर्म करते हैं ॥ ३० ॥ हे ब्राह्मण ! तुम्हारा और मेरा गुरु के घर एक स्थानपर रहना हुआ था उस को तुम स्मरण करते हो क्या ?

द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥ ३१ ॥ स वै सत्कर्मणां साक्षाद्द्वि-
जातेरिह संभवः ॥ आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाऽहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥
नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्वर्णाश्रमवतामिह ॥ ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भ-
वार्णवम् ॥ ३३ ॥ नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च ॥ तुष्येयं सर्वभूतात्मा
गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३४ ॥ अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ॥ गुरुदारै-
श्चोदितानामिंधनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥ प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ॥
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥ ३६ ॥ सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्तमसा चा-
वृता दिशः ॥ निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ३७ ॥ वयं भृशं तत्र
महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे ॥ दिशो विदन्तोऽथ परस्परं वने गृही-
तहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥ ३८ ॥ एतद्विदित्वा उदिते रवौ सांदीपनिर्गुरुः

जिस गुरु से परमात्मतत्त्व को जाननेवाला ब्राह्मण, संसार का अन्त पाजाता है ॥ ३१ ॥
तिस मे आत्मज्ञान देनेवाले गुरु की अतिपूजनीयता कहने के निमित्त पुरुष के तीन गुरु
हैं ऐसा वर्णन करते हैं—हे ब्राह्मण ! इस संसार में पुरुष की जिस से उत्पत्ति हुई वह 'पिता'
पहिला गुरु है तदनन्तर द्विजत्व को प्राप्तहुए पुरुष को जिस से सत्कर्मों की प्राप्ति होती है
अर्थात् जो उपनयन संस्कार करके वेदाध्ययन कराता है वह दूसरा गुरु है; वह उस को
मुझ ईश्वर की समान पहिले गुरु की अपेक्षा भी पूजनीय है और सब ही आश्रमवालों को
जो ज्ञान देनेवाला वह तीसरा गुरु है सो साक्षात् मैंही हूँ ॥ ३२ ॥ हे ब्राह्मण ! इस मनुष्य
जन्म में वर्णाश्रमवालों में जो पुरुष, साक्षात् मेरा स्वरूप ऐसे ज्ञान को देनेवाले गुरु के उप-
देश से अनायास में ही संसारसमुद्र को तरजाते हैं वही अपना कार्य सिद्ध करने में बड़े
बुद्धिमान् हैं ॥ ३३ ॥ सकल भूतों में रहनेवाला आत्मा भी मैं, जैसा गुरु की सेवा से प्रसन्न
होता हूँ तैसा ब्रह्मचर्य, यज्ञ आदि गृहस्थधर्म, तप आदि वानप्रस्थधर्म और शान्ति आदि
संन्यासधर्म से भी प्रसन्न नहीं होता हूँ इसकारण गुरु की सेवा से बडा दूसरा धर्म ही नहीं
है ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मण! अपने गुरु के घर रहते थे तब, एकसमय गुरु की स्त्री के ईंधनलाने के निमित्त
वन में भेजेहुए हमारे ऊपर दैवगतिसे जो अवसर आकर पडाथा उसका तुम्हें स्मरण है क्या ?
॥ ३५ ॥ हे ब्राह्मण ! उससमय बडे भारी वन में चलेजाने पर, असमय में एकसाथ बडाभारी
बादल छाकर मूसलधार जल पडा और भयङ्कर गर्जना होकर बिजली गिरनेलगी ॥ ३६ ॥ इतने
ही में सूर्य अस्त होकर दिशा अन्धकार में ढकगई. उससमय सब स्थल जलमय होकर,
नीचा तथा ऊँचा कुछ समझ में नहीं आता था ॥ ३७ ॥ उस जलमयहुए वन में अत्यन्त
पवन से और वर्षा से परमपीडितहुए और दिशाओं को भी न जाननेवाले हम, व्याकुल-
चित्त होकर, एक दूसरेका परस्पर हाथ पकड़कर और मस्तकपर इन्धन का बोझा लेकर जिधर
तिधर को भटकते फिरते थे ॥ ३८ ॥ सूर्य का उदय होने पर सांदीपन गुरुजी, हम को ईंधन

अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥ ३९ ॥ अहो हे पुत्रका यूय-
मस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ॥ आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ४० ॥
एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ॥ यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्था-
त्मार्पणं गुरौ ॥ ४१ ॥ तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ॥ छ-
न्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ ४२ ॥ इत्थंविधान्यनेकानि वसतां
गुरुवेश्मसु ॥ गुरोरनुग्रहेणैव पुमान्पूर्णः प्रशान्तये ॥ ४३ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥
किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ॥ भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरा-
वभूत् ॥ ४४ ॥ यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो ॥ श्रेयसां तस्य
गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ४५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द० उ० श्री-
दामचरिते अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स इत्थं द्वि-
जमुख्येन सह संकथयन् हरिः ॥ सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् १ ॥

छाने को गयाहुआ जानकर, हम शिष्यों को ढूँढते २ हमारे समीप आये और उन्होंने हमें शीत से जकडेहुए देखकर यह कहा कि—॥ ३९ ॥ अरे पुत्रो ! तुमने हमारे कारण बडा दुःख उठाया. प्राणियों को यह देह सब से अधिक प्रिय है परन्तु तुम ने उस देह का भी अनादर करके मेरी सेवा करी॥४०॥उत्तम शिष्यों को गुरु का प्रत्युपकार(उपकार के पलटे का उपकार) यह ही करना चाहिये, कि—जिस से सब पुरुषार्थ मिलते हैं उस शरीर को भी शुद्ध भक्ति से गुरु के अर्पण करदेना ॥४१॥ हे द्विजों में श्रेष्ठो ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्नहुआ हूँ, तुम्हारा मनोरथ सफल होय. तुम्हारा पढाहुआ वेद इस लोक में और परलोक में तुम्हें इच्छित फल देय ॥ ४२ ॥ हे ब्राह्मण ! हम गुरु के घर थे तब ऐसे बहुत से वृत्तान्तहुए उन का तुम्हे स्मरण है क्या ? गुरु के अनुग्रह से ही मनुष्य पूर्णमनोरथ होकर उत्तमप्रकार के शान्तभाव को पाने के योग्य होताहै॥४३॥ब्राह्मण ने कहा कि—हे देवदेव ! हे जगद्गुरो ! सत्य सङ्कल्पवाले तुम्हारे साथ जिन हमारा गुरु के घर वासहुआ ऐसे हम को भला कौनसा फल नहीं मिला ? सब ही फल मिलगये हैं ॥ ४४ ॥ हे प्रभो ! कल्याण के उत्पन्न होने का खेत जो वेदमय ब्रह्म सो तुम्हारा शरीर है, ऐसे तुम्हारा जो गुरु के घर वास सो और लोकों को शिक्षा देने के निमित्त अत्यन्त अनुकरणमात्र (मनुष्य चरित्र की नकल) है ॥४५॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में अशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे इक्यासीवें अध्याय में, श्रीकृष्णजी ने, सखा सुदामा के च्यौले भक्षण करके उस के आश्रम में इन्द्र को भी न मिलसके ऐसी सम्पदा रची, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ इसप्रकार वह श्रीहरि, तिस श्रेष्ठ ब्राह्मण सुदामा के साथ सुख-दायक वार्तें करतेहुए, सब प्राणियों के मन के साक्षी होने के कारण 'स्त्री के कहने से यह धन मांगने के निमित्त आया है; इस ने मेरे निमित्त च्यौले लाकर मुझे लज्जा के कारण

ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्प्रियम् ॥ प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ॥ अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ॥ भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ॥ तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥ इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ॥ पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥५॥ सर्वभूतात्मदृक्साक्षात्तस्यागमनकारणम् ॥ विज्ञायाचिंतयन्नायं श्रीकामो माऽभजत्पुरा ॥ ६ ॥ पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ॥ प्राप्तो मामस्य दास्यामि संपदो मर्त्यदुर्लभाः ॥७॥ इत्थं विचिंत्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः ॥ स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतंडुलान् ॥ ८ ॥ नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ॥ तर्पयंत्यंग मां विश्वमेते पृथुकतंडुलाः ॥ ९ ॥ इति मुष्टि

वह नहीं दिये हैं, ऐसा जानकर ' ब्राह्मणों के हितकारी और साधुओं के गति वह भगवान् श्रीकृष्णजी तिस प्रिय ब्राह्मण की ओर को प्रेमयुक्त दृष्टि से देखते देखते और बडे आनन्द से बारम्बार हास्य करतेहुए उस ब्राह्मण से ऐसा कहनेलगे ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे ब्राह्मण ! तुम मेरे निमित्त अपने घर से क्या भेट लाये हो ? भक्तों की प्रेम के साथ अर्पण करीहुई अत्यन्त थोडीसी भी वस्तु होय तो वह मुझे बहुत होती है और जो भक्ति नहीं करते हैं ऐसे अभक्तों की दीहुई बहुतसी होय तो भी वह मुझे सन्तोषदायक नहीं होती है॥३॥जो पुरुष मुझे,पत्र हो,पुष्प हो,फल हो वा जल हो भक्ति के साथ अर्पण करता है वह, तिस शान्तचित्त पुरुष का भक्ति से अर्पण कराहुआ पत्र आदि भी मैं भक्षण करता हूँ॥४॥हे राजन्!इसप्रकार भगवान् के कहने पर भी,उस सुदामा ब्राह्मण ने लज्जित होकर और नीचे को मुखकरके वह सब, मुट्ठीभर लायेहुए च्यौले लक्ष्मीपति भगवान् को नहीं दिये॥५॥तब सकल प्राणियों के मनमें की बात जाननेवाले तिन साक्षात् भगवान्ने,उस के आने का कारण जानकर, आप जो कुछ करना था उसका चिन्तवन करा कि—इसने पहिले सम्पदा की कामना करके मेरा सेवन नहींकरा है, इसकारण च्यौले लाकर भी यह नहीं देता है और मुझ से कुछ नहीं माँगता है ॥ ६ ॥ यह मेरा सखा अपनी पतिव्रता स्त्री का इच्छित करने के निमित्त मेरे पास आया है, इसकारण मैं इसको, जो देवताओं को भी दुर्लभ हैं ऐसी भोग की सम्पत्ति देताहूँ ॥७॥ ऐसा विचारकर, श्रीकृष्णजी ने, उस ब्राह्मण के वस्त्र में बँधेहुए जो च्यौलों के चावल थे उन को, 'यह क्या है ?' ऐसा कहकर आपही खैंचलिया ॥ ८ ॥ और बडे आदर के साथ कहा कि—हे मित्र ! मैं सत्य २ कहता हूँ कि—यह लाईहुई च्यौलों की भेट, मुझे अत्यन्त प्यारी और तृप्त करनेवाली है; हे मित्र ! यह च्यौलों के चावल मुझे और मेरे आश्रय से रहनेवाले सब जगत् को भी

सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे ॥ तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥
॥ १० ॥ एतावताऽलं विश्वात्मन्सर्वसम्पत्समृद्धये ॥ अस्मिँल्लोकेऽथवा-
ऽमुष्मिन्पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥ ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाऽच्युत-
मन्दिरे ॥ भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥ १२ ॥ श्वो-
भूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ॥ जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्-
न्दितः ॥ १३ ॥ स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ॥ स्वगृहान्
व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥ १४ ॥ अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता
मया ॥ यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥ १५ ॥ क्वाहं दरिद्रः पा-
पीयान्क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ॥ ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः
॥ १६ ॥ निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ॥ महिष्या वीजितः श्रान्तो

तृप्त करेंगे ॥ ९ ॥ ऐसा कहकर श्रीकृष्णजी ने, उस में से एक मुट्ठी खाकर दूसरी मुट्ठी खाने को उठाई, सो उस को खाने से पहिले ही, भगवत्परायण लक्ष्मी की अंश रुक्मिणी ने, उन परमात्मा श्रीकृष्णजी का हाथ पकड़लिया और वह कहनेलगी कि—॥ १० ॥ हे परमात्मन् ! एक मुट्ठी खाई, यही इस ब्राह्मण को इस लोक में तथा परलोक में भी मेरे कटाक्ष का विलासरूप सकल सम्पदाओं की प्राप्ति के अर्थ तुम्हारी प्रसन्नता का बहुतकुछ कारण होगया; अब दूसरी मुट्ठी खाकर मुझेभी इस के अधीन न करो ॥ ११ ॥ इधर ब्राह्मण ने तो, उस रात्रि में श्रीकृष्णजी के घर रहकर, स्वादयुक्त अन्नका भोजन करके और स्वादयुक्त पीने के जल सरबत आदि पीकर बड़े सुख के साथ ऐसा माना कि—मानो में स्वर्ग के भी ऊपर हूँ ॥ १२ ॥ हे राजन् ! दूसरे दिन सूर्य का उदय होनेपर जगत् के पालक और निजानन्दमूर्त्ति श्रीकृष्णजी ने, जिस की वन्दना करे हैं ऐसा और मार्ग में दूरपर्यन्त पहुँचाने को जाकर 'अब जाइये फिर कृपा करके शीघ्र ही पधारना' ऐसा विनय के साथ प्रियभाषण करके विदा कराहुआ वह सुदामा ब्राह्मण, अपने घर पहुँचने को चलदिया ॥ १३ ॥ तब श्रीकृष्णजी से धन न मिलनेपर भी अपने मन के कृपणपने के कारण लज्जित होकर उस ब्राह्मण ने, अपनेआपश्रीकृष्णजी से कुछ नहीं मांगा किन्तु भगवान् के दर्शन से ही आनन्दयुक्त होकर अपने घर को चलागया ॥ १४ ॥ जातेसमय आनन्द से मन में विचार करनेलगा कि—अहो ! ब्राह्मणों के हितकारी भगवान् की ब्राह्मणभक्ति मैंने आज देखी, देखो वक्षःस्थल पर लक्ष्मी को धारण करनेवाले भी उन श्रीकृष्णजी ने, मुझ महादरिद्री को कैसी दृढ़ता से हृदय लगाया ॥ १५ ॥ मैं पापी दरिद्री कहां ? और लक्ष्मी के आश्रय श्रीकृष्णजी कहां ? तथापि यह जाति का ब्राह्मण है ऐसा जानकर मुझे कौलिया भरकर छाती से लगाया ॥ १६ ॥ और प्रिया के सेवन

चामरव्यजनहस्तया ॥ १७ ॥ शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ॥ पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥ १८ ॥ स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि संपदाम् ॥ सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥ १९ ॥ अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ॥ इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात् ॥ २० ॥ इति तच्चिंतयन्नंतः प्राप्तो निजगृहांतिकम् ॥ सूर्यानलेंदुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥ २१ ॥ विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ॥ प्रोत्फुल्लकुमुदांभोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥ २२ ॥ जुष्टं स्वलंकृतैः पुंभिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ॥ "किमिदं" कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥ २३ ॥ एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ॥ प्रत्यगृह्णन्महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥ २४ ॥ पतिमाग-

करेहुए पलँग के ऊपर भ्राता की समान मुझे बैठाया, मार्ग में मुझे परिश्रम हुआ था इस कारण उन श्रीकृष्णजी की पटरानी ने कोमल चँवर लेकर मेरी पवन करी ॥ १७ ॥ फिर उत्तमप्रकार से चरणसेवा और चन्दन आदि के उबटन आदि से, ब्राह्मण को ही देवता माननेवाले परन्तु स्वयं देवताओं के भी देव तिन श्रीकृष्णजी ने मेरी पूजा करी ॥ १८ ॥ अब श्रीकृष्णजी ने अपने को धन नहीं दिया तिस के कारण को मन में विचारता है कि यद्यपि सकल पुरुषोंको, उन भगवान् की चरणपूजा ही, पाताल में और भूतलपर की सकल सम्पदाओं की, अणिमादि सिद्धियों की, स्वर्गप्राप्ति की और मोक्ष की भी कारण है ॥ १९ ॥ तथापि परमदयालु तिन श्रीकृष्णजी ने, यह दरिद्री सुदामा ब्राह्मण, धन पानेपर गर्व में होकर मेरा स्मरण नहीं करेगा, ऐसा मन मे विचारकर, मुझे बहुतसा वा थोडासा भी धन नहीं दिया ॥ २० ॥ इसप्रकार चिन्ता करताहुआ वह ब्राह्मण, अपने घर के समीप को गया, तो वह स्थान उस को—सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा के समान प्रकाशित होनेवाले विमानो से चारों ओर घिराहुआ ॥ २१ ॥ शब्द करनेवाले पक्षियों के समूहों से भरेहुए चित्रविचित्र बागबगीचों से और जहाँ सूर्य के उदय में खिलनेवाले और चन्द्रमा के उदय में खिलनेवाले लाल, स्वेत और नीले कमल खिलरहे हैं ऐसे तलावों में के जलों से युक्त ॥ २२ ॥ और आभूषण धारण करेहुए पुरुषों से तथा हरिणी की समान नेत्रवाली स्त्रियों से युक्त दीखा, उस ऐश्वर्य को देखकर वह सुदामा ब्राह्मण, अरे ! यह तेज का समूह क्या दीख रहा है ? फिर विमानों को देखकर अरे ! यह किस का स्थान है ? फिर उस स्थान को अपना ही जानकर, अरे ! वह ऐसा यह कैसे होगया ? इत्यादि तर्कना करनेलगा ॥ २३ ॥ इसप्रकार विचार करनेवाले तिस महाभाग सुदामा को, देवताओं की समान कान्तिवाले पुरुष और स्त्रियें, हाथ में भेटलेकर, ऊँचे स्वर के गीतबाजों के साथ उस के सन्मुख गये ॥ २४ ॥

तमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षाऽतिसंभ्रमा ॥ निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥ २५ ॥ पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाऽश्रुलोचना ॥ मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥ २६ ॥ पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ॥ दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥ २७ ॥ प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ॥ मणिस्तंभशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥ २८ ॥ पयः-फेननिभाः शय्या दांता रुक्मपरिच्छदाः ॥ पर्यंका हेमदण्डानि चामरव्यंजनानि च ॥ २९ ॥ आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ॥ मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमंति च ॥ ३० ॥ स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ॥ रत्नदीपान् भ्राजमानाँल्ललनारत्नसंयुतान् ॥ ३१ ॥ विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्व-सम्पदाम् ॥ तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीं ॥ ३२ ॥ नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ॥ महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत

पति आयेहैं, ऐसा समाचार सुनकर हर्षितहो पतिके दर्शन करनेमें आदरयुक्तहुई उस की स्त्री जैसे अपने स्थान (कमलों के वन) में से लक्ष्मी बाहर निकलती है तैसे ही अपने घरमें से शीघ्रता के साथ बाहर निकली भगवान् तहाँ सकल स्वर्ग की सम्पदाओं को ही लाये थे इसकारण उन दोनों का शरीर भी देवताओं की समान दिव्य हुआ ॥ २५ ॥ वह पतिव्रता स्त्री पति को देखकर, जिस के नेत्रों में प्रेम के कारण और उत्कण्ठा से आनन्द के आँसू आगये हैं ऐसी होकर, उस ने अपने नेत्र मूँदकर प्रेमभाव से उन पति को नमस्कार करके मन से आलिङ्गन करा ॥ २६ ॥ उससमय वह ब्राह्मण, विमान में बैठीहुई देवाङ्गना की समान दमकतीहुई और कठले आदि आभूषण कण्ठ में धारण करनेवाली दासियों के मध्य में झलकनेवाली उस अपनी स्त्री को देखकर विस्मितहुआ ॥ २७ ॥ और प्रसन्नहुआ वह ब्राह्मण, उस स्त्री के साथ स्वयं अपने घर में प्रविष्ट हुआ, वह घर—मणिमय सैकडों खम्भों से युक्त और इन्द्रस्थान की समान शोभायमानथा॥२८॥तहाँ दूध के झागों की समान गद्दे, सुवर्ण की पट्टी आदि लगेहुए हाथीदाँत के पलँग, सुवर्ण की दण्डीवाले चँवरी और पंखे थे ॥ २९ ॥ तैसे ही कोमल बिछौने बिछायेहुए सुवर्ण के आसन (चौकी आदि), और जिन में मोतियों की झालर लटकरही थीं ऐसी चमकतीहुई कपडछतें थीं ॥३०॥ स्फटिक मणि की भीतें और इन्द्र नीलमणि की भूमिवाले उन घरों में स्त्रीरत्न शोभायमान थे और रत्नों के दीपक जलरहे थे ॥ ३१ ॥ उन घरों में सकल सम्पदाओं की समृद्धि को देख-कर सावधानचित्त हुआ वह ब्राह्मण, अकस्मात् आईहुई उस अपनी समृद्धि के विषय में 'यह कहाँ से आगई?' ऐसा विचार करनेलगा ॥ ३२ ॥ वह कहनेलगा कि—अहो ! मुझे निःसन्देह प्रतीत होता है कि—भाग्यहीन और जन्म से ही दरिद्री मुझे यह समृद्धि प्राप्त होने

यद्दूत्तमस्य ॥ ३३ ॥ नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥ ३४ ॥ किंचित्क-
रोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी । मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥ ३५ ॥ तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुन-
र्जन्मनि जन्मनि स्यात् । महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः
॥ ३६ ॥ भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो राज्यं विभूतीर्न समर्द्धयत्यजः
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥ ३७ ॥ इत्थं

का कारण, महाविभूति भगवान् श्रीकृष्णजी की कृपादृष्टि के सिवाय दूसरा कोई नहीं है । ३३ । यादवों के स्वामी मेरे सखा श्रीकृष्णजी, निःसन्देह भक्त के दियेहुए थोडे से भी पदार्थ को बहुतसा माननेवाले और अपने बहुतसे दियेहुए को भी मेघ की समान थोडा देखनेवाले हैं इसकारण यह याचना करनेवाले भक्त को विना कहे ही बहुत सी सम्पत्ति देते हैं अर्थात् जैसे समुद्र को भी भरदेनेवाला परमउदार मेघ, अपनी करीहुई बडी वर्षा को भी बहुत थोड़ी मानकर लोकों के समक्ष वृष्टि न करके रात्रि में सब लोकों के सोजाने पर उन के खेतों को जल से पूर्ण करडालता है तैसे ही मेरे सखा पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्णजी भी; भक्तों को देने के निमित्त इन्द्रपद को भी तुच्छ और उन की करीभक्ति को अधिक मानकर समक्ष में कुछ न कहतेहुए सकलसम्पदा देते हैं ॥ ३४ ॥ वह भगवान् अपने दियेहुए बहुतसे भी ऐश्वर्य को थोडा मानते हैं और प्रेमयुक्त भक्त के करेहुए थोडे से भी भजन को बहुतसा मानते हैं इस विषय में प्रमाण मेरा ही उदाहरण है कि-मेरी अर्पण करीहुई च्यौलों की केवल एक मुट्ठी थी वह उन महात्मा ने प्रीतियुक्त हो बहुत मानकर स्वीकार करी ॥ ३५ ॥ ऐसा कहकर और श्रीकृष्णजी की भक्तवत्सलता देखकर उस ब्राह्मण ने मन में प्रार्थना करी कि-मुझे अब आगेको जन्म जन्म तिन श्रीकृष्णजी का प्रेम, सखाभाव, मित्रता और सेवकभाव प्राप्त हों तथा महानुभाव और ऐश्वर्य आदि गुणों के स्थान तिनही श्रीकृष्णजी के साथ विशेष करके सम्पदा पानेवाले मुझ को उन के भक्तों की उत्तम सङ्गति होय ॥ ३६ ॥ अब भक्ति का फल सम्पदा, प्राप्त होने पर फिर भक्ति की क्यों प्रार्थना करता है ऐसा कोई कहता कहते हैं कि-धनवान् पुरुषों को मदोन्मत्तपना होकर आगे को अधोगति प्राप्तहोती है ऐसा स्वयं देखनेवाले विचारवान् भगवान्, अपने अपूर्ण (कच्चे) भक्तको, अनेकों प्रकार की सम्पत्तियें ऐश्वर्य, पुत्र पौत्र आदि समृद्धि और राज्य, यह कुछ भी नहीं देते हैं किन्तु, दृढभक्ति नहीं देते हैं, मुझ अज्ञानी को तो भक्ति न होने से यह सम्पदा मिली इस

व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ॥ विषयान् जायया त्यक्ष्यन्बुभुजे ना-
तिलंपटः ॥ ३८ ॥ तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ॥ ब्राह्मणाः प्रभवो
दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥ ३९ ॥ एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा दृष्ट्वा स्व-
भृत्यैरजितं पराजितम् ॥ तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबंधनस्तद्धाम लेभेऽचिरतः
सतां गतिम् ॥ ४० ॥ एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ॥ लब्धभावो
भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ४१ ॥ इतिश्रीभागवते म० द० उ० एकाशी-
तितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथैकदा द्वारवत्यां वसतो
रामकृष्णयोः ॥ सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥ तं ज्ञात्वा म-
नुजा राजन्पुरस्तादेव सर्वतः ॥ स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया
॥ २ ॥ निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ नृपाणां रुधिरौघेण

कारण अब वह भक्ति ही प्राप्त होय ॥ ३७ ॥ भगवान् का परमभक्त वह ब्राह्मण तो, इसप्रकार बुद्धि से निश्चय करके, तिन विषयों को धीरे २ त्यागता हुआ, अति आसक्त न होकर स्त्री के साथ विषयों का सेवन करनेलगा ॥ ३८ ॥ श्रीकृष्णजी में इसप्रकार की ब्राह्मणभक्ति होना आश्चर्य नहीं है, क्योंकि - देवताओं के देवता, यज्ञपति तिन प्रभु श्रीहरि के, ब्राह्मण ही प्रभु और इष्टदेवता हैं, उन को तिन ब्राह्मणों से परमश्रेष्ठ दूसरा कुछ नहीं है ॥ ३९ ॥ इसप्रकार वह भगवान् का मित्र ब्राह्मण, उन सम्पदाओं के भोग के समय में भी, किसी के न जीतेहुए भगवान् को भक्तों ने अपने वश में करलिया है, ऐसा जानकर उन के ही तीव्र ध्यान से अपने अविद्यारूप बन्धन को तोड़कर (देहाभिमान को छोडकर) थोडेही काल में, ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को प्राप्त होनेवाले उन के स्वरूप को प्राप्त होगया ॥ ४० ॥ हे राजन् ! यह च्यौलों की कथा और इस में के ब्राह्मणों के हितकारी श्रीकृष्णजी की ब्राह्मणभक्ति को जो पुरुष सुनता है वह, भगवान् के विषैं भक्ति पाकर कर्मबन्धन से छूटजाता है ॥ ४१ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकाशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे बयासीवें अध्याय में, सूर्यग्रहण के समय चारोंओर से इकट्ठेहुए राजाओं ने यादवों को देखकर उन के साथ आनन्दपूर्वक कृष्ण कथा वार्त्ता करी यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हेराजन् ! फिर वह बलरामकृष्ण द्वारका में रहते रहे, एकसमय, जैसे प्रलयकाल में सूर्य का लय होकर अन्धकार छाजाता है तैसेही सर्वग्रास से अन्धकार छानेवाले बहुत ही बडे सूर्य ग्रहण के पर्व आये ॥ १ ॥ हे राजन् ज्यौतिषियों के बताएहुए उन सूर्यग्रहणों का समय आने से पहिले ही, उन को सुनकर सब देशों के मनुष्य, पुण्य प्राप्त करने की इच्छा से स्यमन्तपञ्चक नामवाले कुरुक्षेत्र को चलेगये ॥ २ ॥ जिस कुरुक्षेत्र में, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ परशुरामजी ने, पृथिवी को क्षत्रिहीन करतेसमय, राजाओं के रुधिर के प्रवाह

यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥ ३ ॥ ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ॥
लोकस्य ग्राहयन्नीशो यथाऽन्योघापनुत्तये ॥ ४ ॥ महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रा-
गन् भारतीः प्रजाः ॥ वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥ ५ ॥ ययुर्भारत
तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ॥ गदप्रद्युम्नसांबाद्याः सुचन्द्रशुकसारणैः ॥ आ-
स्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ॥ ६ ॥ ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च
तरलप्लवैः ॥ गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ॥ ७ ॥ व्यरोचन्त म-
हातेजाः पथि कांचनमालिनः ॥ दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा
इव ॥ ८ ॥ तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥ ब्राह्मणेभ्यो
ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ॥ ९ ॥ रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥
ददुःस्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ॥ १० ॥ स्वयं च तदनुज्ञा-
ता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायांघ्रिपांघ्रिषु ॥

से बड़भारी नौ तालाव उत्पन्न करदिये थे ॥ ३ ॥ और जहाँ राजाओं के वध के पाप से अलिप्त भी उन भगवान् प्रभु परशुरामजी ने, लोकों को ऐसा करना चाहिये, ऐसी उन को शिक्षा देने के निमित्त, जैसे साधारण पुरुष, अपने पाप दूर करने के निमित्त प्रायश्चित्त आदि करता है तैसे बहुतसे यज्ञ करके भगवान् का आराधन करा ॥ ४ ॥ अतिपुण्यकारक तिस तीर्थयात्रा में तिस कुरुक्षेत्र के विषें भरतखण्ड में की बहुत सी प्रजा गई थीं, तैसे ही हे राजन्! अक्रूर, वसुदेव, आहुक, गद, प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादव भी अपने पाप दूर करने की इच्छा करके उस कुरुक्षेत्र में गए थे, उससमय अनिरुद्ध और सेनापति कृतवर्म्मा यह दोनों, सुचन्द्र, शुक और सारण के साथ द्वारका की रक्षा करने के निमित्त रहे थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ तब कण्ठ में सुवर्ण के पुष्पों की माला धारण करनेवाले, दिव्य माला, वस्त्र, कवच, कुण्डल आदि पहिने और स्त्रियों के साथ यात्रा को निकलेहुए वह महातेजस्वी यादव, मार्ग में विमानों की समान रथों से, तरङ्गों की समान चञ्चल चालवाले घोड़ों से, गरजनेवाले मेघों की समान हाथियों से और विद्याधरों की समान तेजस्वी सिपाही आदि मनुष्यों से, देवांगना के साथ विमान में बैठकर जानेवाले देवताओं की समान शोभायमान होनेलगे ॥ ७ ॥ ८ ॥ उन महाभाग यादवों ने, एकाग्रचित्तपने से उस तीर्थ में स्नान करके निराहार व्रत करा और ब्राह्मणों को वस्त्र तथा माला देकर, सुवर्ण के पुष्पों की माला धारण करीहुई गौ भी दान दीं ॥ ९ ॥ तदनन्तर उन्होंने परशुरामजी के रचना करेहुए तालावों में विधि के साथ मोक्षस्नान करके, श्रीकृष्ण के विषें हमें भक्ति हो इस अभिप्राय से ब्राह्मणों को उत्तम अन्न का भोजन कराया ॥ १० ॥ तदनन्तर जिन के देवता श्रीकृष्ण हैं तिन यादवों ने, ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर आप भी भोजन करने पर घने और शीतल छायावाले वृक्षों के नीचे अपनी

॥ ११ ॥ तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्संबंधिनो नृपान् ॥ मत्स्योशीनरकौसल्य-
विदर्भकुरुसृंजयान् ॥ १२ ॥ कांबोजकैकयान्मद्रान्कुंतीनानर्तकेरलान् ॥ अ-
न्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ॥ १३ ॥ नंदादीन्सुहृदो गोपान् गो-
पीश्चोत्कंठिताश्चिरम् ॥ १४ ॥ अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रस-
रोरुहश्रियः ॥ आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥ १५ ॥ स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदस्मितामलापांगदृशोऽभिरे-
भिरे ॥ स्तनैः स्तनान्कुंकुमपंकरूषितान्निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः १६॥
ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः ॥ स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः
कृष्णकथां मिथः ॥ १७ ॥ पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ॥
भ्रातृपत्नीर्मुकुंदं च जहौ संकथया शुचः ॥ १८ ॥ कुंत्युवाच ॥ आर्य भ्रातरहं
मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ॥ यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥ १९ ॥

इच्छानुसार डेरे आदि लगाकर, कुछदिनों तहां ही रहने के ढंग से ठहरे ॥ ११ ॥ फिर हे राजन् ! उन यादवों ने, तहाँ आयेहुए मित्र सम्बन्धी राजाओं को देखा, तैसे ही, मत्स्य, उशीनर, कौसल्य, विदर्भ, कुरु, सृंजय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ती, आनर्त्त, और केरल देशों में रहनेवाले पुरुषों को तथा दूसरे भी अपने पक्ष के और शत्रुपक्ष के सैकड़ों पुरुषों को देखकर परमस्नेही नन्दादि गोपों को और दर्शन की बहुतदिनों से उत्कण्ठा रखनेवाली गोपियों को भी देखा ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ तब परस्पर के दर्शन से उत्पन्न हुए आनन्द के वेग करके अत्यन्त उमड़ेहुए हृदयों से और मुख कमलों से जिन के ऊपर शोभा आरही है, जिन के नेत्रों में से आनन्द के आँसू वह रहे हैं, जिन की वाणी प्रेम से गद्गद होरही हैं और जिन के शरीरों पर अधिक हर्ष से रोमाञ्च खड़े होगये हैं ऐसे वह सब लोक, परस्पर दृढ आलिङ्गन करके आनन्द में निमग्न हुए ॥ १५ ॥ तैसे ही सकल स्त्रियें भी परस्पर एक दूसरी को देखकर अतिप्रेम से जिन की दृष्टि मन्दहास्य युक्त और निर्मल कटाक्षयुक्त हुई हैं तथा जिन के नेत्रों में आनन्द के आँसू आगये हैं ऐसी होकर केशर से लेपन करेहुए स्तनों को, तैसे ही अपने स्तनों से दबाकर आलिंगन करनेलगीं ॥ १६ ॥ तदनन्तर छोटी अवस्था के लोकों से, प्रणाम करेहुए वह सब लोक, अधिक अवस्थावाले वृद्धों को प्रणाम करके और स्वागत का तथा कुशल का प्रश्न करके आपस में कृष्ण की कथा वर्णन करनेलगे ॥ १७ ॥ कुन्ती तो—अपने भ्राता, बहिन, उन के पुत्र, माता, पिता, भावज, और श्रीकृष्णजी को देखकर उन के साथ प्रेम की बातें करनेपर सब दुःखों को भूलगई ॥ १८ ॥ वह कुन्ती वसुदेवजी से कहनेलगी कि—हे आर्य भ्रातः ! मैं तो, अपने मनोरथ पूर्ण नहीं हुए ऐसा मानती हूँ, क्योंकि तुमने समर्थ होकर भी, मेरे ऊपर आपत्ति

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ॥ नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥ २० ॥ वसुदेव उवाच ॥ अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान्नरान् ॥ ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा ॥ २१ ॥ कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशो दिशः ॥ एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥ २२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ॥ आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥ २३ ॥ भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ॥ सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥ २४ ॥ कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ॥ पुरुजिद् द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥ २५ ॥ दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ॥ युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥ २६ ॥ राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ॥ श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥ २७ ॥ अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ॥ प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥ २८ ॥ अहो भोजपते यूयं जन्म-

आने के समय मेरा स्मरण भी नहीं करा ॥ १९ ॥ मित्र हों, जातिवाले हों, पुत्र हों अथवा माता पिता भी हों वह, जिस का दैव प्रतिकूल हो उस स्वजन का भी स्मरण नहीं करते हैं ॥ २० ॥ तब वसुदेवजी ने कहा कि—हे बहिन ! दैव के खिलौनेरूप हम मनुष्यों को तू कुछ दोष मत देय, क्योंकि—सब लोक ईश्वर के वश में हैं, वह उस की प्रेरणा से ही नाना-प्रकार के कार्य करते हैं अथवा दूसरों से कराते हैं ॥ २१ ॥ हे बहिन ! पहिले कंस के अत्यन्त दुःख दियेहुए हम सब, दिशा २ में को भागगये थे, सो अब ही फिर दैव करके अपने स्थानों को प्राप्त हुए हैं ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! उन आये-हुए कुरु—मत्स्य आदि राजाओं का, वसुदेव उग्रसेन आदि यादवों ने, सत्कार करा तब, वह परमानन्दमूर्त्ति श्रीकृष्णजी के दर्शन के आनन्द से अत्यन्त सुख को प्राप्तहुए ॥ २३ ॥ भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, तैसे ही पुत्रों सहित गान्धारी, स्त्री सहित पाण्डव, कुंती, सृञ्जय, विदुर, कृपाचार्य ॥ २४ ॥ कुन्तिभोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशिराज ॥ २५ ॥ दमघोष, विशालाक्ष, मिथिला नगरी का राजा, मद्रदेशों का राजा, केकयदेशों का राजा, युधामन्यु, सुशर्मा, और पुत्रोंसहित बाल्हीक आदि जो राजे तहाँ आये थे; तैसे ही हे राजेन्द्र ! राजसूययज्ञ में जीतेहुए होने के कारण युधिष्ठिर के पक्ष में होकर जो राजे तहाँ आये थे वह, लक्ष्मी के और शोभा के रहने के स्थान श्रीकृष्णजी के शरीर और उनकी स्त्रियों को देखकर उनकी सुन्दरता की अधिकता से विस्मयमें होगये ॥ २६ ॥ २७ ॥ तदनन्तर बलरामकृष्ण करके उत्तम सत्कार करेहुए राजे, हर्षयुक्त होकर, भगवान् के अङ्गीकार करेहुए यादवों की प्रशंसा करनेलगे ॥ २८ ॥ कि—हे भोजपते उग्रसेन राजन् !

भाजो नृणामिह ॥ यत्पश्यथासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २९ ॥ य-
द्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रं ॥ भूः कालभ-
र्जितभगाऽपि यदङ्घ्रिपद्मस्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ ३० ॥
तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्पशय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ॥ येषां गृहे निरय-
वर्त्मनि वर्ततां वः स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ॥ यत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थै-
र्दिदृक्षया ॥ ३२ ॥ तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः परिषस्व-
जिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३३ ॥ वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः ॥
स्मरन् कंसकृतान्क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ॥ ३४ ॥ कृष्णरामौ परिष्वज्य
पितरावभिवाद्य च ॥ न किंचनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥ ३५ ॥ तावात्मा-

इस मनुष्यलोक में तुमने ही अपने जन्म की सफलता करली है, क्योंकि—जिनका दर्शन योगीजनों को भी दुर्लभ है ऐसे भगवान् श्रीकृष्णजी को तुम निरन्तर देखते हो ॥२९॥ केवल उन का दर्शन ही तुम्हें होता है ऐसा नहीं किन्तु अत्यन्तदुर्लभ और भी बहुत से लाभ होते हैं; जिन की वेदों में वर्णन करीहुई कीर्त्ति, जिन के चरण की धोवन का जल (गङ्गाजल) और जिन के वचनरूप शास्त्र (वेदादि), इस सकल जगत् को अत्यन्त पवित्र करते हैं, और काल की गति से भाग्यहीन हुई भी भूमि, जिन के चरणारविन्द के स्पर्श से उत्तम शक्तिपाकर हमें सकल पदार्थ जिधर तिधर से देती है ॥ ३० ॥ उन भगवान् के साथ दर्शन, स्पर्श, पीछे २ फिरना, वार्त्तालाप, सोना, बैठना, भोजन, विवाह-सम्बन्ध और गोत्रसम्बन्ध जिन के हैं ऐसे तुम, यद्यपि नरक के मार्गरूप घरों में रहते हो तथापि तुम्हारे घरों में स्वर्ग की और मोक्ष की भी इच्छा को दूर करनेवाले भगवान् विष्णु स्वयं प्रगटहुए हैं, इसकारण तुम्हारा जन्म सफल है ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन! नन्दराजा तो तहाँ श्रीकृष्ण आदि यादव आये हैं ऐसा सुनकर कृष्ण आदिकों के दर्शन की इच्छा के, गोपों के साथ उन यादवों के समीप ही ठहरने की इच्छा से छकड़ों पर लादेहुए सामान आदि सहित ही तहाँ आगये ॥ ३२ ॥ उन नन्दजी को देखकर हर्ष को प्राप्तहुए यादव, जैसे प्राण के आने पर इन्द्रियें उठकर उस के सन्मुख जाती हैं तैसे सन्मुख जाकर, बहुतसमय में दर्शन होने के कारण मिलने में शीघ्रता करने-वाले उन्होंने, उन नन्दजी को दृढता के साथ हृदय से लगाया ॥ ३३ ॥ वसुदेवजी तो नन्दजी को आलिङ्गनकर प्रसन्न होकर, कंस के दियेहुए क्लेशों का और अपने पुत्र गो-कुल में रखदिये थे उन का स्मरण करतेहुए, प्रेम से अत्यन्त विह्वल हुए ॥ ३४ ॥ हे राजन्! श्रीकृष्ण और बलराम तो अपने मातापिता तिन यशोदानन्द को नमस्कार और आलिङ्गन करके, प्रेम से कण्ठ भर आने के कारण कुछ भी बोलने को समर्थ नहीं हुए

संनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ॥ यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः
॥ ३६ ॥ रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ॥ स्मरन्त्यौ तत्कृतां
मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥ ३७ ॥ का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजे-
श्वरि ॥ अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ ३८ ॥ एतावदृष्टपितरौ
युवयोः स्म पित्रोः संप्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ॥ प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म
ह यद्वदक्ष्णोर्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥ ३९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति॥ दृग्भि-
र्हृदि कृतमलं परिरभ्य सर्वास्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥
भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगतः ॥ आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदं
मब्रवीत् ॥ ४१ ॥ अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ॥ गतांश्चिरा-

किन्तु मौन ही रहे ॥ ३५ ॥ तब राजा नन्द ने और महाभाग्यवती यशोदा ने उन दोनों पुत्रों को अपनी गोद में बैठाकर उन को भुजाओं से कौलिया भरलिया और विरहशोक को त्यागकर नेत्रों में से आनन्द के आँसू बहाये ॥ ३६ ॥ तदनन्तर रोहिणी और देवकी यह दोनों, यशोदा से मिलकर तिस यशोदा के करेहुए पुत्रों को लाड करना आदि मित्रभाव का स्मरण करके गद्गदकण्ठ हुई कहने लगीं ॥ ३७ ॥ कि—हे व्रजेश्वरि ! हे यशोदे ! छूटने का कारण होने पर भी न छूटनेवाले तुम दोनों के मित्रभाव को भला कौन भूलनेवाला है?, क्योंकि—इन्द्र के ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी इस लोक में जिस मित्रभाव का पलटा नहीं हो सकेगा ॥ ३८ ॥ हे यशोदे ! जिन्होंने मातापिता को देखा भी नहीं ऐसे इन हमारे बल-रामकृष्ण पुत्रों को तुम्हारे समीप रखने पर, जैसे पलक नेत्रों की रक्षा करते हैं तैसे ही तुम ने इन की रक्षा करी है; यह तुम माता-पिता से ही इच्छा के अनुसार खाना, खेलना, उत्साह, लाड, और पालन (स्नान, भोजन, पीना आदि) पाकर निर्भयपने से गोकुल में रहे हैं. सत्य है कि—सत्पुरुषों को, 'यह अपना और यह पराया इसप्रकार की' भेद-बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी नहीं होती है ॥ ३९ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! जो गोपियें, श्रीकृष्णजी को देखने में प्रवृत्त हुई अपनी दृष्टियों को रोकनेवाले पलकों को रचने-वाले ब्रह्माजी की निन्दा करती थीं वह सब गोपियें भी बहुत काल के अनन्तर मिलेहुए प्रिय श्रीकृष्णजी को देखकर नेत्रों के द्वारा हृदय में पहुँचाएहुए उन को दृढ आलिङ्गन करके, नित्य चित्त को एकाग्र करनेवाले योगियों को भी दुर्लभ भगवद्रूपता को प्राप्त हुई ॥४०॥ भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी; आतमभाव को प्राप्त हुई उन गोपियों से एक ओर मिलकर और दृढ आलिङ्गन करके तथा कुशल बूझकर हँसतेहुए इसप्रकार कहा कि—॥४१॥ हे सखियो ! अपने माता-पिता आदि का कार्य करने की इच्छा से गोकुल में से मथुरा में गये

यितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥ ४२ ॥ अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञा वि-शंकया ॥ नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥ ४३ ॥ वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ॥ संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥ ४४ ॥ मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ दिष्ट्या यदासीन्म-त्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥ ४५ ॥ अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ॥ भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥ ४६ ॥ एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः ॥ उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥ ४७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ॥ तदनुस्म-

हुए और तहाँ शत्रुपक्ष का नाश करने के विषय में अपने चित्त को लगाकर बहुत दिनों पर्यन्त रहनेवाले हमारा तुम स्मरण करती हो क्या ? ॥४२॥ क्या, हम अकृतज्ञ (करे-हुए उपकार को स्मरण न करनेवाले) हैं ऐसी कुछ शङ्का मन में लाकर तुम हमारी निन्दा तो नहीं करती हो ? क्या करें ! भगवान् प्राणीमात्र के संयोग और वियोग करते हैं यह वार्त्ता सत्य है ॥ ४३ ॥ जैसे वायु, मेघ की घटा, तृण, रुई और धूलि, इन का एक स्थान पर संयोग करके तत्काल ही वियोग करदेता है, तैसे ही ईश्वर प्राणीमात्र के संयोग वियोग करता है ॥ ४४ ॥ ऐसी दशा में तुम्हें मेरे वियोग से मेरा अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ यह एक बड़ी उत्तम वार्त्ता हुई, क्योंकि—मेरे विषय की केवल भक्ति ही उत्पन्न होजाय तो वह,—प्राणियों को मोक्ष देसक्ती है, फिर मेरी प्राप्ति करदेनेवाला मेरा स्नेह तुम्हें प्राप्त हुआ यह तो कितने अहोभाग्य की वार्त्ता है ? ॥ ४५ ॥ हे स्त्रियों ! जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पाँच महाभूत, घटपटआदि पदार्थों के आदि अन्त में, बाहर और भीतर सब रूपों से हैं, तैसे ही मैं भी सकलपदार्थों के आदि, अन्त में, बाहर और भीतर सकल रूपों से हूँ ॥ ४६ ॥ जैसे घटआदि कार्य पृथ्वी आदि रूप ही हैं तैसेही जरायुज (झिल्ली में लिपटे हुए उत्पन्न होनेवाले) स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होनेवाले) अण्डज (अण्डे में उत्पन्न होनेवाले) और उद्भिज्ज (पृथ्वीआदि को फोडकर उत्पन्न होनेवाले) यह चारोंप्रकार के शरीर अपने कारणरूप पञ्चमहाभूतों में ही रहते हैं, भोक्ता आत्मा के विषैं नहीं रहते हैं, आत्मा तिन पञ्चमहाभूतों में केवल भोक्तारूप से व्यापरहा है, कारणरूप से नहीं, तिस से भूतभौतिकरूपभोग्य और भोक्ता आत्मा यह दोनो मुझ परिपूर्ण ब्रह्म के विषैं भासते हैं, सत्य नहीं हैं ऐसा तुम देखो ॥ ४७ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार श्रीकृष्णजी ने, आत्मतत्व का उपदेश करके समझाई हुई वह गोपियें, आत्मतत्व का वारम्वार चिन्तवन करके लिङ्ग-

रणँध्वस्तजीवकोशास्तँमध्यगर्मन् ॥ ४८ ॥ आहुश्चे ते नलिननाभ पदारविंदं योगेश्वरैर्हृदि विचिंत्यमगाधबोधैः ॥ संसारकूपपतितोत्तरणावलंबं गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥ ४९ ॥ इतिश्रीभा० म० द० उ० वृष्णिगोपसंगमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ॥ युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् १ ॥ ते एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ॥ प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २ ॥ कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ॥ पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥ हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थमानन्दसंप्लवमखण्डमकुंठबोधम् ॥ कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोगमायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥ ४ ॥ ऋषिरुवाच ॥ इत्युत्तम-

शरीर का नाश होनेपर तिन श्रीकृष्णजी के स्वरूप को ही प्राप्त होगई ॥ ४८ ॥ और कहनेलगीं कि-हे कमलनाभ ! अगाध बोधवाले योगेश्वरों करके भी हृदय में चिन्तवन कराहुआ और संसाररूप कूप में पडेहुए पुरुषों को उस में से निकलने में अवलम्बन रूप तुम्हारा चरणकमल, घरद्वार का सेवन करनेवाली भी हमारे मन में निरन्तर प्रकट रहे अर्थात् तुम्हारी कृपासे हमें प्राप्तहुआ यह तुम्हारा साक्षात् दर्शन फिर घरके झगडों से कभी दूर न हो॥४९॥ इतिश्रीमद्भागवतकेदशमस्कन्धउत्तरार्द्धमेंद्व्यशीतितम अध्यायसमाप्त॥*॥ अब आगे तिरासीवें अध्याय में, स्त्रियों में श्रीकृष्णजी की कथा का उत्साह चलने पर, श्रीकृष्णजी की स्त्रियों ने, द्रौपदी से अपना २ विवाह कहा, यह कथा वर्णन करी है ॥*॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन् ! गोपियों को आत्मतत्त्व का उपदेश करनेवाले गुरु और उन की गति ऐसे उन श्रीकृष्णजी ने, उन की प्रार्थना करने को 'तथास्तु' कहकर उन के ऊपर अनुग्रह करा और फिर उन्होंने धर्मराज आदि सब ही सुहृदों से कुशलमंगल बूझा ॥ १ ॥ इसप्रकार लोकनाथ श्रीकृष्णजी के सत्कारपूर्वक प्रश्न करने पर वह पाण्डव आदि, उन के चरण के दर्शन से निष्पाप और हर्षितचित्त होकर उन श्रीकृष्णजी से कहनेलगे कि-। २ ॥ हे प्रभो ! देहधारियों को अभिमान उत्पन्न करनेवाली अविद्या का नाश करनेवाली और व्यासआदि सत्पुरुषों के मन में से मुख के द्वारा बाहर प्रकटहुई तुम्हारे चरणकमल से सम्बन्ध रखनेवाली कथारूप अमृत को किसी समय भी जो पुरुष, अपने कर्णरूपपात्रों से इच्छानुसार पीते हैं उन को अमङ्गल भला कैसे होयगा ? अर्थात् कभी नहीं होगा ॥ ३ ॥ इसकारण अपने स्वरूप के प्रकाश से जहाँ बुद्धि से करीहुई जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीनो अवस्था नष्ट होगई हैं ऐसे सकल आनन्दों के समूहरूप, अपरिच्छिन्न, कुण्ठित न होनेवाली चैतन्यशक्ति से युक्त, कालवश नष्ट होतेहुए वेदों की रक्षा करने के निमित्त योगमाया से मनुष्यावतार धारण करनेवाले और परमहंसों

श्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ॥ समेत्य गोविंदकथा मिथोऽगृणंस्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ ५ ॥ द्रौपद्युवाच ॥ हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जांबवति कौसले ॥ हे सत्यभामे कालिंदि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥ हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम् ॥ उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥ ७ ॥ रुक्मिण्युवाच ॥ चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ॥ निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजाविथूथात्तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥८॥ सत्यभामोवाच ॥ यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ॥ जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन भीतः पिताऽदिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥ जांबवत्युवाच ॥ प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाऽभ्य-

की गति ऐसे तुम्हें हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! इसप्रकार पवित्रकीर्त्ति पुरुषों के मुकुटमणि तिन श्रीकृष्णजी की लोकों के स्तुति करनेपर, उससमय यादवों की और कौरवों की स्त्रियें इकट्ठी होकर, त्रिलोकी में वर्णन करी हुई श्रीकृष्णजी की कथाएँ परस्पर कहनेलगीं वह, मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥ द्रौपदीने कहा कि—हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे ! हे कृष्णपत्नियो ! तुम मुझे यह बताओ कि—अपनी माया से लोकों का अनुकरण करनेवाले अच्युत भगवान् श्रीकृष्णजी ने, अपनेआप तुम्हारा पाणिग्रहण (विवाह) कैसे करलिया ? ॥ ६ ॥ ७ ॥ तब रुक्मिणी बोली कि—मुझे, शिशुपाल को प्राप्तकराने के निमित्त जरासन्ध आदि राजे, हाथ में धनुषधारण करने को उद्यत हुए तब,जीतने में न आनेवाले वीरों के मस्तकोंपर के मुकुटमणि की समान जिन के चरण की धूलि का कण है अर्थात् जिन्होंने उन के मस्तक पर चरण रक्खा है ऐसे श्रीकृष्णजी, जैसे सिंह बकरी और भेडों के समूह में से अपना भाग लेजाता है तैसे अपना भागरूप मुझे ले आये; तिन भगवान् के चरण की पूजा मैं निरन्तर करती रहूँ ॥ ८ ॥ सत्यभामा कहनेलगी कि—अपने भ्राता प्रसेन का वध होने से दुःखितचित्तहुए मेरे पिता सत्राजित् के दोषदेनेपर, अपने ऊपर लगे अपयश को दूर करने के निमित्त जब श्रीकृष्णजीने,जाम्बवन्त को जीतकर स्यमन्तक रत्न लाकर दिया तब इन के ऊपर खोटा दोष लगाने के अपराध से डरेहुए उन मेरे पिता ने, दूसरे को देने के निमित्त कहीहुई भी मुझे, इन प्रभु श्रीकृष्णजी को अर्पण करा है ॥ ९ ॥ जाम्बवती कहने लगी कि—मेरे पिता जाम्बवान् ने, यह प्रभु श्रीकृष्ण, अपने स्वामी और कुलदेवता रामही हैं ऐसा न जानकर

युद्ध्यत् ॥ ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य
दासी ॥ १० ॥ कालिन्द्युवाच ॥ तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ॥ स-
ख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥ ११ ॥ मित्रविन्दोवाच ॥ यो
मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ॥
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकस्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम्
॥ १२ ॥ सत्योवाच ॥ सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान् पित्रा कृतान्
क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ॥ तान्वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य क्रीडन्बबन्ध ह
यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३ ॥ य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ॥
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥ १४ ॥ भद्रोवाच ॥ पिता
मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ॥ कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखी-
जनैः ॥ १५ ॥ अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥ कर्मभिर्भ्राम्य

इन के साथ सत्ताईस दिनपर्यन्त युद्ध करा, तदनन्तर परीक्षा करनेपर उन्हों ने, यह राम ही हैं ऐसा जानकर इन के चरण धोये और इन को प्रसन्न करके मणिसहित मुझे पूजनरूप से अर्पण करा है इसप्रकार मैं इन की दासी हुई हूँ ॥ १० ॥ कालिन्दी कहनेलगी कि-मेरे चरण के स्पर्श की इच्छा से यह तप कररही है ऐसा मुझे, जानकर, जिन्होंने अपने मित्र अर्जुन के साथ मेरे समीप आकर मेरा पाणिग्रहण करा तिन भगवान् के घर में के कूडे को निकालनेवाली दासी मैं हूँ ॥ ११ ॥ मित्रविन्दा कहने लगी कि-जो लक्ष्मीनिवास भगवान्, मेरे स्वयम्वर में आकर राजाओं को तैसे ही अपराध करनेवाले मेरे भ्राताओं को जीतकर, जैसे सिंह श्वानों के झुण्ड में से अपना भाग ले जाता है तैसे ही मुझे अपनी द्वारकानगरी में ले आये, तिन भगवान् के चरण धोने का कार्य मुझे जन्म जन्म में मिले ॥ १२ ॥ सत्या ने कहा कि-मेरे पिता ने राजाओं के बल की परीक्षा करने के निमित्त, अतिबली, पराक्रमी और तीखे सींग धारण करनेवाले तथा वीर पुरुषों का खोटा घमण्ड दूर करनेवाले जो सात बैल नियत करे थे, उन को इन भगवान् ने बडी शीघ्रता से नाथकर, जैसे बालक बकरी के बच्चों को बाँधकर डालदेते हैं तैसे बाँधकर डालदिया ॥ १३ ॥ इसप्रकार पराक्रम दिखाना ही जिस का मूल्य है ऐसी मुझे, जो भगवान्, मेरे पिता के दियेहुए दहेजरूप दासियोंसहित चतुरङ्गिणी सेना को लेकर और मार्ग में रोकनेवाले राजाओं को जीतकर द्वारका में लाये उन भगवान् का दासभाव मुझे प्राप्त हो ॥ १४ ॥ भद्रा कहने लगी कि-मेरे पिता ने, मेरे चित्त को श्रीकृष्णजी के विषें आसक्त जानकर अपने मामा के पुत्र इन श्रीकृष्णजी को, आप ही बुलाकर, अक्षौहिणीसेना और सखियों के साथ मुझे इन के अर्पण करदिया ॥ १५ ॥ कर्मों के द्वारा किसी भी शरीर में भ्रमण करनेवाली मुझे जन्म २ में इन भगवान् की चरणसेवा ही प्राप्त हो,

मार्गणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६ ॥ लक्ष्मणोवाच ॥ ममापि राज्यच्युत-
जन्मकर्म श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ॥ चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतः
सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७ ॥ ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृव-
त्सलः ॥ बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥ १८ ॥ यथा स्वयंवरे
राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ॥ अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम्
॥ १९ ॥ श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ॥ सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सो-
पाध्यायाः सहस्रशः ॥ २० ॥ पित्रा संपूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ॥ आ-
ददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥ २१ ॥ आदाय व्यसृजन्केचित्सज्यं कर्तु-
मनीश्वराः ॥ आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ॥ २२ ॥ सज्यं कृत्वा
परे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ॥ भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितिम्

क्योंकि—जन्म में आयेहुए जीवात्मा के कल्याण होने का यही मुख्य साधन है ॥ १६ ॥ लक्ष्मणा कहनेलगी कि—हे द्रौपदि! नारदजी के वारम्वार गान करेहुए श्रीकृष्णजी के जन्म और कर्म को सुनकर, अहो! लक्ष्मी ने भी इन्द्रादि लोकपालों को छोड़कर, भगवान् को ही वरा है, ऐसा बहुत विचार करके, इस लक्ष्मी की समान मेरा भी चित्त श्रीकृष्णजी के विषैं आसक्त हुआ था ॥ १७ ॥ हे साध्वि! तब कन्या के ऊपर दया करनेवाले मेरे पिता बृहत्सेन ने, मेरा अभिप्राय जानकर श्रीकृष्णजी की प्राप्ति होने के निमित्त उपाय करा ॥ १८ ॥ हे द्रौपदि! जैसे तेरे स्वयम्वर में, तेरे पिता ने तुझे, अर्जुन को देने की इच्छा से मत्स्य करा था, परन्तु तुम्हारा मत्स्य केवल बाहर से ही ढकाहुआ था, भीतर से नहीं था, इसकारण खम्भे के समीप से ऊपर को दृष्टि करने से दीखता था और यह हमारा मत्स्य तो तैसा न होकर खम्भ की मूल में रक्खेहुए केवल कलश में के जल में ही दीखता था इसकारण नीचे को दृष्टि और ऊपर लक्ष्य (निशाना) होने से श्रीकृष्णजी को छोडकर दूसरे किसी के भी भेदन करने में नहीं आसक्ता था ॥ १९ ॥ ऐसी मत्स्य के यन्त्र की रचना को सुनकर, सब शस्त्र अस्त्रों के तत्त्व को जाननेवाले सहस्रों राजे, अपने उपाध्यायों (गुरुओं) के साथ, सब दिशाओं से मेरे पिता के नगर में आये थे ॥ २० ॥ उन सबों का, उन के पराक्रम और उन की योग्यता के अनुसार मेरे पिता ने सत्कार करा तब, मेरे ऊपर चित्त लगानेवाले उन्होंने, सभा में मत्स्ययन्त्र को भेदने के निमित्त बाणों के सहित धनुष उठाया ॥ २१ ॥ उन में से कितनो ही ने हाथ में धनुप लेकर उस को चढाने में असमर्थ होने के कारण वह ज्यों का त्यों ही छोडदिया, कितने ही तो धनुष को चढाकर और उस की डोरी पहुँचे पर्यन्त खेंच करके भी आगे को शक्ति न होने के कारण हाथ में से निकलेहुए तिस ही धनुप से ताड़ित होतेहुए नीचे गिरपडे ॥ २२ ॥ दूसरे, जरासन्ध, अम्बष्ठ, शिशुपाल, भीम, दुर्योधन और कर्ण

।।२३।। मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।। पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ।। २४ ।। राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।। भगवान्धनुरादाय सज्यं कृत्वाऽथ लीलया ।। २५ ।। तस्मिन्संधाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।। छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ।। २६ ।। दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।। देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ।। २७ ।। तद्रंगमाविशमहं कलनूपुराभ्यां पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।। नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् ।। २८ ।। उन्नीय वक्त्रमुरुकुंतलकुंडलत्विड्गंडस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।। राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारेरंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ।। २९ ।। तावन्मृदंगपटहाः शंखभेर्यानकादयः ।। निनेदुर्नटनर्तक्यो न-

इन वीरों ने, धनुषको उठाकर उस का रोदा चढाया परन्तु उस लक्ष्य की स्थिति (निशाने की जगह) उन की समझ में नहीं आई इसकारण उन का उद्योग निष्फल गया ।। २३ ।। यत्न करनेवाले अर्जुन ने तो, जल में पडतेहुए मत्स्य की परछाहीं को देखकर उस की स्थिति और स्थान को जानकर बाण भी छोडा परन्तु उस बाण से उस का वेध नहीं करा, केवल उस को स्पर्श ही करा ।। २४ ।। इसप्रकार वह अभिमानी सब राजे, मानभङ्ग (अप्रतिष्ठा) पाकर यन्त्र का वेध करने से हटगये तब, भगवान् श्रीकृष्णजी ने धनुष लेकर उस का रोदा चढ़ाकर, फिर सहज में ही उस में बाण चढाकर, सूर्य के मध्यान्हकाल में आने पर, सकल प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले अभिजित् मुहूर्त्त में, जल में प्रतिबिम्बित होतेहुए मत्स्य को एकवार देखकर, बाण से उस यन्त्र को तोड़कर गिरादिया ।। २५ ।। २६ ।। उस समय स्वर्ग में और भूमि पर दुन्दुभी बजनेलगीं, जयजयकार शब्द करनेवाले और हर्ष से विव्हल हुए देवता भूमि पर पुष्पों की वर्षा करनेलगे ।। २७ ।। उससमय नवीन जरी के रेशमी उत्तम दो वस्त्र एक उढाकर और एक पहिराकर वेणी (चोटी) में पुष्पों की माला बाँधीहुई और लज्जासहित हास्ययुक्त मुखवाली मैं, सुवर्णसे दमकतीहुई रत्नोंकी मालाको हाथमें लेकर मधुर शब्द करनेवाली पायजेबोंसे भूषितचरणोंसे चलतीहुई तिसरङ्गसभाके स्थानमेंप्रविष्टहुई २८ और श्रीकृष्णजी के विषैं आसक्त चित्त हुई तिस मैंने, जिस में उत्तम केशपाश और कुण्डलों की कान्ति से युक्त कपोल चमकरहे हैं ऐसा अपना मुख ऊपर को करके, सन्ताप दूर करनेवाले हास्ययुक्त कटाक्षपातों से चारोंओर बैठेहुए राजाओं की ओर को अवकाश के साथ देखती देखती श्रीकृष्णजी के समीप जाकर अपने हाथमें की माला तिन श्रीकृष्ण जी के गले में डाली ।। २९ ।। सो इतने ही में मृदङ्ग, पटह, शंख, भेरी और चौघड़े आदि

नृतुर्गायकाँ जगुः ॥ ३० ॥ एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ॥ न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥ ३१ ॥ मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयं ॥ शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥ ३२ ॥ दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ॥ मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥ ३३ ॥ तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ॥ संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिं ३४ ॥ ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ॥ निपेतुः प्रधने केचिदेके संत्यज्य दुद्रुवुः ॥ ३५ ॥ ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ॥ कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥ ३६ ॥ पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ॥ महार्हवासोलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥ ३७ ॥ दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ॥ आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥ ३८ ॥ आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदा-

बाजे बजनेलगे, नट और नटनियें नृत्य करनेलगे और गवैये गानेलगे ॥ ३० ॥ हेद्रौपदि ! इसप्रकार भगवान् प्रभुश्रीकृष्णजी को मैंने वरा तब,कामातुर हुए और श्रीकृष्णजी से स्पर्धा (हिर्स) करनेवाले बड़े बड़े राजाओं ने, उस को सहन नहीं करा ॥ ३१ ॥ इतने ही में भगवान् , उत्तम चारघोडे जुतेहुए रथपर मुझे वैठालकर, अपने आप कवच आदि धारण करे और चतुर्भुज होकर दो हाथों से मुझे आलिङ्गन करके और दूसरे दोनोंहाथों से धनुष बाण उठाकर युद्ध करने को उद्यत हुए ॥ ३२ ॥ हे द्रौपदि ! उससमय सुवर्ण से मढा हुआ वह रथ, दारुक सारथी ने चलाया तब, जैसे हिरनों के देखते हुए सिंह अपना भाग लेजाता है तैसेही सब राजाओं के देखते हुए श्रीकृष्णजी मुझे लेकर चलदिये ॥ ३३ ॥ तब धनुष उठाकर युद्ध करने को उद्यत हुए वह कितने ही राजे, जैसे श्वान सिंहको रोकने के निमित्त उस के पीछे भागते हैं तैसे मार्ग में श्रीकृष्णजी को रोकने के निमित्त उन के पीछे दौडनेलगे ॥ ३४ ॥ उन में से कितने ही राजे, युद्ध में श्रीकृष्णजी के शार्ङ्ग धनुष से छूटेहुए बाणों के समूहों से हाथ, पैर और कण्ठ कटकर मरकर ही गिरपडे, शेष कितने ही एक, युद्ध करने का त्याग करके भागगये ॥ ३५ ॥ फिर जैसे सूर्य अस्ताचल को जाता है तैसे श्रीकृष्णजी द्वारका को चलेगये; वह द्वारका सूर्य को ढकनेवाली ध्वजा खडीकरके और नानाप्रकार की वन्दनवारें बाँधकर अत्यन्त सजाईगई थी तथा सकलपृथ्वी पर और स्वर्ग में प्रशंसा करीहुई थी ॥ ३६ ॥ मेरे पिता ने, अमूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन और पात्र आदि सामग्री देकर, मित्र, सम्बन्धी और बान्धवों का सत्कार करा ॥ ३७ ॥ और पूर्णकामभी तिन भगवान् को दासी, सकल सम्पदा, हाथी, घोडे, रथ, सिपाही और नानाप्रकार के शस्त्र भक्ति के साथ समर्पण करे ॥ ३८ ॥ हेद्रौपदि ! इन रुक्मिणी

सिक्ताः ॥ सर्वसङ्गनिवृत्त्याऽद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९ ॥ महिष्य ऊचुः ॥ भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ॥ निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥ ४० ॥ न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ॥ वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ ४१ ॥ कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ॥ कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥ ४२ ॥ व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ॥ गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥ ४३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥८३ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ॥ कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं सर्वा

आदि हम आठों ने, पूर्व के जन्मों में सकल संगोंका त्याग, वैराग्य और तप करे थे; इसकारण इस जन्म में हम, तिन आत्माराम साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णजी के घर की दासी हुई हैं ॥ ३९ ॥ सोलह सहस्र एक सौ स्त्रियें कहनेलगीं कि—भौमासुर ने, दिग्विजय के समय जीतेहुए राजाओं की हम कन्याओं को बन्धन में डालकर रक्खा है, ऐसा जानकर, पूर्णकाम भी तिन श्रीकृष्णजी ने, उस भौमासुर को सेनासहित युद्ध में मारकर हम को बन्दीघर में से छुटाया और संसार से मुक्त करनेवाले अपने चरणकमल का वारंवार स्मरण करनेवाली तिन हमारा पाणिग्रहण करा ॥ ४० ॥ हे साध्वि ! हम सार्वभौमपद, इन्द्रपद, तिन दोनों पदोंके भोग के ऐश्वर्य, अणिमादि सिद्धि, ब्रह्मपद, मोक्ष वा सलोकता आदि मुक्ति की भी किञ्चिन्मात्र इच्छा नहीं करती हैं किन्तु उन भगवान् के, ब्रह्मादिकों के सेवन करने योग्य, लक्ष्मी के स्तनोंके केशर से सुगन्धयुक्त हुए सर्वोत्तम चरणरज को मस्तकपर धारण करने की इच्छा करती हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ यदि कहो कि—उस परमदुर्लभ चरणरज की इच्छा क्यों करती हो ? तो भक्तवत्सलता के कारण गौ चरानेवाले उन महात्मा भगवान् के चरणरज को और चरण के स्पर्श करने को, जैसे गोप, गोपी, भीलिनी, तृण और लता भी इच्छा करती हैं तैसे ही हम भी इच्छा करती हैं, इस से यह सूचित करा कि—भगवत्परायणों को वह चरणरज परमसुलभ है ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में त्र्यशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे चौरासीवें अध्याय में, ऋषियों का समागम होने पर वसुदेवजी के यज्ञ का उत्साह और सम्बन्धियों को विदा करनेआदि की कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा तैसे ही राजाओं की स्त्रियें और कृष्ण की भक्त गोपियों ने रुक्मिणी आदि कृष्ण की स्त्रियों का, सर्वात्मा

विसिस्म्युरलंमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥ १ ॥ इति संभाष्यमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ॥ आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥ द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ॥ विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ रामः सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः ॥ पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥ द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाऽङ्गिराः ॥ अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥ तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ॥ पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववंदितान् ॥ ६ ॥ तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ॥ स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥ उवाच सुखमासीनान्भगवान्धर्मगुप्ततनुः ॥ सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ॥ देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥ किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्॥दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥

हरि श्रीकृष्णजी के विषै प्रेम से परवश हुआ भाषण सुनकर, सबों ने ही आनन्द के अश्रुओं से नेत्रों को भरकर विस्मय माना ॥ १ ॥ इसप्रकार स्त्रियों के साथ स्त्रियें और पुरुषों के साथ पुरुष भाषण कर रहे थे उसी समय, तिस कुरुक्षेत्र में बलरामकृष्ण को देखने की इच्छा से ऋषि आपहुँचे ॥ २ ॥ उन के नाम—वेदव्यास, नारद, च्यवन देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, ॥ ३ ॥ शिष्योंसहित, भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, ॥ ४ ॥ द्वित, एकतत्रित, सनकादिक ब्रह्मपुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य, तैसे ही वामदेवादि और भी, यह ऋषि थे ॥ ५ ॥ उन ऋषियों को देखते ही पाण्डव श्रीकृष्ण, बलराम और जो तहाँ पहिले बैठेहुए राजे आदि थे उन सबों ने ही एकसाथ उठकर, जगत् के वन्दनीय तिन ऋषियों को नमस्कार करा ॥ ६ ॥ उससमय पाण्डव आदि सब राजाओं ने, उन का स्वागत बूझना, आसन, पाद्य, अर्घ्य पुष्प, धूप और चन्दन के लेपन आदि से पूजन करा तैसे ही बलरामसहित श्रीकृष्णजी ने भी, उन का यथायोग्य पूजन करा ॥ ७ ॥ तदनन्तर सुख से बैठेहुए उन व्यास आदि मुनियों से, धर्म की रक्षा के निमित्त अवतार आदि धारण करनेवाले वह श्रीकृष्णजी, तिस बड़ी भारी सभा के मौन होकर सुनते में कहनेलगे ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् कहनेलगे—अहो ! आज हम, सफल जन्मवाले हुए हैं, क्योंकि उस जन्म का फल पूर्णरूप से हमें मिला है, जो कि देवताओं को भी दुर्लभ तुम योगेश्वरों का दर्शन हमें मिला है ॥ ९ ॥ केवल दर्शन ही नहीं किन्तु स्पर्श भी प्राप्त हुआ है. अहो ! केवल तीर्थ स्नान करने को ही तीर्थ माननेवाले अर्थात् साधु और शास्त्र आदि तीर्थों के द्वारा भीतरी शुद्धि न करके केवल ऊपर से स्नानमात्र ही करके अपने

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ॥ ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शना-
देव साधवः॥११॥नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ
वाङ्मनः॥उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥१२॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ॥ यत्तीर्थ-
बुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ १३ ॥ श्रीशुक
उवाच ॥ निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ॥ वचो दुरन्वयं विप्रा-
स्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥ १४ ॥ चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ॥

को तीर्थसेवी माननेवाले, तथा केवल प्रतिमामात्र में ही देवता बुद्धि रखनेवाले अर्थात् देवताओं दिव्य विग्रह और दिव्य चरित्रोंकी ओर दृष्टि न करके स्थूलभाव से उतने पाषाण वा मृत्तिका आदि के स्थूल विग्रह को ही देवता माननेवाले मनुष्यों को, क्या ? आप का दर्शन, स्पर्श, स्वागत बूझना, नमस्कार और चरणपूजा आदि करना बनसक्ता है ? कदापि नहीं होसक्ता; क्योंकि-वह स्थूल दृष्टि होने के कारण दिव्य उपदेश करनेवाले तुम्हारे अनुगामी कैसे होसक्ते हैं ॥ १० ॥ जलमयतीर्थ तीर्थ नहीं हैं ऐसा नहीं है और मृत्तिका पाषाणमय देवता देवता नहीं हैं ऐसा भी नहीं है किन्तु वह तीर्थ और देवता हैं सत्य है परन्तु उन में और साधुओं में बडा अन्तर है वह तीर्थ और देवता बहुतसमय पर्यन्त सेवा करने पर पवित्र करते हैं और साधु दर्शनमात्र से ही पवित्र करदेते हैं ॥ ११ ॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, भूमि, जल, आकाश, वायु, प्राणी और मन इन के अभिमानी देवताओं की उपासना करने पर भी वह, 'तू तेरा और मैं मेरा इसप्रकार की' भेदबुद्धि धारण करनेवाले पुरुष के पापमूलक अज्ञान को नष्ट नहीं करते हैं और ज्ञानी पुरुष तो मुहूर्त्तमात्र सेवा करने से ही भक्ति ज्ञान आदि का उपदेश करके उस अज्ञान को नष्ट करदेते हैं ॥ १२ ॥ इसकारण जिस पुरुष को, वात-पित्त कफरूप तीन धातुओं से युक्त शवसमान जड शरीर में ही 'यह मैं हूँ ऐसी' आत्मबुद्धि है; स्त्रीपुत्रादिकों के ऊपर ही 'यह मेरे हैं ऐसी' अपनेपन की बुद्धि है, ईश्वर और देवताओं के दिव्य विग्रह को छोडकर केवल मृत्तिका पाषाण आदि की स्थूल मूर्त्ति में ही पूजनीयबुद्धि है और तीर्थवासी साधुओं को तथा शास्त्ररूप तीर्थों को छोडकर केवल जल में ही तीर्थबुद्धि है और तीर्थरूप साधुओं में वह सर्वरूपबुद्धि नहीं है, वह गौओं के तृण आदि को उठानेवाले गर्दभ की समान (पशुतुल्य) है ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि-हे राजन ! इसप्रकार के अकुण्ठबुद्धि भगवान् श्रीकृष्णजी के दीनपने के भाषण को सुनकर, वह ब्राह्मण उस भाषण का आशय न समझने के कारण चकितबुद्धि होकर चुप (निरुत्तर) होगए ॥ १४ ॥ तदनन्तर उन ऋषियों ने बहुत ही देरी पर्यन्त विचार करके हँसतेहुए तिन जगद्गुरु श्रीकृष्णजी से कहा कि- हे कृष्ण ! तुम ईश्वर होकर

जनसंग्रह इत्यूचुः स्मयंतस्तं जगद्गुरुम् ॥ १५ ॥ यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ॥ यदीशितव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥ १६ ॥ अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ॥ भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ १७ ॥ अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय ॥ स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥ १८ ॥ ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥ १९ ॥ तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ॥ सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥ अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्त-

'मैं तुम्हारी आज्ञा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाला हूँ' ऐसा जो कहते हो सो केवल जनसंग्रह के निमित्त अर्थात् सब लोक ऐसा वर्त्ताव करें, यह दिखाने के निमित्त है ॥ १५ ॥ ऋषियों ने कहाकि—हे प्रभो ! जिन तुम्हारी माया से विश्वस्रष्टाओं के स्वामी मरीचि आदि ऋषि और तत्त्वज्ञानियों में उत्तम हम भी अत्यन्त मोहित हुए हैं अर्थात् तुम्हारा अभिप्राय क्या है सो नहीं जानते हैं, क्योंकि—जो तुम मनुष्यलीला से गुप्त होकर, स्वयं ईश्वर होने पर भी दूसरों के सेवकों की समान वर्त्ताव करते हो तिन तुम भगवान् के चरित्र बडे आश्चर्यकारी (बड़ी कठिनता से जानने योग्य) हैं ॥ १६ ॥ जो तुम आसक्तिरहित और एक होकर भी, जैसे भूमि वास्तव में एक होकर भी अपने कार्यरूप घट आदि पदार्थों से बहुत से नाम और रूप धारण करनेवाली होती है तैसे ही तुम भी, अपने स्वरूपमात्र करके ही इस जगत् को बहुत से प्रकारों से उत्पन्न करते हो, रक्षा करते हो और संहार करते हो, तथापि 'मेरा कराहुआ यह मेरा इसप्रकार के' अहङ्कार से बँधते नहीं हो, ऐसा तुम परिपूर्ण का 'मनुष्यभाव स्वीकार करके ब्राह्मणों का सन्मान आदि करने का' चरित्र केवल अनुकरण करके दिखाया है ॥ १७ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि तुम, वास्तव में प्रकृति से पर पुरुषोत्तम हो और तुम्हें जन्मादि विकार नहीं प्राप्त होते हैं तथापि तुम, भक्तों की रक्षा करने को और दुष्टों को दण्ड देने के निमित्त समय २ पर अपना शुद्ध सत्त्वगुणी स्वरूप धारण करते हो और वर्णाश्रम धर्म के अभिमान से युक्त होतेहुए, लोकों को शिक्षा देने के निमित्त अपने आचरण से सनातन वेदमार्ग की रक्षा करते हो ॥ १८ ॥ वेद तुम्हारा शुद्ध हृदयस्वरूप है, जिस वेद में तप, स्वाध्याय और इन्द्रियों को वश में करने के द्वारा कार्यरूप, कारणरूप और उन दोनों से निराला केवल सत् रूप ब्रह्म प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ तिस से हे ब्रह्मरूप कृष्ण ! तुम्हारे हृदयरूप वेद को प्रवृत्त करनेवाला जो ब्राह्मणकुल उस को तुम, वेद के उत्पत्तिस्थान अपनी प्राप्ति का स्थान जानकर उस का सन्मान करते हो इसकारण ही तुम, ब्राह्मणों के भक्तों में श्रेष्ठ गिनेगये हो ॥ २० ॥ सत्पुरुषों की गतिरूप

पसो ईशः ॥ त्वया संगम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥ २१ ॥ नमस्तस्मै
भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ॥ स्वयोगमायया च्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२॥
न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ॥ मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं
कालमीश्वरम् ॥ २३ ॥ यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ॥ नाममा-
त्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥ २४ ॥ एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रिये-
हया ॥ मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥ २५ ॥ तस्याद्य ते द-
दृशिमांघ्रिमघौघमर्षतीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः उत्सिक्तभक्त्युपहताश-
यजीवकोशा आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥ २६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥
इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम्॥राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे

तुम्हारे साथ समागम को प्राप्त होकर आज हमारी विद्या की, तप की, ज्ञान की और जन्म की सफलता हुई है, क्योंकि—तुम सकल कल्याणों के परम अवधि (हद) हो, अर्थात् तुम्हारे प्राप्त होने पर फिर कोई कल्याण प्राप्त होने को शेष नहीं रहता है ॥ २१ ॥ ऐसे भगवान्, अकुण्ठितबुद्धि, और योगमाया से महिमा को ढकेहुए तुम परमात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार हो ॥ २२ ॥ सबों के आत्मा, सृष्टि आदि के कारण, सबों के नियन्ता और मायारूप परदे से ढकेहुए तुम्हें, यह यहाँ विद्यमान राजे, और तुम्हारे साथ एक स्थानपर भोजन शयन आदि करनेवाले यादव भी नहीं जानते हैं ॥२३॥ जैसे सोयाहुआ पुरुष,स्वप्न में,स्वप्न में के देखेहुए पदार्थों को सत्य मानता है और मिथ्याभूत इन्द्रिय (मन) से भासनेवाले सिंहादि स्वरूप को भी 'वह मैं हूँ' ऐसा मानता है,परन्तु उस से रहित दूसरे जागते समय में के देवदत्तादिरूप अपने को नहीं जानता है ॥२४॥ इसप्रकार जाग्रत् अवस्था में भी शब्दादि विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्तिरूप माया के द्वारा आत्मस्वरूप के स्मरण का नाश होने के कारण भ्रान्तचित्त हुआ पुरुष, स्वप्नादि के पदार्थों की समान मिथ्याभूत देह आदि के विषैं विद्यमान भी तुम अपने आत्मा को नहीं जानता है किन्तु देह को ही आत्मा जानता है॥२५॥ 'पापों के समूहों का नाश करनेवाली गङ्गा का भी आश्रय और योगसिद्धि को प्राप्तहुए योगिजनों करके भी हृदय में केवल चिन्तननहीं करेहुए परन्तु दर्शन न करेहुए' तुम्हारे चरण को आज हमने, बहुत से पुण्यों के प्रभाव से देखा है, इसकारण अवतुम,हमें भक्त बनाकर हमारे ऊपर अनुग्रह करो;यदि कहोकि—भक्ति का क्या करना है तुम पहिले की समान तप ही करो तो सुनिये—बढी हुई भक्ति से ही जिन का अन्तःकरणरूप जीवकोश (लिंगशरीर) दूर होगया है वही पूर्वकाल के पुरुष तुम्हारी गति को प्राप्तहुए हैं दूसरेनहीं प्राप्तहुए ॥ २६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार उन ऋषियों ने स्तुति करके, श्रीकृष्ण, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर से जानेकी आज्ञा लेकर अपने आश्रम को चलने

मनः ॥ २७ ॥ तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ॥ प्रणम्य चोपसंगृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥ २८ ॥ वसुदेव उवाच ॥ नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ॥ कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यतां ॥ २९ ॥ श्रीनारद उवाच ॥ नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ॥ कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥ ३० ॥ सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ॥ गांगं हित्वा यथाऽन्यांभस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥ ३१ ॥ यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ॥ स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥ ३२ ॥ तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहैरव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ॥ प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥ ३३ ॥ अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुंदुभिं ॥ सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरां-

का मन में विचारकरा ॥ २७ ॥ सो ऋषियों का जानेका विचार देखकर महायशस्वी वसुदेवजी ने, उन के समीप जाकर उन को नमस्कार करके और हाथों से उन के चरण पकड़कर एकाग्रचित्त से उन से कहा ॥ २८ ॥ वसुदेवजी कहनेलगे कि—हे ऋषियो ! सकल देवताओं के रहने के स्थान तुम को नमस्कार हो, आप को मेरा वचन सुननायोग्य है, जिसकिसी, विधिपूर्वक करेहुए कर्म के द्वारा मोक्ष को रोकनेवाले कर्म दूर होते हैं वह कर्म वर्णन करिये ॥ २९ ॥ इसप्रकार वसुदेवजी के प्रश्न करने पर, सर्वज्ञ श्रीकृष्णजी को छोडकर यह हम से प्रश्न करते हैं ऐसा मन में विचारकर विसमय में हुए उन ऋषियों से नारदजी कहनेलगे कि—हे विप्रो ! अपने पुत्र श्रीकृष्ण को बालक (अज्ञानी) मानकर उन को छोडकर यह वसुदेवजी, अपने कल्याण का साधन जानने की इच्छा से जो हम से बूझरहे हैं सो कुछ बडे आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ३० ॥ क्योंकि—इस जगत् में निरन्तर सहवास होना, मनुष्यों के अविश्वास का कारण होता है; देखो—गङ्गाजी के तटपर रहने वाला पुरुष, गङ्गाजल को छोडकर अपनी शुद्धि होने के निमित्त दूसरे तीर्थ के जल की ओर को जाता है ॥ ३१ ॥ जिनका ज्ञान, काल से तैसेही इस जगत् के उत्पत्ति-स्थिति संहारों से, अपने से, दूसरे से और रूपान्तर आदि होने से भी कभी नाश को नहीं प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ तिन, विषयों में आसक्ति, कर्म, सुख, दुःख और सत्त्वादि गुणों के वारंवार प्रकट होने से जिनका ज्ञानस्वरूप खण्डित नहीं हुआ है ऐसे अद्वितीय ईश्वर को यह संसारी जन, जैसे सूर्य को—मेघ, कुहर और राहु से ढकाहुआ मानता है तैसेही तिन ईश्वर के कार्यरूप प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तः करण आदि करके वह ईश्वर ढकाहुआ है ऐसा मानता है, इस में कुछ आश्चर्य मानने की बात नहीं हैं ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! नारदजी के इसप्रकार कहनेपर वह ऋषि, वसुदेवजी को सम्बोधन करके तहाँ इकट्ठेहुए सब

मयोः ॥ ३४ ॥ कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः ॥ यच्छ्रद्धया यजे-
द्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥ ३५ ॥ चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्र-
चक्षुषा ॥ दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः ॥ ३६ ॥ अयं स्वस्त्ययनः
पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ॥ यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥ ३७ ॥ वि-
त्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ॥ आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजे-
द्बुधः ॥ ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥ ३८ ॥ ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो
जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो ॥ यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥३९॥
त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ॥ यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणो
शरणो भव ॥ ४० ॥ वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिं ॥ जगता-

राजे और बलराम कृष्ण के सुनतेहुए इसप्रकार कहनेलगे कि--॥३४॥जो श्रद्धा से यज्ञ करके, सब यज्ञों का फल देनेवाले विष्णुभगवान् का आराधन करना है, यहही कर्म के द्वारा कर्म्मों को निवृत्त करने की उत्तम रीति कही है ॥ ३५ ॥ विद्वान् पुरुषों ने शास्त्ररूप दृष्टि से, अन्तःकरण की शान्ति का और मोक्ष का सुलभ उपाय यही दिखाया, तैसे ही क्षत्रियों के मन को हर्ष उत्पन्न करनेवाला आवश्यक धर्म भी यही कहा है ॥ ३६ ॥ शुद्ध, न्याय से प्राप्त हुए द्रव्य से श्रद्धापूर्वक जो पुरुषोत्तम भगवान् का यजन करना, यह ही गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का कल्याणकारी मार्ग है ॥३७॥ हे वसुदेवजी! कर्म के अत्यन्त दूर होने में प्राणी की सकल इच्छा छूटनी चाहियें, उन के छूटने की यह रीति है कि--विचारवान् पुरुष, धन के फल यज्ञों करके और दानों करके धन की इच्छा को छोडै, गृहस्थाश्रम के योग्य विषयभोगों करके स्त्री-पुत्रादिकों की इच्छा को त्यागे और देह के मरण को प्राप्त होने पर अपने को स्वर्गादिलोक प्राप्त होने की जो इच्छा होती है उस को, देवताओं को भी मारनेवाला जो काल वह मेरे भी सुख का नाश करेगा ऐसा मन में विचारकर छोडदेय; इसकारण ही पूर्वकाल के धैर्यवान् पुरुष, गाँव में रहतेहुए सकल इच्छाओं को त्यागकर फिर तपोवन में गये ॥३८॥ और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यरूपी जो द्विज वह, देवता, ऋषि और पितरों के तीन ऋणोंसहित उत्पन्न होता है इसकारण यदि वह यज्ञ, वेदादि पढना और पुत्रोत्पत्ति करके उन ऋणों को दूर करे विना संसार का त्याग करता है तो पतित होता है ॥ ३९ ॥ हे परमबुद्धिमान् वसुदेवजी! तुम तो, वेदाध्ययन और पुत्र उत्पन्न करने के कारण ऋषि और पितर दोनों के ऋण से छूटगये हो, अब यज्ञ के द्वारा देवताओं का ऋण चुकाकर ऋणरहित होतेहुए संन्यस्त होकर घर से निकल जाओ ॥४०॥ यह क्रम तो जिन का चित्त शुद्ध न हो उन लोगों का है, हे वसुदेवजी! तुम तो कृतार्थ ही हो, क्योंकि--तुम ने, जगत् के ईश्वर भगवान् श्रीहरि का प्रेमरूपभक्ति

मीश्वरं प्राचैः स यद्वां पुत्रतां गतः ॥ ४१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ॥ तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ॥ ४२ ॥ त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकम् ॥ तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥ ४३ ॥ तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ॥ स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलंकृताः ॥ ४४ ॥ तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ॥ दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥४५॥ नेदुर्मृदंगपटहशंखभेर्यानकादयः ॥ ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ॥ जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः संगीतं सहभर्तृकाः ॥ ४६ ॥ तमभ्यषिंचन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ॥ पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥ ४७ ॥ ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ॥ स्वलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥ ४८ ॥

के साथ पूजनकरा है इसकारण वह भगवान् तुम दोनों के पुत्ररूप को प्राप्त हुए हैं॥४१॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार उन ऋषियों का कथन सुनकर तिन उदारचित्त वसुदेवजी ने; उन ही ऋषियों को मस्तक से प्रमाण करके और प्रसन्न करके ऋत्विज बनालिया॥४२॥ हे राजन्! फिर धर्म से वरेहुए उन ऋत्विजों ने, उस स्यमन्तपञ्चक क्षेत्र में मंत्र, तन्त्र और हविर्भाग आदि सब उत्तम सामग्रियों से युक्त यज्ञ करके उन वसुदेवजी से यजन करवाया॥४३॥ हे राजन्! जब उस यज्ञ की दीक्षा वसुदेवजी ने ग्रहण करी तब, स्नान करेहुए, उत्तम वस्त्र धारण करेहुए और उत्तम आभूषण पहिरेहुए यादव और सकल राजे उस यज्ञ को देखने के निमित्त यज्ञशाला में आये तैसे ही बहुमूल्य वस्त्र पहिनेहुए और कण्ठे आदि आभूषण धारण करके हर्षयुक्त हुई वसुदेवजी की स्त्रियें भी हाथ में पूजन आदि के पदार्थ लेकर दीक्षा की शाला में पहुँचीं ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥ उससमय मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी, आनक आदि बाजे बजनेलगे, नट और नटनियें नृत्य करनेलगे, सूत और मागध स्तुति पढ़नेलगे, उत्तम कण्ठवाली गन्धर्वों की स्त्रियें अपने पतियों के साथ सुन्दर गीत गानेलगीं॥४६॥ उस यज्ञ में अभिषेक के समय देवकी आदि अठारह स्त्रियों सहित नेत्रों में अंजन लगायेहुए और शरीर को तेल, हलदी, माखन आदि लगायेहुए उन वसुदेवजी का, ऋत्विजों ने, महाभिषेक की विधि से, जैसे पहिले नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा का अभिषेक करा था तैसे अभिषेक करा ॥४७॥ उससमय, यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करके कृष्ण मृगछाला ओढेहुए वह वसुदेवजी, पाटाम्बर पहिनकर, हाथों में सुवर्ण के कंकण, कण्ठ में हार, पैरों में नूपुर, कानों में कुण्डल और दूसरे भी आभूषण धारण करनेवालीं अपनी स्त्रियों के साथ अत्यन्त शोभायमान होने लगे ॥४८॥

तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ॥ ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रह-
णोऽध्वरे ॥ ४९ ॥ तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ॥ रेजतुः स्व-
सुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥ ५० ॥ ईजेनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादि-
लक्षणैः ॥ प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ५१ ॥ अथर्त्विग्भ्योददात्काले
यथाम्नातं स दक्षिणाः ॥ स्वलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो गोभूकन्या महाधनाः ॥
॥ ५२ ॥ पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ॥ सस्नू रामह्रदे विप्रा यज-
मानपुरःसराः ॥ ५३ ॥ स्नातोऽलंकारवासांसि वंदिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः ॥ त-
तः स्वलंकृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥ ५४ ॥ वंधून्सदारान्ससुतान्पा-
रिवर्हेण भूयसा ॥ विदर्भकोसलकुरून्काशिकैकयसृंजयान् ॥ ५५ ॥ सदस्य-
र्त्विक्सुरगणान्नृभूतपितृचारणान् ॥ श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुं
॥५६॥ धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ॥ नारदो भगवान्व्यासः

हे राजन् ! रत्नों के आभूषण और पीताम्बर वस्त्र धारण करनेवाले वह उन वसुदेवजी के ऋत्विज्; जैसे पहिले इन्द्र के यज्ञ में शोभित हुए थे तैसे शोभायमान होनेलगे ॥ ४९ ॥ उससमय सकलप्राणियों के स्वामी वह बलरामकृष्ण, अपने २ वन्धुओं से और अपने २ अंशभूत पुत्रों से तथा स्त्रियों से युक्त होतेहुए शोभायमान हुए ॥ ५० ॥ तव वसुदेवजी ने प्रत्येक यज्ञ में विधि के साथ अग्निहोत्रादिरूप सकल अङ्गों से और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से तथा सौर सत्र आदि वैकृतयज्ञों से, चरुपुरोडाश आदि द्रव्य तथा मन्त्र और कर्म-स्वरूप ईश्वर का यजन करा ॥ ५१ ॥ तदनन्तर उन वसुदेवजी ने, दक्षिणा देने के समय अलङ्कार धारण करनेवाले ऋत्विजों को, आप भी अलङ्कार धारण करके बहुतसे द्रव्य की दक्षिणा और गौ, भूमि तथा कन्या भी दीं ॥ ५२ ॥ फिर पत्नीसंयाज और अवभृथ्य नामक याग करके, उन महाऋत्विज ब्राह्मणों ने यजमान को आगे करके परशुरामजी के रचेहुए सरोवर में स्नान करा ॥ ५३ ॥ वह अवभृथस्नान होने पर उत्तम अलङ्कार धारण करनेवाले उन वसुदेवजी ने और उन की स्त्रियों ने, स्तुतिपाठ करनेवाले पुरुषों को अलङ्कार और वस्त्र अर्पण करे तैसे ही सकल वर्णों को और श्वानपर्यन्त सकल जीवों को अन्नदान से तृप्त करा ॥ ५४ ॥ तदनन्तर वन्धु, उन की स्त्रियें, उन के पुत्र, सभासद- ऋत्विज्, देवताओं के समूह, मनुष्य, भूत, पितर, चारण तैसे ही विदर्भ, कोसल, कुरु, काशि, केकय और सृञ्जय इन देशों में के राजे इन सबों को सन्मान के निमित्त बडे २ सामान दिये. तव वह सदस्य आदि सब ही लोक, लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी की आज्ञा लेकर यज्ञ की और उन भगवान् की प्रशंसा करतेहुए अपने २ स्थान को चलेगये ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ उससमय, धृतराष्ट्र, विदुर, भीष्म, द्रोण, कुन्ती, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल,

सुहृत्संबंधिबान्धवाः ॥ ५७ ॥ बन्धून्परिष्वज्य यदून्सौहृदाक्लिन्नचेतसः ॥ य-
युर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥ ५८ ॥ नंदस्तु सह गोपालैर्बृहत्या
पूजयाऽर्चितः ॥ कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥ ५९ ॥ वसुदेवोऽ
ञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ॥ सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥६०॥
वसुदेव उवाच ॥ भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः ॥ तं दुस्त्यजम-
हं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥ ६१ ॥ अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु स-
त्तमैः ॥ मैत्र्यर्पिताऽफला चापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥ ६२ ॥ प्रागकल्पाच्च
कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ॥ अधुना श्रीमदांधाक्षा न पश्याम पुरः सतः
॥६३॥ मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ॥ स्वजनानुत बन्धून्वा न प-
श्यति ययाऽन्धदृक् ॥ ६४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनक-

---

सहदेव, नारद, भगवान् व्यास तैसे ही मित्र, सम्बन्धी और बान्धव; यह अपने बान्धव यादवों को आलिङ्गन करके स्नेह से गद्गदचित्त होकर विरह के दुःख सहन न करतेहुए अपने देश को चलेगये ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ उससमय, श्रीकृष्ण, बलराम और उग्रसेन आदि यादवों से, वस्त्रादि के द्वारा बडा सत्कार करेहुए नन्द गोप, यादवों के ऊपर प्रेमभाव होने के कारण गोपालोंसहित कितने ही दिनों पर्यन्त तहाँ ही रहे ॥ ५९ ॥ वसुदेवजी तो, यज्ञ विषयक मनोरथरूपी महासमुद्र को अनायास में ही तरकर सन्तुष्टचित्त और सम्बन्धियों से घिरेहुए, नन्दजी का हाथ पकड़कर उन से कहनेलगे ॥ ६० ॥ वसुदेवजी ने कहा कि—हे भय्यानन्द ! स्नेह नामक जो मनुष्यों की फाँसी है वह ईश्वर की ही रचीहुई होने के कारण, शूरों से उन के बल करके और योगिजनों से उन के ज्ञान करके भी टूटना बडी कठिन है ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ६१ ॥ क्योंकि—करेहुए उपकार को न जाननेवाले भी हमारे ऊपर अतिश्रेष्ठ तुम ने यह जो अनूपम मित्रता करी है तिस का पलटा यद्यपि हम से कभी भी नहीं होसकेगा तथापि वह मित्रता अब भी वैसी ही है, कम नहीं होती है. इस से प्रतीत होता है कि-यह स्नेहपाश ईश्वर का ही रचाहुआ है ॥ ६२ ॥ हे भैया नन्द ! हम पहिले बन्दीघर में थे तब असमर्थ होने के कारण तुम्हारा कुछ भी प्रिय कार्य नहीं करा अब तो लक्ष्मी के मद से अन्ध नेत्रवालेहुए हम, आगे विद्यमान भी तुम्हें नहीं देखते हैं ॥ ६३ ॥ हे सन्मान देनेवाले ! कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुष को, राज्यलक्ष्मी ही प्राप्त न होय, क्योंकि—उस के द्वारा अन्धा (विवेकहीन) हुआ वह पुरुष, अपने आश्रित पुरुषों को और बान्धवों को भी नहीं देखता है (उन का उपकार नहीं करता) है ॥ ६४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! प्रेम की अधिकता से गद्गदचित्तहुए

दुंदुभिः ॥ रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥ ६५ ॥ नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविंदरामयोः ॥ अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥ ६६ ॥ ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबांधवः ॥ परार्घ्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७ ॥ वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥ ६८ ॥ नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविंदचरणांबुजे ॥ मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥ ६९ ॥ बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥ जनेभ्यः कथयांचक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ॥ यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकं ॥७१॥ इतिश्रीभा० म० द० उ० तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्याय ८४ श्रीबादरायणिरुवाच ॥ अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ॥ वसुदेवो-

वह वसुदेवजी, नन्दजी की करीहुई पुत्रों को लाड करना आदि मित्रता को स्मरण करतेहुए नेत्रों में आँसू लाकर रोनेलगे ॥६५॥ वह नन्दराजा तो सखा वसुदेवजी के और बलराम-कृष्ण के प्रेम से उन का प्रिय करने के निमित्त, तीन मासपर्यन्त तहाँ ही रहे, वह प्रातः-काल में चलने को उद्यत हुए तो—आज ही दुपहर को चलेजाना और दुपहर को जाने को उद्यत हुए तो—कल चलेजाना इसप्रकार यादवों ने उन को सत्कार के साथ रोक रक्खा था ॥ ६६ ॥ तदनन्तर, वसुदेव, उग्रसेन, कृष्ण और बलराम आदिकों करके, बहुमूल्य के आभूषण, रेशमी वस्त्र और अनेकों प्रकार के पात्र आदि देकर गोपों सहित तृप्त करेहुए और साथ में बहुतसी सेना देकर भेजेहुए वह नन्दजी, उन के दियेहुए उस सब पारितोषिक (बकसीस) को लेकर अपने छकड़े आदि सामान सहित चलदिये ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ उससमय श्रीकृष्णजी के चरण कमलों में लगेहुए चित्त को फिर तहाँ से पीछे को हटाने में असमर्थ और संसार से विरक्त हुए—नन्दजी, गोप और गोपियें, यह सब ही, अपने गोकुल में जाकर निरन्तर भगवान् की समीपता जहाँ रहती है ऐसी मथुरा में ही जारहे ॥ ६९ ॥ इसप्रकार सकल बन्धुओं के अपने २ स्थान को चलेजाने पर, कृष्ण ही जिन के देवता हैं ऐसे वह यादव, वर्षा ऋतु को समीप आया जानकर, श्रीकृष्णजी की आज्ञासे फिर द्वारका को चलेगये ॥७०॥ तदनन्तर उन्हों ने, तहाँ के लोकों को तीर्थयात्रा में होनेवाला वसुदेवजी के यज्ञ का बडाभारी उत्साह और सम्बन्धी पुरुषों का दर्शन आदि जो कुछ वृत्तान्त हुआ था सोसब वर्णन कर सुनाया ॥ ७१ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में चतुरशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे पचासीवें अध्याय में, वसुदेवजी ने, बलरामकृष्ण पुत्रों की प्रार्थना करी तब उन्हों ने उन पिता को ज्ञान और देवकी माता को, पहिले मरण को प्राप्तहुए पुत्र लाकर दिये यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! तदनन्तर एकसमय वसु-

भिनंद्याह प्रीत्या संकर्षणाच्युतौ ॥१॥ मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ॥ तद्वीर्यैर्जातविश्रंभः परिभाष्याभ्यभाषत ॥ २ ॥ कृष्ण कृष्ण महायोगिन्संकर्षण सनातन ॥ जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥ यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ॥ स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४ ॥ एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ॥ आत्मनानुप्रविश्यात्मन्प्राणो जीवो बिभर्ष्यज ॥ ५ ॥ प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ॥ पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥ कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ॥ यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥७॥

देवजी, अपने समीप आकर चरणों में वन्दना करनेवाले तिन बलरामकृष्ण पुत्रों की, प्रीति के साथ आशीर्वादों से प्रशंसा करके कहनेलगे ॥ १ ॥ वह, पुत्रों के परमेश्वरपने को सूचित करनेवाला ऋषियों का भाषण सुनकर, उनके देखेहुए और सुनेहुए पराक्रमों से 'यह ईश्वर हैं, ऐसा विश्वास करके बलरामकृष्ण को सम्बोधन करके कहनेलगे ॥ २ ॥ वसुदेवजी कहनेलगे कि–हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सङ्कर्षण ! हे सनातन ! तुम दोनों को, इस जगत् के साक्षात् स्वरूपभूत कारण जो प्रकृति पुरुष और उन के भी कारणरूप परमेश्वर तुम हो, ऐसा मैं जानता हूँ ॥ ३ ॥ जिस स्वरूप में, जिस कर्त्ता से, जिस साधन करके, जिस से, जिस के सम्बन्ध का, जिस के निमित्त, जो जो, जैसा, जब यह जगत् उत्पन्न होता है वह भोगने योग्य प्रकृति के और भोक्ता पुरुष के भी ईश्वर भगवान् तुम ही हो ॥ ४ ॥ हे अधोक्षज ! हे आत्मस्वरूप ! अपने ही उत्पन्न करेहुए इस देव मनुष्यादिरूप नानाप्रकार के जगत् में तुमही अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके स्वयं जन्मादि विकाररहित होकर भी, क्रियाशक्तिरूप प्राण और ज्ञानशक्तिरूप जीव होकर इस को धारण और पोषण करते हो ॥५॥ जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्राणादिकों की जो शक्तियें हैं वह 'उन प्राणादिकों को पराधीनता होने के कारण' उन प्राणादिकों के परमकारण ईश्वर की ही हैं अर्थात् जैसे लक्ष्य (निशाने) को वेधने की शक्ति बाण की है ऐसी प्रतीत होती है परन्तु वह बाण, परतन्त्र हैं इसकारण वह शक्ति उन की नहीं है किन्तु पुरुष की है तैसे ही समझना; उन प्राणादिकों के अचेतन और ईश्वर के चेतन होने के कारण, अचेतन का चेतन के वश में होना योग्य है, जैसे वायु की शक्ति से तृणादिकों का आना जाना होता है परन्तु उन तृणों की वह शक्ति नहीं है अथवा जैसे पुरुष की शक्ति से बाणों में वेग उत्पन्न होता है परन्तु वह वेग बाणों की शक्ति नहीं है तैसे ही प्राणादिकों की चेष्टारूप जो शक्तियें हैं वह उन की नहीं हैं किन्तु एक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की हैं ॥ ६ ॥ चन्द्रमा की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य की प्रभा, तारागण और बिजली का चमकना, पर्वतों की स्थिरता और पृथ्वी का प्राणियों का आधाररूप होने का वर्त्ताव और गन्धगुण

तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ॥ ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायो-
स्तवेश्वर ॥ ८ ॥ दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ॥ नादो
वर्णस्त्वमोंकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥ इंद्रियं त्विंद्रियाणां त्वं देवा-
श्च तदनुग्रहः ॥ अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥ १० ॥ भूताना-
मसि भूतादिरिंद्रियाणां च तैजसः ॥ वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशा-
यिनां ॥ ११ ॥ नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ॥ यथा द्रव्यविका-
रेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥ १२ ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ॥
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥ १३ ॥ तस्मान्न सन्त्यमी भावा
यर्हि त्वयि विकल्पिताः ॥ त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः ॥ १४ ॥
गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ॥ गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरंतीह क-
र्मभिः ॥ १५ ॥ यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभां ॥ स्वार्थे प्रमत्तस्य

यह सब वास्तव में तुम्हारी ही शक्ति हैं ॥ ७ ॥ हे ईश्वर ! जल की तृप्त करने की शक्ति, जीवित रखने की शक्ति,देवपना,जलपना और उन का रस यह सब तुम ही हो,तैसे ही वायु की जो इन्द्रियशक्ति, अन्तःकरणशक्ति, शरीरशक्ति, शरीरव्यापार और गति यह सब तुम्हारी ही शक्ति, हैं ॥ ८ ॥ दिशाओं का अवकाश और दिशा तुम हो, आकाश और आकाश का आश्रय शब्द तन्मात्रा, परा पश्यन्ती ओंकार (मध्यमा) और वर्णपद आदिकों को पृथक् करनेवाली वैखरी तुम ही हो ॥९॥ इन्द्रियों की जो विषयों की प्रकाशक शक्ति, और उन के जो अधिष्ठात्री देवता और उन की जो प्रेरणा करने की शक्ति सो तुम ही हो. तैसे ही बुद्धि की जो निश्चयरूप शक्ति और अन्तःकरण की जो अनुसन्धान(विचार)शक्ति सो तुम ही हो॥१०॥पञ्चमहाभूतों का कारण तामस अहङ्कार, इन्द्रियों का कारण राजस अहङ्कार,इन्द्रियोंके देवताओं का कारण सात्विक अहङ्कार और जीवों के संसार का कारण माया यहसब तुमही हो॥११॥जैसे नाशवान् घडे कुण्डल आदिपदार्थोंमें मृत्तिकासुवर्णआदि पदार्थमात्र अविनाशी हैं तैसे ही यहाँ के सकल नाशवान् पदार्थों में जो शेष रहनेवाला तत्त्व है सो तुम ही हो ॥१२॥ सत्व, रज और तम यह तीन गुण और उन का परिणामरूप जो महत्तत्त्व आदि पदार्थ वह साक्षात् परब्रह्मरूप तुम्हारे विषें योगमाया से कल्पना करेहुएहैं १३ इसकारण यह पदार्थ वास्तव में तुम से निराले नहीं हैं;जिससमय यह पदार्थ तुम्हारे स्वरूप में माया से कल्पित हुए प्रतीत होते हैं उससमय ही तुम इन में कारणरूपसे पुरेहुए हो ऐसा भासता है, नहीं तो निर्विकल्परूप से तुमही शेष रहते हो ॥१४॥ इसगुणों के प्रवाहरूप संसार में तुम सर्वात्मा की प्रपञ्च में की सूक्ष्मगति को न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष,देहाभिमान से करेहुए कर्मों के द्वारा इस लोक में जन्ममरणरूप संसार पाते हैं ॥ १५ ॥ इसप्रकार उन के तत्त्व का निरूपण करके यह प्राप्त नहीं हुए इसकारण शोक करते हैं कि - हे ईश्वर !

वचो गतं त्वन्माययेश्वर ॥ १६ ॥ असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ॥ स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ॥ युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ॥ भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥ १८ ॥ तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविंदमापन्नसंसृतिभयापहमार्त्तबन्धो ॥ एतावतालमलमिंद्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥ १९ ॥ सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ॥ नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥ २० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ॥ प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥ २१ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ॥ यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य

दैवयोग से इस लोक में दुर्लभ और इन्द्रियादि करके कुशल मनुष्य शरीर के प्राप्त होने पर भी तुम्हारी माया से मोहित होकर अपने स्वार्थ में असावधान रहनेवाले मेरा यह आयु व्यर्थ ही निकलगया है ॥ १६ ॥ देह के विषें यह मैं हूँ, ऐसे और इस देह के सम्बन्ध से होनेवाले, पुत्रादिकों के विषय में यह मेरे हैं इसप्रकार के अभिमानरूप स्नेहपाश से तुम, इस सब ही जगत् को मोहित करदेते हो ॥ १७ ॥ इस से तुम दोनों हमारे पुत्र नहीं हो किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुषों के ईश्वर होकर पृथ्वी के भारभूत क्षत्रियों का संहार करने के निमित्त अवतीर्ण हुए हो, ऐसा ही तुम ने स्वयं भी पहिले मुझ से कहा है ॥ १८ ॥ इसकारण हे दीनबन्धो ! शरणागतों के संसाररूप भय को नष्ट करनेवाले तुम्हारे चरणकमल की आज मैं शरण हुआ हूँ, अबतक जोकुछ विषयों में आसक्ति हुई इतनी ही से भरपाया; क्योंकि—जिस विषयाशक्ति से मुझे, शरीर के ऊपर आत्मबुद्धि और तुम परमेश्वर के ऊपर पुत्रबुद्धि उत्पन्न हुई है ॥ १९ ॥ हे भगवन् ! तुमने मुझ से सूतिकागृह (सोवर) में पहिले ऐसा कहाथा कि—जब तुम दोनों ही सुतपा और पृश्नि नामवाले थे तैसेही जब कश्यप और अदिति थे तथा अब वसुदेव और देवकी हो, इनतीनों समय तुम से जन्म रहित भी मैं, अपनी चलाई हुई धर्ममर्यादा की रक्षा करने के निमित्त अवतीर्ण हुआ हूँ इसकारण हे भगवन् ! आकाश की समान असङ्ग भी तुम, नानाप्रकार के अवतार धारण करते हो और छोडदेते हो, हे वेद में वर्णन करेहुए प्रभो ! तुम सर्वव्यापक की विभूतिरूप माया को कौन पुरुष जानता है ? कोई नहीं जानता ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार यादवों में श्रेष्ठ और विनय से नम्र भगवान् ने, पिताका भाषण सुनकर, हँसते हुए मधुरवाणी से कहा ॥ २१ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे तात ! तुमने जो हम पुत्रों को, उद्देश करके सकल तत्त्वोंका उत्तम प्रकार से निरूपण करा है इसकारण

तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥ २२ ॥ अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः ॥ सर्वेऽ-
प्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥ २३ ॥ आत्मा ह्येकः स्वयंज्योति-
र्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ॥ आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥ २४ ॥ खं
वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ॥ आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं
यात्यसावपि ॥ २५ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतः ॥
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥ २६ ॥ अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ दे-
वकी सर्वदेवता ॥ श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥ २७ ॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ॥ स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्या-
दश्रुलोचना ॥ २८ ॥ देवक्युवाच ॥ राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ॥
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥ २९ ॥ कालविध्वस्तसत्त्वानां रा-

---

यह तुम्हारा कथन यथार्थ है ऐसा हम मानते हैं ॥ २२ ॥ हे यदुवंशियों में श्रेष्ठ तात ! मैं, तुम, यह बलराम और यह द्वारकावासी सब पुरुष, अधिक क्या कहूँ चराचर सबही प्राणी, मेरी समान (परब्रह्मरूप) ही हैं ऐसा तुम विचारबुद्धि से जानो ॥ २३ ॥ जैसे–आकाश, वायु, तेज, जल और भूमि यह पञ्चमहाभूत अपने से उत्पन्न हुए घट आदि कार्यों में उपाधियों के धर्म्मों से प्रकट होना, नाशपाना, थोडापना, बहुतपना आदि, धर्म्मों को प्राप्तहुए से प्रतीत होते हैं तैसे ही यह आत्मा भी अपने उत्पन्न करेहुए गुणों के परिणामरूप महत् आदि कारणों से रचेहुए देवमनुष्य आदि शरीर में, उपाधि के धर्मों से मनुष्य आदिकों के विषैं ज्ञान के प्रकट होने से, वृक्षादिकों में ज्ञान के गुप्त होने से, मच्छर आदि शरीरों में छोटेपन से और हाथी आदि के शरीरों में बडेपन से नानाप्रकार का भासता है, परन्तु यह वास्तव में तैसा नहीं है किन्तु–यह आत्मा एक होने पर भी अनेकरूपों से,स्वयम्प्रकाश होने पर भी दृश्यरूप से,नित्य होने पर भी अनित्यरूप से,अनन्य होने पर भी अन्यभाव से, निर्गुण होने पर भी सगुणरूप से और व्यापक होने पर भी परिच्छिन्नरूप से भासता है ॥ २४ ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् के बोध करायेहुए वह वसुदेवजी, उस आत्मा की एकता को सुनकर भेदबुद्धिरहित और सन्तुष्टचित्त होतेहुए मौन ही रहे ॥ २६ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर तहाँ सकल देवतारूप देवकी, मेरे बलरामकृष्ण पुत्रों ने, सान्दीपनिगुरु का मरण को प्राप्त हुआ पुत्र जीवित करके लादिया, यह सुनकर विस्मय में हुई और कंस के मारेहुए अपने पुत्रों का स्मरण करके शोक से नेत्रों में आँसू भरतीहुई, श्रीकृष्ण और बलराम दोनों को सम्बोधन करके दीनता के साथ कहनेलगी ॥२७॥२८॥ देवकी ने कहा कि–हे अचिंत्यस्वरूप बलराम ! हे बलराम ! हे योगेश्वरेश्वर कृष्ण ! तुम दोनों, विश्वरचयिता प्रजापतियों के ईश्वर आदिपुरुष हो ऐसा मैं जानती हूँ॥२९॥तुम दोनो,काल

ह्यामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ॥ भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णो किलाद्य मे ॥ ३० ॥ यैस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ॥ भवंति किल विश्वात्मंस्तं त्वाऽद्याहं गतिं गता ॥ ३१ ॥ चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ ॥ आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥ ३२ ॥ तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ॥ भोजराजहतान्पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥ ३३ ॥ ऋषिरुवाच ॥ एवं संचोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ॥ सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥ ३४ ॥ तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड् विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ॥ तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥ ३५ ॥ तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ॥ दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्मपुनद्यदम्बु ह ॥ ३६ ॥ समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ॥ ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥ ३७ ॥ स

के प्रभाव से, जिन के विवेक धैर्य आदि नष्ट होगये हैं ऐसे शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले और भूमि के भाररूप राजाओं का नाश करने के निमित्त मेरे गर्भ में अवतीर्ण हुए हो ॥३०॥ हे विश्वात्मन्! हे आद्य! जिन तुम्हारे पुरुषरूप अंश के मायारूप अंश से उत्पन्न हुए गुणों के अंश से जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते हैं ऐसा प्रसिद्ध है, तिन तुम्हारी मैं आज शरण आई हूँ ॥३१॥ हे योगेश्वरों के ईश्वरो! मरण को प्राप्त होकर बहुत वर्ष वीतेहुए पुत्र को लाकर देने के निमित्त सान्दीपनि गुरु के आज्ञा दियेहुये तुम, यमराज के यहाँ से उस को लाये और गुरु को दक्षिणा दी, ऐसा प्रसिद्ध है, तिसी प्रकार मेरे भी मनोरथ को तुम पूरा करो, यदि कंस के मारेहुए मेरे पुत्रों को तुम लाओ तो उन को देखने की मैं इच्छा करती हूँ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! इसप्रकार माता के प्रार्थना करेहुए उन बलरामकृष्ण ने, अपनी अचिन्त्यशक्ति योगमाया का आश्रय करके सुतल में प्रवेश करा ॥ ३४ ॥ जगत् के आत्मा और परमदेवता तथा अपने परमइष्टदेव, पाताल में प्रवेश करनेवाले उन दोनो बलरामकृष्ण बन्धुओं को देखकर, उनके दर्शन के आनन्द से आर्द्रचित्तहुए राजा बलिने, तत्काल परिवारसहित उठकर उन को नमस्कार करा ॥ ३५ ॥ और उन महात्मा बलरामकृष्ण को प्रीति के साथ श्रेष्ठ आसन समर्पण करके, उस पर बैठेहुए उन के, जिस के धोवन का जल ब्रह्माजी पर्यन्त सकल जगत् को पवित्र करता है तिस चरण को धोकर वह जल, परिवारसहित अपने मस्तक पर धारण करा ॥ ३६ ॥ और उन बलरामकृष्ण का उत्तम वस्त्र, भूषण, लेपन, ताम्बूल, दीपक और अमृत की समान भोजन के द्वारा तैसे ही अपने पुत्रपौत्रादि

इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ॥ उवाच हानन्दज-
लाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥ ३८ ॥ बलिरुवाच ॥ नमोऽनन्ताय
बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ॥ सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ३९ ॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ॥ रजस्तमःस्वभावानां यन्नः
प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥ दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ॥ यक्षरक्षः-
पिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥ ४१ ॥ विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रश-
रीरिणि ॥ नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥ ४२ ॥ के-
चनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ॥ न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः
सुरादयः ॥ ४३ ॥ इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ॥ न विदन्त्यपि
योगेशा योगमायां कुतो वयं ॥४४॥ तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्पादारविंद-
धिषणान्यगृहांधकूपात् ॥ निष्क्रम्य विश्वशरणांघ्र्युपलब्धवृत्तिः शांतो यथैक उत

कुछ, धन और देह को समर्पण करके पूजन करा ॥३७॥ हे राजन्! तदनन्तर वह राजा बलि, प्रेम से पिघलीहुई अपनी बुद्धि से भगवान् के चरणकमल को धारण करताहुआ, जिस के नेत्र आनन्द के आँसुओं से भरआये हैं, जिस के शरीर पर रोमाञ्च खडे होगये हैं और जिस का कण्ठ गद्गद होगया है ऐसा होकर कहनेलगा ॥ ३८ ॥ बलि ने कहा कि—हे देव! फणके एक भाग में जगत् को धारण करनेवाले शेषरूप तुम बलरामजी को नमस्कार हो, और जगत् को उत्पन्न करनेवाले तुम कृष्ण को नमस्कार हो, सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र को चलानेवाले ब्रह्मरूप और परमात्मा ऐसे एकरूप तुम दोनों को नमस्कार हो ॥ ३९ ॥ जो, योगेश्वरों के भी दृष्टि न पडनेवाले तुम, अपनी इच्छा से रजोगुण और तमोगुण के स्वभावों करके युक्त ऐसे हम को दृष्टि पडेहो, तिस से तुम्हारा दर्शन बहुत से जीवों को दुर्लभ होकर भी तुम्हारी कृपा से किन्ही जीवोंको सुलभ होजाता है, यह निश्चय कराहुआ है ॥ ४० ॥ दैत्य दानव आदि हम और गन्धर्व, सिद्ध विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथों के स्वामी, इत्यादि हमारी समान दूसरे भी जो कितने ही प्राणी हैं वह साक्षात् शुद्ध सत्त्वगुणी और वेदमूर्त्ति तुमसे निरन्तर वैरभाव रखते हैं, उन में से जैसे कितने ही (शिशुपाल आदि) परम वैरभाव की भक्ति से और कितने ही (गोपी आदि) कामभक्ति से तुम्हारे स्वरूप को प्राप्तहुए हैं, तिसप्रकार सत्त्वगुणी देवता भी तुम्हारे स्वरूप को नहीं प्राप्तहुए ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ हे योगेश्वरों के ईश्वर! प्रायः योगेश्वर भी तुम्हारी योगमाया को, 'यह ऐसे स्वरूपवाली वा इस प्रकार की है' यह नहीं जानते हैं फिर हम तो जानही क्या सक्ते हैं? ४४ ॥ हे देव! निष्काम पुरुषों के भी खोजने योग्य, तुम्हारे चरणकमल के आश्रय से भिन्न घररूप अन्ध-

सर्वसखेश्वरांमि॥४५॥ शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो॥ पुमान् ये
च्छ्रद्धया तिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥ ४६ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ आसन्मरीचेः
षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ॥ देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥
॥ ४७ ॥ तेनासुरीमगन्योनिमधुनाऽवद्यकर्मणा ॥ हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्
ते योगमायया ॥ ४८ ॥ देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः ॥ सा
तान् शोचत्यात्मजान्स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥ ४९ ॥ इत एतान्प्रणेष्या-
मो मातृशोकापनुत्तये ॥ ततः शापाद्विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥५०॥
स्मरोद्गीथः परिष्वंग पतंगः क्षुद्रभृद्घृणी ॥ षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति
सद्गतिं ॥ ५१ ॥ इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ॥ पुनर्द्वारवतीमे-
त्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥ ५२ ॥ तान्दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्त-

कारयुक्त कूप में से निकलकर मैं शान्तभाव से, जगत् की रक्षा करनेवाले वृक्षों के नीचे अपने आप गिरेहुए फल आदि से निर्वाह करताहुआ जैसे इकलाही विचरूँ अथवा सर्वों के मित्र साधुओं के साथ विचरूँ तैसा तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करो ॥ ४५ ॥ हे प्रभो ! हे सकल जीवों के ईश्वर ! जिस तुम्हारे कहेहुए आचरण को करनेवाला पुरुष, विधिनिषेध रूप बन्धन से मुक्त (जीवन्मुक्त) होता है वह अपना दासभाव तुम हम से कहो और हमें निष्पाप करो ॥ ४६ ॥ इसप्रकार प्रार्थना करेहुए श्रीभगवान् कहनेलगे कि–स्वायम्भुव मन्वन्तर में मरीचि नामवाले प्रजापति की ऊर्णा (कला) नामवाली स्त्री के विषें छः पुत्र देवता उत्पन्नहुए थे, वह कन्या सरस्वती के साथ सङ्गम के निमित्त उद्यतहुए ब्रह्माजी को देखकर हँसे ॥ ४७ ॥ उस परिहासरूप दुष्कर्म से (ब्रह्माजी के शाप से) वह तत्काल दैत्ययोनि को प्राप्त होकर हिरण्यकशिपु के पुत्र हुए थे; यद्यपि हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद आदि कहे हैं तथापि इस कथन से वह भी उस के पुत्र हुए थे, ऐसा जानना; तहाँ से वह योगमाया करके देवकी के उदर में लेजाने पर तहाँ से वह जन्म लेते ही कंस करके मारेगये ;हे बलिराजन् ! अब वह देवकी उन अपने मरेहुए पुत्रोंका शोक कररही है वह छहों तुम्हारे समीप हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ हम इन को इस स्थान से माता का शोक दूर करने के निमित्त लियेजाते हैं ; माता का शोक दूर होनेपर यह शाप से (दैत्ययोनि से) छूटकर सुखी होतेहुए देवलोक को गमन करेंगे ॥ ५० ॥ स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभृत और घृणी इन नामोंवाले यह छः पुत्र मेरे अनुग्रह से फिर सद्गति को पावेंगे ॥ ५१ ॥ ऐसा कहकर उन पुत्रोंको लेकर, राजाबलि के पूजा करेहुए उन बलराम-कृष्ण ने फिर द्वारका में आकर माता को वह पुत्र समर्पण करे ॥ ५२ ॥ उन बालकों को देखते ही पुत्रों के स्नेह से स्तनों में से दूध टपकाती हुई वह देवकी, उन को

नी ॥ परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ॥ ५३ ॥ अपाययत् स्तनं
प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता ॥ मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ।५४॥
पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ॥ नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्म-
दर्शनाः ॥ ५५ ॥ ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ॥ मिषतां
सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥ ५६ ॥ तद् दृष्ट्वा देवकी देवी मृता-
गमननिर्गमम् ॥ मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥ ५७ ॥
एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ॥ वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि
भारत ॥ ५८ ॥ सूत उवाच ॥ य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारेश्चरितममृतकी-
र्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ॥ जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं भगवति कृतचित्तो याति
तत्क्षेमधाम ॥ ५९ ॥ इतिश्रीभागवते म० द० उ० मृताग्रजानयनं नाम पञ्चा-
शीतितमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ ७ ॥ राजोवाच ॥ ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः स्वसारं

आलिंगन करके और गोदी में बैठाकर वारंवार उन का मस्तक सूंघनेलगी ॥ ५३ ॥
तदनन्तर, जिस से सृष्टि चलती है उस, विष्णु की माया से मोहित होने के कारण सन्तुष्ट
और पुत्रों के स्पर्श से आनन्दित हुई तिस देवकी ने, उन पुत्रों को स्तनपान कराया ॥५४॥
वह पुत्र भी, श्रीकृष्णजी के पीने से * शेष रहेहुए तिस देवकी के अमृतसमान दूध को
पीकर, श्रीकृष्णजी के अङ्ग के स्पर्श से जिन को, हम देवता हैं ऐसा ज्ञान होगया है ऐसे
होकर वह, श्रीकृष्ण, देवकी, वसुदेव और बलरामजी को नमस्कार करके सब लोकों के
देखतेहुए, देवताओं के स्थान स्वर्ग को चलेगये ॥५५॥५६॥ हे राजन् ! उन मरेहुए पुत्रों
का आना और जाना देखकर अत्यन्त विस्मय में हुई देवीदेवकी ने, यह अहन्ताममतारूप
रचीहुई श्रीकृष्णजी की माया ही है ऐसा जाना ॥ ५७ ॥ हे राजेन्द्र ! इसप्रकार के अनन्त
शक्ति परमात्मा श्रीकृष्णजी के अद्भुतचरित्र अनन्त हैं ॥ ५८ ॥ सूतजी कहते हैं कि-
हे शौनकादि ऋषियों ! शुकदेवजी के वर्णन करेहुए, जगत् के पाप नष्ट करनेवाले और
भगवद्भक्तों के कानों को उत्तम आनन्द देनेवाले इस अमृत कीर्त्तिभगवान् के चरित्र को,
जो मनुष्य भगवान् की ओर को अपना चित्त लगाकर श्रवण करेगा वा दूसरों को सुनावेगा
वह मनुष्य, उन भगवान् के निर्भय स्थान को पावेगा ॥५९॥ इति श्रीमद्भागवत के दश-
मस्कन्ध उत्तरार्द्ध में पञ्चाशीतितम अध्याय समाप्त ॥*॥ अब आगे छयासीवें अध्याय में
अर्जुन ने, दाम्भिकपने से सुभद्रा का हरण करा और श्रीकृष्णजी ने मिथिला नगरी में
जाकर राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मण को आनन्दित करा यह कथा वर्णन करी है॥*॥
जैसे देवकी को मरेहुए पुत्रों का मिलना कठिन था तैसेही अर्जुन को सुभद्रा का मिलना,

---

* सूतिकाघर में श्रीकृष्ण साधारण बालक बने ऐसा कहा है, इसकारण उस समय भगवान् ने देवकी का दूध पिया ऐसा तहाँ यद्यपि कहा नहीं है तथापि इस कथन से वैसा समझना ।

रामकृष्णयोः ॥ यथोपयेमे विजयो या मम्मासीत्पितामही ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ॥ गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥ २ ॥ दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ॥ तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥ ३ ॥ तत्र वै वार्षिकान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ॥ पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ॥ ४ ॥ एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ॥ श्रद्धयोपाहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥ ५ ॥ सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ॥ प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥ ६ ॥ साऽपि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् ॥ हसन्ती व्रीडितापांगी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥ तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ॥ न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥

बलदेवजी के प्रतिकूल होने के कारण दुर्लभ था ऐसा माननेवाला राजा प्रसङ्ग से प्रश्न करता है कि—हे शुकदेवजी ! बलराम कृष्ण की बहिन जो मेरी दादी थी उस सुभद्रा को अर्जुन ने, जिसप्रकार वरा हो वह विवाह की रीति हम आप से सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन् ! जय पाने में समर्थ अर्जुन, तीर्थयात्रा के निमित्त से पृथ्वीपर विचरते में, प्रभास तीर्थ पर जापहुँचे, तहाँ उन्होंने अपने मामा (वसुदेव) की कन्या जो सुभद्रा तिस को बलराम, दुर्योधन को देंगे और अन्य वसुदेव आदि उस को दुर्योधन के निमित्त देने की इच्छा नहीं करते हैं ऐसा सुना तब उस का हरण करने की इच्छा करनेवाले वह अर्जुन, बलरामजी को धोखा देने के निमित्त, अतिपूजनीय त्रिदण्डी यति का वेष धारण करके द्वारका में गये ॥ २ ॥ ३ ॥ और अपने प्रयोजन को साधनेवाले वह अर्जुन, तहाँ वर्षाकाल के चारमासपर्यंत रहे. तब कपटवेष को न जाननेवाले पुरवासी लोकों ने और बलरामजी ने भी उन का वारंवार सत्कार करा ॥ ४ ॥ एक समय बलरामजी ने, उस अर्जुन को, अतिथिरूप से निमन्त्रण करके और घर लाकर श्रद्धा के साथ अन्न परोसा तब उस ने वह भोजन करा ॥ ५ ॥ तहाँ उन्होंने वीर पुरुषों के मन को हरनेवाली और तरुण अवस्था में आईहुई एक बडी कन्या देखी, तिस करके प्रीति से प्रफुल्लित नेत्रहुए अर्जुन ने उस के ऊपर रतिसुख की इच्छा से क्षोभित हुआ अपना मन लगाया ॥ ६ ॥ और वह सुभद्राभी स्त्रियों के मनो को प्रिय लगनेवाले तिन अर्जुन को देखकर उन में ही मन और दृष्टि लगाकर लज्जायुक्त नेत्र कटाक्षों से उन की ओर को देखकर हँसतीहुई, यही मेरे पति हों ऐसी इच्छा करनेलगी ॥ ७ ॥ तब केवल उस कन्या का ध्यान करतेहुए, उस को हरण करने का अवसर मिलने की इच्छा करनेवाले वह अर्जुन, अतिबलवान् कामदेव से चित्त के भ्रम

॥ ८ ॥ महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ॥ जहारानुमतः पित्रोः कृ-
ष्णस्य च महारथः ॥ ९ ॥ रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुंधतो भटान् ॥ विद्राव्य
क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥ १० ॥ तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्व-
णीव महार्णवः ॥ गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ॥ ११ ॥ प्राहिणोत्
पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ॥ महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥ १२ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ कृष्णस्यासीद्द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ॥ कृष्णैकभक्त्या
पूर्णार्थः शांतः कविरलंपटः ॥ १३ ॥ स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहा-
श्रमी ॥ अनीहयागताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥ १४ ॥ यात्रामात्रं त्वहरहर्दै-
वादुपनमत्युत ॥ नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ॥ १५ ॥ तथा

में पडजाने के कारण बलरामजी के करेहुए सत्कार से भी कुछ सुखीसे नहीं हुए ॥ ८ ॥ तदनन्तर एक समय उस कन्या के माता पिताओं ने (देवकी वसुदेवने) और श्रीकृष्णजी ने जिन को अनुमति दी है ऐसे उन अर्जुन ने, वडीभारी देवयात्रा के निमित्त से रथपर वैठकर द्वारका से वाहर निकली हुई उस कन्या को रथपर वैठालकर, अपने गांडीव धनुष धारण करके और चारों ओर से रोकनेवाले शत्रुओं को भगाकर उन यादवों के हाहाकार करतेहुए, जैसे सिंह अपना भाग हरण करता है तैसे उन्होंने उस सुभद्रा का हरण करा ॥ ९ ॥ १० ॥ यह सुनकर, जैसे पूर्णिमा के दिन समुद्र खलवलाता है तैसे बलरामजी खलवला उठे; परन्तु श्रीकृष्णजी ने तथा दूसरे भी यादवों ने चरण पकडकर उन को समझाया तव वह शान्त हुए ॥ ११ ॥ और तदनन्तर हर्षयुक्त हुए उन बलरामजी ने, उन सुभद्रा और अर्जुनरूपी वधूवरों को प्रीति के साथ देनेयोग्य वहुत से पदार्थ तैसे ही वहुमूल्य के आभूषण धारण करेहुए हाथी, रथ, घोडे, सेवक और दासियें, यह सव भेजदिये, उससमय यादव और पाण्डव सव ही प्रीति से प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥ अव भक्तवत्सलतायुक्त भगवान् का दूसरा चरित्र कहतेहुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! श्रुतदेवनाम से प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ ब्राह्मण श्रीकृष्णजी का भक्त था, वह श्रीकृष्णजी की अनन्यभक्ति से पूर्णमनोरथ, शान्त, विषयाशक्तिरहित और विचारवान् था ॥ १३ ॥ वह विदेह देश में की मिथिलानगरी में रहता था, वह गृहस्थाश्रमी होकर भी उद्योग के विना जो अन्नादि मिलजाय उस से ही अपना भोजनादि सव निर्वाह चलाता था ॥ १४ ॥ उस के प्रारब्ध से उस को प्रतिदिन शरीर आदि के निर्वाह की पूर्ति के योग्य ही अन्न आदि प्राप्त होता था, खटपट करने पर भी अधिक नहीं मिलता था, इसकारण जितना प्राप्त होय उतने से ही सन्तुष्ट रहकर वह अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों को पूरे विधि

तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ॥ मैथिलो निरहंमान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥ १६ ॥ तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ॥ आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥ १७ ॥ नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ॥ अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥ १८ ॥ तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ॥ उपतस्थुः सार्घहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥ ॥ १९ ॥ आनर्त्तधन्वकुरुजांगलकंकमत्स्यपांचालकुंतिमधुकेकयकोसलार्णाः ॥ अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहासस्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥ २० ॥ तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ॥ शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥ २१ ॥ तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ॥ अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥ २२ ॥ दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ॥ कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुत

विधान से करता था ॥ १५ ॥ हे राजन्! उस देश का स्वामी बहुलाश्वनाम से प्रसिद्ध एक राजा था, वह जनक के वंश में उत्पन्न हुआ था और देह आदि में अभिमान रहित तथा श्रुतदेवकी समान ही भगवद्भक्त था, इसकारण वह दोनो ही भगवान् को प्रिय थे ॥ १६ ॥ उन के ऊपर प्रसन्न हुए भगवान् प्रभु श्रीकृष्णजी, एक समय दारुक के लायेहुए रथ पर बैठकर ऋषियों के साथ विदेहदेश में गये ॥ १७ ॥ वह ऋषिनारद, वामदेव, अत्रि, व्यास, परशुराम, असित, अरुणि, मैं (शुकदेव), बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय और च्यवन आदि थे ॥ १८ ॥ तब विदेहदेश में जाते समय मार्ग में जहाँ तहाँ के स्थानों पर पहुँचेहुए तिन भगवान् का, हाथ में पूजा की सामग्री लेनेवाले पुरवासी और देशवासी लोगों ने, जैसे गुरुशुक्रादिग्रहोंसहित उदय को प्राप्तहुए सूर्य का पूजन करते हैं तैसे पूजन करा ॥ १९ ॥ और हे राजन्! उससमय, आनर्त्त, धन्व, कुरु, जांगल, कंक, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, कैकय, कोसल और अर्ण देशों में रहनेवाले लोकों ने, तथा दूसरे भी देशों के पुरुष और स्त्रियों नें, अपनी दृष्टियों से उदारहास्य और स्नेह के साथ देखनेवाले तिन श्रीकृष्णजी के मुखकमल को आदर के साथ देखा ॥ २० ॥ तब अपने दर्शन से जिन का अज्ञान नष्ट हुआ है ऐसे उन लोकों को, कृपादृष्टि से अभय और तत्त्वज्ञान देनेवाले वह त्रिलोकी के पूजनीय भगवान् श्रीकृष्णजी, दशोंही दिशाओं में व्यापेहुए देवता और मनुष्यों से गानकरेहुए, शुद्ध और पापनाशक अपने यश को सुनतेहुए धीरे २ विदेह देश में जापहुँचे ॥ २१ ॥ हे राजन्! तब वह विदेह देश में के पुरवासी और देशवासी लोग, श्रीकृष्णजी को आयाहुआ सुनकर हर्षित हो और हाथ में पूजा की सामग्री लेकर उन भगवान के सन्मुख गये ॥ २२ ॥ और उन उत्तमकीर्त्ति भगवान् को तथा पहिले ही जिन के नाम सुने थे ऐसे नारद वामदेव आदि

पूर्वांस्तथा मुनीन्॥२३॥स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ॥ मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥ २४ ॥ न्यमंत्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ॥ मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥२५॥ भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ॥ उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥ २६ ॥ श्रोतुमप्यसतां दूराज्जनकः स्वगृहागतान् ॥ आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥ २७ ॥ प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः ॥ नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥ २८ ॥ सकुटुंबो वहन्मूर्ध्ना पूजयांचक्र ईश्वरान् ॥ गंधमाल्यांबराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः ॥ २९ ॥ वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् ॥ पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ॥ ३० ॥ राजोवाच ॥ भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ॥ अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्म-

ऋषियों को देखकर, जिन के नेत्र और हृदय प्रफुल्लित हुये हैं ऐसे उन पुरुषों ने,उन को अपने मस्तक पर हाथ जोडकर प्रणाम करा ॥ २३ ॥ अपने ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त वह जगद्गुरु आये हैं ऐसा माननेवाले वह बहुलाश्व राजा और श्रुतदेव ब्राह्मण यह दोनो, भगवान् के चरणों पर गिरे ॥ २४ ॥ और उस बहुलाश्व राजाने तथा श्रुतदेव ब्राह्मण ने, ब्राह्मणोंसहित उन श्रीकृष्णजी को एकसाथ हाथ जोडकर अपने घर पूजा ग्रहण करने के निमित्त आने की प्रार्थना करी ॥ २५ ॥ उन दोनों की प्रार्थना को स्वीकार करके, दोनों का प्रिय करने के निमित्त, उन दोनों ने ही यह मेरे घर से दूसरे के घर जाते हैं ऐसा जानने में न आयेहुए वह भगवान् श्रीकृष्णजी, ब्राह्मणों सहित दोरूप धारण करके दोनों के घरगये ॥ २६ ॥ तब बढीहुई भक्ति से हर्षितचित्त हुए और आनन्द के अश्रुओं से जिस के नेत्र भरआये हैं ऐसे उस बहुलाश्व राजा ने, दुराचारी पुरुषों को जिन का नाम सुनना भी दूर है ऐसे, परन्तु कृपा करके अपने घर आयेहुए और अपने दियेहुए उत्तम आसन के ऊपर सुख से बैठेहुए तिन ऋषियों को प्रणाम करके और उन के चरण धोकर लोकों को पवित्र करनेवाला वह चरणों की धोवन का जल, कुटुम्बसहित अपने मस्तक पर धारण करा और उन प्रभु की-गन्ध,पुष्प, वस्त्र, अलङ्कार, धूप, दीप, अर्घ्य, गौ और वृषभ अर्पण करके पूजा करी ॥२७॥२८॥२९॥ तदनन्तर उत्तम अन्न से तृप्त हुए उन ब्राह्मणों को, राजा मधुरवाणी से प्रसन्न करता हुआ अपनी जङ्घा पर रक्खे हुए श्रीकृष्णजी के चरण को धीरे २ दबाता हुआ हर्ष से ऐसा कहने लगा ॥ ३० ॥ राजाने कहाकि—हे विभो ! तुम सब जीवों के आत्मा, साक्षी और स्वप्रकाश हो, इसकारण तुम, अपने चरणकमल का स्मरण करनेवाले हम

रता दर्शनं गतः ॥ ३१ ॥ स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मदृग्गोचरो भवान् ॥ यदात्थैकांतभक्तान्मे नानंतः श्रीरजः प्रियः ॥ ३२ ॥ को नु त्वच्चरणांभोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ॥ निष्किंचनानां शांतानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३ ॥ योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ॥ यशो वितेने तच्छांत्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥ ३४ ॥ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुंठमेधसे ॥ नारायणाय ऋषये सुशांतं तप ईयुषे ॥ ३५ ॥ दिनानि कतिचिद्भूमन् गृहान्नो निवस द्विजैः ॥ समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥ ३६ ॥ इत्युपामंत्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ॥ उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥ ३७ ॥ श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहान् जनको यथा ॥ नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥ ३८ ॥ तृणपीठबृसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः ॥ स्वागतेनाभिनंद्यांघ्रीन्सभार्योऽवनिजे मुदा ॥ ३९ ॥ तदंभसा महाभाग आत्मा-

को दृष्टि पडे हो ॥ ३१ ॥ अनन्य भक्तकी अपेक्षा मुझे बलराम भ्राता भी, लक्ष्मी स्त्री भी, और ब्रह्मदेव पुत्र भी प्रिय नहीं है, ऐसा जो वचन तुमने कहा है, उस को सत्य करने के निमित्त तुम हमारे दृष्टिगोचर हुए हो, ॥ ३२ ॥ इस से यह वार्त्ता जानने वाला कौनसा पुरुष, तुम्हारे चरणकमल का त्याग करेगा ? जो तुम निष्किञ्चन और शान्त ऋषियों को अपना स्वरूपपर्यंत देते हो ॥ ३३ ॥ और जो तुम राजा यदु के वंश में अवतार धारण करके इस संसार में देवमनुष्यादि योनियों के विषें उत्पन्न होकर तीन तापों को अनुभव करनेवाले जीवों के, उन तीनों तापों की शान्ति होने के निमित्त त्रिलोकी में सब लोकों का पाप दूर करनेवाले अपने यश को फैलाते हो ॥ ३४ ॥ ऐसे आप अकुण्ठबुद्धि, अतिशान्त, तप करनेवाले, ऋषिरूप, नारायणभगवान् श्रीकृष्णजी को नमस्कार हो ॥ ३५ ॥ हे व्यापक प्रभो ! तुम कुछदिनोंपर्यंत इन सब ऋषियोंसहित हमारे घर रहकर अपने चरणरज से इस निमि राजा के कुल को पवित्र करो ॥ ३६ ॥ इसप्रकार राजा बहुलाश्व के प्रार्थना करेहुए लोकपालक भगवान् श्रीकृष्णजी, मिथिला नगरी में के पुरुषों का और स्त्रियों का कल्याण करतेहुए कुछदिनोंपर्यंत तहां ही रहे ॥ ३७ ॥ इधर श्रुतदेव ब्राह्मण भी जनक राजा की समान, अपने घर आयेहुए श्रीकृष्णजी को और ऋषियों को नमस्कार करके अत्यन्त हर्षित हुआ और वस्त्र से पवन करताहुआ नाचनेलगा ॥ ३८ ॥ तदनंतर लायेहुए कुशा आदि के आसन और पिराल पर बैठालकर तथा स्वागत प्रश्न से उन का अभिनन्दन करके स्त्री सहित उसने बडेहर्ष के साथ उन के चरणों को धोया ॥ ३९ ॥ और उस महाभाग श्रुतदेव ने, घर तथा

स्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥ कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ॥ यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥ द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च॥संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा॥१०॥ शक्त्याऽशक्त्याऽथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ॥ अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥ ११ ॥ धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ॥ कालवाय्वग्निमृत्तोयैः

और वाकी के पवित्र हैं ॥ ८ ॥ जो काल पदार्थों की सम्पत्ति से युक्त अथवा जो दिन का पहिला भाग आदि काल स्वयं ही कर्म के योग्य है वह उस कर्म के विषय में शुद्ध है और जिस में पदार्थ नहीं मिलता अथवा राष्ट्रविप्लव (गदर) आदि होने से कर्म नहीं होसक्ता और जो सूतक आदि में कर्म के अयोग्य होता है वह दशाह आदि काल अशुद्ध माना है ॥ ९ ॥ पदार्थों की शुद्धि वा अशुद्धि, दूसरे पदार्थ से, वचनसे संस्कार से, काल से अथवा अधिक कम होनेसे मानी है; तहाँ पदार्थ से—तण्डुल आदि पदार्थोंकी-जल आदि से शुद्धि और मूत्रादि से अशुद्धि होती है संस्कार से वचन से—यह वस्तु शुद्ध है अथवा अशुद्ध है ऐसा संशय प्राप्त होनेपर, यह शुद्ध है ऐसे ब्राह्मण के वचन से शुद्धि अन्यथा अशुद्धि होती है, छिडकने आदि से पुष्पादिकों की शुद्धि और सूँघने से अशुद्धि होतीहै काल से—दश दिन वीतने पर नवीन जल की शुद्धि और चौमासे में तीन दिन में नये जल की शुद्धि तथा रात्रि वसजाने से वासी अन्न की अशुद्धि होती है, और अधिकता न्यूनता से—चाण्डालादिकों का स्पर्श होनेपर भी तालाव आदि के जल की शुद्धि और घडे आदि के जल की अशुद्धि है ॥ १० ॥ तैसे ही शक्ति और अशक्ति से—सूर्यग्रहण आदि सूतक के अन्न आदि की शक्तिमान् पुरुषों को अशुद्धि और असमर्थ पुरुषों को शुद्धि होती है ; ज्ञान से—पुत्रजन्म आदि का अशौच दशदिन के अनन्तर जानाजाय तो शुद्धि और दशदिन के भीतर जानाजाय तो तब से दशदिनतक अशुद्धि होती है. समृद्धि से—पुराने और मैले वस्त्रों की सम्पत्तिमानों को अशुद्धि और दरिद्री को शुद्धि होती है; तिसपर भी यह पदार्थ, अपने अशुद्धपने से प्राणी को जो पाप उत्पन्न करते हैं वह देश और अवस्था आदि के अनुसार ही करते हैं, सर्वत्र नहीं करते हैं अर्थात् निर्भय देश में ही करते हैं चोरादिकों के उपद्रव से युक्त देश में नहीं करते हैं, रोग आदि रहित तरुण आदि अवस्था में ही करते हैं, रोगीपने के दशा में वा बालक आदि अवस्था में नहीं करते हैं ॥११॥ धान्य की शुद्धि वायु से होती है, लौकिक काठों की जल से;और ग्रहचमस आदि यज्ञ के पात्रों की शुद्धि गरमजल से होती है,हाथीदाँत आदि हड्डियों की शुद्धि काल से होती है, घी तेल आदि रसों की और सुवर्ण आदि धातुओं की शुद्धि अग्नि से होती है; वस्त्रादिकों की शुद्धि जल से, चर्म आदि की शुद्धि काल से,

पार्थिवानां युतायुतैः ॥ १२ ॥ अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धं लेपं व्यपोहति ॥ भ-
जते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥ १३ ॥ स्नानदानतपोवस्थावीर्यसं-
स्कारकर्मभिः ॥ मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्द्विजः ॥ १४ ॥
मंत्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ॥ धर्मः संपद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः
॥ १५ ॥ क्वचिद्गुणोपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ॥ गुणदोषार्थनि-
यमस्तद्भिदामेव बाधते ॥ १६ ॥ समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ॥
औत्पत्तिको गुणः संगो न शयानः पतत्यधः ॥ १७ ॥ यतो यतो निवर्तेत

और अन्य पदार्थों की शुद्धि भिन्न २ शुद्धिकारी पदार्थों से, और दो तीन आदि पदार्थों के
मिलने से होती है. काक चाण्डाल आदि के छुएहुए पदार्थों की शुद्धि स्पर्श आदि के न्यूना-
धिकभाव से काल आदि करके होती है ॥ १२ ॥ पटला, पात्र, वस्त्र आदि जो वस्तु, जिस
छीलने आदि से, खारी खट्टे आदि जल से धोनेपर अमङ्गल पदार्थों के गन्ध, लेप और मल
को त्यागकर ठीक दशा को प्राप्त होय, उन पटले आदि वस्तुओं का वह छीलना आदि ही
शोधक है, उस का भी गन्ध और लेप जानेपर्यन्त वारंवार लगाना ही इच्छित है ॥ १३॥
स्नान, दान, तप, अवस्था, शक्ति, उपनयन आदि संसकार, सन्ध्योपासनादि कर्म और
मेरे स्मरण के द्वारा कर्त्ता की शुद्धि कही है, इसकारण इन संस्कारों से ब्राह्मण,
क्षत्रिय वैश्य और शूद्र, शुद्ध होकर अपने अधिकार के अनुसार कर्म करें ॥ १४ ॥
श्रेष्ठगुरु के मुख से अङ्गोपाङ्ग सहित मंत्र का ज्ञान होना ही मन्त्रशुद्धि है, मुझ ईश्वर
को समर्पण करना ही कर्म की शुद्धि है; इसप्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्त्ता, मंत्र और
कर्म यह छः शुद्धियें होने पर इन से धर्म प्रवृत्त होता है और इन में विपरीतपना होय
तो अधर्म होता है ॥ १५ ॥ यह गुणदोष का विभाग वास्तविक नहीं है क्योंकि—कहीं
अर्थात् आपत्ति में प्रतिग्रह गुण है तौ भी सम्पत्ति में निषिद्ध होने से दोष होता है और
कहीं दोष भी विधिबल से गुण होजाता है, क्योंकि—जैसे कुटुम्ब का परित्याग आदि साधा-
रण पुरुष को दोषरूप है परन्तु विरक्त को दोषरूप नहीं है, गुणदोष का जो नियामक
शास्त्र है वह गुणदोष के भेद का ही बाध करता है ॥ १६ ॥ कहीं दोष भी दोषरूप न
होकर गुणरूप होजाता है, जैसे सुरापान आदि अपतित पुरुषों के पतन का हेतु होने से
दोषरूप होने पर भी पतितपुरुषों के अधिकार का नाशक नहीं होता है, क्योंकि—वह
पतित तो पहिले से ही है इस से यहाँ दोष भी दोषरूप नहीं हुआ, तथा संन्यासी को आ-
सक्ति दोष है, परन्तु गृहस्थी को पहिले से ही होने से दोष न होकर गुणरूप है इस में दृ-
ष्टान्त कहते हैं कि—जो पहिले से ही नीचे सोया है वह नीचे नहीं गिरता है ॥ १७ ॥

विमुच्येत ततस्ततः ॥ एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥ १८ ॥ वि-
षयेषु गुणाध्यासात्पुंसः संगस्ततो भवेत् ॥ संगात्तत्र भवेत्कामः कामादेव क-
लिर्नृणाम् ॥ १९ ॥ कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ॥ तमसा ग्रस्यते पुंस-
श्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥ २० ॥ तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥ विषयाभिनिवेशेन ना-
त्मानं वेद नापरम् ॥ वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥ २२ ॥
फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ॥ श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भै-
षज्यरोचनम् ॥ २३ ॥ उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ॥ आस-

---

अतएव गुणदोष की नियमविधि का तात्पर्य, प्रवृत्ति के सङ्कोच के द्वारा निवृत्तिविषय में ही है, क्योंकि–जिस २ विषय से यह पुरुष निवृत्त होता है उस २ से मुक्त होता है और मुक्त होना यह धर्म ही मनुष्यों का कल्याणकारी होकर शोक, मोह और भय का नाश करता है ॥ १८ ॥ पहिले ' यह विषय अति उत्तम है ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनेपर उन विषयों में पुरुष की आसक्ति होतीहै और आसक्ति होनेपर उन को भोगने की इच्छाहोतीहै उस के पूर्ण होने में विघ्न करनेवाले के साथ उन पुरुषों का उस इच्छा के कारण ही कलह होता है ॥ १९ ॥ और कलह से तीव्र क्रोध होता है, तिस क्रोध के कारण अतिमोह होता है और मोह से पुरुष की सब पदार्थों में फैलीहुई ' क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इस प्रकार की स्मृति नष्ट होजाती है ॥२०॥ फिर उस विवेक की स्मृति से रहित हुआ प्राणी, होकर भी न होनेवालासा होताहै तदनन्तर मूर्छितकी समान अथवा मृतकसमान हुए उस प्राणी के पुरुषार्थ की हानि होती है ॥ २१ ॥ विषयों में अभिनिवेश (यह अवश्य करना चाहिये ऐसे आग्रह) से अपने को नहीं जानता है और दूसरे को भी नहीं जानता है किन्तु वृक्ष की समान केवल आहारमात्र ग्रहण करके जीवित रहता है, वह मूर्छित की समान होता है और लुहार की धोंकनी की समान व्यर्थ श्वास लेता रहता है तथा मृतकसमान है ॥ २२ ॥ ' स्वर्ग की इच्छा करनेवाला अग्निष्टोमयज्ञ करे ' ऐसी जो फलश्रुति है वह मनुष्यों को परमपुरुषार्थ देनेवाली नहीं है किन्तु बहिर्मुख पुरुषों को मोक्ष का उपदेश करने की इच्छा से आनुषङ्गिकफलों के द्वारा कर्म पर रुचि उत्पन्न करनेवाली है, इस फलश्रुति से जैसे पिता, बालकों के ज्वरादि रोग दूर होने के निमित्त उन को औषध पिलाने का मन में विचार करके उन से, औषध का फल मिसरी लड्डू आदि दूँगा ऐसा कहता है तिसीप्रकार स्वर्गादि फल कहा है ॥ २३ ॥ अपने अनर्थ के कारण जो पशुआदि विषय, आयु, इन्द्रियें, बल, पराक्रम और पुत्रादि स्वजनों में स्वभाव से ही आसक्तचित्त हुए और वेद के कहने पर विश्वास रखनेवाले, अपने स्वार्थ

र्कामनसो गत्यां आत्मनोनर्थहेतुषु ॥ २४ ॥ नैतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ॥ कथं युंज्यात्पुनस्तेषुं तांस्तमो विशतो बुधः ॥ २५ ॥ एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ॥ फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ २६ ॥ कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ॥ अग्निमुग्धा धूमतांताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥ २७ ॥ न ते मामंग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ॥ उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥ २८ ॥ ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ॥ हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥ २९ ॥ हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ॥ यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥ ३० ॥ स्वप्नोपममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ॥ आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्था-

को न जाननेवाले और देवादियोनिरूप दुःखमार्ग में घूमकर अन्त में वृक्षादियोनियों में जन्म धारण करनेवाले उन पुरुषों को, फिर उन ही पशु आदि विषयों में, उन का परमहितू जो वेद सो कैसे प्रवृत्त करेगा? ॥ २४ ॥ २५ ॥ कितनेही कुबुद्धि, वेदका अभिप्राय न जानतेहुए स्वर्गादिफल कहने के कारण मनोहर प्रतीत होनेवाली फलश्रुति को ही सत्य मानते हैं, वेद के जाननेवाले ऋषि तैसा नहीं जानते हैं ॥ २६ ॥ जो पुरुष, कामी, कृपण, लोभी, स्वर्गादि आवान्तर फलों में परमफल की बुद्धि रखनेवाले, अग्नि से सिद्ध होनेवाले कर्मों के आग्रह से विवेकहीन और अन्त मे दक्षिणायन मार्ग से जानेवाले हैं, वह किसी प्रकारभी आत्मतत्त्व को नहीं जानते हैं ॥ २७ ॥ हे उद्धवजी! जो परमात्मा जगद्रूप है अर्थात् जिस से जगत् निराला नहीं है और जिससे जगत् उत्पन्न हुआ है ऐसे हृदय में स्थित मुझ परमेश्वरको भी नहीं जानते हैं, क्योंकि—वह पशु हिंसारूप कर्मफल को ही वर्णन करनेयोग्य समझते हैं और अपने प्राणों की तृप्ति करनेमें तत्पर रहते हैं इसकारण जैसे अन्धकार से व्याप्त दृष्टिवाले पुरुष, समीप के भी पदार्थ को नहीं देखते हैं तैसे वह समीप में के भी मुझ को नहीं देखते हैं ॥ २८ ॥ वह अस्पष्ट मत को न जानतेहुए विषयों में मग्न होकर देवता आदिकों का यजन करते हैं, मेरा मत ऐसा है कि-मांसभक्षण में यदि प्रीति होय तो यज्ञ में हवन करके शेषरहाहुआ मांस देवता के प्रसादरूप से ग्राह्य है. अपनी आवश्यकता से उस को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है ॥ २९ ॥ हिंसा करनेवाले और क्रूर स्वभाववाले वह पुरुष, अपने सुख की इच्छा से, पशुओं को मारकर करेहुए यज्ञों से देवता, पितर और भूतपति का यजन करते हैं ॥ ३० ॥ स्वप्न की समान नाशवान् और केवल कान को ही प्रियलगनेवाली परलोक की और इस लोक की कामनाओं का मन में सङ्कल्प रखकर पास का धन खर्च करते हैं वह पुरुष, जैसे कोई व्यापारी दुस्तर समुद्र के उल्लंघन से बहुतसा द्रव्य मिलने की इच्छा रखकर पास का धन खर्च करता है और इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट होता है तैसे

न्यर्थं वणिक् ॥ ३१ ॥ रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ॥ उपासते इन्द्रमुख्यान् देवादीन्न तथैव माम् ॥ ३२ ॥ इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ॥ तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥३३॥एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ॥ मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्त्ताऽपि न रोचते ॥३४॥वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकांडविषया इमे ॥ परोऽक्षवादा ऋषयः परोऽक्षं मम च प्रियम् ॥३५॥ शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेंद्रियमनोमयम् ॥ अनंतपारं गंभीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ३६॥ मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनंतशक्तिना ॥ भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥ ३७ ॥ यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ॥ आकाशाद्घोषवान्प्राणो

ही वह इसलोक के और परलोक के सुख को खोतेहैं ॥ ३१ ॥ वह पुरुष, रजःसत्वतमोगुण के स्वभाववाले होने के कारण अपनी समान रजोगुणी, सत्त्वगुणी और तमोगुणी इन्द्रादिकों की आराधना करते हैं, मुझ गुणातीत की आराधना नहीं करते हैं; वह इंद्रादि देवता यद्यपि मेरे ही अंशभूत हैं तथापि भेददर्शीपने से उनकी करीहुई उपासना विधिपूर्वक न होने के कारण वह मेरे निमित्त करीहुईसी नहीं होती है ॥ ३२ ॥ यहाँ हम यज्ञों से देवताओं का यजन करके स्वर्ग में जायँगे और तहाँ अप्सराओं के साथ क्रीडा करेंगे; फिर स्वर्ग के भोगों को भोगने के अनन्तर इसलोक में जन्म लेकर बडे प्रतिष्ठित कुलीन गृहस्थ होयँगे ॥ ३३ ॥ इसप्रकार पुष्परूप स्वर्गादि सुख को वर्णन करनेवाली वाणीसे जिनका मन विक्षिप्त हुआ है ऐसे अभिमानी और घमण्डी हुए तिन पुरुषों को मेरी वार्त्ता भी प्रिय नहीं लगती है इसकारण वह निरन्तर संसार में ही रहते हैं ॥ ३४ ॥ त्रिकाण्डविषयक (कर्म, ब्रह्म और देवताकाण्डविषयक) यह सब वेद, जीवात्मा ब्रह्मरूप ही है, संसारी नहीं है ऐसा ही कहनेवाले हैं, वह वेद अथवा उन के द्रष्टा ऋषि, अपने में का अर्थ गुप्त रखते हैं और वह अर्थ गुप्त रखना मुझे प्रिय है ॥ ३५ ॥ परा, पश्यन्ती, मध्यमा नामक सूक्ष्म और वैखरी नामक स्थूल, ऐसे दो प्रकार का वेद ब्रह्म है; उस दोनो ही प्रकार के को जानना परम कठिन है, क्योंकि—वह देश और काल के अन्त तथा पार से रहित है और अर्थ में गम्भीर होने के कारण समुद्र की समान उस में बुद्धि का भी प्रवेश नहीं होसक्ता ॥ ३६ ॥ अनन्तशक्ति, व्यापक और परब्रह्म रूप मैंने उस वेदब्रह्म को भीतर से प्रेरणा करके बढाया है, जैसे कमल की दण्डी में के सूक्ष्म तन्तु चतुर पुरुषों के ध्यान में आते हैं तैसेही वह वेदब्रह्म सकल पुरुषोंके शरीर में नादरूप से चतुर पुरुषों के अनुभव में आता है ॥ ३७ ॥ जैसे मकड़ी अपने हृदय में से मुख के द्वारा तन्तुओं को बाहर प्रकट करती है और उन तन्तुओं के ऊपर कुछ समय पर्यन्त क्रीडा करके अन्त में उन को अपने में ही समेटलेती है तैसेही प्राणोपाधि से हिरण्यगर्भ

मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ ३८ ॥ छन्दोमयोमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ॥ ओंकाराद्व्यंजितस्पर्शस्वरोष्मांतस्थभूषितां ॥ ३९ ॥ विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ॥ अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयं ॥ ४० ॥ गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पंक्तिरेव च ॥ त्रिष्टुब् जगत्यतिछन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट्॥ ॥ ४१ ॥ किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ॥ इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन॥४२॥मां विधत्तेभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ॥ एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ॥ मायामात्रमनूद्यान्ते प्रति-

रूपहुए, वेदमूर्त्ति और अमृतमय यह नादरूप भगवान्, स्पर्शआदि वर्णोंकी कल्पना करनेवाले मनोरूप निमित्त करके अपने हृदयाकाश से अनन्तमार्गों से युक्त और अनन्तपार वेदब्रह्मरूप वाणी को उत्पन्न करते हैं और अन्त में उस को आपही समेटलेते हैं, वहवाणी हृदय में स्थित सूक्ष्म ओँकार से उर कण्ठआदि स्थानों के संयोग से स्पर्श (क ख से लेकर भ म पर्यन्त), सोलह स्वर, ऊष्म (श ष स ह) और अन्तस्थ (य र ल व) इन वर्णों से भूषित होकर लौकिक और वैदिक विचित्र भाषाओं के द्वारा फैलीहुई है; उस के चौवीस अक्षरों से लेकर अट्ठाईस बत्तीस आदि चार २ अक्षरों करके बढेहुए छन्द हैं ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, अष्टी, अत्यष्टी, विराट् और अतिविराट् यह छन्द हैं; चौवीस अक्षर का गायत्री, अट्ठाईस अक्षरों का उष्णिक्, बत्तीस अक्षरों का अनुष्टुप् इत्यादि चार २ अक्षरों को बढाकर बनाएहुए बृहती आदि छन्द हैं ॥ ४१ ॥ यह वेदरूप वाणी कर्मकाण्ड में नाना प्रकार के वाक्यों से किस का विधान करती है, देवताकाण्ड में मन्त्रवाक्यों से किस का प्रकाश करती है और, ज्ञानकाण्ड में अनुवाद करके किसका विकल्प करती है, इस विषय का इस वाणी का तात्पर्य मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता है ॥ ४२ ॥ तुमही कृपा करके हमे बताओ ऐसा कहो तो सुनो—यह वेदवाणी कर्मकाण्डों में मुझ यज्ञरूप का ही विधान करती है, देवताकाण्डों में तिन २ देवताओं के रूप से मेरा ही प्रकाश करती है, मुझ से दूसरे किसीका भी प्रकाश नहींकरती है और जो 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, इत्यादि श्रुतियों से आकाश आदि सब प्रपञ्च की कल्पना करके अन्त में 'नेह नानास्ति किञ्चन ' इत्यादि श्रुतियों से निषेध कियाजाता है वह सब मैंही हूँ, मुझ से दूसरा कोई नहीं है, यदि कहोकि—क्यों नहीं है ? तो सुनो—सकल वेदों का अर्थ इतना ही है कि—वेद, परमार्थरूप मेरा आश्रय करके मुझ में भासनेवाले आकाशादि भेद का, यह सब मायामय है ऐसा कहकर अन्त में उस का निषेध करके शान्त होता है, इस का अभिप्राय यह है कि—अंकुर में जो रस होता है वही उस की फैलीहुई शाखा,प्रशाखा,

षिर्द्ध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥ इतिश्रीभा० म० ए० एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ उद्धव उवाच ॥ कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो ॥ नवैकादश पंच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥ १ ॥ केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ॥ सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥ केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ॥ एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया ॥ गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ युक्तयः सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ॥ मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४ ॥ नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ॥ एवं विवदतां हेतुं

फल, मूलआदि में प्राप्त होता है, तैसे ही ॐकार का अर्थ परमेश्वर है, वही उस विस्तार भूत, त्रिकाण्डमय शाखाओं सहित सब वेदों का अर्थ है, दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में एकविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ उद्धवजी ने कहा कि–हे प्रभो ! विश्वेश्वर ! ऋषियों ने शास्त्रों में तत्त्व कितने गिने हैं ? अर्थात् उन्होंने शास्त्रों में जो कुछ तत्त्व कहे हैं उन में कितने योग्य हैं, तुमने तो नौ, ग्यारह, पाँच और तीन सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व कहे सो हमने सुने हैं ॥ १ ॥ कितने ही ऋषि, छव्वीस तत्त्व कहते हैं, दूसरे पचीस, तीसरे कितने ही सात, कितने ही नौ, कितने ही छः, कितने ही चार और कितने ही ग्यारह तत्त्वों का वर्णन करते हैं ॥ २ ॥ कितने ही सत्तरह, कितने ही सोलह, और कितने ही तेरह तत्त्व कहते हैं; हे आयुष्मन् श्रीकृष्णजी ! ऋषियों ने ऐसे निराले निराले भेद, तत्त्वों की संख्याओं के, जिस प्रयोजन को कहने की इच्छा से वर्णन करे हैं वह सब आप कृपा करके मुझ से कहिये ॥ ३ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे उद्धवजी ! ब्राह्मणों ने, तत्त्वों के विषय में जैसे जो रीति कही हैं उन सबों में ही युक्ति हैं, क्योंकि–मेरी माया को स्वीकार करके कहनेवालों को क्या दुर्घट है ? अर्थात् जैसे मृगतृष्णा के जल को मानलेने पर उस के परिमाण के विवाद में घुटनों जल कहें तो चलसक्ता है और बीस बांस जल कहें तो भी चलसक्ता है ऐसे ही माया को स्वीकार करने के अनन्तर माया की जितनी संख्या कहीजाय उतनी ही युक्ति से सिद्ध होसक्ती है ॥४॥ इस पर कहो कि–यदि सब ही ठीक है तो विवाद कैसा ? और जब माया का ही आश्रय मानलिया तो उस के भेदों के कारणों को सिद्ध करने में विवाद कैसा ? तहाँ कहते हैं कि–'जैसे तू कहता है ऐसे यह नहीं है, किन्तु जैसे मैं कहता हूँ तैसा ही ठीक है, इसप्रकार यद्यपि उन तत्त्वों के मूल कारण में भी ब्राह्मण विवाद करते हैं तथापि वास्तविक रीति से देखाजाय तो अपने २ स्वभाव के अनुसार परिणाम पायेहुए माया के सत्त्वादि

शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥ यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम् ॥
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥ ६ ॥ परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरु-
षर्षभ ॥ पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७ ॥ एकस्मिन्नपि दृश्यंते
प्रविष्टानीतराणि च ॥ पूर्वस्मिन्वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८ ॥
पौर्वापर्यमतोमीषां प्रसंख्यानमभीप्सतां ॥ यथा विविक्तं यद्वक्रं गृह्णीमो युक्तिसं-
भवात् ॥ ९ ॥ अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ॥ स्वतो न संभवादन्य-
स्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ १० ॥ पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ॥ तदन्य-
कल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥ ११ ॥ प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृते-र्नात्म-

गुण ही उस विवाद में कारण हैं ॥ ५ ॥ कि-जिन गुणों के क्षोभ से वाद करनेवालों में वाद करने का विषय पक्षभेद हुआ है; जब शम और दम प्राप्त होते हैं तब यह विकल्प (भेद) नष्ट होजाता है और भेद के नष्ट होते ही वाद भी शान्त होजाता है ॥ ६ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धवजी ! एक का दूसरे में अन्तर्भाव होने के कारण वाद करनेवाले पुरुषों की जैसी छोटी बडी संख्या कहने की इच्छा होती है तैसी 'पहिले कारण और तदनन्तर कार्य ऐसे धर्म से' वह संख्या होसक्ती है ॥ ७ ॥ जैसे घट सकोरे आदि कार्य पदार्थ, कारण रूप मृत्तिका में अन्तर्भाव को प्राप्तहुए दीखते हैं अथवा जैसे वह कारणरूप मृत्तिका कारणरूप घटादिकों में प्रवेश करीहुई दीखती है तैसे पूर्व के एक ही कारणभूत तत्त्व में और सब कार्यतत्त्व अथवा आगे के एक ही कार्यरूपतत्त्व में पूर्व के कारणतत्त्व अन्तर्भाव करके प्रविष्टहुए दीखते हैं ॥८॥ इसकारण इन तत्त्वों की कार्यकारणता और कम अधिक संख्या की इच्छा करनेवाले वादियों में जो कहने की इच्छा से जिस की वाणी प्रवृत्त होती है, उस सब कहने को युक्तियुक्त होने के कारण हम ठीक मानकर ग्रहण करते हैं ॥९॥ कार्यकारणरूप जडतत्त्वों की भिन्नता और एकता के कहने में इच्छा से तत्त्वों का भेद रहे, परन्तु जीव और ईश्वर के चैतन्यरूप होने के कारण उनके भेद और अभेद को कहने की इच्छा क्यों हुई ? कि-जिस से तत्त्वों के पचीस छव्वीस यह संख्या का भेदरूप दो पक्ष हुए, ऐसा कहो तो-तहाँ कहते हैं कि-अनादि अविद्यासे युक्त जीवको, स्वयं ही आत्मज्ञान होनेका सम्भव नहीं है दूसरेसे होसक्ता है, इसकारण उस को ज्ञानोपदेश करनेवाला दूसरा तत्त्वज्ञानी परमेश्वर होना चाहिये, ऐसा मानकर छव्वीस तत्त्वों की संख्याका पक्ष चलाहै १०॥ इस शरीर में जीव और ईश्वर के, चैतन्यरूपी होने के कारण अणुमात्र भी भेद नहीं है, इसकारण उन के भेद की कल्पना करना व्यर्थ है और ज्ञान सत्त्वगुणकी वृत्ति होने के कारण प्रकृति का ही गुण है, इसकारण जीव ईश्वर की एकता मानकर पचीस तत्त्व मानने का पक्ष चला है ॥ ११ ॥ तीनोगुणों की समतारूप अवस्था ही प्रकृति है

नो गुणाः ॥ सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ १२ ॥ सत्त्वं ज्ञानं रजः
कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ॥ गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥ १३ ॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः ॥ ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वा-
न्युक्तानि मे नव ॥ १४ ॥ श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ॥
वाक्पाण्युपस्थपाय्वंघ्रिः कर्माण्यंगोभयं मनः ॥ १५ ॥ शब्दः स्पर्शो रसो गंधो
रूपं चेत्यर्थजातयः ॥ गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥ १६ ॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ॥ सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्तं
ईक्षते ॥ १७ ॥ व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ॥ लब्धवीर्याः
सृजंत्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥ १८ ॥ सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पंच खादयः ॥

इसकारण स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के कारण जो सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण हैं वह उस प्रकृति के ही हैं, आत्मा के नहीं हैं, क्योंकि—आत्मा अकर्त्ता है इसकारण उस के विषैं सृष्टि आदि के कारणभूत गुणों का आश्रयत्व नहीं होसक्ता ॥ १२ ॥ इसकारण सत्त्वगुणमय ज्ञान प्रकृति का ही गुण है तैसे ही रजोगुणमय कर्म और तमोगुणमय जो अज्ञान है सो इस तत्वों की संख्या में तत्व नहीं है और उन का प्रकृति के गुणों में ही अन्तर्भाव है, गुणों का मेलन करनेवाला काल स्वभाव और सूत्र(महत्तत्त्व) इन का भी प्रकृति में ही अन्तर्भाव है॥ १३ ॥हे उद्धवजी ! पुरुष प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी यह मैंने नौ तत्व कहे हैं ॥ १४ ॥ श्रोत्र, त्वचा चक्षु, घ्राण और जिव्हा यह पाँच ज्ञानेन्द्रियें, वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ यह पाँच कर्मेंद्रियें तथा ज्ञानकर्ममय मन यह ग्यारह ॥ १५ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों के रूप से परिणाम को प्राप्तहुए पञ्चमहाभूत और सत्व, रज, तम यह तीनगुण सबमिलकर मेरे मत में अट्ठाईसतत्व हैं, चलना, बोलना वीर्य का त्यागकरना मल का त्यागकरना और कलाकुशलता यह कर्मेंद्रियों के फल हैं इसकारण इन को कर्मेन्द्रियों में ही अन्तर्गत जानना ॥ १६ ॥ श्रोत्रइन्द्रिय से गन्धपर्यन्त, पहिले कहेहुए सोलह विकाररूपकार्यों को और महत्तत्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त कहेहुए सात कारणों को धारण करनेवाली जो प्रकृति वही इस जगत् की सृष्टि आदि के विषय में गुणों के द्वारा सृज्यत्व आदि अवस्था को धारण करती है और परिणामरहित तथा निमित्तकारणरूप जो पुरुष वह केवल साक्षीपने से देखता है इसकारण वह, उन परिणामवाले प्रकृति आदि से निराला है ॥ १७ ॥ प्रकृति से उत्पन्न होकर, विकार को प्राप्त होनेवाले जो महत्तत्व आदि-कारण, वह प्रकृति का आश्रय करके, पुरुष के अवलोकन से सामर्थ्ययुक्तहुए और परस्पर संयोगयुक्त होकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥ सात ही तत्व कहनेवालों

ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेंद्रियासवः ॥ १९ ॥ षडित्यत्रापि भूतानि पंच षष्ठः परः पुमान् ॥ तैर्युक्त आत्मसंभूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥ २० ॥ चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ॥ जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥ २१ ॥ संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेंद्रियाणि च ॥ पंच पंचैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥ २२ ॥ तद्वत्षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ॥ भूतेंद्रियाणि पंचैव मन आत्मा त्रयोदश ॥ २३ ॥ एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेंद्रियाणि च ॥ अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ ॥ २४॥ इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ॥ सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥ २५ ॥ उद्धव उवाच ॥ प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्य-

का अभिप्राय यह है कि—पञ्चमहाभूत, ज्ञान (द्रष्टा जीव) और आत्मा (द्रष्टा का और दृश्य जगत् का आधार) इतने ही तत्व होते हैं; तिन में प्रकृति, महत्तत्व और अहङ्कार इन कारणतत्वों का और इन्द्रिय प्राण आदि कार्यतत्वों का आकाश आदि में अन्तर्भाव जानना ॥ १९ ॥ पञ्चमहाभूत और छठा परमात्मा (पुरुष) यह थे तिन में वही परमात्म अपने से उत्पन्नहुए उन आकाशादि से युक्त होकर उस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है और तिन में अन्तर्यामिरूप से प्रवेश करता है; यहाँ भौतिक पदार्थों का पञ्चमहाभूतों में और जीव का परमात्मा में अन्तर्भाव जानना ॥ २० ॥ कोई चार ही तत्व कहते हैं, तहाँ आत्मा से उत्पन्नहुए तेज, जल और पृथिवी यह तीन और चौथा यही था, उन चार तत्वों से ही इस अवयवी जगत् का जन्म हुआ है, इस से चार तत्वों में ही सब कार्यकारणों का अन्तर्भाव जानना ॥ २१ ॥ कितनो ही के मत में सत्रह तत्व गिने हैं, तिन में पञ्च महाभूत, शब्दादि पाँच विषय, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियें और एक मन इन के साथ आत्मा है ॥ २२ ॥ सोलह तत्वों की गिनती में भी पूर्व के ही पन्द्रह तत्व हैं और आत्मा ही सङ्कल्प करनेलगता है तो उस को मन कहते हैं इसकारण आत्मा और मन एक ही तत्व है; कोई तेरह ही तत्व कहते हैं, तहाँ पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रियें, मन, जीव और आत्मा यह समझने ॥ २३ ॥ ग्यारह ही तत्व हैं ऐसा भी पक्ष है, तहाँ आत्मा, पञ्चमहाभूत और पाँच ज्ञानेन्द्रियें यह जानने ; नौ तत्व मानने के पक्ष में पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार और पुरुष यह समझने ॥ २४ ॥ इसप्रकार ऋषियों ने तत्वों की भिन्न २ संख्या कही है वह, प्रकृति से पुरुष निराला है इस के समझाने के निमित्त ही है, वह सब युक्तिसहित होने के कारण न्याय के अनुकूल ही हैं, क्योंकि—विद्वान् पुरुषों का कौनसा कहना ठीक नहीं है ? ॥ २५ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे श्रीकृष्णजी ! प्रकृति और पुरुष यह दोनों यद्यपि स्वभाव से जड और चेतन होने के कारण परस्पर भिन्न हैं तथापि उन की भिन्न २ होने की

प्यात्मविलक्षणौ ॥ अन्योऽन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ॥ प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ॥ २६ ॥ एवं मे पुंडरीकाक्ष महांतं संशयं हृदि ॥ छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ २७ ॥ त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ॥ त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ॥ ॥ २८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ॥ एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥ २९ ॥ ममांग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ॥ वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥ ३० ॥ दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रंध्रे परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे ॥ आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयाऽनुभूत्याऽखिलसिद्धसिद्धिः ॥ एवं त्वे-

प्रसिद्धि न होने के कारण उन का भेद नहीं दीखता है अर्थात् प्रकृति के कार्यरूपदेह में यही आत्मा है ऐसा समझने में आता है और आत्मा में यही देह है ऐसा ध्यान में आता है, उन का परस्पर भेद ध्यान में नहीं आता है ॥ २६ ॥ हे पुण्डरीकाक्ष ! इस प्रकार मेरे हृदय में के इस बडेभारी सन्देह को, तुम सर्वज्ञ होनेके कारण, युक्ति से निपुण अपने वचनों के द्वारा दूरकरसकते हो ॥ २७ ॥ क्योंकि - इस संसार में जीवों को यथार्थज्ञान तुम्हारे अनुग्रह से ही होता है और ज्ञान का नाश भी तुम्हारी माया से ही होता है और अपनी मायाके विस्तार को ठीक २ तुम ही जानते हो, दूसरा कोई नहीं जानता इसकारण तुम ही इस सन्देह को दूर करो ॥ २८ ॥ यह सुनकर श्रीभगवान् ने कहा है कि—हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धवजी ! महत्तत्व आदिरूप से परिणाम को प्राप्तहोनेवाली वह प्रकृति और परिणाम को न प्राप्त होनेवाला वह पुरुष, ऐसा प्रकृति पुरुषों का भेद स्पष्ट ही है प्रकृति शब्द से कहा हुआ यह देह इंद्रियादि का समूहरूप सर्ग (सृष्टि) जन्मादिविकारों से युक्त है और गुणों के परस्पर मेल का करा हुआ है ॥ २९ ॥ हे उद्धवजी ! मेरी गुणमयी माया, अपने गुणों से अनेक प्रकार के भेद और भेदबुद्धि को उत्पन्न करती है तिस में पहिले विकार को प्राप्त होनेवाला सर्ग ही तीन प्रकार का है, एक अध्यात्म, दूसरा अधिदैव और तीसरा अधिभूत ॥ ३० ॥ चक्षु अध्यात्म, रूप अधिभूत और इस चक्षुके गोलक में प्रवेश कराहुआ जो सूर्य का स्वरूप है वह अधिदैव है, इस चक्षु की समान ही त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; जिव्हा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चेतयितव्य और वासुदेव; मन, मन्तव्य और चन्द्रमा; बुद्धि, बोद्धव्य और ब्रह्मा; अहङ्कार, अहङ्कर्तव्य और रुद्र इन को समझना, इन अध्यात्मआदिकों की परस्पर सापेक्षता सिद्ध होती है अर्थात् चक्षु न होय तो रूप सिद्ध नहीं होता है, रूप न होय तो चक्षु सिद्ध नहीं होता; चक्षु की

गादिः श्रवणादि चक्षुर्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तं ॥ ३१ ॥ योऽसौ गु-
णक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ॥ अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतुर्वै-
कारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥ ३२ ॥ आत्मापरिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नां-
स्तीति भिदाऽर्थनिष्ठः ॥ व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां
स्वलोकात् ॥ ३३ ॥ उद्धव उवाच ॥ त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः
प्रभो ॥ उच्चावचान्यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥ ३४ ॥ तन्ममाख्याहि
गोविंद दुर्विभाव्यमनात्मभिः ॥ नह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति व-
ञ्चिताः ॥ ३५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ॥

प्रवृत्ति नहीं होय तो उस की अधिष्ठात्री देवता सिद्ध नहीं होती है, अधिष्ठात्रीदेवता के विना चक्षु की प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं होती और चक्षु की प्रवृत्ति के विना रूपका ज्ञान भी सिद्ध नहीं होसक्ता, तात्पर्य यह कि—सबों की सिद्धता में परस्पर की अपेक्षा है, इसीप्रकार त्वचा आदि तीन२ पदार्थों की सिद्धता जानना और जो आकाश में मण्डलरूपी सूर्य है वह किसी की अपेक्षा न रखकर स्वयं ही सिद्ध है और अपने प्रकाश से सर्वत्र के चक्षुओं के अधिष्ठात्री देवताओं का जैसा प्रकाशक है तैसे ही आत्मा इन अध्यात्मिक आदिकों का आदिकारण होकर इन से निराला और स्वतःसिद्ध प्रकाश से परस्पर प्रकाशक होनेवाले पहिले कहेहुए अध्यात्मिक आदिकों का प्रकाशक है ॥ ३१ ॥ जो यह, गुणों का क्षोभ करनेवाले कालरूप निमित्त से, जिस का प्रकृति मूलकारण है ऐसे महत्तत्व से उत्पन्न हुआ सात्विक, राजस और तामस विकाररूप अहङ्कार है वही मोहमय विकल्प का (मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि भेद का) कारण है ॥ ३२ ॥ देह से निराला आत्मा है अथवा नहीं है ऐसे भेद का आश्रय करके रहनेवाला जो विवाद है वह आत्मा के अज्ञान से ही हुआ है, वह वास्तव में यद्यपि निरर्थक है तथापि स्वस्वरूपभूत मुझ परमात्मा से जिन की बुद्धि फिरीहुई है उन पुरुषों का कभी दूर नहीं होता है अर्थात् वह भेदबुद्धि से करेहुए कर्मों के द्वारा उचनीच योनियों में सुखदुःखरूप संसार ही पाते हैं ॥ ३३ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे प्रभो! जिन की बुद्धि आप से फिरीहुई हैं वह प्राणी अपने करेहुए कर्मों से उत्तम नीच शरीरों को जैसे ग्रहण करते हैं और जैसे त्यागते हैं सो मुझ से कहिये ? अर्थात् व्यापक भी आत्मा को इस देह से तिस देह में जाना कैसे बनता है, अकर्त्ता को कर्म करना कैसे बनता है? और नित्य को जन्ममरण कैसे प्राप्त होते हैं, अल्पबुद्धि पुरुषों को इस विषय की तर्क करना भी कठिन है सो हे गोविन्द! आप मुझ से कहिये; इस को जाननेवाला प्रायः दूसरा कोई नहीं है, क्योंकि—सब ही लोक तुम्हारी माया से मोहित होरहे हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ श्रीभगवान् ने कहा

लोकाल्लोकं प्रयात्यन्यं आत्मा तदनुवर्तते ॥ ३६ ॥ ध्यायन्मनोऽनु विषयान्दृ-
ष्टान्वाऽनुश्रुतानथ ॥ उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥ ३७ ॥ वि-
षयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ॥ जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यंतवि-
स्मृतिः ॥ ३८ ॥ जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ॥ विषयस्वीकृतिं
प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥ ३९ ॥ स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ॥
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥४०॥ इंद्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति
वस्तुनि ॥ बहिरंतर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥ ४१ ॥ नित्यदा ह्यंग भूतानि

कि—हे उद्धवजी ! पाँच इन्द्रियों से युक्त यह जीवका मन ही एकदेहसे दूसरे देहमें अथवा एक लोक से दूसरे लोक में जाता है तब उस मन से निराळामी आत्मा, उस मनसे एकता को प्राप्त होकर उस के अनुसार ही वर्त्ताव करता है अर्थात् उस के जाने से अपने कोभी गयाहुआ मानता है ॥ ३६ ॥ कर्मों के वशीभूत हुआ मन, देवमनुष्यादि अनेकों शरीरों की प्राप्ति के कारणरूप कर्मों में से फलोन्मुख हुए कर्मों करके आगे आनेवाले देखे और सुनेहुए विषयों का देह के अन्तकाल में ध्यान करनें लगता है तब उस ध्यान में आये हुए नवीन विषय में (देह में) प्रवेश करता है और पहिले पुरातन विषय से (देह से) छुटता है फिर उसकी पहिला पिछला विचार करने की बुद्धि नष्ट होजाती है ॥ ३७ ॥ उस समय कर्म से प्राप्तहुए देवादि शरीर के ऊपर 'यही मैं हूँ' ऐसा अत्यन्त आग्रही होकर वह देह उत्तम होतो हर्ष आदि किसी कारण से और नीच होयतो भय वा शोक आदि किसी कारण से जीव को प्रथम देह का सर्वथा विस्मरण होजाता है यही आत्मा का मरण हुआ कहलाता है आत्मा देह की समान नष्ट नहीं होता है ॥ ३८ ॥ और हे उद्धवजी ! दूसरे शरीर से मन की एकता होकर 'यह देह मैं ही हूँ' ऐसी बुद्धि से स्वप्न की समान अथवा मनोरथ की समान जीव उस नवीन देह को जो स्वीकार करता है यही उस का जन्म कहाता है, उस समय भी देह की समान जीव की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ३९ ॥ जैसे स्वप्न देखनेवाला अथवा मनोरथ करनेवाला यह जीव, उस स्वप्न के अथवा मनोरथ के समय पूर्वकाल के अपने देह का स्मरण नहीं करता है और प्रतीत होतेहुए उस पूर्व के ही देह को, यह अपूर्व देह है, ऐसा देखता है ॥ ४० ॥ तात्पर्य यह कि-मन का दूसरे देह से ऐक्यभाव होने पर तिससे आत्मा को भी उस देह के अभिमान के कारण उत्तम मध्यम अधमपना प्राप्त होता है और फिर जैसे जीव स्वप्न में मिथ्याभूत अनेकों देहों को देखनेलगता है तो अनेक स्वरूपवाला प्रतीत होता है अथवा जैसे कुपुत्र का पिता वास्तव में सर्वत्र समान होने पर भी पुत्र के अभिमान से उस के शत्रु मित्रादिकों में भेदभाव रखता है तैसे ही आत्मा भी उस देह के सम्बन्ध से बाहर के शब्दादि विषयों के सेवन का और भीतर के सुखदुःखादि परिणामों के भोगने का कारण होता है

भवन्ति न भवन्ति च ॥ कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ ४२ ॥ यथाऽर्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ॥ तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥ ४३ ॥ सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ॥ सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषां ॥ ४४ ॥ मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ॥ म्रियते वामरो भ्रांत्या यथाऽग्निर्दारुसंयुतः ॥ ४५ ॥ निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ॥ वयो मध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥ ४६ ॥ एता मनोरथमयी-र्ह्यन्यस्योच्चावचा-

॥ ४१ ॥ हे उद्धवजी! प्रतिक्षण में प्राणीमात्र के शरीर उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तथापि काल के अतिसूक्ष्म होने से उस के वेग करके करेहुए वह देहों के उत्पत्तिनाश अज्ञानी पुरुषों के ध्यान में नहीं आते हैं ॥४२॥ जैसे काल के द्वारा, अग्नि की ज्वालाओं के परिणाम आदि करके, नदियों का प्रवाहों के गमन आदि करके अथवा वृक्षों का फलों के रूपान्तर आदि करके क्षण २ में परिवर्त्तन (बदलना) होता है तैसे ही उस ही काल के द्वारा करीहुई सकलप्राणियों के शरीरों की, आयु, अवस्था, तेज, बल, कर्म, कुशलता आदि अनेकप्रकार की दशा देखने में आती है ॥ ४३ ॥ जैसे अग्नि की ज्वाला क्षण २ में नवीन २ उत्पन्न होकर पहिली नष्ट होजाती हैं परन्तु उन पहिली पिछली सर्व ज्वालाओं के समान होने के कारण, वही यह दीपक है ऐसा देखनेवालों का ध्यान होता है अथवा जैसे प्रवाहों का जल क्षण २ में पहिला जाकर नया आने पर यह वही प्रवाह है ऐसा समझाजाता है तैसे ही जिन का आयु व्यर्थ जाता है ऐसे सैकडों मनुष्यों के शरीरों की दशा क्षण २ में बदलती हैं तौभी यह वही पुरुष है ऐसा मिथ्या ही समझना और मिथ्या ही कहना व्यवहार में चलता है ॥ ४४ ॥ देह में अहम्भाव रखनेवाले पुरुष के ही कर्म, जन्म और मरण हैं दूसरे के नहीं हैं ऐसी व्यवस्था कैसे होसक्ती है? क्योंकि—एक ही घट, एक पुरुष के मत में है और एक पुरुष के मत में नहीं है ऐसा कहना नहीं बनसक्ता, ऐसा कहो सो ठीक नहीं है, क्योंकि—देहाभिमानवाला यह जीवात्मा भी वास्तव में न उत्पन्न होता है, न मरण को प्राप्त होता है तथापि भ्रान्ति से, जैसे महाभूतरूप अग्नि,प्रलयकालपर्यन्त रहनेवाला होकर भी काष्ठोंके संयोगवियोगों से उत्पत्ति को प्राप्त हुआसा प्रतीत होता है तैसे ही आत्माजन्मरहित होकर भी उत्पन्नहुआसा और अमर होकर भी मरण को प्राप्तहुआसा प्रतीत होता है ॥४५॥ गर्भ में प्रवेश, तहाँ बढना, जन्म लेना, बालकपना (पाँच वर्षपर्यन्त), कुमारअवस्था (सोलह वर्षपर्यन्त), यौवन (पचास वर्षपर्यन्त), वयोमध्य (साठ वर्षपर्यन्त), तदनन्तर वृद्धावस्था और फिर मृत्यु यह शरीर की नौ अवस्था हैं॥४६॥इस मन के विकार से प्राप्त हुई देह की छोटी बड़ी अवस्था,प्रकृति के अज्ञान से

स्तनूः ॥ गुणसंगादुपादत्ते क्वचित्क्वचिज्जहाति च ॥ ४७ ॥ आत्मनः पितृपु-
त्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ॥ न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥ ४८ ॥
तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वान् जन्मसंयमौ ॥ तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा
तनोः पृथक् ॥४९॥ प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ॥ तत्त्वेन स्पर्शसं-
मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५० ॥ सत्त्वसंगादृषीन्देवान् रजसा सुरमानुषान् ॥
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥ ५१ ॥ नृत्यतो गायतः पश्यन्
यथैवानुकरोति तान् ॥ एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥ ५२ ॥
यथाऽम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ॥ चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्र-

जीवों को प्राप्त होती हैं परन्तु उनमें से एकाद जीव, परमेश्वरके अनुग्रह से, 'अवस्थाओं वाले देह का द्रष्टा आत्मा, अवस्थायुक्त नहीं होता है ऐसे विवेक ज्ञान से' उन अवस्थाओं का त्याग करता है ॥ ४७ ॥ यद्यपि जन्म और मरण के समय वह (देह के जन्म और मरण) अपने देखने में नहीं आते हैं तथापि पिता के अन्तकाल में अपनी जंघापर उन का मस्तक रखकर बैठनेवाले पुत्र को उन पिता का मरण देखने में आता है और पुत्र का जातसंस्कार करते में उसका जन्म देखने में आता है तिस से वह अपने देह के जन्म और मरण का भी अनुमान करलेय इस प्रकार दृश्यपना होने के कारण उत्पत्तिनाशयुक्त देहों का द्रष्टा आत्मा उत्पत्ति नाश धर्मवाला नहीं होता है॥४८॥ बीज से वृक्ष का जन्म होता है और छेदन आदि से नाश होता है ऐसा जो जानता है वह द्रष्टा (देखनेवाला) जैसे उस वृक्ष से निराला होता है तैसे ही देह के उत्पत्ति नाश देखनेवाला जो जीव वह तिस देह से निराला है इस कारण वह जीव तिस देह में रहताहुआ भी उस के जन्म मरण से संयुक्त नहीं होता है ॥ ४९ ॥ इस प्रकार प्रकृति के कार्यरूप देहादिकों से यथार्थ रीति करके आत्मा का विचार न करताहुआ अज्ञानी पुरुष, विषयों में आसक्त होताहुआ संसार पाता है ॥ ५० ॥ वह, अनेक प्रकार के कर्मों से जिधर तिधर को घुमायाजाकर सत्वगुण के समागम से ऋषियों का वा देवताओं का जन्म पाता है, रजोगुण के योग से असुरों की वा मनुष्यों की योनि में जाता है और तमोगुण के योग से पिशाचयोनि में अथवा तिर्यक्योनि में जन्म पाता है ॥ ५१ ॥ जैसे नाचनेवाले वा गानेवाले मनुष्यों को देखनेवाला मनुष्य, उनका अनुकरण करता है अर्थात् उन नृत्य गान आदिकों की गति और उन के शृङ्गार करुणा आदि रसों को अपने मन में लाता है तैसेही बुद्धि के गुणों को देखनेवाला पुरुष, वास्तव में अकर्त्ता होकर भी उन गुणों के बल से उन के धर्मों का अपने में आरोप कर के भ्रम पाता है ॥ ५२ ॥ जैसे तालाव आदिकों में के हिलनेवाले जल के कारण से तिस में प्रतिबिम्बित हुए तटपर के वृक्ष भी हलतेहुए से प्रतीत होते हैं तैसे ही

मतीव भूः ॥ ५३ ॥ यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ॥ स्वप्नदृष्टाश्च
दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥ ५४ अर्थे ह्यविद्यमानेपि संसृतिर्न निवर्तते॥
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेनर्थागमो यथा ॥ ५५ ॥ तस्मादुद्धव मा भुंक्ष्व
विषयानसदिंद्रियैः ॥ आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ ५६ ॥
क्षिप्तोऽवमानितोसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा ॥ ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या
वा परिहापितः ॥ ५७ ॥ निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकंपितः ॥ श्रेयस्का-
मः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥ उद्धव उवाच ॥ यथैवमनुबुद्ध्येयं
वद नो वदतां वर ॥ सुदुःसहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥ ५९ ॥ विदुषामपि

अन्तःकरण के जन्म मरण आदि करके, तिस अन्तःकरण से तादात्म्य को प्राप्तहुआ आत्मा भी जन्म मरण को प्राप्त होता है ऐसा प्रतीत होता है अपने आप चारोंओर को घूमते हुए पुरुष के नेत्र इन्द्रिय से जैसे चारोंओर की भूमि भी घूमतीहुई सी प्रतीत होती है तैसे ही देह के और आत्मा के तादात्म्य होने के कारण आनन्दादि गुण यद्यपि वास्तव में आत्मा के हैं तथापि मानों वह शब्दादि विषयोंके हैं ऐसे प्रतीत होते हैं ॥ ५३ ॥ हे उद्धवजी ! जैसे स्वप्न में दीखेहुए अथवा मनोरथ के समय मन में विचारेहुए सब विषय मिथ्या हैं तैसे ही आत्मा को प्राप्त हुआ यह विषयानुभवरूप संसार भी मिथ्या है ।५४। जैसे स्वप्न, वास्तव में सच्चा न होकर भी उस समय विषयोंका चिन्तवन करनेवाले पुरुषको तहाँ प्राप्त हुआ अनर्थ (अपने शिर का कटना आदि दुःख) जगने के प्रयत्न के विना दूर नहीं होता है तैसेही इसआत्माका अहन्ता ममता रूप संसार, वास्तवमें मिथ्याहोकरभी तिस में कुछ अर्थ न हो सका तो तिस अज्ञानदशा में विषयोंका चिन्तवनकरनेवाले उसके जन्म मरण नहीं छूटते हैं इस कारण अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त यत्न करना चाहिये ॥५५॥ इसकारण हे उद्धवजी ! तुम अपनी दुष्ट (कभी भी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियों से विषयों का सेवन न करो और अपने स्वरूप के अज्ञान से प्रतीत होनेवाला यह सुखदुःख रूपी संसार भ्रम है, ऐसा देखो ॥ ५६ ॥ नीच पुरुषों ने जिस का तिरस्कार करा, अपमान करा, हास्य करा, निन्दा करी, ताडन करा, बन्धन करा और वृत्ति (आजीविका) छीन ली ॥ ५७ ॥ और अज्ञानी पुरुषों ने, जिस के शरीर पर थूका अथवा मूत्र करा, ऐसे अनेक प्रकार के परमेश्वर की निष्ठा से चलायमान करने को उपाय करा हुआ और कष्ट पहुँचाया हुआ पुरुष आप ही अपना उद्धार करलेय ॥ ५८ ॥ उद्धवजी ने कहा कि–हे कहनेवालों में श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी ! तुम्हारे कहेहुए इस सहने के उपाय को जैसे मैं सहज में जानजाऊँ तैसा हमसे (मुझ से वा आगे को होनेवाले अपने भक्तों के निमित्त) कहिये, क्योंकि–यह दुष्टपुरुषों का करा हुआ निन्दा आदि अपराध विद्वान् पुरुषों के मनको भी सहन होना परमकठिन है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५९ ॥

विश्वात्मन्मकृतिर्हि बलीयसी॥ऋते त्वद्धर्मनिरतान्छांतांस्ते चरणालयान॥६०॥ इतिश्रीभागवते म०ए०भगवदुद्धवसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः॥२२॥७॥बादरायणिरुवाच ॥ स एवमाशंसित उद्धवेन भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ॥ सभाजयन्भृत्यवचो मुकुंदस्तमावभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ॥ दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥ न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैः सुमर्मगैः ॥ यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥३॥कथयंति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ॥ तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥ केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ॥ स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५ ॥ अवंतिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ॥ वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः

हे जगदात्मन् ! तुम्हारे धर्म में मग्न, शान्त और तुम्हारे चरणों का आश्रय करके रहने वाले पुरुषों के सिवाय विद्वान् पुरुषों को भी दुष्टों का कराहुआ अपराध सहन करनापरम कठिन है, क्योंकि-सबका स्वभाव बड़ाबलवान् और दुस्तर है ॥ ६० ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में द्वाविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैंकि-हे राजन् ! इसप्रकार भगवद्भक्तों में मुख्य उद्धवजी के प्रार्थना करेहुए, यादवों में मुख्य और जिनका पराक्रम श्रवण करनेयोग्य है ऐसे भगवान् श्रीकृष्णजी, अपनेदास उद्धवजी के वचन का सत्कार करके उन से कहनेलगे ॥ १ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि-हे बृहस्पतिजी के शिष्य उद्धवजी ! इसलोक में ऐसा साधु कोई नहीं है कि-दुष्टों के उच्चारण करेहुए दुर्वचनों से विंधेहुए अपने अन्तःकरण को सावधानी से शान्त करने को समर्थ होय ! ॥ २ ॥ क्योंकि-मर्मस्थान में लगेहुए नीच पुरुषों के कठोर वचनरूप बाणों से पुरुष जैसा दुःख पाता है तैसा मर्मस्थल में लगेहुए लोहे के सच्चे बाणों से विधा हुआ भी पुरुष सन्ताप नहीं पाता है ॥ ३ ॥ हे उद्धवजी ! इस तिरस्कार को सहन करने के उपाय को जानने के विषय में, महापुण्यकारक इतिहास वृद्धपुरुष कहते हैं वह मैं तुम से प्रश्न के उत्तररूप से वर्णन करता हूँ ; तुम एकाग्रपने से ध्यान दो ॥४॥ दुर्जनों से तिरस्कार करेहुए परन्तु अपने कर्मों के परिपाक को स्मरण करके धैर्य धरनेवाले किसी एक भिक्षुक ने (संन्यासी ने) गानकरा है अर्थात् तिरस्कार को सहन करने के विषय में बड़ा अच्छा विचारकरा है ॥ ५ ॥ अवन्तिदेशों में (माळवा में) धनादिसम्पात्ति से परमसम्पन्न कोई एक ब्राह्मण था ; वह खेती व्यापार आदि करता था और कामी,

॥ ६ ॥ ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ॥ शून्यावसथ आत्मापि
काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥ दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ॥ दारा
दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥ ८ ॥ तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्यो-
भयलोकतः ॥ धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पंचभागिनः ॥ ९ ॥ तदवध्यानवि-
स्रस्तपुण्यस्कंधस्य भूरिद ॥ अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥ १० ॥
ज्ञातयो जगृहुः किंचित्किंचिद्दस्यव उद्धव ॥ दैवतः कालतः किंचिद्ब्रह्मबंधो
र्नृपार्थिवात् ॥ ११ ॥ स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ॥ उपेक्षितश्च स्व-
जनैश्चिंतामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥ तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तप-
स्विनः ॥ खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥ स चाह

लोभी, महाक्रोधी और कदर्य[१] था ॥ ६ ॥ उस ने, अपने धर्मरहित घरों में बान्धवों का अथवा अतिथियों का वचनमात्र से भी सत्कार नहीं करा, तैसे ही अपना देह भी भोगों को भोगने के समय विषयों से सन्तुष्ट नहीं करा ॥ ७ ॥ तब ऐसे दुष्टस्वभाववाले उस कदर्य के पुत्र, बान्धव, स्त्री, कन्या और सेवक पुरुष यह सब ही खिन्न होकर उस का प्रियकार्य तो नहीं ही करते थे परन्तु उलटा द्रोह करनेलगे । ८ ॥ इसप्रकार यक्ष की समान केवल रक्षा करने के धन का संग्रह करनेवाले और धर्मकामरहित होने के कारण इस लोक और परलोक से भ्रष्ट हुए तिस कदर्य ब्राह्मण के ऊपर नित्य करनेयोग्य पञ्चमहायज्ञ के देवता कुपितहुए ॥ ९ ॥ उन पञ्चमहायज्ञों के अभिमानी देवताओं के अनादर से, द्रव्य मिलने की पूर्त्ति करनेवाला उस का पुण्यांश नष्ट होगया ऐसे उस कदर्य के, खेती व्यापार आदि अनेकों प्रकार के परिश्रमों से मिलाहुआ धन नष्ट होनेलगा ॥ १० ॥ हे उद्धवजी! उस अधम ब्राह्मण का कुछ धन बान्धवों ने लेलिया, कुछ चोरों ने लेलिया, कुछ घरों में आग आदि लगकर नष्ट होगया, कुछ अन्न की खत्तियों को जल आदि लगकर नष्ट होगया, कुछ वकील आदिकों ने लेलिया और कुछ राजा ने अनेक प्रकार के कारणों से छीनलिया ॥ ११ ॥ इसप्रकार धन नष्ट होने पर धर्म और कामभोगोंसे रहित तथा स्वजनों का उपेक्षा कराहुआ वह ब्राह्मण अपार चिन्ता को प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥ इसप्रकार द्रव्य नष्ट होने के कारण लम्बे २ श्वास छोडकर नष्टहुए द्रव्य का चिन्तवन करनेवाले सन्ताप को प्राप्तहुए और गद्गदकण्ठ हुए तिस ब्राह्मण को एकायकी वैराग्य पूर्वक बड़ा

१ ' आत्मानं धर्मकृत्यञ्च पुत्रदारांश्च पीडयन् । देवतातिथिभृत्यांश्च स कदर्य इति स्मृतः ॥ अर्थात्, अपना देह, धर्मकार्य, स्त्री, देवता, अतिथि और सेवकों को त्रास देकर जो वर्त्ताव करता है उस को कदर्य कहते हैं ।

दामिदं कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ॥ न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४ ॥ प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ॥ इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥ १५ ॥ यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ॥ लोभः स्वल्पोपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ १६ ॥ अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ॥ नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिंता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥ स्तेयं हिंसाऽनृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयो मदः ॥ भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥ एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ॥ तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥ भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ॥ एका स्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥ २० ॥ अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ॥ त्यजन्त्याशु

भारी विवेक प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥ तदनन्तर वह अपने मन में ऐसा कहने लगा कि–अहो मेरी बड़ीबुरी वार्त्ता हुई, मैंने अपने शरीर को व्यर्थ दुःख दिया; जिस मेराधन प्राप्त करने के निमित्त बड़ाभारी परिश्रम था तिस मेरा वह सबद्रव्य, धर्म के निमित्त और काम के निमित्त खर्च न होकर व्यर्थ नष्ट हुआ ॥ १४ ॥ प्रायः कदर्यों का धन कभीभी सुख देनेवाला नहीं होता है, इतना ही नहीं किन्तु वह धन, इसलोक में जीवित रहने पर्यन्त तिस के देह को और मन को ताप देता है और मरण पाने के अनन्तर उस के होते में धर्माचरण न करने के कारण, नरक प्राप्ति का साधन होता है ॥ १५ ॥ जैसे थोड़ासा भी श्वेत कुष्ठ, पुरुषों के सुन्दर भी रूप को हीन करदेता है तिसी प्रकार थोड़ासा भी लोभ, यशस्वी पुरुष के निर्मल यश और गुणी पुरुषों के स्तुति योग्य गुणों का नाश करता है ॥ १६ ॥ पहिले धन मिलने के समय मनुष्यों को त्रास होता है; फिरउस (मिलेहुए) को बढ़ाने के समय, रक्षा करने के समय खर्च होने पर, नाश को प्राप्त होनेपर और उपभोग में आने पर भी त्रास, चिन्ता और भ्रम (धर्म में अधर्मबुद्धि और उपकारी में अनुपकारीबुद्धि) यह होते हैं और धन की प्राप्ति के निमित्त–चोरी, हिंसा, असत्य-भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्री, द्यूत और मद्यपान यह पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों को प्राप्त होते हैं, इसकारण कल्याण की इच्छा करनेवाला पुरुष, अर्थरूपी अनर्थ को दूर से ही त्यागदेय ॥ १८ ॥ १९ ॥ भ्राता, स्त्री, माता, पिता, तैसे ही मित्र सम्बन्धी कि–जो स्नेह के सम्बन्ध से एकमन होकर रहते थे वह भी धन के निमित्त भेद को प्राप्त होते हैं; इतना ही नहीं किन्तु वीस कौडीमात्र धन के निमित्त भी वह तत्काल सब ही परस्पर के शत्रु होजाते हैं ॥ २० ॥ यह थोडेसे भी धन के निमित्त से सन्ताप पाकर स्पर्धा करते हैं और अति क्रोध में भरकर परस्पर के स्नेह को एकसाथ

स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ २१ ॥ लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं
तद्द्विजाग्र्यताम् ॥ तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥ २२ ॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ॥ द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य
धामनि ॥ २३ ॥ देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धूंश्च भागिनः ॥ असंविभज्य चा-
त्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥ २४ ॥ व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ॥
कुशला येन सिद्ध्यन्ति जरठः किं नु साधये । २५ ॥ कस्मात्संक्लिश्यते वि-
द्वान्व्यर्थयाऽर्थेहयाऽसकृत् ॥ कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः
॥ २६ ॥ किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ॥ मृत्युना ग्रस्यमानस्य
कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ २७ ॥ नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ॥ येन
नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥ २८ ॥ सोऽहं कालावशेषेण शोषयि -

त्यागकर घर में से निकालदेते हैं अथवा उसी समय परस्पर मारपीट करनेलगते हैं ॥२१॥ देवताओंके भी प्रार्थना करनेयोग्य मनुष्यजन्म को तिसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मणशरीर को पाकर तिसका अनादर करके जो स्वार्थ का नाश करते हैं अर्थात् अपने हित (मोक्ष) को नहीं साधते हैं वह परलोक में नरकगति को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ इसकारण स्वर्ग और मोक्ष के द्वार (साधन) इस मनुष्यदेह को पाकर कौनसा विचारवान् पुरुष, अनर्थ के घर ऐसे धन में आसक्ति करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा ॥ २३ ॥ देवता, ऋषि, पितर, भूत, ज्ञाति और द्रव्य के भागी, भाई बन्धु इन की और अपनी भी तृप्ति, धन खर्चकर अन्नादि के द्वारा जो नहीं करता है वह यक्ष की समान धन की रक्षा करनेवाला पुरुष, नरक में जाकर पड़ता है ॥ २४ ॥ ऐसा विचार करके सन्ताप को प्राप्त होता हुआ वह भिक्षु कहता है कि—अरे ! रे ! धन पाने के निमित्त व्यर्थ उद्योग करके उन्मत्त हुए मेरा वह धन कि—जिस से धर्मादि सिद्ध होते हैं जातारहा; आयु जातारहा और बल भी जातारहा अबतो वृद्ध हुआ मैं कौनसा फल साधूँ ? ॥ २५ ॥ अब अपनी समान दूसरे का भी शोक करता है कि—अहो ! इसप्रकार के अनर्थ को जाननेवाला भी पुरुष, भला कौन से कारण से निरन्तर व्यर्थ धन पाने के व्यापार से क्लेश पाता है ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि—निःसन्देह यह सब ही लोक—किसी की माया से अत्यन्त मोहित होरहा है ॥ २६ ॥ मृत्यु के घेरेहुए इस को, धन वा धन देनेवाले लोक, भोग वा भोग देनेवाले लोक इन से, तैसेही वारंवार जन्म देनेवाले कर्मों से क्या प्रयोजन है ? ॥२७॥ तिस से अब मैं निःसन्देह ऐसा मानता हूँ कि—मेरे ऊपर सकल देवमय भगवान् प्रसन्न हुए हैं, कि—जिन की कृपा से धननाश के द्वारा मुझे संसारसमुद्र से पार उतारने वाली नौका रूप वैराग्य प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥ तिस से अब तिस वैराग्य को प्राप्तहुआ मैं, यदि कुछ

ष्येऽगमात्मनः ॥ अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥ २९ ॥ तत्र
मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वांगः समसाधयत् ॥
॥ ३० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः उन्मुच्य
हृदयग्रन्थीन् शांतो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ ३१ ॥ स चचार महीमेतां संयतात्मे-
न्द्रियानिलः ॥ भिक्षाऽर्थं नगरग्रामानसंगोऽलक्षितोऽविशत् ॥ ३२ ॥ तं वै प्र-
वयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ॥ दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥
॥ ३३ ॥ केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ॥ पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च
कन्थां चीराणि केचन ॥ ३४ ॥ प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ॥
अन्नं च भैक्ष्यसंपन्नं भुंजानस्य सरित्तटे ॥ ३५ ॥ मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठी-
वन्त्यस्य च मूर्धनि ॥ यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥ ३६ ॥
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमितिवादिनः ॥ बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्ब-

आयु का समय शेषरहा होयगा तो उस के द्वारा अपने में ही सन्तुष्ट और धर्मादि साधनों में सावधान रहकर अपने शरीर को तपस्या करके सुखाऊँगा ॥ २९ ॥ इस विषय में त्रिलोकी के स्वामी देवता मुझे अनुमोदन दें अर्थात् विघ्न न करें, देखो—राजा खट्वाङ्ग ने, एक मुहूर्त्त में ही वैकुण्ठलोक की प्राप्ति करली है तिस से मुझे थोडे काल में सद्गति प्राप्त होयगी ऐसा प्रतीत होता है ॥ ३० ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! इसप्रकार अवन्ति देशों में रहनेवाले उस ब्राह्मण ने, मन से निश्चय करके अहन्ताममतारूप हृदय की ग्रन्थि को दूर करदिया और शान्त तथा मननशील होकर संन्यासी होगया॥३१॥वह भिक्षु,मन,इन्द्रियें और प्राणोंको स्वाधीन करके सर्वत्र आसक्तिरहित और अपने श्रेष्ठत्व को न दिखाताहुआ इस पृथ्वीपर विचरताहुआ नगरों में और ग्रामों में केवल भिक्षा के निमित्त प्रवेश करता था ॥ ३२ ॥ हे उद्धवजी ! तिस अवधूत (मलिन) हुए वृद्ध संन्यासी को देखकर नीच पुरुष,अनेकप्रकार के तिरस्कार के साधनोंसे उस को दुःख देनेलगे ॥३३॥ कितनोंही ने उस का त्रिदण्ड खैंचलिया, कितनोंही ने पात्र,कमण्डलु और आसन यह छीन-लिये, दूसरे कितनोंही ने, जप की माला, कंथा,चीर, कौपीन आदि छीनलीं ॥ ३४ ॥ कितनो ही ने तो—हे भगवन् ! यह तुम अपने त्रिदण्डादिक लो ऐसा कहकर वह दिखाये और देकर फिर छीनलिये; एक समय वह भिक्षा मांगकर लायाहुआ अन्न नदी के तट बैठकर भोजन करने लगा तब, वह पापी पुरुष उस के शरीर पर मूत्रोत्सर्ग करते थे,उस के मस्तक पर थूकते थे, मौन बैठेहुए को बुलवाते थे और न बोलने पर ताड़ना करते थे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ कितने ही दूसरे पुरुष, यह चोर है ऐसा कहकर कठोर वचनों से

द्ध्यतां बद्ध्यतामिति" ॥ ३७ ॥ क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ॥ क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥ ३८ ॥ अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव ॥ मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥ ३९ ॥ इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च ॥ तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥ ४० ॥ एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ॥ भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुद्ध्यत ॥ ४१ ॥ परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ॥ पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥४२॥ द्विज उवाच ॥ नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ॥ मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥ ४३ ॥ मनो गुणान्वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ॥ शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४॥ अनीह आत्मा मनसा समीहता हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ॥ मनः स्वलिंगं

उसका तिरस्कार करते थे, कितने ही बाँधो २ ऐसा कहकर उस को रस्सी से बाँधते थे ॥ ३७ ॥ कितने ही पुरुष, यह त्रिदण्डी के वेष का ढँग दिखाकर लोगों को धोखा देनेवाला ठग है. धन नष्ट होजाने से और कुटुम्बियों के निकालदेने के कारण इस ने यह वृत्ति (रोजगार) स्वीकार करी है, ऐसा तिरस्कार करके उस की निन्दा करते थे ॥ ३८॥ दूसरे कितने ही पुरुष, अहो ! यह बड़ा बलवान्, धैर्यवान्, और पर्वत की समान दृढ होकर, अपना निश्चय पक्का रखकर मौन धारेहुए बगले की समान अपना कार्य साधरहा है; ऐसा कहकर उस का हास्य करते थे, कितने ही तो उस के ऊपर अपनी गुदा के द्वार का वायु छोड़ते थे, कितनो ही ने, उस को बाँधलिया; दूसरों ने उस को, जैसे खेलने के तोते मैना आदि को पिंजरों में बन्द करके रखते हैं तैसे कारागार में बन्द करके डालदिया ॥ ३९ ॥ ॥ ४० ॥ इसप्रकार उस संन्यासी ने, दुर्जनों के दियेहुए ताडन आदि दुःख, देह से होनेवाले ज्वरादि दुःख और दैव से होनेवाले सरदी गर्मी आदि के दुःख, इन सबों को अपने प्रारब्ध का भोग समझकर जो २ प्राप्तहुआ उस २ को भोगने का क्रम प्रारम्भ करा ॥ ४१॥ स्वधर्म से भ्रष्ट करने की इच्छा करनेवाले दुर्जनों से, इसप्रकार तिरस्कार को प्राप्तहुए परन्तु सात्विक धीरज धरकर स्वधर्म में रहनेवाले तिस भिक्षुक ने, यह गाथा गान करी॥ ४२ ॥ ब्राह्मण ने कहा कि—अहो ! यह सब लोक, देवता, आत्मा, गृह,कर्म वा काल यह मेरे सुख दुःख में कुछ कारण नहीं हैं किन्तु जो संसारचक्र को फिराता है वह मन ही केवल सुख दुःखों का कारण है, ऐसा कहते हैं ॥४३॥ वह अतिबलवान् मन पहिले गुणों की वृत्ति को उत्पन्न करता है तब उन गुणों से सात्विक, राजस और तामस ऐसे भिन्न २ कर्म उत्पन्न होते हैं और फिर उन कर्मों से उन कर्मों के अनुसार देव-तिर्यक् मनुष्य आदि जन्म प्राप्त होते हैं इसप्रकार मन संसारचक्र को फिराता है ॥ ४४ ॥ सङ्कल्पविकल्प करनेवाले

परिगृह्य कामान् जुषन्निबद्धो गुणसंगतोऽसौ ॥ ४५ ॥ दानं स्वधर्मो नियमो
यमश्च श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि ॥ सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि
योगो मनसः समाधिः ॥ ४६ ॥ समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं दानादिभिः
किं वद तस्य कृत्यम् ॥ असंयतं यस्य मनो विनश्यद्दानादिभिश्चेदपरं कि-
मेभिः ॥ ४७ ॥ मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं स-
मेति ॥ भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं स हि देव-
देवः ॥ ४८ ॥ तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ॥ कुर्व-
न्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥ ४९ ॥ देहं मनोमात्रमिमं
गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ॥ एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुर-

मन के साथ नियन्तारूप से रहवेवाला भी मुझ जीवात्मा का सखा परमात्मा, विद्याशक्ति प्रधान होने के कारण अहन्ताममतारहित होकर लुप्त न हुए ज्ञान से केवल जीव के संसार को देखता है और यह मेरा जीवात्मा तो अपने में संसार दिखानेवाले मन को, आत्मरूप से स्वीकार करके उस के सत्त्वादि गुणों की सङ्गति से विषयों का सेवन करताहुआ बूढा होगया है अर्थात् आत्मा को यह संसार अविद्या के अध्यास से ही हुआ है, स्वयं नहीं हुआ है, क्योंकि—अध्यासरहित ईश्वर को तो सर्वथा संसार है ही नहीं किन्तु अध्यासयुक्त जीव को ही है ॥ ४५ ॥ इस से मन का निग्रह करने पर सब कुछ कराहुआसा होजाता है, नहीं तो सब व्यर्थ है, दान, नित्यनैमित्तिक स्वधर्म, नियम, यम, एकादशी आदि व्रत, शास्त्र पढना और दूसरे भी जितने साधन हैं वह सब ही उपाय मनोनिग्रह का ही अवलम्बन करके रहते हैं; अतः मन का निग्रह होना ही ज्ञान का परम साधन है ॥ ४६ ॥ इस से जिस पुरुष का मन शान्त और वश में हुआ है, उस को दानादि कार्यों का क्या करना है ? कहो (ऐसा दूसरे को उपदेश करने की समान वह ब्राह्मण आपही अपने से कहने लगा) और जिस का मन वश में न होकर भटकरहा है उस को इन दानादिकों से दूसरा कौनसा फल प्राप्त होना है ? ॥ ४७ ॥ अन्य इन्द्रियों के सब देवता मन के वश में हैं, परन्तु मन दूसरी किसी भी इन्द्रिय की अधिष्ठात्री देवता के वश में होकर नहीं रहता है, मन बलवानों से भी अधिक बलवान् है, और योगियों को भी भय देनेवाला देवता है इस कारण जो पुरुष उस को अपने वश में करेगा वही देवताओं का भी देवता होयगा, दूसरा कोई नहीं होयगा ॥ ४८ ॥ इसकारण जिस के रागलोभादि वेग असह्य हैं, जो मर्मभेदी है तिस मनोरूप दुर्जय शत्रु को जीतेविना कितने ही मूर्ख पुरुष, इस संसार में दूसरे कितने ही मनुष्यों के साथ में व्यर्थ वैर करते हैं और मनुष्यों में ही मित्र, उदासीन और शत्रु, यह धर्म मानते हैं ॥ ४९ ॥ केवल मन से कल्पनामात्र करेहुए इस शरीर को 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि से और पुत्रादिदेहों को 'मेरे हैं' ऐसी बुद्धि से स्वीकार करके अन्धबुद्धिहुए

न्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ ५० ॥ जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्किमात्मनश्चात्र
हि भौमयोस्तत् ॥ जिह्वां कचित्संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥
॥ ५१ ॥ दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ॥ यदङ्गमङ्गेन
निहन्यते कचित्क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥ ५२ ॥ आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ॥ नह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात् क्रुध्येत कस्मा-
न्न सुखं न दुःखम् ॥ ५३ ॥ ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्किमात्मनोऽजस्य जनस्य

कितने ही मनुष्य, 'यह मैं हूँ और यह दूसरा है' ऐसे भ्रम से अन्तपाररहित संसाररूप अन्धकार में भ्रमते हैं ॥ ५० ॥ इसप्रकार मन ही सुख दुःख का कारण है, लोक, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म, और काल इन में कोई भी सुख दुःख का कारण नहीं है, यदि लोक सुख दुःख के कारण हों तो उस में आत्मा को क्या अर्थात् सुखदुःख का भोक्तृत्व और सुखदुःख का कर्तृत्व आत्मा का नहीं है, एक शरीर दूसरे शरीर को दुःख देकर आप सुख पावे तो वह सुखदुःख शरीरों के ही हुए, आत्मा के नहीं क्योंकि-अमूर्त्त और अक्रिय आत्मा किसी पदार्थ का भोक्ता वा कर्त्ता नहीं होसक्ता; तथापि शरीर का दुःख आत्मा में ही पर्यवसान पाता है, ऐसा कहो तो-परमात्मा कर्त्ता और कर्म इन दोनों में एकरूप से ही है इसकारण वह क्रोपयुक्त नहीं होता है, इस को अपने पर ही दृष्टान्त दे देखो कि-जब मनुष्य अपनी ही जीभ को अपने ही दाँतों से चावता है तो उस की पीडा होने पर वह किस के ऊपर क्रोध करे? यदि दाँतों के ऊपर क्रोधित होकर उन को ताड़ना करेगा तो अपने को ही पीडा होयगी ॥ ५१ ॥ यदि इन्द्रियों के देवता दुःख के कारण हों तो भले ही हों, परन्तु उस में आत्मा को क्या? कुछ नहीं; क्योंकि-उस सुखदुःख का कर्त्तापन और कर्मपन देवताओं का ही है अर्थात् हाथ से मुखपर थप्पड़ लगाने पर अथवा मुख से हाथ को चावलेने पर वह कर्त्तापन और कर्मपन, हाथ के और मुख के अभिमानी देवता जो अग्नि और इन्द्र इन का ही है तहाँ रहनेवाले निरहङ्कारी आत्मा का नहीं है और देवताओं का सब ही देहों में अभेद होने के कारण उन के ऊपर क्रोध करना बन नहीं सक्ता; देखो-जब कभी पुरुष अपने शरीर में किसी हाथ आदि अङ्ग से दूसरे चरण आदि अङ्ग को ताडन करता है तब वह किस के ऊपर क्रोध करता है? किसी के ऊपर नहीं ॥ ५२ ॥ सुख दुःखादिरूप परिणाम आत्मा के होते हैं ऐसा मानकर, आत्मा को सुख दुःख का कारणरूप मानाजाय तो यह सुख दुःख आत्मा के ही स्वभाव हुए; और विचार कर देखने पर आत्मा से जुदा कुछ भी नहीं है, यदि कुछ दूसरा प्रतीत भी होय तो वह भ्रान्ति से कल्पित होने के कारण मिथ्या है, ऐसे, आत्मा से दूसरा वास्तव में सुख दुःख है ही नहीं तो किस कारण से क्रुद्ध होय? ॥ ५३ ॥ यदि कहो कि-सुख दुःखादि के

ते वै ॥ ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां क्रुद्ध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥५४॥कर्मा-
स्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ॥ देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं
सुपर्णः क्रुद्ध्येत कस्मै नहि कर्ममूलम् ॥ ५५॥ कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ॥ नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्क्रु-
द्ध्येत कस्मै न परस्य द्वंद्वम् ॥ ५६ ॥ न केनचित् क्वापि कथंचनास्य द्वंद्वोप-
रागः परतः परस्य ॥ यथाहमः संसृतिरूपिणः स्यादेवं प्रबुद्धो न बिभेति

निमित्त सूर्यादि ग्रह हैं तो—उन से जन्म रहित आत्मा को क्या हो सक्ता है ? वह ग्रह (जन्म लेनेवाले देह केही सम्बन्ध होने से जन्मलग्न से आठवें बारहवें आदि होनेपर)उत्पन्न होनेवाले देह को ही सुख दुःख देने के कारण होतेहैं,और आकाशमें के ग्रहों से तिसआकाश में के ग्रह को ही तृतीय पञ्चम आदि स्थान में एक चरण दूसरे चरण आदि दृष्टियों से पीडा कही है उन की दृष्टि के अगोचर द्वितीय षष्ठ आदि स्थान में नहीं कही है इसकारण उन की लग्न में उत्पन्न होनेवाले देह में ही उस लग्न के अभिमान से उन की पीड़ा होती है; आत्मा तो उन ग्रहो से और देह से निराला है इस कारण किस के ऊपर क्रोध करै ।५४। यदि कर्म को सुख दुःख का कारण कहो तो उस में भी आत्मा को क्या?, वास्तविक रीति से देखा जाय तो कर्म कुछ है ही नहीं फिर वह कारण ही क्या होगा ?, क्योंकि—कर्म वा कर्म से होनेवाले सुख आदि, जब एक में ही जड़ता और चेतनता दोनो होयँतो जड़ता को कारण विकारीपन होसकै और चेतनता के कारण हित का अनुसन्धान तथा प्रवृत्ति होय सो देह तो जड़ है इस से उस की कर्म में प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और पुरुष (आत्मा) तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है इस कारण उस को विकारीपन नहीं होसक्ता. इस प्रकार सुख दुःख का मूलभूत कर्म ही जब सिद्ध नहीं होसक्ता तो पुरुष कर्म के ऊपर किस कारण से क्रोध करै? ॥ ५५ ॥ यदि काल को सुख दुःखों का कारण कहो तो इस में भी आत्मा को क्या है? क्योंकि काल परमात्मा का अंशही है, अपने अंश से अपने को पीड़ा नहीं होती है; देखो जैसे अग्नि की लपट से अग्नि को ताप तथा हिम के कण से हिम को ठंड नहीं होती है इस कारण काल से होनेवाले सुख दुःखों करके आत्मा को किसी प्रकार का क्लेश नहीं होसक्ता और यह काल को अंश की कल्पना करना तो अलग रहे परन्तु प्रकृति से पर आत्मा को सुखदुःखादि का सम्बन्ध ही नहीं है ॥ ५६ ॥ इस प्रकार लोक देवता आदि प्रसिद्ध सुखदुःखो के छहों कारणों का निरास करा, अब यदि कोई इन से दूसरा ही कारण उत्पन्न करे तो वह नहीं होसक्ता, यह वर्णन करते हैं—जैसे संसार का प्रकाश करनेवाले अहङ्कार को सुख दुःखादिको का सम्बन्ध है तैसा प्रकृति से पर इस आत्मा को, किसी के भी हाथ से किसी भी काल में

भूतैः ॥ ५७ ॥ एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ॥
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ ५८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥
निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ॥ निराकृतोऽसद्भि-
रपि स्वधर्मादकम्पितोऽमूं मुनिराह गाथाम् ॥ ५९ ॥ सुखदुःखप्रदो नान्यः पु-
रुषस्यात्मविभ्रमः ॥ मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥ ६० ॥ तस्मा-
त्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया ॥ मय्यावेशितया युक्त एतावान्योग-
संग्रहः ॥ ६१ ॥ य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः ॥ धारयञ्छ्राव-
यञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ ६२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कं-
धे भगवदुद्धवसंवादे भिक्षुगीता नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ छ ॥ छ ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ॥ यद्विज्ञाय
पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १ ॥ आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवा-

और किसी प्रकार भी सुख दुःखादिकों का सम्बन्ध नहीं होसक्ता, सारांश यह है कि—अहङ्कार के अध्यास से ही आत्मा में सुखदुःखादि का सम्बन्ध भासता है, वास्तव में कुछ भी नहीं है ॥ ५७ ॥ इस कारण पूर्वकाल के बड़े २ ऋषियों की स्वीकार करीहुई इस परमात्मनिष्ठा को स्वीकार करके मैं, मोक्षदाता भगवान् की चरण-सेवा से ही अन्त पार रहित भी संसाररूप अन्धकार को तरजाऊँगा ॥ ५८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! इसप्रकार धन नष्ट होने पर भी खेदरहित तिस मनन करनेवाले ब्राह्मण ने, विरक्त होकर और संन्यास धारकर पृथ्वी पर विचरते समय दुर्जनों के तिरस्कार करने पर भी ईश्वर के अनुसन्धानरूप अपने धर्म से न डिगकर ऐसी गाथा गाई है ॥ ५९ ॥ इस से सिद्ध होता है कि—जीव को सुखदुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है. मित्र, शत्रु और उदासीन आदि सब प्रकार का ही संसार जीव को अज्ञान से ही हुआ है और वह केवल अपने मन की भ्रान्ति का ही कराहुआ है, सच्चा नहीं है ॥ ६० ॥ इसकारण हे तात उद्धवजी! मुझ में लगीहुई बुद्धि से युक्त तुम, सकल प्रयत्नों से मन का विषयों से निग्रह करके उस मन को मुझ में लगाओ. इतनी ही योग की परम उन्नति है ॥ ६१ ॥ मन का निग्रह करने में अशक्त होय तो भी जो पुरुष, एकाग्रचित्त होकर भिक्षु की गाईहुई इस ब्रह्मनिष्ठा को धारण करता है अथवा सुनता है वा दूसरे को सुनाता है वह सुखदुःखादि द्वन्द्वों से कभी तिरस्कार नहीं पाता है ॥ ६२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में त्रयोविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! अब मैं तुम से पूर्व के कपिलादि आचार्यों करके निश्चय करेहुए सांख्यशास्त्र का वर्णन करता हूँ, कि जिस सांख्यशास्त्र को जानलेने पर पुरुष तत्काल भेदबुद्धि से होनेवाले सुखदुःखादि भ्रम का त्याग करता है ॥ १ ॥ यह देखनेवाला और दीखनेवाला इत्यादि

विकल्पितम् ॥ यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥ तन्मायाफलरू-
पेण केवलं निर्विकल्पितम् ॥ वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३ ॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ॥ ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पु-
रुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥ तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ॥
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५ ॥ तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान्सू-
त्रेण संयुतः ॥ ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो यो विमोहनः ॥ ६ ॥ वैकारिक-
स्तैजसश्च तामस श्चेत्यहं त्रिवृत् ॥ तन्मात्रेंद्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥
॥ ७ ॥ अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिंद्रियाणि च ॥ तैजसाद्देवता आसन्ने-
कादश च वैकृतात् ॥ ८ ॥ मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ॥
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥ तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिल-
संस्थितौ ॥ मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥ सोऽसृज-

सब ही प्रपञ्च, पहिले प्रलय के समय तैसे ही सत्ययुग में और जब पुरुष विवेक में निपुण थे तब भेदशून्य एक ज्ञानरूप ही था ॥ २ ॥ फिर वह केवल, भेदरहित और सत्य ऐसा ज्ञानरूप ब्रह्म ही, जैसे वाणी की और मन की प्रवृत्ति होय तैसे, माया का विलासरूपदृश्य और उस का प्रकाशरूप द्रष्टा ऐसे दो प्रकार का हुआ ॥३॥ उन दो अंशों में जो एक दृश्य पदार्थ वह कार्यकारणरूप प्रकृति है और जो ज्ञानरूप दूसरा द्रष्टा तिस को पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥ फिर उस पुरुषरूप के प्रेरणा करेहुए मुझ परमेश्वर से क्षोभित करीहुई प्रकृति से सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥ उन गुणों से सूत्र (क्रियाशक्तियुक्त) पहिला विकार उत्पन्न हुआ, तिस सूत्र से युक्त महतत्त्व उत्पन्न हुआ, फिर उस विकार पानेवाले महत्तत्त्व से जीव के देहादिरूप अध्यास का कारण अहङ्कार उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥ वह अहङ्कार सात्विक, राजस और तामस तीनप्रकार का हुआ, वह चैतन्य और जड का ग्रन्थिरूप होकर शब्दादि पाँच विषयों का, दश इन्द्रियों का और मनसहित इन्द्रियों के देवताओं का कारण है ॥ ७ ॥ शब्दादि तन्मात्राओं के कारण तिस तामस अहङ्कार से पृथिव्यादि पंचमहाभूतरूप कार्य उत्पन्न हुआ, राजस अ-हङ्कार से दश इन्द्रियें हुईं और सात्त्विक अहङ्कार से दिशा आदि दश और चन्द्रमा यह ग्यारह उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥ मेरे प्रेरणा करेहुए यह सब महत्तत्त्वादि पदार्थ, एकसाथ मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने में समर्थ हुए तब उन से विराट्रूप से मेरा उत्तम क्रीडा का स्थान एक अण्ड उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ जल के भीतर रहेहुए उस अण्ड में, मैं श्रीनारायणरूप लीलाविग्रह से रहा, फिर मेरी नाभि में से लोकों का कारण एक कमल उत्पन्न हुआ और उस में से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ १० ॥ रजो-

त्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ॥ लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति
त्रिधा ॥ ११ ॥ देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ॥ मर्त्यादीनां
च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥ १२ ॥ अधोऽसुराणां नागानां भूमेरो-
कोऽसृजत्प्रभुः । त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनां ॥ १३ ॥ यो-
गस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ॥ महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्ग-
तिः ॥ १४ ॥ मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ॥ गुणप्रवाह एत-
स्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥ १५ ॥ अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो यो यो भावः प्र-
सिद्ध्यति ॥ सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १६ ॥ यस्तु यस्यादि-
रन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्॥ विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥१७॥

गुणयुक्त और जगत् के स्रष्टा ब्रह्माजी ने, मेरे अनुग्रह से तपस्या करके इन्द्रादिलो-कपालों सहित सब लोकों को रचा, उन के—भूर्लोक (अतल आदि सहित), अन्तरिक्ष लोक और स्वर्गलोक (स्वर्ग से सत्यलोक पर्यन्त तीनलोक) ऐसे भेदहुए ॥ ११ ॥ स्वर्ग लोक देवताओं के रहनेका स्थान, अन्तरिक्षलोक भूत-प्रेत पिशाचादिकों के रहने का स्थान भूर्लोक मनुष्यों के रहनेका स्थान और तीनों लोकों के परलीओर जो महर्लोक आदिलोक वह भृगु आदि महर्षियों के रहने के स्थान हुए ॥ १२ ॥ तैसेही भूमि के नीचे के अतल आदि लोक असुरों के और नागों के रहने के स्थान, उन इकले समर्थ ब्रह्माजीने ही उत्पन्न करे, त्रिगुणमय कर्म करने पर जो गति प्राप्त होती हैं वह सब त्रिलोकी में ही उत्पन्न करी है ॥ १३ ॥ केवल योग, तप और संन्यास का आचरण करनेवालों को ही, उन के धर्मों की कमी अधिकता के अनुसार महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक इन के विषैं निर्मलगति मिलती हैं और भक्तियोग करनेवाले को वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ इन में वैकुण्ठलोक की गति को छोड शेष सब गति चंचल हैं, क्योंकि—कालशक्तिरूप और कर्मानुसार फल देनेवाले मुझ परमेश्वर की शक्ति से कर्मों में लगाहुआ यह जगत्, गुणों के प्रवाहरूप संसार में कभी सत्यलोकपर्यन्त की उत्तमगतियों को पाता है और कभी स्थावरपर्यन्त नीचयोनियों को पाता है ॥१५॥ छोटे, बडे, दुबले, मोटे, जो पदार्थ प्रसिद्ध हैं वह सब ही प्रकृति और पुरुष इन दोनों से संयुक्त हैं ॥१६॥ जिस कार्य का जो मूल कारण होता है और जो लयस्थान होता है वही मध्य की अवस्था में भी होता है, यह वार्त्ता मृत्तिका सुवर्ण आदि में प्रसिद्ध है; यदि कहो कि फिर यह मिथ्याभूतकार्य सिद्ध सृष्टि किस लिये कही है ? तो यह सृष्टि आदि व्यवहार, व्यवहार के निमित्त है अर्थात् मेरी अनेकों लीलाओं की सिद्धि के निमित्त है. जैसे सुवर्ण के कड़े कुण्डल आदि पदार्थ अथवा जैसे मृत्तिका के घडे सकोरे आदि पदार्थ केवल व्यवहार के निमित्त ही भिन्न२होकर वास्तव में वह सुवर्णरूप वा मृत्तिकारूप ही होते हैं तिसीप्रकार सकल ही जगत्, केवल

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुते परम् ॥ आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभि-
धीयते ॥ १८ ॥ प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ॥ सतोऽभिव्यंजकः
कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहं ॥ १९ ॥ सर्गः प्रवर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यशः॥
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥ २० ॥ विराण्मयासाद्यमानो
लोककल्पविकल्पकः ॥ पंचत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥ २१ ॥ अन्ने
प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ॥ धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रली-
यते ॥ २२ ॥ अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ॥ लीयते ज्योतिषि
रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥ २३ ॥ रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि
चांबरे ॥ अंबरं शब्दतन्मात्र इंद्रियाणि स्वयोनिषु ॥ २४ ॥ योनिर्वैकारिके
सौम्य लीयते मनसीश्वरे ॥ शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥

व्यवहार के निमित्त भिन्नरूप है और वास्तव में परमेश्वररूप ही है ॥ १७ ॥ जैसे मट्टी का पिण्डा, मृत्तिका को लेकर आप निमित्तरूप होताहुआ घडे को उत्पन्न करता है तैसे ही जिस रूप को, उपादानकारणता से स्वीकार करके, पूर्व के महत्तत्त्वादि पदार्थ आगे के अहङ्कारादि पदार्थों को उत्पन्न करते हैं वहीरूप सत्य है, फिर 'मृत्तिका ही सत्यहै' ऐसा श्रुति ने क्यों कहा ऐसा कहो तो—जिस में पदार्थमात्र का आदि और अन्त होता है वह वस्तु सत्य है ऐसा श्रुति ने परम कारण आत्मा की सत्यता कहने के निमित्त दरसाया है ॥ १८ ॥ इस जगत् का उपादान कारण जो प्रकृति और तिसका अधिष्ठाता आधार जो परम पुरुष तैसे ही गुणों के क्षोभ से प्रकट हुआ जो काल है यह तीनो ब्रह्मरूप मैं ही हूँ ॥ १९ ॥ जीव को भोग देने के निमित्त प्रकट हुई यह बड़ीभारी सृष्टि, स्थिति का अन्त होनेपर्यन्त पितापुत्र आदिरूप से चलरही है और यह स्थिति जबतक परमेश्वर का अवलोकन है तबतक ही है ॥ २० ॥ जिस में लोकों के अनेकों सृष्टि के प्रकार और लय कल्पना करेजाते हैं ऐसा यह ब्रह्माण्ड, कालरूप मेरे व्याप्त करलेने पर, भुवनोंसहित पंचमहाभूतों में अंशरूप से मिलकर लय पाने को प्रवृत्त होता है ॥ २१ ॥ तहाँ पहिले सौवर्षपर्यन्त वर्षा न होने पर, सब प्राणियों के शरीर जिस अन्न से बढे हैं तिस अन्न में ही लीन होजाते हैं तब वह अन्न बीजमात्र शेष रहता है फिर बीज भूमि में लीन होते हैं, भूमि गन्धगुण में लय पाती है ॥ २२ ॥ वह गन्धजल में लय पाता है, वह जल अपने गुणरस में लय पाते हैं, वह रस तेज में लय पाता है, वह तेजरूप में लीन होता है ॥ २३ ॥ रूपवायु में और वह वायु स्पर्श में लय पाता है और वह स्पर्श भी आकाश में लय पाता है; आकाश शब्दतन्मात्रा में और इन्द्रियें अपने प्रवर्त्तक देवताओं में लय पाती हैं॥ २४ ॥ और हे उद्धवजी ! वह देवता अपने २ नियन्ता मन में लय पाते हैं, वह मन देवताओं

॥ २५ ॥ स लीयते महांस्त्वेषु गुणेषु गुणसत्तमः ॥ तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥ २६ ॥ कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ॥ आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥ २७ ॥ एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः ॥ मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥ ॥ २८ ॥ एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ॥ प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥ २९ ॥ इतिश्रीभा० म० ए० चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥*॥ श्रीभगवानुवाच ॥ गुणानामसम्मिश्राणां पुमान्येन यथा भवेत् ॥ तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥ शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ॥ तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २ ॥ काम ईहा मदस्तृ-

सहित सात्विक अहङ्कार में लय पाता है, आकाश का शब्दगुण तामस अहङ्कार में लय पाता है, वह अहङ्कार महत्तत्त्व में लीन होता है ॥ २५ ॥ ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-सहित वह महत्तत्त्व अपने कारणरूप गुण में लीन होता है, वह गुण माया में लीन होते हैं, वह माया काल के वश में होने के कारण जिस की वृत्ति लीन हुई हैं ऐसे काल में लीन होती है अर्थात् काल के साथ एकता को पाकर रहती है ॥ २६ ॥ वह काल माया के प्रवर्त्तक जीव के विषें (पुरुष में) लय पाता है, जीव अपनी प्रकृति के लीन होने के कारण दूसरे किसी प्रतियोगी (जिस में लीन होय ऐसे पदार्थ) के न होने से मुझ पूर्ण सद्रूप आत्मा में एकरूप होकर रहता है, वह मैं आत्मा केवल निजस्वरूप में ही रहता हूँ, किसी दूसरे में लय नहीं पाता हूँ, किन्तु ऐसा मैं, केवल जगत् के उत्पत्तिलयों से अधिष्ठानता करके और अवधिरूप से जानाजाता हूँ ॥ २७ ॥ इसप्रकार हृदय में विचार करनेवाले मनुष्य के मन में का भेदभाव के कारण का भ्रम भला कैसे दूर होयगा, ऐसा कहो तो— जैसे आकाश में सूर्य का उदय होने पर अन्धकार कुछ भी नहीं रहता है तैसे ही वह भ्रम किंचिन्मात्र भी नहीं रहेगा ॥ २८ ॥ हे उद्धवजी ! भूत भविष्य को जाननेवाले मैंने, तुम से यह सन्देह की गाँठ को काटनेवाली सांख्यशास्त्र की विधि, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के वर्णन के द्वारा निरूपण करी है ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में चतुर्विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धवजी ! भिन्न २ सत्त्वादिगुणों में जिस गुण से यह पुरुष जैसे स्वभाव का होता है सो, यह वर्णन करनेवाले मुझ से तुम सुनो ॥ १ ॥ शम, दम, सहनशीलता, विवेक, अपने धर्म में निष्ठा, सत्य, दया, पूर्वापर का स्मरण, सन्तोष, खर्चीला स्वभाव, विषयों में वैराग्य, गुरु आदि के वाक्यों पर विश्वास, अनुचितकर्म में लज्जा, सरलता, विनय, आत्मप्रीति यह सत्त्वगुण

र्णो स्तंभ आशीर्भिदा सुखम् ॥ मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥ क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दंभः क्लमः कलिः ॥ शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीरनुद्यमः ॥ ४ ॥ सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ॥ वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५ ॥ सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ॥ व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥ धर्मे चार्थे च कामे च यदाऽसौ परिनिष्ठितः ॥ गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७ ॥ प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे ॥ स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥ पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ॥ कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसायुतम् ॥ ९ ॥ यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ॥ तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव च ॥ १० ॥

की वृत्तियें हैं ॥ २ ॥ स्वर्गादिकों की इच्छा, यज्ञादिव्यापार, मद, लाभ होने पर भी असन्तोष, गर्व, धनादि की इच्छा से देवादिकों की प्रार्थना, भेदबुद्धि, विषयभोग, मद से युद्धादि में उत्कण्ठा, अपनी प्रशंसा में प्रीति, दूसरे का हास्य करना, अपना पराक्रम प्रसिद्ध करना और बल से उद्योग करना यह रजोगुण की वृत्तियें हैं॥ ३॥क्रोध,लोभ,झूठबोलना,हिंसा,याचना,दम्भ,परिश्रम,कलह,शोक, मोह,दुःख,दीनता निद्रा,आशा,भय और जड़ता यह तमोगुण की वृत्ति हैं ॥४॥ ऐसी सत्त्व,रज और तम इन तीन गुणों की बहुत सी वृत्तियें क्रम से मैंने कही हैं और भी जो होयँ उन को इन की समान ही जानना, अब तीन गुणों की वृत्तियों के मेल को कहता हूँ सुनो ॥५॥ हे उद्धवजी ! मैं शान्त, कामी और क्रोधी हूँ इत्यादि तैसे ही मुझे शान्ति, काम और क्रोध हैं इत्यादि जो बुद्धि होतीहै वह गुणों का मेल है;इस से मन, विषय इन्द्रियें और प्राणों से युक्त जो व्यवहार वह सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक होने से तिन सत्त्वादिकों का मेलही है ऐसा समझे ॥६॥ जब यह पुरुष, धर्म, अर्थ और काम में आसक्त होता है तब यह सत्त्वरजस्तमोगुणों का श्रद्धा, प्रीति और धन की प्राप्ति करादेनेवाला मेल है ऐसा जानना ॥ ७ ॥ सकाम धर्म में जब पुरुष की निष्ठा उत्पन्न होती है तैसे ही जब पुरुष गृहस्थाश्रम में आसक्त रहता है और तदनन्तर नित्य नैमित्तिक रूप स्वधर्म में आसक्त रहताहै तब उस को गुणोंका मेल ही समझना. क्योंकि–सकाम धर्म, घर में आसक्ति और स्वधर्म यह रज तम और सत्त्वगुणरूपी हैं ॥ ८ ॥ पुरुष, शम आदि वृत्तियों से सत्त्वगुणयुक्त है, कामादि वृत्तियों से रजोगुण युक्त और क्रोधादि वृत्तियों से तमोगुणयुक्त है ऐसा अनुमान करै ॥ ९ ॥ जब पुरुष वा स्त्रियें निष्कामपने से निजधर्म का आचरण कर के प्रेमभक्ति के साथ मेरा आराधन करते हैं तब उन को सत्त्वगुण का स्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसा समझना ॥ १० ॥ जब पुरुष

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः ॥ तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसा-
माशास्य तामसम् ॥ ११ ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ॥ चि-
त्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥ १२ ॥ यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भा-
स्वरं विशदं शिवम् ॥ तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥ १३ ॥
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ॥ तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा
यशसा श्रिया ॥ १४ ॥ यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ॥ युज्येत शोकमोहाभ्यां
निद्रया हिंसयाशया ॥ १५ ॥ यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ॥
देहेऽभयं मनोसंगं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥ १६ ॥ विकुर्वन् क्रियया चा-
धीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् ॥ गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥ १७ ॥
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ॥ मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुप-

विषयसुखों की अपेक्षा रखकर अपने कर्म से मेरा आराधन करता है तब उस को रजोगुण के स्वभाव का समझे और जब हिंसा की इच्छा रखकर मेरी आराधना करता है तब वह तमोगुणी स्वभाववाला है ऐसा समझे ॥ ११ ॥ सत्त्व, रज और तम यह तीनो गुण जीव के ही हैं, मेरे नहीं हैं, क्योंकि—वह जीव के ही चित्त में प्रकट होते हैं; जिन गुणों से वह जीव देह इन्द्रियादि विषयों में आसक्ति करने लगते ही बँधजाता है, मैं तो गुणों का नि-यन्ता होकर सृष्टि आदि करता हूँ तथापि कहीं आसक्त न होने के कारण नित्य मुक्त हूँ इस कारण जीवों में और मुझ में बड़ा अन्तर है ॥ १२ ॥ इस प्रकार मिश्र अमिश्र गुणों के कार्य दिखाकर अब एक २ गुण की अधिकता के कार्य दिखाते हैं—जब प्रकाशक स्वच्छ और शान्त सत्त्व गुण दूसरे दो गुणों को जीतकर आप बढ़ता है तब यह पुरुष, सुख, धर्म, ज्ञान, शम, दम आदि धर्मों से युक्त होता है ॥ १३ ॥ जब सङ्ग तथा भेद का कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाला रजोगुण, दूसरे दो गुणों को दबाकर आप बढ़ता है तब पुरुष, दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मी से युक्त होता है ॥ १४ ॥ जब विवेक से भ्रष्ट करनेवाला, आवरणरूप और अनुद्योगरूप तमोगुण, दूसरे दो गुणों को दबाकर आप बढ़ता है तब पुरुष, शोक, मोह, निद्रा, हिंसा और आशाओं से युक्त होता है ॥ १५ ॥ प्र[illegible] स्वच्छ होता है, इन्द्रियों का उपराम होता है, देह में अभय प्रतीत होता है, मैं चतुर्विंश अध्या[illegible]ता है तब मेरी प्राप्ति के आश्रय सत्त्वगुण को बढ़ाहुआ समझे। १६ मिश्र २ सत्त्वादिगुणों में क्रिया से पुरुष की बुद्धि चलायमान होती है, ज्ञानेन्द्रियें विषया-करनेवाले मुझ से तुप सु[illegible]अस्वस्थ होती हैं और मन चञ्चल होता है तब इन लक्षणों से. सत्य, दया, पूर्वापर का स्मरण, ॥ जब सुषुप्ति आदि में लीन होताहुआ चित्त, चिदाकार के वाक्यों पर विश्वास, अनुचितक[illegible]कर लीन होता है, सङ्कल्पविकल्पात्मक मन भी लय

धारय ॥ १८ ॥ एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ॥ असुराणां च रजसि तमस्युद्धवे रक्षसां ॥ १९ ॥ सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ॥ प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम् ॥ २० ॥ उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ॥ तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ॥ २१ ॥ सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ॥ तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥ २२ ॥ मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ॥ राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसं ॥ २३ ॥ कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ॥ प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥ २४ ॥ वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ॥ तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥ २५ ॥ सात्त्विकः कारकोऽसंगी रागान्धो राजसः स्मृतः ॥ तामसः

पाता है और अज्ञान तथा ग्लानता उत्पन्न होते हैं तब तमोगुणको बढ़ाहुआ जानो॥१८॥ हे उद्धवजी ! सत्त्वगुण बढ़ाहुआ होनेपर देवताओं का बल बढ़ता है, रजोगुण बढ़ाहुआ होनेपर असुरों का और तमोगुण बढ़ाहुआ होनेपर राक्षसों का बल बढ़ता है ॥ १९ ॥ सत्वगुण की उन्नति से पुरुष की जागृत् अवस्था जानना,रजोगुण की उन्नति से स्वप्नावस्था तथा तमोगुण की उन्नति से सुषुप्त्यवस्था जाननी और तुरीय अवस्था तो तीनों अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहनेवाला आत्मरूप है ॥ २० ॥ वेद में कहा अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य, सत्वगुण के द्वारा ब्रह्मलोकपर्यंत ऊँचे२ लोकों में गमन करते हैं, तमोगुण के द्वारा स्थावर पर्यंत नीचे२ योनियों में जन्म पाते हैं और रजोगुण से फिर मनुष्य ही होते हैं ॥ २१ ॥ सत्वगुण की वृद्धि के समय मरण को प्राप्तहुए मनुष्य, स्वर्ग में जाते हैं, रजोगुण की उन्नति के समय मरण को प्राप्तहुए मनुष्य,मनुष्यलोक में ही जाते हैं और तमोगुण की वृद्धि के समय मरण को प्राप्तहुए पुरुष, नरक में जाते हैं और निर्गुणहुए मनुष्य जीवितदशा में ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ मेरी प्रीति प्राप्त होने की इच्छा से कराहुआ वा केवल दासभाव से कराहुआ जो अपने वर्ण तथा आश्रम को कहाहुआ कर्म है वह सात्विक है, फल की कामना रखकर कराहुआ कर्म राजस है और हिंसा के उद्देश से कराहुआ वा अतिहिंसायुक्त कर्म तामस है ॥ २३ ॥ आत्मा देह से निराला है ऐसा ज्ञान सात्विक है, आत्मा देह से भिन्न नहीं है ऐसा ज्ञान राजस है और बालक की समान वा गूँगे की समान जो विवेकशून्यज्ञान वह तामस है, तैसे ही मेरे स्वरूप का जो ज्ञान वह निर्गुण है ॥ २४ ॥ एकान्त वन में रहना सात्विक है, गाँव वा नगर में रहना राजस है, जुए आदि के स्थान में रहना तामस है और मेरे मन्दिर में रहना निर्गुण है ॥ २५ ॥ जो आसक्तिरहित होकर कर्म करता है वह सात्त्विक

स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥ २६ ॥ सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥ २७ ॥ पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् । राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥ २८ ॥ सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसं ॥ तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥ २९ ॥ द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ॥ श्रद्धाऽवस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥ ३० ॥ सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः ॥ दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥ ॥ ३१ ॥ एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ॥ भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥ ३२ ॥ तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवं ॥ गुणसंगं विनिर्धूय मां भजन्तु वि-

है, जो अतिआसक्ति से अन्धा होकर कर्म करता है वह राजस है और जो पूर्वापर के स्मरण से रहित होकर कर्म करता है वह तामस है तथा जो केवल मेरे आश्रय से कर्म करता है वह कर्त्ता निर्गुण है ॥ २६ ॥ परमेश्वर में स्वाभाविक श्रद्धा सात्त्विक है, कर्म की श्रद्धा तो राजस है और अधर्म में जो श्रद्धा वह तामस है तथा मेरी सेवा में जो श्रद्धा वह निर्गुण है ॥२७॥ हितकारी, पवित्र और परिश्रम के विना प्राप्त हुआ जो भक्ष्यभोज्य आदि भोजन वह सात्त्विक माना है, मांगते में इन्द्रियों को सुख देनेवाला जो तीखा खट्टा आदि आहार वह राजस है, दीनता तथा अपवित्रता दिखानेवाला जो आहार वह तामस है और मुझे अर्पण करेहुए नैवेद्य का जो आहार वह निर्गुण है ॥ २८ ॥ देह से निराला आत्मा से प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है, विषयों से होनेवाला सुख राजस है, मोह वा दीनतासे होनेवाला सुख तामस है और तत्त्वं पदार्थ के विवेक से होनेवाला सुख निर्गुण है ॥ २९ ॥ इस प्रकार पवित्र आहार आदि पदार्थ, सुखरूप फल, दूसरे दो गुणों को जीतने आदि का काल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, जाग्रत् आदि अवस्था, देवादिरूप आकृति और स्वर्गादि की प्राप्ति रूप निष्ठा यह सब ही वस्तु त्रिगुणमय हैं ॥ ३० ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धवजी ! केवल कहीहुई वस्तु ही त्रिगुणात्मक हैं ऐसा नहीं है किन्तु प्रकृति पुरुषों का आश्रय करे हुए जितने पदार्थ देखने में सुनने में और विचार करने में आते हैं वह सब गुणो के कार्यही हैं॥ ३१॥हे उद्धवजी ! जीव को जितने देवमनुष्या दिजन्म प्राप्त होते हैं वह सब गुण और कर्मों के निमित्त होते हैं, इस कारण जो जीव चित्त से होनेवाले इन गुणों को जीतता है वह जीव, भक्तियोग से मुझ में निष्ठा पाकर मोक्षपाने के योग्य होता है ॥ ३२ ॥ इस कारण जिस में ज्ञान और विज्ञान होने का सम्भव है ऐसा यह मनुष्य

चक्षणः ॥ ३३ ॥ निःसंगो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ॥ रजस्तमश्चा-
भिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥ ३४ ॥ सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शां-
तधीः ॥ संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥ ३५ ॥ जीवो जी-
वविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसंभवैः ॥ मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्
॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे ए० पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ७ ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ॥ आनन्दं प-
रमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥ गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञान-
निष्ठया ॥ गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ॥ वर्त्तमानोऽपि न पुमान्यु-
ज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥ सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ॥ तस्या-
नुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् ॥ ३ ॥ ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत

शरीर प्राप्त होनेपर पुरुष, गुणों का संग छोड़कर मेराही सेवन करै ॥ ३३ ॥ विवेकी पुरुष, विषयों की आसक्ति से रहित, जितेन्द्रिय, मननशील, सावधान और शान्तबुद्धि होकर मेरी भक्ति करै. तिस सात्विक पदार्थों के सेवन से सत्वगुण की वृद्धि करके रजोगुण और तमोगुण को जीते, तदनन्तर निरन्तर मेरा ध्यान करनेवाला वह पुरुष, शान्तरूप सत्वगुण से उस सत्वगुण को भी जीते तब सत्वादि गुणों से रहित हुआ वह जीव, जीवपने के कारण लिङ्गशरीर को त्यागकर मुझ को पाता है ॥३४॥३५॥ इसप्रकार मुझे प्राप्त हुआ और चित्त से होनेवाले गुणों से छूटाहुआ वह जीव, परब्रह्मरूप मेरे से पूर्णता को पाते ही बाहर के विषयों का सेवन नहीं करता है और मन से विषयों का स्मरण भी नहीं करता है इसकारण उस को फिर जन्ममरणरूप संसार नहीं प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में पंचविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे उद्धवजी ! जिस से मेरा स्वरूप जानने में आता है ऐसा यह मनुष्यशरीर प्राप्त होने पर मेरी भक्तिरूप धर्म में रहनेवाला पुरुष, अपने में ही नियन्तारूप से रहनेवाले आनन्दरूपी मुझ परमात्मा को उत्तमप्रकार से पाता है ॥ १ ॥ ऐसे पुरुष को फिर विषयों में आसक्ति नहीं होगी, क्योंकि–ज्ञाननिष्ठा के प्रभाव से गुणमय लिङ्ग-शरीर से छूटाहुआ वह पुरुष (जीव) मायामात्र और अवस्तुरूप से दीखनेवाले गुणों के कार्यरूप देह में वर्त्ताव करताहुआ भी, तिन मिथ्याभूत विषयों के साथ सङ्गमात्र ही पाता है अर्थात् उन में आसक्त नहीं होता है ॥ २ ॥ तथापि विचारवान् पुरुष, शिश्न और पेट की तृप्ति की करनेवाले दुष्ट पुरुषों का सङ्ग कभी न करै, ऐसे बहुतों की सङ्गति तो दूर रही, किन्तु ऐसे एक की भी सङ्गति करनेवाला पुरुष, जैसे अन्धे के पीछे जानेवाला अन्धा गढहे में पड़ता है तैसे, नरक में पडता है ॥ ३ ॥ इला के पुत्र बड़ी कीर्त्तिवाले,

बृहच्छ्रवाः ॥ उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोकसंयमे ॥ ४ ॥ त्यक्त्वात्मानं व्र-
जंतीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः ॥ विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः॥५॥
कामानतृप्तोनुजुषन् क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः ॥ न वेद यांतीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्ट-
चेतनः ॥ ६ ॥ ऐल उवाच ॥ अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ॥
देव्या गृहीतकंठस्य नायुःखंडा इमे स्मृताः ॥ ७ ॥ नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो
वाऽभ्युदितोऽमुया ॥ मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८ ॥ अहो मे
आत्मसंमोहो येन.त्मा योषितां कृतः ॥ क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः॥९॥
सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ॥ यांतीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्म-

---

चक्रवर्त्ती राजा पुरुरवा ने, प्रथम उर्वशी के विरह से मोहित होकर फिर कुरुक्षेत्र में उर्वशी से भेट होने पर, उर्वशी ने राजा से कहा कि गन्धर्वों की उपासना कर तब तेरा मनोरथ पूरा होगा. फिर राजा ने गन्धर्वों की उपासना करी तब प्रसन्नहुए गन्धर्वों ने उस को अग्नि नामक पुत्र दिया, तिस से वह देवताओं का आराधन करके उर्वशीलोक को गया, तहाँ उर्वशी के मिलने से शोक दूर होने पर उस ने विरक्त होकर यह गाथा गाई ॥ ४ ॥ इस से पहिले की राजा की मोहदशा का वर्णन करते हैं कि—अपने को शय्यापर छोड़ जानेवाली उस उर्वशी के वियोग से व्याकुलहुआ वह राजा, उन्मत्त की समान नङ्गा होकर, हे पाषाणहृदये स्त्रि ! मुझे छोडकर न जा, खडीरह, खडीरह, ऐसा विलाप करता हुआ उस के पीछे दौडनेलगा ॥ ५ ॥ क्योंकि—जिससमय मनुष्यलोक में उर्वशी अपने समीप थी उससमय विषयभोग करनेवाला वह राजा, तृप्त नहीं हुआ और उर्वशी के चित्त को खेंचने के कारण इतना विकल होगया कि—उस ने बहुत से वर्षों की रात्रियें कितनी निकलगई और कितनी शेष हैं यह कुछ नहीं जाना ॥ ६ ॥ उर्वशी के भोग के अनन्तर विरक्त हुआ वह राजा कहनेलगा कि—हे प्राणियो ! मेरे मोह का विस्तार देखो ! काम से चित्त में चलायमान हुए और उर्वशी ने कण्ठ में आलिङ्गन करके जिसको ग्रहण करा है ऐसे मैंने, अपने यह वृथा वीतेहुए रात्रिदिनरूप आयु के भाग मन में भी नहीं विचारे ॥ ७ ॥ सो बड़े खेदकी वार्त्ता है कि- इस उर्वशी के धोखा दियेहुए मैंने इसके साथ क्रीड़ा करते में, सूर्य का उदय हुआ वा अस्त हुआ यह कुछ नहीं जाना और तैसेही सहस्रों वर्षों के वीतेहुए दिनों को भी नहीं जाना ॥ ८ ॥ अहो ! यह मेरे मन का कैसा प्रबल मोह है ! जिस मोह से राजाओं में शिखामणि की समान सर्वोत्तम और चक्रवर्ती भी मैंने, अपना शरीर, खेलने के वानर की समान स्त्रियों के वश में करादिया ॥ ९ ॥ राज्यादि सहित और चक्रवर्ती मेरे शरीर का तृण की समान त्याग करके जानेवाली उर्वशी के

त्वब्रुदन् ॥ १० ॥ कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ॥ योन्वगच्छं
स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥ ११ ॥ किं विद्यया किं तपसा किं त्या-
गेन श्रुतेन वा ॥ किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥१२॥ स्वा-
र्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ॥ योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गो-
खरवज्जितः ॥ १३ ॥ सेवतो वर्षपूगान्मे उर्वश्या अधरासवम् ॥ न तृप्यत्या-
त्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥ १४ ॥ पुंश्चल्याऽपहृतं चित्तं कोऽन्वन्यो
मोचितुं प्रभुः ॥ आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजं ॥ १५ ॥ बोधितस्या-
पि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ॥ मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः
॥ १६ ॥ किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ॥ रज्जुस्वरूपाविदुषो
योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥ क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशु-

पीछे मैं उन्मत्त की समान नङ्गा और रोताहुआ दौड़ा ॥ १० ॥ जैसे गधा मुहपर लातें खाताहुआ भी गदही के पीछे दौडता है तैसे ही उर्वशी का तिरस्कार कराहुआ भी जो मैं, छोडकर जातीहुई उस के पीछे गया, ऐसे मेरा प्रभाव, दूसरे को जीतने की शक्ति और जगत् का स्वामीपन कहाँ से रहे? सब ही नष्टहुए से होगए ॥ ११ ॥ ऐसे मनुष्य के सब साधन व्यर्थ हैं, क्योंकि–जिस का मन स्त्रियों ने अपने वश में करलिया है उस की विद्या से, तप से, संन्यास से, शास्त्र पढ़ने से, एकान्तवास से और मौन से कौन लाभ होना है? कोई नहीं ॥ १२ ॥ अपने कल्याण को न जाननेवाले और मूर्ख हे कर अपने को पण्डित माननेवाले मुझ को धिक्कार है, जो मैं चक्रवर्त्तीपने को पाकर भी, स्त्रियों से तिरस्कार के साथ बैल की समान वा गदहे की समान अपने वश में करागया हूँ ॥ १३ ॥ जैसे अग्नि, घृत की आहुतियों से शान्त नहीं होता है किन्तु अधिक२ बढ़ता ही है तैसे ही सहस्रोंवर्ष उर्वशी के अधरामृत का सेवन करनेवाले मेरे मन में उत्पन्नहुआ काम तृप्त नहीं होता है किन्तु अधिक २ बढ़ता ही है ॥ १४ ॥ जारिणी स्त्री करके वश में करेहुए चित्त को, एक आत्माराम अधोक्षज भगवान् के सिवाय भला दूसरा कौनसा पुरुष छुटवाने को समर्थ है?कोई नहीं है.इस का तात्पर्य यह है कि–आजपर्यंत कर्मों के द्वारा भेदभावसे देवताओं का आराधन करके मैंने दुःख ही पायाहै इसकारण अब परमेश्वरका आराधन करूँगा॥१५॥ उर्वशी देवी ने वेद में के यथार्थ वचन से समझाया तो भी मुझ दुर्मति अजितेन्द्रिय के मन का महामोह दूर नहीं हुआ ॥ १६ ॥ मैंने जो उर्वशी को दोष दिया सो ठीक नहीं है किन्तु यह दोष मेरा ही है, क्योंकि–जैसे रस्सी के स्वरूप को न जाननेवाले रस्सी में सर्प की कल्पना करके दुःख पानेवाले पुरुष का रस्सी ने कौन अपराध करा है? तैसे ही मुझ कामातुर का इस ने कौन कपराध करा है? कोई अपराध नहीं करा है किन्तु इसप्रकार के मोह से इस में आसक्त होनेवाला मैं ही अपराधी हूँ ॥१७॥ अतिमलिन, अतिदुर्गन्धादि-

चिः ॥ क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥ १८ ॥ पित्रोः किं
स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ॥ किमात्मनः किं सुहृदामिति
यो नावसीयते ॥ १९ ॥ तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ॥ अहो
सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥ २० ॥ त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोम-
ज्जाऽस्थिसंहतौ ॥ विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ २१ ॥ अथाऽपि
नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ॥ विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति ना-
न्यथा ॥ २२ ॥ अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ॥ असंप्रयुञ्जतः प्राणान्
शाम्यति स्तिमितं मनः ॥ २३ ॥ तस्मात्संगो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चे-
न्द्रियैः ॥ विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥ २४ ॥ श्रीभगवा-

युक्त और अपवित्र यह स्त्री का शरीर कहां? और सुगन्धता, पवित्रता, सुकुमारता आदि गुण कहां? इसकारण निःसन्देह यह अध्यास (दोष में गुण का प्रतीत होना) अविद्या का कराहुआ है ॥ १८ ॥ यह शरीर, माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण क्या उन का ही धन है ऐसा कहैं? वा, स्त्री इस को भोग देती है इसकारण उस का कहैं? अथवा स्वामी के वश में रहता है अतः उस धनी का कहैं ? अथवा अन्त में अग्नि की आहुति होजाता है अतः उस का कहैं; अथवा कूकर गिज आदि इस को खाते हैं अतः उन का कहैं? अथवा देह से करेहुए शुभाशुभकर्म जीवात्मा को भोगने पडते हैं अतः जीवात्मा का कहैं? अथवा मित्रों के ऊपर उपकार करता है अतः उन का कहैं? इसप्रकार जिस देह का निश्चय नहीं होता है ॥ १९ ॥ तिस अपवित्र और अन्त में कीडे, विष्टा वा भस्मरूप होनेवाले देह में अहो! यह स्त्री का मुख अतिसुन्दर सरल नासिका से युक्त और अतिमनोहर मन्दहास्यसहित है इसप्रकार पुरुष आसक्त होजाता है ॥ २० ॥ वास्तव में विचार करने पर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और हाड इन के समूहरूप देह में मग्न होनेवाले प्राणी में और विष्ठा, मूत्र तथा पीव में मग्न रहनेवाले कीडे में क्या अन्तर है? कुछ अन्तर नहीं है ॥ २१ ॥ इसकारण विवेकी पुरुष, स्त्रियों में और स्त्रीलम्पट पुरुषों में कभी आसक्त न होय ; क्योंकि—विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन चलायमान होता है अन्यथा नहीं ॥२२॥ देखेहुए अथवा सुनेहुए पदार्थों के बिना मन चलायमान नहीं होता है इसकारण इन्द्रियों को विषयों से रोकनेवाले पुरुष का मन निश्चल होकर शान्त होजाता है ॥ २३ ॥ इसकारण इन्द्रियों से भी स्त्रियों की और स्त्रीलम्पट पुरुषों की सङ्गति कदापि नहीं करै ; क्योंकि—विद्वान् पुरुषों को भी इन्द्रियों के समूह का विश्वास नहीं करना चाहिये, मुझसों को न करना चाहिये इस का तो कहना

नुवाच ॥ एवं प्रगायन्नरदेवदेवः स उर्वशीलोकमथो विहाय ॥ आत्मानमात्म-
न्यवगम्य मां वै उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ २५ ॥ ततो दुःसंगमुत्सृज्य
सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ॥ संत एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः ॥२६॥
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रणताः समदर्शिनाः ॥ निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा नि-
ष्परिग्रहाः ॥ २७ ॥ तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ॥ संभवन्ति
हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥ २८॥ ता ये शृण्वंति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति
चादृताः ॥ मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२९ ॥ भक्तिं
लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि
॥ ३० ॥ यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ॥ शीतं भयं तमोऽप्येति
साधून्संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥ निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ॥
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ ३२ ॥ अन्नं हि प्राणिनां

ही क्या ? ॥२४॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! इसप्रकार गान करनेवाला वह राजाधिराज पुरूरवा, उर्वशीलोक को त्यागकर और फिर अपने जीवात्मा में ही मुझ परमात्मा को जानकर, ज्ञान से मोह दूर होने के कारण उपराम को प्राप्त हुआ (जीवन्मुक्त हुआ) ।२५। इसकारण बुद्धिमान् पुरुष, नीच पुरुषों की सङ्गति छोडकर सत्पुरुषों की सङ्गति करै, तब वह सत्पुरुष, अपने उपदेश के वचनों से इस के मन की विषयासक्ति को तोडडालते हैं ॥ २६ ॥ साधु-विषयों की अभिलाषा रहित, मुझ में चित्त लगाने वाले, अत्यन्त शान्त, समदृष्टि सर्वत्र ममतारहित, देहादि में अहङ्काररहित,, सरदी गरमी आदि से होनेवाले विकारों करके रहित और विषयों का त्याग करने वाले होते हैं॥२७॥हे महाभाग उद्धव जी ! उन महाभागशाली पुरुषोंमें निरन्तर मेरी कथा होती रहती हैं और वह कथा ही आदर के साथ अपने सुननेवाले पुरुषों के पापों को निःसन्देह दूर करती हैं ॥ २८ ॥ मुझ में चित्त लगा ने वाले जो पुरुष, श्रद्धा और आदर के साथ उन कथाओं को सुनते हैं, गाते हैं वा अनु मोदन करते हैं वह पुरुष मुझ में भक्ति पाते हैं ॥ २९ ॥ अनन्तगुण, आनन्द और अनुभवरूप मुझ परब्रह्म में भक्ति पानेवाले साधुको, दूसरा कौनसा फल मिलने को शेष रहता है ! ॥ ३० ॥ जैसे भगवान् अग्नि का आश्रय लेनेवाले पुरुषों के सरदी, अन्धकार और भय यह तीनो दूर होजाते हैं तिसी प्रकार साधुओं की सेवा करनेवाले पुरुषों के कर्मजड़ता, जन्ममरणरूप संसार का भय और मूलकारणरूपअज्ञान यह सब नष्ट होजाते हैं ॥ ३१ ॥ समुद्र में डूबतेहुए पुरुषों को जैसे दृढ (मजबूत) नाव ही तर-जाने का साधन है तैसेही भयङ्कर संसारसमुद्र में गोते खानेवाले (छोटी बड़ी योनियों में जन्म पानेवाले) पुरुषों को, ब्रह्मज्ञानी और शान्त साधुही परम आश्रय हैं॥३२॥ और

प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ॥ धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्य-
तोऽरणम् ॥ ३३ ॥ सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ॥ देवता बा-
न्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च ॥ ३४ ॥ वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लो-
कनिस्पृहः ॥ मुक्तसंगो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥ ३५ ॥ इतिश्रीभागवते
महापुराणे एकादशस्कन्धे ऐलगीतं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ⁂ ॥
उद्धव उवाच ॥ क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ॥ यस्मात्त्वां ये
यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥ एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृ-
णाम् ॥ नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥ निःसृतं ते
मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः ॥ पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः
॥ ३ ॥ एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च संमतम् ॥ श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशू-
द्राणां च मानद ॥ ४ ॥ एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ॥ भक्ताय चानु-

---

जैसे प्राणियों का अन्न ही जीवन है अथवा जैसे पीड़ित पुरुषों को मैं ही शरण (पीड़ा दूर करनेवाला) हूँ अथवा जैसे आचरण कराहुआ धर्म ही मनुष्यों को परलोक में धनरूप है तैसे ही संसार में पड़ने के कारण भयभीत हुए पुरुषों को सत्पुरुष ही शरणरूप हैं ॥ ३३ ॥ और साधु, अनेकों चक्षु इन्द्रियें देते हैं अर्थात् मन में वैठने योग्य सगुण निर्गुण ज्ञानों का उपदेश करते हैं, तैसे सूर्यभी नहीं देता है क्योंकि-वह उदय होनेपर केवल वाहर के एक चक्षु इन्द्रियों का ही प्रकाशक होता है, इस कारण साधु,देवताओं की समान आराधना करने योग्य, बान्धवों की समान आराधना करने योग्य, आत्मा की समान प्रीति करने योग्य तथा मुझ ईश्वर की समान (मेरी दृष्टि से) सेवन करनेयोग्य हैं ॥३४॥ इस प्रकार वह पुरूरवा राजा,उर्वशी के लोक की अथवा उर्वशी को देखनेकी भी इच्छा को त्यागकर तदनन्तर सत्सङ्गति से सकल विषयों की सङ्गति छोड़कर आत्मस्वरूप में मग्न होता हुआ अपनी इच्छानुसार जीवन्मुक्ति दशा से इस पृथ्वी पर विचरने लगा ॥ ३५ ॥ इति श्री मद्भागवत के एकादश स्कन्ध में षड्विंश अध्याय समाप्त ॥*
उद्धवजीने कहाकि-हेप्रभो ! हे भक्तपालक ! भक्तजन जिस निमित्त से जिस अधिष्ठान में जिसप्रकार तुह्मारी पूजा करतेहैं वह अपना आराधनरूप क्रियायोग(पूजाविधि)मुझसेकहो १॥ क्यों कि-मनुष्यों के कल्याणका साधन यही है,ऐसा मुनिजन वारंवार कहते हैं, नारदजी, त्रिकालके जाननेवाले, आचार्य व्यासजी,और बृहस्पतिजी का भी यही मत है॥२॥ तुम्हारे मुखारविन्द से इस विधिका उपदेश भगवान् ब्रह्माजी को मिलाथा,फिर ब्रह्माजीने वही विधि अपने भृगुआदि पुत्रों से कही और भगवान् शिवजी ने पार्वतीजी से कही ॥ ३ ॥ हे भगवन् ! तुम अपने भक्तों को बडी योग्यता को पहुँचाते हो ; चार वर्ण, चार आश्रम, स्त्री, शूद्र, इन सवों के कल्याण का समान साधन यही है, ऐसी मेरी समझ है, ॥ ४ ॥

रक्तोय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ नह्यंतोऽनंतपारस्य कर्मका-
ण्डस्य चोद्धव ॥ संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥ वैदिकस्तांत्रिको
मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ॥ त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥
॥ ७ ॥ यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ॥ यथा यजेत मां भक्त्या
श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥ अर्चायां स्थंडिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि
द्विजे ॥ द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत्स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥ पूर्वं स्नानं प्र-
कुर्वीत धौतदंतोऽगशुद्धये ॥ उभयैरपि च स्नानमन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिभिः ॥ १० ॥
संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे ॥ पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक्-
संकल्पः कर्मपावनीं ॥ ११ ॥ शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ॥
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता ॥ १२ ॥ चलाचलेति द्विविधा प्र-

हे कमलदलनयन! कर्मबन्धन से मुक्ति होनेका उपाय यही है,मैं तुम्हारा प्रेमीभक्त हूँ ; इसकारण हे देवाधिदेव! वह विधि मुझ से कहिये ॥ ५ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! कर्मकाण्ड के ग्रन्थ असंख्य हैं और अनुष्ठानों का पार नहीं है, उन का अन्त कभी मिलता ही नहीं तथापि मैं तुम से कर्मों के अनुष्ठान की रीति संक्षेप से क्रम करके अङ्गोंसहित वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥ मेरी प्रीति के निमित्त यज्ञ करने के वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र यह तीन मार्ग हैं, जिस में मंत्र और अङ्ग वेदोक्त होते हैं वह पुरुषसूक्त आदि पूजा का मार्ग वैदिक है, जिस में मंत्र और अङ्ग तन्त्रोक्त ही होते हैं वह तान्त्रिकविधि है और जिस में दोनों से कार्य होता है वह मिश्र (अष्टाक्षर मन्त्रपूजा आदि) है. इन तीनों में से जो विधि जिस को प्रिय होय, उस से ही वह मेरा पूजन करै ॥ ७ ॥ पुरुष, योग्य समय में अपने अधिकार के अनुसार वेद में कहीहुई रीति से द्विजपने को प्राप्त होकर फिर किसप्रकार भक्तिपूर्वक श्रद्धा के साथ मेरी पूजा करै सो मुझ से सुनो ॥ ८ ॥ मनुष्य, मेरे ऊपर भक्ति रखकर और परमात्मा ही मेरे गुरु हैं ऐसी भावना करके प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय वा ब्राह्मण इन में से किसी अधिष्ठान के ऊपर योग्य सामग्रियों से निष्कामभाव करके मेरी पूजा करै ॥ ९ ॥ पहिले दन्तधावन करके शरीर की शुद्धि के निमित्त वेद और तन्त्र में कहेहुए दोप्रकार के मंत्रों से मृत्तिकाग्रहण (भस्म गोवर लगाना) आदि विधि से स्नान करै ॥ १० ॥ वेद में जो सन्ध्योपासन आदि कर्म विधान कहे हैं उन का त्याग न करके, कर्मबन्धन को दूर करनेवाली मेरी पूजा करै ॥ ११ ॥ प्रतिमा-शिला की, काठ की, सुवर्ण आदि धातु की, मृत्तिका-चन्दन आदि की, चित्ररूप, बालू की, मन की (यह मानसपूजा में ही लीजाती है) और तत्वों की ऐसे आठ प्रकार की कही है ॥ १२ ॥ जिस को प्रतिष्ठा अर्थात् निवासस्थान कहते हैं वह भग-

तिष्ठा जीवमन्दिरम् ॥ उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥ १३ ॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थंडिले तु भवेद्द्वयम् ॥ स्नपनं त्वविलेप्यायाम-
न्यत्र परिमार्जनम् ॥ १४ ॥ द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ॥ भ-
क्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥ १५ ॥ स्नानालंकरणं प्रेष्ठम-
र्चायामेव तूद्धव ॥ स्थंडिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥ १६ ॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ॥ श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम
वार्यपि ॥ १७ ॥ भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ गंधो धूपः सु-
मनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥ १८ ॥ शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्द-
र्भैः कल्पितासनः । आसीनः प्रागुदग्वार्चे—दर्चायामथ संमुखः १९ कृतन्यासः कृत

वान् की मन्दिररूप प्रतिमा चलनेवाली और स्थिर ऐसे दो प्रकार की है, हे उद्धवजी ! स्थिर प्रतिमा के ऊपर पूजा करनेवालों को आवाहन और विसर्जन करने का विधान नहीं है ॥ १३ ॥ चलनेवाली (एक स्थानपर ही स्थापन न करीहुई) प्रतिमा के ऊपर आवाहन और विसर्जन करे चाहें न करै ऐसा विकल्प है, (शालग्राम का आवाहन विसर्जन न करै अन्यत्र कहीं करते हैं कहीं नहीं), स्थण्डिल पर पूजन करना होय तो आवाहन और विसर्जन दोनों करै; प्रतिमा मट्टी की, चन्दन की वा चित्ररूप न होय तो स्नान करावे अन्यत्र (मट्टी की चन्दन की वा चित्ररूप प्रतिमा के ऊपर) केवल मार्जन ही करै ॥ १४ ॥ प्रतिमादिक में मुझे पूजा की सामग्री के जो पदार्थ अर्पण करै वह अतिउत्तम होयँ; भक्त निष्काम होय तो वह जैसे मिलें तैसे पदार्थों से मेरी आराधना करै; हृदय में पूजा करनी होय तो मनोमय सामग्री को ही इकट्ठा करै ॥ १५ ॥ हे उद्धवजी ! स्नान और अलङ्कार का तो धातु आदि की मूर्त्ति में ही उपयोग करना, पृथ्वी में पूजा करनी होय तो, अङ्गप्रधानसहित देवताओं की उन स्थानों में भिन्न २ मन्त्रों से स्थापना करै; अग्नि में पूजा करनी होय तो घृत से भीगेहुए साकल्य की आहुति देय ॥ १६ ॥ सूर्यमण्डल में पूजा करनेवालों को उपस्थान और अर्घ्य आदि सामग्री अत्यन्त श्रेष्ठ है, जल में पूजा करे तो जल आदि सामग्री ही लेय, भक्त श्रद्धा के साथ यदि थोडासा भी जल अर्पण करे तो वह मुझे अत्यन्त प्रियलगता है ॥ १७ ॥ और जिस के हृदय में भक्ति नहीं है वह, गन्ध, पुष्प, दीप, अन्न आदि बहुतसी सामग्री अर्पण करै तो भी उन से मेरी प्रसन्नता नहीं होती है, इस से अधिक और क्या कहूँ ? ॥ १८ ॥ मनुष्य, पूजा की सब सामग्री इकट्ठी करै, फिर पूर्व को अग्रभाग करेहुए कुशों का आसन बिछावे और पवित्र होकर उस आसन पर पूर्व को मुख करके वा उत्तर को मुख करके अथवा प्रतिमा स्थिर होय तो प्रतिमा के सन्मुख बैठकर पूजा करै ॥ १९ ॥ फिर विधिपूर्वक अपने शरीरपर न्यास करै, मेरी

न्यासं मदर्चां पाणिना मृजेत् ॥ कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥ २० ॥ तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ॥ प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥ २१ ॥ पाद्यार्घाचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः ॥ हृदा शीर्ष्णाऽथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ २२ ॥ पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ॥ अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥ २३ ॥ तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते संपूज्य तन्मयः ॥ आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥ २४ ॥ पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ॥ धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम ॥ २५ ॥ पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ॥ उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥ २६ ॥ सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ॥ मु-

मूर्तिपर भी मन्त्र का न्यास करै, और हाथ से निर्माल्य आदि हटाकर मूर्त्ति को पूँछकर स्वच्छ करै, भराहुआ कलश और प्रोक्षण के लिये लियाहुआ जल का पात्र, इन की गन्ध पुष्पादि सामग्री से पूजा करै ॥ २० ॥ तिस में जल से देवपूजन का स्थान, पूजा की सामग्री और अपने शरीर का प्रोक्षण करै, और तिस ही जल से एक पाद्य के निमित्त एक अर्घ्य के निमित्त और एक आचमन के निमित्त ऐसे तीन पात्र भरकर उन में तिस २ सामग्री के योग्य शास्त्र में कहेहुए पदार्थों को डाले और वह पात्र हृदय, मस्तक तथा शिखा (गायत्री के क्रम से तीन चरण) इन मंत्रों से प्रोक्षण करके पूरे गायत्री मंत्र से उन सबों का फिर अभिमन्त्रण करै ॥ २१ ॥ २२ ॥ फिर वायु और अग्नि से शुद्धहुए शरीररूप पिण्ड में की (शरीर, कोठे में की अग्नि से सूखकर आधार में की अग्नि से दग्ध होता है परन्तु ललाट में स्थित चन्द्रमण्डल में से झड़ेहुए अमृतरस से वह फिर अमृतमय होता है तिस में की) हृदय कमल में स्थित मेरी जीव कला का अर्थात् नारायणमूर्ति का ध्यान करै, उस कला का सिद्ध पुरुष ॐ कार के नादसंज्ञक अंश के परली ओर ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥ उस कला का आत्मरूप से चिन्तवन करने पर उस से जैसे दीपक प्रभा के द्वारा घर को व्याप्त करता है तैसे सर्व शरीर के व्याप्त होनेपर, उसही स्थल में (हृदयकमल में) उस की मानसिक सामग्रियोंसे पूजा करके फिर उसका प्रतिमाओं के ऊपर आवाहनपूर्वक स्थापनकरै और आवरणपूजा होनेपर पूजा का आरम्भ करै ॥ २४ ॥ पाद्य, आचमन, आर्घ्य आदि सामग्रियों की कल्पना करै, धर्मादिगुण और नौ शक्तियों से मेरा आसन कल्पना करै ॥ २५ ॥ तिसपर कर्णिका और केसर से उज्ज्वल दीखनेवाला अष्टदल कमल बनावै, और वैदिक तथा तान्त्रिक विधियों से, दोनों में कहीहुई पूजा की सिद्धि के निमित्त मेरे अर्थ सामग्री ठीक करै ॥ २६ ॥ सुदर्शन, पांचजन्य, गदा, खड्ग, वाण, धनुष, हल, और मूसल इन आठ आ-

सलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥ २७ ॥ नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ॥ महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥ २८ ॥ दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् ॥ स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान्पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः ॥ २९ ॥ चन्दनोशीरकर्पूरकुंकुमागुरुवासितैः ॥ सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥ ३० ॥ स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ॥ पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥ ३१ ॥ वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ॥ अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥ ३२ ॥ पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ॥ धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयाऽर्चकः ॥ ३३ ॥ गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ॥ संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥ ३४ ॥ अभ्यंगोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ॥ अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥ ३५ ॥ विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ॥

युधों की मूर्तियों का आठ दिशाओं में और कौस्तुभ, माला, तथा श्रीवत्स इन का वक्षःस्थल में पूजन करै ॥ २७ ॥ नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण इन पार्षदों की क्रम से आठ दिशाओं में और गरुडजी की आगे स्थापना करके पूजा करै ॥ २८ ॥ चार कोनों में दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेन, दाहिनी ओर गुरु और आठ दिशाओं में इन्द्रादि लोकपाल. यह सब अपने२ स्थान में ईश्वर की ओर को मुख करके बैठेहुए कल्पना करके अर्घ्य आदि सामग्रियों से इन की पूजा करै ॥ २९ ॥ ऐश्वर्य होय तो, प्रतिदिन, चन्दन, खस, कपूर, केसर, काली अगर आदि सामग्रियों से, सुगन्धित जल से मुझे मन्त्र पढताहुआ स्नान करावै ॥ ३० ॥ स्नान कराने के समय स्वर्णघर्म (सुवर्णघर्मं परिवेदवेनं) यह अनुवाक पढ़; महापुरुषविद्या का (जितन्ते पुण्डरीकाक्ष इत्यादि स्तोत्र का) पाठ करै; पुरुषसूक्त पढ़ै; और राजनादि (इन्द्रं नरोनेमधिताहवं ते इत्यादि) साम का गान करै ॥ ३१ ॥ वस्त्र, उपवस्त्र, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध, विलेपन इन द्रव्यों से मेरा भक्त, योग्यरीति करके प्रेम के साथ मुझे उत्तमता से भूषित करै ॥ ३२ ॥ पूजा करनेवाला श्रद्धा के साथ, माला, पाद्य, आचमनीय, गन्ध, फूल, अक्षत, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करै ॥ ३३ ॥ धन की अनुकूलता होय तो—गुड़, खीर, घी, पूरी, पुए, लड्डू, लहपसी, दही, चटनी आदि पदार्थों का नैवेद्य समर्पण करै ॥ ३४ ॥ अभ्यङ्गस्नान, अङ्ग को सुगन्धित पदार्थों का मलना, शीशा दिखाना, दन्तधावन, पञ्चामृत का अभिषेक, नानाप्रकार के भक्ष्य और भोज्य के पदार्थ, गान, नृत्य, यह सामान एकादशी समान पर्व के दिनों में अथवा प्रतिदिन करै ॥ ३५ ॥ मेखला, गर्त्त, वेदी कैसे२

अग्निमाधाय परितः समूहेत्पाणिनोदितम् ॥ ३६ ॥ परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ॥ प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ॥ ३७ ॥ तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदांबुजैः ॥ लसच्चतुर्भुजं शांतं पद्मकिंजल्कवाससम् ॥ ३८ ॥ स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवरांगदम् ॥ श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ३९ ॥ ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च ॥ प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः ॥ ४० ॥ जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चाऽवदानतः ॥ धर्मादिभ्यो यथान्यायं मंत्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥ ४१ ॥ अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ॥ मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥ ॥ ४२ ॥ दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ॥ मुखवासं सुरभिमत्ता-

हों उन की विधि शास्त्र में कही हैं तैसे ही रचेहुए कुण्ड में अग्नि की स्थापना करके प्रज्वलित अग्नि का हाथ से परिसमूह न करे ॥ ३६ ॥ तदनन्तर परिस्तरणकर चारों ओर प्रोक्षणकर विधिपूर्वक अन्वाधान करे (व्याहृतियों का जप करताहुआ अग्नि में समिधाओं की आहुति देय) अग्नि से उत्तर को होम के उपयोगी पात्र फैलाकर प्रोक्षणीपात्र में के जल से उन का प्रोक्षण करे और अग्नि में मेरा ध्यान करे ॥ ३७ ॥ तपायेहुए सुवर्ण की सी कान्ति से युक्त, और शंख, चक्र, गदा, पद्म इन आयुधों से चारों भुजा शोभायमान हैं; शान्तस्वरूप और कमल के केसर के वर्ण का वस्त्र पहिरेहुए हैं ॥ ३८ ॥ किरीट, कडे, तागडी, श्रेष्ठ बाजूबन्द, यह आभूषण अपने २ उचित स्थान पर शोभित हैं, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स है और तहां ही कौस्तुभमणि विराजमान है, कण्ठ में वनमाला धारण करे हैं ॥ ३९ ॥ ऐसा ध्यान करताहुआ पूजा की सामग्री अर्पण करके अग्नि में घी से भीगीहुई सूखी समिधाड.के; आघारहोम करके फिर 'अग्नये स्वाहा' और 'सोमाय स्वाहा' ऐसे घृत की दो आहुति देय, फिर घृत से भीगीहुई हवि की सामग्री से अष्टाक्षर मूलमंत्र को पढकर तैसे ही सोलह ऋचाओं के सूक्त से प्रत्येक ऋचा की एक २ आहुति देय; इस पूजा के क्रम से ही धर्मादि परिचारकवर्ग को भी उन के नामयुक्त मंत्र से (नाम में स्वाहा जोडकर-'धर्माय स्वाहा' इत्यादि) उन ही पदार्थों की आहुति देय और अन्त में वह बुद्धिमान् पुरुष, स्विष्टकृत हवन करे ॥ ४० ॥ ४१ ॥ फिर अग्नि में विद्यमान अन्तर्यामी पुरुष की पूजा और उस को नमस्कार करके आठ दिशाओं में पार्षदों को बलि देय, फिर पूजा के स्थान में आकर और देवता के सन्मुख बैठकर नारायणरूप ब्रह्म का ध्यान करताहुआ शक्तिअनुसार अष्टाक्षर मूलमंत्र का जप करे ॥ ४२ ॥ जप के अनन्तर आचमन देकर प्रतिमा और अग्नि में भगवान् का भोजन समाप्त हुआ ऐसा चिन्तवन करे और आसन देकर उच्छिष्टभाग विष्वक्सेन को अर्पण करे और उन्होंने मुझे आज्ञा दी ऐसी भावना

ब्रूलाद्यमर्थाद्दयेत् ॥ ४३ ॥ उपगायन्गृणन्नृत्यन्कर्माण्यभिनयन्मम मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥ ४४ ॥ स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ॥ स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥ ४५ ॥ शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ॥ प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥ ४६ ॥ इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ॥ उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिज्योतिषि तत्पुनः ॥ ४७ ॥ अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ॥ सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माऽहमवस्थितः ॥ ४८ ॥ एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विंदत्यभीप्सिताम्॥४९॥मदर्चां संप्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद्दृढम्॥पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥ ५० ॥ पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ॥ क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥ ५१ ॥ प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना

करके स्वयं भोजन करै. फिर सुगन्धयुक्त ताम्बूल आदि मुखवास के निमित्त देकर पुष्पाञ्जलि चढावे ॥ ४३ ॥ फिर मेरी लीला गावै, उन का कीर्तन करै, नृत्य करताहुआ मेरे चरित्रों को अभिनय करै, मेरी कथा लोकों को सुनावै और आप सुनै तथा मुहूर्त्तभर को-व्यग्रता छोडकर स्वस्थ होय ॥ ४४ ॥ छोटेबडे पुराणों में के स्तोत्र और देषभाषा की स्तुतियें पढकर मेरी स्तुति करै और 'हे भगवन् प्रसन्न हूजिये' ऐसा कहकर दण्डवत् प्रणाम करै ॥ ४५ ॥ मेरे चरण पर मस्तक रखकर 'रक्षा करो' ऐसी प्रार्थना करै, दोनों हाथों से, बायें हाथ में बायां और दाहिने हाथ में दायां ऐसे मेरे चरण पकडे और हे ईश्वर! पिशाच की समान भयङ्कर तथा समुद्र की समान दुस्तर मृत्युपाश से डरकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, इस ही प्रार्थना के मंत्र से मेरी दीहुई प्रसादरूपमाला को आदर के साथ मस्तक पर धारण करै और विसर्जन करना होय तो प्रतिमा में न्यास करीहुई ज्योति फिर, हृदयकमल में की ज्योति में जामिली ऐसी भावना करै, यही विसर्जन है ॥४६॥ ४७ ॥ मनुष्य की जिस समय जिस अधिष्ठानके ऊपर श्रद्धा होय उस मूर्त्ति आदि में ही वह मेरी पूजा करै, मेरे सर्वात्मा होने के कारण सकलप्राणियों में और अपने स्वरूपमें भी रहता हूँ॥ ४८ ॥जोपुरुष,वेद और तन्त्र में कहीहुई इन पूजा की विधियों से मेरी आराधना करता है उस को मुझ से इस लोक में और परलोक में इच्छित सिद्धि प्राप्तहोती है॥४९॥ मेरी प्रतिमा की स्थापना करके उस के निमित्त पक्का मन्दिर बनवावे, रमणीय फुलवाडी लगवावे, नित्यपूजा, विशेष पर्व के दिन बडी भारी यात्रा, बसन्त आदि उत्सव इन के चलने के आश्रय के निमित्त खेत, बाजार, नगर, और गांव दान देय (इनकी आमदनी से उत्सवों का निर्वाह होय ऐसा प्रबन्ध करदेय) ऐसा करनेवाले पुरुष को मेरी समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ ५० ॥ ५१ ॥ मूर्त्ति की स्थापना करने से चक्रवर्त्ती पद मिलता

भुवनत्रयम् ॥ पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥ ५२ ॥ मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥ यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ॥ वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५४ ॥ कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ॥ कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥ ५५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ॥ विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥ परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ॥ स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ ॥ २ ॥ तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ॥ मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥ ३ ॥ किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् वाचो

है, मन्दिर बनवाने से त्रिलोकी का राज्य मिलता है, पूजा आदि के द्वारा ब्रह्मलोक मिलता है और यह तीनों करनेवाला पुरुष तो मेरी समान होता है ॥ ५२ ॥ निष्काम भक्ति योगसे पुरुष मुझ को ही प्राप्त होता है,जो ऐसे मेरी आराधना करता है उस की मुझ में अखण्ड भक्ति होती है ॥ ५३ ॥ जो मनुष्य, अपनी दी हुई वा दूसरे की दी हुई देवता की वा ब्राह्मण की वृत्ति को हरता है वह लाखो वर्ष पर्यन्त विष्ठा भक्षण करनेवाला कीड़ा होकर नरक में बिल बिलाता फिरता है ॥ ५४ ॥ करनेवाला, सहायक उत्तेजना देने वाला, अनुमोदन करनेवाला, इन चारों कोही परलोक में तिसकर्म का फल भोगना पड़ता है, क्योंकि–वह उस कर्म के भागी हैं, सहायता आदि कर्म जैसी २ अधिक योग्यता का होगा तैसे २ फल भी अधिक २ मिलेगा ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में सप्तविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्री भगवान् ने कहा कि–हे उद्धवजी ! मनुष्य, समस्त विश्व, प्रकृति पुरुषों से अभिन्न है ऐसी दृष्टि रक्खे, और दूसरों के स्वभावों की तथा कार्यों की प्रशंसा वा निन्दा न करै ॥ १ ॥ जो पुरुष, दूसरों के स्वभावों की और कार्यों की प्रशंसा वा निन्दा करता है, वह मिथ्याभूत द्वैतपर अभिमान रखने के कारण तत्काल स्वर्ग से भ्रष्ट होजाता है ॥ २ ॥ राजस अहङ्कार का कार्य जो इन्द्रियों का समूह उस के निद्रा से व्याप्त होनेपर शरीर पिण्ड में स्थित जीव, केवल मन के द्वारा स्वप्नरूप माया में घूमता रहता है, फिर उस मन के भी लीन होजाने पर चेतना नष्ट होकर वह मृत्यु अथवा मृत्यु की समान सुषुप्ति दशा को पाता है; तैसे ही द्वैत के अभिमानी पुरुष को विक्षेप और लय प्राप्त होते हैं अर्थात् जैसे सुषुप्ति के अभिमानी प्राज्ञ का सम्पर्क होते ही, जाग्रत् का अभिमानी विश्व के भोग का क्षयरूप भ्रंश पाता है तैसे ही अनात्मा के सम्पर्क से आत्मा अपने स्वरूप से डिगजाता है ॥ ३ ॥ पहिले तो स्तुति वा निन्दा

दितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥४॥ छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ॥ एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥ आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ॥ त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ ६ ॥ तस्मान्नह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ॥ निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि ॥ इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥७॥ एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् । न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥८॥ प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ॥ आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसंगो विचरेदिह ॥९॥ उद्धव उवाच ॥ नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ॥ अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥ आत्माऽव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ॥

का विषय पदार्थ ही नहीं है, क्योंकि—द्वैत यदि मिथ्या है तो उस में उत्तम क्या ! और बुरा क्या ! वा कितना है ?, जो वाणी से कहा अथवा नेत्रादि इन्द्रियों से देखा, सुना वा चाखा अथवा मन से विचारा वह सब मिथ्या ही है ॥ ४ ॥ प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, और सीपी में चाँदी की भ्रान्ति यह मिथ्या हैं, ठीक है परन्तु भय कम्प आदि अनर्थ के कारण होते हैं, तैसे ही देह आदि मिथ्या पदार्थ भी मृत्यु पर्यन्त छोटे बड़े सब प्रकार के भय उत्पन्न करते हैं (अथवा देहादि लीन होनेपर्यन्त दुःख देते हैं) ॥ ५ ॥ यह समस्त विश्व आत्मा ही है, उत्पन्न होनेवाला और उत्पन्न करनेवाला दोनों ब्रह्म ही है, उस में सबप्रकार के रूप धारण करने की शक्ति है, रक्षा करनेयोग्य वही है और रक्षा करनेवाला भी वही है; वही विश्वात्मा ईश्वर संहार कियाजाता है और वही संहार करता है ॥ ६ ॥ इसप्रकार श्रुतियों ने आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ कहा है ऐसा नहीं है किंतु आत्मा ही रचीजानेवाली वस्तु भिन्न है; देह, इन्द्रियें और अन्तःकरण यह निरूपण करीहुई तीनप्रकार की प्रतीति तिस आत्मा में निर्मूल है, यह त्रिगुणमयी त्रयी माया की रचीहुई है ऐसा समझो ॥ ७ ॥ मेरा कहाहुआ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ज्ञान जिस ने पूर्ण रीति से समझलिया है वह पुरुष, किसी की प्रशंसा वा निन्दा नहीं करता है किन्तु सूर्य की समान उदासीन (प्रिय-अप्रियरहित) होकर विचरता है ॥ ८ ॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और अपना अनुभव इन चार प्रमाणों से, जितना द्वैत है वह सब उत्पत्तिनाशयुक्त अर्थात् मिथ्या है, ऐसा निश्चय करै और सब आसक्तियों को छोडकर भूतलपर फिरता रहै ॥ ९ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे ईश्वर ! आत्मा तो द्रष्टा चेतन है इसकारण उस को संसार नहीं है और देह तो दृश्य जड है इसकारण उस को संसार नहीं है, परन्तु वह अनुभव में तो आता है अर्थात् दोनों में से एक को तो होना चाहिये, सो किस को है ॥ १० ॥ आत्मा तो नाशादिरहित है, उस के रागद्वेष आदि गुण नहीं हैं, पुण्यपाप आदि

अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यावद्देहे-
न्द्रियप्राणैरात्मनः संनिकर्षणम् ॥ संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥
॥ १२ ॥ अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ॥ ध्यायतो विषयानस्य स्व-
प्नेऽनर्थागमो यथा ॥ १३ ॥ यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ॥ स एव
प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ १४ ॥ शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहा-
दयः ॥ अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥ १५ ॥ देहेंद्रियप्राणमनो-
भिमानो जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ॥ सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार
आधावति कालतंत्रः ॥ १६ ॥ अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं मनोवचःप्राणशरीर-
कर्म ॥ ज्ञानासिनोपासनया शितेन च्छित्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥ १७ ॥

दोष भी नहीं हैं, वह स्वयं प्रकाश अर्थात् अज्ञानरहित है और उस को किसी ने आच्छादन नहीं करा है अर्थात् उस के स्वरूप की सीमा नहीं है; इस गुण से उस को अग्नि की उपमा देने पर बहुत से अंशों में ठीक बैठता है और देह तो काठ की समान जड है फिर जगत् में संसार किस को है ॥ ११ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—जबतक आत्मा का देह, इन्द्रियें और प्राणों से सम्बन्ध है तबतक, अविवेकी पुरुष को, संसार मिथ्या होने पर भी फलद्रूप होता है (अनुभव में आता है) ॥ १२ ॥ देखो—स्वप्न मिथ्या होता है यह सिद्ध है तथापि उस में दीखनेवाली भयदायक वस्तुओं के देखने से स्वप्न देखनेवाले को भय होता है, तब वह उचक उठता है तैसे ही संसार वास्तव में सत्य न होने पर भी जबतक मनुष्य विषयों का ध्यान करता है तबतक दूर नहीं होता है ॥ १३ ॥ जब तक मनुष्य जागता नहीं है तबतक ही स्वप्न उस को अनेकप्रकार से अनर्थकारक होता है, वही जागा कि फिर स्वप्न उस को मोहित नहीं करसक्ता है तैसे ही ज्ञानवान् को संसार में के अनर्थों से मोह नहीं होता है ॥ १४ ॥ शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, इच्छा आदि तथा जन्म और मृत्यु, यह अहङ्कार के धर्म दीखते हैं, आत्मा के नहीं हैं ॥ १५ ॥ देहादि के ऊपर अभिमान रखनेवाला, उन के भीतर रहनेवाला और गुणकर्ममय मूर्त्ति धारण करनेवाला (लिङ्गशरीर) आत्मा जो जीव वह, कालरूप परमेश्वर के अधीन होकर उन के वर्त्ताव कराने के अनुसार संसार में इधर से उधर को दौड़ता है उस के ही सूत्रात्मा, महान् ऐसे अनेक नाम हैं ॥ १६ ॥ मन, वाणी, प्राण, शरीर कर्म (अहङ्कार) यह समूह वास्तव में मूलरहित है परन्तु अज्ञान के कारण देवादि नानाप्रकार के स्वरूपों से प्रकाशित होरहा है. मुनि उपासना के द्वारा ज्ञानरूप खड्ग को तीखी करके उस खड्गसे ऊपर कहेहुए समूह का छेदनकरता है और निरीहपने से पृथ्वी पर विचरता रहता है ॥ १७ ॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ॥ आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥ १८ ॥ यथा हिरण्यं सुकृतं पुरस्तात्प-श्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ॥ तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥ १९ ॥ विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ॥ समन्वयेन व्यतिरेकतश्च येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥ २० ॥ न यत्पुरस्तादुत यन्न प-श्चान्मध्ये च तत्तद्व्यपदेशमात्रम् ॥ भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्य-त्तदेव तत्स्या-

ज्ञान का स्वरूप विवेक ही है, और वह वेद, अपने धर्म का अनुष्ठान, अपना अनुभव, गुरु का उपदेश और तर्क इन साधनों से होता है; इस जगत् की उत्पत्ति से पहिले और प्रलय के अनन्तर जो होता है वही एक आत्मस्वरूप जगत् की विद्यमान दशा में भी होना चाहिये वही जगत् का प्रकाशक और सब का हेतु है ऐसा निश्चय ही ज्ञान का फल है ॥ १८ ॥ जैसे सुन्दर गहने बनाने से पहिले सुवर्ण सब गहनों के आदि में और टूटकर गलने के अन्त में एकसमान ही होता है मध्य में ही उस में कडे कुण्डल आदि अनेकों नामों के व्यवहार होते हैं, परन्तु वह आदि मध्य और अन्त में सुवर्ण ही सत्य है तैसे ही मैं (आत्मा) जगत् के आदि मध्य अन्त में होता हूँ अर्थात् विद्यमानरूप पृथक् नहीं है ॥ १९ ॥ ऐसे कार्य का कारणरूप होना कहकर अब प्रकाश्य का प्रकाशकरूप होना कहते हैं—हे उद्धवजी ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंवाला विज्ञान (मन), उन तीन अवस्थाओं के कारण तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) तथा कारण (अध्यात्म) कार्य (अधिभूत) और कर्त्ता (अधिदैव) यह समूह मिलकर गुणों का कार्य सकल तीनप्रकार का जगत, तीनों अवस्थाओं से पर सामान्य ज्ञान की सत्ता से प्रकाशित है अर्थात् तुरीयज्ञान के सर्वत्र अनुस्यूत (पुराहुआ) होने से विश्वप्रकाशित है, इस विषय में श्रुतियों के बहुत से प्रमाण हैं -' तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ' अर्थात् वह परमात्मा (ज्ञान) प्रकाशवान् है, उस के प्रकाश करके सब प्रकाशित होरहा, दूसरी श्रुति कहती है-' चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोये मनो विदुः, अर्थात्—वह (ज्ञानरूप परमात्मा) नेत्र का नेत्र, कर्ण का कर्ण, और मन का मन है ऐसा ज्ञानी मानते हैं यह ज्ञान का सब कार्य मात्र में अन्वय कहा, तैसे ही उस का व्यतिरेक भी है, देखो—समाधि दशा में सब जगत् न होने परभी ज्ञान की सत्ता से अनुभव में आता है; इस प्रकार सर्वत्र सब काल में जिस की सत्ता सिद्ध हुई वही ज्ञान सत्य है ॥ २० ॥ जो (विश्व) उत्पत्ति से पहिले नहीं था और प्रलय होने पर भी नहीं था, केवल मध्य में ही नाम का आधार होकर रहता है, पहिले जिसकी उत्पत्ति दूसरे से ही हुई और प्रकाश भी दूसरे से ही हुआ ऐसा वह विश्व अपने कारण का और प्रकाशक का ही रूपान्तर होना चाहिये, तिस से जुदा नहीं, ऐसा मेरी बुद्धि को

दिति मे मनीषा ॥ २१ ॥ अविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः ॥ ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रं २२॥ एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः परापवादेन विशारदेन ॥ छित्त्वात्मसंदेहमुपारमेत स्वानंदतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥ २३ ॥ नात्मा वपुः पार्थिवमिंद्रियाणि देवा ह्यसुर्वायुर्जलं हुताशः ॥ मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वमहंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यं ॥ २४ ॥ समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिर्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ॥ विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किं ॥२५॥ यथा नभो वाय्वनलांबुभूगुणैर्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ॥ तथाऽक्षरं सत्त्वरज-

को प्रतीत होता है, घड़े सकोरे भिन्न २ कितने ही आकार हुए, परन्तु उन नामों का आधार मृत्ति का ही सब का सत्य (ठीक) रूप है तैसे ही जगत् अपने कारणरूप ज्ञान से पृथक् नहीं है ॥ २१ ॥ यह जो विकारों का समूह प्रपञ्च, जो पाहिले नहीं था और फिर भासनेलगा है, यह रजोगुण के द्वारा ब्रह्म का कार्य है (इस का प्रकाश ब्रह्म की सत्ता से है) ब्रह्म ही स्वयं सिद्ध है, वह किसी का कार्य नहीं है, वह ज्योतिःस्वरूप अर्थात् प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियें, इन्द्रियों, के विषय, मन और पाँच स्थूल भूत इन चित्रविचित्र रूपों से प्रतीति में आता है॥२२॥ इसप्रकार वेद, सदाचार, अनुभव, उपदेश और अनुमान इन ब्रह्मज्ञान के स्पष्ट साधनभूत प्रमाणों से देह में आत्मभाव की प्रतीत को पूर्णरूप से दूर करे, आत्मा के विषय के संशय को तोड़डाले और स्वरूप के आनन्द से ही सन्तुष्ट होकर, सकल इच्छाओं से भरीहुई इन्द्रियों के सङ्ग से अलग रहै ॥२३॥ शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि—वह घडे की समान पृथ्वी का कार्य है; तैसे ही इन्द्रियें, इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवता, प्राण, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार यह आत्मा नहीं हैं, क्योंकि—यह शरीर की समान ही अन्न के आश्रित वा पोष्य हैं, वायु, जल, तेज, आकाश और पृथ्वी, यह पाँच स्थूलभूत, शब्दादिविषय (सूक्ष्मभूत) और तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् प्रकृति यह भी घट की समान जड़ हैं अर्थात् आत्मा नहीं हैं ॥२४॥ इस रीति से जिस को मेरे स्वरूप का उत्तम विवेक होगया है उस की गुणमय इन्द्रियें, सावधान रहैं तो उस से कुछ विशेष लाभ है ऐसा नहीं है और वह विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होयँ तो उन से कोई दोष हो ऐसा भी नहीं है; घनघटा आई तो क्या और चली गई तो क्या, उन के गुणदोष सूर्य को किञ्चिन्मात्र भी नहीं लगते हैं तैसे ही इन्द्रियों की सावधानता (विषयों से बचे रहना) का और चंचलता का प्रकार जानना ॥२५॥ जैसे वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन के क्रम से सुखाना, जलाना, गीला करना और मैला करना इन गुणों का तथा ऋतुओं के कुछ कालपर्यन्त आकर चलेजानेवाले सरदी गरमी आदि धर्मों का स-

स्तैमोमलैरहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥ २६ ॥ तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ॥ मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्रजो निरस्येत मनः-
कषायः ॥ २७ ॥ यथाऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां पुनः पुनः संतुदति प-
रोहन् ॥ एवं मनोऽपक्वकषायकर्म कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥ २८ ॥ कु
योगिनो ये विहितान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ॥ ते प्राक्तनाभ्यासबलेन
भूयो युंजन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥ २९ ॥ करोति कर्म क्रियते च जंतुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ॥ न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोपि निवृत्त-
तृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥ ३० ॥ तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजंतं शयानमुक्षन्तमदन्तम-
न्नम् ॥ स्वभावमन्यत्किमपीहमानमात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ ३१ ॥ यदि

म्बन्ध आकाश को नहीं होता है तैसे ही अहङ्कार से पर अविनाशी परब्रह्म, संसार के कारण सत्त्व, रज और तम इन गुणों के दोषों से लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥ जबतक पूरा २ ज्ञान न हो तबतक पुरुष, मुक्त की समान अपनी इच्छानुकूल वर्त्ताव न करे, यह वर्णन करते हैं—ब्रह्मरूप अलिप्त है यह ठीक है तथापि जबतक मन को बिगाडनेवाली विषयासक्ति, मेरे विषैं करेहुए पक्के भक्तियोग से दूर न होय तबतक माया के कल्पना करेहुए विषयों से सम्बन्ध रखना वर्जित है ॥ २७ ॥ क्योंकि— जैसे रोग की भली प्रकार चिकित्सा न करीजाय तो वह बार २ बढ़कर मनुष्य को पीड़ा देता है तैसे ही जिस के रागद्वेषादिमल और उन मलों की जड़रूप कर्म भस्म नहीं हुए हैं वह मन, स्त्री पुरुष आदि सब विषयों पर आसक्त होकर कच्चे ज्ञानी तिसयोगी को भ्रष्ट करदेता है ॥ २८ ॥ बन्धु शिष्य आदिरूप देवताओं के प्रेरणा करेहुए विघ्नों के आजाने से जो योगभ्रष्ट होजाते हैं वह जन्मान्तर में करेहुए अपने पूर्व अभ्यास के बल से फिर योग का ही अभ्यास करने लगते हैं, कर्मकाण्ड का फैलाव करतेहुए नहीं बैठे रहते हैं । २९ । ज्ञानवान् से भी सर्वथा कर्म नहीं छूटसक्ता यह ठीक है परन्तु उस को फिर संसार में नहीं पड़ना पड़ता है, देखो—यह प्राणी किसी पुरातन संस्कार की प्रेरणा से मरण पर्यन्त कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है और उस से उसे पुष्टि दुर्बलता आदि विकार भी प्राप्त होते हैं, परन्तु विद्वान पुरुष देह में रहता हुआ भी उस कर्म के कारण विकार नहीं पाता है, क्योंकि—आत्मसुख का अनुभव मिलने के कारण उस की सब इच्छा नष्ट भी होजाती हैं और उस को अहङ्कार नहीं होता है इसकारण ही उस को हर्षशोक आदि से प्रकट होनेवाला संसार नहीं भोगना पड़ता है ॥ ३० ॥ जिस की बुद्धि आत्मस्वरूप में जड़ीहुई है उस पुरुष का देह खड़ारहो, चलो, सोवो, मूत्र करो, अन्नखाओ, अथवा स्वभाव से ही प्राप्त हुए दर्शन श्रवण आदि कोई भी कर्म करो वह उस शरीर की किसी वार्त्ता का

स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानाऽनुमानेन विरुद्धमन्यत् ॥ न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ ३२ ॥ पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्रमज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ॥ निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ ३३ ॥ यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यान्न तु सद्विधत्ते ॥ एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥ ॥ ३४ ॥ एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिःसकलानुभूतिः ॥ एकोऽद्वितीयो

ध्यान नहीं रखता है ॥ ३१ ॥ यदि कदाचित् बहिर्मुख हुई इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध हुआ देखने में आवे तो, वह विद्वान् पुरुष, स्वप्न के दृष्टान्त से 'जितने भी पदार्थ अनेक हैं वह सब मिथ्या हैं' ऐसे अनुमान करके आत्मा के सिवाय किसी भी पदार्थ को सत्य नहीं मानता है, क्योंकि—उस को पूरा २ ज्ञात (मालूम) होता है कि—मनुष्य स्वप्न देखकर उठे तो उस को स्वप्न में देखेहुए पदार्थ संस्कार के कारण फिर सन्मुख भासते हैं परंतु वह अपने आप लुप्त होजाते हैं, यही विश्व में के सकल विषयों की दशा है, जैसे जागने की दशा में भासनेवाले स्वप्न में देखेहुए पदार्थ मिथ्या हैं तैसे ही सब इन्द्रियों के विषय क्षणिक और मिथ्या हैं ॥ ३२ ॥ इसप्रकार आत्मा को विकार नहीं है ऐसा कहा, परंतु इसपर एक शङ्का उठती है कि—इसप्रकार आत्मा के बद्धावस्था में मलिन होने के कारण हेय (त्यागने योग्य) होने से और मोक्षदशा में शुद्ध होने के कारण उपादेय (ग्रहण करने योग्य) होने से, आत्मा को विकार नहीं है ऐसा कहना नहीं बनेगा, देखो धानों को कूटकर उन को धानरूप से त्यागा और तण्डुल (चावल) रूप से ग्रहण करा तो उन में कुछ विकार नहीं आया ऐसा कहना नहीं बनसक्ता, इसशङ्का का समाधान करते हैं कि—हे उद्धवजी ! गुणों से और कर्मों से चित्रविचित्र दीखने में आनेवाले जो देह इन्द्रियादिरूप अज्ञान के कार्य आत्मा के ऊपर मानेहुए होते हैं उन का ही पहिले अर्थात् बद्धदशा में ग्रहण करा था और ज्ञान के द्वारा मुक्तावस्था में उस अज्ञान का त्यागकरा; आत्मा का तो किसी अवस्था में भी ग्रहण वा त्याग नहीं कियाजाता है; यदि मुक्ति किसी क्रिया का अथवा व्यापार का फल होती तो आत्मा में विकार आसक्ता था, परन्तु मुक्ति का स्वरूप इतना ही है कि-आत्मा के ऊपर आरोपण करेहुए अज्ञानमात्र की निवृत्ति, अर्थात् बन्ध वा मोक्ष आत्मा को कभी नहीं लगता है इस कारण ही उस को विकार नहीं है ॥ ३३ ॥ जैसे सूर्य का उदय, मनुष्यों के नेत्रों पर के अन्धकार को दूर करता है, ऐसा मानते हैं घटादि दृश्य पदार्थों को नवीन उत्पन्न करता है ऐसा अर्थ नहीं है तैसे ही मेरा पूर्ण शुद्ध ज्ञान पुरुष की बुद्धि के ऊपर के पटल(अज्ञानरूप ढक्कन) को दूर करदेता है ॥ ३४ ॥ यह प्रत्यक्ष अनुभव से नित्यप्राप्त आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् उस में अज्ञानरूप मल को दूर करना, यह विकार नहीं है, वह जन्मरहित, प्रमाणों का अविषय और परमसमर्थ अर्थात् देश काल आदि की करीहुई

वचसां विरामे येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ ३५ ॥ एतावानात्मसंमोहो यद्वि
कल्पस्तु केवले ॥ आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलंबो न यस्य हि ॥ ३६॥ यन्ना-
माकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ॥ व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनां
॥ ३७ ॥ योगिनोऽपक्वयोगस्य युंजतः काय उत्थितैः ॥ उपसर्गैर्विहन्येत तत्र
त्रायं विहितो विधिः ॥३८॥ योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ॥

मर्यादा से रहित है तात्पर्य यह कि–उस में उत्पन्न होना, बढ़ना, पकना, क्षीणता और नाश यह विकार नहीं हैं, वह सब का अनुभवरूप है, जब उस से भिन्न दूसरा कोई कारण होय तब उस में विकार उत्पन्न होय, परन्तु उस से भिन्न कुछ है ही नहीं, वह एक है, सब इन्द्रियें उस के स्वरूप में प्रविष्ट न होकर पीछे को लौट आती हैं और उस से प्रेरित होने के कारण इन्द्रियें और प्राण अपने २ विषयों को ग्रहण कर सक्ते हैं ३५ भेदरहित आत्मस्वरूप में विकल्प मानना, यह सब मन का भ्रम है, क्योंकि–आत्मा से भिन्न उस विकल्प का कोई आश्रय है ही नहीं, उदाहरण देखो–सीपी में चाँदी का भ्रम होता है परन्तु उस भ्रम का आधार सीपी से दूसरा नहीं होता है, अर्थात् सीपी में माना जाने वाला रजत सत्य नहीं तैसे ही आत्मा में मानाहुआ विकल्प सत्य नहीं है ॥ ३६॥ कोई २ ऐसा कहते हैं कि–प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीति में आनेवाला प्रपञ्च मिथ्या नहीं है और वेदान्त के वचन यज्ञ के अर्थ के और यज्ञकर्त्ता का वर्णन करनेवाले अर्थवादरूप हैं, इसकारण द्वैत ही सत्य है,इस मन का आशय कहकर तिस का खण्डन करते हैं कि–द्वैत, नामों से और आकारों से युक्त तथा पञ्चमहाभूतरूप है, ऐसे द्वैतरूप प्रपञ्च का बाध नहीं होता है किन्तु प्रपञ्च सत्य है, ऐसा कहनेवाले कितने ही अपने को पण्डित मानने वाले पुरुष कहते हैं उन को वेदान्त के वचन अर्थवादपर (कर्मकाण्ड की स्तुति करनेवाले) प्रतीत होते हैं, परन्तु उस प्रतीत होने का कुछ भी आधार नहीं है, देखो 'तत्त्वमसि' ऐसे वचनों की 'अग्निहोत्रं जुहोति' अथवा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से एकवाक्यता नहीं की जासक्ती, यदि ऐसा होसक्ता तो उन वेदान्तवचनों को अर्थवाद कहसक्ते थे । और आत्मा अकर्त्ता तथा अभोक्ता है ऐसा वर्णन करनेवाले वचन कर्मविधि के अङ्ग भी नहीं होसक्ते, फिर द्वैत की सत्यता कहाँ सिद्ध होती है ? अर्थात् नहीं होती; द्वैत नाम रूपों वाला और इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य तथा पञ्चमहाभूत रूप है, अतः वह स्वप्न की समान मिथ्या है ऐसे अनुमानों से और 'वाचारम्भणम्' ऐसी श्रुतियों से उस प्रपञ्च का बाध होना निश्चय करा है ॥ ३७ ॥ जिस का योगाभ्यास पूरा नहीं हुआ है ऐसे किसी योगी के शरीर को, योग साधन करते हुए मध्य में ही रोगादि उत्पन्न होकर उस से पीड़ा होनेलगे तो उस के उपाय की यह विधि वर्णन करी है कि– ॥ ३८॥ कितने ही रोगों का योगधारणा से नाश करे, (सन्ताप

तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान्विनिर्दहेत् ॥ ३९ ॥ कांश्चिन्ममानुध्यानेन नाम-
संकीर्तनादिभिः ॥ योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान् शनैः ॥ ४० ॥ केचि-
द्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ॥ विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति
सिद्धये ॥ ४१ ॥ नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ॥ अन्तवत्त्वाच्छ-
रीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥ ४२ ॥ योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ॥ तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥ ४३ ॥ योगचर्या-
मिमां योगी विचरन्मदपाश्रयः ॥ नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः
॥४४॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥७॥
उद्धव उवाच ॥ सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः ॥ यथाऽञ्जसा पुं-

शीत आदि की पीड़ा होनेलगे तो क्रम से सोम की और सूर्य की धारणा करके उन का नाश करे), कितने ही (वातआदि) रोगों को, आसन साधकर और वायु को धारण करके नाश करे पापग्रह सर्प आदि की पीडा होनेलगे तो तप, मंत्र औषधि के द्वारा उन को दूर करे ।३९। किन्ही (कामादि) रोगों का निरन्तर मेरे ध्यान से और नामसङ्कीर्त्तन आदि करके संहार करे; और दम्भ, मान आदि अमङ्गलकारी शत्रुओं का, योगेश्वरों (गुरुओं) की सेवा करके नाश करे ॥ ४० ॥ कितने ही धैर्यवान् पुरुष, इन से तथा दूसरे भी अनेकों उपायों से अपने शरीर को जरारोग आदि रहित और नित्य युवाअवस्था में रहनेवाला बनाकर फिर अतुलनीय शक्तिवाला होना, दूसरे के शरीर में प्रवेश करना ऐसी नानाप्रकार की सिद्धियों के निमित्त जुदी २ धारणा करते हैं, ज्ञाननिष्ठा के निमित्त योगाभ्यास नहीं करते हैं ॥ ४१ ॥ परन्तु वह मार्ग चतुर पुरुषों के स्वीकार करनेयोग्य नहीं है, सिद्धि के निमित्त परिश्रम करना निरर्थक है, क्योंकि–वनस्पति के फल की समान शरीर नाशवान् है, केवल आत्मा ही नित्य है ॥ ४२ ॥ कभी कभी समाधि के अङ्ग, नित्य प्राणायाम आदि योग का साधन करते रहने पर शरीर जरारोग आदि रहित होयगा, यह ठीक है परन्तु जिसकी मुझ में निष्ठा है वह बुद्धिमान् उस देहपर विश्वास न रक्खै और समाधियोग को न छोड़े ॥४३॥ जो योगी मेरा आश्रय करके ऐसा योगाभ्यास करता रहेगा उस को कभी भी विघ्नों से पीड़ा नहीं होयगी, क्यों कि–सब विघ्नों की मूल इच्छा है, मेरी ओर को ध्यान हुआ कि–वह सब छूटजाती हैं और उस को आत्मसुख का अनुभव मिलता है ॥ ४४ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अष्टाविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ उद्धवजी ने कहाकि–हे अच्युत ! जिस ने अपने चित्त को नहीं जीता है उन पुरुषों के हाथ से यह योगसाधन होना मुझे अत्यन्त

मान् सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाऽच्युत ॥१॥ प्रायशः पुंडरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः ॥ विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २ ॥ अथात आनन्ददुघं पदांबुजं हंसाः श्रयेरन्नरविंदलोचन ॥ सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभिस्त्वन्माययाऽमी विहता न मानिनः ॥ किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वं ॥ योरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥ तं त्वाऽखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु ॥ को वा भजेत्किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥ नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषाऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ॥ योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्ना-

दुर्घट प्रतीत होता है इसकारण पुरुष को जैसे अनायास में सिद्धि प्राप्तहोय वह रीति मुझ से कहिये ॥ १ ॥ हे कमलनयन ! प्रायः मन को वश में करने के निमित्त योगीजन मनोनिग्रह करने में अत्यन्त ही उद्योग करते हैं तथापि वह वश में नहीं होता तब थककर विषाद को प्राप्त होते हैं ॥२॥अतएव हे कमललोचन ! सार असार का विचार करने में जो पुरुष चतुर हैं, वह सकल आनन्द देनेवाले तुम्हारे चरणकमल की ही सुख से सेवा करते हैं, योगाभ्यास के कारण और कर्माचरण के कारण से अभिमानी होकर जो तुम्हारे चरण का आश्रय नहीं करते हैं उन को ही तुम्हारी माया मोहित करती है ॥ ३ ॥ हे अच्युत ! तुम सबों के अन्तर्यामी और हितकर्त्ता हो, जिनके चरण रखने के आसनपर ब्रह्मादि देवताओं के सुन्दर मुकुटों के अग्रभाग घिसेजाते हैं (जिन के आगे ब्रह्मादि देवता मस्तक नमाते हैं) ऐसे तुमने रामावतार में वानरों के भी साथ मित्रता करीथी फिर जो अनन्यभाव से शरण आये उन नन्द गोपी बल आदि सेवकों के तुम आधीन होकर रहे और उन के सकल कार्य सिद्ध करे, इस में आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ४ ॥ तुम सकल जगत् के प्रवर्त्तक अन्तर्यामी अर्थात् अत्यन्तप्रिय और ईश्वर अर्थात् सेवा करनेयोग्य हो और तुम आश्रितों को सकल इच्छित फल देते हो, फिर जिस को, ऐसे अन्तर्यामी रहकर करेहुए तुम्हारे उपकारों का ज्ञान (खबर) है, ऐसा कौनसा पुरुष, भला तुम्हारी सेवा करना छोड़देगा ? वह भी,तुम्हारी भक्ति, फल पाने की आशा से करै,ऐसा अर्थ नहीं है तुम्हारे विना स्वर्गादि कोईसाभी फल मिले तो वह केवल इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाला और परिणाममें तुम्हें विस्मरण करादेनेवाला(भुलादेनेवाला)होता है;ऐसे अनर्थकारी फलके निमित्त तुम्हारी सेवा करने में कौन प्रवृत्त होयगा?इस के सिवाय,जिन्हों ने तुम्हारे चरणकी धूलिकी सेवा प्रारम्भकरीहै ऐसे हमें न मिले ऐसा कौन पदार्थ है? जो इच्छा होयगी वह फल अपनेआप प्राप्त होजायगा ॥५॥ हे ईश्वर ! तुम प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामीरूप से और बाहर श्रेष्ठ गुरुरूप से रह-

चार्यचैतत्पत्पुषा स्वगतिं व्यक्ति ॥ ६ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ॥ गृहीतशक्तित्रय ईश्वरेश्वरो जगाद सप्रेमगमनोहरस्मितः ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमंगलान् ॥ यान् श्रद्धया चरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥ कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन ॥ मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥ देशान्पुण्यान् संश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ॥ देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥ पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ॥ कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥ मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ॥ ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥ १२ ॥

कर विषयवासनारूपी अमङ्गल को दूर करते हो और उन को अपने स्वरूप का दर्शन देते हो, ब्रह्मज्ञानी पुरुष इस तुम्हारे उपकार को स्मरण करते हैं और परमानन्द से भरपूर रहते हैं, ऐसे ब्रह्मज्ञानी भी तुम्हारे उपकारों का पलटा कभी नहीं चुका सक्ते (वह केवल तुम्हारे उपकारों का नित्य ही स्मरण करते हैं) ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—जिन के मन में भगवान् का परमप्रेम बसाहुआ था उन उद्धवजी ने ऐसा प्रश्न करा; तब,सब जगत् जिन की क्रीडाका साधन है और जो अपनी सत्त्वादि गुणमयी शक्तियों से विष्णु, ब्रह्मा और शिव इन तीन मूर्त्तियों को धारण करते हैं वह देवाधिदेव प्रेम के साथ मनोहर हास्य करतेहुए उन से कहनेलगे ॥७॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे तात उद्धवजी! मैं तुम से अत्यन्त सुखरूप अपने (भागवत) धर्म कहता हूँ, मृत्यु को जीतना कठिन है, यह ठीक है परन्तु श्रद्धा के साथ इन धर्मों का आचरण करनेवाला तिस मृत्यु को जीतलेता है ॥ ८ ॥ मनुष्य, मेरा स्मरण करताहुआ मेरे सन्तोष के निमित्त धीरे २ सब कर्मों का आचरण करै सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और चित्त को मेरी ओर लगावे और भागवतधर्मों के आचरण में मन की प्रीति रक्खै ॥ ९ ॥ जहां मेरे भक्त साधुजन रहते हैं उन पवित्र क्षेत्रों का आश्रय करै; देवता दैत्य, मनुष्यों में जो जो मेरे भक्त होगये हैं उन के आचरण की समान आप भी वर्त्ताव करै ॥ १० ॥ इकला ही वा समूह के साथ मिलकर मेरी प्रीति के निमित्त विशेष पर्व की यात्रा वा महान् उत्सव करै, उस समय गान नाच आदि करै और राजाधिराज के योग्य ऐश्वर्य मुझे समर्पण करै ॥ ११ ॥ चित्त को निर्मल (विषयवासनाओं से रहित) रक्खै, और जैसे आकाश विश्व को भीतर बाहर से व्याप्त करेहुए है और कहीं भी आसक्त नहीं होता है, तैसे ही सकल प्राणियों में और अपने में भी, भीतर और बाहर भी मैं ही व्यापरहा हूँ, मेरे स्वरूप की मर्यादा

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ॥ सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥ १३ ॥ ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके ॥ अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पंडितो मतः ॥ १४ ॥ नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ॥ स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहंकारा वियंति हि ॥ १५ ॥ विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ॥ प्रणमेद्दंडवद्भूमावाश्वचांडालगोखरम् ॥ १६ ॥ यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ॥ तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥ १७ ॥ सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ॥ परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः ॥ १८ ॥ अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ॥ मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥ १९ ॥ न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ॥ मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥ २० ॥ यो यो मयि परे धर्मः कल्पते निष्फलाय चेत् ॥ तदा-

नहीं है ऐसी दृष्टि रक्खे ॥ १२ ॥ हे महाज्ञानवान्! इसप्रकार केवल ज्ञान दृष्टि का आश्रय रखकर जो पुरुष, सकलप्राणियों को मेरा रूप मानता है और सत्कार करता है, वही पण्डित है यह वार्त्ता सब की मान्य है उस की दृष्टि में ब्राह्मण वा चाण्डाल, ब्राह्मणों के धन का छीननेवाला वा ब्राह्मणों को दान देनेवाला, सूर्य वा अग्नि की चिनगारी शान्त वा क्रूर ऐसे परस्पर विरोधी पदार्थ भी एकसमान ही होते हैं ॥ १३॥१४॥ उत्तम, मध्यम और हीन ऐसे सब ही मनुष्यमात्र के ऊपर नित्य मेरी भावना (ईश्वरबुद्धि) रखनेवाले पुरुष के द्वेष, असूया (दूसरे के गुण को दोष कहना), तिरस्कार और अहङ्कार यह धर्म दूर होजाते हैं॥१५॥अपने मित्र,अपना हास्य करनेलगें तो उधरका ध्यान न देय,औ शरीर के ऊपर 'मैं अच्छा हूँ,वह बुरा है' ऐसी दृष्टि और उस के कारण की लज्जा को छोडकर, कुत्ते, चाण्डाल, बैल, गदहे इनपर्यन्त सबों को दण्डवत् प्रणाम करै ॥ १६ ॥ जबतक समस्त प्राणियों में मेरी भावना उत्पन्न न होय तबतक वाणी, मन और शरीर के व्यापारों से ऐसी उपासना करता रहे ॥ १७ ॥ इसप्रकार आचरण करनेवाले पुरुष को, सर्वत्र ईश्वरबुद्धि रखने के कारण ज्ञान उत्पन्न होकर सब विश्व ब्रह्मरूप दीखनेलगता है; ऐसी बुद्धि होय और सब संशय छूटें कि-वह सकल क्रिया करना छोडदेय ॥ १८॥ सकलप्राणियों में शरीर-वाणी और मन के व्यापारों से ईश्वरबुद्धि रखना ही सब उपायों में उत्तम उपाय है ऐसा मेरा मत है ॥१९॥ हे उद्धवजी! मेरे निष्काम धर्म के आचरण करने का प्रारम्भ करने पर उस में कुछ भी वैगुण्य (गड़बड़ी) आदि उत्पन्न होकर हानि नहीं होती है क्योंकि-इस ही धर्म को निर्गुण होने के कारण मैंने स्वयं ही उत्तम ठहराया है ॥२०॥ भागवत धर्मों का नाश नहीं होता इस में कुछ विशेषता नहीं है,क्योंकि-

योसो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥ २१ ॥ एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा
च मनीषिणाम् ॥ यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥ २२ ॥ एष तेऽ
भिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः ॥ समासव्यासविधिना देवानामपि दु-
र्गमः ॥ २३ ॥ अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ॥ एतद्विज्ञाय मु-
च्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥ २४ ॥ सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ॥
सनातनं ब्रह्म गुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २५ ॥ य एतन्मम भक्तेषु संप्रद-
द्यात्सुपुष्कलम् ॥ तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥ २६ ॥ य ए-
तत्समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ॥ स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥
॥ २७ ॥ य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ॥ मयि भक्तिं परां
कुर्वन्कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २८ ॥ अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समव-
धारितम् ॥ अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥ २९ ॥ नैतत्
त्वया दांभिकाय नास्तिकाय शठाय च ॥ अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दी-

हे साधुवर्य ! भय का अवसर आने पर भागना, शोक के समय विलाप करना, आदि व्यवहार का निरर्थक परिश्रम भी यदि परब्रह्मरूप मुझे निष्कामबुद्धि से अर्पण कियाजाय तो वह धर्म ही होता है ॥ २१ ॥ बुद्धिमान् पुरुषों का विवेक यही है और चतुरों की चतुराई भी यही है कि–इस जन्म में असत्य और नाशवान् शरीर से सत्य और अविनाशी सुखरूप मेरी प्राप्ति कर लेना ॥ २२ ॥ यह ब्रह्मविद्या का संग्रह मैंने तुम से संक्षेप से और विस्तार से वर्णन करा, यह देवताओं को भी दुर्लभ है ॥ २३ ॥ तुम से, अत्यन्त स्पष्ट युक्तियों सहित ज्ञान वारम्वार कहा,इस को समझने पर संशय छूटकर पुरुष मुक्त होजाता है ॥२४॥ पूरा २ स्पष्ट करके मेरे, तुम से कहेहुए इस प्रश्न (इस सम्बादरूप आख्यान) को जो धारण करेगा, वह भी सनातन सर्वव्यापी गुह्य परब्रह्म को प्राप्त होगा ॥ २५ ॥ जो पुरुष मेरी भक्तमण्डली में इस का पूरे विस्तार के साथ वर्णन करेगा उस ब्रह्म का उपदेश करनेवाले को मैं आत्मज्ञान दूँगा ॥ २६ ॥ जो इस परमपवित्र और श्रोताओं को शुद्ध करनेवाले सम्वाद का प्रतिदिन ऊँचे स्वर से पाठ करै वह ज्ञानरूप दीपक दिखाकर लोकों को मेरा दर्शन करानेवाला पुरुष पवित्र होजाता है ॥ २७ ॥ जो मुझ में दृढभक्ति रखकर चित्त को व्यग्रतारहित रखकर यह सम्वाद श्रद्धा से नित्य सुनता है उस को कर्म से बन्धन नहीं प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ हे सखा उद्धवजी ! क्या आप को ब्रह्म का बोध भलीप्रकार निश्चित होगया ? तुम्हारा मोह और मन में प्रकट होनेवाला यह शोक दूर हुआ या नहीं ? ॥ २९ ॥ यह उपदेश, पाखण्डी को नास्तिक को, धोखा देनेवाले को, सुनने की इच्छा न करनेवाले को, भक्तिरहित और नम्रतारहित

दीयतां ॥ ३० ॥ एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ॥ साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥ ३१ ॥ नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ३२ ॥ ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ॥ यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥ ॥ ३३ ॥ मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ॥ तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥ ३४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स एवमादर्शितयोगमार्गस्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ॥ बद्धांजलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो न किंचिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥ ३५ ॥ विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं धैर्येण राजन्बहु मन्यमानः ॥ कृतांजलिः प्राह यदुप्रवीरं शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥ ३६ ॥ उद्धव उवाच ॥ विद्रावितो मोहमहांधकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ॥ विभावसोः किं नु समीपगस्य शीतं तमो भीः प्रभ-

पुरुष को तुम कभी नहीं सुनाना ॥ ३० ॥ यह दोष जिस के शरीर में न हों उस को ब्राह्मणों के हितकारी को, साधुको, पवित्र पुरुष को और भक्तियुक्त हों तो शूद्रों को और स्त्रियों को भी इस का उपदेश करना ॥ ३१ ॥ मधुर अमृत पीलेने पर कुछ पीनेयोग्य शेष नहीं रहता है क्योंकि—उस से आगे कोई पीने योग्य पदार्थ ही नहीं है तैसे ही इस ज्ञान को पाकर जिज्ञासु पुरुष को कुछ जानना शेष नहीं रहता है ॥ ३२ ॥ हे तात उद्धवजी! ज्ञान होनेपर मोक्ष पाना, कर्मानुष्ठान करनेपर धर्म साधना, योगाभ्यास करनेपर सिद्धि पाना, खेती व्यापार आदि करनेपर धन प्राप्त करना और दण्डनीति का प्रयोग करके ऐश्वर्य पाना ऐसे, मनुष्यों को जो लोक में चारप्रकार का पुरुषार्थ सिद्ध होता है वह सब तुम्हारा, मैं ही हूँ, अनन्यभाव से मेरी शरण आते ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होजाते हैं ॥ ३३ ॥ क्योंकि—मनुष्य, जिससमय सब क्रियाओं को छोडकर अपना आपा मुझे अर्पण करदेता है तब मुझे उस को विशेष योग्यता को पहुँचाना आवश्यक होताहै अर्थात् उस को मोक्ष तो मिलता ही है और अन्त में वह मेरी समान ऐश्वर्य पाताहै इस में सन्देह नहीं है ॥ ३४ ॥ श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—भगवान् ने उद्धवजी को इसप्रकार योगमार्ग दिखादिया, पवित्रकीर्त्ति ईश्वर का भाषण सुनकर उनका कण्ठ प्रेम के कारण रुकगया उन्हों ने हाथजोड़े, उन के नेत्र आँसुओं से भरआये परन्तु मुख में से एकभी शब्द बाहर न निकला ॥ ३५ ॥ हे राजन्! फिर उन्हो ने, प्रेम से क्षुभित हुए अपने चित्त को धीरज से स्थिरकरा, उन को प्रतीत हुआकि—मैं कृतार्थ होगया, फिर वह यदुवर श्रीकृष्णजी के चरणकमल पर मस्तक रखकर और हाथ जोड़कर उन से कहने लगे ॥ ३६ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे ब्रह्माजी के जनक! मैं मोहरूप प्रबल अन्धकार का आश्रय करेहुए था, परन्तु वह अन्धकार आप के समागम से दूर होगया; जो सूर्य के समीप प्राप्त होगया उस

वत्यजाद्य ॥ ३७ ॥ प्रत्यर्पितो मे भवताऽनुकंपिना भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ॥
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं कोऽन्यत्समीयाच्छरणं त्वदीयं ॥ ३८ ॥ वृक्णश्चे
मे सुदृढः स्नेहपाशो दाशार्हवृष्ण्यंधकसात्वतेषु॥ प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया-
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥ ३९ ॥ नमोस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि
मां ॥ यथा त्वच्चरणांभोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥ ४० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥
गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ॥ तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः
शुचिः ॥ ४१ ॥ ईक्षयाऽलकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः ॥ वसानो वल्कला-
न्यंग वन्यभुक्सुखनिस्पृहः ॥ ४२ ॥ तितिक्षुर्द्वंद्वमात्राणां सुशीलः संयतेंद्रियः ॥
शांतः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ४३ ॥ मत्तोऽनुशिक्षितं यच्चे
विविक्तमनुभावयन ॥ मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ॥ अतिव्रज्य
गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम्॥४४॥ श्रीशुक उवाच ॥ स एवमुक्तो हरिमेधसो-

को, शीत वा अन्धकार का भय क्या पीड़ा देसक्ते हैं? ॥ ३७ ॥ आपने दयालु होकर मुझ भक्त को अपना ज्ञानमय दीपक फिर लौटाकर दिलवादिया (पहिले मैं ज्ञानमय ही था परन्तु मध्य में तुम्हारी माया ने वह ज्ञानमय दीपक हर लिया था वह तुम ने फिर दिलवादिया) जिस को उपकारों का ज्ञान है वह कोई भी पुरुष तुम्हारे चरणतल को छोड़कर दूसरे की शरण नहीं जायगा ॥ ३८ ॥ तुम ने सृष्टि को बढाने के निमित्त अपनी माया के द्वारा स्नेहरूपपाश का फैलारक्खा है, मेरा वह स्नेहपाश दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वत इन कुलों पर अतिदृढता से जडाहुआ था, उस को तुम ने आत्मज्ञानरूप शस्त्र से काटडाला ॥ ३९ ॥ हे महायोगिन्! तुम्हें नमस्कार हो, मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, तिस से मुझे ऐसी शिक्षा दीजिये कि–जिस से तुम्हारे चरणकमलों पर निश्चलभक्ति रहै ॥ ४० ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे उद्धवजी! मेरी तुम को आज्ञा है कि–तुम मेरे बदरिकाश्रम में जाओ, तहां मेरे चरण के तीर्थरूपी जल से स्नान और आचमन आदि करके शुद्ध होओ ॥ ४१ ॥ स्नान से पहिले ही अलकनन्दा (गङ्गा) के दर्शन से तुम्हारे सब पातक नष्ट होजायँगे; हे तात! फिर तुम तहां वल्कल पहरकर और वन में के फल मूल आदि भक्षण करके रहो; इस लोक के सुख की इच्छा कुछ भी न रक्खो॥ ४२ ॥ सरदी गरमी, लाभ हानि, जीत हार आदि द्वन्द्वों में से किसी का भी अवसर आवे तो सहन करते जाओ, स्वभाव सरल रक्खो, इन्द्रियों को वश में रक्खो, बुद्धि को एकाग्र करके चित्त स्वच्छ होने दो, प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान को प्राप्त करो ॥ ४३ ॥ मुझ से तुम ने जो कुछ सीखा है उस का निरन्तर विचार और चिन्तवन करते रहो, वाणी और चित्त मेरी ओर लगाकर भगवत्सम्बन्धी धर्मों के आचरण में तत्पर रहो तब तुम त्रिगुणमयी गति को लाँघकर परब्रह्मरूप मुझ को प्राप्त होओगे ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे

उद्धवः प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः॥शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्र-धीर्न्यषिंच-
दद्वंद्वपरोऽप्युपक्रमे४५सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः॥
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥४६। ततस्तमंतर्हृदि
संनिवेश्य गतो महाभागवतो विशालाम्॥ यथोपदिष्टां जगदेकबंधुना ततः समा-
स्थाय हरेरगाद्गतिम् ॥ ४७ ॥ य एतदानंदसमुद्रसंभृतं ज्ञानामृतं भागवताय
भाषितम् ॥ कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते ४८॥
भवभयमपहंतुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्रे भृंगवद्वेदसारम् ॥ अमृतमुदधि-
तश्चापाययद्भृत्यवर्गान्पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥ ४९ ॥ इति श्री-
भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ छ ॥ छ ॥

राजन्! जिन में स्थिर करीहुई बुद्धि संसार का नाश करती है, उन भगवान् ने उद्धवजी को ऐसी आज्ञा दी, तब जाने को उद्यतहुए उन्होंने, श्रीकृष्णजी की प्रदक्षिणा करके चरणों पर मस्तक रक्खा ; उन्होंने सुखदुःखादि द्वन्द्वों को छोड दिया था तथापि इस अवसर पर अन्तःकरण भरआया और उन्होंने आँसुओं के प्रवाह से भगवान् के चरणों को भिगोया ॥ ४५ ॥ जिन प्रभु के ऊपर का स्नेह त्यागना अतिकठिन है उन का ही विरह होने से वह अतिव्याकुल हुए, इसकारण एकसाथ श्रीकृष्णजी को छोडकर जाना उन को अति असह्य प्रतीत हुआ, अन्त में स्वामी की पादुका मस्तक पर रखकर और उन को वारवार नमस्कार करके वह तहां से चलेगये ॥४६ ॥ फिर वह परमभगवद्भक्त उद्धवजी भगवान् को हृदय में रखकर (स्थापन करके) वदरिकाश्रम को गये, और तहाँ भगवद्धर्मों का आचरण करके, जगत् के अद्वितीय हितकारी (श्रीकृष्णजी) ने पहिले (इस अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में) जो उपदेश करी थी उस श्रीहरि की गति को प्राप्त हुए ॥ ४७ ॥ योगेश्वरों ने जिन के चरणों की सेवा करी ऐसे श्रीकृष्णजी ने, उद्धवजी को जिस ज्ञानामृत का उपदेश करा वह ज्ञानामृत भगवद्भक्ति के मार्ग से भिन्न नहीं है, किन्तु एक ही है, जिस मनुष्य को इस ज्ञानामृत की थोडीसी भी प्राप्ति होयगी वह मनुष्य अपनेआप मुक्त होजायगा इस का तो कहना ही क्या? क्योंकि—उस की सङ्गति से सारा ही जगत् मुक्त होजायगा ॥ ४८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—जैसे भौंरा पुष्पों को दुःख न देकर उन में के मकरन्द को ग्रहण करता है तैसे ही वेदउपनिषद् को रचनेवाले भगवान् ने, उस वेद में विरोध न आने देकर उस में से ज्ञान के अनुभवरूप उत्तम सार (ज्ञानामृत) को ग्रहण करा, और निवृत्तिमार्ग में के सेवकों को उस का उपदेश करके उन को संसार के दुःखों से छुटाया और समुद्र को मथकर उस में से अमृत निकालकर प्रवृत्तिमार्ग में के सेवकों को पिलाया तिस से उन के जरारोगादि के दुःख को दूर करा ऐसे श्रेष्ठ पुराणपुरुष श्रीकृष्णजी को नमस्कार करता हूँ ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में

राजोवाच ॥ ततो महाभागवते उद्धवे निर्गते वनम् ॥ द्वारवत्यां किमकरोद्भ-
गवान् भूतभावनः ॥ १ ॥ ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ॥ प्रेयसीं
सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥ प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न
शेकुः कर्णाविष्टं न सरति ततो यत्सतामात्मलग्नम् ॥ यच्छ्रीर्वाचां जनयति
रतिं किं नु मानं कवीनां दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ।
॥ ३ ॥ ऋषिरुवाच ॥ दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान् ॥ दृ-
ष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ एते
घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ॥ मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुंगवाः
॥ ५ ॥ स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शंखोद्धारं व्रजन्त्वितः ॥ वयं प्रभासं यास्या-
मो यत्र प्रत्यक्सरस्वती ॥ ६ ॥ तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ॥

एकोनत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ राजा ने कहा कि–फिर परमभगवद्भक्त उद्धवजी के वन को चलेजाने पर प्राणीमात्र की रक्षा करनेवाले भगवान् ने द्वारका में क्या करा? ॥ १ ॥ अपने कुल को ब्राह्मणों के शाप से ग्रसित होजाने पर, सब इन्द्रियों को अतिप्रिय अपने देह का यादवाधिपति (प्रभु) ने त्याग कैसे करा? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि–प्रभु को पीडा देने को शाप तो समर्थ हो नहीं सक्ता था फिर यादवों का अनुकरण करनेवाले भगवान् ने शाप का निर्वाह कैसे करा? ॥ २ ॥ जिन भगवान् की ओर को टकटकी बाँधकर लगीहुई दृष्टि, स्त्रियों को दूसरी ओर को नहीं फिरने देती थी, जिस का वर्णन साधुजन सुननेलगते थे तो उन के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर रहता था और तहाँ से हिलता नहीं था; जिस रूप की शोभा को कवि वर्णन करनेलगते थे तो उन को अति प्रेम उत्पन्न होकर जगत् में श्रेष्ठता प्राप्त होती है? युद्ध के अवसर में रथपर बैठेहुए भगवान् के जिस रूप की ओर को देखकर मरण को प्राप्त होने वालों को उसरूप की सारूप्यता प्राप्त हुई ऐसे रूप का प्रभु ने किसप्रकार त्यागकरा? ॥३॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–आकाश में सूर्य के चारों ओर घेरा आदि, भूमि पर भूकम्प आदि और अन्तरिक्ष में दिशाओं का दाह आदि अतिभयानक बड़े २ उत्पात होनेलगे, ऐसा देखकर श्रीकृष्ण भगवान् सभा में बैठेहुए यादवों से इस प्रकार कहने लगे ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे श्रेष्ठ यादवो! इस समय इस द्वारका में अतिभयानक बड़े २ उत्पात होनेलगे, यह उत्पात यमराज की ध्वजासमान हैं, इन से प्रतीत होता है कि–मृत्यु आनेवाला है अब आप मुहूर्त्तभरभी यहाँ न रहें ॥ ५ ॥ स्त्री, बालक और बूढ़ों को शङ्खोद्धार को भेजदो और हम सब मिलकर प्रभास तीर्थ को चले जायँगे, जहाँ पश्चिम को बहने वाली सरस्वती नदी है ॥ ६ ॥ उस तीर्थ में स्नानकर पवित्र होकर और निराहार

देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥ ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृ-
तस्वस्त्ययना वयम् ॥ गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८॥ विधिरेष
ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ॥ देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥ इति
सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः॥ तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः।१०।
तस्मिन् भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः ॥ चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृं-
हितम् ॥ ११ ॥ ततस्तस्मिन्महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ॥ दिष्टविभ्रंशितधियो
यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥ १२ ॥ महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसां ॥ कृष्ण-
मायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥ युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलाया-
माततायिनः ॥ धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥ १४ ॥ पतत्पताकै-
रथकुंजरादिभिः खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ॥ मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन् शरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥ १५ ॥ प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्स-

रहकर सावधान अन्तःकरण से देवताओं के ऊपर अभिषेक करेंगे और गन्धधूप आदि सामग्री से पूजा करेंगे ॥ ७ ॥ प्राप्त होनेवाले अरिष्ट की महातपस्वी ब्राह्मणों से शान्ति करवा कर तिन ब्राह्मणों को गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ, और घर देकर उन की पूजा करेंगे ॥ ८ ॥ यह रीति सब अरिष्टों को दूर करनेवाली और उत्तम कल्याणकारक है और ऐसी है कि—देवता, ब्राह्मण, गौओं की पूजा करने पर सकल प्राणियों मे उच्चता प्राप्त होती है, इस का तात्पर्य यह है कि—प्राप्तहुए अरिष्ट का निवारण नहीं हुआ तो देवलोक में उत्तमजन्म प्राप्त होयगा ॥ ९ ॥ इस प्रकार मधु दैत्य के शत्रु (श्रीकृष्ण) का भाषण सब वृद्ध यादवों ने सुनकर हे कृष्ण ! जो तुम कहते हो यह ठीक है ऐसा कहा, तथा वह सब नौका में बैठकर समुद्र को उतरे और रथों में बैठ-कर प्रभास तीर्थ को गये ॥ १० ॥ तहाँ सब यादवों ने इकट्ठे होकर यदुपति भगवान् की कहीहुई वह सब अरिष्ट को दूर करनेवाली रीति कुछ कमती न करके बड़ी भक्ति के साथ पूर्ण करी ॥ ११ ॥ फिर तहाँ जिन की बुद्धि को प्रारब्ध ने उलटदिया था उन यादवों ने जिस मद्यरस से बुद्धि भ्रष्ट होती है ऐसे मैरेयक नामवाले सुरसमद्य को यथेष्ट पिया ॥ १२ ॥ बड़े अभिमानी वह वीर बहुतसा मद्य पीने से मत्त और श्रीकृष्ण जी की माया से मूढ़ होगये, इसकारण उन का परस्पर बड़ा कलह बढ़ा ॥ १३ ॥ उस समय वह यादव क्रोध से भरकर मारने को उद्यत होतेहुए, धनुष, तरवार, भाला गदा, तोमर, ऋष्टि, इन शस्त्रों को लेकर समुद्र के तटपर युद्ध करने लगे ॥ १४ ॥ मदोन्मत्त हुए वह यादव, जिन के ऊपर पताका स्थान से हटकर इधर उधर को हलरही हैं ऐसे रथ, हाथी, गधे, ऊँट, बैल, भैंसे, मनुष्य और खच्चरों को परस्पर भिड़ाकर बाणों से परस्पर ऐसे प्रहार करने लगे जैसे वन में हाथी परस्पर दाँतों से प्रहार करते हैं ।१५।

रावक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ॥ सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ गदौ सुमित्रासु-
रथौ समीयतुः ॥ १६ ॥ अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः सहस्रजिच्छतजि-
द्भानुमुख्याः ॥ अन्योऽन्यमासाद्य मदांधकारिता जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता
भृशम् ॥ १७ ॥ दाशार्हवृष्ण्यंधकभोजसात्वता मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ॥
विसर्जनाः कुकुराः कुंतयश्च मिथस्तंतस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥ १८ ॥ पुत्रा
अयुध्यन्पितृभिर्भ्रातृभिश्च स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः । मित्राणि मित्रैः सु-
हृदः सुहृद्भिर्ज्ञातींस्त्वहन्ज्ञातय एव मूढाः ॥ १९ ॥ शरेषु क्षीयमाणेषु भ-
ज्यमानेषु धन्वसु ॥ शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥ २० ॥ ता वज्रक-
ल्पा ह्यभवन्परिघा मुष्टिना धृताः ॥ जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं
च ते ॥ २१ ॥ प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ॥ हन्तुं कृतधियो
राजन्नापन्ना आततायिनः ॥ २२ ॥ अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ॥

प्रद्युम्न और साम्ब, अक्रूर, और भोज, अनिरुद्ध और सात्यकि, सुभद्र और संग्रामजित्, गद नामवाला श्रीकृष्णजी का भ्राताथा वह और श्रीकृष्णजी का पुत्र गद, सुमित्र और सुरथ, उन को परस्पर क्रोध आगया और परस्पर डटगये ॥ १६ ॥ और अन्य जो निशठ, उल्मुक, सहस्रजित, शताजित्, भानु आदि वीर थे वहभी मदिरा पीने के मद से आपस में भिड़कर, तमोगुण के कारण अत्यन्त क्रोध के वश में होकर एक दूसरे को मारनेलगे, क्योंकि—श्रीकृष्णजी ने ही उन को मोहित करदिया था ॥ १७ ॥ दाशार्ह वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति वंश के तथा अर्बुद, माथुर और शूरसेन इन देशों के वह सब वीर मित्रभाव को छोड़कर परस्पर प्रहार करने लगे॥१८॥ पिता के ऊपर पुत्र, भाई के ऊपर भाई, भानजे के ऊपर मामा, धेवते ऊपर नाना, चचा के ऊपर भतीजा, मामा के ऊपर भानजा, मित्र के ऊपर मित्र, सुहृदों के ऊपर सुहृद्, और जाति के ऊपर जातिवाले, मूढ़ होकर प्रहार करनेलगे ॥ १९ ॥ इसप्रकार उन या-दवों के प्रहार करने पर कुछ ही समय में उन के बाण निबड़गये, मनुष्य कटगए, और शस्त्र खुटले होगए तब उन्हों ने मुट्ठियों में समुद्र के किनारे की पतेल ली ॥ २० ॥ उस समय उन की मुट्ठियों में लीहुई वह पतेल वज्रसमान लोहे के दण्डेसी होगईं सो वह उन से ही प्रहार करनेलगे, उस समय श्रीकृष्णजी ने उन को रोका परन्तु वह श्रीकृष्णजी के ऊपर भी प्रहार करनेलगे ॥ २१ ॥ हे राजन् ! मूढ़ हुए वह यादव, बलरामजी को शत्रु मान; उन को मारने का निश्चय करके और मारने को उद्यत होकर उन के समीप गये ॥ २२ ॥ हे कुरुनन्दन ! फिर बलराम और कृष्ण यह दोनों भी, अतिक्रोध में भरकर

एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥ २३ ॥ ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमा-
याद्वृतात्मनाम् ॥ स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥ २४ ॥ एवं
नष्टेषु सर्वेषु लोकेषु स्वेषु केशवः ॥ अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशे-
षितः ॥२५॥ रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ॥तत्याज लोकं मानुष्यं
संयोज्यात्मानमात्मनि ॥ २६ ॥ रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः ॥
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलं ॥ २७ ॥ बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्रा-
जिष्णु प्रभया स्वया ॥ दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ॥ २८॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसं ॥ कौशेयांबरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम्
॥ २९ ॥ सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ॥ पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फु-
रन्मकरकुण्डलम् ॥ ३० ॥ कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकांगदैः ॥ हारनूपुरमु-
द्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥ ३१ ॥ वनमालापरीतांगं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः॥

लोहे के दण्डे की समान पतेलों को मुठ्ठी से उखाड़कर तिस युद्ध में फिरतेहुए मारने को फैले ॥ २३ ॥ वह यादव, ब्राह्मणों के शाप से ग्रस्तहुए और श्रीकृष्णजी की माया से मोहित थे इसकारण उन के चित्त में स्पर्धा से क्रोध उत्पन्न हुआ उस क्रोधने उन के कुल का ऐसे विध्वंस करडाला जैसे वाँसों की रगड़ से उत्पन्न हुआ अग्नि उन वाँसों के ही वन को भस्म करडालता है ॥ २४ ॥ इसप्रकार अपने सब कुल के नष्ट होनेपर भगवान् श्रीकृष्णजी ने, शेषरहे हुए भूमि के भार को उतराहुआ जाना ॥ २५ ॥ बलरामजी समुद्र के तटपर, पौरुषयोग (परमपुरुष के ध्यान) को धारण करके और परमात्मा में मनको लगाकर भूलोक वा मनुष्यदेह को छोड़गये ॥ २६ ॥ इसप्रकार बलरामजी के निर्याण को देखकर भगवान् देवकीपुत्र, पीपल के वृक्ष के नीचे जाकर भूमिपर स्वस्थ बैठगये ॥ २७ ॥ उस समय भगवान् ने चतुर्भुजरूप धारण करा था, भगवान् का रूप अत्यन्त दमकता हुआ होने के कारण उसकी कान्ति से दशों दिशाओं का अन्धकार ऐसेदूर होगया जैसे धूमरहित अग्नि के जलने पर उसकी कान्ति से अन्धकार दूर होजाता है ॥ २८ ॥ भगवान् के वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिन्ह था, भगवान् का स्वरूप सजल मेघमण्डल की समान श्यामवर्ण और उन की कान्ति अग्नि में तपाएहुए सुवर्ण की समान थी, दो पीताम्बरों से शोभित भगवान् का रूप अत्यन्त ही सुन्दर दीखता था ॥ २९ ॥ सुन्दर और कुछएक मुसकुरानयुक्त जिन का मुखकमल, नीलवर्ण के केशों से भूषित, सफेद कमल की समान सुन्दर जिस में नेत्र और जिस में के कर्णों में मकराकार कुण्डल शोभायमान थे ॥ ३० ॥ कमर में तागड़ी, [illegible] यज्ञोपवीत, मस्तकपर किरीट, हाथों में कड़े, भुजदण्डों में बाजूबन्द, कण्ठ में हार, चरणों में नूपुर, अङ्गुलियों में अंगूठी छल्ले, कण्ठ में कौस्तुभमणि इन

कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पंकजारुणम् ॥ ३२ ॥ मुसलावशेषायःखण्डकृ
तेषुर्लुब्धको जरा ॥ मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥ ३३ ॥ चतु-
र्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ॥ भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः
॥३४॥ अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ॥ क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक
मेनघ ॥ ३५ ॥ यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनं ॥ वदंति तस्य ते वि-
ष्णो मयाऽसाधु कृतं प्रभो ॥ ३६ ॥ तन्माशु जहि वैकुंठ पाप्मानं मृगलुब्धकं॥
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥ ३७ ॥ यस्यात्मयोगरचितं न
विदुर्विरिंचो रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ॥ त्वन्मायया पिहितदृष्टय
एतदंजः किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥ ३८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥
मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ॥ याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं

से भगवान् का स्वरूप अतिशोभायमान था॥३१॥उन का शरीर वनमाला से ढकाहुआ था, उनके पास शस्त्र मूर्त्तिमान् थे,ऐसे वह भगवान् कमल की समान अरुणवर्ण बायाँ चरण दाहिनी जङ्घापर रखकर बैठेहुए थे ॥ ३२॥ पहिले यादवों ने मूसल को रेतकर शेषरहाहुआ थोडासा टुकड़ा फेंकदिया था, वह टुकड़ा जरा नामक व्याधे को,पकड़े हुए मच्छ के पेट में मिला और उस ने उस का वाण के आगेका फलका बनालिया था उस व्याधेने भगवान् के चरणकमल को दूर से देखा सो उस को तिस चरण का आकार हरिण के चरण की समान दीखा और 'यह मृग है' ऐसा समझकर उस को तिस वाण से वेधदिया ॥ ३३ ॥ फिर व्याधा आगे आया तो चतुर्भुज पुरुष श्रीकृष्ण हैं ऐसा देखकर अपराध होने के कारण अति भयभीत हुआ और उस ने भगवान् के चरणकमलपर मस्तक रक्खा ॥ ३४ ॥ और प्रभु का चरण पकड़कर वह व्याधा कहनेलगा कि–हे भगवन् ! हे मधुसूदन ! इस पापी के हाथ से अनजान में यह वार्त्ता हुई है,हे उत्तमश्लोक ! हे निष्पाप ! मैं परम अपराधी हूँ; आप को मेरा अपराध क्षमा करना उचित है ॥ ३५ ॥ हे प्रभो ! हे नारायण ! जिनका स्मरण करने पर मनुष्य का अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होता है ऐसा पण्डित कहते हैं, ऐसे आप का मैंने बड़ा अनिष्ट करा है ॥ ३६ ॥ हे वैकुण्ठ ! हे भगवन् ! मैं मृग का लोभी और बड़ा पापी हूँ, मुझे तुम शीघ्रही दण्ड दो, कि–जिस से मैं ऐसा महात्माओं का अपराध फिर कभी न करूँ ॥ ३७ ॥ तुम्हारी माया के रचेहुए इस जगत् को ब्रह्माजी, ब्रह्माजी के रुद्र आदि पुत्र और वेदवेत्ता ऋषि नहीं जानते हैं, क्योंकि–उन की दृष्टि, तुम्हारी ही माया से ढकीहुई हैं, फिर जिन का जन्म निःसन्देह पापमय है ऐसे हम तुम्हारे ब्राह्मणशाप आदि का क्या वर्णन करैं (इस कारण शीघ्रही मेरा वध करो) ३८॥ भगवान् ने कहा हे जरा व्याधे ! भयभीत न हो, तूने मेरी इच्छा पूर्ण करी

सुकृतिनां पदम् ॥ ३९ ॥ इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ॥ त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥ ४० ॥ दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ॥ वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥ ४१ ॥ तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिं॥ स्नेहाप्लुतात्मा निपपात पादयो-रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥ ४२ ॥ अपश्यतस्त्वच्चरणांबुजं प्रभो दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा ॥ दिशो न जाने न लभे च शान्तिं यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे ॥ ४३ ॥ इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलांछनः ॥ खमुत्पपात राजेंद्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥ ४४ ॥ तमन्वगच्छन्दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ॥ तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥ ४५ ॥ गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ॥ संकर्षणस्य निर्याणं बंधुभ्यो ब्रूहि मद्दशां ॥ ४६ । द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिः स्वस्वबंधुभिः ॥ मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ४७॥

है अब मेरा आज्ञा दियाहुआ तू पुण्यवानों के स्थान स्वर्ग को जा ॥ ३९ ॥ अपनी इच्छाके अनुसार शरीर धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णजी के ऐसी आज्ञा देनेपर वह व्याधा श्रीकृष्णजी की तीन प्रदक्षिणा करके विमान में बैठकर स्वर्ग को चलागया ॥४॥ दारुक (सारथी) श्रीकृष्णजी का मार्ग ढूँढता फिरता था, सो उस को वह मार्ग मिलगया तब वह, जिस दिशा से तुलसी की सुगन्धयुक्तवायु आरहा था उधर को मुख करके उस सुगन्ध को सूँघताहुआ आगे को चला ॥ ४१ ॥ सो पीपल की जड का आश्रय करके बैठेहुए और जिन के चारोंओर परमतेजस्वी शस्त्र हैं ऐसे अपने स्वामी श्रीकृष्णजी उस की दृष्टि पड़े प्रेम के कारण उस का अन्तःकरण भर आया और नेत्रों में आँसुओं के विन्दु आगये, वह रथ में से कूदकर भगवान् के चरणों पर आकर गिरा और कहनेलगा कि— ॥ ४२ ॥ हे भगवन्! तुम्हारे चरणकमल को न देखने के कारण मेरी दृष्टि नष्ट होकर अज्ञान में प्रविष्ट होगई, रात्रि में चन्द्रमा का लोप होजाने पर जैसी दशा होती है तैसेही मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं होता है और कहींभी शान्ति नहीं मिलती है ॥ ४३ ॥ हे राजेन्द्र! सारथी के ऐसा कहने पर, गरुड़जी के चिन्ह से युक्त वह रथ घोड़े और ध्वजाओं सहित, दारुक के देखते हुए आकाश को उड़गया ॥ ४४ ॥ उस के पीछे विष्णु भगवान् के दिव्य अस्त्र आकाश में को चलेगये, यह दशा देखकर दारुक को बड़ा आश्चर्य हुआ तब श्रीकृष्णजी दारुक से कहनेलगे कि—॥ ४५ ॥ हे सारथी! द्वारका में जा और ज्ञातियों का आपस में युद्ध करके मरना, बलरामजी का योगमार्ग से निर्याण और मेरी यह दशा, सब वार्त्ता बान्धवों से कहदे ॥ ४६ ॥ और कहदे कि—तुम अपने बान्धवों सहित द्वारका में न रहो, क्योंकि—मेरी त्यागीहुई उस यदुपुरी को समुद्र डुबादेगा ४७

एवं एवं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ॥ अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥ ४८ ॥ एवं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ॥ मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥ ४९ ॥ इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥ तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीं ॥ ५० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे यदुकुलसंक्षयो नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ छ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ तत्रागमद्ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ॥ महेंद्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥ पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ॥ चारणा यक्षरक्षांसि किंनराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥ द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ॥ गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥३॥ ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ॥ कुर्वंतः संकुलं राजन् भक्त्या परमया युताः॥४॥ भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ॥ संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥ लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ॥ यो-

सवजने अपने २ परिवार और मेरे माता पिता को साथ लेकर अर्जुन से अपनी रक्षा कराते हुए इन्द्रप्रस्थ को जाओ ॥ ४८ ॥ तुम तो पुत्रधन आदि में उदासीन होकर ज्ञान को प्राप्त करने में ध्यान लगाओ, मेरे प्यारे भागवत धर्मों का आचरण करते रहो, और यह सब विश्वरचना मायाकी करीहुई है ऐसा जानकर शान्ति पाओ ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्णजी के ऐसा कहने पर दारुक ने उन की प्रदक्षिणा करके वार २ नमस्कार करा और उन के चरणों को मस्तक में लगाकर खिन्न होता हुआ वह द्वारका को चलागया ॥५०॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–तदनन्तर तहाँ ब्रह्माजी, भवानी सहित शिवजी और महेन्द्र देवता तथा प्रजापतियों सहित मुनि तहाँ आये ॥ १ ॥ पितर, सिद्ध, गन्धर्व विद्याधर, बड़े २ सर्प, चारण यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा, गरुडलोक के निवासी ॥ २ ॥ भगवान् का निर्याण देखने के निमित्त अति उत्कण्ठित होकर तहाँ आये; और गान करते हुए श्रीकृष्णजी के अवतार तथा चरित्र वर्णन करनेलगे ॥ ३ ॥ हे राजन् ! परम भक्तिमान उन सबों ने, फूलों की वर्षा करी और विमानों की पङ्क्तियों से आकाश को भरादिया ॥ ४ ॥ भगवान् ने ब्रह्माजी की ओर को इन्द्रादि अपनी विभूतियों की ओर को देखकर परमात्मरूप में अपने चित्त को एकाग्र करके अपने कमल की समान नेत्रों को मूँदलिया अर्थात् समाधि लगाने के निमित्त से नेत्र मूँदलिये ॥ ५ ॥ लोकों को सब प्रकार आनन्द देनेवाले, धारणा के द्वारा ध्यान करने के उत्तम विषय ऐसे

गंधारणयाऽग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ॥ ६ ॥ दिवि दुंदुभयो नेदुः
पेतुः सुमनसश्च खात् ॥ सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः
॥ ७ ॥ देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि ॥ अविज्ञातगतिं कृष्णं द-
दृशुश्चातिविस्मिताः ॥८॥ सौदामन्या यथाकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलं ॥ ग-
तिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥ ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा
योगगतिं हरेः ॥ विस्मितास्तां प्रशंसंतः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥
राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडंबनमवेहि यथा नटस्य ॥ सृष्ट्वात्मने-
दमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते ॥ ११ ॥
मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धं ॥ जिग्ये

अपने शरीर को, अग्नि की योगधारणा से भस्म न करके भगवान् अपने लोक को गये, योगीपुरुषों की स्वच्छन्द मृत्यु होती है परन्तु वह अग्नि की योगधारणा से शरीर को भस्म करके परलोक को जाते हैं, भगवान् ने भक्तजनों को ध्यान करने को मिले साक्षात् दर्शन होय इसनिमित्त से अपने शरीर को भस्म नहीं करा, भक्तजन अब भी उस मूर्ति का ध्यान करते हैं और उन को साक्षात्कार भी होता है ॥ ६ ॥ उस समय स्वर्ग में नौबत बजीं, आकाश में से फूलों की वर्षा हुई, श्रीकृष्णजी के पीछे सत्य, धर्म, धीरज, कीर्ति और लक्ष्मी यह भी भूमिपर से चलीगईं ॥ ७ ॥ जिन की गति किसी की समझमें नहीं आती वह श्रीकृष्णजी अपने धाम में प्रविष्ट होतेहुए ब्रह्मादि देवताओं को दीखे नहीं इसकारण वह अति आश्चर्य में होगये ॥ ८ ॥ जैसे आकाश में बिजली मेघमण्डल को छोड़कर जाती है तो उस की गति मनुष्यों की समझ में नहीं आती है तैसे ही श्रीकृष्णजी की गति देवताओं की समझ में नहीं आई ॥ ९ ॥ वह ब्रह्माजी शिवजी आदि श्रीहरि की गति को देखकर विस्मय में हुए और उस का बखान करते हुए अपने २ लोक को चलेगये ॥ १० ॥ हेराजन्! परमेश्वर ने यादवों में शरीर धारण करके उस को गुप्त रक्खा और उस से उन्हों ने अनेको लीला करीं, इस सब को, जैसे नट स्वांग भरता है तैसे उन का माया के द्वारा कराहुआ अनुकरण जानो; वह स्वयं इस विश्व को उत्पन्न करके इस में प्रविष्ट होतेहुए विहार करते हैं और अन्त में संहार करके अपनी महिमा से उपराम को प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥ जो मनुष्यशरीर से, यमलोक में पहुँचे हुए गुरु के पुत्र को लौटाकर लाये, जिन शरणागतों की रक्षा करनेवाले ने ब्रह्मास्त्र से भस्म हुए तुम्हारी रक्षा करी, जिन्हो ने मृत्यु के भी मृत्यु ऐसे शिवजी को भी जीत-

ऽन्तकांतकमपीशमसावनीशः किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥ १२ ॥ तथाप्यशेषस्थितिसंभवाप्ययेष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ॥ नैच्छत्प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥ १३ य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ॥ प्रयतः कीर्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ १४ ॥ दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः ॥ पतित्वा चरणावस्रैन्यषिंचत्कृष्णविच्युतः ॥ १५ ॥ कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप ॥ तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्छिताः ॥ १६ ॥ तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः ॥ व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नंत आननम् ॥ १७ ॥ देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ॥ कृष्णरामावपश्यंतः शोकार्ता विजहुः स्मृतिं ॥ १८ ॥ प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः ॥ उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः

लिया और जो व्याधे को देहसहित स्वर्ग को लेगये वह क्या अपने शरीर की रक्षा नहीं करसक्ते थे? किन्तु करसक्ते थे ॥ १२ ॥ तो फिर वह कुछकाल पर्यन्त यहाँ क्यों नहीं रहे? ऐसा कहो तो सुनो—यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से वह प्रभु जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में स्वतन्त्र कारण हैं, क्योंकि—वह सर्वशक्तिमान् हैं तथापि यादवों का संहार करनेपर अपने बचेहुए शरीर को यहाँ रखने की इच्छा नहीं करी, क्योंकि—आगे को मनुष्यशरीर से कोई कार्य करना शेष नहीं था और उन्हे आत्मनिष्ठ पुरुषों को दिव्यगति दिखानी थी अर्थात् जो मैं अपने शरीर को यहाँ अविचल रक्खूंगा तो आत्मनिष्ठ पुरुष भी दिव्यगति का अनादर करके देह को अविचल रखकर यहीं रमण करने का उद्योग करेंगे तो अति अनुचित होगा, ऐसे विचार से भगवान् ने अपने शरीर को यहाँ नहीं रक्खा ॥ १३ ॥ जो पुरुष, प्रातःकाल उठकर शुद्ध होकर भक्ति के साथ श्रीकृष्ण की इस दिव्यगति का कीर्त्तन करता है वह पुरुष उस ही उत्तमगति को पाता है ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णजी का विरह होनेपर दारुक द्वारका में आकर वसुदेवजी और उग्रसेन के चरणों में पड़ा और उन के चरणों को आँसुओं के जल से भिगोनेलगा ॥ १५ ॥ हे राजन्! उस ने सब यादवों के मरण का वृत्तान्त कहा, उस को सुनकर लोगों के हृदय दहलगये और वह शोक से मूर्छित होकर गिरपडे ॥ १६ ॥ श्रीकृष्णजी के विरह से विव्हल हुए वह सबजने, मुख को पीटतेहुए जहाँ यादव मरेहुए पडे थे तहाँ शीघ्रता से आये ॥ १७ ॥ देवकी, रोहिणी तथा वसुदेव, इन को अपने पुत्र श्रीकृष्णजी और बलराम नहीं दीखे इसकारण यह अतिव्याकुल हो मूर्छित होकर गिरपडे और उन को अपने शरीर का भी स्मरण नहीं रहा ॥ १८ ॥ भगवान् के विरह से व्याकुलहुए उन्होंने तहाँ प्राण छोड

स्त्रियः ॥ १९ ॥ रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ॥ वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन्हरेः स्नुषाः ॥ कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥ २० ॥ अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः ॥ आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः ॥ २१ ॥ बंधूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः सांपरायिकम् ॥ हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥ २२ ॥ द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत्क्षणात् ॥ वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥ २३ ॥ नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ॥ स्मृत्याऽशेषाशुभहरं सर्वमंगलमंगलम् २४॥ स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनंजयः ॥ इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥ २५ ॥ श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ॥ त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥ २६ ॥ य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ॥ कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २७ ॥ इत्थं हरेर्भगवतो रु-

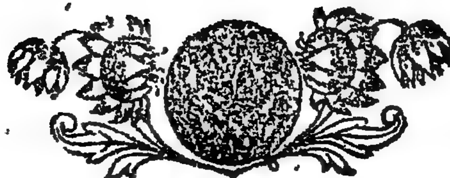
दिये; हे राजन्! स्त्रियें, पतियों को हृदयों से लगाकर चिताओं पर चढीं ॥ १९ ॥ बलरामजी की स्त्रियों ने उन के देह को आलिङ्गन करके अग्नि में प्रवेश करा, वसुदेवजी की स्त्रियों ने उन के शरीर को आलिङ्गन करके और श्रीहरि की पुत्र वधुओं ने प्रद्युम्नादिकों के शरीरों को आलिङ्गन करके अग्नि में प्रवेश करा, रुक्मिणी आदि श्रीकृष्णजी की स्त्रियों ने भी उन की ओर को चित्त लगाकर अग्नि में प्रवेश करा ॥२०॥ अर्जुन परमप्रिय मित्र के विरह से व्याकुलहुआ, परन्तु उस ने श्रीकृष्णजी के उपदेश करेहुए गीता के श्रेष्ठवाक्यों से अपने आत्मा को शान्ति दी ॥ २१ ॥ जिन के वंश को चलानेवाले नष्ट होगये, उन मृतबन्धुओं का पिण्डजलदान आदि कार्य शास्त्र की विधि के अनुसार क्रम से अर्जुन ने करवाया ॥ २२ ॥ हे महाराज! श्रीहरि के द्वारका त्याग करते ही एक क्षण में समुद्र ने वह नगरी, श्रीभगवान् के मन्दिर को छोडकर बाकी सारी डुबाली ॥२३॥ स्मरणमात्र से सकल अशुभों का नाश करनेवाले और सकलमङ्गलों का भी मङ्गल करनेवाले तिस मन्दिर में भगवान् मधुसूदन की नित्य समीपता है ॥ २४ ॥ जो मरने से शेष रही थीं उन स्त्रियों को, बालकों को और बूढों को लेकर अर्जुन, इन्द्रप्रस्थ को गया और तहाँ उस ने वज्र को राज्याभिषेक करदिया ॥ २५ ॥ हे राजन्! अर्जुन से जातिवालों के वध का वृत्तान्त सुनकर तुम्हारे पितामह पाण्डव तुम्हें वंश का आधार करके महामार्ग को चलेगये ॥ २६ ॥ जो मनुष्य, देवाधिदेव विष्णुभगवान् के इस जन्म और चरित्रों को श्रद्धा के साथ सुनता है वह सकल पापों से छूटजाता है ॥ २७ ॥ इसप्रकार इस में तथा

चिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शंतमानि ॥ अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥ २८ ॥ ७ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ ७ ॥ शुभमस्तु ॥

दूसरे भी ग्रन्थों में प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि के परमकल्याणकारी इन सुन्दर अवतार के चरित्रों को और बाललीला को जो मनुष्य सुनेगा उस को, परमहंसों को प्राप्त होनेयोग्य भगवान् के ऊपर अखण्डभक्ति प्राप्त होयगी ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में एकत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥ * ॥ ॥*॥

इतिश्रीमद्भागवतमहापुराणस्य, पश्चिमोत्तरदेशीयरामपुरनिवासि–मुरादाबादप्रवासि-भारद्वाजगोत्र–गौडवंश्य–श्रीयुतपण्डितभोलानाथात्मजेन, काशीस्थराजकीयप्रधान–विद्यालये प्रधानाध्यापक–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–महामहोपाध्याय-सत्सम्प्रदायाचार्य-पण्डितस्वामिराममिश्रशास्त्रिभ्योधिगतविद्येन, ऋषिकुमारोप–नामकपण्डितरामस्वरूपशर्मणा विरचितेनान्वयेन भाषानुवादेन च सहित एकादशस्कन्धः समाप्तः ॥

॥ समाप्तोयमेकादशस्कन्धः ॥



अथ द्वादशस्कन्धप्रारम्भः



श्रीकृष्णाय नमः ॥ राजोवाच ॥ स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे ॥ कस्य वंशोऽभवेत्पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ योऽन्त्यः पुरंजयो नाम भविष्यो बार्हद्रथः ॥ तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥ २ ॥ प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत्पालकः सुतः ॥ विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥ ३ ॥ नंदिवर्धनस्तत्पुत्रः पंच प्रद्योतना इमे ॥ अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यंति पृथिवीं नृपाः ॥ ४ ॥ शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ॥ क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥ ५ ॥ विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ॥ दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ६॥ नंदिवर्धन आजेयो महानंदिः सुतस्ततः ॥ शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ ७ ॥ समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ॥ महानंदिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥ ८ ॥ महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ॥ ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥९॥ स एकच्छत्रां पृ-

---

श्रीः ॥ राजा परीक्षित् ने प्रश्न करा कि-हे मुने शुकदेवजी ! यदुकुल के आभूषणरूप भगवान् श्रीकृष्णजी के निजधाम को चलेजानेपर इस पृथ्वीपर किस का वंश हुआ, यह मुझ से कहो ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् बृहद्रथ के वंश में जो अन्त का पुरञ्जय नामवाला राजा होयगा, जिस का वर्णन नवमस्कन्ध में करा है, उस का शुनक नामवाला मंत्री, अपने स्वामी को (पुरञ्जय को) मारकर उस की गद्दी पर अपने प्रद्योत नामक पुत्र को बैठावेगा, उस का पुत्र पालकनामा होयगा, उस का पुत्र विशाखयूप, तिस का पुत्र राजक होयगा, राजक का नन्दिवर्द्धन नामवाला पुत्र राजा होयगा ; हे राजन् ! प्रद्योतन नामवाले यह पाँच राजे एक सौ अड़तीस वर्षपर्यन्त पृथ्वी का पालन करेंगे ॥२॥ ॥ ३ ॥ ४ ॥ फिर उस से शिशुनाग होगा, उस का पुत्र काकवर्ण, उस का पुत्र क्षेमधर्मा, क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ होयगा ॥ ५ ॥ तिस का पुत्र विधिसार, तिस का अजातशत्रु होयगा उस का पुत्र दर्भक होगा, दर्भक का पुत्र अजय कहा है ॥ ६ ॥ अजय का नन्दिवर्धन, और उस का पुत्र महानन्दि होयगा, यह शिशुनाग आदि दश राजे कलियुग में तीन सौ साठवर्षपर्यन्त पृथ्वी का राज्य करेंगे,हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! फिर उस महानन्दि का शूद्री के गर्भ से कोई एक नन्दनामक पुत्र होयगा, वह महाबली और महापद्मसंख्या की सेना का अथवा इतने धन का स्वामी होकर क्षत्रियों का नाश करनेवाला होयगा और उस से आगे सब ही राजे शूद्रप्राय और अधर्मिक होजायँगे ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ वह महा-

थिवीमनुल्लंघितशासनः ॥ शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥ १० ॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ॥ य इमां भोक्ष्यन्ति महीं
राजानः स्म शतं समाः ॥ ११ ॥ नव नन्दान् द्विजः कश्चित्प्रपन्नानुद्धरिष्यति ॥
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥ १२ ॥ स एव चन्द्रगुप्तं
वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ तत्पुत्रो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥ १३ ॥
सुयशा भविता तस्य संगतः सुयशःसुतः ॥ शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भ-
विष्यति ॥ १४ ॥ शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद्बृहद्रथः ॥ मौर्या ह्येते दश
नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ॥ १५ ॥ समाः भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ॥
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात्सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति ॥ १६ ॥ वसुमित्रो भद्रकश्च पु-
लिंदो भविता सुतः ॥ ततो घोषः सुतस्तस्माद्वज्रमित्रो भविष्यति ॥ १७ ॥
ततो भागवतस्तस्माद्देवभूतिरिति श्रुतः ॥ शुंगा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्ष-

पद्मपति, राजा नन्द, जिस की आज्ञा का कोई उल्लंघन करनेवाला नहीं ऐसा होकर, मानो दूसरा परशुराम ही है ऐसे क्षत्रियों का संहार करताहुआ एकछत्र पृथ्वी का पालन करेगा ॥ १० ॥ उस नन्द के शूद्री से सुमाल्य आदि आठ पुत्र होयँगे वही आगे को राजे होकर सौ वर्षपर्यन्त इस पृथ्वी को भोगेंगे ॥ ११ ॥ फिर कोई एक चाणक्य नामवाला विश्वासघाती ब्राह्मण, नन्द और उस के आठ पुत्र इन नौ नन्दों को विश्वास दिलाकर उन का समूल नाश करेगा, उन के नष्ट होने पर फिर कलियुग में मौर्य नामवाले राजे पृथ्वी का पालन करेंगे ॥१२॥ हे राजन्! वह चाणक्य ब्राह्मण ही, मौर्यों में पहिले चन्द्रगुप्त को राज्य पर अभिषिक्त करेगा, उस चन्द्रगुप्त का पुत्र वारिसार होयगा, तिन से अशोकवर्धन होयगा॥१३॥ उस अशोकवर्धन का पुत्र सुयशा होयगा, सुयशा का पुत्र सङ्गत, तिस का शालिशूक शालिशूक का पुत्र सोमशर्मा होयगा॥१४॥ फिर उसका शतधन्वा, और तिसका बृहद्रथ होयगा, हे कुरुकुलश्रेष्ठ राजन्! यह दश मौर्य राजे कलियुग में एकसौ सैंतीस वर्ष पर्यन्त पृथ्वी को भोगेंगे, फिर उस बृहद्रथ का सेनापति पुष्पमित्र, अपने स्वामी बृहद्रथ को मारकर आपही राजा बनेगा, वही शुङ्गवंशों में पहिला होयगा, तिससे आगे अग्निमित्र होयगा, अग्निमित्र से सुज्येष्ठ होयगा ॥ १५ ॥ १६ ॥ उस का वसुमित्र, तिस का भद्रक, तिस का पुलिन्द पुत्र होयगा, तिस पुलिन्द से घोषपुत्र और घोष से वज्रमित्र होयगा॥१७॥ तिस से भागवत और भागवत से देवभूति नाम से प्रसिद्ध राजा होयगा, यह शुङ्ग

(१) यद्यपि यहाँ चन्द्रगुप्त आदि नौ राजे क्रम से कहे हैं तथापि पराशरादि के मत से पांचवां दशरथ नामक राजा है, उस के सहित यह दश होते हैं ।

शताधिकम् ॥ १८ ॥ ततः काण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान्नृप ॥ शुंगं
हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् ॥ १९ ॥ स्वयं करिष्यते राज्यं वसु-
देवो महामतिः ॥ तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः ॥ २० ॥ का-
ण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥ शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां
च कलौ युगे ॥ २१ ॥ हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली ॥ गां
भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कंचित्कालमसत्तमः ॥ २२ ॥ कृष्णनामाऽथ तद्भ्राता भ-
विता पृथिवीपतिः ॥ श्रीशांतकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥ २३ ॥
लंबोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माद्धि विकलो नृपः ॥ मेघस्वातिश्च विकलादटमानस्तु
तस्य च ॥ २४ ॥ अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः ॥ पुरीषभीरुस्त-
त्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥ २५ ॥ चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिंदम ॥
तस्यापि गोमती पुत्रः पुरीमान् भविता ततः ॥ २६ ॥ मेदशिराः शिवस्कन्दो
यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः ॥ विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चंद्रविज्ञः सलोमधिः ॥ २७ ॥
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च ॥ षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरु-

नामवाले दश राजे एक सौ बारह वर्ष पर्यन्त पृथ्वी का राज्य करेंगे ॥ १८ ॥ फिर यह भूमि हीनपराक्रमी कण्ववंशी राजाओं के वश में होजायगी ; हेराजन् ! स्त्रीलम्पट हुए उस देवभूति नामक शुङ्ग को मारकर उस का परमचतुर मन्त्री वसुदेव नामवाला कण्व स्वयं ही राज्य करेगा, उस का पुत्र भूमित्र, तिस का पुत्र नारायण और नारायण का पुत्र सुशर्मा होयगा ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥ हेराजन् ! वह वसुदेवादि कण्ववंश के चार राजे कलियुग में तीनसौ पैंतालीस वर्षपर्यन्त पृथ्वी का राज्य करेंगे ॥ २१ ॥ फिर कण्ववंशी अन्त के उस सुशर्म्मा को मारकर उस का ही सेवक कोई एक आन्ध्रजाति का बलीनामा दुष्ट शूद्र कुछ वर्षोंतक पृथ्वी का राज्य करेगा । २२ ॥ उस बलि राजा का कृष्ण नामवाला भ्राता राजा होयगा, उस का पुत्र श्रीशान्तकर्ण, तिस का पुत्र पौर्णमास ॥ २३ ॥ तिस का पुत्र लम्बोदर, तिस से चिविलक राजा होयगा, तिस से मेघस्वाति तिस का अटमान ॥ २४ ॥ अटमान का अनिष्टकर्म्मा, अनिष्टकर्मा का हालेय, हालेय का तलक, तलक का पुत्र पुरीषभीरु, तिस का पुत्र सुनन्दन राजा होयगा ॥ २५ ॥ तिस सुनन्दन का पुत्र चकोर होयगा, हे शत्रुदमन राजन् ! तिस चकोर के भिन्न २ नामवाले आठ पुत्रों में अन्त का पुत्र शिवस्वाति नामवाला होयगा, तिस का पुत्र गोमती, तिस से पुरीमान् होयगा ॥ २६ ॥ तिस का पुत्र मेदशिरा, तिस का शिवस्कन्द तिस का यज्ञश्री, तिस का विजय, विजय का पुत्र चन्द्रविज्ञ और चन्द्रविज्ञ का पुत्र सलोमधि नामवाला होयगा ॥ २७ ॥ हे कुरुनन्दन राजन् ! यह तीस राजे चार सौ छप्पन वर्ष

नन्दन ॥ २८ ॥ सप्ताभीरा आवभृत्या दश गार्दभिनो नृपाः ॥ कंकाः षोडश भूपाला भविष्यन्ति च लोलुपाः ॥ २९ ॥ ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः ॥ भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैव तु ॥ ३० ॥ एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दश वर्षशतानि च । नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिं ॥ ३० ॥ भोक्ष्यंत्यब्दशतान्यंग त्रीणि तैः संस्थिते ततः ॥ किलिकिलायां नृपतयो भूतनंदोऽथ वंगिरिः ॥ ३२ ॥ शिशुनंदिश्च तद्भ्राता यशोनंदिः प्रवीरकः ॥ इत्येते वै वर्षशतं भविष्यंत्यधिकानि षट् ॥ ३३ ॥ तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः ॥ पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥ ३४ ॥ एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कौशलाः ॥ वैदूरपतयो भाव्या नैषधास्तत एव हि ॥ ३५ ॥ मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरंजयः ॥ करिष्यत्यपरो वर्णान्पुलिंदयदुमद्रकान् ॥ ३६ ॥ प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः ॥ वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि ॥ अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां

पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेंगे ॥२८॥ तदनन्तर अवभृति नामवाली नगरी में सात आभीर जाति के राजे होंगे, फिर दश गर्दभी नामवाले राजे होंगे, फिर अतिलोभी सोलह कङ्क-जाति के राजे होंगे ॥ २९ ॥ फिर आठ यवन, चौदह तुरुष्क (तुरकिस्तान के तुरक) फिर दश गुरुण्ड और ग्यारह मौन नामवाले राजे होयँगे ॥ ३० ॥ हे राजन्! मौन राजों के सिवाय यह आभीर आदि पैंसठ राजे, एक सहस्र निन्यानवेवर्ष पृथ्वी का राज्य करेंगे, और फिर ग्यारह मौन राजे तो तीनसौवर्ष राज्यकरेंगे इन मौनोंके मरणको प्राप्त होनेपर किलकिला नामक नगरी में भूतनन्दादि आगे वर्णन करेंहुए राजे होयँगे; तिन में पहिला भूतनन्द फिर वंगिरि-।३१।३२। उस के अनन्तर उस के भ्राता शिशुनन्दी, यशोनन्दी और प्रवीरक यह, एक सौ छः वर्ष पर्यन्त राजे होंगे॥३३॥फिर उन भूतनन्दादि के क्रम से बाल्हीक नामक तेरह पुत्र राजे होंगे, फिर एक दूसरा पुष्पमित्र नामवाला क्षत्रिय राजा होयगा और उस का पुत्र दुर्मित्र नामक होयगा॥३४॥फिर उन पहिले कहेहुए वाल्हीकों के वंशों में से सात आन्ध्र देश के राजे, सात कोसल देश के राजे कुछ विदूर देश के राजे और कुछ निषधदेश के राजे, यह तिन २ देशों के नामों से प्रसिद्ध होतेहुए एक समय में भिन्न २ खण्डों के स्वामी होकर राज्य करेंगे ॥३५॥ मागधवंश में तो विश्वस्फूर्जि राजा होयगा, वह 'दूसरा पुरञ्जय है' ऐसा प्रसिद्ध होकर 'ब्राह्मणादि वर्णों को भ्रष्ट करके' पुलिन्द, यदु, और मद्रक, इन म्लेच्छ समान वर्णों को करेगा ॥ ३६ ॥ वह दुष्ट वीर्यवान् पुरञ्जय, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णों से रहित शूद्रवर्ण की प्रजा स्थापन करके और क्षत्रियों का नाश करके, पद्मवती नगरी में गङ्गाद्वार से प्रयागपर्यन्त रक्षा करीहुई पृथ्वी को भोगेगा

भोक्ष्यन्ति मेदिनीम् ॥ ३७ ॥ सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूद्रा अर्बुदमालवाः ॥ व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः ॥ ३८ ॥ सिंधोस्तटं चन्द्रभागां कौंतीं काश्मीरमण्डलम् ॥ भोक्ष्यन्ति शूद्रव्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः ॥ ३९ ॥ तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः ॥ एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥४०॥ स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ॥ उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥ ४१ ॥ असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसा वृताः ॥ प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः ॥ ४२ ॥ तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः ॥ अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यंति पीडिताः ॥ ॥ ४३ ॥ इतिश्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ॥ कालेन बलिना राजन्नंक्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥ १ ॥ वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः ॥ धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥ २ ॥ दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके ॥ स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥ ३ ॥ लिंगमेवा-

---

॥ ३७ ॥ फिर सौराष्ट्र, आवन्त्य, शूर, अर्बुद और मालवा इन देशों में के द्विज यज्ञोपवीतसंस्कारहीन होंगे और राजे भी शूद्रसमान होंगे ॥३८॥ सिन्धुनदी का तट, चन्द्रभागानदी का देश, कौन्ती नगरी और काश्मीर देशों का भोग, शूद्र, म्लेच्छ, वेदाचाररहित ब्राह्मण और संस्कारहीन पुरुष करेंगे ॥ ३९॥ हे राजन्! यह म्लेच्छसमान राजे, एक ही काल में होंगे, और यह अधर्म तथा असत्य में तत्पर, अल्पदानी, परमकोपी, स्त्री-बालक-गौ-ब्राह्मण की हत्या करनेवाले, परस्त्री और परधन को चाहनेवाले, अनेकप्रकार के हर्ष शोक आदि से युक्त, अल्पपराक्रमी, अल्पायु-॥४०॥४१॥ संस्कारहीन, क्रियाहीन और रजोगुण तमोगुणों से भरेहुए होंगे, वह राजाओं के रूप धारनेवाले म्लेच्छ, धन आदि छीनकर प्रजाओं को पीडा देंगे ॥ ४२ ॥ ऐसे राजाओं के देशों में रहनेवाले और उन्हीं के समान, शील, आचार तथा वादविवाद करनेवाले पुरुष, परस्पर के क्लेशों से और राजाओं के करेहुए उपद्रवों से पीडित होकर नाश को प्राप्त होजायँगे ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में प्रथम अध्याय समाप्त ॥*॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! आगे को बलवान् कलियुग के प्रभाव से दिन २ धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मरणशक्ति का धीरे २ नाश होजायगा ॥१॥ हे राजन्! कलियुग में धन ही, मनुष्यों की जन्म, आचार और गुणों की उन्नति का कारण होयगा, बल ही धर्म और न्यायकी व्यवस्था में कारण होयगा ॥२॥ आपस की प्रीति ही स्त्रीपुरुषों के सम्बन्ध का कारण होगी, कुल गोत्र आदि का कोई विचार नहीं करेगा; बेचने खरीदने के व्यापार में कपट बहुत होया, मैथुन की चतुरता ही स्त्री पुरुषों की श्रेष्ठता का कार-

असंख्यातावन्योऽन्यापत्तिकारणम् ॥ अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पांडित्ये चापलं
वचः ।४। अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दंभ एव तु ॥ स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव
प्रसाधनं ॥५॥ दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्ये केशधारणं ॥ उदरंभरता स्वार्थः सत्यत्वे
धाष्ट्र्यमेव हि ॥६॥ दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोर्थे धर्मसेवनम् ॥ एवं प्रजाभिर्दुष्टा
भिराकीर्णे क्षितिमंडले ॥७॥ ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः ॥ प्रजा
हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ॥ ८ ॥ आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यंति
गिरिकाननम् ॥ शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥ ९ ॥ अनावृष्ट्या
विनंक्ष्यंति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥ शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ॥१०॥
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव संतापेन च चिंतया ॥ त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः

रण होगी, कुल और आचार नहीं; यज्ञोपवीत ही ब्राह्मण की पहिचान होगी ॥ ३ ॥ दण्ड मृगछाला आदि चिन्हही संन्यासी ब्रह्मचारी आदि की पहिचान होगी, तथा वह चिन्ह ही एक आश्रम को छोड़ दूसरा आश्रम पाने का साधन होगा; आचार की ओर को कोई ध्यान नहीं देगा; धनदेने आदि की शक्ति न होने पर न्याय (मुकद्दमे) में हार होयगी, चपलता से बहुत बोलनाही पण्डितपने का साधन होगा ॥ ४ ॥ दारिद्रता ही नीचपने का (चोरआदि मानने का) साधन होगी, बनावट रखना ही साधुपने का कारण होगी, आपसमें आपस का स्वीकार करना ही विवाह मे विधि होगी, स्नान करना ही देह का आभूषण होगा ॥ ५ ॥ दूर का जलाशय ही तीर्थ मानाजायगा, समीप में के गङ्गा, गुरु और पिताआदि को कोई तीर्थ नहीं मानेगा, अनेक प्रकार से केश रखना ही सुन्दरता का कारण होगा, पेट भरलेना ही बड़ाभारी पुरुषार्थ मानाजायगा; उद्धतता के साथ जोर से बोलना ही सत्यता का कारण होयगा ॥ ६ ॥ कुटुम्ब का पालन करना ही चतुराई, और कीर्त्ति के निमित्त ही धर्म का आचरण होयगा हे राजन्! इसप्रकार दुष्ट प्रजाओं से भूमण्डल के व्याप्त होजाने पर ॥ ७ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में जोकोई बलवान् होगा वहीराजा होयगा, तब चोरोंकी समान लुटेरे, निर्दयी और लोभी राजाओं ने जिन की स्त्रियें और धन हरलिये हैं ऐसे पुरुष नगरों को छोड़कर पर्वत और वनो में को चले जायँगे और तहाँ वृक्षों के पत्ते, जड़, लकड़ी, गोंद, फल, फूल, और गुठली आदि खाकर निर्वाह करेंगे ॥ ८ ॥ ९ ॥ कितने ही, अवर्षा के कारण पड़ेहुए दुष्काल और राजाओं के लगाए हुए कर (टेक्स) से पीड़ित होकर, शीत, पवन, धूप और वर्षा तथा वरफ से पीड़ित होकर और आपस में कलह करके नष्ट होजायँगे ॥ १० ॥ कितनी ही प्रजा, भूँख प्यास, अनेक प्रकार के रोग सन्ताप और चिंता से अति दुःखित होंगे, कलियुग में मनुष्यों की आयु बहुत थोड़ी अर्थात् बीस से

कलौ नृणाम् ॥ ११ ॥ क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः ॥ वर्णाश्रमवतां
धर्मे नष्टे वेदपथे नृणां ॥ १२ ॥ पाखंडप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु ॥ चौ-
र्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥ १३ ॥ शूद्रप्रायेषु वर्णेषु च्छागप्रायासु
धेनुषु ॥ गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बंधुषु ॥ १४ ॥ अणुप्रायास्वोषधीषु
शमीप्रायेषु स्थास्नुषु ॥ विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥ १५ ॥ इत्थं
कलौ गतप्राये जने तु खरधर्मिणि ॥ धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति
॥ १६ ॥ चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः ॥ धर्मत्राणाय साधूनां ज-
न्म कर्मापनुत्तये ॥ १७ ॥ शंभलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ॥ भवने
विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥ १८ ॥ अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं ज-
गत्पतिः ॥ असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥ १९ ॥ विचरन्नाशुना क्षो-
ण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः ॥ नृपलिंगच्छदो दस्यून्कोटिशो निहनिष्यति ॥ २० ॥

तीस पर्यन्त होगी ॥ ११ ॥ हे राजन्! कलियुग के दोष से जब प्राणीमात्र के देह छोटे २ होजायँगे, वर्णाश्रम वाले मनुष्यों का वेदविहित धर्म नष्ट होजायगा ॥ १२ ॥ धर्म में नास्तिकता अधिक बढ़ेगी, राजे चोरों की समान (लुटेरे) होंगे, सबजने—चोरी, झूँठ बोलना, विनाकारण हिंसा आदि अनेक प्रकार के कर्मों से अपना निर्वाह करेंगे ॥ १३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह वर्ण प्रायः शूद्रतुल्य होंगे, गौ बकरियों सी होंगी संन्यासी आदि आश्रम वाले, गृहस्थों का सा वर्त्ताव करेंगे, स्त्रियों के पिता भ्राता आदि को ही सगा सम्बन्धी माना जायगा ॥ १४ ॥ वनस्पति बड़े सूक्ष्म होजायँगे, वृक्ष, शमी के से छोटे होजायँगे, मेघों में जल थोड़ा और बिजली की चमक अधिक होगी तथा घर अतिथि भोजन आदि धर्मों से रहित होंगे ॥ १५ ॥ लोगों की ऐसी दशा होकर असह्य चेष्टावाले कलियुग के समाप्त होने को आनेपर, श्रीविष्णु भगवान् सत्त्वगुण के द्वारा धर्म की रक्षा के निमित्त कल्किरूप से अवतार धारण करेंगे ॥ १६ ॥ चराचर के गुरु और सब जगत् के कारण ऐसे उन जगत्पति विष्णुभगवान् का अवतार धर्म की रक्षाकरने को और साधुओं को मोक्ष देने को होता है ॥ १७ ॥ वह कल्कि अवतार शम्भलनामक गाँव में श्रेष्ठ, विष्णुयश नामवाले महात्मा ब्राह्मण के घर प्रकट होगा ॥ १८ ॥ और अणिमादि आठ ऐश्वर्यों से तथा सत्यसङ्कल्प आदि गुणों से युक्त वह परम कान्तिमान् कल्किभगवान्, दुष्टों को दण्डदेनेवाले और शीघ्रगामी देवदत्तनामक घोड़े पर बैठकर उस शीघ्रगामी घोड़े के द्वारा पृथ्वी पर फिरते हुए हाथ में धारण करीहुई तलवार से राजाओं के वेष में छुपेहुए करोड़ों चोरों को मारेंगे ॥ १९ ॥ २० ॥

अथ तेषां भविष्यंति मनांसि विशदानि वै ॥ वासुदेवांगरागातिपुण्यगंधा-
निलस्पृशां ॥ पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥ २१ ॥ तेषां प्रजावि-
सर्गश्च स्थविष्ठः संभविष्यति ॥ वासुदेवे भगवति सत्वमूर्तौ हृदि स्थिते॥२२॥
यदावतीर्णो भगवान्कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ॥ कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च
सात्विकी ॥ २३। यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ॥ एकराशौ समे-
ष्यंति तदा भवति तत्कृतम्॥२४॥ येऽतीता वर्तमाना ये भविष्यंति च पार्थिवाः॥
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः॥२५॥आरभ्य भवतो जन्म या-
वन्नंदाभिषेचनम् ॥ एतद्वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥ २६ ॥ सप्तर्षीणां तु
यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि ॥ तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत्समं निशि
॥ २७ ॥ तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतानि च ॥ ते त्वदीये द्विजाः
काले अधुना चाश्रिता मघाः ॥२८॥ विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ

हे राजन् इसप्रकार सब चोरों के मारेजाने पर उन कल्किरूप भगवान् के अङ्ग को लगेहुए उब-टन के अतिपवित्र सुगन्धित वायु से स्पर्श करेहुए उन पुरवासी और देशवासी लोकों के मन निर्मल होजायँगे ॥२१॥ और उन के हृदय में सत्त्वमूर्त्ति भगवान् वासुदेव के स्थित होने पर आगे को उन की प्रजा की सृष्टि उत्तरोत्तर बडी होती जायगी ॥ २२ ॥ हे राजन्! जब धर्मपति भगवान् श्रीहरि, कल्किरूप से अवतरेंगे तब सत्ययुग की प्रवृत्ति होयगी और प्रजाओं की उत्पत्ति भी सत्त्वगुणी होयगी ॥ २३ ॥ जब चन्द्रमा, सूर्य, बृहस्पति इन तीनों ग्रहों का संयोग होकर वह कर्क राशि पर तिस में पुष्य नक्षत्र पर एकसाथ प्रवेश करते हैं तब कल्कि अवतार होकर वह सत्ययुग प्रवृत्त होता है ॥ २४ ॥ हे राजन्! चन्द्रवंश और सूर्यवंश के राजे, जो पहिले होगये हैं तथा जो हैं और जो आगे को होंगे वह सब राजे मैंने तुम से संक्षेप से कहे हैं ॥२५॥ हे राजन्! तुम्हारा जन्म होने से नन्दराजा को राज्यभिषेक होने पर्यन्त, इतने यह कलियुग के ग्यारह सौ पन्द्रह (१११५) वर्ष होंगे ॥ २६ ॥ हे राजन्! आकाश में रात्रि के समय सप्तऋषि का उदय होता है, तब जो दो तारे प्रथम उदय होतेहुए दीखते हैं वह पुलहक्रतु दो ऋषि हैं, उन में से दक्षिणोत्तर रेखा पर समभाग में अश्विनी आदि नक्षत्रों में का जो एक नक्षत्र दीखता है ॥ २७ ॥ उस ही नक्षत्र से युक्त सप्तऋषि, मनुष्यों के सौ वर्ष तक रहते हैं और वह सप्तऋषि अब तुम्हारे समय में मघा नक्षत्र पर हैं ॥ २८ ॥ जब भगवान्विष्णु का यह शुद्ध सत्त्वगुणी कृष्ण

१ यद्यपि प्रत्येक बारह २ राशियों करके कर्क राशिपर बृहस्पति के आनेपर दो वा तीन अमावा-स्याओं के दिन चन्द्र, सूर्य और बृहस्पति का पुष्य नक्षत्र से योग होता है तथापि वह एकसाथ हों ऐसा योग सत्ययुग के आरम्भ में ही आता है ऐसा जाने ।

२ ग्यारह सौ पन्द्रह संख्या मूल में किसी विवक्षा का से अन्तर्गत संख्या कही है वास्तव में पूर्वापर का विचार करने पर चौदह सौ अट्ठानवे वर्ष होते हैं ।

दिवं गतः ॥ तदाऽविशत्कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः ॥ २९ ॥ यावत्स
पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ॥ तावत्कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चा-
शकत् ॥ ३० ॥ यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ॥ तदा प्रवृत्तस्तु
कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥ ३१ ॥ यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां म-
हर्षयः ॥ तदा नन्दात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ३२ ॥ यस्मिन्कृष्णो
दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाऽहनि ॥ प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः
॥ ३३ ॥ दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ॥ भविष्यति यदा नृणां
मन आत्मप्रकाशकम् ॥ ३४ ॥ इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि ॥
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥ ३५ ॥ एतेषां नामलिं-
गानां पुरुषाणां महात्मनां ॥ कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥
॥ ३६ ॥ देवापिः शंतनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः ॥ कलापग्राम आसाते म-
हायोगबलान्वितौ ॥ ३७ ॥ ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ॥ वर्णा-

नामक शरीर वैकुण्ठलोक में गया उससमय लोक में कलि का प्रवेश हुआ, जिस कलि के
समय लोक पाप में मग्न होते हैं ॥ २९ ॥ जब तक वह लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णजी,
अपने चरणकमलों से पृथ्वी को स्पर्श करते रहे तबतक 'पहिले सूक्ष्मरूप से प्रविष्ट हुआ
भी' कलियुग, पृथ्वी का तिरस्कार करने को (पृथ्वी पर अपना पराक्रम चलाने को)
समर्थ नहीं हुआ ॥३०॥ जब से सप्तऋषि मघा नक्षत्र पर विचरते हैं तब से 'पहिले
प्रविष्ट हुआ' संध्या और संध्यांशोंसहित दिव्य प्रमाण से बारह वर्ष का जो कलि वह
सन्ध्याकाल का उल्लंघन करके प्रवृत्त हुआ है ॥३१॥ जब वह सप्तऋषि, मघा पर से क्रम २
करके पूर्वाषाढा नक्षत्र पर जायँगे तब यह कलि, 'प्रद्योतन राजा से लेकर बढता हुआ, नन्द-
राजा के समय अत्यन्त ही बढजायगा ॥३२॥ जिस दिन जिस समय भगवान् श्रीकृष्णजी,
वैकुण्ठ को गये उसी दिन उसी समय कलियुग प्रवृत्त हुआ ऐसा पूर्वकाल के जाननेवाले कहते
हैं ॥३३॥ हे राजन् ! जब मनुष्यों का मन, आत्मस्वरूप का प्रकाशक होयगा तब कलियुग
की सन्ध्या और सन्ध्यांशोंसहित, देवताओं के प्रमाण से सहस्र वर्ष होजाने पर फिर सत्ययुग
प्रवृत्त होयगा ।३४। इसप्रकार यह वैवस्वत मनु का वंश भूमि पर जैसा ऊँचीनीची दशाओं
से कहा है तैसे ही वैश्य शूद्र और ब्राह्मणों की भी वह २ दशा प्रत्येक युग में होती हैं ॥ ३५ ॥
हे राजन् ! कथामात्र शेष रहेहुए और नामों से ही पहिचानेजानेवाले इन महात्मा पुरुषों
की कीर्त्ति ही भूमिपर शेष रही है ॥ ३६ ॥ शन्तनु का भ्राता देवापी और इक्ष्वाकु वंश
का राजा मरु यह दोनों चन्द्र-सूर्यवंश के हैं, हे राजन् ! महायोगबल के प्रभाव से समाधि
लगाकर, योगियों के रहने के स्थान कलाप गांव में रहते हैं ॥ ३७ ॥ वह दोनों राजे, क-

श्रमयुतं धर्मं पूर्ववत्प्रथयिष्यतः ॥ ३८ ॥ कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ॥ अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥ ३९ ॥ राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथाऽपरे ॥ भूमौ ममत्वं कृत्वाऽन्ते हित्वेमां निधनं गताः ॥ ॥४०॥ कृमिविड्भस्मसंज्ञाऽन्ते राजनाम्नोपि यस्य च ॥ भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ ४१ ॥ कथं सेयमखंडा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता ॥ मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य च ॥४२॥ तेजोऽवन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाऽबुधाः ॥ महीं ममतया चोभौ हित्वाऽन्तेऽदर्शनं गताः ॥४३॥ ये ये भूपतयो राजन्भुंजंति वसुधामोजसा ॥ कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥ ४४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान्नृपान्हसति भूरियम् ॥ अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥ १ ॥ काम एष नरेंद्राणां मोघः स्या-

लियुग के अन्त में भगवान् वासुदेव की आज्ञा से फिर लौटके आकर इस भूमिपर पहिले की समान वर्णाश्रमधर्मों को प्रसिद्ध करेंगे ॥ ३८ ॥ सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलि, यह चारों युग इस ही क्रम से पृथ्वी पर प्राणिमात्र में वर्त्तते हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन्! मेरे कहेहुए यह राजे और दूसरे भी बहुतसे राजे इस पृथ्वी पर ममता करके और अन्त में इस को त्यागकर आप ही मरण को प्राप्त होगये हैं ॥ ४० ॥ हे राजन्! राजानामवाले जिस देह का अन्त में 'सड़ने पर' कीड़े, 'कुत्तों के खालेने पर, विष्ठा, और 'भस्म होजानेपर' राख यह नाम प्राप्त होता है ऐसे देह के निमित्त जो कोई प्राणियों से द्रोह करता है, क्या वह अपने स्वार्थ को जानता है? नहीं जानता; क्योंकि— जिस प्राणिमात्र के द्रोह से नरकप्राप्त होता है ॥ ४१ ॥ जो अखण्ड पृथ्वी मेरे पूर्वजोंने धारण करी थी अर्थात् जिस का मेरे पूर्व पुरुषों ने पालन कराथा और जो इससमय मेरे पास है वह अखण्ड पृथ्वी, मेरे पुत्रपै मेरेपोते पै और वंशवालों पै कैसे रहेगी ? ॥४२॥ इसप्रकार वह मूर्ख राजे, तेज,जल और अन्नमय शरीर को 'यह अपना है' ऐसा मानकर और पृथ्वी को 'यह मेरी है' ऐसा मानकर रहनेपर अन्त में देह और पृथ्वी दोनो को त्यागकर मरण को प्राप्त हुए हैं ॥ ४३ ॥ हेराजन्! जिन २ राजाओं ने अपने पराक्रम से पृथ्वी को भोगा है उन सबही राजाओं को कालने, कथाओं में कहनेमात्र कररक्खा है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहाकि—हेराजन्! यह पृथ्वी, अपने को जीतने के निमित्त उद्यत हुए राजाओं को देखकर उन की मूर्खता के विषय में हास्य करती है और कहती है कि—अहो! मृत्यु के खिलौने रूप यह राजे मुझे जीतने की इच्छा करते हैं?

द्विदुषामपि ॥ येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः ॥ २ ॥ पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः ॥ ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य कण्टकान् ॥ ३ ॥ एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलां ॥ इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ॥ ४ ॥ समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा ॥ कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥ ५ ॥ यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह ॥ गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ॥ ६ ॥ मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः ॥ जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसां ॥७॥ ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः ॥ स्पर्द्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ॥८॥ पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः ॥ मांधाता सगरो रामः खट्वांगो धुन्धुहा रघुः ॥९॥ तृणबिंदुर्ययातिश्च शर्यातिः शंतनुर्गयः ॥ भगीरथः कुवलयाश्वः

॥१॥ अहो ! जिस मनोरथ से पानी के बुलबुले की समान नाशवान् अपने शरीर के ऊपर 'यह अजर अमर है ऐसा मानकर' अत्यन्त विश्वास करेहुए हैं उन 'हमारे बाप दादा आदि पूर्व पुरुष मरण को प्राप्त होगये और हम भी मरेंगे ऐसा, जाननेवाले भी राजाओं का इस पृथ्वी को जीतने का मनोरथ व्यर्थ ही होता है ॥ २ ॥ विषयलम्पट पुरुष को राज्य नहीं मिलता है इस कारण हम पहिले पाँच इन्द्रियें और छठे मन को जीतकर देवताओं को प्रसन्न करे और राजाओंके मंत्रियों को वश में करके फिर शत्रुओं का तिरस्कार कर उन के मंत्री, पुरवासी, राजगुरु आदि हितू और बड़े २ हाथियों को अपने वश में करलें ॥ ३ ॥ इस क्रम से धीरे २ समुद्र के तटपर्यन्त की सब पृथ्वी को जीतकर राज्य करेंगे ऐसी आशा मन में घोलतेहुए वह राजे, समीप आपहुंचे हुए अपने मृत्यु को भी नहीं देखते हैं अर्थात् आशा करते २ ही मरजाते हैं ॥ ४ ॥ कितने ही तो समुद्र से घिरी हुई मुझे जीतकर भी, बड़ी तृष्णा से समुद्र पार के देशों में भी राज्य करने को जाते हैं, परन्तु इन्द्रियों को जीतने का यह फल नहीं है, क्योंकि-यह अति तुच्छ है, वास्तव में इन्द्रियों को जीतने का फल साक्षात् मोक्ष है ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन ! वह पृथ्वी और यह भी कहती है कि-जिस मुझे छोड़कर मनु और मनु के पुत्र आदिराजे जैसे आये थे तैसेही फिर मरगये ऐसी मुझ को यह बुद्धिहीन राजे-युद्ध में जीतने की इच्छा करते हैं यह कितना आश्चर्य है ? ॥ ६ ॥ देखो ! मेरी २ कहकर मुझ में आसक्त चित्तहुए इन दुष्टों का, मेरे निमित्त पिता पुत्र में और भ्राता २ में परस्पर कलह होता है ॥७॥ यह सब पृथ्वी मेरीही है, अरेमूर्ख ! तेरी नहीं है, ऐसा वादविवाद करनेवाले वह राजे आपस में सलाह करके, मेरे निमित्त दूसरों को मारते हैं और आपभी मरते हैं ॥ ८ ॥ पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, सहस्रार्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, धुन्धुहा, रघु ॥ ९ ॥ तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व,

ककुत्स्थो नैषधो नृगः ॥ १० ॥ हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः ॥
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥ ११ ॥ अन्ये च बहवो दैत्या
राजानो ये महेश्वराः ॥ सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥ १२ ॥
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ॥ कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः
कृता विभो ॥ १३ ॥ कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः
परेयुषाम् ॥ विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥ १४ ॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ॥ तमेव नित्यं शृणुया-
दभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥ १५ ॥ राजोवाच ॥ केनोपायेन
भगवन्कलेर्दोषान्कलौ जनाः ॥ विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने ॥
॥ १६ ॥ युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः ॥ कालस्येश्वररूपस्य गतिं
विष्णोर्महात्मनः ॥ १७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनै-
र्धृतः ॥ सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥ १८ ॥ संतुष्टाः करुणा

ककुत्स्थ नैषध, नृग यह राजे ॥ १० ॥ और हिरण्यकशिपु, वृत्र, लोकों को दुःख देनेवाला रावण, नमुचि, शम्बर, भौम (नरकासुर) हिरण्याक्ष और तारकासुर यह दैत्य ॥ ११ ॥ और भी बहुतसे दैत्य और राजा कि-जो बडे२ ऐश्वर्यवाले होकर भी सर्वज्ञ, और सब ही कहीं पराजय न पानेवाले होकर सबों को जीतनेवाले शूर राजे और दैत्य मेरे ऊपर (पृथ्वी के ऊपर) बडी ममता करतेरहे उन को भी मरणधर्मा होने के कारण मनोरथ पूर्ण होने से पहिले ही काल ने कहनेमात्र को शेष रक्खा है अर्थात् वह मरण को प्राप्त होकर कहने मात्र को शेष रहगये हैं, हे परमसमर्थ राजन् ! ऐसा पृथ्वी ने वर्णन करा है ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ हे राजन् ! विषयों की असारता को जानना और उन से वैराग्य का वर्णन करने की इच्छा से लोकों में कीर्त्ति को फैलाकर मरण को प्राप्त हुए राजाओं की यह कथा कही हैं, परन्तु हे राजन् ! वह केवल वाणी का विलास ही हैं, परमार्थरूप नहीं हैं ॥ १४ ॥ इस लोक में जो सब दोषों का नाशक पुण्यकीर्त्ति भगवान् का गुणानुवाद वार २ कहने में आता है, वही कथाओं में साररूप है इसकारण जो कृष्ण भगवान् में निर्मल भक्ति चाहे वह निरन्तर और वार २ उस को सुनै ॥ १५ ॥ राजा ने कहा कि–हे भगवन्शुकमुने ! कलियुग में पुरुष, कलियुग के बढ़ेहुए दोषोंको किस उपाय से दूर करेंगे ? सो मुझसे ठीक २ कहिये ॥ १६ ॥ और युग, युगों के धर्म, प्रलय और स्थितिकाल का प्रमाण तथा ईश्वररूप विष्णुमूर्त्ति महात्मा काल की गति भी कहो ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा कि–हे राजन् ! सत्ययुग में उस समय के लोगों का धारण कराहुआ चार चरणोंवाला धर्म प्रवृत्त होता है; सत्य, दया, तप और दान (रागद्वेष न करके अभय देना) यह धर्म के चार चरण हैं

मैत्राः शांता दांतास्तितिक्षवः ॥ आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः
॥ १९ ॥ त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः ॥ अधर्मपादैरनृतहिंसाऽ-
संतोषविग्रहैः ॥ २० ॥ तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लंपटाः ॥ त्रैवर्गि-
कास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥ २१ ॥ तपःसत्यदयादानेष्वर्द्धं ह्रसति
द्वापरे ॥ हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥ २२ ॥ यशस्विनो महाशालाः
स्वाध्यायाध्ययने रताः ॥ आढ्याः कुटुंबिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तमाः॥२३॥
कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः ॥ एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोपि
विनंक्ष्यति ॥ २४ ॥ तस्मिन्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः ॥ दुर्भगा
भूरितर्षाश्च शूद्रदासोत्तराः प्रजाः ॥ २५ ॥ सत्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे
गुणाः ॥ कालसंचोदितास्ते वै परिवर्तन्ते आत्मनि ॥ २६ ॥ प्रभवन्ति
यदा सत्वे मनोबुद्धींद्रियाणि च ॥ तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः

॥ १८ ॥ उस युग में के लोग, दैवसे जो अन्न आदि मिले उतने से ही सन्तोष मान ने वाले, पराये दुःख को, दूर करनेवाले, सब से मित्रभाव रखनेवाले, शान्त, जितेन्द्रिय सुख दुःखादि द्वन्द्वों को सहनेवाले, आत्मा में मगन रहनेवाले, सब में समदृष्टि रखनेवाले और प्रायः आत्माभ्यास करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥ त्रेता में—झूँठबोलना, हिंसा, असन्तोष और कलह इन अधर्म के चार चरणों का चौथाभाग धीरे २ नष्ट होता है ॥ २० ॥ हे राजन्! उस समय पुरुष, अधिक हिंसा न करनेवाले, और विषयोंपर अधिक आसक्त न होकर यज्ञादि क्रिया और तप में तत्पर,धर्मार्थ काम में लवलीन, वेद के कहे कर्म में चतुर और जिन में ब्राह्मणवर्ण ही अधिक है ऐसे होते हैं ॥ २१ ॥ फिर द्वापर में—हिंसा, असन्तोष, मिथ्याभाषण और द्वेष इन अधर्म के चार चरणों से; तप,सत्य, दया और दान इन धर्म के चारो चरणों का आधा २ भाग नष्ट होजाता है ॥ २२ ॥ इस से उस द्वापर युग में के लोग—कीर्ति को प्रिय माननेवाले, उदारस्वभाववाले, वेद पढ़ने में तत्पर, धनी, कुटुम्बप्रेमी, आनन्दी और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जिन में मुख्य हैं ऐसे होते हैं ॥ २३ ॥ कलियुग में तो—बढ़ेहुए और अधर्म के कारण ऐसे अधर्म के चरणों से धर्म के चरणों का चौथाभाग शेष रहजाता है और वह भी धीरे २ क्षीण होकर अन्त में नष्ट होजायगा ॥ २४ ॥ तिस कलियुग में के लोग—लोभी, दुराचारी, निर्दयी, निष्कारण वैर करनेवाले हतभाग्य, 'धन की' अतितृष्णा करनेवाले और शूद्र दास जिन में मुख्य मानेजायँ ऐसे होंगे ॥ २५ ॥ सत्त्व, रज और तम यह गुण पुरुष में दीखते हैं और काल के प्रेरणा करेहुए वह गुणही अन्तःकरण में घूमते रहते हैं ॥ २६ ॥ जब मन, बुद्धि और इन्द्रियें, सत्त्वगुण में अधिक प्रवृत्त होती हैं उस समय सत्ययुग जानै, जिस

॥ २७ ॥ यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम् ॥ तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥ २८ ॥ यदा लोभस्त्वसंतोषो मानो दंभोऽथ मत्सरः ॥ कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥ २९ ॥ यदा मायाऽनृतं तंद्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ॥ शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥३०॥यस्मात्क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः॥कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥३१॥दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाखंडदूषिताः ॥ राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः ॥ ३२ ॥ अव्रता बटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुंबिनः ॥ तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनो ह्यर्थलोलुपाः ॥ ३३ ॥ ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः ॥ शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥ ३४ ॥ ॥ पणयिष्यंति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः ॥ अनापद्यपि मंस्यंते वार्तां साधु जुगुप्सिताम् ॥ ३५ ॥ पतिं त्यक्ष्यंति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम् ॥ भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥ ३६ ॥

के समय में प्राणियों की ज्ञान में और तप में रुचि होती है ॥२७॥ जब मनुष्यों की धर्म, अर्थ काम में प्रीति होती है तब हे बुद्धिमान् राजन् ! रजोगुण की वृत्तिवाला त्रेतायुग जानो ॥ २८ ॥ जब लोभ, असन्तोष, अभिमान और मत्सर यह प्रवृत्त होकर लोगों की काम्य कर्मों में प्रीति होती है तब रजोगुण तमोगुणवाला द्वापरयुग जानना ॥ २९ ॥ और जब कपट, असत्य, आलस्य, निद्रा, हिंसा, दुःख, शोक, मोह भय और दीनता यह उत्पन्न होते हैं तब पूर्ण तमोगुणी कलियुग जानना ॥ ३० ॥ जिस से लोग—मन्दबुद्धि, मन्दभाग्य, अधिक खानेवाले, और निर्धन होकर भी विषयासक्त होंगे तथा स्त्रियें भी व्यभिचारिणी और दुष्ट होती हैं ॥३१॥ देश बहुत से चोरों से युक्त होंगे, वेद पाखण्डों से दूषितहोजायँगे, राजे प्रजा के भक्षक (उनका सर्वस्व लूटनेवाले) होंगे, ब्राह्मण केवल मैथुन करने और पेट भरने में तत्पर होंगे ॥३२॥ ब्रह्मचारी अपने आश्रम के आचार और पवित्रता से हीन होंगे. गृहस्थी आप भीख मांगेंगे, फिर दूसरों को देने की तो बात ही क्या? तपस्वी वन छोडकर गाँवों में आकर रहने लगेंगे और संन्यासी धन के लिये अतिलोभी होजायँगे ॥ ३३ ॥ स्त्रियें, ठिगनी, बहुत खानेवालीं, बहुतसे बच्चोंवालीं, निर्लज्ज, निरन्तर कठोर वा अप्रिय भाषण करनेवालीं तथा चोरी, कपट और अति साहस करनेवालीं होंगी ॥३४॥ व्यापारी लोग, हलके और ठग होकर कपट से देनलेन करेंगे, और भी सब लोग सङ्कट न होने पर भी निन्दित जीविका को ही अच्छा मानेंगे ॥ ३५ ॥ नौकर लोग, सर्वोत्तम होने पर भी द्रव्यहीन स्वामी को और स्वामी भी, रोगादि कारणों से काम करने में असमर्थहुए कुलपरम्परा के भी (पुराने भी) अपने २ सेवकों को और बूढी होने के कारण दूध न देनेवालीं गौओं का त्याग करेंगे ॥ ३६ ॥ हे राजन् !

पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्हित्वा सौरतसौहृदाः ॥ ननांदृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः
कलौ नराः ॥ ३७ ॥ शूद्राः प्रतिग्रहीष्यंति तपोवेषोपजीविनः ॥ धर्मं वक्ष्यं-
त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनं ॥ ३८ ॥ नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥
निरन्ने भूतले राजन्ननावृष्टिभयातुराः ॥ ३९ ॥ वासोन्नपानशयनव्यवायस्ना-
नभूषणैः ॥ हीनाः पिशाचसंदर्शा भविष्यंति कलौ प्रजाः ॥ ४० ॥ कलौ का-
किणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ॥ त्यक्ष्यंति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यंति स्व-
कानपि ॥ ४१ ॥ न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि ॥ पुत्रान्सर्वार्थ-
कुशलान्क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः ॥ ४२ ॥ कलौ न राजन् जगतां परं गुरु
त्रैलोक्यनाथानतपादपंकजम् ॥ प्रायेण मर्त्या भगवंतमच्युतं यक्ष्यंति पाखंड-
विभिन्नचेतसः ॥ ४३ ॥ यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन्वा विवशो
गृणन्पुमान् ॥ विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यंति न तं कलौ
जनाः ॥ ४४ ॥ पुंसां कलिकृतान्दोषान्द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ॥ सर्वान्हरति

कलियुग में मैथुन के कारण से मित्रभाव करनेवाले और स्त्री के वश में होने से दीनहुए पुरुष पिता, भ्राता, मित्र और जातिवालों का त्याग करके अपनी स्त्री के बहिन भाइयों के साथ सम्मति करनेवाले होंगे ॥ ३७ ॥ तपस्वियों का वेष धारकर निर्वाह करनेवाले शूद्र, दान लेंगे ; धर्म न जाननेवाले पुरुष उत्तम (ऊँचे) आसन पर बैठकर धर्मोपदेश करेंगे ॥ ३८ ॥ हे राजन्! कलियुग में वर्षा न होने के भय से व्याकुल हुई प्रजा, पृथ्वी-मण्डल प कहीं भी अन्न न मिलने पर दुष्काल और राजकर से पीडित होकर निरन्तर घबडाई हुई वस्त्र, अन्न, पान, शय्या, मैथुन, स्नान और भूषण इन से रहित होने के कारण पिशाचसी दीखने लगेंगी ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कलियुग में के लोग, बीसकौडीमात्र धन के निमित्त स्नेह छोडकर वैर करेंगे और अपने सगों को भी मारडालेंगे और मारने में असमर्थ होने पर अपने प्रियप्राणों को भी त्याग देंगे ॥ ४१ ॥ शिश्न और पेट की तृप्ति करनेवाले नीच मनुष्य, अपने बूढे माता-पिताओं की और सब विषयों में चतुर अपने प्रिय पुत्रों की भी रक्षा नहीं करेंगे ॥ ४२ ॥ हे राजन्! कलियुग में प्रायः वेदविरुद्धमार्गों से विक्षिप्तचित्तहुए मनुष्य, त्रिलोकी के स्वामी ब्रह्मादिक भी जिन के चरणकमल को नमस्कार करते हैं ऐसे लोकों के परमगुरु अच्युत भगवान् की पूजा नहीं करेंगे ॥ ३४ ॥ अहो! मरताहुआ, रोग से घबडाकर परवशहुआ अथवा गिरकर ठोकरें खाताहुआ, मनुष्य, जिन का नाम उच्चारण करने पर कर्मबन्धन से छूटकर उत्तमगति को पाता है, उन भगवान् का पूजन कलियुग में लोग नहीं करेंगे ॥ ४४ ॥ हे राजन्! अन्तःकरण में प्रकाशित होनेवाले पुरुषोत्तम भगवान्, पुरुषों के निसिद्ध पदार्थ, निषिद्ध देश और विषयासक्त मन

चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ ४५ ॥ श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोपि वा ॥ नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥ ४६ ॥ यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हंति धातुजम् ॥ एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥ ४७ ॥ विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्रीतीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ॥ नात्यंतशुद्धिं लभतेऽतरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनंते ॥ ४८ ॥ तस्मात्सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् ॥ म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिं ॥ ॥ ४९ ॥ म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान्परमेश्वरः ॥ आत्मभावं नयत्यंग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥ ५० ॥ कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ॥ कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥ ५१ ॥ कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ॥ द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ ५२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कंधे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ छ ॥ छ ॥

से उत्पन्न होनेवाले कलियुग के करेहुए सब दोषों को दूर करते हैं ॥ ४५ ॥ सुने, कीर्त्तन, ध्यान, पूजन वा आदरसत्कार करेहुए भगवान्, मनुष्यों के हृदय में रहकर उन के सहस्रों जन्मों के करेहुए पापों का नाश करते हैं ॥ ४६ ॥ जैसे सुवर्ण में का अग्नि ही, उस के ताम्बे आदि धातुओं के सङ्ग से प्राप्तहुए मल का नाश करता है, जल आदि उस का नाश नहीं करते हैं तैसे ही योगियों के हृदय में विद्यमान विष्णुभगवान् ही उन की पापवासनाओं का नाश करते हैं, योग आदि साधन नाश नहीं करते हैं ॥ ४७ ॥ अनन्तभगवान् के हृदय में स्थित होने पर जैसी प्राणियों के अन्तःकरण की अत्यन्त शुद्धि होती है, तैसी विद्या, तप, प्राणनिरोध (प्राणायाम), मैत्री, तीर्थस्थान व्रत, दान और मन्त्रों के जप से नहीं होती है ॥ ४८ ॥ इस से हेराजन् ! तुम भी मरण को प्राप्त होने को होरहे हो सो सावधान होकर चित्तको एकाग्र करके भगवान् को अपने हृदय में स्थापन करो तब तुम उत्तमगति को पाओगे ॥ ४९ ॥ क्योंकि–हेराजन् ! मरण को प्राप्त होतेहुए पुरुषों के ध्यान करने योग्य, सबों के अन्तर्यामी भगवान् परमेश्वर, ध्यान करनेवाले पुरुषों को अपने स्वरूप की एकता को पहुँचादेते हैं ॥ ५० ॥ दोषों के निधि (खजाने) भी इस कलियुग का ग्रहण करनेयोग्य एक बड़ा गुण है कि–श्रीकृष्णजी के नामसंकीर्त्तन से मनुष्य, संसारबन्धन से छूटकर परम पद को प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! सत्ययुग में विष्णु भगवान् का ध्यान करनेवाले को त्रेता में विष्णु भगवान् का यज्ञोंसे यजन करनेवाले को और द्वापरमें विष्णुभगवान्का पूजन करनेवाले को जोफलप्राप्त होता है वह फल, कलियुग में विष्णु भगवान् का नामसङ्कीर्त्तन करने से ही प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्धमें तृतीय अध्याय समाप्त ॥ * ॥

श्रीशुक उवाच ॥ कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप ॥ कथितो युगमानं च
शृणु कल्पलयावपि ॥ १ ॥ चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते ॥ स कल्पो
यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥२॥ तदन्ते प्रलयस्तावान्ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ॥ त्रयो
लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥३॥ एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्व-
सृक् ॥ शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥४॥ द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते
ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥५॥ एष प्राकृतिको
राजन्प्रलयो यत्र लीयते ॥ आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥६॥ पर्जन्यः
शतवर्षाणि भूमौ राजन्न वर्षति ॥ तदा निरन्ने ह्यन्योऽन्यं भक्षमाणाः क्षुधा-
र्दिताः ॥ क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ॥ ७ ॥ सामुद्रं दैहिकं
भौमं रसं सांवर्तको रविः ॥ रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥
॥ ८ ॥ ततः संवर्तको वह्निः संकर्षणमुखोत्थितः ॥ दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान्

श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! परमाणु से लेकर दो परार्द्धपर्यन्त काल का और सत्ययुग आदि का प्रमाण मैंने तुम से (३ स्कन्ध में) कहा है अब कल्प (स्थित) और प्रलय का प्रमाण कहता हूँ सुनो ॥१॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों के सहस्रवार होजाने पर ब्रह्माजी का एक दिन कहलाता है, उस में ही क्रम से स्वायम्भुव आदि चौदहों मन्वन्तर होजाते हैं ॥२॥ उस कल्प (ब्रह्माजी के दिन) के अन्त में उतना ही (चारसहस्रयुग का) प्रलय होता है उस को ब्रह्माजी की रात्रि कहते हैं, हे राजन्! उस प्रलय में स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोक नष्ट होजाते हैं ॥३॥ जब विश्व को उत्पन्न करनेवाले शेषशायी नारायण भगवान्, विश्व को अपने में समेटकर सोते हैं तब ब्रह्माजी भी उन नारायण में ही लीन होजाते हैं; यह ब्रह्माजी के निद्रारूप निमित्त से होता है इसकारण इस को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं ॥ ४॥ परमेष्ठी ब्रह्माजी की आयु का दो परार्द्ध वर्षकाल बीतजाता है तब महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा यह सातों प्रकृति लीन होजाती हैं और उस प्रलय में नाश होने का कारण प्राप्त होने पर हे राजन्! महत्तत्त्वादिकों का कार्य यह ब्रह्माण्डकोश भी लीन होजाता है इसकारण यह प्राकृतिक प्रलय है ॥५॥ ६ ॥ हे राजन्! यह प्राकृतिक प्रलय होनेलगती है तब पहिले सौवर्षपर्यन्त पृथ्वी पर वर्षा न होने से कहीं भी अन्न न मिलने के कारण भूख से घबड़ाई और काल की पीडित करीहुई प्रजा, आपस में एक को एक खानेलगती हैं तब धीरे २ सब का नाश होजाता है ॥ ७ ॥ तब प्रलयकाल का वह सूर्य, अपनी तीखी किरणों से समुद्र, देह और पृथ्वी के सब रस को सुखालेता है और फिर नहीं छोडता है ॥८॥ फिर सङ्कर्षण भगवान् के मुख से उत्पन्न हुआ और वायु के अधिक वेग का बढायाहुआ प्रलयकाल का अग्नि, ' देह के रस को सूर्य के खेंचलेने से ' प्राणीरहित हुए पृथ्वी, पाताल

भूविवरानथ ॥ ९ ॥ उपर्यधः समंताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ॥ दह्यमानं वि-
भात्यण्डं दग्धगोमयपिंडवत् ॥ १० ॥ ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ॥
परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसा वृतम् ॥ ११ ॥ ततो मेघकुलान्यंग चि-
त्रवर्णान्यनेकशः ॥ शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥ १२ ॥ तत ए-
कोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरांतरम् ॥ १३ ॥ तदा भूमेर्गंधगुणं ग्रसन्त्यापं उद-
प्लवे ॥ ग्रस्तगंधा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥ १४ ॥ अपां रसमथो तेजस्ता
लीयन्तेऽथ नीरसाः ॥ ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥ १५ ॥ लीयते
चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ॥ स वै विशति खं राजंस्तत-
श्च नभसो गुणं ॥ १६ ॥ शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ॥ तैजस-
श्चेन्द्रियाण्यंग देवान्वैकारिको गुणैः ॥ १७ ॥ महान् ग्रसत्यहंकारं गुणाः
सत्वादयश्च तम् ॥ ग्रसतेऽव्याकृतं राजन्गुणान्कालेन नोदितम् ॥ १८ ॥ न

आदि देशों को जलाडालता है ॥ ९ ॥ तब नीचे, ऊपर चारों ओर से, अग्नि और सूर्य की ज्वालाओं से भस्म हुआ यह ब्रह्माण्ड, जलेहुए गोबर के पिण्डे की समान दीखनेलगता है ॥१०॥ फिर सौ वर्ष से कुछ अधिक वर्षोंपर्यन्त प्रलयकाल का प्रचण्ड पवन चलता है और जिधरतिधर धूलि से भराहुआ आकाश धुमैला होजाताहै॥ ११॥ फिर सौवर्षपर्यन्त चित्र विचित्र वर्ण के अनेकों मेघ, 'हाथी की सूँड की समान धाराओं से' वर्षा करते हैं और भयङ्कर शब्दों से गर्जते हैं ॥ १२ ॥ उस वर्षा से ब्रह्माण्डविवर में का सब जगत् जलमय हो-जाता है ॥ १३ ॥ इसप्रकार सब जगत् के जल में डूबते ही भूमि के गन्धगुण को जल ग्रसलेता है अर्थात् जल में पृथ्वी का गन्धगुण लीन होजाता है, गन्धगुण का नाश होतेही पृथ्वीका भी नाश होजाता है ॥१४॥ फिर उस जल के रसगुण को तेज निगल लेता है तब नीरस हुआ वह जल तेज में लीन होजाता है, फिर तेज के रूपगुण को वायु ग्रसलेता है तब रूपरहित हुआ वह तेज वायु में लीन होता है; तदनन्तर वायु के स्पर्श गुण को आकाश निगल लेता है फिर वह वायु आकाश में प्रविष्ट होता है, आकाश के शब्दगुण को तामस अहङ्कार ग्रसलेता है फिर वह आकाश भी तिस तामस अहङ्कारमें लीन होता है, हे राजन्! फिर इन्द्रियों को उन की वृत्तियों सहित राजस अहङ्कार ग्रसलेता है और इन्द्रियों के देवताओं को सात्त्विक अहङ्कार ग्रसलेता है ॥ १५ ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥ तामस, राजस और सात्विक तीनो प्रकार के अहङ्कार को महत्तत्त्व ग्रसलेता है उस मह तत्त्व को सत्त्वादि गुण ग्रसलेते हैं, हेराजन्! फिर काल की प्रेरणा करीहुई प्रकृति उन सत्त्वादि तीनो गुणों को ग्रसलेती है अर्थात् तीनोगुण उस में मिलजाते

तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ॥ अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारण-
मव्ययम् ॥ १९ ॥ न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयो-
ऽमी ॥ न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न संनिवेशः खलु लोककल्पः ॥ २० ॥
न स्वप्नजाग्रन्न च तत्सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ॥ संसुप्तवच्छू
न्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥ २१ ॥ लयः प्राकृतिको ह्येष पुरु-
षाव्यक्तयोर्यदा ॥ शक्तयः संप्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥ २२ ॥ बुद्धी-
न्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् ॥ दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु
यत् ॥ २३ ॥ दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग्भवेत् ॥ एवं धीः खानि

हैं ॥ १८ ॥ केवल उस प्रकृति को ही काल के दिनरात आदि अवयवों से परिणाम आदि विकार नहीं प्राप्त होतेहैं, क्योंकि,—वह आदि और अन्त से रहितहै, वही अव्यक्त (अस्तित्व विकार से रहित) हैं इसकारण ही दीखने में नहीं अती है, वह नित्य समान(क्षय-वृद्धिरहित) हीती है और वह कभी भी नष्ट नहीं होती सब का कारण है ॥ १९ ॥ जिस में वाणी मन, सत्व गुण, तमोगुण, रजोगुण, महत्तत्व आदि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियें, और देवता तैसे ही यह लोकरूप रचना, इनमें से कुछ नहीं है ॥ २० ॥ जहाँ स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति यह तीन अवस्था आकाश, जल, भूमि, वायु, अग्नि और सूर्य यह कोई नहीं रहते हैं और जो इन्द्रियरहित होने के कारण सोएहुए की समान और अतर्क्य होने के कारण शून्यसी प्रतीत होती है परन्तु शून्य नहीं है, हेराजन् ! वही जगत् का मूलभूत तत्वहै ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरुष वर्णन करतेहैं॥ २१॥जिस समय पुरुष और और प्रकृति की सत्त्वादिशक्तियें,काल से तिरस्कार पाने के कारण परवश होकर लयपाती हैं उससमय यह प्राकृतिक लय होता है ॥ २२ ॥ अब तीसरा आत्यन्तिक लय (मोक्ष) कहते हैं वह मोक्ष ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्चका लयरूप है, ऐसा जानो, अब आत्मा की समान ही यदि प्रपञ्च को सत्यता होयगी तो उस का लय नहीं होगा; इसकारण ज्ञानरूप ब्रह्म से निराला प्रपञ्च है ही नहीं ऐसा कहते हैं कि—हे राजन् ! बुद्धि, इन्द्रियें और विषय यह जो ग्राहक, साधन और ग्राह्यरूप से प्रसिद्ध हैं, उन का आश्रय एक ब्रह्म ही उन के रूप का प्रतीत होता है,ब्रह्म से जुदे होकर उन की प्रतीति नहीं होती है; मट्टी में प्रतीत होनेवाले घडे सकोरे आदि वस्तु जैसे दृश्य और आदिअन्तवाले होने के कारण मृत्तिका से जुदे नहीं हैं तैसे ही ब्रह्म में प्रतीत होनेवाला यह बुद्धि इन्द्रिय आदि प्रपञ्च दृश्य और आदि अन्तवाला होने के कारण अपने कारण ब्रह्म से निराला नहीं है ॥ २३ ॥ हेराजन् ! जैसे दीपक, चक्षु और रूप यह अपने कारण तेज से जुदे नहीं हैं तैसे ही बुद्धि, इन्द्रियें और विषय यह कार्य रूप अपने से अत्यन्त निराले और अपने अधिष्ठान ब्रह्म से जुदे नहीं हैं अर्थात् सर्प भासने का कारण जो डोरी वही जैसे तिस सर्प से अत्यन्त निराली

मात्रार्थे न स्युरन्यतमादृतात् ॥ २४ ॥ बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते ॥
मायामात्रमिदं राजन्नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥ २५ ॥ यथा जलधरा व्योम्नि
भवन्ति न भवन्ति च ॥ ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥ २६ ॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ॥ विनार्थेन प्रतीयेरन्पटस्येवाङ्ग तं-
तवः ॥ २७ ॥ यत्सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ॥ अन्योन्यापाश्रया-
त्सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥ २८ ॥ विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ॥
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥ २९ ॥ नहि सत्यस्य ना-
नात्वमविद्वान् यदि मन्यते ॥ नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥ ३० ॥

होती है परन्तु उस में भासनेवाला सर्प डोरी के विना नहीं होता है तैसे ही प्रपञ्च से ब्रह्म निराला है परन्तु प्रपञ्चमात्र ब्रह्म से जुदा नहीं है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! बुद्धि की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन अवस्था हैं ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं उन अवस्थाओं का अभिमान धारण करनेवाला जो यह विश्व तैजस-प्राज्ञरूप नानात्त्व सो परब्रह्म में केवल माया का कल्पना कराहुआ है, सत्य नहीं है ॥ २५ ॥ जैसे आकाश में मेघ किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं तैसे ही अवयवोंवाला और उत्पत्तिनाशयुक्त यह जगत् ! परब्रह्म में (सृष्टिकाल में) उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में नष्ट होजाता है अर्थात् जैसे घडा अवयवी और आदि अन्तवाला होने से नाश पाता है तैसे मृत्तिका नष्ट नहीं होती है ; तैसे ही यह विश्व भी अवयवी और आदिअन्तवाला होने के कारण नाश पाता है, ब्रह्म का नाश नहीं होता है इसकारण ब्रह्म ही सत्य है ॥ २६ ॥ हे राजन् ! व्यवहार में सब ही अवयवी (घट आदि) पदार्थों का कारणभूत जो (मट्टी आदि) अवयव होता है वही सत्य है ; जैसे वस्त्र के अवयव डोरे होते हैं वह वस्त्र न होने के समय भी प्रतीत होते हैं तैसे ही घडे आदि अवयवियों के विना भी मट्टी आदि अवयव प्रतीत होते हैं ; इस से ब्रह्म के विना केवल जगत् की प्रतीति नहीं होती है और जगत् के विना ब्रह्म की प्रतीति होती है ॥ २७ ॥ कारण और कार्य के स्वरूप से जो भिन्न २ पदार्थ देखने में आते हैं उन में परस्पर एक को दूसरे की अपेक्षा होने के कारण वह सब ही भ्रम है इसकारण जिन का आदि और अन्त है वह सब ही पदार्थ सत्य नहीं हैं, इसकारण ब्रह्म में आरोपण करेहुए कारणता आदि धर्म भी आरोपित हैं; वास्तविक नहीं है ॥ २८ ॥ प्रकाशवान् होनेवाला भी प्रपञ्च, आत्मा के प्रकाश के विना अणुमात्र भी 'प्रकाशवान् है' ऐसा नहीं कहाजासक्ता ; और यदि वह प्रपञ्च प्रत्यगात्मा के विना प्रकाशवान् है ऐसा निरूपण कियाजाय तो–वह प्रपञ्च चिद्रूप आत्मा की समान स्वयंप्रकाश होगा अर्थात् आत्मा की समान एकरूप ही होगा ॥ २९ ॥ हे राजन् ! अज्ञानी पुरुष, सत्य पदार्थ को यदि अनेकरूपता माने तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि–सत्य पदार्थ

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु॥एवं वचोभिर्भग-वानधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३१॥ यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ॥ एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥ ३२ ॥ घनो यदाऽर्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ॥ यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥ ३३ ॥ यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहंकरणात्मबन्धनम्॥ छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम् ॥ ३४ ॥ नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप॥उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः संप्रचक्षते ॥ ३५ ॥ कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा॥ परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥ ३६ ॥ अनाद्यन्तवताऽनेन कालेनेश्वरमूर्तिना ॥ अवस्था

को अनेकपना है ही नहीं. यदि कहो कि—सत्यरूप आत्मा को जीवब्रह्मरूप से अनेकपना है तो-ऐसा अनेकपना मानना, उपाधि की करीहुई, परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता के विषय में घटाकाशमहाकाश की समान, अथवा उपाधि के करेहुए विकारीपन और अविकारीपन के विषय में जल में प्रतिबिम्बित और आकाश में स्थित सूर्य की समान, अथवा उपाधि के करेहुए कर्मभेद के विषय में बाहर के और शरीर के भीतर के वायु की समान वास्तविक नहीं है ॥ ३० ॥ हे राजन् ! जैसे सुवर्ण व्यवहार में कड़े कुण्डल आदि अनेकों अलङ्कार के भेदों से अनेकों प्रकार का लोकों के देखने में आता है तैसे ही अधोक्षजभगवान् को, अहङ्काररूप उपाधि से युक्त पुरुषों ने, व्यवहार में लौकिक और वैदिक वचनों के द्वारा नानाप्रकार का वर्णन करा है ; भेद केवल इतना ही है कि—सुवर्ण इन्द्रियगोचर है और अधोक्षजभगवान् इन्द्रियगोचर नहीं हैं ॥ ३१ ॥ जैसे सूर्य से उत्पन्नहुआ और सूर्य से प्रकाश पानेवाला मेघ, सूर्य के अंश चक्षु इन्द्रिय को, अपने स्वरूप सूर्य का दर्शन होने में प्रतिबन्धक होता है तैसे ही ब्रह्म का कार्य और ब्रह्म से प्रकाशित हुआ अहङ्कार ब्रह्म के अंश जीव को ब्रह्म का दर्शन होने में प्रतिबन्धक होता है ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! जिस समय वह सूर्य से उत्पन्नहुआ मेघ, दूर होता है उससमय, चक्षु इन्द्रिय अपने स्वरूपभूत सूर्य को देखता है, तिसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्नहुआ अपने को ढकनेवाला अहङ्कार, जब विचार के प्रभाव से दूर होजाता है तब जीव भी अपने स्वरूपभूत ब्रह्म को देखता है अर्थात् मैं ही ब्रह्मरूप हूँ ऐसा देखता है ॥ ३३ ॥ हेराजन् ! जबजीव, इस विवेकरूप शस्त्र से इस मायामय अहङ्काररूप अपने बन्धन को काटकर, पूर्ण आत्मस्वरूप का अनुभव लेता है उससमय उस को आत्यन्तिकलय कहते हैं ॥ ३४ ॥ हेराजन् ! कितने ही सूक्ष्म विचार को जाननेवाले विद्वान् पुरुष, ऐसा कहते हैं कि—ब्रह्मादि सकल प्राणियों के प्रतिक्षण में उत्पत्तिलय होते हैं ॥ ३५ ॥ जैसे परिणाम

नैवं दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव ॥ ३६ ॥ नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा
कृतिको लयः ॥ आत्यंतिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥ ३७ ॥
कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातुर्नारायणस्याखिलसत्वधाम्नः ॥ लीलाकथास्ते
समासतः कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥ ३८ ॥ संसारसिंधुमतिदुस्तं
मुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ॥ लीलाकथारसनिषेवणमन्तरे
ण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥ ३९ ॥ पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणो
ऽव्ययः ॥ नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥ ४० ॥ स वै मह्यं म
हाराज भगवान्बादरायणः ॥ इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसंमितां ॥४१॥
एतां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये ॥ दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ संपृष्टः शौन-
कादिभिः ॥ ४२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पानेवाले नदी के प्रवाह और दीपक की ज्योति आदि की अनेकों ऊँची नीची दशा क्षण २ में बदल ने के कारण उन के उत्पत्ति नाश दिखाती हैं तिसी प्रकार कालरूप प्रवाह के वेग से बदलनेवाली शरीर की दशा, देह के क्षण २ में उत्पत्तिनाश दिखाने की कारण होती हैं ॥ ३६ ॥ हेराजन् ! जिस के आदि और अन्त नहीं ऐसे परमेश्वरमूर्त्ति काल के द्वारा, आकाश में गमन करनेवाले चन्द्रमादिकों के चलने की अवस्थाएँ जैसे दीखती नहीं हैं तैसे ही काल के द्वारा देह की क्षण २ में होनेवाली अवस्था भी दीखती नहीं है, इसकारण जैसे उन चन्द्रमा आदिकों के उदय अस्तादिकों के द्वारा क्षण २ में होनेवाली मध्य की अवस्थाओं की कल्पना करीजाती है तैसे ही, देह की बाल वृद्धादि अवस्थाओं से मध्यकी अवस्थाओं की कल्पना करी जाती है ॥ ३७ ॥ इसप्रकार नित्य, नैमित्तिक प्राकृतिक और आत्यन्तिक यह चार प्रकार का प्रलय कहा; हेराजन् ! ऐसी काल की गति है ॥ ३८ ॥ हेकुरुकुलश्रेष्ठ राजन् ! सर्वान्तर्यामी, जगत्कर्त्ता, भगवान् नारायणकी यह लीलारूप कथा, मैंने तुम से संक्षेप करके कही हैं, विस्तार के साथ कहने को तो ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! अनेक प्रकार के दुःखरूप दावाग्नि से पीड़ितहुए और दुस्तर संसार समुद्र को तरने की इच्छा करनेवाले पुरुष, को पुरुषोत्तम भगवान् की लीलारूप कथामृत के रस का सेवन करेबिना दूसरा तरने का उपाय है ही नहीं इसकारण वह यथाशक्ति भगवत्कथाओं का ही श्रवण करे ॥ ४० ॥ हे राजन् ! पहिले अविनाशी नारायण ऋषिने, यह पुराणसंहिता नारदजी से कही थी; उन नारदजी ने व्यासजी से कही ॥ ४१ ॥ हेप्रभो राजन् ! उन भगवान् व्यासजी ने प्रसन्न होकर यह श्रीमद्भागवत की वेदसमान संहिता मुझ से कही है ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ * ॥

श्रीशुक उवाच ॥ अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान्हरिः ॥ यस्य प्रसा-
दजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥ १ ॥ त्वं तु राजन्मरिष्येति पशुबुद्धिमि-
मां जहि ॥ न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥ २ ॥ न भवि-
ष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ॥ बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथाऽन-
लः ॥ ३ ॥ स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पंचत्वाद्यात्मनः स्वयं ॥ यस्मात्पश्यति दे-
हस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥ ४ ॥ घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्या-
द्यथा पुरा ॥ एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः॥५॥मनः सृजति वै
देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः॥तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हेराजन् ! इस श्रीमद्भागवत में, जिन की रजोगुण वृत्तिरूप हर्ष से जगत को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं और जिन के क्रोध से सब का संहार करनेवाले रुद्र उत्पन्न हुए हैं उन, भक्तों के दुःख दूर करनेवाले जगदात्मा भगवान् का वारंवार वर्णन करा है ॥ १ ॥ हेराजन् ! तुम तो, इस श्रीमद्भागवत को सुनने से कृतार्थ ही हो, इस से 'मैं मरूँगा' इस अविवेक को त्याग दो; क्योंकि–जैसे देह, पहिले न होकर अब हुआ है इस कारण नाश को प्राप्त होगा तैसे तुम (आत्मा) पहिले कभी उत्पन्न न होकर अब भी उत्पन्न नहीं हुए हो इसकारण आगे को नाश भी नहीं पाओगे ॥२॥हेराजन्!जैसे बीजही अंकुर रूप से उत्पन्न होतेहैं और वह अंकुर फिर बीजरूपसे उत्पन्न होतहैं तैसे तुम पुत्रपौत्रादि रूपवान् होकर नाशनहीं पाओगे, क्यों कि–जैसे अग्नि काठ में व्याप्त होकर रहताहुआभी वास्तव में काठ से जुदा ही होता है तैसेही तुम भी देह में व्याप्त होकरभी तिस देह से जुदे ही हो, तात्पर्य यहकि–देह से देहही उत्पन्न होताहै आत्मा उत्पन्न नहींहोताहै॥३॥जैसे स्वप्नमें अपने शरीर का शिर कटना आप ही देखता है यह केवल भ्रम है तैसेही जाग्रत् अवस्था में भी अपने देह के जन्मादि विकार आप ही देखता है, तिस में पुत्रादिकों का जन्म और पिता आदिकामरण देखने से अपने जन्म मरण भी ऐसेही हैं ऐसा अनुमान करता है और शेष बढ़ना आदि विकार स्वयं अनुभव से देखता है और वह विकार देह के अध्यास से अपने कोही हैं ऐसा मानता है यह केवल भ्रम ही है, क्योंकि–जन्म मरणादिकों का देखनेवाला जो आत्मा वह उन से निराला होने के कारण जन्म मरण आदि से रहित है ॥ ४ ॥ घड़ा फूटजाने पर उस में का आकाश जैसे पहिले की समान महाकाश रूप होता है तैसेही तत्त्वज्ञान से देह का लय होनेपर यह जीव फिर ब्रह्मरूप होता है ॥ ५ ॥ मन ही आत्मा को, देह गुण और कर्म उत्पन्न करता है तिस मन को माया उत्पन्न करती है,फिर उन माया आदि उपाधियों के समूह से जीव को जन्म मरणादि रूप संसार प्राप्त होता है स्वयं नहीं प्राप्त

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ॥ ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो-
भवः ॥ रजःसत्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥ न तत्रात्मा स्वयं-
ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ॥ आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनंतोपमस्त-
तः ॥ ८ ॥ एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो ॥ बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या
वासुदेवानुचिंतया ॥ ९ ॥ चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ॥
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥ १० ॥ अहं ब्रह्म परं धाम ब्र-
ह्माहं परमं पदम् ॥ एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥ ११ ॥ द-
शंतं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ॥ न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथ-
गात्मनः ॥ १२ ॥ एतत्ते कथितं तात यथात्मा पृष्टवान्नृप ॥ हरेर्विश्वात्मन-
श्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १३ ॥ इतिश्रीभा० म० द्वा० ब्रह्मोपदे-

---

होता है ॥ ६ ॥ हे राजन्! जबतक तेल, उस का पात्र, रुई की बत्ती और अग्नि का संयोग यह रहते हैं तबतक दिये का दियापन (ज्योति का ज्वालारूप से परिणाम) दीखता है ऐसे ही जबतक कर्मरूपी तेल, मनरूपी पात्र, देहरूपबत्ती और चैतन्य का अध्यास रूप अग्नि का संयोग रहता है तबतक संसाररूप दीपक प्रतीत होता है, वह रजोगुणकी वृत्ति से उत्पन्न होताहै, सत्वगुणकी वृत्तिसे रहताहै और तमोगुण की वृत्तिसे नाशको प्राप्त होता है ॥७॥ दीपक का नाश होने पर भी जैसे पञ्चमहाभूतरूप तेज नष्ट नहीं होता है तैसे ही संसार का नाश होनेपर भी स्वयम्प्रकाश स्थूल सूक्ष्म देहों से निराला और आकाश की समान आधार जो आत्मा वह नाश को नहीं प्राप्त होता है इसकारण ही वह अनन्त और निरुपम है ॥ ८ ॥ इस से हे प्रभो राजन्! वासुदेव भगवान् का वारम्वार चिन्तवन करतेहुए तुम, द्रष्टा दृश्य, अन्वय और व्यतिरेक की विचारशक्ति से युक्त अपनी बुद्धि के द्वारा आप ही अपने देहादि में के अपने आश्रय आत्मा का विचार करो ॥ ९ ॥ हे राजन्! ऐसा विचार करने पर, ब्राह्मण के वचन का प्रेरणा कराहुआ तक्षक, तुम्हें जलाकर भस्म नहीं करेगा, क्योंकि—मृत्यु के कारण जो काल आदि हैं वह भी, मृत्यु के भी मृत्युरूप ईश्वर को जलाकर भस्म करने को समर्थ नहीं होते हैं ॥ १० ॥ हे राजन्! जो मैं हूँ सो परमपदरूप ब्रह्म है और जो परमपदरूप ब्रह्म है सोई मैं हूँ, इसप्रकार निरुपाधिक ब्रह्म में जीवात्मा को स्थापन करके एकरूप से देखनेवाले तुम, जीभ से ओठों के प्रान्त को चाटनेवाले और विषैले मुखों से, अपने पैर में काटनेवाले तक्षक को, अपने देह को और जगत् को आत्मा से भिन्न मानकर नहीं देखोगे ॥ ११ ॥ १२ ॥ हे तात राजन् परीक्षित्! तुम ने विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि की लीला के विषय में जैसा मुझ से बूझा था, तैसा यह सब मैंने तुम से कहा है, हे राजन्! अब तुम और क्या सुनने की इच्छा करते

शो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ७ ॥ सूत उवाच ॥ एतन्निशम्य मुनिनाऽ-
भिहितं परीक्षिद्व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन ॥ तत्पादपद्ममुपसृत्य न-
तेन मूर्ध्ना बद्धाञ्जलिरिदमिदं माह स विष्णुरातः ॥ १ ॥ राजोवाच ॥ सिद्धो
ऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना ॥ श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनि-
धनो हरिः ॥ २ ॥ नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् ॥ अज्ञेषु तापतप्तेषु
भूतेषु यदनुग्रहः ॥ ३ ॥ पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम् ॥ यस्यां ख-
लूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते ॥ ४ ॥ भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बि-
भेम्यहम् ॥ प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥ ५ ॥ अनुजानीहि मां ब्रह्म-
न्वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ॥ मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥ ६ ॥
अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ॥ भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः
पदम् । ७ ॥ सूत उवाच ॥ इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान्बादरायणिः ॥ जगाम
भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥ ८ ॥ परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मान-

हो ? ॥१३॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में पञ्चम अध्याय समाप्त॥*॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौनकादि ऋषियो! सर्वात्मा श्रीहरि को निरन्तर देखनेवाले, समदृष्टि, व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी के इसप्रकार कहेहुए इसपुराण को सुनकर वह विष्णुरात राजा परीक्षित्, नम्रमस्तक से उन शुकदेवजी के चरणकमल पर शीस रखकर और हाथ जोड़-कर उन से कहनेलगे कि—।१। हे शुकदेवजी! मैं कृतार्थ हूँ, क्योंकि—करुणामूर्त्ति तुम ने, जो मुझे आदि अन्तरहित साक्षात् श्रीहरि का श्रवण कराया है सो तुम ने मेरे ऊपर बड़ा ही अनुग्रह करा है ॥२॥ हे ऋषे! भगवद्रूपी महात्मा पुरुषों का, संसारताप से तपेहुए अज्ञानी प्राणियों के ऊपर जो अनुग्रह करना, उस को मैं कोई बड़ा आश्चर्य नहीं मानता हूँ, क्योंकि—वह उन का स्वाभाविक कार्य है॥३॥ जिस में पुण्यकीर्ति भगवान् का वारम्वार वर्णन करा है ऐसी यह श्रीमद्भागवत नामक पुराण संहिता हम सबोंने, आप से सुनी हैं ॥४॥ हे भगवन्! मैं मृत्यु के कारण तक्षकादि से नहीं डरता हूँ, क्योंकि—तुम्हारे दिखायेहुए निर्भय मोक्षरूप ब्रह्म में प्रविष्ट हुआ हूँ ॥५॥ हे शुकदेवजी! मैं अब वाणी का और सब इन्द्रियों का नियमन करके, कामवासनाओं से रहित हुआ अपना चित्त, अधोक्षज भगवान् में लगाकर प्राणों को त्यागताहूँ, इस से ऐसा करने की मुझे आप आज्ञा दें ॥६॥ तुमने भगवान् का परम कल्याणकारी स्वरूप दिखाया है, तिस से ज्ञान विज्ञान की निष्ठा करके मेरा अज्ञान और अज्ञान से होनेवाला संस्कार नष्ट होगया है ॥ ७ ॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौन-कादि ऋषियो! इसप्रकार प्रार्थना करके राजा ने जिन की पूजा करी है ऐसे वह भगवान् व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी, राजा को आज्ञा देकर और अपने जाने की राजा से आज्ञा लेकर संन्यासियों के साथ तहाँ से चलेगये ॥ ८ ॥ श्री शुकदेवजी के चलेजाने पर जिसका

मात्मना ॥ संगाधाय परं दध्यावस्पंदोसुर्यथा तरुः ॥ ९ ॥ प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ॥ ब्रह्मभूतो महायोगी निःसंगश्छिन्नसंशयः ॥ १० ॥ तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ॥ हन्तुकामो नृपं गच्छन्ददर्श पथि कश्यपम् ॥ ११ ॥ तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ॥ द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ॥ १२ ॥ ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहो हि गरलाग्निना बभूव भस्मसात्सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १३ ॥ हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः ॥ विस्मिता ह्यभवन्सर्वे देवासुरनरादयः ॥ १४ ॥ देवदुन्दुभयो नेदुर्गंधर्वाप्सरसो जगुः ॥ ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥ १५ ॥ जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ॥ तथा जुहाव संक्रुद्धो नागान्सत्रे सह द्विजैः ॥ १६ ॥ सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान्महोरगान् ॥ दृष्ट्वेंद्रं भय-

सन्देह दूर होगया है ऐसा, निःसङ्ग और गङ्गातटपर पूर्वदिशा की ओरको अग्रभाग करे हुए कुश के आसन पर उत्तर को मुख करके बैठेहुए तिस राजा परीक्षित् ने भी, बुद्धि से अपने मन को प्रत्यगात्मा में लगाकर परमात्मा का ध्यान करा, तब वह महायोगी राजा ब्रह्मरूप होकर वृक्ष की समान लीनप्राण होगया अर्थात् राजा ने प्राणों को त्यागदिया ॥ ९ ॥ १० ॥ हे विप्रो! क्रुद्धहुए ब्राह्मण के पुत्र के प्रेरणा करेहुए तक्षक सर्प ने, राजा को मारने के निमित्त जाते में मार्ग के विषैं कश्यप ऋषि को देखा ॥ ११ ॥ (वह कश्यपजी, तक्षक का विष उतार कर राजा परीक्षित् की रक्षा करने से धन पाने के निमित्त राजा की ओर को जाते थे, उन को देखते ही उन के परीक्षा करने के निमित्त, तहाँ एक वड का वृक्ष था उस को तक्षक ने डसकर जलाके भस्म करदिया, तब कश्यपजी ने उस वड़ के वृक्ष को मन्त्रबल से अंकुरादियुक्त पहिले की समान जीवित करदिया यह देख, कर) तक्षक ने उन विष उतारनेवाले कश्यपजी को, यथेष्ट धन आदि देकर पीछे को लौटादिया, और इच्छितरूप धारण करनेवाले उस तक्षक ने ब्राह्मण के वेष से राजा के समीप जाकर फिर तक्षकरूप धारकर राजा को डसलिया ॥ १२ ॥ ब्रह्मरूपहुए राजा का देह, तब सब लोकों के देखतेहुए तक्षक के विषरूप अग्नि से तत्काल भस्म होगया ॥ १३ ॥ उससमय पृथ्वी पर, आकाश में और दशोंदिशाओं में जिधर-तिधर बडा हाहाकार शब्द हुआ और देवता, दैत्य, मनुष्य आदि सब ही लोक आश्चर्य युक्त हुए ॥ १४ ॥ फिर देवताओं की बजाईहुई दुन्दुभि बजनेलगीं, गन्धर्व अप्सरा आदि गान करनेलगे, और राजा का मोक्ष हुआ यह बडा सुन्दर हुआ ऐसा कहतेहुए देवता फूल वर्षानेलगे ॥ १५ ॥ फिर राजा जनमेजय, मेरे पिता तक्षक के डसलेने से मरण को प्राप्तहुए ऐसा सुनकर क्रोध में भरगया, और ब्राह्मणों को ऋत्विज् करके यज्ञ में सब सर्पों का हवन करनेलगा ॥ १६ ॥ तब उस सर्पयज्ञ में के धधकतेहुए अग्नि में बडे २ सर्प जलने-

संविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥ १७ ॥ अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्वि-
जान् ॥ उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्यतोरगाधमः ॥ १८ ॥ तं गोपायति रा-
जेंद्र शक्रः शरणमागतम्॥ तेन संस्तंभितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ॥१९॥
पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ॥ सहेंद्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ कि-
मिति पात्यते ॥ २० ॥ तच्छ्रुत्वा जुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे । तक्षका-
शु पतस्वेह सहेंद्रेण मरुत्वता ॥ २१ ॥ इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिंद्रः प्र-
चालितः ॥ बभूव संभ्रांतमतिः सविमानः सतक्षकः ॥ २२ ॥ तं पतंतं विमा-
नेन सह तक्षकमंबरात् ॥ विलोक्यांगिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ॥२३॥
नैष त्वया मनुष्येंद्र वधमर्हति सर्पराट्॥ अनेन पीतममृतमथवा अजरामरः ॥२४॥
जीवितं मरणं जंतोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ॥ राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता

लगे ऐसा देखकर भय से अतिव्याकुल हुआ वह तक्षक 'रक्षा के निमित्त' इन्द्र की शरण गया । १७ ॥ इधर परीक्षित् के पुत्र जनमेजय ने, सर्पयज्ञ में तक्षक के दृष्टि न पडने से ब्राह्मणों से बूझा कि-हे द्विजो ! सर्पों में अधम तिस तक्षक का अभी तक तुम हवन क्यों नहीं करते हो ? ॥ १८ ॥ तब ब्राह्मण कहनेलगे कि-हे राजेन्द्र ! वह तक्षक इन्द्र की शरण में गया इसकारण इन्द्र उस की रक्षा कररहा है, तिस इन्द्र ने तक्षक को रोका है इसकारण वह सर्प अग्नि में नहीं गिरता है ॥ १९ ॥ इसप्रकार ब्राह्मणों के कहने को सुनकर वह उदारबुद्धि परीक्षित् का पुत्र राजा जनमेजय कहनेलगा कि-हे विप्रो ! तो फिर इन्द्रसहित तिस तक्षक को तुम अग्नि में क्यों नहीं गिराते हो ? ॥ २० ॥ यह राजा का भाषण सुनकर वह ब्राह्मण इन्द्रसहित तक्षक का हवन करने के निमित्त प्रैष उच्चारण करनेलगे कि-हे तक्षक ! मारुत्‌नामक देवगणों के साथ रहनेवाले इन्द्रसहित तू 'अग्नि में' शीघ्र गिर ॥२१॥ इसप्रकार ब्राह्मणों के उच्चारण करेहुए परुष वाक्यों से तक्षक और विमानसहित इन्द्र अपने स्थान से चलायमान हुआ और घबड़ा गया ॥२२॥ तब आकाश में के विमान में से तक्षक सहित गिरनेवाले उस इन्द्र को देखकर, अङ्गिरा ऋषि के पुत्र बृहस्पति उस राजा के समीप आकर ऐसा कहनेलगे कि- ॥ २३॥ हे मनुष्यश्रेष्ठ ! राजन् ! यह सर्पों का राजा तक्षक, तुमसे वध पाने के योग्य नहीं है, क्योंकि-इस ने अमृत पिया है तिस से यह अजर अमर होगया ॥ २४ ॥ इसपर भी तुम अपने पिता को डसने के कारण इस को भस्म करने का आग्रह करो तो सुनो प्राणी का जीवित रहना, मरना, तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होना यह सब अपने कर्मों से होते हैं, इसकारण हेराजन् दूसरे को सुख दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है इसकारण अकालमृत्यु से पिता की दुर्गति

सुखदुःखयोः ॥ २५ ॥ सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप ॥ पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत् ॥ २६ ॥ तस्मात्सत्रमिदं राजन्संस्थीयेताभिचारिकम् ॥ सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ॥ २७ ॥ इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन्वचः ॥ सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिं ॥ २८ ॥ सैषा विष्णोर्महामायाऽबाध्ययाऽलक्षणा यया ॥ मुह्यत्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥ २९ ॥ न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ॥ न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो मनश्च संकल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥ ३० ॥ न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम् ॥ तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं निषिद्ध्य चोर्मीन्विरमेत्स्वयं मुनिः ॥ ३१ ॥ परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सि-

---

इस तक्षक ने करी है ऐसा तुम अपने मन में न समझो ॥ २५ ॥ हे राजन्! सर्प, चोर, अग्नि, बिजली, वा भूख, प्यास, रोगादि से, जो जीव का मरण होता है वह उस को अपने प्रारब्धकर्मों से ही मिलता है अर्थात् उस के कर्म के प्रेरणा करेहुए ही सर्पादि काटते हैं वह स्वतन्त्र नहीं हैं ॥ २६ ॥ तिस से हे राजन्! हिंसायुक्त इस सत्र को अब तुम समाप्त करो; इस में दूसरे निरपराधी सर्प निष्कारण ही जलगये; यह तुम्हारा भी दोष नहीं है, क्योंकि—सब प्राणी अपने पुरातन कर्म का ही भोग करते हैं ॥२७॥ सूतजी कहते हैं कि—इसप्रकार बृहस्पतिजी ने कहा तब उन के वचन का आदर करतेहुए राजा जनमेजय ने 'बहुत अच्छा ऐसा' कहकर सर्पयज्ञ को समाप्त करा और बृहस्पतिजी का पूजन करा ॥ २८ ॥ वह यह विष्णुभगवान् की अतर्क्य महामाया ही है कि—जिस अनिवार्य माया के द्वारा यह विष्णुभगवान् के ही अंशभूत प्राणी, क्रोध लोभादि के कारण मोहित हो प्राणियों में वैरभाव करके बाध्यबाधकता पाते हैं ॥ २९ ॥ यह पुरुष कपटी है, ऐसी बुद्धि में जिस का वारम्वार उल्लेख होता है वह माया, जहाँ आत्मविचार करनेवाले पुरुषों के वारम्वार आत्मविचार प्रारम्भ करने पर निर्भयपने से प्रकाशित नहीं होती है किन्तु भयभीतसी हुई अपने मोह आदि कार्यों को न करकै बडे कष्ट से रहती है और जहाँ माया का आश्रय अनेकप्रकार का वादविवाद नहीं है तथा जहाँ सङ्कल्पविकल्परूप वृत्तिवाला मन भी नहीं है ॥ ३० ॥ और जहाँ इन्द्रियों के समूहसहित कर्म नहीं हैं, उन इन्द्रिय तथा कर्म दोनों से सिद्ध होनेवाला फल भी नहीं है; तैसे ही कर्म, इन्द्रियों का समूह, फल इन तीनों से युक्त अहङ्कारात्मकजीव भी नहीं है इस कारण ही जहाँ बाध्यबाधकों का निषेध करा है ऐसे तिस आत्मस्वरूपमें मननशील पुरुष अहङ्कारादि का त्याग करके रमण करै ॥ ३१ ॥ आत्मा के सिवाय दूसरे स्थान में प्रेम

सूक्षवः ॥ विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥ ३२ ॥
तं एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां
देहगेहजम् ॥ ३३ ॥ अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ॥ न चेमं देह-
माश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३४ ॥ नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठ-
मेधसे यत्पादांबुरुहध्यानात्संहितामध्यगामिमाम् ॥ ३५ ॥ शौनक उवाच ॥ पै-
लादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ॥ वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत्सौ-
म्याभिधेहि नः ॥ ३६ ॥ सूत उवाच ॥ समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः पर-
मेष्ठिनः ॥ हृदाकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥ ३७ ॥ यदुपासनया
ब्रह्मन्योगिनो मलमात्मनः ॥ द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥ ३८ ॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ॥ यत्तल्लिंगं भगवतो ब्रह्मणः
परमात्मनः ॥ ३९ ॥ शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् ॥ येन वा-

न रखनेवाले और 'नेति नेति' इस निषेधवाक्य के द्वारा आत्मा से भिन्न वस्तुओं का त्याग करने की इच्छा करनेवाले भक्तपुरुष, उस आत्मस्वरूप को ही विष्णुभगवान् का सर्वोत्तमस्वरूप जानते हैं और देह में के अहङ्कार का त्याग करके एकाग्रचित्त हुए मुमुक्षु पुरुषों ने, उस ही स्वरूप का हृदय में ध्यान आदि करके निश्चय करा है ॥३२॥ जिन पुरुषों को देह और घर में मैं और मेरा ऐसा दुष्ट अभिमान नहीं है वही पुरुष, विष्णुभगवान् के इस सर्वोत्तमस्वरूप को पाते हैं ॥ ३३ ॥ दूसरे के दुष्ट भाषण को सहन करे, 'अपना अपमान करने के कारण से' स्वयं दूसरे का अपमान न करे और तिस (नाशवान्) देह का आश्रय करके 'तिस देह के निमित्त' दूसरे किसी के भी साथ वैरभाव न करे ॥ ३४ ॥ जिन के चरणकमल का ध्यान करके, यह श्रीमद्भागवतसंहिता प्राप्त हुई है तिन अकुण्ठबुद्धि भगवान् व्यासजी को मेरा नमस्कार हो ॥ ३५ ॥ शौनक ने कहा कि-हे सूतजी! व्यासजी के शिष्य, वेदों के प्रवर्त्तक, जो पैल आदि महात्मा ऋषि थे, उन्होंने वेदों के कितने प्रकार के विभाग करे हैं सो मुझ से कहिये ॥ ३६ ॥ सूतजी ने कहा कि-हे शौनक! समाधि लगाकर भगवान् के ध्यान में बैठेहुए परमेष्ठी ब्रह्माजी के हृदयाकाश से पहिले नाद उत्पन्न हुआ कि-जो कानों में अंगुलि दे लेकर उन की बाहर का शब्द सुनने की वृत्ति को बन्द करने पर अस्मदादिकों के भी सुनने में आता है ॥ ३७ ॥ और हे शौनकजी! जिस नाद ब्रह्म की उपासना से योगिजन, अपने अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव नामक मल को धोकर मोक्ष पाते हैं ॥ ३८ ॥ उस नाद से अकार- उकार मकाररूप तीन मात्राओं से युक्त ॐकार उत्पन्न हुआ, जिस ॐकार की उत्पत्ति स्पष्ट समझने में नहीं आती है, जो स्वयं ही हृदय में प्रकाशित होता है, जो ब्रह्मरूप परमात्मा भगवान् का स्वरूप है ॥ ३९ ॥ यदि कहो कि-कौनसा परमात्मा तो जो इस अस्पष्ट ॐ

व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥ ४० ॥ स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वा-
चकः परमात्मनः ॥ स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥ तस्य ह्यासंस्त्रयो
वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ॥ धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥ ४२ ॥
ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ॥ अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्ष
णम् ॥४३॥ तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः॥ सव्याहृतिकान्सोंकारांश्चा
तुर्होत्रविवक्षया ॥४४॥ पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान्॥ ते तु धर्मो
पदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्॥४५॥ ते परंपरया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः ॥

कार को सुनता है, अब जीव ही उस को सुनता है ऐसा कहो सो ठीक नहीं होसक्ता; कानों को बन्द करलेने से श्रोत्र इन्द्रिय, श्रवण करनेवाली वृत्ति से रहित होनेपर जो ॐकार को सुनता है वही परमात्मा है. जीव तो 'इन्द्रियों के अधीन ज्ञानवाला होने के कारण, उससमय नहीं सुनता है, उस को तिस की प्राप्ति परमात्मा के द्वारा ही होती है ईश्वर तो ऐसा नहीं है, क्योंकि–वह इन्द्रियों के समूह का लय होनेपर भी ज्ञानवान् है; अर्थात् जब सोयाहुआ पुरुष, शब्द सुनकर जगता है तब उस शब्द को इन्द्रियों के लीन होजाने के कारण जीव नहीं सुनता है किन्तु जो उस समय शब्द को सुनकर जीव को जगाता है वही परमात्मा है; उसकाही वाचक ॐकार है और जिस ॐकार से वैखरी वाणी प्रकट होती है और जिस की हृदयाकाश में आत्मा से उत्पत्ति है ॥ ४० ॥ और जो अपने आश्रय स्थान साक्षात् ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का वाचक है वही ॐकार सब मंत्रो का रहस्य और वेदों का नित्य एकरूप (निर्विकार) कारण है ॥ ४१ ॥ हे शौनकजी ! उस ॐकार के अकार, उकार, और मकार यह तीन वर्ण हैं; जिन अ, उ, म्, इन तीन वर्णों से, क्रम से रज, सत्त्व और तम यह तीन गुण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यह नाम; भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक यह अर्थ, और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति यह वृत्तियें धारण करी हैं ॥ ४२ ॥ हे शौनकजी ! तदनन्तर भगवान् ब्रह्माजी ने, उन 'अ, उ, म्, इन वर्णों से, य, र, ल, व, यह अन्तःस्थ, श, ष, स, ह, यह ऊष्म, अ से लेकर औ पर्यन्त स्वर, क से लेकर म पर्यन्तस्पर्श और ह्रस्व दीर्घ आदि लक्षणों वाला सम्पूर्ण अक्षरसमूह उत्पन्न करा ॥ ४३ ॥ फिर उन अक्षरों के समूह से, उन ब्रह्माजी ने, अपने चारमुखों करके होता अध्वर्युआदि चार ऋत्विजों के करने का कर्म (यज्ञ) वर्णन करने की इच्छा से 'भूर्भुवःस्वः' इन तीन व्याहृति और ॐकार सहित चारवेद उत्पन्न करे ॥ ४४॥ और वह चारों वेद, वेदाध्ययन करने में चतुर अपने मरीचि आदि पुत्रों को पढ़ाये फिर उन धर्मोपदेश करनेवाले ऋषियों ने वह वेद अपने पुत्रों को पढाये ॥ ४५ ॥ तदनन्तर वह वेद, नियम धारण करनेवाले शिष्यों की

चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥ क्षीणायुषः क्षीणसत्वान्दुर्मेधा-
न्वीक्ष्य कालतः ॥ वेदान्ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतनोदिताः ॥४७॥ अस्मिन्न-
प्यंतरे ब्रह्मन्भगवाँल्लोकभावनः ॥ ब्रह्मशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥
पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ॥ अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे च-
तुर्विधं ॥ ४९ ॥ ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ॥ चतस्रः संहिताः
श्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥ ५० ॥ तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः॥
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥ ५१ ॥ पैलाय संहितामाद्यां ब-
ह्वृचाख्यामुवाच ह ॥ वैशंपायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥ ५२ ॥ सा-
म्नां जैमिनये प्राह तथा छंदोगसंहितां ॥ अथर्वांगिरसीं नाम स्वशिष्याय सु-
मन्तवे ॥ ५३ ॥ पैलः स्वां संहितामूचे इन्द्रप्रमितये मुनिः ॥ बाष्कलाय च
सोप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥ ५४ ॥ चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञ-
वल्क्याय भार्गव ॥ पराशरायाग्निमित्रे इंद्रप्रमितिरात्मवान् ॥ ५५ ॥ अध्या-

परम्परा से चारों युगों में आये और द्वापर के अन्त में महर्षियों ने उन वेदों का विभागकरा ॥ ४६ ॥ हृदय में रहनेवाले भगवान् के प्रेरणा करेहुए उन महर्षियों ने, कालवश दिन पर दिन सकल मनुष्य, बल हीन, तिसपर भी दुर्बुद्धि और तिस में भी अल्पायु होनेलगे ऐसा देखकर वेदों के 'भिन्न २ शाखाओं के द्वारा' विभाग करे ॥ ४७ ॥ हे शौनकजी ! इस मन्वन्तर में भी, ब्रह्मा शिव आदि देवताओं ने और इन्द्रादि लोकपालों ने धर्मकी रक्षा के निमित्तजिनकी प्रार्थना करी है ऐसे लोकपालक प्रभु भगवान्—॥४८॥ पराशरऋषिकी सत्य वती नामक स्त्रीकेविषें मायाके सात्विक अंशकरके व्यासरूप से अवतीर्णहुए और उन्होंने वेद के चारभाग करे॥४९॥जैसे एक स्थान में की अनेक प्रकार के रत्नों की बड़ी भारी ढेरी में से पद्मराग आदि रत्नों की ढेरियें भिन्न २ निकाली जाती हैं तैसे ही सम्पूर्ण वेद के बड़े भारी समूह में से ऋक्, अथर्व, यजु और साम इन मंत्रों के समूह अनेकों प्रकरणों के भेद-रूप से निराले २ निकालकर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद यह चार संहिता करी हैं ॥ ५० ॥ हे शौनकजी ! फिर उन महाबुद्धिमान् व्यासजी ने अपने चारशिष्यों को बुलाकर हरएक को एक २ संहिता उपदेश के द्वारा ददी ॥ ५१ ॥ बव्हृच नामवाली ऋग्वेदसंहिता पैल ऋषि को दी, दूसरी निगद नामवाली गद्यरूप यजुर्वेदसंहिता वैशम्पायन नामक ऋषि को, तैसेही तीसरी छन्दोग नाम की सामवेद संहिता जैमिनि ऋषि को और चौथी अथर्वाङ्गिरसी नामवाली अथर्ववेद संहिता सुमन्तु ऋषि को उपदेश करी ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥ हे शौनक ! पैल ऋषि ने, अपनी ऋक्संहिता की दो शाखा करके, उन मैंसे एक इन्द्रप्रमिति को और दूसरी बाष्कल नामक शिष्य को पढाई, उन बाष्कलने भी अपनी संहिता की चार शाखा करके एक बोध्य को, दूसरी याज्ञवल्क्य को, तीसरी पराशर को और चौथ

पयत्संहितां स्वां मांडूकेयमृषिं कविम् ॥ तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान् ॥ ५६ ॥ शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पंचधा व्यस्य संहिताम् ॥ वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥ ५७ ॥ जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ॥ वलाकपैजवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥ ५८ ॥ बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम् ॥ चक्रे बालायनिर्भज्यः कासारश्चैव तां दधुः ॥ ५९ ॥ बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ॥ श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥ वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् ॥ यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांऽहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥ ६१ ॥ याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन्कियत् ॥ चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥ ६२ ॥ इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया ॥ विप्राव-

---

अग्निमित्र को पढ़ाई, हे शौनक ! पहिले कहेहुए आत्मज्ञानी इन्द्रप्रमिति ने अपने माण्डूकेय नामक विद्वान् पुत्र को अपनी सब संहिता पढ़ाई, माण्डूकेय का शिष्य देवमित्र था उस ने वह संहिता अपने सौभरि आदि शिष्यों को पढ़ाई ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ उस माण्डूकेय का पुत्र शाकल्य था, उस ने उस अपनी संहिता के पाँचभाग करके वात्स्य मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर इन पाँच शिष्यों को पढ़ाई ॥ ५७ ॥ उन शाकल्य का शिष्य जातूकर्ण्य नामवाला था उस ने अपनी संहिता के तीन भाग करके और वेद में कहे पदार्थों का व्याख्यान रूप चौथा निरुक्त रचकर तिस के साथ वह वलाक, पैज, वैताल और विरज इन को सिखाई ॥ ५८ ॥ वाष्कल के पुत्र बाष्कलि ने, पहिली सब शाखाओं में से बालखिल्य नाम की एक संहिता रची, वह बालायनि, भज्य और कासार ने पढ़ी ॥ ५९ ॥ हे शौनकजी ! यह ऋग्वेद की संहिता ब्रह्मर्षियों ने धारण करी हैं जो कोई पुरुष, इन संहिताओं के विस्तार को सुनता है वह सब पापों से छूटजाता है ॥६०॥ हे शौनक ! वैशम्पायन ऋषि के चरकाध्वर्यु नामवाले शिष्य थे, उन का चरकाध्वर्यु नाम पडने का कारण यह था कि—उन्होंने अपने वैशम्पायन गुरु को ब्रह्महत्या लगने पर उस ब्रह्महत्या को दूर करनेवाला उन गुरु के करने का व्रत (प्रायश्चित) आप करा था इसकारण वह चरकाध्वर्यु नाम को प्राप्त हुए ॥ ६१ ॥ याज्ञवल्क्य भी उन वैशम्पायन के शिष्य थे, वह गुरु से कहनेलगे कि—हे भगवन् ! अल्प दृढ़तावाले इन शिष्यों के करेहुए व्रत से कौन फल प्राप्त होगा ? इसकारण इन को अति कठिन ऐसे व्रत को मैं ही करूँगा ॥ ६२ ॥ ऐसा कहनेपर वैशम्पायन जी क्रोध में होकर कहनेलगे कि—अरे ! ब्राह्मणों का अपमान करनेवाले तुझ शिष्य से भरपाये, तूने मुझ से

मन्त्रो शिष्येणं मदधीतं त्यजाशिवति ॥ ६३ ॥ देवरातसुतः सोपि छर्दि-
त्वा यजुषां गणम् ॥ ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥ ६४ ॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाददुः ॥ तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन्सु-
पेशलाः ॥ ६५ ॥ याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन् ॥ गुरोरविद्य-
मानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वर ॥ ६६ ॥ याज्ञवल्क्य उवाच ॥ ओंनमो भगवते
आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां ब्र-
ह्मादिस्तंबपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाऽव्यवधीयमा-
नो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गा-
भ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति ॥ ६७ ॥ यदुह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्त-
पत्यनुसवनमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरितवृजिनबीजावभर्जन

पढ़ा है उस को त्यागकर यहाँ से शीघ्र निकलना, ऐसा कहते ही ॥ ६३ ॥ देवरात के पुत्र वह याज्ञवल्क्य भी यजुर्वेदों के समूह का तहाँ ही वमन करके डालकर तहाँ से चले गये, फिर वह वमन करेहुए यजुर्वेद कितने ही ऋषियों की दृष्टि पड़े ॥ ६४ ॥ तब उन की तिन यजुर्वेद के मंत्रों को ग्रहण करने की इच्छा हुई परन्तु वमन ग्रहण करना ब्राह्मणों को उचित नहीं है इसकारण उन ऋषियों ने,उन वेदों के लोभसे अपने तीतर पक्षीके रूप रखकर उनको ग्रहण करलिया;तब अतिसुन्दर तैत्तिरीय नामसे प्रसिद्ध यजुर्वेदकी शाखाहुई ॥६५॥हेशौनक! वह याज्ञवल्क्य, अपने गुरु के पास,व्यासजी के विभाग करके न कहने के कारण जो नहीं थे ऐसे दूसरे ही यजुर्वेद के मंत्रों की खोज करतेहुए ऋग्वेदादि सब वेदोंके नियन्ता सूर्यनारायणकी स्तुति करनेलगे॥६६॥याज्ञवल्क्यजी बोले कि हेसवितः सूर्यनारायण! जो तुम एक ही भगवान् होकर जरायुज, अण्डज स्वेदज और उद्भिज्ज इन चारप्रकार के प्राणियोंके समूहरूप ब्रह्माजी से लेकर तृणपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् के हृदय में आत्मस्वरूप से और बाहर क्षण,लव,निमेष आदि अवयवों से बढ़ेहुए सम्वत्सरसमूहरूप कालस्वरूप से 'जैसे आकाश घट मठ आदि उपाधियों के भीतर और बाहर व्याप्त होने पर भी कहीं भी लिप्त नहीं होता है तैसे ही' देहादि उपाधियों के भीतर और बाहर रहकर भी उपाधियों से आच्छादित न होते हुए प्रतिवर्ष जल को सुखाना और फिर वर्षा करना इस के द्वारा लोकों का आजीवन करते हो ऐसे तुम आदित्यरूपी भगवान् को नमस्कार हो (इस प्रकार गायत्री के प्रथम पाद का अर्थ वर्णन करा) ॥ ६७ ॥ अब गायत्री के दूसरे चरण के अर्थ का वर्णन करतेहुए स्तुति करते हैं कि—हे देवोत्तम! हे सवितः! प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह और सन्ध्या के समय वैदिक कर्म की रीति से तुम्हारी स्तुति करनेवाले भक्तों के सकल पातकों से उत्पन्न होनेवाले दुःखों के बीज का नाश करनेवाले हे सूर्य-

भगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम् ॥ ६८ ॥ य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइंद्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मांतर्यामी प्रचोदयति ॥ ॥ ६९ ॥ य एवेमं लोकमतिकरालवदनांधकारसंज्ञाजगरग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतं नमवलोक्यानुकंपया परमकारुणिक ई-क्षयै वोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेय-सि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयत्यवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति ॥ ७० ॥ परित आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशांजलिभिरुपहृतार्हणः ॥ ७१ ॥ अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिर्वंदितमहमयातयामयजुः काम उपसरामीति" ॥ ७२ ॥ सूत उवाच ॥ एवं स्तुतः स भगवान्वाजिरूप-धरो हरिः ॥ यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादितः ॥ ७३ ॥ यजुर्भिरक-रोच्छाखा दश पंच शतैर्विभुः ॥ जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यंदिनादयः ॥ ॥ ४७ ॥ जैमिनेः सामगस्यासीत्सुमंतुस्तनयो मुनिः ॥ सुन्वांस्तु तत्सुतस्ता-

नारायण! इस तुम्हारे प्रतिदिन प्रकाश पानेवाले मण्डल का हम ध्यान करते हैं ॥ ६८ ॥ हे सूर्यनारायण! जो तुम, सब के अन्तर्यामी आत्मा होतेहुए, अपने आश्रित स्थावर जङ्गमरूप जीवों के जडरूप मन, इन्द्रियों और पंचप्राणों को प्रेरणा करते हो ऐसे तुम भगवान् को नमस्कार हो ॥ ६९ ॥ अब गायत्री के तीसरे चरण से स्तुति करते हैं कि— हेसूर्यनारायण! जो परमदयालु भगवान, अतिभयानक मुखवाले अन्धकार नामक अजगररूप ग्रहके निगलेहुए और उस से ही मृतक समान अचेतन पड़ेहुए इस लोक को देखकर और अपनी दयायुक्त दृष्टि से उठाकर प्रतिदिन तीनो काल में कल्याणकारी अपने धर्मरूप परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त करते हो, ' जैसे राजा दुष्ट पुरुषों को भय देताहुआ विचरता है तैसे, दुराचारियों को भय देते हुए गमन करते हो—॥७०॥ और जिन के चारोंओर इन्द्रादि लोकपाल, जहाँ तहाँ अपने २ स्थानो में रहकर कमल की समान हाथोंकी अञ्जलियों से अर्घ्य देते हैं तिन भगवान् सूर्य को नमस्कार हो॥ ७१॥हे भगवन् क्योंकि—तुम ऐसे हो इसकारण दूसरों के यथार्थ न जानेहुए यजुर्वेद के मंत्रों की इच्छा करके मैं, त्रिलोकी के अधिपतियों करके बन्दना करेहुए तुम्हारेदोनों चरणकमलों का भजन करता हूँ ॥७२॥ सूतजी कहते हैं कि—इस प्रकार स्तुति कर के प्रसन्न करेहुए उन भगवान् सूर्यनारायण ने वाजिरूप धारण करके, याज्ञवल्क्यमुनि को अयातयाम (विस्मरण आदि दोषों से रहित और दूसरों को प्राप्त न हुए) यजुर्वेद के मन्त्र दिये ॥ ७३ ॥ फिर उन याज्ञवल्क्यजी ने उन असंख्यात यजुर्वेद के मन्त्रों की १५ शाखा करीं; उन वाजसनेयी नामक शाखाओं को काण्व माध्यन्दिन आदि ऋषियों ने पढा ॥ ७४ ॥ सामवेद का गान करनेवाले जैमिनि का एक सुमन्तु नामवाला पुत्र था और उस सुमन्तु का एक सुन्वान्

ध्यायमेकैकां मोह संहिताम् ॥७५॥ सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान् ॥
सहस्रं संहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः॥७६॥हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्यंजि-
श्च सुकर्मणः॥ शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवंत्यो ब्रह्मवित्तमः॥ ७७॥ उदीच्याः
सामगाः शिष्या आसन्पंचशतानि वै ॥ पौष्यंज्यावंत्ययोश्चापि तांश्च प्रा-
च्यान्प्रचक्षते ॥ ७८ ॥ लौगाक्षिर्मांगलिः कुल्यः कुशीदः कुक्षिरेव च ॥ पौ-
ष्यंजिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम् ॥ ७९ ॥ कृतो हिरण्यनाभस्य च-
तुर्विंशति संहिताः ॥ शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवंत्य आत्मवान्॥८०॥
इतिश्रीभागवते म० द्वादशस्कंधे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६ ॥७॥
सूत उवाच ॥ अथर्ववित्सुमंतुश्च शिष्यमध्यापयत्स्वकाम् ॥ संहितां सोऽपि
पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान् ॥ १ ॥ शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः ॥
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु॥ कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलि-

नामवाला पुत्र था उन दोनों को (पुत्र और पौत्र को) उन्होंने अपनी संहिता की दो शाखा करके एक २ को एक २ पढाई ॥७५॥ उन जैमिनि का सुकर्म नामवाला भी एक बडा बुद्धिमान् शिष्य था, उस ने सामवेदरूप वृक्ष की एक सहस्र संहिता निराली २ करीं ;फिर हे शौनकादि ऋषियों ! उस सुकर्मा का एक शिष्य कौशल्य हिरण्यनाभ,दूसरा शिष्य पौष्याञ्जि और तीसरे शिष्य ब्रह्मवेत्ता (सामवेद जानने वाले) आवन्त्य ने उन सब संहिताओं को ग्रहण करा ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ उन पौष्याञ्जि तथा आवन्त्य के और हिरण्यनाभ के भी उत्तर दिशा में रहकर सामवेद का गान करनेवाले पाँच सौ शिष्य थे उन्होंने उन संहिताओं को समानभाग करलिया; यद्यपि वह सबही उदीच्य थे तथापि कालवश उन में से कितनो ही को प्राच्य (पूर्ववासी) कहते हैं ॥ ७८ ॥ लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुशीद और कुक्षि यह पौष्याञ्जि के शिष्य थे उन्होने सौ सौ संहिता लीं ॥ ७९ ॥उस हिरण्यनाभ का कृतनामा शिष्य था उनने चौवीस संहिता अपने शिष्यों को पढ़ाई और शेष रहीं संहिता आवन्त्य ऋषिने अपने शिष्यों को पढ़ाईं ॥ ८० ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ * ॥ सूतजी ने कहाकि हे शौनक ! अथर्ववेद जाननेवाले सुमन्तु ऋषि ने, अपनी संहिता कबन्ध शिष्य को पढ़ाई उस कबन्ध ने भी अपनी संहिता की दो शाखा करके, एक पथ्यनामक शिष्य को और दूसरी वेददर्श नामक शिष्य को पढ़ाई ॥ १ ॥ वेददर्शने अपनी संहिता की चार शाखा करके शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि इन चार शिष्यों को पढ़ाई, अब पथ्य के शिष्य कहता हूँ, सुनो–हेशौनक ! कुमुद, शुनक, और जाजलि यह तीन 'पथ्य

श्चाप्यथर्ववित् ॥ २ ॥ बभ्रुः शिष्योऽथांगिरसः सैन्धवायन एव च ॥ अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथाऽपरे ॥ ३ ॥ नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपांगिरसादयः ॥ एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान्मुने ॥ ४ ॥ त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ॥ वैशंपायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ॥ ५ ॥ अधीयंत व्यासशिष्यात्संहितां मत्पितुर्मुखात् ॥ एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगां ॥ ६ ॥ कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः ॥ अधीमहि व्यासशिष्याच्चत्वारो मूलसंहिताः ॥ ७ ॥ पुराणलक्षणं ब्रह्मन्ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितं ॥ शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥ ८ ॥ सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च ॥ वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ ९ ॥ दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ॥ केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया ॥

ने अपनी संहिता की तीन शाखा करके पढ़ायेहुए होने से' अथर्व के जाननेवाले हुए ॥ २ ॥ शुनक के बभ्रु और सैन्धवायन दो शिष्य थे, उन्होने दो संहिता पढ़ी, तैसे ही सैन्धवादिकों के सावर्ण्य आदि अर्थात्-नक्षत्रकल्प, शांतिकल्प कश्यप और आङ्गिरस आदि शिष्य अथर्व वेद के आचार्य (शाखा विभाग करके प्रवृत्त करनेवाले) थे; हेमुने ! अब पुराणों के आचार्य कहता हूँ सुनो ॥३॥४॥ हेशौनक ! त्रय्यारुणि, कश्यप सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत यह छः पौराणिक थे ॥५॥ पहिले वेदव्यासजी ने, पुराण की छः संहिता रचकर मेरे रोमहर्षण पिता को सिखाई फिर उन व्यासजी के शिष्य मेरे पिता के मुख से त्रय्यारुणि आदि छःजनोने एक २ संहिता पढ़ी, और उन सबों का शिष्य मैं, छहों संहिताओं को पढ़ा हूँ ॥६॥ कश्यप, मैं, सावर्णि, परशुराम का शिष्य अकृतव्रण इन हम चारों ने, व्यासजी के शिष्य से पुराणों की चार मूलसंहिताओं को पढ़ा है ॥ ७ ॥ अब शुकदेव और राजा परीक्षित् के सम्वाद में कहेहुए पुराणों के लक्षण और उन के भेद कहताहूँ हेशौनक ! ब्रह्मर्षियों ने वेदशास्त्रों के अनुसार जो पुराणों के लक्षण कहे हैं उन को ध्यान देकर सुनो ॥ ८ ॥ हेशौनक ! इस विश्व का सर्ग, विसर्ग, वृत्ति (स्थान), रक्षा (पालन) मन्वन्तर, वंश तथा वंशवालों का चरित्र (ईशानुकथा), संस्था (निरोध) मुक्तिहेतु (ऊति) और अपाश्रय यह दश विषय जिस में हों उस को विद्वान् पुरुष पुराण कहते हैं और कितने ही आचार्य कहते हैं कि—सर्ग, विसर्ग वंश, वंशजों का चरित्र और मन्वन्तर यह पाँच विषय जिस मे हों वह पुराण कहलाता है, इस मतभेद में ऐसी व्यस्था है कि-दशों विषयों का जिस में भिन्न २ वर्णन हो वह महापुराण और जिस में अन्य पाँच लक्षणों का अन्तर्भाव करके पाँच लक्षणवर्णन करे हों उस को अल्पपुराण (उपपुराण) मानै

१ श्लोक में ' मूल संहिता' ऐसा पद है इस से प्रतीत होता है कि—और भी बहुतसी संहिता थीं ।

॥ १० ॥ अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ॥ भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां संभवः
सर्ग उच्यते ॥ ११ ॥ पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ॥ विसर्गोऽयं स-
माहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥ १२ ॥ वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामच-
राणि च ॥ कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयाऽपि वा ॥ १३ ॥ रक्षाऽ-
च्युतावतारेहा विश्वस्यानुयुगे युगे॥ तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यंते यैस्त्रयीद्विषः॥१४॥
मन्वंतरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः॥ऋषयोंऽशावतारार्श्च हरेः षड्विधमुच्यते।१५।
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ॥ वंश्यानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधरार्श्च
ये ॥१६॥ नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ॥ संस्थेति कविभिः
प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः ॥ १७ ॥ हेतुर्जीवोस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः॥
यं चानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ १८ ॥ व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्व-

॥ ९ ॥ हेशौनक ! प्रधान (प्रकृति) के गुणों का क्षोभ होकर तिस से महत्तत्त्व की, महत्तत्त्व से तीन प्रकार के अहङ्कार की और उस से शब्दादि तन्मात्रा इन्द्रियें पञ्चतत्त्व और उन के देवताओं की जो सृष्टि होती है उस को 'सर्ग' कहते हैं ॥ ११ ॥ ईश्वर के अनुग्रह करेहुए (सृष्टि की सामर्थ्य दियेहुए महत्तत्त्व आदि का जो, पूर्वकर्मों की वासनाओं वाला और ' जैसेबीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है तैसे ' प्रवाह की समान ' कार्यभूत ' चराचर प्राणिरूप समुदाय तिस को ' विसर्ग ' कहते हैं ॥ १२ ॥ चर प्राणियों की सामान्य रीति से चराचर प्राणी जीविका का साधन हैं, तिन में मनुष्यों की अपने २ स्वभाव के अनुसार राग से वा शास्त्र के वचनों से जो आजीविका कहीगई है उस को वृत्ति कहते हैं ॥ १३ ॥ जिन से दैत्यों का नाश कियाजाता है तिस २ प्रत्येक युग में पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि और देवताओं में अच्युत भगवान् के अवतार की लीला होकर जो विश्व का पालन होता है उस को रक्षा कहते हैं ॥ १४ ॥ मनु देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तऋषि और श्रीहरि के अंश का अवतार इन छहों का समूह जब अपने २ अधिकार में प्रवृत्त होते हैं उससमय के उस काल को 'मन्वन्तर, कहतेहैं ॥१५॥ ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए (शुद्ध) राजाओं की भूत, भविष्य और वर्त्तमानकाल की सन्तति को ' वंश , कहते हैं और उन शुद्ध राजाओं के चरित्र को तथा उन के वंशधरों के चरित्र को ' वंश्यानुचरित, कहते हैं ॥ १६ ॥ इस विश्व का नैमित्तक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक जो चार प्रकार का, माया से प्रलय होता है तिस को विद्वान् पुरुष ' संस्था , कहते हैं ॥ १७ ॥ हे शौनक ! चैतन्य को मुख्य माननेवाले कितने ही पुरुष, जिसजीव को अनुशायी कहते हैं और दूसरे उपाधि को मुख्य माननेवाले कितने ही पुरुष, अव्याकृत कहते हैं वह अविद्या से ' मोहित होकर , कर्म करनेवाला जीव, इस विश्व की उत्पत्ति आदि होने का कारणभूत है इस कारण उस को 'हेतु' कहते हैं॥ १८॥परब्रह्म कि—जो जाग्रत,

मसुषुप्तिषु ॥ मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ १९ ॥ पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु ॥ बीजादिपंचतांतासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥२०॥ विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् ॥ योगेन वा तदात्मानं वेदेहायो निवर्तते ॥ २१ ॥ एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ॥ मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महांति च ॥ २२ ॥ ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैंगं सगारुडम् ॥ नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कांदसंज्ञितम् ॥ २३ ॥ भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कंडेयं सवामनम् ॥ वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्मांडाख्यमिति त्रिषट् ॥ २४ ॥ ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ॥ शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्द्धनम् ॥ २५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कंधे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ ७ ॥ शौनक उवाच ॥ सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर ॥ तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः ॥ १ ॥ आहुश्चिरायु-

स्वप्न और सुषुप्तिमें जीवपनेसे वर्त्तनेवाले मायामय विश्व, तैजस और प्राज्ञमें पुराहुआ है और समाधि आदिमें उनसे भी जुदा है तिस को, 'अपाश्रय,कहते हैं ॥१९॥ जैसे कारणरूप मृत्तिका आदि वस्तु,नामरूपवाले अपने कार्यरूप घटादि पदार्थों में अनुस्यूत होकरभी तिन से भिन्न होते हैं तैसे ही,गर्भाधान से मरणपर्यन्त होनेवाली देह की अवस्थाओं में अधिष्ठानपने से' अनुस्यूत और 'साक्षीपने से' उन से भिन्न जो, नामरूपों में सत्तामात्र से रहने वाला परब्रह्म वही अपाश्रय है ॥२०॥ जिस समय पुरुष का मन, रजःसत्वतमोगुणरूप तीनों वृत्तियों को त्यागकर विराम पावे, अथवा यहाँ ही करेहुए योगबल से अथवा सर्गादि लक्षणों के श्रवण कीर्त्तन आदि से होनेवालीभक्ति से वैराग्य को प्राप्त होय तब विक्षेप के नष्ट होजाने के कारण यह पुरुष आत्मा को जानेगा और संसाररूप अविद्या से स्वयं ही छूटजायगा ॥ २१ ॥ हे शौनकजी! इसप्रकार के लक्षणों से जानने में आनेवाले महापुराण और उपपुराण अठारह हैं ऐसा प्राचीन विद्वानों का कथन है ॥ २२ ॥ ब्राह्म (ब्रह्मपुराण), पाद्म (पद्मपुराण), वैष्णव और शैव, लैंग, गारुड़, नारदीय, भागवत, आग्नेय, स्कान्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, वामन, वाराह, मात्स्य, कौर्म और ब्रह्माण्ड यह अठारह पुराण हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ हे शौनक! व्यास, व्यासजी के शिष्य, उन के शिष्य और उन के भी प्रतिशिष्य इत्यादिकों का कराहुआ और श्रोताओं के ब्रह्म सर्वस्व को बढानेवाला यह शाखाओं का विस्तार मैंने तुम से वर्णन करा है ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में सप्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ शौनक ने कहा कि-हे बोलनेवालों में श्रेष्ठ सूतजी! तुम चिरंजीव रहो, तुम संसाररूप अपारअन्धकार में घूमतेहुए पुरुषों को पार दिखानेवाले हो, इसकारण हम जो बूझते हैं सो कहो ॥ १ ॥ जिस

यमृषिं मृकण्डतनयं जनाः ॥ यः कल्पांते उर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥
॥ २ ॥ स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन्भार्गवर्षभः । नैवाधुनाऽपि
भूतानां संप्लवः कोऽपि जायते ॥ ३ ॥ एक एवार्णवे भ्राम्यन्ददर्श पुरुषं किल ॥
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥ ४ ॥ एष नः संशयो भूयान्सूत कौ-
तूहलं यतः ॥ तं नश्छिंधि महायोगिन्पुराणेष्वपि संमतः ॥ ५ ॥ सूत उवाच ॥
प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः ॥ नारायणकथा यत्र गीता कलिम-
लापहा ॥ ६ ॥ प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात् । छन्दांस्यधीत्य
धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥ ७ ॥ बृहद्व्रतधरः शांतो जटिलो वल्कलांबरः ॥
बिभ्रत्कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥ ८ ॥ कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च
नियमर्द्धये ॥ अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन्संध्ययोर्हरिम् ॥ ९ ॥ सायं प्रातः स

प्रलय से यह जगत् नष्ट होता है उस कल्प के अन्त में होनेवाले प्रलय में भी जो शेष रहे उन मृकण्ड के पुत्र मार्कण्डेय ऋषि को सब लोक 'चिरायु' कहते हैं सो यह कैसे होसक्ता है? अर्थात् प्रलय में भी कैसे जीवित रहते हैं ॥२॥ दूसरे यह कि—वह मार्कण्डेय ऋषि भृगुवंश में श्रेष्ठ होने के कारण इस ही कल्प में और हमारे कुल में उत्पन्न हुए हैं और अवतक (भृगुकुल की उत्पत्ति होने से) तो प्राणियों का प्राकृत वा नैमित्तिक इन में से कोई भी प्रलय नहीं हुआ है अर्थात् इस समयपर्यन्त जब प्रलय ही नहीं हुआ तो 'प्रलय में शेष रहे' यह कहना कैसे बनसक्ता है? ॥ ३ ॥ एक और भी अघटित वात है कि—वह मार्कण्डेयऋषि, प्रलयकाल के समुद्र में इकले ही भ्रमण कररहे थे, सो बड के पत्ते के पुटके ऊपर (दोनें में) उन्होंने सोयेहुए एक आश्चर्यकारी बालकरूप पुरुष को देखा ॥ ४ ॥ यह बडाभारी संशय उत्पन्न होने के कारण सुनने की बडी उत्कण्ठा होरही है; हे बहुत जाननेवाले सूतजी! तुम केवल महायोगी ही नहीं हो किन्तु सब पुराणों को जानने के विषय में माननीय भी हो, इसकारण हमारे उस संशय को दूर करो ॥ ५ ॥ सूतजी ने कहा कि—हे शौनक! जिस तुम्हारे प्रश्न का समाधान करते में कलियुग के दोषों का नाश करनेवाली भगवान् की कथा गाई जायगी ऐसा यह लोकों के भ्रम को दूर करनेवाला तुम ने बडा सुन्दर प्रश्न करा है ॥६॥ जब मार्कण्डेयजी ने गर्भाधान आदि संस्कारों के क्रम करके पिता से यज्ञोपवीत संस्कार पाया तब वह ब्रह्मचर्य व्रत धारकर वेद को पढकर तप और स्वाध्याय में लगगए ॥ ७ ॥ वल्कलवस्त्र ओढे, जटा धारण करे वह शान्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी मार्कण्डेयजी, धर्म को बढाने के निमित्त दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत, मेखला, जपकरने की रुद्राक्षकी माला सहित काली मृगछाला और कुशा धारण करके अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण और आत्मा में श्रीहरि का पूजन करनेलगे,

गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः ॥ बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः
॥ १० ॥ एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ॥ आराधयन्हृषीकेशं जिग्ये
मृत्युं सुदुर्जयम् ॥ ११ ॥ ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च ये परे ॥ नृदेव-
पितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः ॥ १२ ॥ इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वा-
ध्यायसंयमैः ॥ दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥ १३ ॥ तस्यैवं
युंजतश्चित्तं महायोगेन योगिनः ॥ व्यतीयाय महान्कालो मन्वंतरषडात्मकः ॥
॥ १४ ॥ एतत्पुरंदरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन्किलांतरे ॥ तपोविशंकितो ब्रह्मन्ना-
रेभे तद्विघातनम् ॥ १५ ॥ गन्धर्वाप्सरसः कामं वसंतमलयानिलौ ॥ मुनं-
ये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तदा ॥ १६ ॥ ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पा-
र्श्व उत्तरे ॥ पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो ॥ १७ ॥ तदा-
श्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताऽचितम् ॥ पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयं ॥

वह प्रातः और सायङ्काल भीखमाँग के लाकर अपने गुरु को अर्पण करते थे और जब अपने गुरु आज्ञादेते थे तब मौनसाधकर एकसमय भोजन करते थे, कभी गुरु ने भोजन करने की आज्ञा न दी तो निराहार ही रहजाते थे ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ हेशौनक ! ऐसे तप और स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले उन मार्कण्डेय जी ने दशकरोड वर्षपर्यन्त श्रीहरि की आराधना करके अतिकठिनता से जीतनेयोग्य मृत्यु को भी जीतलिया ॥ ११ ॥ मार्कण्डेयजी के मृत्यु को जीतलेने के कारण ब्रह्मा, भृगु, महादेव, दक्ष और ब्रह्माजी के नारदादि पुत्रों को तथा और जो मनुष्य, देवता, पितर तथा भूत इत्यादि थे तिन को बड़ा आश्चर्य प्रतीत हुआ ॥ १२ ॥ ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करनेवाले वह योगी, तप, स्वाध्याय और इन्द्रियजय के द्वारा अन्तःकरण को रागादिरहित करके अधोक्षज भगवान् का ध्यान करनेलगे ॥ १३ ॥ ऐसे बड़े योग के बल से मन का नियमनकर, रहनेवाले उन मार्कण्डेयजी को छः मन्वन्तर का (१७०४ युगों की चौकड़ी) समय बीतगया ॥ १४ ॥ हे शौनकजी ! इस सातवें मन्वन्तर में इस वार्त्ता को जानकर इस मन्वन्तर में के पुरन्दर नामक इन्द्र ने, तपस्या से यह मेरे इन्द्रपद को लेलेगा ऐसा सन्देह करके, उन की तपस्या में विघ्न करने को उद्यत हुआ ॥ १५ ॥ उस इन्द्र ने, मार्कण्डेय मुनि को तपस्या से डिगाने के निमित्त गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव वसन्त ऋतु और मलयागिरि के पवन तथा रजोगुण के अतिप्रिय लोभ और मद को भेजदिया ॥ १६ ॥ हेशौनकजी ! वह सब ही हिमालय के उत्तर की ओर जहाँ पुष्पभद्रा नदी और चित्रानामक शिला है तहाँ मार्कण्डेयजी के आश्रम के पास आपहुँचे ॥ १७ ॥ उस पवित्र आश्रम का स्थान सुन्दरवृक्षलताओं से शोभायमान, पवित्र पक्षियों के समूहों

॥ १८ ॥ मत्तभ्रमरसंगीतं मत्तकोकिलकूजितम् ॥ मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विज-
कुलाकुलम् ॥ १९ ॥ वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् ॥ सुमनोभिः
परिष्वक्तो ववावुत्तंभयन् स्मरम् ॥ २० ॥ उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबका
लिभिः ॥ गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत्कुसुमाकरः ॥ २१ ॥ अन्वीयमानो गंधर्वै-
र्गीतवादित्रयूथकैः ॥ अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥ २२ ॥
हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिंकराः ॥ मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमि-
वानलं ॥ २३ ॥ ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः ॥ मृदंगवीणा-
पणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमं ॥ २४ ॥ संदधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पंचमुखं तदा ॥
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकंपयन्॥२५॥क्रीडंत्याः पुंजिकस्थल्याः कंदुकैः
स्तनगौरवात् ॥ भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः॥२६॥इतस्ततो भ्रमद्दृष्टे-
श्चलंत्या अनुकन्दुकम्॥वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥२७॥ विससर्ज

से भराहुआ और पवित्र निर्मल जलाशयों से युक्त था ॥ १८ ॥ जहाँ मदमत्त भौंरे गुञ्जार रहे थे, और मत्त कोकिल अपना कुहू २ शब्द कर रहे थे, जहाँ मदोन्मत्त मोर नट नृत्य कररहे थे ऐसा वह मदोन्मत्त पंक्षियों के कुलों से भराहुआ था ॥ १९ ॥ ऐसे उस आश्रम में फूलों से सुगन्धित हुआ वह मलयाचल का पवन, ठण्डे झरनों के कणों को लेकर कामदेव को दीप्त करताहुआ चलनेलगा ॥२०॥ जिस में चन्द्रमा निकला है ऐसे प्रदोष काल के होनेपर वसन्त ऋतु भी कोमल पत्तों की पङ्क्तियों से लिपटेहुए वृक्षों के और लताओं के झुण्डोंपर प्रकट हुआ ॥२१॥ और गानेबजाने वालों सहित गन्धर्वोंको साथ लेकर सज्ज (तयार) धनुष और बाणों को धारण करनेवाला कामदेव, उस आश्रम में दृष्टि पड़नेलगा ॥२२॥ फिर अग्नि में हवन करके नेत्रमूंदे बैठेहुए वह मार्कण्डयजी, तिरस्कार करनेको अशक्य होने के कारण उन इन्द्र के सेवकों को मूर्त्तिमान् अग्नि से प्रतीत होने लगे ॥२३॥ अप्सरा उन मार्कण्डेयजी के सामने नाचनेलगीं, गन्धर्व गानेलगे और कितने ही मृदङ्ग, वीणा, ढोल आदि बाजों का मनोहर शब्द करनेलगे ॥ २४ ॥ उस समय कामदेव ने, शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और उन्मादन ऐसे पाँच मुखवाले अस्त्रको अपने धनुषपर चढ़ाया, उस समय वसन्त ऋतु, लोभ तथा और भी इन्द्र के सेवक ऋषि के मन को चल विचल करनेलगे ॥ २५ ॥ फिर तहाँ पुञ्जिकस्थली अप्सरा, गेंद खेलने लगी तब स्तनों के भार से उसकी कमर बहुतही झुकगई थी, और उसकी चोटी में से फूलों की माला नीचे को खसक रही थी ॥ २६ ॥ वह अप्सरा गेंद के पीछे फिरती हुई जिधरतिधर को दृष्टि डालती थी,इतने ही में कमर की तगड़ी के टूटकर गिरजाने से मलयाचल के पवन ने उस के महीन वस्त्र को उड़ादिया ॥ २७ ॥ तब 'मार्कण्डेय को मैं ने

तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः ॥ सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः २८॥
ते इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने ॥ दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः
॥ २९ ॥ इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः ॥ यन्नागादहमो भावं न
तच्चित्रं महत्सु हि ॥ ३० ॥ दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्व-
राट् ॥ श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात्परम् ॥ ३१ । तस्यैवं युंजतश्चित्तं
तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥ ३२ ॥ तौ
शुक्लकृष्णौ नवकंजलोचनौ चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ॥ पवित्रपाणी उपवी-
तकं त्रिवृत्कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम् ॥ ३३ ॥ पद्माक्षमालामुत जंतुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ ॥ तपत्तडिद्वर्णपिशंगरोचिषा प्रांशू दधानौ वि-
बुधर्षभार्चितौ ॥ ३४ ॥ ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी ॥ दृष्ट्वोत्थाया-

---

जीतलिया ' ऐसा मानकर कामदेव ने अपना बाण छोडा ; परन्तु जैसे भाग्यहीन का कराहुआ उद्योग निष्फल होता है तैसे कामदेव का तप से डिगाने के निमित्त कराहुआ सब प्रयत्न उन मार्कण्डेयजी के ऊपर निष्फल हुआ ॥ २८ ॥ हे मुने ! ऐसे मार्कण्डेयजी के प्रतिकूल आचरण करनेवाले वह इन्द्र के दूत, उन के तेज से जलनेलगे तब 'जैसे बालक सर्प को जगाकर भय से पीछे को भागजाते हैं तैसे वहाँ से लौटगये ॥ २९ ॥ हे राजन् ! ऐसे इन्द्र के अनुचरों के तिरस्कार करेहुए उन महामुनि मार्कण्डेयजी को अहङ्कार से होनेवाला कामक्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं हुआ ; तिस से ऐसे महात्माओं में यह बात कुछ आश्चर्य मानने की नहीं है ॥३०॥ इधर भगवान् इन्द्र, अन्य मण्डली के साथ मलिनमुखहुए उस कामदेव को देखकर और 'उस से' उन ब्रह्मर्षि का प्रभाव सुनकर परमविस्मय को प्राप्त हुए ॥ ३१ ॥ फिर, इस रीति से तप, स्वाध्याय और यमनियमों के द्वारा चित्त को जीतनेवाले उन मार्कण्डेयऋषि के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त नर और नारायण के रूप से श्रीहरि उन के समीप प्रकटहुए ॥३२॥ वह आकार में ऊँचे और चतुर्भुज होकर शुक्ल तथा कृष्णवर्ण के थे, उन के नेत्र कमल की समान सुन्दर थे,वह काली मृगछाला और वल्कल धारण करे और हाथ में पवित्री,गले में तीन आवृत्ति के (नौ सूत्र के) यज्ञोपवीत को धारण करेहुए थे ; उन के शरीर की कान्ति चमकनेवाली बिजली की समान पीले वर्ण की थी इसकारण वह साक्षात् तप की मूर्त्ति ही दीखते थे ; वह कमण्डलु, बांस का सूधा दण्डा,कमलगट्टों की माला 'चलते में कीडे आदि प्राणी न मरें इसकारण' उन को एक ओर करने के निमित्त (वस्त्र की कूँची आदि) और कुशा की मुट्ठी यह एक २ धारण करेहुए थे वह श्रेष्ठ देवताओं के भी पूजनीय थे, ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे शौनक ! वह भगवान् के

दरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥ ३५ ॥ स तत्संदर्शनानंदनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः ॥ हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥ ३६ ॥ उत्थाय प्रांजलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव ॥ नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरः ॥ ३७ ॥ तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च ॥ अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत् ॥ ३८ ॥ सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी ॥ पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥ मार्कंडेय उवाच ॥ किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनु वाङ्मन इंद्रियाणि ॥ स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥ ४० ॥ मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै ॥ नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं—

नरनारायण नामवाले अवतार थे, ऐसे उन ऋषियों को देखते ही मार्कण्डेयजी ने उठकर और अति आदर सत्कार करके शरीर से दण्डवत् नमस्कार करा ॥ ३५ ॥ उनके दर्शन से होनेवाले आनन्द करके जिनके शरीर, इन्द्रियें और मन परमशान्त हुए हैं, जिन के शरीर पर रोमाञ्च खड़े होगये हैं और जिन के नेत्र आँसुओं से भर आये हैं ऐसे वह मार्कण्डेय ऋषि, उन नरनारायण की ओर को देखभी नहीं सके ॥ ३६ ॥ फिर वह मानो उत्कण्ठा से आलिङ्गन ही करते हैं ऐसे उठकर हाथ जोड़कर नम्र होते हुए तिन नरनारायण से, नमस्कार हो, नमस्कार हो, ऐसा अटकते अटकते कहने लगे ॥ ३७ ॥ और उन्हो ने उन को आसन देकर तथा उन के चरण धोकर अर्घ्य, चंदन, फूल, धूप, आदि सामग्रियों से पूजाकरी ॥ ३८ ॥ फिर मार्कण्डेय ऋषि, सुख से आसन पर बैठे हुए और प्रसाद करने को समर्थ उन अतिपूजनीय नरनारायण मुनि के चरणों में फिर गिरकर ऐसे कहनेलगे ॥ ३९ ॥ मार्कण्डेयजीने कहा कि—हेप्रभो ! मैंतुम्हारी क्या स्तुति करूँ? क्योंकि देहधारी प्राणियों का तुम्हारा प्रेरणा कराहुआ प्राण प्रवृत्त होता है और उस के पीछे वाणी मन, इन्द्रियें, यह अपने २ कर्म करने में प्रवृत्त होती हैं, केवल प्राकृत प्राण की है यह दशा नहीं है किन्तु ब्रह्मा शिव के प्राणादिक भी तुम्हारे ही प्रेरणा करने पर प्रवृत्त होते हैं और मेरे प्राणादिक भी तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं, इसकारण तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी स्वतन्त्र नहीं है तथापि तुम, अपना भजन करनेवालों के आत्मा के बन्धु हो, पिता मातादि के समान केवल देह के ही नहीं ॥ ४० ॥ हेभगवन् ! जैसे तुम इस विश्व की रक्षा करने के निमित्त मत्स्य कूर्म आदि अनेक अवतार धारण करते हो तैसे यह दो भगवन् की (तुम्हारी) मूर्ति भी त्रिलोकी का पालन करने के निमित्त, दुःख को दूर करने के निमित्त और मृत्यु को जीतकर मोक्ष की प्राप्ति होने के निमित्त तुम धारण करते हो, जैसे मकड़ी पहिले अपने पेट में से तार निकालकर घर (जाला) रचती है और

सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥ ४१ ॥ तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरंघ्रि-
मूलं यत्स्थं न कर्मगुणकालरजः स्पृशंति ॥ यद्वै स्तुवंति निनमंति यजंत्य-
भीक्ष्णं ध्यायंति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥ ४२ ॥ नान्यं तवांघ्र्युपनयाद-
पवर्गमूर्तेः क्षेमं जनस्य परितो भिय ईश विद्मः ॥ ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विप-
रार्धधिष्ण्यः कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥ ४३ ॥ तद्वै भजाम्यृ-
तधियस्तव पादमूलं हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य ॥ देहाद्यपार्थम-
सदंत्यमभिज्ञमात्रं विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥ ४४ ॥ सत्त्वं रज-
स्तम इतीश तवात्मबंधो मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य ॥ लीला धृता
यदपि सत्त्वमयी प्रशांत्यै नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्यां ॥ ४५ ॥ त-
स्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजंति ॥ यत्सा-

---

फिर उस को आप ही भक्षण करजाती है तैसे तुम भी इस जगत् को उत्पन्न करके फिर इस का संहार करते हो ॥ ४१ ॥ हे भगवन् ! स्थावर-जङ्गम जगत् को प्रेरणा करनेवाले और पालन करनेवाले तुम्हारे चरणकमल का मैं भजन करता हूँ, कि–जिस की उपासना करनेवाले पुरुष को, कर्म, गुण और काल का दोष स्पर्श भी नहीं करता है, और वेद का तात्पर्य जाननेवाले मुनि, उस की प्राप्ति के निमित्त जिस (चरण) की स्तुति करते हैं, पूजन करते हैं, नमस्कार करते हैं और निरन्तर ध्यान करते हैं॥ ४२॥ हे ईश! तुम भ्रुकुटि को उघाडकर देखते हो उससमय तिस भ्रुकुटि के चढने से ही, जिन का स्थान दो परार्द्ध पर्यन्त रहता है वह ब्रह्माजी भी, अत्यन्त भयभीत होजाते हैं फिर उन ब्रह्माजी के रचे हुए प्राणियों के डरने का तो कहना ही क्या ? इससे सर्वत्र भय पानेवाले प्राणी को, मोक्षरूप तुम्हारे चरण की प्राप्ति को छोड़कर दूसरा कल्याणकारी स्थान हम नहीं जानते हैं ॥ ४३ ॥ इसकारण आत्मस्वरूप को ढकने वाले निष्फल, तुच्छ, नाशवान् और ‘ अत्यन्त ही मिथ्या होने के कारण’ आत्मस्वरूप से भिन्न न दीखनेवाले इन देहादि पदार्थों को त्यागकर मैं, उस जीवनियन्ता, सत्यस्वरूप और कारण से पर तुम्हारे तिस चरणतलका भजन करता हूँ, जब पुरुष तुम्हारा भजन करेगा तो उस को तुम से इच्छित फल प्राप्त होयगा ही ॥ ४४ ॥ हे जीव के हितकारिन् ! यद्यपि, सत्त्व, रज और तम यह तीनो गुण, तुम्हारी ही मूर्ति हैं और इन से तुम, इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होने की हेतु जो माया तिस के द्वारा लीलाओं को धारण करते हो; तथापि हे परमेश्वर ! उन में की जो सत्त्वगुणमयी मूर्त्ति है वही मनुष्यों को मोक्ष मिलने का कारण होती है; दूसरी (रजोगुणी वा तमोगुणी) मूर्त्ति का ध्यान करने पर उस से दुःख, मोह वा भय प्राप्त होते हैं ॥ ४५ ॥ क्योंकि–सत्त्वगुणी मूर्त्ति ही कल्याणकारिणी है तिस से हे भगवन् ! इस लोक में चतुरबुद्धिवाले पुरुष, तुम्हारी

त्वेताः पुरुषरूपमुशंति सत्वं लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत् ॥४६॥
तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने विश्वाय विश्वगुरवे परदेवताय ॥ नारायणाय
ऋषये च नरोत्तमाय हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥ ४७ ॥ यं वै न
वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः संतं स्वखेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु ॥ तन्माययावृतम
तिः स उ एव साक्षादाद्यस्तवाऽखिलगुरोरुपसाद्य वेदम् ॥ ४८ ॥ यद्दर्शनं
निगम आत्मरहःप्रकाशं मुह्यंति यत्र कवयोऽजपरा यतंतः ॥ तं सर्ववादविष-
यप्रतिरूपशीलं वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधं ॥ ४९ ॥ इतिश्रीभा० म० द्वा-
दशस्कंधे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ छ ॥ सूत उवाच ॥ संस्तुतो भगवानित्थं
मार्कंडेयेन धीमता ॥ नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम् ॥ १ ॥ श्रीभ-
गवानुवाच ॥ भो भो ब्रह्मर्षिवर्याऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना ॥ मयि भक्त्या-

---

(नारायण की) शुद्धसत्त्वगुणी मूर्त्ति का और तुम्हारे भक्तों के मन को प्रिय लगनेवाली शुद्धसत्त्वगुणी (नररूप) मूर्त्ति का ही भजन करते हैं ; क्योंकि–जिस सत्त्वगुणी मूर्त्ति से वैकुण्ठलोक प्राप्त होकर अभय मिलने के कारण आत्मा को सुख होता है ; वह सत्त्व ही पुरुष का रूप है ऐसा भक्तजन मानते हैं, रजोगुण और तमोगुण को ईश्वर का रूप नहीं मानते हैं ॥४६॥ हे ईश्वर! तुम सर्वान्तर्यामी, व्यापक, विश्वरूप, विश्वगुरु, परम- दैवत, शुद्धमूर्त्ति और वाणी के नियन्ता, वेदों के भी प्रवर्त्तक होकर अब नारायण और नरोत्तम इन रूपों को धारनेवाले ऋषि हुए हो तिन तुम भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥ निष्फल इन्द्रियों से विक्षिप्तबुद्धि हुआ जो पुरुष, अपनी इन्द्रियों में, प्राणों में और हृदय में तथा दीखतेहुए पदार्थों में रहनेवाले भी तुम्हें नहीं जानता है, वह तुम्हारी माया से आच्छादितबुद्धिवाला पुरुष, पूर्व की समान अज्ञ होकर भी, सर्वों के गुरु तुम से प्रवृत्तहुए वेद को पाने पर तुम्हें प्रत्यक्ष जानलेता है ॥ ४८ ॥ हे भगवन्! तुम्हारे गुप्त- भेद को प्रकाशित करनेवाला जिन तुम्हारा ज्ञान वेद में होता है, जिन तुम्हारे विषैं, ब्रह्मानी महादेव आदि बड़े २ विद्वान् भी 'स्वरूपज्ञान होने की आशा से' सांख्य योग्य आदि के द्वारा यत्न करतेहुए भी मोहित होते हैं, जिन का स्वभाव सकल सांख्यवादी लोकों के वाद के भेद आदि के अनुसार है और जिन का ज्ञान देहादि के संघात से गुप्त है ऐसे महापुरुषरूपी तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में अष्टम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ * ॥ * ॥ * ॥ सूतजी कहते हैं कि–हे शौनक! उन बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनि ने, इसप्रकार स्तुति करके जिन को प्रसन्न करा है ऐसे वह नर के मित्र भगवान् नारायण, उन भृगुकुल श्रेष्ठ मार्क- ण्डेयजी से कहनेलगे ॥ १ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे ब्रह्मर्षि श्रेष्ठ! तुमने चित्त को

ऽनपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ २ ॥ वयं ते परितुष्टाः स्मे त्वद्बृहद्व्रतचर्यया ॥ वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम् ॥ ३ ॥ ऋषिरुवाच ॥ जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत ॥ वरेण तावताऽलं नो यद्भवान्समदृश्यत ४। गृहीत्वाऽजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनं ॥ मनसा योगपक्वेन स भवान्मेऽक्षगोचरः ॥ ५ ॥ अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे ॥ द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदां ॥ ६ ॥ सूत उवाच ॥ इतीडितोर्चितः काममृषिणा भगवान्मुने ॥ तथेति स स्मयन्प्रागाद्बदर्याश्रममीश्वरः ॥ ७ ॥ तमेव चिंतयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः ॥ वसन्नग्न्यर्कसोमांबुभूवायुवियदात्मसु ॥ ध्यायन्सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ॥ क्वचित्पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसंप्लुतः ॥ ९ ॥ तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः ॥ उपासीनस्य संध्या-

---

एकाग्र करके मुझ में निर्दोष भक्ति करीहै और तपस्या,वेदाध्ययन तथा इन्द्रिय जय यह भी करे हैं इसकारण तुम सिद्ध होगए हो ॥ २ ॥ हे ऋषे ! तुम्हारे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से हम प्रसन्न हुए हैं इसकारण वर देनेवालों में श्रेष्ठ ऐसे हम से तुम इच्छित वर माँगलो, तुम्हारा कल्याण हो॥ ३॥मार्कण्डेयजी ने कहा कि–हेदेव देव ! हे शरणागतों के दुःख दूर करनेवाले अच्युत ! वरदान से मुझे लोभ युक्त करके तुम ने अपना उत्कर्ष दिखलाया, हे ईश्वर ! अब जो तुमने दर्शन दिया यही बहुत है इस से दूसरे वर की मुझ को इच्छा नहीं है ॥ ४ ॥ ब्रह्मादि देवता, योगाभ्यास करके पक्व (शुद्ध)हुए केवल मन से ही जिन तुम्हारे श्रीमान् चरण कमल का दर्शन करके कृतार्थ होते हैं वह तुम प्रत्यक्ष मेरी दृष्टि पड़े हो, फिर इस से अधिक दूसरा कौनसा वरदान मांगने योग्य है ? ॥ ५ ॥ तथापि हे पवित्र कीर्तिवालों में श्रेष्ठ कमलदल नयन ! जिन की माया से ब्रह्मादिकों सहित यह जन सत्यवस्तु में देवता, तिर्यक, मनुष्य आदि भेद देखता है वह माया ही मेरे देखने में आवे ऐसी मुझ को इच्छा है ॥ ६ ॥ सूतजी कहते हैं कि–हे शौनक ! इसप्रकार मार्कण्डेय ऋषि ने बहुतसी स्तुति करके पूजा करी, तबवह ईश्वर (नरनारायण) भगवान्, तथास्तु (मेरे माया तुम्हें दीखेगी) ऐसा कहकर और विस्मय करके बदरिकाश्रम को चलेगये ॥ ७ ॥ फिर उस माया का दर्शन मुझे कब होयगा ऐसा विचारते हुए वह मार्कण्डेय ऋषि, अपने आश्रम में ही रहकर अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, भूमि वायु, आकाश और आत्मा इन में तथा दूसरे भी सब स्थानों में श्रीहरि का ध्यान करते हुए मानासिक सामग्रियों से उन का पूजन करनेलगे, एक समय वह आनन्द रूप प्रवाह में निमग्न होतेहुए तिन श्रीहरि की पूजा करने को भूलगये ॥ ८ ॥ ९ ॥ हे ब्रह्मन् शौनकजी ! एक दिन सन्ध्याकाल के समय वह मुनि, पुष्पभद्रा नदी के तटपर सन्ध्या आदि

यां ब्रह्मन्वायुरभून्महान् ॥ १० ॥ तं चण्डशब्दं समुदीरयंतं बलाहका अन्व-
भवन्करालाः ॥ अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः स्वनंत उच्चैरभिवर्षधाराः ॥ ११ ॥
ततो व्यदृश्यंत चतुःसमुद्राः समंततः क्ष्मातलमाग्रसंतः ॥ समीरवेगोर्मिभिरुग्र-
नक्रमहाभयावर्तगभीरघोषाः ॥ १२ ॥ अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः शतह्र-
दाभीरुपतापितं जगत् ॥ चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनिर्जलाप्लुतां क्ष्मां वि-
मनाः समत्रसत् ॥ १३ ॥ तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः प्रभंजनाघूर्णितवा
महार्णवः ॥ आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम् ॥
॥ १४ ॥ सक्ष्मांऽतरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत्सह दिग्भिराप्लुतम् ॥
स एक एवोर्वरितो महामुनिर्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडांधवत् ॥ १५ ॥
क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिंगिलैरुपद्रुतो वीचिनभस्वताहतः ॥ तमस्यपारे पतितो-
भ्रमन्दिशो न वेद खं गां च परिश्रमोषितः ॥ १६ ॥ क्वचिद्गतो महावर्ते

करहे थे सो हे भृगुश्रेष्ठ ! बडाभारी वायु का झोकाचला ॥ १० ॥ प्रचण्ड शब्द करने वाले वायु के पीछे भयानक मेघ घुमड़आये, उन मेघों में से बिजलियों की चमक के साथ बड़ा कड़कड़ाहट का शब्द होकर रथ के पहिये के छिद्र में के दण्डे (धुरे) की समान बड़ी २ वर्षा की धारा जिधर तिधर से पडनेलगीं ॥ ११ ॥ फिर जिन में अतिक्रूरनाके तथा महा भयानक भँवर हैं और गम्भीर शब्द होरहे हैं ऐसे चारों समुद्र चारों ओर से वायु की झकोलों से उत्पन्न हुई तरङ्गों से भूमण्डल को डुबाते हुए दीखने लगे ॥ १२ ॥ स्वर्ग और पातालों को भरदेनेवाले उन जलों से, सूर्य की तीखी किरणों से (अथवा प्रचण्ड पवनों से) और बिजलियों से, अपने सहित (मार्कण्डेय सहित) जरायुज आदि चार प्रकार का जगत्, भीतर और बाहर से अत्यन्त भयभीत हुआ, और पृथ्वी को जल में डूबी देखकर वह मार्कण्डेय मुनि अति खिन्न होकर भय को प्राप्त हुए ॥ १३ ॥ इसप्रकार उन मार्कण्डेय ऋषि के देखतेहुए, वर्षा करनेवाले मेघों के जलों से भरेहुए और अति प्रचण्ड पवन से जल के उछलने के कारण तरङ्गों से अतिभयानक दीखनेवाले समुद्र ने, द्वीप, खण्ड और पर्वतों सहित पृथ्वी को ढकादिया ॥ १४ ॥ हे शौनक ! पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, तारागण, और दिशाओं सहित सारी त्रिलोकी अत्यन्त डूबगई; उस में से इकले मार्कण्डेय मुनि ही शेष रहगये;वह जटाओं को बखेरकर बावले और अन्धे की समान भटकनेलगे ॥ १५ ॥ मगर और छोटे २ मत्स्यों को खानेवाले बडे मच्छों से नोचेहुए, और तरङ्ग तथा वायु के लुढकने के कारण अत्यन्त थककर भूँख प्यास से व्याकुलहुए वह मुनि, फिरते २ अपार अन्धकार में पडगये तिस से दिशा, आकाश, पृथ्वी आदि कुछ भी उन की समझ में नहीं आया ॥ १६ ॥ वह कहीं बड़े भँवर में पड़जाते थे, कहीं समुद्र

तरलैस्ताडितः क्वचित् ॥ यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः ॥ १७ ॥
क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम् ॥ क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्या-
दिभिरुतार्दितः ॥ १८ ॥ अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ॥ व्यतीयुर्भ्र-
मतस्तस्मिन्विष्णुमायावृतात्मनः ॥ १९ ॥ स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः
ककुदि द्विजः ॥ न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥ २० ॥ प्रागुत्तरस्यां
शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम् ॥ शयानं पर्णपुटके ग्रसंतं प्रभया तमः ॥ २१ ॥
महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् ॥ कंबुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम्
॥ २२ ॥ श्वासैजदलकाभातं कंबुश्रीकर्णदाडिमम् ॥ विद्रुमाधरभासेषच्छोणा-
यितसुधास्मितम् ॥ २३ ॥ पद्मगर्भारुणापांगं हृद्यहासावलोकनम् ॥ श्वासैजद्व-
लिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥ २४ ॥ चार्वंगुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चर-
णांबुजम् ॥ मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥ २५ ॥ तद्दर्शना-

की तरङ्गों से धक्का खाते थे, कहीं कहीं उन को भक्षण करने के निमित्त परस्पर में युद्ध करनेवाले जल के प्राणियों से वह भक्षण करेजाते थे ॥ १७ ॥ उन को कभी शोक होता था, कभी मोह होता था, कभी दुःख होता था, कभी सुख, कभी भय और कभी २ तो रोगादि से पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त होजाते थे ॥ १८ ॥ इसप्रकार विष्णु की माया से मोहितचित्त हुए उन मार्कण्डेय मुनि को, उस प्रलयसमुद्र में फिरते एक शङ्कु (१००००००००००००) वर्ष वीतगये ॥ १९ ॥ उन ब्राह्मण को उस समुद्र में फिरते हुए एकसमय पृथ्वी के ऊँचे प्रदेशपर फलों से और पत्तों से शोभायमान वड का पौधा (छोटा सा पेड) दृष्टि पडा ॥ २० ॥ और उस वड की ईशानदिशा में की शाखा के एक पर्णपुट (दोने) में सोयाहुआ और अपने तेज से अन्धकार का नाशकरनेवाला एकबालक उन को दीखा ॥ २१ ॥ वह बालक उत्तम मरकतमणि की समान श्यामवर्ण,शोभायमान मुख कमलवाला और शंख के से वल पडेहुए कण्ठवाला, चौडी छाती-सुन्दर नासिका और सुन्दर भौंवाला था ॥ २२ ॥ और वह श्वासलेते में हलनेवाले केशों से शोभायमान और शंख के से बल भीतर पडे होने के कारण सुन्दर दीखनेवाले उस के दोनो कानोंपर दाडिमी के फूल थे; वह मूँगे की समान ओठों की कान्ति से कुछ एक लालहुए अमृत समान (स्वेत) हास्य से युक्त था; उस के नेत्रों के कोये कमल के भीतरीभाग की समान कुछ एक लाल थे मनोहर हास्य के साथ देखरहा था और उस के पीपल के पत्तेकी समान पेटपर की त्रिवली श्वासों से हलती थी इसकारण उस की गदरी नाभि चलायमान होरही थी ॥ २३ ॥ २४ ॥ वह सुन्दर अङ्गुलिवाले हाथों से अपना चरणकमल ऊपर को करके और उस को मुख में लेजाकर चूसरहा था,तिस मनोहरमूर्त्ति बालक को देखकर वह ब्राह्मणश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी बडे

द्रीतपरिश्रमो मुदा प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः ॥ प्रहृष्टरोमाऽद्भुतभावशंकितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकं ॥ २६ ॥ तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सो-
ऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ॥ तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो यथा पुरा-
मुह्यदतीवविस्मितः ॥ २७ ॥ खं रोदसी भगणानद्रिसागरान् द्वीपान्सवर्षान्क-
कुभः सुरासुरान् ॥ वनानि देशान्सरितः पुराकरान् खेटान् व्रजानाश्रमवर्ण-
वृत्तयः ॥ २८ ॥ महांति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ कालं च नानायुगकल्प-
कल्पनम् ॥ यत्किंचिदन्यद्व्यवहारकारणं ददर्श विश्व सदिवावभासितम् ॥
॥ २९ ॥ हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ॥ विश्वं
विपश्यन् श्वसिताच्छिशोर्वै बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥ ३० ॥ तस्मि-
न्पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं वटं च तत्पर्णपुटे शयानम् ॥ तोकं च तत्प्रेमसुधास्मि-
तेन निरीक्षितोपांगनिरीक्षणेन ॥ ३१ ॥ अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धि-

---

विस्मय को प्राप्तहुए ॥२९॥ हे शौनक ! उस का दर्शन होते ही जिन का परिश्रम दूर हुआ है, आनन्द से जिन के नेत्र कमल और हृदयकमल प्रफुल्लित हुए हैं और तिस परमआश्चर्यकारीरूप से शङ्कित होने के कारण जिन के शरीर पर रोमाञ्च खडे होगये हैं वह मार्कण्डेयजी उस बालक से प्रश्न करने के निमित्त आगे को सरककर उस के समीप में को गये ॥ २६ ॥ इतने ही में, उस बालक के ऊपर को खेंचेहुए श्वास से वह मार्कण्डेयजी, उस के पेट में मच्छर के समान खिचेचलेगये, तहाँ जाते ही उन्होंने, यह जगत् जैसा प्रलय से पहिले बाहर था तैसाही भीतरभी सब देखा तब वह अति विस्मित होकर मोहित होगए ॥ २७ ॥ आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, तारे, पर्वत, समुद्र, खण्डोंसहित द्वीप, दिशा, देव, दैत्य, वन, देश नदी, शहर, खान, किसानो के गाँव, ग्वालों की गढइयें, आश्रम, वर्ण, उनकी आजीविका ॥ २८ ॥ पञ्चमहाभूत, उन से उत्पन्न हुए पदार्थ, अनेक युगों की और कल्पों की कल्पना करनेवाला काल और भी जो कुछ व्यवहार का कारण था सो सब ही, बालकरूप परमेश्वर से ही परमार्थ की समान (सत्यसा) भासमान हुआ उन मार्कण्डेयजी की दृष्टि पड़ा ॥ २९ ॥ तैसे ही उन्होने, वह हिमालय, वह पुष्प भद्रा नदी, उस के तटपर वह अपना आश्रम और उस में के वह सब ऋषि भी देखे. हे शौनक ! मार्कण्डेयजी के इसप्रकार उस विश्व को देखतेहुए उस बालक के श्वास में को होकर बाहर निकले सो उसी प्रलय समुद्र में जापड़े ॥ ३० ॥ और उन्होने फिर पृथ्वी के उस टीलेपर उगाहुआ वह वड़ और उस के पत्ते के दोने में सोयाहुआ वह बालक देखा तब उस बालक ने प्रेम के साथ अमृत समान मन्द मुसकुरान से युक्त नेत्र के कटाक्षों से उस की ओर को देखा

स्थितं हृदि ॥ अभ्ययादतिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम् ॥ ३२ ॥ तावत्स भग-
वान्साक्षाद्योगाधीशो गुहाशयः ॥ अन्तर्दध ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता ॥
॥ ३३ ॥ तमन्वथ वटो ब्रह्मन्सलिलं लोकसंप्लवः ॥ तिरोधायि क्षणादस्य स्वा-
श्रमे पूर्ववत्स्थितः ॥३४॥ इ० भा० द्वा० मायादर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥
सूत उवाच ॥ स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् ॥ वैभवं योगमायायास्तमेव
शरणं ययौ ॥ १ ॥ मार्कण्डेय उवाच ॥ प्रपन्नोऽस्म्यंघ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं
हरे ॥ यन्माययाऽपि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया ॥ २ ॥ सूत उवाच ॥ त-
मेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन् ॥ रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणै-
र्वृतः ॥ ३ ॥ अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत ॥ पश्येमं भगवन्वि-
प्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥ ४ ॥ निभृतोदझषव्रातो वातापाये यथाऽर्णवः ॥

फिर अतिक्लेश को प्राप्त हुए वह मार्कण्डेय जी, नेत्रों के द्वारा हृदय में स्थापन करेहुए उस बालकरूप अधोक्षज भगवान् को आलिङ्गन करने के निमित्त उन के समीपगये ॥३१॥३२॥और हृदय से लगाने को थे कि—इतने ही में 'जैसे भाग्यहीन का कराहुआ उद्योग सर्वथा नष्ट होजाता है, तैसेही' सबों के हृदय मे रहनेवाले वह योगाधिपति भग, वान्, मार्कण्डेय ऋषि के समीप से एकायकी अन्तर्धान होगये ॥ ३३ ॥ भगवान् के अन्तर्धान् होनेके अनन्तर हे शौनक! वह बड़, वह जल और वह लोको का प्रलय आदि सब ही एक क्षण मे नष्ट होगया, और वह मार्कण्डेय मुनि भी पहिले की समान, अपने आश्रम में स्वस्थ रहे ॥ ३४ ॥ इतिश्री मद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में नवम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ सूतजी कहते हैं कि—इसप्रकार वह मार्कण्डेयमुनि, भगवान् नारायण की रचीहुई योगमाया के इस वैभव का अनुभव लेकर उन ही नारायण की शरण गये ॥ १ ॥ मार्कण्डेयजी कहनेलगे कि—हे भगवन् श्रीहरे! बड़े २ विद्वान् भी ज्ञान की समान प्रकाशित होनेवाली जिस तुम्हारी माया से 'हम ज्ञानी हैं ऐसा अहङ्कार करके' मोहित होते हैं ऐसे, शरणागत को अभय देनेवाले तुम्हारे चरणतल की मैं शरण आया हूँ ॥ २ ॥ सूतजी ने कहा कि—तदनन्तर एक समय पार्वतीसहित नन्दी पर बैठकर और अपने भृङ्गी भृङ्गी आदि गणों को साथ लेकर आकाश में विचरनेवाले भगवान् महादेवजी ने, समाधि लगाये बैठेहुए उन मार्कण्डेयमुनि को देखा ॥ ३ ॥ तब पार्वतीजी, उन ऋषि को देखकर महादेवजी से कहनेलगीं कि—हे भगवन्! मेघ न होने के समय जल और मच्छमगर आदि प्राणियों के शान्त होने पर जैसे समुद्र शान्त होता है तैसे जिस का देह, इन्द्रियें और मन यह निश्चल होगये हैं ऐसे इस (शान्त) ब्राह्मण की ओर को देखकर

कुर्वस्य तपसः साक्षात्संसिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥ ५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ॥ भक्तिं परां भगवति लब्धवान्पुरुषेऽव्यये ॥ ६ ॥ अथाऽपि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ॥ अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥ ७ ॥ सूत उवाच ॥ इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥ तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः ॥ न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥ ९ ॥ भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया ॥ आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥ १० ॥ आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम् ॥ त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥ ११ ॥ व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसिचर्मभिः ॥ अक्षमालाडमरुकं कपालपरशुं सह ॥ १२ ॥ बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः ॥ किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो

इस की तपस्या का फल प्रकट करो; क्योंकि–तुम ही तपस्याओं की सिद्धि देनेवाले हो ॥ ४ ॥ ५ ॥ श्रीशङ्करभगवान् ने कहा कि–हे पार्वति ! इस को अविनाशी पुरुषोत्तम भगवान् में बडीभारी भक्ति उत्पन्न हुई है इसकारण यह ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय, तप की फलसिद्धि होने की इच्छा नहीं करता है, अधिक क्या कहूँ ! निःसन्देह मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता है, फिर सांसारिक सुखों को नहीं चाहता इस का तो कहनाही क्या ॥ ६ ॥ तथापि हे पार्वति ! इस साधु के साथ हम भाषण करें, क्योंकि–साधुओं का समागम होना ही मनुष्यों को निःसन्देह परमलाभ है ॥ ७ ॥ सूतजी ने कहा कि–हे शौनक ! सकल प्राणियों का 'अन्तर्यामिरूप से नियन्ता होने के कारण सकल विद्याओं के ईश उन, भक्तों को गति देनेवाले महादेवजी ने, ऐसा कहकर उन मार्कण्डेयऋषि के समीप गमन करा ॥ ८ ॥ उससमय तिन मार्कण्डेयजी ने, अन्तःकरण की वृत्ति को रोककर अन्तर्यामी ईश्वर की ओर लगाया था इसकारण जो अपने शरीर को और विश्व को नहीं जानते थे उन मार्कण्डेयजी को जगदात्मा शिवपार्वती का आना ज्ञान (मालूम) नहीं हुआ ॥ ९ ॥ उन की अन्तःकरण की वृत्तियें रुकीहुई हैं यह जानकर भगवान ईश्वर, योगमाया के प्रभाव से उस के हृदय रूप गुहा में के आकाश में –जैसे वायु जिधर २ छिद्र मिलता है उधर २ को ही प्रवेश करता है तैसे प्रविष्ट होगये ॥ १० ॥ तब बिजली की समान पीली जटाओं को धारण करनेवाले, और त्रिशूल, धनुष, बाण, तरवार तथा ढाल सहित, व्याघ्रचर्म रूप वस्त्र; रुद्राक्षों की माला, डमरू, मनुष्य की खोपड़ी और फरसा धारण करे तथा तीननेत्र वाले, दशभुज और ऊँचे तथा जो हृदय के भीतर सूर्य की समान उदय हुए हैं ऐसे केवल बाहर से ही नहीं किन्तु हृदय में भी प्राप्तहुए भगवान् सदाशिव को देखकर वह मार्कण्डेय मुनि, यह हृदय में एकायकी क्या भासमान हुआ ? और कहां से हुआ ! ऐसे विस्मय से

मुनिः ॥ १३ ॥ नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयागतम् ॥ रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं
ननाम शिरसा मुनिः ॥ १४ ॥ तस्मै सपर्यां व्यदधात्सगणाय सहोमया ॥
स्वागतासनपाद्यार्घगंधस्रग्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥ आह चात्मानुभावेन पूर्णका-
मस्य ते विभो ॥ करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत् ॥ १६ ॥
नमः शिवाय शांताय सत्वाय प्रमृडाय च ॥ रजोजुषेऽथ घोराय नमस्तुभ्यं तमो-
जुषे ॥ १७ ॥ सूत उवाच ॥ एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः ॥ परि-
तुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥ १८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वरं वृणीष्व
नः कामं वरदेशा वयं त्रयः ॥ अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद्विंदतेऽमृतम् ॥१९॥
ब्राह्मणाः साधवः शांता निःसंगा भूतवत्सलाः ॥ एकांतभक्ता अस्मासु नि-
र्वैराः समदर्शिनः॥२०॥सलोका लोकपालास्तान्वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते ॥ अहं च

उठकर समाधि से उठगये ॥ ११॥ १२॥ १३॥ फिर नेत्र उघाड़ते ही अपने गणोंसहित पार्वती को साथ में लिये त्रिलोकी के एक ही गुरु भगवान् रुद्र आये हैं ऐसा उन की दृष्टि पड़ा तब उन मुनि ने, मस्तक से नमस्कार करा ॥ १४ ॥ और आयेहुए गणों सहित पार्वती के साथ उन की स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्प, धूप और दीप आदि सामग्रियों से पूजा करी ॥ १५ ॥ और कहनेलगे कि—हेप्रभो ईश्वर ! जिन तुम से इस जगत् को सुख मिलता है ऐसे, अपने प्रभाव से पूर्णकाम हुए आपका हम कौनसा कार्य करें? ॥ १६ ॥ इस से हे विभो ! वास्तव में देखाजाय तो तुम निर्गुण और शान्त होकर भी, सत्त्वगुण को ग्रहण करके (विष्णुरूप से पालन करके) सब को सुख देते हो; तैसेही रजोगुण को स्वीकार करतेहो तथा तमोगुण को स्वीकार करके अतिभयानक होते हो ऐसे आप को मेरा वार २ नमस्कार हो ॥ १७ ॥ सूतजी कहते हैं कि—ऐसें स्तुति करने पर प्रसन्न हुए, साधुओं के गतिरूप वह भगवान् आदिदेव शङ्कर, अन्तःकरण में प्रसन्न होकर हँसते २ उन मार्कण्डेयजी से ऐसे कहनेलगे ॥ १८ ॥ भगवान् महादेवजी ने कहाकि—हेमार्कण्डेय! जिनका दर्शन होना कभी निष्फल नहीं होता है और जिन से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होती है ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव हम तीनो वरदेनेवालों में श्रेष्ठ हैं, सो हम से तुम अपना इच्छित वर मांगलो ॥ १९ ॥ हे मुने ! जो ब्राह्मण साधु (सदाचारवान्), शान्त (मत्सरता आदिरहित), निःसङ्ग (निष्काम), प्राणीमात्र में दयायुक्त, निर्वैर और सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाले होने के कारण हम तीनों में एकसमान निष्कपटभक्ति करनेवाले होते हैं— ॥ २० ॥ उन को लोकोंसहित इन्द्रादि लोकपाल वन्दना करते हैं, उन का पूजन करते हैं; सेवा करते हैं और केवल वही तुम्हारा भजन करते हैं ऐसा नहीं किन्तु मैं (महादेव)

भगवान्ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः॥२१॥ न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि
चक्षते ॥ नात्मनश्च जनस्यापि तद्युष्मान्वयमीमहि ॥ २२ ॥ न ह्यम्मया-
नि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः ॥ ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥
॥ २३ ॥ ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम् ॥ बिभ्रत्यात्मसमाधा-
नतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ २४ ॥ श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोपि वः ॥
शुद्ध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु संभाषणादिभिः ॥ २५ ॥ सूत उवाच ॥ इति च-
न्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम् ॥ वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत्कर्णयोः पिबन् ॥२६॥
स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम् ॥ शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुंज-
स्तमब्रवीत् ॥ २७ ॥ ऋषिरुवाच ॥ अहो ईश्वरचर्येयं दुर्विभाव्या शरीरि-
णाम् ॥ यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवंति जगदीश्वराः ॥ २८ ॥ धर्मं ग्राहयितुं

ब्रह्माजी और स्वयं ईश्वर (मेरेसहित सबों का ईश्वर) श्रीहरि यह हम तीनो ही उन को वन्दना आदि करके सेवा में तत्पर होते हैं ॥२१॥ क्योंकि—वह ब्राह्मण, मैं (महादेव), विष्णु और ब्रह्मा इन हम तीनों में, अपने में तथा अन्य सांसारिक प्राणियों में भी अणुमात्र भी भेदभाव नहीं जानते हैं इसकारण हम,तुम ब्राह्मणों को भजते हैं ॥२२॥ हे मुने! जलमयतीर्थ और चेतनारहित (पाषाणमय) देवता अर्थात् जलमयतीर्थ और पाषाणमय मूर्त्तियों के अधिष्ठात्री देवता, पवित्र तो करते हैं परन्तु सेवा करते रहने पर बहुतकाल में पवित्र करते हैं और तुम साधुपुरुष तो दर्शन होते ही उद्धार करते हो ॥ २३ ॥ जो, चित्त की एकाग्रता, शास्त्र देखना, वेद पढना, और वाणी आदि का संयम करना, इन के द्वारा वेदत्रयीरूप हमारा (ब्रह्मा, विष्णु, शिव का) रूप धारण करते हैं उन ब्राह्मणों को हम नमस्कार करते हैं । २४ ॥ तुम ब्राह्मणों के दर्शन से अथवा केवल नाम सुनने से महापातकी और चाण्डाल भी शुद्ध होजाते हैं फिर तुम से सम्भाषण आदि करके शुद्ध होयँगे, इस का तो कहना ही क्या? ॥२५॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौनकजी! जिन के भाल में चन्द्रमा ही भूषण है, उन भगवान् महादेवजी का धर्म के रहस्य से युक्त अमृतसमान मधुर वचन कानों से पीकर वह मार्कण्डेयऋषि तृप्त नहीं हुए ॥ २६ ॥ जो विष्णुभगवान् की माया से बहुत दिनोंपर्यन्त भ्रान्त से होकर अतिदुर्बल होगये थे, परन्तु इस समय महादेवजी के वचनामृत से जिन के सकल क्लेश दूर होगये हैं ऐसे वह मार्कण्डेयजी, तिन महादेवजी से कहनेलगे ॥ २७ ॥ मार्कण्डेयजी ने कहा कि—अहो! यह ईश्वर की लीला, देहधारियों की तर्कना में भी आना कठिन है, कि—जिस से शिक्षा दियेजानेवाले मुझ समान प्राणियों को स्वयं जगदीश्वर भी नमस्कार करते हैं और स्तुति करते

प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनां ॥ आचरंत्यनुमोदंते क्रियमाणं स्तुवंति च ॥ २९ ॥
नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः ॥ न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा॥ ३० ॥सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः ॥ गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेवत्स्वप्नदृग्यथा॥ ३१॥ तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने॥ केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ३२ कं वृणे नु परं भूमन्वरं त्वद्वरदर्शनात्।यद्दर्शनात्पूर्णकामः सत्यकामः पुमान्भवेत् ॥ ३३ ॥ वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात्कामाभिवर्षणात् ॥ भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥ ३४ ॥ सूत उवाच ॥इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा ॥ तमाह भगवान् शर्वः शर्वया चाभिनंदितः ॥ ३५ ॥ कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे ॥ आकल्पाताद्यशः

हैं ॥२८॥ मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि—प्रायः धर्मोपदेश करनेवाले पुरुष, जिस को आप आचरण करते हैं, करने की इच्छावालों को सम्मति देते हैं और करने पर उस की प्रशंसा करते हैं वह, देहधारी प्राणी अपने २ धर्म को स्वीकार करैं इस निमित्त ही है ॥ २९ ॥ हे भगवन् ! ऐसा लोकव्यवहार करने से, अपनी मायामय वृत्तियें जिस में हैं ऐसे दूसरों को नमस्कार आदि करने से,तुम मायाधीश भगवान् का प्रभाव ऐसे दूषित नहीं होता है जैसे जादूगर के जादू में करेहुए आचरण से उस का वास्तविक प्रभाव दूषित नहीं होता है ॥३०॥ जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष, स्वप्न में ही अविद्या के द्वारा मन से अनेकों पदार्थों को कल्पना करके उन में प्रवेश करता है तब उस को ऐसा प्रतीत होता है कि—इन्द्रियों की करीहुई क्रिया मैंने ही करी हैं तैसे ही, तुम सङ्कल्पमात्र से इस विश्व को उत्पन्न करके फिर उस में जीवरूप से प्रवेश करते हो तुम गुणोंकी करीहुई क्रियाएं तुम ही करते हो ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु जो तुम त्रिगुणात्मक होकर भी जीव की समान गुणों से तिरस्कार न पाने के कारण गुणों को वश में रखनेवाले ही हो, ऐसे शुद्धरूप, अद्वितीय, गुरु और ब्रह्मरूप तुम भगवान् को नमस्कार हो ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे व्यापक प्रभो ! जिन तुम्हारा दर्शन करने से पुरुष को,सवप्रकार का इच्छानुकूल आनन्द प्राप्त होने से उस के सब मनोरथ पूरे होजाते हैं ऐसे उत्तम दर्शनवाले तुम से दूसरा कौनसा वरदान माँगूं ? ॥ ३३ ॥ तथापि भक्तों के मनोरथ पूरे करनेवाले और पूर्णकाम तुम से एक यही वर माँगता हूँ कि—मेरी अच्युत भगवान् में, उन के भक्तों में और तैसे ही तुम में भक्ति होय ॥ ३४ ॥ सूतजी कहते हैं कि—इसप्रकार मधुरवाणी से स्तुति और पूजन करनेपर वह शिवजी, पार्वती की भी सम्मति लेकर उन मार्कण्डेयजी से ऐसा कहने लगे कि—॥ ३५ ॥ हे महर्षे ! तुम ब्रह्मतेजस्वी हो और अधोक्षज भगवान् में भक्तिमान् हो इस से तुम्हारा यह मनोरथ पूरा हो; इस कल्प के अन्तपर्यन्त तुम्हारी कीर्त्ति अटल

पुण्यमजरामरता तथा ॥ ३६ ॥ ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन्विज्ञानं च विरक्तिमत् ॥
ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात्पुराणाचार्यताऽस्तु ते ॥ ३७ ॥ सूत उवाच ॥ एवं वरा-
न्स मुनये दत्त्वाऽगात्त्र्यक्ष ईश्वरः ॥ देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरा मुनेः
॥ ३८ ॥ सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः ॥ विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावे-
कान्ततां गतः ॥ ३९ ॥ अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः ॥ अनुभूतं भ-
गवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥ ४० ॥ एतत्केचिदविद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः ॥
अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥ य एवमेतद्भृगुवर्य वर्णितं
रथांगपाणेरनुभावभावितम् ॥ संश्रावयेत्संशृणुयादु तावुभौ तयोर्न कर्मा-
शयसंसृतिर्भवेत् ॥ ४२ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे दशमोऽ-
ध्यायः ॥ १० ॥ ७ ॥ शौनक उवाच ॥ अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवि-

रहेगी और तुम्हें अजर अमरपना भी प्राप्त होगा; हे ब्राह्मण! तुम्हें भूत—भविष्य वर्त्तमान काल की वस्तुओं का ज्ञान, वैराग्य सहित विज्ञान और पुराणों का आचार्यपना प्राप्त होगा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौनक! मार्कण्डेयजी को ऐसा वरदान देकर वह त्र्यम्बक ईश्वर, मार्कण्डेयजी के पहिले देखेहुए भगवान् की माया के वैभव को पार्वती जी से कहते हुए तहाँ से चलेगये ॥ ३८ ॥ फिर वह मार्कण्डेय मुनि, महायोग की सामर्थ्य प्राप्त होने पर साक्षात् श्रीहरि के एकान्त भक्त बनकर इस भूलोक में विचरनेलगे, और अब भी वह आनन्द से विचरते हैं ॥ ३९ ॥ हे शौनक! उन बुद्धिमान् मार्कण्डेयजी का यह चरित्र और उन का अनुभव कराहुआ अद्भुत भगवान् की माया का वैभव मैंने तुमसे विस्तार के साथ कहा ॥ ४० ॥ यह मार्कण्डेयजी का अनुभव कराहुआ भगवान् की माया का अनेक कल्परूप वैभव, भगवान् की इच्छा से अकस्मात् केवल उन के ही देखने में आया वैसा सब की दृष्टि नहीं पडा इसकारण वह प्राकृत वा नैमित्तिक प्रलय नहीं है, और मनुष्यों के उत्पत्ति प्रलय आदि होते हैं वह भगवान् की माया ही है ऐसा न जाननेवाले कितने ही पुरुष, बहुतकाल पर्यन्त 'देवताओं के दो सहस्र युगों में' फिर (अनेकवार) उत्पत्ति प्रलय हुए ऐसा कहते हैं और विद्वान् पुरुष तो—वह मार्कण्डेयजी, उस मायिक बालक के श्वासों के साथ सातवार फिर २ पेट में जाकर उसी समय बाहर आये ऐसा कहते हैं ॥ ४१ ॥ हे भृगुकुलश्रेष्ठ शौनकजी! जो पुरुष, विष्णुभगवान् की माया के वैभव से युक्त इस वर्णन करेहुए मार्कण्डेयजी के चरित्र को आप सुनेगा अथवा जो कोई दूसरे को सुनावेगा उन दोनों ही को कर्मवासनाओं का जन्ममरणरूप संसार नहीं प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में दशम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ शौनक बोले कि—हे भगवद्भक्त सूतजी! तुम सकल तन्त्रशास्त्रों के सिद्धान्त का रहस्य जानते हो इसकारण

त्तमम् ॥ समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान्भागवततत्त्ववित् ॥ १ ॥ तान्त्रिकाः परिच-
र्यायां केवलस्य श्रियः पतेः ॥ अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथैव यैः ॥ २ ॥
तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम् ॥ येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायाद-
मर्त्यताम् ॥ ३ ॥ सूत उवाच ॥ नमस्कृत्वा गुरून्वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ॥
याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ॥ ४ ॥ मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः
स विकारमयो विराट् ॥ निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥ ५ ॥
एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ॥ नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे
वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥ ६ ॥ प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः ॥ त-
द्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७ ॥ लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता
ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः ॥ रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्द्धजाः ॥ ८ ॥ यावा-
नयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः ॥ तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया
॥ ९ ॥ कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः ॥ तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात्

बहुज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ तुम से हम इस विषय का प्रश्न करते हैं कि—॥ १ ॥ तन्त्र की रीति से भगवान् का आराधन करनेवाले पुरुष, चैतन्यघन लक्ष्मीपति भगवान् की पूजा में, चरण आदि अङ्ग, गरुड आदि उपाङ्ग, सुदर्शन आदि आयुध और कौस्तुभ आदि अलङ्कारों की जिस प्रकार जिन तत्त्वों से कल्पना करते हैं ॥ २ ॥ वह क्रियायोग (उपासना की रीति) सुनने की इच्छा करनेवाले हमसे कहो, कि—जिस क्रियायोग में चतुरता प्राप्त होनेपर मनुष्य अमरपने को पहुँचता है, हेसूतजी ! तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३ ॥ सूतजी ने कहाकि—हेशौनक ! मैं श्रीगुरुओं को नमस्कार करके, ब्रह्माजी आदि आचार्यों ने वेद में तन्त्र में जो वर्णन करी है वह विष्णुभगवान् की विराट् देह आदि विभूति कहता हूँ, ॥ ४ ॥ चेतनाधिष्ठित (चैतन्ययुक्त) जिस में यह त्रिलोकी दीखती है; प्रकृति, सूत्र, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रा इन नौ तत्त्वों से ग्यारह इन्द्रियें और पञ्चमहाभूत इन सोलह विकारों का समूहरूप विराट् शरीर बना है ॥ ५ ॥ हेशौनक ! यह (ब्रह्माण्ड) तिस विराट् पुरुष का रूप है, पृथ्वी उस के चरण स्वर्ग मस्तक, आकाश नाभि, सूर्य नेत्र, वायु नासिका, और दिशा प्रभु के कान हैं ॥ ६ ॥ प्रजापति उन ईश्वर का शिश्न, मृत्यु गुदा, लोकपाल बाहु, चन्द्रमा मन, यम भौं ॥ ७ ॥ लज्जा ऊपर का ओठ, लोभ नीचे का ओठ, चाँदनी दाँत, भ्रम हँसना, वृक्ष रोमाञ्च और मेघ व्यापक पुरुष के केश है ॥ ८ ॥ हेशौनक ! जितना यह व्यष्टि (साधारण) पुरुष लौकिक अङ्गों से अपनी सात बिलस्त के प्रमाण का है उतना ही वह समष्टि (विराट पुरुष)भी भूर्लोकादि अङ्गों से सात बिलस्त का है ॥ ९ ॥ उन जन्मरहित व्यापक भगवान् ने, कौस्तुभमणि के बहाने से शुद्ध जीवचैतन्य धारण करा है और अपने वक्षःस्थल पर

श्रीवत्समुरसो विभुः ॥ १० ॥ स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत् ॥ वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम् ॥ ११ ॥ बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले ॥ मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयंकरम् ॥ १२ ॥ अव्याकृतमनंताख्यमासनं यदधिष्ठितः ॥ धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥ ॥ १३ ॥ ओजः सहो बलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत् ॥ अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥ १४ ॥ नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम् ॥ कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिं ॥ १५ ॥ इंद्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यंदनम् ॥ तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मता ॥ १६ ॥ मंडलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः ॥ परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥ १७ ॥ भगवान्भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन् ॥ धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥ १८ ॥ आतपत्रं तु वैकुंठं द्विजा धामाकुतोभयम् ॥ त्रिवृद्वेदः सुपर्णा-

श्रीवत्सचिन्ह के स्थान में उस शुद्ध चैतन्यरूप कौस्तुम की व्यापक प्रभा धारण करी है ॥ १० ॥ उन्हों ने अनेक गुणयुक्त अपनी माया वनमाला नाम से धारण करी है, और वेदमय पीतवस्त्र तथा तीनमात्रा का स्वर (ॐकार) ही यज्ञोपवीत धारण करा है ॥ ११ ॥ उन देव ने, सांख्य और योगही दो मकराकार कुण्डल और ब्रह्मलोक ही सब लोकों को अभय देनेवाला मुकुट धारण करा है ॥ १२ ॥ वह जिस के ऊपर आधार बनाकर बैठे हैं और जिस को प्रधानरूप अनन्त-(शेष) नामक आसन कहते हैं उस धर्म-ज्ञान-वैराग्य आदि शक्तियों से युक्त कमल को इसलोक में सत्त्वगुण कहते हैं ॥ १३ ॥ उन्हों ने ओज (मन की शक्ति), सह (इन्द्रियों की शक्ति), और बल (देह की शक्ति) इन से युक्त मुख्य प्राणतत्त्व ही गदा, जलों का तत्व शंख, तेज का तत्त्व सुदर्शन चक्र, आकाश का तत्वही श्यामवर्ण खड्ग, अन्धकाररूप ढाल, कालरूप शार्ङ्ग धनुष, और कर्ममय बाण रखने का तर्कस यह धारण करे हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ इन भगवान् के-इन्द्रियें बाण हैं ऐसा कहते हैं, क्रियाशक्ति युक्त मन उनका रथ और पञ्चतन्मात्रा उस रथ का बाहर दीखने वाला रूप है, और वह भगवान् मुद्रा के द्वारा वरद अभय आदिरूप धारते हैं इसकारण तिस २ मुद्रा से तैसी २ भावना करके पूजन करै॥ १६ ॥ देवपूजा का जो स्थान वह सूर्य मण्डल (वा अग्नि कुण्ड), गुरुकी दी हुई मन्त्र दीक्षाही आत्मा की पूजाकरनेकी योग्यता और भगवान् की पूजा करना ही अपना पापक्षय है अर्थात् उन की पूजा अपने पापों का नाश होने के निमित्त ही है ऐसी भावनाकरै॥ १७॥ उन भगवान् ने, 'भग' शब्द के अर्थ जो ऐश्वर्य आदि छः गुण वही लीला के निमित्त कमल धारण करा है, तैसे ही उन भगवान् ने, धर्मरूप चँवर और कीर्त्तिरूप पङ्खा धारण करा है ॥ १८ ॥ निर्भय वैकुण्ठ (कैवल्य) नामक तापहारी स्थानही उन भगवान् का

रूयो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥ १९ ॥ अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः ॥ विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्त्तिर्विदितः पार्षदाधिपः ॥ नन्दादयोष्टौ द्वाःस्थाश्च ते ऽणिमाद्या हरेर्गुणाः ॥ २० ॥ वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम् ॥ अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥ २१ ॥ स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः ॥ अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान्परिभाव्यते ॥ २२ ॥ अंगोपांगायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम् ॥ बिभर्त्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान्हरिरीश्वरः॥२३॥ द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक् स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत् ॥ सृजति हरति पातीत्याख्ययाऽनावृताक्षो विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः

घर (वा छत्र) है, ऋक्-यजु-सामरूप तीन वेदही उन का सुपर्ण (गरुड़) नामक वाहन है, वह गरुड़ उन यज्ञरूप पुरुष को उठाकर लेजाता है ॥ १९ ॥ 'आत्मस्वरूप से चिद्रूप का अभेद होने के कारण' भगवती (चिद्रूप) लक्ष्मी ही उन आत्मस्वरूप श्रीहरि की अविचल शक्ति है, पञ्चरात्र आदि आगम रूप प्रसिद्ध विष्वक्सेन उन के पार्षदों का अधिपति (मुख्य पार्षद) है और अणिमादि सिद्धिरूप आठगुण श्रीहरि के द्वारपाल हैं ॥ २० ॥ हे शौनक ! वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध इन मूर्त्तियों से स्वयं भगवान् नारायण ही हुए हैं इसकारण चतुर्व्यूह मूर्त्ति से ही उन की उपासना करते हैं ॥ २१ ॥ वह भगवान् विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इनचार वृत्तियों (अवस्थाओं)से जानेजातेहैं,बाहरी विषय,मन'इन दोनो के संस्कारसे युक्त'अज्ञान और इन तीनों का साक्षी ज्ञान यह वृत्तियों की उपाधि हैं अर्थात् जिस समय,नेत्र नासिका आदि इन्द्रियों से बाहरी विषय समझनेमें आते हैं वह जाग्रत् अवस्थाहै,उस ही में विश्वहै, जिस समय केवल मन को ही कल्पित विषय भासते हैं, वह स्वप्नावस्था है, उस में ही तैजस; जब बाहरी विषय और मन इन दोनो के संस्कार से युक्त अज्ञान होता है वही सुषुप्ति अवस्था है,तिस में प्राज्ञ और इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर जो इन से भिन्न है उस को तुरीय समझो ॥२२॥ वह भगवान् अङ्ग,उपाङ्ग,आयुध और भूषणों से युक्त तथा वासुदेवादि चार मूर्तिवाला होकर भी विश्व तैजस-आदि चार स्वरूपों को धारण करता है और ऐसा होने पर भी उस को जीवपना नहीं है किन्तु वह भगवान् श्रीहरि उन सबोंके नियन्ता ही हैं ॥ २३ ॥ हेब्राह्मणश्रेष्ठ शौनकजी ! वह वेदोंके प्रवर्त्तक, स्वयं प्रकाश और अपने प्रभाव से परिपूर्ण भगवान्, अपनी माया से इस जगत् को उत्पन्न करते हैं, पालन करते हैं और संहार करते हैं उनका सङ्कोचित ज्ञान न होने पर भी शास्त्र में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन नामों से, मानो भिन्न २ हैं ऐसा वर्णन करा है परन्तु वास्तव में वह भिन्न नहीं हैं इसकारण उन की भक्ति करनेवाले पुरुषों को वह (अन्तःकरण में) आत्मस्वरूप से प्राप्त

॥ २४ ॥ श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ॥
गोविंद गोपवनिताव्रजभृत्यगीततीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान ॥ २५ ॥
य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम् ॥ तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद
गुहाशयम् ॥ २६ ॥ शौनक उवाच ॥ शुको यदाह भगवान्विष्णुराताय शृण्वते ॥
सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥ २७ ॥ तेषां नामानि कर्मा-
णि संयुक्तानामधीश्वरैः ॥ ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥
सूत उवाच ॥ अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनां ॥ निर्मितो लोकत-
न्त्रोयं लोकेषु परिवर्त्तते॥२९॥ एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद्धरिः ॥
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥३०॥ कालो देशः क्रिया कर्त्ता करणं कार्य-
मागमः ॥ द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन्नवधोक्तोऽजया हरिः ॥ ३१ ॥ मध्वादिषु

होते हैं ॥ २४ ॥ हे अर्जुन के मित्र ! हे यादवश्रेष्ठ ! हे पृथ्वीद्रोही राजाओं के वंश को भस्म करनेवाले ! हे अक्षीणपराक्रम ! हे श्रवण करनेपर मङ्गलकारक ! जिन की पवित्र कीर्ति गोपाङ्गनाओं के समूह और नारदादि भक्तों ने गाई है ऐसे हे गोविन्द ! हे श्रीकृष्ण ! तुम हम दासों की रक्षा करो ॥ २५ ॥ हे शौनक ! जो पुरुष, प्रातःकाल के समय उठकर स्नानादि कर शुद्ध होकर और भगवान् की ओर को ध्यान लगाकर इस (वर्णन करेहुए) महापुरुष के लक्षणों का जप करेगा उस को हृदय में ब्रह्म का दर्शन होगा ॥ २६ ॥ शौनकजी कहते हैं कि—हे सूतजी ! श्रीशुकदेवजी ने, पञ्चमस्कन्ध में, राजा परीक्षित् के सुनते समय उन से सूर्य के 'ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा नाग, यक्ष, राक्षस और देवताओं का' सात २ का गण प्रतिमास में बदलता है ऐसा जो कहा था ॥२७॥ उन के तिन २ अधिपतियों (सूर्यों के नामों) से युक्त उन के नाम और कर्म हम से कहो, क्योंकि—हम उन सूर्यात्मा श्रीहरि के व्यूह को सुननेकी इच्छा करते हैं ॥२८॥ हे शौनक ! सब देहधारियों के प्राणमात्र के आत्मा विष्णुभगवान् की अनादिमाया करके रचाहुआ और लोकों के व्यवहार को प्रवृत्त करनेवाला यह सूर्य, सब लोकों में फिरता है ॥२९॥ जो सब लोकों का आत्मा और सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले श्रीहरि वही एक सूर्य हैं, वह सूर्य सकल वेद-विहित कर्मों का मूल हैं और कितने ही ऋषि कहते हैं कि-उन वेदविहित कर्मों की उपाधि से ही अनेक प्रकार के हैं ॥३०॥ हे शौनक ! वह भगवान् श्रीहरि मायाके द्वारा प्रातःकाल आदि काल, ऊँचा नीचा इकसार आदि देश, अनुष्ठान, ब्राह्मण आदि कर्त्ता (यजमान) स्रुक् आदि साधन, यज्ञ आदि क्रिया, वेदमन्त्र, व्रीहि आदि द्रव्य और स्वर्ग आदि फल इन भेदों से नौ प्रकार के हैं ऐसा वर्णन करा है ॥३१॥ वह कालरूप धारण करनेवाले भग-

द्वादशसु भगवान्कालरूपधृक् ॥ लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः ॥ ३२ ॥
धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने ॥ पुलस्त्यस्तुंबुरुरिति मधुमासं
नयन्त्यमी ॥ ३३ ॥ अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुंजिकस्थली ॥ नारदः क-
च्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥ ३४ ॥ मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको
मेनका हहाः ॥ रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥ ३५ ॥ वसिष्ठो
वरुणो रंभा सहजन्यस्तथा हुहूः ॥ शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी
॥ ३६ ॥ इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथांगिराः ॥ प्रम्लोचा राक्षसो
वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥ ३७ ॥ विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो
भृगुः ॥ अनुम्लोचा शंखपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥ ३८ ॥ पूषा धन-
ञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा ॥ घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी
॥ ३९ ॥ क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा ॥ विश्व ऐरावतश्चैव तप-
स्याख्यं नयन्त्यमी ॥ ४० ॥ अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी ॥ वि-
द्युच्छत्रुर्महाशंखः सहोमासं नयन्त्यमी ॥ ४१ ॥ भगस्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण

वान् सूर्य, लोक व्यवहार चलाने के निमित्त भिन्न २ बारह गणों को (प्रत्येक महीने में के एक २ सप्तक गण को) साथ लेकर चैत्रादि बारह महीनों में घूमते हैं ॥ ३२ ॥ हे शौनक ! धातानामक सूर्य, पुलस्त्यनामक ऋषि, तुम्बुरु गन्धर्व, कृतस्थलीनामक अप्सरा, वासुकि नाग, रथकृत् यक्ष और हेति राक्षस यह अपने २ कर्म करके चैत्रमासको विताते हैं । ३३ ॥ अर्यमा सूर्य, पुलह ऋषि, नारद गन्धर्व, पुंजिकस्थली अप्सरा, कच्छनीर नाग, अथौजा यक्ष और प्रहेति राक्षस यह वैशाखमास को विताते हैं ॥ ३४ ॥ मित्र-नामक सूर्य, अत्रिऋषि, हाहा गन्धर्व, मेनका अप्सरा, तक्षक नाग, रथस्वन यक्ष और पौरुषेय राक्षस यह ज्येष्ठमास को व्यतीत करते हैं ॥ ३५ ॥ वरुण सूर्य, वसिष्ठ ऋषि, हूहू गन्धर्व, रम्भा अप्सरा, शुक्र नाग, सहजन्य यक्ष और चित्रस्वन राक्षस यह आषाढ मास को विताते हैं ॥ ३६ ॥ इन्द्र सूर्य, अङ्गिरा ऋषि, विश्वावसु गन्धर्व, प्रम्लोचा अ-प्सरा, एलपत्र नाग, श्रोता यक्ष और वर्य राक्षस यह श्रावणमास को विताते हैं ॥ ३७ ॥ विवस्वान् सूर्य, भृगु ऋषि, उग्रसेन गन्धर्व, अनुम्लोचा अप्सरा, शङ्खपाल नाग, आसारण यक्ष और व्याघ्र राक्षस यह भाद्र मास को विताते हैं ॥ ३८ ॥ पूषा सूर्य, गौतम ऋषि, सुषेण गन्धर्व, घृताची अप्सरा, धनञ्जय नाग, सुरुचि यक्ष और वात राक्षस यह माघमास को विताते हैं ॥ ३९ ॥ पर्जन्य सूर्य, भरद्वाज ऋषि, विश्व गन्धर्व, सेनजित् अप्सरा, ऐ-रावतनाग, ऋतुयक्ष, और वर्चा राक्षस यह फाल्गुन मास को विताते हैं ॥ ४० ॥ अंशु सूर्य, कश्यप ऋषि, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, महाशंख नाग, तार्क्ष्य यक्ष और विद्युच्छत्रु राक्षस यह मार्गशीर्षमास को विताते हैं ॥ ४१ ॥ भग सूर्य, आयुर् ऋषि,

आयुश्च पंचमः ॥ कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥ ४२ ॥ त्वष्टा ऋचीकतनयः कंबलश्च तिलोत्तमा ॥ ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद्धृतराष्ट्र इषंभराः ॥४३॥ विष्णुरश्वतरो रंभा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ॥ विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥ ४४ ॥ एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ॥ स्मरतां संध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥४५॥ द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ॥ चरन्समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मति ॥ ४६ ॥ सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिंगैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् ॥ गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥ उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ॥ चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः ॥ ४८ ॥ वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ पुरतोऽभिमुखं यांति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम् ॥ ४९ ॥ एवं ह्यनादिनिधनो भगवान्हरिरीश्वरः ॥ कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ॥ ५० ॥ इ० भा० म० द्वा० आदित्यव्यूहविवरणं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ सूत उवाच ॥

अरिष्टनेमि गन्धर्व, पूर्वचित्ति अप्सरा, कर्कोटक नाग, ऊर्ण यक्ष और स्फूर्ज राक्षस यह पौष मास को विताते हैं ॥४२॥ त्वष्टा सूर्य, जमदग्नि ऋषि, धृतराष्ट्र गन्धर्व, तिलोत्तमा अप्सरा कम्बल नाग, शतजित् यक्ष और ब्रह्मापेत राक्षस यह आश्विनमास के पालक हैं ॥ ४३ ॥ विष्णु सूर्य, विश्वामित्र ऋषि, सूर्यवर्चा गन्धर्व, रम्भा अप्सरा, अश्वतर नाग, सत्यजित् यक्ष और मखापेत राक्षस यह कार्तिकमास को विताते हैं ॥ ४४ ॥ हे शौनक! यह विष्णुमूर्ति भगवान् सूर्य की विभूतियें, प्रतिदिन प्रातः और सन्ध्याकाल में स्मरण करनेवाले पुरुष के पातकों को हरती हैं ॥ ४५ ॥ हे शौनक! सूर्य अपने गन्धर्व आदि छहों के साथ बारहों मास में चारों ओर विचरतेहुए इस प्राणी को इस लोक और परलोक में उत्तमबुद्धि देते हैं ॥ ४६ ॥ ऋषि, सूर्य के प्रकाशक, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रों से इन सूर्य की स्तुति करते हैं, गन्धर्व इन के गुणों का गान करते हैं, अप्सरा इन के आगे नृत्य करती हैं॥४७॥ नाग इन के रथ को बाँधते हैं, यक्ष रथ को जोतकर ठीक करते हैं और बलवान् राक्षस इन के रथ को पीछे से धकेलते हैं ॥ ४८ ॥ और पवित्र साठ सहस्र वालखिल्यनामक ब्रह्मर्षि सूर्य की ओर को मुख करके इन के आगे स्वयं पीछे को चलतेहुए इन विभु की स्तुतिरूप मंत्रों से स्तुति करते हैं, यह ऋषि ही प्रतिमास में न बदलकर वहके वही रहते हैं ॥ ४९ ॥ हे शौनक! इसप्रकार आद्यन्तरहित और अजन्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि, हरएक कल्प में अपने ही स्वरूप का विभाग करके लोकों की रक्षा करते हैं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में एकादश अध्याय

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ॥ ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्ये सनातनान् ॥ १ ॥ एतद्वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् ॥ भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥ २ ॥ अत्र संकीर्तितः साक्षात्सर्वपापहरो हरिः ॥ नारायणो हृषीकेशो भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ३ ॥ अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥ ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥ ४ ॥ भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम् ॥ पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥ ५ ॥ प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात्परीक्षितः ॥ शुकस्यैव च ब्रह्मर्षेः संवादश्च परीक्षितः ॥ ६ ॥ योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः ॥ अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥ ७ ॥ विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः ॥ पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥ ८ ॥ ततः प्राकृतिकः

समाप्त ॥ * ॥ सूतजी कहते हैं कि—हरिभक्ति के लक्षणरूप परमधर्म को नमस्कार हो और उन जगत्कर्त्ता श्रीकृष्णजी को (अथवा व्यासगुरु को) नमस्कार हो अब मैं ब्राह्मणों को नमस्कार करके 'इस पुराण में कहेहुए' अनादिधर्मरूप सकल विषय कहता हूँ ॥ १ ॥ हे ब्राह्मणो! तुम ने जिस विषय का मुझ से प्रश्न करा था वह मनुष्यों के पुरुषत्व को 'श्रवण आदि करके सेवन करने के' योग्य यह श्रीविष्णुभगवान् का उत्तम चरित्ररूप उत्तर मैंने तुम से कहा ॥ २ ॥ इस श्रीमद्भागवत में सबों के पापों को दूर करनेवाले और सब सङ्कटों को दूर करके भक्तों की रक्षा करनेवाले, सब इन्द्रियों के प्रवर्त्तक भगवान् नारायण का ही प्रत्यक्ष वर्णन करा है ॥ ३ ॥ तैसे ही इस में, जिन से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिन में फिर लय होजाता है उन निर्गुण परब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होनेपर्यन्त ज्ञान और उस ज्ञान को प्रकाशित करनेवाले साधन कहे हैं ॥ ४ ॥ साध्यसाधनरूप भक्तियोग और उस से होनेवाला वैराग्य यह मुख्यरूप से कहे हैं; हे ब्राह्मणो! (प्रथम स्कन्ध में—) राजा परीक्षित् के जन्मादि का उपाख्यान और उस के प्रस्ताव के निमित्त नारदजी का उपाख्यान कहा है ॥ ५ ॥ फिर ब्राह्मण के शाप के कारण राजर्षि परीक्षित् का प्रायोपवेश (अन्न-जल त्यागकर मरण होनेपर्यन्त ईश्वरस्मरण करतेहुए बैठने का नियम) वर्णन करा; तदनन्तर ब्राह्मणों में श्रेष्ठ जो शुकदेवजी उन का और राजा परीक्षित् का सम्वाद कहा है ॥ ६ ॥ (दूसरे स्कन्ध में—) योगधारण से ऊर्ध्वलोक की गति, नारद और ब्रह्माजी का सम्वाद, अवतारों का वर्णन और महत्तत्त्वादि के क्रम २ से प्रधान के कार्यभूत विराट्रूप की उत्पत्ति कही है ॥ ७ ॥ (तृतीय स्कन्ध में) विदुर और उद्धवजी का सम्वाद, फिर विदुर और मैत्रेय का सम्वाद, पुराणसंहिताओं के विषय में प्रश्न प्रलय में महापुरुष की स्थिति(स्वस्थ रहना)—॥ ८ ॥ प्रकृति से होनेवाला गुणक्षोभ, महत्तत्त्व

सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये ॥ ततो ब्रह्मांडसंभूतिर्वैराजः पुरुषो यतः ॥ ९ ॥
कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिःपद्मसमुद्भवः ॥ भुव उद्धरणेऽम्भोधौ हिरण्याक्षवधो
यथा ॥ १० ॥ ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च ॥ अर्धनारीनरस्यार्थ-
यतः स्वायंभुवो मनुः ॥ ११ ॥ शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा ।
संतानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥ १२ ॥ अवतारो भगवतः कपिल-
स्य महात्मनः ॥ देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥ १३ ॥ नवब्रह्म-
समुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् ॥ ध्रुवस्य चरितं पश्चात्पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥ १४ ॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः ॥ नाभेस्ततोऽनु चरितमृषभस्य भ-
रतस्य च ॥ १५ ॥ ततो द्वीपसमुद्राद्रिवर्षनद्युपवर्णनम् ॥ ज्योतिश्चक्रस्य सं-
स्थानं पातालनरकस्थितिः ॥ १६ ॥ दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च संत-
तिः ॥ यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः ॥ १७ ॥ त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं
पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः ॥ दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ १८ ॥ म-

---

अहङ्कार और पञ्चमहाभूत इन सात विकृतियों की और विकारों की उत्पत्ति; तिन से ब्रह्माण्ड कि-जिस में विराट्पुरुष व्यापरहा है तिस की उत्पत्ति कही है ॥ ९ ॥ तदनन्तर स्थूल सूक्ष्म काल का स्वरूप, कमल की उत्पत्ति, पृथ्वी को समुद्र में से ऊपर को निकालते समय हिरण्याक्ष का वध जिसप्रकार हुआ वह वृत्तान्त ॥ १० ॥ देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियों की उत्पत्ति, और रुद्रसृष्टि वर्णन करी तदनन्तर, जिस स्त्रीरूप आधेभाग से स्त्रियों की आदि प्रकृति उत्तम शतरूपा और पुरुषरूप आधे भाग से स्वायम्भुव मनु हुए; उन अर्धनारीनर (ब्रह्माजी) की उत्पत्ति, कर्दम प्रजापति की उत्पत्ति तिन से महात्मा भगवान् कपिल महामुनि का अवतार और उन बुद्धिमान् कपिल महामुनि के साथ देवहूती का सम्वाद (चौथे स्कन्ध में-) मरीचि आदि नौ ब्राह्मणों की उत्पत्ति, धर्म की पत्नियों का वंशविस्तार, दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस, ध्रुवजी का चरित्र, उन के पीछे राजापृथु का चरित्र, प्राचीनबर्हि राजा का चरित्र और उन का नारदजी से सम्वाद, यह कहे हैं. फिर हे ब्राह्मणो ! (पञ्चम स्कन्ध में-) प्रियव्रत राजा का चरित्र, तदनन्तर नाभि राजा का, तिस के पीछे ऋषभदेव का और तदनन्तर भरतजी का चरित्र कहा है ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ फिर द्वीप, समुद्र, पर्वत, खण्ड और नदियों का वर्णन ज्योतिश्चक्र की स्थिति, पातालों और नरकों की स्थिति वर्णन करी है ॥ १६ ॥ (षष्ठ स्कन्ध में-) प्रचेतस् राजाओं से दक्ष की उत्पत्ति, उन की कन्याओं की, उन से देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, वृक्ष और पक्षी आदि योनियों की उत्पत्ति ॥ १७ ॥ और वृत्रासुर के जन्म मरण का वर्णन करा है-हे ब्राह्मणो ! (सप्तम स्कन्ध में-) दिति के हिरण्याक्ष और

न्वंतरानुचरितं गजेंद्रस्य विमोक्षणम् ॥ मन्वंतरावताराश्च विष्णोर्हयशिरोदयः ॥ १९ ॥ कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनं च जगत्पतेः ॥ क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसां ॥ २० ॥ देवासुरं महायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम् ॥ इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥ २१ ॥ इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च ॥ सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः ॥ २२ ॥ सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः ॥ खट्वांगस्य च मांधातुः सौभरेः सगरस्य च ॥ २३ ॥ रामस्य कोसलेंद्रस्य चरितं किल्बिषापहम् ॥ निमेरंगपरित्यागो जनकानां च संभवः ॥ २४ ॥ रामस्य भार्गवेंद्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः ॥ ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥ २५ ॥ दौष्यंतेर्भरतस्यापि शंतनोस्तत्सुतस्य च ॥ ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥ २६ ॥ यत्रावतीर्णो भगवान्कृष्णाख्यो जगदीश्वरः ॥ वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च

हिरण्यकशिपु दोनों पुत्रो का मरण, दैत्यों के राजा महात्मा प्रह्लादजी का चरित्र और नृसिंहावतार इतने विषय वर्णन करे हैं-(अष्टम स्कन्ध में-) मन्वन्तरों का वर्णन, गजेन्द्र का मोक्ष, देवताओं को अमृत मिलने के निमित्त जगत्पति भगवान् का कराहुआ क्षीर समुद्र का मन्थन, कूर्मावतार, देवदैत्यों का बड़ाभारी युद्ध, विष्णुभगवान् के मन्वन्तरों में के अवतार, वामनावतार, मत्स्यावतार और हयग्रीवादि अवतारों का वर्णन करा है. (नवम स्कन्ध में-) राजाओं के वंशों का वर्णन, इक्ष्वाकुराजा का जन्म, उस का वंश, महात्मा सुद्युम्न का चरित्र-॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ इस में ही इला का उपाख्यान कहा है, तदनन्तर तारा का उपाख्यान, सूर्यवंश का वर्णन, शशाद और नृग आदि राजाओं का वृत्तान्त,-॥ २२ ॥ सुकन्या का वृत्तान्त, राजा शर्याति का चरित्र, बुद्धिमान् राजा ककुत्स्थ का, राजा खट्वाङ्ग का, मान्धाता का, सौभरि ऋषि का और राजा सगर का चरित्र ॥ २३ ॥ कोशलेन्द्र श्रीरामचन्द्रजी का पापनाशक चरित्र, राजा निमिका देह त्याग, जनक के वंश में के राजाओं की उत्पत्ति,-॥ २४ ॥ भृगुकुलश्रेष्ठ परशुरामजी का करा हुआ पृथ्वी को क्षत्रियहीन करनारूप चरित्र, सोमवंश के प्रथम पुरुष राजा ऐल का चरित्र, राजा ययाति का चरित्र, नहुष का चरित्र,-॥२५॥ दुष्यन्त के पुत्र (भरत) का, राजा शन्तनु का और उन के पुत्र (भीष्मजी) का चरित्र कहा है, फिर ययाति के बड़े पुत्र यदु का वंश कहा हैं ॥२६॥ कि-जिस यदु वंशमें जगन्नियन्ता श्रीकृष्णभगवान् अवतीर्ण

(१) मूल में कहीं २ कोई विषय बिलकुल छूट गया है और कहीं किसी विषय का आगे पीछे होगया है सो, वक्ता के भक्तिरस में व्याकुल होने से हुआ ऐसा समझना।

गोकुले ॥ २७ ॥ तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः ॥ पूतनाऽसुपयः-
पानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥ २८ ॥ तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलंबस्य च संक्षयः ॥ २९ ॥ गोपानां च परित्राणं दावाग्नेः
परिसर्पतः ॥ दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नंदमोक्षणम् ॥ ३० ॥ व्रतचर्या तु क-
न्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः ॥ प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनं ॥
॥ ३१ ॥ गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ ॥ यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः
क्रीडा च रात्रिषु ॥ ३२ ॥ शंखचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः ॥ अक्रूरा-
गमनं पश्चात्प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥ ३३ । व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालो-
कनं ततः ॥ गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः ॥ ३४ ॥ मृतस्यानयनं
सूनोः पुन सांदीपनेर्गुरोः ॥ मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम् ॥३५॥
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥ जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो
वधः ॥ घातनं यवनेंद्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥३६॥ आदानं पारिजातस्य-

---

हुए, वह वसुदेव के घर जन्म धारकर गोकुल में (नन्दजी के घर) बढे॥२७॥ (दशमस्कन्धमें) उन दैत्य द्वेषी श्रीकृष्णजी के अपार कर्म (चरित्र) कहे हैं, तिन में से मुख्य मुख्य यह आगे कहता हूँ—पूतना का प्राणों सहित दूध पीना, बालकपन में ही गाड़ा उलटदेना ॥ २८॥ तृणावर्त्त दैत्य का वध तथा बकासुर और वत्सासुर का वध, मित्रसहित धेनुकासुर का वध, प्रलम्बासुर का वध,— ॥ २९ ॥ चारों ओर से फैलनेवाले दावाग्नि से गोपों की रक्षा करना, कालिय सर्प का दमन, अजगर से नन्द जी का छूटना,— ॥३०॥ जिस में भगवान् श्रीकृष्णजी यमनियम आदि व्रतों से प्रसन्न हुए वह गोप कन्याओं का कात्यायनी व्रत करना, यज्ञ पत्नियों को प्रसाद (अनुग्रह) और (उन के पति) ब्राह्मणों को पश्चात्ताप प्राप्त होना, ॥ ३१ ॥ गोवर्द्धन उठाकर धारना, फिर इन्द्र और कामधेनु की करीहुई श्रीकृष्ण जी की पूजा और अभिषेक, शरदऋतु की रात्रि में गोपियों के साथ रास क्रीड़ा ॥ ३२ ॥ दुष्टबुद्धि शंखचूड़ दैत्य का वध, अरिष्टासुर और केशी का वध, अक्रूरजी का गोकुल में आना, पीछे बलराम कृष्ण का मथुरा को जाना,— ॥ ३३ ॥ व्रज की स्त्रियों (गोपियों) का विलाप, फिर श्रीकृष्ण बलराम का मथुरा को देखना, कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक, चाणूर और कंसादिकों का वध, ॥ ३४॥ फिर सान्दीपनि नामक गुरु के मरेहुए पुत्रों को लाकर देना, हे ब्राह्मणों ! फिर उद्धवजी और बलरामजी के साथ श्रीकृष्णजी ने मथुरा में रहकर जो २ प्रिय करा वह, जरासन्धकी लाईहुई सेनाका अनेकों बार वध, कालयवन को मारना, द्वारकापुरी का बनाकर बसाना, ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

सुधर्मायाः सुरालयात् ॥ रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥ ३७ ॥ हरस्य जृंभणं युद्धे बाणस्य भुजकृंतनं ॥ प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत् ॥ ३८ ॥ चैद्यपौंड्रकशाल्वानां दंतवक्रस्य दुर्मतेः ॥ शंबरो द्विविदः पीठो मुरः पंचजनादयः ॥ ३९ ॥ माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनं ॥ भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥ ४० ॥ विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च ॥ उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः ॥ ४१ ॥ यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः ॥ ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥ ४२ ॥ युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः ॥ चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥ ४३ ॥ देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः ॥ शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ॥ महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥ ४४ ॥ इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोहमिहास्मि वः ॥ लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः

युद्ध में शत्रुओं को भीतकर श्रीकृष्णजी का रुक्मिणी को हरना, स्वर्ग में से पारिजात वृक्ष और सुधर्मा सभा को लाना, ॥ ३७ ॥ 'ऊषाहरण के' युद्ध में महादेवजी को जम्भाई उत्पन्नकरना, बाणासुरकी भुजाकाटडालना, प्राग्ज्योतिष नगर के स्वामी (भौमासुर) को मारकर (सोलहसहस्र एक सौ) राजकन्याओं का हरण करना,– ॥ ३८ ॥ शिशुपाल, पौण्ड्रक (मिथ्यावासुदेव), शाल्व, दुर्मति और दन्तवक्र का वध, औरभी जो शम्बरासुर, द्विविद (वानर), पीठ, मुर, पञ्चजन (शंखासुर) आदि दैत्य थे उन का प्रभाव और वध, काशी को जलाना और पाण्डवों को निमित्त करके उन के हाथ से भूमिका भार उतरवाना यह वर्णन करा है ॥ ३९ ॥ ४० ॥ (एकादश स्कन्ध में) ब्राह्मणों के शाप को निमित्त करके अपने (यादवों के) कुल का संहार करना, उद्धवजी और श्रीकृष्णजी का अद्भुतसम्वाद, कि–जिस सम्वाद, में सम्पूर्ण आत्मज्ञान और वर्णाश्रम धर्मों का विशेषनिर्णय कहा है. फिर अपनी योगशक्ति से श्रीकृष्णजी का मनुष्यपने से अन्तर्धान होना यह कहा है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ (और द्वादश स्कन्ध में–) युगों के लक्षण उन के अनुसार वृत्ति, कलियुग के मनुष्यों की दुर्दशा, चार प्रकारका प्रलय, तैसेही, प्राकृतिक, नैमित्तिक और नित्य यह तीन प्रकार की उत्पत्ति ॥ ४३ ॥ बुद्धिमान् राजर्षि परीक्षित् का देहत्याग, श्रीव्यासजी का कराहुआ वेदों की शाखाओं का विस्तार मार्कण्डेयमुनि की उत्तम कथा, 'भगवान् के पूजन में' महा पुरुष के अङ्ग आदि की कल्पना और जगदात्मा सूर्यनारायण का व्यूह यह विषय वर्णन करे हैं ॥ ४४ ॥ हे ब्राह्मणो! इसप्रकार तुमने इस विषय में यह तथा और भी जो कुछ मुझ से बूझा था वह सब मैंने तुम्हें सुनाया, इस में भगवान् ने लीला करने के निमित्त अवतार धारकर जो २ कर्म

भ्रातरोऽभङ्क किं मह्यं भजाम पितरं तव ॥ त्वां ममार्यास्तताभांक्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥ इमे आंगिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ॥ षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥ तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ॥ ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥ दास्यन्त्यथ ततो गच्छ तथा स कृतवान् यथा ॥ तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम् ॥ ५ ॥ तं कश्चित्स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः ॥ उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६ ॥ ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ॥ स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्पितरं तथा ॥ ७ ॥ यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क-

नाभाग ने भ्राताओं से बूझा कि-हे भ्राताओं ! तुमने मेरे निमित्त कौन सा भाग रक्खा है ? तब भ्राताओं ने कहा-उस समय हम भूलगये परन्तु तुझे तेरे भाग के बदले में पिता को देते हैं अर्थात् तू पिता को ही अपना भाग समझकर ग्रहण कर; तब वह पिता के समीप जाकर कहने लगा कि-हे पिताजी ! बडे भ्राताओं ने मुझे भागके बदले में आप को दिया है; तब पिता (नभग) ने कहा कि-हे पुत्र ! ऐसा उन्होंने तुझे धोखा देने के निमित्त कहा है, इसपर तू विश्वास मतकर, क्योंकि-द्रव्य की समान भोग का साधन मैं नहीं हूँ ॥ २ ॥ तथापि उन्होंने भागरूप से यदि मुझे दिया है तो मैं तुझ से जीविका का उपाय कहता हूँ यह यहाँ से समीप ही आङ्गिरस ऋषि, आज द्वादशाह नामक यज्ञ का प्रारम्भकरके बैठेहैं, उनमे छठा २ दिन आनेपर उसदिनका कर्मप्रारम्भहोनेपर उसके अनुष्ठान में, वह विद्वान् होकर भी उन सूक्तोंको न जानने के कारण मोह को प्राप्त होते हैं. तू उनको जाननेवाला है ॥ ३ ॥ इसकारण उन महात्मा ब्राह्मणों को तू 'इदमित्था, ये यज्ञेन, इत्यादि दो सूक्तों का पाठकरा तब वह, कर्म समाप्त होने पर स्वर्ग को जातेहुए अपने सत्र में शेषरहा धन तुझे देदेंगे, इसकारण तू उन के समीप जा. तदनन्तर उस नाभाग ने, पिता के कहने के अनुसार कार्य करा फिर सत्र समाप्त होनेपर वह आङ्गिरस ऋषि, सत्र में शेषरहा हुआ धन उस नाभाग को देकर स्वर्ग को चलेगए ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदनन्तर उस द्रव्य को नाभाग लेनेलगा उसी समय एकाएकी काला २ दीखनेवाला कोई एक पुरुष (श्रीरुद्र) उत्तर दिशा से आकर 'यह यज्ञ भूमि में रहा हुआ धन मेरा है' ऐसा कहने लगा ॥ ६ ॥ उससमय नाभाग ने कहा कि-यह द्रव्य ऋषियोंने मुझे दिया है इसकारण मेरा है. तब रुद्र ने कहाकि-मेरा और तेरा, इसप्रकार द्रव्य के विवाद में तेरे पिता से ही प्रश्न होना चाहिये, इसकारण तू अपने पिता से बूझकर ही 'यह द्रव्य मेरा है या तेरा है' इस का निश्चय करले, ऐसा कहने पर नाभागने पिता के समीप जाकर तैसाही (यह द्रव्य मेरा है वा रुद्रका है. ऐसा) बूझा ॥ ७ ॥ तब पिता ने कहाकि-यज्ञ भूमि में शेषरहा हुआ

म्र्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनं ॥ कुतः पुनः शश्वदभद्रमी-
श्वरे नह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥ ५२ ॥ यशःश्रियामेव परिश्रमः परो व-
र्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ॥ अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादि-
भिर्हरेः ॥ ५३ ॥ अविस्मृतिः कृष्णपदारविंदयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनो-
ति च ॥ सत्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तं ॥ ५४ ॥
यूयं द्विजाग्र्या वत भूरिभागा यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतं ॥ नारायणं देवम-
देवमीशमजस्रभावा भजताविवेश्य ॥ ५५ ॥ अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्रात् ॥ प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः सदस्यृषीणां
महतां च शृण्वताम् ॥ ५६ ॥ एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः ॥ मा-
हात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम् ॥ ५७ ॥ य एवं श्रावयेन्नित्यं यामं
क्षणमनन्यधीः ॥ श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः ॥ ५८ ॥

को दूर करनेवाला और ब्रह्म को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान, यदि भगवद्भक्तिरहित होय तो कुछ भी शोभा नहीं देता है अर्थात् उस से साक्षात्कार नहीं होता है. फिर अतिउत्तम कर्म हो और वह यदि परमेश्वर को अर्पण नहीं करा हो तो वह कैसे शोभा पावेगा ? अर्थात् कभी शोभित नहीं होगा; क्योंकि-वह कर्म साध्य करतेसमय और उस का फल प्राप्त होनेके समय भी दुःख का कारण होता है अर्थात् खटपट करके भी फल नहीं मिलता है ।५२। और वर्ण, आश्रम, आचार, तप तथा शास्त्र में परिश्रम करने पर उस से कीर्त्ति और लक्ष्मी ही प्राप्त होती है और श्रीहरि का गुणानुवाद तथा उस का श्रवण करने पर लक्ष्मी-पतिभगवान् के चरणारविन्द का विस्मरण नहीं होता है ॥५३॥ श्रीकृष्णजी के पदारविन्दों का अविस्मरण (स्मरण रहना) पापों का नाश करता है, शान्ति उत्पन्न करता है और अन्तःकरण की शुद्धि करके परमात्मा में भक्ति तथा विज्ञान वैराग्यसहित ज्ञान देता है ॥ ५४ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो! तुम अखण्डभक्तिवाले होने के कारण निःसन्देह बडे पुण्यवान् हो, क्योंकि–तुम, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सबों के उपास्य और जिन से दूसरा देवता नहीं है ऐसे श्रीनारायण को अन्तःकरण में दृढता के साथ धारण करके उन का निरन्तर भजन करते हो ॥ ५५ ॥ और पहिले (गङ्गातटपर) प्रायोपवेशन करके बैठे हुए राजा परीक्षित् की सभा में-बडे २ ऋषियों के सुनतेहुए महर्षि शुकदेवजी के मुख से मैंने जो सुना था उस आत्मतत्त्व का तुम ने मुझे स्मरण दिलाया ॥ ५६ ॥ इसकारण हे ब्राह्मणो! जिन के अनेकों कर्म वर्णन करने योग्य हैं उन वासुदेव का यह सब पाप-नाशक माहात्म्य मैंने तुम से कहा ॥ ५७ ॥ जो श्रद्धावान् पुरुष, दूसरे किसी में ध्यान न रखकर नित्य नियम से एक पहर वा एकक्षण भी इसप्रकार (तुम्हारी समान) सुनता है वह अथवा जो दूसरे को सुनाता है वह पुरुष, स्नानादि करके केवल शरीर को ही

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान्भवेत् ॥ पठत्यनश्नन्प्रयतस्ततो भव-
त्यपातकी ॥ ५९ ॥ पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् ॥ उपोष्य सं-
हितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥ ६० ॥ देवता मुनयः सिद्धाः पितरो म-
नवो नृपाः ॥ यच्छंति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥ ६१ ॥ ऋ-
चो यजूंषि सामानि द्विजोधीत्यानुविन्दते ॥ मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्या
श्च तत्फलम् ॥ ६२ ॥ पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः ॥ प्रोक्तं भग-
वता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत् ॥ ६३ ॥ विप्रोऽधीत्याप्नुयात्प्रज्ञां राजन्योद-
धिमेखलाम् ॥ वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ॥ ६४ ॥ क-
लिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णं ॥ इह तु पुन-
र्भगवानशेषमूर्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसंगैः ॥ ६५ ॥ तमहमजमनंतमात्म-
तत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिं ॥ द्युपतिभिरजशक्रशंकराद्यैर्दुरवसितस्तव-
मच्युतं नतोऽस्मि ॥ ६६ ॥ उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजं-

पवित्र नहीं करता है किन्तु साक्षात् अपने आत्मा को भी पवित्र करता है ॥ ५८ ॥ जो एकादशी के दिन वा द्वादशी के दिन इस को सुनता है उस की आयु बढ़ती है, जो निराहार रहकर ध्यान के साथ पढ़ता है वह अत्यन्त पापरहित होता है ॥ ५९ ॥ जो पुष्कर में मथुरा में, वा द्वारका में निराहार रहकर इन्द्रियों को वश में करके इस संहिता का पाठ करता है वह संसारभय से छूट जाता है ॥ ६० ॥ इस का कीर्त्तन करनेपर देवता मुनि, सिद्ध, पितर, मनु और राजे 'पुराण के' श्रोताओं को और वक्ताओं को इच्छित मनोरथ देते हैं ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण को, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के पढ़ने से क्रमकरके मधुकुल्या (घृतकी नदी वा कुण्ड), घृतकुल्या और पयःकुल्या का जो फल प्राप्त होता है वह फल इस संहिता का पाठ करनेवाले पुरुष को मिलता है ॥ ६२ ॥ और हे द्विजो ! जो पुरुष, जितेन्द्रिय होता हुआ इस पुराण की संहिता को पढेगा वह, भगवान् ने जो कहा है तिस परमपद को प्राप्त होयगा ॥ ६३ ॥ इस पुराण संहिता को पढ़कर ब्राह्मण विद्या को, राजा समुद्रतटपर्यन्त पृथ्वी के राज्य को, वैश्य कुबेर की समान सम्पत्ति को पावेगा और शूद्र पातकों से शुद्ध होयगा ॥ ६४ ॥ अन्य शास्त्रों में कलियुग के अनेकों दोषों को दूर करनेवाले सर्वेश्वर श्रीहरि का वारंवार गान नहीं करा है और इस भागवत शास्त्र में तो कथाओं के प्रसङ्ग से पद २ में अखिल मूर्त्ति भगवान् का वारंवार वर्णन करा है ॥ ६५ ॥ जगत् की उत्पत्ति पालन और प्रलयरूप रजोगुण आदि जिन की शक्तियें हैं; ब्रह्मा, इन्द्र और शिव आदि देवता जिन की स्तुति करना नहीं जानते हैं और जो जन्मरहित होने के कारण अन्तरहित हैं तिन आत्मस्वरूप अच्युतभगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६६ ॥ जिन्होंने बड़ी

गर्भालयाय ॥ भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभाय नमः सनातनाय ६७॥ स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ॥ व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ६८॥ इतिश्रीभा०द्वा०द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ॐ ॥ सूत उवाच॥ यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वंति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायंति यं सामगाः ॥ ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ १ ॥ पृष्ठे भ्राम्यदमंदमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पांतु वः ॥ यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥२॥ पुराणसंख्यासंभूतिमस्य वाच्यप्रयोजने ॥दानं

हुई प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा इन नौ शक्तियों से अपने ही स्वरूप में स्थावरजङ्गमरूप जगत् को रचा ऐसे ज्ञानस्वरूप सनातन श्रेष्ठदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६७ ॥ जिन का चित्त आत्मानन्द में निमग्न होरहा था इसकारण दूसरे स्थानपर ध्यान नहीं जाताथा ऐसे होकर भी जिन की, आत्मसुख से प्राप्तहुई स्थिरता भगवान् की सुन्दरलीलाओं से खिचगई थी इसकारण सब लोकों के ऊपर कृपा करके, सकल पातकों का नाश करनेवाले इस परमार्थ प्रकाशक श्रीमद्भागवतनामक पुराण को रचा उन व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में द्वादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ सूतजी कहते हैं कि–हे ऋषियो ! ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, शङ्कर और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों से तथा अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदों सहित वेदों से जिन की स्तुति करते हैं, सामवेद के गानेवाले पुरुष जिन का गान करते हैं, योगीजन ध्यान से निश्चल करेहुए और उन में ही लगाएहुए मन से जिन का दर्शन करते हैं और देवदैत्यों के गण जिन का अन्त नहीं जानते हैं ऐसे देव को नमस्कार हो ॥ १ ॥ पीठपर घूमतेहुए अतिभारी मन्दराचल के पत्थरों की नोकों से जिन का अङ्ग खुजलायाजाने से सुख प्राप्त होकर जो निद्रा को प्राप्तहुए थे उन कूर्मरूपी भगवान् विष्णु के श्वासों के वायु तुम्हारी रक्षा करें ; कि–जिन के संस्कारलेश के अनुवर्त्तन से (श्वास छोडने से और ऊपर को चढाने से) समुद्र के जलों का एकसमान ऊपर को आना और भीतर को जाना चलरहा था और अब भी बन्द नहीं होता है अर्थात् ज्वारभाटे के बहाने से पहिले की समान ही चलरहा है ॥ २ ॥ अब पुराणों की संख्या, उन की सम्भूति और समाहार, इस श्रीमद्भागवत का विषय,

दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥ ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पंचोनषष्टि च ॥ श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥ ४ ॥ दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पंचविंशति ॥ मार्कंडेयं नव वान्हं तु दश पंच चतुःशतम् ॥ ५ ॥ चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ॥ दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिंगमेकादशैव तु ॥ ६ ॥ चतुर्विंशति वाराहमेकाशीति सहस्रकं ॥ स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥ ७ ॥ कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश ॥ एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्मांडं द्वादशैव तु ॥ ८ ॥ एवं पुराणसंदोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः ॥ तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते ॥ ९ ॥ इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ॥ स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्संप्रकाशितम् ॥ १० ॥ आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् ॥ हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥

प्रयोजन, दान, दान का माहात्म्य तथा पाठ आदि का भी महात्म्य यह कहे हैं सो सुनो ॥ ३ ॥ ब्रह्मपुराण (श्लोक संख्या) दश सहस्र (१००००), पद्मपुराण पचपनसहस्र (५५०००), श्रीविष्णुपुराण तेईस सहस्र (२३०००) और शिवपुराण चौबीससहस्र (२४०००) है ॥ ४ ॥ श्रीमद्भागवत अठारहसहस्र (१८०००), नारदपुराण पचीससहस्र (२५०००), मार्कण्डेयपुराण नौ सहस्र (९०००) अग्निपुराण पन्द्रह सहस्र चार सौ (१५४००), ॥ ५ ॥ भविष्यपुराण चौदहसहस्र पाँच सौ (१४५०० ब्रह्मवैवर्त्त अठारह सहस्र (१८०००), लिङ्गपुराण ग्यारहसहस्र (११०००) ॥ ६ ॥ वराहपुराण चौबीससहस्र (२४०००), स्कन्दपुराण इक्यासी सहस्र एकसौ (८११००), वामनपुराण दश सहस्र (१००००) कहा है ॥ ७ ॥ कूर्म पुराण सत्रह सहस्र (१७०००), मत्स्यपुराण चौदह सहस्र (१४०००), गरुड़ पुराण उन्नीस सहस्र (१९०००) और ब्रह्माण्डपुराण (श्लोकसंख्या) बाईस सहस्र (२२०००) है ॥ ८ ॥ ऐसा यह पुराणों का समूह सब चारलाख श्लोकों का कहा है, जिस में श्रीमद्भागवत पुराण अठारह सहस्र है ऐसा कहते हैं ॥ ९ ॥ पहिले यह श्रीमद्भागवत, विष्णुभगवान् ने अपनी नाभि में के कमल पर बैठेहुए और संसार से भयभीत हुए ब्रह्माजी से बड़ी दया करके कहा है ॥ १० ॥ यह श्रीमद्भागवत आदि, मध्य और अन्त में वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथाओं से युक्त और श्रीहरि की लीला तथा कथाओं के समूहरूप अमृत से साधु और देवता आदिकों को आनन्दित

१ महाभारत इतिहास है और वाल्मीकीय रामायण ऋषि प्रणीत काव्य है, यह दोनों पुराण नहीं हैं इस कारण पुराणसंख्या में इन की गणना नहीं करी ।

॥ ११ ॥ सर्ववेदांतसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ॥ वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥ १२ ॥ प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् ॥ ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥ राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ॥ यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम् ॥ सर्ववेदांतसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ॥ तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥ १५ ॥ निम्नगानां यथा गंगा देवानामच्युतो यथा ॥ वैष्णवानां यथा शंभुः पुराणानामिदं तथा ॥ १६ ॥ क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा । तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥ १७ ॥ श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ॥ तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥ १८॥ कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ॥ योगींद्राय तदात्मनाऽथ भगवद्राताय कारु-

करनेवाला है । ११ ॥ इस में सब वेदों का सार है और ईश्वर तथा जीवकी एकता होने का लक्षण जो अद्वितीय वस्तु (परब्रह्म) वह इस का विषय है, मोक्ष की प्राप्ति ही इस का प्रयोजन है ॥ १२ ॥ जो पुरुष भाद्रमास में पूर्णिमा के दिन श्रीमद्भागवत सुवर्ण के सिंहासन पर रखकर दानदेता है वह उत्तम गतिको (मोक्ष को) प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ जबतक यह अमृत का सागररूप श्रीमद्भागवत नहीं सुनीजाती है तबतक ही और पुराण साधुओं की सभा में शोभा पाते हैं ॥ १४॥ यह श्रीमद्भागवत सकल वेदान्त का सार मानीजाती है, इस श्रीमद्भागवत के रसामृत को पीकर तृप्तहुए पुरुष की दूसरे किसी में भी प्रीति नहीं होगी ॥ १५ ॥ जैसे नदियों में गङ्गा, जैसे देवताओं में विष्णु और जैसे विष्णुभक्तों में शिव श्रेष्ठहैं तैसे ही सब पुराणों में यह श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥ हे द्विजो ! जैसे सबही क्षेत्रों में काशी अति उत्तम है तैसे ही यह श्रीमद्भागवत सब पुराण समूहों में उत्तम है ॥ १७ ॥ जो अमल और वैष्णवों को अति प्रिय है, जिस में परमहंसों के प्राप्त करनेयोग्य और निर्मल उत्तम ज्ञान वर्णन करा है और तिस में ज्ञान वैराग्य–भक्ति सहित सब कर्मों में उपरति प्रकट करी है ऐसे इस श्रीमद्भागवत को मनुष्य भक्ति पूर्वक सुनकर वा पढ़कर मनन करे तो वह 'जन्ममरण रूप संसार से' छूटजायगा ॥ १८ ॥ हे ऋषियो ! जिन परमात्मा ने, यह अनूपम श्रीमद्भागवतरूप ज्ञानदीपक कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्माजी को प्रकाशित (उपदेश) करा, उन ब्रह्माजी के रूप से नारदजी को प्रकाशित (उपदेश) करा, उननारदजी के रूप से श्रीव्यासमुनि को प्रकाशित करा और तिस के अनन्तर श्रीशुकमुनि के रूप से बड़ी करुणा करके राजा परीक्षित को प्रका-

निमन्त्र्य च ॥ अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥ ४५ ॥ एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः ॥ तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥ ४६ ॥ तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ॥ वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥ ४७ ॥ प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना ॥ ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥ ४८ ॥ तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ॥ दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥ ४९ ॥ तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाऽहिम् ॥ तथानुषक्तं स निरीक्ष्यमाणो गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥ ५० ॥ दिशो नभः क्ष्मां विवरान्समुद्रान्लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ॥ यतो यतो धावति तत्र तत्र सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥ ५१ ॥ अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्संत्रस्तचित्तोऽरणमे-

---

त्कार के साथ भोजन के निमित्त निमन्त्रण करके, मुझे भोजन विना कराये ही भोजनकरा है इस तेरे अन्याय का फल तुझे मैं अवही दिखाता हूँ ॥ ४५ ॥ ऐसा कहकर क्रोध में भरेहुए उन दुर्वासा ऋषिने, अपनी जटा उखाड़कर पृथ्वीपर पटकी; और उस से तिस अम्बरीष का मारण करने के निमित्त प्रलयकाल की अग्निकी समान एक कृत्या उत्पन्न करी ॥ ४६ ॥ उस, हाथ में तरवार लेकर शरीरपर को चली आनेवाली और आते में चरण से भूमि को कम्पायमान करनेवाली तथा जाज्वल्यमान अतिभयङ्कर कृत्या को देखकर भी वह राजा, अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नहीं हुआ ॥ ४७ ॥ उससमय, पहिले ही अम्बरीष की रक्षा के निमित्त, महात्मा परमपुरुष के नियत करेहुए सुदर्शन चक्र ने, उस कृत्या को, जैसे अग्नि,क्रोध में भरेहुए सर्प को जलाडालता है तैसे जलाडाला ॥ ४८ ॥ तदनन्तर दुर्वासा ऋषि,कृत्या उत्पन्न करने के अपने उद्योग को निष्फल हुआ देखकर और उस सुदर्शन चक्र को अपने सन्मुख दौड़कर आता हुआ देखकर भयभीत हुए और अपने प्राणोंकी रक्षा करने की इच्छा से दशों दिशाओं में को भागनेलगे ॥ ४९ ॥ उस समय जैसे सर्प के पीछे,जिसकी ऊपर को लपटें उठरही हैं ऐसा वनका प्रचण्ड अग्निदौड़ता है तैसे उन दौड़नेवाले दुर्वासा ऋषि के पीछे भगवान् का सुदर्शन चक्र दौड़नेलगा.तव अपने पीछे लगे हुए उस चक्र को देखकर भयभीत हुए वह दुर्वासा ऋषि,मेरु पर्वतकी गुफा में घुसजाऊँ इस इच्छा से दौड़नेलगे ॥ ५० ॥ इसप्रकार भागनेवाले वह ऋषि,दिशा,आकाश, पृथ्वी, सातपाताल, सात समुद्र,लोकपालों सहित सव लोक और स्वर्ग इतने स्थानों में यथाशक्ति दौड़ते हुए गये: परन्तु जहाँ जहाँ वह भागकर गये तहाँ तहाँ वह असह्यतेजवाला सुदर्शन चक्र उन्होंने देखा ॥ ५१ ॥ तदनन्तर उन को जब कहीं भी रक्षा करनेवाला नहीं मिला तववह मन में अत्यन्त भय मानकर रक्षा करनेवाले को खोजते हुए ब्रह्माजी की शरण जाकर कहने

रामगङ्गातटे रम्ये मुरादाबादपत्तने ।
भारद्वाजऋषेर्गोत्रे गौड़वंशे शुभोदये ॥ १ ॥
जातः सप्तमश्रीमद्भोलानाथात्मजोऽन्तिमः ।
तेनेयं संहिता स्फीता श्रीमद्भागवताभिधा ॥ २ ॥
ग्रहभूताङ्कभूवर्षे माधवस्य सिते दले ।
पञ्चम्यां सूर्यवारे च सोमे हि मिथुनस्थिते ॥ ३ ॥
समापिताऽन्वयाङ्कैश्च नृगिराऽभीप्सतां मुदे ।
श्रोतॄणां वाचकानाञ्च शुभदास्तु पुनः पुनः ॥ ४ ॥

समाप्तोयं ग्रन्थः

पुस्तक मिलने का ठिकाना—
शिवलाल गणेशीलाल
लक्ष्मीनारायण प्रेस
मुरादाबाद.



लक्ष्मीनारायण छापाखाना की पुस्तकों का-

सूचीपत्र

अथर्ववेदान्तर्गत-

गोपालतापनीउपनिषत्

संस्कृत व्याख्या और सरल भाषाटीका

तथा पूर्व व उत्तर विभाग सहित

जिसकी उत्कण्ठा भक्तजनों के हृदय में सर्वदा होती रहती है जिसको बड़े २ विद्वान भी जानने की इच्छा करते हैं। जो मोक्ष साधन में नौकारूप है। जिस का मनन करने से मनुष्य जन्म मरण से छूटजाता है आज वही ग्रन्थ छपकर तयार है महाशय! इस में श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण लौकिक लीलाओं को वेद से सम्पादन किया है। जिस के देखने से ज्ञानियों के सन्देह भी दूर होजायँगे। कैसाही विवादी क्यों न हो इसको एकवार देखते ही श्रीकृष्ण में भक्ति करने लगेगा। इसके अतिरिक्त इसमें अनुष्ठान भी हैं, जिन के करने से अभीष्टसिद्धि प्राप्त होती है सहस्र मुद्रा देकर भी जिन बातों को आप नहीं जानसक्ते वह केवल इस उपनिषत् को पढते ही जानसकेंगे। सन्तान की कामना करनेवालों को एकवार अवश्य इस गोपालतापनीउपनिषत् का पाठ करना चाहिये। मू० ।।,

योगवाशिष्ठसार भा० टी०

यदि चित्त को कुछ भी उपराम प्राप्त होता है तो केवल आत्ममनन हीसे होता है, संसार में ऐसा कोईभी पुरुष न होगा जो अपने चित्त को प्रसन्न न रखना चाहता हो वह आत्ममनन वेदान्त विद्याही से होसक्ता है। इस उपरोक्त ग्रंथ में उन्ही साधनों का भली भांति वर्णन कियागया हैं यदि वास्तव में सुखचाहतेहो तौ इसी ग्रन्थ में मिलेगा। संस्कृत मूल और भाषा टीका सहित मोटे अक्षरों में छपा तयार है, विलायती कपडे की जिल्द बँधी है मू० ॥,

लघुपाराशरी [धर्मशास्त्र]

सरल भाषाटीका सहित.

आजतक यद्यपि लघुपाराशरी ज्योतिष की तौ अनेकों स्थानों में छपी है, परन्तु धर्मशास्त्र की लघुपाराशरी का होना सचमुच नईबात है, कलियुग में

सम्पूर्ण आचरण इसी धर्मशास्त्र के अनुसार होने चाहियें क्योंकि 'कलौपारा-शराःस्मृताः, अर्थात् कलियुग में पराशर के कहे धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण करना चाहिये। आजतक यह पुस्तक अन्यत्र कहीं नहीं थी अतएव यह ग्रंथ हमने अधिक परिश्रम से भाषानुवाद सहित छाप के प्रसिद्ध किया है। समस्त पण्डित महाशयों से प्रार्थना है कि इस पुस्तक को खरीदकर लाभ उठाके हमारे उत्साह को बढावें सब के सुभीते के लिये बढिया विलायती कपडे की जिल्द बँधी है। मूल्य ॥,

श्रीमद्भगवद्गीता ।

यद्यपि भगवद्गीता की भाषाटीका अनेकों स्थानों में छपी हैं परन्तु ऐसी सरल भाषा आजतक कहींनहीं छपी, अक्षरमात्र जाननेवाला पुरुष भी इस के आशय को भलीप्रकार समझ सक्ता है। यद्यपि यह पुस्तक गुटकाकार छपी है तथापि अक्षर सुवाच्य और स्पष्ट हैं। विलायती कपडे की बढ़िया जिल्द बँधी है मू० ॥,

समयादर्श (अग्निवेश) रामायण ।

महाराज रामचन्द्र के जन्म से लेकर बनवास और राज्याभिषेक तथा परमधाम जाने पर्यंत, यदि समस्त चरित्रोंकी तिथि जानने की कामना हो तो इसमें मिलेगी विलायती कपड़े की जिल्द बँधी है स्थूलाक्षर कागज चिकना भाषाटीका सहित मू० ॥,

आत्मरामायण भाषा ।

(श्री १०८ स्वामीशङ्करानन्द प्रणीत)

भगवद्भक्तो! चलो यह वेदान्तविषयकी अद्भुत पुस्तक तयारहुई है। भगवान् की भक्ति, आत्मज्ञान का साधन और रामायण की सम्पूर्ण लीलाओं का वर्णन इसमें एकत्र है। अक्षर और कागज पुष्ट। विलायती जिल्द बँधी है मू०॥,

सूररामायण ।

कविराज श्रीसूरदास जी के ललित पदों की लावण्यता भारतवर्ष में प्रसिद्ध ही है परन्तु सूरदास की बनाई रामायण का होना सचमुच ही नईबात है। यह पुस्तक आजतक कहीं भी नहीं छपी केवल हमारे ही पास मोटे अक्षरों में छपी तय्यार है। यदिराम चरितामृत पान करना होतो इसे अवश्य देखो। बढिया विलायती कपड़े की जिल्द बँधी है मू० ॥, सादी जिल्द ।=,

कल्किपुराण केवल भाषा ।

इस पुस्तक में होनहार कल्कि भगवान्‌की संपूर्ण कथाएँ सविस्तार वर्णित हैं, भगवान् कलियुगके अन्त में अवतार धारण कर किसप्रकार दुष्टोंका नाश करके सनातन धर्मकी रक्षा करेंगे इसके पढनेसे यह सबबात भली भांति विदित होजाती है, इसमें समस्त कितनी कथाएँहैं, यहां इस बातकी मीमांसा करनेसे एक नई पुस्तक बनजावेगी । भाषा इसकी ऐसी रमणीय है कि-पढते२ विना समाप्तकरे छोडने को जी नहीं चाहता । इस की ५० ही कापी बाकी रही हैं शीघ्रता करो फिर यह रोचिक रत्न हाथ नहीं लगेगा जिल्ददारका मू.॥॥=,

कल्किपुराण उर्दू ।

उपरोक्त पुस्तक भाषाके अतिरिक्त उर्दू में भी है । जो महाशय भाषा नहीं पढसक्ते वह उर्दूकी छपी पुस्तक खरीदकर लाभउठा सक्तेहैं । जिल्ददार का मू० ।=, सादी ।,

वेदस्तुति भाषाटीका सहित ।

अवतरणिका, अन्वय, पदार्थ और भाषार्थ तथा सरलार्थ सहित । ऐसी उत्तम पुस्तक आजतक कहीं नहीं छपी उत्तमता केवल एकवार देखनेही से प्रतीत होगी मू० ।=,

चाणक्यनीतिदर्पण–भाषा टीका सहित मूल्य ।-,

गोपीचन्द नाटक

सिद्धोंकी सिद्धई, राजाओंकी नीति और जालियों की छलभरी बातों का एकत्र समावेश है । रागरागिनी ग़ज़ल ठुमरी ऐसी दिलचस्प लिखीगई हैं कि एकवार पढनेसे चित्त लाहालोट होजाता है । जिल्ददार का मूल्य।,

विज्ञाननाटक ।

स्वामीशङ्करानंदप्रणीत ।

यह वेदान्त विषय का अनूठाही पुस्तक है इस की तारीफ लिखना ऐसा है जैसे सूर्यको दीपक से देखना मूल्य ।=,

रामपञ्चरत्न,

आजतक भगवद्गीतादि पञ्चरत्न को तो हमारे पाठकों ने सुना होगा ।

विनयपत्रिका गोस्वामी तुलसीदास कृत ॥,
रामायण सुंदरकाण्ड भाषाटीका सहित ।,
आल्हारामायण लङ्काकाण्ड ।,
सत्यनारायण व्रत कथा भाषाटीका सहित ।,
वैराग्यदीपक सवैये कवित्त दोहा आदि -)।
रामायण मोहिनी छन्द =,
परमेश्वर स्तुतिसार स्तोत्र ,॥
सरदऋतु विनोद कजरी आदि -,
सूरजपुराण भाषा -,
लघुसिद्धान्तकौमुदी टिप्पणी सहित ।=,
तथा रफ ।,
अमरकोश मूल ।=,
तथा रफ ।,
श्रुतबोध भाषाटीका सहित =,
शब्दरूपावली -,
तर्क संग्रह -,
होडाचक्र भाषाटीका सहित =,
सुदामाकी बारखडी -,
शिवमहिम्न भाषाटीका सहित -,
शिवमहिम्न मूल ,॥
भर्तृहरि कृत (तीनोंशतक) भाषाटीका सहित अति उत्तम मोटेअक्षर १,
मेसमेरिजम तिलस्मातकी पुस्तक है =,
हरदेव की बारखडी ,॥
यज्ञोपवीत पद्धतिः =,
हवन पद्धतिः ≡,
लग्न जातक -,
तीर्थ श्राद्ध -,
रामाश्वमेध मूल ग्लेज कागज २,

गोविन्दगुण वृन्दाकर-

कृष्ण चरित्रके परमोत्तम भजन हैं ॥,
लावनी अहिरावण वध ,॥
हिन्दी की प्रथमपुस्तक ,॥
हिन्दीकी दूसरी पुस्तक -,

प्रेमरत्नपटिका और हरिआशक पन्थ -,
रामशतक भाषाटीका सहित =,
चाणक्यनीति दर्पण भाषाटीका सहित ।-,
भगवद्गीता मूल मध्यमाक्षर .... =,
रामशतक भाषाटीका सहित .... =,
प्रश्नरामायण [तुलसीदासकृत यह अनुभव करीहुई प्रश्नबताने की पुस्तक है] मूल्य =,
गीतासारोद्धार भा० टी० इस के पढ़ने से भगवद्गीता का सम्पूर्ण आशय अवगत होजाता है मू० .... =,
कुण्डली गिरधर की .... =,
योगमहिमा भाषा (योग साधन का सहज उपाय वर्णित है .... -,॥
दीर्घजीवनोपाय केवल भाषा [मतलब नामही से समझसक्ते हो .... -,॥
पुनर्जन्मविचार भाषा [यह शरीर छूटकर दूसराजन्म होता है या नहीं यह शङ्काइस पुस्तक केपढने से सर्वथादूर होजातीहै] -,॥
तत्वबोध (भाषाटीका सहित वेदांतग्रन्थ) -,॥
पंचयज्ञ हिन्दी और उर्दू .... -,॥
तर्पणविधि .... -,
अन्नपूर्णास्तोत्र .... ,॥
शिवताण्डव अन्वय पदार्थ और सरल भाषाटीका सहित .... -,
हास्यरसकी मटकी [हँसते २ लोट पोट न होजाओ तो कुछबात नहीं] .... -,
नारदभक्तिसूत्र [स्वच्छ और सुबोध भाषा टीका सहित] .... -,
रसिकमनरंजन रसिकों के लिये गानेकी अच्छी पुस्तक है .... -,
प्राचीन भजनमाला सुन्दर २ गाने के पदों का संग्रह है .... -,
अनुरागरस [नीतिभक्ति और अनुराग के

नं सगृहोऽन्वयम् ॥ स्नापयांचक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥ ४० ॥ फलार्हणोशीरशिवामृताम्भसा मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ॥ आराधयामास यथोपपन्नया सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥ ४१ ॥ स तर्कयामास कुतो ममान्वभूद्गृहान्धकूपे पतितस्य संगमः ॥ यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥ ४२ ॥ सूपविष्टान्कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः ॥ सभार्यः स्वजनापत्य उवाचांघ्र्यभिमर्शनः ॥ ४३ ॥ श्रुतदेव उवाच ॥ नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ॥ यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥ ४४ ॥ यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ॥ सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥ ४५ ॥ शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ॥ नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ४६ ॥ हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः

कुटुम्बसहित आप, उस जल से स्नानकरा, तिस से और भगवान् के चरण के स्पर्शआदि से वहअत्यन्त हर्षितहुआ और उस के सकल मनोरथ पूर्णहुए ॥ ४० ॥ तदनन्तर उस ने, फल, गन्धपुष्प आदि पूजा के पदार्थ, खस से वसाये हुए अमृतसमान मधुर जल, सुगन्धयुक्त मृत्तिका (कस्तूरी) तुलसी,कुश,कमल और सत्वगुण को बढ़ाने वाले अन्न के द्वारा अनायास में ही ठीकहुई पूजा के द्वारा उन ऋषियों का पूजनसत्कार करा ॥४१॥ फिर वह श्रुतदेव मन में तर्कना करनेलगा कि घररूप अँधेरिये कुए में पड़ेहुए मुझ को, श्रीकृष्णजी का और जिनका चरणरज सकल तीर्थों के भी दोष दूर करनेवाला है और जो श्रीकृष्णजी की मूर्त्ति का निवासरूप हैं ऐसे ब्राह्मणों का समागम न जाने कौन से पुण्य के प्रभाव से हुआ है ? ॥ ४२ ॥ ऐसे उत्तम प्रकार से सत्कार करे हुए और आसन पर सुख से बैठेहुए उन ऋषियों के सन्मुख पोषण करनेयोग्य पुत्रऔर स्वजनोंसहित प्राप्तहुआ वह श्रुतदेव,श्रीकृष्णजी के चरण कोस्पर्श करताहुआ ऐसा कहने लगा ॥ ४३ ॥ श्रुतदेव ने कहाकि—तुम पुरुषोत्तम आज ही मेरे समीप आयेहो ऐसानहीं है किन्तु जबअपनी सत्वआदि शक्तियों से इस जगत् को उत्पन्न करके इसमें अपनी सत्तासे प्रविष्ट हुएहो उसी समय प्राप्त हुए हो परन्तु आपका दर्शन केवल आजही हुआ ॥ ४४ ॥ जैसे सोयाहुआ इकला ही पुरुष, अपनी अविद्या से स्वप्न में, मन से ही देवता मनुष्यादिरूप दूसरे शरीर को उत्पन्न करके और उस में प्रवेश करके नानाप्रकार का प्रतीत होता है तैसे ही तुम भी इस जगत् को रचकर उस में प्रवेश करेहुए से होकर नानाप्रकार के भासते हो ॥ ४५ ॥ और जो मनुष्य निरन्तर तुम्हारा श्रवण, कीर्त्तन, पूजन,वन्दन और परस्पर सम्वाद करते हैं उन शुद्धचित्त पुरुषों के भी हृदय में तुम केवल प्रकाश को ही प्राप्त होते हो और मुझे तो दृष्टिगोचर भी हुए हो इस कारण मेरा अहोभाग्य है ॥ ४६ ॥ यद्यपि तुम सब के हृदयों में हो तथापि लौकिक

कर्मनिक्षिप्तचेतसाम् ॥ आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥ ४७ ॥ नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ॥ सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे स्वमाययाऽसंवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८ ॥ स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवामहे ॥ एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षगोचरः ॥ ४९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतार्तिहा ॥ गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥ ५० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय संप्राप्तान्विद्ध्यमून्मुनीन् ॥ संचरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ॥ शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥ ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु

वैदिक अनेकों कर्मों से विक्षिप्तचित्त हुए पुरुषों से तुम बहुत ही दूर हो और यद्यपि अहङ्कारादि आत्मशक्तियों से तुम्हारा ग्रहण नहीं होता है तथापि जिन के अन्तःकरण में तुम्हारे श्रवण कीर्तन आदि का संस्कार है उन के तुम बहुत ही समीप हो ॥ ४७ ॥ इसकारण देहाभिमान से रहित हुए पुरुषों को मोक्ष देनेवाले, देहाभिमानी जीवों को आत्मा से भिन्न संसार देनेवाले, महतत्त्व आदि कार्य और उस की कारण प्रकृति इन दोनों उपाधियों के नियन्ता, अपनी माया से जिन का ऐश्वर्य लुप्त नहीं हुआ है और अपनी माया करके दूसरों के ज्ञान को ढकनेवाले तुम कारण को नमस्कार हो ॥ ४८ ॥ हे देव ! वह परमेश्वर तुम, अपने दास इन हम को आज्ञा करिये, कि—हम आप का कौनसा दासकार्य करें ? जब तक तुम्हारा दर्शन न हो तबतक ही मनुष्यों को संसार का क्लेश होता है, दर्शन होने पर फिर क्लेश का नाश ही हो जाता है ॥ ४९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! ऐसा उस श्रुतदेव का कहाहुआ भाषण सुनकर, भक्तों के दुःख हरनेवाले वह भगवान् श्रीकृष्णजी, अपना अधिक और ब्राह्मणों का कम आदर देखकर लोकशिक्षा के निमित्त, तू ब्राह्मणों में मुझ से भी अधिक श्रद्धाकर ऐसा उस से कहने के अर्थ, अपने हाथ से उस का हाथ पकड़कर हँसते हुए उस से कहनेलगे ॥ ५० ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे ब्राह्मण ! तेरे ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त यह ऋषि यहाँ आये हैं ऐसा तू जान, क्योंकि—यह ऋषि हृदय में रहनेवाले मेरे द्वारा अपनी चरणरज से लोकों को पवित्र करतेहुए विचरते रहते हैं ॥ ५१ ॥ और देवता आदिकों की अपेक्षा भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं क्योंकि—देवताओं की मूर्ति, अयोध्या आदि क्षेत्र और गंगा आदि तीर्थ यह दर्शन, स्पर्श और पूजन के द्वारा धीरे धीरे बहुत काल में पवित्र करते हैं, वही पवित्रता सत्पुरुषों के दर्शन से तत्काल हो जाती है ॥ ५२ ॥ इस संसार में सब ही प्राणियों में ब्राह्मण

मत्कलया युतः ॥ ५३ ॥ न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ॥ सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥ ५४ ॥ दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ॥ गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥ ५५ ॥ चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ॥ मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥ तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयाऽर्चय ॥ एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ५७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ स इत्थं प्रभुणादिष्टः सहकृष्णान्द्विजोत्तमान् ॥ आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥ ५८ ॥ एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ॥ उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ॥ ५९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रुतदेवानुग्रहो नाम षड्शीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

जन्म से ही श्रेष्ठ हैं फिर जो यदि तप,विद्या, सन्तोष और मेरी उपासना इन गुणों से युक्त होय तब तो उन की श्रेष्ठता का कहना ही क्या ? ॥ ५३ ॥ यह चतुर्भुजस्वरूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है,क्योंकि–ब्राह्मण सर्वदेवमय है और मैं सर्ववेदमय हूँ,देवताओं की सिद्धता वेद के अधीन होने के कारण देवमय मुझ से भी वेदमय ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ५४ ॥ यह मेरा मत न जानकर ही गुणों में दोष लगानेवाले और साधुमहात्मा आदि सब को छोड़कर एक प्रतिमाकार पाषाण को ही पूजनीय माननेवाले दुर्बुद्धि पुरुष गुरुरूप, आत्मरूप और मेरे स्वरूप इन ब्राह्मणों का अपमान करते हैं ॥ ५५ ॥ और ब्राह्मण ही, सर्वत्र ईश्वर हैं ऐसी भावनाकरके, यह स्थावर जंगमरूप जगत् और इस के कारण महत्तत्त्व आदि पदार्थ हैं वह सब ही मेरे रूप हैं ऐसा अपने मन में धारण करता है ॥ ५६ ॥ इसकारण हे ब्राह्मण ! तू इन सब ऋषियों का, यह मेरा ही स्वरूप है ऐसी बुद्धि से पूजनकर, इसप्रकार यदि इन का पूजन करेगा तो मैं ही साक्षात् पूजा कराहुआसा होऊँगा; ऐसा करेविना बहुतसी सामग्रियों से पूजन कराहुआ भी मैं पूजन कराहुआसा नहीं होता हूँ ॥ ५७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–राजन् ! इसप्रकार प्रभु श्रीकृष्णजी करके आज्ञा कराहुआ वह श्रुतदेव ब्राह्मण, और राजा बहुलाश्व यह, श्रीकृष्णजी के साथ उन सब द्विजोत्तमों को अभेददृष्टि से आराधना करके भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हुआ ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार भक्तों की प्रीति के अनुसार वर्ताव करनेवाले वह भगवान् श्रीकृष्णजी, कुछदिनोंपर्यन्त उस मिथिला नगरी में रहकर अपने भक्त श्रुतदेव और राजा बहुलाश्व को वेदों की प्रवृत्तिकी रीति और ब्रह्मज्ञानका उपदेश सुनाकर द्वारका को लौटगये ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में षडशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥

अथ वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः

परीक्षिदुवाच ॥ ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ॥ कथं चरन्ति

अब इस सत्तासीवें अध्याय में, नारायण और नारदजी के सम्वाद के द्वारा, वेदों ने, ईश्वर की, गुणों के आश्रय से निर्गुण ब्रह्मपर जो स्तुतिकरी है तिसका वर्णन करा है ॥ * ॥ इस से पहिले अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णजी, श्रुतदेव ब्राह्मण और बहुलाश्व राजा इन अपने भक्तों को स्वतःप्रमाण (जिस में किसी का प्रमाण न दियाजाय ऐसे) वेद का ब्रह्मपरत्व वर्णन करके फिर द्वारका को चलेगये, ऐसा शुकदेवजी ने कहाथा तिस को सुनकर, शब्द रूप वेदों का ब्रह्मपरत्व होना कठिन है ऐसा माननेवाले राजा ने प्रश्न करा कि—हे शुकदेवजी ! सगुण पदार्थों का वर्णन करनेवाली श्रुतियें, किसीप्रकार भी जिसका दिखाना न बनसके ऐसे निर्गुण और कार्यकारणों से पर(असङ्ग)ब्रह्म के विषैं,प्रत्यक्ष कैसे प्रवृत्त होती हैं ? इस कहने का तात्पर्य यह है कि—श्रुति तो शब्द होती हैं, उन शब्दों की प्रवृत्ति मुख्या १ लक्षणा २ और गौणी ३ यह तीन प्रकार की है;उन मेंसे मुख्या के रूढ़ि और यौगी दो भेद हैं; तिन में रूढ़ि वृत्ति - ठिगना, ऊँचा इत्यादि स्वरूपों से, गौ,ब्राह्मण इत्यादि जातियों से अथवा श्वेत, काला इत्यादि गुणों से दिखाने के योग्य वस्तु के ऊपर, यह उस वस्तु का नाम है और यह वह वस्तु है इसप्रकार सङ्केत से प्रवृत्त होती है जैसे यह ठूँठ है, यह गौ है, यह श्वेत है इत्यादि स्थलपर प्रवृत्त होती है तैसे वह रूढ़िवृत्ति—अनिर्देश्य (जिस को किसी सङ्केत से बताया न जासके ऐसे) और निर्गुण (जिस में कोई गुण नहीं ऐसे) ब्रह्म के विषैं ' उसके अपना विषय न होने के कारण कैसे प्रवृत्त होती है ? अर्थात् कभी प्रवृत्त नहीं होती, दूसरी लक्षणावृत्ति—पहिले कहेहुए संज्ञासंज्ञि के (नाम और नाम वाले के) संकेत से ही ' जैसे गङ्गापर मल्लाह का घर है इत्यादि स्थल में गङ्गा के तट का सम्बन्ध लेकर तहाँ मल्लाह का घर है ऐसा समझाता है तिसी प्रकार ' कहेहुए पदार्थ के सम्बन्ध से प्रवृत्त होती है; वह—परब्रह्म के सकल सम्बन्धों से रहित होने के कारण तहाँ कैसे प्रवृत्त होसक्ती है ? अर्थात् कभी प्रवृत्त नहीं होती, तीसरी गौणी (गुणवृत्ति) है वह—' जैसे यह देवदत्त सिंह है,इत्यादि स्थल पर सिंह शब्द से उस सिंह के शूरता आदि गुणों को लेकर, उन गुणों से युक्त देवदत्त है ऐसा अर्थ लियाजाता है तैसे ' कहेहुए पदार्थों पर होनेवाले गुणों से युक्त उस की समान दूसरे पदार्थ पर प्रवृत्त होती है. वह-परब्रह्म के निर्गुण होने के कारण तहाँ कैसे प्रवृत्त होसक्ती है ? अर्थात् प्रवृत्त नहीं होती. चौथी यौगी (मुख्या का दूसरा भेद योगवृत्ति) है वह भी ऊपर कहीहुई तीनप्रकार की शब्दवृत्तियों से वर्णन करेहुए पद और अर्थ के अथवा प्रकृति और प्रत्यय

श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ॥ मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने कल्पनाय च ॥ २ ॥

के द्वारा ' जैसे पङ्कात् (कीच से) जायते (उत्पन्न होता है सो) पङ्कज (कमल)' (उपगोः) उपगु ऋषि का अपत्यम् (सन्तान अर्थात् उन से उत्पन्न होनेवाला) औपगव (उन का पुत्र) इत्यादि स्थल पर उन पङ्कज औपगव आदि शब्दों पर प्रवृत्त होती है. वह भी-कार्यकारण की अपेक्षा से पर और असङ्ग ब्रह्म के विषैं कैसे प्रवृत्त होसक्ती है? अर्थात् कभी प्रवृत्त नहीं होती.इस से' ब्रह्म को'पदार्थत्व का योग न होने के कारण और अपदार्थ को वाक्यार्थत्व का योग न होने के कारण,ब्रह्म को श्रुतिगोचरता नहीं होसक्ती. सो सगुण वस्तु का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति निर्गुण ब्रह्म के विषैं कैसे प्रवृत्त होती हैं ॥१॥ इसप्रकार प्रश्न करने पर श्रीशुकदेवजी ने कहा कि हे राजन्! सबकुछ करने को समर्थ और नित्यमुक्त ईश्वर ने, प्रलयकाल में अपने में लीन हुए जीवों को फिर इस लोक में विषयभोग और जन्म आदि कर्म प्राप्त होने के निमित्त तथा परलोक में स्वर्गादि लोकों का उपभोग और मुक्ति मिलने के निमित्त (अर्थात् जीवों को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्राप्त होने के निमित्त) बुद्धि, इन्द्रियें, मन और प्राण यह उत्पन्न करे हैं. यदि बुद्धि, इन्द्रियें, मन और प्राण (लिङ्गशरीर) यह उत्पन्न न करे होते तो जीवों को, साधन न होने के कारण अर्थ धर्म आदि प्राप्त करने में नहीं आते; तैसे ही स्वरूपविचार न होसकने के कारण मोक्ष भी प्राप्त नहीं होसक्ता इसकारण वह बुद्धि आदि ईश्वर ने उत्पन्न करे हैं. अब निर्गुण ब्रह्म के विषैं श्रुतियें कैसे प्रवृत्त होती हैं? इस प्रश्न का उत्तर, ईश्वर ने बुद्धि आदि की उत्पत्ति करी, यह कहने का आशय यह है कि—सकल श्रुतियें,ईश्वर का और ईश्वर से उत्पन्न हुए जीवों के चार प्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन करके, तात्पर्य आदि वृत्तियों से ब्रह्मपर हैं. तिन में कितनी ही श्रुतियें, सगुण होकर भी गुणों से तिरस्कार को प्राप्त न होनेवाले ईश्वर के ' सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वोपास्य, सर्वकर्मफलदाता, सर्वकल्याणकारी गुणों के निधान, सच्चिदानन्दरूप आदि ' धर्मों का वर्णन करती हैं. दूसरी कितनी ही श्रुतियें—जीव के किञ्चिज्ज्ञत्व (कुछएकज्ञाननापन) आदि धर्म कहकर उन का संसार (आवागमन) दूर होने के निमित्त उन को ' उस ईश्वर का स्वरूप तू है ऐसा ' उपदेश करती हैं. उस में तत्पद का और त्वंपद का सामानाधिकरण्य (एक स्थान पर घटना), दूसरे प्रकारों से न होसकने के कारण, जहदजहल्लक्षणा करके ब्रह्म के विषैं ही पर्यवसान पाता है, इसकारण उन जीव और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियें, तात्पर्यवृत्ति से ब्रह्मपर ही हैं. अस्थूल (स्थूलतारहित), अनणु (सूक्ष्मतारहित) इत्यादि निषेध करनेवाली श्रुतियें भी,तत्पदार्थ के शोधन के विषय में उपयोगी हैं इसकारण उन का निर्गुण के ही विषैं पर्यवसान है. उपासना का निरूपण

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ॥ श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेद-
किंचनः ॥ ३ ॥ अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ॥ नारदस्य
च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥ एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥ यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय
स्वस्तये नृणाम् ॥ धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥ तत्रोपविष्ट-
मृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ॥ परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥
तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ॥ यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोक-

करनेवाली श्रुतियें भी, अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान के साधनों का उपदेश करती हैं इसकारण उन का पर्यवसान ज्ञान के द्वारा परम्परासम्बन्ध से ब्रह्म के विषें ही है. सृष्टि, स्थिति और प्रलय का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियें भी, सृष्टि आदि के कथन के द्वारा ज्ञान वैराग्य की साधन हैं इसकारण उन का पर्यवसान भी परम्परासम्बन्ध से ब्रह्म के विषें ही है. इसकारण ईश्वर से सृष्टि आदि के द्वारा जीवों के चारप्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन करनेवाली सब श्रुतियों का परम्परा आदि सम्बन्ध से, निषेधादिमुख करके अथवा भागलक्षणा करके ब्रह्म के विषें ही पर्यवसान है ॥२॥ इस विषय में अनादिसिद्ध परम्परा चली आती है इसकारण सन्देह करना उचित नहीं है ऐसा कहने के अभिप्राय से कहते हैं कि—सो यह श्रुतियों की ब्रह्मपरता का वर्णन करनेवाला रहस्य (गुप्त रखनेयोग्य) निर्णय, पूर्वपुरुषाओं के भी पूर्वपुरुष ऐसे सनकादिकों ने मन में धारण करा है, जो पुरुष सूखे तर्कों का आग्रह न करके उन को श्रवण आदि करके धारण करेगा वह देह आदि सब उपाधियों को दूर करके परमानन्दस्वरूप को पावेगा ॥ ३ ॥ इस विषय को ही सब श्रुतियों के अर्थ के निरूपण के द्वारा विस्तार के साथ कहने को इतिहास कहते हैं कि—हे राजन् ! इस विषय में तुम से, जहाँ नारायण ही कहनेवाले हैं ऐसा बदरीनाथ नारायण का और नारदऋषि का सम्वादरूप इतिहास वर्णन करता हूँ ॥४॥ एकसमय लोकों में विचरनेवाले भगवद्भक्त नारदजी, पुरातनऋषि नारायण का दर्शन करने के निमित्त उन के बदरिकाश्रम को गये थे ॥ ५ ॥ जो नारायण इस भरतखण्ड में मनुष्यों का कल्याण करने के निमित्त और मुक्ति करने को कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान और शान्ति से युक्त तप कररहे हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! जो नारायण, उस आश्रम में, 'तहाँ से समीप के ही' कलापनामक ग्राम में रहनेवाले ऋषियों से घिरकर सुख के साथ बैठे सो तब ही नारदऋषि ने प्रणाम करके, 'ब्रह्म के विषें श्रुतियें कैसे प्रवृत्त होती हैं ? ' यही प्रश्न उन से करा ॥ ७ ॥ तब भगवान् नारायण ने उन नारदजी से सब ऋषियों के सुनतेहुए जो पहिले के परमवृद्ध जनलोकवासी सनकादिकों का प्रश्नोत्तरों से निर्णयरूप सम्बाद

निवासिनाम् ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ स्वायंभुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ॥
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९ ॥ श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि
द्रष्टुं तदीश्वरम् ॥ ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ॥ तत्र हायमभूत्प्र-
श्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ १० ॥ तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥ सनंदन उवाच ॥ स्वसृष्टमि-
दमापीय शयानं सह शक्तिभिः ॥ तदंते बोधयांचक्रुस्तल्लिंगैः श्रुतयः परम् ॥
॥ १२ ॥ यथा शयानं संम्राजं वंदिनस्तत्पराक्रमैः ॥ प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकै-
र्बोधयंत्यनुजीविनः ॥ १३ ॥ श्रुतय ऊचुः ॥ जय जय जह्यजामजित दोषगृ-

हुआ था वह कहा ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि-हे ब्रह्मपुत्र ! पहिले जनलोक में तहाँ रहनेवाले, ब्रह्माजी के मानसिकपुत्र सनकादि ऋषियों का ब्रह्मसत्र × हुआ ॥ ९ ॥ यदि कहो कि उससमय मैं कहाँ गया था ? तो-श्वेतद्वीप का स्वामी जो अनिरुद्ध नामवाला मैं तिस मेरा दर्शन करने के निमित्त जब तुम तहाँ गये थे तब, तुमने जो प्रश्न अब मुझ से करा है यही प्रश्न उस जनलोक में हुआ था और तदनन्तर तहाँ ऐसा उत्तम ब्रह्मविचार हुआ कि-जिस में सब श्रुतियें तात्पर्यवृत्ति से आगई हैं ॥ १० ॥ यदि कहो कि-वह सब सर्वज्ञ थे तो उन में वक्ता कौन हुआ और प्रश्न करनेवाला कौन हुआ ? तो-यद्यपि वह चारों ही सनकादि ऋषि, शास्त्राभ्यास, तपस्या और स्वभाव में समान थे और मित्र, शत्रु तथा उदासीनों में समता रखनेवाले थे इसकारण सब ही वक्ता बनसक्ते थे तथापि कुछएक कौतुक से उन्हों ने,एक सनन्दन को वक्ता बनाया और शेष श्रोता बने और प्रश्न करा ॥ ११ ॥ तब सनन्दन ने कहा कि-हे सनकादिकों ! जब परमेश्वर अपने रचेहुए इस जगत् को,, अपनी ही शक्तियों से प्रलयकाल में अपने स्वरूप में लीन करके योग निद्रा के द्वारा सोयेहुए से होते हैं, तब उस निद्राके अन्त में और सृष्टि के आरम्भ में उन के प्रथम श्वासोच्छ्वासोंसे प्रकटहुई श्रुतियें उनही परमेश्वर का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों से उन को जगानेलगीं ॥ १२ ॥ जैसे सोयेहुए चक्रवर्ती राजा के समीप प्रातःकाल के समय,उस की स्तुति पढ़नेवाले सेवक आकर, सुन्दरकीर्त्तियुक्त पराक्रम के वर्णनों से उस को जगाते हैं तैसेही श्रुतियें भी ईश्वर का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों के द्वारा उन को जगानेलगीं ॥ १३ ॥ श्रुति कहनेलगीं कि-(अजित !) जिनको किसीने नहीं जीता ऐसे हे परमेश्वर ! (जय, जय) अपने उत्कर्ष को वारम्वार प्रकट करो ! यदि कहो कि-किसप्रकार मैं अपने उत्कर्ष को प्रकट करूँ तो-(अगजगदोकसाम्) अग कहिये एक

× जहाँ सब ही समान अधिकारी हों उन में संशयरहित ब्रह्मज्ञान के निमित्त एक वक्ता और शेष श्रोता होकर ब्रह्म का विचार करते हैं उस को ब्रह्मसत्र कहते हैं ।

भीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ॥ अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १४ ॥ बृहदुप-

स्थान पर ही रहनेवाले स्थावर और जगत् कहिये चलने फिरनेवाले जङ्गम हैं ओक कहिये शरीर जिनके ऐसे जीवों के। (दोषगृभीतगुणाम्) आनन्द आदि गुणों को ढकने के निमित्त सत्त्व आदि गुणों को ग्रहण करनेवाली। (अजाम्) अविद्या को। (जहि) नष्ट करो। अर्थात् जैसे व्यभिचारिणी स्त्री दूसरे पुरुषों को धोखा देने के निमित्त हावभाव आदि गुणों को ग्रहण करती है तिसीप्रकार यह अविद्या जीवों को मोहित करने के निमित्त सत्त्व आदि गुणोंको ग्रहण करतीहै,इसकारण इसका नाश करो। यदि कहोकि–यह अविद्या तो मुझ में भी अपना दोष चिकटादेगी सो मुझ में इसका नाश करने की शक्ति कहां से आई? तो–(यत्) क्योंकि। (त्वम्) तुम।' माया को वश में कर रखनेके कारण'(आत्मना) अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही। (समवरुद्धसमस्तभगः) प्राप्त हैं सकल ऐश्वर्य जिन को ऐसे। (असि) हो। यदि कहो कि-यह जीव ही ज्ञानवैराग्य आदि साधनोंसे क्यों नहीं करते? तो–(अखिलशक्त्यवबोधक!)हे सकल शक्तियों के प्रकाशक! इस सम्बोधन से यह सूचित करा कि–तुम ही उन जीवों के अन्तर्यामी सब शक्तियों के प्रवर्त्तक हो, इसकारण वह जीव, ज्ञान वैराग्य आदि साधनों के विषय में स्वाधीन नहीं हैं। यदि कहो कि–मैं अखण्डित ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त होकर जीवों की कर्मज्ञान आदि शक्तियों की प्रेरणा करके उन की अविद्या का नाश करनेवाला हूँ इस विषय में प्रमाण क्या है? तो–(निगमः) मैं वेद ही प्रमाण हूँ। यदि कहो कि–मेरे स्वरूप में वेदों की प्रवृत्ति कैसे होती है? तो–(क्वचित्) कभी सृष्टि आदि के प्रसङ्ग में (अजया) माया के साथ। (रतः) क्रीड़ा करनेवाले (च) और। (आत्मना) निरन्तर सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द,एकरसरूप से। (चरतः) रहनेवाले। (ते) तुम्हारा। (निगमः) वेद। (अनुचरेत्) प्रतिपादन करता है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–"जय जयाजित जह्यगजङ्गमावृतिमजामुपनीतमृषागुणाम्। नहि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव॥" अर्थात्–हे अजित ईश्वर! तुम्हारी सदा जय हो, मिथ्यागुण दिखलाकर इन स्थावर जङ्गम प्राणियों को ढकनेवाली इस अविद्या को नष्ट करो, तुम्हारे विना यह जीव कुछ नहीं कर सक्ते हैं; और तुम्हारी गुणसागरता वेद-शास्त्रों में गान करीहुई ॥१४॥

१ 'हृ ग्रहोर्भश्छन्दसि'. इस सूत्र से 'ह' के स्थान में 'भ' होनेपर गृभीत शब्द बना है।

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ य आत्मनि तिष्ठन् ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ यः सर्वज्ञः स सर्ववित् ॥

लब्धमेतदवयंत्यवशेषतया यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ॥ अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवंति भुवि दत्तपदानि नृ-

वेदों में इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं का प्रतिपादन करा है ऐसा देखने में आता है; तहाँ मेरा वर्णन कहाँ है? ऐसा कहो तो-(एतत्) यह। (उपलब्धम्) दीखनेवाला, इन्द्र अग्नि आदि स्थावरजङ्गमरूप सकल जगत्। (बृहत्) ब्रह्मरूप तुम ही हो, ऐसा। (अवयन्ति) विद्वान् पुरुष जानते हैं। यदि कहो कि कैसे? तो (अवशेषतया) प्रलयकाल में सब का नाश होनेपर भी तुम ही शेष रहते हो इस से। इसका कारण यह है कि (यतः) जिन तुम (अविकृतात्) अविकारी ब्रह्म से। (मृदि वा) जैसे मृत्तिकामें से घड़े आदि पदार्थों की उत्पत्ति और नाश होते हैं, परन्तु अन्त में वह मृत्तिका ही सत्य रहती है, तिसीप्रकार। (विकृतेः) विकार को प्राप्त होनेवाले जगत् के (उदयास्तमयौ) उत्पत्ति और नाश। (स्तः) होते हैं। सो तुम जगतरूप विवर्त्त के अधिष्ठान निर्विकार होकर उपादानकारण भी हो; इसकारण इन्द्रादिकों का प्रतिपादन करनेवाली जो श्रुति हैं वह भी वास्तव में तुम्हारा ही प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि इन्द्रादि देवता तुम से भिन्न नहीं हैं। (अतः) इसकारण (ऋषयः) मंत्रों ने, मन्त्रों को तपोबल से देखनेवाले ऋषियों ने (मनोवचनाचरितम्) मन में लायेहुए वा वचन से उच्चारण करेहुए, इन्द्रादिक नाम। (त्वयि) तुम्हारे विषै। (दधुः) धारण करे हैं अर्थात् निराले २ वज्रहस्त आदि विकारों पर धारण नहीं करे हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि-(नृणाम्) भूमिपर रहनेवाले मनुष्यों करके। (दत्तपदानि) कहीं भी रक्खेहुए चरण। (कथम्) कैसे। (अयथा) भूमिपर न रक्खेहुए। (भवन्ति) होसक्ते हैं? अर्थात् मट्टी, पत्थर, ईंट आदि किसी भी पदार्थपर रक्खेहुए मनुष्यों के चरण जैसे भूमिका आधार छोड़कर नहीं रहते हैं तैसे ही इस सृष्टि में के किसी भी विकार का वर्णन करनेवाले वेद, परमार्थरूप और सब के कारण

१ 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इत्यादि। तथा 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' इत्यादि।

२ चिन्तामणि, मन्त्र, कामधेनु आदि विकार को न पानेवाले पदार्थों से दूसरे विकारी इच्छित पदार्थों के उत्पत्ति नाश होते हैं, ऐसा प्रसिद्ध ही है।

३ यहाँ 'वा' शब्द उपमा अर्थवाला है।

४ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'।

५ अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्त्तः। अर्थात् अतत्त्वरूप से अन्यथाभाव की प्रतीति को विवर्त्त कहते हैं, जैसे सीपी में चाँदी की प्रतीति होना।

६ कार्यजननार्थमुपादीयमानं कार्यान्वितं कारणम्। अर्थात् कार्य उत्पन्न करने को ग्रहण किया जाता हुआ कार्ययुक्त कारण उपादानकारण कहाता है। जैसे मृत्तिका घट आदि के और सुवर्ण आभूषण आदि के रचने को ग्रहण करेजाते हैं, वह सदा कार्यों में अनुगत (युक्त) रहते हैं।

७ सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

णाम् ॥ १९ ॥ इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमलक्षपणकथाऽमृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ॥ किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः परम भजंति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥ दृतय इव श्वसंत्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा

ऐसे तुम्हारा ही प्रतिपादन करते हैं ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–' द्रुहिणवन्हिरवीन्दुमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम्। बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्त्तिरतो विनिगद्यसे ॥' अर्थात्–ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता ही क्या यह उत्पन्न हुआ सकल जगत् तुम से भिन्न नहीं है, इसकारण अनेकों प्रकार के देवताओं का वर्णन करनेवाले भी वेद के मन्त्रों से अनेकों मूर्त्तिवाले तुम अजन्मा परब्रह्म ही वर्णन करेजाते हो ॥ १९ ॥ अब, तुम ही सकल श्रुतियों के गोचर हो ऐसा साधुओं की प्रवृत्ति से दृढ करते हैं कि–(त्र्यधिपते !) हे त्रिगुणमायारूप हरिणी को नचानेवाले । (परम !) हे सर्वों के कारण परमेश्वर ! (इति) तुम ही सब का कारण होने से परमार्थरूप हो ऐसा जानकर । (सूरयः) विवेकी पुरुषों ने (तव) तुम्हारी (अखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिम्) सकल लोकों के पापों को दूर करनेवाली तुम्हारी कथाओंरूप अमृत के समुद्र को । (अवगाह्य) अवगाहन अर्थात् सेवन करके । (तपांसि) पाप वा दुःखों को (जहुः) त्यागन करा है । अर्थात् जब तुम्हारी कथाओं को सुनने आदि से ही सकल सन्ताप दूर होते हैं तो-- (ये) जो । (पुनः) फिर । (स्वधामविधुताशयकालगुणाः) तुम्हारे स्वरूप के स्फुरण से ही अपने अन्तःकरणोंमें के राग आदि धर्म्मों का और काल के वृद्धावस्था आदि धर्म्मों का त्याग करके । (अजस्रसुखानुभवम्) अखण्ड आनन्द के अनुभवरूप । (पदम्) तुम्हारे स्वरूप को (भजन्ति) सेवन करते हैं (ते +) उन्होने । (तपांसि +) सकल सन्तापों को । (जहुः +) त्यागा । (किमुत) इसका कहनाही क्या ? ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–'सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः । त्वयि सुभद्र गुणश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः ॥' अर्थात् हे परमकल्याणरूप परमेश्वर ! सकल वेदादिकों में तुम्हारे सद्गुणों का वर्णन है इसकारण सकल बुद्धिमान् साधुपुरुषों ने तुम्हारे विषैं चित्त लगाया और वह तुम्हारे गुणों का श्रवण आदि करने से तथा तुम्हारे चरणकमल का स्मरण करने से सांसारिक दुःखों से छूटगये ॥ १६ ॥ अब, कितनी ही वेद

१ तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय ।

२ ' तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते । न कर्मणा लिप्यते पापकेन ॥ तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते ॥ एत ँह वाव न तपति ॥ किमहं साधु नाकरवं । किमहं पापमकरवम् ।' इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं ।

महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ॥ पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु

की श्रुतियें ऊपरके दो श्लोकों में कहेहुए सेवन को न करने की निन्दा करती हैं, सोई कहते हैं कि-(देव!+) हे देव! (असुभृतः) प्राणधारी। (यदि) जो। (ते) तुम्हारे (अनुविधाः) अनुगामी भक्त हैं। (तर्हि +) तब तो। (श्वसन्ति) जीते हैं, अर्थात् सफलजीवनवाले हैं। (इतरथा +) नहीं तो। (दृतयः-इव) लुहार की धोंकनियों की समान (श्वसन्ति +) श्वास लेते हैं अर्थात् लुहार की धोंकनी के वायु की समान उन के श्वास मातापिता आदि को सन्ताप देनेवाले व्यर्थ ही हैं। यदि कहो कि -भक्ति न करनेवालों को भी जीवन का काम आदि फल है तो-(महदहमादयः)महत्तत्त्व और अहङ्कार आदि तत्वों ने भी। (यदनुग्रहतः) जिन के अनुग्रह से,अर्थात् जिन तुम्हारे रचना के अनन्तर अपने में प्रवेश करने से सामर्थ्य-युक्त होकर। (अण्डम्) समष्टि व्यष्टिरूप ब्रह्माण्ड को (असृजन्) उत्पन्न करा है। अर्थात् ऐसे परम अनुग्रह करनेवाले भी तुम्हारा भजन न करनेवालों को उलटा कृतघ्नपनारूप दोष प्राप्त होकर वह विषयभोग आदि फल भी नहीं मिलता है। यदि कहो कि--किसप्रकार का मैं उपासना करने योग्य हूँ? तो-(यः) जो। (अन्नमयादिषु) अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय इन पाँच कोशों में। (पुरुषविधः) तिनतिन अन्नमय आदि कोशों की समान आकारवाला, अर्थात् देह, प्राण, मन, बुद्धि, और ज्ञान इन स्वरूपों से उच्चारण कराजाता है सो तुम हो। यदि कहो कि-चैतन्यस्वरूप रहनेवाले मुझे तिन २ अन्नमयादि कोशों का आकार कैसे प्राप्त होता है? तो-(अत्र) इन कोशों में। (अन्वयः) तुम्हारा अन्वय है अर्थात् जैसे काठ में अग्नि का अन्वय होता है तैसे अन्वय है इसकारण तिस २ का आकार प्राप्त होता है। यदि कहो कि-तो फिर मैं सत्य और असङ्ग कैसे होसक्ता हूँ? तो-(चरमः) अन्तिम अवधिरूप हो अर्थात् अन्नमयादि कोशों का वर्णन चलने पर पुच्छ[3]भाव से अवधि मानकर वर्णन कराहुआ जो सो तुम हो। अच्छा तो भी अन्नमयादि कोशों में अन्वय होने के कारण असङ्गपने की हानि ही होयगी? ऐसा कहो तो-(सदसतः) स्थूलसूक्ष्मरूप अन्नमयप्राणमय आदि कोशों से। (परम्) व्यतिरिक्त, अर्थात् अन्नमयादि कोशों का साक्षी। (एषु) इन में। (अवशेषम्) अवशेष रहनेवाला, अर्थात् तिन अन्नमयादि कोशों का 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से अपवाद होने पर भी शेष रहनेवाला, (अथ) और। (ऋतम्)

१ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः तथा ॥ न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ॥ ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति ॥ इत्यादि श्रुतियें ॥

२ स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेव शिरः इत्यादि प्रमाण से।

३ अन्नपुच्छं प्रतिष्ठा इत्यादि वेद में कहाहुआ ॥

यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ १७ ॥ उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरं ॥ तत उदगादनंत तव धाम

सत्यस्वरूप। (यत्) जो ब्रह्म! (तत् +) सो। (त्वम्) तुम। (असि +) हो। यदि कहोकि–जो मैं ऐसा सत्यस्वरूप ब्रह्म हूँ तो उन अन्नमय आदि कोशों में मेरा अन्वय कैसे कहा ? तो–तुम्हारे शुद्ध स्वरूप का निरूपण करने के निमित्त शाखाचन्द्रन्याय से अन्वय कहा है, अर्थात् जैसे किसी की दृष्टि चन्द्रमा पर पहुँचाने के निमित्त कहते हैं कि-देखो वह वृक्ष की शाखा पर चन्द्रमा है, तो क्या शाखापर चंद्रमा होता है ? नहीं, किन्तु चन्द्रमा का निरूपण करने को ऐसा कहते हैं तिसी प्रकार तुम्हारे शुद्ध स्वरूप का निरूपण करने के निमित्त ही अन्नमयादि कोशों में तुम्हारा अन्वय कहा है वास्तव में तो तुम सत्यस्वरूप असङ्ग हो ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–'नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः ॥ नरहरे न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः ॥ अर्थात्–हे भक्त के सङ्कट दूर करने के निमित्त नृसिंहावतार धारनेवाले परमात्मन्! यदि मानवशरीर को पाकर, श्रवण, वर्णन और भली प्रकार स्मरण आदि करके तुम्हारा भजन नहीं करते हैं तो यह मनुष्यों का श्वास लेकर जीना लुहार की धोंकनी के वायु की समान है तिस से निरर्थक है ॥ १७ ॥ अब ' उदरं[1] ब्रह्मेत्यादि ' श्रुति, ईश्वर के विषैं मन का प्रवेश होने के निमित्त उपासनाओं के भेद कहती हैं कि–(अनन्त!) हे अनन्त!। (ऋषिवर्त्मसु) ऋषियों के सम्प्रदायमार्गों में। [ये] जो। (कूर्पदृशः[2]) स्थूलदृष्टि पुरुष। (सन्ति +) हैं। (ते +) वह। (उदरम्[3]) उदर में के मणिपूरचक्र में रहनेवाले ब्रह्म को। (उपासते) ध्यान के द्वारा उपासना करते हैं। (आरुणयः) अरुण के वंश में उत्पन्नहुए ऋषि (परिसरपद्धतिम्[4]) सर्वत्र नाड़ियें फैलने के मार्ग ऐसे। (हृदयम्) हृदय में स्थित। (दहरम्) सूक्ष्मरूप को। (उपासते +) ध्यान करते हैं। क्योंकि– (ततः) तिस सूक्ष्म से। (परमम्) सर्वोत्तम अर्थात् ज्योतिर्मय। (तव) तुम्हारा। (धाम) प्राप्ति स्थान अर्थात् सुषुम्नानाड़ीरूप स्थान। (शिरः) मस्तकपर्यन्त। (उदगात्) ऊपर को गयाहुआ है। अर्थात् मूलाधार-

१ उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते, हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो, ब्रह्मा हैवैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ॥ इत्यादि ॥

२ कूर्पं शर्करारजो विद्यते दृक्ष्वक्षिषु येषां ते तथा रजःपिहितदृष्टयः स्थूलदृष्टय इति यावत्।

३ उदरालम्बनं मणिपूरकस्थं ब्रह्म।

४ परितः सरन्ति प्रसर्पन्तीति परिसरा नाड्यस्तासां पद्धतिं मार्गं प्रसरणस्थानमित्यर्थः।

५ शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्तीति।

शिरः परमं पुनरिह यत्समेत्य न पतंति कृतांतमुखे ॥ १८ ॥ स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ॥ अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं विरजधियोऽन्वयंत्यभिविपण्यव एकरसं ॥१९॥

चक्र से हृदय के मध्य में को होकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त ऊपर को गयाहुआ है; उस की ऐसी महिमा है कि–(यत्) जिस सुषुम्नानाडीरूप स्थान को । (समेत्य) प्राप्त होकर । (पुनः) फिर । (इह) यहाँ । (कृतान्तमुखे) मृत्यु के मुखरूप संसार में । (न) नहीं । (पतन्ति) पडते हैं ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–' उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः॥ हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥' अर्थात्–मुनियों के प्रचार करेहुए मार्गों के द्वारा, मणिपूरकचक्र आदि के विषैं ध्यान करेहुए जो दिव्यरूप भगवान् पुरुषों के मृत्यु के भयरूप संसार अर्थात् आवागमन को दूर करते हैं [मुक्ति देते हैं] उन हृदय में विद्यमान सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर की हम उपासना करते हैं ॥१८॥ अब, यदि ईश्वर को भी जीवात्मा की समान उदर आदि का सम्बन्ध है तो कौनसी विशेषता है जो उन की उपासना करें ? इस शङ्का को दूर करनेवाली 'एको देव इत्यादि' श्रुतियें स्तुति करती हैं कि–(प्रभो +) हे प्रभो ! । (त्वम् +) तुम । (स्वकृतविचित्रयोनिषु) अपनी ही रचीहुई ऊच्च-नीच-मध्यमरूप देवता-तिर्यक्-और मनुष्य की योनियों में अर्थात् प्रकट होने के स्थानरूप कार्यों में । (हेतुतया) कारणरूप से । (विशन्-इव) प्रवेश करते हुए से । अर्थात् उपादानकारणरूप से पहिले ही विद्यमान होकर भी तदनन्तर प्रवेश करेहुए से होकर । (स्वकृतानुकृतिः) अपनी ही रचीहुई तिन २ देवता आदि योनियों का अनुकरण करतेहुए । (तरतमतः) उत्तम अधम आदि न्यूनाधिकभाव से । (अनलवत्) अग्नि की समान । अर्थात्-जैसे अग्नि स्वयं तारतम्य (छोटा बड़ापन) रहित होकर भी काठके अनुसार बड़े-छोटे-मोटे आदि रूपवाला प्रतीत होता है तैसे, (चकास्सि) भासते हो । (अथ) इसकारण । (अभिविपण्यवः) इसलोक और परलोक में भोगनेयोग्य कर्म्मों के फलों से रहितहुए । (विरजधियः) निर्मलबुद्धिपुरुष । (वितथासु) मिथ्याभूत । (अमूषु) इन देवमनुष्य आदि योनियों में । (अवितथम्) सत्य । (समम्) समान । (एकरसम्) एकरसरूप । (तव) तुम्हारे । (धाम) स्वरूप को । (अन्वयन्ति) जानते हैं । अर्थात्-अखण्डैश्वर्यरूप तुम भगवान् को, उपाधि का कराहुआ

१ एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

२ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्-इति श्रुतिः ।

३ अभि-वि-उपसर्गपूर्वकस्य पणव्यवहार इत्यस्य धातो रूपं पण्युरिति, तस्य बहुवचने, अभिविपण्यवः, अभितो विगतव्यवहाराः, ऐहिकामुष्मिककर्मफलरहिता इत्यर्थः ।

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ॥ इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं भवत उपासतेंऽघ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥२०॥ दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरि-

न्यूनाधिकभाव न होने के कारण तुम ही उपासना करनेयोग्य हो ऐसा जानते हैं॥ श्रीधरजी की अनुकृति—'स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्। सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तमुपास्महे ॥' अर्थात् अपने रचेहुए कार्यकहिये देवमनुष्यादि शरीरों में, न्यूनाधिकभावरहित, सर्वव्यापी, सत्यस्वरूप भगवान् की हम उपासना करते हैं ॥ १९ ॥ अब स यश्चेत्यादि, श्रुति, यह जीव वास्तव में भगवत्स्वरूप ही है, ऐसा बोधन करतीहुई अवतार धारण करनेवाले भगवान् के भजन का प्रकार कहती हैं- (देव+) हे देव ! (अमीषु) इन। (स्वकृतपुरेषु) अपने कर्म्मों से करेहुए मनुष्यादिशरीरों में। (भोक्तृत्वेन +) भोक्तापने से। (विद्यमानम्+) विद्यमान। (परम्+) परन्तु। (अबहिरन्तरसंम्वरणम्) कार्यकारणरूप आवरणों से रहित। (पुरुषम्) जीव को। (अखिलशक्तिधृतः) सकलशक्तियों के आश्रय पूर्णरूप। (तव) तुम्हारे। (अंशकृतम्) अंश की समान और करेहुए की समान अर्थात् अंशरूप और रचाहुआसा प्रतीत होता है और वास्तव में स्वद्रूपही है ऐसा। (वदन्ति) तत्त्वज्ञानीपुरुष कहते हैं। (इति) इसप्रकार अर्थात् जीव के तत्त्व का निर्णय करेविना परब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होगी इसकारण। (नृगतिम्) जीवके तत्त्व को। (विविच्य) विचारकर। (कवयः) तत्त्वज्ञानी पुरुष। (विश्वसिताः+) विश्वासयुक्त होतेहुए अर्थात् भगवान् के चरण की शरण लेने से ही संसार का दुःख दूर होगा, अन्यथा नहीं;ऐसा विश्वास रखतेहुए। (निगमावपनम्) शास्त्र में कहेहुए सकल कर्म अर्पण करने के खेतरूप अर्थात् जहाँ अर्पण करेहुए सकल कर्म मुक्तिरूप फल देनेवाले होते हैं ऐसे। (अभवम्) संसार को दूर करनेवाले। (ते) तुम्हारे। (अंघ्रिम्) चरण को। (भुवि) इस भूलोक में। (उपासते) पूजनवन्दनादि करके सेवन करते हैं (यही इस भूलोक में उचित है)॥ श्रीधरजी की अनुकृति 'त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्। त्वदंघ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्त्तय ॥' अर्थात्—हे परमानन्दस्वरूप ईश्वर ! तुम्हारे अंशरूप मेरे, तुम्हारी माया के करेहुए बन्धन को, तुम अपने चरण की सेवा का उपदेश देकर, दूर कर दो ॥ २० ॥ यदि कोई भक्ति को छोटा साधन कहे तो उचित नहीं, ऐसा माननेवाली कितनी ही श्रुतियें भक्ति का महत्त्व

१ स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। तत्त्वमसि।
२ बहिः कार्यम्, अन्तरं कारणम्, तयोः सम्वरणेन रहितम्।
३ अंश इव अंशः, कृत इव कृतः; तम्।
४ निगमोक्तकर्मणामावपनमासमन्तादुप्यते ऽस्मिन्नित्यावपनं क्षेत्रम्।

श्रमणाः ॥ न परिलषंति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥ त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ॥ न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो यदनुशया

वर्णन करती हैं कि (ईश्वर)हेईश्वर!(दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय) दुर्बोध आत्मतत्त्व का ज्ञान होनेके निमित्त। आत्ततनोः (अवतार धारण करनेवाले । (तव) तुम्हारे । (चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः) चरित्ररूप महासमुद्र में स्नान करके श्रमरहित हुए । (केचित्) कोई । अर्थात् विरले ही भक्तिरासिक पुरुष । (ते) तुम्हारे । (चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः) चरणकमल के विषैं हंसकी समान रमण करनेवाले भक्तजनों के कुलोंसे होनेवाली सङ्गति करके घरद्वार आदि का करा है त्याग जिन्होंने ऐसे । (सन्तः+) होतेहुए।अर्थात् भक्तों के संग से घर आदि को छोड़कर श्रवणकीर्त्तन आदि में निमग्न होतेहुए तिस ही सुख से तृप्तहुए वह । (अपवर्गम्-अपि) मोक्ष को भी (न) नहीं । (परिलषन्ति) चाहते हैं । अर्थात् जब मोक्ष ही नहीं चाहते तो फिर दूसरे इन्द्रपद आदि की इच्छा क्या करेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं करेंगे । इसकारण तुम्हारी भक्ति-मुक्तिसे भी अधिक है । श्रीधरजी की अनुकृति–'त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः । कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥' अर्थात्–हे भवगवन् ! कोई विद्वान् तुम्हारी कथारूप अमृत के समुद्र में विहार करतेहुए,परम आनन्द से युक्त होकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग को तृण की समान समझते हैं ॥२१॥ अब 'आराममस्य पश्यन्ति इत्यादि, इत्यादि श्रुतियें वारंवार ऊँचे स्वरसे परमात्मा ईश्वर के ऊपर प्रेम करने का उपदेश करती हैं कि–(त्वदनुपथम्) तुम्हारी सेवा में उपयोगी होनेवाला । (इदम्) यह । (कुलायम्) शरीर। (आत्मसुहृत्प्रियवत्) आत्मा, सुहृद् और प्रिय की समान । (चरति) स्वाधीनता से वर्ताव करता है । (तथा) तथापि । (आत्मनि) आत्मा । (प्रिये) प्रिय । (हिते) हित । (च) और(उन्मुखे) संसार से तारने के विषय में सन्मुख खडे । अर्थात् ऐसे सब प्रकार सुख से सेवन करनेयोग्य भी । (त्वयि) तुम्हारे विषैं । (जीवाः +) प्राणी । (न) नहीं । (रमन्ति) 'श्रवणकीर्त्तन सखाभाव आदि के द्वारा' रमण करते हैं । (बत) यह बड़ेदुःख की वार्त्ता है । केवल रमण ही करते नहीं इतनाही नहीं किन्तु–(असदुपासनया) देह आदिकों के लालनपालन आदि करके । (आत्महनः) आत्मघात करलेते हैं।

१ यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति श्रुतिः । व्याख्यातञ्च सर्वज्ञभाष्यकृद्भिः—मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्त इति ।

२ आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन । न तं विदाथ य इमाजजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥ निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ॥ स्त्रिय उरगेंद्रभोगभुजदण्डवि-षक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ २३ ॥ क इह नु वेद

वह आत्मघात ऐसा है कि—(यदनुशयाः) जिन देहादिकों के लालनपालन आदि की वा-सना को धारण करनेवाले वह जीव । [कुशरीरभृतः] श्वान सूकर आदि की निन्दित योनियों को धारण करतेहुए । [उरुभये] अनेकों भयों से युक्त संसार में [भ्रमन्ति] भ्रमते हैं । इसकारण ही उन को आत्मघाती समझना चाहिये ॥ श्रीधरजी की अनुकृति— 'त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह । कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति॥' अर्थात् हे भगवन् ! इस संसारमें मेरा ऐसा मानुष जन्म कब होगा कि जब जगन्नाथ आत्मस्वरूप तुम्हारे विषैं मेरा मन रमेगा॥२२॥ अब, 'आत्मा वारे द्रष्टव्य इत्यादि '[१]श्रुतियें, भक्ति के अङ्गरूपसे ध्यानका उपदेश करतीहैं कि—(प्रभो +)हे प्रभो! (निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोग-युजः)जिन्होंने अपने प्राण,मन और इन्द्रियों को वशमें करलियाहै ऐसे दृढ़योगकरनेवाले। (मुनयः)ऋषि। (हृदि) हृदय में।(यत्) जिस तुम्हारे तत्त्व को । [उपासते] ध्यान करते हैं।[तत्] उस ही तुम्हारे तत्त्व को । [अरयः] शत्रु(अपि) भी ।(तव) । तुम्हारे । (स्मरणात) स्मरण से । (ययुः) प्राप्तहुए हैं । और (उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड-विषक्तधियः) शेषजी के शरीर की समान कोमल भुजदण्ड पर आसक्तचित्त हुईं । (स्त्रियः) स्त्री गोपियें । (तथा +) तैसे ही । (अंघ्रिसरोजसुधाः) तुम्हारे चरणकमल का उत्तम प्रकार से चिन्तवन करनेवालीं । (समदृशः) समता कहिये देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहितपने से देखनेवालीं । (वयम्) हम श्रुतियों की अभिमानिनी देवता अथवा [२]गोपीरूपता को प्राप्तहुईं हम श्रुतियें । (अपि) भी । (ते) तुम्हें । (समाः) समानहैं । इस प्रकार तुम्हें सबही समान हैं अर्थात् तुम्हारे स्मरण की ऐसी ही महिमाहै कि-जो योगी तुम्हारी हृदय में उपासना करते हैं, जो शत्रु द्वेष से तुम्हारे परिच्छिन्नरूप का चिन्तवन करते हैं, जो स्त्रियें कामातुर होकर तुम्हारे परिच्छिन्नरूप का ध्यान करती हैं और हम तुम्हें अप-रिच्छिन्नरूप से देखती हैं, इन सबों को वह तुम्हारा ध्यान समानरूप की प्राप्ति करादेता है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति -'चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम् । यथा कथञ्चिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम् ' अर्थात् हे देव ! परमदुर्लभ जो, प्रेम के साथ तुम्हारा स्मरण सो,

१ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । इत्यादिः ।

२ श्रुतीनां गोपीरूपत्वमुक्तं बृहद्वामने 'तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो विज्ञा वरं यन्मनसेप्सितम् ।' इति भग-वदुक्ताः श्रुतय ऊचुः ' यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा-जनि नस्तथा ॥ ' इति प्रार्थितो भगवानुवाच ' व्रजे गोप्यो भविष्यथेति ॥ '

वतावरजन्मलयोऽग्रसरं यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ॥ तर्हि न सन्न

हे नृहरे! जिसकिसी प्रकार भी मुझे रात्रि-दिन हो ॥ २३॥ अत्र 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'[1] इत्यादि श्रुतियें, भगवान् के तत्त्व को जानना कठिन है, ऐसा कहतीहुई, भक्ति को ही स्वीकार करके स्तुति करती हैं कि-(वत) अहोभगवन्! (इह) इस जगत् में। (अग्रसरम्) पहिले से ही होनेवाले (त्वाम् +) तुम को (अवरजन्मलयः) इधर का उत्पत्ति और नाश से युक्त (कः-नु) कौन पुरुष? (वेद) जानता है, कोईनहीं जानता अर्थात्-पहिले होनेवाला पुरुष पीछे होनेवाले पुरुष के वृत्तान्त को जानता है, पीछे होने वाला पुरुष, पहिले के पुरुष का वृत्तान्त नहीं जानता है,जैसे पिता, पुत्र के जन्म आदि का वृत्तान्त जानता है परन्तु पुत्र, पिता के जन्म आदिका वृत्तान्त नहीं जानता है तैसेही पूर्व सिद्ध तुम ही केवल अनन्तर उत्पन्नहुए जीवों के सब वृत्तान्त को जानते हो, वह जीव तुम्हारे वृत्तान्त को नहीं जानते हैं अब ईश्वर पूर्वसिद्ध और जीव अर्वाचीन है इस विषय में प्रमाण कहनेवाली श्रुतियें, जीवों को ज्ञान न होने का कारण कहती हैं कि-(यतः) जिन तुम से (ऋषिः) ब्रह्माजी। (उदगात्) उत्पन्न हुए। [यम्-अनु] जिन ब्रह्माजी के अनन्तर। [उभये] दो प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता अथवा निवृत्तिनिष्ठ सनकादिक और प्रवृत्तिनिष्ठ मरीचि आदि यह दो प्रकार के। [देवगणाः] देवगण। (उत्पन्नाः ×) उत्पन्न हुए। आगे के और जीव उन के भी पीछे के हैं। और [यदा] जब। [अवकृष्य] सकल जगत् को अपने में समेटकर। [शयीत] शयन करते हो। [तर्हि] तब। अर्थात् तुम्हारे पीछे शयन करनेवाले जीवों को ज्ञान प्राप्त होनेका साधन ही नहीं होताहै, क्योंकि-उससमय (सत्) आकाश आदि स्थूल पदार्थ। [न] नहीं। [असत्] महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म पदार्थ। [न] नहीं [उभयम्] स्थूलसूक्ष्मात्मक शरीर। [च+] भी। [न+] नहीं। [च] और [कालजवः][2] उसका निमित्तभूत, काल का वेग। [न] नहीं]। तैसेही-[तत्र] तिससमय [किमपि] इन्द्रिय, प्राण, मन आदि कुछ भी। तथा [शास्त्रम्]उन को बोध करनेवाले वेदपुराण आदि शास्त्र। [न] नहीं। इसकारण उससमय भी जीवों को तुम्हारा ज्ञान नहीं होता है। इस सत्र का अभिप्राय यह है कि-उरली ओर की सृष्टि में उत्पन्न होकर देह आदि उपाधि के कारण तुम से बहुत पृथक् हुए और कालवश करके

[1] यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ॥ कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥ अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ॥ तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ इत्यादि ॥

[2] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्, इति ।

चासदुभयं न च कालजवः किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥ २४ ॥
जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त

मलिनान्तःकरणहुए जीवों को ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति नहीं है। और जब प्रलयकाल के समय तुम में और इन में बहुतसा अन्तर नहीं होता है तब ज्ञान का साधन न होने के कारण, इन को तुम्हारा ज्ञान नहीं होता है इसकारण इन जीवों ने, अनन्य शरणागत होकर तुम्हारी भक्ति करी है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–क्वाहं बुद्धयादिसंरुद्धः क्व च भूमन्महस्तव । दीनवन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश ॥' अर्थात् हे दीनवन्धो! हे दयासिन्धो! हे नृहरे! कहाँ मैं बुद्धि आदि से बँधाहुआ? और कहाँ तुम्हारा तेज? इसकारण हे भूमन्! मुझे भक्ति दो ॥ २४॥ अब 'सदेव सौम्येदमित्यादि' श्रुतियें, उपदेश करनेवाले लोकों के भी मतभेद होने के कारण अनेकों भ्रम हैं इसकारण उन से तत्त्वज्ञान होना कठिन है ऐसा कहती हैं-(असतः) सृष्टि के पहिले न होनेवाले इस जगत की । (जनिम्) उत्पत्ति को । (ये +) जो वैशेषिक (स्मरन्ति) कहते हैं । अथवा ऐसा अर्थ करना कि–(असतः) जीव में पहिले न होनेवाले ब्रह्मत्व की । 'योग साधन के द्वारा'। (जनिम्) उत्पत्ति को । (ये ×) जो पातञ्जल (स्मरन्ति) कहते हैं (सतः) सत् कहिये पञ्चज्ञानेन्द्रियें और मन यह छः ६ इन्द्रियें, इन के छः ६ विषय, और छः ६ ज्ञान, एक शरीर, एक सुख तथा एक दुःख ऐसे इक्कीस प्रकार के दुखों के। (मृतिम्) नाशरूप मोक्ष को (ये +) जो गोतममतवाले नैयायिक । (स्मरन्ति +) कहते हैं। (उत) और भी । (आत्मनि) जीवात्मा और परमात्मा में । (भिदाम्) घटाकाश और मठाकाश की समान भेद को । (ये) जो सांख्य आदि । (स्मरन्ति +) कहते हैं । और । (विपणम्) कर्मफल को । (ऋतम्) सत्य । (ये +) जो मीमांसक । (स्मरन्ति) कहते हैं । (ते) वह निराला २ उपदेश करनेवाले सब ही मतवादी । (आरुपितैः) आरोप करेहुए भ्रमों से ही । (उपदिशन्ति) उपदेश करते हैं । अर्थात् वह

१ सदेव सौम्येदमग्र आसीत् । असद्वा इदमग्र आसीत् । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । अनीशया शोचति मुह्यमानः अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः । स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः । जघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा वहुधा चैव दृश्यते वहुचंद्रवत् । इत्यादि श्रुतिविरोधात् .

२ सप्तपदार्थवादी नवीन तार्किक जिन को 'काणाद' कहते हैं वह वैशेषिक होते हैं ॥

३ योगशास्त्र रचनेवाले, उन का यह आशय है कि-जैसे तांवा आदि धातु पहिले सुवर्णरूप न होकर सुवर्णकारक औषधि का पुट देनेपर सुवर्ण होजाता है तैसे ही पहिले से ब्रह्मरूप न होनेवाला भी जीव, योगशक्ति से ब्रह्मरूप होजाता है.

४ अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति.

आरुपितैः ॥ त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २८ ॥ सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्सदभिमृशंत्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः॥नहिं विकृतिं त्यजंति कनकस्य तदात्मतया स्व-

तत्त्वदृष्टि से उपदेश नहीं करते हैं,क्योंकि—यह सब मत हमारे अद्वैत मत से विरुद्ध हैं। हाँ वह अन्तर्यामी आत्मा यदि वास्तव में त्रिगुणमय होता तो इनका कहनाहोसक्ता। परन्तु [पुमान्] पुराणपुरुष आत्मा। [त्रिगुणमयः] त्रिगुणमय है। [इति] इस कारण से जो [भिदा] भेद आदि मानना है सो। [यत्] क्योंकि। [त्वयि] तुम्हारे विषैं। [अबोधकृता] अज्ञान करके उत्पन्न है। तिस से [सः] वह भेद। (ततः) तिस अज्ञान से। [परत्र] परलीओर के। [अबोधरसे] ज्ञानघनरूप तुम्हारे विषैं। [न] नहीं [भवेत्] होसक्ता। श्रीधरजी की अनुकृति—' मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तरभ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम्। श्रीमन्माधव! वामन! त्रिनयन! श्रीशङ्कर! श्रीपते! गोविन्देति मुदा वदन्मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम्॥ ' अर्थात् हे प्रभावशालिन्! मिथ्या तर्कोंसे परमकर्कश पुरुषों के कहेहुए वादरूप अन्धकार में भ्रमनेवाले मन्दमति पुरुष को, तुम्हारा ज्ञानमार्ग दुर्गम है। हे श्रीमन्! हे माधव! हे वामन! हे त्रिनेत्र! हे शङ्कर! हे श्रीपते! हे गोविन्द! हे मधुपते! इस प्रकार आनन्द के साथ कहताहुआ मैं, कब मुक्त होऊँगा?॥ २९ ॥ अब, यदि असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती है, और पुरुष त्रिगुणमय नहीं है, ऐसा होय तो यह सब प्रपञ्च और पुरुष भिन्न नहीं हैं ऐसा होयगा, परन्तु उन के भेद की प्रतीति तो अनुभव में आती है, ऐसा कैसे होता है? ऐसा कोई कहे तो— ' असतोऽधिमन इत्यादि ' श्रुतियें कहती है—(मनः) मन के द्वारा ही विलसित होनेवाला। (इदम्) यह। (त्रिवृत्) त्रिगुणात्मक जगत्। (आमनुजात्) अन्तर्यामी पुरुषपर्यन्त। (असत) मिथ्याभूत होकर। (सत्-इव) अधिष्ठानरूप आत्मा की सत्यता से सत्यसा। (विभाति) प्रतीत होता है। अब आत्मज्ञानी पुरुषों को भी यह जगत् सत्य ही है ऐसा भासता है, फिर उस को खोटा कैसे कहाजासक्ता है? ऐसा कोई कहे तो— [आत्मविदः) आत्मज्ञानी पुरुष। [इदम्] भोक्ताभोग्यरूप इस। (अशेषम्) सकल जगत् को। [आत्मतया] आत्मता करके अर्थात अधिष्ठानरूप आत्मा की सत्ता करके। [सत्] यह सत्य है ऐसा (अभिमृशन्ति) जानते हैं। आत्मा से भिन्न सत्यरूप नहीं जानते हैं, इस विषय में लोकाचार दिखाते हैं कि—(कनकार्थिनः +) सुवर्ण लेने की इच्छा करनेवाले पुरुष। [कनकस्य] सुवर्ण के। [विकृतिम्] विकाररूप कुण्डलादिक पदार्थों को। [नहि] नहीं। [त्यजन्ति] त्यागते हैं। [परम् +] किन्तु। [तदात्मतया] सुवर्ण-

१ असतोऽधिमनोऽसृजत, मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत.

कृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितं ॥ २८ ॥ तव परि ये चरंत्यखिलसत्वनिकेततया त उत पदाक्रमंत्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ॥ परिवयसे पशूनिव गिरा

रूपता करके ही । [गृण्हन्ति +] गृहण करते हैं। तैसे ही–[स्वकृतम्] आत्मा करके स्वयं उपादान कारण होकर कराहुआ। और [अनुप्रविष्टम्] तिस पुरुषरूप आत्मा करके भीतर प्रवेश कराहुआ। [इदम्] यह भोक्तृभोग्यात्मक जगत्। [आत्मतया] आत्मारूप ही है ऐसा। (अवसितम्) आत्मज्ञानी पुरुषों ने जाना है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–'यत्सत्त्वतः सदाभाति जगदेतदसत्त्वतः । सदाभासमसत्यस्मिन्भगवन्तं भजाम तम् ॥' अर्थात्–स्वयं असत्स्वरूप यह जगत्, जिन की सत्ता से सत् प्रतीत होता है ऐसे इस असत्रूप जगत् में सत्रूप से भासनेवाले तिन भगवान् का हम भजन करते हैं ॥ २६ ॥ अब 'सत्यं ज्ञानमित्यादि' श्रुतियें, भक्ति करके ही ज्ञान सुलभ होता है ऐसा वर्णन करती हैं–(प्रभो +) हे प्रभो ! (अखिलसत्त्वनिकेततया) तुम सकलप्राणियों के आश्रयस्थान हो ऐसा जानकर। (ये) जो पुरुष। (तव) तुम को, (परिचरन्ति) सेवन करते हैं। (ते) वह। (उत) ही। (अविगणय्य) तिरस्कार करके। (निर्ऋतेः) मृत्यु के। (शिरः) शिर को। (पदा) चरण से। (आक्रमन्ति) दवाते हैं। अर्थात् मृत्यु को जीतकर मोक्ष पाते हैं; उन के कृतार्थ होने में कोई सन्देह नहीं है। (त्वयि) तुम्हारे विषैं। (कृतसौहृदाः) किया है प्रेम जिन्होंने ऐसे। (ते) वह पुरुष। (खलु) निःसन्देह। (पुनन्ति) पवित्र करते हैं अर्थात् अपने को तो पवित्र करते हैं सो करते ही हैं परन्तु दूसरों को भी भक्तिमार्ग का उपदेश कर पवित्र करके तारदेते हैं। (ये) जो। (विमुखाः) तुम से विमुख कहिये अभक्त हैं। (ते +) वह। (न +) नहीं। (पुनन्ति) पवित्र करते हैं। अर्थात् वह अपने को भी पवित्र नहीं करते फिर दूसरों को कहाँ से पवित्र करेंगे ? क्योंकि–(विबुधान्) विद्वान्। (अपि) भी। (तान्) तिन अभक्तों को। [त्वम् +] तुम ! [गिरा] वेदरूपवाणी के द्वारा। [पशून्-इव] पशुओं की समान अर्थात् जैसे रज्जु से वृषभ आदि पशुओं को बाँधते हैं तैसे तिन २ कर्मों के अधिकार के अनुसार। [परिवयसे] बाँधते हो। इसकारण तुम्हारे भक्तों को ही ज्ञान और मोक्ष सुलभ

१ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
२ अत्र कर्मणि षष्ठी ।
३ छन्दसि व्यवहिताश्चेति यच्छब्देन व्यवधानमदोषः ।
४ तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि । तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम् ।
५ देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरावित्यादिः ।

विबुधानपि तांस्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनंति न ये विमुखाः॥२७॥त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहंति समदंत्यजयाऽनिमिषाः ॥ वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः

है, दूसरों को नहीं ॥ श्रीधरजी की अनुकृति--'तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् । यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति ॥' अर्थात् मनुष्य, पञ्चाग्नि के तापों से तपें, पर्वतों पर से गिरें, तीर्थों की यात्रा करते फिरें, शास्त्रों को पढ़ें, दर्शपौर्णमास आदि यागों से यजन करें और नानाप्रकार के वादों से विवाद भी करें परंतु श्रीहरि का आश्रय लिये विना मृत्यु को नहीं तरसक्ते ॥२७॥ अब'अपाणिपाद इत्यादि' श्रुतियें भगवान् ही सुन्दर सेवन करनेयोग्य हैं ऐसा वर्णन करती हैं--(प्रभो+) हे प्रभो ! । (त्वम्) तुम । (अकरणः) स्वयं इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित । और (अखिलकारकशक्तिधरः) सब प्राणियों की इन्द्रियों की शक्तियों के प्रवर्त्तक । (स्वराट्) स्वतःसिद्धज्ञानवान् । (असि +) हो । इसकारण (अनिमिषाः) इन्द्रादिक देवता । [विश्वसृजः] ब्रह्मादिक । [अजया] अविद्यासहित । [तव] तुम्हारे । [बलिम्] पूजन के उपहार को । [उद्वहन्ति] समर्पण करते हैं । और [समदन्ति] भक्षण करते हैं । [च] भी । अर्थात् जैसे सेवक पुरुष, अपनी स्त्रियोंसहित, स्वामी की सेवा करते हैं तैसे ही इन्द्रादिक देवता और उन के भी पूजनीय ब्रह्मादिक भी, अपनी अविद्या से युक्त होतेहुए तुम्हें बलि समर्पण करते हैं अर्थात् तुम्हारी सेवा करते हैं और मनुष्यों के दियेहुए हव्यकव्यादिरूप बलि को आप भी भक्षण करते हैं । इस में दृष्टांत-[वर्षभुजः] किसी खण्ड के स्वामी राजे । [अखिलक्षितिपतेः-इव] चक्रवर्त्ती राजा को जैसे । अर्थात् जैसे थोड़े २ देशों के स्वामी राजे, अपने प्रजाओं के दियेहुए करभेट आदि को ग्रहण करके, चक्रवर्त्ती राजाको स्वयं कर भेटरूप से समर्पण करते हैं तैसे ही ब्रह्मादिक देवता भी बलि समर्पण करते हैं । यदि कोई कहे कि-क्यों तो--[भवतः] कालरूप तुम से । (चकिताः] प्राप्तहुआ है भय जिन को ऐसे । [सन्तः+) होतेहुए । (यत्र) जिस सृष्टि रचने आदि कर्मके ऊपर (ये) जो ब्रह्मादिक । (तु) तो । (अधिकृताः) नियुक्त करेहुए हैं । (ते +) वह । (तत् +) उस कर्म को । (विदधति) करते हैं । अर्थात् आप की आज्ञा का पालन करना यही उन का बलि समर्पण करना हे ॥ श्रीधरजी की अनुकृति-'अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक् । सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम् ॥ ' अर्थात् जो देव इन्द्रिय आदिरूप उपाधियों से रहित होकर भी सकल इन्द्रियों की शक्तियों को धारण करनेवाले, स-

१ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ।

२ भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥

॥ २८ ॥ स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ॥ नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥ २९ ॥ अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि

र्वज्ञ और सबके कर्त्ता हैं उन सब के सेवन करनेयोग्य परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २८ ॥ इस प्रकार इन्द्रियों के प्रवर्त्तक ईश्वर का, इन्द्रियों के वशीभूत मनुष्य सेवन करते हैं; ऐसा कहा. अब 'यथाग्नेरित्यादि' दूसरी श्रुतियें, इतने ही कारण से प्राणी ईश्वर का सेवन करते हैं ऐसा नहीं है किन्तु उन से स्वयं उत्पन्नहुए हैं इसकारण उन का सेवन करते हैं, ऐसा वर्णन करने के निमित्त कहती हैं कि (विमुक्त) हे नित्यमुक्त ईश्वर ! (ततः) माया से । (परस्य) पर, अर्थात् माया के भी प्रेरक । (तव) तुम्हारी । (यदि) जब । (अजया) मायाके साथ।(उदीक्षया) केवल अवलोकनमात्रसे ही । (विहरः)क्रीडा। (भवति+)होती है । (तदा+) तब।(उत्थनिमित्तयुजः) 'तुम्हारे अवलोकनमात्रसे' जिन के कर्म और कर्मयुक्त लिङ्गशरीर प्रकटहुए हैं ऐसे ।(स्थिरचरजातयः)स्थावर और जङ्गम जाति के जीव । (स्युः) उत्पन्न होते हैं । इससे तुम्हारे विषैं कोई विषमता नहीं आती है ।क्योंकि– [परमस्य] परमदयालु । [वियत इव] आकाश की समान सम । [शून्यतुलाम्] शून्य की समता को । [दधतः] स्वीकार करनेवाले । और [अपदस्य] वाणी तथा मन के अगोचर [तव×] तुम्हें । [कश्चित्] उन जीवों में से कोई । [अपरः] अपना । अथवा [परः] पराया । (च) भी । [नहि] नहीं । [भवेत्] होता । इसकारण उन जीवों को तुम्हारा समानभाव से सेवन करनाही उचित है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–'त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः । जातान् संसरतः खिन्नान्नृहरे पाहि नः पितः॥, अर्थात्-हे नृहरे ! हे पितः ! तुम्हारे अवलोकनमात्र से क्षोभ को प्राप्त हुई माया करके जागृत होनेवाले कर्मों करके उत्पन्नहुए और जन्म मरणरूप संसार को प्राप्त तथा खिन्नहोनेवाले हमारी तुम रक्षाकरो ।२९। इसप्रकार परमात्मा से अविद्योपाधिक जीव होते हैं और वह उन परमात्मा की सेवा करते हैं ऐसा कहा । अब, यदि उन की अविद्या एक है तब तो उस से बँधेहुए जीवके भी एक होनेसे एक की मुक्ति होनेपर सब की मुक्ति होने का दोष आवेगा और यदि अविद्याओं को नाना (बहुतसी) मानें और जीवात्मा एक मानेतो एक अंश में अविद्या दूर होने पर भी उसही जीवात्मा का अन्य अंश में संसार दूर न होने के कारण किसी की मोक्ष ही नहीं होगी इस से अविद्या एक और जीवात्मा (अनेक) माना है । वह जीवात्मा यदिअत्यन्तसूक्ष्म

१ यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाःसर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति । इत्यादि ॥

२ न पद्यत इत्यपदस्तस्य वाङ्मनसयोरगोचरस्येत्यर्थः ॥

न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ॥ अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियंतृ भवे-त्सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥ न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयो-

हैं तो देहव्यापि चैतन्य नहीं बनसकेगा और देहकी समान परिमाणवाले जीवात्मा हैं ऐसा मानेंगे तो उन को सावयव होनेके कारण अनित्यता प्राप्त होगी और ऐसा होनेपर पर-लोक के साधनों की भी व्यर्थता होयगी इसकारण वह जीव वास्तव में सर्वगत और नित्य हैं ऐसा कितने ही नैयायिक आदि मानते हैं. उन के मत का दूषण करनेवाली कितनी ही एक श्रुतियें कहती हैं-(ध्रुव) हे नित्यस्वरूप प्रभो ! [जीवाः] जीव। [यदि] जो। [अपरिमिताः] वास्तव में असंख्यात। [ध्रुवाः] नित्य। (च) और। [सर्वगताः] सर्वव्यापक। (स्युः) हों। [तर्हि] तो। [तेषाम्+] उन का। 'तुम्हारी समानता होने के कारण, [शास्यता] शिक्षा पाने के योग्यपना। [न] नहीं होसकेगा। [इति] इसकारण (भवता +) तुम्हारे द्वारा। (नियमः) उन का नियमन। [न] नहीं। (स्यात्) होगा। [इतरथा] और तैसा न होनेपर। [नियमः +] तुम से उन का नियमन (घटते +) बन सक्ता है। क्योंकि-(यन्मयम्-च) जिस बिम्बरूप ब्रह्म से अविद्या आदि उपाधि के कारण विकाररूप (जीवाख्यम् +) जीवनामक प्रतिबिम्ब । (अजनि) उत्पन्न हुआ है। (तत्) वह बिम्बरूप ब्रह्म। (अविमुच्य) 'अपने प्रतिबिम्बरूप जीवविकार का। कारणरूप से उस का त्याग न करके। (नियन्तृ) नियमन करनेवाला। (भवेत्) होयगा। यदि कहो कि-वह कौनसा है ? तो-(समम्) जो सर्वत्र अनुस्यूत कहिये पुराहुआ है यदि कोई कहे कि-'जो, वह' ऐसे संकुचित शब्दों से क्यों कहते हो ? यदि होय तो स्पष्टरूप से उस का वर्णन करो, तो-(मतदुष्टतया) जानने में आईहुई वस्तुको दोष होने के कारण। [अनुजानताम्] हम जानते हैं ऐसा कहनेवालों को। [यत्]जो। [अमतम्] प्रायः समझने में नहीं आया है। वह यत् तत् [जो, वह] शब्दों से प्रका-शित न होनेवाला, अतर्क्य और सकल पदार्थों में व्याप्त होकर रहनेवाला वस्तु ही जीवों का नियामक होयगा ॥ श्रीधरजी की अनुक्ति-' अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या-युक्त्या चैवमेवावसेयः। यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥' अर्थात् जिन को श्रुति ने और युक्ति ने सकल लोकों का अन्तर्यामी वर्णन करा है और जो ऐसा ही निश्चय करनेयोग्य हैं तथा जो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं उन श्रीमान् नृसिंह भगवान् को ही मैं चित्त से आश्रय करता हूँ ॥ ३० ॥ अब, बिम्बरूपी परमात्मा से जीव होते हैं

१ यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतां। अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु ॥

रजयोरुभययुजा भवंत्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ॥ त्वयि त इमे ततो विविधनाम-

इसकारण परमात्मा जीवों का नियन्ता और जीव नियम्य हैं, यदि ऐसा कहाजाय तो–जीवों को अनित्यपना प्राप्त होने से प्रतिदिन करेहुए कर्मादिकों का नाश और न करेहुओं की प्राप्ति होने का प्रसङ्ग होयगा और मोक्ष नाम से जीवके स्वरूप का नाश ही होजायगा। और सिद्धान्ती तो–स्वप्रकाश आनन्दमय जीवात्मा के अविद्या के करेहुए अनर्थों के दूर होने को ही मोक्ष कहता है। इसकारण यह विरोध हुआ, ऐसी कोई शङ्का करे तो–अन्तःकरण आदि उपाधियों के जन्म से ही जीवों के जन्म होते हैं, वास्तव में नहीं होते हैं, ऐसा कहने के निमित्त शङ्का करते हैं कि–जीवरूप से उत्पत्ति प्रकृति की होती है वा पुरुष की होती है? अथवा दोनों की होती है ? यदि कहो प्रकृति की जीवरूप से उत्पत्ति होती है तो–जीवों को जड़ता प्राप्त होयगी, यदि कहोगे कि–पुरुष की जीवरूप से उत्पत्ति होती है तो-पुरुष को विकारीपना प्राप्त होयगा; इसकारण ही दोनों की भी जीवरूप से उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा कहते हैं कि-(अजयोः) 'अजामेकामित्यादि' श्रुति में अजत्व कहिये जन्मरहित वर्णन करेहुए। (प्रकृतिपूरुषयोः) प्रकृति-पुरुष की अर्थात् केवल प्रकृति की वा केवल पुरुष की। (उद्भवः) जीवरूप से उत्पत्ति। (न) नहीं। (घटते) होसक्ती है। (उभययुजा) प्रकृति और पुरुष इन दोनों में एक का दूसरे के ऊपर अध्यास होने पर तिस से। (असुभृतः) प्राण आदि उपाधियों से युक्तजीव। (जलबुद्बुदवत्) जल के बुलबुलों की समान अर्थात् जैसे केवल वायु से और केवल जल से बुलबुले नहीं होते हैं किन्तु वह वायु और जल दोनों एकत्र मिलें तो तब ही उत्पन्न होते है तिसीप्रकार(भवन्ति) उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जैसे बुलबुले उत्पन्न होने में वायु निमित्त कारण है और जल उपादान कारण है तैसे ही जीवों की उत्पत्ति होने में प्रकृति निमित्त कारण है और पुरुष उपादान कारण है। तात्पर्य यह है कि–प्रकृति और पुरुष की एकता से जीवों की उत्पत्ति होती है और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों के बल से और उत्पत्ति के श्रवण करके जीव का जन्म औपाधिक है, वास्तविक नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। अब जीवों के लय का प्रकार कहते हैं कि–(ततः) वास्तव में जन्म नहीं है इसकारण से। (ते) वह। (इमे) यह जीव । (विविधनामगुणैः) नाम गुण आदि अपने नानाप्रकार के कार्योपाधियों के साथ। (परमे) उपाधिशून्य। (त्वयि) तुम्हारे विषैं। 'सुषुप्ति और प्रलय के समय'। (मधुनि) शहद में। (अशेषरसा इव) सकल

१ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।

गुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥ नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ॥ क-

फूलों के रसों की समान । अर्थात् जैसे शहद में सब ही फूलों के रस, विशेष करके भिन्न २ पहिचानने में नहीं आते हैं तथापि सामान्यरूप से समझ में आजाते हैं तैसे ही सुषुप्ति और प्रलयकाल में तुम्हारे विषैं लय को प्राप्तहुए जीव, यद्यपि विशेषरूप से समझने में नहीं आते हैं तथापि उन का कारण लिङ्गशरीर रहने के कारण सामान्यरूप से समझेजाते हैं और मुक्ति के समय तो-(अर्णवे) समुद्र में । (सरितःइव) जैसे नदियें । 'अपने नामरूपों को त्यागकर एकीभाव से लय को प्राप्त होजाती हैं तैसे ही सकल जीव निरुपाधिक तुम्हारे विषैं अपने जीवभाव को छोडकर(लिल्युः)एकीभावसे लय को प्राप्तहुए हैं॥श्रीधरजी की अनुकृति-'यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद्भाति विश्वं लयादौ जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत्सिन्धुमध्ये मध्येचित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम्॥'अर्थात्-जीवोंसहित यह विश्व जिन के विषैं कर्मानुसारप्रकट होकर फिर प्रलय आदि के समय लीन होताहुआ भासताहै और गुरुकी कृपा होनेसे केवल आत्मज्ञान प्राप्तहोनेपर,जैसे समुद्रमें नदियें नामरूपको छोड़तीहुई लीन होतीहैं तैसे ही एकसाथ जिनके विषैं अत्यन्त अन्त को अर्थात् एकीभावरूप मोक्षको प्राप्त होता है तिन त्रिलोकी के गुरु नृसिंह भगवान् को मैं चित्तके मध्य में ध्यान करता हूँ॥ ३१ ॥ इसप्रकार परमेश्वर से जीव उत्पन्न होते हैं और परमेश्वर के वशीभूत होकर कर्म करते हैं तथा फिर तिस परमेश्वर के विषैं ही लय को प्राप्त होजाते हैं ऐसा संसारचक्र में परिभ्रमण कहा । अब उस संसार के दूर होने के निमित्त 'परीत्य भूतानीत्यादि'श्रुतियें भगवद्भाव का वर्णन करती हैं-(अमीषु)इन। (नृषु) संसारी जीवों में। (तव)तुम्हारी । (मायया) मायाकरके । (अनुप्रभवम्) वारंवार जन्ममरणरूप। (भ्रमम्) भ्रमण को (अवगत्य) जानकर। (सुधियः) विवेकी पुरुष । (अभवे) संसार को दूर करनेवाले । (त्वयि) तुम्हारे विषैं । श्रवणकीर्त्तन आदि के द्वारा । (भृशम्) अत्यन्त । (भावम्) भक्ति को । (दधति) करते हैं। यदि कहो कि-उस भक्ति के करने से क्या होता है ? तो-

१ यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां संगमयन्ति ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥

२ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

३ परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाःप्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥

यमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयं ॥
॥ ३२ ॥ विजितहृषीकवायुभिरदांतमनस्तुरगं य इह यतंति यंतुमतिलोलमु-
पायखिदः ॥ व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज संत्यक्त-

(अनुवर्त्तताम्) तुम्हें शरण जाकर तुम्हारी भक्ति करनेवाले पुरुषों को । (भवभयम्) संसार का भय (कथम्) कैसे । (भवेत्+) होगा? अर्थात् कभी नहीं होगा । (यत) क्योंकि-(तव)तुम्हारा । (भ्रुकुटिः) भ्रुकुटि को चलानारूप । (त्रिणेमिः) शीत-उष्ण और वर्षा इन तीन भागवाला सम्वत्सरनामक काल । (अभवच्छरणेषु) जिन के तुम रक्षक नहीं हो ऐसे पुरुषों में ही । (भयम्) जन्ममरण आदिरूप भय को । (सृजति) उत्पन्नकरता है, इसकारण ही विचारवान् पुरुष तुम्हारी भक्ति करते हैं ॥ श्रीधरजी की अनुकृति-'संसारचक्रकचैर्विदीर्णमुदीर्णनानाभवतापतप्तम् । कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम् ॥ ' अर्थात्-हे नृसिंहभगवन् ! संसार चक्र के दाँतों से विदीर्णहुए और बढेहुए नानाप्रकार के सांसारिक तापों से तपेहुए एवं बडी कठिनता से किसी प्रकार इस संसार में मानवशरीर को प्राप्त होकर तुम्हारी शरण मे आयेहुए मेरा तुम उद्धार करो ॥ ३१ ॥ वह भगवद्भक्ति, मन को वश में करनेपर होती है और वह मनको वश में करना गुरु के आश्रय से होता है, इसकारण 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवेत्यादि' श्रुतियें,गुरु का आश्रय करने का वर्णन करती हैं कि-(अज) हे जन्मरहित परमेश्वर ! (विजितहृषीकवायुभिः) जिन्हों ने अपनी इन्द्रियों को और प्राणों को जीता है ऐसे योगियों करके। [अदान्तम्) वश में करने को अशक्य ऐसे [अतिलोलम्] अतिचञ्चल। [मनस्तुरगम्] अपने मनरूपी घोडे को । [यन्तुम्] वश में करने के निमित्त। [ये] जो। [यतन्ति] यत्न करते हैं। [ते] वह। [गुरोः] गुरु के। [चरणम्] चरण को । [समवहाय] त्यागकर । अर्थात गुरु के चरण का आश्रय न करके [उपायखिदः] दूसरे उपायों में क्लेश भोगतेहुए। [व्यसनशतान्विताः] सैकड़ों विघ्नों से तिरस्कार को प्राप्तहुए। (अकृतकर्णधराः) मल्लाहों का आश्रय न करनेवाले पुरुष। (जलधौ-इव) समुद्र में जैसे। ' दुःख पाते हैं। वैसे ही। (इह) इस जन्ममरणरूप संसार में। ' दुःख को प्राप्त। (सन्ति) हैं ॥ अर्थात् जैसे विनामल्लाहों के व्यापारी नदी में गोते खाते हैं तैसे ही विनागुरु के सांसारिक पुरुष संसारसमुद्र में गोते खाते हैं और मन निश्चल नहीं होता है परन्तु गुरु के बताये भगवद्भजनरूप सुख का अनुभव होनेपर तो मन स्वयं ही निश्चल होजाता है। श्रीधरजी की अनुकृति-' यदा परानन्दगुरो भव-

१ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । आचार्यवान् पुरुषो वेद। नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठेत्याद्याः श्रुतयः ॥

तद्कर्णधरा जलधौ ॥ ३३ ॥ स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैस्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ॥ इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां सुखयति कोन्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३४ ॥ भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदास्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदंघ्रिजलाः ॥ दधति सकृन्म-

त्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत । तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः ॥' अर्थात्–हे भगवन् ! हे परमानन्दस्वरूप गुरो ! जब आप की कृपा से मेरा मन आप के स्वरूप में स्थान पावे तो सकल साधनों के श्रम से रहित होकर परम सुख को प्राप्त करूँ॥ ३३॥ अब 'परीक्ष्य लोकान् इत्यादि' दूसरी कितनी ही श्रुतियें वैराग्य का वर्णन करती हैं कि–(श्रयतः) तुम्हारी सेवा करनेवाले पुरुष को । (सर्वरसे) सकल सुखों के स्थान ऐसे परमानन्दस्वरूप । (त्वयि) तुम । (आत्मनि) आत्मा के । (सति) प्राप्त होनेपर (स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैः) स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि, प्राण और रथ, आदि अतितुच्छ सुखके साधनों करके । (किम्) कौनसा लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है। (इति) ऐसे । (सत) परमार्थ सुख को । (अजानताम्) न जाननेवाले । और (मिथुनतः) स्त्री के साथ मिलकर (रतये) रतिसुख के निमित्त । (चरताम्) घर में रहनेवाले । (नृणाम्) पुरुषों को (स्वविहते) स्वयं नाशवान् । और (स्वनिरस्तभगे) स्वयं ही साररहित ऐसे । [इह] इस संसार में [कः-नु] भला स्वजन आदि कौनसा अर्थ । (सुखयति) सुख देनेवाला है ? अर्थात् कोई सुख देनेवाला नहीं है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति–' भजतो हि भवान् साक्षात्परमानन्दचिद्घनः ।आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः ॥' अर्थात्–हे भगवन् ! निःसन्देह, भजन करनेवाले को साक्षात् परमानन्द चैतन्यघन तुम आत्मा प्राप्त होजाते हो तो फिर इन तुच्छ स्त्री पुत्रादिकों से उस को क्या कार्य है ? अर्थात् कोई कार्य नहीं है ॥ ३४ ॥ इसप्रकार गुरुके उपदेश से आत्मतत्त्व को जानकर सार असार का विवेक होने से विरक्तहुए पुरुष को,सत्सङ्गति से तत्त्वसाक्षात्कार होता है, इस विषय में 'श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादि' श्रुतियें सदाचार का वर्णन करती हैं कि–(ये +) जो । (विमदाः) निरहङ्कारी । (भवत्पदाम्बुजहृदः) तुम्हारे चरणकमल का हृदय में ध्यान करनेवाले । और (अघभिदंघ्रिजलाः) अपने चरणोदक से लोकों के पापों का नाश करनेवाले । ऋषि हैं । (ते) वह । (उत) भी । सत्समागम होने के निमित्त (भुवि) भूतल पर । (पुरुपुण्यतीर्थसदनानि) बहुत पुण्यकारी तीर्थों का, भगवान् के मन्दिरों का और भगवान् के क्षेत्रों का (उपासते +) सेवन करते हैं । क्योंकि–

१ परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः अथ मर्त्योमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
२ श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । इत्यादयः ॥

नस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३९ ॥
सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं व्यभिचरति क च क च मृषा न तथो-

तहाँ ही प्रायः सत्समागम होता है (ते+) वह ऋषि। (पुनः) फिर। (पुरुषसारहरावसथान्) पुरुषों के विवेक, स्थैर्य, धैर्य, क्षमा, दया,शान्ति आदिकों को नाश करनेवाले घरों को। (न) नहीं। (उपासते) सेवन करते हैं। (प्रभो+) हे प्रभो! (ये) जो ऋषि। (नित्यसुखे) नित्यसुखरूपी। (त्वयि) तुम। (आत्मनि) आत्मा के विषैं। (सकृत्) एकबार भी। (मनः) मन को। (दधति) धारण करते हैं। वह भी विवेकादिकों का नाश करनेवाले गृहों का सेवन नहीं करते हैं, फिर पहिले कहेहुए परमसमर्थ ऋषि, घरों का सेवन नहीं करते इस का तो कहना ही क्या? श्रीधरजी की अनुकृति— 'मुञ्चन्नङ्गतदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन्सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्। नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृतस्रोतःसम्प्लवसम्प्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥' अर्थात्—हे प्रभो नृहरे! उन स्त्रीपुत्रादिकों के शरीरों के सङ्ग को त्यागता और रात्रिदिन तुम्हारा ही भलीप्रकार चिन्तवन करताहुआ तथा जहाँ जहाँ निरभिमानी सन्तजन हैं उन आश्रमों में वसताहुआ, नित्य उन के मुखरूप कमल से निकलेहुए तुम्हारी पवित्र कथारूप अमृत के स्रोत के प्रवाह में यथोचित स्नान करके मैं इस अनर्थ के मूल देह का न धारण करनेवाला अर्थात् मुक्त कब होऊँगा? ॥ ३९ ॥ अब कितनी ही श्रुतियें प्रश्नोत्तरों के द्वारा मननपूर्वक तत्वनिश्चय करने की रीति कहती हैं—तिस में पहिले प्रश्न—(इदम्) 'यह मैं और यहमेरा इसप्रकार प्रतीति में आनेवाला' यह सब द्वैत। (सत्) सत्यस्वरूप है। क्योंकि (सतः) ब्रह्मरूप सत्यवस्तु से। (उत्थितम्) उत्पन्नहुआ है। अर्थात् जो वस्तु जिस से उत्पन्न होताहै वह तद्रूप कहिये उस के रूपवाला ही होता है, ऐसा सब के देखने में आता है, जैसे सुवर्ण से उत्पन्नहुए कुण्डल आदि वस्तु सुवर्ण ही होते हैं तैसेही सत्यरूप ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यहसब द्वैत सत्यरूप ही है। (इति चेत्) ऐसा यदि मीमांसकों का प्रश्न होय तो, उसका उत्तर यह है कि— (ननु तर्कहतम्) यह तुम्हारा अनुमान विचार करने पर बाधित होता है। यदि कहो कि— कैसे तो—तुम द्वैतका सत्य वस्तु से अभेद करने की इच्छा करते हो, परन्तु उस को सिद्ध करने में तुमने जो कारण कहा, उसही कारण से वह सिद्ध न होकर उलटा द्वैत का भेद सिद्ध होता है, क्योंकि—सत्य वस्तु से उत्पन्न हुआ, इतना कहने से ही उस का सत्यवस्तु से निराला होना समझ में आता है, और जो सत्य से निराला है वह असत्य सिद्ध होता है, इस से तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। इसपर फिर प्रश्न करो कि—हम अभेद करने की इच्छा नहीं करते हैं किन्तु भेद का निषेध करना चाहते हैं, वह इसप्रकार कि—द्वैत, सत्य से निराला नहीं है, क्योंकि—वह सत्य से उत्पन्न हुआ है, जो जिस से उत्पन्न होता है वह

भयपुक् ॥ व्यवहृतये विकल्प इषितोऽधपरंपरया भ्रमयति भारती त उरुवृत्ति-

उस से निराला नहीं होता है, जैसे सुवर्ण से होनेवाले कुण्डल सुवर्ण से निराले नहीं होते हैं, इसप्रकार भेद का निषेध करने से अभेदही सिद्ध होता है ना ? । इस कथन का उत्तर यह है कि-(क्वच) कहीं । (व्यभिचरति) व्यभिचार को प्राप्त होता है अर्थात् जो जिस से उत्पन्न होता है वह उस से भिन्न नहीं होता है यह तुम्हारा कहना सर्वत्र ठीक नहीं बैठता देखो=पिता से उत्पन्न हुआ पुत्र और मुद्गर से होनेवाला घटप्रध्वंस (घट का टूटना) यह उन से निराले नहीं होतेहैं क्या? किन्तु होतेही हैं । इसपर फिर प्रश्न करो कि-जो वस्तु जिस उपादान से उत्पन्न होती है वहवस्तु उस उपादान से कभीभी निराली नहीं होती । देखो-कुण्डल सुवर्णरूप उपादान से उत्पन्न हुए हैं वह उस सुवर्ण से कभीभी निराले नहीं रहते पिता और मुद्गर यह पुत्र और घटप्रध्वंस के उपादान कारण नहीं हैं किन्तु निमित्तकारण हैं इसकारण हमारे कहने में कुछ बाध नहीं आता है । इस कथन का दूषणरूप उत्तर यह है कि-(क्वच) किसी स्थानपर (मृषा) कार्य असत् ही होता है अर्थात् जो वस्तु जिस उपादान से होती है वह वस्तु तिस उपादानसे भिन्न नहीं होती है यह तुम्हारा अनुमान ठहरने वाला नहींहै, क्योंकि-रज्जुरूप उपादान से होनेवाला सर्प रज्जु से भिन्न होता है और रज्जु के सत्य होनेपर भी वह मिथ्या होता है । यदि उस को सत्य कहो तो जैसे कुण्डलों का बाध नहीं होता है तैसे सर्प का भी बाध नहीं होना चाहिये, वह होता है या नहीं ? अर्थात् होताही है । इसपर फिर यह प्रश्न है कि-रज्जु में भासनेवाले सर्प की केवल रज्जु ही उपादान कारण नहीं है किन्तु उस के साथ में दूसरा अज्ञान भी कारण है, इसकारण अज्ञानसहित रज्जु से होनेवाले सर्प का मिथ्यात्व होता है; परन्तु केवल सत्य ब्रह्म उपादान से होनेवाले जगत् में मिथ्यापना नहीं आवेगा; इसकारण यह जगत्रूप द्वैत मिथ्या नहीं है किन्तु सत्य है । इसकथन का दूषणरूप उत्तर कहते हैं कि-(उभययुक्) सत्यरूप ब्रह्म और उस के साथ में की अविद्या इन दोनों उपादानों से होनेवाला यह द्वैतरूप प्रपञ्च भी । (तथा) सत्य । (न) नहीं है । किन्तु ब्रह्म और अविद्या दोनों से उत्पन्न होने के कारण रज्जु में भासनेवाले सर्प की समान मिथ्या ही ठहरता है, सत्य नहीं सिद्ध होता । इस पर फिर प्रश्न होता है कि-इस कहेहुए कारण से द्वैतरूप प्रपञ्च का सत्यत्व नहीं बनता परन्तु हम दूसरे कारण से प्रपञ्च का सत्यत्व सिद्ध करते हैं कि-यह द्वैत सत्य है, क्योंकि-इस से ' घडे से जल लाना आदि ' कार्य सिद्ध होते हैं,जो सत्य नहीं हो उस से कार्य सिद्ध नहीं होता है;जैसे सीपी में भासनेवाला रजत (चाँदी) सत्य नहीं होता है, क्योंकि-उस से कार्य सिद्ध नहीं होता है; ऐसा कहने का उत्तर यह है कि-(व्यवहृतये) व्यवहार के निमित्त । (विकल्पः) भ्रम । (इषितः) इच्छित है अर्थात् खोटे रुपये से भी कभी कभी व्यवहार चलताहुआ देखने में आता है, सत्य ही पदार्थ सदा व्यवहारमें चाहिये ऐसा नहीं है;इसकारण प्रपञ्च का व्यवहार चलाने

के निमित्त द्वैतरूपीभ्रम को ग्रहण करना चाहिये यह हमें इष्ट है। इसपर फिर प्रश्न होता है कि–जो वस्तु एक स्थानपर सत्य होती है उस का दूसरे स्थानपर जो आरोप (धोखा) होना उस को भ्रम कहते हैं, जैसे सर्प को एक स्थानपर सत्य देखा होता है तो उस का रज्जुपर आरोप होता है अतएव वह भ्रम होता है; तैसे ही ब्रह्म में द्वैत का भ्रम होने के विषय में दूसरे स्थानपर द्वैत सत्य होना चाहिये । आकाशपुष्प अत्यन्त ही असत्य है इसकारण उस का दूसरे स्थान में आरोप नहीं होता है तैसे द्वैत अत्यन्त ही असत् होता तो उस का ब्रह्म में आरोप नहीं होता, और वह तो हुआ है, इस से द्वैत सत्य सिद्ध होकर तुम्हारा अद्वैत ही सत्य है ऐसा सिद्ध नहीं होता है । इस कथन का खण्डनरूप उत्तर यह है कि–(अन्धपरम्परया) अन्धपरम्परा करके, जो भ्रम (आरोप) वह व्यवहार चलाने के निमित्त हमें इष्टहै, अर्थात् इस बड के वृक्षपर मैंने पिशाच देखा है, ऐसा एकअन्ध ने दूसरे अन्धे से कहा, उसने तीसरे से, तिस ने चौथे से इसप्रकार परम्परासे पिशाचके ज्ञान की समान जो निर्विवाद परिपाटी चलती होतीहै उस परिपाटी को अन्धपरम्परान्याय कहते हैं। कोईसा भी भ्रमहो वह पूर्वसंस्कारसे उत्पन्नहुआ होता है। उस भ्रममें, अपनेमें संस्कार है ऐसा सिद्ध करने के निमित्त, भ्रम होने की वस्तु(सर्पादिक) पहिले थी, केवल इतनी प्रसिद्धि की ही अपेक्षा होती है, वस्तु की सत्यता की अपेक्षा नहीं होती है। वस्तु सत्य नहीं हो तो भी उस की एकवार प्रसिद्धि होनेपर वह भ्रम उत्तरोत्तर चलता ही जाता है । इन्द्रियों का अगोचर भी ब्रह्म, स्वप्रकाशपने से स्फुरित होने के कारण तहाँ 'जैसे इन्द्रियों के अगोचर और साक्षिभास्य आकाश में कालेपने का और नानाप्रकार के आकार का भान होता है तैसे ही ' द्वैतरूप आरोप का भासमान होना योग्य ही है । अर्थात् ब्रह्म के विषैं अनादिकाल से असत् द्वैत की जो प्रतीति चली आरही है उस में प्रथम प्रथम भासेहुए द्वैत पर उत्तरोत्तर द्वैत के भासने का सम्भव है। द्वैत की जो प्रतीति होती है वह वास्तव में सत्य नहीं है किन्तु उस के सत्यपने का कारण, ब्रह्म की सत्तामात्र ही सत्य है; तिस से अद्वैत ही सत्य है ऐसा सिद्ध होता है । प्रपञ्चव्यवहार जो चलता है सो अन्धपरम्परा से मिथ्या ही चलता है इसकारण उस की सत्यता में जो अर्थक्रियाकारीपने का हेतु तुम ने कहा सो निष्फल है। इस पर यह प्रश्न होता है कि–' अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ' इत्यादि श्रुतियों ने, ' चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को अक्षय फल प्राप्त होता है '. इसप्रकार कर्मफल को नित्य कहा है ; सो मिथ्या कैसे होयगा, इसकारण वेद का वर्णन कराहुआ द्वैत सत्य है । इस कथन का खण्डनरूप उत्तर यह है कि–(भगवन् +) हे भगवन्! (ते) तुम्हारी । (भारती) वेदरूपवाणी ।(उरुवृत्तिभिः) गौणी और लक्षणा आदि वृत्तियों के द्वारा । (उक्थजडान्) कर्म की श्रद्धा के भार का दबाव पडने के कारण मन्दबुद्धिहुए पुरुषों को । (भ्रमयति) मोह में डालती है । अर्थात् वेद कर्मफल को नित्य नहीं मानता है किन्तु लक्षणावृत्ति के द्वारा कर्मफल की प्रशंसामात्र करता है ; यदि ऐसा

भिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥ न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमित-
मंतरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ॥ अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वित-

नहीं कहाजाय तो 'तद्यथेह कर्मचित इत्यादि' श्रुतियों से विरोध आवेगा । इसकारण वेद सकाम पुरुषों से, अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ कर्म कराने के निमित्त, कर्मों के फल की स्तुति करके,उन कर्मों की प्रीति उत्पन्न करता है॥ श्रीधरजीकी अनुकृति-'उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः कुर्वत्कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवं परः । अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम् ॥' अर्थात्-हे हरे ! यह भुवन सत्रूप तुम से उत्पन्नहुआ है परन्तु सत्रूप रज्जु से उत्पन्नहुए सर्प की समान, सत् नहीं है, और इस संसार में अर्थक्रियाकारी होकर भी खोटे सुवर्ण की समान भ्रमरूप है, और कर्मफल की नित्यता को कहनेवाला वेद भी वास्तवरूप से कर्मफल को सत्य नहीं कहता है किन्तु उपाधिग्रस्त जीव के अन्तःकरण की कर्मद्वारा शुद्धि होने के निमित्त कर्मफल की प्रशंसामात्र करता है । तुम्हारे तिस सत्स्वरूप परमानन्द परमपद को ही मैं आनन्द के साथ प्रणाम करता हूँ । हे लक्ष्मी करके स्तुति करेहुए भगवन् ! तुम्हारे चरणों में नम्रहुए मुझे तुम न त्यागो॥३६॥ इसप्रकार प्रपञ्च की सत्यता के विषय में कोई साधक नहीं है ऐसा कहा, अब उस की असत्यता के विषय में 'यतो वा इमानि इत्यादि, सृष्टिप्रलय विषयक श्रुतियें प्रमाण हैं और अनुमान भी होता है, ऐसा कहते हैं कि-(यत्) क्योंकि-(इदम्) यह जगत् । (अग्रे) सृष्टि से पहिले । (न) नहीं । (आस) था । और । (निधनात्) प्रलय से । (अनु) पीछे । (न) नहीं । (भविष्यत्) होगा । (अतः) इस से । (अन्तरा) सृष्टि और प्रलय की मध्यदशा में (एकरसे) केवल एकरस (त्वयि) तुम्हारे स्वरूप में । (मृषा) मिथ्यारूप । (विभाति) भासता है, (इति) ऐसा । (मितम्) निश्चित है । (अतः) इसकारण । (द्रविणजातिविकल्पपथैः उपमीयते) मृत्तिका, सुवर्ण, लोहा आदि पदार्थों के घट, कुण्डल और कुदाल आदि भेदों के प्रकारों से समानता करके इस का निरूपण करते हैं अर्थात् जैसे घट, कुण्डल और कुदाल आदि कार्यरूप पदार्थों के अनेकों नाम उच्चारणमात्र करने में आते हैं परन्तु सत्य मृत्तिका सुवर्ण आदि ही हैं, तैसे ही यह आकाश आदि कार्य नाममात्र हैं और सत्य ब्रह्म ही है । इसप्रकार इस प्रपञ्च की सत्यता के विषय में प्रमाण न होकर मिथ्यापने में बहुत से प्रमाण होने के कारण-(विततमनोविलासम्)व्यर्थ और मनोविलासमात्र,ऐसे इस प्रपञ्च को जोकोई पुरुष,(ऋतम्) सत्य है । (इति) ऐसा । (अवयन्ति) जानते हैं । वह (अबुधाः) अज्ञानी हैं । इस विषय में ऐसा अनुमान है कि-यह द्वैत सत्य नहीं है क्योंकि-यह आदि और अन्त से रहित है, विकारी है और दृश्य कहिये दीखने में आ-

१ तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते । एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति इत्यादि ।

थमनोदिलासमृतमित्यवयंत्यवुधाः ॥ ३७ ॥ स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेतभगः ॥ त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥३८॥यदि न समुद्धरंति

नेवाला है, अतः जो आदि और अन्त में नहीं रहता है, विकारी और अदृश्य होता है वह सत्य नहीं होता, जैसे सीपी में प्रतीति होनेवाला रजत आदि में और अन्त में नहीं होता है, विकारी और दृश्य होता है इसकारण सत्य नहीं होता है तैसे ही जो वस्तु आदि और अन्त में होती है, विकारी और दृश्य नहीं होती है वह सत्य होती है । जैसे आत्मा द्वैत के आदि और अन्त में होता है विकारी और दृश्य नहीं है इसकारण सत्य है ॥ श्रीधरजी की अनुकृति-' मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्कणीपरिणतं कनकं परमार्थतः । महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरे न परं परमार्थतः ॥' अर्थात्–हे नरहरे! जैसे परिणाम को प्राप्तहुए मुकुट, कुण्डल, कङ्कण और किङ्किणी आदि परमार्थरूप से सुवर्ण ही हैं तैसे ही यह महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाशें आदि सब वास्तव में ब्रह्म ही हैं ॥ ३७ ॥ अब यदि प्रपञ्च कुछ है ही नहीं,ऐसा कहाजायगा तो तिस मिथ्याभूत प्रपञ्च से चैतन्य के सम्बन्ध का लेश भी नहीं है ऐसा सिद्ध होयगा और ऐसा हुआ तो फिर जीव ने क्या अपराध करा है कि–जिस के द्वारा वह संसार पाता है अथवा ईश्वर का ऐसा कौनसा बडाभारी पुण्य है कि–जिस करके वह नित्यमुक्त है और उस समय कर्मकाण्ड का भी विषय क्या है ? ऐसी शङ्का आने पर 'द्वा सुपर्णा इत्यादि' श्रुति जीव ईश्वर की विशेषता का वर्णन करती हैं कि–(प्रभो +) हे प्रभो ! (सः) वह जीव । (यत्) जब । (अजया) तुम्हारी माया से, मोहित होकर । (अजाम्) अपनी अविद्या को । (अनुशयीत) आलिङ्गन करता है । तब । (गुणान्) देह इंद्रियादि जो गुणों के कार्य हैं तिन को । (जुषन्) सेवन करताहुआ अर्थात्–यह मेरा स्वरूप हैं ऐसा मानताहुआ (तदनु-सरूपताम्) और तिस के अनन्तर तिन देह इन्द्रियादिकों के धर्मों को। (जुषन्+) सेवन करताहुआ। (अपेतभगः) अपने आनन्द आदि गुणों के आवरण को प्राप्तहुआ (मृत्युम्) जन्ममरण आदिरूप संसार को । (भजति) प्राप्त होता है । उस के निमित्त ही कर्मकाण्ड की अपेक्षा है । (आत्तभगः) प्राप्त हैं नित्य ऐश्वर्य जिन को ऐसे । (त्वम्-उत) तुम तो । (अहिः) सर्प । (त्वचम्-इव) अपने ऊपर की त्वचा कहिये कैंचली को जैसे, यह उत्तम है और मेरी है ऐसा अभिमान नहीं करता है, तैसे ही तिस माया को 'यह उत्तम है इस बुद्धि से, तुम स्वीकार नहीं करते हो किन्तु । (ताम्) उस को।(जहासि)त्यागतेहो । और (परिमेयभगः) अपरिमित ऐश्वर्यसे युक्त होतेहुए। (अष्टगुणिते) अणिमादि आठ ऐश्वर्यों से युक्त। (महसि) सर्वोत्तम ऐश्वर्य के विषैं । (महीयसे)

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयारन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीतीत्यादिः ।

यतयो हृदि कामजटा दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः॥ असुतृपयोगि-नामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः॥ ३९॥ त्वदवगमी

पूजित होते हो। इसकारण ही नित्यमुक्त हो॥ श्रीधरजी की अनुकृति-' नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभिर्भावान्सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्। मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय ॥' अर्थात्-हे नृहरे! तुम्हारे कटाक्षरूप आँगन में जाकर काल स्वभाव आदि के साथ नाचनेवाली तुम्हारी माया, सत्त्व-रजः-और तमोमय भावों से बहुतों को उखाडकर मेरे शिरपर अतिभारी चरण को रख उससे दबाकर कुचलरही है इसकारण अति आतुरहुआ मैं तुम्हारी ही शरण आया हूँ, तुम अपनी उस माया को मेरे शिरपर से हटा दो ॥३८॥ इसप्रकार कहेहुए सकल साधनों से जो भगवान् का सेवन करते हैं वह मृत्यु को तरजाते हैं और अन्य पुरुष संसार को प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा। अब, जो बाहरी सङ्गति को त्यागकर भगवान् के मार्ग में को प्रवृत्त होनेपर भी फिर वमन (उलटी) का भक्षण करने की समान विषयों काही सेवन करते हैं उन को भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है और इस लोक में सुख भी नहीं मिलता है किन्तु उन को निन्दित योनि प्राप्त होती हैं इसकारण उन का शोक करतीहुईं, ' कामान् य इत्यादि ' श्रुतियें कहती हैं कि-(भगवन्) हे भगवन्! ।(ये +) जो। सकल संगों को त्यागकर। (यतयः) संन्यासी होकर। (हृदि) अपने हृदय में की। (कामजटाः) का की मूल ऐसी वासनाओं को। (यदि) जो। (न) नहीं। (समुद्धरन्ति) उखाडते हैं। तो उन। (असताम्) दुष्ट संन्यासियों को। (हृदि) हृदय में। (गतः) गयेहुए अर्थात् विद्यमान भी। (त्वम् +) तुम। (अस्मृतकण्ठमणिः-इव) जैसे कण्ठ में विद्यमान भी धारण कराहुआ मणि विस्मरण होजानेपर नहीं मिलता है तैसे उन दुष्ट संन्यासियों। (दुरधिगमः) बडी कठिनता से मिलते हो। और इतना ही नहीं किन्तु, उन (असुतृपयोगिनाम्) इन्द्रियों की तृप्ति करने मे तत्परहुए दम्भी योगियों को। (उभयतः) इस लोक में और परलोक में दोनों स्थानपर ।(अपि)ही। (असुखम्) दुःख प्राप्त होता है। यदि कहोकि-कैसे? तो-(अनपगतान्तकात्) न चूकेहुए मृत्युरूप तुम से। इस लोक में और [अनधिरूढपदात्] नहीं प्राप्त करा है स्वरूप जिन का ऐसे [भवतः] तुम से। परलोक में भय प्राप्त होता है अर्थात् उन को, लोकों को प्रसन्न रखना, धन प्राप्त करने आदि के क्लेश न दूर होने का तथा भोगों के वैभव लोक में प्रकट होने के भय का इस लोक में दुःख और तुम्हारे स्वरूप की जिस को प्राप्ति नहीं हुई ऐसे अविद्यायुक्त पुरुष को, कहेहुए वर्णाश्रमधर्मों का उल्लंघन होने के कारण तुम से प्राप्त होनेवाले दण्डरूप नरक प्राप्ति का परलोक में दुःख प्राप्त होता है॥श्रीधरजी की अनुकृति-' दम्भन्यासमिषेण

१ कामान् यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र।

न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः॥अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरंपरया श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः॥४०॥द्युपतय एव ते न

वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं संमुह्यंतमहर्निशं विराचतोद्योगक्रमैराकुलम् । आज्ञालंघिन मज्ञमज्ञजनतासम्माननासन्मदं दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम् ॥' अर्थात्-हे दीनानाथ ! हे दयानिधान ! हे परमानन्दस्वरूप ! हे प्रभो ! पाखण्ड धारण करने के मिष से संसार को ठगनेवाले,एक भोग की ही चिन्ता से आतुर, रात्रिदिन मोह को प्राप्त होनेवाले, करेहुए नानाप्रकार के उद्योगों के कष्टों से आकुलहुए, आप की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले,अनजान और अज्ञानियों के सम्मान का वृथा घमण्ड रखनेवाले मेरी रक्षा करो॥३९॥अब,संन्यासीको कुछभी कर्त्तव्य नहींहै,वह सुखके उपभोग करके केवल अपने प्रारब्ध कर्मों का क्षय करता है । फिर उस को इसलोक में और परलोक में सुख नहीं है, इसप्रकार उसकी निन्दा क्यों करते हो और ब्रह्मज्ञानी की तो बड़ी महिमा कही है, ऐसा कोई कहे तो उस के विषय में कहते हैं कि-(सगुण) हे षड्गुणऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर ! (त्वदवगमी) जिसको तुम्हारा ज्ञान होगया है वह पुरुष, (भवदुत्थशुभाशुभयोः) कर्मफल देनेवाले तुम ईश्वरसे प्रकटहुए अपने पुरातन पुण्यपापों के फलरूप (गुणविगुणान्वयान्) सुखदुःखों के सम्बन्धों को । (न) नहीं । (वेत्ति) जानता है । (तर्हि) उस समय । (देहभृताम्) देहाभिमानी लोकों की । (गिरः-च) प्रवृत्ति निवृत्ति करनेवाली विधिनिषेधरूप वाणियों को भी । (न +) नहीं। (वेत्ति+) जानता है । अर्थात् देहाभिमान छूट जाने के कारण उस को करनेयोग्य कर्मों का अथवा न करनेयोग्य कर्मों का सम्बन्ध नहीं रहता है और यह योग्यही है । (यतः) क्यों कि-(मनुजैः) मनुष्योंकरके ।(अनुयुगम्) प्रत्येकयुगमें।(गीतपरम्परया)प्रकटहोनेवाले सम्प्रदायोंकेउपदेशकेअनुसार(अन्वहम्)प्रतिदिन (श्रवणभृतः) श्रवण के द्वारा चित्त में धारण करेहुए । (त्वम्) तुम । (अपवर्गगतिः) उन को मोक्षगतिरूप । (भवसि+) होते हो । इस का तात्पर्य यह है कि-जिन पुरुषों को तत्त्वज्ञान होगया है उन को कर्म के अधिकार की शङ्का ही नहीं है और जो निरन्तर तुम्हारे श्रवण आदि में तत्पर हैं उन को भी तुम्हारे स्वरूप की प्राप्ति होती है इसकारण विधिनिषेध की वाधा नहीं है, हाँ दम्भी योगसाधन दिखाकर विषयलम्पट होनेवाले अन्य पुरुषों को इसलोक में और परलोक में सुख नहीं मिलता है ॥श्रीधरजी की अनुकृति-'अवगमं तवमे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः।श्रवणवर्णनभावमथापि वा नहि भवामि यथा विधिकिङ्करः ॥ ' अर्थात् हे माधव ! तुम मुझे अपना ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान दो जिस से मुझे सुख दुःख का समागम न हो । अथवा मुझे श्रवण कीर्त्तन की भक्ति दो, जिस से कि-मैं कर्मजाल का किङ्कर न बनूँ ॥ ४० ॥ अब तुम्हारे स्वरूप को जाननेवाला पुरुष, सुख दुःख और विधि निषेध को नहीं जानता है ऐसा कहा, तहाँ दुर्ज्ञेय बताकर कहाहुआ जो तुम्हारा स्वरूप सो कैसे जाना जायगा ? ऐसी शङ्का होतो ठीक है; परन्तु तुम्हारी महिमा

ययुरंतमनंततया त्वमपि यदंतरांऽडनिचया ननु सावरणाः॥ ख इव रजांसि वांति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलंत्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१ ॥

वाणी के और मन के अगोचर है इसकारण उस महिमा का अविषयरूप से ही ज्ञान होता है ऐसा समझे, यह दिखाते हुए 'यदूर्ध्वं गार्गी[1] इत्यादि, श्रुतियों से वर्णन करीहुई अपरित महिमा कहते हैं कि-(भगवन् +) हे भगवन् । (द्युपतयः) स्वर्गादि लोकों के स्वामी ब्रह्मादिक । (एव) ही । (ते) तुम्हारे । (अन्तम्) अन्त को । (न) नहीं । (ययुः) प्राप्तहुए । ब्रह्मादिकों की तो वार्त्ता अलगरहे परन्तु (त्वम्-अपि) सर्वज्ञ तुमभी । (आत्मनः) अपने। (अन्तम् +) अन्त को (न+) नहीं । (यासि +) प्राप्त होते हो । (अनन्ततया) क्योंकि तुम्हारा अन्त नहीं है । तो फिर सर्वज्ञपना और सर्वशक्तिपना कैसा ? यदि ऐसा कहो तो-जो अन्त है ही नहीं, उस को नहीं जानने से सर्वज्ञपने की वा अन्त प्राप्त नहींहुआ इस से सर्वशक्तिमान्पने की हानि नहीं होती है, क्योंकि-शशा कहिये खरगोश के सींग नहीं होते हैं, सो उन शशाके सींगों को न जानने के कारण सर्वज्ञता की और उन को न पाने के कारण सर्वशक्तिमानपने की हानि नहीं होती है,क्योंकि-जो वस्तु हो उस को न जानने से सर्वज्ञता में कमी आती है और जो वस्तु है ही नहीं उस को न जानने से कौन हानि है ? इसीप्रकार जब तुम्हारा अन्त है ही नहीं तो उस को तुम ने नहीं भी जाना तो तुम्हारी सर्वज्ञता में कुछ हानि नहीं है। अब यदि कहो कि-मेरा अनन्तपना कैसे है तो-[खे] आकाश में। [वायुना +] वायु करके । [रजांसि-इव) जैसे रज के कण घूमते हैं तैसे। [यदन्तरा] जिन तुम्हारे विषैं । (सावरणाः) उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिव्यादि सात आवरणों सहित । [अण्डनिचयाः] ब्रह्माडों के समूह । [वसया-सह] कालचक्र के साथ। [वान्ति] एकसाथ घूमते हैं । अर्थात् क्रम से न घूमकर एकसाथ घूमते हैं । [ननु] यह कैसे आश्चर्य की बात है! (हि) क्योंकि । (अतएव +] इसकारण ही। [भवन्निधनाः] तुम्हारे विषैं परिसमाप्ति को पानेवाली । [श्रुतयः] श्रुतियें । [अतन्निरसनेन] स्थूलत्व आदि जड पदार्थों का निरास करके निषेधमुख से । [त्वयि] तुम्हारे विषैं। (फलन्ति) तात्पर्यवृत्ति से सफल होती हैं । अर्थात् अवधि के विना निषेध हो नहीं सक्ता, इसकारण अवधिरूप तुम्हारे विषैं निषेधमुख से परिसमाप्ति को प्राप्त होकर सफल होती हैं ॥ श्रीधरजी की अनुकृति-' द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुतिमौलयः । त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥' अर्थात्-हे अनन्त ! स्वर्गादि लोकों के स्वामी ब्रह्मादिकों ने तुम्हारे अन्त को नहीं जाना इतना ही नहीं किन्तु तुम भी अपने अन्त को नहीं जानते हो ; श्रुतिशिरोभूषणरूप उपनिषद् की वाणियें तुम्हारे विषैं ही सफल होती हैं इसकारण सत्यस्वरूप तुम्हारे अर्थ नमस्कार है; हे भगवन् ! तुम्हारी सदा जय होय, मैं तुम्हारे उस अखण्ड सच्चिदानन्द पद को भजता हूँ ॥४१॥

१ यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूत भवच्च भविष्यच्च ।

श्रीभगवानुवाच ॥ इत्येते ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ॥ सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥ ४२ ॥ इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ॥ समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥ त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम् ॥ धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणां ॥ ४४ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ॥ पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ४५ ॥ नारद उवाच ॥ नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये ॥ यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ४६ ॥ इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ॥ ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ४७ ॥ सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ॥ तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ४८ ॥ इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ॥

श्रीभगवान् ने कहा कि–हे नारदजी ! इसप्रकार ब्रह्माजी के सनकादि पुत्रों ने, सनन्दन के वर्णन करेहुए वेदस्तुतिरूप, आत्मतत्त्व के वर्णन को सुनकर, आत्मा के तत्त्व को जानने के कारण कृतकृत्यहुए उन्हों ने, तदनन्तर गुरुबुद्धि से उन सनन्दन का पूजन करा ॥ ४२ ॥ सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्नहुए और आकाश में विचरनेवाले उन महात्मा सनकादिक ऋषियों ने, इसप्रकार यह सकल श्रुतियों का, पुराणों का और उपनिषदों का तात्पर्यरूप रस निकाला है ॥ ४३ ॥ हे ब्रह्मपुत्र नारद ! तुम भी, मनुष्यों की वासनाओं को भस्म करनेवाले इस ब्रह्मनिरूपण को, श्रद्धाके साथ मन में धारण करके भूमिपर जहाँ जाने की तुम्हारी इच्छा होय तहाँ विचरो ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इस प्रकार नारायण ऋषि के उपदेश करेहुए आत्मतत्त्व को श्रद्धाके साथ ग्रहण करके, आत्मज्ञानी, कृतकृत्य, सुनेहुए अर्थ को मन में धारण करनेवाले और नैष्ठिक ब्रह्मचारी तिन नारदजी ने कहा ॥ ४५ ॥ नारदजीबोले कि–जो तुम , सकल प्राणिमात्र को मोक्ष देने के निमित्त मनोहर अवतार धारण करते हो ऐसे निर्मलकीर्त्ति तुम श्रीकृष्णजी को नमस्कार हो ॥ ४६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार वह नारदजी, आदिऋषि तिन नारायण को और उन के महात्मा शिष्यों को नमस्कार करके तदनन्तर तहाँ से मेरे साक्षात् (योनि सम्बन्ध के विना [१] होनेवाले) पिता वेदव्यासजी के आश्रम को चलेगये ॥ ४७ ॥ तब वेदव्यासजी के सत्कार करेहुए उन नारदजी ने, आसन को ग्रहण करके और उस आसन पर बैठकर, नारायण के मुख से आप जो सुना था वह सब उन व्यासजी से वर्णन करा ॥ ४८ ॥ हे राजन् ! हम से जो तुम ने प्रश्न कराथा वह,

(१) एकसमय व्यासजी अग्नि मथ रहे थे, सो किसी कारण से व्यासजी का वीर्य स्खलित होकर वह अरणी में गिरा तब व्यासजी ने उसका भी मन्थन करा इसकारण उस अरणी से तत्काल शुक पुत्र उत्पन्नहुआ; ऐसा प्रसिद्ध है ।

यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेपि श्रुतिश्चरेत् ॥ ४९ ॥ योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ॥ यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥ ५० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ छ ॥ राजोवाच ॥ देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ॥ प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥ एतद्वेदितुमि-

' जिसप्रकार अनिर्देश्य और निर्गुण ब्रह्म के विषैं श्रुतियों की प्रवृत्ति होती है सो ' यह सब मैंने तुम से वर्णन करा है ॥ ४९ ॥ अब सब वेदस्तुति का अर्थ संक्षेप से कहते हैं कि-जो भगवान् अपने स्वरूप में सोयेहुए जीवों को सकल पुरुषार्थों की सिद्धि होने के निमित्त इस जगत् के उत्पत्ति, पालन और संहार करने का विचार करते हैं, जो इस जगत् के आरम्भ में मध्य में और अन्त में रहते हैं; जो प्रकृति और पुरुष के उपादान कारण हैं, जिन्हों ने इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके और तिस में अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके जीवों को भोग प्राप्त होने के निमित्त भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करे हैं; जो जीवों को भोग देकर उन के शरीरों की रक्षा करते हैं और जिन की प्राप्ति होने पर, चरणतल में वारंवार दण्ड की समान प्रणाम आदि करके उपासना करनेवाला यह जीव. जैसे गाढ निद्रा में सोया-हुआ पुरुष, अपने शरीर का अनुसन्धान (१) नहीं रखता है किन्तु उस का त्याग करता है तैसे ही जो अपनी कार्यकारणरूप अविद्या का अनुसन्धान न रखकर त्याग करते हैं तिन भय को दूर करनेवाले और अखण्डस्वरूप की स्थिति करके मायारूप मूल कारण का तिरस्कार करनेवाले भगवान् श्रीहरि का निरन्तर ध्यान करै ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में सप्ताशीतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अट्ठासीवें अध्याय में विष्णुभगवान् के भक्त को मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरे देवताओं के भक्तों को ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, यह कथा वर्णन करी है ॥ * ॥ श्रीहरि भक्तों को मुक्ति देते हैं, ऐसा कहा तिस को सुनकर राजा ने कहाकि-हे शुकदेवजी ! देवता, असुर और मनुष्यों में जो प्राणी, विषयभोगों का तिरस्कार करनेवाले श्रीशङ्कर का आराधन करते हैं वही प्रायः धनी और विषयभोग करनेवाले होते हैं और लक्ष्मी के पति तथा सकल भोगोंसे युक्त श्रीहरिकी जो आराधना करतेहैं वह दरिद्री और भोगरहित होते हैं इस का कारण क्या है ? ॥ १ ॥ यह जानने की हम इच्छा करते हैं क्योंकि-इस विषय

(१) जैसे गाढ निद्रा में सोयेहुए शरीरवान् पुरुष को और लोग देखते हैं परन्तु वह अपने शरीर को कुछ नहीं देखता है तैसे ही जीवन्मुक्त हुए पुरुष को, अन्य लोग, यह देहधारी है, ऐसा देखते हैं परन्तु वह कुछ नहीं देखता है ।

इच्छामः संदेहोऽत्र महान्हि नः ॥ विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिंगो गुणसंवृतः ॥ वैकारिकस्तैजसश्च तामस-श्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥ ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु किंचन ॥ उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ४ ॥ हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भ-

में हमें बडाभारी सन्देह है, विरुद्ध स्वभाववाले श्रीहरि और श्रीहर के भक्तों को विरुद्ध फल प्राप्त होता है अर्थात् ऐश्वर्य को त्यागनेवाले श्रीशङ्कर के भक्तों को दरिद्रता होना चाहिये और ऐश्वर्यों को स्वीकार करनेवाले श्रीविष्णु के भक्तों को ऐश्वर्य मिलने चाहियें, परन्तु ऐसा न होकर भक्तों को विपरीत फल प्राप्त होता है इस का क्या कारण है? ॥२॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! निरन्तर आनन्दरूप भी ईश्वर, जब अपनी शक्ति (प्रकृति) से युक्त होते हैं तब उस प्रकृति के सत्त्व आदि गुणों से युक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर इन तीन नामों को धारण करते हैं; सात्विक, राजस और तामस यह तीन प्रकार का अहङ्कार है ॥३॥ तिस से एक मन, दश इन्द्रियें और पाँच महाभूत इसप्रकार सोलह विकार और दिशा, वायु, सूर्य आदि देवता उत्पन्न हुए हैं. तिस में अहङ्कार के सत्त्वादि तीन गुणों में से रजोगुण का अंश ब्रह्माजी में अधिक है, सत्त्वगुण का विष्णु में और तमोगुण का अंश शिवजी में अधिक है. इसकारण जो मनुष्य जिस अधिक गुण से युक्त देवता का भजन करता है उस को उस गुण से सम्बन्ध रखनेवाली विभूतियें ही प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥ इसप्रकार विष्णुभक्तों को सत्त्वगुण की विभूतियें प्राप्त होती हैं, उन में भी सत्त्वगुण के शान्तरूप होने के कारण और साक्षात् श्रीहरि भगवान के, सबों के साक्षी, सर्वज्ञ, प्रकृति से परपुरुष और निर्गुणरूपी होने के कारण उन के भक्त निर्गुण होते हैं; इस विषय में यह तत्त्व समझना कि—आत्मवस्तु को गुणों के सम्बन्ध से उन के धर्मों के योग और अयोग से बिम्ब और प्रतिबिम्ब ऐसे दो रूप होते हैं. सत्त्व, रज और तम यह गुण स्वभाव से शान्त, घोर और मूढ हैं. विष्णु, ब्रह्मा और शिव इन का वास्तव में बहुतसा भेद न होने पर भी गुणों के धर्मों से अंशतः भेद होता है. तिन में सत्त्वगुणी विष्णु का शान्तधर्म होने के कारण उन को विक्षेप और मूढता नहीं प्राप्त होती हैं. ब्रह्माजी और श्रीशङ्कर को वह विक्षेप और मूढता प्राप्त होती हैं और अन्यगुणों के दबजाने से उन के अंशों का भेद होता है. इसकारण पूर्णसत्त्वरूप विष्णु भगवान् की बुद्धि मोक्षकारक और स्वयं आनन्दमय है तथा अंशतः ऐश्वर्यों की भी देनेवाली है. ब्रह्मा-रुद्रादिकों के अंशतः सेवन करनेवाले पुरुषों को ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और अंशतः एकतारूप करके सेवन करनेवाले पुरुषों को कुछ काल में मोक्ष भी प्राप्त होता है. ऐसा जानकर ही

वेत् ॥ ५ ॥ निवृत्तेऽश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ॥ शृण्वन्भगवतो धर्मान-
पृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥ स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ॥ नृणां
निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यस्याह-
मनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ॥ ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखि-
तम् ॥ ८ ॥ स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ॥ मत्परैः कृतमैत्रस्य
करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥ तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ॥ अतो
मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान्भजते जनः ॥ १० ॥ ततस्त आशुतोषेभ्यो ल-
ब्धराज्यश्रियोद्धताः ॥ मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मरन्त्यवजानते ॥ ११ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥ सद्यः शापप्र-

जहाँ तहाँ 'सत्त्वमूर्त्ति से कल्याण होते हैं' 'सत्त्व ही जिन की प्रियमूर्त्ति है' ऐसा कहा है। इस में कुछ और नहीं है, किन्तु उन के भक्तों में जो कलह होता है वह केवल मोह ही है ॥ ५ ॥ हे राजन्! अश्वमेधयज्ञ होने पर तुम्हारे दादा धर्मराज ने, श्रीकृष्ण भगवान् से धर्म सुने थे तब, उन पूर्णज्ञानी श्रीकृष्णजी से, जो तुम ने मुझ से बूझा है यही बूझा था ॥ ६ ॥ तब जिन्होंने मनुष्यों के कल्याण के निमित्त यदु के कुल में अवतार धारण करा है वह प्रभु सन्तुष्ट होकर, सुनने की इच्छा करनेवाले उन युधिष्ठिर से कहनेलगे ॥ ७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—जिस मनुष्य को विषयों का त्याग करने की इच्छा होती है परन्तु वासना की प्रबलता से वह विषयों को त्याग नहीं सक्ता है और उन का भोग करते में भी क्लेश पाता है उस के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त मैं धीरे धीरे उस के सकलधन को हरण करलेता हूँ; तदनन्तर निर्धन और दुःखों की परम्परा से ग्रस्त हुए उस को उस के सम्बन्धी पुरुष छोडदेते हैं ॥ ८ ॥ वह भक्त फिर कदाचित् कुटुम्बियों के आग्रह से धन प्राप्त करने में प्रवृत्त होय तो भी, मेरे अनुग्रह से उस के सब उद्योग व्यर्थ होजाते हैं, फिर वह विरक्त होकर मेरे भक्तों के साथ मित्रता करता है तब मैं उस के ऊपर अनुग्रह करता हूँ ॥ ९ ॥ वह अनुग्रह यह है कि—चैतन्यमात्र, सत्य, अनन्त और सूक्ष्म जो परब्रह्म तिस की उस को प्राप्ति होती है, इसप्रकार मेरा आराधन करना परम कठिन है इसकारण ही लोक मुझे त्यागकर अन्य देवताओं की सेवा करते हैं ॥ १० ॥ और वह पुरुष, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले उन देवताओं से राज्यलक्ष्मी को पाकर उद्धत, घमण्डी और असावधान होकर, अपने को वरदेनेवाले उन देवताओं को भी भूलजाते हैं और उन का अपमान करते हैं ॥ ११ ॥ वही वार्त्ता इतिहास के द्वारा स्पष्ट करने के निमित्त श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—हे राजन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवता, शाप देने को और अनुग्रह करने को समर्थ हैं. परन्तु ब्रह्मा और शिवजी यह दो देवता, शीघ्र ही प्र-

सादोऽगं शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥ १२ ॥ अत्र चोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ॥ वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाप संकटम् ॥ १३ ॥ वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदं ॥ दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥ १४ ॥ स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यति ॥ योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥ १५ ॥ दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्बंदिनोरिव ॥ ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसंकटं ॥ १६ ॥ इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ॥ केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरं ॥ १७ ॥ देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ॥ शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥ १८ ॥ तदा महाकारुणिकः स धूर्जटिर्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ॥ निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ॥ १९ ॥

सन्न होजाते हैं और शाप भी शीघ्र ही देते हैं, विष्णु शीघ्र ही प्रसन्न नहीं होते हैं और शाप भी नहीं देते हैं ॥ १२ ॥ इस विषय में यह पुरातन इतिहास कहते हैं कि—महादेवजी, वृकासुर को वरदान देकर स्वयं ही सङ्कट में पड़े ॥ १३ ॥ शकुनिदैत्य का पुत्र वृकासुर नामवाला दुर्बुद्धि असुर था; उस ने मार्ग में नारदजी को देखकर उन से बूझा कि—ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवताओं में शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाला कौनसा देवता है? ॥ १४ ॥ तब नारदजी ने कहा कि—तू महादेवजी की शरण जा, तब शीघ्र ही तुझे सिद्धि प्राप्त होयगी. जो महादेवजी थोडे ही आराधन से शीघ्र प्रसन्न होते हैं और थोड़े से अपराध से शीघ्र ही कोप में होजाते हैं ॥ १५ ॥ जिन शङ्कर ने, स्तुति पढ़नेवाले बन्दि की समान स्तुति करनेवाले रावण के और बाणासुर के ऊपर प्रसन्न होकर, उन को अनुपम ऐश्वर्य दिया और उन से ही बडे सङ्कट को प्राप्त हुए; रावण ने उन के ही कैलाश पर्वत को उखाडा और बाणासुर ने उन को ही अपने नगर का रक्षक बनाया ॥ १६ ॥ इस-प्रकार नारदजी के कहने पर वह वृकासुर, केदारक्षेत्र में अपने शरीर के मांस को काटकर उस के हवन से अग्निमुख श्रीमहादेवजी का आराधन करनेलगा ॥ १७ ॥ इसप्रकार प्रतिदिन हवन करने पर भी छः दिन पर्यन्त महादेवजी का दर्शन नहीं हुआ, तब सातवें दिन वह वृकासुर खिन्न होकर 'मरूँगा वा कार्य को सिद्ध करूँगा' ऐसे निश्चय से उस केदारकुण्ड में स्नान करने के कारण गीले केशोंवाला अपना मस्तक अपने ही शस्त्र के काटने को उद्यत हुआ ॥ १८ ॥ तब परमदयालु तिन श्रीशङ्कर ने, उस कुण्ड में की अग्नि में से बाहर निकलकर, साक्षात् मूर्त्तिमान् अग्नि की समान प्रकाशवान् अपनी भुजाओं से उस का हाथ पकडलिया और, जैसे हम, किसी दुःख से खिन्न होकर आत्मघात करने-वाले को निषेध करते हैं तैसे, मस्तक काटने से उस को रोका, तव वह दैत्य, उन श्री-

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे यथाऽभिकामं वितरामि ते वरम् ॥ प्रीयेय
तोयेन नृणां प्रपद्यतामहो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥२०॥ देवं स वव्रे पा-
पीयान्वरं भूतभयावहम् ॥ यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति
॥ २१ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत ॥ ओमिति प्रहसंस्तस्मै
ददेऽहेरमृतं यथा ॥ २२ ॥ इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः ॥
स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ॥ स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्
स्वकृताच्छिवः ॥ २३ ॥ तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावन्सवेपथुः ॥ यावदन्तं
दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥२४॥ अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ॥
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ॥ २५ ॥ यत्र नारायणः साक्षान्न्यासि-
नां परमा गतिः ॥ शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥२६॥ तं तथा व्यसनं

शङ्कर के स्पर्श से ही फिर पूर्ण शरीर होगया ॥ १९ ॥ तब श्रीशङ्कर उस से कहनेलगे कि—हे वृकासुर ! बस, बस, अब मस्तक काटने की आवश्यकता नहीं है; तू मुझसे वर मांगले, तेरा जैसा मनोरथ होय वैसा ही वरदान मैं तुझे देता हूँ, मैं तो शरण आयेहुए भक्तों के ऊपर केवल जलमात्र से ही प्रसन्न होजाता हूँ, सो तू निष्कारण ही अपने शरीर को कष्ट देता है ॥ २० ॥ इसप्रकार कहनेपर उस वृकासुरने, प्राणिमात्र को भय देनेवाला ऐसा वर मांगा कि—मैं जिस जिस के मस्तकपर हाथ रक्खूँ वह तत्काल मरजाय ॥ २१ ॥ हे महाराज ! वह उस का वचन सुनकर रुद्रभगवान् ने खिन्नसे होकर, बहुत अच्छा, ऐसा कहकर, जैसे सर्प को दूध पिलाते हैं तैसे उस दैत्य को वह वरदान दिया ॥ २२ ॥ इसप्रकार शिवजी के कहनेपर वह दैत्य, निःसन्देह पार्वती को ही हरण करने के विषय में उत्कण्ठित होकर, शिवजी का कहना सत्य है वा असत्य इस की परीक्षा करने के निमित्त उन शिवजी के मस्तकपर ही अपना हाथ रखने का उद्योग करने लगा, तब वह शिवजी, अपने दियेहुए वरदान से आप ही भय को प्राप्तहुए ॥ २३ ॥ और वह दैत्य जिन के पीछे लगाहुआ है ऐसे भयभीतहुए और थर थर काँपनेवाले वह शिवजी, स्वर्ग, भूमि और दिशाओं के छोर पर्यन्त दौड़कर तदनन्तर उत्तरदिशा की ओर को भागने लगे ॥ २४ ॥ उससमय ब्रह्मादिक देवताभी, उन शिवजी के भय के दूर होने का उपाय न जानतेहुए, मौन ही रहे तदनन्तर वह शिवजी, अन्धकार के परली ओर प्रकाशित होनेवाले श्वेतद्वीप में प्राप्त हुए ॥ २५ ॥ जहाँ शान्त और सब लोकों को अभय देनेवाले संन्यासी पुरुषों की परम गति ऐसे श्रीनारायणजी रहते हैं और जहाँ गयाहुआ प्राणी फिर संसारदुःख में नहीं पड़ता है ॥ २६ ॥ दुःख हरनेवाले भगवान् नारायण ने, उन इसप्रकार दुःखीहुए श्रीश-

दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः॥दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया॥२७॥मेखला जिनदण्डाक्षैस्तेजसाऽग्निरिव ज्वलन् ॥ अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत्॥ २८॥श्रीभगवानुवाच॥ शाकुनेय भवान्व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः॥ क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्माऽयं सर्वकामधुक्॥२९॥यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ॥ भण्यतां प्रायशः पुंभिर्धृतैः स्वार्थान्समीहते ॥ ३० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ॥ गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथा पूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥ श्रीभगवानुवाच ॥ एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ॥ यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥ ३२ ॥ यदि वस्तत्र विश्रंभो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ॥ तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥ यद्यसत्यं वचः शंभोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ॥ तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्ताऽनृतं

क्रूर को दूर से ही देखकर, अपनी योगमाया की शक्ति से ब्रह्मचारी बटुक का वेष धारण करा और उन के सन्मुख आपहुँचे॥२७॥ मेखला, कृष्णमृगछाला, काठ का दण्ड और रुद्राक्ष की माला से युक्त, तेज से अग्नि की समान प्रकाशवान् और हाथ में कुशों का मुट्ठा धारण करेहुए वह बटु, अतिनम्रसा उन को प्रणाम करके कहनेलगा॥ २८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—अरे शकुनि के पुत्र वृकासुर ! तू निःसन्देह थकाहुआसा दीखरहा है, बहुत दूर चलकर आया है क्या ? क्षणभर विश्राम करले क्योंकि—पुरुष का यह शरीर सकल मनोरथों को पूर्ण करनेवाला है, इस को अधिक श्रम देना ठीक नहीं है ॥ २९ ॥ हे प्रभो ! तुम ने कौनसा कार्य करने का मन में विचार करा है ? वह यदि हमारे सुननेयोग्य होय तो कहो. क्योंकि- यह लोक, सहायरूप से लियेहुए पुरुषों के साथ ही अपने प्रयोजन को साधता है, इसकारण तुम अपना निश्चय हम से कहो,हम तुम्हारी सहायता करेंगे ॥३०॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इसप्रकार भगवान् ने,मानो अमृत की वर्षा ही करनेवाला है ऐसे अपने वचन से जिस से प्रश्न करा है ऐसा वह वृकासुर,क्षणभर विश्राम लेकर,श्रमरहित हुआ और उसने पहिले तपस्या करना आदि सब वृत्तान्त उस बटु से कहा ॥३१॥ उस वृत्तान्त को सुनकर श्रीभगवान् कहनेलगे कि—तुम जैसा कहते हो यदि ऐसा है तो उन रुद्रका वरदानरूप वाक्य 'सत्य है' ऐसा हम तो किसी प्रकार नहीं मानते क्योंकि—जो रुद्र दक्ष के शाप से पिशाचपने को प्राप्त होगये और प्रेतों के तथा पिशाचों के राजाहुए हैं ॥३२॥ हे दानवेन्द्र ! उन जगद्गुरु श्रीशङ्कर के विषय में तुम को यदि विश्वास होय तो हे वृकासुर ! तुम पहिले शीघ्र अपने ही मस्तकपर हाथ रखकर उन के वचन की परीक्षा करलो ॥ ३३ ॥ और हे दानवोत्तम ! यदि किसी भी प्रकार उन शम्भु का वचन असत्य निकले तो असत्य बोलनेवाले उन को तू मारडाल, जिस से कि—वह फिर ऐसा असत्य भाषण न

पुंनः ॥ ३४ ॥ इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ॥ भिन्नधीर्विस्मृतः शी-
र्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥ ३५ ॥ अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ॥
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥ ३६ ॥ मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते
पापे वृकासुरे ॥ देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः संकटाच्छिवः ॥ ३७ ॥ मुक्तं गि-
रिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ अहो देव महादेव पापोयं स्वेन पाप्मना ॥
॥ ३८ ॥ हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ॥ क्षेमी स्यां-
त्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥ ३९ ॥ य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ॥ गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा विमुच्यते सं-
सृतिभिस्तथाऽरिभिः ॥ ४० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्त-
रार्धे रुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ सरे-

---

करें ॥ ३४ ॥ इसप्रकार विचित्र और अतिकोमल भगवान् के वचनों से जिस की बुद्धि चलायमान हुई है तिस वृकासुर ने भूल में पड़कर अपना हाथ अपने ही शिरपर रखलिया ॥ ३५ ॥ तदनन्तर मानो वज्र से ही ताड़ित हुआ क्या ऐसा वह दैत्य, मस्तक फटकर मरकर गिरगया, उससमय देवताओं ने स्वर्ग में जयजयकार शब्द, बहुत अच्छाहुआ ऐसा शब्द और नमःशब्द उच्चारण करा ॥ ३६ ॥ उस पापी वृकासुर के मरण को प्राप्त होनेपर देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्वों ने पुष्पों की वर्षा करी, इसप्रकार भगवान् ने शिवजी को सङ्कट से छुटाया है ॥ ३७ ॥ सङ्कट से छूटेहुए शिवजी से वह भगवान् पुरुषोत्तम, कहनेलगे कि–अहो देव ! हे महादेव ! यह पापी दैत्य अपने ही पाप से मारागया है; हे ईश्वर ! तुम्हारे महात्मा भक्तोंका भी अपराध करनेवाला कौनसा प्राणी सुख पावेगा? कोई सुख नहीं पावेगा; फिर जगत् के पूजनीय तुम विश्वेश्वर का अपराध करनेवाला प्राणी सुख नहीं पावेगा, इस का तो कहना ही क्या ? ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ जो पुरुष, मन के और वाणी के अगोचर रहनेवाली शक्तियों के समुद्र और माया से पर, साक्षात् परमात्मा भगवान् ने, महादेवजी को सङ्कट से छुड़ाया, इस चरित्र को सुनता है अथवा कहता है वह जन्ममरणरूप संसार के कारणभूत कर्मों के बन्धन से और शत्रुओं से मुक्त होता है ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में अष्टाशीतितम अध्याय समाप्त ॥ *

अब आगे नौवासीवें अध्याय में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन में कौन बड़ा है. ऐसा सन्दे[ह] होनेपर भृगु ऋषि ने, परीक्षा करके, विष्णु का महत्त्व ऋषियों से वर्णन करा [और] कथ[ा] और भगवान् ने ब्राह्मण के पुत्र महाकालपुर में से लाकर दिये, यह कथा वर्णन करी है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! सरस्वती नदी के तटपर ऋषि, सत्र कररहे थे, तहाँ

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ॥ वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को
महान् ॥ १ ॥ तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ॥ तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामा-
सुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभां ॥ २ ॥ न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया॥
तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥ स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्म-
जायात्मना प्रभुः ॥ अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मनः ॥ ततः कै-
लासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ॥ परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥
॥ ५ ॥ नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ॥ शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारे-
भे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥ पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ॥
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥७॥ शयानं श्रिय उत्संगे पदा व-
क्षस्यताडयत् ॥ तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः॥८॥ स्वतल्पा-

---

उन में यह संशय उत्पन्नहुआ कि–ब्रह्मा,विष्णु,रुद्र इन में कौनसा देवता बडा है?॥१॥ उस महत्त्व को जानने की इच्छा से उन ऋषियों ने तिस महत्त्व को जानने के निमित्त ब्रह्माजी के पुत्र भृगु ऋषि को भेजा, वह भृगु ऋषि परीक्षा करने के निमित्त पहिले ब्रह्मा जी की सभा में गये ॥ २ ॥ उन्होंने, ब्रह्माजी के पास सत्त्वगुण है व नहीं इस की परीक्षा करने के निमित्त उन को नमस्कार वा उन की स्तुति आदि कुछ नहीं करी, तब भगवान् ब्रह्माजी, इस ने मेरा अपमान करा ऐसा जानकर अपने ही तेज से देदीप्यमान होतेहुए उन भृगुजी के ऊपर क्रुद्धहुए ॥ ३ ॥ तदनन्तर उन प्रभु ब्रह्माजी ने, अपने मन में,पुत्र के ऊपर क्रोध उत्पन्नहुआ ऐसा जानकर विवेकयुक्त बुद्धि से 'जैसे कोई समर्थ पुरुष ही अग्नि से उत्पन्नहुए जल के द्वारा ही अग्नि की शान्ति करता है तैसे' अपने से उत्पन्न हुए पुत्र के ऊपर दृष्टि देकर ही क्रोध को शान्त करा ॥ ४ ॥ तदनन्तर वह भृगुजी कैलास पर्वत पर गये, तब महेश्वरदेव, यह मेरे भ्राता भृगु ऋषि आये हैं ऐसा जानकर हर्ष से उठकर उन को आलिङ्गन करने को उद्यत हुए. तब उन भृगुजी ने, तुम चिता की भस्म आदि धारण करके, अपने शुद्ध मार्ग को छोडकर, अम-ङ्गलपने का व्यवहार करनेवाले हो, इसकारण मुझे स्पर्श न करो; ऐसा कहा तब, वह शिवजी क्रुद्धहुए और नेत्र लाल करके हाथ में त्रिशूल उठाकर उन को मारने को उद्यत हुए ॥ ५ ॥ ६ ॥ तब पार्वती ने चरणों पर गिरकर मधुरवाणी से उन श्रीशङ्कर को सम-झाया, तदनन्तर भृगु ऋषि, जहाँ जनार्दन विष्णुभगवान् रहते हैं उस वैकुण्ठलोक को चलेगये ॥ ७ ॥ तहाँ लक्ष्मी की जङ्घापर शिर रखकर शयन करतेहुए श्रीविष्णुभगवान् के वक्षःस्थल पर उन्होंने लातमारी; तदनन्तर साधुओं की गति वह भगवान्, लक्ष्मीस-

दवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिं ॥ आह ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम् ॥ अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥ अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ॥ इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥ १० ॥ पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ॥ पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥ अद्याहं भगवन्लक्ष्म्या आसमेकांतभाजनम् ॥ वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥ १२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं ब्रुवाणे वैकुंठे भृगुस्तन्मंद्रया गिरा ॥ निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥ १३ ॥ पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ॥ स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत् ॥ १४ ॥ तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ॥ भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥ १५ ॥ धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् ॥ ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥ १६ ॥ मुनीनां न्यस्तदंडानां शांतानां समचेतसाम् ॥ अकिंचनानां साधूनां

हित जागकर ॥ ८ ॥ अपने पलँगपर से नीचे उतरे, और उन ऋषि को मस्तक से प्रणाम करके कहने लगे कि–हे ब्राह्मण ! तुम आये यह बडी उत्तम वार्त्ता हुई क्षणभर इस पलँगपर बैठो; हे प्रभो ! आयेहुए तुम को न जाननेवाले हमारे अपराधों की तुम्हें क्षमा करना चाहिये ॥ ९ ॥ हे तात मुने ! तुम्हारे चरण बहुत ही कोमल हैं और उन को बडा परिश्रम हुआ है. ऐसा कहकर अपने हाथ से उन ब्राह्मण के चरण को दवातेहुए वह विष्णुभगवान् कहने लगे कि–॥ १० ॥ हे ब्राह्मण ! तुम, तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले अपने चरणोदक से लोकों सहित मुझे और मुझ में रहनेवाले सकल लोकों को पवित्र करो ॥ ११ ॥ हे भगवन् ! आज मैं लक्ष्मी के निरन्तर रहने का स्थान हुआ हूँ, क्योंकि–तुम्हारे चरण के स्पर्श से निष्पापहुए मेरे वक्षःस्थल पर लक्ष्मी स्थिर रहेगी ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन् ! इसप्रकार श्रीविष्णुभगवान् के भाषण करने पर, उन की गम्भीर वाणी से सुख को प्राप्तहुए और प्रसन्नहुए भृगुऋषि, भक्ति से गद्गदकण्ठ होकर मौन ही रहे और उन के नेत्रों में से आनन्द के आँसू टपकनेलगे ॥ १३ ॥ हे राजन् ! उन भृगुजी ने, फिर उन ब्रह्मज्ञानी ऋषियों के सत्र में आकर उन से अपना अनुभव कराहुआ ब्रह्मादिक तीनों देवताओं का वर्त्ताव वर्णन करा ॥ १४ ॥ उस को सुनकर तदनन्तर भगवान् का नम्रपना सुनने से आश्चर्य युक्त और संशय रहितहुए तिन ऋषियों ने, बडेभारी अपराध के समय भी निर्विकार रहनेवाले विष्णुभगवान् को ही सब से बडा माना; क्योंकि–जिन में शान्ति है, जिनसे अभय प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ जिन से धर्म प्रवृत्त होता है, जिन से साक्षात्कारात्मकज्ञान और तिस ज्ञान से युक्त वैराग्य उत्पन्न होता है, जिन से अणिमादिक आठ प्रकार के ऐश्वर्य और अन्तःकरण के मल को दूर करनेवाला यश प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ जिन को, सर्वो

यमाहुः परमां गतिम् ॥ १७ ॥ सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ॥ भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥ १८ ॥ त्रिविधाः कृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ॥ गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥१९॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये ॥ पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥ २० ॥ सूत उवाच ॥ इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगंधपीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ॥ सुश्लोक्यं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥ २१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ॥ जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥ २२ ॥ विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ॥ इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ २३ ॥ ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ॥ क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पंचत्वं मे गतोऽर्भकः ॥ २४ ॥ हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रि-

के अभय देनेवाले, शान्त, समचित्त, अकिञ्चन, परोपकारी और मननशील साधुओं की परमगति कहते हैं ॥१७॥ सत्त्वगुण ही जिन की प्रियमूर्त्ति है, जिन के ब्राह्मण ही इष्टदेव हैं, और शान्त, निष्काम और विचारवान् पुरुष जिन का सेवन करते हैं॥ १८॥ जब उन भगवान् की ही गुणमयी माया की उत्पन्न करीहुई राक्षस, असुर और देव यह तीनप्रकार की मूर्त्ति है और उन को, वह सत्त्वगुणात्मक विष्णुमूर्त्ति ही पुरुषार्थ प्राप्त होने का साधन है॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! मनुष्यों का संशय दूर करने के निमित्त ऐसा, निश्चय करके सरस्वती नदी के तटपर रहनेवाले वह ब्राह्मण, भगवान् के चरणकमल की सेवा से मुक्ति को प्राप्तहुए ॥ २० ॥ सूतजी कहते हैं कि—हे शौनकादिक ऋषियो! इसप्रकार इस कहेहुए, शुकदेवजी के मुखकमल से प्रकटहुए, सुगन्धयुक्त अमृत की समान संसारभय को दूर करनेवाले भगवान् के शुद्ध यश को, जो संसारी पुरुष, अपने कर्णरूप पात्रों से निरन्तर पान करता है, वह संसाररूप मार्ग में फिरते हुए होनेवाले श्रमों को त्याग करता है अर्थात् मुक्त होजाता है ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! एक समय द्वारका में किसी एक ब्राह्मण की स्त्री का पुत्र जन्म पाकर भूमि का स्पर्श होते ही तत्काल मरण को प्राप्त होगया ॥२२॥ तब पुत्र के शोक से व्याकुल हुए और दीनचित्त तिस ब्राह्मण ने, तिस मरेहुए पुत्र के प्रेत को उठाकर राजा उग्रसेन के द्वारपर रक्खा और वह विलाप करताहुआ इसप्रकार कहनेलगा कि ॥ २३ ॥ यह पुत्र मरण को प्राप्त हुआ इस में मेरा कोई दोष नहीं है किन्तु ब्राह्मणों के दोषी, कृपणबुद्धि, विषयलम्पट तथा लोभी राजा के कर्म के दोषसे ही यह मेरा पुत्र मरण को प्राप्तहुआ है ॥ २४ ॥ हिंसा करनेवाले, इन्द्रियों का जय न करनेवाले और स्वभाव से दुष्ट ऐसे राजा का सेवन करने-

यम् ॥ प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २५ ॥ एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ॥ विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥ तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवांतिके ॥ परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥ २७ ॥ किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ॥ राजन्यबंधुरेते वै ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥ २८ ॥ धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ॥ ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुंभराः ॥ २९ ॥ अहं प्रजां वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह ॥ अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ ३० ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ॥ अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥ ३१ ॥ तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ॥ चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥ ३२ ॥ अर्जुन उवाच ॥ नाहं संकर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ॥ अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं

वाली प्रजा, दरिद्री और नित्य दुःखित होतीहुई क्लेश पाती हैं ॥ २५ ॥ इसप्रकार ही तिस ब्राह्मण ने दूसरा, तीसरा इत्यादि आठपर्यन्त पुत्र उत्पन्न होते ही मरण को प्राप्त होगये तब, उन के प्रेत पूर्व की समान राजा के द्वार पर रखकर वह राजाओं की निन्दा रूप गाथा का गान करा ॥ २६ ॥ तदनन्तर एक दिन, नवम पुत्र मरण को प्राप्त हुआ तब श्रीकृष्णजी के समीप बैठेहुए अर्जुन ने, उस ब्राह्मण की रोतेहुए गाईहुई गाथा को सुना और वह अर्जुन एकान्त में तिस ब्राह्मण से कहनेलगे कि–॥ २७ ॥ हे ब्राह्मण ! तू व्यर्थ क्यों रोता है, तू जहाँ रहता है, इस द्वारका में धनुर्धारी कोई सामान्य राजा भी नहीं है, क्या? फिर ब्राह्मणों का हितकारी शूर राजा नहीं है इस का तो कहना ही क्या ? यह यादव तो यज्ञ में इकट्ठेहुए ब्राह्मणों की समान (केवल भोजन करनेवाले) होने के योग्य हैं ! ॥२८॥ जिन क्षत्रियों के जीवित रहते, धन, स्त्री और पुत्र के वियोग से ब्राह्मण शोक करते हैं वह क्षत्रिय, राजा के वेषधारी नट की समान अपने प्राणों का पोषण करने के निमित्त जीवित रहते हैं ॥२९॥ अब, मैं कुछ दिनोंपर्यन्त यहाँ रहकर, तुम दोनों दीन स्त्रीपुरुषों के आगे होनेवाले बालकों की रक्षा करूँगा ; और यदि मेरे हाथ से यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं होयगी तो मैं अग्नि में प्रवेश करके निष्पाप होऊँगा ॥ ३० ॥ तब वह ब्राह्मण कहनेलगा कि–हे अर्जुन ! जिस मेरे पुत्र की रक्षा करने के विषय में बलराम, श्रीकृष्ण, धनुषधारियों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न और जिस की समान कोई रथी नहीं ऐसा अनिरुद्ध यह भी समर्थ नहीं हुए ॥३१॥ ऐसे जगदीश्वरों से भी न होसकनेवाले कर्म को तुम, अपने मूर्खपने के कारण कैसे करने की इच्छा करते हो ? इसकारण तुम्हारे कहने का हम कुछ भी विश्वास नहीं करते हैं ॥३२॥ अर्जुन ने कहा कि–मैं बलराम नहीं हूँ, श्रीकृष्ण नहीं हूँ

यस्य वै धनुः ॥ ३३ ॥ मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यंबकतोषणम् ॥ मृत्युं
विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो ॥ ३४ ॥ एवं विश्रंभितो विप्रः फा-
ल्गुनेन परन्तप ॥ जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३५ ॥ प्रसूति-
काल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ॥ पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः
॥ ३६ ॥ स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृ-
त्य सज्यं गाण्डीवमाददे । ३७ ॥ न्यरुणत्सूतिकाऽगारं शरैर्नानाऽस्त्रयोजितैः॥
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपंजरं ॥ ३८॥ ततः कुमारः संजातो विप्रपत्न्या
रुदन्मुहुः ॥ सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥ ३९ ॥ तदाह विप्रो वि-
जयं विनिंदन्कृष्णसन्निधौ ॥ मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीवकत्थनं ॥
।' ४० ॥ न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ॥ यस्य शेकुः परि-
त्रातुं कोन्यस्तदावितेश्वरः ॥ ४१ ॥ धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः॥

और प्रद्युम्न भी नहीं हूँ किन्तु जिस का गाण्डीव नामवाला धनुष है वह अर्जुन नामवाला वीर हूँ ॥ ३३ ॥ हे ब्राह्मण! युद्ध में शिवजी को भी प्रसन्न करनेवाले मेरे पराक्रम का तू अपमान मत कर ; हे प्रभो! अवसर पर युद्ध में मृत्यु को भी जीतकर तेरी सन्तान को लेकर आऊँगा ॥३४॥ हे राजन्! इसप्रकार अर्जुन ने जिस के चित्त में विश्वास उत्पन्न करा है ऐसा वह ब्राह्मण, प्रसन्न होकर अर्जुन का पराक्रम लोकों से वर्णन करता हुआ अपने घर को चलागया ॥३५॥ फिर कुछ काल में, स्त्री के सन्तान उत्पन्न होने का समय समीप आने पर, चिन्ता से व्याकुल हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने, उस अर्जुन से, अब मेरी सन्तान की मृत्यु से रक्षा करो, रक्षाकरो,ऐसा कहा ॥३६॥ तब उस अर्जुन ने,शुद्ध जल का आचमनकर, शिवजी को नमस्कार करके और दिव्य अस्त्र का स्मरण करके, सम्हालाहुआ गाण्डीव धनुष हाथ में लिया ॥३७॥ और तिस अर्जुन ने, अनेकों प्रकार के अस्त्रमंत्रों का प्रयोग करेहुए बाणों से उस जच्चा का घर सब ओर से रोक दिया. अर्थात् आड़े ऊपर और नीचे बाण छोडकर उस घर को बाणों का पिंजरा करदिया ॥३८॥ तदनन्तर उस ब्राह्मण की स्त्री के पुत्र हुआ, वह बारम्बार रोते रोते एकायकी शरीरसहित आकाश में गुप्त होगया अर्थात् उस का मृतशरीर भी कहीं देखने को नहीं मिला ॥३९॥ तब वह ब्राह्मण, श्रीकृष्णजी के समीप में अर्जुन की निन्दा करताहुआ कहनेलगा कि—अहो! मेरी यह कितनी मूर्खता है! देखो, जिस मैंने, इस नपुंसक अर्जुन की व्यर्थ बड २ का भाषण विश्वास करके सत्य मानलिया ॥४०॥ प्रद्युम्न,अनिरुद्ध,बलराम और श्रीकृष्णजी,यह सब ही जिस के बालकों की रक्षा करने को समर्थ नहीं हुए, उन की रक्षा करने को दूसरा कौन समर्थ होगा? ॥४१॥ इसकारण असत्य बोलनेवाले अर्जुन को धिक्कार है, अपनी प्रशंसा

दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥ ४२ ॥ एवं शपति विप्रर्षौ वि- द्यामास्थाय फाल्गुनः ॥ ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ॥ ४३ ॥ विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीं ॥ आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणी- मथ ॥ रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥४४॥ ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ॥ अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥४५॥ दर्शये द्विज- सूनुस्ते माऽवज्ञात्मानमात्मना ॥ ये ते हि कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥४६॥ इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ॥ दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥ सप्तद्वीपान्ससिंधून्सप्तसप्तगिरीनथ ॥ लोकालोकं तथा- ऽतीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ४८ ॥ तत्राश्वाः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकाः ॥ तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ४९ ॥ तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगे- श्वरेश्वरः ॥ सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥ ५० ॥ तमः सुघोरं

करनेवाले उस के गाण्डीव धनुष को धिक्कार है, जो दुर्बुद्धि अर्जुन, दैव करके दूसरे स्थान पर लेगयेहुए मेरे बालक को अपनी मूर्खता से लाने की इच्छा करता है ॥४२॥ इसप्रकार उस ब्राह्मण श्रेष्ठ के निन्दा करतेहुए, अर्जुन ने, चाहे जिधर को जाने की अपनी विद्या को स्वीकार करके, जहाँ भगवान् यमराज रहतेहैं तिस संयमनी नामवाली नगरी में गमनकरा ॥४३॥ तहाँ ब्राह्मण का पुत्र कहीं भी उन को दृष्टि नहीं पडा, इसकारण तहाँ से इन्द्र की नगरी को गये. तहाँ भी ब्राह्मण का पुत्र नहीं मिला इसकारण हाथ में शस्त्र उठाकर तदनन्तर अग्नि, निर्ऋति सोम, वायु और वरुण की नगरियों में जाकर, फिर पाताल, स्वर्ग तथा और भी दूसरे सब स्थानों में ढूँढकर देखा; परन्तु कहीं भी उन को ब्राह्मण का पुत्र नहीं मिला; तद- नन्तर जिन की प्रतिज्ञा असत्य हुई है ऐसे अर्जुन, अग्नि में प्रवेश करनेलगे; तब अनेकों प्र- कार की युक्तियों से अग्नि में प्रवेश करने का निषेध करनेवाले श्रीकृष्णजी ने उन से कहा कि—॥४४॥४५॥ हे अर्जुन ! मैं तुम्हें ब्राह्मण का पुत्र दिखाता हूँ, तुम आप ही अपना तिर- स्कार न करो, जो पुरुष, अब तुम्हारी निन्दा कररहे हैं वही हमारी निर्मल कीर्त्ति को स्थापन करेंगे ॥ ४६ ॥ इसप्रकार कहकर वह भगवान् श्रीकृष्णजी, अर्जुनसहित अपने दिव्य रथ पर बैठकर पश्चिम दिशा की ओर को चलदिये ॥ ४७ ॥ सात सात पर्वतवाले सात द्वीप, सात समुद्र, तैसे ही लोकालोक पर्वत, इन का उल्लंघन करके, तिन के परली ओर 'सूर्य का प्रकाश न होने के कारण' गाढ अन्धकार में प्रवेश करा ॥४८॥ हे भरतश्रेष्ठ ! राजन् ! उस गाढ अन्धकार में श्रीकृष्णजी के शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम- वाले चारों घोडे भ्रष्टगतिहुए अर्थात् आगे को चलने को समर्थ नहीं हुए ॥ ४९ । उन को देखकर महायोगेश्वरों के भी योगेश्वर तिन श्रीकृष्ण भगवान् ने, सहस्र सूर्यों की समान प्रकाश

गहनं कृतं महद्विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ॥ मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥ ५१ ॥ द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमःपरं परं ज्योतिरनन्तपारम् ॥ समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षो पिदधेऽक्षिणी उभे ॥ ५२ ॥ ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ॥ तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५३ ॥ तस्मिन्महाभीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ॥ विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणम् ॥ सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥ ५४ ॥ ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ॥ सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५५ ॥ महामणिव्रातकिरीटकुण्डलप्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् । प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्म्या वनमालया वृतम् ॥ ५६ ॥ सुन-

वाला अपना सुदर्शन चक्र आगे छोड़ा॥५०॥तब मन की समान वेगवाला वह सुदर्शन चक्र, जिस में प्रवेश करना कठिन और अतिभयङ्कर है ऐसे तिस प्रकृति के कर्मरूप अपार अन्धकार को, अपने बडेभारी तेज से विदीर्ण करताहुआ, रोदे से छूटाहुआ श्रीरामचन्द्र जी का बाण जैसे रावण की सेना में को गया था तैसे उस अन्धकार में गया ॥ ५१ ॥ तब, चक्र के पीछे २ होनेवाले द्वार से जाते२ आगे उस अन्धकार के परलीओर जिसका अन्त और पार नहीं ऐसा व्याप्त होकर रहनेवाला भगवान् का तेज उन अर्जुन के दृष्टि पड़ा, तब उन्होंने चौंधाएहुए अपने दोनों नेत्रों को मूँदलिया ॥ ५२ ॥ फिर वह श्रीकृष्णजी और अर्जुन, प्रचण्ड पवन से कम्पायमान होनेवाली बडी २ तरङ्गों से शोभायमान जल में घुसे और तहाँ उन्होंने बडेभारी प्रकाश से युक्त और दमकतेहुए सहस्रों मणि जडे खम्भों से शोभायमान एक अद्भुत स्थान (महाकालपुर) देखा ॥ ५३ ॥ और तहाँ अतिभयङ्कर आश्चर्यकारी, मस्तक पर के सहस्र फणों पर देदीप्यमान मणियों की कान्तियों से शोभायमान होनेवाले,दो सहस्र भयङ्कर नेत्रोंवाले,कैलासपर्वत की समान स्वेत और जिन का कण्ठ और जिव्हा काले हैं ऐसे शेषजी को देखा ॥ ५४ ॥ और उन के शरीररूप सुखकारक आसन पर बैठेहुए महाप्रतापी पुरुषोत्तम भगवान को देखा, वह भगवान्—घने मेघ की समान श्यामवर्ण, व्यापक, पीला पीताम्बर धारण करे. प्रसन्नमुख, सुन्दर और विशाल नेत्रवाले, बहुत मूल्य की मणियों के समूहों से जडे किरीट की और कुण्डलों की कान्ति से चमकनेवाले असंख्य घुंघराले केशों से युक्त, लम्बी और सुन्दर आठ भुजा धारण करनेवाले, और कण्ठ में कौस्तुभ मणि, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह और चरणोंपर्यन्त लटकनेवाली बनमाला से युक्त थे ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ तैसे

न्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ॥ पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजया-
ऽखिलर्द्धिभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥ ववंद आत्मानमनंतमच्युतो
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ॥ तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धांजली स-
स्मितमूर्जया गिरा ॥ ५८ ॥ द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मयापनीता भुवि
धर्मगुप्तये ॥ कलाऽवतीर्णाववनेर्भरासुरान्हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥५९॥
पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ॥ धर्ममाचरतां स्थितये ऋषभौ लोकसं-
ग्रहम् ॥ ६० ॥ इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ॥ ओमित्यानम्य
भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥ ६१ ॥ न्यवर्ततां स्वकं धाम संप्रहृष्टौ यथागतं॥
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः ॥ ६२ ॥ निशम्य वैष्णवं धाम पार्थः
परमविस्मितः ॥ यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकंपितम् ॥ ६३ ॥ इती-
दृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन ॥ बुभुजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्यू-

ही सुनन्द नन्द आदि अपने पार्षदों से, मूर्त्तिमान् हुए सुदर्शन आदि शस्त्रों से, पुष्टि, लक्ष्मी, कीर्त्ति, माया और सकल सिद्धियों से सेवन करेहुए होकर वह ब्रह्मादिकों के अधिपति थे ॥ ५७ ॥ उन जन्मरहित भूमानामक भगवान्‌को श्रीकृष्णजी ने प्रणाम करा और उन के दर्शन से भयभीत हुए अर्जुन ने भी उन को प्रणाम करा और वह दोनों ही उन के आगे हाथ जोडकर खडे होगये, तव ईश्वरों के भी ईश्वर वह भूमा भगवान्, हँसकर गम्भीरवाणी में तिन अर्जुन कृष्ण से कहनेलगे कि—॥ ५८ ॥ तुम्हें देखने की इच्छा करनेवाला मैं इन ब्राह्मण के पुत्रों को अपने समीप ले आया हूँ; पृथ्वी पर धर्म की रक्षा करने के निमित्त, तुम दोनों ही मेरे अंश से प्रकटहुए, इसकारण अब पृथ्वी के भारभूत दैत्यों का शीघ्र ही वध करके तुम फिर यहाँ मेरे समीप आजाओ ॥ ५९ ॥ तुम दोनों ही श्रेष्ठ नारायण ऋषि हो, और पूर्णमनोरथ हो तथापि जगत् की रक्षा करने के निमित्त लोकों को शिक्षादेने के अर्थ धर्मों का आचरण करो ॥ ६० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार उन भूमा भगवान् के आज्ञा करेहुए वह श्रीकृष्णजी और अर्जुन, बहुत अच्छा, ऐसा कहकर उन की आज्ञा को स्वीकार कर उन भूमा भगवान् को नमस्कार कर और ब्राह्मण के पुत्रों को लेकर हर्षयुक्त होतेहुए, जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से लौटकर द्वारका को आये और उन्हों ने, जैसे पहिले रूप और अवस्था आदि था तैसे ही बडे छोटे ब्राह्मण के पुत्रों को लाकर समर्पण करा ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ विष्णुभगवान् के उस महाकालपुररूप स्थान को देखकर परम आश्चर्य को प्राप्तहुए अर्जुन ने, मनुष्यों का जो कुछ पराक्रम है वह सकल श्रीकृष्णजी की कृपा से ही प्राप्तहुआ है ऐसा माना ॥ ६३ ॥ इसप्रकार ऐसे अनेकों प्रकार के पराक्रम इस भूलोक में, करके दिखानेवाले श्रीकृष्णजी ने, संसार के विषयों का सेवन

र्जितैर्मखैः ॥ ६४ ॥ ववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ॥ यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थितः ॥ ६५ ॥ हत्वा नृपानधर्मिष्ठान्घातयित्वार्जुनादिभिः ॥ अंजसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥ इतिश्रीभागवते म० द० उ० द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ ॥ ॥

श्रीशुक उवाच । सुखं स्वपुर्यां निवसन्द्वारकायां श्रियः पतिः ॥ सर्वसंपत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुंगवैः ॥ १ ॥ स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकांतिभिः ॥ कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥ २ ॥ नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतंगजैः ॥ स्वलंकृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥ उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ॥ निर्विशद्भृंगविहगैर्नादितायां समंततः ॥ ४ ॥ रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ॥ तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गेहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥ प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदांभोजरेणुभिः ॥ वासितामल-

करा और बहुतसी दक्षिणायुक्त यज्ञों से देवादिकों का आराधन करा ॥ ६४ ॥ सबों में श्रेष्ठता को पायेहुए तिन भगवान ने, जैसे इन्द्र उचित समय में लोकों के ऊपर जल की वर्षा करता है तैसे ही ब्राह्मणादिक प्रजाओं के ऊपर उन के इच्छित सकल मनोरथों की योग्यकाल में वर्षा करी ॥ ६५ ॥ और कितने ही अधर्मी राजाओं को स्वयं मारकर और कितनो ही को अर्जुनादिकों से मरवाकर युधिष्ठिर आदि धार्मिक राजाओं के द्वारा अनायास में धर्म की प्रवृत्ति करी ॥ ६६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में एकोननवतितम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे नब्बेवें अध्याय में फिर श्रीकृष्णजी की लीला संक्षेप से कही है और यदुवंश में उत्पन्नहुए पुरुषों का अनन्तपना कारणसहित कहा है ॥ * ॥ अब श्रीकृष्णजी की विभूति संक्षेप से दिखातेहुए श्रीशुकदेवजी कहनेलगे कि–हे राजन् ! सकल सम्पत्तियों से बढीहुई, श्रेष्ठयादवों करके सेवन करीहुई, फूलों के वृक्षों के बगीचों से और फलयुक्त वृक्षों के बागों से भरीहुई, प्रफुल्लित वृक्षों की पंक्तियों में उडतेहुए भौंरों से और विचरतेहुए पक्षियों से सब ओर से शब्दायमान करीहुई तथा वस्त्र आभूषण आदि धारण करनेवालीं, नवीन तरुणाई की कान्ति से युक्त और अपने २ महल में गेंद आदि खेलने की सामग्री लेकर खेलते में बिजली की समान चमकनेवालीं स्त्रियों से युक्त और जिन के मद टपकरहा है ऐसे मदोन्मत्त हाथी, आभूषण धारण करेहुए वीर, घोडे, और सुवर्ण से मँढेहुए होने के कारण चमकनेवाले रथो की जिस में के मार्गों में प्रति दिन पिचपिच होती थी. ऐसी अपनी द्वारका नगरी में सुख के साथ रहनेवाले और सोलह सहस्र एक सौ आठ स्त्रियों को एकही प्रियप्रतीत होनेवाले तिन लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णजीने, उनस्त्रियोंके परमसम्पदाओंसे भरेहुए घरों में उतने ही सुन्दररूपधारण करके क्रीडा करी ॥ १ ॥ २ ॥ ३॥४॥५॥ उन सब घरों के आरामबागों में जो तालाव थे

तोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥ ६ ॥ विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ॥
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषितां ॥ ७ ॥ उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपण-
वानकान् ॥ वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥ सिच्यमानोऽ-
च्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः ॥ प्रतिसिञ्चन्विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥
॥ ९ ॥ ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ॥
कान्तं स्म रेचकजिहीर्षयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥ १० ॥ कृ-
ष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक् क्रीडाऽभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ॥ सिञ्च-
न्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥ ११ ॥
नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनां ॥ क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदा-
त्तस्य च स्त्रियः ॥ १२ ॥ कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ॥ नर्मक्ष्वे-

उन के निर्मल जल, उन में खिलेहुए—उत्पल, कल्हार, कुमुद और कमलों के सुगन्ध से उत्तम वसेहुए होरहे थे, उन तालावो के तटोंपर पक्षियों के समूह शब्द कररहे थे ॥ ६ ॥ उन तालावों में के जलों में प्रवेश करके बडेभारी ऐश्वर्यवाले उन श्रीकृष्णजी ने, उन स्त्रियों से आलिङ्गित और उन के कुचों के केशर से लिप्तशरीर होकर क्रीडा करी॥ ७ ॥ उससमय प्रेम से मृदङ्ग, प्रणव, नगाडे, और वीणा वजानेवाले गन्धर्वों ने, उन का यश गायः; सूत, मागध और वन्दीजनो ने स्तुति करी ॥ ८ ॥ उससमय हास्य करनेवाली उन स्त्रियों ने, जल की और रङ्ग की पिचकारियें छोडकर जिन को भिगोया है ऐसे श्रीकृष्णजी ने, आप भी पलटे में उन को भिगोकर ' जैसे यक्षस्त्रियों के साथ कुवेर क्रीडा करता है तैसे, क्रीडा करी ॥ ९ ॥ उससमय वस्त्र भीगजाने के कारण जिन की जंघा और कुच स्पष्ट दीखरहे हैं, जिन के वडे २ केशपाशो में से फूल विखरकर गिर रहे हैं ऐसी, पिचकारियों से श्रीकृष्णजी को भिगोनेवाली वह स्त्रियें, श्रीकृष्णजी के हाथ में की पिचकारी को छीनलेने की इच्छा से, श्रीकृष्णजी के समीप जाकर और उन को दृढ आलिंगन करके, तिससे प्राप्तहुए कामदेव के उत्साह के कारण हर्ष से प्रफुल्लितमुखी होतीहुई शोभा पानेलगीं ॥१०॥ स्त्रियों के कुचों के केशर से जिन की माला लिपगई है, क्रीडा की आसक्ति से जिन का केशपाश खुलगया है ऐसे वह श्रीकृष्णजी भी; अपनेआप वारंवार उन स्त्रियों को भिगोतेहुए और पलटे में उन स्त्रियों करके स्वयं भी भिगोयेजातेहुए ' जैसे हथिनियों से घिराहुआ हाथी क्रीडा करता है तैसे ' क्रीडा करनेलगे ॥ ११ ॥ उससमय नटों को, नटनियों को. और गानेवजाने से जीविका चलानेवाले पुरुषों को, श्रीकृष्णजी ने और उन की स्त्रियों ने, क्रीडा करने के निमित्त अपने आप जो वस्त्र धारण करे थे वह पुरस्कार (इनाम) में देदिये ॥ १२ ॥ इसप्रकार क्रीडा करनेवाले श्रीकृष्णजी की गति, भाषण

लिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥ १३ ॥ ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडं ॥ चिंतयन्त्योऽरविंदाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥ १४ ॥ महिष्य ऊचुः ॥ कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति जगति राज्यामीश्वरो गुप्तबोधः ॥ वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १५ ॥ नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं वत चक्रवाकि ॥ दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किंवा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥ १६ ॥ भो भोः सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ॥ किंवा मुकुन्दापहृतात्मलांछनः प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥ १७ ॥ त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोपि ॥ कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं विस्मृत्य भो स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८ ॥ किंवाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियं।

अवलोकन, मन्दमुसकुरान, हास्य, चौल और आलिंगन के द्वारा उन स्त्रियों की बुद्धियें अत्यन्त तन्मय होगईं ॥ १३ ॥ इसप्रकार श्रीकृष्णजी की ओर जिन का चित्त जडा है ऐसी उन स्त्रियों ने, श्रीकृष्णजीकी समीपता न होने के समय मौनव्रत धारण करके, उन कमलनेत्र का चिन्तवन करतेहुए उन्मत्त की समान जो अनन्वित (अटसट) भाषण करे हैं वह मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ १४ ॥ वह स्त्रियें कहनेलगीं कि—अरी टटीरीपक्षिणी ! इस जगत् में रात्रि के समय जागते समय के सब व्यापारों को छोडकर श्रीकृष्णजी के शयन करने पर, निद्रारहित तू उन की निद्रा का भङ्ग करतीहुई विलाप करती है, सोती नहीं है, यह तुझे योग्य नहीं है, हे सखि ! हमारी समान तू भी श्रीकृष्णजी के हास्य सहित उदार लीलायुक्त कटाक्षों से चित्त में अत्यन्त विंधगई है क्या? ॥ १५ ॥ अरी चकवि ! रात्रि के समय तू अपने नेत्र क्यों मूँद रही है ? और तू करुणस्वर से पुकार रही है सो तेरा पति इससमय तेरी दृष्टि के सामने नहीं है क्या ? अथवा हमारी समान ही तू भी श्रीकृष्णजी के दासभाव को पाकर उन श्रीकृष्णजी के चरणों पर भक्तों की चढ़ाईहुई फूलों की माला को अपने केशपाश में धारण करने की इच्छा करती है क्या ? ॥ १६ ॥ अरे हे समुद्र ! निद्रा न आने के कारण जागताहुआ तू एकसमान शब्द कररहा है, सो हमें प्राप्तहुई अटलदशा को तू भी प्राप्तहुआ है क्या ? बडे दुःख की वार्त्ता है कि—श्रीकृष्णजी ने हमारे साथ सम्भोग करके हमारे कुचों के कुंकुम आदि के चिन्हों को हरणकरा तिस के कारण जैसे हम खिन्नहुई हैं तैसे ही कौस्तुभ आदि चिन्ह जिस के हरेगये हैं ऐसा तू खिन्न दीखरहा है ॥ १७ ॥ हे चन्द्रमा ! तू अतिबली क्षयरोग से ग्रसित हुआ है, इसकारण ही क्षीण होकर अपनी कान्तियों से अन्धकार का नाश नहीं करता है, सो तू भी हमारी समान ही श्रीकृष्णजी के रहस्यभाषणों को भूलकर उन के चिन्तवन में निमग्न होताहुआ, मौन होकर क्षीण हुआ है क्या ? हमें तो ऐसा ही दीखता है ॥ १८ ॥ हे

गोविंदापांगनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥ १९ ॥ मेघ श्रीमंस्त्वमसि द-
यितो यादवेन्द्रस्य नूनं श्रीवत्सांकं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ॥ अत्यु-
त्कण्ठः शवलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखद-
स्तत्प्रसङ्गः ॥ २० ॥ प्रियरावपदानि भाषसेऽमृतसंजीविकयाऽनया गिरा ॥
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गितकंठ कोकिल ॥ २१ ॥ न चलसि
न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिंतयसे महांतमर्थम् ॥ अपि बत वसुदेवनंदनां-
घ्रिं वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥ २२ ॥ शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिं-
धुपत्न्यः संप्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ॥ यद्वद्वयं यदुपतेः प्रणयावलोकम-
प्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥ २३ ॥ हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो
ब्रूह्यंग शौरेः कथां दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ॥

मलयाचल के पवन ! हमने तेरा कौनसा अप्रिय कार्य करा है ? कि-जिस से तू, श्रीकृष्णजी के कटाक्षों से अत्यन्त विधीहुई, हमारे हृदय में काम की प्रेरणा करता है ॥ १९ ॥ हे सुन्दर मेघ ! तू निःसन्देह श्रीकृष्णजी का मित्र है, क्योंकि-ताप हरना, श्यामता आदि भगवान् के गुण तुझ में दीखते हैं ; इसकारण ही, तू हमारी समान उन के प्रेमसे बँधकर, उन श्रीवत्सलाञ्छन का ध्यान करता है क्या ? अरे ! तू हमारी समान ही, उन के दर्शन के विषयमें अत्यन्त उत्कण्ठित और प्रेम से आर्द्रचित्त होताहुआ, उन का वारम्वार स्मरण करके आँसुओं की धारा छोडरहा है ; अरे ! उन के साथ तू ने काहे को मित्रता करी, क्योंकि-उन की सङ्गति विरक्तों को सुख देनेवाली हो परन्तु गृहस्थियों को तो दुःख ही देनेवाली है ॥ २० ॥ हेमञ्जुलकण्ठ कोकिल ! तू मरेहुओं को भी जीवित करनेवाली इस कोमल वाणी से मुझे, प्रियवोलनेवाले श्रीकृष्णजी के शब्द की समान शब्द सुनाकर दिखाती है, सो अब बता-मैं तेरा कौनसा प्रियकार्य करूँ ? ॥ २१ ॥ हे उदारबुद्धे पर्वत ! तू हलता नहीं है और बोलता भी नहीं है इस से किसी तो गहन अर्थ का विचार करता है ? सो जैसे हम श्रीकृष्णजी के चरण को स्तन पर धारण करने की इच्छा करती हैं तैसे ही तू भी अपने, स्तनों की समान शिखरों से भगवान् के चरण को धारण करने की इच्छा करता है क्या ? यदि ऐसा है तो तुझे भी हमारी समान ही दशा प्राप्तहुई है ॥ २२ ॥ हे समुद्रपत्नी नदियों ! जैसे हम श्रीकृष्णजी के कृपाकटाक्षों को न पाकर, उन के, हृदय को चुराले जाने के कारण अत्यन्त ही दुर्बल होगई हैं, तैसे ही तुम भी इससमय ग्रीष्मऋतु में अपने इच्छितपति समुद्र के जल को मेघ के द्वारा न पाकर, जिन के कुण्डे सूखगये हैं और जिन की कमलों की शोभा दूर होगई है ऐसी अत्यन्त ही दुर्बल होगई हो ; सो तुम्हारा पति समुद्र मेघ के द्वारा अमृतवर्षा से तुम्हें आनन्द नहीं देता है, यह देखकर हम बडी दुःखित हुई हैं ॥ २३ ॥ उस ही समय तहाँ दैववश आयेहुए हंस को, यह दूत है ऐसा मानकर कहनेलगीं कि-हे हंस ! तू आया, यह बडी अच्छी वार्त्ता हुई ; तू यहाँ बैठ

किंत्वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं क्षौद्रालापय कामदं श्रि-
यमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥२४॥ इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ॥
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥ २५ ॥ श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां
प्रसह्याकर्षते मनः ॥ उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥ २६ ॥
याः संपर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ॥ जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं व-
र्ण्यते तपः ॥२७॥ एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां गतिः ॥ गृहं धर्मार्थकामानां
मुहुश्चादर्शयत्पदम् ॥ २८ ॥ आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ॥
आसन्षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ॥ २९ ॥ तासां स्त्रीरत्नभूता-
नामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ॥ रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥ ३० ॥

और दूध पी; हे हंस! तू हम से श्रीकृष्णजी की कथा वर्णन कर. तू श्रीकृष्णजी का दूत होकर आया है, यह हम जानती हैं; अरे! श्रीकृष्ण! आनन्द से तो हैं? श्रीकृष्णजीने 'तुझ समान प्रेमवती स्त्री इस गृहस्थाश्रम में मैं कहीं नहीं देखता हूँ, ऐसा जो' पहिले हम से कहा था उस का अब क्षणिक मित्रता रखनेवाले वह श्रीकृष्ण कभी स्मरण करते हैं क्या! यदि कहे कि स्मरण करके ही उन्होंने मुझे भेजा है तो अरे! छछोरे के दूत! हम उन के समीप काहे को जायँ? यदि कहै कि—कामसुख के निमित्त वह तुम्हें बुलाते हैं तो, उन को ही तू इधर बुलाला; तदनन्तर 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर जातेहुए से उस को देखकर फिर कहने लगीं कि—जो हमें धोखा देकर इकली ही उन श्रीकृष्णजी का सेवन करती है उस लक्ष्मी के विना उन को इधर बुला. यदि कहे कि—वह उन के विषैं अनन्यभाव से प्रेम करती है उस को छोडकर कैसे आवेंगे? तो हम स्त्रियों में वही एक अनन्यभाव से प्रेम करनेवाली है? हम क्या अनन्यभाव से प्रेम नहीं करती हैं? ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्णजी के विषैं ऐसे करेहुए अनूपम प्रेम के प्रभाव से वह श्रीकृष्णजी की स्त्रियें परमगति को प्राप्त हुईं ॥ २५ ॥ उन का श्रीकृष्णजी के ऊपर ऐसा प्रेम होना कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि—अनेकों पुरुषों करके अनेकों प्रकारके गीतों के द्वारा अनेकों प्रकार से गान करेहुए उन श्रीकृष्णजी का केवल श्रवण होय तो भी वह स्त्रियों के मन को बलात्कार से (जबरदस्ती) हरता है फिर उन को जो स्त्रियें साक्षात् देखें उन के मन को वह हरेंगे, इस का तो कहना ही क्या? ॥ २६ ॥ जिन स्त्रियों ने जगद्गुरु भगवान् की पतिबुद्धि से चरणशुश्रूषा आदि करके प्रेम से सेवन करा, उन स्त्रियों के तप का वर्णन हमसे कैसे होसक्ता है? ॥ २७ ॥ इस-प्रकार सत्पुरुषों की गतिरूप भगवान् श्रीकृष्णजी ने, वेद में कहेहुए धर्मों का वारम्वार आचरण करके, यह दिखाया कि—यह घर धर्म, अर्थ और काम का स्थान है ॥ २८ ॥ गृहस्थाश्रमियों के परमधर्म का सेवन करनेवाले श्रीकृष्णजी की स्त्रियें सोलहसहस्र एकसौ आठ थीं ॥ २९ ॥ हे राजन्! स्त्रियों में रत्नरूप उन स्त्रियों में से रुक्मिणी आदि जो

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ॥ यावत्य आत्मनो भार्या अमो-
घगतिरीश्वरः ॥ ३१ ॥ तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ॥ आसन्नुदार-
यशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥ ३२ ॥ प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानु-
रेव च ॥ सांबो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥ ३३ ॥ पुष्करो वेदबाहुश्च
श्रुतदेवः सुनन्दनः ॥ चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥ ३४ ॥ एते-
षामपि राजेंद्र तनुजानां मधुद्विषः ॥ प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः
॥ ३५ ॥ स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ॥ तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागा-
युतबलान्वितः ॥ ३६ ॥ स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ॥ व-
ज्रस्तस्याभवद्यस्तु मौसलादवशेषितः ॥ ३७ ॥ प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्त-
स्य चात्मजः ॥ सुबाहोः शांतसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥ ३८ ॥ नह्येतस्मि-
न्कुले जाता अधना अबहुप्रजाः अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे
॥ ३९ ॥ यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणां ॥ संख्या न शक्यते कर्तुम-
पि वर्षायुतैर्नृप ॥ ४० ॥ तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ॥ आ-

आठ पटरानियें, वह मैंने पहिले तुम से कही हैं और उन के पुत्र भी क्रम से कहे हैं॥३०॥ इन आठों को छोडकर दूसरी भी जितनी (१६१००) श्रीकृष्णजी की स्त्रियें थीं उन में से हर एक के विषैं भी उन सत्यसङ्कल्प ईश्वर श्रीकृष्णजी ने दश २ पुत्र उत्पन्न करे, सब मिलकर श्रीकृष्णजी ने पुत्र (१६१०८०) थे॥ ३१ ॥ उन महापराक्रमी पुत्रों में अठारह पुत्र महारथी और बडे यशस्वी थे; उन के नाम मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥३२॥ १ प्रद्युम्न, २ अनिरुद्ध, ३ दीप्तिमान्, ४ भानु, ५ साम्ब, ६ मधु, ७ बृहद्भानु, ८ चित्रभानु, ९ वृक, १० अरुण, ॥ ३३ ॥ ११ पुष्कर, १२ देवबाहु, १३ श्रुतदेव, १४ सुनन्दन, १५ चित्रबाहु, १६ विरूप, १७ कवि और १८ न्यग्रोध, यह थे ॥ ३४॥ हे राजेंद्र ! भगवान् के इन सब पुत्रों में भी रुक्मिणी का प्रथम पुत्र जो महारथी प्रद्युम्न, वह रूप में और गुणों में पिता (श्रीकृष्ण) की समान ही था ॥ ३५ ॥ उस महारथी ने, रुक्मी की कन्या रुक्मवती को वरा, उस से उन के दश सहस्र हाथी के बलवाला अनिरुद्धनामवाला पुत्र हुआ ॥ ३६ ॥ रुक्मी की कन्या के पुत्र ऐसे तिस अनिरुद्ध ने भी, रुक्मी के पुत्र की कन्या (रोचना) को वरा, तदनन्तर उस का तिस रोचना में वज्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसको, मूसलके कारण हुए यादवों के संहारमें से भगवान् ने शेष (बचाकर) रक्खा था॥३७॥तिस वज्रसे प्रतिबाहु हुआ, तिसका पुत्र सुबाहु हुआ, तिस सुबाहुसे शान्तसेन हुआ, तिस का पुत्र श्रुतसेन हुआ॥३८॥इसकुलमें कोईभीनिर्धन, थोडी सन्तानवाला, थोडी आयुवाला, थोडे पराक्रमवाला, और ब्राह्मणों की भक्ति से हीन नहीं हुआ ॥३९॥ हे राजन्! यदुवंश में उत्पन्न हुए और प्रसिद्ध कर्म करनेवाले पुरुषों की गिनती करना, लाखों वर्षों में भी नहीं होसक्ता॥४०॥क्योंकि—यदुकुल में के असंख्य बालकों को शिक्षा

न्यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतं ॥ ४१ ॥ संख्यानं यादवानां कः क-रिष्यति महात्मनां ॥ यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥ ४२ ॥ दे-वासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ॥ ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता ब-बाधिरे ॥ ४३ ॥ तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ॥ अवतीर्णाः कु-लशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥ ४४ ॥ तेषां प्रमाणं भगवान्प्रभुत्वेनाभवद्धरिः ॥ ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥ ४५ ॥ शय्यासनाटनालापक्रीडा-स्नानादिकर्मसु ॥ न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ४६ ॥ तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ॥ यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः कृ-

नेवाले गुरु तीन करोड आठसहस्र आठसौ (३०००८८००) थे ऐसा सुना है ॥ ४१ ॥ फिर महात्मा यादवों की गिनती कौन करसकेगा? जहाँ अयुतों (दश सहस्रों) के अयुत लाखों करके सहित वह उग्रसेन राजा राज्य करते थे ॥ ४२ ॥ पहिले अमृत की प्राप्ति के समय देवदैत्यों का संग्राम हुआ, तिस में जो अतिभयङ्कर दैत्य मारेगये थे वह ही, बहुतसे रूपों से मनुष्यों में उत्पन्न होकर घमण्ड में भरेहुए प्रजाओं को दुःख देनेलगे, इसकारण ॥ ४३ ॥ हे राजन्! उन का नाश करने के निमित्त, श्रीहरि के आज्ञा करेहुए देवता, यादवों के कुल में प्रकटहुए और उन के एक सौ एक (१०१) कुल थे ॥ ४४ ॥ उन कुल के प्रभुरूप से माननीय भगवान् श्रीकृष्णजी ही थे; जो यादव उन भगवान् की आज्ञा के अनुसार वर्त्ताव करनेवाले थे वह सब ही धन बल आदि से वृद्धि को प्राप्तहुए ॥ ४५ ॥ उन की दुःखभूलने की रीति कहते हैं कि—श्रीकृष्णजी के विषैं चित्त लगानेवाले उन यादवों ने, सोना, बैठना, फिरना, बोलना, खेलना, और स्नान करना आदि कर्मों में लगेहुए अपने शरीरों का भी मान नहीं रक्खा; फिर वह और सब दुःखों को भूलगये, इस का तो कहना ही क्या? ॥ ४६ ॥ अब श्रीकृष्णजी की कीर्त्ति की जो सर्वोत्तमता और श्रीकृष्णजी की जो सकलदेवों में उत्तमता सो आश्चर्यकारी नहीं है, ऐसा वर्णन करते हैं—हे राजन्! इस से पहिले, भगवान् के चरण के धोवन का जल जो गङ्गा वही सबों से बड़ा तीर्थ था, अब तो यादवों में जो श्रीकृष्णजी की कीर्त्तिरूप तीर्थ उत्पन्न हुआ है, वह तिस गङ्गा की अपेक्षा सब स्थान में सुलभ है और अधिक प्रभाववाला होने के कारण तिस ने उस गङ्गा-रूप तीर्थ को छोटा करछोड़ा है; जिन श्रीकृष्णजी की परमदयालुता के कारण शत्रु और मित्र सब ही सायुज्यमुक्ति को प्राप्तहुए, जिस के अपने को प्राप्त होने के निमित्त ब्रह्मादिकों का प्रयत्न चलरहा है, वह किसी को भी प्राप्त न होनेवाली, परिपूर्णलक्ष्मी, जिन श्रीकृष्ण-जीके आश्रय से रही है जिन का नाम सुननेपर अथवा उच्चारण करनेपर सकलप्रकार के अमङ्गलपने का नाश करता है और जिन्हों ने अनेकों ऋषियों के वंशों में धर्म की प्रवृत्ति

र्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥ ४७ ॥ जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ॥ स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥४८॥ इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्तलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ॥ कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥ मर्त्यस्तयाऽनुसवमेधितया मुकुंदश्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिंतयैति ॥ तद्धाम दुस्तरकृतांतजवापवर्गं ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥५०॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे दशमस्कंधे उत्तरार्धेऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां श्रीकृष्णचरितानुवर्णनं नाम नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ छ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥ छ ॥ छ ॥

करी है, उन कालमूर्त्ति और चक्ररूप शस्त्र को धारण करनेवाले श्रीकृष्णजी का यह पृथ्वी के भार का हरण करना कुछ आश्चर्यकारी नहीं है अर्थात् सब का संहार करनेवाले कालमूर्त्ति और विशेष करके अनन्तप्रभाववाले चक्र को धारण करनेवाले श्रीकृष्णजी का यह कितनासा कार्य है? कुछ भी नहीं है॥४७॥ देवकी के विषैं जन्म को प्राप्तहुए केवल यही वर्णन करा परन्तु वास्तव में जन्मरहित, इच्छामात्र से अधर्म का नाश करने में समर्थ होकर भी क्रीडा के निमित्त अपनी भुजाओं से अधर्म को दूर करनेवाले, अधिकार की अपेक्षा न रखकर वृन्दावनमें के स्थावर जङ्गम जीवों के संसारदुःख का नाश करनेवाले और मन्दहास्ययुक्त श्रीमुख से गोलोकवासी तथा नगरवासी स्त्रियों को भोग के द्वारा मोक्ष देनेवाले वह जगन्निवास भगवान् श्रीकृष्णजी, श्रेष्ठ यादवोंसे सेवित होतेहुए उत्कर्षको प्राप्त होरहेहैं॥४८॥ इसप्रकार अपने वेदोक्तधर्म की रक्षा करने के निमित्त, तिन २ कार्यों के प्रसङ्ग से मत्स्य आदि अनेकों अवतारधारण करनेवाले परन्तु उन में विशेष करके यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्णरूप परमात्मा के, मनुष्यावताररूप चेष्टा का अनुकरण करनेवाले और जीवों के कर्मबन्धनों को तोड़डालनेवाले जो कर्म हैं उन को, इन श्रीकृष्णजी के चरण में आसक्ति की इच्छा करनेवाला पुरुष, अवश्य श्रवण करे ॥ ४९ ॥ तब श्रीकृष्णजी की सुन्दर कथाओं के श्रवण कीर्त्तन सहित चिन्तवन से प्रतिक्षण में बढीहुई तिस आसक्ति करके ही मनुष्य, काल के दुस्तरवेग को शांत करनेवाले उन श्रीकृष्णजी के लोक को पाता है वह लोक इतना दुर्लभ है बड़े २ राजे भी जिस की अभिलाषासे अपने राज्य आदिकों को त्यागकर, श्रवण आदि साधनों का अनुष्ठान करतेहुए नगरों में से निकलकर वनों को चलेगये हैं॥५०॥ इति श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में नवतितम अध्याय समाप्त*

इतिश्रीमद्भागवतमहापुराणस्य, पश्चिमोत्तरदेशीयरामपुरनिवासि-मुरादाबादप्रवासि-भारद्वाजगोत्र-गौड़वंश्य श्रीयुतपण्डितभोलानाथात्मजेन, काशीस्थराजकीयप्रधानविद्यालये प्रधानाध्यापक-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहोपाध्याय-सत्सम्प्रदायाचार्यपण्डितस्वामिराममिश्रशास्त्रिभ्योऽधिगतविद्येन, ऋषिकुमारोपनामक पं॰रामस्वरूपशर्मणा विरचितेनान्वयेन भाषानुवादेन च सहितो दशमस्कन्धः समाप्तः ॥

॥ समाप्तोयं दशमस्कन्धः ॥

अथ-एकादशस्कन्धप्रारम्भः



श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीबादरायणिरुवाच ॥ कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ॥ भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥ १ ॥ ये कोपिताः सुबहु पांडुसुताः सपत्नैर्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ॥ कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥ भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य गुप्तैः स्वबाहुभिरचिंतयदप्रमेयः ॥ मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं यद्यादवं कुलमहो ह्यविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥ नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत्कथंचिन्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यं ॥ अन्तः कलिं यदुकु-

॥ श्रीः ॥ अब इस ग्यारहवें स्कन्ध में नौ योगीश्वर आदिकों के इतिहास के द्वारा इकतीस अध्यायों में संक्षेप से और विस्तार से मोक्ष के मार्ग का वर्णन करा है ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! बलरामजी सहित और यादवों से घिरेहुए श्रीकृष्णजी ने, पूतना आदि दैत्यों का अपने आप वध करके और कौरव पाण्डवों में बड़ाभारी कलह उत्पन्न करके भूमि का भार उतारदिया ॥ १ ॥ इसको ही स्पष्टरूप से कहते हैं कि—दुर्योधन आदि शत्रुओं ने, कपट का जुआ खेलना, अपमान, सभा में द्रौपदी के केशों का खैंचना, विष देना, और लाखाघर में जलाना इत्यादि उपद्रव करके अनेको समय जिन पाण्डवों को कोपित करा था, उन को निमित्त करके उन पाण्डव और कौरवों का युद्ध करने का नियम ठहरजाने पर उन दोनो की सहायता करने के निमित्त दोनों पक्ष में होकर एक स्थान पर इकट्ठेहुए राजाओं को परस्पर मरवाकर श्रीकृष्णजी ने पृथ्वी का भार हरा, उन में जो पूतना आदि प्रकट दैत्य थे उन को स्वयं ही मारा और जो दैत्य बान्धवरूप थे उन को आपस में कलह करवाकर मरवादिया ॥ २ ॥ अपनी भुजाओं से रक्षा करेहुए यादवों के हाथ से, पृथ्वी के भाररूप दूसरे राजाओं की सेना को मरवाकर, जिन के कर्त्तव का कोई तर्क भी नहीं करसक्ता ऐसे उन श्रीकृष्णजी ने विचार करा कि—लोकदृष्टि से यद्यपि भूमि का भार दूर होगया है तथापि वह भार न दूरहुआसा ही है, ऐसा मैं निःसन्देह मानता हूँ, क्योंकि—अहो! जिस का सहना अत्यन्त ही अशक्य है ऐसा यह यादवों का कुल अब भी ज्यों का त्यों ही है ॥ ३ ॥ यदि कोई कहेकि—इस को दूसरे से मरवादो तो-इस यादवकुल का तिरस्कार दूसरे देवादिकों से भी किसीप्रकार नहीं होसक्ता, क्योंकि—इस ने नित्य मेरा आश्रय करा है और यह हाथी घोडे आदि ऐश्वर्य से उच्छृंखल होरहा है, इसकारण इस का संहार करेविना कार्य नहीं चलेगा, इसकारण जैसे बाँसों के झुंडे में

लस्य विधाय वेणुस्तंबस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥ एवं व्यव-
सितो राजन्सत्यसंकल्प ईश्वरः ॥ शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः
॥ ५ ॥ स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ॥ गीर्भिस्ताः स्मरतां
चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥ आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्य-
ञ्जसा नु कौ ॥ तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥ रा-
जोवाच ॥ ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ॥ विप्रशापः कथमभू-
द्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥८॥ यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ॥ कथमे-
कात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे ॥९॥ श्रीशुक उवाच ॥ बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दर
सन्निवेशं कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ॥ आस्थाय धाम रममाण उदा-

रगड से अपने आप अग्नि उत्पन्न होता है तैसे ही इस यादवों के कुल में अब थोड़े ही काल में कलह उत्पन्न करूँगा और मैं शान्ति को प्राप्त होकर अपने वैकुण्ठनामक लोक को जाऊँगा ॥ ४ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार सत्यसङ्कल्प और चाहें जो कुछ करने को समर्थ ऐसे श्रीकृष्णजी ने, निश्चय करके ब्राह्मण के शाप के मिष (बहाने) से अपने कुल का संहार करा ॥ ५ ॥ तदनन्तर लोक में कहीं भी जिस की अपेक्षा अधिक सुन्दरता नहीं है अथवा जिस से लोकों को सुन्दरता प्राप्तहुई है ऐसी अपनी मूर्त्ति से लोकों के नेत्रों को अपने में आसक्त करके, तैसे ही अपनी उपदेशरूप वाणी से, तिस वाणी का स्मरण करनेवाले लोकों के चित्तों को आकर्षण करके और धूलि में उमडेहुए अपने चरणों के चिन्हों करके तिनको देखनेवाले लोकों की गमन आदि चेष्टाओं को दूसरी ओर को प्रवृत्तहोनेसे रोककर और आगे को होनेवाले लोक, इस के द्वारा अनायास में संसारसमुद्र को तरजायँगे ऐसे विचार से कवियों के उत्तम श्लोकों में वर्णन करी जानेवाली अपनी कीर्त्ति का पृथ्वी-पर विस्तार करके प्रभु श्रीकृष्णजी ने अपने स्थान को गमन करा ॥ ६ ॥ ७ ॥ राजा परीक्षित् ने कहाकि—हे शुकदेवजी ! जो ब्राह्मणों की भक्ति से रहित, दान न करने वाले और वृद्ध पुरुषों की सेवा न करनेवाले होते हैं उन पुरुषों के ऊपर ही ब्राह्मण क्रोध करते हैं; यादव तो ब्राह्मणों के भक्त, परमदानी, निरन्तर वृद्ध पुरुषों की सेवा करनेवाले और श्रीकृष्णजी का ध्यान करनेवाले थे उन को ब्राह्मणों का शाप कैसे हुआ ? ॥ ८ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वह शाप कौन से निमित्त से हुआ ? किस प्रकार का था ? और एकचित्त रहनेवाले यादवों का परस्पर कलह कैसे हुआ ? यह सब कहो ॥ ९ ॥ इस विषय में ईश्वर की इच्छा ही कारण हुई ऐसा उत्तर कहते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—पूर्ण मनोरथ और उदारकीर्त्ति भगवान् ने, सकल सुन्दर वस्तुओं के निवासस्थानरूप शरीर को धारण करके, भूतल पर की द्वारकानगरी में रहकर, क्रीड़ा करते हुए और शुभकारक

रेकीर्त्तिः संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥ १० ॥ कर्माणि पुण्यनिवहानि
सुमंगलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ॥ कालात्मना निवसता य-
दुदेवगेहे पिंडारकं समगमन्मुनयो विसृष्टाः ॥ ११ ॥ विश्वामित्रोऽसितः क-
ण्वो दुर्वासा भृगुरंगिराः ॥ कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः॥ १२ ॥
क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ॥ उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनी-
तवत् ॥ १३ ॥ ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ॥ एषा पृच्छति
वो विप्रा अंतर्वत्न्यसितेक्षणा ॥ १४ ॥ प्रष्टुं विलज्जती साक्षात्प्रब्रूतामोघद-
र्शनाः ॥ प्रसोष्यंती पुत्रकामा किंस्वित्संजनयिष्यति ॥ १५ ॥ एवं प्रल-
ब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ॥ जनयिष्यति वो मंदा मुसलं कुलनाशनम्॥
॥ १६ ॥ तच्छ्रुत्वा तेऽतिसंत्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ॥ साम्बस्य ददृशुस्ते-

कर्मों का आचरण करते हुए, भूमि का भार हरण करनामात्र अपना कार्य शेष रहा है ऐसा मन में विचारकर अपने कुलका संहार करने की मनमें इच्छा करी ॥ १० ॥ लोकों के करेहुए कितने ही (अश्वमेधादिक) कर्म, केवल पुण्य ही उत्पन्न करते हैं कितने ही (पुत्रलालन आदि) कर्म तत्काल सुख देते हैं, कितने ही (प्रायश्चित्तआदि) कर्म केवल पापों का नाश करते हैं, श्रीकृष्णभगवान् ने तो—केवल कीर्त्तन आदि करने से ही पुण्य देनेवाले, अत्यन्त सुखरूप और गानेवाले पुरुषों के कलियुगी पापोंका नाश करने वाले कर्म करके, कालरूप से वसुदेवजी के घर में रहनेवाले उन्हो ने, कर्म करने के निमित्त जिन ऋषियों को बुलाया था, उन से सकल कर्म करवाकर जाने की आज्ञा दी तब वह ऋषि, द्वारका के समीप में के ही पिण्डारक क्षेत्र को चलेगये ॥ ११ ॥ वह ऋषि—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि थे ॥ १२ ॥ वह ऋषि, कुछदिनों पर्यन्त पिण्डारक क्षेत्र में रहतेरहे सो एक समय यादवों के कुमार खेलते खेलते उन ऋषियों के समीप गये, उस समय उन्हो ने, जाम्बवती का पुत्र जो साम्ब उसका स्त्री के वेष से स्वांग भरकर अपने साथ लेलिया था, उन उद्धत परन्तु नम्र से होकर अपनी दुष्टता दिखानेवाले कुमारोंने, उन ऋषियों के चरण पकड़कर प्रश्न करा कि—हे सफलज्ञानवान् ब्राह्मणो ! यह गर्भिणी स्त्री प्रसूता होने को होरही है, इस के पुत्र होय ऐसी इच्छा है, यह प्रत्यक्ष अपने मुख से आप से बूझने में लज्जित होती है अतः हमारे द्वारा आप से बूझती है सो—इस के पुत्र होगा वा कन्या होगी ? यह बताइये ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार धोखा दिये हुए वह ऋषि, क्रुद्ध होकर उन कुमारों से कहनेलगे कि—अरे मन्दभाग्यो ! यह स्त्री तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला मूसल उत्पन्न करेगी ॥ १६ ॥ यह सुनकर अत्यन्त भय-

स्मिन्मुसलं खल्वयस्मयम् ॥ १७ ॥ किं कृतं मंदभाग्यैर्नः किं वदिष्यंति
नो जनाः ॥ इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥ १८ ॥ तच्चोपनीय
सदसि परिम्लानमुखश्रियः ॥ राज्ञ आवेदयांचक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥ १९ ॥
श्रुत्वाऽमोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप ॥ विस्मिता भयसंत्रस्ता बभूवुर्द्वा-
रकौकसः ॥ २० ॥ तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः ॥ समुद्रसलिले
प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥ २१ ॥ कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तर-
लैस्ततः ॥ उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः ॥ २२ ॥ मत्स्यो गृ-
हीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ॥ तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽ
करोत् ॥ २३ ॥ भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ॥ कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं का-
लरूप्यन्वमोदत ॥ २४ ॥ इति श्री० भा० म० ए० विप्रशापो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥
श्रीशुक उवाच ॥ गोविंदभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ॥ अवात्सीन्नारदोऽभी-

---

भीत हुए उन कुमारों नें, तत्काल ही साम्बका पेट खोलकर देखा तो उस में कुलका संहार करनेवाला लोहेका मूसल उन की दृष्टि पड़ा ॥ १७ ॥ तब वह परस्पर कहने लगेकि—अहो ! हम मन्दभाग्यों ने क्या करा? लोक अब हमें क्या कहेंगे? ऐसा कहकर घबड़ाए हुए वह कुमार मूसल को लेकर अपने घरों को गये॥ १८॥ फिर उस मूसल को राजसभा में ले-जाकर, जिन के मुख की शोभा अतिमलीन होगईहै ऐसे उनकुमारों ने, सब यादवोंके समीप, राजाउग्रसेन को अपना कराहुआ सब ऊधम सुनाया परन्तु श्रीकृष्णजी को कुछ वृत्तान्त नहीं सुनाया॥ १९॥ हे राजन् ! द्वारकावासी लोक, उस ब्राह्मणों के अमोघशाप को सुनकर तैसे ही उसमूसल को प्रत्यक्ष देखकर विस्मित और भयभीत हुए॥ २०॥ तब यादवों के राजा उन उग्रसेन ने भी, श्रीकृष्णजी से विनाबूझे ही उस मूसल का चूरा करवाकर उस चूरे को और उस मूसल के शेष रहेहुए लोहे के टुकड़े को समुद्र के जल में फिकवादिया॥ २१॥ उस लोहे के टुकड़े को एक मत्स्य ने निगल लिया और उस चूरे के कण, तरङ्गों से बहते बहते जाकर समुद्र के किनारेसे लगकर वह तहाँ पतेल के रूप से उत्पन्न होगये ॥ २२ ॥ फिर समुद्र में कहारों ने दूसरे मत्स्यों के साथ जाल से वह मत्स्य भी पकड़लिया, उस को एक लुब्धक ने विकतेहुए मोल लेलिया उस को काटते समय उस के पेट में से एक लोहे का टुकड़ा मिला, वह उस लुब्धक ने, अपने वाण के अग्रभाग में लगवालिया॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्णजी तो उन सब वृत्तान्तों को जाननेवाले और उस शाप को दूर करने में भी समर्थ थे, परन्तु उन्होंने उस ब्राह्मणों के शाप को दूर करने की इच्छा ही नहीं करी, किन्तु स्वयं कालरूपी होने के कारण उस को अनुमोदन ही करा ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में प्रथम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे कुरुकुल के दीपक राजन् ! श्रीकृष्णजी की, दर्शन नमस्कार आदि उपासना में उत्क

ष्ठितं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥ को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणांबुजम् ॥ न भजेत्सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥ तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ॥ अर्चितं सुखमासीनमभिवंद्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥ वसुदेव उवाच ॥ भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनां ॥ कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनां ॥ ४ ॥ भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ॥ सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥ भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ॥ छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥ ब्रह्मंस्तथाऽपि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव ॥ यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते

ष्ठित नारदऋषि, उन श्रीकृष्णजी की भुजाओं से रक्षा करीहुई द्वारका में 'श्रीकृष्णजी के अन्यत्र जाने के निमित्त वारम्वार भेजने पर भी' वारम्वार आकर तहाँ ही रहते थे ॥ १ ॥ हे राजन्! सब ही लोकों में मृत्यु को प्राप्त होनेवाला कौनसा इन्द्रियवान् पुरुष, ब्रह्मारुद्र आदि श्रेष्ठ देवताओं करके भी उपासना करने योग्य श्रीकृष्णजी के चरणकमल का सेवन नहीं करेगा? अर्थात् सब ही करेंगे ॥ २ ॥ एक समय अपने घर आयेहुए और पूजा को ग्रहण करके सुख से आसन पर बैठेहुए उन नारदजी को नमस्कार कर के वसुदेवजी कहनेलगे ॥ ३ ॥ वसुदेवजी ने कहा कि—हे भगवन् नारदजी! जैसे माता-पिता का आना बालकों के कल्याण के निमित्त होता है अथवा जैसे भगवान् की प्राप्ति के मार्गरूप साधुओं का आना आध्यात्मिक आदि तीनों तापों से तपेहुए दीन पुरुषों के कल्याण के निमित्त होता है तैसे ही, तुम्हारा विचरना सकल प्राणियों के मङ्गल के निमित्त है ॥ ४ ॥ साधु, देवताओं से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि—देवताओं के चरित्र, प्राणीमात्र को वर्षा आदि के द्वारा सुख देते हैं, ठीक है परन्तु वह किसी समय अतिवर्षा आदि के द्वारा दुःख भी देते हैं और भगवत् के स्वरूप में चित्त लगानेवाले तुमसमान साधुओं का चरित्र तो सब लोकों को सुख ही देता है ॥ ५ ॥ और देवता सुख देते हैं परन्तु जो पुरुष देवताओं का, जैसे छोटे वडे यज्ञादि कर्म करके आराधन करते हैं उन को देवता भी उन कर्मों की छोटाई बडाई के अनुसार तैसा ही फल देते हैं अर्थात् जैसे पुरुष की छाया, पुरुष जैसा कर्म करे उस का ही अनुकरण करती है तैसे ही देवता कर्मानुसार फल देनेवाले हैं और तुमसमान साधु तो दीनवत्सल हैं अर्थात् अपना उपकार कराने की अपेक्षा न कर के दूसरों का दुःख दूर करनेवाले हैं ॥ ६ ॥ इस से हे ब्रह्मन्! तुम्हारे आगमन से, सत्कार से और सम्भाषण आदि कर के ही यद्यपि हम कृतार्थ होगये हैं तथापि जिन धर्मों से तुम्हारे ऊपर भगवान् प्रसन्न हुए हैं और जिन धर्मों को श्रद्धा के साथ सुननेवाला

सर्वतो भयात् ॥ ७ ॥ अहं किल पुराऽनन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ॥ अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥ यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतो भयात् ॥ मुच्येमह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ॥ प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥ १० ॥ नारद उवाच ॥ सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ॥ यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥ ११ ॥ श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ॥ सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ १२ ॥ त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥ स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥ १४ ॥ प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभु-

---

पुरुष, सकल भयों से छूटता है वह भागवत धर्म कौनसे हैं उन को मैं बूझता हूँ ॥ ७ ॥ देव की माया से मोहित हुए मैंने, पूर्वजन्म में इस भूमिपर, भगवान् मेरे पुत्ररूप से उत्पन्न हों ऐसी इच्छा से ही उन मुक्तिदाता भगवान् का आराधन करा था, मोक्ष के निमित्त नहीं करा था ॥ ८ ॥ इससे हे सुव्रत नारदजी ! अब तुम्हारी कृपा से अनेकों दुःखों करके युक्त और सब ओर भय से भरेहुए इस संसार से, जैसे हम अनायास में मुक्त हों तैसे स्पष्ट रीति से तुम हमें शिक्षा दो ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन् ! इसप्रकार बुद्धिमान् वसुदेवजी ने जिन से प्रश्न करा है, और श्रीहरि के गुणों का प्रसङ्ग आने के कारण उन श्रीहरि के गुणों ने ही जिन को स्मरण कराया है ऐसे वह नारदजी, सन्तुष्ट होकर उन वसुदेवजी से कहनेलगे ॥ १० ॥ नारदजी ने कहा कि-हे यादवों में श्रेष्ठ वसुदेवजी ! क्योंकि-तुम सबों को पवित्र करनेवाले भागवतधर्म बूझते हो इसकारण तुम ने यह बड़ा श्रेष्ठ निश्चय करा है, अर्थात् इस तुम्हारे निश्चय से लोक में भागवत धर्मों की प्रसिद्धि होकर बहुतसे लोक कृतार्थ होंगे ॥ ११ ॥ हे वसुदेवजी ! सुनाहुआ, वारम्वार पढ़ाहुआ, ध्यान कराहुआ, आस्तिकता की बुद्धि से ग्रहण कराहुआ अथवा दूसरों के आचरण करनेपर प्रशंसा कराहुआ भागवत धर्म, जगत् का द्रोह करनेवाले भी लोकों को तत्काल पवित्र करता है ॥ १२ ॥ हे वसुदेवजी ! जिस के श्रवण कीर्त्तन पवित्र हैं ऐसा परम कल्याणरूप, भगवान् नारायण का, आज तुम ने मुझे स्मरण कराया है, यह मेरे ऊपर बड़ा उपकार करा है ॥ १३ ॥ इस भगवद्धर्म के निर्णय के विषय में योगिराज ऋषभ के पुत्रों का और महात्मा राजा जनक का सम्वादरूप यह पुरातन इतिहास तत्त्वज्ञानी पुरुष कहा करते हैं सो मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ १४ ॥ स्वायम्भुव मनु का

वस्य यः ॥ तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥ तमाहुर्वा-
सुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ॥ अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्वेदपारगम् ॥ १६ ॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ॥ विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतम-
द्भुतम् ॥ १७ ॥ स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ॥ उपासीन-
स्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥ १८ ॥ तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य
समन्ततः ॥ कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥ १९ ॥ नवाभवन्महा-
भागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ॥ श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ॥ आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभा-
जनः ॥ २१ ॥ एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ॥ आत्मनोऽव्यतिरेकेण प-
श्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥ २२ ॥ अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्यगंधर्वयक्षनरकिं-
न्नरनागलोकान् ॥ मुक्ताश्चरंति मुनिचारणभूतनाथविद्याधरद्विजगवां भुवना-
नि कामम् ॥ २३ ॥ त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ॥ वितायमानमृ-

प्रियव्रत नामवाला जो पुत्र था उस का पुत्र आग्नीध्र हुआ, तिस का नाभि और तिस का पुत्र ऋषभ हुआ ॥ १५ ॥ वह ऋषभदेव मोक्षधर्म को प्रवृत्त करने की इच्छा से वासुदेव का अवतार हुए थे, ऐसा बडों २ ने वर्णनकरा है, उन ऋषभदेव के भी वेद के पारगामी सौ पुत्रहुए ॥ १६ ॥ उन में बडा पुत्र भरत था, वह बडा भगवत्परायण था. यह पूर्व-काल का अजनाभ नामवाला अद्भुत खण्ड, जिन भरत के नाम से भरतखण्ड कहकर प्रसिद्ध हुआ है ॥ १७ ॥ उन भरत ने उपभोग करीहुई इस भूमि को त्यागकर वन में गमनकरा और तप के द्वारा श्रीहरि का सेवन करके तीन जन्मों में तिन श्रीहरि का सा-युज्य प्राप्त करलिया ॥१८॥ शेष निन्यानवे पुत्रों में से नौ पुत्र इस भरतखण्ड के भीतर ब्रह्मावर्त्त आदि नौभूखण्डों के चारों ओर से राजेहुए, दूसरे इक्यासी पुत्र कर्ममार्ग को प्रवृत करनेवाले द्विजहुए ॥ १९ ॥ शेष जो नौ पुत्र रहे वह महाभाग्यशाली योगेश्वर हुए; वह परमार्थ का निरूपण करनेवाले, आत्मज्ञान के अभ्यास में परिश्रम करनेवाले, दिगम्बर और आत्मविद्या में प्रवीण थे ॥ २० ॥ उन के नाम—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन यह थे ॥२१॥ वह यह योगेश्वर, स्थूल सूक्ष्मरूप जगत् को यह भगवद्रूप ही है ऐसा देखतेहुए और उस भग-वद्रूप से अपना अभेदपना देखतेहुए भूमि पर विचरते थे ॥ २२ ॥ और अब भी जिन की इच्छित गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती है ऐसे और कहीं भी आसक्त न होनेवाले वह नौ योगीश्वर, देव, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य किन्नर और नागों के लोक में तैसे ही मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, द्विज और गौओं के स्थानों में यथेच्छभाव से विचरते थे ॥२३॥ वह योगेश्वर, एक दिन भरतखण्ड में महात्मा निमि राजा के, जिस में ऋषियों के अनु-

षिभिरजनाभे महात्मनः ॥ २४ ॥ तान्दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान्नृप ॥ यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥ विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ॥ प्रीतः संपूजयांचक्र आसनस्थान् यथार्हतः ॥ २६ ॥ तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ॥ पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥ ॥ २७ ॥ विदेह उवाच ॥ मन्ये भगवतः साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विषः ॥ विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥ २८ ॥ दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः ॥ तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनं ॥ २९ ॥ अत आत्यंतिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ॥ संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम् ॥ ३० ॥ धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ॥ यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥ ३१ ॥ नारद उवाच ॥ एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ॥ प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥

छान चलरहे हैं ऐसे सत्र में स्वाभाविक इच्छा से अकस्मात आपहुँचे ॥ २४ ॥ हे राजन्! सूर्य की समान तेज के पुञ्ज तिन परमभगवद्भक्त योगेश्वरों को देखकर यजमान, ब्राह्मण, और मूर्तिमान् हुए आहवनीय आदि अग्नि, यह सब ही उठकर खडेहुए ॥ २५ ॥ तदनन्तर राजा निमि ने, उन को नारायण के परमभक्त जानकर, प्रसन्नता के साथ आसनपर बैठाकर उन का अवस्थाके क्रम से विधिपूर्वक पूजन करा ॥ २६ ॥ और अति प्रसन्न तथा नम्रतायुक्तहुए तिस निमि राजा ने, अपनी कान्ति से प्रकाश पानेवाले और ब्रह्माजी के सनकादिक पुत्रों की समान उन नौ योगेश्वरों से प्रश्न करा ॥२७॥ विदेहने कहा कि—मैं तुम्हे साक्षात् विष्णुभगवान् के पार्षद हो ऐसा जानता हूँ, यदि कहो कि—यहाँ भगवान् के पार्षद कहाँ से आये ? तो-विष्णुभगवान के पार्षद लोकों को पवित्र करने के निमित्त सर्वत्र विचरते हैं ऐसा प्रसिद्ध है ॥ २८ ॥ जीवों का क्षणभंगुर भी यह मनुष्य शरीर 'मोक्ष का साधन होने के कारण दुर्लभ है' और उस मनुष्य जन्म में भी भगवद्भक्तों का दर्शन दुर्लभ है ऐसा मैं मानता हूँ ॥२९॥ इसकारण हे राग लोभ आदि दोषों से रहितो ! मैं तुमसे बूझता हूँ कि—जगत् मे सर्वोत्तम कल्याणकारी साधन कौनसा है ? क्योंकि—इस संसार में मनुष्यों को आधाक्षण भर भी सत्समागम होना, जैसे निधि (खजाना) मिलने पर आनन्द होता है तैसे आनन्द देनेवाला है ॥ ३० और उस सर्वोत्तम कल्याण को सुनने का यदि हमें अधिकार होय तो भगवान् को प्रसन्न करनेवाले भागवतधर्मों को कहिये; जिन धर्मों से प्रसन्नहुए अजन्मा भगवान्, शरणागत भक्त को अपना स्वरूप भी देदेते हैं ॥ ३१ ॥ नारदजी ने कहा कि—इसप्रकार राजा निमि के प्रश्न करने पर वह कवि हरि आदि नौ योगेश्वर प्रीति से सभासद और ऋत्विजोंसहित उस निमि राजा का सत्कार करके नवों-जने क्रम २ से एक करके भाषण करनेलगे और शेष, भगवद्धर्मों के सुनने में तत्पर हो-

॥ ३२ ॥ कविरुवाच ॥ मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यं। उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥ ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ॥ अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३४ ॥ यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ॥ धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ३५ ॥ कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बु-

कर तहाँ ही बैठेरहे; उस समय राजा निमि ने, १ भगवद्धर्म, २ भगवद्भक्त, ३ माया, ४ माया को तरने का उपाय, ५ ब्रह्म, ६ कर्म, ७ अवतारलीला, ८ अभक्तों की गति और, ९ युगों का अनुक्रम यह नौ विषय जानने के निमित्त नौ प्रश्न करे, तिन में से एक २ प्रश्न का उत्तर कवि आदि एक २ ने कहा है ॥३२॥ तिन में से कवि ने सर्वोत्तम कल्याण का वर्णन करतेहुए कहा कि—हे राजन्! इस संसार में, जिस का कभी भी नाश नहीं होता ऐसी भगवान् के चरणकमल की उपासना करना, यह ही कालकर्म आदि सकल भयों से रहित कल्याणकारी उत्तम साधन है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि—जिस उपासना में देहादिकों के विषैं आत्मबुद्धि करके सदा बनारहनेवाला, जिस की बुद्धि उद्विग्न हुई है ऐसे पुरुष का भय, सब प्रकार से दूर होजाता है ॥ ३३ ॥ अब भागवतधर्मों का लक्षण कहते हैं कि—हे राजन्! भगवान् ने, मनुयाज्ञवल्क्य आदिकों के मुख के द्वारा वर्णाश्रम आदि का धर्म कहकर अतिगुप्त होने के कारण न जाननेवाले भी पुरुषों को सुख से आत्मप्राप्ति होने के निमित्त जो श्रवण आदि उपाय अपने आप कहे हैं वही भागवतधर्म हैं, ऐसा तुम जानो ॥ ३४ ॥ हे राजन्! जिन भागवतधर्मों को पालन करनेवाला पुरुष, जैसा योग आदि का अभ्यास करनेवाला विघ्नों से तिरस्कार पाता है तैसे तिरस्कार नहीं पाता है और इस भागवत धर्म में दोनो नेत्रों को मूंदकर दौडनेवाला भी पुरुष, ठोकर नहीं खाता है और गिरता भी नहीं है; यहाँ दोनो नेत्र श्रुति और स्मृति को समझना; ऐसा कहा है कि—श्रुति और स्मृति यह ब्राह्मणों के दो नेत्र हैं इन में से एक से रहित होय तो काणा और दोनों से रहित होय तो अन्धा कहाता है तैसे ही एक चरण रखने के स्थान को छोडकर शीघ्रता से दूसरा चरण रखने के स्थान में पहिला चरण रखकर चलने को दौड़ना कहते हैं, इन भगवत्सम्बन्धी धर्मों में श्रुति स्मृति के विषैं कहीहुई रीति विदित नहीं होय तो अथवा इस भागवतधर्म के आचरण के समय-क्रम से करने योग्य किसी विधि को भूलकर अगली विधि करी जायतो दोषी नहीं होता है और फल से भ्रष्ट भी नहीं होता है अर्थात् उस अनुष्ठान को पूर्ण रीति से करने का फल पाता है ॥ ३५ ॥ यदि कहोकि—वह भागवतधर्म कौन से हैं? तो—शास्त्र में कहीहुई विधि से करेहुए कर्म ही ईश्वर को अर्पण करनेपर भागवत

द्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ॥ करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति
समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥ भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽ-
स्मृतिः ॥ तन्माययाऽतो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ॥ तत्कर्मस-
ङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥३८॥शृण्वन् सुभद्राणि र-
थांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ॥ गीतानि नामानि तदर्थकानि

धर्म होता है ऐसा नियम नहीं है, किन्तु–देह से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहङ्कार से और अध्यास से मानाहुआ जो ब्राह्मणत्व आदि स्वभाव तिस करके भी प्राणी जो जो कर्म करता है उन उन सब कर्मों को वह परमेश्वर नारायण के अर्पण करे; इस रीति से शरीर आदि सब ही धर्म भागवत धर्म होते हैं॥३६॥ अब अज्ञान से कल्पना कराहुआ भय, ज्ञान से ही दूर होता है इसकारण परमेश्वर के भजन से क्या होगा? ऐसा कहो तो–क्योंकि भय ईश्वर की माया से होता है इसकारण गुरु के विषैं ही ईश्वर की और आत्मा की भावना करनेवाला पुरुष, अनन्य भक्ति से उन ईश्वर का ही सेवन करे, यदि कहोकि–भय देहाभिमान से होता है, वह देहाभिमान अहङ्कार से होता है और वह अहङ्कार स्वरूप का ज्ञान न होने से होता है; इस में ईश्वर की माया क्या करती है? तो-ईश्वर से विमुखहुए पुरुष को भगवान् की माया से ही भगवान् के स्वरूप का अस्फुरण (ज्ञान का अभाव) होता है तिस से देह के ऊपर 'मैं' इसप्रकार की और अन्यों के ऊपर 'यह पराये हैं' ऐसी बुद्धि होती है तदनन्तर पराये मानेहुए शत्रु रोग आदिकों से भय होता है ऐसा लौकिक माया में भी प्रसिद्ध है इसकारण ही भय की मूल कारण जो माया तिस के नियन्ता ईश्वर का भजन करे ॥ ३७ ॥ अब, जिस का चित्त विषयों से विक्षिप्तहुआ है ऐसे पुरुष को अनन्यभक्ति कहाँ? और उस अनन्यभक्ति के प्राप्तहुए विना अभय कैसे होयगा? ऐसी शङ्का होने पर, विषयों के मिथ्याभूत होने के कारण मन को वश में करके भजन करने पर अभय प्राप्त होयगा ऐसा कहते हैं कि - हे राजन्! जैसे स्वप्न में देखाहुआ पदार्थ अथवा जागते में किसी मनोरथ के समय मन में विचाराहुआ पदार्थ वास्तव में मिथ्या होने पर भी सत्यसा भासता है तैसे ही यह द्वैत प्रपञ्च यद्यपि वास्तव में परमार्थरूप नहीं है तथापि इसका ध्यान करनेवाले पुरुष को यह परमार्थरूप है ऐसा प्रतीत होता है इसकारण चतुरपुरुष, कर्मके सङ्कल्पविकल्प करनेवाले अपने मन को रोके तब अनन्यभक्ति प्राप्त होकर अभय मिलेगा॥३८॥अब यदि कहोकि–यह मनको वशमें करनेका मार्ग बडा कठिनहै तो–दूसरा सुगम मार्ग यह है कि–चक्रपाणि भगवान् के कल्याणकारी जन्म, कर्म और जन्म तथा कर्मों के अर्थोंके अनुसार 'देवकीनन्दन' 'गोवर्द्धनोद्धरण' इत्यादि लोकोंमें गायेहुए जो

गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥ एवंव्रतःस्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ॥ हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥ खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ॥ सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥ ४१ ॥ भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ॥ प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ ४२ ॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ॥ भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ ४३ ॥ राजोवाच ॥ अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृ-

प्रसिद्धनाम हैं उनका श्रवण और गान करताहुआ पुरुष निर्लज्जपने से और निरीहपनेसे भूमिपर विचरे॥३९॥इसप्रकार वर्त्ताव करनेवाला,श्रीहरिके नाम कीर्त्तनसे जिसका श्रीहरि के विषें प्रेम उत्पन्न हुआ है और जिस का चित्त द्रवीभूत हुआ है ऐसा भक्त, लोकों को दिखाने के निमित्त दम्भ करनेवाले पुरुष की समान नहीं किन्तु पिशाच से झपटाहुआसा परवश होकर. एकाधसमय भगवान् को भक्तों ने जीतलिया है ऐसा मन में विचारकर खिलखिलाके हँसता है, कभी-इतने समय पर्यन्त भगवान् ने मेरी सुध नहीं ली है ऐसा मन में विचारकर रुदन करता है कभी–हे हरे! मेरे ऊपर अनुग्रह करो, इसप्रकार चिल्लाता है, किसी समय अतिहर्ष के साथ गान करता है और जीतलिया जीतलिया ऐसा मानकर नृत्य करता है ॥ ४० ॥ अब दूसरा उपाय कहते हैं कि–आकाश, वायु,अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीवजन्तु, दिशा, वृक्षादिक, नदियें, समुद्र और दूसरे जो कुछ प्राणीमात्र हैं सो सकल भगवान् का ही स्वरूप हैं ऐसा जानकर अनन्यभाव से उन को नमस्कार करे ॥ ४१ ॥ अब यह गति, योगिजनों को बहुतसे जन्मों कर के भी दुर्लभ है सो केवल नामकीर्त्तन से एक ही जन्म में कैसे प्राप्त होयगी ? ऐसी शङ्का आने पर दृष्टान्तसहित कहते हैं कि–भोजन करनेवाले पुरुष को,ग्रासग्रास में ही नहीं किन्तु शीत २ में भी सन्तोष,पेट भरना और भूँख की निवृत्ति होती है तैसे ही भगवान् का भजन करनेवाले पुरुष को प्रेमरूप भक्ति, प्रेम की आश्रयरूप भगवान् के स्वरूप की स्फूर्त्ति और तिस से तृप्तहुए को घर स्त्री आदि में वैराग्य यह तीनों, भजन के समय एकसाथ प्रकट होते हैं और जैसे बहुतसे ग्रास भक्षण करने से सुखादिकों की वृद्धि होती है तैसे ही बहुतसा भजन करने से परमभक्ति आदि प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ हे राजन्! इसप्रकार अविछिन्नपने से भगवान् के चरण का भजन करनेवाले भगवद्भक्त को, भक्ति, वैराग्य और ज्ञान यह प्राप्त होते हैं और तदनन्तर वह अन्तकाल में परमशान्ति पाता है ॥४३॥ भगवद्भक्त को, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य यह प्राप्त होते हैं ऐसा सुनकर राजा ने कहा

णाम् ॥ यथा चरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥ ४४ ॥ हरिरुवाच ॥
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ॥ भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतो-
त्तमः ॥ ४५ ॥ ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ॥ प्रेममैत्री-
कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६ ॥ अर्चायामेव हरये पूजां यः
श्रद्धयेहते ॥ न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७ ॥ गृ-
हीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ॥ विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै
भागवतोत्तमः ॥ ४८ ॥ देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ॥
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥ न कामकर्मबीजा-

---

कि—हे ऋषियो! अब भगवद्भक्तों के विषय में कहो कि—वह भगवद्भक्त, कौनसे धर्म-पर निष्ठा रखता है? उस का स्वभाव कैसा होता है? वह मनुष्यों में कैसा वर्त्ताव रखता है? क्या बोलता है? और वह कौनसे चिन्ह धारण करने पर भगवान् को प्रिय होता है? ॥ ४४ ॥ यह सुनकर हरिनामक योगेश्वर कहनेलगे कि—जो पुरुष, अपने आत्मा का सकलभूतों में ब्रह्मभाव से अनुस्यूतपना (पुराव) है ऐसा देखता है अथवा मच्छर आदि सकल प्राणियों में नियन्ता होकर रहनेवाले परमात्मा श्रीहरि का, परम ऐश्वर्यादिमान्‌पना ही है. न्यूनाधिकभाव नहीं है, ऐसा जो देखता है; तैसे ही ऐश्वर्य आदि गुणपूर्ण तिन श्रीहरि के विषैं सकलभूत हैं और तिन जड, मलिनभूतों का आश्रय होने से जो श्रीहरि के ऐश्वर्य आदिकों का कमीपना नहीं देखता है वह पुरुष भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥ जो पुरुष, ईश्वर में प्रेम, भगवान के भक्तों के साथ मित्रता, अज्ञानी पुरुषों के ऊपर कृपा और शत्रुओंकी उपेक्षा करताहै वह भेददर्शी होनेके कारण मध्यम भगवद्भक्त है ॥ ४६ ॥ जो पुरुष, मूर्त्ति के विषैं ही श्रद्धा से श्रीहरि को पूजा समर्पण करता है, भगवद्भक्तों की पूजा नहीं करता है, औरों की तो सर्वथा ही नहीं करता है वह पुरुष प्राकृत (अब ही भक्ति का आरम्भ करनेवाला) भक्तहै, वहआगे को मध्यम और उत्तम होयगा ॥ ४७ ॥ अब फिर आठ श्लोकों से उत्तम भगवद्भक्तों के लक्षण कहते हैं—श्रीवासुदेव भगवान् की ओर चित्त लगानेवाला भगवद्भक्त, पहिले तो इन्द्रियों से विषयों का सेवन ही नहीं करता है, कदाचित् करे भी तो, यह जगत् भगवान् की मायारूप है ऐसा जानकर जो पुरुष, प्रतिकूल विषयों से द्वेष नहीं करता है और अनुकूल विषयों से हर्षित नहीं होता है वह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥ जो पुरुष, भगवान् का निरन्तर स्मरण करके, देह के धर्म—जन्म मरण, प्राण के धर्म क्षुधा और तृषा, मन का धर्म—भय, बुद्धि का धर्म—आशा और इन्द्रियों का धर्म श्रम, इन संसार के धर्मों से मोहित नहीं होता है वह भगवद्भक्तों में

नां यस्य चेतसि संभवः ॥ वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ ५० ॥ न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ॥ सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥ न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा॥ सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥ ५२ ॥ त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ॥ न चलति भगवत्पदारविंदाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥ ५३ ॥ भगवत उरुविक्रमांघ्रिशाखानखमणिचंद्रिकया निरस्ततापे ॥ हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चंद्र इवोदितेऽर्कतापः ॥ ५४ ॥ विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ॥ प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥ जिस के चित्त में—काम, कर्म और तिनकी वासना इनकी उत्पत्ति ही नहीं होती है और जिन का एक वासुदेव ही आश्रय हैं वह उत्तम भगवद्भक्त हैं॥५०॥ जिस को, उत्तम कुल में हुए जन्म, तप आदि कर्म, वर्ण, आश्रम और जाति के द्वारा इस शरीर में कुछ भी अहङ्कार नहीं होताहै वहपुरुष, श्रीहरिका प्यारा भक्त होताहै॥ ५१ ॥ जिस को द्रव्य में यह अपना और दूसरे का ऐसा तथा शरीर के विषैं यह अपना और यह दूसरे का ऐसा भेद प्रतीत नहीं होता है और जो सब प्राणीमात्र में समान बुद्धि रखकर शान्त होता है उस को उत्तम भगवद्भक्त कहैं॥ ५२ ॥ जो पुरुष, कोई कहेकि—त्रिलोकी का राज्य देता हूँ तब भी 'भगवान् के विषैं चित्त लगानेवाले देवादिक भी जिस की खोज करते हैं ऐसे, भगवान् के चरणारविन्द से आधेलव वा आधे निमेष(पलक लगाने) समान काल को भी चलायमान नहीं होता है, भगवान् के चरणकमल से अन्य सब तुच्छ है ऐसा जानकर उसका ही निरन्तर स्मरण करनेवाला जो पुरुष वह विष्णु भगवान् के भक्तों में श्रेष्ठ होता है ॥ ५३ ॥ और भगवान् के चरणारविन्द से चलायमान होना इन विषयों की इच्छा से मन को सन्ताप होने पर कदाचित् होजाय, परन्तु भगवत्सेवा से परम सुख मिलने के कारण, भगवान् के महापराक्रमी चरणों की अंगुलियों पर के नखरूप मणियों की चन्द्रमा की समान शीतल कान्ति से एकवार जिस के सम्पूर्ण ताप नष्ट होगये हैं ऐसे भक्त के हृदय में, वह विषयवासनारूप ताप फिर कैसे उत्पन्न होयगा? किन्तु जैसे रात्रि में चन्द्रमा का उदय होनेपर सूर्य का ताप किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है तैसेही वह ताप कदापि उत्पन्न नहीं होगा ॥ ५४ ॥ ज्वरादि पीड़ा से प्राप्त हुई पराधीन दशा में केवल नामकीर्त्तन करने पर भी, सकल पापों का नाश करनेवाले साक्षात् श्रीहरि, मेरा चरणकमल इस भक्त ने प्रेमरूप डोरी से बँधकर अपने हृदय में धारण करा है ऐसा जानकर जिस के हृदय को कभी नहीं छोड़ते हैं वह, शास्त्र में वर्णन कराहुआ श्रेष्ठ भगवद्भक्त

॥ ५९ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे नारदवसुदेवसम्वादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ * ॥ राजोवाच ॥ परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ॥ मायां वेदितुमिच्छामो भगवंतो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥ नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ॥ संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥ अन्तरिक्ष उवाच ॥ एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ॥ ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥ एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ॥ एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान् ॥ ४ ॥ गुणैर्गुणान् स भुंजान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ॥ मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥ कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत् ॥ तत्तत्कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह

हैं ॥ ५९ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ * ॥ यह सब जगत् विष्णुभगवान् की मायारूप है ऐसा जो जानता है वह उत्तम भक्त है यह कहा, इस कारण माया के विषय में प्रश्न करताहुआ राजा कहने लगाकि–हे ज्ञानियों में श्रेष्ठो! सबों के कारण और सबों के अन्तर्यामी ऐसे विष्णु भगवान् की, मायावी ब्रह्मादिकों को भी मोहित करनेवाली माया को जानने की हम इच्छा करते हैं इसकारण तुम उस का हम से वर्णन करो ॥ १ ॥ अब पहिले कहेहुए लक्षणों से युक्त भगवद्भक्त होकर तू कृतार्थ है, बहुतसे प्रश्नों से क्या करना है ? ऐसा कहोतो–संसार के तापों से अत्यन्त तपाहुआ मैं, तिन संसार के तापों की औषध ऐसे हरि कथामृतरूप तुम्हारे भाषण को सेवन करते में तृप्त नहीं होता हूँ ॥ २ ॥ ऐसा प्रश्न सुनकर अन्तरिक्ष नामक योगेश्वर कहने लगे कि–हे महापराक्रमी राजन्! अपनी उपासना करनेवाले जीवों को उत्तम सिद्धि प्राप्त होने के निमित्त अथवा अपने अंशरूप उन जीवों को भोग और मोक्ष देनेके निमित्त सब के कारणरूप परमेश्वर ने, अपने, उत्पन्न करेहुए पञ्चमहाभूतों से, छोटे बड़े प्राणियों के जो शरीर उत्पन्न करे हैं यह भगवान् की माया है॥३॥ इसप्रकार जीवों के ऊपर उपकार करने के निमित्त पञ्चमहाभूतों के रचेहुए शरीरों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुए वह भगवान्, मन के और इन्द्रियों के रूप से अपना विभाग करके जीव से तिन २ इन्द्रियोंके द्वारा विषयों का जो सेवन कराते हैं यही भगवान् की माया है॥४॥ तदनन्तर वह जीव, अन्तर्यामी आत्मा करके प्रकाशित करीहुई इन्द्रियों द्वारा विषयोंका उपभोग करता हुआ उत्पन्नहुए इस शरीर को, यही मैं हूँ ऐसा मानकर और उस शरीर में आसक्त होकर संसार को प्राप्त होता है यही भगवान् की माया है॥५॥ अब, विषयभोग करनेवाले जीव की भोग की समाप्ति के अनन्तर मुक्ति होयगी, ऐसा होतेहुए वह जीव, संसार को कैसे प्राप्त होता है ? ऐसा कहो तो–कर्मेन्द्रियों करके वासनायुक्त कर्म करनेवाला और तिन २

सुखेतरम् ॥ ६ ॥ इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ॥ आभूतसंप्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥ धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकं ॥ अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥ शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ॥ तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥ पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः ॥ दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥ सांवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ॥ धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥ ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ॥ अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिंधन इवानलः ॥ १२ ॥ वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ॥ सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥ १३ ॥ हृतरूपं तु तमसा

कर्मों के सुखदुःखरूप फलों को ग्रहण करनेवाला यह जीव, इस जन्ममरणरूप संसार में वारम्वार आताजाता है, मुक्त नहीं होता है यही भगवान् की माया है ॥ ६ ॥ कितने कालपर्यन्त भ्रमण को प्राप्त होता है ? ऐसा कहो तो—इसप्रकार अनेक दुःख देनेवाली कर्मगति को प्राप्त होनेवाला और परवश हुआ यह जीव, जगत् का प्रलय होनेपर्यन्त जन्ममरण पाता है यह भगवान् की माया है ॥ ७ ॥ इसप्रकार मायामय सृष्टि कहकर अब उस का लय कहते हैं—पञ्चमहाभूतों के नाश का कारण प्राप्त होने पर, जिस के आदि और अन्त नहीं हैं ऐसा काल, स्थूलसूक्ष्मरूप जगत् को अव्यक्त ईश्वर के स्वरूप में लेजाने के निमित्त तिस जगत् को खेंचता है यही भगवान् की माया है ॥ ८ ॥ प्रलय होने का समय आते ही भूमि पर सौवर्षपर्यन्त भयङ्कर अनावृष्टि होती है और उस समय जिस में अत्यन्त उष्णता बढी है ऐसा सूर्य तीनों लोकों को सन्ताप देता है, यह भगवान् की माया है ॥ ९ ॥ पाताल से लेकर जगत् को जलाने में लगाहुआ और वायु का प्रेरणा कराहुआ शेषजी के मुख का अग्नि, चारों ओर से फैलकर बढनेलगता है यह भी भगवान् की माया है ॥ १० ॥ फिर प्रलय करनेवाले मेघों का समूह, हाथी की सूंड की समान मोटी धाराओं से सौ वर्ष पर्यन्त वर्षा करता है तव ब्रह्माण्ड जल में लीन होजाता है यह भगवान् की माया है ॥ ११ ॥ हे राजन् ! फिर ब्रह्माण्डशरीर विराट्पुरुष, अपने ब्रह्माण्ड शरीर का त्याग करके, किसी प्रकार से भी प्रकट न होनेवाले सूक्ष्म ब्रह्म में प्रवेश करता है यह भगवान् की माया है ॥ १२ ॥ इसप्रकार विराट् पुरुष का लय कहकर अव ब्रह्माण्ड के कारण पृथिवी आदिकों का लय कहते हैं कि–तदनन्तर वायु ने जिस का गन्धगुण हरण करा है ऐसी पृथ्वी जल में लीन होती है, फिर उस जल के भी रसगुण को वायु के हरण करण करलेनेपर वह जल, तेज में लीन होता है ॥ १३ ॥ तदनन्तर प्रलयकाल के अन्धकार के उस तेज के रूपगुण

वायौ ज्योतिः प्रलीयते ॥ हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥ १४ ॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ॥ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारि-
कैर्नृप ॥ प्रविशन्ति ह्यहंकारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५ ॥ एषा माया भगवतः
सर्गस्थित्यन्तकारिणी॥त्रिवर्णा वर्णिताऽस्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १६॥
राजोवाच ॥ यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ॥ तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो
महर्ष इदमुच्यताम् ॥ १७ ॥ प्रबुद्ध उवाच ॥ कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै
सुखाय च ॥ पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥ १८ ॥ नित्यार्तिदेन
वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ॥ गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ॥ सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्ति-

को हरण करलेने पर वह तेज वायु में लय पाता है, तदनन्तर वायु के स्पर्शगुण को आकाश के हरण करलेने पर वह वायु आकाश में लीन होजाता है, आकाश के शब्दगुण को काल के हरण करलेने पर वह आकाश तामस अहङ्कार में लीन होता है ॥ १४ ॥ हे राजन्! इन्द्रियें और बुद्धि यह राज अहङ्कार में लीन होते हैं मन और इन्द्रियों के देवता भी सात्विक अहङ्कार में प्रविष्ट होते हैं फिर वह अहङ्कार तीनों प्रकार के अपने कार्यों सहित महत्तत्त्व में और वह महत्तत्त्व प्रकृति में लीन होताहै ॥ १५ ॥ हे राजन्! इसप्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली भगवान् की त्रिगुणमयी माया, हमने तुम से वर्णन करी, अब दूसरा क्या सुनने की इच्छा करते हो ? ॥ १६ ॥ तब राजा निमि कहनेलगा कि—हे महर्षे! मन को वश में न करनेवाले पुरुष जिस को न तरसकें ऐसी इस ईश्वर की माया को, शरीर पर अहंबुद्धि रखनेवाले पुरुष, जैसे अनायास में तरसकें सो मुझ से कहो ॥ १७ ॥ तब, माया को तरने के विषय में भक्ति के सिवाय दूसरा कोई भी उपाय नहीं है ऐसा मन में विचार कर, साधन सहित भक्ति का वर्णन करने के निमित्त पहिले वैराग्य के द्वारा गुरु के सेवन की रीति कहतेहुए प्रबुद्धनामक योगेश्वर कहने लगे कि—हे राजन्! दुःखों को दूर करने के निमित्त और सुख को प्राप्त करने के निमित्त कर्म करने का प्रारम्भ करनेवाले और स्त्री के साथ मिथुनधर्म को स्वीकार करके रहनेवाले पुरुषों को उन के कर्मों के, उन के विचारों से उलटे (दुःखरूप) फल प्राप्त होते हैं ऐसा देखो ॥ १८ ॥ कर्मों से प्राप्त करेहुए भी धन आदिक सुख के कारण नहीं होते हैं ऐसा भी देखो; इसप्रकार कि निरन्तर (मिलने के समय, रक्षा करने के समय और उस का नाश होने के समय भी) दुःखदेनेवाले, दुर्लभ और अपनी मृत्युरूप धन तैसे ही घर, सन्तान, सम्बन्धी और पशु इन मिलेहुए चञ्चल (एकसमय अवश्य छूटनेवाले) पदार्थों से प्राणी को कौन सुख होना है ? अर्थात् कोई सुख नहीं मिलेगा ॥ १९ ॥ इसप्रकार यह लोक और इस लोक में के सुख जैसे नाशवान् हैं तैसे ही कर्म से प्राप्त कराहुआ परलोक और उस में के सुख भी

नां ॥ २० ॥ तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ॥ शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ २१ ॥ तत्र भागवतान्धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ॥ अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥२२॥ सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ॥ दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ २३ ॥ शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवं ॥ ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥ २४ ॥ सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेततां ॥ विविक्तचीरवसनं सन्तोषो येनकेनचित्॥२५॥श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिंदामन्यत्र चापि हि ॥

नाशवान् हैं ऐसा जाने, क्योंकि यहाँ के माण्डलिक राजाओं की समान तहाँ रहनेवाले प्राणियों को भी समान सुखसम्पत्तिवालों के साथ स्पर्धा, अधिकसुख सम्पदावालों की निन्दा और वह लोक नाशको प्राप्तहोगा इसकारण अटल दुःख यह सब होते ही हैं॥२०॥ इसकारण अपने उत्तम कल्याण को जानने की इच्छा करनेवाला पुरुष, वेदब्रह्म में पारङ्गत होने के कारण सकल सन्देहों को दूर करनेवाले, परब्रह्म में साक्षात् अनुभव से निष्णात होने के कारण शिष्यों के मन में आत्मज्ञान बैठादेनेवाले और परमशान्ति के साक्षात् स्थान ऐसे गुरु की शरण जाय ॥ २१ ॥ और उन के समीप रहकर उन को ही आत्मा और इष्टदेव माननेवाला वह पुरुष,निष्कपटरूप से उन गुरु की सेवा कर के उन से भगवतधर्म सीखे, जिन धर्मों के द्वारा आत्मरूप और भक्तों को आत्मस्वरूप देनेवाले हरि प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥ तिस में पहिले देह, स्त्री, पुत्र, धन आदि के विषैं मन की अनासक्ति (वैराग्य) सीखे; साधुओं की संगति करने की रीति सीखे, अपने से दीन प्राणियों के ऊपर दया, समान प्राणियों के साथ मित्रता, और अपने से अधिक योग्यता वाले प्राणियों से नम्र रहना, यह यथायोग्य गुण प्रत्यक्ष सीखे ॥ २३ ॥ मृत्तिका और जल आदि से देह की बाहरी और भीतरी पवित्रता, अदम्भ और भगवान् के ध्यान आदि करके मन की पवित्रता, स्वधर्म का आचरण, क्षमा, निरर्थक वार्त्तालाप करने का त्याग, अधिकार के अनुसार वेद को पढना, सरलता, ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ समागम करना इत्यादि ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुखदुःख,शीत उष्ण आदि द्वन्द्वपदार्थों में हर्षशोक न करना । २४ ॥ सकल प्राणियों में सच्चिदानन्दरूप से रहनेवाले आत्मा को देखना, नियन्तारूप से ईश्वर को देखना, एकान्त में वास करना, घर आदिकों के ऊपर का अभिमान त्यागना, कहीं निर्जन स्थान में पडेहुए शुद्ध चीथडों को अथवा भोजपत्र आदि को पहरना, जो अनायास में मिले उस से ही सन्तोष मानना ॥२५॥ भगवान् का वर्णन करनेवाले शास्त्र में श्रद्धा करना और दूसरे शास्त्रों की निन्दा न करना, प्राणायाम

मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥ २६ ॥ श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेर-
द्भुतकर्मणः ॥ जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥ २७ ॥ इष्टं दत्तं तपो
जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ॥ दारान्सुतान् गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ॥
॥ २८ ॥ एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ॥ परिचर्यां चोभयत्र म-
हत्सु नृषु साधुषु ॥ २९ ॥ परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ॥ मिथो रति-
र्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥ ३० ॥ स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघ-
हरं हरिम् ॥ भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥ ३१ ॥ क्व-
चिद्रुदन्त्यच्युतचिंतया क्वचिद्धसंति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ॥ नृत्यन्ति गां-
यन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ ३२ ॥ इति भागवता-

के द्वारा मन का दण्ड, मौन से वाणी का दण्ड, उद्योग को त्यागकर कर्म का दण्ड, सत्य, अन्तःकरण का निग्रह, बाहरी इन्द्रियों का निग्रह ॥ २६ ॥ अद्भुतकर्म करनेवाले हरि-भगवान् के जन्म, कर्म और गुणों को सुनना वर्णन करना और भगवान् की प्रीति के निमित्त सकलकर्मों का आचरण करना यह सीखे ॥ २७ ॥ तैसे ही यज्ञ आदि वैदिक कर्म, दान आदि स्मार्त्त कर्म, एकादशी का उपवास आदि तप, मन्त्रादिकों का जप, सदाचार, और अपने को जो माला चन्दन आदि वस्तु प्रिय हों वह भगवान् को समर्पण करना और स्त्री, पुत्र, घर और प्राणों का भी जो भगवान् को सेवकरूप से समर्पण करना सो सीखे ॥ २८ ॥ इसप्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं ऐसे मनुष्यों के ऊपर स्नेह, और स्थावरजङ्गमरूप प्राणियों की शुश्रूषा, तिन में विशेषकरके मनुष्यों की तिनमें भी स्वधर्म का आचरण करनेवालों की, तिनकी अपेक्षाभी भगवद्भक्तोंकी शुश्रूषा करना सीखे ॥ २९ ॥ और तिन साधुओंके साथ समागमको प्राप्त होकर भगवान् के पवित्र यश का जो परस्पर वर्णन करना तिस को सीखे और यश के वर्णन में भी स्पर्धा आदि दोष न करके जो मनका परस्पर रमण, जो परस्पर सन्तोष और जो परस्पर सकलदुःखोंकी निवृत्ति तिसको सीखे ॥ ३० इसप्रकार पापों के समूहों का नाश करनेवाले श्रीहरि का अपनेआप स्मरण करके परस्पर स्मरण करानेवाले भक्तजन, साधनों में भक्ति होने के कारण उत्पन्न हुई भगवान् की प्रेमलक्षण भक्ति करके अपने शरीर पर रोमांच धारण करते हैं ॥ ३१ ॥ और तद-नन्तर वह देहाभिमान छूटजाने के कारण संसार से विलक्षण दशा को पाकर कभी तो 'भगवान् के साक्षात्कार के विना जीवन को धिक्कार है' ऐसा जानकर रोते हैं, कभी 'भगवान् की चोरी करने आदि की लीला को स्मरण करके, हँसते हैं, किसीसमय भगवान् भक्त के अधीन हैं ऐसा मन में विचारकर उन को पाने की सम्भावना करके आनन्द पाते हैं, कभी 'हे हरे ! हे दीनवत्सल ! प्रसन्न हूजिये' ऐसा भाषण करते हैं, कभी उनकी रासक्रीडा आदि का स्मरण करके आप भी नृत्य करते हैं और गाते हैं, किसीसमय भ-

न्धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ॥ नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तरां ॥ ॥३३॥ राजोवाच ॥ नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३४ ॥ पिप्पलायन उवाच ॥ स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ॥ देहेंद्रियासुहृदयानि चरंति येन संजीवितानि तदवेहि परं नरेंद्र ॥ ३५ ॥ नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेंद्रियाणि च यथाऽनलमर्चिषः स्वाः ॥ शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥ ३६ ॥ सत्त्वं रज-

गवान् की गोवर्द्धन को उठाना आदि लीलाओं का अनुकरण करते हैं और कभी तदाकारपने से परमात्मा के साक्षात्कार को पाकर परमानन्द में निमग्न होतेहुए मौन ही रहजाते हैं ॥ ३२ ॥ इसप्रकार भागवत धर्मों को सीखनेवाला और नारायणपरायण पुरुष, भागवत धर्मों के आचरण से उत्पन्न हुई भक्ति करके दुस्तर भी माया को अनायास में तरजाता है ॥ ३३ ॥ इसप्रकार नारायणपरायण हुआ पुरुष, माया को तरता है ऐसा कहा तिस को सुनकर राजाने कहा कि—हे ऋषियो तुम बडे ब्रह्मज्ञानी हो इसकारण तुम नारायणनामक परमात्मा ब्रह्म का स्वरूप हम से कहने को समर्थ हो अर्थात् ब्रह्म एकही वस्तु नारायण, भगवान्, परमात्मा आदि शब्दों से उच्चारण कराजाता है अथवा उस में कुछ विशेष है ? सो मुझ से कृपा करके कहो ॥३४॥ तब पिप्पलायन नामक योगेश्वर कहनेलगे कि—हे राजन् ! वास्तव में परब्रह्म एक ही है, परन्तु उस के सम्बन्धविशेषों से नामों में भेद इसप्रकार हैं कि—जो इस जगत् की उत्पत्ति,स्थिति, संहार का कारण होकर वास्तव में कारणरहित है उस को नारायण कहते हैं, जो सकल प्राणियों की स्वप्न, जागृति और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में साक्षीरूपसे अनुस्यूत रह कर इनतीनों अवस्थाओं से निराली समाधि आदि अवस्थाओं में भी अनुस्यूत होता है उस को ब्रह्म कहते हैं, इस प्रकार लक्षणों के भेदों के कारण नारायण आदि नामों से उच्चारण कराहुआ भी एक ही तत्त्व है ऐसा तुम जानो ॥ ३५ ॥ इस परमतत्त्व को, मन वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और दूसरी इन्द्रियें भी नहीं जानसक्ती हैं; जैसे अग्नि को, अग्नि की ही अंशरूप चिनगारियें प्रकाशित करने को अथवा जलाने को समर्थ नहीं होती हैं तैसे ही इन्द्रियों की वृत्तियें, अपने को प्रकाशित करनेवाले आत्मा को प्रकाशित करने को समर्थ नहीं होती हैं,इंद्रियों की तो वार्ता अलग रहे परन्तु स्वतःप्रमाण ऐसे वेदरूप शब्दने भी, अपने विषय में प्रमाण होनेवाले आत्मवस्तु का 'तहाँ अपनाही निषेध होने के कारण' साक्षात् वर्णन नहीं करा है; किन्तु जहाँ से वाणी मन के साथ पीछे को लौट आती हैं, जो वाणी की प्रेरणा करता है उसको ही तुम ब्रह्म जानो, इत्यादि प्रकार से जैसे अर्थात् वर्णन कराहुआता होयगा तैसा करा है, तो फिर वेद ने वर्णन ही नहीं करा ऐसा कहो तो—तैसा नहीं

स्तमं इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ॥ ज्ञानक्रिया-
र्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥ ३७ ॥ नात्मा
जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ॥
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥ ३८॥
अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ॥ सन्ने

है, क्योंकि स्थूल शरीर ब्रह्म नहीं है, सूक्ष्म शरीर ब्रह्म नहीं है जिस का वाणी से उच्चारण होता है वह ब्रह्म नहीं है, इत्यादि जो वेद ने निषेध करा है उस की अवधि ब्रह्म ही है, यदि अवधि नहीं होता तो उस से औरों का निषेध ही सिद्ध नहीं होता॥३६॥ अब प्रमाण का विषय न होने के कारण ब्रह्म है ही नहीं ऐसा कोई कहे तो कहते हैं—इस जगत् में जो कुछ स्थूल (कार्य) और सूक्ष्म (कारण) दृष्टि पडता है सो सब ब्रह्म ही भासता है, क्योंकि वह ब्रह्म, स्थूलसूक्ष्मों का परमकारण है और वह अनेकों प्रकार की शक्तियों से युक्त है, इसकारण एक होनेपर अनेक प्रकार का भासता है. वह अनेकप्रकार से भासना इसप्रकार होता है कि—जो पहिले एक ब्रह्म था उस को ही सत्त्व, रज और तम इनतीनगुणों से युक्त प्रधान कहते हैं, तदनन्तर उस को ही क्रियाशक्ति के द्वारा सूत्र और ज्ञानशक्ति के द्वारा महत्तत्त्व कहते हैं,तदनन्तर उस को ही जीवका उपाधिरूप अहङ्कार कहते हैं, फिर इन्द्रियों के देवता, इन्द्रियें, विषय और विषयों का प्रकाश इन सब रूपों से वह एक ब्रह्म ही सर्वत्र प्रकाश पारहा है. इसप्रकार स्वयं ही सब रूपों से भासनेवाले ब्रह्म की सिद्धि होने में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ॥ ३७॥ अब, यदि ब्रह्म सर्वात्मक है तो—सकलकार्यों को जन्म आदि विकार होने के कारण ब्रह्म में भी उन का होना सम्भव है ऐसा कहो तो—यह ब्रह्मरूप आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, मरता नहीं है, बढता नहीं है, परिणाम (रूपान्तर) को प्राप्त नहीं होता है और क्षीण भी नहीं होता है, क्योंकि—उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होनेवाले बालकपन और तरुणाई आदि शरीर की अवस्थाओं के तिन २ कालों को देखनेवाला है, अवस्थावालों का देखनेवाला उन अवस्थाओं से युक्त नहीं होता है यह तो स्पष्ट है—अब, अवस्थारहित ऐसा यह कौनसा आत्मा है, इसप्रकार कहो तो-वह आत्मा सकल देशों में निरन्तर रहनेवाला ज्ञानरूप है, वह ज्ञान ही अनेक इन्द्रियों के बल से अनेक प्रकार का कल्पना किया जाता है अर्थात् उस ज्ञान के आधार से ही नीलज्ञान पीतज्ञान इत्यादि अनेकों प्रकार की वृत्तियें उत्पन्न होती हैं और लय को प्राप्त होती हैं परन्तु उस आधारभूत ज्ञान का रूपान्तर (बदल) 'जैसे मनुष्य पशु आदि शरीरों का बदल होने पर भी उन में के प्राणों का बदलना नहीं होता है तैसे ही' नहीं होता है ॥ ३८॥ अब दृष्टान्त का विवरण (खुलासा) करतेहुए इन्द्रियों के लय से निर्विकार आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है

यदिन्द्रियगणेहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥ ३९ ॥
यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ॥ तस्मिन्
विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥ ४० ॥
राजोवाच ॥ कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ॥ विधूयेहाशु कर्माणि
नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥ ४१ ॥ एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ॥ नाब्रु-

सो दिखाते हैं-अण्डज, जरायुज उद्भिज्ज और स्वेदज इन चारप्रकार के शरीरों में, वह देह बदल जायँ तो भी तिन २ सब शरीरों में जीव के पिछाडी होकर रहनेवाला प्राण जैसे एक का एक ही रहता है तैसे ही देह की बालकपन तरुणाई आदि अनेकों अवस्था बदल जायँ तो भी उन में होनेवाला आत्मा एक का एक ही रहता है, बदलता नहीं है. तैसे ही सर्वात्मक परब्रह्म जगत् के विकारों से लेशमात्र भी लिप्त नहीं होता है, वह, जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में भी निर्विकार रहता है. जब जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियें अपने अपने काम करती हैं और स्वप्न में जाग्रत् अवस्था में के संस्कार से युक्त हुआ अहङ्कार अपने काम करता है तब वह निर्विकारी आत्मा, सविकारीहुआसा प्रतीत होता है ठीक है परन्तु जब सुषुप्ति में इन्द्रियों का और अहङ्कार का लय होजाने के कारण लिङ्गशरीररूप उपाधि का भी लय होजाता है तब निर्विकारी सुखरूप आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है; उस का स्मरण जागने पर भी हमें, इतने समय पर्यन्त मैं सुख से सोया था कुछ भी नहीं जाना ऐसा ,होता है इस कारण जिसका अनुभव नहीं उसका स्मरण होने के कारण सुषुप्ति में आत्मा का अनुभव है ही, परन्तु उस समय विषय का सम्बन्ध नहोने के कारण वह स्पष्ट समझ में नहींआता है ॥ ३९ ॥ अब यदि सुषुप्ति में कूटस्थ आत्मा का अनुभव होता है तो फिर उस को संसार कैसे होता है ? अविद्या और अविद्या का संस्कार होने के कारण होता है,ऐसा कहो तो तिस अविद्या को दूर करनेवाला अनुभव कब होयगा ? ऐसा कहोतो-यह मनुष्य धन पुत्रादिकों की इच्छा को छोड़कर केवल भगवान् के चरण की इच्छा रखकर उत्पन्न हुई बड़ीभारी भक्ति से जब चित्त के मल को दूरकरता है अथवा इसका चित्तही गुणोंके और कर्मों के सम्बन्ध से अपने को प्राप्तहुए संस्काररूप मलका त्याग करता है तब (उसचित्त के शुद्ध होनेपर) तिस पुरुष को ' जैसे दृष्टि शुद्ध होतेही पूर्वसिद्ध सूर्य का प्रकाश प्राप्त होता है तैसेही ' अपरोक्षभाव से (प्रत्यक्ष) आत्मतत्त्व प्राप्त होता है और संसार की निवृत्ति होती है ॥ ४० ॥ अब,भक्ति के कर्माधीन होने के कारण कर्मयोग का प्रश्न करताहुआ राजा कहने लगाकि-हे ऋषियो ! तुम हम से कर्मयोग कहो, जिस कर्म कर के संस्कारयुक्त हुआ पुरुष, इसही जन्म में कर्म का शीघ्र त्याग करके कर्मों की निवृत्ति से प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञान को पाता है ॥ ४१ ॥ और यही प्रश्न पहिले, मैंने पिता राजा

वैब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ ४२ ॥ आविर्होत्र उवाच ॥ कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः वेदस्य॥ चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥४३॥ परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ॥ कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ ४४ ॥ नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोजितेंद्रियः ॥ विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ ४५ ॥ वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमी-

इक्ष्वाकुके समीप, ब्रह्माजी के पुत्र सनकादि ऋषियों से कराथा तब सर्वज्ञ भी तिन ब्रह्म पुत्रों ने उसका उत्तर नहीं दिया इसका क्या कारण है सो कहो ॥ ४२ ॥ तब उन में से पहिले दूसरे प्रश्न का उत्तर कहते हुए आविर्होत्र योगेश्वर कहने लगेकि–हे राजन् ! कर्म (विहित), अकर्म (निषिद्ध), विकर्म (विहित को न करना) यह तीन प्रकार केवल वेद से ही समझे जाते हैं, लोक से नहीं समझे जाते हैं, वेद तो ईश्वर से हुआ (अ-पौरुषेय) है, पुरुष के वाक्य में कहनेवाले के अभिप्राय से अर्थ का ज्ञान होता है, वेद में तो वाक्यों के पूर्वापर सम्बन्ध से ही तात्पर्य जानाजाता है, वह बड़ी कठिन है, इसकारण उन कर्मादिकों के निर्णय के विषय में विद्वान् पुरुष भी मोह को प्राप्त होते हैं फिर औरों की तो बातही क्या ? सो तब तुम बालक होने के कारण समझ नहीं सकते थे इस से तिन सनकादि ऋषियों ने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ॥ ४३ ॥ अब वेद का तात्पर्य दुर्ज्ञेय कैसे है सो कहते हैं कि–हे राजन् ! यह वेद परोक्षवाद (एकप्रकार से होनेवाले अर्थ को गुप्त रखने के निमित्त उस को दूसरे ही प्रकार से कहनेवाला) है सो अज्ञानी पुरुषों की जैसे समझ में आवे तैसी रीति से उन से कर्म कराता है, जैसे पिता बालकों को औषध पिलाने लगता है तो उन को 'यदि यह पियेगा तो तुझे लड्डू आदि दूँगा, ऐसा लोभ देकर औषध पिलाता है और लड्डू आदि भी देता है परन्तु लड्डू आदि मिलना औषध पीने का फल नहीं है किंतु रोग की निवृत्ति ही उस का फल है तैसे ही वेद भी स्वर्गादिक आवांतर (लुभाव के) फलों से प्राणियों को लोभित कर के और उन को वह फल भी देकर उन से कर्मों की मोक्ष के निमित्त ही कर्म करवाता है ॥ ४४ ॥ अब कर्म मोक्ष ही यदि पुरुषार्थ है तो पहिले से ही कर्म को छोड़देय, ऐसी शङ्का उठनेपर कहते हैं कि–जो मनुष्य, अजितेन्द्रिय होने के कारण स्वयं ज्ञान को प्राप्तहुआ होकर भी वेदोक्त कर्मोंका आचारण नहीं करता है वह कर्मलोपरूप अधर्म से बारंबार जन्ममरणरूप संसार को पाता है ॥ ४५ ॥ इसकारण निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, ज्ञान की प्राप्ति होनेपर्यन्त जो मनुष्य, फल की चाहना से रहित होकर, ईश्वर के विषैं अर्पण होयँ ऐसी रीति से वेद में कहेहुए ही कर्मों को करता है वह अन्तःकरण की शुद्धि, भक्ति और वैराग्य

श्वरे ॥ नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ ४६ ॥ य आशु हृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षुः परात्मनः ॥ विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ ४७ ॥ लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन संदर्शितागमः ॥ महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याऽभिमतयात्मनः ॥ ४८ ॥ शुचिः संमुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ॥ पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥४९॥ अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः द्रव्यक्षित्यात्मलिंगानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥ ५० ॥ पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ॥ हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥ ५१ ॥ सांगोपांगां सपार्षदां तां तां मूर्त्ति स्वमन्त्रतः ॥ पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥ ५२ ॥ गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपो-

को प्राप्त होकर सकल कर्मों को दूर करनेवाली मोक्षरूप सिद्धि को पाता है, स्वर्गादि की प्राप्तिरूप फल का जो वेद ने वर्णन करा है सो केवल कर्मों के ऊपर रुचि उत्पन्न करने के निमित्त ही करा है ॥ ४६ ॥ इसप्रकार वैदिक कर्मयोग कहकर अब तांत्रिक कर्मयोग कहते हैं—जो मनुष्य, परब्रह्मरूप ही होनेवाले अपने जीवात्मा के अहङ्काररूप बन्धन को शीघ्रता से तोडने की इच्छा करता होय वह तन्त्रोक्त और वेदोक्त दोनोंप्रकार की विधियों से भगवान् की पूजा करे ॥ ४७ ॥ आचार्य से जिस को उपनयनपूर्वक मन्त्र की प्राप्ति हुई है और तिस गुरु ने ही जिस को आगम में कहाहुआ पूजाआदि का प्रकार दिखाया है ऐसा पूजक, अपने को प्रिय लगनेवाली रामकृष्ण आदि मूर्त्ति के स्वरूप से युक्त महापुरुष भगवान् का पूजन करे ॥ ४८ ॥ स्नान आदि के द्वारा शुद्ध होकर, मूर्त्ति के सामने बैठकर और प्राणायाम, भूतशुद्धि आदि के द्वारा शरीर की शुद्धि को करके उत्तमप्रकार के न्यासों से रक्षा की विधि होनेपर देशकाल आदि की अनुकूलता के अनुसार प्राप्तहुई गन्ध पुष्पादि सामग्रियों से प्रतिमा आदि के विषैं अथवा हृदय में श्रीहरि का पूजन करे, इस पूजन के करने से पहिले ही पुष्प आदि पदार्थों को—कीडे आदिकों को दूर करने से भूमि को—बुहारने आदि से, मन को—एकाग्रता से और श्रीहरि की मूर्त्ति को—पहिलेदिन लगाये हुए चन्दन आदि को धोने आदि से ठीक करके और तदनन्तर आसन का प्रोक्षण करके, पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय इन के तीन पात्र स्थापन करे, फिर एकाग्रपने से हृदय में ध्यान और पूजन करेहुए भगवान् का प्रतिमा में आवाहन करके फिर उन देव के विषैं हृदय, शिर, शिखा, नेत्र, अस्त्रमंत्रों से और मूलमंत्र से न्यास करके मूलमंत्र से उन का पूजन करे ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ तिस में हृदय आदि अंग, सुदर्शन आदि उपाङ्गों सहित और नन्दादि पार्षदों सहित तिन २ रामकृष्णादि मूर्त्तियों के मूलमंत्र से पाद्य, अर्घ्य आचमनीय, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, भूषण, गन्ध, पुष्प, अक्षत, माला, धूप, दीप, नैवेद्य और ताम्बूल

पहारकैः ॥ साङ्गं संपूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥ ५३ ॥ आ-
त्मानं तन्मयं ध्यायन्मूर्त्तिं संपूजयेद्धरेः ॥ शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य स-
त्कृतम् ॥ ५४ ॥ एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ॥ यजतीश्वरमात्मानम-
चिरान्मुच्यते हि सः ॥ ५५ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे तृतीयो-
ऽध्यायः ॥ ३ ॥ छ ॥ राजोवाच ॥ यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ॥
चक्रे करोति कर्त्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥ द्रुमिल उवाच ॥ यो वा अनन्तस्य
गुणाननंताननुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ॥ रजांसि भूमेर्गणयेत्कथंचित्कालेन
नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥ भूतैर्यदा पंचभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य
तस्मिन् ॥ स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥ य-
त्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो यस्येंद्रियैस्तनुभृतामुभयेंद्रियाणि ॥ ज्ञानं स्वतः

आदि सामग्रियों से श्रीहरि की साङ्गोपाङ्ग विधि के अनुसार पूजाकरे, तदनन्तर स्तोत्रों से स्तुति करके भगवान् को नमस्कार करे ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ अपना आत्मा भगवद्रूप है ऐसा ध्यान करताहुआ भगवान् की मूर्त्ति का पूजन करे, तदनन्तर भगवान् का प्रसाद (निर्माल्य) मस्तक पर धारण करके, पूजा करेहुए देव को स्वस्थान में (देव को हृदय में वा मूर्त्ति रखने के सिंहासन में) स्थापन करके पूजा की विधि को समाप्त करे ॥ ५४ ॥ इसप्रकार अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और हृदय के विषैं जो पुरुष आत्मा ईश्वर का पूजन करता है वह पुरुष, शीघ्रही संसार से मुक्त होता है ॥ ५५ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में तृतीय अध्याय समाप्त॥*॥ अपने को प्रिय होय तिस तिस मूर्त्ति के विषैं भगवान् का पूजन करे, ऐसा सुनने से भगवान् के अवतार को जानने की अपेक्षा हुई इसकारण राजाने कहा कि—हे ऋषियो! श्रीहरि ने जिन२स्वतन्त्र अवतारों से इस मनुष्यलोक में जो२ कर्म करे हैं जो२ करते हैं और आगे को करेंगे वह अवतारों के चरित्र हम से कहिये॥ १ ॥ तब द्रुमिल नामवाले योगेश्वर कहनेलगे कि—हे राजन्! जो पुरुष, अनन्त भगवान् के अनन्तगुणों को गिनने की इच्छा करे उसको मन्दबुद्धि समझना चाहिये; क्योंकि-कोई एकाद परमबुद्धिमान् पुरुष, बहुतसे समय में और बड़े प्रयत्न से कदाचित् भूमि के रज के कणों की गणना करलेय परन्तु सकल शक्तियों के आश्रय भगवान् के गुणों को गिनने को वह समर्थ नहीं होगा इसकारण तुम्हारे अर्थ मैं संक्षेपसे कई एक अवतारों के चरित्र कहता हूँ सुनो ॥ २ ॥ तिस में पहिले सकल अवतारों के मूल पुरुषावतार को कहते हैं कि—जब सब के कारणभूत नारायण ने, अपने ही उत्पन्न करेहुए आकाश आदि पञ्च-महाभूतों से ब्रह्माण्डरूप देह को उत्पन्न करके उस में अपने अंश से प्रवेशकरा तब वह पुरुष नाम को प्राप्तहुए ॥ ३ ॥ जिन के शरीर पर यह त्रिलोकी की रचना हुई, जिन की इन्द्रियों से जीवों की ज्ञानेन्द्रियें उत्पन्नहुई हैं, जिन के स्वरूपभूत सत्त्वगुण से जीवों को

श्वसन्तो यंलमोजं ईहा सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४ ॥ आ-
दावभूच्छतधृती रजसाऽस्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ॥ रुद्रो
ऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशांतः ॥ नैष्कर्-
म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म योऽद्यापि चास्ते ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥
इंद्रो विशंक्य मम धाम जिघृक्षतीति कामं न्ययुंक्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ॥
गत्वाऽप्सरोगणवसंतसुमंदवातैः स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥ वि-
ज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ॥ मा भैष्ट

ज्ञान प्राप्त होता है, जिन के प्राण से जीवों की-देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति और सकलक्रिया उत्पन्न होती हैं और जो इस जगत् की उत्पत्ति,स्थिति, संहार के आदिकर्त्ता हैं ॥ ४ ॥ जिन के रजोगुण से इस जगत् की उत्पत्ति के विषय में प्रथम ब्रह्माजी हुए, जिन के सत्त्व-गुण से जगत् का पालन करने के विषय में यज्ञ का फल देनेवाले, ब्राह्मणों का और ब्राह्मणों के धर्मों का पालन करनेवाले विष्णु भगवान् हुए, जिन के तमोगुण से जगत् के संहार के विषय में रुद्र उत्पन्नहुए, इसप्रकार जिन से उत्पन्नहुए ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र से नि-रन्तर प्रजाओं की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते हैं वह आदि पुरुष हैं ॥ ५ ॥ अब नरनारायणावतार और उन के कर्म कहते हैं—धर्म की भार्या और दक्ष की कन्या मूर्त्ति ना-मवाली स्त्री के उदर में, ऋषियों में श्रेष्ठ और अत्यन्त शान्त नारायण और नर इन दो मूर्त्तियों के द्वारा अवतार हुआ, उन्हों ने आत्मस्वरूप का प्रकाश करनेवाले कर्म नारदा दिकों से कहे हैं और अपने आप भी करे हैं, वह नरनारायण ऋषि अब भी, नारदादि श्रेष्ठ—ऋषियों ने जिन के चरण की सेवाकरी है ऐसे होते हुए तपस्या कररहे हैं ॥ ६ ॥ अब उन की भगवान् के अवतारपने को प्रकाशित करनेवाली बड़ीभारी सहनशीलता दिखाने के निमित्त इतिहास कहते हैं कि—इन्द्र ने उन नरनारायण के तप को देखकर 'यह मेरे स्थान को हरने की इच्छा करते हैं ऐसी, मन में शङ्का करके उन के तपका नाश करने के निमित्त, वसन्त आदि परिवार सहित कामदेव को भेजा, तब उन की महिमा को नजा-ननेवाला वह कामदेव, अप्सराओं के समूह, वसन्तऋतु और मन्दगामी पवन इन के साथ 'बदरिकाश्रम में जाकर, स्त्रियों के कटाक्षरूप बाणों से उन को वेधनेलगा, अर्थात् उन के चित्त को डिगाने में प्रवृत्त हुआ ॥ ७ ॥ तब वह नरनारायण, इन्द्र के करेहुए अ-पराध को जानकर, उस के मोह के स्मरण से हँसकर गर्वरहितपने से ' अपना उद्योग व्यर्थ होने के कारण शाप के भय से थर थर काँपनेवाले, उन कामदेव आदिकों से कहनेलगे कि—हे कामदेव ! हे पवन ! हे देवाङ्गनाओं ! तुम मुझ से भय मतमानो, तुम, हमारी करीहुई

भो मदन मारुत देववध्वो गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥
इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ॥ नैतद्वि-
भो त्वयि परोऽविकृते विचित्रं स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥
त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलंघ्य परमं व्रजतां पदं
ते ॥ नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता
यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥ क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्यानस्मानपार
जलधीनतितीर्य केचित् ॥ क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोर्मज्जन्ति दुश्च-

पूजा को ग्रहण करके इस आश्रम को अशून्य (कृतार्थ) करो-जिस आश्रम में अतिथि का सत्कार नहीं होता है तिस आश्रम को शून्य कहते हैं ॥ ८ ॥ हे राजन् ! अभय देनेवाले उन नरनारायण के ऐसा कहने पर लज्जित हुए मस्तक नमाएहुएवह काम आदि देवता, उन दयालु से कहनेलगे कि-हे विभो ! माया से परं, कामक्रोधादि विकाररहित और अपने स्वरूप में रमण करनेवाले धैर्यवान् पुरुषों के समूहों से जिन का चरण कमल वन्दना कारागया है ऐसे तुम्हारे विषैं यह चलायमान न होना और कृपा करना आश्चर्य कारक नहीं है ॥ ९ ॥ हे प्रभो ! तुम्हारी सेवा करनेवाले पुरुष, स्वर्गरूप स्थान को लाँघ कर सर्वोत्तम वैकुण्ठ लोक को जाते हैं इसकारण उन को ही इन्द्रादिक देवताओं के करेहुए बहुत से विघ्न प्राप्त होते हैं, तुम्हारी सेवा न करनेवालों को वह विघ्न नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि-वह यज्ञ में तिन इन्द्रादिकों के पुरोडाशआदि भाग ' जैसे किसान लोग, राजा का कर आदि राजा को देते हैं तैसेही , देते हैं, तो क्या मेरा भक्त विघ्नों से तिरस्कार को प्राप्त होता है ? नहीं नहीं,सकल देवताओं के स्वामी तुम उस की रक्षाकरते हो इस कारण वह भक्त विघ्नों के मस्तक पर चरण रखकर तुम्हारे वैकुण्ठ को जाता है जब तुम्हारे भक्त को भी विघ्न नहीं होते तो फिर तुम्हें विघ्न कहां से होंगे ? अर्थात् कभी हो ही नहींसक्ते ॥ १० ॥ तुम्हारी भक्ति न करके केवल तप करनेवालों की दो प्रकार की गति होती है,वह प्रथम तो हमारे वश में होजाते हैं, नहीं तो क्रोध के वश में होजाते हैं; तिस में हमारे वश में होनेवालों को विषयभोग तो प्राप्त होता है और क्रोध के वश में होनेवाले तो बडे ही मूढ़ होजाते हैं, क्योंकि-भूँख, प्यास, सरदी,गरमी,वर्षा, पवन, जिह्वा के विषय और मूत्रेन्द्रिय के भोग इस अपार समुद्र को लाँघकर कितने ही मूर्ख तपस्वी, निष्फल क्रोध के वश में होकर, गौके पैर के चिन्हरूप गढ़हे के जल में ही डूबजाते हैं और अपने दुष्कर तप को व्यर्थ नष्ट करदेते हैं अर्थात् जैसे जल में डूबताहुआ पुरुष, घबड़ाजानेपर, मस्तकपर रक्खेहुए धनादि के बोझ को विवश होकर व्यर्थ छोडदेते हैं तैसे ही यह मूर्ख तपस्वी भी मोक्ष के निमित्त नहीं और विषयभोग के निमित्त भी नहीं

स्तपर्थं हंधोत्सृजन्ति ॥ ११ ॥ इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोत्यद्भुतदर्शनाः ॥ दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥ १२ ॥ ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणी ॥ गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥ १३ ॥ तानाह देवदेवेशः प्रणतान्प्रहसन्निव ॥ आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णा स्वर्गभूषणाम् ॥ ॥ १४ ॥ ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ॥ उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥ १५ ॥ इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ॥ ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥ १६ ॥ हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः ॥ विष्णुः शिवाय जगतां कलयाऽवतीर्णस्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥ १७ ॥ गुप्तोऽप्यये मनुरिलौ-

किन्तु व्यर्थ ही शाप आदि के रूप से अपने दुष्कर तप का नाश करडालते हैं ॥११॥ इसप्रकार उन कामदेव आदिकों के स्तुति करने पर नरनारायण ने उन का गर्व नष्ट करने के निमित्त योगबल से तहाँ अपनी शुश्रूषा करनेवालीं, अद्भुतरूपवती और उत्तम आभूषण धारण करनेवालीं सहस्रों स्त्रियें रचकर उन को दिखाईं ॥ १२ ॥ तब, मानो मूर्त्तिमान् लक्ष्मी ही हैं ऐसी उन स्त्रियों को देखकर उन के रूपकी अधिक सुन्दरता आदि से निस्तेज हुए वह कामदेव आदि देवसेवक, उन स्त्रियों के शरीर की सुगन्ध से ही मोह को प्राप्त होगए ॥ १३ ॥ तब ब्रह्मादिकों के भी ईश्वर वह नरनारायण, हास्य करना सा दिखाकर नम्रहुए उन कामदेव आदिकों से कहनेलगे कि—इन स्त्रियों में से किसी स्त्री को मांगलो, यदि अतितुच्छ हम कहाँ ? और यह अतिसुन्दर स्त्रियें कहाँ ? ऐसा तुम्हारे मन में विचार हो तो इन में की कोई बुरी सी अपनी समान ही मांगलो, यदि कहोकि-इन में ऐसी एकभी नहींहै तो न सही परन्तु स्वर्गकी भूषणरूप एक तो मांगही लो १४ तब उन काम आदि देवताओं ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन नरनारायण की आज्ञा को माना और उन को नमस्कार करके तथा अप्सराओं में श्रेष्ठ जो उर्वशी तिस को आगे करके वह स्वर्ग को चलेगये ॥ १५ ॥ तदनन्तर उन्हों ने सभा में बैठेहुए इन्द्र को नमस्कार करके, देवताओं के सुनतेहुए, नरनारायण का प्रभाव वर्णन करा, तिस को सुनकर इन्द्र ने बड़ा आश्चर्य माना ॥ १६ ॥ अब दूसरे अवतार और उन के चरित्र कहते हैं—जगत् के कल्याण के निमित्त अंश करके अवतार धारण करनेवाले विष्णु भगवान् हंसावतार धारण करके ब्रह्माजी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करा, तैसे ही तिन विष्णु भगवान्के, दत्तात्रेय, सनत्कुमार, और हमारे पिता भगवान् ऋषभदेव यह तीन अवतारहुए, उन्हों ने भी तत्त्वज्ञान का उपदेश करा, उनही विष्णु ने, हयग्रीव अवतार में मधुनामवाले दैत्य को मारकर उस से श्रुतियें लौटाकरलीं ॥ १७ ॥ उन्हों ने ही मत्स्याव-

षध्यश्च मात्स्य क्रौडे हतो दितिज उद्धरताऽम्भसः क्ष्मां ॥ कौर्मे धृतोऽद्रि-
रमृतोन्मथने स्वपृष्ठे ग्राहात्प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥ १८ ॥ संस्तुन्वतोऽब्धि-
पतिताञ्छ्रमणानृषींश्च शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ॥ देवस्त्रियोऽसुरगृहे
पिहिता अनाथा जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥ १९ ॥ देवासुरे युधि च
दैत्यपतीन् सुरार्थे हत्वाऽन्तरेषु भुवनान्यदधात्कलाभिः ॥ भूत्वाऽथ वामन इ-
मामहरद्बलेः क्ष्मां याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥ २० ॥ निःक्ष-
त्रियामकृत गां च त्रिः सप्तकृत्वो रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ॥ सोऽ-
ब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥ २१ ॥
भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ॥ वादैर्वि-

तार धारण करके प्रलय के समय वैवस्वत, मनु, पृथिवी और औषध इन की रक्षा करी; तैसे ही वराहावतार धारकर जल में पृथ्वी का उद्धार करते में हिरण्याक्ष दैत्य का वधकरा; कूर्मावतार धारकर समुद्रमन्थन के समय पीठपर मन्दराचल को धारण करा और हरि अवतार के समय पीडित होकर शरण आयेहुए गजराज को ग्राह से छुडाया ॥ १८ ॥ उन ही भगवान् ने, निराले२अवतार धारकर कश्यपजी के निमित्त समिधालाने को वन में जाकर तहाँ गौ के खुर के गढहेके जल में डूबने लगनेके कारण इन्द्र के हास्य करेहुए और श्रमपाकर स्तुति करनेवाले वालखिल्य ऋषियों को उस सङ्कट से तारा और वृत्रासुर के वध से ब्रह्महत्यारूप पाप में पडेहुए इन्द्र को उस पाप से छुड़ाया, तैसे ही दैत्यों के घरों में बन्द करके रक्खीहुई देवताओं की अनाथ स्त्रियों को छुडाया और तिन भगवान् ने नृसिंहावतार धारकर साधुओं को अभय प्राप्त होने के निमित्त हिरण्यकशिपु का वध करा ॥ १९ ॥ उन ही भगवान् ने सब मन्वन्तरों में देवदैत्यों के युद्ध में देवताओं का कार्य साधने के निमित्त अपने अवतारों से दैत्याधिपतियों को मारकर भुवन की रक्षा करी और वामनावतार धारण करके भिक्षा माँगने के बहाने से राजा बलि से यह पृथ्वी लेकर देवताओं को दी ॥ २० ॥ सहस्राबाहु आदि राजाओं के कुलों का नाश करने के विषय में भृगुकुल में उत्पन्न हुए, मानो जैसे अग्नि ही हो ऐसे तेजस्वी परशुरामावतार को धारण करके पृथ्वी को इक्कीसवार निःक्षत्रिय करा, उन्हों ने ही रामावतार धारकर समुद्रपर सेतु बाँधा और लङ्का में रहनेवाले रावण का वध करा, वह लोकों के पापों का नाश करनेवाली कीर्त्ति से युक्त सीतापति श्रीरामचन्द्रजी, इससमय राज्य करते हैं ॥ २१ ॥ वही जन्मरहित भगवान् पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त यादवों में रामकृष्णावतार धारकर, जिनको देवता भी न करसकें ऐसे चरित्र करेंगे और बुद्धावतार धारण करके, यज्ञ का अनुष्ठान करने के विषयमें अयोग्यहोकरभी

मोहयति यज्ञकृतेऽतदर्हान् शूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥ २२ ॥ एवं-
विधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ॥ भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि म-
हाभुज ॥२३॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥
राजोवाच ॥ भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ॥ तेषामशान्तकामानां
का निष्ठाऽविजितात्मनां ॥ १ ॥ चमस उवाच ॥ मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्या-
श्रमैः सह ॥ चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २ ॥ य एषां पुरुषं
साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ॥ न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥३॥
दूरेहरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ॥ स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या
भवादृशां॥४॥विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ॥ श्रौतेन जन्मनाथा-

यज्ञकरनेकी इच्छाकरनेवाले दैत्योंको वेदविरुद्ध तर्क समझाकर मोहितकरेंगे;तैसेही कलियुग के अन्त में कल्किरूपसे अवतार धारकर शूद्रप्रायहुए अधर्मी राजाओं का संहारकरेंगे।२२॥ हे परमपराक्रमी राजन्! इसप्रकार जगत्पति महाकीर्त्तिमान् भगवान् के जन्म और कर्मों का मैंने तुम से संक्षेप से वर्णन करा है; दूसरे भी बहुतसे चरित्र कवियों ने जहाँतहाँ वर्णन करे हैं ॥२३॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥*॥ राजा निमि ने कहा कि—हे परमब्रह्म ज्ञानियों! जो बहुतसे पुरुष भगवान् श्रीहरि का भजन नहीं करते हैं, उन मन को वश में करके न रखनेवाले और विषयवासनाओं में आसक्तहुए पुरुषों की अन्त में कौन गति होती है? ॥१॥ तब, अपने उत्पन्न करनेवाले भगवान् का अनादर करने से उन को दुर्गति प्राप्त होती है,यह कहने के निमित्त पहिले चमस नामक योगेश्वर, भगवान् से वर्णाश्रमों की उत्पत्ति कहते हैं, चमस ने कहा कि— हे निमि राजन्! नारायण के मुख, बाहु, जङ्घा और चरण इन अङ्गों से क्रम करके निराले निराले ब्राह्मण आदि चार वर्ण गुणों से अर्थात् सत्त्वगुण से ब्राह्मण, सत्त्वरजोगुण से क्षत्रिय, रजस्तमोगुण से वैश्य और तमोगुण से शूद्र उत्पन्न हुए हैं. तैसे ही हृदय से ब्रह्मचर्य आश्रम, कमर के पीछे के भाग से गृहस्थआश्रम,वक्षःस्थल से वानप्रस्थ आश्रम और मस्तक से सन्यास आश्रम यह चारों आश्रम उत्पन्न हुए हैं ॥२॥ इन वर्णाश्रमवान् लोकों में जो पुरुष, अपने को उत्पन्न करनेवाले साक्षात् पुरुषोत्तम ईश्वर को नहीं जानते हैं और सेवा नहीं करते हैं अथवा जानकर भी अवज्ञा करते हैं वह पुरुष, कृतघ्नी होने के कारण अपने वर्णाश्रमधर्म से भ्रष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ अब, जिन से भगवान् की कथाओं का सुनना और भगवान् का कीर्तन दूर हैं अर्थात् यह जिन्होंने कभी करे ही नहीं हैं ऐसी जो स्त्रियें और शूद्र हों वह तुमसमान अधिकारी राजाओं के, सामदाम आदि उपायों के द्वारा अनुग्रह करने के योग्य हैं ॥ ४ ॥ अब, जो अधिकारी होकर भी जानबूझकर भगवान् का भजन नहीं करते हैं उन की निन्दा करते हैं कि—कितने ही ब्रा-

पि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥५॥ कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ॥
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥ ६॥ रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका
अहिमन्यवः॥ दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥७॥वदन्ति तेऽन्यो-
ऽन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यसुखेषु चाशिषः॥ यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः॥८॥श्रिया विभूत्याऽभिजनेन विद्यया त्यागेन
रूपेण बलेन कर्मणा ॥ जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरि-
प्रियान् खलाः ॥ ९ ॥ सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमी-
श्वरम् ॥ वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

ह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यद्यपि उपनयन संस्कार अध्ययन आदि भगवद्भजन के अधिकार को प्राप्त होगये हैं तथापि वह, वेद में के अर्थवाद (फलश्रुति) सत्य हैं ऐसा मानकर कर्मों के फलों में आसक्त होकर मोहित होते हैं ॥ ५ ॥ अब, भक्तिमार्ग को दृढ़ करने के निमित्त उन के मोह का विस्तार करके उन की निन्दा करते हैं कि—कर्म के विषय में अकोविद (जैसे कर्म बन्धन करनेवाला नहीं होय तैसे कर्म करना नहीं जाननेवाले), उद्धत और मूर्ख होकर भी हम ही पण्डित हैं ऐसा माननेवाले वह पुरुष, हम यहाँ यज्ञ में सोमपान करें और फिर अमर होयँ इत्यादिक जिस मधुरवाणी से उत्कण्ठित होकर मोहित होते हैं तिस ही वाणी से वह, 'हम अप्सराओं के साथ क्रीडा करें' इत्यादि मन को प्रिय लगनेवाले शब्द भाषण करते हैं ॥ ६ ॥ और रजोगुण की अधिकता से दूसरों के घातपात करने का सङ्कल्प करनेवाले,विषयभोगों में आसक्त,सर्पों की समान क्रोधी, दम्भी, अभिमानी और पापी वह पुरुष, भगवद्भक्तों का उपहास करते हैं ॥७॥ जिन्होंने, स्त्रियों की ही उपासना चलारक्खी है और वृद्धों की सेवा नहीं करते हैं वह पुरुष, जिन में मैथुन ही सुख है, अतिथि का सत्कार नहीं है ऐसे घरों में रहकर 'आज मैं ने इतना पाया है, अब मेरा यह मनोरथ पूर्ण होगा; मेरे पास इतना धन तो अब है ही और आगे को अब इतना धन होजायगा इत्यादि' अपने मनोरथ परस्पर वर्णन करते हैं, और जिन में परिपूर्ण दक्षिणा अथवा अन्नदान नहीं हैं ऐसे विधानरहित दाम्भिक यज्ञ करते हैं तैसे ही हिंसा का दोष मन में न लाकर केवल अपनी जीविका चलाने के निमित्त पशुओं की हिंसा करते हैं ॥ ८ ॥ सम्पत्ति, ऐश्वर्य, उत्तमकुल में जन्म, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म इन से होनेवाले अभिमान के कारण अन्धबुद्धि हुए वह दुष्ट, भगवान् का और भगवद्भक्तों का अपमान करते हैं ॥ ९ ॥ इसप्रकार वर्त्ताव करनेवाले वह मूर्ख पुरुष, वेदों के स्पष्ट प्रतीत होनेवाले भी ठीक अर्थ को नहीं जानते हैं,क्योंकि—वह पुरुष सकलप्राणिमात्रों में आत्मत्त्व करके और ईश्वरत्त्व करके आकाश की समान व्याप्त होकर रहनेवाले, वेद में गान करेहुए और अतिप्रिय आत्मा का श्रवण भी नहीं करते हैं;

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जंतोर्नहि तत्र चोदना ॥ व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११ ॥ धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशांति ॥ गृहेषु युंजन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यंति दुरंतवीर्यम् ॥ १२ ॥ यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा ॥

किन्तु वास्तव में निवृत्तिपरायण भी वेद का, स्त्रीसंभोग, मांसभक्षण और मद्यपान आदि विषयों की वार्त्ता से प्रवृत्तिपरायणरूप से वर्णन करते हैं ॥ १० ॥ अब 'ऋतुकाल में स्त्रीसम्भोग करे' हवन करके शेष रहेहुए मांस का भक्षण करे' इत्यादि विधि से ही सम्भोग आदि के कहने पर, उन की तुम निन्दा क्यों करते हो? ऐसा कहो तो सुनो—इस लोक में प्राणीमात्र को विषयासक्ति स्वाभाविक ही होने के कारण स्त्रीसम्भोग, मांसभक्षण और मद्यपान यह निरन्तर प्राप्तहुए हैं ही इसकारण उन को करने के विषय में वेद ने विधि नहीं कही है किन्तु उन विषयों में आसक्तहुए प्राणी को नियम की विधिरूप से, विवाह, यज्ञ और सुराग्रहण के द्वारा सम्भोग आदिकों का करने की आज्ञा दीहुईसी करके सङ्कोचमात्रकरा है अर्थात् स्त्रीसम्भोग करना होय तो विवाह करके उस स्त्री के विषैं ऋतुकाल में ही (सोलह दिन के भीतर ही) वर्जित दिनों को छोडकर रात्रि में एकवार ही पुत्र की प्राप्ति के निमित्त ही करे, और समय न करे. तैसे ही रागवश मांसभक्षियों को यदि मांस ही भक्षण करना होय तो-यज्ञमें शेष रहेहुए हविर्भाग का ही सेवन करे, दूसरे मांस को सेवन न करे. सुरापान करना होय तो सौत्रामणिनामक इष्टिकरके तिसमें ही गन्धसूँघने के रूपसे सुरापान करे, और प्रकार नहीं करे, ऐसा सङ्कोच करा है; तो फिर स्त्रीसम्भोग, मांसभक्षण और सुरापान यह बडी खटपट के हैं इसकारण नहीं होना चाहिये ऐसा समझकर प्राणी उन का त्याग करेंगे सो वह त्याग करना ही वेद को इष्ट है ॥ ११ ॥ इसप्रकार मैथुन मांसभक्षण आदि मनोरथों से व्याकुलचित्तहुए पुरुष, प्रिय आत्मा का श्रवण नहीं करते हैं ऐसा कहा अब धर्म के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति करानेवाले धन का भी वह पुरुष केवल विषयभोग के निमित्त ही व्यय करते हैं इसकारण उन को ज्ञान नहीं प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—धर्माचरण करना ही धन का मुख्य फल है, जिस धर्म से परोक्ष ज्ञान और तत्काल शान्ति देनेवाला अपरोक्ष ज्ञान यह दोनों प्राप्त होते हैं; ऐसे कल्याणकारी धन का वह विषयलम्पट पुरुष, केवल शरीर के सुख के निमित्त घरों में व्यय करते हैं, वह, अटलपराक्रमी मृत्यु ने हमारे शरीर को घेरलिया है ऐसा नहीं देखते हैं ॥ १२ ॥ और वेद में जो मद्यपान आदिकों की व्यवस्था से आज्ञा दी है वह भी दूसरे प्रकार की ही है, यथेष्ट नहीं है, सो

१ ऋतौ भार्यामुपेयात् ।

२ हुतशेषं भक्षयेत् ।

एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३ ॥ ये
त्वनेवंविदोऽसंतः स्तब्धाः सदभिमानिनः ॥ पशून् द्रुह्यंति विस्रब्धाः प्रेत्य
खादंति ते च तान् ॥ १४ ॥ द्विषंतः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ॥ मृ-
तके सानुबंधेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतंत्यधः ॥ १५ ॥ ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चा-
तीताश्च मूढताम् ॥ त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयंति ते ॥ १६ ॥ एत
आत्महनोऽशांता अज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥ सीदंत्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनो-
रथाः ॥१७॥ हित्वात्मायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ॥ तमो विशंत्यनिच्छंतो
वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १८ ॥ राजोवाच ॥ कस्मिन्काले स भगवान् किं-

इसप्रकार है कि-सुरा का जो प्राशन कहा है सो सुरा का नाक से सूंघनामात्र ही कहा है, प्रत्यक्षपान नहीं कहा है. तैसे ही यज्ञ में पशु का देवता के उद्देश से आलभन (मारण) कहा है, हिंसा (भक्षण उद्देश से मारना) नहीं कही है. इसप्रकार स्त्रीसम्भोग भी पुत्र की प्राप्ति के निमित्त ही कहा है, रतिसुख के निमित्त नहीं कहा है, इस अत्यन्त शुद्ध स्वधर्म को वह अज्ञानी पुरुष नहीं जानते हैं ॥ १३ ॥ इसप्रकार भगवान् से विमुख रहनेवालों के बहुत से दोष कहकर अब उन की अन्तकी गति कहते हैं कि-जो इसप्रकार का धर्म न जाननेवाले असत्पुरुष, उद्धतपना, हम ही सत्पुरुष हैं ऐसा अभिमान धारण करके निःशङ्कपने से 'ऐसा करने पर ऐसा होयगा' इसप्रकार का मनोरथ करके पशुओं का द्रोह करतेहैं वह मरण को प्राप्त होने पर, उन के यहाँ मारेहुए जो पशु होते हैं वही उनको परलोकमें मारकर खातेहैं।१४।और जोपुरुष,पुत्रादिसहित इसअपने शवतुल्य शरीरके ऊपर स्नेहरखकर, और शरीरों में रहनेवाले परन्तु अपने भी आत्मा ऐसे परमेश्वर श्रीहरि का द्वेष करते हैं, वह मरण को प्राप्त होनेपर दुर्गति को प्राप्तहोते हैं ॥१५॥ अज्ञानी पुरुष, तत्त्वज्ञानियों का अनुग्रहहोनेपर तरजातेहैं और तत्त्वज्ञानी तो स्वयंही तरजातेहैं परन्तु जोतत्त्वज्ञानको प्राप्त नहीं हुए हैं और जो अत्यन्त मूढ़ भी नहींहैं वहधर्मार्थ कामके विषयमें खटपट करनेवाले और शान्तिके विषयमें क्षणभर भी अवकाश न पानेवाले पुरुष, अपने हाथसेही अपना घात कर लेते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप को न जानने के कारण जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥ यह पुरुष अपने को ही धोखा दे लेनेवाले, शान्ति रहित अज्ञानरूप कर्म को ही ज्ञान माननेवाले और अवश्यकर्त्तव्य जो श्रवणादिक साधन तिन को न करने वाले होने के कारण इसलोक में और परलोक में काल के द्वारा नष्टमनोरथ होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं ॥ १७ ॥ जो पुरुष वासुदेव भगवान् से विमुख हैं वह परम कष्ट से प्राप्त करेहुए घर, सन्तान, मित्र, धन आदि सम्पत्तियों को, त्यागने की इच्छा न होने पर भी इसलोक में ही छोडकर अन्त में नरक में प्रवेश करते हैं ॥ १८ ॥ इसप्रकार

वर्णः कीदृशो नृभिः ॥ नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ ॥ १९ ॥ करभाजन उवाच ॥ कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ॥ नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २० ॥ कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलांबरः ॥ कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥ मनुष्यास्तु तदा शांता निर्वैराः सुहृदः समाः ॥ यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ ॥ २२ ॥ हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरो मनुः ॥ ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३ ॥ त्रेतायां रक्तवर्णोसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ॥ हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४ ॥ तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिं ॥ यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥ २५ ॥ विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ॥ वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥ २६ ॥ द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः ॥ श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च

भक्तों की गति कहने के कारण साधक भगवान की भक्ति ही करे ऐसा सिद्ध होनेपर तिस के विषय में विशेष बूझने के निमित्त राजा निमि ने कहा कि—हे ऋषियो ! वह भगवान् किससमय में किस वर्ण के और किस आकार के होते हैं तथा उन का कौनसे नामसे और कौनसी विधि से, मनुष्य पूजन करैं सो अब मुझ से कहो ॥ १९ ॥ तब करभाजन नामवाले योगेश्वर कहनेलगे कि—हे राजन् ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि यह चार युग हैं ; तिन में निराले निराले वर्ण, नाम और स्वरूपों को धारण करनेवाले भगवान् की अनेकों प्रकार की विधियों से लोक पूजा करते हैं ॥ २० ॥ सत्ययुग में स्वेतवर्ण, चतुर्भुज, जटाधारी और वृक्षों की छाल धारण करनेवाले, तैसेही कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष की माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करनेवाले ब्रह्मचारीरूप भगवान् होते हैं ॥ २१ ॥ तिसयुग में मनुष्य, शान्त, निर्वैर, सबों के मित्र और सुखदुःखों में समान तथा ध्यान,योग, मन का निग्रह और इन्द्रियों के निग्रह के द्वारा भगवान् की आराधना करते हैं ॥ २२ ॥ और वह पुरुष, हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा ऐसे भगवान् के नाम गाते हैं ॥ २३ ॥ त्रेतायुग में रक्तवर्ण, चतुर्बाहु, कमर में दीक्षा की त्रिगुणित मेखला को धारण करनेवाले पिंगल वर्ण के केशवाले और स्रुचि, स्रुवा आदि लक्षणों से युक्त ऐसे यज्ञमूर्त्ति भगवान् होते हैं ॥ २४ ॥ उससमय धर्मात्मा और ब्रह्मवादी मनुष्य, इन्द्रादि सकल देवतारूपी श्रीहरिदेव का, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में कहेहुए यज्ञ के मार्गों से आराधन करते हैं ॥ २५ ॥ और वह पुरुष, विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय इन भगवान् के नामों को गाते हैं ॥ २६ ॥ द्वापरयुग में श्यामवर्ण पीताम्बरधारी और शंख चक्र गदा पद्म धारण करनेवाले तैसेही श्रीवत्स आदि चिन्हों क-

लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७ ॥ तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणं ॥ यजन्ति
वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥ २८ ॥ नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्ष-
णाय च ॥ प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ २९ ॥ नारायणाय ऋ-
षये पुरुषाय महात्मने ॥ विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ३० ॥
इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ॥ नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा
शृणु ॥ ३१ ॥ कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदं ॥ यज्ञैः संकीर्तन-
प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥ ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्था-
स्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यं ॥ भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापु-
रुष ते चरणारविंदम् ॥ ३३ ॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराजलक्ष्मीं ध-
र्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ॥ मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे म-

रके और कौस्तुभआदि लक्षणों करके शोभायमान भगवान् होते हैं ॥ २७ ॥ हे राजन् ! उससमय तत्त्वज्ञान की इच्छा करनेवाले मनुष्य, चक्रवर्ती राजा के छत्र चँवर आदि चिन्हों से शोभायमान तिन पुरुषोत्तम भगवान् का वेद में कहीहुई और तंत्र में कहीहुई पूजा की विधि से आराधन करते हैं ॥ २८ ॥ और स्तुति करते हैं कि—हे प्रभो ! तुम वासुदेव को नमस्कार हो, तैसेही सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप तुम भगवान् को नमस्कार हो ॥ २९ ॥ नारायण, ऋषि, महात्मा पुरुष, जगत् रूप होकर जगत् के ईश्वर ऐसे तुम सकल भूतात्मा को नमस्कार होय ॥ ३० ॥ इसप्रकार द्वापरयुग में लोग जगदीश्वर की स्तुतिकरते हैं, अब कलियुग में भी नानाप्रकार की तांत्रिक विधि से लोग जैसे ईश्वर का आराधन करते हैं तैसा मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ ३१ ॥ वर्ण में श्याम होकर भी कांति से देदीप्यमान. हृदयादिक अङ्ग, कौस्तुभ आदिक उपाङ्ग, सुदर्शन आदिक अस्त्र और सुनन्द आदि पार्षदों से युक्त श्रीकृष्णजी का विवेकी पुरुष, जिन में नामसङ्कीर्त्तन और स्तुति बहुतसी हैं ऐसे पूजन आदि यज्ञों से आराधन करते हैं ॥ ३२ ॥ वह इसप्रकार की स्तुति कि—हे भक्तपालक महापुरुष ! निरन्तरध्यान करनेयोग्य, इन्द्रियों से और कुटुम्ब से प्राप्त होनेवाले तिरस्कार का नाश करनेवाले, गंगादिक तीर्थों के आश्रय होने के कारण परमपवित्र, शिवजी और ब्रह्माजीसे स्तुति करेहुए, सुखरूप होने के कारण आश्रय करने के योग्य, भक्तमात्रके दुःख को दूर करनेवाले, और संसारसमुद्रसे तारनेवाले ऐसे तुम्हारे चरणकमलको मैं नमस्कार करताहूँ ३३ हे महापुरुष ! धर्ममार्ग में रहनेवाले जो तुम, रामावतार में, जिस को दूसरे न त्यागसकें और देवताओं की भी इच्छा करीहुई राज्यलक्ष्मी को त्यागकर पिता दशरथजी के वचन से (कैकेयी से कहेहुए उन के वचन को पालन करने के निमित्त) वन को गये थे; और जो तुम भक्तवत्सलता के कारण सीता के इच्छा करेहुए और माया से सुवर्ण के हरिण का

हापुरुष ते चरणारविंदम् ॥ ३४ ॥ एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ॥ मनुजैरिज्यते राजञ्छ्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥ कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ॥ यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥ ३६ ॥ नह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ॥ यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥ ३७ ॥ कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम् ॥ कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥ ३८ ॥ क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ॥ ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥ ३९ ॥ कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥ ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ॥ प्रायो भक्ता भविष्यन्ति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥४०॥ देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ॥ सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुंदं परिहृत्य

रूप धारण करनेवाले मारीच राक्षस के पीछे दौड़े थे, तिन श्रीरामरूपी तुम भगवान् के चरणकमल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! इसप्रकार तिस तिस युग में योग्य नामरूपों से चारप्रकार का पुरुषार्थ देनेवाले भगवान् श्रीहरि का, हरएक युग में भगवान् आराधन करते हैं ॥ ३५ ॥ परन्तु गुण जाननेवाले और सारग्राही पुरुष, चारों युगों में कलियुग की ही प्रशंसा करते हैं; क्योंकि—सत्ययुग में ध्यान करने से, त्रेता में यज्ञ करने से और द्वापर में पूजन करने से जो फल प्राप्त होताहै, वह सब फल, जिस कलियुग में केवल नामसङ्कीर्त्तन से ही प्राप्त होजाता है ॥ ३६ ॥ इस से इस संसार में भटकनेवाले देहधारियों को, कलियुग में इस नामसङ्कीर्त्तन की अपेक्षा दूसरा उत्तम कोई भी लाभ (पुरुषार्थों का साधन) नहीं है, क्योंकि—जिस नामसङ्कीर्त्तन से प्राणी को मुक्तिरूप शान्ति प्राप्त होता है और संसार का नाश होता है ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! सत्ययुग आदि में की प्रजा, हमारा कलियुग में जन्म हो, ऐसी इच्छा करती हैं, क्योंकि—कलियुग में मनुष्य निःसन्देह नारायणपरायण होंगे तब हम भी ऐसे ही होयँ, ऐसा उन का अभिप्राय होता है ॥ ३८ ॥ हे महाराज ! कलियुग में किन्ही किन्ही देशों में तिस में विशेष करके द्रविड़देशों में भगवद्भक्त उत्पन्न होंगे; यदि कहोकि—वह द्रविड़देश कौनसे हैं तो—जहाँ ताम्रपर्णी नदी है, तैसे ही कृतमाला, पयस्विनी, परमपवित्र कावेरी और महानदी प्रतीची, यह नदियेंहैं वह द्रविड़ देशहैं. हेराजन्! जो मनुष्य उन ताम्रपर्णी आदि नदियोंका जल पीते हैं वह प्रायः निर्मलचित्त होकर वासुदेव भगवान् के परमभक्त होते हैं ॥३९॥४० ॥ अब भक्त की कृतकृत्यता का वर्णन करतेहैं कि - हेराजन् ! देवता, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बी, मनुष्य और पितरों का, जैसे अभक्त पुरुष, ऋणी और किङ्कर (उन के निमित्त पञ्चमहायज्ञ आदि करनेवाला] होता है, तैसे ही जो सकल कार्यों का अथवा भेददृष्टियों का त्याग करके शरण जाने के योग्य मुक्तिदाता भगवान् की सर्वभाव से शरणगया है वह देवादिकों का

कृतं ॥४१॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ॥ विकर्म
यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः ॥४२॥ नारद उवाच ॥ धर्मा-
न्भागवत।नित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ॥ जायन्तेयान्मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो
ह्यपूजयत् ॥ ४३ ॥ ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ राजा धर्मा-
नुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥ ४४ ॥ त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवताञ्छ्रु-
तान् ॥ आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥ ४५ ॥ युवयोः
खलु दंपत्योर्यशसापूरितं जगत् ॥ पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥
दर्शनालिंगनालापैः शयनासनभोजनैः ॥ आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं
प्रकुर्वतोः ॥ ४७ ॥ वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौंड्रशाल्वादयो गतिविलास-

---

ऋणी वा किङ्कर नहीं होता है अर्थात् उस को पञ्चमहायज्ञ आदि करने की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि–वह सब कृत्य भक्ति से ही हुए से होजाते हैं ॥ ४१ ॥ और यम आदि सकल देवताओं के नियन्ता श्रीहरि ही अपने से अन्य देवताओं के ऊपर और शरीर के ऊपर भी प्रेम न रखकर, अनन्यभाव से अपने चरणतल का ध्यान पूजन आदि के द्वारा सेवन करनेवाले प्रिय भक्त के हृदय में अन्तर्यामीरूप से प्रविष्ट होकर, उस के हाथ से यदि कदाचित् प्रमादादि करके पाप बनजाय तो वह सब ही पाप तत्काल नष्ट करदेते हैं अर्थात् भगवद्भक्तों को प्रमाद से होनेवाले भी पाप को दूर करने के निमित्त प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं होती है ॥ ४२ ॥ नारदजी कहते हैं कि–हे वसुदेवजी ! इसप्रकार उपाध्यायसहित वह राजा निमि, भागवतधर्मों को सुनकर प्रसन्नहुए और उन्होने जयन्ती के पुत्र तिन नौ योगीश्वरों की पूजा-करी ॥ ४३ ॥ तदनन्तर सब लोगों के देखतेहुए, वह कवि हरि आदि सिद्धयोगी अन्तर्धान को प्राप्तहुए; तदनन्तर वह राजा निमि, भागवतधर्मों को आचरण करके परमगति को प्राप्तहुए ॥ ४४ ॥ हे महाभाग वसुदेवजी ! तुम भी मुझ से सुनेहुए इन भागवतधर्मों का श्रद्धापूर्वक आचरण करोगे तो निःसङ्ग होकर परमपद को प्राप्त होओगे ॥ ४५ ॥ यह तो एक शास्त्र की रीति,मैं ने तुम दोनों से कही है परन्तु वास्तव में देखा-जाय तो भगवान् श्रीहरि जो तुम्हारे पुत्ररूप को प्राप्तहुए हैं तिस से तुम दोनों स्त्री-पुरुष कृतार्थ हो और तुम्हारे यश से यह जगत् भरगया है ॥ ४६ और दर्शन, आलिङ्गन, भाषण, शयन, आसन और भोजन के द्वारा श्रीकृष्णजी में पुत्रभाव का स्नेह करनेवाले तुम दोनों का अन्तःकरण शुद्ध होगया है इसकारण औरों की समान तुम्हें भागवतधर्म आचरण करने की आवश्यकता नहीं है, तुम्हारे पुत्रों को लालन करने से ही भागवत-धर्मों का सर्वस्व सिद्ध होगया है ॥ ४७ ॥ सोने बैठने आदि के विषें वैरभाव करके भी

विलोकनाद्यैः ॥ ध्यायंत आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥ ४८ ॥ मोऽपत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ॥ मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥ ४९ ॥ भूभारासुरराजन्यहंतवे गुप्तये सताम् ॥ अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥ ५० ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ॥ देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१ ॥ इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ॥ स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५२ ॥ इतिश्री० भा० म० पु० ए० पंचमोऽध्यायः॥५॥छ॥ श्रीशुक उवाच ॥ अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ॥ भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥ इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ॥ ऋभ-

जिन भगवान् का ध्यान करनेवाले शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व आदि राजे, उन की गति, विलास और कटाक्षों के अवलोकन आदि करके उन के विषैं बुद्धि का लय होने के कारण उन की सायुज्यमुक्ति को प्राप्तहुए हैं फिर जिन की बुद्धि स्नेह से तदाकार हुई है उन की सायुज्यमुक्ति होयगी इस का तो कहना ही क्या ? ॥४८॥ अब पुत्र स्नेह से यदि मोक्ष होती है तो सब ही पुत्रवान् लोक क्यों नहीं मुक्त होजातेहैं ? ऐसा कहो तो—हे वसुदेवजी ! सर्वात्मा, ईश्वर, सब की अपेक्षा पर और अविनाशी हैं परन्तु माया के द्वारा मनुष्यनाट्य को स्वीकार करके गुप्तऐश्वर्यवाले तिन श्रीकृष्णभगवान् के विषैं तुम 'यह मेरा पुत्र है' ऐसी बुद्धि न रक्खो ॥ ४९ ॥ पृथ्वी के भारभूत दैत्यरूप राजाओं को मारने के निमित्त और साधुओं की रक्षा करने के निमित्त भूमि पर अवतार धारनेवाले तिन भगवान् की, कंसवधादिरूप कीर्त्ति, उन की महिमा की ओर को देखने पर यद्यपि आश्चर्यकारक नहीं है तथापि मनुष्यों को मुक्ति प्राप्त होने के निमित्त इस लोक में वह आश्चर्यरूप से वर्णन करी है ॥ ५० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! यह आख्यान सुनकर महाभाग्यवान् वसुदेवजी और महाभाग्यवती देवकी यह दोनों, अतिविस्मितहुए और उन्होंने अपना पुत्रबुद्धिरूपमोह त्यागदिया ॥ ५१ ॥ जो मनुष्य, एकाग्रचित्त होकर इस पवित्र इतिहास को मन में धारण करता है वह इस ही देह में मोह का त्याग करके ब्रह्मभाव को पाने के योग्य होता है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब आगे अतिविस्तार से आत्मविद्या का निरूपण करने के निमित्त श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! तदनन्तर सनकादिक पुत्र, देवता और मरीचि आदि प्रजापति इन से घिरेहुए ब्रह्माजी, और भूतगणों से घिरेहुए भूतभविष्य प्राणियों के स्वामी श्रीशङ्कर, यह दोनों श्रीकृष्णजी का दर्शन करने के निमित्त द्वारका में पहुँचे ॥ १ ॥ तैसे ही मरुत् नामक देवगणोंसहित भगवान् इन्द्र, द्वादश आदित्य, अष्टवसु,

वोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ॥ २ ॥ गंधर्वाप्सरसो नागाः सिद्ध-
चारणगुह्यकाः ॥ ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥ द्वारकामुपसं
जग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः ॥ वपुषा येन भगवान्नरलोकमनोरमः ॥ यशो
वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥ तस्यां विभ्राजमानायां
समृद्धायां महर्द्धिभिः ॥ व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५ ॥ स्व-
र्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम् ॥ गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्
॥ ६ ॥ देवा ऊचुः ॥ नताः स्म ते नाथ पदारविंदं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचो
भिः ॥ यच्चिन्त्य-तेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥ त्वं
मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुंपसि तद्गुणस्थः ॥
नैतै- भवानजित कर्मभिरज्यते वै यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः

अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिरस्, एकादशरुद्र, तेरह विश्वदेव, साध्यदेवता, ॥२॥ गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषि, पितर, विद्याधर और किन्नर यह सब ही, भगवान् ने, जिस स्वरूप से मनुष्यलोक के मन को आनन्दित करके लोकों में, सब लोकों के मन का मल दूर करनेवाला यश फैलाया था, उसही अतिसुन्दर कृष्णस्वरूप का दर्शन करने के निमित्त द्वारका में पहुँचे ॥३॥ ४ ॥ उन्होंने वडी २ सम्पदाओं से भरी तिस द्वारका में, जिन के नेत्र तृप्त नहीं हुए हैं ऐसे होकर, अतिसुन्दरस्वरूप श्रीकृष्णजी का दर्शन करा ॥५॥ और स्वर्ग के बागों में के पुष्पों से श्रीकृष्णजी को ढकदेनेवाले वह देवता, शृंखलाबन्ध आदि विचित्रपद और मनोहर अर्थवाली वाणियों से तिन जगदीश्वर भगवान् की स्तुति करने लगे ॥६॥ देवताओं ने कहा कि-हे नाथ ! कर्मरूप दृढपाश से मुक्त होने की इच्छा करनेवाले पुरुष, अपने अन्तःकरण में जिस का ध्यान करते हैं परन्तु तिस को देख नहीं पाते हैं तिस तुम्हारे चरणकमल को हम बुद्धि, इन्द्रियें, प्राण, मन और वचन के द्वारा साष्टाङ्ग नमस्कार करते हैं, यह हमारा बड़ाभाग्य है ॥ ७ ॥ अब मुझे भी इसलोक में और परलोक में सुख देनेवाले कर्म करने पड़ते हैं, फिर कर्मपाश से मुक्त होने की इच्छा करनेवाले पुरुष, मेरे चरणारविन्द का ध्यान क्यों करते हैं ? ऐसा कहोतो-हे अजित ! इस अवतार में यह अतिअल्प कर्म तो रहें परन्तु माया के गुणों में नियन्ता होकर रहने वाले तुम, जिसकी मन से भी तर्कना नहीं होसके ऐसे महत्तत्त्व आदि सकल प्रपञ्च को, अपने स्वरूप में त्रिगुणमयी माया से उत्पन्न करते हो, पालन करते हो और संहार भी करते हो तथापि उन कर्मों से तुम लिप्त नहीं होते हो क्योंकि-तुम रागद्वेषादि रहित और आवरण शून्य आत्मसुख में रमेरहते हो इसकारण तुम कर्म करते हुए भी आत्माराम प-

॥ ८ ॥ शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ॥ सत्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्धसच्छ्रद्धया श्रवणसंभृतया यथा स्यात् ॥ ९ ॥ स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ॥ यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥ १० ॥ यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ॥ अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥ ११ ॥ पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ॥ यः सुप्रणीतममुयाऽर्हणमाददन्नो भू-यात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधू-

---

रमेश्वर हो, इसकारण से मुमुक्षु पुरुष, तुम्हारे चरण का चिन्तवन करते हैं ॥ ८ ॥ अब मुझ आत्माराम को कर्म करके क्या करना है ऐसा कहोतो–हे स्तुतियोग्य उत्तम ! सत्त्वगुण की वृद्धि की प्राप्ति करनेवाले पुरुषों को, तुम्हारे यश को सुनने से बढ़ीहुई श्रद्धा करके जैसी शुद्धि प्राप्त होती है तैसी शुद्धि, विषयाभिलाषी पुरुषों को उपासना, शास्त्र का सुनना, वेद का पढ़ना, दान, तप और कर्मों के द्वारा नहीं प्राप्त होती है इसकारण आत्माराम भी तुम्हारे जो कर्मों का आचरण सो अपने (तुम्हारे) परमपवित्र यश को फैलाने के निमित्त है ॥ ९ ॥ सो तुम्हारे यश की श्रद्धा ही शुद्धि का कारण है; हमने तो तुम्हारे चरण का दर्शन करा है इसकारण जिस तुम्हारे चरण का मुमुक्षु पुरुषोंने मोक्ष के निमित्त प्रेमसे द्रवीभूतहुए अपने हृदय में ध्यान करा है और जिस का भक्तों ने, तुम्हारी समान ऐश्वर्य प्राप्त होने के निमित्त वासुदेव आदि व्यूहके विषैं पूजन कराहै तिन में से कितने ही आत्मज्ञानी वीर पुरुषों ने स्वर्ग का उल्लंघन करके वैकुण्ठ को जाने के निमित्त त्रिकाल पूजन करा है वह तुम्हारा चरण हमारी विषयवासनाओं को भस्म करनेवाला अग्निसमान होय ॥ १० ॥ हे ईश्वर ! जिस का यज्ञ करनेवाले पुरुष, हाथ जोडकर और उस में हवन की सामग्री लेकर, वेद में कहे हुए इन्द्रादि देवतारूप से आहवनाय आदि अग्नियों में चिन्तवन करते हैं, जिस का योगीजन, मन को वश में करनारूप योग के द्वारा अणिमादि सिद्धि प्राप्त होने की इच्छा से चिन्तवन करते हैं और जिस का परम भगवद्भक्त सब प्रकार से पूजन करते हैं वह तुम्हारा चरण हमारी विषयवासनाओं को भस्म करनेवाला हो ॥ ११ ॥ इन कहेहुए छःप्रकारके सेवकों में परम भागवतों के ऊपर, तुम्हारी लक्ष्मी से भी अधिक प्रीति है ऐसी स्तुति करते हैं कि–हे प्रभो ! 'मैं जहाँ रहती हूँ तहाँ ही यह वनमाला पर्युषित (वासी अर्थात् दूसरे दिन कुमलाई हुई) होनेपर भी रहती है' ऐसे तिस के रहने को सहन न करनेवाली भगवती लक्ष्मी, यद्यपि सौत के समान तिस वनमाला से ईर्षा करती है तथापि यह वनमाला भक्तों की अर्पण करीहुई है ऐसी प्रीति से तुम, भक्तपुरुषों की वनमाला करके करीहुई पूजा को ही उत्तम रीति से स्वीकार करते हो, ऐसे तुम्हारा चरण, हमारी अशुभ वासनाओं को

मकेतुः ॥ १२ ॥ केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेव-
चम्वोः ॥ स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः
॥ १३ ॥ नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः॥
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥ १४ ॥
अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमानामव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः॥ सोऽयं
त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥ १५ ॥ त्वत्तः
पुमान्समधिगम्य ययाऽस्य वीर्यं धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ॥ सोऽयं
तयाऽनुगत आत्मन आण्डकोशं हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥ १६ ॥

निरन्तर भस्म करनेवाला हो ॥१२॥ अब, तुम्हारे चरण का, भक्त का पक्षपात करना प्रसिद्ध ही है ऐसा दिखातेहुए प्रार्थना करते हैं कि—हे व्यापक ! हे भगवन् ! जो तुम्हारा चरण, बलि राजा का बन्धन करते समय त्रिलोकी को ग्रहणकरनेवाले तीनपग रखनेवाला हुआ, उस के दूसरे चरण के समय सत्यलोकपर्यन्त जाने पर वह, खड़ी करीहुई ध्वजा की समान दीखनेलगा; इसप्रकार कि—तीनों लोकों में संचार करनेवाली जो गङ्गा वही जिस की पताका है, तैसे ही देवदैत्यों की सेनाओं को, क्रम से भय और अभय करनेवाले होकर देवताओं को स्वर्ग देने के विषय में और असुरों की अधोगति करने के विषय में जो कारण हुआ वह तुम्हारा चरण, भक्ति करनेवाले हमारे पापों को दूर करे ॥ १३ ॥ अब, युद्ध में देवदैत्य आदि परस्पर जीतते और हारते हैं तहाँ मैं भय और अभय करने-वाला कैसे होता हूँ? ऐसा कहो तो—युद्ध कर के परस्पर पीडा देनेवाले जो देहधारी ब्रह्मादिक वह भी, नाक में नाथ डालेहुए बैलों की समान जिन तुम्हारे वश में हैं, जयपराजय पाने में स्वाधीन नहीं हैं,ऐसे प्रकृति पुरुष से पर और सबके प्रवर्त्तक तुम पुरुषोत्तम का चरण हमारा कल्याण करे ॥१४॥ अब उन का पुरुषोत्तमत्व कहते हैं—हे प्रभो! प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्व के नियन्ता होने के कारण इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार के कारण, उत्तम पुरुष हो ; ऐसा श्रुति कहती हैं. जगत् की उत्पत्ति आदिकाल से होते हैं मुझ से नहीं होते हैं ऐसा कहो तो—सबों का नाश करने में प्रवृत्त होनेवाला, गम्भीर वेगवान् और तीन चातुर्मास्यरूप अवयवों से युक्त सम्वत्सरनामक जो काल वह भी तुम ही हो ॥ १५ ॥ अब तुम ही जगत् की सृष्टि आदि के कारक हो जो कहा तिस का प्रकार विस्तार के साथ कहते हैं कि—तुम से पुरुष को शक्ति प्राप्त होने के कारण वह अमोघशक्ति हुआ, तदनन्तर उस ने माया से युक्त होकर इस जगत् के बीजभूत महत्तत्त्व को उत्पन्नकरा फिर उस महत्तत्त्व ने भी उस ही माया से युक्त होकर अपने में एक के बाहर दूसरा ऐसे आवरणों से युक्त ब्रह्माण्डकोश उत्पन्नकरा ॥ १६ ॥

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ॥ अर्थान् जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि विभ्यति स्म १७॥ स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमंडलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ॥ पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनंगवाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥ विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ॥ आनुश्रवं श्रुतिभिरंघ्रिजमङ्गसङ्गैस्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥ १९ ॥ बादरायणिरुवाच ॥ इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् ॥ अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्यांबरमाश्रितः ॥ २० ॥ ब्रह्मोवाच ॥ भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ॥ त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥ २१ ॥ धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसंधेषु वै त्वया ॥ कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥

इसकारण ही स्थावरों के और जङ्गमों के तुम स्वामी हो. और हे इन्द्रियों के स्वामिन्! माया से क्षोभितहुई इन्द्रियों की वृत्तियों करके प्राप्त करेहुए शब्दादि विषयों का तुम सेवन करतेहुए भी लिप्त नहीं होते हो; तुम से दूसरे जो जीव वा योगी हैं वह अपने त्याग करेहुए भी विषयों के सेवन से वासनामात्र करके बन्धन को प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ जिन तुम्हारे मन को, सोलह सहस्र एक सौ आठ स्त्रियें भी, अपने मन्दहास्य से शोभायमान कटाक्षों करके सूचित करेहुए अभिप्राय से मन को हरनेवाला जो भूमण्डल तिस करके प्रेरणा करेहुए रतिसम्बन्धी विचारों से प्रौढ़हुए कामदेव के बाणों करके और मोहनेवाली कामकलाओं करके चलायमान करने को समर्थ नहींहुई इसकारण ही तुम विषयों का सेवन करतेहुए भी अलिप्त हो ॥ १८ ॥ तुम्हारी अमृतसमान कथारूप नदियें और चरण के धोवन के जल की गङ्गादिक नदियें, त्रिलोकी में के जीवों के पापों को धोडालने में समर्थ हैं इसकारण ही अपनी शुद्धि होने की इच्छा करनेवाले वर्णाश्रमधर्मी पुरुष, वेद में वर्णन करीहुई तुम्हारी कीर्त्तिरूप तीर्थ का श्रवण कीर्त्तन आदिरूप करके और चरण से उत्पन्न हुए गङ्गादि तीर्थ का स्नानपानादिरूप से सेवन करते हैं ॥१९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि–हे राजन्! ब्रह्माजी ने, शिवजी और देवताओंसहित इसप्रकार श्रीकृष्णजी की स्तुतिकरी, तदनन्तर नमस्कार करके लौटकर जाने के निमित्त आकाश तें खडे होकर श्रीकृष्णजी से कहा ॥ २० ॥ ब्रह्माजी ने कहा कि–हे सर्वात्मन् प्रभो! पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त पहिले हमने तुम्हारी प्रार्थना करी थी तैसे ही वह सब कार्य तुमने ठीक करलिया है ॥ २१ ॥ सत्यप्रतिज्ञ साधुओं का कल्याण करने के निमित्त तुमने धर्म की स्थापनाकरी है और दशों दिशाओं में सब लोकों के पाप नष्ट करनेवाली अपनी

॥ २२ ॥ अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम् ॥ कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय
जगतोऽकृथाः ॥ २३ ॥ यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ॥ शृ-
ण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥२४॥यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषो-
त्तम ॥ शरच्छतं व्यतीयाय पंचविंशाधिकं प्रभो॥२५॥नाधुना तेऽखिलाधार देव-
कार्यावशेषितम् ॥ कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥ २६ ॥ ततः स्व-
धाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ॥ सलोकाँल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठ किङ्क-
रान् ॥ २७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ॥ कृतं
वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥ २८ ॥ तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्य-
श्रियोद्धतम् ॥ लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥ २९ ॥ यद्यसंहृत्य
दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् ॥ गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति॥३०॥
इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः ॥ यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते
तवानघ ॥ ३१ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयंभूः प्रणिपत्य

कीर्त्ति फैलाई है ॥ २२ ॥ यदुवंश में अवतार लेकर सर्वोत्तमरूप धारण करनेवाले तुम ने जगत् के हित के निमित्त परमपराक्रमयुक्त कर्म करे हैं ॥ २३ ॥ हे ईश्वर ! जिन तुम्हारे चरित्र को सुननेवाले और कीर्त्तन करनेवाले सदाचारवान् मनुष्य, इस कलियुग में भी संसार के कारणरूप अज्ञान को तरजायँगे ॥२४॥ हे प्रभो पुरुषोत्तम ! यदुवंश में अवतार धारण करनेवाले तुम्हें एक सौ पच्चीस वर्ष होगये हैं ॥२५॥ हे सर्वाधार ! देवताओं के कार्य करने में से अव तुम्हें कोई भी कार्य करने को शेष नहीं रहा है और यह यादवकुल भी ब्राह्मणों के शाप से नष्टहुआसा ही होगया है ॥ २६ ॥ इस से हे वैकुण्ठ ! अब यदि तुम्हारी इच्छा होय तो तुम अपने वैकुण्ठलोक में गमन करो और तुम्हारे किङ्कररूप हम लोकपालों को लोकों सहित रक्षा करो अर्थात् वैकुण्ठ को जाते में हम लोकपालों के घर पधारकर हमारी पूजा को ग्रहण करके हमें कृतार्थ करो ॥२७॥ ऐसी प्रार्थना सुनकर श्रीभगवान् कहने लगे कि–हे देवेश्वर ब्रह्मदेव ! तुम ने जो कहा यह सब मैंने पहिले ही मन में विचारलिया है, तुम्हारा सब कार्य मैंने करलिया है और भूमि का भार भी उतारकर दूर करदिया है ॥ २८ ॥ और वीरता, शूरता तथा लक्ष्मी से उद्धत होकर लोकों का नाश करने की इच्छा करनेवाला यह यादवों का कुल भी, जैसे मर्यादा समुद्र को रोकती है तैसे ब्राह्मणों के शाप से रोकदिया है ॥२९॥ घमण्डीहुए यादवों के बहुतबढेहुए कुल का संहार करेविना यदि मैं निजधाम को चलाजाऊँगा तो मर्यादा को उल्लंघन करनेवाले इस यादवकुल से ही लोकों का नाश होजायगा ॥ ३० ॥ हे पवित्र ब्रह्माजी ! अब ही ब्राह्मणों का शाप रचकर इस कुल के नाश का प्रारम्भ करा है, इस से इस का अन्त होनेपर शीघ्र ही मैं वैकुण्ठ को जाऊंगा तब तुम्हारे लोक में भी आऊँगा ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी

तम् ॥ सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥ ३२ ॥ अथ तस्यां महोत्पातान्
द्वारवत्यां समुत्थितान् ॥ विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान्समागतान् ॥ ३३ ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः ॥ शापश्च नः कु-
लस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥ ३४ ॥ न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषु-
भिरार्यकाः ॥ प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥ ३५ ॥
यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् ॥ विमुक्तः किल्बिषात्सद्यो
भेजे भूयः कलोदयम् ॥ ३६ ॥ वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पि-
तॄन्सुरान् ॥ भोजयित्वोशिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा ॥ ३७ ॥ तेषु दा-
नानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ॥ वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरि-
वार्णवम् ॥ ३८ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुलनन्दन ॥
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान्समयूयुजन् ॥ ३९ ॥ तन्निरीक्ष्योद्धवो राजञ्छ्रुत्वा

कहते हैं कि–हे राजन्! भगवान् के इसप्रकार कहनेपर ब्रह्माजी ने, उन श्रीकृष्णजी को नमस्कार करके देवगणों के साथ सत्यलोक को गमन करा ॥ ३२ ॥ तदनन्तर द्वारका में बडे बडे उत्पात होनेलगे, उन को देखकर एकस्थान पर इकट्ठेहुए बूढे २ यादवों से भगवान् ने कहा ॥ ३३ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि–हे वृद्धो! इस द्वारका में जिधर तिधर यह बडे बडे उत्पात होनेलगे हैं और हमारे कुल को ब्राह्मणों से बडा दुस्तर शाप भी प्राप्त हुआ है ॥ ३४ ॥ सो हे श्रेष्ठ यादवो! जीवित रहने की इच्छा करनेवाले हमारा अब इस द्वारका में रहने का काम नहीं है, इस से अधिक विलम्ब न करके आजही महापुण्यकारी प्रभासक्षेत्र में चलें ॥ ३५ ॥ जहाँ दक्ष के शाप करके क्षयरोग से पीडितहुए चन्द्रमाने, स्नान करने पर तत्काल रोग के दुःख से छुटकारा पाया और फिर अपनी कलाओं की वृद्धि को प्राप्तहुआ ॥ ३६ ॥ हम भी तहाँ स्नान करके देवताओं का और पितरों का तर्पण करके, मधुरता आदि अनेकों गुणों से युक्त अन्न करके बडे बडे विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन करावेंगे और उन सत्पात्र ब्राह्मणों को, अनेक फल देनेवाले बडे२ दान श्रद्धाके साथ देकर, जैसे नौका के द्वारा समुद्र को तरजाते हैं तैसे ही सकल दुःखों को तरजायँगे ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजन्! इसप्रकार भगवान् के आज्ञा करे-हुए वह यादव, तिस तीर्थ को जाने की इच्छा से अपने २ रथों में घोडे जोड़नेलगे ॥ ३९ ॥

(१) प्रभास क्षेत्र में चलें ऐसा कहने का श्रीकृष्णजी का यह अभिप्राय था कि--यादव देवताओं के अंश हैं वह अपने २ अधिकारों पर ही जाने के योग्य हैं, तत्काल मोक्ष पाने के योग्य नहीं हैं, द्वारका में शरीर छोडनेपर मुक्त होजायंगे इसकारण इन को कल्याणरूप फल देनेवाले प्रभास क्षेत्र में ही लेजाना चाहिये।

भगवतोदितम् ॥ दृष्ट्वाऽरिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥ ४० ॥ वि-
विक्त उपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ॥ प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभा-
षत ॥ ४१ ॥ उद्धव उवाच ॥ देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ॥ संहृत्यैतत्कुलं नू-
नं लोकं संत्यक्ष्यते भवान् ॥ विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥ ४२ ॥
नाहं तवांघ्रिकमलं क्षणार्द्धमपि केशव ॥ त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय
मामपि ॥ ४३ ॥ तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममंगलम् ॥ कर्णपीयूषमा-
स्वाद्य त्यजंत्यन्यस्पृहां जनः ॥ ४४ ॥ शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाऽशना-
दिषु ॥ कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेम हि ॥ ४५ ॥ त्वयोपभुक्त-
स्रग्गंधवासोऽलंकारचर्चिताः ॥ उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥
॥ ४६ ॥ वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनः ॥ ब्रह्माख्यं धाम ते

यह देखकर, भगवान् का भाषण सुनकर और भयङ्कर उत्पात देखकर निरन्तर भगवान् के आज्ञाकारी होकर रहनेवाले उद्धवजी ने, जगत् के ईश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्णजीसे एकान्त में मिलकर उन के चरणों पर मस्तक रखकर प्रणाम करा और हाथ जोड़कर उन से कहनेलगे ॥ ४० ॥ ४१ ॥ उद्धवजी ने कहाकि—हे देवदेव ! हे ईश्वर ! हे योगेश्वर ! हे पुण्यश्रवणकीर्त्तन ! तुम निःसन्देह इसकुल का संहार करके मनुष्यलोक का त्याग करनेवाले हो, क्योंकि—तुमने ईश्वर और समर्थ होकर भी ब्राह्मणों के शाप को दूर करने का उपाय नहीं करा ॥ ४२ ॥ हे नाथ ! हे केशव ! मैं तुम्हारे चरणकमल का आधे क्षण को भी त्याग नहीं करसक्ता, इसकारण तुम मुझेभी निजधाम को ले चलो ॥ ४३ ॥ हे कृष्ण ! तुम्हारी क्रीड़ा के चरित्र मनुष्यों को परममङ्गलरूप और कर्णों को अमृत की समान मधुर लगनेवाले हैं इसकारण उन का आस्वादन (श्रवण) करके भी जब मनुष्य, धन, पुत्र, स्त्री आदि कों में की आसक्ति को छोड़देते हैं तो जिन हमने सोना, बैठना, फिरना, रहना, स्नान करना, खेलना, और भोजन करना, इत्यादि कों में तुम्हारी सेवा करी है ऐसे हम, परमप्रिय, आत्मस्वरूप तुम्हें त्यागने को कैसे समर्थ होसक्ते हैं ? ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ मैं माया के भय से यह प्रार्थना करता हूँ ऐसा नहीं है किन्तु तुम्हारा वियोग सहन नहीं होसकेगा इसकारण कहता हूँ ; तुम्हारे उपभोग करेहुए माला, चन्दन, वस्त्र, आभूषण धारण करनेवाले और उच्छिष्ट (तुम्हें अर्पण करने पर, यह मुझे पहुँचगया, अब तुम इस का भोजन करो ऐसा तुम्हारे कहेहुए अन्न आदि) का भोजन करनेवाले हम दास, तुम्हारी माया को जीतरहे हैं इस में सन्देह नहीं है ॥ ४६ ॥ दिगंबरपने से फिरनेवाले, इन्द्रियों को वश में रखने का परिश्रम करनेवाले, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले, सकल

यान्ति शांताः संन्यासिनोऽमलाः ॥ ४७ ॥ वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ॥ त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४८ ॥ स्मरन्तः कीर्तयंतस्ते कृतानि गदितानि च ॥ गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडंबनम् ॥ ॥ ४९ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ एवं विज्ञापितो राजन् भगवान्देवकीसुतः ॥ एकांतिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥ ५० ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कंधे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ॥ ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिणः ॥१॥ मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ॥ तदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणाऽर्थितः॥२॥कुलं वै शापनिर्दग्धं नंक्ष्यत्यन्योऽन्यविग्रहात्।समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति।३।यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमंगलः।भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥४॥ न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ॥ जनोऽ-

विषयभोगों को त्यागनेवाले, शान्त और निर्मल जो ऋषि हैं वह बड़े कष्ट से तुम्हारे ब्रह्म नामक स्थान को पाते हैं ॥ ४७ ॥ और हे महायोगिन्! हम तो इसलोक में कर्ममार्ग के विषैं भटकते हुए भी तुम्हारे करेहुए कर्म, तुम्हारे भाषण, और तुम्हारी गति,मन्दहास्य, अवलोकन, चौल आदि जो कुछ मनुष्यलोक का अनुकरण हुआ है तिस का अनुकरण और कीर्त्तन करतेहुए तुम्हारे भक्तों के साथ होनेवाले कथाश्रवण आदिकरके दुस्तर भी संसार को अनायास में तरजायँगे॥४८॥४९॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इस प्रकार प्रार्थनाकरेहुए वह देवकी के पुत्र भगवान् श्रीकृष्णजी,एकान्तभक्त, प्रिय और सेवक तिन उद्धवजी से कहने लगे ॥५०॥इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि—हे महाभाग उद्धवजी! तुमने जो मुझसे कहा सो यदुकुल का संहार आदि कार्य मेरे मन में करने का है,क्योंकि—ब्रह्माजी, शङ्कर, और इन्द्रादिक लोकपाल यह सब मेरे वैकुण्ठवास की इच्छा कररहे हैं ॥ १ ॥ ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर मैं बलरामसहित इस मनुष्यलोक में जिस कार्य के निमित्तप्रकटहुआ था वह देवताओं का सब कार्य ठीक होगया है ॥ २ ॥ जो यह भूमि का भाररूप शेष रहाहुआ यादव कुल है सो भी ब्राह्मणों की शापाग्नि से भसमा होकर परस्पर कलह करके नाश को प्राप्त होजायगा और इस नगरी को आज से सातवें दिन समुद्र डुबालेगा इस कारण तुम सकल संगों का त्याग करके आत्मनिष्ठ होजाओ ॥ ३ ॥ हे साधो! यह भूलोक जिससमय मुझसे त्यागाहुआ होयगा उससमय नष्टमङ्गल होजायगा और इस के ऊपर कलियुग भी अपना प्रभाव बैठालेगा ॥४॥ हे उद्धव! मेरे त्यागे

धर्मरुचिर्भद्रे भविष्यति कलौ युगे ॥५॥ त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु॥
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥ यदिदं मनसा वाचा
चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ॥ नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानाऽर्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ॥ कर्माकर्म विकर्मेति गुण-
दोषधियो भिदा ॥ ८ ॥ तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ॥ आत्मनी-
क्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥ ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरी-
रिणाम् ॥ आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥ दोषबुद्ध्योभया-
तीतो निषेधान्न निवर्तते ॥ गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः॥११॥

हुए इस भूतल पर तुम भी न रहो, क्योंकि—आगे को कलियुग में लोकों की अधर्म पर प्रीति होयगी ॥ ५ ॥ तब फिर क्या करना चाहिये? यदि ऐसा कहो तो—तुम स्वजन और बान्धवों में के स्नेह को त्यागकर मुझ में उत्तम प्रकार से मन लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रक्खो और भूमि पर विचरो ॥ ६ ॥ अब गुणदोषों से युक्त लोकों में समदृष्टि कैसे रक्खीजाय? ऐसा कहो तो—मन, वाणी, चक्षु और कर्ण आदि इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ ग्रहण कराजाता है वह सब मन की कल्पनामात्र होने के कारण मायाकल्पित और क्षणभर में नाश को प्राप्त होनेवाला है ॥७॥ क्योंकि—विक्षिप्तचित्तहुए पुरुष को, भेदविषयक जो भ्रम होता है वह उस में गुणदोषबुद्धि उत्पन्न करनेवाला है,उस भेद के सत्य न होने के कारण विचारवान् पुरुष सर्वत्र समदृष्टि रखते हैं; अब वेद ने ही विधिनिषेधों के द्वारा 'भेद सत्य है' ऐसा कहा है ऐसा कदाचित् ध्यान में आवे तथापि विचार करके देखने पर, जिस की बुद्धि में गुणदोष हैं उस को ही वेद ने,यह विहितकर्म है,यह अकर्म है और यह निषिद्धकर्म है ऐसा कहा है, ज्ञानी को नहीं कहा है, क्योंकि ज्ञानी निरन्तर सकल जगत् को अभेदभाव से देखता है ॥८॥ इसकारण ही इन्द्रियों के समूह को, और मनको वश में करके इस जगत् को अपने जीवात्मा के विषें देखो और जीवात्मा को मुझ सर्वात्मा के विषें अभेदरूप से व्यापरहा है ऐसा देखो ॥ ९ ॥ अब,ऐसा देखकर, एकाग्रचित्तपने से कर्म न करने पर देवादिक विघ्न करेंगे ऐसा कहो तो—वेद के तात्पर्य के निश्चय और उस के अर्थों के अनुभव से सन्तुष्ट हो,तब सकल देवतादिकों में आत्मरूप हुए तुम,विघ्नों से तिरस्कार नहीं पाओगे, इस का तात्पर्य यह है कि—आत्मा का अनुभव होनेपर्यन्त वर्णाश्रमधर्मों के अनुसार कर्म करे, तदनन्तर सबों के आत्मरूप होजाने के कारण कोई भी विघ्न नहीं करसक्ता ॥ १० ॥ इस से ही ज्ञानी यथेष्ट आचरण करता है ऐसा न समझे, क्योंकि—जैसे बालक सङ्कल्पविकल्पों से रहित होताहुआ स्वाभाविक इच्छा से ही किसी हस्तचलाना आदि कर्म को करता है और स्वाभाविक ही रोना आदि कर्म नहीं करता है तैसे ही गुणदोषबुद्धि से रहित हुआ ज्ञानी, पूर्व के संस्कारवश अनेकों निषिद्धकर्मों

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः॥ पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः
॥ १२ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ॥ उद्धवः
प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥ उद्धव उवाच ॥ योगेश योगविन्यास
योगात्मन्योगसंभव ॥ निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः ॥ १४ ॥
त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः ॥ सुतरां त्वयि सर्वात्मन्न-
भक्तैरिति मे मतिः ॥ १५ ॥ सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्त्वन्मा-
यया विरचितात्मनि सानुबंधे॥ तत्त्वंजसा निगदितं भवता यथाहं संसाधयामि
भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६ ॥ सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं वक्तार-
...ष्वपि नानुचक्षे ॥ सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे ब्रह्मादयस्तनुभृ-
... बहिरर्थभावाः ॥ १७ ॥ तस्माद्भवंतमनवद्यमनंतपारं सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठ-

से निवृत्त ही होता है परन्तु इस निषिद्ध कर्म को न करना चाहिये ऐसी दोषबुद्धि से निवृत्त नहीं होता है, तैसे ही वेदविहित ही कर्म करता है परन्तु यह विहित है करना ही चाहिये गुणबुद्धि से नहीं करता है ॥ ११ ॥ इसप्रकार वेद के तात्पर्य का यथार्थ निश्चय और वेदार्थ का अनुभव करनेवाला, सकलप्राणियों का मित्र और शान्त हुआ पुरुष, सकलजगत् मेरा स्वरूप ही है ऐसा देखकर फिर जन्ममरणरूप संसार को नहीं पाता है॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्! इसप्रकार भगवान् के आज्ञा करने पर वह परमभगवद्भक्त उद्धवजी, तत्त्व को जानने की इच्छा करके फिर उन श्रीकृष्णजी को नमस्कार करके कहने-लगे ॥ १३ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे योगेश्वर! हे योगफल के निधिरूप! हे योगस्वरूप! तुम ने जो यह मेरे कल्याण के निमित्त संन्यासरूप त्याग का लक्षण कहा है सो केवल अपनी महिमा के महत्त्व के अनुसार कहा है मेरे अधिकार को देखकर नहीं कहा है ॥ १४ ॥ क्योंकि—हे व्यापक सर्वात्मन्! यह विषयों का त्याग, विषयों में आसक्त पुरुषों से होना बड़ी कठिन है, तिस में जो तुम्हारे भक्त नहीं हैं उन को तो अत्यन्त ही कठिन है, ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ १५ ॥ तिस कारण जिस से तुमने त्याग आदि कहा ऐसा मैं, मूढ़बुद्धि होकर तुम्हारी माया से रचेहुए पुत्रकलत्रादि सहित देह के विषै मैं और मेरा इसप्रकार की बुद्धि से निमग्न होरहा हूँ, इस से हे भगवन्! जो मुझ से संक्षेप से कहा है, उस को जैसे मैं सुख से साधसकूँ तैसे अपने सेवक मेरे अर्थ विस्तार के साथ कहिये ॥ १६ ॥ मैंने संक्षेप से कहा है इस का विस्तार तुम दूसरे से बूझो? ऐसा कहो तो—हे ईश्वर! सत्य और स्वप्रकाश आत्मा का मुझ से वर्णन करनेवाला तुम्हारे सिवाय देवताओं में भी नहीं दीखता है, क्योंकि यह ब्रह्मादिक सब ही देहधारी होने के कारण तुम्हारी माया से मोहितबुद्धि होकर विषयों में सत्यता की बुद्धि रखनेवाले हैं ॥ १७ ॥ और कितने ही लोक तो दुष्ट स्वभाववाले हैं

विभ्यत् । निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥ श्रीभगवानुवाच ॥ प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ॥ समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥ आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ॥ यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां "श्रेयोऽसावनुविंदते" ॥ २० ॥ पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ॥ आविस्तरां प्रपश्यंति सर्वशक्त्युपबृंहितं ॥ ॥ २१ ॥ एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथाऽपदः ॥ बह्व्यः संति पुरः सृष्टास्तासां मे" पौरुषी प्रिया ॥२२॥ अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ॥

कितने ही सेवाकरनेपर भी फल मिलने के समय नाश को प्राप्त होजाते हैं, कितने ही अज्ञानी-कितने ही रक्षा करने में असमर्थ और कितने ही स्थानभ्रष्ट हैं इस से निर्दोष, अविनाशी, सर्वज्ञ, रक्षा करने में समर्थ और काल आदि से बाधा न पानेवाले वैकुण्ठलोक में रहनेवाले तुम नरसखा नारायण को, आध्यात्मिक आदि अनेकों तापों से तप्त होने के कारण विषयों के सेवन से घबड़ायाहुआ मैं शरण आया हूँ ॥ १८ ॥ इसप्रकार उपदेश करेहुए तत्त्व को असंभावना विपरीतभावनाओं के द्वारा ग्रहण करने में असमर्थहुए तिन उद्धवजी से, तिन असम्भावना आदिकों के दूर होने के निमित्त, गुरु के उपदेश के विना भी मन में ही विचार करने पर अन्वय व्यतिरेक से तत्त्वसाक्षात्कार होता है ऐसा दिखाने के निमित्त श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! प्रायः इस लोक में लोकतत्त्व की परीक्षा करनेवाले जो पुरुष हैं वह आप ही अपना विषयवासनाओं से उद्धार करलेते हैं, गुरु के उपदेश की कुछ अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥ १९ ॥ पशु आदि शरीरों में भी अपना हित अहित विचारनेवाला गुरु आप ही है, तिस में मनुष्य शरीर के विषें तो विशेष करके है, क्योंकि-इस पुरुष को मनुष्यशरीर में प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा अपना स्वरूप जानकर कल्याण करलेना सुलभ होता है ॥ २० ॥ तिस में प्रत्यक्ष इसप्रकार है कि—इस पुरुष जन्म में सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र में प्रवीण विचारवान् पुरुष, ज्ञान ऐश्वर्य आदि सकल शक्तियों से परिपूर्ण मुझ परमात्मा को अत्यन्त सुलभ रीति से जानलेते हैं ॥ २१ ॥ एक, दो, तीन वा चार चरणों के, बहुत से चरणों के, अथवा चरणों के विनाही उत्पन्न करेहुए बहुत से शरीर हैं उन में मुझे मनुष्य शरीर परम प्रिय लगता है ॥ २२ ॥ अब अनुमान इसप्रकार है कि—इस मनुष्य शरीर में ही सावधान रहनेवाले पुरुष, चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण करने को अशक्य और अहंकार आदिकों में से निराले मुझ ईश्वर की यथार्थ रीति से खोज करके उस को प्राप्त करलेते हैं, वह खोजने की रीति इस प्रकार है कि-बुद्धि आदि जड पदार्थों का प्रकाश एक स्वप्रकाश वस्तु के विना नहीं होसक्ता इस

गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥ अवधूतं द्विजं कंचिच्चरन्तमकुतोभयम् ॥ कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥२५॥ यदुरुवाच॥ कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ॥ यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६ ॥ प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ॥ हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७ ॥ त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ॥ न कर्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८ ॥ जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ॥ न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भस्थ इव द्विपः ॥ २९ ॥ त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ॥ ब्रूहि स्पर्श-

कारण सकल दृश्यपदार्थों को प्रकाश करनेवाली जो एक वस्तु है वही आत्मा है, दूसरा अनुमान इसप्रकार है कि- बुद्धि आदि पदार्थ एक स्वतन्त्रकर्त्ता से प्रेरित हैं क्योंकि—वह साधनरूप हैं, जो जो साधनरूप पदार्थ होते हैं वह वह 'कुल्हाड़ी आदि पदार्थों की समान' दूसरे स्वाधीनकर्त्ता के प्रेरणा करेहुए होते हैं, ऐसा अनुमान करके सावधान हुए पुरुष, मेरी खोज करके मेरी प्राप्ति करलेते हैं ॥२३॥ अब अन्वय व्यतिरेक से असम्भावना की निवृत्ति के विषय में इतिहास कहते हैं कि—हे उद्धवजी! इस आप ही अपना उद्धार करने के विषय में अवधूत (दत्तात्रेय) का और परमतेजस्वी राजा यदु का सम्वादरूप पुरातन इतिहास वृद्धपुरुष दृष्टान्तरूप से वर्णन करते हैं वह मैं तुम से कहता हूँ ॥ २४ ॥ धर्म को जाननेवाले राजा यदु ने, उबटन आदि संस्कार से रहित, तरुण, निर्भय फिरनेवाले और विद्वान् किसी एक ब्राह्मण को देखकर उस से प्रश्न करा॥२५॥ यदु ने कहा कि—हे ब्राह्मण! इन्द्रियों की प्रीति के निमित्त कर्म न करनेवाले तुम्हें यह परमनिपुण, लोकविलक्षण बुद्धि कहां से प्राप्तहुई है? जिस बुद्धि को पाकर तुम विद्वान् होकर भी लोक में बालक की समान (अज्ञानी की समान) विचरते हो ॥ २६ ॥ प्रायः धर्म, अर्थ, काम और आत्मविचार के विषय में सब ही मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, तिन में भी आयु, यश अथवा लक्ष्मी प्राप्त होने की कामना से ही वह प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥ और तुम तो समर्थ, ज्ञानी, चतुर, सुन्दर और अमृत की समान मधुर बोलनेवाले होकर भी जड़, उन्मत्त और पिशाच की समान कोई भी कर्म नहीं करते हो और करने की इच्छा भी नहीं करते हो ॥ २८ ॥ काम और लोभरूप वन की अग्नि से जलतेहुए सब लोकों में तुम, अग्नि में से बाहर निकलकर गङ्गा के जल में गोतालगाकर रहनेवाले हाथी की समान जरा भी ताप नहीं पाते हो, सो ऐसा बडाभारी आनन्द तुम्हें कैसे प्राप्तहुआ है? ॥२९॥ इससे हे ब्राह्मण! विषयभोग से और स्त्रीपुत्रादिकों से रहितहुए तुम्हारे मन

द्विहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यदुनैवं महाभागो
ब्रह्मण्येन सुमेधसा ॥ पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं नृपम् ॥ ३१ ॥ ब्रा-
ह्मण उवाच ॥ सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ॥ यतो बुद्धिमु-
पादाय मुक्तोऽटामीह तान् शृणु ॥ ३२ ॥ पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा
रविः ॥ कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥ ३३ ॥ मधुहा हरिणो
मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ॥ कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४ ॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ॥ शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहा-
त्मनः ॥ ३५ ॥ यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ॥ तत्तथा पुरुषव्याघ्र
निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥ भूतैराक्रम्यमाणोपि धीरो दैववशानुगैः ॥
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७ ॥ शश्वत्परार्थसर्वेहः परा-

---

में आनन्द रहने का कारण क्या है? यह सब बूझनेवाले हमसे तुम कहो ॥ ३० ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि - हे उद्धवजी! इसप्रकार ब्राह्मणों के भक्त और उत्तमबुद्धि उन राजा यदु ने जिन से सत्कारपूर्वक प्रश्नकरा है ऐसे वह महाभाग ब्राह्मण, नम्रतायुक्त तिन राजा यदु से कहनेलगे ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण ने कहा कि—हे यदु राजन्! बुद्धि से ही आश्रय कियेहुए मेरे बहुतसे गुरु हैं, उन में से जिस गुरु से जो बुद्धि सीखकर मैं मुक्त होताहुआ पृथ्वी पर विचरता हूँ उन गुरुओं का मैं तुम से वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ३२ ॥ १ पृथिवी, २ वायु, ३ आकाश, ४ जल, ५ अग्नि, ६ चन्द्रमा, ७ सूर्य, ८ कपोत, ९ अजगर सर्प, १० समुद्र, ११ पतङ्ग, १२ मधुमक्षिका, १३ हाथी, ॥ ३३ ॥ १४ मधु को हरण करनेवाला, १५ हरिण, १६ मत्स्य, १७ पिङ्गला, १८ कुररपक्षी, १९ बालक, २० कुमारी, २१ बाणबनानेवाला, २२ सर्प, २३ मकडी और २४ भृङ्गी कीडा ॥ ३४ ॥ यह चौवीस गुरु मैंने अपनी बुद्धि से ग्रहणकरे हैं, इन के वर्त्ताव से मैंने अपने ग्रहण करने के और त्यागने के गुण सीखलिये हैं ॥ ३५ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ! यदु राजन्! अब मैंने जिस गुरु से जिस रीति से जो सीखा है सो तैसा ही तुम से कहता हूँ सुनो ॥ ३६ ॥ अब पृथ्वी से जो कुछ सीखा सो कहते हैं कि—सकलप्राणियों के चरणों से आक्रमण करने पर भी (खूँदने पर भी) वह जैसे क्षमा करती है अपने नियम से चलायमान नहीं होती है तैसे ही प्रारब्धकर्म के प्रेरणा करेहुए प्राणियों के पीड़ा देने पर भी धैर्यवान् पुरुष, उन प्राणियों की उस दैवाधीनता को जानकर आप अपने धर्ममार्ग से चलायमान नहीं होय; यह व्रत (नियम) मैंने पृथिवी से सीखा है ॥ ३७ ॥ अब विशेष करके पर्वतरूप और वृक्षरूप हुई पृथिवी से सीखेहुए गुण कहते हैं कि—जैसे पर्वत परके वृक्ष, तृण, झरने आदि सब पदार्थ परोपकार के निमित्त होते हैं और उन का जन्म भी

थैकांतसंभवः ॥ साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मतां ॥ ३८ ॥ प्राण-
वृत्त्यैव संतुष्येन्मुनिर्नैवेंद्रियप्रियैः ॥ ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः
॥ ३९ ॥ विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ॥ गुणदोषव्यपेतात्मा न वि-
षज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥ पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ॥ गुणैर्न
युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥ अंतर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु ब्रह्मा-
त्मभावेन समन्वयेन ॥ व्याप्त्याऽव्यवच्छेदमसंगमात्मनो मुनिर्नभस्त्वं वित-

केवल परार्थ ही होता है तैसे ही अपने सब व्यवहार और जन्म यह केवल परोपकार के ही लिये हों ऐसा, साधु पुरुष पर्वत से सीखे और वृक्षों का शिष्य होकर उन से परात्मता सीखे अर्थात् जैसे वृक्ष, दूसरेके तोडकर अथवा उखाडकर लेजाने पर उस का अनुमोदन ही करके केवल पराधीनता से रहता है तैसे ही अपने को कोई मारे अथवा खसोटे तो उस का अनुमोदन करके पराधीनपने से रहे ॥ ३८ ॥ वायु भी प्राणवायु और बाहरी वायु ऐसे दो प्रकार का है, तिस में प्राणवायु का गुरुभाव कहते हैं कि—जैसे प्राणवायु आहार मिलने से ही सन्तुष्ट होजाता है; रूपरस आदि इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा नहीं करता है तैसे ही योगी को भी आहारमात्र से ही सन्तुष्ट होना चाहिये, इन्द्रियों के प्रिय विषयों की अपेक्षा नहीं करना चाहिये; कुछ भी भोजन नहीं कियाजायगा तो मन विव्हल होकर ज्ञान का नाश होजायगा, ऐसा न होने के निमित्त देह का निर्वाह होनेयोग्य भोजन करना चाहिये; श्रेष्ठ आहार की और विषयों की अपेक्षा होय तो मन और वाणी को विक्षेप प्राप्त होता है, ऐसा न होने की युक्ति करना चाहिये ॥ ३९ ॥ अब बाहरी वायु का गुरुभाव कहते हैं कि—जैसे बाहर का वायु, वन में वा अग्नि में सर्वत्र फिरने पर कहीं भी आसक्त होकर नहीं रहता है तैसे ही गुणदोषों से रहितबुद्धि हुआ योगीको, सर्वत्र शीत उष्ण आदि अनेकों धर्मों के विषयों में अनुकूल वा प्रतिकूल प्राप्तहोय तो उस का सेवन करतेहुए कहीं भी आसक्त नहीं होना चाहिये॥४०॥ और जैसे वायु सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित पदार्थों के आश्रय से सुगन्धि वा दुर्गन्धिवाला प्रतीत होता है परन्तु वह सुगन्ध आदि गुण पृथिवी के हैं इसकारण उन के संयोग को नहीं पाता है तैसे ही पृथिवी के विकाररूप देहों में प्रविष्ट होकर उन देहोंके बालकपन आदि धर्मों का आश्रय करके बालक युवा आदि रूपों से प्रतीत होनेवाला भी योगी, वास्तव में आत्मदर्शी होनेके कारण उन बालकपन आदि गुणों से युक्त नहीं होता है यह मैंने बाहरी वायु से सीखा है॥४१॥ अब आकाश का गुरुभाव कहते हैं—देहस्थिति से वर्त्ताव करनेवाला भी योगी, मेरा आत्मा आकाश की समान है ऐसी भावना करे और जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होय तो भी उस को घट आदि पदार्थों से संग वा परिच्छिन्नता नहीं प्राप्त होते हैं तैसे ही ब्रह्मस्वरूप भावना से अपने आत्मा की स्थावर जङ्गमों में अनुस्यूतपने से व्याप्ति और वह भी जैसे मणियों में

तस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥ तेजोऽवन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ॥ न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥ स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ॥ मुनिः पुनात्यपांमित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥ तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ॥ सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥ ॥ ४५ ॥ क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ॥ भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥ स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ॥ प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७ ॥ विसर्गाद्याः श्मशानांता

सूत की होती है तैसी नहीं किन्तु सब अंशों में व्याप्ति है ऐसा समझकर अपना किसी भी देह आदिकों से सङ्ग वा किसी भी पदार्थ से परिच्छेद नहीं है ऐसी भावना करे ॥ ४२ ॥ और जैसे आकाश को वायु के प्रेरणा करेहुए मेघ, धूलि आदिकों का स्पर्श नहीं होता है तैसे ही अन्तर्यामी जीवात्मा को, काल के रचेहुए—तेज, जल और पृथ्वीमय देह आदिक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता है ॥ ४३ ॥ अब जल से सीखेहुए गुण कहते हैं—जैसे जल, स्वच्छ, स्वभाव से स्निग्ध, मधुर, मनुष्यों के पवित्र होने का स्थान और दर्शन, स्पर्शन तथा वर्णन के द्वारा जगत् को पवित्र करता है तैसे ही योगी भी—स्वच्छ, स्वभाव से स्नेह युक्त, मधुर भाषण करनेवाला, मनुष्यों के पवित्र होने का स्थान, और दर्शन, स्पर्शन तथा कीर्त्तन के द्वारा जगत् को पवित्र करनेवाला होय ॥ ४४ ॥ अब अग्नि से जो सीखा सो कहते हैं—जैसे अग्नि तेजस्वी, तापशक्ति से प्रकाशवान्, क्षोभ करने को अशक्य, अपने पेट में सब रखनेवाला और सर्वभक्षक होकर भी दोषरहित होता है तैसे ही योगी भी, ज्ञान की अधिकता से तेजस्वी, तप से प्रकाशवान्, मोहित करने को अशक्य, उदर से ही पात्र का व्यवहार करनेवाला और सर्वभक्षक होकर भी दोषरहित होय ॥ ४५ ॥ और जैसे अग्नि कहीं गुप्त, कहीं स्पष्ट, और कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुषों करके उपासना करने योग्य होकर अपने को होम की सामग्री देनेवाले पुरुषों के पहिले हुए और आगे को होनेवाले पापों को जलाडालता है और दूसरों की इच्छा से सकल स्थल में भक्षण करता है तैसे ही साधु, कहीं गुप्त, कहीं प्रकट, और कल्याण की इच्छा करनेवाले लोकों करके सेवन करने योग्य और अन्न देनेवाले लोकों के हुए और होनेवाले पापों को भस्म करनेवाला होकर दूसरों की इच्छा से सर्वत्र भोजन करनेवाला होय ॥ ४६ ॥ और जैसे अग्नि काठ में होय तो उन काठों की समान ही लम्बा टेढा आदि प्रतीत होता है परन्तु वह वास्तव में तैसा नहीं होता है तिसीप्रकार आत्मा भी, अपनी अविद्या से उत्पन्न करेहुए छोटेबड़े देवता—पशु—पक्षी आदि जगत् में प्रविष्ट होनेपर तिस २ के स्वरूपवाला प्रतीत होताहै परन्तु वास्तव में तैसा नहीं होताहै, ऐसा योगी जाने ॥ ४७ ॥

भावा देहस्य नात्मनः ॥ कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ ४८ ॥ कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ ४९ ॥ गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ॥ न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ ५० ॥ बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ॥ लक्ष्यते स्थूलमनिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥ ना-

अब चन्द्रमा से जो सीखा सो कहते हैं कि–जैसे चन्द्रमा की प्रकाशरूप सोलह कलाओं के ही उत्पत्तिनाश होते हैं, उदकमण्डलरूप (जलमय) चन्द्रमा के नहीं होते हैं तैसेही जन्मसे मरण पर्यन्त सकल विकार, अव्यक्तस्वरूप काल के द्वारा देह के ही होते हैं, आत्मा के नहीं होते हैं ॥ ४८ ॥ फिर सिंहावलोकनन्याय से अग्नि से सीखेहुए वैराग्य का वर्णन करते हैं–नदी के प्रवाह की समान वेगवाले काल करके आत्मसम्बन्धी प्राणीमात्र के देहों के उत्पत्तिनाश प्रतिक्षण में होते हैं तो भी, जैसे अग्नि की ज्वालाओं के उत्पत्तिनाश प्रतिक्षण में होतेहुए भी नहीं दीखते हैं तैसे ही दीखते नहीं हैं, इसप्रकार देह के क्षणभंगुर होने के कारण योगी उस देह में आसक्त न होय ॥ ४९ ॥ अब सूर्य से जो सीखा सो कहते हैं कि–जैसे सूर्य आठ मासपर्यन्त अपनी किरणों से जल को खैंचता है और फिर वर्षा ऋतु में उस को छोडदेता है परन्तु खैंचने के और छोडने के अभिमान को धारण नहीं करता है तैसे ही देह से निराले आत्मा का अनुसन्धान रखने वाला योगी भी, इन्द्रियों के द्वारा विषयों को स्वीकार करता है और याचक के आनेपर वह विषय उस को देदेता है परन्तु उन में यह मेरे प्राप्त करेहुए हैं और यह मेरे दियेहुए हैं ऐसा अभिमान नहीं रखता है ॥ ५० ॥ और जैसे एक ही सूर्य, जल आदि में प्रतिबिंबित होनेपर, स्थूलबुद्धि पुरुषों करके निराला २ देखाजाता है तैसे ही वास्तव में स्वरूप में एक ही हुआ आत्मा, दैहिक उपाधियों में प्रविष्ट होनेपर स्थूलबुद्धि (देहाभिमानी) पुरुषों करके निराला २ जानाजाता है; ऐसा योगी जाने ॥ ५१ ॥ अब कपोत

(१) ज्योतिषशास्त्र में इस विषय में ऐसा नियम है कि–चन्द्रमा का मण्डल जलमय है और सूर्य का मण्डल तेजोमय है, इन दोनों की एक नक्षत्र पर स्थिति होने पर, नेत्रों के सन्मुख आयेहुए सूर्यमण्डल की आड़ में हुआ चन्द्रमा दीखता नहीं है, वही अमावस्या है, तदनन्तर साठघड़ी में चन्द्रमा दूसरे नक्षत्र पर जाता है और सूर्य तो तेरह दिन में दूसरे नक्षत्र पर जाता है इसकारण प्रतिपदा से विषम रहेहुए सूर्यमण्डल का प्रतिदिन पन्द्रहवां पन्द्रहवां भाग जलमण्डल में प्रतिबिम्बित हुआ दीखने लगता है, उस को कला कहते हैं, ऐसा होते होते पन्द्रहवें दिन तेरह नक्षत्र का अन्तर पड़ने के कारण सत्ताईस नक्षत्ररूप राशिचक्र के मध्य में चन्द्रमा और सूर्य यह दोनो एक दूसरे के सन्मुख आजाते हैं, तब पृथ्वी की छाया से चिन्हित हुए सूर्य का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब दीखता है, वही पूर्णिमा है, तिस पूर्णिमा में अमावास्या में के प्रतिबिम्ब के सहित सोलह कला का चन्द्रमा ऐसा कहते हैं तदनन्तर फिर प्रतिपदा से लेकर इन दोनों मण्डलों के विषम होने के कारण प्रतिदिन एक एक कला कम होती जाती है, इसप्रकार केवल चन्द्रमा की कलाओं के ही उत्पत्ति नाश होते हैं उदकमण्डलरूप चन्द्रमा के नहीं होते हैं ॥

तिस्नेहः प्रसंगो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ॥ कुर्वन्विंदेत संतापं कपोत इव
दीनधीः ॥ ५२ ॥ कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ॥ कपोत्या भार्यया
सार्द्धमुवास कतिचित्समाः ॥ ५३ ॥ कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ॥
दृष्टिं दृष्ट्यांऽगमंगेन बुद्धिं बुद्ध्या ववन्धतुः ॥५४॥ शय्यासनाटनस्थानवार्ता-
क्रीडाशनादिकं ॥ मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५ ॥ यं यं वां-
छति सा राजंस्तर्पयंत्यनुकंपिता ॥ तं तं समनयत्कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेंद्रियः
॥ ५६ ॥ कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते ॥ अंडानि सुषुवे नीडे
स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥ ५७ ॥ तेषु काले व्यजायंत रचितावयवा हरेः ॥
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलांगतनूरुहाः ॥ ५८ ॥ प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दं-
पती पुत्रवत्सलौ ॥ शृण्वंतौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥ ता-
सां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ॥ प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः

(कबूतर) से जो कुछ सीखा सो कहते हैं कि—मनुष्य, किसी विषय में वा किसी के भी साथ अतिप्रीति वा लालनपालन आदि न करे, यदि करेगा तो वह विवेकहीन होकर कपोत पक्षी की समान सन्ताप पावेगा ॥ ५२ ॥ कोई एक कबूतर पक्षी, जङ्गल में एक वृक्षपर घोंसला बनाकर अपनी कपोती स्त्रीके साथ कितने ही वर्षोंपर्यन्त रहतारहा ॥५३ ॥ स्नेह से परस्पर चित्त गुँथेहुए गृहधर्मी (मैथुनसुख में निमग्न) तिस कबूतर और कपोती इन दोनोंने ही,अपनी दृष्टि से,दृष्टि अङ्ग से अङ्ग और बुद्धि से बुद्धि अत्यन्त मिलाली थी ॥५४॥ वह दोनों ही, सोना, बैठना, फिरना, खडारहना, परस्पर बातचीत करना, रतिक्रीडा करना और खाना इत्यादि विषयों में निःशङ्कपने से रहकर दोनों साथ २ वन की पंक्तियों में फिरते थे ॥ ५५ ॥ हे राजन्! हास्य के साथ देखना, मधुरभाषण आदि करके कपोत को प्रसन्न करनेवाली और उस की प्रीतिपात्र हुई वह कबूतरी, जिस २ पदार्थ की इच्छा करती थी तिस २ पदार्थ को वह अजितेन्द्रिय कबूतर बडे कष्ट से भी लाकर देता था ॥ ५६ ॥ तदनन्तर पहिला ही गर्भधारण करनेवाली उस सती कबूतरी ने, प्रसूति का समय प्राप्त होनेपर अपने पति के समीप ही घोंसले में अंडे उत्पन्न करे ॥ ५७ ॥ फिर जल के भरेहुए उन अण्डों में श्रीहरि की काल कर्म आदि अतर्क्य शक्तियों करके अङ्गों की रचना होकर उत्पन्न होने के समय कोमल अङ्ग और रोमों से युक्त बच्चे उत्पन्न हुए ॥ ५८ ॥ तदनन्तर प्रसन्नचित्त और पुत्रों पर प्रेम करनेवाले वह दोनों,उन बच्चों के कुलकुल शब्दों को सुनकर उन के मधुर शब्दों से सुख पातेहुए उनका पोषण करनेलगे ॥५९॥ तब हर्षयुक्त हुए उन बच्चों के उत्तम स्पर्शवाले पंखों से कुलकुल शब्दों से,बालकपन की भोली चेष्टाओंसे और सन्मुख आनेसे उन मातापिताओं बडा आनन्द

॥ ६० ॥ स्नेहानुबद्धहृदयावन्योऽन्यं विष्णुमायया ॥ विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥ एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थौ तौ कुटुंबिनौ ॥ परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥ दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः ॥ जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयांतिके ॥ ६३ ॥ कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ॥ गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ ६४ ॥ कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकान् जालसंवृतान् ॥ तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ ६५ ॥ साऽसकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताऽजमायया ॥ स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ ६६ ॥ कपोतश्चात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् ॥ भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः ॥ ६७ ॥ अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ॥ अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ ६८ ॥ अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ॥ शून्ये गृहे मां संत्यज्य

होताथा ॥ ६० ॥ इसप्रकार विष्णुभगवान् की माया से अत्यन्त मोहित होकर परस्पर स्नेहसे जिनके चित्त गुँथगये हैं और उन बच्चों का पोषण करने के विषय में तत्पर होने के कारण व्याकुलचित्त हुए वह दोनो उन छोटे २ बच्चों का पोषण करते थे ॥ ६१ ॥ एकदिन उन बच्चोंके खाने के निमित्त अन्न की इच्छा करनेवाले वह दोनोही कुटुम्बी कपोतपक्षी अपने घोंसले के चारोंओर उस वन में जाकर बहुत समय पर्यन्त फिरते रहे ॥ ६२ ॥ सो इतनेही में वन में फिरनेवाले किसी एक बहेलिये ने स्वाभाविक अपने घोंसले के आसपास फिरतेहुए उन कबूतर के बच्चों को देखकर अपना जाल फैलाया और उन को पकड़लिया ॥ ६३ ॥ इधर बच्चों के पालनके विषय में निरन्तर उत्सुक ऐसे कबूतर और कबूतरी दोनो गये थे, सो बच्चों का चुग्गा लेकर अपने घोंसले में आये ॥ ६४ ॥ उन में कबूतरी अपने बच्चों को जाल में फँसकर रोतेहुए देखकर, अत्यन्त दुःखित हुई और आप भी विलाप करती करती उनके समीप को दौड़कर गई ॥ ६५ ॥ वह कबूतरी भगवान् की माया से उन बच्चों के ऊपर वारंवार स्नेह बँधजाने के कारण दीनचित्त होतीहुई, मैं भी ऐसे ही जाल में फँसकर मरूँगी ऐसी स्मृति को भूलकर बँधेहुए उन बच्चों को देखती हुई आप भी जाल में फँसकर बँधगई ॥ ६६ ॥ तब वह कबूतर पक्षी तो, अपने शरीर से भी अधिक प्रिय परन्तु बँधेहुए उन बच्चों को तैसे ही अपने शरीर की समान प्रिय परन्तु जाल से बँधी हुई उस स्त्री को देखकर, अत्यन्त दुःखित और दीन होताहुआ शोक करने लगा कि—॥ ६७ ॥ अहो प्राणियो! अल्पपुण्य और दुर्मति मेरा यह कैसा नाश हुआ है सो देखो! इस लोकमें के सुखसे तृप्त न होनेवाले और परलोक का भी कोई साधन न करनेवाले मेरा धर्म अर्थ काम का सम्पादन करनेवाला यह गृहस्थाश्रम नष्ट होगया है ॥ ६८ ॥ जिस मेरी योग्य और अनुकूल पतिव्रता स्त्री, सूनेहुए घर में मुझे छोडकर अपने उत्तम बालकों के साथ स्वर्ग

पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥ सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ॥
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥ तांस्तथैवावृतान् शिग्भि-
र्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ॥ स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥ तं
लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ॥ कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः
प्रययौ गृहम् ॥ ७२ ॥ एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ॥ पुष्णन्कुटुम्बं
कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३ ॥ यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ॥
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४ ॥ इतिश्रीभागवते म० ए० सप्त-
मोऽध्यायः ॥ ७ ॥ ७ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव
च ॥ देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः ॥ १ ॥ ग्रासं सुमृष्टं विरसं
महान्तं स्तोकमेव वा ॥ यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥ शयीताहा-
नि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ॥ यदि नोपनमेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

को चलीगई है ॥ ६९ । सो स्त्री और पुत्र मरजाने के कारण इकला रहाहुआ मैं दीन, अब सूने घर में दुःखरूप आयु को विताकर जीवित रहने की क्यों इच्छा करूँ॥७०॥ इसप्रकार विलाप करनेवाला वह अज्ञानी दीन कबूतर पक्षी, तिसीप्रकार जाल में फँसकर फडफडानेवाले और मृत्यु के ग्रसेहुए उन स्त्री सहित बच्चों को देखता हुआ भी, उन के मोह से आप भी जाल में जापडा ॥ ७१ ॥ वह क्रूर बहेलिया तो उस गृहस्थाश्रमी कबूतर की, उस के बच्चों की और कबूतरी की एकसाथ प्राप्ति होजाने पर सिद्धकार्य होकर अपने घर को चलागया ॥ ७२ ॥ इसप्रकार कबूतर की समान दूसरा भी कुटुम्ब के ऊपर प्रेम करनेवाला गृहस्थी, चित्त की अशान्तता से सुखदुःखादिकों में रमकर कुटुम्ब का पोषण करनेलगे तो वह भी उन पुत्रकलत्रादिकों के साथ दुःख से नाश को प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥ इसकारण खुलेहुए मुक्ति के द्वाररूप मनुष्यशरीर के प्राप्त होनेपर उस कबूतर पक्षी की समान यदि घर में आसक्त होता है तो उस को विद्वान् पुरुष ऐसा कहते हैं कि—यह कल्याण के मार्गों की सीढ़ी पर चढकर भी फिर नीचे गिरपडा ॥ ७४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में सप्तम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ ब्राह्मण ने कहाकि—हे यदुराजन्! जैसे दुःख, यत्न के विना प्राप्त होता है तैसे इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला जो सुख वह, स्वर्ग में और नरक में भी प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होता है इसकारण चतुर पुरुष उस की जरा भी इच्छा न करे ॥ १ ॥ किन्तु जैसे अजगर उदासीन होता है तैसे ही उदासीनवृत्ति धारण करके देह का निर्वाह होनेयोग्य ही दैव से उद्योग के विनाही प्राप्तहुआ आहारमात्र 'फिर वह सुन्दर मीठा हो वा विरसहो तैसे ही पेटभरनेयोग्य हो वा थोडासा हो' भक्षण करे॥ २॥ यदि ग्रास प्राप्त नहीं होय तो वह दैव के ऊपर विश्वास रखकर महाअजगर की समान उद्योग न करके निराहार ही बहुत दिनों पर्यन्त सोतारहे॥ ३॥

ओजः सहो बलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकं ॥ शयानो वीतनिद्रश्च "नेहेतेन्द्रियवानपि" ॥ ४ ॥ मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ॥ अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥ समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ॥ नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥ दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ॥ प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥ योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ॥ प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥ स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता ॥ गृ-

आहार पाने में समर्थ होकर भी क्या वह सोता ही रहे ? ऐसा कहो तो—हाँ,इन्द्रियों के बल मन के बल और शरीर के बल से युक्त भी देहधारी,कुछ न करके सोतारहे,तैसे ही आत्मविचाररूप अपने प्रयोजन के विषय में जागताहुआ रहकर, देखना आदि व्यापार करने में समर्थ होकर भी उन को न करे, यह मैंने अजगर से सीखा है ॥४॥ अब समुद्र से जो सीखा सो कहते हैं कि—ऋषि, निश्चलजलवाले समुद्र की समान बाहर से प्रसन्न और भीतर से गम्भीर, (अभिप्राय से) यह इतना है ऐसी थाह पाने को अशक्य; (तेजस्वीपने से) दूसरों को दुस्तर, (स्वरूपसाक्षात्कार होने के कारण) काल और देश करके अन्त और पार रहित तथा (राग लोभ आदि न होने के कारण) क्षोभरहित होय ॥ ५ ॥ और जैसे समुद्र, वर्षाऋतु में नदियों के जल से समृद्ध होजाने पर भी बढता नहीं है और ग्रीष्म ऋतु में नदियों का जल न मिले तो भी सूखता नहीं है तैसे ही मुनि, भोगसम्पदाओं की दशा में हर्ष न माने और भोगहीनदशा में शोक भी न करे, किन्तु नारायणपरायण होकर रहे ॥ ६ ॥ रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द और रस इन पाँच विषयों से मोह को प्राप्त होतेहुए पतङ्ग (कीडा), मधुकर (भौंरा), हाथी, हिरन और मत्स्य यह पाँचों नाश को प्राप्त होते हैं इसकारण उन रूपगन्ध आदिकों में आसक्त न होने के विषय में यह पाँच गुरु हैं, तिन में पतङ्गे से जो सीखा सो कहते हैं कि—जैसे पतङ्गा अग्नि में रूप देखकर उस को खाने की इच्छा से उस में गिरकर नाश को प्राप्त होजाता है तैसे ही इन्द्रियों को वश में न रखनेवाला पुरुष; भगवान् की मायारूप स्त्री को देखकर उस के हावभावों से लोभित होताहुआ तिस में आसक्त होनेपर अन्त में नाश को प्राप्त होकर अन्धतम नरक में जाकर पडता है ॥७॥ यह स्त्री तो एक उपलक्षण है तिस से भगवान् की माया करके रचेहुए—स्त्री, सुवर्ण, भूषण और वस्त्रादि पदार्थों का उपभोग करने की बुद्धि से आसक्तचित्त हुआ पुरुष, मोहित और विवेकहीन होकर पतङ्गे की समान निःसन्देह नाश को प्राप्त होता है इसकारण योगी,तिन स्त्री पुत्रादिकों में आसक्त न होय ॥ ८ ॥ मधुकर दो प्रकार का है—एक पुष्पों का रस ग्रहण करनेवाला भ्रमर दूसरी मधुमक्खी; तिस में भ्रमर से सीखेहुए गुण कहते हैं कि—जैसे भौंरा

हानहिंसन्ना तिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥ अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ॥ सर्वतः सारमाद्द्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥ सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम् ॥ पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही ॥ ११ ॥ सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः ॥ मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥ पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ॥ स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अंगसङ्गतः ॥ १३ ॥ नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः

पुष्पों का नाश न करके उन में का थोडा २ मकरन्द लेकर किसी में भी आसक्त न होता हुआ अपना निर्वाह करता है तैसे ही मुनि, गृहस्थों को पीडा न देकर जितने से अपना निर्वाह होय उतना, बहुतसे घरों में से थोडा २ आहार भक्षण करने की मधुकरी (भौंरे की) वृत्ति धारण करे; ऐसा न करेगा तो वह मुनि, जैसे भौंरा बहुतसे मकरन्द के लोभ से एक ही कमल के पुष्पपर रहजायतो, सूर्यास्त के अनन्तर उस कमल के मुँदने पर उस में मोह से बँधजाता है तैसे ही मुनि भी, गुण के लोभ से एक ही घर में रहेगा तो तहाँ मोहसे बँधजायगा ॥ ९ ॥ और जैसे भौंरा छोटे बडे फूलों में से मकरन्द को ग्रहण करता है तैसे ही विवेकी पुरुष, छोटे बडे सकल शास्त्रों में से जो सार होय उस को ग्रहण करे ॥ १० ॥ सायङ्काल को भक्षण करने के निमित्त वा दूसरे दिन भक्षण करने के निमित्त भिक्षा के अन्न आदि का संग्रह न करे, किन्तु हाथ ही जिस का पात्र है अर्थात् जितना हाथ में आवे उतना ही ग्रहण करनेवाला अथवा उदर ही जिस का पात्रहै ऐसा होय, यदि इकट्ठा करेगा तो उस को मौहाल की मक्खी की समान मरनापडेगा ॥ ११ ॥ इस को ही स्पष्ट करके कहते हैं कि-यह सन्ध्या के समय भोजन करूँगा, और यह कल को भोजन करूँगा ऐसी इच्छा से भिक्षा के अन्न आदि का संग्रह नहीं करे, यदि संग्रह करेगा तो वह, उस संग्रह करेहुए अन्न आदि के साथ, जैसे मौहाल की मक्खी संग्रह करेहुए मधु (सहद) के साथ नाश को प्राप्त होती है तैसे, नाश को प्राप्त होयगा ॥ १२ ॥ स्पर्श की आसक्ति नाश का कारण है, इस विषय में हाथी से लीहुई शिक्षा का वर्णन करते हैं कि—योगी, सच्ची तो क्या परन्तु काठ की भी स्त्री को हाथ से तो क्या परन्तु पैर से भी स्पर्श करने की इच्छा न करे।यदि स्पर्श करनेकी इच्छाकरेगा तो हाथीको पकडनेवाले पुरुष,जहाँहाथी होय उस वनमें एक बडाभारी गढहा खोदकर उसको ढककर उस के समीप में लकडी की रंगीहुईहथनी खडी करदेतेहैं,तब रात्रि के समय उस हथिनीसे संग करनेको मदान्धपनेसे जाने वाला हाथी गढहेमें गिरजाताहै सो उसी समय वह जैसे परवश होकर दुःख भोगता है तैसे ही वह भिक्षुक भी नरक आदि में पडकर दुःख भोगेगा॥ १३ ॥ और चतुर पुरुष, कभी भी स्त्री

कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ॥ बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४ ॥ न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ॥ भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥१५॥ सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ॥ मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥ ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ॥ शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ ॥ १७ ॥ नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम् ॥ आसां क्री-

के विषै भोगबुद्धि से आसक्त न होय, किन्तु उस स्त्री को 'यह मेरी मृत्यु है' ऐसा देखै, उस में यदि आसक्त होयगा तो वह पुरुष, जैसे हथनी में आसक्त हुआ हाथी, उस में आसक्त हुए दूसरे बलवान् हाथियों से माराजाता है वैसेही उस स्त्री के विषैं आसक्त होने वाले अन्य पुरुषों से माराजायगा ॥ १४ ॥ अब मधु को हरण करनेवाले से सीखे हुए गुण का वर्णन करते हैं कि—जैसे मधु का हरण करनेवाला पुरुष, मौहाल की मक्खियों के हरण करेहुए मधु को हरण करके लेकर जानेलगता है तो उस से उस मधु को कोई दूसरा ही बलवान् पुरुष छीनकर भक्षण करता है तैसे ही, धन के लोभी पुरुषों ने जिस को दान न करा और न जिस को भोगा ही, ऐसा दुःख से इकट्ठा कराहुआ जो धन होता है, उस को उस से कोई दूसरा ही हरण करलेता है और उस से कोई तीसरा हरण कर के उपभोग करता है, यदि कहो कि—उत्तमता के साथ गुप्त करके रक्खे हुए धन को दूसरा कैसे जानेगा ? और कैसे हरण करलेगा ? ऐसा कहो तो—जैसे मधु (शहद) को हरण करनेवाला पुरुष, वृक्ष की खखोड़ल में के मधु को मौहाल की मक्खियों के आने जाने से जानजाता है तैसेही लोक भी धन को जानजाते हैं ॥ १५ ॥ अब उद्योग विना करे भी यति को भोजन प्राप्त होता है, यह भी मैंने उस से ही सीखा है ऐसा वर्णन करतेहैं कि—अतिदुःख से इकट्ठे करेहुए धन के द्वारा, घर में के खाना पीना आदि भोगों की इच्छा करनेवाले गृहस्थों के भोगों को, उन से पहिले ही यति, जैसे मौहाल की मक्खियों के इकट्ठे करेहुए शहद को उन से पहिले ही उस शहद का हरण करनेवाला भक्षण करता है तिसी प्रकार सेवन करता है, क्योंकि—यति और ब्रह्मचारी यह दोनो, पकेहुए अन्न के स्वामी हैं, इसकारण उन के आजाने पर गृहस्थ उन को न देकर भक्षण करेतो उस को चान्द्रायण व्रत का प्रायश्चित्त करना चाहिये, इस रीति से गृहस्थों को आवश्यक दानकहा है ॥१६॥ अब हरिण से जो सीखा सो कहते हैं कि—सर्वत्र फिरनेवाला यति भगवान् का गान और श्रवण करे परन्तु कभी भी विषयासक्त पुरुषों के करेहुए गान को न सुने, इस तत्त्व को, बहेलियें के गान से मोहित होकर बँधेहुए हरिण से यति सीखै; नहींतो बन्धन में पड़ेगा ॥ १७ ॥ ऐसा कहाँ देखने में आया है ? यदि ऐसा कहोतो—हरिणी के पुत्र

इनको चर्ष्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८ ॥ जिव्हयातिप्रमाथिन्या जनो
रसविमोहितः ॥ मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥ इंद्रियाणि
जयंत्याशु निराहारा मनीषिणः ॥ वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥
॥ २० ॥ तावज्जितेंद्रियो न स्याद्विजितान्येंद्रियः पुमान् ॥ न जयेद्रसनं याव-
ज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥ पिंगला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा ॥
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥२२॥ सा स्वैरिण्येकदा कांतं
संकेत उपनेष्यती ॥ अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥ मार्ग
आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ॥ तान् शुल्कदान्वित्तवतः कांतान्मेनेऽर्थ-
कामुका ॥ २४ ॥ आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ॥ अप्यन्यो वित्त-

ऋष्यशृङ्ग ऋषि, स्त्रियों के ग्रामीण नृत्य बाजे और गान को सुनकर उन स्त्रियों के वश में खिलौने की समान होगये थे ॥ १८ ॥ रस के सेवन की आसक्ति नाशका कारण है, यह मैंने मत्स्य से सीखा है ऐसा वर्णन करते हैं—अति दुर्जय जिव्हा के रस के सेवन में आसक्त हुआ दुर्बुद्धि मनुष्य, जैसे मांस के रस में आसक्तहुआ मत्स्य, उस मांस में चुभे हुए लोहे के काटों से मरण को प्राप्त होता है तैसेही, मरण को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ रसना इन्द्रिय ऐसी दुर्जय है कि--आहार का त्याग करनेवाले विचारवान् पुरुष, रसना इन्द्रिय को छोड़कर शेष सब इन्द्रियों को जीतलेते हैं परन्तु अन्नरहित पुरुष की वह रसना इन्द्रिय वृद्धि को प्राप्त होती है, तब यदि आहार का सेवन कराजाय तो फिर रसकी आसक्ति से सब इन्द्रियें चलायमान होजाती हैं, इस से रसकी आसक्ति को छोड़कर केवल औषध की समान भोजन करै ॥ २० ॥ और इन्द्रियों को जीतनेवाला भी पुरुषजबतक रसना इन्द्रिय को नहीं जीते तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं है, रसना इन्द्रिय को जीतलिया जाय तो सब ही इन्द्रियें जीतीहुईसी होजाती हैं ॥ २१ ॥ हे राजपुत्र! पहिले राजा विदेह के नगर में एक पिङ्गला नामवाली वेश्या रहती थी, उस से मैंने जो कुछ सीखा है सो तुम से कहता हूँ सुनो ॥ २२ ॥ वह वेश्या एक दिन किसी बहुतसा धन देनेवाले सुन्दर पुरुष को अपने रतिमन्दिर में लेजाने के निमित्त, आभूषण धारण करेहुए अपना सुन्दररूप सजाकर सायङ्काल के समय द्वार में बैठी ॥ २३ ॥ हे पुरुषों में उत्तम राजन्! धन की अभिलाषा से व्याकुल हुई वह पिङ्गला, मार्ग में आनेवाले पुरुषों को देखकर, उन में धनी और बहुतसा मूल्य देनेवाला पुरुष मुझे रतिसुख के निमित्त प्राप्त होय, ऐसा विचार कररही थी ॥ २४ ॥ वह जारपुरुषों से मिलेहुए धन से जीविका चलानेवाली थी इसकारण, आयेहुए साधारण धनी पुरुषों के निकलकर चलेजाने पर दूसरा ही कोई तो

वान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५ ॥ एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलंबती ॥ निर्गच्छंती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥ २६ ॥ तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ॥ निर्वेदः परमो जज्ञे चिंताहेतुः सुखावहः ॥ २७ ॥ तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ॥ निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥ नह्यंगाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ॥ यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥२९॥ पिंगलोवाच ॥ अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ॥ या कांतादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥ ३० ॥ संतं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ॥ अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥ अहो मयात्मा परितापितो वृथा सांकेत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ॥ स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्यात्क्रीतेन वित्तं रति-

बडा धनवान् पुरुष मेरी ओर को आवेगा और उस से मुझे बहुतसा धन प्राप्त होयगा ॥२५॥ ऐसी दुराशा से जिस की निद्रा नष्ट होगई है और द्वारपर खडीहुई वह पिङ्गला अब कोई नहीं आवेगा ऐसा समझकर घर में को चलीजाती थी और इतने ही में कोई आया ऐसा प्रतीत होने पर बाहर को चली आती थी, इसप्रकार होते होते आधीरात का समय होगया ॥२६॥ द्रव्य की आशा से जिस का मुख अत्यन्त सूखगया है ऐसी दीनचित्त हुई तिस पिङ्गला वेश्या को, द्रव्य की चिन्ता से परिणाम में सुख देनेवाला उत्तम वैराग्य (अब विषयसुख से भरपाई ऐसा विचार) उत्पन्न हुआ ॥२७॥ उस विरक्तचित्त हुई पिङ्गला का गीत जैसा हुआ है तैसा मैं तुम से कहता हूँ तुम मुझ से सुनो, वैराग्य, पुरुष की आशारूप पाशों को काटनेवाला खड्ग ही है ॥ २८ ॥ हे यदु राजन्! जैसे अपरोक्षज्ञान को प्राप्त न हुआ पुरुष, ममता को त्याग करने की इच्छा नहीं करता तैसे ही वैराग्य को प्राप्त न हुआ पुरुष, अपने देहबन्धन का त्याग करने की इच्छा नहीं करता है २९ पिङ्गला कहनेलगी कि—अहो! जिस ने मन को नहीं जीता ऐसी मेरे मोह के फैलाव को देखो! जिस मोह से विवेकहीन हुई मैं, तुच्छ पुरुष से भोग पाने की और धन पाने की इच्छा करती हूँ ॥ ३० ॥ जो मूर्ख मैं, समीप (अन्तर्यामी) रहनेवाले, मन को रमाकर सुख देनेवाले और लक्ष्मीपति होने के कारण धन भी देनेवाले इन नित्य ईश्वर का त्याग करके, उन से दूसरे भोगसम्पादन में असमर्थ और दुःख, भय, खेद, शोक और मोह उत्पन्न करनेवाले तुच्छ पुरुष का सेवन करती हूँ! ॥३१॥ अहो! जो मैं, स्त्रीलम्पट, द्रव्यलोभी और शोक करने योग्य पुरुष से, उस ने बिकते में मोललियेहुए और अपनेआप उस के हाथ वेचेहुए देह से धनकी और रतिसुख की इच्छा करती हूँ; सो मैंने आजपर्यन्त परपुरुष के समागमरूप अतिनिन्दनीय वृत्ति से अपने अन्तर्यामी आत्मा को व्यर्थ ताप दिया

मात्मनेच्छती ॥ ३२ ॥ यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्यस्थूणं त्वचारोमनखैः पिनद्धं ॥
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति काऽन्या ॥ ३३ ॥ विदेहानां पुरे
ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ॥ योऽन्यमिच्छत्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥ ३४ ॥
सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणां ॥ तं वि-क्रीयात्मनैवाहं रमेऽ-
नेन यथा रमा ॥ ३५ ॥ कियत्प्रि-यं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः ॥
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६ ॥ नूनं मे भगवान्प्रीतो
विष्णुः केनापि कर्मणा ॥ निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥
॥ ३७ ॥ मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ॥ येनानुबन्धं नि-
र्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥ ३८ ॥ तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसंगताः॥

है ॥ ३२ ॥ अहो! मुझ धिक्कार है, जो मैं अत्यन्त ही निन्दित पदार्थों का सेवन करती हूँ- शरीररूप घर कि—जिस में खम्भ, बाँस और दासे सब हाडों के ही बने हैं, तिस में पीठ का हाड दासा, उस के दोनों ओर के हाड बाँस और हाथ पैर की हड्डियें खम्भ हैं ऐसे, त्वचा-रोम-नखों से ढकेहुए, जिस में नौ द्वार (पतनाले) बहरहे हैं और जो विष्टा से और मूत्र से भराहुआ है ऐसे शरीररूपी घरको, यह सुन्दर है ऐसी बुद्धि से मेरे सिवाय दूसरी कौनसी स्त्री सेवन करेगी? अर्थात् कोई सेवन नहीं करेगी ॥ ३३ ॥ अहो! सत्सङ्ग होने पर भी मेरा यह कैसा मोह है! विदेह राजाओं (ज्ञानियों) के इस नगर में एक मैं ही मूढबुद्धि हूँ, क्योंकि, जो जारकर्म करनेवाली मैं, इन नाशरहित और परमानन्द देनेवाले भगवान् को छोडकर दूसरे भोगों के सुख की इच्छा करती हूँ ॥ ३४ ॥ इस से, क्योंकि यह ईश्वर, सकलप्राणियों के अतिप्रिय, स्वामी, हितकर्त्ता, और आत्मा हैं इसकारण अब मैं, उन को आपही अपने देह का अर्पण करके उन के साथ जैसे लक्ष्मी रमण करती है तैसे रमण करूँगी ॥ ३५ ॥ जो शब्दादिक विषय, रतिसुख देनेवाले पुरुष, और इन्द्रादिक देवता हैं वह तो मुझ भार्या का क्या प्रिय करेंगे? क्योंकि—वह आदि और अन्त से युक्त हैं काल के ग्रासरूप होरहे हैं इसकारण इस लोक में वा परलोक में ईश्वर के सिवाय दूसरा कोई भी पुरुष सेवन करने योग्य नहीं है ॥ ३६ ॥ ऐसा निश्चय करके अपने भाग्य की प्रशंसा करती है—किन्हीं भी प्राचीन शुभकर्मों के द्वारा विष्णुभगवान्, मेरे ऊपर निःसन्देह प्रसन्नहुए हैं, इसकारण ही दुष्ट आशा धारण करनेवाली मुझे यह सुखदायक वैराग्य हुआ है ॥ ३७ ॥ ईश्वर की प्रसन्नता के विना मुझ मन्दभाग्य को, वैराग्य होने के कारण ऐसे क्लेश होते ही नहीं, जिस वैराग्य से युक्त हुआ पुरुष, अपने घरद्वार आदि का सम्बन्ध छोडकर शान्ति पाता है ॥ ३८ ॥ इस से अब मैं, तिन विष्णुभगवान् के करेहुए वैराग्यरूप उपकार को

त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥ सन्तुष्टा श्रद्दधत्येत-
द्यथालाभेन जीवती ॥ विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥ सं-
सारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ॥ ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधी-
श्वरः ॥ ४१ ॥ आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाऽखिलात् ॥ अप्रमत्त
इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ एवं व्यवसित-
मतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ॥ छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ॥ यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं
सुष्वाप पिंगला ॥ ४४ ॥ इतिश्रीभागवते म० एकादशस्कन्धे पिंगलोपा-
ख्याने अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ छ ॥ ब्राह्मण उवाच ॥ परिग्रहो हि दुःखाय
यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ॥ अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिंचनः ॥१॥ सा-

शिरपर धारण करके और तुच्छ विषयों की दुष्ट आशा को त्यागकर; तिन ही सर्व-नियन्ता परमेश्वर की शरण जाती हूँ ॥ ३९ ॥ सन्तुष्ट होकर इस प्राप्तहुए वैराग्य पर श्रद्धा रखनेवाली और दैवयोग से ही जो प्राप्त होय उस से ही निर्वाह करनेवाली मैं; इन ही आत्मरूप प्रियपति के साथ क्रीड़ा करती हूँ ॥ ४० ॥ अब ब्रह्मादिकों का त्याग करके इन आत्मा के साथ ही क्यों रमती है ? ऐसा कोई कहे तो—संसाररूप कूप में पड़ेहुए विषयरूप धुएँ से जिस के विवेकरूप नेत्र फूटगये हैं और कालरूप अजगर से निगलेहुए आत्मा को, ईश्वर के सिवाय दूसरा कौन रक्षा करसक्ता है ? ॥ ४१ ॥ अब, अपनी रक्षा करने निमित्त उन की सेवा करती है ? ऐसा कोई कहे तो—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—यह पुरुष जब सावधान होकर; यह सब जगत् कालसर्प का निगलाहुआ है ऐसा देखता है और सब प्रपञ्च से विरक्त होता है तब अपनी रक्षा करने को आप ही समर्थ होता है, इसकारण मैं केवल प्रेम से ही उन ईश्वर का सेवन करती हूँ ॥ ४२ ॥ ब्राह्मण ने कहा कि—इसप्रकार बुद्धि से निश्चय करनेवाली तिस पिङ्गला वेश्या ने, पुरुष, की अभिलाषा से उत्पन्न हुई धन आदि की दुराशा को तोड़कर शान्ति का आश्रय करा और शय्या के ऊपर जाकर सुख से शयन करा ॥ ४३ ॥ तात्पर्य यह कि आशा ही परमदुःख का साधन है और आशा का न होना ही परम सुख का साधन है; देखो ! पति की आशा से दुःखितहुई भी पिङ्गलाने, तिस आशा को अत्यन्त तोड़कर परम आनन्द के साथ शयन करा ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अष्टम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ अब कुरर पक्षी से जो कुछ सीखा तिस का वर्णन करतेहुए ब्राह्मणने कहा कि—हे यदुराज ! मनुष्यों की जो जो अत्यन्त प्रिय वस्तु होती है, वह संग्रह करनेपर अति दुःख का कारण होती है, इसकारण जो पुरुष; संग्रह को दुःखदायक जानकर, किञ्चिन्मात्र भी संग्रह नहीं

मिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ॥ तदामिषं परित्यज्य स सुखं सम-
विंदत ॥ २ ॥ न मे मानावमानौ स्तो न चिंता गेहपुत्रिणां ॥ आत्मक्रीड
आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥ ३ ॥ द्वावेव चिंतया मुक्तौ परमानन्द आप्लु-
तौ ॥ यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥ कचित्कुमारी
त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान् ॥ स्वयं तानर्हयामास कापि यातेषु बन्धुषु
॥ ५ ॥ तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव ॥ अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्था-
श्चक्रुः शंखाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥ सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः ॥
बभञ्जैकैकशः शंखान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥ उभयोरप्यभूद्घोषो

करता है वह अनन्त सुख पाता है ॥ १ ॥ इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं कि–एक टिट्टिभ पक्षी अपनी चोंच में मांस लेकर जारहा था सो उस को, दूसरे जो बलवान् पक्षीथे कि-जिन के पास मांस नहीं था वह मारनेलगे, तब उस पक्षीने तिस मांस को छोडदिया, उस के साथ ही वह पक्षी उस मांस की ओर को गये और वह टिट्टिभ पक्षी सुख को प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ अब बालक से लीहुई शिक्षा का वर्णन करते हैं कि-जैसे बालक का मान वा अपमान नहीं होताहै और गृहस्थ की समान घर की तथा बालबच्चोंकीभी चिन्ता नहीं होतीहै, तैसेही मुझे भी मान वा अपमान नहीं हैं, घरद्वार की और और बालबच्चों की चिन्ता भी नहीं है इसकारण मैं अपने साथ ही क्रीडा करता हुआ और अपने में ही प्रीति करताहुआ इसजगत् में बालक की समान विचरता हूँ॥३॥इससे अज्ञानीकी और सर्वज्ञ की सबप्रकारसे तुल्यता न माने किन्तु केवल निश्चिन्तपने के विषय में ही समानता माने; क्योंकि–इस जगत् में मान अपमान की चिन्ता से मुक्त और परमानन्द में निमग्न दोनोही हैं यदि कहोकि–वह दोनो कौन ? तो–एकतो उद्योगरहित अज्ञानी बालक और दूसरा गुणातीत परमेश्वर में एकी भाव को प्राप्त हुआ साधु ॥ ४ ॥ अब कुमारी से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हैं कि– एकग्राम में एक गृहस्थ की एक विवाह के योग्य हुई कन्या थी, उस ने घर में के पिता आदि सब मनुष्यों के कहीं काम के निमित्त घर से बाहर चलेजानेपर अपने को वरने के निमित्त घर आयेहुए पाहुनों का 'बैठने को आसन और जल आदि देकर' आप ही स-त्कार करा ॥ ५ ॥ हे राजन्! तदनन्तर उन पाहुनों के भोजन के निमित्त वह कन्या, एकान्त में उखली में धान डालकर कूटनेलगी सो उस के हाथमें के शंख के कङ्कण बड़ा शब्द करने लगे ॥ ६ ॥ तब वह बुद्धिमती कन्या, यह अपने आप ही धान कू-टनेवाला है, ऐसा जानकर लज्जितहुई; और फिर उसने अ-पने हाथों में से एक एक कङ्कण निकाले दो दो कङ्कण हाथों में शेष रहगये ॥ ७ ॥

रण करने में उखली में ... के विना मुझ मन्दभाग्य ॥ ... वैराग्य से युक्त हुआ पुरुष ... ॥ ३८ ॥ इस से अब मैं ...

हावघ्नंत्याः स्म शंखयोः ॥ तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥८॥
अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिंदम ॥ लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया
॥ ९ ॥ वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ॥ एक एव चरेत्तस्मात्कुमा-
र्या इव कंकणः ॥ १० ॥ मन एकत्र संयुंज्याज्जितश्वासो जितासनः ॥ वैरा-
ग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतंद्रितः ॥ ११ ॥ यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेतच्छ-
नैः शनैर्मुंचति कर्मरेणून् ॥ सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपै-
त्यनिंधनम् ॥ १२ ॥ तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किंचिद्बहिरन्तरं
वा ॥ यथेषुकारो नृपतिं व्रजंतमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥ १३ ॥ एका-

और फिर कूटनेलगी तो उन दो २ कङ्कणों का भी शब्द होनेलगा, तब उस ने उनमें से भी एक २ निकालडाला, तब एक से शब्द का होना बन्द हुआ ॥ ८ ॥ हे शत्रुनाशक यदु राजन् ! लोकों का तत्त्व जानने के निमित्त इन सब लोकों में फिरनेवाला मैं, स्वाभाविक ही तहाँ पहुँचगया था, तब उस कन्या का यह उपदेश मैंने ग्रहण करा है कि-॥ ९ ॥ बहुतसे पुरुषों का एक स्थान पर निवास होनेपर कलह होता है और दो का एकत्र वास होनेपर परस्पर वातचीत होती है इसकारण चतुरपुरुष, उस कुमारी के कङ्कण की समान इकला ही विचरै ॥ १० ॥ अब चित्त की एकाग्रता करनेपर वह, द्वैत होनेपर भी स्फुरित न होय ऐसी समाधि का कारण होती है ऐसा वाण बनानेवाले से मैंने सीखा है सो कहता हूँ-एक वाण बनानेवाला, अपनी दुकान में बैठाहुआ वाण बनारहा था, उस का चित्त वाण उत्तम बनने के निमित्त वाण की ओर लगरहा था, उस ने जैसे उस समय समीप के मार्ग में को वाजे और सेना के साथ जानेवाले भी राजा को नहीं जाना, तैसे ही जिस का मन ब्रह्माकार होता है वह योगी. किसी भी पदार्थ से होनेवाले सुखदुःख को नहीं जानता है, ऐसा जानकर योगी आलस न करके आसन और श्वास को जीतकर वैराग्य और अभ्यास से स्थिर कराहुआ अपना मन, एक स्थान में लगावे; यदि कहो कि-कहाँ लगावे तो-जो यह मन, विषय न होय तो सुषुप्ति में लय पाता है और विषय होय तो उस में आसक्त होता है, वह मन, जहाँ स्थिति पाने पर धीरे धीरे कर्मवासनाओं को छोड देता है और बढेहुए सत्त्वगुण से, तमोगुण रजोगुण को दबाकर उन तमोगुण रजोगुण के लयविक्षेपरूप कार्यों से रहित होताहुआ जिस के स्वरूप से रहता है तिन भगवान् में लगावे, इसप्रकार जिसने परमात्मा में चित्त लगाया है वही पुरुष कृतकृत्य होकर दर्शन आदि करके बाहर के द्वैत की और स्मरण से मानसिक द्वैत की स्फूर्त्ति को नहीं रखता है ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ अब सर्प से जो सीखा उस का वर्णन

चार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ॥ अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाष-
णः ॥ १४ ॥ गृहारम्भोतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ॥ सर्पः परकृतं वेश्म
प्रविश्य सुखमेधते ॥ १५ ॥ एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ॥ सं-
हृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥ १६ ॥ एक एवाद्वितीयोऽभूदा-
त्माधारोऽखिलाश्रयः ॥ कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ॥ स-
त्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७ ॥ परावराणां परम आस्ते
कैवल्यसंज्ञितः ॥ केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥ १८ ॥ केवला-
त्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ॥ संक्षोभयन्सृजत्यादौ तया सूत्रम-
रिंदम ॥ १९ ॥ तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ॥ यस्मिन्प्रोतं-

करते हैं कि—जैसे सर्प लोकों से भय की शङ्का करके इकला फिरता है, अपना एक स्थान नहीं रखता है, सावधानी के साथ एकान्त में रहता है, अपना विषियरपन वा निर्विषपन किसीप्रकार भी लोकों को नहीं समझने देता है, सहायतारहित होकर थोडे शब्द उच्चारण करता है तैसे ही ऋषि भी इकला ही फिरे, अपना एक स्थान नियत न रक्खे, सावधान और एकान्त में रहे अपनी रीतिभांति किसीप्रकार भी लोकों को समझने न देय, अपने साथ किसी को न लेय, थोडा भाषण करे ॥ १४ ॥ और घरवनाने की रीति अपने को अतिदुःख देनेवाली होती है, और अपना शरीर थोडे काल रहनेवाला होने के कारण निष्फल भी है ऐसा विचारकर योगी, जैसे सर्प दूसरे के बनायेहुए घर में प्रवेश करके सुख से रहता है तैसे ही दूसरे के बनायेहुए घर में ही निर्वाह करलेय ॥ १५ ॥ अब साधनसामग्री के विना केवल ईश्वर से ही जगत् के उत्पत्ति प्रलय होते हैं. यह मैंने मकडी के दृष्टान्त से निश्चय करा है ऐसा कहने के निमित्त पहिले संहार की रीति कहते हैं—एक, नारायण देव ईश्वर, अपनी माया से पहिले उत्पन्न करेहुए इस जगत् का 'अपनी शक्तिरूप काल से' संहार करके, कल्प के अन्त में सत्त्व आदि सब शक्तियों के प्रकृति में लीन होने पर उससमय सकल प्रपञ्च के आधार, सबों के आश्रय, सजातीय आदि भेदशून्य, प्रकृति पुरुषों के ईश्वर, ब्रह्मादिकों को और जीवन्मुक्तों को प्राप्त होनेवाले, मोक्ष शब्द से उच्चारण करेजानेवाले निरुपाधिक और परमानन्दरूप एक आदिपुरुष ही रहते हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ हे शत्रुनाशक राजन्! तदनन्तर वही परमात्मा केवल अपने प्रभावरूपकाल से, त्रिगुणमयी अपनी माया को क्षोभित करके उस से सृष्टि के आरम्भ में सूत्र (महत्तत्त्व) को उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥ वह सूत्र अहङ्कार के द्वारा त्रिगुणमय जगत् को उत्पन्न करनेलगता है तब उस को ही तीनों गुणों का कार्य कहते हैं. उस को महतत्त्व और सूत्र कहने का कारण यह है कि—जिस सृष्टिरूप कारण

मिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥ २० ॥ यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां
संतत्य वक्त्रतः ॥ तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥ २१ ॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ॥ स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्त-
त्सरूपतां ॥ २२ ॥ कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः ॥ याति
तत्सात्मतां राजन्पूर्वरूपमसंत्यजन् ॥ २३ ॥ एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शि-
क्षिता मतिः ॥ स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥ देहो
गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्बिभ्रत्स्म सत्वनिधनं सततार्त्युदर्कं ॥ तत्त्वान्यनेन
विमृशामि यथा तथापि पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥ २५ ॥ जा-

के विषै यह विश्व ओतप्रोत भराहुआ है और जिस वायुरूप सूत्र से जीव संसार पाता है ॥ २० ॥ इसप्रकार सीखेहुए अर्थ को कहकर अब दृष्टान्त कहते हैं—जैसे मकडी नामवाला कीडा, अपने हृदय में से मुख के द्वारा तन्तुओं को फैलाकर घर बनाता है और उस के द्वारा बहुत समयपर्यन्त क्रीडा करके फिर उन सब तन्तुओं को निगलजाता है, इस कार्य में उस को दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं होती है तैसे ही परमेश्वर भी अपने में से जगत् को फैलाकर उस के द्वारा क्रीडा करके अन्त में उस जगत को अपने में लीन करलेते हैं ॥ २१ ॥ अब, भगवान् का ध्यान करनेवाले भक्तों को उन का सारूप्य प्राप्त होना आश्चर्य नहीं है ऐसा भृङ्गी नामक कीडे से मैंने सीखा है सो वर्णन करता हूँ कि—जो प्राणी अपनी निश्चयात्मक बुद्धि से जिस जिस विषय पर अपना मन, स्नेह से, द्वेष से वा भय से निश्चल धारण करता है वह तिस २ के समानरूप को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ इस विषय में दृष्टान्त यह है कि—भृङ्गी नामवाले भ्रमर करके भीत (दीवार) आदि के आश्रय से मट्टी का घर बनाकर उस में बन्द करके रक्खाहुआ किसी भी प्रकार का कीडा भय से उस का ध्यान करता हुआ, हे राजन् ! पहिले रूप को छोडकर तिस ही रूप से तिस भृङ्गी की समान रूप को प्राप्त होता है, तब भगवान् का ध्यान करनेवाले पुरुष, देहान्त होने पर दूसरे शरीर से उन भगवान् के स्वरूप को पावेंगे, इस का क्या कहना ! ॥ २३ ॥ हे प्रभो यदुराजन् ! इसप्रकार इन चौवीस गुरुओं से मैंने यह बुद्धि (शिक्षा) पाई है; अब अपने शरीर से ही पाईहुई शिक्षा मैं तुम से कहता हूँ, सुनो ॥ २४ ॥ यह देह भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह, वैराग्य और ज्ञान का कारण है, तिस में यह जन्ममरण और निरन्तर परिणाम में दुःख देनेवाले फल को धारण करता है, इस से वैराग्य का कारण है और इस देह के द्वारा उत्तम प्रकार से मैं तत्त्वों का विचार करता हूँ इस से यह ज्ञान का कारण है ऐसा अति उपकारी भी यह देह, अन्त में श्वान और गीदड आदिकों का भक्ष्य होता है, ऐसा निश्चय करके, इस की आस्था छोडकर मैं असङ्गपने से विचारता हूँ

यात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ॥ स्वांते
स कृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः सृष्ट्वाऽस्य वीजमवसीदति वृक्षधर्मः ॥ २६ ॥
जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ॥ घ्रा-
णोऽन्यतश्चपलदृक् क्वच कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ २७ ॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या वृक्षान सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्॥
तैस्तै—रतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥ २८ ॥
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवांते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ॥ तूर्णं य-
तेत न पतेदनुमृत्युयावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २९ ॥

॥ २५ ॥ अब देह का फल निरन्तर परिणाम में दुःखदायक कैसे है ? सो क[illegible] बड़े कष्ट से द्रव्य को इकट्ठा करनेवाला पुरुष, जिस देह का भोग प्राप्त कर[illegible] स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, घर और मान्य पुरुषों का पोषण करता है, व[illegible] के समाप्त होते ही फिर दूसरे शरीर के उत्पन्न होने का बीजरूप कर्म उत्पन्न कर[illegible] वृक्ष दूसरे वृक्ष का बीज उत्पन्न करके नाश को प्राप्त होता है तैसे ही, नाश को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ और इस देह को वा देहाभिमानी पुरुष को, कभी तो जिव्हा रस की ओर को खेंचती है, कभी तृषा जल की ओर को खेंचती है, तैसे ही मूत्रेन्द्रिय मैथुन की ओर को, त्वचा स्पर्श की ओर को, पेट अन्न की ओर को, घ्राणेन्द्रिय सुगन्ध की ओर को और चञ्चल दृष्टि रूप की ओर को खेंचती है; तैसे ही कर्मेन्द्रियें बोलना, देना लेना, जाना आना और मल मूत्र का त्याग करना इन की ओर को खेंचती हैं, तात्पर्य यह कि—जैसे बहुतसी सपत्नी स्त्रियें, एक पति को पकड़कर अपनी अपनी ओर को खेंचती हैं और उस को दुःख होता है तिसीप्रकार इस को भी दुःख होता है ॥ २७ ॥ इसप्रकार तीन श्लोकों से, देह वैराग्य और ज्ञान का कारण है ऐसा कहकर अब इस देह की अतिदुर्लभता दिखातेहुए ईश्वरनिष्ठा का वर्णन करते हैं कि—परमेश्वर ने, अपनी मायाशक्ति से, वृक्ष, सर्प, पशु, पक्षी, डांस और मत्स्य आदि अनेक शरीर उत्पन्न करे परन्तु उन में किसी की भी बुद्धि, परमात्मा को प्रत्यक्षरूप से जानने में समर्थ नहीं है ऐसा जानकर, वह सन्तुष्ट नहीं हुए, तदनन्तर ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान प्राप्त करनेवाली बुद्धि से युक्त पुरुषशरीर को उत्पन्न करके वह देव सन्तोष को प्राप्तहुए॥२८॥ इसकारण इस लोक में बहुत जन्मों के अन्त में, अनित्य होकर भी पुरुषार्थ देनेवाला, इसकारण ही अत्यन्त दुर्लभ यह मनुष्यशरीर देव से प्राप्त होनेपर, यह वारंवार मरनेवाला है इसकारण जबतक मरकर गिर न पड़े तबतक ही, धैर्यवान् पुरुष, बड़ी शीघ्रता से मोक्ष के साधन के निमित्त यत्न करे; क्योंकि—विषयों का सेवन तो श्वानसूकर आदि यो-नियों में भी प्राप्त होताही है, फिर उसके निमित्त यत्न करने की आवश्यकता ही क्या? ॥२९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ॥ विचरामि महीमेतां मुक्तसंगोन-हंकृतिः ॥ ३० ॥ नह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ॥ ब्रह्मैतद-द्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ॥ वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथा-गतम् ॥ ३२ ॥ अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ॥ सर्वसंगविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥ ३३ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भग-वदुद्धवसंवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मयोदितेष्ववं-हितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ॥ वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

ऐसे अनेकों प्रकार के ग्रहण करनेयोग्य और त्यागनेयोग्य गुणों का विचार करके अब तुम समर्थ विद्वान् होकर भी उद्योग क्यों नहीं करते हो? इत्यादि प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि–इसप्रकार बहुतसे गुरुओं के प्रभाव से जिस को वैराग्य उत्पन्न हुआ है और अप-रोक्षज्ञानरूप प्रकाश से युक्त मैं, आत्मस्वरूप में रहकर, सब प्रकार के कर्म करने को समर्थ होकर भी, देह में अहङ्काररहित और स्त्रीपुत्रादिकों में ममतारूप सङ्गरहित हो कर इस पृथ्वी पर विचरता हूँ ॥ ३० ॥ अब, बहुत से गुरुओं की कौन आवश्यकता है? श्वेतकेतु, भृगु आदिकों ने तो बहुत से गुरु नहीं करेथे, ऐसा कहोतो–एकगुरु से, बहुत से विचारों से भरपूर और स्थिर ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि–अद्वितीय ब्रह्म को, किन्ही ऋषियों ने, प्रपञ्चरहित और कितनो ही ने प्रपञ्चसहित इत्यादि अनेकों प्रकार से वर्णन करा है, तिस में यह गुरु केवल परमार्थ का उपदेश करने के विषय में ही नहीं है किन्तु अन्वयव्यतिरेकों से, आत्मा के विषय की असम्भावना विपरीतभावना दूर करने के विषय में हैं, इसकारण इन का बहुत होना योग्य ही है;ज्ञानोपदेश करनेवाला गुरु तो शास्त्र में एकही कहा है ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि–हे उद्धवजी! इसप्रकार उन गम्भीरबुद्धि ब्राह्मण (दत्तात्रेय) ने राजा यदु से कहा तब उन राजा यदु ने उन को प्रणाम करा और उन की पूजा करी; तदनन्तर तृप्तहुए वह ब्राह्मण,उन राजा की आज्ञा लेकर, जैसे आये थे तैसेही अपनी इच्छा के अनुसार चलेगये ॥ ३२ ॥ हमारे पूर्वपुरु-षाओं के भी पूर्वज (वृद्ध) वह राजा यदु, अवधूत का भाषण सुनकर, पुत्रादि सब संगों से मुक्त होतेहुए परब्रह्म में चित्त लगाकर तत्पर हुए ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में नवम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ चौवीस गुरुओं की शिक्षा के वर्णन से असम्भावना दूर होकर कुछ ज्ञान को प्राप्तहुए उद्धवजी को आत्मतत्त्व की प्राप्ति होने के निमित्त, आरम्भ से साधनों का वर्णन करतेहुए श्रीभगवान् कहनेलगे कि–हे उ-द्धवजी! गीता पञ्चरात्र आदिकों में मेरे कहेहुए पूजा-नमस्कार आदि वैष्णवधर्म में साव-धान रहकर, मेरा ही आश्रय करनेवाला मुमुक्षु पुरुष, उस धर्म में विरोध न आवे इसप्र-

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनां ॥ गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारंभवि-
पर्ययम् ॥ २ ॥ सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ॥ नानात्मकत्वाद्वि-
फलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥ निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ॥
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥ यमानभीक्ष्णं सेवेत नि-
यमान्मत्परः क्वचित् ॥ मदभिज्ञं गुरुं शांतमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥ अमा-
न्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ॥ असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥
॥ ६ ॥ जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ॥ उदासीनः समं पश्यन्सर्वेष्वर्थ-
मिवात्मनः ॥ ७ ॥ विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ॥ यथाऽ-

कार निष्कामभाव से वर्ण, आश्रम और कुल के विहित धर्म का आचरण करे ॥ १ ॥ अब, निष्कामभाव कैसे होसक्ता है ? यह कहो तो—पहिले स्वधर्म का आचरण करके शुद्धचित्त हुआ पुरुष, विषयासक्तहुए सकल प्राणियों के विषय सत्य हैं ऐसे, अभिमान से आरम्भ करेहुए सकल कर्मों का विपरीत फल प्राप्त होता है, ऐसा देखै, अर्थात् ऐसा करते२ निष्कामभाव प्राप्त होता है ॥२॥ अब काम्यविषयों के मिथ्या होने के कारण भी निष्कामभाव प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुष का नानाप्रकारके पदार्थों का देखना निष्फल है, अथवा जैसे चिन्तन करनेवाले पुरुष का अनेकों प्रकारके मनोरथ करना निष्फल है तैसे ही इन्द्रियों के द्वारा बाहरी विषयों का जो सेवन करना वह, एक आत्मा में नानाप्रकार से कल्पित होने के कारण निष्फल है ॥ ३ ॥ ऐसा मन में विचारकर मुमुक्षु पुरुष, काम्य कर्मों का त्याग करके, नित्यनैमित्तिक कर्मों का ही निष्कामभाव से सेवन करे, और आत्मविचार के विषय में प्रवृत्त होय तो वह निष्काम कर्म करनेवाले वेदज्ञ का भी अधिक आदर न करे॥४॥किन्तु अहिंसा आदि यमों का ही आदरके साथ सेवनकरे, शौचादि नियम का शक्ति के अनुसार ' जितने से आत्मज्ञान में विरोध न आवे, उतना ही ' सेवन करे और तत्त्वविचार के निमित्त मेरे स्वरूप को जाननेवाले, रागलोभादि दोषरहित और मेरे ध्यान से मेरा स्वरूप ही हुए गुरु का सेवन करे ॥ ५ ॥ अब गुरुसेवक के धर्म कहते हैं—गुरु की सेवा करनेवाला मुमुक्षु, मैं उत्तम हूँ ऐसा अभिमान और दूसरे से डाह न करे; किन्तु आलस्यरहित, स्त्रीपुत्रादि की ममता से शून्य और गुरु में दृढप्रेम करनेवाला होय; और वह व्यग्रतारहित होकर आत्मवस्तु को जानने की इच्छा करे, दूसरे की निन्दा की इच्छा न करे, किन्तु सत्यवक्ता और स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र, स्वजन और धन आदि के विषैं, अपना समान ही प्रयोजन है ऐसा देखनेवाला होय अर्थात् सब के देहों में आत्मा के एक होने के कारण स्त्रीपुत्रादि के ऊपर ही विशेष ममता क्यों रक्खे ? ऐसा विचारकर उन में उदासीन रहै और गुरु की सेवा करे ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ अब, देह आदि

निर्दीह्णो दाह्योद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥ निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान् ॥ अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥ योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ॥ संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्या छिदात्मनः ॥ १० ॥ तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ॥ संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥ ११ ॥ आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरोऽरणिः ॥ तत्संधानं प्रवचनं विद्यासंधिः सुखावहः ॥ १२ ॥ वैशारदी सोऽतिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसंप्रसूताम् ॥ गुणांश्च संदह्य यदात्ममेतत्स्वयं च

से निराला आत्मा कौन है? जिसकी एकता से सर्वो में समता प्राप्त होती है ऐसा कहो तो—जैसे अग्नि, दाह्य (जलाने योग्य), और प्रकाश्य काष्ठ से, निरालाही जलाने वाला और प्रकाश करनेवाला है तैसेही दृश्य और जड़ स्थूलसूक्ष्मरूप दोनों देहों से, उन का देखनेवाला और प्रकाशक आत्मा अत्यन्त विलक्षण (निराला ही) है ॥ ८ ॥ और काष्ठ में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे काठ के निमित्त से—नाश, उत्पत्ति, छोटापन बड़ापन, और अनेकपने को पाता है परन्तु वह स्वयं नाश आदि से रहित होता है तिसी प्रकार देह में प्रविष्ट हुआ आत्मा भी देह के निमित्त से—अनित्यत्व, आदित्व, बद्धत्व, और अनेकत्वआदि धर्मों को पाता है, परन्तु वास्तव में वह नित्य, अनादि, व्यापक, मुक्त और एक आदि रूप है ॥९॥ अब अग्निको काष्ठ के संयोग से उस के धर्म प्राप्त होते हैं, यह योग्य ही है, आत्मा तो असङ्ग है, उस को देह से और देह के धर्मों से सम्बन्ध कैसे होता है? ऐसी शंका आनेपर कहते हैं कि—ईश्वर की वशीभूत माया के, इन्द्रियादि रूप परिणाम को को प्राप्त हुए गुणों से, जो यह सूक्ष्म और स्थूल शरीर बना है, इस के अध्यास का कराहुआ ही यह जन्ममरण आदि रूप संसार जीव को प्राप्त हुआ है, उस की निवृत्ति आत्मज्ञान ही करता है, ॥ १० ॥ इस कारण विचार के द्वारा, कार्य-कारणसमुदाय रूप देहमें ही विद्यमान शुद्ध परमात्मा को जानकर, इस देहादिमें मानी-हुई आत्मबुद्धि का स्थूल सूक्ष्मक्रम से निरास करे ।११। अब, गुरुसे पाईहुई विद्याही, अविद्या को और अविद्यासे उत्पन्न हुए अध्यास को दूर करने में समर्थ होती है, ऐसा स्पष्ट करने के निमित्त विद्या की उत्पत्ति अग्नि की उत्पत्ति के वर्णन के द्वारा निरूपण करते हैं-आचार्य नीचे की अरणि है, शिष्य ऊपर की अरणि है; उन दोनों अरणियों के मध्य का जो मथने का काष्ठ सो उपदेश है और उस से उत्पन्नहुई जो ब्रह्मविद्या वह अरणी के और मथने के काष्ठ के मिलने पर उत्पन्नहुई अग्नि की समान सुखकारी है अर्थात् अविद्यादि दोषों को दूर करके परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति करादेती है ॥ १२ ॥ अब, उस ब्रह्मविद्या की अग्नि से समता कहते हैं कि—चतुर शिष्य करके ग्रहण करीहुई और चतुर गुरु की दीहुई वह उत्तम ब्रह्मविद्या, गुण कार्यरूप माया को (संसार को)

शाम्यत्यसमिद्यथाऽग्निः ॥१३॥ अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ॥ नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥ १४ ॥ मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ॥ तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥ एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ॥ कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥ अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ॥ भोक्तुश्च दुः-

दूर करके, जिन गुणों से उत्पन्न हुआ जगत्, जीव को संसार प्राप्त होने का कारण होता है उन ही गुणों को जलाकर, जैसे अग्नि काठ को जलाकर अन्त में आप भी शान्त होजाता है तैसे ही, अन्त में आप भी शान्त होजाती है, इसप्रकार ज्ञान को प्राप्तहुआ यह जीव, कार्य, कारण और विद्या का भी व्यवधान दूर होने के कारण परमानन्दरूप होजाता है ॥ १३ ॥ इसप्रकार स्वप्रकाशक, ज्ञानरूप, नित्य और एक ही आत्मा है और उस में कर्त्तापन आदि धर्म देहरूप उपाधि से ही भासते हैं; तिस आत्मा से निराला सब जगत् अनित्य और मायामय है इसकारण सब विषयों से विरक्त होकर आत्मज्ञान करके मुक्त होजाता है ऐसा 'विलक्षणः स्थूलसूक्ष्मात्' इत्यादि वाक्यों से कहा, इस-प्रकार श्रुतियों के आधार से निर्णय करेहुए भी अर्थ के विषय में मतान्तर के विरोध से संशय न होय इसकारण उस मत का खण्डन करने के निमित्त अपने आप ही कथन करके दिखाते हैं—अब यदि तुम कर्म करनेवाले और कर्मों के फल (सुख दुःख) भोगनेवाले इन जीवों का नानात्व मीमांसकों की समान मानते होओ, तैसे ही भोग के स्थान, भोग का काल, भोग के उपायभूत कर्मों का कहनेवाला शास्त्र और भोक्ता आत्मा इन सबों का नित्यत्व मानते होओ, तैसे ही माला, चन्दन, स्त्री आदि सब पदार्थों की स्थिति प्रवाहरूप से नित्य है और सत्य है, मायाकल्पित नहीं है ऐसा मानते होओ और एक समय घट का ज्ञान होता है, दूसरे समय पट का ज्ञान होता है और तीसरे समय तीसरे ही पदार्थ का ज्ञान होता है, तिस से बुद्धिही, घटपटादि अनेकों आकारों से उत्पन्न होती है और भेद को प्राप्त होती है इसकारण आत्मा, नित्य ज्ञानरूप न होकर ज्ञानप-रिणामी है इसकारण मुक्ति के समय इन्द्रियरहितहुए आत्मा को ज्ञानपरिणामीपना न होने से जडपने से मुक्ति प्राप्त होना पुरुषार्थ नहीं है इसकारण प्रवृत्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है निवृत्ति मार्ग श्रेष्ठ नहीं है ऐसा मानते होओ तो—॥ १४ ॥ १५ ॥ हे उद्धवजी! यह मीमांसकों का मत है, इस को सच्चा मानाजाय तो अनर्थ का कारण होजायगा, यदि कहो कि कैसे? तो—सब ही प्राणियों को देह के सम्बन्ध से, मास वर्ष आदि काल के अवयवों करके जो जन्ममरण आदि विकार वारंवार प्राप्त होते हैं वह इस मत के अनुसार कभी भी दूर नहीं होसकेंगे ॥ १६ ॥ और इस लोक में कर्म करनेवाले और सुख दुःखों को भोगनेवाले जीव

खसुखयोः "को न्वर्थो" विवशं भजेत् ॥१७॥ न देहिनां सुखं किंचिद्विद्यते विदुषामपि ॥ तथा च दुःखं मूढानां वृथाऽहंकरणं परम् ॥ १८ ॥ यदि प्राप्तिं विघातं च जानंति सुखदुःखयोः । "तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा॥१९॥ को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरंतिके ॥ आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥२०॥ श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्द्धाऽसूयाऽत्ययव्ययैः॥ बह्वंतरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ २१ ॥ अंतरायैरविहितो यदि धर्मः स्वे-

को पराधीनता देखने में आती है,क्योंकि–जीव यदि स्वाधीन होता तो इच्छा न होने पर भी उस के हाथ से जो दुष्कर्म होता है वह कदापि नहीं होता और उस को दुःख भी नहीं भोगना पडता, इस से मीमांसकों के मत के अनुसार जीव कुछ स्वतन्त्र नहीं है,तब पराधीन हुए पुरुष को कौनसा विषय सुख देगा? अर्थात् कोई नहीं देगा ॥ १७ ॥ अब जो भलीप्रकार कर्म करना जानते हैं वह सुखी होते हैं और जो भलीप्रकार कर्म करना नहीं जानते हैं वही दुःखी होते हैं, ऐसा कहो तो–भलीप्रकार उपाय जाननेवाले भी प्राणियों को किसी समय कोई भी सुख प्राप्त नहीं होता है और मूढ पुरुषों को भी किसी समय कोई भी दुःख प्राप्त नहीं होता है, तिस से यह कर्मकुशल होने के कारण सुखी हैं ऐसा उन लोगों का केवल व्यर्थ अभिमान ही है ॥१८॥ अब वह पुरुष, सुख की प्राप्ति का उपाय और दुःख को दूर करने का उपाय जानते हैं, ऐसा यद्यपि मानलिया तथापि वह पुरुष, जो साक्षात् मृत्यु प्राप्त होता है वह जैसे प्राप्त न होय तैसे उपाय को नहीं जानते हैं ॥ १९ ॥ तथापि उन को, जबतक जीवित रहेंगे तबतक सुख ही होयगा,ऐसा कहो तो–यह ठीक नहीं है क्योंकि–जिस के आगे मृत्यु भय दिखाताहुआ खडा है उस को, कौनसा धन आदि पदार्थ, वा शब्दादिविषय सुख देगा? किन्तु जैसे वध करने के स्थान में लियेजातेहुए वध के योग्य अपराधी को उससमय दियाहुआ माला, चन्दन, मिष्टान्न आदि कोई भी पदार्थ सुख नहीं देता है तैसे ही जिस के आगे मृत्यु खडा है ऐसे इस जीव को कोई भी पदार्थ सन्तोष नहीं देता है ॥ २० ॥ इस लोक के सुख की समान ही स्वर्गादि लोक में का सुख भी, दूसरे के सुख को न सहना, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, नाश होना और प्रतिदिन कमी होतेजाना इन के द्वारा दोषयुक्त है और 'जैसे अतिश्रेष्ठ है ऐसी सुनीहुई खेती, अतिवर्षा आदि बहुतसे विघ्नों से युक्त होने के कारण निष्फल होती है, तैसे ही' परलोक में के सुख भी इसलोक में करेहुए कर्मों में के वैगुण्य आदि बहुतसे विघ्नों से युक्त होने के कारण निष्फल हैं ॥ २१ ॥ अब कर्म में विघ्न न पडे तो उस का फल स्वर्गादि सुख जैसा चाहिये वैसा मिलेगा, ऐसा कहो तो–विघ्न न

नुष्ठितः ॥ तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥ २२ ॥ इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ॥ भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥ २३ ॥ स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ॥ गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥ २४ ॥ स्त्रीभिः कामगयानेन किंकिणीजालमालिना ॥ क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ २५ ॥ तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ॥ क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥ २६ ॥ यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वा जितेन्द्रियः ॥ कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥ २७ ॥ पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन् ॥ नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥ २८ ॥ कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः

पढकर यदि उत्तम प्रकार से धर्माचरण कियाजाय तो उस से प्राप्तहुआ भी स्वर्गादिक स्थान जैसे निकलजाता है सो मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ २२ ॥ यज्ञ करनेवाला पुरुष, इस लोक में यज्ञों के द्वारा इन्द्रादिक देवताओं का यजन करके स्वर्गलोक में जाता है और तहाँ अपने सम्पादन करेहुए दिव्य भोगों को देवताओं की समान भोगता है ॥२३॥ वह अपने पुण्य के प्रभाव से प्राप्तहुए सकल भोगों से परिपूर्ण सुन्दर विमान में अप्सराओं के मध्य में उन के मन को हरनेवाला रूप धारण करताहुआ विहार करनेलगता है तब उस के समीप में गन्धर्व आदि उस के यश को गाते हैं ॥ २४ ॥ तब छोटी २ घंटियों के समूहों से शोभा पानेवाले और यथेच्छ गमन करनेवाले विमान में बैठकर देवताओं के नन्दनवन आदि क्रीडा करने के स्थानों में स्त्रियों के साथ सुख से क्रीडा करनेवाला वह पुरुष, पुण्य के समाप्त होने पर मैं नीचे गिरूँगा, यह नहीं जानता है ॥ २५ ॥ वह पुरुष, विषयभोग से पुण्य की समाप्ति होनेपर्यन्त स्वर्ग में आनन्द पाता है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही तहाँ से गिरने की इच्छा न करताहुआ भी काल के गिराने पर नीचे गिरता है ॥ २६ ॥ प्रवृत्ति दो प्रकार की है—एक तो विधिवाक्य के कहेहुए काम्यकर्म में, दूसरी विधि का उल्लंघन करके अधर्म में; तिस में से काम्यकर्म में प्रवृत्त होने की गति तो कहदी अब अधर्मप्रवृत्ति की गति कहते हैं—यदि यह पुरुष, विषयासक्त पुरुषों के सङ्ग से अधर्म में तत्पर होकर इन्द्रियों को न जीतकर, विषयासक्त, कृपण, लोभी, स्त्रीलम्पट, और प्राणीमात्र की हिंसा करनेवाला होय तो वह शास्त्र की विधि के विना पशुओं को मारकर प्रेतगणों का और भूतगणों का आराधन करने लगता है और कर्म के वशीभूत हो नरक में जाकर तहाँ के दुःखों को भोगता है और तदनन्तर अज्ञान से मरीहुई स्थावर आदि योनियों में उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥ ॥ २८ ॥ इसप्रकार दुःख ही जिस का अन्त का फल है ऐसे कर्मों को देह से करनेवाला यह प्राणी,

पुनः ॥ देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥ २९ ॥ लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ॥ ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः ॥ ॥ ३० ॥ गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ॥ जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुंक्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥ यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः॥ नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥ ३२ ॥ यावदस्यास्वतंत्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ॥ य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचाऽर्दिताः ॥ ३३ ॥ काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ॥ इति मां बहुधा प्राहुर्गुण-

उन कर्मों से फिर देह पाता है, परन्तु ऐसे संसारचक्र में फिरनेवाले तिस मरणधर्मी प्राणी को कौन सुख होना है ? कोई सुख नहीं होसक्ता ॥ २९ ॥ तथापि लोकों के नित्य और लोकपालों को अमर होने के कारण सुख है ऐसा कहो तो—सब लोकों को और कल्पपर्यन्त जीवित रहनेवाले लोकपालों को, अधिक तो क्या, परन्तु दो परार्द्धपर्यन्त की परमायुवाले ब्रह्माजी को भी मुझ से भय है, इस से प्रवृत्तिमार्ग अनर्थ का हेतु है ऐसा जानकर तिस से विरक्त होकर निवृत्त होना ही योग्य है ॥३०॥ इसप्रकार अपनी ईश्वरता को प्रकट करने से निरीश्वरवादी सांख्य आदिकों का भी खण्डन हुआ, अब कर्त्ता भोक्तारूप ही आत्मा है, ऐसा जो उन्हों ने कहा था तिस का खण्डन करते हैं कि—सत्त्वादिगुणों की कार्य जो इन्द्रियें वही कर्मों को उत्पन्न करती हैं और सत्त्व आदि गुण, इन्द्रियों की प्रवृत्ति करते हैं; आत्मा कुछ नहीं करता है इसकारण आत्मा को कर्त्तापन नहीं है; और वह जीवात्मा तिन इन्द्रियादिकों के विषैं अहङ्कार से तादात्म्य को पाकर कर्मों के फल भोगता है; इसकारण उस में भोक्तापन भी औपाधिक भासता है; वह सत्य नहीं है ॥३१॥ अब आत्मा को जो नानात्व कहा था वह भी औपाधिक ही है ऐसा वर्णन करते हैं—जबतक गुणों का इन्द्रियरूप से परिणाम है तबतक ही आत्मा को नानात्व (अनेकपना) है और जबतक वह आत्मा का नानात्व है तबतक कर्माधीनता आदि परवशपना है ॥३२॥ और जबतक परवशपना है तबतक ही उस को मुझ कालरूप ईश्वर से भय है, तात्पर्य यह है कि—जो पुरुष, इन गुणों के परिणामरूप शरीर, इन्द्रिय, पुत्र, स्त्री, विषय भोग आदिकों को सत्य मानकर अङ्गीकार करते हैं वह, लोक आदिकों के अनित्य होने के कारण शोकयुक्त होकर मोह को प्राप्त होते हैं ॥ ३३ ॥ अब, लोक आदि केवल अनित्य ही नहीं हैं किन्तु मायामय भी हैं ऐसा कहते हैं कि-हे उद्धवजी ! काल आदिक अनेकरूपों से प्रकृति के गुण का परिणाम होनेपर, ज्ञानवान् पुरुष, काल, ईश्वर, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म, ऐसे मेरा ही बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं. इस से वह पुरुष, कालआदिरूप मुझ से

वैयनिकारे सति ॥ ३४ ॥ उद्धव उवाच ॥ गुणेषु वर्त्तमानोऽपि देहजेष्वनपा-
वृतः ॥ गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥ ३५ ॥ कथं वर्तेत वि-
हरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ॥ किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा
॥ ३६ ॥ एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ॥ नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक
एवेति मे भ्रमः ॥ ३७ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भग-
वदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ बद्धो मुक्त
इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ॥ गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो

निराले नहीं हैं, इसकारण निवृत्ति ही मुक्ति का कारण होने से श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार एक ही आत्मा को गुणकार्यरूप देह के सम्बन्ध से संसार और आत्मज्ञान से मुक्ति होती है ऐसा कहकर उसकी ही मतान्तरों के खण्डन से दृढ़ता करनेपर उद्धवजी कहनेलगे कि—हे विभो ! सत्त्वादिगुणों के दूर होनेपर मुक्ति होती है अथवा उन के होते-हुए ही होती है ? यदि कहो कि—दूर होनेपर होती है तो—ज्ञान का साधन न होने के कारण मुक्ति नहीं होगी और यदि ऐसा कहोकि—गुणों के होतेहुए ही होती है तो—गुणों के कार्यरूप देहादि के विषें अभिमान के साथ रहनेवाला यह देहधारी, देह से होनेवाले कर्मों के विषैं और सुख दुःखादि के विषैं बद्ध क्यों नहीं होता है ? यदि कहोकि—वह आकाश की समान अनावृत (न घिराहुआ) है इसकारण बद्ध नहीं होता है तो—वह पहिले ही गुणों से कैसे बद्ध होता है ? ॥ ३५ ॥ अब यदि गुणों के होतेहुए ही उन के अहङ्कार से बद्ध होता है और तिस अहङ्कार की निवृत्ति से मुक्त होता है ऐसा मानलें तो—उस को कैसे जानें ? इस से बद्ध और मुक्तहुआ पुरुष कैसा वर्त्ताव करता है ? कैसा विहार करता है ? और किन लक्षणों से जानाजाता है ? तैसेही—भोजन करना, मल मूत्र का त्याग करना, सोना, बैठना, जाना, आना आदि व्यवहार कैसे करता है ? ॥ ३६ ॥ हे प्रश्न को जाननेवालों में श्रेष्ठ अच्युत ! तुम इन मेरे प्रश्नों का उत्तर कहो, क्योंकि—एक ही आत्मा अनादि गुणों के सम्बन्ध से नित्यबद्ध कैसे होता है ? और वह स्वयं नित्य-मुक्त कैसे होता है ? इस विषय में मुझे भ्रम होरहा है ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भा० के एकादशस्कन्ध में दशम अध्याय समाप्त ॥ * ॥ एकहीआत्मा ईश्वररूपसे नित्यमुक्त और जीव-रूप से नित्य बद्ध कैसे है ? इस विषय में मुझे भ्रम है, ऐसा जो तुम कहते हो, सो क्या तुम्हें वास्तव में विरोध प्रतीत होता है ? अथवा कुछएक विरोध का भास होता है ? यदि कहोकि वास्तविक प्रतीत होता है तो—ठीक नहीं, क्योंकि—सत्त्वादि गुण माया से उत्पन्न हुए हैं, इसकारण माया से रहित मुझ को मोक्ष वा बन्धन कुछ भी नहीं है, ऐसा मेराही कराहुआ निर्णय है, इस के ऊपर अधिक कुतर्क करने की आवश्यकता नहीं है, तात्पर्य यह है कि—उपाधिरूप जो सत्त्वादि गुण वह, मेरी माया से कल्पित हैं, माया के सिवाय

न बंधनम् ॥१॥ शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया ॥ स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २ ॥ विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणां ॥ मोक्षबंधकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥ ए-कस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ॥ बंधोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥४॥ अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ॥ विरुद्धधर्मिणो-

---

दूसरा कोई भी उन का मूल नहीं है, जो पदार्थ मायाकल्पित है वह रज्जु में भासनेवाले सर्प की समान ही भासता है, वास्तव में सत्य नहीं है, इसकारण बन्ध और मोक्ष यहदोनो मायाकल्पित स्वरूप को धारण करेहुए हैं, मैं गुणों के आधीन न होकर गुणोंका नियन्ता हूँ, इसकारण मुझ बन्धन वा मोक्ष कुछ भी नहीं है. जीव को भी वास्तव में बन्ध मोक्ष नहीं हैं किन्तु वह अज्ञान से गुणों के वशीभूत हुआ सा है इस कारण उस को अज्ञान के रहने पर्यन्त बन्ध और तदनन्तर मोक्ष, यह प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥ इसप्रकार, जैसे स्वप्न बुद्धि का निमित्त है अर्थात् बुद्धि के ही द्वारा भासता है, तैसेही अन्तःकरण के धर्म- शोक,मोह,सुख, दुःख, देहकी उत्पत्ति और लय,यह माया के रचेहुए अध्यास सेही आत्मा में भासते हैं इसकारण जीवको भी संसार अज्ञानवश ही है वास्तव में नहीं है ॥ २ ॥ हे उद्धवजी ! प्राणियों का मोक्ष और बन्धन करनेवालीं, विद्या और अविद्यारूप मेरी दो शक्ति हैं, वह--सृष्टि आदि की कारणभूत हैं और मेरी माया करके रचना करीहुई हैं;इस कारण जबतक मैं अविद्या की प्रवृत्ति करता हूँ तबतक बन्ध होता है और जब विद्या देता हूँ तब मोक्ष भी प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ हे महामते उद्धवजी ! एक ही जो मैं आत्मा तिस का अंश मानाहुआ जो जीव है उस को ही अविद्या के द्वारा अनादिबन्धन प्राप्त होता है, तैसे ही विद्या के द्वारा मोक्ष भी प्राप्त होता है, इस का तात्पर्य यह है कि--जैसे एक ही चन्द्र आदि पदार्थ का, जल आदि उपाधि के कारण बिम्बप्रतिबिम्बरूप भेद होता है और उस में जैसे जल के करेहुए कम्पायमान होना आदि धर्म प्रतिबिम्ब को ही प्राप्त होते हैं, तैसे ही प्रतिबिम्ब के भी उपाधिभेद से भेद होने के कारण एक जलपात्र के फूटजानेपर उस में का एक प्रतिबिम्ब ही बिम्ब में एकता को प्राप्त होता है, दूसरे घट में के प्रतिबिम्ब को नहीं प्राप्त होता है, तैसे ही अविद्या में प्रतिबिम्बितहुए मेरे अंशरूप जीव को ही अविद्या का कराहुआ बन्धन और विद्या का कराहुआ मोक्ष होता है, प्रत्येक जीवों की उपाधि भिन्न २ होने के कारण उन के बन्धमोक्ष की व्यवस्था नहीं होती है ॥४॥ अब बद्ध और मुक्त का भेद में तुम से कहता हूँ सुनो--हे तात उद्धवजी ! एक तो जीवों का और ईश्वर का पर- स्पर भेद है, दूसरे जीवों का जीवों के साथ ही परस्पर भेद है, तिस में जीव ईश्वर का भेद इस प्रकार है कि-यहजीवेश्वर शोक और आनन्दरूप विरुद्धधर्मवाले हैं और एकधर्मी (नाशवान्)

स्तातें स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥ सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृ-
तनीडौ च वृक्षे ॥ एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन
भूयान् ॥ ६ ॥ आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः॥
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥
देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः ॥ अदेहस्थोऽपि देहस्थः
कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८ ॥ इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ॥ गृह्यमाणे-
ष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥ दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभा-

शरीर के विषैं नियम्यपने के और नियामकपने के सम्बन्ध से रहते हैं ॥५॥ जैसे वृक्ष के ऊपर घोंसला बनाकर रहनेवाले पक्षी, वृक्ष से निराले होते हैं तैसे ही, जिस का वर्णन न होसकै ऐसी माया के द्वारा शरीररूप वृक्षपर हृदयरूप घोंसला बनाकर रहनेवाले यह जीव ईश्वररूप पक्षी, देह से निराले हैं और यह दोनों ही चैतन्यरूप होने के कारण एकसे और एकमति से साथ रहनेवाले होने के कारण सखा हैं, उन में एक जीवरूपपक्षी, पिप्पलान्न (देहाभिमान से होनेवाले कर्म का सुखदुःखरूपफल) को भक्षण करता है. दूसरा ईश्वररूपपक्षी, निराहार (कर्मफलरूप विषयभोग से रहित) होकर भी, निजानन्द से तृप्त होने के कारण ज्ञानादिशक्तियों से जीव की अपेक्षा अधिक है ॥ ६ ॥ उन में कर्मफल को न भोगनेवाला जो सर्वज्ञ ईश्वर वह अपने को और दूसरे जीव को भी जानता है तथा कर्मफल को भोगनेवाला जो जीव वह अपने को और परमात्मा को भी नहीं जानता है इसकारण ही वह देहादिकों का आत्मभाव से अभिमान धारण करता है. इस से जो अविद्या से युक्त जीव है वह अनादिकाल से बद्ध है और जो विद्या से युक्त ईश्वर है वह नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥ अब बद्धमुक्तजीवों का ही परस्पर भेद कहते हैं- जैसे स्वप्न देखकर उठाहुआ पुरुष, स्मरण आयेहुए स्वप्न के देह में रहताहुआ भी उस में के सुखदुःखादिकों के सम्बन्ध से छूटाहुआ होने के कारण उस देह में रहताहुआसा नहीं होता है. तैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष, संस्कारवश देह में स्थित होय तो भी देहसम्बन्धी सुखदुःखादिकों का संबंध छूटजाने के कारण देह में रहाहुआसा नहीं होता है और जैसे स्वप्न को देखनेवाला जीव, वास्तविकरूप से उस देह में न रहताहुआ भी उस में के सुखदुःखादिकों के सम्बन्ध से उस में रहताहुआसा होता है, तैसे ही अज्ञानी जीव, वास्तव में देह के सम्बन्ध से रहित होकर भी देहनिमित्तक सुखदुःखों का अपने में अध्यास करके देह के सम्बन्ध से युक्तसा होता है। ८। गुणों के कार्यरूप इन्द्रियों से गुणों के कार्यरूप विषयों का सेवन करने परभी, जो राग द्वेषादिरहित मुक्तजीव है वह, मैं इनविषयों को ग्रहण करता हूँ ऐसा नहीं मानता है, क्योंकि-गुणों की कार्यरूप इन्द्रियें, गुणरूपविषयों को ग्रहण करती हैं, उस में मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा वह मानता है ॥ ९ ॥ और अज्ञानी जीव तो, पूर्वकर्मों के

न्येन कर्मणा ॥ वर्तमानोबुधस्तत्र कर्ताऽस्मीति निबध्यते ॥ १० ॥ एवं वि-
रक्तः शयन आसनाटनमज्जने ॥ दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥ ११ ॥
न तथा बध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान् ॥ प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं
सवितानिलः ॥ १२ ॥ वैशारद्येक्षयाऽसंगशितया छिन्नसंशयः ॥ प्रतिबुद्ध
इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥ १३ ॥ यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनो-
धियाम् ॥ वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥ १४ ॥ यस्यात्मा
हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद्यदृच्छया ॥ अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते

वशीभूत शरीर में रहकर, इन्द्रियों से होनेवाले कर्मों का मैं कर्त्ता हूँ ऐसा अभिमान धारण करके उन शरीरादिकों में बद्धहोता है; इन तीनों श्लोकों करके, ज्ञानी कैसा वर्त्ताव करता है इस प्रश्न का,सुखदुःखशून्य और निराभिमान होकर देह के विषैं वर्त्ताव कर्त्ता है ऐसा उत्तर जाने ॥ १० ॥ अब दूसरा भेद कहकर, कैसा भोजन करता है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर कहते हैं—इन्द्रियों के कर्म मुझे कुछ बन्धन नहीं करते हैं, ऐसा जानकर विरक्तहुआ विद्वान् जीव यद्यपि-सोना, बैठना, फिरना, स्नानकरना, देखना, स्पर्शकरना, सूँघना, भोजनकरना, सुनना इत्यादि कर्मों में तिन २ विषयों का तिन २ इन्द्रियों से भोग करता है तथापि उन कर्मों का अभिमान अपने में धारण न करने के कारण प्रकृति के कार्यरूप देह में साक्षी होकर रहनेवाला भी वह जीव, तिसमें के कर्मों से जैसे अज्ञानी बन्धन पाता है किन्तु जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होकर भी अथवा जैसे सूर्य, जल में प्रतिबिम्बित होनेपर भी, अथवा जैसे वायु सर्वत्र विचरनेपर भी कहीं आ-सक्त नहीं रहता तैसे ही, कहीं भी आसक्त नहीं होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥ किन्तु वैराग्य से तीक्ष्ण हुई ब्रह्मविद्या करके जिसके असम्भावना आदि दोष दूर हुए हैं ऐसा वह विद्वान् पुरुष,स्वप्न से जगेहुए पुरुष की समान देहादि प्रपञ्च से पृथक् होता है, इस प्रकार बद्धपुरुष और मुक्त किसप्रकार भोगों को भोगतेहैं इत्यादि प्रश्नों का उत्तर कहा १३ अब बद्ध और मुक्त पुरुष कैसे विहार करता है इस के उत्तर रूप से उनका भेद कहते हैं कि—जिस पुरुष के प्राण, इंद्रिय, मन और बुद्धि की 'यह खाऊँ, यह देखूँ, यह प्राप्त करूँ इत्यादि' वृत्तियें, सङ्कल्पों से रहित होती हैं, वह देह में स्थित होयतो भी उसदेह के गुणों से मुक्त है, इसकारण मुक्त पुरुष, प्राणादि की वृत्ति सङ्कल्प से रहित रखकर वि-हार करता है और बद्ध पुरुष, प्राणादिकों की वृत्तियों को सङ्कल्पयुक्त रखकर विहार करता है ऐसा जाने ॥ १४ ॥ इसप्रकार बद्धमुक्तों के स्वयं जाननेयोग्य लक्षण कहकर अब, कौनसे लक्षणों से जानाजाता है इस के उत्तररूप से दूसरे भी सहज में जाननेयोग्य भेद कहते हैं—जिस का शरीर दुष्ट पुरुषों से पीड़ित कियाजाता है और किसी समय दैव वश कुछ एक पूजाजाता है परन्तु यदि वह पुरुष, विद्वान् होयतो उस का मन हर्षखेद

बुधः ॥१५॥ न स्तुवीत न निंदेत कुर्वतः साध्वसाधु वा ॥ वदतो गुणदोषाभ्यां
वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥१६॥ न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ॥
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ १७ ॥ शब्दब्रह्मणि निष्णातो
न निष्णायात्परे यदि ॥ श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥ १८ ॥ गां
दुग्धदोहामसतीं च भार्यां देहं पराधीनमसत्प्रजां च ॥ वित्तं त्वतीर्थीकृत-
मंग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥ १९ ॥ यस्यां न मे पावनमंग
कर्म स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ॥ लीलाऽवतारेप्सितजन्म वा स्याद्वंध्यां
गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥ २० ॥ एवं जिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममा-

आदि विकारों को नहीं प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ और वह गुण दोषों से रहित और सम दृष्टि धारण करनेवाला मुनि, भलाबुरा करनेवाले वा बोलनेवाले लोकों की स्तुति वा निन्दा कुछ भी नहीं करता है, उस को ही मुक्त समझे और इस से विपरीत होयतो उसको बद्ध समझे ॥ १६ ॥ तैसे ही भीतर से मनन शील और अपने स्वरूप में रमाहुआ होने पर भी बाहर से जो कुछभला वा बुरा कर्म नहीं करताहै और भला वा बुरा नहीं कहताहै तथा किसी प्रकार का विचारभी नहीं करता है किन्तु इस पहिले कहीहुई वृत्ति से जड़पुरुष की समान विचरता है उस पुरुष को मुक्तसमझे औरउस से विपरीत वर्त्तावबाले को बद्धसमझे इनही कहेहुए मुक्त पुरुषों के लक्षणों को मुमुक्षु पुरुषों के साधन जाने ॥ १७ ॥ अब, जो केवल वेदब्रह्म का जाननेवाला है और केवल अपनी पण्डिताई की ही प्रशंसा करता है परन्तु इन पूर्व कहेहुए साधनों से वेद के अर्थ पर निष्ठा नहीं रखता है उस की निन्दा करते हैं—जो पुरुष, वेदब्रह्म के विषैं अर्थतःपारङ्गत होकर भी यदि परब्रह्म के विषैं ध्यान आदि के अभ्यास से उस में निष्ठा करनेवाला न होय तो उस का अध्यपन करने आदि का सब परिश्रम, 'बहुत दिनों में ब्याहनेवाली गौ को दूध के निमित्त पालनेवाले पुरुष के परिश्रम की समान' केवल परिश्रमरूपफल ही देनेवाला होता है, पुरुषार्थ देने-वाला नहीं होता है ॥ १८ ॥ इस को ही दूसरे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि—हे उद्धव! दूध न देनेवाली गौ की, प्रीतिशून्य स्त्री की, पराधीन होकर प्रतिक्षण में दुःख के कारण शरीर की, इस लोक और परलोक के साधन न होनेवाले पुत्र की, सत्पात्र में दान न करेहुए अकीर्त्तिकारक और पापकारक धन की तथा मेरे वर्णन से रहित वाणी की जो पुरुष रक्षा करता है वह आगे २ को बराबर दुःख भोगता है ॥ १९ ॥ हे उद्धवजी! जिस वाणी में इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कारण और श्रवण आदि करनेवाले लोकों को पवित्र करनेवाला मेरा कर्म न हो अथवा लीला से धारण करेहुए मेरे अवतारों में के जगत के प्रिय रामकृष्णादि जन्म न हों उस निरर्थक वाणी का उच्चारण प्रवीण पुरुष न करे ॥ २० ॥ ऐसे विचार से आत्मा में प्राप्त हुए

त्मनि ॥ उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥ २१ ॥ यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलं ॥ मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥ २२ ॥ श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः ॥ गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥ २३ ॥ मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः ॥ लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥ २४ ॥ सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ॥ स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥ २५ ॥ उद्धव उवाच ॥ साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो ॥ भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ॥ २६ ॥ एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ॥ प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥ २७ ॥ त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ अवतीर्णोसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥ २८ ॥ श्रीभगवानुवाच॥

देव मनुष्यादि देहों के अध्यास को दूर करके, निर्मलहुए मन को, परिपूर्णरूप मुझ भगवान् के विषैं धारण करके शान्ति पावे, केवल शास्त्र की पण्डिताई से अपने को कृतकृत्य न समझलेय ॥ २१ ॥ यदि तुम, ब्रह्म में निश्चलभाव से मन को धारण करने को असमर्थ होओ तो फल पाने की इच्छा को छोडकर मेरे उद्देश से अर्थात् मुझे अर्पण करके वर्णाश्रम के निमित्त कहेहुए सकल कर्मों को करो अर्थात् मेरी भक्ति से ही कृतार्थ होजाओगे ॥ २२ ॥ हे उद्धवजी ! जो पुरुष, श्रद्धायुक्त होकर, परममंगलरूप और लोकों को पवित्र करनेवाली मेरी कथाओं का श्रवण करता है, मेरे जन्मों का और कर्मों का वारंवार गान करता है, स्मरण करता है और अनुकरण करता है; मेरे सन्तोष के निमित्त धर्म, अर्थ और काम का आचरण करता है तथा मेरा ही आश्रय करके रहता है वह पुरुष, सकल कारणों के भी कारण ऐसे मेरे विषैं निश्चल भक्ति पाता है ॥ २३ ॥ २४ ॥ सत्सङ्ग से प्राप्तहुई तिस मेरी भक्ति के द्वारा वह भक्त, निरन्तर मेरा ध्यान करके ध्यान में मग्न होते ही, साधुओं के दिखायेहुए मेरे स्वरूप को निःसन्देह सुख से प्राप्त होजाता है ॥ २५ ॥ अब साधुओं की और भक्ति की विशेषता बूझने के निमित्त उद्धवजी कहनेलगे—हे उत्तम कीर्त्तिवाले प्रभो ! मनुष्यों करके अपनी २ बुद्धि से कल्पना करेहुए साधु बहुतसे होते हैं परन्तु तुम्हें कौनसे लक्षणोंवाला साधु माननीय है? और भक्ति भी लोकों में बहुत प्रकार की है परन्तु नारदादि साधुओं की सन्मान करी हुई कौनसी भक्ति तुम्हारे विषय में उपयोगी होती है ? ॥ २६ ॥ हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकाध्यक्ष ! हे जगत्प्रभो ! यह जो कुछ मैंने बूझा सो, तुम कृपा करके अत्यन्त नम्र, भक्त और शरण में आयेहुए मुझ से कहिये ? ॥ २७ ॥ हे भगवन् ! तुम आकाश की समान असङ्ग, परब्रह्मरूप और प्रकृति से पर पुरुष हो तथापि अपने भक्तोंकी इच्छा से निराला स्वरूप धारण करके अवतरे हो॥२८॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ॥ सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपका-
रकः ॥ २९ ॥ कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः ॥ अनीहो मितभुक्
शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ ३० ॥ अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जि-
तषड्गुणः ॥ अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३१ ॥ आ-
ज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ॥ धर्मान्संत्यज्य यः सर्वान् मां
भजेत स सत्तमः ॥ ३२ ॥ ज्ञात्वाऽज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि या-
दृशः ॥ भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३ ॥ मल्लिङ्गमद्भक्त-
जनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ॥ परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥ ३४ ॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ॥ सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेद-

श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! अब तुम से तीस लक्षणोंवाले उत्तम साधुओं का वर्णन करता हूँ—१ लोकों के ऊपर कृपा करनेवाला, २ किसी से द्रोह न करनेवाला, ३ क्षमावान्, ४ सत्य प्रतिज्ञा करनेवाला, ५ निन्दा आदि दोषों से रहित, ६ सुख दुःख के समय समान, ७ यथाशक्ति सब का उपकार करनेवाला ॥ २९ ॥ ८ विषयों से चित्त को चलायमान न होने देनेवाला, ९ जितेन्द्रिय, १० कोमलचित्त, ११ सदाचार को पालनेवाला, १२ परिग्रह को त्यागनेवाला, १३ इस लोक में के सुख के निमित्त किसीप्रकार के कर्म न करनेवाला, १४ परिमित भोजन करनेवाला, १५ शान्त, १६ अपने धर्म में स्थिर रहनेवाला, १७ मेरे आश्रय से रहनेवाला, १८ मननशील ॥ ३० ॥ १९ सावधान, २० निर्विकार, २१ कष्ट के समय भी धैर्य धरनेवाला, २२ भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु इन छहों विकारों को जीतनेवाला, २३ मानरहित, २४ दूसरों का सन्मान करनेवाला, २५ दूसरों को समझाने में चतुर, २६ धोखा न देनेवाला, २७ करुणा करके ही परोपकार में लगनेवाला, २८ ज्ञानवान् ॥ ३१ ॥ और २९ वेदरूप मेरे कहेहुए स्वधर्म को पालन करने पर अन्तःकरण की शुद्धि आदि गुण हैं और उस को पालन न करने पर नरकगमन आदि दोष हैं ऐसा जानकर भी, यह धर्म प्रभु के ध्यान में विक्षेप करनेवाले हैं और आचरण न करनेपर भी यह भक्ति से ही सिद्ध होसकते हैं ऐसे दृढ़ निश्चय से तिन अपने सकल धर्मों को त्यागकर जो पुरुष मेरी सेवा करता है वह उत्तम साधु है ॥ ३२ ॥ तैसे ही जो पुरुष, मैं देशकाल आदि के परिच्छेद से रहित, सर्वात्मा और सच्चिदानन्दरूप हूँ ऐसा सामान्यपने से जानकर और फिर मनन आदि के द्वारा विशेषरूप से जानकर अनन्यभाव से मेरी सेवा करते हैं वह उत्तम भक्त होते हैं ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३३ ॥ इसप्रकार साधुओं के लक्षण कहकर अब आठ श्लोकों में भक्ति के लक्षण कहते हैं, मेरी मूर्त्ति का और मेरे भक्तजनों का दर्शन, स्पर्श और पूजन करे, मेरी सेवा स्तुति और गुणकर्मों का वर्णन करे, नम्रता रक्खे ॥ ३४ ॥ हे उद्धवजी! मेरी कथा सुनने

नम् ॥ ३५ ॥ मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ॥ गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥ यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ॥ वैदिकी तांत्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ ३७ ॥ ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ॥ उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८ ॥ संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ॥ गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ ३९ ॥ अमानित्वमदंभित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ॥ अपि दीपावलोकं मे नोपयुंज्यान्निवेदितम् ॥ ४० ॥ यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः॥तत्तन्निवेदयेन्मह्यं

में श्रद्धा रक्खे, मेरा ध्यान करे, जो कुछ मिले वह सब मुझे समर्पण करे, दासभाव से अपना शरीर मुझे समर्पण करे ॥३५॥ मेरे जन्म और कर्मों का वर्णन करे, मेरे जन्माष्टमी आदि उत्सवों का अनुमोदन करे, मेरे मन्दिरों में भक्तमण्डली इकट्ठी करके गाना, नाचना, बजाना आदि के द्वारा मेरा उत्सव करे ॥३६॥ मेरा दर्शन आदि करने को यात्रा करे, चौमासे में के जन्माष्टमी एकादशी आदि पर्वों में महापूजन सर्वोत्तम नैवेद्य आदि समर्पण करे, वैदिक वा तान्त्रिक दीक्षाग्रहण करे, मेरे एकादशी आदि व्रतों को धारण करे ॥३७॥ मेरे पूजन और मूर्तिस्थापन करने में श्रद्धा रक्खे, मेरे निमित्त फूलोंके वृक्षों के बाग, फलोंके वृक्षों के बाग, क्रीडा के स्थान, नगर और मंदिर उत्पन्न करने के काम में शक्ति के अनुसार अपनेआप और शक्ति न होय तो दूसरों के साथ मिलकर उद्योग करे ॥ ३८ ॥ मेरे मन्दिर में निष्कपटभाव से दास की समान झाडना बुहारना, लीपना, छिडकाव करना, चित्रकारी करना इत्यादि के द्वारा सेवा करे ॥ ३९ ॥ अभिमान और पाखण्ड को धारण न करे, अपने करेहुए धर्म का वर्णन न करे, मुझे अर्पण करेहुए पदार्थ का आप उपभोग न करें, और पदार्थों की तो वार्त्ता अलगरहे परन्तु मुझे अर्पण करेहुए दिव्य प्रकाश को भी अपने कार्य में न लावे. दूसरे देवता को अर्पण कराहुआ पदार्थ मुझे अर्पण न करे ॥४०॥ लोकों में जो २ पदार्थ सबों को प्रिय लगनेवाला है और अपने को अति-

१ विष्णु को निवेदन कराहुआ ग्रहण न करे, इस का तात्पर्य यह है कि-लाभ से ग्रहण न करे भक्ति से तो ग्रहण करे ही, क्योंकि-छः मासतक उपवास करने से जो फल मिलता है वह फल विष्णुभगवान् के नैवेद्य के एक सीत के भी भक्षण करनेवाले पुरुषों को कलियुग में प्राप्त होता है। जिस के हृदय में हरि का रूप, मुख में नाम पेट में नैवेद्य और मस्तक पर चरणोदक तथा निर्माल्य रहता है वह साक्षात् विष्णु ही है, ऐसा स्मृतिवचन है।

२ इसकारण ही पूजा आदि करते समय दूसरा दीपक लाकर रक्खे नहीं तो दो वत्ती तो अवश्य ही डाले।

३ विष्णुभगवान् को अर्पण कराहुआ अन्नादि पदार्थ अन्य देवताओं को अर्पण करे और वह पितरों को भी देय तब अनन्तफल देनेवाला होता है, पितरों को देकर शेष रहाहुआ पदार्थ यदि परमात्मा श्रीहरि को अर्पण करे तो उस के पितर नरक में पडकर दुःख भोगते हैं। इत्यादि स्मृतिवचन हैं।

तदानन्त्याय कल्पते ॥ ४१ ॥ सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरु-
ज्जलम् । भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ ४२ ॥ सूर्ये तु
विद्यया त्रय्या हविषाऽग्नौ यजेत माम् ॥ आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गो-
ष्वङ्ग यवसादिना ॥ ४३ ॥ वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ॥
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ ४४ ॥ स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगै-
रात्मानमात्मनि ॥ क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ ४५ ॥ धिष्ण्ये-
ष्वित्येषु मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ॥ युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः
॥ ४६ ॥ इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ॥ लभते मयि सद्भक्तिं म-
त्स्मृतिः साधुसेवया ॥ ४७ ॥ प्रायेण भक्तियोगेन सत्संगेन विनोद्धव ॥ नो-
पायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥ ४८ ॥ अथैतत्परमं गुह्यं शृण्व-

प्रिय है वह पदार्थ मुझे निवेदन करे तब वह अनन्तफल देनेवाला होता है ॥ ४१ ॥ हे उद्धवजी ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, विष्णुभक्त, हृदयाकाश, वायु, जल, पृथिवी, अपना जीवात्मा और सकलप्राणी यह ग्यारह मेरे पूजा करने के स्थान हैं ॥४२॥ हे उद्धवजी ! सूर्य के विषें वेद में कहेहुए सूर्यस्तुतिपरक सूक्तों से उपस्थान आदि करके मेरी पूजा करे. अग्नि के विषें घृत आदि हवन के पदार्थों से मेरी पूजा करे श्रेष्ठ ब्राह्मण के विषें आदर सत्कार करके और गौ के विषें कोमल घास आदि खिलाकर मेरा पूजन करे ॥ ४३ ॥ विष्णुभक्त के विषें बन्धु की समान सत्कार करके मेरा पूजन करे, हृदयाकाश में ध्यान की निष्ठा रखकर मेरीपूजा करे, वायु में प्राणवायु की दृष्टि से और जलमें जलादि पदार्थों का तर्पण आदि करके मेरा पूजन करे ॥ ४४ ॥ भूमि में रहस्यमन्त्रों के न्यास से और जीवात्मा में विषयभोग अर्पण करके मेरी पूजा करे, सकल प्राणिमात्र में समता रखकर उन के अन्तर्यामी मुझ क्षेत्रज्ञ का पूजन करे ॥ ४५ ॥ इसप्रकार इन ग्यारहों स्थानों में शंख, चक्र, गदा और कमल से युक्त चारभुजा धारण करनेवाले शान्तस्वरूप का ध्यान करके एकाग्रचित्तपने से मेरा पूजन करे ॥ ४६ ॥ इसप्रकार जितेन्द्रिय रहनेवाला जो पुरुष, मेरा पूजन करता है और यज्ञ याग आदि वैदिककर्मों से तथा बावड़ी, कुआ, सरोवर आदि स्मार्त कर्मों से मेरा आराधन करता है उस को मेरी दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है और दृढ़भक्ति पानेवाले उस को साधुसेवा से तत्त्वज्ञान होता है ॥ ४७ ॥ हे उद्धव जी ! तुम से यह ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग कहा, तिस में भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि—प्रायः सत्सङ्ग से होनेवाले भक्तियोग के विना संसार को तरजाने का दूसरा कोई भी श्रेष्ठ उपाय नहीं है इस का कारण, सत्पुरुषों का उत्तम आश्रय मैं हूँ, इस कारण सत्सङ्ग से मेरी प्राप्ति शीघ्र होती है ॥ ४८ ॥ अब, दूसरे साधनों की अपेक्षा

तो यदुनन्दन ॥ सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा ॥ ४९ ॥
इति श्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कंधे भगवदुद्धवसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥
१ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव
च ॥ स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥ व्रतानि यज्ञश्छंदां-
सि तीर्थानि नियमा यमाः ॥ यथावरुंधे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥२॥
सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ॥ गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धा-
श्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥ विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ॥
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ ॥ ४ ॥ बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रका-
याधवादयः ॥ वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥ सुग्रीवो
हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ॥ व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्य-
स्तथापरे ॥ ६ ॥ तेनाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ॥ अव्रतातप्ततपसः

रखनेवाले सांख्ययोग आदि से भी, स्वतन्त्र साधु समागम ही श्रेष्ठ है ऐसा वर्णन करने के निमित्त कहते हैं कि—हे यदुनन्दन उद्धवजी ! तुम मेरे दास, बन्धु और मित्र हो इसकारण श्रद्धा के साथ सुननेवाले तुमसे अतिरहस्य और सब से गुप्त रखनेयोग्य एकविषय कहता हूँ उस को सुनो ॥४९॥ इतिश्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में एकादश अध्याय समाप्त ॥*॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! अन्य सब सङ्गों को दूर करनेवाला सत्संग, जैसे मुझे वश में करता है तैसे आसन प्राणायाम आदि योग,तत्त्वविवेकरूप सांख्य, अहिंसा आदि धर्म, वेदपाठरूप स्वाध्याय, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप,सन्यासरूप त्याग, अग्नि-होत्र आदि इष्ट, कूपबगीचा आदि पूर्त्त, अभयदान आदि दक्षिणा, एकादशीउपवास आदि व्रत, देवपूजा आदियज्ञ, रहस्यमन्त्ररूप छन्द, गङ्गा आदि तीर्थ, शौच आदि नियम, अहिंसा आदि यम, यह सब साधन वश में नहीं करते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ हे उद्धवजी ! सत्संग से ही, दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, तैसे ही मनुष्यों में जो रजोगुण तमोगुण के स्वभाववाले थे वह वैश्य, शूद्र, स्त्रियें और अन्त्यज, तैसे ही वृत्रासुर प्रल्हाद आदि बहुतसे पुरुष, तिन २ युगों में मेरे स्वरूप को प्राप्त होगये हैं ; वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयासुर, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान, गजराज, जटायुपक्षी, तुलाधारवैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा दासी, गोकुल की स्त्रियें, यज्ञकरनेवाले ऋषियों की स्त्रियें तैसे ही और भी बहुतसे पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होगये हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ उन्होंने वेद नहीं पढे थे, तथा वेदों का अर्थ जानने के निमित्त बडे २ सत्पुरुषों की सेवा भी नहीं करी थी, व्रत धारण नहीं करे थे और तप भी नहीं करा था तथापि वह केवल सत्सङ्ग से ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होगये

सत्संगान्मामुपागताः ॥ ७ ॥ केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ॥
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥ यं न योगेन सांख्येन
दानव्रततपोऽध्वरैः ॥ व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ९ ॥
रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ॥ विगाढभावेन न
मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥ तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन
नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण ॥ क्षणार्धवत्ताः पुनरंग तासां हीना मया क-
ल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥ ता नाविदन्मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमद-
स्तथेदम् ॥ यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे
॥ १२ ॥ मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ॥ ब्रह्म मां परमं
प्रापुः संगाच्छतसहस्रशः ॥ १३ ॥ तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रति-

हैं ॥ ७ ॥ तिस में सत्सङ्ग से ही प्राप्त हुई केवल प्रीति से गोपी, गौ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, मृग और जो दूसरे मूढबुद्धि कालियादि सर्पकृतार्थ होकर मुझे अनायास में ही प्राप्त होगये हैं ॥ ८ ॥ जिस मुझ को, योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्यान, वेदपठन और संन्यास के द्वारा यत्न करनेवाला पुरुष भी नहीं पाता है; इस का तात्पर्य यह है कि–पहिले श्रीकृष्णजी के साथ जिन गोपियों को और गौ आदि पशुओं को समागम हुआ था वही साधु थे, उन का समागम ही औरों को सत्सङ्ग होकर तिस के द्वारा ही उन को भक्ति प्राप्त हुई ॥ ९ ॥ अक्रूरजी, बलरामजी के साथ जब मुझे गोकुल में से मथुरा को लेगये थे तब, मुझ में अतिदृढ़ प्रेमभाव से आसक्तचित्त हुईं और मेरे वियोग से अति-दुःखित हुई गोपियों ने, मुझ से भिन्न कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं देखा ॥ १० ॥ उन को ऐसा दुःख हुआ कि–हे उद्धवजी ! वृन्दावन में विचरतेहुए और परम प्रिय साक्षात् मेरे साथ क्रीडा करते में जिन गोपियों ने जिन रात्रियों को अतिसुख से आधे क्षण की समान बिताया था, उन गोपियों को ही वही रात्रियें मेरा वियोग होनेपर कल्प की समान बहुत बडी होगईं ॥ ११ ॥ जैसे समाधि में स्थित ऋषि [illegible] नामरूप कुछ भी नहीं जानते हैं तैसे ही मेरे विषैं आसक्ति से अपनी [illegible] लगानेवाली उन गोपियों ने, अपने पतिपुत्रादिकों को, शरीर को, परलोक [illegible] और इस लोक को भी कुछ नहीं जाना किन्तु जैसे नदियें अपने नामरूपों को छोड़ [illegible] समुद्र के जल में प्रविष्ट होजाती हैं तैसे केवल मेरी कामना करनेवाली वह सैंक[illegible] सहस्रों स्त्रियें, यद्यपि मेरे स्वरूप को जाननेवाली नहीं थीं तथापि 'हमें आनन्द देने[illegible] यह जार है' ऐसी बुद्धि से जानतेहुए परब्रह्मरूप मुझ को सत्सङ्गति के प्रभाव से प्राप्त [illegible]ईं ॥ १२ ॥ १३ ॥ हे उद्धवजी ! मेरे भजन का प्रभाव ऐसा है इसकारण तु[illegible] श्रुति, स्मृति, विधि, निषेध, प्रवृत्त कर्म, निवृत्तकर्म, श्रवण

चोदनाम् ॥ प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ १४ ॥ मामेकमेव
शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्॥याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥१५॥
उद्धव उवाच ॥ संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ॥ न निवर्तत आत्म-
स्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥ १६ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ स एष जीवो वि-
वरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ॥ मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा
स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥ १७ ॥ यथाऽनलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन
दारुण्यधिमथ्यमानः ॥ अणुः प्रजातो हविषा समिद्ध्यते तथैव मे व्यक्ति-

करनेयोग्य और श्रवण कराहुआ सब शास्त्र छोडकर, सकल प्राणीमात्र के अन्तर्यामी एक आत्मा मुझ को ' सब जगत् भगवद्रूपही है ' ऐसी भावना से शरणजाओ और मेरी प्राप्ति करके संसारभय से छूटजाओ ॥ १४ ॥ १५ ॥ उद्धवजी ने कहा कि–हे योगेश्वरों के ईश्वर ! तुमने पहिले ' मेरे कहेहुए स्वधर्म में सावधान रहकर इत्यादि ' कर्म करे ऐसा कहाथा और अब सब धर्मों को त्यागकर मेरी शरण जा,ऐसा कहते हो, सो तुम्हारा भाषण सुननेवाले मेरा आत्मविषयक ' आत्मा को कर्तृत्व है या नहीं ? ऐसा ' संशय निवृत्त नही होता है; कि–जिस संशय से मेरा मन घूमरहा है, इसकारण इस संसय को दूरकरो ॥ १६ ॥ इस का उत्तर कहनेके निमित्त श्रीभगवान् बोले कि–हे उद्धवजी ! यह प्रत्यक्ष आधार आदि चक्र में नादादिरूप से प्रकट हुआसा प्रतीत होनेवाला ईश्वर, परावाणी नामक नादरूप प्राणसहित वर्त्तमान आधार चक्र में प्रविष्ट होकर तदनन्तर मणिपूरक चक्र में पश्यन्ती नामक मनोमय सूक्ष्मरूप को पाकर फिर विशुद्धिचक्र में अस्पष्टनादरूप कुछस्थूल स्वरूप को प्राप्त होता है, तदनन्तर मुख में ह्रस्वादि मात्रा, उदात्तादि स्वर और ककार आदि वर्ण इसप्रकार वैखरी नामक अतिस्थूल अनेक वेदशाखा रूप होता है॥ १७ ॥ जैसे अग्नि,आकाश में प्रथम अस्पष्ट ऊष्मारूप होता है और उस का काठ में बल के साथ विशेष मन्थन करनेपर पहिले सूक्ष्म चिनगारीरूप से उत्पन्न होकर फिर वायु की सहायता से बड़ाहोते२ घृतादि होम के द्रव्यों के द्वारा वृद्धि को प्राप्तहोता है, तैसेही मुझईश्वर की परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी

१ यह सब उत्तर कहने का भगवान् का ऐसा अभिप्रायहै कि ईश्वरही अपनी मायाके द्वारा प्रपञ्च रूप से भासता है, जीवों को प्रपञ्च के अध्यास से अनादि अविद्या के द्वारा कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि प्राप्त होकर विधि निषेध का अधिकार प्राप्त हुआ है वह जबतक हैं तबतक ही वह अन्तः करण की शुद्धिके निमित्त कर्म करैं, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर कर्मजाड्य के दूरहोने के निमित्त भक्ति में विक्षेप करनेवाले कर्म का आदर छोड़कर दृढ़ विश्वास के साथ मेरा भजन करैं; और ज्ञान होजाय तो फिर जीवों को कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहींरहता है ।

रियं हि वाणी ॥ १८ ॥ एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः
श्रुतिश्च ॥ संकल्पविज्ञानमथाभिमानः सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥ १९ ॥
अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः ॥ विश्लिष्टशक्ति-
र्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥ २० ॥ यस्मिन्निदं प्रोतम-
शेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ॥ य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः
पुष्पफले प्रसूते ॥ २१ ॥ द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कन्धः पंचर-
सप्रसूतिः ॥ दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥ २२ ॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ॥ हंसा य एकं

नामक अति सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल ऐसी वाणी के स्वरूप से उत्पत्ति हुई है ॥ १८ ॥ इसप्रकार ही भाषण, कर्म (हाथों का व्यवहार), गति (चरणोंकाव्यवहार) विसर्ग (पायु और उपस्थ इन दो इन्द्रियों की वृत्ति), सुगन्ध लेना, रस ग्रहण करना, देखना, स्पर्श करना, श्रवण करना, सङ्कल्प (मनकी वृत्ति), विज्ञान (बुद्धि और चित्तकी वृत्ति) अभिमान (अहङ्कार की वृत्ति), सूत्र (प्रधान की वृत्ति) और रज, सत्व तथा तम इन तीन गुणों का आधिदैविक आदि यह सब प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है ॥ १९ ॥ लोकरूपी कमलका आधार और तीनों गुणों का आश्रय यह आदि ईश्वर पहिले निराला २ न होकर अव्यक्तरूप एक ही था. वही काल के द्वारा वाणी आदि इन्द्रियरूप शक्तियों का विभाग पाकर, जैसे बीज क्षेत्र का आधार पाकर वृक्षादिरूप से अनेक प्रकार के भासते हैं तैसे ही इन्द्रियादिरूप से अनेकप्रकार का भासता है ॥ २० ॥ तन्तुओं के फैलाव में है स्थिति जिसकी ऐसा पट जैसे खडे लम्बे तन्तुओं में, ओत और आडे तन्तुओं में प्रोत होता है उन से भिन्न नहीं होता है तैसे ही यह सकल जगत् भी जिस कारणरूप ईश्वर में ओत प्रोत होकर उस से निराला नहीं है, इसी प्रकार जो यह अनादि कालीन, प्रवृत्ति स्वभाववाला, अविद्या से आत्मा में कल्पना कराहुआ देहरूपी संसारवृक्ष भोगरूप पुष्प और मोक्षरूप फल को उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥ इस वृक्ष के पुण्यपाप रूप दो बीज हैं, वासनारूप सैंकडों जड़ हैं, गुणरूप तीन गुद्दे हैं महाभूतरूप पांच स्कन्ध हैं, शब्द स्पर्श आदि पांच रस हैं, ग्यारह इन्द्रिय शाखा हैं, इस के ऊपर जीव ईश्वररूप दो पक्षियों के घोंसले हैं, जिसकी वात, पित्त, कफरूप तीन छाल हैं जिस के सुखदुःखरूप दो फल हैं और वह वृक्ष सूर्यमण्डलपर्यन्त चढाहुआ है अर्थात् सूर्यमण्डल को भेदकर जानेवाले को संसार नहीं रहता है ॥ २२ ॥ उस वृक्ष के एक फल (दुःख) को गाँव में रहनेवाले गृध्र पक्षी (कामीगृहस्थ) खाते हैं और दूसरे एक फल (सुख) को वन में रहनेवाले हंसपक्षी (विवेकी संन्यासी) भक्षण करते हैं, इस

बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ २३ ॥ एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ॥ विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः संपद्य चात्मानमथ
त्यजास्त्रम्॥२४॥इतिश्री०म०पु०एकाद०भगवदुद्धवसं०द्वादशोऽध्यायः॥१२॥छ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ॥सत्त्वेनान्यतमौ
हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥ सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात्पुंसो मद्भक्ति-
लक्षणः ॥ सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥ धर्मो रजस्तमो
हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ॥ आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥
आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ॥ ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो

प्रकार एक परमात्मा ही मायामय होकर बहुतरूप हुआ है, ऐसा पूजनीय गुरुओं के उपदेश से जो जानता है वही वेदका वास्तविक अर्थ जानता है ॥ २३ ॥ हे उद्धवजी! तुम तो इसप्रकार सावधान और जितेन्द्रिय होकर गुरुकी उपासना से बढीहुई एकाग्र भक्ति करके तीक्ष्ण करेहुए ज्ञानकुठार से जीवोपाधिरूप त्रिगुणमय लिङ्गशरीर को काटकर और परमात्मा की प्राप्ति करके तदनन्तर सकल साधनों का त्याग करो ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में द्वादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ पूर्व अध्याय में ज्ञानकुठार से लिङ्गशरीर का छेदन करके साधनों का त्यागकरे ऐसा कहा, तिस में गुणों की वृत्तियों का प्रतिबन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होयगी? ऐसी शङ्का आने पर, गुणों की निवृत्ति से ज्ञान की प्राप्ति का उपाय कहने के निमित्त श्रीभगवान् कहनेलगे कि—हे उद्धवजी! सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण बुद्धि (प्रकृति) के ही हैं आत्मा के नहीं हैं इसकारण सत्त्वगुण की वृद्धि से रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों को जीते तथा सत्यदयादिवृत्तिरूप सत्त्वगुण का शान्तरूप सत्त्वगुण से ही जय करे यह क्रम शास्त्रसिद्ध है ॥ १ ॥ बढेहुए सत्त्वगुण से,मेरी भक्ति दिखानेवाला धर्म उत्पन्न होता है, सात्विक पदार्थों के सेवन से सत्त्वगुण बढता है और फिर उस से धर्म प्रवृत्त होता है ॥२॥ और फिर सत्त्वगुण से बढाहुआ वह सर्वोत्तमधर्म, रजोगुण का और तमोगुण का नाश करता है, तिन दोनों का नाश होने पर वह दोनों रागद्वेष आदि के द्वारा और प्रमाद आलस्य आदि के द्वारा जिस के कारण थे वह अधर्म भी तत्काल नष्ट होजाता है ॥ ३ ॥ शास्त्र (निवृत्ति प्रवृत्ति वा पाखण्ड आदि शास्त्र), जल (गङ्गाजल, सुगन्धितजल वा मद्यादिक जल), लोक (सत्पुरुष, गृहासक्त वा दुराचारी आदि लोक), देश (एकान्त स्थल, राजमार्ग और द्यूतस्थान आदि देश), काल (प्रातःकाल, प्रदोष और मध्यरात्रि का काल), कर्म (नित्यनैमित्तिक काम्य और जारण मारण आदि कर्म), जन्म (वैष्णवदीक्षा, शैवदीक्षा, शाक्तदीक्षा और क्षुद्रदीक्षा आदि जन्म), ध्यान (विष्णु का, स्त्रीपुत्रादि का और शत्रु आदि का ध्यान), मन्त्र (प्रणव, काम्य और क्षुद्र आदि मंत्र),

दृष्टेते गुणहेतवः ॥ ४ ॥ तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते ॥ निंद-
न्ति तामसं यत्तद्राजसं तदुपेक्षितम्॥५॥सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृ-
द्धये ॥ ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥ वेणुसंघर्षजो वह्निर्द-
ग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ॥ एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥
उद्धव उवाच ॥ विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान्पदमापदां ॥ तथाऽपि भुंजते
कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अहमित्यन्यथाबुद्धिः
प्रमत्तस्य यथा हृदि ॥ उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९ ॥ रजो-
युक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः ॥ ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि

और संस्कार (आत्मशोधक, देहशोधक और गृहादिशोधक आदि संस्कार) यह दश पदार्थ तीनों गुणों को बढ़ानेवाले हैं ॥४॥ इस जगत् में के पदार्थों में से शास्त्र के जाननेवाले जिस जिस की प्रशंसा करते हैं वह वह पदार्थ सात्विक है, जिस जिस की निन्दा करते हैं वह वह तामस है और जिस जिस की प्रशंसा वा निन्दा कुछ न करके उपेक्षा करते हैं वह वह राजस है ॥ ५ ॥ तिस में सत्त्वगुण की वृद्धि के निमित्त पुरुष, जो सात्विक हैं ऐसे निवृत्तिशास्त्र, गङ्गाजल आदि का ही सेवन करे तब उन से भक्तिलक्षणधर्म और तिस धर्म से आत्मसाक्षात्कार करनेवाला और स्थूल सूक्ष्म देहों के कारणभूत गुणों का निरास करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ तदनन्तर, जैसे वाँसों की परस्पर रगड़ से उत्पन्न हुआ अग्नि, स्वयं ही उत्पन्न हुई ज्वालाओं से उस सब वन को जलाकर आप भी शान्त होजाता है तैसे ही तिस अग्नि की समान व्यापारवाला और गुणों के मेल से उत्पन्न हुआ देह भी, अपनेआप उत्पन्नहुए ज्ञान से अपने कारणभूत गुणों का निरास करके आप भी शान्त होजाता है ॥७॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे श्रीकृष्णजी ! जितेन्द्रियपने से सात्विक पदार्थोंके सेवनमें जब ऐसा बडा पुरुपार्थहै और अनेकों मनुष्य, राजस और तामस विषयों को दुःखों का स्थान जानतेहैं तब वही मनुष्य, फिर 'जैसे कुत्ते कुतिया के ललकारने पर भी उस के भोगने में ही लम्पट होते हैं, अथवा जैसे गदहे चरणों से प्रहार करने पर भी गदही के पीछे ही दौड़ते हैं, अथवा जैसे बकरे मारने को आनेपर भी निर्लज्जपने से बकरी के पीछे दौड़ते हैं तैसे ही' विषयों को भोगने में लम्पट रहते हैं, यह कैसे होताहै? ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! विचारहीन पुरुष को पहिले देहादिके विषैं 'मैं हूँ' ऐसी बुद्धि पूर्णरीति से उत्पन्न होती है, तदनन्तर उस के सत्त्वगुणप्रधान भी [illegible]पी रजोगुण घेरलेता है ॥ ९ ॥ फिर रजोगुण से युक्त हुए तिस मन का [illegible]हा उत्तम भोग है' ऐसा भोग्यपने के विषय का सङ्कल्प उत्पन्न होता है; तदनन्तर अहो कैसा स्वरूप है ! कैसा भाव है ! कैसी मधुरता है ऐसे गुणों के चिन्तवन से उस

दुर्मतेः ॥ १० ॥ करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ॥ दुःखोदर्काणि संपश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥ रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः ॥ अतंद्रितो मनो युंजन् दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ १२ ॥ अप्रमत्तोनुयुंजीत मनो मय्यर्पयेन् शनैः ॥ अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः ॥ १३ ॥ एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ॥ सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥ १४ ॥ उद्धव उवाच ॥ यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ १५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ॥ पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकांतिकीं गतिम् ॥१६॥ सनकादय ऊचुः ॥ गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि

दुर्बुद्धि पुरुष को दुःसह कामवासना उत्पन्न होती है ॥ १० ॥ फिर रजोगुण के वेग से मोहित होकर काम के वशीभूत हुआ वह अजितेन्द्रिय पुरुष, विषयभोग के निमित्त करे हुए कर्म परिणाम में दुःखरूप हैं ऐसा जानताहुआ भी उन को ही फिर करता है ॥ ११॥ जब ऐसा है तब तो किसी भी दुःख की निवृत्ति नहीं होयगी, ऐसा कहो, तो—जो विद्वान् (देहादिकों से आत्मा निराला है ऐसा जाननेवाला) पुरुष है वह, यदि कदाचित् रजोगुण से और तमोगुण से बुद्धि को मूढता प्राप्त होकर विषयासक्त होजाय तो भी वह यदि फिर आलस्यरहित होताहुआ विषयों में दोषदृष्टि रखकर यत्न के साथ मन को रोकेगा तो विषयों में आसक्त नहीं होयगा ॥ १२ ॥ मन का वश में होना कठिन है इसकारण उस को जीतने में विलम्ब लगे तो आलस्य न करके सावधानी के साथ प्रतिदिन, दिन में तीन वार आसन का जय और प्राणायामों के द्वारा श्वासवायु का जय करनेवाला योगी, अपने मन को धीरे २ मेरेविषैं लगाकर स्थिर करे॥ १३ ॥ हे उद्धवजी ! सकल विषयों से खेंचाहुआ मन, जैसे साक्षात् मेरे स्वरूप में पूर्ण रीति से स्थिर होयगा ऐसा योग मेरे सनकादि शिष्यों ने कहा है ॥ १४ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे केशव ! अतिवृद्ध सनकादि ऋषियों को तुमने इस जन्म में शिष्य करा हो सो तो हो नहीं सक्ता, तिस से तुमने उन सनकादि ऋषियों को जिस समय में जिसरूप से योग का उपदेश करा हो उस काल और उस रूप को जानने की मैं इच्छा करता हूँ वह आप मुझ से कहिये ॥ १५ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र सनकादि ऋषियों ने, एकसमय अपने पिताजी से, योग की पराकाष्ठा की सूक्ष्मगति के विषय में प्रश्न करा ॥ १६ ॥ सनकादिकों ने कहा कि—हे प्रभो ब्रह्माजी ! यह चित्त स्वभाव से ही प्रीतियुक्त होने के कारण विषयों में प्रविष्ट होकर उन में ही आसक्त होता है और वह (अनुभव करेहुए)

च भो ॥ कथमन्योऽन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ १७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः ॥ ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ १८ ॥ स मामचिंतयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ॥ तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ १९ ॥ दृष्ट्वा मां तु उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ॥ ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥ २० ॥ इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ॥ यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥ २१ ॥ वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ॥ कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥२२॥पंचात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः॥

विषय भी वासनारूप से चित्त में प्रवेश करते हैं, तब संसार समुद्र को तरने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षु के चित्त का और विषयों का वियोग कैसे होता है, सो कहिये ? ॥ १७ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि-हे उद्धवजी ! इसप्रकार प्रश्न करनेपर वह देवाधिपति जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी, विचार करनेलगे परन्तु उन्होंने प्रश्न का बीज 'यह प्रश्न अज्ञान से है ऐसा' नहीं जाना; क्योंकि-उन की बुद्धि उससमय दूसरे सृष्टि आदि कर्मों से व्यग्र होरही थी॥१८॥ तब उन ब्रह्माजी ने, उस प्रश्न का अभिप्राय और उत्तर जानने की इच्छा से मेरा ध्यान करा, तब मैं, जैसे हंसपक्षी जल और दूध को पृथक् २ करने में समर्थ होता है तैसे गुण और चित्त को पृथक् २ करने में समर्थ हूँ ऐसा दिखाने के निमित्त हंसरूप से उन के समीप में गया ॥ १९ ॥ तब मुझे देखकर वह सनकादि ऋषि, ब्रह्माजी को आगे करके मेरे समीप आये और मेरे चरणों को प्रणाम करके उन्होंने मुझ से, तू कौन है ? ऐसा प्रश्न करा ॥ २० ॥ हे उद्धवजी ! इसप्रकार तत्त्व को जानने की इच्छा करनेवाले उन ऋषियों ने मुझ से प्रश्न करा तब उससमय उन से मैंने जो कुछ कहा सो तुम मुझ से सुनो ॥ २१ ॥ देह से निराले आत्मा का ज्ञान होनेपर उस आत्मा में मन की एकाग्रता रखनेवाले पुरुष को, विषयासक्ति का होना असम्भव होने के कारण अपनेआप ही विषयों का और चित्त का भिन्न २ पना होजाता है ऐसा कहने के निमित्त प्रश्नखण्डन के मिष से ही पहिले आत्मानात्मविवेक कहते हैं-हे ब्राह्मणो ! यह तुम्हारा प्रश्न क्या आत्मविषयक है? अथवा आत्मा की उपाधिरूप पञ्चभूत के समूह के विषय का है ? यदि आत्मविषयक है तो-उस परमार्थभूत आत्मवस्तु को अनेकपना नहोने के कारण तुम्हारा कराहुआ 'तू कौन है ऐसा' अनेक पदार्थों में से एक का निश्चय करने का प्रश्न कैसे बनसक्ता है ? और उत्तर देनेवाले मुझ को भी किस का आश्रय है ? अर्थात् आत्मा में कुछ विशेष न होनेपर कौन से जाति गुण आदि विशेषों का आश्रय करके मैं उत्तर दूँ ? ॥ २२ ॥ और यदि यह प्रश्न पञ्चभूत के समूह के विषय का होय तो-देव

को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ २३ ॥ मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ॥ अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ २४ ॥ गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ॥ जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ २५ ॥ गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ॥ गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥ २६ ॥ जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ॥ तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ २७ ॥ यर्हि संसृ-

मनुष्यादि सब शरीरों के पञ्चमहाभूतस्वरूप होने के कारण, वास्तव में उन के (परम कारणरूप से) एक समान होनेपर, तू कौन है ? ऐसा जो तुम्हारा प्रश्नहै सो केवल वाणी मात्र से उच्चारण कराहुआ है और निरर्थक है ॥ २३ ॥ मन, वचन, दृष्टि और अन्य भी सब इन्द्रियों से जिस का ग्रहण करते हैं वह सब मैंही हूँ, मुझ से दूसरा कुछ नहीं है ऐसा तुम तत्वविचार से जानो, इस वाक्य से 'तू कौन है' इस प्रश्न का 'मैं सर्वात्मक हूँ ऐसा उत्तर भी कहाहुआसा ही होगया ॥ २४ ॥ इसप्रकार प्रश्न का खण्डन करने के मिष से अपना स्वरूप सामान्यभाव से निरूपण करके, अब ब्रह्माजी को भी जिस का उत्तर देना कठिन ऐसा जो प्रश्न करा था उस का उत्तर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं–हे पुत्रों ! चित्त विषयों में प्रवेश करता है और विषय चित्त में प्रविष्ट होते हैं, यह ठीक है तथापि वह विषय और चित्त दोनों ही परस्पर मिलकर उन का एकरूप आकार होने पर वह, मत्स्वरूपी (ब्रह्मरूपी) जीव का देह (अध्यास से अपना मानाहुआ उपाधि है) वास्तविक स्वरूप नहीं है ॥ २५ ॥ इसप्रकार वारंवार विषयसेवन के संस्कार से उन विषयों में प्रवेश करनेवाले चित्त का और वासनारूप से चित्त में प्रवेश करनेवाले विषयों का, जीव, स्वयं ब्रह्मरूप होकर त्याग करे ॥ २६ ॥ जाग्रत् आदि अवस्थायुक्त जीव को ब्रह्मपना कैसे प्राप्त होयगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि–जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीनों अवस्था बुद्धि की ही हैं, जीवकी नहीं हैं, वह भी स्वाभाविक नहीं किन्तु क्रम से सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से हुई हैं, जीवतो उन वृत्तियों के साक्षीरूप से तिन अवस्थाओं से निराला ही निश्चय करागया है ॥ २७ ॥

१ इस का अभिप्राय यह है कि, कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि स्वरूप से विषयों में गुथाहुआ चित्त ही बुद्धि अहंकार आदि नामों से उच्चारण कराजाता है, वही यदि जीव का सत्यस्वरूप होता तो उस का और विषयों का वियोग नहीं होता, परन्तु जीव का सत्यस्वरूप मैं ब्रह्म हूँ; उस में चित्त के अध्यास से चित्त का स्वभाव आजाने के कारण विषयों के साथ गुथागुथी होरही है इसकारण अपनी ब्रह्मभावना से और विषयों के मिथ्यापन का अनुसन्धान करने से, सब विषयों से विरक्त होकर भगवान की सेवा करनेवाले जीव की परिपूर्णस्वरूप से स्थिति होती है ।

तिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ॥ मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसां ॥ २८ ॥ अहङ्कारकृतं बंधमात्मनोर्थविपर्ययम् ॥ विद्वान्निर्विद्य संसारचिंतां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥ यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्त्तेत युक्तिभिः ॥ जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥ असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ॥ गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ ३१ ॥ यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान् भुंक्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ॥

क्योंकि-बुद्धि का कराहुआ यह अध्यास आत्मा को 'मैं जागरहा हूँ मैं सोता हूँ इत्यादि' अवस्थारूप बन्धन करनेवाला हुआ है इस से तीनों अवस्थाओं के साक्षीरूप मुझ तुरीय के विषैं रहकर, जीव इस बन्धन का त्याग करे तब अपने आप ही विषयों का और चित्त का परस्पर त्याग होजाता है ॥ २८ ॥ अहङ्कार का कराहुआ बन्धन अपने परमानन्दादि धर्मों को ढककर अनर्थ का कारण हुआ है, ऐसा जानकर जीव, विषयों से विरक्त होकर, तीनों अवस्थाओं से निराले चौथे मेरे विषैं एकतारूप से रहकर संसार के कारणभूत देहाभिमान और उस की करीहुई भोगों की चिन्ता का त्याग करे ॥ २९ ॥ जबतक पुरुष की भेदबुद्धि, गुरु के उपदेश करेहुए शास्त्र के अभ्यास से प्राप्तहुई युक्तियों से निवृत्त नहीं होती है तबतक; जैसे कोई पुरुष स्वप्न में जागने की अवस्था को देखता है परन्तु वह स्वप्न ही है तैसे ही वह अज्ञानी पुरुष, जागताहुआ भी (सांसारिककार्यों में चतुरता से चलताहुआ भी) स्वप्न देखनेवाले की समान है क्योंकि-उस को यथार्थज्ञान नहीं होता है । ३० । आत्मा से निराले देहादि पदार्थों के मिथ्या होने के कारण उन का कराहुआ वर्णाश्रम आदि भेद, स्वर्गादि फल और उन फलों के देनेवाले कर्म, यह सब मिथ्या हैं अर्थात् आत्मा से निराले कुछ भी नहीं हैं, जैसे स्वप्न देखनेवाले जीव को, स्वप्न में के देहादि मिथ्या होने के कारण उन के भेद, कर्म और फल मिथ्या होते हैं तैसेही आत्मा के भी वर्णाश्रम आदि सब भेद मिथ्या हैं इस से अज्ञानी पुरुषों के निमित्त ही वेद है जिन को आत्मज्ञान होगया उन के निमित्त नहीं है ॥ ३१ ॥ जो (आत्मा) जाग्रत् अवस्था में, जिन की बालकपन तरुणाई आदि अवस्था क्षण २ में बदलती है उन बाहर के स्थूल देह आदि सब पदार्थों को चक्षु आदि सब इन्द्रियों से सेवन करता है, जो स्वप्न की दशा में जागते में देखेहुए पदार्थों की समान ही क्षण २ में नाश पाने वाले, हृदय में उत्पन्न हुए वासनामय पदार्थों का सेवन करता है और जो सुषुप्ति अवस्था में तिन सब विषयों का उपसंहार करता है वही तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा एक है । अब यदि जाग्रत् अवस्था को इन्द्रियें देखती हैं, स्वप्नावस्था को मन देखता है और सुषुप्ति अवस्था को जाग्रत् स्वप्नावस्थाओंमें के शेष रहेहुए संस्कारोंवाली बुद्धि देखती

स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ ३२ ॥
एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ॥
सञ्छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्णज्ञानासिना भजत माऽखिलसंशयाधिं ३३ ॥
ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ॥ विज्ञान-
मेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४ ॥ दृष्टिं
ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णस्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ॥ संदृश्यते
क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥ ३५ ॥

है, ऐसा समझने में आता है तथापि, उन इन्द्रियों का, मन का और बुद्धि का द्रष्टा वह आत्मा ही है । अब जाग्रत् आदि अवस्थाओं के द्रष्टा विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह निराले कहे हैं ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं है, क्योंकि—जिस ने स्वप्न देखे और तदनन्तर जिस ने (सुषुप्ति में) कुछभी नहीं जाना वही मैं अब जागरहा हूँ ऐसी स्मृति का तीनों अवस्थाओं में अन्वय होने में उपाधिभेद से विश्वादिनामों को धारण करनेवाला वह आत्मा ही है, इसप्रकार बालकपन तरुणाई आदि अवस्थाओं में भी आत्मा की एकता को जाने ॥ ३२ ॥ इसप्रकार विचार करके, गुणों से जो मन की जाग्रत आदि तीन अवस्था हुई हैं वह मेरे अंशभुत जीव के विषैं मेरी अविद्या की करीहुई हैं, वास्तविक नहीं हैं ऐसे आत्मरूप पदार्थ का निश्चय करनेवाले तुम, अनुमान से, साधुओं के उपदेश से और श्रुतियों से तीखेहुए ज्ञानखड्ग के द्वारा 'आत्मा देह से भिन्न है अथवा अभिन्न है इत्यादि' संशय के अधिष्ठान अहङ्कार का छेदन करके हृदय में ही रहनेवाले मेरा सेवन करो ॥३३॥ यह जगत् भ्रान्तिमात्र है ऐसा अनुमान करे, क्योंकि- यह स्वप्न की समान मनोविलासरूप, दृश्य और नाशमान् है, तैसे ही अलातचक्र की समान अति चञ्चल है, अब निर्विषयक भ्रान्ति कैसे होयगी ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि—भ्रान्ति का अधिष्ठान जो एक ब्रह्म वही भ्रान्ति के समय अनेकप्रकार का भासता है इसकारण गुणों के परिणाम का कराहुआ जो यह देह-इन्द्रिय-अन्तःकरणरूप तीनप्रकार का भेद है सो केवल माया ही है ।३४। इस से तिस दृश्य (देहादि) प्रपञ्च करके अभिमान करने का त्यागकरके प्राणी अपने स्वरूप सुख का अनुभव करे और उस स्वरूपसुख की निश्चलता के निमित्त सब इच्छा और शरीरसम्बन्धी व्यापारों को छोड़देय, अब देहधारी पुरुष की द्वैतदृष्टि सर्वथा दूर होना असम्भव है अतः उस को फिर संसार प्राप्त होजायगा, ऐसी शङ्का आनेपर कहतेहैं कि- जीवन्मुक्त को किसी आवश्यक आहारादि कर्म के समय यदि यह देहादि द्वैत देखने में आता है तथापि पहिलेही अवस्तु जानकर छोड़ाहुआ वह फिर उस को मोहित करने को समर्थ नहीं होता है, किन्तु देहपात होने पर्यन्त उस को उस का संस्कारवश स-

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपं ॥
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३६ ॥ देहोऽपि
दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ॥ तं सप्रपंचमधिरूढ-
समाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३७ ॥ मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं य-
त्सांख्ययोगयोः ॥ जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ ३८ ॥ अहं योगस्य सांख्य-
स्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ॥ परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥ ३९ ॥ मां
भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकं ॥ सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासंगादयो-
गुणाः ॥ ४० ॥ इति मे छिन्नसंदेहा मुनयः सनकादयः ॥ सभाजयित्वा परया

रणमात्र ही रहता है ॥ ३५ ॥ तथापि जैसे मदिरा के मद (नशे) से मत्तहुआ पुरुष, शरीर पर धारण कराहुआ वस्त्र, दूसरी ओर को अस्तव्यस्त होगया अथवा कहीं रहगया है इस का कुछ ध्यान नहीं रखता है तैसेही जीवन्मुक्त हुआ पुरुष, जिस देह से अपने आत्मतत्व को जाना है, वह नाशवान् होने के कारण उपेक्षा कराहुआ अपना देह, सोते से उठकर आसनपर बैठा है अथवा खड़ा है अथवा तहाँसे दूसरी ओर को कहींगया है अथवा जाकर फिर लौटआया है इसका अनुसन्धान नहीं रखता है फिर अपने सम्बन्धी स्त्री पुत्रादिकों का कहाँ से रक्खेगा ? ॥ ३६ ॥ अब जो देह पालन करने पर भी मरणोन्मुख होता है उस की ओर को यदि किञ्चिन्मात्र भी नहीं देखा तो वह गिरही पड़ेगा, ऐसा कहो तो प्रारब्ध कर्म के अधीन वह शरीर, जबतक अपने को उत्पन्न करनेवाला कर्म है तबतक प्राणइन्द्रियों के सहित जीवितरहेगा ही,इस में सन्देह नहीं है;यदि कहो कि-इस दशा में कभी तो उस के ऊपर आसक्ति होगी, इस शंका का उत्तर कहते हैं कि—जिस ने समाधिपर्यन्त योग साधन करा है और जिसने परमार्थ वस्तु को जानलिया है वह पुरुष, स्वप्न में के देह की समान जानेहुए तिस पुत्र स्त्री आदि सहित देह का अहन्ताममता से सेवन नहीं करता है ॥ ३७ ॥ हे ब्राह्मणो ! आत्मानात्मविवेकरूप सांख्यशास्त्र और अष्टाङ्गयोग में का यह रहस्य, मैंने तुम से कहा है, तुम से मोक्षधर्म का वर्णन करने की इच्छा से हंसरूप से आयाहुआ मैं विष्णु हूँ ऐसा तुम जानो ॥ ३८ ॥ हे श्रेष्ठब्राह्मणो ! मैं योग, सांख्य, जानने योग्य धर्म, पालनकरने योग्य धर्म, प्रभाव, लक्ष्मी, कीर्त्ति और इन्द्रियनिग्रह का परम आश्रय हूँ ॥ ३९ ॥ इसकारण निर्गुण, निरपेक्ष, और सबों के सुहृद्, प्रिय और आत्मा ऐसे मेराही, जो गुणों के परिणामरूप नहीं ऐसे साम्य, असङ्ग आदि सब गुण मेरा सेवन करते हैं इसकारण मेरे कहनेपर तुम दृढविश्वास रक्खो ॥ ४० ॥ इसकारण मैंने जिनके संशयों को तोड़डाला है ऐसे वह सनकादि ऋषि, परमभक्ति से

भक्त्याऽगृणन्त संस्तवैः ॥ ४१ ॥ तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षि-
भिः ॥ प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥ ४२ ॥ इ० भा० म० ए०
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ७ ॥ उद्धव उवाच ॥ वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि ब-
हूनि ब्रह्मवादिनः ॥ तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥ भवतो-
दाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ॥ निरस्य सर्वतः संगं येन त्वय्याविशे-
न्मनः॥२॥ श्रीभगवानुवाच ॥ कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ॥ म-
याऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३ ॥ तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे
पूर्वजाय सा ॥ ततो भृग्वादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४ ॥ तेभ्यः पितृभ्य-
स्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ॥ मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥५॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिंपुरुषादयः ॥ बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्व-
तमोभुवः ॥ ६ ॥ याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ॥ यथाप्रकृति
सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥ एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो

मेरा सत्कार करके उत्तम स्तोत्रों से स्तुति करनेलगे ॥ ४१ ॥ तिन ऋषियों से पूजन क-
राहुआ और स्तुति कराहुआ मैं, ब्रह्माजी के देखतेहुए अपने स्थान को लौट आया
॥ ४२ ॥ इतिश्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्ध में त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥
उद्धवजी ने कहाकि–हे श्रीकृष्णजी ! वेद को जाननेवाले पुरुष, कल्याण के बहुत से साधन
कहते हैं, उन में सब ही मुख्य हैं ? अथवा उन में से एक मुख्य है शेष सब उस के अवा-
न्तरभेद हैं ? ॥ १ ॥ हे स्वामिन् ! तुम ने तो, जिससे, सबप्रकार के विषयों की आसक्ति
छूटकर तुम्हारे विषैं मन लगे ऐसे भक्ति योग को ही मोक्ष का साधन कहा है सो इन
साधनों की क्या व्यवस्था है ? ॥ २ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि–हे उद्धवजी ! जिस में मेरे
विषैं मन लगानेवाला धर्म कहा है ऐसी यह वेदनामवाली वाणी, पहिले प्रलय के समय,
काल करके नष्ट होगई थी; वही मैंने सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी से कही है ॥३॥ फिर
उन ब्रह्माजी ने, वह वाणी अपने बड़े पुत्र मनुजी से कही; उन से वह, महाऋषि, भृगु,
मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु इन सात प्रजापतियों ने ग्रहण करी
॥ ४ ॥ उन प्रजापतियों से जो उन के पुत्र–देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, विद्या-
धर, चारण, किन्देव, किन्नर, नाग, राक्षस और किम्पुरुष आदिहुए उन्हों ने ग्रहण करी; उन
देवादिकों की रजःसत्त्व तमोगुणों से उत्पन्न हुई नानाप्रकार की वासना होने के कारण,
उन वासनाओं के द्वारा प्राणियों में देवता, असुर और मनुष्य आदि भेद होकर उन की
बुद्धि भी निराली २ होती है, तैसे ही उन सबों के स्वभाव के अनुसार चित्रविचित्र वेदके
अर्थ की व्याख्यानरूप वाणी भी प्रवृत्त होती हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ इसप्रकार स्वभाव

नृणाम् ॥ पारंपर्येण केषांचित्पाखंडमतयोऽपरे ॥ ८ ॥ मन्मायामोहितधियः
पुरुषाः पुरुषर्षभ ॥ श्रेयो वदंत्यनेकांतं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥ धर्ममेके
यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ॥ अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभो-
जनम् ॥ केचिद्यज्ञंतपोदानं व्रतानि नियमान्यमान् ॥ १० ॥ आद्यंतवंत
एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ॥ दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचाऽ-
र्पिताः ॥ ११ ॥ मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ॥ मयात्मना सुखं
यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥ १२ ॥ अकिंचनस्य दांतस्य शांतस्य समचे-
तसः ॥ मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३ ॥ न पारमेष्ठ्यं न
महेंद्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ॥ न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा म-
य्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥ १४ ॥ न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न

की विचित्रता के कारण ही अध्ययन आदि से शून्य भी कितने ही पुरुषों की बुद्धियें, उप-देश की परम्परा से भेद को प्राप्त होजाती हैं, दूसरे कितने ही तो पाखण्डबुद्धि वेदविरुद्ध अर्थ के करनेवाले होजाते हैं ॥ ८ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धवजी ! मेरी माया से मोहितबुद्धि हुए पुरुष, अपने २ कर्म के अनुसार और रुचि के अनुसार भिन्न २ प्रकार के कल्याण साधन कहते हैं ॥ ९ ॥ कोई (मीमांसक) स्वर्ग ही फल है और धर्म ही उस का साधन है ऐसा कहते हैं. दूसरे (अलङ्कार शास्त्र के जाननेवाले) यश को, वात्स्यायन आदि– काम को, योग शास्त्री–सत्य, दम और शम को, तथा राजनीति के जाननेवाले पुरुष, ऐश्वर्य को ही, स्वार्थ साधने का मुख्यसाधन कहते हैं, चार्वाक (नास्तिक) लोग, दान और भोग को ही मुख्यसाधन कहते हैं. दूसरे कितने ही लोकायतिक–यज्ञ, तप, दान, व्रत, नियम और यमों को ही पुरुषार्थ का साधन कहते हैं ॥ १० ॥ इन ' धर्मादि साधनों को कहनेवाले ' सब लोकों के कर्मों के द्वारा रचेहुए सकल फल, आदि और अन्त से युक्त, परिणाम में दुःख और मोह में डालनेवाले, तुच्छ आनन्द से युक्त और भोग के समय भी स्पर्धा, निन्दा आदि दोषों से तथा शोक से युक्त होते हैं ॥ ११ ॥ हे उद्धवजी ! मुझमें चित्त लगानेवाले और सबही विषयोंके सुखों में निरपेक्ष रहनेवाले भक्त को, परमानन्दरूप से स्वरूप भाव करके स्फुरित होनेवाले मेरे द्वारा जो सुख है वह विषयासक्तचित्तों को कहाँ मिलेगा ? ॥ १२ ॥ धन आदि को इकट्ठा न करनेवाला, जितेन्द्रिय शान्त, समचित्त, और मेरी प्राप्ति होने पर ही सन्तुष्टचित्त ऐसे भक्त को सब ही दिशा सुखमय हैं ॥ १३ ॥ अपने चित्त को मेरे विषें अर्पण करनेवाला भक्त, मेरे सिवाय दूसरे–ब्रह्माजी के आधिपत्य, स्वर्ग के राज्य, सम्पूर्ण भूमण्डल के आधिपत्य, पाताल के आधिपत्य, अणिमादि आठ ऐश्वर्य और मोक्षपद की भी इच्छा नहीं करता है ॥ १४ ॥ हे उद्धवजी ! जैसे मुझे तुम भक्त अतिप्रिय हो

शंकरः ॥ न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५ ॥ निर-
पेक्षं मुनिं शांतं निर्वैरं समदर्शनम् ॥ अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः
॥ १६ ॥ निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः शांता महांतोऽखिलजीववत्सलाः ॥
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७ ॥ बा-
ध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेंद्रियः ॥ प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्ना-
भिभूयते ॥ १८ ॥ यथाऽग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ॥ तथा
मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥ न साधयति मां योगो न
सांख्यं धर्म उद्धव ॥ न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ॥ भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा
श्वपाकानपि संभवात् ॥ २१ ॥ धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ॥
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥ कथं विना रोमहर्षं

ऐसे, पुत्र ब्रह्माजी भी, साक्षात् मेरे स्वरूप शङ्कर भी, भ्राताबलराम भी, लक्ष्मी स्त्री भी और आत्मा भी अतिप्रिय नहीं है ॥ १५ ॥ निरपेक्ष, मननशील, शान्त, निर्वैर और समदृष्टि भक्तके पीछे मैं नित्य 'इस भक्त के चरणरज से अपने पेटमें के ब्रह्माण्डों को पवित्र करूँगा ऐसी भावना से' जाता हूँ ॥ १६ ॥ जिन के पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, जिन का मन मुझ में लगाहुआ है, जिन के चित्त को शब्दादिविषय स्पर्शभी नहीं करते हैं और जो शान्त, निरभिमानी और सकलप्राणियों के ऊपर दया करनेवाले हैं वह मेरे भक्त, जिस सुख को भोगते हैं, निरपेक्ष पुरुषों को प्राप्त होने योग्य उस सुख को वही जानते हैं, वह सुख दूसरे किसी के भी जानने में नहीं आता है ॥ १७ ॥ उत्तम भक्तों की तो कथा अलग रहे परन्तु जितेन्द्रिय न होने के कारण, विषयों से अपनी ओर को खेंचाहुआ भी मेरा भक्त, प्रतिक्षण बढनेवाली भक्ति से भली प्रकार रक्षा कराहुआ होने के कारण प्रायः विषयों से तिरस्कार को नहीं प्राप्त होता है किन्तु वह कृतार्थ ही होता है ॥ १८ ॥ हे उद्धवजी! जैसे स्वयम्पाक करनेवाले का अत्यन्त प्रदीप्त कराहुआ अग्नि काठ को जलाकर भस्म करता है; तैसे ही काम द्वेष आदि किसी भी निमित्त से होनेवाली मेरी भक्ति, सब पातकों को भस्म करती है ॥ १९ ॥ इसकारण बढीहुई मेरी भक्ति, जैसे मुझे वश में करतीहै तैसे योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तप अथवा दान यह साधन मुझे वश में नहीं करते हैं ॥ २० ॥ प्रिय आत्मरूपी मैं, श्रद्धा से उत्पन्न होनेवाली भक्ति करके ही सत्पुरुषों के वश में होता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डालपर्यन्त सब पुरुषों को जाति-दोष से पवित्र करदेती है ॥ २१ ॥ भक्ति न होय तो अन्य साधन व्यर्थ हैं, क्योंकि—सत्य और दया से युक्त धर्म और तप से युक्त आत्मविद्या भी, मेरी भक्ति से रहित जीव को उत्तम प्रकार से पवित्र नहीं करती है ॥ २२ ॥ शरीर पर रोमाञ्च खडेहुए विना, चित्त

द्रवता चेतसा विना ॥ विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥ २३ ॥ वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ॥ विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४ ॥ यथाऽग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ॥ आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥ यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ॥ तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥ विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ॥ मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७ ॥ तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ॥ हित्वा मयि स-

के द्रवीभूत हुए विना और नेत्रों में आनन्द के आँसू आये विना भक्ति कैसे समझीजाय? और भक्ति के विना अन्तःकरण की शुद्धि कैसे होसक्ती है? ॥ २३ ॥ और मेरी भक्ति, करनेवाले पुरुष को पवित्र करती है इस का तो कहना ही क्या? परन्तु जिस की वाणी मेरे प्रेम से गद्गद होती है, जिस का चित्त द्रवीभूत (बाहरी व्यवहार में शिथिल) होता है, जो मेरे वियोग को प्राप्तहुआ सा वारंवार रोदन करता है, कभी मेरी क्रीड़ा का रहस्य समझ में आजाय तो हँसनेलगता है, कभी लोकलाजको छोड़कर ऊँचे स्वर से मेरे चरित्र का गान करता है और नृत्य करता है, ऐसा मेरी भक्ति करनेवाला पुरुष, अपने को तो क्या परन्तु अपने दर्शन आदि से जगत् को पवित्र करता है ॥ २४ ॥ जैसे सोना, अग्नि से तपानेपर ही अपने में के दूसरी धातुओं के मेलरूप मल का त्याग करता है, धोने आदि से नहीं त्याग करता है और अपने वास्तविक स्वरूप को पाता है तैसे ही जीव भी मेरी भक्ति के द्वारा ही संसार की कारण कर्मवासनाओं को त्यागकर मेरा भजन करता है और मुझमें एकता को पाता है ॥ २५ ॥ मेरी पवित्र कथाओं को सुनने से और वर्णन करने से जैसे२ अन्तःकरण शुद्ध होता है तैसे२ यह जीव, जैसे अंजन डालाहुआ नेत्र दोषरहित होकर सूक्ष्मवस्तु को भी देखता है, तैसे ही सूक्ष्म भी आत्मवस्तु को जानने में समर्थ होता है अर्थात् भक्तिका ही एक व्यापार ज्ञान है, भक्ति से भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥ और वह ज्ञान भी चित्त का मेरी रूपता करके एक परिणाम है और वह भी मेरी भक्ति करनेवाले को स्वाभाविक ही होता है, उस के निमित्त यत्न नहीं करना पड़ता है, जैसे विषयों का ध्यान करनेवाले पुरुष का चित्त विषयों में आसक्त होता है तैसे ही वारंवार मेरा चिन्तवन करनेवाले का चित्त मुझ में लीन होजाता है ॥ २७ ॥ इसकारण हे उद्धवजी! क्योंकि- विषयों का ध्यान संसार का कारण और मेरा ध्यान मेरी प्राप्ति का कारण है तिस से जिसप्रकार स्वप्न में और मनोरथ के समय प्राप्तहुए विषय मिथ्या हैं तिसीप्रकार भक्ति के विना दूसरे साधन और उन के फल मिथ्या (कल्पनारूप) हैं ऐसा जानकर उन

गोंधरस्व मनो मद्भाव भावितं॥२८॥स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरतं आत्मवान्। क्षेमे विविक्त आसीनश्चिंतयेन्मामतंद्रितः॥२९॥न तथाऽस्य भवेत्क्लेशो बंधश्चान्य-प्रसंगतः।योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥३०॥उद्धव उवाच॥ यथा त्वा-मरविंदाक्ष यादृशं वा यदात्मकं॥ ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि ३१ श्रीभगवानुवाच ॥ सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्॥ हस्तावुत्संगं आधाय स्वनासाऽग्रकृतेक्षणः ॥ ३२ ॥ प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुंभकरेचकैः॥ विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥ हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घं-टानादं बिसोर्णवत् ॥ प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥ ३४ ॥ एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ॥ दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितां-

का त्यागकरो और मेरी भक्ति से ही शुद्धहुए चित्त को मेरेविषै स्थिर करो॥ २८ ॥ धैर्यवान् पुरुष, स्त्रियों की और स्त्रियों में आसक्तहुए कामी पुरुषों की संगति को दूरसे ही छोडकर निर्भय एकान्त स्थान में बैठे और मेरा चिन्तवन करे ॥ २९ ॥ स्त्रियों की सङ्गति से और स्त्रियों की सङ्गति करनेवाले जारपुरुषों की सङ्गति से पुरुष को जैसा क्लेश और बन्धन प्राप्त होता है तैसा दूसरे किसी की भी सङ्गति से नहीं प्राप्त होता है इसकारण उन की सङ्गति सर्वथा छोडदेनी चाहिये ॥ ३० ॥ उद्धवजी ने कहा कि-हे कमलनेत्र श्रीकृष्णजी, मुमुक्षु पुरुष, जिसप्रकार, जिन लक्षणों से युक्त जिस तुम्हारे रूप का ध्यान करे सो मुझ से कहने की कृपा करिये ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि-न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा ऐसे कम्बल आदि के आसन पर समानशरीर से जैसे सुख प्रतीत हो तिस रीति से बैठनेवाला साधक, अपने दोनों हाथ जंघाओं पर रखकर और चित्त की स्थिरता के निमित्त नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि लगाकर पूरक, कुम्भक और रेचक इस क्रम से अथवा नासिका के बायें नथुने से ऊपर को खेंचकर रोकाहुआ वायु, दाहिने नथुने से छोडना और दाहिने नथुने से ऊपर को लेजाकर रोकाहुआ वायु, बायें नथुने से छोडना, इस क्रम से प्राण के मार्ग को शुद्ध करके विषयों से इन्द्रियों को अन्त-र्मुख करके प्राणायाम का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ प्राणायाम दो प्रकार का है एक सगर्भ और दूसरा अगर्भ, तिस में श्रेष्ठ होने के कारण सगर्भ (ॐकारगर्भित) प्राणायाम का वर्णन करते हैं—मूलाधारचक्र से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त कमल की दण्डी में के तन्तु की समान सूक्ष्म और अविच्छिन्न (कहीं से न टूटाहुआ) ॐकार को मन में प्राणवायु के द्वारा प्र-कट करके फिर उस ॐकार में घण्टे के नाद की समान सूक्ष्म गुञ्जारयुक्त उदात्तस्वर (अनुस्वार) को स्थिर करे ॥३४॥ इसप्रकार प्रणवगर्भित प्राणायाम प्रतिदिन प्रातःकाल दुपहर और सायङ्काल के समय दश २ वार जो पुरुष करता है वह एक मास के पहिले

निलः ॥ ३५ ॥ हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ॥ ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्नि-
द्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ३६ ॥ कर्णिकायां न्यसेत्सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ॥ व-
ह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ॥ ३७ ॥ समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचा-
रुचतुर्भुजम् ॥ सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥ ३८ ॥ समानकर्ण-
विन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥ ३९॥
शंखचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ॥ नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्
॥ ४० ॥ द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ॥ सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमु-
खेक्षणम् ॥ ४१ ॥ सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥ इन्द्रियाणीन्द्रिया-
र्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ॥ बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः
॥ ४२ ॥ तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ॥ नान्यानि चिन्तयेद्भूयः

ही प्राणवायु को जीतनेवाला होता है ॥ ३५ ॥ देह में ऊपर को दण्डी और नीचे को मुखवाला केले की फूल की समान मुँदाहुआ एक हृदयकमल है उस का विपरीत ध्यान करे अर्थात्, नीचे को दण्डी और ऊपर को मुख है तथा खिलाहुआ अष्टदल और कर्णिकायुक्त है ऐसा ध्यान करे ॥ ३६ ॥ उस कर्णिका में एक के ऊपर एक इस क्रम से मण्डलाकार सूर्य चन्द्रमा और अग्नि है ऐसा ध्यान करे, तदनन्तर अग्नि में आगे कहे-हुए ध्यान के विषय मेरे स्वरूप का चिन्तवन करे ॥ ३७॥ उस स्वरूप के विशेषण कहते हैं कि—यथोचित अङ्गोंवाला, शान्त, सुन्दरमुख से युक्त, घुटनोंपर्यन्त लम्बी चार भुजाओं से शोभायमान, अतिरमणीय, सुन्दर कण्ठ और कपोलों से विराजमान, स्वच्छ मन्दहास्य से शोभायमान ॥ ३८ ॥ एकसमान कानों में पहिनेहुए दमकतेहुए मकराकार कुण्डलों से युक्त, सुवर्ण की समान पीला पीताम्बर पहिनेहुए, मेघ की समान श्यामवर्ण, वक्षःस्थल पर दक्षिण की ओर श्रीवत्सलाञ्छन और बाईं ओर लक्ष्मी के आश्रय ॥ ३९ ॥ शंख, चक्र, गदा, पद्म और वनमाला से विभूषित, नूपुरों से शोभित चरणोंवाला, कौस्तुभमणि की कान्ति से युक्त ॥४०॥ मस्तक पर देदीप्यमान किरीटवाला, हाथों में कड़े तोड़े, कमर में तागड़ी, भुजदण्डों पर धारण करेहुए बाजूबन्दों से युक्त, सकल अवयवों से सुन्दर, मनोहर, प्रफुल्लित हुए मुख वा नेत्रों से युक्त ॥ ४१ ॥ और सुकुमार मेरे स्वरूप का, मेरे चरण से लेकर मस्तकपर्यन्त के अवयवों में मन लगाकर ध्यान करे इस सविशेष ध्यान को करके, फिर शब्दादि विषयों से इन्द्रियों को मन से खैंचकर, धीर-जवान् पुरुष, उस सङ्कल्पविकल्पात्मक मन को भी, सहायभूत निश्चयात्मक बुद्धि के द्वारा सर्वाङ्गयुक्त मेरे विषैं स्थापन करे ॥ ४२ ॥ तदनन्तर उस सर्वाङ्गव्यापक चित्त को, सब अङ्गों से खैंचकर एक ही अवयव में स्थापन करे, फिर दूसरे अवयव का चिन्तवन न करे

सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ ४३ ॥ तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ॥ तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ४४ ॥ एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ॥ विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ ॥ ४५ ॥ ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युंजतो योगिनो मनः॥ संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ ४६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ॥ मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥१॥ उद्धव उवाच ॥ कया धारणया कास्वित् कथं वा सिद्धिरच्युत ॥ कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ॥ तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३ ॥ अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ॥ प्राकाश्यं श्रुतदृ-

किन्तु मन्दहास्ययुक्त मुख का ही ध्यान करे ॥ ४३ ॥ फिर उस मुख में स्थिरता पायेहुए चित्त को सब के कारणरूप मेरे विषैं स्थापन करे फिर उस कारणत्त्व आदि को छोडकर ब्रह्मरूप मेरे विषैं भक्त के आरूढ होनेपर ध्याता, ध्यान, ध्येय इन में से किसी विभाग का चिन्तवन न करे ॥ ४४ ॥ इसप्रकार समाधिपर्यन्त ध्यान करनेवाला पुरुष, मेरे विषैं निश्चल बुद्धि हो जाय तो मुझे अपने में देखता है और अपने आत्मा को, जैसे दीपक आदि का तेज महाभूतरूप तेज में लीन होजाता है तैसे ही सर्वात्मा मेरे विषैं एकता रूप से संयुक्तहुआ देखता है ॥ ४५ ॥ इसप्रकार अत्यन्त तीव्र ध्यान से मन की एकाग्रता करनेवाले योगी का अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्मरूप अथवा द्रष्टा–दर्शन–दृश्यरूप भ्रम तत्काल नाश को प्राप्त होजाता है ॥ ४६ ॥ इतिश्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् कहते हैं कि–हे उद्धवजी ! श्वास वायु और इन्द्रियों का जय करनेवाले तथा मेरे विषैं चित्त को स्थापन करनेवाले योगी को बहुतसी सिद्धियें प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥ उद्धवजी ने कहाकि–हे श्रीकृष्णजी ! कौनसी धारणा से कौन से नाम की किसप्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है और वह सब सिद्धियें कितनी हैं ? यह मुझ से कहो, क्योंकि–तुम योगियों को सिद्धि देनेवाले हो ॥ २ ॥ तब श्रीभगवान् कहनेलगे कि–हे उद्धवजी ! योग के पारगामी पुरुषों ने अठारह सिद्धि और उन की अठारह धारणा कही हैं, इस से त्रिकालज्ञत्त्व आदि क्षुद्र सिद्धियों को दूसरे भी पुरुष जानते हैं ऐसा सिद्धहुआ, उन अठारह में से आठ सिद्धियें मुख्यता से मेरा ही आश्रय करके रहती हैं, वह मेरे सारूप्य को प्राप्तहुए पुरुषों में मुझ से कुछ कम अंश करके रहती हैं और दश सिद्धियें सत्त्वगण की वृद्धि से प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥ तिन में १ पहिली

ष्टेषु शक्तिभेरणमीशिता ॥ ४ ॥ गुणेष्वसंगो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ॥ एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मता ॥ ५ ॥ अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम् ॥ मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सह क्रीडानुदर्शनम् ॥ यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहतागतिः ॥ ७ ॥ त्रिकालज्ञत्वमद्वंद्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ॥ अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टंभोऽपराजयः ॥ ८ ॥ एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ॥ यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥ भूतसूक्ष्यात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ॥ अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥ १० ॥ महत्यात्मन्मयि परे यथासं-

अणिमा, (बडे शरीर से ही एकसाथ सूक्ष्म होजाना) २-री महिमा, (सूक्ष्म शरीर से ही एक साथ बडा होजाना) ३-री लघिमा, (भारी शरीर से ही हलका होजाना) यह तीन सिद्धियें शरीर की हैं; ४-थी प्राप्ति, (सकल प्राणियों की इन्द्रियों के साथ उन के अधिष्ठातृ देवतारूप से सम्बन्ध), ५-वीं प्राकाश्य, (परलोक में के और इस लोक में के सब स्थानों में भोग देखने की शक्ति) ६-ठी ईशिता, (ईश्वर के विषैं माया को और दूसरों में माया के अंशों को प्रेरणा करने की शक्ति) ॥ ४ ॥ ७-वीं वशिता, (विषय भोगते में भी असङ्ग रहना) और ८-वीं प्राकाम्य, जो जो सुख पाने की इच्छा होय वह २ पराकाष्ठा का प्राप्त होना) हे उद्धवजी ! यह आठसिद्धियें मेरे विषैं स्वाभाविक और अधिकता से हैं ॥ ५ ॥ इस देह में ९-अनूर्मिमत्त्व (भूँखप्यास आदि न लगना), १०-दूरश्रवण (दूर से सुनना), ११-दूरदर्शन (दूर से देखना), १२-मनोजव (मन की समान वेग से देह की गति), १३-कामरूप (इच्छितस्वरूप की प्राप्ति) १४-परकायप्रवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), १५-स्वच्छन्दमृत्यु (अपनी इच्छा के अनुसार मृत्यु होना), १६-देवताओं के साथ क्रीडा करना (अप्सराओं के साथ देवताओं की जो क्रीड़ा होती है उन को देखना), १७-यथासङ्कल्पसिद्धि (सङ्कल्प के अनुसार प्राप्ति होना), और १८-जिस की गति कहीं भी खुटली नहीं होती ऐसी आज्ञा, यह दश सत्त्वगुण की वृद्धि से सिद्धि होती है ॥६॥७॥ त्रिकाल का ज्ञाता होना, सरदी गरमी आदि से क्लेश न पहुँचना, दूसरों के चित्त आदि को जानना, अग्नि—सूर्य—जल-विष आदि का स्तम्भन करना, और किसी स्थान पर भी तिरस्कार न पाना ॥ ८ ॥ जप योग की धारणाओं से होनेवाली मुख्य २ सिद्धियें मैंने तुम से कही हैं, अब जिस २ धारणा से जो जो सिद्धि जिस २ प्रकार की होती है सो मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ ९ ॥ शब्द स्पर्श—रूप—रस—गन्ध इन सूक्ष्मभूतों की उपासना करनेवाला जो पुरुष, शब्द स्पर्शादिरूपी मेरे विषैं तदाकार हुए मन को धारण करता है वह मेरी अणिमानामवाली सिद्धि को पाता है ॥ १० ज्ञानशक्तिमान् महत्तत्वरूपी मुझ

स्थं मनो दधत् ॥ महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥ परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ॥ कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥ धारयन्मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ॥ सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥ १३ ॥ महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ॥ प्राकाश्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥ १४ ॥ विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे ॥ स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥ १५ ॥ नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते ॥ मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥ १६ ॥ निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः ॥ परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥ १७ ॥ श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ॥ धारयन् श्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥ १८ ॥ मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा

परमेश्वर के विषैं महत्तत्त्वाकार हुए मन की धारणा करनेवाला पुरुष, महिमा नामवाली सिद्धि को पाता है और आकाशादि महाभूतरूपी मेरेविषैं मनकी धारणा करनेवाला पुरुष, तिस २ महाभूत की महिमा को पाता है ॥ ११ ॥ वायु आदि पञ्चमहाभूतों के परमाणुस्वरूप मेरेविषैं मन की धारणा करनेवाला योगी, काल की परमाणुरूप स्थिति लघिमानामक सिद्धि को पाता है ॥ १२ ॥ सात्विक अहङ्काररूप मेरेविषैं एकाग्रहुए मन की धारणा करनेवाला मेरा उपासक, सकल प्राणिमात्र की इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करने की शक्तिरूप प्राप्तिनामवाली सिद्धि को पाता है ॥ १३ ॥ क्रियाशक्ति प्रधान जो महत्तत्त्व वही सूत्र है तद्रूपी मेरे विषैं जो मन की धारणा करता है वह, उस सूत्रोपाधिक मेरे सर्वोत्तम ब्रह्माण्ड में की ज्ञानरूप प्राकाश्यनामक सिद्धि को पाता है ॥ १४ ॥ त्रिगुणमयी माया के नियन्ता, कालरूपी और अन्तर्यामी विष्णु के विषैं जो चित्त की धारणा करेगा वह देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण के समूहरूप देहों की और जीवों की प्रेरणा करनेवाली सामर्थ्यरूप ईशिता नामक सिद्धि को पावेगा ॥ १५ ॥ विराट्, हिरण्यगर्भ और कारण इन तीन उपाधियों से रहित अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के साक्षी तुरीयनामक, पूर्ण–ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्य युक्त मुझ नारायण में, मेरी उपासना से एकाग्रहुए मन को, धारण करनेवाले और मेरे धर्म को पालनेवाले योगी को, विषयों में अनासक्तिरूप वशिता नामवाली सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १६ ॥ मुझ निर्गुण ब्रह्म के विषैं स्वच्छ मन को लगानेवाला योगी, परमानन्दरूप प्राकाम्यनामक सिद्धि को पाता है, इस सिद्धि में सब प्रकार के मनोरथ पूरे होते हैं ॥ १७ ॥ शुद्ध सत्त्वगुणी, धर्ममय, श्वेतद्वीप के पति (अनिरुद्धरूप) मेरे विषैं मन की धारणा करनेवाला योगी, शुद्ध होकर, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु इन धर्मों से रहित होने की अनूर्मिमत्व सिद्धि को पाता है ॥ १८ ॥ आकाशरूप अर्थात्

घोषमुद्वहन् ॥ तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥ १९ ॥ चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ॥ मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ॥ २० ॥ मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ॥ मद्धारणाऽनुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥ २१ ॥ यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति ॥ तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥ २२ ॥ परकायं विशन्सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ॥ पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥ २३ ॥ पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ॥ आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥ २४ ॥ विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ॥ विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥ २५ ॥ यथा

आकाश की समान निर्मल और सर्वव्यापक, जगत् के समष्टि प्राणरूप मेरे विषैं मन से नाद का चिन्तवन करनेवाला यह जीव, उस आकाश में सकल प्राणियों की विचित्रवाणियों को सुनना रूप दूरश्रवण सिद्धि को पाता है ॥ १९ ॥ आदित्य को चक्षु इन्द्रिय में और आदित्य में चक्षु को संयुक्त करके उन दोनों के संयोग में मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष, सूक्ष्म दृष्टि होकर सब जगत् को देखता है अर्थात् दूरदर्शननामक सिद्धि को पाता है ॥ २० ॥ मन और देह दोनों को देह में रहनेवाले प्राण वायु के साथ मेरे में भली प्रकार से संयुक्त करके मेरी धारणा करने पर, उस धारणा के प्रभाव से जहां उस का मन जाता है तहाँ ही देह भी जापहुँचता है अर्थात् उस को मनोजवरूप सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २१ ॥ अचिन्त्यशक्ति और अनेकप्रकार के आकार धारण करनेवाले मुझ में जो मन की धारणा करी जाती है तो उस के बल के आश्रय से यह योगी, जब मन को उपादान कारण बनाकर जिस २ देवादिरूप को प्राप्त होने की इच्छा करता है तिस २ मन के इच्छितरूप को पानारूप प्राकाम्यसिद्धि को पाता है ॥ २२ ॥ पराई काया में प्रवेश करनेवाला सिद्ध, उस काया में अपने आत्मा का चिन्तवन करे और अपने स्थूल देह को छोड़कर लिङ्गशरीररूप उपाधि के साथ वायु के मार्ग से, जैसे भौंरा एक फूल से दूसरे फूलपर जाता है तैसे पराई काया में प्रवेश करे; यह परकायप्रवेशन नामवाली सिद्धि है ॥ २३ ॥ योगी, पैर की एडी से गुदा के द्वार को रोककर, प्राण उपाधिवाले आत्माको क्रम से हृदय, उर, कण्ठ और मस्तक में चढाकर ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा ब्रह्म में अथवा मन के द्वारा दूसरे इच्छित स्थान में लेजाकर स्थूलशरीर का त्याग करदेय, यह स्वच्छन्दमृत्यु नामवाली सिद्धि है ॥ २४ ॥ जहाँ देवता क्रीडा करते हैं ऐसे विमानादिकों में अप्सराओं के साथ क्रीडा करने की इच्छा करनेवाला पुरुष, मेरी मूर्तिरूप शुद्ध सत्त्वगुण का ध्यान करे तो, सत्त्वगुण की अंशरूप अप्सरा, विमानों सहित उस के समीप आजाती हैं, यह देवक्रीडानुदर्शन नामवाली

संकल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् ॥ मयि सत्ये मनो युंजंस्तथा तत्समु-
पाश्नुते ॥ २६ ॥ यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ॥ कुतश्चिन्न वि-
हन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥ २७ ॥ मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धा-
रणाविदः ॥ तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥ २८ ॥ अग्न्यादिभिर्न
हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ॥ मद्योगश्रांतचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥
॥ २९ ॥ मद्विभूतीरभिध्यायञ्श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ॥ ध्वजातपत्रव्यजनैः स
भवेदपराजितः ॥ ३० ॥ उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ॥ सिद्धयः
पूर्वकथिता उपतिष्ठंत्यशेषतः ॥ ३१ ॥ जितेंद्रियस्य दांतस्य जितश्वासात्मनो
मुनेः ॥ मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥ अन्तरायान्वदं-

सिद्धि है ॥ २५ ॥ मेरी आराधना करने में तत्पर हुआ पुरुष, मुझ सत्यसङ्कल्प में मन की धारणा करके, जब जैसी वस्तु का बुद्धि से सङ्कल्प करेगा उसीसमय वैसी ही वस्तु उस को उत्तमता से प्राप्त होगी, यह यथासङ्कल्प सिद्धि है ॥ २६ ॥ जो पुरुष, ध्यानयोग के द्वारा, मुझ सर्वनियन्ता स्वतन्त्र के स्वभाव से एकता को प्राप्त हुआ है उस की आज्ञा को, मेरी आज्ञा की समान कोई भी नहीं टालता है, यह अप्रतिहताज्ञा नामवाली सिद्धि है, यह दश सिद्धियें गुणनिमित्तक हैं ॥२७॥ अब त्रिकालज्ञत्व आदि क्षुद्र सिद्धियों का वर्णन करते हैं—मेरी भक्ति से शुद्धचित्त हुआ और मेरी धारणा को जाननेवाला जो पुरुष होगा उस को, तीनों काल को जानने की तथा अपने जन्ममरण को जानने की त्रिकालज्ञत्व नामक सिद्धि प्राप्त होती है और इस धारणा से ही दूसरे के चित्त आदि को जानने की, परचित्ताद्यभिज्ञता नामक सिद्धि प्राप्त होती है ॥२८॥ अग्नि सूर्य आदि उपाघातों से रहित मेरी धारणा से शान्तचित्त हुए मुनि का, प्राणायाम आदि योगसाधनों से वश में कराहुआ शरीर, जैसे मत्स्य आदि जलजन्तुओं का शरीर जल से किसीप्रकार भी नाश को नहीं प्राप्त होता है तैसे ही, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकों से किसीप्रकार नाश को नहीं प्राप्त होता है ; इस ही धारणा से अद्वन्द्वता (शीत उष्णादि से तिरस्कार न पाना) सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २९ ॥ श्रीवत्सलाञ्छनादि चिन्ह, चक्र आदि आयुध, और ध्वजा छत्र चँवर आदि राजचिन्ह, इन से भूषित मेरे अवतारों का जो पुरुष ध्यान करता है वह सब स्थानों में जय पाता है, यह अपराजय नामक सिद्धि है ॥३०॥ इसप्रकार जुदी २ योग धारणा से मेरी उपासना करनेवाले मुनि को, पहिले कहीहुई सब सिद्धियें प्राप्त होती हैं ॥ ३१ ॥ अथवा अनेक धारणा करने के परिश्रम की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—इन्द्रियें, मन और प्राणवायु का जय करनेवाले और पहिले वशिता नामवाली सिद्धि के प्रकरण में कहेहुए तुरीय नामक भगवान् नारायण के विषै मन की धारणा करनेवाले मुनि को, कौनसी सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ है ? अर्थात् उस एक धारणा से

त्येतां युंजतो योगमुत्तमं॥मया संपद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥३३॥जन्मौषधितपो-
मंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः॥ योगेनाप्नोति ताः सर्वा ना- न्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥
सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ॥ अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य
ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३५ ॥ अहमात्मांतरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनां ॥ यथा भू-
तानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥ ३६ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एका-
दशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ छ ॥ उद्धव उवाच॥
त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यंतमपावृतं ॥ सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययो-
द्भवः ॥ १ ॥ उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ॥ उपासते त्वां भगव-
न्याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥ येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ॥
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे ॥३॥ गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां

ही उस को सब सिद्धियें प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥ यद्यपि ऐसा है तथापि उन सिद्धियों की चाहना न करे, क्योंकि—उत्तम योग (मेरी उपासना) करनेवाले और मेरी शीघ्र प्राप्ति करलेने के अधिकारी योगी को, यह सिद्धियें मेरी प्राप्ति के होने के मध्य में जन्मभोगादि करके कालक्षेप का कारण होती हैं अर्थात् यह विघ्नरूप हैं ऐसा वृद्ध पुरुष कहते हैं ॥ ३३॥ इस जगत् में, जन्म, ओषधि, तप और मन्त्रों से जितनी सिद्धियें प्राप्त होती हैं, उन सब ही सिद्धियों को, पहिले कहेहुए तुरीय नारायण की भावना से योगी पाता है परन्तु केवल जन्म ओषधिमात्र साधनों से वह मेरे सालोक्य आदिरूप सिद्धि को नहीं पाता है ॥ ३४॥ मैं सब सिद्धियों का देनेवाला और उन की रक्षा करनेवाला प्रभु हूँ और केवल इतना ही नहीं किन्तु-मोक्ष का और मोक्ष के साधन ज्ञान का तथा धर्म का और धर्म का उपदेश करनेवाले साधुओं का भी प्रभु हूँ ॥ ३५ ॥ इस का कारण यह है कि—जैसे पञ्चमहाभूत, जरायुज आदि चार प्रकार के प्राणियों के शरीरों में भीतर और बाहर व्याप्त हैं तैसे ही, सकल जीवों का अन्तर्यामी आत्मा मैं भी सबों के भीतर और बाहर व्यापक होकर अपरिच्छिन्न हूँ ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥
उद्धवजी ने कहा कि- हे श्रीकृष्णजी ! आदि अन्त और आवरण से रहित तुम साक्षात् परब्रह्म हो और सब प्राणियों की जीविका चलानेवाले तथा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले तुमही हो ॥ १ ॥ हे भगवन् ! जिन्होंने अपना मन नहीं जीता है वह, जानने में नहीं आतेहुए भी तुम्हें, वेद का अभिप्राय जाननेवाले ब्राह्मण, छोटेबड़े पदार्थों में यथार्थ रूप से जानकर तुम्हारी उपासना करते हैं ॥ २ ॥ वह विवेकी ब्राह्मण, जिन २ पदार्थों में भक्ति से तुम्हारी उपासना करतेहुए मोक्ष पाते हैं सो मुझ से कहो ॥ ३ ॥ हे

भूतभावन॥न त्वां पश्यन्ति भूतानिपश्यन्तं मोहितानि ते॥४॥याः काश्च भूमौ
दिवि वै रसायां विभूतयो दिक्षु महाविभूते ॥ ता मह्यमाख्याह्यनुभाविता-
स्ते नमामि ते तीर्थपदांघ्रिपद्मं॥श्रीभगवानुवाच॥एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्न-
विदां वर।युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ।६।ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्य
हेतुकं॥ ततो निवृत्तो हंताऽहं हतोऽयमिति लौकिकः॥७॥स तदा पुरुषव्याघ्रो
युक्त्या मे प्रतिबोधितः ॥ अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥
अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ॥ अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थि-
त्युद्भवाप्ययः ॥ ९ ॥ अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहं ॥ गुणानां चा-
प्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥ गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च
महानहं ॥ सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥ ११ ॥ हिरण्यगर्भो
वेदानां मंत्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ॥ अक्षराणामकारोऽस्मि पदानि छंदसामहम्॥

हेभूतपालक! सब प्राणियों के अन्तर्यामी जो तुम, सब प्राणियों में गुप्तरूप से रहरहे हो, तिन तुम्हारे मोहित करेहुए सकल प्राणी, देखनेवाले भी तुम्हें नहीं देखते हैं ॥ ४ ॥ इस से हे महाविभूते! पृथ्वीपर, स्वर्ग में, पाताल में और दिशाओं में तुम्हारी विशेष शक्ति से, तुम्हारी ही संयुक्त करीहुई जो कुछ तुम्हारी विभूतियें हैं वह सब मुझ से कहो सवतीर्थों के स्थानरूप तुम्हारे चरण कमल को मैं नमस्कार करता हूँ॥५॥ श्रीभगवान् ने कहाकि—हे प्रश्न जाननेवालों में श्रेष्ठ उद्धवजी! जैसे तुमने मुझ से प्रश्न करा है तैसेही यहप्रश्न पहिले कुरुक्षेत्र में शत्रुओं के साथ युद्ध करने की इच्छा करनेवाले अर्जुन ने मुझ से कराथा ॥ ६ ॥ वह अर्जुन, मैं मारनेवाला और यह मानवसमूह मरनेवाला है ऐसा मानकर अज्ञानी पुरुषों की समान मोहितचित्त और ज्ञातियों का वध केवल अधर्म और निन्दनीय है ऐसा जानकर तिस से हटगया था ॥ ७ ॥ तब उस पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन को उस रणभूमि में ही मैंने युक्ति से समझाया उस समय उस ने, जैसे अब तुम ने मुझ से प्रश्न करा है ऐसे ही विभूतिप्रश्न कराथा, इसकारण उस से जैसा कहा था सोई तुम से भी कहता हूँ सुनो ॥ ८ ॥ हे उद्धवजी! इनसब प्राणिमात्र का आत्मा, मित्र और ईश्वररूप से उपासना करनेयोग्य मैंही हूँ और सकल प्राणी और उन की उत्पत्ति, स्थिति संहार का कारण भी मैंही हूँ ॥ ९ ॥ गतिमान् पदार्थों की गति मैं हूँ, दूसरों को वश में करनेवालों में काल मेरा स्वरूप है, सत्व, रज और तम इनतीनों गुणों की जो समतारूप अवस्था (प्रकृति) सो मैं हूँ, पदार्थों में जो मधुरता आदि स्वाभाविक गुण है सो मैं हूँ ॥ १० ॥ सत्वादि त्रिगुणमयी पदार्थों में क्रियाशक्तिप्रधान पहिला विकार जो सूत्र सो मैं हूँ, बड़े पदार्थों में महत्तत्व मैं हूँ, सूक्ष्मपदार्थों में जीव मैं हूँ, दुर्जय पदार्थों में मन मैं हूँ ॥ ११ ॥ वेदों के सिखानेवालों में ब्रह्मा मेरी विभूति है, वेदों में अकार—उकार—मकाररूप ॐकार मैं हूँ,

॥ १२ ॥ इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ॥ आदित्यानामहं विष्णू
रुद्राणां नीललोहितः ॥ १३ ॥ ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ॥ देव-
र्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥ १४ ॥ सिद्धेश्वराणां कपिलः सु-
पर्णोऽहं पतत्रिणाम् ॥ प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥ १५ ॥ मां
विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ॥ सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्ष
सां ॥ १६ ॥ ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ॥ तपतां द्युमतां सूर्यं
मनुष्याणां च भूपतिम् ॥ १७ ॥ उच्चैःश्रवास्तुरंगाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ॥
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ १८ ॥ नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृ-
गेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ॥ आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥ १९ ॥ ती-
र्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ॥ आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनु-
ष्मताम् ॥ २० ॥ धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ॥ वनस्पतीनां-
मश्वत्थ ओषधीनामहं यवः ॥ २१ ॥ पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्प-
तिः ॥ स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः ॥ २२ ॥ यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं

अक्षरों में अकार मैं हूँ छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ ॥ १२ ॥ सब देवताओं में इन्द्र मैं हूँ, अष्टवसु नामवाले देवताओं में अग्नि मैं हूँ, बारह आदित्यों मे वामन मैं हूँ, ग्यारह रुद्रों में नीललोहित रुद्र मैं हूँ ॥ १३ ॥ ब्रह्मर्षियों में भृगु मैं हूँ, राजर्षियों में स्वायम्भुव मनु मैं हूँ, देवर्षियों में नारद मैं हूँ और धेनुओं में कामधेनु मैं हूँ ॥ १४ ॥ सिद्धेश्वरों में कपिल, पक्षियों में गरुड़, प्रजापतियों में दक्ष और पितरों में अर्यमा मैं हूँ ॥ १५ ॥ हे उद्धवजी ! दैत्यों में उन का अधिपति प्रह्लाद मैं हूँ, ऐसा जानो, नक्षत्र और ओषधिओं का राजा चन्द्रमा मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों का प्रभु कुबेर मैं हूँ ॥ १६ ॥ गजेन्द्रों में ऐरावत, जल के जीवों में उन का प्रभु वरुण, ताप देनेवालों में और कान्तिमानों में सूर्य और मनुष्यों में मैं उन का राजा हूँ ॥ १७ ॥ घोड़ों में उच्चैःश्रवा (इन्द्र का घोड़ा) और धातुओं में सुवर्ण मैं हूँ, दण्ड देनेवालों में यम, और सर्पों में वासुकि मैं हूँ ॥ १८ ॥ श्रेष्ठनागों में अनन्त मैं हूँ, सींग वा दाढ़वाले पशुओं में मैं सिंह हूँ, हे पवित्र उद्धवजी ! आश्रमों में संन्यास और वर्णों में ब्राह्मण मैं हूँ ॥ १९ ॥ तीर्थों में और स्रोतों में गङ्गा, तथा स्थिर जलाशयों में समुद्र मैं हूँ, आयुधों में धनुष, और धनुर्धारियों में त्रिपुरासुर का नाश करनेवाला महादेव मैं हूँ ॥ २० ॥ निवास के स्थानों में मेरु, और गहनस्थान में हिमालय मैं हूँ वनस्पतियों में पीपल और ओषधियों में जौ मैं हूँ ॥ २१ ॥ पुरोहितों में वसिष्ठ और वेद के अर्थ में निष्ठा रखनेवालों में बृहस्पति मैं हूँ, सब सेनापतियों में स्वामिकार्त्तिकेय, और सन्मार्ग चलानेवालों में मैं भगवान् ब्रह्मा हूँ ॥ २२ ॥ यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ

व्रतानामविहिंसनम् ॥ वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥ २३ ॥
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ॥ आन्वीक्षिकी कौशलानां
विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥ २४ ॥ स्त्रीणां तु शतरूपाऽहं पुंसां स्वायंभुवो
मनुः ॥ नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणां ॥ २५ ॥ धर्माणामस्मि सं-
न्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥ २६ ॥
संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ॥ मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां
तथाऽभिजित् ॥ २७ ॥ अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलो सितः ॥ द्वैपाय-
नोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् ॥ २८ ॥ वासुदेवो भगवतां
त्वं तु भागवतेष्वहं ॥ किंपूरुषाणां हनुमान्विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥ २९ ॥
रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसां ॥ कुशोस्मि दर्भजातीनां गव्य-
माज्यं हविःष्वहम् ॥ ३० ॥ व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ॥

और व्रतों में अहिंसाव्रत मैं हूँ, बुहारना-छीलना-घिसना आदि शुद्ध करने की रीतियों में वायु, अग्नि, सूर्य, जल और ब्राह्मणों के वचनरूप से शुद्ध करनेवाला मैं हूँ ॥ २३ ॥ अष्टाङ्गयोगों में समाधि और विजय की इच्छा करनेवालों में नीति मैं हूँ, विवेक आदि निपुणताओं में आत्मानात्मविवेकरूप ब्रह्मविद्या मैं हूँ, अख्याति अन्यथाख्याति आदि संशयवाद करनेवालों में 'यह ऐसा है अथवा ऐसा है' इसप्रकार का जो दुरन्त विकल्प सो मैं हूँ ॥ २४ ॥ स्त्रियों में स्वायम्भुवमनु की स्त्री जो शतरूपा सो मैं हूँ, पुरुषों में स्वायम्भुव मनु, मुनियों में नरनारायण और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार मैं हूँ ॥ २५ ॥ धर्मों में प्राणियों को अभय देनेवाला संन्यास, अभयस्थानों में अन्तर्निष्ठा और गुह्यों में प्रियवचन तथा मौन मैं हूँ, मिथुनों (जोड़ों) में जिस के आधे शरीर से पुरुष और आधे शरीर से स्त्री हुई वह ब्रह्मा मैं ही हूँ ॥ २६ ॥ सावधान रहनेवालों में वर्षरूप जो काल सो मैं हूँ, ऋतुओं में चैत वैशाखरूप वसन्त ऋतु, मासों में मार्गशीर्ष और नक्षत्रों में अभिजित् नक्षत्र मैं हूँ ॥ २७ ॥ युगों में सत्ययुग और धीरपुरुषों में असित तथा देवलमुनि मैं हूँ, वेदका विभाग करनेवालों में व्यास, और बुद्धिमानो में सूक्ष्मबुद्धिमान् शुक्राचार्य मैं हूँ ॥ २८ ॥ प्राणीमात्र की उत्पत्ति, लय, आना, जाना, विद्या और अविद्या इन छः को जाननेवालों में वासुदेव मैं हूँ, भगवद्भक्तों में हे उद्धवजी तुम मेरा स्वरूप हो, वानरों में हनुमान्, विद्याधरों में सुदर्शन और रत्नों में पद्मराग मैं हूँ, सुन्दरपदार्थों में कमल की कली, दर्भ की जातियों में कुशा और होम के पदार्थों में गौ का घी मैं हूँ ॥ २९ ॥ ३० ॥ उद्योगी पुरुषों में धना-दिसम्पत्ति और जुआ खेलनेवालों में कपटद्यूत मैं हूँ, सहनशीलों में सहनशीलता, और

तितिक्षाऽस्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३१ ॥ ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्त्वतां ॥ सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥ ३२ ॥ विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्॥भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥ ३३ ॥ अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः॥प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥ ३४॥ ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ॥ भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः ॥३५॥ गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ॥ आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥ ३६ ॥ पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ॥ विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्॥ अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ॥ ३७ ॥ मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ॥ सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥ ३८ ॥ संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ॥ न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि को-

धैर्यवानो में धीरज मेरी विभूति है ॥ ३१ ॥ बलवानों में देहशक्ति और इन्द्रियशक्ति मैं हूँ, तैसे ही भगवद्भक्तों में जो भक्ति के करेहुए कर्म सो मैं हूँ, भक्तों की पूजनीय वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह नृसिंह और ब्रह्मा इन नौ मूर्त्तियों में पहिली मूर्त्ति जो वासुदेव सो मेरी श्रेष्ठ विभूति है॥ ३२ ॥ गन्धर्वों में विश्वावसु और अप्सराओं में पूर्वचित्ति यह मेरी विभूति है, पर्वतों में स्थिरता और भूमि का अविकारी गन्ध गुण और जलों का मधुररस मैं हूँ, तेजस्वी पदार्थों में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, और तारों की प्रभा तथा आकाश का नादरूप सूक्ष्म शब्द मैं हूँ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणों के भक्तों में राजाबलि और वीरों में अर्जुन मैं हूँ, सकल प्राणीमात्र के उत्पत्ति स्थिति–संहार का कारण मैं हूँ ॥ ३५ ॥ गति, भाषण, मल त्यागना, ग्रहण करना, आनन्द, स्पर्श, स्वाद लेना, सुनना, सूँघना और देखना आदि दश इन्द्रियों के धर्मों में देखना मेरी विभूति है ॥ ३६ ॥ गन्ध, स्पर्श, शब्द, रस, रूप अहङ्कार और महत्तत्व इन सात प्रकृतियों की विकृति पञ्चमहाभूत, ग्यारह इन्द्रियें, अर्थात् सोलह प्रकार का विकार, जीव और प्रकृति यह पचीस तत्व, सत्व, रज, तम यह तीन गुण और परब्रह्म यह सब मैं ही हूँ, इन तत्वों की गिनती, इन का लक्षणपूर्वक ज्ञान तिस का फल और तत्त्वनिश्चय यह सब मैं ही हूँ ।, ३७ ।। जो जीव-ईश्वररूप दोप्रकार का भेद है, तैसे ही जो गुणगुणी रूप और क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपभेद है सो सब ही मेरेविना कुछ नहीं है अर्थात् सर्वरूप मैं ही हूँ ॥३८॥ मैं बहुतसे समय में पृथिवी आदिकों के परमाणुओं की गिनती करसक्ता हूँ परन्तु करोडों ब्रह्माण्डों को रचनेवाले मेरी विभूतियों की गिनती नहीं होसक्ती, जब मेरे रचेहुए ब्रह्माण्डों की ही गिनती नहीं होसक्ती तो उन में की विभूतियों की गिनती

टिशः ॥३९॥ तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ॥ वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥ ४० ॥ एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः ॥ मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥ ४१ ॥ वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्यच्छेन्द्रियाणि च ॥ आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥ ४२ ॥ यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन्धिया यतिः ॥ तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ४३ ॥ तस्मान्मनोवचःप्राणान्नियच्छेन्मत्परायणः ॥ मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥ ४४ ॥ इतिश्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ छ ॥ उद्धव उवाच ॥ यस्त्वयाऽभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ॥ वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥ यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ॥ स्वधर्मेणारविंदाक्ष तत्समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥ पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो॥

कैसे की जासक्ती है ? ॥ ३९ ॥ जहाँ २ प्रभाव, सम्पत्ति, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, दान, सुन्दरता, भाग्य, बल, सहनशक्ति और विज्ञान यह गुण हैं उस २ को मेरा अंश जानो ॥४०॥ हे उद्धवजी ! यह सब विभूतियें मैंने तुम से संक्षेप से कही हैं, यह मेरे विषैं चित्त लगाने के निमित्त ही कल्पना करके कही हैं इसकारण इन के ऊपर ही अधिकता से चित्त को न लगावे, क्योंकि—यह सब मन के विकार हैं और जैसे आकाशपुष्प, खरगोश के सींग, आदि पदार्थ केवल कहनेमात्र में आते हैं तैसे ही इन विभूतियों को समझे, परमसत्य तो केवल ईश्वर ही है ॥ ४१ ॥ इसकारण तुम वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियों को वश में करलो तथा अपनी बुद्धि का निग्रह, सत्त्वगुणयुक्त तिस बुद्धि से ही करो तो फिर संसारमार्ग में नहीं पड़ोगे ॥ ४२ ॥ जो संन्यासी अपनी बुद्धि से, उत्तम प्रकार वाणी और मन का निग्रह नहीं करता है, उस के व्रत, तप और ज्ञान, जैसे मट्टी के कच्चे घड़े में का जल धीरे २ निकलजाता है तैसे नष्ट होजाते हैं ॥ ४३ ॥ इस से मेरे विषैं तत्पर रहनेवाला योगी, मेरी भक्तियुक्त अपनी बुद्धि से अपने मन, वाणी और प्राण का निग्रह करे तो कृतकृत्य होता है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में षोडश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे श्रीकृष्णजी ! वर्णों के और आश्रमों के धर्मों का आचरण करनेवालों को तथा वर्णाश्रम के धर्मों से रहित सकल द्विपाद (दो पैरवाले) मनुष्यों को, तुम्हारी भक्ति प्राप्त होने का साधन जो धर्म तुमने पहिले, युग के प्रारम्भ में कहा है सो जैसा कर्म करने पर मनुष्यों की तुम में भक्ति होय तैसा वह धर्म और उस के आचरण की रीति मुझ से आप को कहना योग्य है ॥ १ ॥ २ ॥ हे महाबाहो ! हे शत्रुदमन ! हे

यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३ ॥ सः इदानीं सुमहता काले ना- मित्रकर्शन ॥ न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥ वक्ता कर्ताऽवि- ता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ॥ सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥ कर्त्राऽवित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ॥ त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥ तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ॥ यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥ श्रीशुक उवाच ॥ इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः ॥ प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ॥ वर्णाश्रमाचार- वतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥ आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ॥ कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥ १० ॥ वेदः प्रणव एवाग्रे ध- र्मोऽहं वृषरूपधृक् ॥ उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥ ११ ॥

प्रभो ! हे माधव ! निःसन्देह परमसुखरूप जो धर्म, तुम ने पहिले हंसरूप से ब्रह्माजी को कहा था, वह पहिले कहाहुआ भी धर्म, बहुतसा समय बीतजाने के कारण लुप्तसा होगया है सो अब ही प्रायः उस का प्रचार नहीं है तो आगे को क्या होगा ? ॥ ३ ॥ ४ ॥ हे अच्युत ! क्योंकि—तुम से दूसरा पुरुष, इस भूमिपर अथवा जहाँ देवतादिक भी मूर्तिमान् हैं उस ब्रह्माजी की सभा में भी, इस भक्ति के साधनरूप धर्म को कहनेवाला, करनेवाला और रक्षा करनेवाला कोई नहीं है ॥ ५ ॥ तिस से हे मधुसूदनदेव ! धर्म का आचरण करनेवाले, रक्षा करनेवाले और कहनेवाले तुम, इस भूतल का त्याग करके चलेजाओगे तो नष्टहुए उस धर्म को कौन कहेगा ? ॥ ६ ॥ इस से हे सब धर्मों के जाननेवाले प्रभु श्रीकृष्णजी ! तुम्हारी भक्ति उत्पन्न करनेवाला वह धर्म, हम मनुष्यों में जिस २ वर्ण, धर्म के अधिकारी को जैसा २ कहा है सो तुम मुझ से वर्णन करो ॥ ७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! ऐसे, भगवत्सेवकों में मुख्य उद्धवजी के प्रश्न करने पर वह भगवान् श्रीकृष्णजी, प्रसन्न होकर मनुष्यों के कल्याण के निमित्त पुरातनधर्म कहनेलगे ॥ ८ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी तुम्हारा यह प्रश्न धर्मयुक्त और वर्णाश्रम धर्म का आचरण करने- वाले मनुष्यों में भक्ति उत्पन्न करनेवाला है इस से वह धर्म ही तुम से कहता हूँ, तुम मुझ से सुनो ॥ ९ ॥ कल्प के आरम्भ में सत्ययुग में मनुष्यों का हंस नामवाला एक ही वर्ण था, क्योंकि—उससमय सब प्रजा, जन्म लेकर स्वभाव से ही कृतकृत्य थी, इसकारण उस को कृतयुग कहते हैं ॥ १० ॥ तिस कृतयुग में वेद ॐकाररूप ही था, और धर्म भी वृषभ का रूप धारण करनेवाला चार चरणवाला मैं ही था; दूसरे यज्ञादि धर्म कुछ नहीं थे, इसका- रण उस युग में सब तपस्वी और निष्पाप होतेहुए मन की एकाग्रता से शुद्ध हंसरूप मेरी

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ॥ विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं
त्रिवृन्मखः ॥ १२ ॥ विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ॥ वैराजात्पुरुषा-
ज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥ गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम॥
वक्षःस्थानाद्वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ॥ १४ ॥ वर्णानामाश्रमाणां
च जन्मभूम्यनुसारिणीः ॥ आसन्प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ १५॥
शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षांतिरार्जवम् ॥ मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृ-
तयस्त्विमाः ॥ १६ ॥ तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ॥ स्थैर्यं
ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ १७ ॥ आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदंभो
ब्रह्मसेवनं ॥ अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ।१८। शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां
चाप्यमायया ॥ तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥ अशौचमनृतं स्तेयं
नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ॥ कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनां ।२०। अहिंसा

ध्यानरूप उपासना करते थे ॥ ११ ॥ तदनन्तर हे महाभाग उद्धवजी ! त्रेतायुग के आरम्भ में विराट्रूपी मेरे हृदय से, श्वासवायुरूप से ऋक्, यजु और साम यह वेदरूपी विद्या प्रकट हुई, उस से होता, अध्वर्यु और उद्गाता इन तीन ऋत्विजों के कर्मों से युक्त यज्ञ उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ विराट्पुरुषरूप मेरे—मुख, बाहु, जंघा और चरणों से क्रम करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चारवर्ण उत्पन्नहुए, वह अपने २ धर्म से परस्पर निराले समझेजाते हैं ॥ १३ ॥ विराट्रूपी मेरे कमर के अगले भाग से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थल के नीचे के भाग से वानप्रस्थ और मस्तक से संन्यास यह चार आश्रम उत्पन्नहुए ॥ १४ ॥ मनुष्यों के वर्णों के आश्रमों के स्वभाव, जन्मभूमियों के अनुसार हुए हैं अर्थात् मेरे मुख आदि उत्तम अङ्गों से उत्पन्नहुए ब्राह्मणादिकों के उत्तम स्वभाव और निकृष्ट अङ्गों से उत्पन्न हुओं के निकृष्ट स्वभाव हुए हैं ॥ १५ ॥ शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, सरलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य यह ब्राह्मणों के स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥१६॥ प्रताप, बल, धीरता, शूरता, दीनों के अपराध सहना, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्राह्मणों की भक्ति और ऐश्वर्य यह क्षत्रियों के स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥१७॥ गुरु शास्त्र आदि पर श्रद्धा, दान में निष्ठा, निस्कपटपना, ब्राह्मण की सेवा, और धन की वृद्धि होने पर भी असन्तोष यह वैश्य के लक्षण हैं ॥१८॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निस्कपटभाव से सेवा करना, और उस सेवा में जो मिले उस से ही सन्तुष्ट रहना, यह शूद्र के स्वभावसिद्ध धर्म हैं ॥१९॥ अपवित्रता, मिथ्या बोलना, चोरी करना, नास्तिकपना, निष्कारण कलह करना, काम, क्रोध और अतिलोभ यह चाण्डाल आदिकों का

सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ॥ भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ २१ ॥
द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ॥ वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत
चाहुतः ॥ २२ ॥ मेखलाऽजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ॥ जटिलोऽधौतद-
द्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत् ॥ २३ ॥ स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥ २४ ॥ रेतो नावकिरेज्जातु
ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ॥ अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥ २५ ॥
अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुरान् शुचिः ॥ समाहित उपासीत सन्ध्ये च यत-
वाग् जपन् ॥ २६ ॥ आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ॥ न म-
र्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ २७ ॥ सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै
निवेदयेत् ॥ यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥ २८ ॥ शुश्रूषमाण आ-

स्वभाव है ॥ २० ॥ अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, काम-क्रोध-लोभ का त्याग और प्राणीमात्र का प्रिय तथा हित करने का उद्योग, यह सब लोकों का साधारण धर्म है ॥ २१ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में के पुरुष, गर्भाधान आदि संस्कारों के क्रम से यज्ञोपवीत नामक दूसरा जन्म होने पर, जितेन्द्रियपने से, गुरु के घर रहें और गुरु के बुलाकर कहने पर वेद को पढें और उस के अर्थ का विचार भी करें ॥ २२ ॥ वह ब्रह्मचारी मेखला, कालीमृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष की माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और कुश धारण करके, तेलमलना आदि छोडकर जटाधारी रहे, दाँतघिसना और वस्त्र धोकर विशेष स्वेत रखना, बैठने का आसन आदि कौतुक से रँगवाना, यह न करे ॥ २३ ॥ स्नान, भोजन, होम, जप और मलमूत्र का त्याग करते समय मौनव्रत धारण करे, नख न काटे बगल और उपस्थ के रोमों को न काटे ॥ २४ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतधारी, जानकर वीर्यपात कभी न करे, कभी अपनेआप वीर्यस्खलित होजाय तो जल में स्नान करके, प्राणायाम करके गायत्रीमंत्र का जप करे ॥ २५ ॥ सावधान और पवित्र रहकर दोनों संध्या के समय और जप करते में मौन धारण करके अग्नि की होमादि से, सूर्य की अर्घ्यदान से, गुरु की नमस्कार आदि से, गौ की तृण आदि से, ब्राह्मण की आदरसत्कार से, शास्त्रोपदेश करनेवाले गुरु की उपकार को स्मरण करने से और देवताओं की गन्धपुष्पादि सामग्रियों से उपासना करे ॥ २६ ॥ अपने गुरु को मेरा स्वरूप अर्थात् साक्षात् ईश्वर हैं ऐसा जाने, कभी उन का तिरस्कार न करे, और यह मनुष्य हैं ऐसा जानकर उन के गुणों में कभी दोष न लगावे, क्योंकि—गुरु सर्वदेवमय है ॥ २७ ॥ सायङ्काल और प्रातःकाल के समय भिक्षा मांगकर लायाहुआ अन्न उन गुरु को अर्पण करे, और भी जो कुछ (वस्त्र-पात्र आदि) मिलें वह भी उन को ही अर्पण करे, उन गुरु के भोजन के निमित्त बतायेहुए ही

चार्यं सदोपासीत नीचवत् ॥ यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृतांजलिः ॥२९॥ एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः ॥ विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखंडितम् ॥ ३० ॥ यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम् ॥ गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥ ३१ ॥ अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ॥ अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥ ३२ ॥ स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ॥ प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥ ३३॥ शौचमाचमनं स्नानं संध्योपासनमार्जवम् ॥ तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥ ॥ ३४ ॥ सर्वाश्रमप्रयुक्तोयं नियमः कुलनंदन ॥ मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥३५॥ एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥ ३६ ॥ अथानंतरमावेक्ष्यन्यथा जिज्ञासितागमः ॥

अन्न आदि का सन्तोष के साथ सेवन करे ॥ २८ ॥ गुरु की शुश्रूषा करनेवाला वह ब्रह्मचारी निरन्तर, गुरु कहीं जायँ, सोवें, बैठें, और खड़े रहें तो उस समय बहुत समीप नम्रता से रहकर उनकी शुश्रूषा करे ॥ २९ ॥ ऐसा वर्त्ताव रखकर भोगरहित हुआ ब्रह्मचारी, अपने पढ़ने की समाप्ति पर्यन्त, अविच्छिन्न ब्रह्मचर्य धारण करके गुरु के घर वासकरे ॥ ३० ॥ यदि वह ब्रह्मचारी, जहाँ मूर्त्तिमान् वेद हैं तिस ब्रह्मलोक में जानेकी इच्छा करे तो,मरणपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अपना शरीर,अधिक अध्ययन के निमित्त वा करेहुए अध्ययन के पलटे में गुरु को अर्पण करदेय ॥ ३१ ॥ और वेदाभ्यास से प्राप्तहुए तेजको धारण करनेवाला और निष्पाप हुआ वह सर्वत्र समबुद्धि रखकर अग्नि, गुरु, जीवात्मा और सब प्राणियों में मुझ परमात्मा की उपासना करे ॥ ३२ ॥ गृहस्थाश्रम को ग्रहण न करनेवाला ब्रह्मचारी, कामबुद्धि से स्त्रियों की ओर को देखना उन का स्पर्श, उन से भाषण, और उन से हास्य आदि करने का त्याग करे और मैथुन करनेवाले पशु—पक्षियों की ओर को भी न देखे ॥३३॥ वह, शौच,आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप करता रहै और स्पर्श न करनेयोग्य का स्पर्श, अभक्ष्य का भक्षण तथा वार्त्ता न करनेयोग्य से वार्त्ता न करे ॥ ३४ ॥ हे कुल को आनन्द देने वाले उद्धवजी ! यह कहेहुए शौचादि नियम, मन—वाणी और देह का निग्रह तथा सब प्राणीमात्र में मेरी भावना यह धर्म सब आश्रमों को विहित हैं ॥ ३५ ॥ ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करनेवाला और अग्नि की समान तेज का पुँज जो ब्राह्मण, वह यदि निष्काम होयतो तीव्रतप के प्रभाव से उस का अन्तःकरण (लिङ्गशरीर) भस्म होकर स्वच्छ होतेही वह मेरा भक्त होजाता है ॥ ३६ ॥ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने

गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद्गुर्वनुमोदितः ॥ ३७ ॥ गृहं वनं वोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः ॥ आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत् ॥ ३८ ॥ गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ॥ यवीयसीं तु वयसा यां सवर्णामनुक्रमात् ॥ ३९॥ इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ॥ प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥ ४० ॥ प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ॥ अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥ ४१ ॥ ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते॥कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानंतसुखाय च ॥ ४२॥शिलोंछवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ॥ मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्नातिप्रसक्तः

वाला और गुरु से ठीक २ वेद के अर्थ को जाननेवाला, गुरु को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से उबटन तैल मलना आदि करके समावर्त्तन नामक स्नान करे ॥ ३७ ॥ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण, सकाम होयतो गृहस्थाश्रम को स्वीकार करे, किन्तु उस को केवल अन्तःकरण शुद्ध होने की इच्छा होयतो वह वनमें प्रवेश करे, शुद्धचित्त होयतो संन्यास धारण करे अथवा एक के अनन्तर दूसरा उस के अनन्तर तीसरा इसप्रकार आश्रम को स्वीकार करै, मेरी पूर्ण भक्ति प्राप्त नहुई होयतो विना किसी आश्रम के नरहे और वानप्रस्थ से गृहस्थ ऐसे उलटे आश्रम को स्वीकार न करे,मेरा पूर्ण भक्त होयतो आश्रम का नियम नहीं है यह आगे आवेहीगा ॥ ३८ ॥ गृहस्थाश्रम की इच्छा करनेवाला अपने योग्य अपने वर्ण की, कुल से और लक्षणों से उत्तम और अपने से अवस्था में छोटी स्त्री करे, तिस में ब्राह्मण को ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र इनचार वर्णों की स्त्रियें करने काक्रम से अधिकार है, क्षत्रिय को क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की करने का अधिकार है, वैश्य को वैश्य की और शूद्र की करने का अधिकार है और शूद्र को केवल अपने ही वर्ण की करने का अधिकार है ॥ ३९ ॥ यज्ञ करना, वेद पढ़ना और दान करना यह तीन कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों ही वर्णों को कहे हैं और प्रतिग्रह (दानलेना) पढाना, दूसरों को यज्ञ कराना यह तीन कर्म ब्राह्मण को अधिक कहे हैं ॥ ४० ॥ तिस में दान लेना अपने तप का, तेज का और यश का नाश करने वाला है,ऐसा ब्राह्मण को प्रतीत होयतो वह यजन कराना, और विद्या सिखाना इन दोनोंसे ही अपनी आजीविका चलावे और उसमें भी यदि दीनता आदि दोष देखनेलगे तो वह शिलवृत्ति से (स्वामीके खेत काटकर लेजाने पर उसखेत में पड़ेहुए कणों को वीनकर उस धान्य से) अपना निर्वाह करे ॥ ४१ ॥ क्योंकि—यह ब्राह्मण का शरीर, संसार में तुच्छ विषय भोगने के लिये नहीं है किन्तु इसलोक में जीवित रहनेपर्यन्त कष्टसहकर, तप करने के निमित्त और मरण के अनन्तर परलोक में अनन्तसुख भोगने के निमित्त है ॥ ४२ ॥ पहिले कही

समुपैति शांतिम् ॥ ४३ ॥ समुद्धरंति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणं ॥ तानु-
द्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ ४४ ॥ सर्वाः समुद्धरेद्राजा पि-
तेव व्यसनात्प्रजाः ॥ आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥ ४५ ॥
एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ॥ विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिंद्रेण सह मोदते
॥४६॥ सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदन्तरेत् ॥ खड्गेन वापदाक्रांतो न
श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४७ ॥ वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ॥ चरे-
द्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४८ ॥ शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकट-
क्रियां ॥ कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥ ४९ ॥ वेदाध्या-
यस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ॥ देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥ ५० ॥

हुई शिलवृत्ति से वा बाजार आदि में पड़ेहुए कणों को बीनकर उस से करीहुई उंच्छवृत्ति से सन्तुष्ट रहकर और अतिथि की पूजा आदि अतिस्वच्छ धर्म का प्रीति सेवन करे और घर में रहतेहुए भी आसक्तिरहित होकर जो मुझ में चित्त को अर्पण करता है वह ब्राह्मण वा दूसरा क्षत्रियादि कोई भी हो मोक्ष पाता है ॥ ४३ ॥ जो धनवान् पुरुष, धन के विना दुःख पानेवाले और मेरे परमभक्त ब्राह्मण का, दरिद्रता से उद्धार करते हैं उन को मैं शीघ्र ही सब कष्टों से, जैसे नौका समुद्र से पार करदेती है तैसे, पार करदेता हूँ ॥ ४४ ॥ जैसे पिता छोटे बच्चों को सङ्कट में से छुड़ाता है तैसे धैर्यवान् राजा सब प्रजाओं को सङ्कट में से छुटावे और जैसे श्रेष्ठ हाथी दूसरे हाथियों को दलदल में से बाहर निकालकर आप भी अपने ही बल से बाहर निकल आता है तैसे ही वह क्षत्रिय अपना भी उद्धार आप ही करलेय ॥ ४५ ॥ ऐसे वर्त्तनेवाला राजा, यहाँ ही सब पापों का नाश करके सूर्य की समान दमकतेहुए विमान में बैठकर स्वर्गलोक को जाता है और तहाँ इन्द्र के साथ आनन्द पाता है ॥ ४६ ॥ शिलोंछवृत्ति से निर्वाह न होने के कारण क्लेश पानेवाला ब्राह्मण, वैश्य की वृत्ति से अपनी आपत्ति को तरजाय, ऐसे भी आपत्ति न जाय तो तरवार धारण करके क्षत्रिय की वृत्ति से अपनी आपत्ति को दूर करे परन्तु नीचवृत्ति से कभी दूर न करे ॥ ४७ ॥ राजा आपत्तिकाल में खेती आदि वैश्य की वृत्ति से तिस में भी अधिक आपत्ति होय तो शिकार से अथवा ब्राह्मण की पढ़ाने की वृत्ति से अपनी आपत्ति को दूर करे परन्तु नीच जाति की सेवा से दूर न करे ॥ ४८ ॥ वैश्य आपत्तिकाल में शूद्र की, सेवारूपवृत्ति को स्वीकार करे; शूद्र हीनजाति की डलियें टोकरे आदि बनाने की वृत्ति करे, सङ्कट से छूटजाय तो निन्दितकर्म से निर्वाह करने की इच्छा न करे ॥ ४९ ॥ गृहस्थ, वेदपाठरूप ब्रह्मयज्ञ से ऋषियों का, स्वधाकार से पितरों का और स्वाहाकार से देवताओं के निमित्त बलिदान करके प्राणियों का और अन्नजलादि के दान से मनुष्यों का इसप्रकार पञ्चयज्ञ, उन ऋषि आदि सबों को ईश्वररूप जानकर करे ॥ ५० ॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ॥ धनेनापीडयन्भृत्यान्न्यायेनैवा-
हरेत्क्रतून् ॥ ५१ ॥ कुटुंबेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुंब्यपि ॥ विपश्चिन्न-
श्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ ५२ ॥ पुत्रदाराप्तबंधूनां संगमः पांथसंगमः ॥
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ ५ ॥ इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहे-
ष्वतिथिवद्वसन् ॥ न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥५४॥ कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा
मामेव भक्तिमान् ॥ तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥ ५५ ॥ य-
स्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ॥ स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते
॥५६॥ अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ॥ अनाथा मामृते दीनाः
कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥ ५७ ॥ एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ॥
अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥ इति श्रीभागवते महापुराणे
एकादशस्कंधे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥ श्रीभगवानुवाच ॥ वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां

उद्योग के विना मिलेहुए अथवा अपनी वृत्ति से केवल न्यायमार्ग से मिलेहुए शुद्ध द्रव्य से अपने कुटुम्बरूप पोष्यवर्ग की आजीविका चलावे जो कुछ शेष रहे तिस से दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य आदि यज्ञ करे ॥ ५१ ॥ कुटुम्बवत्सल भी गृहस्थी, स्त्रीपुत्रादिकों में आसक्त न रहे और ईश्वरनिष्ठा में असावधान न रहे किन्तु वह विचारवान् पुरुष इस लोक में के दीखनेवाले सुख की समान ही न दीखनेवाला स्वर्गादि सुख भी नाशवान् है ऐसा देखे ॥ ५२ ॥ पुत्र, स्त्री, आप्त और बान्धवों का जो समागम है सो केवल बटोहियों के समागम की समान क्षणिक है; क्योंकि-प्रत्येक देह के सम्बन्ध से मिलेहुए स्वप्न जैसे निद्रा दूर होने पर नष्ट होजाते हैं तैसे ही यह देहगया कि सब नष्ट होजाते हैं ॥५३॥ इसप्रकार विचार करके देह में अहङ्काररहित और स्त्रीपुत्रादिकों में ममतारहित हुआ तथा घर में अतिथि की समान उदासीनता से रहनेवाला पुरुष, घर के कर्मों से बद्ध नहीं होता है किन्तु मुक्त रहता है ॥ ५४ ॥ वह भक्तिमान् पुरुष, गृहस्थको कहेहुए कर्मों से मेरा आराधन करके तिस गृहस्थाश्रम में ही रहे अथवा वन में जाय अथवा पुत्रवान् होय तो संन्यास लेलेय ॥ ५५ ॥ जो पुरुष, घर में के विषयों में आसक्तबुद्धि, पुत्र-धन आदि की अभिलाषा से व्याकुल, स्त्री का वशीभूत, कृपणबुद्धि और अज्ञानी होता है वह 'मैं और मेरा' ऐसी बुद्धि से बन्धन पाता है ॥ ५६ ॥ अहो ! मेरे माता-पिता बूढे हैं, स्त्री के बालक छोटे हैं, विचारे बालक मेरे विना अनाथ हैं, दीन और दुःखी हुए यह सब मेरे विना कैसे जीवित रहेंगे ! ॥ ५७ ॥ ऐसे घरकी वासनाओं से चारोंओर जिस का चित्त गुथा है और विषयों से तृप्त नहीं हुआ यह मूढबुद्धि गृहस्थ, निरन्तर उन का ध्यान करने से मरण को प्राप्त होने के अनन्तर तामसयोनियों में जन्म पाता है ॥ ५८ ॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में सप्तदश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान्

न्यस्य सहैव वा ॥ वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥ कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥ वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥ केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद्दतः ॥ न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थंडिलेशयः ॥ ३ ॥ ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले ॥ आकण्ठमग्नः शिशिर एवंवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥ अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ॥ उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥ स्वयं संचिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ॥ देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥ वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत्कालनोदितान् ॥ न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७ ॥

ने कहा कि–हे उद्धवजी ! वानप्रस्थ आश्रम में रहने की इच्छा करनेवाला गृहस्थी, अपनी स्त्री की रक्षा का काम पुत्र को सौंपकर अथवा उस को अपने साथ लेकर आयु का तीसरा भाग (पिछत्तर वर्ष) समाप्त होने पर्यन्त वन में शान्ति के साथ रहे, फिर इन्द्रियें क्षीण होने पर उस को थोडासा वैराग्य होय तो संन्यास लेने का अधिकार है ॥ १ ॥ वह वन में रहताहुआ, वन में के पवित्र कन्दमूलफलों से अपना निर्वाह करे, तिन के, पत्ते और काली मृगछाला धारण करे ॥ २ ॥ केश, रोम, नख, दाढीमूछ और शरीर के मल को धारण करे, अर्थात् उन के दूर करने का यत्न न करे, दाँत घिसकर स्वच्छ न करे, शीतलजल में त्रिकाल स्नान करे, भूमिपर सोवै ॥ ३ ॥ ग्रीष्मऋतु में पञ्चाग्नि तपै, वर्षाऋतु में शरीर पर ही वर्षा को सहकर अभ्रावकाश व्रत को धारण करे, शिशिरऋतु में कण्ठपर्यन्त जल में डूबा रहकर उदकवासना नामक व्रत को धारण करे, इसप्रकार वर्त्ताव रखकर वह वानप्रस्थ आश्रमवाला तप करे ॥ ४ ॥ वह कन्दमूलादि पदार्थ और नीवार आदि धान्यों को सिजाकर भक्षण करे, फल आदि काल के द्वारा पकजाएँ तो खाय, कुछ पदार्थों को उखली में कूटकर, पत्थर पर पीसकर वा दाँतों से चबाकर खाय ॥ ५ ॥ अपने आजीवन के साधन फल आदि सब अपने आप वन में जाकर लावे, दूसरे से न मँगवाय, और अपने लाएहुए को भी कालान्तर में (सायंकाल का प्रातःकाल को वा प्रातःकाल का सायंकाल को) कार्य में न लावे, परन्तु देश, काल और अपने बल की योग्यता देखकर वर्त्ताव करे, अर्थात् अपनी अशक्ति होने के कारण दूसरे के लायेहुए के लेने का अथवा दूसरे समय मिलेगा या नहीं इस का विचार करके संग्रह करने का भी विचार करे ॥ ६ ॥ वह वानप्रस्थ, वन में उत्पन्नहुए नीवार आदि धान्यों के ही चरु पुरोडाश आदि करके, उन से तिस २ समय प्राप्त होनेवाली आग्रायणेष्टि आदि करे परन्तु वेद में कहेहुए पशुयाग से (वानप्रस्थाश्रमी) मेरा यजन न करे ॥ ७ ॥ अग्नि

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत् ॥ चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च
नैगमैः ॥ ८ ॥ एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः ॥ मां तपोमयमाराध्य
ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥ यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ॥
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥ यदाऽसौ नियमेऽकल्पो
जरया जातवेपथुः ॥ आत्मन्यग्नीन्समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥
यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ॥ विरागो जायते सम्यग्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः
॥ १२ ॥ इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ॥ अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः
परिव्रजेत् ॥ १३ ॥ विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः ॥ विघ्नान्कु-
र्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम् ॥ १४ ॥ बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीना-

---

होत्र, दर्श, पूर्णमास, और चातुर्मास्य भी वेद को जाननेवाले ब्राह्मणों ने, गृहस्थाश्रमी के अनुसार ही वानप्रस्थ को भी कहे हैं ॥ ८ ॥ इसप्रकार मरणपर्यन्त करेहुए तप से रगोंसे व्याप्त (सूखकर मांसरहित हुआ) वह वानप्रस्थ ऋषि, तपोरूप मेरा आराधन करके महर्लोक तपोलोक में जाने के क्रम से मेरे स्वरूप को पाता है, तिस में भी यदि वह शुद्ध अन्तःकरण और भक्ति से युक्त होय तो तहाँ ही जीवन्मुक्त होजाता है और यदि उस के प्रतिबन्धक बहुत से कर्म हों तो पहिले कहेहुए क्रम से मुक्त होता है ॥ ९ ॥ और जो वानप्रस्थ कष्टभोगकर करेहुए और परमकल्याणरूप मोक्ष देनेवाले तप को, संसार में के अति थोड़े विषय सुख के निमित्त खर्च करता है उस से दूसरा कौन मूर्ख है ; ॥ १० ॥ मरणकाल पर्यन्त वानप्रस्थ धर्म का आचरण करनेवाले को मोक्ष प्राप्त होता है, आयु का तीसराभाग समाप्त होनेपर थोड़ा वैराग्य होय तो उस को संन्यास का अधिकार है; यदि आयु का तीसरा भाग समाप्त होने से पहिले जरा वस्था के कारण देह में कपकपी उत्पन्न होकर वानप्रस्थधर्म को पालन करने में असमर्थ होय और वैराग्य न हुआ होय तो आत्मा में अग्नि का समारोप करके (अग्निहोत्र को त्यागकर) मेरे विषें मन की धारणाकर अग्नि में प्रवेश करे ॥ ११ ॥ और जब, करेहुए कर्मों की फल प्राप्तिरूप और परिणाम में नरकतुल्य सब लोकों में पूर्ण वैराग्य होजाय तो वह, अग्निहोत्र का त्यागकरके वानप्रस्थ आश्रम के समय में ही संन्यास धारण करलेय ॥ १२ ॥ आठ श्राद्ध कहे हैं उन को करके प्राजापत्यनामक इष्टि से मेरा यजन करे, तदनन्तर अपने आत्मा में अग्नि का समारोप करके निरीहपने से संन्यास को ग्रहण करे ॥ १३ ॥ ब्राह्मण संन्यास लेनेलगता है तो, उससमय 'यह हमारे स्थान का उल्लंघन करके परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होयगा इस अभिप्रायसे' सब देवता, स्त्री पुत्रादिकों के स्वरूप से उस को विघ्न करते हैं अर्थात् उस को अनेकों कारण दिखाकर संन्यास धारण मत करे, ऐसा कहते हैं उससमय वह किसी की न सुनकर संन्यास धारण करे ॥ १४ ॥

च्छादनं परम् ॥ त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किंचिदनापदि ॥ १५ ॥ दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ॥ सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ॥ १६ ॥ मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ॥ न ह्येते यस्य संत्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥ १७ ॥ भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान्वर्जयंश्चरेत् ॥ सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ १८ ॥ बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ॥ विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥ १९ ॥ एकश्चरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेन्द्रियः ॥ आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥ २० ॥ विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ॥ आत्मानं चिंतयेदेकमभेदेन मया मुनिः॥२१॥अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ॥ बंधे

वह पहिले तो वस्त्र धारण ही न करे, करना ही होय तो, जितने वस्त्रसे लिङ्ग ढकजाय उतना कौपीनमात्र धारण करे, प्रैषोच्चार के पहिले जो सब पदार्थ त्यागे हैं उन में से दण्ड और पात्र के सिवाय दूसरा कोई भी पदार्थ, परम आपत्तिकाल के विना धारण न करे ॥ १५ ॥ दृष्टि से देखकर शुद्ध निश्चय करेहुए स्थान में चरण रखकर चले, वस्त्र से छानाहुआ (जीवरहित) जल पिये, सत्य से पवित्र वाणी का उच्चारण करे, और मन से विचारकर जो शुद्ध होय उस का उच्चारण करे ॥ १६ ॥ हे उद्धवजी! मौन रखना वाणी का दण्ड है, सकामकर्म न करना देह का दण्ड है, और प्राणायाम करना मन का दण्ड है, यह तीन दण्ड जिस यति के न हों वह बाहर से धारण करेहुए बाँस के दण्डों से संन्यासी नहीं होता है ॥ १७ ॥ संन्यासी, 'प्रतिग्रह, यज्ञ कराना, अध्यापन और शिलोंछ इन चार वृत्तियों से निर्वाह चलाने के कारण चारप्रकार के हुए' ब्राह्मणों में ही जाति से छोड़ेहुए और पतितों को छोडकर, अमुक घर ही जाना चाहिये ऐसा सङ्कल्प न करके सात घरों में भिक्षा के निमित्त जाय और जो भिक्षा का अन्न मिले उतने से ही सन्तोष माने ॥ १८ ॥ और वह भिक्षा लेकर ग्राम के बाहर जलाशय के समीप जाकर तहाँ जल का आचमन करके लाएहुए उस अन्न की प्रोक्षण आदि से शुद्धि करे, तदनन्तर विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, और प्राणियों को भाग देकर तथा इसी अवसर में कोई मांगे तो उस को भी थोडासा देकर शेष सब भोजन करे ॥ १९ ॥ वह मननशील संन्यासी, निःसङ्गपना, जितेन्द्रियपना, अपने में क्रीडा, अपने में सन्तोष, धीरता और समदृष्टि रखकर इस भूमि पर इकला ही विचरै ॥२०॥ और निर्जन तथा निर्भय स्थान में बैठकर मेरी भावना से चित्त को शुद्ध करै और मुझ परमात्मा से अभेदबुद्धि करके एकरूपहुए अपने जीवात्मा का चिन्तवन करै॥२१॥और तत्त्वविचार से, अपना बन्धन कैसे हुआ है और मोक्ष कैसे होयगा इस का विचार करे, इन्द्रियों की विषयासक्ति ही बन्धन और इन्द्रियों

इंद्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः॥२२॥ तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरे-
न्मुनिः॥ विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्॥२३॥पुरग्रामव्रजान् सा-
र्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत्॥ पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम्॥२४॥वानप्र-
स्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्। संसिद्ध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलांधसा
॥ २५ ॥ नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति ॥ असक्तचित्तो विरमेदिहा-
मुत्र चिकीर्षितात्॥ २६ ॥ यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतं ॥ सर्वं मा-
येति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत् ॥ २७ ॥ ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा
मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः ॥ सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ २८ ॥
बुधो बालकवत् क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ॥ वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगम-
श्चरेत् ॥ २९ ॥ वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः ॥ शुष्कवादविवादे

को विषयों से हटाये रखना ही मोक्ष है ॥ २२ ॥ इसकारण मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके तुच्छ विषयों से विरक्त हुआ वह मुनि, मेरी भक्ति से ही अन्तःकरण में बडाभारी सुख पाकर विचरता रहे ॥२३॥ वह केवल भिक्षा के निमित्तही नगर,ग्राम, मँढइये तथा यात्रियों के समूह में प्रवेश करे, बाकी सब समय में पवित्रदेश, नदी, पर्वत, वन और ऋषियों के आश्रमों से युक्त पृथ्वी पर इकला ही विचरता फिरै ॥ २४ ॥ वान-प्रस्थों के आश्रमस्थानों में बारम्बार भिक्षा मांगे, क्योंकि–शिलवृत्ति से प्राप्तहुए उन के अन्न से शुद्धचित्त होने पर मोहरहित होकर शीघ्र ही मुक्त होता है ॥२५॥ यह दीखने-वाले मिष्टान्न आदि सत्य हैं ऐसा न देखै, क्योंकि–सब का नाश होता है इसकारण इस लोक में और परलोक में कहीं भी चित्त को आसक्त न करके इस लोक और परलोक की प्राप्ति के निमित्त कोई कर्म न करै॥ २६ ॥ममता का स्थान जो जगत् और मन,वाणी और प्राणसहित अहन्ता का स्थान जो यह शरीर, तैसे ही इन दोनों से होनेवाला जो सुख, यह सब आत्मवस्तु में माया से कल्पित हैं, ऐसा स्वप्न के दृष्टान्त से जानकर और उन का त्याग करके यति आत्मनिष्ठ होय और फिर उस का चिन्तवन ही न करै ॥२७॥ इस लोकमें के सुखों से विरक्त हुआ मुमुक्षु, ज्ञाननिष्ठ वा मोक्ष की चाहना न रखनेवाला जो मेरा भक्त हो वह त्रिदण्ड आदि सहित यतिधर्म की आसक्ति छोड़कर जिससे विधि निषेध का किंकर न हो ऐसे यथायोग्य धर्म का आचरण करे ॥ २८ ॥ वह विवेकी पु-रुष भी बालक की समान (मान अपमान रहित) क्रीडाकरे, निपुण होकर भी जड की समान (फल पानेका हेतु न रखकर) विचरै, पण्डित होकरभी उन्मत्त की समान (लो-कोंकी प्रसन्नता न करताहुआ सा) भाषण करै और वेद के अर्थ को जाननेवाला होकर भी (लोकों का सङ्ग न होय इसकारण) वृषभ की समान नियमरहित आचरण करै ॥ २९ ॥ वेद के विषय का वाद (कर्मकाण्ड पर व्याख्यान आदि) करने में तत्पर न

न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥ नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न
तु ॥ अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ॥ देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न
केनचित् ॥ ३१ ॥ एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ॥ यथेन्दुरुदपा-
त्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२ ॥ अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं
क्वचित् ॥ लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥ ३३ ॥ आहारार्थं स-
मीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ॥ तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥
यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ॥ तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजे-
न्मुनिः ॥ ३५ ॥ शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ॥ अन्यांश्च नि-
यमान् ज्ञानी यथाऽहं लीलयेश्वरः ॥ ३६ ॥ नहि तस्य विकल्पाख्या या च
मद्वीक्षया हता ॥ आदेहान्तात्क्वचित्ख्यातिस्ततः संपद्यते मया ॥ ३७ ॥ दुः-

होय, पाखण्डवाद वा तर्कवाद न करै और निष्प्रयोजन वाद में किसी का पक्ष भी न लेय ॥ ३० ॥ वह धैर्यवान् होकर आप, लोगों से भय न माने और दूसरों को भय न देय, लोकों के दुर्वचनों के भाषणों को सहन करै, आप किसी का अपमान न करै और इसदेह के निमित्त पशु की समान किसी से वैरभाव भी न करै ॥ ३१ ॥ जैसे एकही चन्द्रमा जल के अनेक पात्रों में प्रतिबिम्बरूप से रहता है तैसेही देहादि से निराला एकही आत्मा देवमनुष्यादि शरीरों में और अपने शरीर में भी रहरहा हैं तैसेही सब शरीर भी पञ्चमहाभूतरूप होने के कारण एकरूप ही हैं ऐसा जानकर वह किसी के साथ वैर न करै ॥ ३२ ॥ एकाधस्थान पर भोजन के समय २ पर भोजन न मिलेतो खिन्न नहोय किन्तु धीरज रक्खे; और भोजन मिलजाय तो हर्ष न माने, क्योंकि- लाभ और अलाभ दोनों प्रारब्ध के अधीन हैं ॥ ३३ ॥ आहारमात्र के निमित्त ही उद्योग करै, क्योंकि—उसको प्राण धारण करना आवश्यक है, उस प्राण धारण से ही तत्व विचार करता है और उस तत्व को जानकर मुक्त होता है ॥ ३४ ॥ भला वा बुरा स्वयंसिद्ध जो भोजन मिले उस को खालेय, तथा वस्त्र और शय्या भी स्वाभाविक जो मिलजाय परमहंस उस कोही ग्रहण करै ॥ ३५ ॥ जैसे मैं ईश्वर लीला से लोकशिक्षा के निमित्त स्नान सन्ध्या आदि करता हूँ तैसे ही वह ज्ञानी परमहंस भी कहीं आसक्त न होकर शौच,, आचमन, स्नान, तथा और भी नियमों का आचरण करे परन्तु वेद की आज्ञा पालन करनी ही चाहिये इसहेतु से न करै, क्योंकि—वह यदि सब नियमों को पालन करने की वेद की आज्ञा का पालन करेगा तो उस की ज्ञाननिष्ठा में हानि पहुँचेगी ॥३६॥ उस को भेद प्रतीति होती ही नहीं है, जो कुछ भेदबुद्धि पहिले थी वहभी ज्ञानदृष्टि से नष्ट होगई है, यदि उस को देहपात होने पर्यन्त एकाधवार भेदबुद्धि भासेतो उस को मिथ्यारूप जानने के कारण देहपात होनें के अनन्तर वह मुझ से एकता को पाता है अर्थात् विदेहमुक्त होता है ॥३७॥ जिस पु-

खेदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ॥ अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनि-
मुपाव्रजेत् ॥ ३८ ॥ तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ॥ यावद्ब्र-
ह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥ ३९ ॥ यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रि-
यसारथिः ॥ ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥ सुरानात्मा-
नमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ॥ अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥
॥ ४१ ॥ भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ॥ गृहिणो भूतरक्षे-
ज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥ ब्रह्मचर्यं तपः शौचं संतोषो भूतसौहृदं ॥
गृहस्थस्याप्यृतौ गंतुः सर्वेषां मदुपासनं ॥ ४३ ॥ इति मां यः स्वधर्मेण भज-
न्नित्यमनन्यभाक् ॥ सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात् ॥ ४४ ॥ भ-
क्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ॥ सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति

रण को, परिणाम में दुःख देनेवाले विषयों में वैराग्य होगया है परन्तु जिसने मेरी प्राप्ति का साधन नहीं जाना है वह धीरज धरकर किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु की शरण जाय ॥ ३८ ॥ और अपने को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेपर्यन्त गुरुकी निन्दा आदि न करके श्रद्धा और आदर के साथ यह ईश्वरही हैं, ऐसी दृष्टिसेही उन गुरुकी सेवा करै और ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर 'भूतल पर इकला विचरै इत्यादि' पहिले कहेहुए यति के धर्मोंसे वर्त्ताव करै ॥ ३९ ॥ जिस की बुद्धि अतिविषयासक्त है, जिसने इन्द्रियों को वा कामक्रोधादि को नहीं जीता है और जिसको ज्ञान वा वैराग्य नहीं प्राप्त हुआ है ऐसा होकर जो केवल पाखण्डीपने से त्रिदण्डी यति का वेष धारण करता है ॥ ४० ॥(वह, जिस के रागद्वेषादि भस्म नहीं हुए हैं और धर्म को डुबोनेवाला) यति, पूजनीय देवताओं को, जीवात्मा को और अन्तर्यामी मुझ परमात्मा को धोखा देता है तथा ऐसा करने के कारण इस लोक से और परलोक से भ्रष्ट होता है ॥ ४१ । शान्ति और अहिंसा संन्यासी के मुख्य धर्म हैं, तप और यजन करना वानप्रस्थ के मुख्य धर्म हैं, प्राणियों की रक्षा और यजन गृहस्थ के मुख्य धर्म हैं तथा गुरु की सेवा करना ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है ॥ ४२ ॥ ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष, प्राणिमात्र के साथ मित्रभाव से वर्त्ताव करना, और मेरी उपासना करना यह चारों आश्रमों के धर्म हैं, तिस में ऋतुकाल में स्त्रीसमागम करना ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है ॥ ४३ ॥ इसप्रकार जो मनुष्य अपने धर्म से मेरी सेवा करता है, अन्य स्त्रीपुत्रादिकों में आसक्त नहीं होता है और सब प्राणियों में मेरी भावना रखता है वह शीघ्र ही मेरी दृढ भक्ति पाता है ॥ ४४ ॥ और हे उद्धवजी ! फिर वह उस एकाग्रभक्ति के द्वारा सब लोकों के महेश्वर और सबों के उत्पत्ति प्रलय के कारण मुझ वैकुण्ठवासीदेव को स-

से: ॥ ४५ ॥ इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ॥ ज्ञानविज्ञानसंपन्नो न चिरात्समुपैति माम् ॥ ४६ ॥ वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ॥ स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७ ॥ एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम् ॥ यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥ ४८ ॥ इतिश्रीभा० महापुराणे एकादशस्कंधे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान्नानुमानिकः ॥ मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥ ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ॥ स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥२॥ ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ॥ ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥३॥ तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ॥ नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४ ॥ तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ॥ ज्ञानवि-

---

समीपभाव से पाता है ॥४५॥ ऐसे स्वधर्माचरण से शुद्धचित्त हुआ और मेरा ऐश्वर्य जाननेवाला वह भक्त, परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान से सम्पन्न होकर शीघ्र ही मेरे स्वरूप को पाता है अर्थात् मुक्त होजाता है ॥ ४६ ॥ हे उद्धवजी! जो यह (पितृलोक की प्राप्ति करादेनेवाला) वर्णाश्रमवालों का धर्म तुम से मैं ने कहा है वही यदि मुझे अर्पण करके किया जाय तो मुक्ति का सर्वोत्तम साधन होता है ॥ ४७ ॥ हे साधो उद्धवजी!, जो मुझ से तुम ने बूझा था सो 'जैसे स्वधर्माचरण करनेवाला पुरुष मेरा भक्त होकर मुझ परमेश्वर को पावेगा तैसा' यह तुम से मैं ने कहा है ॥४८॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अष्टादश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी! जो पुरुष आत्मा का अनुभव होने के पर्यन्त होनेवाले शास्त्र के ज्ञान से युक्त होताहुआ आत्मतत्त्व को प्राप्त हुआ है, केवल शब्द ज्ञान से ही युक्त नहीं है वह, यह सब द्वैत मायामात्र है ऐसा जानकर उस को दूर करने का साधन जो ज्ञान तिस का भी मेरे विषैं संन्यास करै अर्थात् मुझ से अभिन्नपना देखै, इसप्रकार उस के करेहुए संन्यास को ही विद्वत्संन्यास कहते हैं ॥ १ ॥ क्योंकि—ज्ञानी पुरुष को, इच्छितफलरूप मैं ही मान्य हूँ, स्वर्ग वा मोक्ष भी मैं ही हूँ, मुझ से अन्य कोई भी पदार्थ उस को प्रिय नहीं होता है इसकारण उस को प्राप्त होनेयोग्य वा करनेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रहा है ॥२॥ ज्ञानविज्ञान से सिद्धहुए पुरुष, मेरे श्रेष्ठ पद को जानते हैं और वह ज्ञानी ही ज्ञानरूप से मेरा धारण करता है इसकारण वही मुझे अतिप्रिय है ॥३॥ ज्ञान के लेशमात्र से भी जो सिद्धि होती है वह सिद्धि, तप, तीर्थ, जप, दान और दूसरे जो पवित्र साधन हैं उन से कभी भी सिद्ध नहीं होती है॥४॥ इस से हे उद्धवजी! जैसे ज्ञान प्राप्त होय तिस रीति से अपने आत्मा को जानकर ज्ञान

ज्ञानसंपन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥ ५ ॥ ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमा-
त्मनि ॥ सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥ त्वय्युद्धवाश्र-
यति यस्त्रिविधो विकारो मायाऽन्तरा पतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ॥ जन्मादयोऽ-
स्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदस-तोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥
उद्धव उवाच ॥ ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ॥
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥ तापत्रयेणा-
भिहतस्य घोरे संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ॥ पश्यामि नान्यच्छरणं तवांघ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥ दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्कालाहिना क्षु-
द्रसुखोरुतर्षं ॥ समुद्धरैनं कृपयाऽपवर्ग्यैर्वचोभिरासिंच महानुभाव ॥ १० ॥
श्रीभगवानुवाच ॥ इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ अजातशत्रुः प-

---

विज्ञान सम्पन्न होते हुए भक्तिभाव से केवल मेरा ही आराधन करो, दूसरे सब कर्मों का त्याग करो ॥ ५ ॥ सब यज्ञों के स्वामी मुझ अपने आत्मा का, ज्ञानविज्ञानरूप यज्ञ से अपने आत्मा में ही आराधन करके, पहिले कितने ही ऋषि मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त होगये हैं ॥ ६ ॥ हे उद्धवजी ! तुम में जो यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनप्रकार का द्वैतभाव प्रतीत होता है वह, क्योंकि—आदि अन्त में न होकर मध्य में ही भासता है तिस से रज्जु में भासनेवाले सर्प की समान मायाकल्पित है, सच्चा नहीं है, इस से यह जन्म आदि विकार यदि देह को हो हैं तो उन के अधिष्ठानरूप तुम्हें उन से क्या है ? क्योंकि धोखे के सर्पादिकों की आदि और अन्त में जो रज्जु आदि होती है वही मध्य में भी होती है, सर्पादि दूसरा कुछ नहीं होता है ॥ ७ ॥ उद्धवजी ने कहा कि—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वमूर्त्ते ! शुद्धि करनेवाला, ज्ञानविज्ञान सहित और अनादिवेदसिद्ध यह ज्ञान, जैसे मेरी समझ में आवे तैसे विस्तार के साथ कहिये; जिस को ब्रह्मादिक भी ढूँढते हैं वह अपना भक्तियोग भी तुम मुझ से कहो ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के तापों करके चारों ओर से तपेहुए और भयङ्कर संसारमार्ग में पड़ेहुए मुझ को, चारों ओर से अमृत की वर्षा करनेवाले तुम्हारे दोनों चरणरूप छत्र से दूसरा कोई भी आश्रय नहीं दीखता है ॥ ९ ॥ हे महानुभाव ! इस संसारकूपरूप गढहे में पड़ेहुए और तहाँ कालरूप सर्प से डसेहुए तथापि तुच्छ विषयसुखों में अतितृष्णा धारण करनेवाले इस जन का तुम कृपा करके उद्धार करो; मोक्ष का बोध करानेवाले अपने वचनामृतों से इस को सींचकर इस के ताप को शान्त करो॥ १० ॥श्रीभगवान् ने कहा कि—हे उद्धवजी ! यह तुम्हारा बूझाहुआ प्रश्न, ऐसे ही पहिले धर्मराज ने, हम सबों के सुनतेहुए, भगवद्धर्मपरायणों

मप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥ निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ॥
श्रुत्वा धर्मान्बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥ तानहं तेऽभिधास्यामि
देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् ॥ ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३ ॥ नवै
कादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ॥ ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम
निश्चितम् ॥ १४ ॥ एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ॥ स्थित्युत्पत्त्यप्य-
यान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनां ॥ १५ ॥ आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं
यदन्वियात् ॥ पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६ ॥ श्रुतिः

में श्रेष्ठ भीष्मजी से बूझा था ॥ ११ ॥ भारत का युद्ध होजानेपर, बन्धुओं के मरण से विह्वलहुए धर्मराज ने भीष्मजी से बहुत से धर्म सुनकर फिर उन से मोक्षधर्म बूझा था॥ १२ ॥ वह भीष्मजी के मुख से सुनेहुए ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्ति इन से युक्त मोक्षधर्म, मैं तुम से कहता हूँ सुनो ॥ १३ ॥ प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, और पञ्चतन्मात्रा यह नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेन्द्रियें, और मन यह ग्यारह; पाँच महा-भूत और तीन गुण यह सब मिलकर अट्ठाईस तत्त्व ब्रह्मादि स्थावरपर्यन्त सब कार्यों में व्यापरहे हैं ऐसा जिस ज्ञान से देखता है और सब तत्त्वों में भी एक परमात्मतत्त्व ही है ऐसा जिस ज्ञान से देखता है अर्थात् कार्यकारणरूप जगत् को देखताहुआ भी यह परम कारणरूप ही है तिस से निराला नहीं है ऐसा जिस ज्ञान से जानता है वही ज्ञान है, यह मेरा निश्चय है ॥ १४ ॥ पहिले ज्ञान के समय एक से व्याप्तहुए सब पदार्थ एकरूप ही हैं ऐसा जो देखता था वह अब तैसा नहीं देखता है किन्तु वह एक परम कारणरूप ब्रह्म ही है ऐसा देखता है, ऐसा देखनेलगा कि उस ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, जैसे दिशाओं की अपरोक्ष भ्रान्ति निश्चित दिशा के परोक्षज्ञान से निवृत्त नहीं होती है तैसी, पुरुष को यह संसाररूप भ्रान्ति अपरोक्ष होनेके कारण परोक्षज्ञानसे निवृत्त नहीं होती है अर्थात् आत्मरूप जगत् को देखनेवाला पुरुष, जगत् को ब्रह्मरूप से जानता हुआ भी उस को अपने से निराला मानता है. अपरोक्षज्ञान में तो, उस का बाध होकर जीवन्मुक्त हुआ पुरुष, वह अपने से निराला देखना, जलेहुए वस्त्र की समान आभासमात्र है ऐसा देखता है, उस के सिवाय और कुछ नहीं देखता है, इसकारण परोक्षज्ञान का नाम 'ज्ञान' कहा है और अपरोक्ष ज्ञान का नाम 'विज्ञान' कहा है. अब एक वस्तु का सब कार्यों में होना और कार्यों का तिस कारण से निरालापन न होना, दिखाने के निमित्त सब पदार्थों की उत्पत्ति आदि साधते हैं—त्रिगुणमय पदार्थों के सावयव होने के कारण उन के उत्पत्ति, स्थिति, संहार हैं ऐसा देखै ॥ १५ ॥ जो वस्तु किसी भी कार्य के आरम्भ में और परिणाम पाने के समय कारण रूप से, तैसे ही मध्य में भी आश्रयरूप से और एक कार्य से दूसरा कार्य होते समय उस में अनुस्यूतपने से रहती है और जो फिर उस कार्य का लय होने पर भी शेष रहती है वही

प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ॥ प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते ॥ १७ ॥
कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ॥ विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्
॥ १८ ॥ भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ॥ पुनश्च कथयिष्यामि
मद्भक्तेः कारणं परम् ॥ १९ ॥ श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ॥
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥ आदरः परिचर्यायां सर्व-
वाङ्गैरभिवन्दनम् ॥ मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥ मदर्थे-
ष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ॥ मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
॥ २२ ॥ मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ॥ इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं
यद्व्रतं तपः ॥ २३ ॥ एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ॥ मयि संजायते

वस्तुसत् है ऐसा देखै ॥ १६ ॥ 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति, तैसे ही पट आदि पदार्थ तन्तु आदि के विना नहीं दीखते हैं यह प्रत्यक्ष, बड़े पुरुषों की प्रसिद्धिरूप ऐतिह्य, और दीखनेवाला होने के कारण सीपी में भासनेवाला रजत (चाँदी) मिथ्या है इत्यादि अनुमान यह चार प्रमाण है. इन से, सब प्रपञ्च नाशवान् है ऐसा निश्चय होता है इस-कारण जो विवेकी पुरुष है वह सर्व व्यापक और सत्य आत्मतत्त्व को जानकर इस प्रपञ्च से विरक्त होता है ॥ १७ ॥ विवेकी पुरुष, जैसे यह लोक नाशवान् है तैसे ही इस लोक में करेहुए कर्मों से प्राप्त होनेवाला जो 'स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त का सर्व सुख सो, कर्मों के नाशवान् होने के कारण दुःखरूप और नाशवान् है ऐसा देखै ॥ १८ ॥ हे उद्धवजी ! यद्यपि भक्तियोग मैंने तुम से पहिले ही कहा है तथापि उस भक्तियोग के ऊपर प्रेम रखनेवाले तुम से, फिर भी अपनी भक्ति के श्रेष्ठ कारण कहता हूँ ॥ १९ ॥ मेरी अमृतसमान कथा के सुनने में आदर और सुनने के अनन्तर निरन्तर मेरी कथा का व्याख्यान करना, मेरी पूजा में लगेरहना, स्तोत्रों से मेरी स्तुति करना ॥ २० ॥ मेरे मन्दिर को बुहारने आदि के काम में आदर, मुझे साष्टाङ्गनमस्कार करना, मेरे भक्तों की विशेष पूजा, सब प्राणियों में मेरी भावना रखना ॥ २१ ॥ मेरी पूजा की फूल तुलसी आदि सामग्री लाने का स्वयं प्रबन्ध करना, वाणी से मेरे गुण वर्णन करना, मुझे अपना मन अर्पण करना, सब विषयों की वासना छोडदेना ॥ २२ ॥ मेरे निमित्त द्रव्य खर्च करना, मेरे भजन में हानि पडे तो माळाचन्दनादि भोगसाधन का और पुत्रों को लाड़ करने आदि के सुख को भी त्याग देना, यज्ञादि वैदिक कर्म करना, दान, होम, जप, तप और एकादशी आदि व्रत मेरे निमित्त करना ॥२३॥ हे उद्धवजी ! इसप्रकार के श्रवण आदि साधनोंसहित आत्मनिवेदन करनेवाले मनुष्यों की, मुझ में प्रेमरूपभक्ति उत्पन्न होती है

भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ २४ ॥ यदात्मन्यर्पितं चित्तं शांतं स-
त्त्वोपबृंहितम् ॥ धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥ २५ ॥ यदर्पितं तं-
द्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ॥ रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्
॥ २६ ॥ धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ॥ गुणेष्वसंगो वैरा-
ग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥ २७ ॥ उद्धव उवाच ॥ यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो
वाऽरिकर्शन ॥ कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥ २८ ॥ किं
दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते॥ कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः
का च दक्षिणा ॥ २९ ॥ पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव॥ का विद्या
ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥ कः पंडितः कश्च मूर्खः कः
पंथा उत्पथश्च कः ॥ कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बंधुरुत किं गृहम् ३१ ॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ॥ एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि वि-

फिर उन को कोई साधनरूप वा साधनेयोग्य अर्थ बाकी नहीं रहता है ॥ २४ ॥ अधिक तो क्या परन्तु चित्त ही अन्तर्मुख वा बहिर्मुख हुआ अर्थ और अनर्थ का कारण होता है जब सत्त्वगुणसे युक्त हुआ चित्त, आत्मरूप मुझ में अर्पण करने के कारण शान्त और तहां ही आसक्त होता है तब वह पुरुष, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से युक्त होता है ॥ २५ ॥ और जब वह चित्त देहगेह आदि में लगताहुआ इन्द्रियोंके द्वारा विषयों की ओर को दौडकर अति मलिन और विषयासक्त होता है तब वह पुरुष अधर्म आदि से युक्त होता है ऐसा जानो ॥ २६ ॥ जिससे मेरी भक्ति प्राप्त होती है उसही धर्मको शास्त्र में उत्तम कहा है, जिस से एक आत्मा का दर्शन होता है वह ज्ञान है, जिस से विषयों की आसक्ति छूटती है वह वैराग्य है और जिस से अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं वह ऐश्वर्य है ऐसा शास्त्र में कहा है ॥ २७ ॥ उद्धवजी ने कहा कि - हे शत्रुदमन प्रभो ! श्रीकृष्णजी ! यम कितने प्रकार का कहा है ? और नियम भी कितने प्रकार का है ? शम किसको कहते हैं ? दम कौनसा है ? तितिक्षा कौनसी है ? और धैर्य कौनसा है ? ॥ २८ ॥ दान क्या है ? तप क्या है ? शूरता, सत्य और ऋत कौन से कहे हैं ? त्याग क्या है ? इच्छित धन क्या है ? यज्ञ कौनसा है ? और दक्षिणा क्या है ? ॥ २९ ॥ हे श्रीमान् केशव ! मनुष्य का बल क्या है ? भाग्य क्या है ? और लाभ कौनसा है ? विद्या, शोभा और लज्जा यह उत्तम कौनसी हैं ? सुख कौनसा और दुःख कौनसा है ? ॥ ३० ॥ पण्डित कौन है ? और मूर्ख कौन है ? सन्मार्ग क्या है ? और कुमार्ग क्या है ? स्वर्ग कौनसा है ? और नरक कौनसा है ? बन्धु कौन है ? और घर क्या है ? ॥ ३१ ॥ धनवान् कौन है ? और दरिद्र कौन है ? कृपण कौन है ? और ईश्वर कौन है ? हे सत्पुरुषों के अधिपति भगवन् ! इन मेरे बूझेहुए प्रश्नों का उत्तर और इन से

परीतांश्च सत्तम ॥ ३२ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो
ह्रीरसंचयः ॥ आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ ३३ ॥ शौ-
चं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ॥ तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य-
सेवनम् ॥ ३४ ॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ॥ पुंसामुपासिता-
स्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥ शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इंद्रियसंयमः ॥
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥३६ ॥ दण्डन्यासः परं दानं का-
मत्यागस्तपः स्मृतम् ॥ स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥ ३७ ॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ॥ कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः
संन्यास उच्यते ॥ ३८ ॥ धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ॥ दक्षिणा

प्रतिकूल अशम अदम आदि के लक्षण भी मुझ से कहो ॥ ३२ ॥ श्रीभगवान् ने कहाकि हे उद्धवजी ! १ अहिंसा, २ सत्य बोलना, ३ चोरी न करना, ४ आसक्ति न रखना, ५ निन्दित कर्म में लज्जा, ६ संग्रह न करना, ७ धर्मपर विश्वास रखना, ८ ब्रह्मचर्य, ९ मौन १० स्थिरता, ११ क्षमा और १२ अभय ॥ ३३ ॥ तैसे ही १ मन में शुद्धि, २ बाहर शुद्धि, ३ जप, ४ तप, ५ होम, ६ श्रद्धा, ७ अतिथि का सत्कार, ८ मेरीपूजा, ९ तीर्थ-यात्रा, १० दूसरे के निमित्त चेष्टा करना, ११ सन्तोष और १२ गुरु की सेवा ॥ ३४ ॥ यह दो श्लोकों में बारह २ क्रम से यम और नियम कहे हैं, हे तात उद्धवजी ! इन का आचरण सकाम और निष्काम मनुष्य करेंतो यह उन के मन की कल्याण और मोक्षरूप कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं ॥ ३५ ॥ मेरे विषैं बुद्धि की निष्ठा को शम कहते हैं, केवल शान्त रहना ही शम नहीं है, इन्द्रियों के दमन करने को दम कहते हैं, केवल चो-रादिकों का दमन करना दम नहीं है, केवल बोझे को सहना ही नहीं किन्तु दुःख को स हन करना तितिक्षा है, केवल घबराहट नहोना ही नहीं किन्तु जिव्हा और उपस्थ इन इ-न्द्रियों के वेग को रोकना धैर्य है ॥ ३६ ॥ केवल धनका देनाही नहीं, किन्तु प्राणियों के द्रोह का त्याग करना ही उत्तम दान है, केवल कृच्छ्रचान्द्रायण आदि ही नहीं किन्तु भोगों की उपेक्षा करना ही तप है, केवल पराक्रम करनाही नहीं, किन्तु स्वभाव का जीतना ही शूरता है, केवल यथार्थ बोलना ही नहीं, किन्तु समरूप ब्रह्म को देखना ही सत्य है ॥ ३७ ॥ सत्य और प्रिय बोलना ऋत है ऐसा कवियों ने कहा है स्नानादि करके के-वल मल धोना ही शौच नहीं है, किन्तु कर्मों में अनासक्ति ही शौच है, केवल घरद्वार को छोड़देना ही त्याग नहीं है, किन्तु सब कर्मों का संन्यास करना ही त्याग है ॥ ३८ ॥ केवल पशु आदि ही धन नहीं है, किन्तु परमार्थ रूप जो धर्म वही मनुष्यों इष्टधन है, पूर्ण ज्ञानादिरूप परमेश्वर मैं ही यज्ञ हूँ अर्थात मेरी बुद्धि से ही यज्ञ

ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम् ॥ ३९ ॥ भगो म ऐश्वरो भावो लाभो म-
द्भक्तिरुत्तमः ॥ विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥ ४० ॥ श्रीर्गुणा
नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ॥ दुःखं कामसुखापेक्षा पंडितो बंधमोक्ष-
वित् ॥ ४१ ॥ मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पंथा मन्निगमः स्मृतः ॥ उत्पथश्चित्तवि-
क्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥ ४२ ॥ नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ॥
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥ ४३ ॥ दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः
कृपणो योऽजितेंद्रियः ॥ गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः ॥ ४४ ॥
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ॥ किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुण-

---

करे, कर्म बुद्धि से न करे, यज्ञ के निमित्त (मेरे निमित्त) ज्ञानोपदेश करनाही दक्षिणा है, केवल सुवर्णादि का दान ही दक्षिणा नहीं है, मन को दमन करने का साधन जो प्राणायाम वही बड़ा बल है, केवल शरीर का बल ही बल नहीं है ॥ ३९ ॥ मेरी जो षड्गुणैश्वर्यरूप सम्पत्ति सो भाग्य है, केवल पुण्य ही भाग्य नहीं है; मेरीभक्ति ही उत्तम लाभ है,केवल पुत्रादि का ही लाभ नहीं है; आत्मा में प्रतीत होनेवाले देवमनुष्यादि भेदों का जो बाध होना वही विद्या है, केवल ज्ञान ही विद्या नहीं है; निन्दितकर्मों में जो त्याग की बुद्धि वही लज्जा है,केवल लौकिकलज्जा ही लज्जा नहीं है ॥४०॥ निरपेक्षता आदि गुण ही शोभा (भूषण) है, किरीटादि भूषण नहीं है ; दुःख-सुख का अनुसन्धान न रखना ही सुख है, भोग ही सुख नहीं है ; विषयों के भोग की इच्छा ही दुःख है, अग्निदाह आदि नहीं ; बन्ध से मोक्ष को अथवा बन्धन और मोक्ष इन दोनों को जो जानता है वही पण्डित है, केवल विद्वान् ही नहीं ॥४१॥ देहगेह आदि में जो मैं और मेरा ऐसा अभिमान रखता है वही मूर्ख है, केवल अनजान मूर्ख नहीं है ; मेरी प्राप्ति करादेनेवाला निवृत्तिमार्ग ही सन्मार्ग है, केवल काँटे आदिरहित मार्ग ही नहीं; चित्त का विक्षेपरूप प्रवृत्तिमार्ग ही कुमार्ग है, केवल चोरादिकों से युक्त ही कुमार्ग नहीं है ; सत्वगुण का उत्कर्ष ही स्वर्ग है, केवल इन्द्रादिलोक ही नहीं ॥ ४२ ॥ तमोगुण की वृद्धि ही नरक है, केवल रौरवादि ही नहीं ; हे सखा उद्धवजी ! गुरुरूप मैं ही बन्धु हूँ, केवल भ्राता आदि ही बन्धु नहीं हैं ; मनुष्यशरीर ही घर है, केवल काठमट्टी आदि के ही नहीं ; गुणों से सम्पन्न ही धनी है केवल धनवान् ही नहीं ॥ ४३ ॥ जो असन्तोषी है वही दरिद्री है, केवल निर्धन ही नहीं; जिस ने इन्द्रियों को नहीं जीता वही कृपण है, केवल दीनही नहीं; जिस का चित्त विषयों में आसक्त नहीं हुआ वही ईश्वर है, केवल राजा आदि ही नहीं; जो विषयों में आसक्त है वही अनीश्वर है ॥ ४४ ॥ हे उद्धवजी ! मैंने तुम्हारे यह सब प्रश्न जैसे मोक्ष में लाभदायक हों तैसे वर्णन करे हैं,अधिक वर्णन करने से क्या है ? केवल इतने ही गुण

दोषयोः ॥ गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४५ ॥ इतिश्रीभा० महा० एका० भगवदुद्धवसम्वादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ उद्धव उवाच ॥ विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ॥ अवेक्षतेऽरविंदाक्ष गुणदोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥ वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ॥ द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥ गुणदोषभिदादृष्टिमंतरेण वचस्तव ॥ निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ॥ श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥ गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः ॥ निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ॥ ज्ञानं

दोषों के लक्षण हैं कि-गुण और दोष को जो देखना वही दोष है और गुणदोषोंको न देखने का स्वभाव ही गुण है ॥४५॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में एकोनविंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ उद्धवजी ने कहा हे कमलनयन ! तुम परमेश्वर की जो आज्ञा वही विधि निषेधरूप वेद है वह वेद,विहित और निषिद्ध कर्मों के पुण्यपापरूप फलोंका वर्णन करता है ॥ १ ॥ और उत्तम अधमभाव से उन के अधिकारी वर्णाश्रमों के गुणदोषरूप भेदोंका प्रतिपादन करता है; तैसे ही प्रतिलोमज (उत्तमवर्ण की स्त्रियों में हीन वर्ण के पुरुषों से उत्पन्नहुए सूतवैदेह आदि) और अनुलोमज (उत्तमवर्ण के पुरुषों से हीनवर्ण की स्त्रियों में उत्पन्न हुए (मूर्धावसिक्त अम्वष्ठ आदि) भेदों का वर्णन करता है और कर्म के योग्य तथा अयोग्य होने के कारण द्रव्य, देश, अवस्था और काल के गुणदोष रूप हुए भेदों का तथा उन के फलरूप से स्वर्ग नरक आदि का वर्णन करता है ॥ २ ॥ अब, गुणदोषों में भेददृष्टि न रखना यह तुम्हारा वचन है और विधि निषेध का वर्णन करनेवाला वेद भी तुम्हारा ही वचन है; अब मनुष्यों का कल्याण कैसे हो ? क्योंकि-इन आप के वचनों में ही परस्पर विरोध है ॥ ३ ॥ हे ईश्वर ! पितर, देवता और मनुष्यों को भी, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से समझ में न आयेहुए स्वर्गमोक्षादिकों के ज्ञान के विषय में और यह इसका साध्य है तथा यह इस के साधन हैं इसविषय में तुम्हारा वचनरूप जो वेद वह उत्तम ज्ञापक है, तात्पर्य यह कि-गुणदोषदृष्टि का अभाव हुआ तो मोक्ष सुख नहीं प्राप्त होयगा ॥ ४ ॥ इस से, गुणदोषों की भेददृष्टि तुम्हारी आज्ञारूप वेद से ही है, अपने आप नहीं हैं; और फिर तुम्हारे वचन से ही उस भेद का अपवाद भी मैंने सुना है, इसकारण मुझे भ्रमहोरहा है उस को दूर करो ॥ ५ ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि- हे उद्धवजी ! मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त होने की इच्छा से मैंने, ब्रह्म-कर्म-देवता

कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥ निर्विण्णानां ज्ञान-
योगो न्यासिनामिह कर्मसु ॥ तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्
॥ ७ ॥ यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ॥ न निर्विण्णो नातिसक्तो
भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८ ॥ तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ॥
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥ स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरना-
शीःकाम उद्धव ॥ न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥ अस्मिँ-
ल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ॥ ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा
यदृच्छया ॥ ११ ॥ स्वर्गिणोऽप्येतदिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ॥ साधकं
ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥ १२ ॥ न नरः स्वर्गतिं कांक्षेन्नारकीं वा वि-

काण्डों से ज्ञान, निष्काम कर्म और भक्ति, यह तीनप्रकार के उपाय कहे हैं, इन से दूसरा कोई भी उपाय शास्त्र में नहीं कहा है ॥ ६ ॥ तहाँ दुःखबुद्धि से कर्मों के फलों से विरक्त होकर कर्मों का त्याग करनेवाले पुरुषों को ज्ञानयोग सिद्धि देनेवाला है और उन कर्मों में जिन के चित्त को विराग नहीं हुआ है उन सकाम पुरुषों को कर्मयोग सिद्धि देनेवाला है ॥ ७ ॥ और जिस पुरुष को दैवयोग से मेरी कथाओं के श्रवण कीर्त्तन आदि में श्रद्धा उत्पन्न हुई है परन्तु कर्मों के फलों में वैराग्य नहीं हुआ है और अधिक आसक्ति भी नहीं है उन को भक्तियोग सिद्धि देनेवाला है ॥ ८ ॥ मनुष्य को जबतक वैराग्य न हो वा मेरी कथा सुनने आदि में श्रद्धा उत्पन्न न हो तबतक वह नित्य नैमित्तिक कर्म करे ॥ ९ ॥ हे उद्धवजी ! फल की कामना को छोड़कर अपने धर्म का आचरण करनेवाला और बहुत यज्ञ करके मेरा आराधन करनेवाला पुरुष, यदि निषिद्ध कर्म का आचरण नहीं करे तो मरने पर स्वर्ग लोक में वा नरक में नहीं जाता है अर्थात् नरक में जाना दो प्रकार का होता है एक विहितकर्म का उल्लंघन करने से, दूसरा निषिद्धकर्म का आचरण करने से तिस में वह पुरुष, स्वधर्म का आचरण करता है और निषिद्ध को त्यागता है इसकारण नरक में नहीं जाता है और फल की कामनारहित होनेके कारण स्वर्ग में भी नहीं जाता है ॥ १० ॥ किन्तु इस लोक में ही और इस मनुष्य शरीर में ही रहकर निषिद्ध कर्मों का त्यागकरता हुआ और अपने धर्म में पवित्रता से रहताहुआ, अनायास में ही पुरुष, विशुद्धज्ञान और मेरी भक्ति को पाता है ॥ ११ ॥ जैसे नरक में के प्राणी इस मनुष्य शरीर की इच्छा करते हैं,तैसे ही स्वर्गवासी देवता भी इस की इच्छा करते हैं,क्योंकि—जैसे यह मनुष्य शरीर ज्ञान—भक्ति का वा ज्ञानभक्ति के द्वारा मुक्ति का साधक है तैसे वह नरक में का शरीर वा दिव्य शरीर नहीं है ॥ १२ इसकारण विवेकी पुरुष, स्वर्ग में जाने की वा नरक में जाने की इच्छा न करे अर्थात् स्वर्ग नरक के साधक काम्य तथा निषिद्ध कर्म न करे,

चक्षणः ॥ नेमं लोकं च कांक्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥ १३ ॥ एतद्विद्वा-
न्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ॥ अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ १४ ॥
छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ॥ खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति
ह्यलंपटः ॥ १५ ॥ अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः ॥ मुक्तसंगः परं बु-
द्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६ ॥ नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं
गुरुकर्णधारम् ॥ मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आ-
त्महा ॥ १७ ॥ यदारंभेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेंद्रियः ॥ अभ्यासेनात्मनो
योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८ ॥ धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितं ॥
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९ ॥ मनोगतिं न विसृजेज्जितप्रा-
णो जितेंद्रियः ॥ सत्त्वसंपन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २० ॥ एष वै

और इस शरीर के अति श्रेष्ठ होने के कारण फिर भी मुझे मनुष्यशरीर मिले ऐसी भी इच्छा न करे, क्योंकि—देह में आसक्त होने से अपने स्वार्थ में सावधान नहीं रहता है ॥ १३ ॥ ऐसा जाननेवाला वह विवेकी पुरुष, अर्थसिद्धि देनेवाले भी इस अपने शरीर को मरण धर्म से युक्त जानकर मृत्यु का समय आनेसे पहिले, अशक्त अवस्था में ही सावधानी से मोक्ष को प्राप्त करने में यत्न करे ॥ १४ ॥ जैसे पक्षी अथवा घोंसला बनाकर रहने के अपने आश्रयभूय वृक्ष को, यमसा निर्दयी पुरुष, तोड़रहा है ऐसा देखकर तहाँ आसक्त नहोकर उस को त्यागकर चलेजाने पर सुख पाता है तैसेही रातदिनरूप काल के अवय-वोंसे टूटने के कारण कम होते हुए अपने आयु को जानकर भयसे काँपनेवाला और सकल व्यापार रहित हुआ जीव, परमात्मा को जानकर देह की सङ्गति छोड़ते ही सकल सन्ताप रहित होकर परमानन्द को पाता है ॥ १५ ॥ १६ ॥ सकल फलोंकी मूलभूत करोड़ो उद्योगों से प्राप्त न होनेवाली परन्तु सहज में प्राप्तहुई गुरुरूप कर्णधार (मल्लाह) से युक्त और स्मरणमात्र से ही अनुकूल वायुरूप मेरी प्रेरणा करीहुई मनुष्यशरीररूप नौका को पाकर जो प्राणी संसारसमुद्र को नहीं तरता है उस को केवल आत्मघाती समझें ॥ १७ ॥ जो योगी, कर्म में दुःख को देखने से घबड़ावे और कर्म के फल में विरक्त होय तब वह, इन्द्रियों को वश में करके, आत्मानुसन्धान के अभ्यास से आत्मा में अपने मन को निश्चलभाव से धारण करे ॥ १८ ॥ मुझ में धारण कराहुआ भी मन जब भ्रमण पाकर (दूसरे विषयों में जाकर) स्थिर न रहताहुआ सा होता है तबयोगी आलस न करके उस की कुछ इच्छा पूरी करके धीरे २ अपने वश में करलेय ॥ १९ ॥ उपेक्षा करनेपर वह अत्यन्त चञ्चल होजायगा इसकारण उस को स्वाधीन करने से छोड़ै नहीं किन्तु सावधानी से प्राणों को और इन्द्रियों को जीतकर, सत्वगुणयुक्त हुई बुद्धिसे

परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ॥ हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः
॥ २१ ॥ सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ॥ भवाप्ययावनुध्याये-
न्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २२ ॥ निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ॥
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिंतितस्यानुचिंतया ॥ २३ ॥ यमादिभिर्योगपथैरान्वी-
क्षिक्या च विद्यया ॥ ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४ ॥
यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ॥ योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र
कदाचन ॥ २५ ॥ स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ॥ कर्मणां

उस मन को जीतलेय ॥ २० ॥ जैसे घोडे का सिखानेवाला, सिखानेयोग्य उद्धत घोडे की गति अपनी इच्छा के अनुसार होने की चाहना करताहुआ धीरे२ अपने आप उस की गति के अनुसार ही शिक्षा देता है और किसीसमय दौड़तेहुए भी उस को लगाम से पकडकर ही उस के पीछे दौडता है, परन्तु सर्वथा उस की उपेक्षा नहीं करता है और कुछ समयमें ही उस को अपने वश में करलेताहै तैसे ही मन की थोडीसी इच्छापूर्ण करके उपेक्षा न करताहुआ उस को धीरे२ अपने वश में करलेना ही बडा योगसाधन है ऐसा जाने ॥ २१ ॥ तत्त्वज्ञान से महत्तत्त्वादिक देहपर्यंत सब पदार्थों की अनुलोम करके (प्रकृति आदि के क्रम से) उत्पत्ति और प्रतिलोम करके (पृथ्वी आदि के क्रम से) नाश का, जबतक मन निश्चल होय तबतक चिन्तवन करै ॥ २२ ॥ उत्पत्ति नाशवान् पदार्थों में उन के अवधिभूत आत्मा के दर्शन से, अज्ञान के रचेहुए संसार में खिन्न होकर विरक्त हुए और गुरु के कहेहुए अर्थ का विचार करनेवाले और तिस विचार करेहुए अर्थ का ही वारंवार चिन्तवन करनेवाले पुरुष का मन, देहादिकों में के अभिमान का त्याग करता है ॥ २३ ॥ और यमादि योगमार्गों से तथा आत्मानात्मविचाररूप विद्या से और मेरा पूजन ध्यान आदि करके योग्य हुआ मन, परमात्मा का स्मरण करता है, दूसरे साधनों से स्मरण नहीं करता है इसकारण योगी, मन के जीतने को दूसरा साधन न करै ॥ २४ ॥ योगी के हाथ से पहिले तो पापाचरण होता नहीं है, कदाचित् प्रमाद से यदि योगीसे निषिद्धकर्म बनजाय तो उस पापको वह ज्ञानाभ्यास से जलाडाले, उसके विषय में दूसरे कृच्छ्र प्रायश्चित्त आदि कभी नहीं करै ॥ २५ ॥ नित्य नैमित्तिक कर्म अन्तःकरण के शोधक होने से गुणरूप और हिंसादि कर्म अशुद्धि के कारण होने से दोषरूप हैं और उन को दूर करनेवाले प्रायश्चित्त भी गुणरूप हैं सो उस प्रायश्चित्तके करे विना योगी का पाप कैसे भस्म होसकेगा ? ऐसी शङ्का करो तो तहाँ कहते हैं कि—अपने २ अधिकार में जो निष्ठा वही गुण कहा है, दूसरा नहीं, क्योंकि इन विधिनिषेधों के द्वारा कहेहुए गुणदोषों के विधान करके उत्पत्ति से ही अशुद्ध होनेवाले कर्मों का सङ्कोच ' विषयासक्ति को छोड़नेकी इच्छा

जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ॥ गुणदोषविधानेन संगानां त्याजनेच्छया
॥ २६ ॥ जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ॥ वेद दुःखात्मकान्का-
मान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ २७ ॥ ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः॥
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥ २८ ॥ प्रोक्तेन भक्तियोगेन भ-
जतो माऽसकृन्मुने ॥ कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ २९ ॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽ-
खिलात्मनि ॥ ३० ॥ तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ॥ न
ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥ यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान-
वैराग्यतश्च यत् ॥ योगेन दानधर्मेण "श्रेयोभिरितरैरपि" ॥ ३२ ॥ सर्वम-

से ' करा है; इस का तात्पर्य यह है कि—पुरुष की प्रवृत्ति के सिवाय दूसरी कोई भी अशुद्धता नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही वह मलिन हुआ है और उस प्रवृत्ति को एकाएक सर्वथा दूर करना भी नहीं होसकता, इसकारण वेद ने ' यह न करै और यही करै ' इसप्रकार स्वाभाविक प्रवृत्ति के सङ्कोच के द्वारा निवृत्ति ही करी है और वह वेद भी प्रवृत्तिपर नहीं है निवृत्तिपरही है, ऐसा हम अगले अध्याय में 'उत्पत्त्यैव हि कामषु' इत्यादि श्लोक में तुम से कहेंगे; इसप्रकार योगीकी कर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति न होने से उस को प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है ॥ २६ ॥ जब मेरी कथा में श्रद्धा उत्पन्न होती है, सर्वकर्मों में ग्लानि मानता है परन्तु उन कर्मों के फल से विरक्त नहीं होता है अर्थात् विषय दुःखरूप हैं ऐसा जानता,है परन्तु उन के त्यागने को समर्थ नहीं होता है ॥२७॥ तब परिणाम में दुःखरूप उन विषयों की निन्दा करता और निर्वाह की पूर्त्ति के योग्य उन का सेवन करताहुआ, भक्ति से ही मेरे सब मनोरथ पूरे होजायँगे ऐसा निश्चय करके वह पुरुष प्रीति के साथ मेरी भक्ति करै ॥२८॥ ' मेरी अमृतसमान कथा में श्रद्धा ' इत्यादि कहेहुए भक्तियोग से मेरा नित्य भजन करनेवाले पुरुष के हृदय में मेरे रहने पर, तहाँ की सब कामवासना नष्ट होजाती हैं ॥ २९ ॥ जब सब के अन्तर्यामी मुझ आत्मा का साक्षात्कार होता है तब इस भक्त की अहन्ताममतारूप हृदय की गाँठ कटजाती हैं, असम्भावना आदि सब सन्देह टूटजाते हैं और संसार के कारण सकल कर्म क्षीण होजाते हैं ॥ ३० ॥ तिस से, मेरी भक्ति से युक्त और मुझ में मन लगानेवाले योगी को, उस काम में ज्ञान वा वैराग्यरूप साधन कल्याणकारक नहीं होते हैं किन्तु भक्तिरूप साधन ही कल्याणकारक है ॥ ३१ ॥ इस का कारण यह है कि—कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दानधर्म और तीर्थयात्रादि अन्य साधनों से जो अन्तःकरण की शुद्धिआदि फल मिलता है वह सब फल मेरे भक्त को मेरी भक्ति से अनायास में ही मिलजाता है ; यह तो क्या परन्तु यदि वह स्वर्ग, मोक्ष वा मेरे वैकुण्ठलोक

भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ॥ स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥ न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकांतिनो मम ॥ वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४ ॥ नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ॥ तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ ३५ ॥ न मय्येकांतभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणा ॥ साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥ एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ॥ क्षेमं विंदन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥ इति० महापुराणे एकादशस्कन्धे विंशतितमोऽध्यायः ॥ २०॥ * ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ॥ क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरंति ते ॥ १ ॥ स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ॥ विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥ शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ॥ द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥३॥

की भी इच्छा करे तो वह भी उस को मिलेगा, परन्तु वह इच्छा ही नहीं करता है ॥३२॥ ॥ ३३ ॥ क्योंकि–जो धैर्यवान् साधु मेरे एकान्त भक्त हैं, वह मेरे आग्रह से दियेहुए सर्वोत्तम मोक्षपद को भी नहीं ग्रहण करते हैं, फिर वह इच्छा नहीं करते इस का तो कहना ही क्या ? ॥३४॥ निरपेक्षता ही उत्तम और बडे कल्याण का फल तथा साधन है ऐसा कहते हैं, इसकारण किसीकी भी प्रार्थना न करनेवाले निरपेक्ष पुरुष को मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ मुझ में एकान्त भक्ति करनेवाले, समचित्त और बुद्धि से परे के ईश्वरस्वरूप को प्राप्तहुए साधुओं को विहितनिषिद्धकर्मों से होनेवाले पुण्यपाप आदि गुणदोष नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥ जो पुरुष, इसप्रकार मेरे कहेहुए इस मेरी प्राप्ति के मार्ग से सेवा करते हैं वह, काल माया आदि से रहित मेरे लोक को प्राप्त होते हैं और जिस को परब्रह्म कहते हैं उस को जानते हैं ॥३७॥ इति श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में विंश अध्याय समाप्त ॥ * ॥ श्रीभगवान् ने कहा कि–हे उद्धवजी ! जो पुरुष, इन भक्ति-ज्ञान-कर्मरूप मेरे मार्गों को छोडकर, विषयों में दौडनेवालीं इन्द्रियों से, उन नाशवान् विषयों का सेवन करते हैं वह सकल गुणदोषों को सेवन करनेवाले होने से नानाप्रकार की योनियें पाते हैं ॥१॥ अब, उन ही कर्मों से कितने ही गुणदोषयुक्त होते हैं और कितने ही नहीं, यहभेदभाव क्यों ? अग्नि से कितनो ही को ताप हो कितनो ही को न हो यह नहीं होसक्ता, ऐसा कहो तो तहाँ कहते हैं कि–अपने २ अधिकार में जो निष्ठा रखना उस को गुण कहा है और दूसरे के अधिकार पर आसक्ति रखना दोष है, ऐसा गुणदोषों के स्वरूप का निर्णय है इसकारण अधिकारभेद से ही गुणदोषों की कल्पना होती है, वह वस्तु का अवलम्बन करके नहीं रहते हैं ॥२॥ पदार्थों के वास्तव में समान होनेपर 'यह पदार्थ योग्य है अथवा अयोग्य है ऐसे सन्देहके द्वारा' तहाँ प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने की रुकावट करने के निमित्त पदार्थों

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ॥ दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां
धुरम् ॥ ४ ॥ भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पंच धातवः ॥ आब्रह्मस्थाव-
रादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥ वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्व-
पि ॥ धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥ देशकालादिभावानां
वस्तूनां मम सत्तम ॥ गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥ अ-
कृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ॥ कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासं-

---

में वेद ने शुद्धि और अशुद्धि (योग्यपना और अयोग्यपना) कही हैं और उन के निमित्त से गुण दोष तथा उन के निमित्त से पुण्यपापरूप अर्थ कहे हैं ॥ ३ ॥ हे उद्धवजी ! तहाँ शुद्धि और अशुद्धि, यह धर्म व्यवहार और देह के निर्वाह के निमित्त गुणदोषरूप कहे हैं तिन में धर्मार्थ ऐसे हैं कि—शुद्धि से धर्म होता है और अशुद्धि से अधर्म होता है व्यवहारार्थ ऐसे कि—आशौच आदि अशुद्धि दशा में भी राजा आदि को प्रजादिकों का न्याय आदि करने में शुद्धि है और अन्यकार्यों में शुद्धि नहीं किन्तु अशुद्धि ही है, देह निर्वाह के निमित्त ऐसे कि—प्रतिग्रह का निषिद्ध होना ठीक है परन्तु आपत्तिकाल में उस से देह के निर्वाह की पूर्त्ति करलेने पर पाप नहीं लगता है, अधिक करने पर पाप लगता है इत्यादि आचार, धर्मरूप भार उठानेवाले पुरुषों को मैंने मन्वादिरूप से दिखाया है ॥ ४ ॥ वास्तविक रीति से विचारकर देखने पर सबही पदार्थ समान हैं—क्योंकि—ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सब प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति के कारण भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह पञ्चमहाभूत एक से हैं और सबों का जीवात्मा भी ईश्वर का अंश होने के कारण एकरूपही है ॥ ५ ॥ इसकारण हे उद्धवजी ! इन प्राणियों की प्रवृत्ति के नियम के द्वारा धर्मआदि चारप्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि होने के निमित्त इन के एक समान भी पञ्चमहाभूतात्मक शरीरों में वेद ने वर्ण आश्रम आदि विषम नाम कल्पना करे हैं ॥ ६ ॥ हे उद्धवजी ! केवल देहादिकों में ही यह कल्पना नहीं है किन्तु देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और ग्रहण करने योग्य तण्डुल आदि पदार्थ इन सबोंके भी गुण दोष, कर्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति का सङ्कोच होने के निमित्त वेदरूप मैंने कहे हैं ॥ ७ ॥ जिस देश में काला हिरन नहीं फिरता है वह देश अपवित्र है, तिसमेंभी जहाँ ब्राह्मणभक्ति नहीं वह देश अत्यन्त अपवित्र है, और जहाँ काला हिरन भी है परन्तु सत्पुरुष नहीं हैं वह कीकट (अंग, वंग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र और मगधआदि) देशभी अपवित्र गिना है, परन्तु उस कीकट देश में सत्पुरुष होंतो उस को पवित्र माना है तैसेही बिना झाड़ाबुहारा, अधिक म्लेच्छोंवाला और ऊसर भूमि का भाग यह देश अपवित्र है